भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला : संस्कृत ग्रन्थांक-२८

श्री-सोमदेवसूरि-कृत

उपासकाध्ययन

(यशस्तिलकचम्पूका एक अंश)

हिन्दी अनुवाद, संस्कृत टीका, प्रस्तावना तथा अनुक्रमणिकाओं सहित

सम्पादन-अनुवाद

पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री

सिद्धान्ताचार्य

प्रधानाचार्य श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी
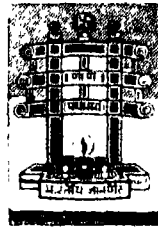
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

वीर नि० सं० २४९०

वि० सं० २०२१, सन् १९६४

प्रथम संस्करण

बारह रुपये

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिमें तत्सुपुत्र साहू शान्तिप्रसादजी-द्वारा

संस्थापित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमालाके अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड, तमिल आदि प्राचीन भाषाओंमें
उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक
जैन-साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उसका मूल और यथासम्भव
अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन भण्डारोंकी
सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, विशिष्ट विद्वानोंके अध्ययन-
ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी
इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो रहे हैं।

●

ग्रन्थमाला सम्पादक

डॉ० हीरालाल जैन, एम० ए०, डी० लिट्०

डॉ० आ० ने० उपाध्ये, एम० ए०, डी० लिट्०

●

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रधान कार्यालय : ९ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७

प्रकाशन कार्यालय : दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५

विक्रय केन्द्र : ३६२०।२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५

●

स्थापना : फाल्गुन कृष्ण ९, वीर नि० २४७० ● विक्रम सं० २००० ● १८ फ़रवरी सन् १९४४

JÑĀNAPĪTHA MŪRTIDEVĪ JAIN GRANTHMĀLĀ : SANSKRIT Grantha No. 28

UPĀSAKĀDHYAYANA

(A Portion of the Yaśastilaka-campū)

of

SOMADEVA SŪRI

with

Hindi Translation, Sanskrit Ṭīkā, Introduction & Indices etc.

EDITED BY

Pt. KAILASH CHANDRA SHASTRI

Siddhāntāchārya

Principal Srī Syādvāda Mahāvidyālaya, Varanasi
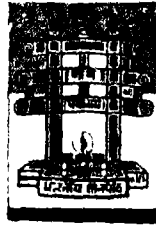
BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪTHA PUBLICATION

VIRA SAMVAT 2490
V. S. 2021, 1964 A. D.

First Edition
Rs. 12/

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪṬHA MŪRTIDEVĪ

JAINA GRANTHAMĀLĀ

FOUNDED BY

SĀHU SHĀNTIPRASĀD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

SHRĪ MŪRTIDEVĪ

IN THIS GRANTHAMĀLĀ CRITICALLY EDITED JAINA ĀGAMIC, PHILOSOPHICAL, PURĀNIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRĀKRIT, SANSKRIT, APABHRAṂŚA, HINDI, KANNADA, TAMIL ETC., ARE BEING PUBLISHED IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES AND CATALOGUES OF JAINA BHANDARAS, INSCRIPTIONS, STUDIES OF COMPETENT SCHOLARS & POPULAR JAINA LITERATURE ARE ALSO BEING PUBLISHED.

●

General Editors

Dr. Hiralal Jain. M. A., D. Litt.
Dr. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.

●

Bharatiya Jnanapitha
Head office : 9 Alipore Park Place, Calcutta-27.
Publication office : Duragakund Road, Varanasi-5.
Sales office : 3620/21 Netaji Subhash Marg, Delhi-6.

●

Founded on Phalguna Krishna 9, Vira Sam. 2470, Vikrama Sam. 2000.18th Febr.1944

प्रधान सम्पादकीय

सोमदेव कृत यशस्तिलक चम्पूका जैन-साहित्यमें ही नहीं, किन्तु भारतीय वाङ्मयमें एक विशिष्ट स्थान है। डॉ० कीथके मतानुसार सोमदेव 'निश्चित ही सुरुचि और बड़ी सूझबूझके कवि हैं।' (हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ३३५) तथा डॉ० हन्दिकीका कथन है कि गद्यकथाविषयक अपने विशेष लक्षणोंके अतिरिक्त यशस्तिलकमें ऐसी विधाएँ हैं जिनके कारण उसका सम्बन्ध संस्कृत साहित्यकी नाना शाखाओंसे स्थापित होता है। वह केवल गद्य-पद्यात्मक जैन कथा मात्र नहीं है, किन्तु वह जैन व अजैन धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तोंका पाण्डित्यपूर्ण संग्रह है, राजनीतिकी एक संहिता है, काव्यगुणों, प्राचीन आख्यानों, अवतरणों और उल्लेखों, तथा बहुसंख्यक दुर्लभ शब्द-प्रयोगोंका विशाल भाण्डार है। सोमदेवकी यशस्तिलक एक उच्च कोटिकी विद्वत्तापूर्ण कृति है जो साहित्यिक प्रतिभा और काव्यात्मक भावनाके आलोकसे सजीव हो उठी है।" (यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कलचर, पृष्ठ ५३)।

इतने गुणोंका एक साथ समावेश करनेके लिए महाकविने न गद्य और न पद्य मात्रको अपना माध्यम बनाना पर्याप्त समझा। रुचि और अवसरके अनुसार उन्होंने इन दोनों प्रकारकी रचनाओंका प्रायः समान मात्रामें उपयोग किया है। उनका गद्य सुबन्धु और बाणकी रचनाओंका स्मरण दिलाता है; और पद्य कालिदास, माघ और श्रीहर्षका। इस रचना-शैलीको साहित्यकारोंने 'चम्पू'की संज्ञा दी है – 'गद्य-पद्यमयी काचित् चम्पूरित्यभिधीयते' (दण्डि-काव्यादर्श)। तथापि विद्वान् अभी तक खोज नहीं लगा पाये कि चम्पू शब्दकी ठीक-ठीक व्युत्पत्ति क्या है। यों तो गद्यके साथ यत्र-तत्र कुछ पद्योंका प्रयोग ब्राह्मणोंमें, बौद्ध पालि व संस्कृत रचनाओंमें, तथा हितोपदेश-पंचतंत्रादि कथाओंमें बहुत प्राचीन कालसे पाया जाता है; तथापि जहाँ तक हमारी वर्तमान जानकारी है, इस काव्य-शैलीका आविर्भाव दशमी शतीसे पूर्व नहीं पाया जाता। सोमदेवने अपनी कृतिके पूर्ण होनेका काल सिद्धार्थ संवत्सर ८८१ (सन् ९५९) स्पष्टतासे निर्दिष्ट किया है। इससे पूर्व यदि कोई चम्पू काव्य रचा गया हो तो वह केवल त्रिविक्रम भट्ट कृत 'नलचम्पू' ही हो सकता है। इस चम्पूमें उसके रचनाकालका कोई निर्देश नहीं है, तथापि विद्वानोंका अभिमत है कि वे वही त्रिविक्रम हैं जिन्होंने सन् ९१५ ई० में राष्ट्रकूटनरेश इन्द्र तृतीयके नवसारीसे प्राप्त लेखकी रचना की थी।

आठ 'आश्वासों'में पूरा हुआ सम्पूर्ण यशस्तिलक अभीतक केवल एक बार निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे सन् १९०३ में श्रुतसागरी टीका सहित प्रकाशित हुआ था। प्रथम तीन आश्वासोंका पूर्व खण्ड सन् १९१६ में पुनः मुद्रित किया गया था। यह ग्रंथ इधर दीर्घकालसे अप्राप्य है। इस ग्रंथका नाना दृष्टियोंसे गम्भीर और विशाल अध्ययन डॉ० हन्दिकी-जैसे विद्वान्ने किया और उनकी कृति 'यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर' जैन संस्कृति संरक्षक संघ-द्वारा, जीवराज जैन ग्रंथमालाके द्वितीय पुष्पके रूपमें, शोलापुरसे सन् १९४९ में प्रकाशित हुई, यह सन्तोषकी बात है। इस कृतिका भी सम्पूर्ण अनुवाद किये जानेकी आवश्यकता है।

यशस्तिलकके अन्तिम तीन आश्वासोंका प्रस्तुत संस्करण अपने एक सीमित उद्देश्यसे तैयार होकर प्रकाशित किया जा रहा है। ग्रन्थका यह भाग श्रावकाचारविषयक है। नैतिक व धार्मिक दृष्टिसे गृहस्थ नर-नारियोंके क्या कर्त्तव्य हैं, यह विषय बड़ा महत्त्वपूर्ण है, विशेषतः इस युगमें जबकि नैतिक आचरणमें सर्वत्र चिन्तनीय शिथिलता दृष्टिगोचर हो रही है। आचार्य सोमदेवने इस विषयपर बड़ी दृढ़ता, प्रामाणिकता और रोचकतासे अपनी लेखनी चलायी है। इस ग्रन्थांशका सम्पादन और हिन्दी अनुवाद पं० कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्रीने उपलब्ध मुद्रित व हस्तलिखित प्राचीन प्रतियोंके आधारपर परिश्रमसे तैयार किया है। इसके अतिरिक्त पं० कैलाशचन्द्रजीने ९६ पृष्ठोंमें प्रस्तावना भी लिखी है। यहाँ उन्होंने डॉ० हन्दिकीकी

उपलब्धियोंका भी उपयोग किया है और अपने स्वतन्त्र अध्ययनका भी। यहाँ यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि डॉ० हन्दिकीने भारतीय साहित्य और संस्कृतिको अपनी दृष्टिमें रखकर विवेचन किया है, किन्तु पण्डितजी-की दृष्टि विशेष रूपसे जैन तत्त्वज्ञानसे सीमित रही है। इस प्रकार ये दोनों विवेचन परस्पर परिपूरक है। पण्डितजीने प्रस्तावनाके उत्तर भागमें जो श्रावकाचारोंका तुलनात्मक पर्यवेक्षण प्रस्तुत किया है वह महत्त्व-पूर्ण है। श्रावकाचारका वर्णन सोमदेवसे पूर्व भी अनेक आचार्योंने किया है और उनके पश्चात् भी। यद्यपि आचारसम्बन्धी नियमोंका मौलिक स्वरूप अपरिवर्तित रहा है, किन्तु व्रतोंके वर्गीकरण, परिभाषाओं और परिपालनमें देश-कालानुसार विकास-शीलता भी पायी जाती है। इस विषयका कुछ विवेचन पं० जुगलकिशोर मुख्तारके अनेक लेखोंमें तथा पं० हीरालाल शास्त्री कृत वसुनन्दि-श्रावकाचारकी भूमिकामें आ चुका है। किन्तु समस्त उपलभ्य श्रावकाचारसम्बन्धी साहित्यका सर्वांगपूर्ण तुलनात्मक अध्ययन अभी भी शेष है। पं० कैलाशचन्द्रजीने इस अध्ययनको अपनी प्रस्तावनामें आगे बढ़ाया है। तथापि उसमें एक कमी विशेष रूपसे खटकती है। और वह यह कि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें मान्य अर्धमागधी आगमके उपासकाध्ययन आदि श्रुतांगों व सावयपण्णत्ति-जैसे प्राकृत ग्रन्थोंमें, हरिभद्रकी अनेक रचनाओंमें व अन्यत्र जो इसी विषयका विवरण पाया जाता है वह यहाँ सर्वथा छूट गया है। कथा-साहित्यमें भी गृहस्थ धर्मके उपदेशके अतिरिक्त उसके व्यावहारिक स्वरूपका चित्रण भी मिलता है, जिससे आचारसम्बन्धी व्यवस्थाओंपर अच्छा प्रकाश पड़ता है व तात्कालिक सामाजिक प्रतिबिम्ब भी दिखाई देता है। देशके इतिहास, समाज व राजनीतिकी पृष्ठभूमिमें रखकर सोमदेवके तथा उत्तर व दक्षिण भारतके अन्य लेखकों-द्वारा विहित श्रावकाचारकी विशेषताओंको देखनेपर हमें समझमें आने लगता है कि किस प्रकार क्षेत्रीय लौकिक आचार-विचारका धर्मकी व्यवस्थाओंपर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। यह भी भूलना नहीं चाहिए कि कभी-कभी कट्टरता व परम्परानुबन्धके कारण सच्ची विकासशीलतापर हमारी दृष्टि नहीं पहुँच पाती, एवं तुलनात्मक समीक्षा तलस्पर्शी नहीं बन पाती।

इस सम्बन्धमें हमें ध्यान आता है श्री आर० विलियम्स कृत 'जैन योग' नामक पुस्तकका, जो लन्दन ओरियण्टल सीरीज, ग्रं० १४ के रूपमें आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दनसे सन् १९६३ में प्रकाशित हुई है। इस पुस्तकमें बतलाया गया है कि अपने उत्कृष्टतम राजनैतिक प्रभावके काल अर्थात् ५वीं से १३वीं और विशेषतः ११वीं १२वीं शतियोंमें जैनियोंने कैसा गृहस्थोचित सदाचार स्वीकार किया। यहाँ मुख्यतः गृहस्थ जीवनके नियमोंका विधान करनेवाले श्रावकाचार ग्रन्थोंका आचार्यों-द्वारा प्रणीत विवरण उपस्थित किया गया है। कथा साहित्य और शिलालेखों आदिमें उपलभ्य सामग्रीकी ओर ध्यान नहीं दिया गया। आदिमें उन आचार्यों और उनकी रचनाओंका ऐतिहासिक परिचय भी कराया गया है। जो मूल रचनाएँ सुलभ नहीं हैं उनके कुछ अवतरण परिशिष्टमें देकर यह दिखाया गया है कि वे किस प्रकार एक दूसरेपर आधारित हैं। सामग्री तथा ऐतिहासिक, तुलनात्मक व समीक्षात्मक दृष्टिसे जो बातें श्री विलियम्सके ग्रन्थमें छूट गयी हैं उनका विशेष रूपसे अनुसन्धान किये जानेकी आवश्यकता है। इधर यह चम्पू ग्रंथ कुछ-कुछ अंशतः भी प्रकाशित हुआ है (प्रथम आश्वास, अंग्रेजी टिप्पणी आदि सहित, सं० जे० एन० क्षीरसागर, बम्बई, १९४९; तीन आश्वास, हिन्दी अनुवाद सहित, सं० पं० सुन्दरलाल शास्त्री, वाराणसी, १९६०) परन्तु इनसे उक्त उद्देश्यकी पूर्ति नहीं हुई।

उपर्युक्त समस्त अवशिष्ट कार्यके लिए जिन बातोंकी आवश्यकता है उनमें एक यह भी बहुत महत्त्वपूर्ण है कि सोमदेव सूरिकृत यशस्तिलक चम्पूका समस्त उपलभ्य प्राचीन प्रतियों व टीका-टिप्पणों आदिका उपयोग करते हुए सुसम्पादित, सानुवाद प्रकाशन किया जाये।

वर्तमानमें तो हमें यही बड़ी प्रसन्नता है कि इस महान् ग्रन्थके उपासकाध्ययन नामक खण्डको पं० कैलाशचन्द्रजीने विद्वत्ता और परिश्रमसे सम्पादन, अनुवाद व प्रस्तावना-लेखन-द्वारा प्रस्तुत प्रकाशन योग्य बना दिया, जिसके लिए हम उनके ऋणी हैं।

प्रधान सम्पादकीय

इस भागपर श्रुतसागरी टीका नहीं पायी जाती। जैन संस्कृति संरक्षक संघके संस्थापक स्वर्गीय ब्रह्मचारी जीवराजजीकी प्रबल इच्छा हुई थी कि ग्रन्थकी टीका पूरी करायी जावे। उनकी इसी प्रेरणाके फल-स्वरूप पं० जिनदास शास्त्रीने उस शेष भागपर संस्कृत टीका लिखी। उक्त संघकी अनुमतिसे वह टीका भी प्रस्तुत ग्रन्थके साथ प्रकाशित की जा रही है। इस टीकाके अवलोकनसे देखा जा सकता है कि प्राचीन विद्वान् टीकाकारोंकी परम्परा अभी भी सर्वथा विच्छिन्न नहीं हुई। जिनदासजी शास्त्री-जैसे कुछ विद्वान् अभी भी ऐसे प्रतिभाशाली हैं जो प्राचीन शैलीसे ही कठिन ग्रन्थोंकी सुविशद संस्कृत व्याख्या लिख सकते हैं। इस साहित्यिक कृतिके लिए हम पं० जिनदास शास्त्रीके कृतज्ञ हैं व उसे इस संस्करणमें समाविष्ट करनेकी अनुमति प्रदान करनेके लिए जैन संस्कृति संघ, शोलापुरके भी अनुगृहीत हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थमालाके प्रकाशनोंसे भारतीय एवं जैन साहित्य और संस्कृतिके अध्ययन-अनुसन्धानके कार्यमें जो सहायता मिल रही है वह सभी विद्वान् अनुभव करते हैं। इसके लिए ज्ञानपीठकी अध्यक्षा श्रीमती रमा-रानी तथा संरक्षक श्री शान्तिप्रसादजीका जितना उपकार माना जावे थोड़ा है। उनकी शुभ भावनाओंको मूर्तिमान स्वरूप देनेमें ज्ञानपीठके मंत्री श्री लक्ष्मीचन्द्रजी जिस उत्साह और परिश्रमसे संलग्न हैं, वह स्तुत्य है। इसी शुभ भावना, उदारता, उत्साह और प्रयासके आधारपर आशा की जा सकती है कि ऐसे उपयोगी प्रकाशनोंका क्रम न केवल भविष्यमें चालू रहेगा, किन्तु उसमें और भी उन्नति और प्रगति हो सकेगी।

ही० ला० जैन,
आ० ने० उपाध्ये,
प्रधान सम्पादक

सम्पादकीय

एक बार स्व० श्रीनाथूरामजी प्रेमीने लिखा था कि सोमदेव सूरिने अपने यशस्तिलक महाकाव्यके अन्तिम तीन आश्वासोंमे श्रावकाचारका महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन किया है, उसका हिन्दी अनुवाद होना आवश्यक है। उसीसे मुझे सोमदेवकृत इस उपासकाध्ययनका हिन्दी अनुवाद करनेकी प्रेरणा मिली। यशस्तिलक श्रुतसागर सूरिकी (अपूर्ण) संस्कृत टीकाके साथ दो भागोंमे निर्णयसागर प्रेस, बम्बईसे प्रकाशित हो चुका था। उस मुद्रित प्रतिके आधारपर जब मैं अनुवाद कार्यमे प्रवृत्त हुआ तो मुझे लगा कि इसमें अशुद्धियाँ हैं। अतः मैंने खोजबीन करके टीकमचन्द जैन हाईस्कूल अजमेरके अध्यापक तथा अपने अन्यतम शिष्य पं० हेमचन्द्रजीके द्वारा अजमेर तेरापन्थी मन्दिरके भण्डारसे यशस्तिलकके अन्तर्गत उपासकाध्ययनकी हस्तलिखित प्रति प्राप्त की। वह प्रति बहुत शुद्ध और सटिप्पण थी। उससे मुझे अनुवादमें भी बहुत सहायता मिली; क्योंकि उपासकाध्ययनपर कोई टीका नहीं है और सोमदेव-जैसे महाकविके द्वारा रचित होनेके कारण उसमें अप्रसिद्ध शब्दोंके प्रयोगके साथ ही साथ शाब्दिक अनुप्रासका भी होना स्वाभाविक है। फलतः वर्णित विषयके कठिन न होनेपर भी सोमदेवके शब्दोंके अभिप्रायको समझनेमें पद-पदपर कठिनाई होती है। अतः सटिप्पण प्रतिके मिल जानेसे मुझे बहुत लाभ हुआ। मेरी कठिनाईमें कुछ कमी हुई, और अनुवाद कार्य पूरा होनेपर वह प्रति वापस कर दी गयी।

अनुवादका यह कार्य मैंने भारतवर्षीय दि० जैन संघके द्वारा काशीमें स्थापित जयधवला कार्यालयमें उसीके निमित्तसे किया था। दूसरे महायुद्धके कारण कागज मिलना दुर्लभ हो गया। अतः यह अनुवाद प्रकाशित नहीं हो सका। जब कागज कुछ सुलभ हुआ तो संघके प्रकाशन विभागने अपनी पूरी शक्ति जयधवलाके प्रकाशनमें ही लगाना उचित समझा। इससे उपासकाध्ययनके प्रकाशनकी व्यवस्थाके लिए भारतीय ज्ञानपीठ काशीके तत्कालीन व्यवस्थापक श्री बाबूलालजी फागुल्लके माध्यमसे ज्ञानपीठके मन्त्री बा० लक्ष्मीचन्द्रजीसे बातचीत हुई। उन्होंने मूर्तिदेवी ग्रन्थमालाके सम्पादक डॉ० प्रो० हीरालालजी तथा डॉ० प्रो० ए० एन० उपाध्येके परामर्शानुसार इसे मूर्तिदेवी ग्रन्थमालासे प्रकाशित करनेकी स्वीकृति दे दी। तब मैंने पुनः उस पुराने अनुवादकी ओर ध्यान दिया।

अनुवाद करते समय मैंने अजमेरकी जिस प्रतिका उपयोग किया था उसके आधारपर मुद्रित प्रतिका संशोधन कर लेनेपर भी मैंने बाकायदा उसके पाठान्तर नहीं लिये थे। अतः अब पुनः उसकी आवश्यकता प्रतीत हुई और मैंने पं० हेमचन्द्रजीको लिखा, तो उन्होंने मुझे सूचित किया कि भण्डारके प्रबन्धक अब किसी भी तरह बाहर भेजनेके लिए प्रति देनेको तैयार नहीं हैं। मुझे बड़ी निराशा हुई। तब श्रीबाबूलालजीने जयपुरसे पं० चैनसुखदासजीके माध्यमसे श्रीमहावीरजी अतिशय क्षेत्रके अनुसन्धान विभागके डॉ० कस्तूरचन्दजी कासलीवालके द्वारा एक प्रति प्राप्त की। यह प्रति शुद्ध है, किन्तु इसमें कोई टिप्पण नहीं है। मुझे सटिप्पण प्रतिकी आवश्यकता थी। तब मुझे भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीटयूट पूनाकी उस प्रतिका स्मरण आया जिसका निर्देश प्रो० हान्दिकीने अपनी विद्वत्तापूर्ण पुस्तक 'यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर'में किया है। मैंने बाबूलालजीसे कहा और उन्होंने पूनाको लिखा। थोड़ी-सी लिखा-पढ़ीके पश्चात् वहाँसे प्रति आ गयी, जो शुद्ध होनेके साथ सटिप्पण भी है। इन उदार विद्यारसिकोंका अनुकरण हमारे शास्त्रभण्डारोंके संरक्षकोंको भी करना चाहिए, और प्राचीन प्रतियोंको भण्डारोंमें आजन्म कैद न रखकर उन्हें अनुसन्धाताओं तथा सम्पादकोंके लिए सुलभ बनाना चाहिए।

इन्हीं दो प्रतियोंके आधारपर जिन्हें एक ही कहना उचित होगा, क्योंकि दोनोंमें कदाचित् ही किञ्चित् पाठ-भेद पाया जाता है, मैंने उपासकाध्ययनके मूल पाठको व्यवस्थित किया। इन प्रतियोंका परिचय नीचे दिया जाता—

सम्पादनमें उपयुक्त प्रतियोंका परिचय

[आ] भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीटयूट पूनासे प्राप्त प्रतिका नम्बर २३० / १९०२-१९०७ है और नया नम्बर २३ है। इसकी पृष्ठ संख्या ४३४ है। प्रत्येक पत्रमें ९ पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्तिमें ३४ अक्षर हैं। प्रत्येक पृष्ठके चारों ओरके हाशियोंपर टिप्पण दिये हुए हैं। ये टिप्पण श्रीदेवसेनकृत टिप्पणसे भी विशेष उपयोगी हैं। श्रीदेवके टिप्पण बहुत परिमित शब्दोंपर हैं। उनसे इस प्रतिके टिप्पण विस्तृत हैं। प्रतिके अन्तमें मूलग्रन्थ आठ हजार श्लोक परिमाण और टिप्पण दो हजार श्लोक परिमाण लिखे हैं। श्रीदेवकृत टिप्पण १२७५ श्लोक परिमाण ही हैं। मैंने प्रायः सभी टिप्पण इसी प्रतिके आधारसे दिये हैं। प्रतिका लेखनकाल संवत् १७४२ है। प्रतिके अन्तमें विस्तृत लेखक प्रशस्ति इस प्रकार दी हुई है—

संवत् १७४२ वर्षे भाद्रपदमासे शुक्लपक्षे चतुर्दशी तिथौ मंगलवासरे पूर्वाभाद्रपदनक्षत्रे धृतिनामयोगे साहि आलममोजमराज्ये टोकनगर राज्य प्रवर्तमाने श्रीशान्तिनाथ चैत्यालये श्रीमूलसंघे नन्द्याम्नाये बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्रीमन्नरेन्द्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्रीसुरेन्द्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्री ५ जगत्कीर्तिजी, तदाम्नाये खण्डेलवालान्वये सोनीगोत्रे साहहीरा तद्भार्या हीरादे तत्पुत्रौ द्वौ प्र० सा० चतुर्भुज तद्भार्या चतरंगदे द्वितीयपुत्र सा० मोहनदास तस्य तृतीयभार्या मुक्तादे तौ द्वौ पुत्रौ मध्ये प्र० पुत्र सा० चतुर्भुज तत्पुत्रौ द्वौ प्रथम पुत्र सा० चन्द्रभाण भार्या चांदणदे द्वितीयपुत्र सा० स्यामदास भार्या सुहागदे तत्पुत्र चिरंजीव लोकमणि भार्या लोकमदे एतयोर्द्वयोः पुत्रयोर्मध्ये व्रतधर्मरत जिनवन्दनानत्पर, गुरुभक्तिपरायण दयादान सत्यवचनरते दु मं स्यामदासेनेदं यशस्तिलकं पुस्तकं आचार्यजी श्री ५ ज्ञानकीर्तये दशलाक्षणव्रत उद्यापनार्थं प्रदत्तमांछा। ज्ञानदानात् भवेत् ग्यानी सुषी चाप्यन्नदानतः। निर्भयो जीवदानेन नीरोगो भेषजाद् भवेत् ॥१॥ शुभमस्तु॥ पुस्तकमिदं यावत् चन्द्रदिवाकरधराधरधरां वर्तन्ते तावत् तिष्ठन्तु॥ श्री जिन सदा जयतु।

इस प्रशस्तिका सारांश यह है कि संवत् १७४२ में भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशीके दिन खण्डेलवाल जातीय श्यामदास सोनीने यह यशस्तिलक नामकी पुस्तक आचार्य ज्ञानकीर्तिके लिए दशलाक्षणव्रतके उद्यापनके लिए प्रदान की। पूनाकी इस प्रतिको आदर्शप्रति मानकर हमने 'आ' संज्ञा प्रदान की है।

[ज] – जयपुरवाली प्रतिको 'ज' संज्ञा दी गयी है। यह प्रति जयपुरके दि० जैनमन्दिर बड़ा तेरह पन्थियोंके शास्त्रभण्डारकी है। प्रति शुद्ध है, अक्षर भी सुन्दर और स्पष्ट हैं। इसकी पत्रसंख्या ३४४ है। प्रत्येक पृष्ठमें ११ पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्तिमें ३५ से ३८ तक अक्षर हैं। कागज जीर्ण हो चला है। संवत् १७१९ की लिखी हुई है। अर्थात् पूनाकी प्रतिसे २३ वर्ष प्राचीन है। अन्तमें लेखक प्रशस्ति भी है किन्तु अक्षर अस्पष्ट हो गये हैं। प्रशस्ति इस प्रकार है।

'सम्वत् १७१९ मिति फागुण सितात् अष्टमी शुक्लपक्ष वार वृहस्पतिवार अवावती नगरिमध्ये महाराजाधिराज···पुस्तक लिषाइतं। विमलनाथ चैत्यालय मूलसंघे। लिषतं जोसिटोडर जाति बूंदीवाल।

[मु०] – निर्णयसागर प्रेससे प्रथम बार मुद्रित प्रतिको मु० संज्ञा दी गयी है।
उक्त प्रतियोंके सिवाय इस ग्रन्थके संशोधनमें दो अन्य प्रतियोंका उपयोग परोक्ष रूपसे किया गया है।

[अ०] – केकड़ी (राजस्थान) के पं० दीपचन्दजी पांड्याने वीरसेवा मन्दिर सरसावासे प्रकाशित मासिकपत्र अनेकान्तके ५वें वर्षकी १-२ किरणमें यशस्तिलकका संशोधन प्रकाशित किया था। पांड्याजीके लेखानुसार यह संशोधन दि० जैन बड़ा मन्दिर मुहल्ला सरावगी, अजमेरके अध्यक्ष, भट्टारक

श्री हर्षकीर्ति महाराजको कृपासे प्राप्त प्रतिके आधारसे किया गया है। इस प्रतिकी पत्रसंख्या ४०० है और वि० सं० १८५४ में लिखी गयी है। मैंने उन संशोधनोंका भी उपयोग प्रकृत ग्रन्थके सम्पादनमें किया है और उन्हें 'अ' संज्ञा दी है।

[ब] – संस्कृत विश्वविद्यालयमें जैनदर्शनके प्राध्यापक पं० अमृतलालजी साहित्यके भी रसिक विद्वान् हैं। उन्होंने ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, बम्बईकी प्रतिसे अपनी यशस्तिलक पुस्तकमें पाठान्तर लिये थे। उनका भी उपयोग मैंने इस ग्रन्थके सम्पादनमें किया है और उन्हें 'ब' संज्ञा दी है।

अनुवादके सम्बन्धमें

प्रकृत उपासकाध्ययनका अनुवाद कार्य कितना कठिन है इसका अनुभव मुझे पद-पदपर हुआ है। सोमदेव सूरिका पाण्डित्य अपूर्व था। वे तार्किक, महाकवि आदि सभी कुछ थे जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। नवीन शब्दोंका उनके पास भण्डार था। फिर वे साहित्यिक शैलीकी संयोजनामें भी चतुर थे। उनकी इन सब विशेषताओंके कारण उपासकाध्ययनकी पदरचना प्रसन्न होनेके साथ दुरूह भी हो गयी है। इसके सिवाय उन्होंने अपने उपासकाध्ययनमें कुछ ऐसे भी विषयोंका समावेश किया है जिनकी चर्चा जैन शास्त्रोंमें नहीं पायी जाती। शैवदर्शनकी प्रक्रिया ऐसे ही विषयोंमें है। शैव तन्त्रसाधनाके ज्ञाता विद्वान् आज काशीमें भी नहींके तुल्य हैं। फलतः उससे सम्बद्ध श्लोकोंका भाव स्पष्ट नहीं हो सका और ऐसे दो श्लोकोंका अर्थ जो ध्यानविधिमें आये हैं छोड़ देना पड़ा है। जहाँतक शक्य हुआ मैंने ग्रन्थके भावको स्पष्ट करनेमें अन्य विद्वानोंका भी निःसंकोच साहाय्य लिया; फिर भी यह लिखनेमें असमर्थ हूँ कि मुझे अपने अनुवादसे पूर्ण सन्तोष है या मेरा अनुवाद निर्दोष है।

उपासकाध्ययनमें आगत कथाओंका मैंने शब्दशः अनुवाद नहीं किया है, भावानुवाद ही उसे समझना उपयुक्त होगा।

आभार प्रदर्शन

अन्तमें मैं इस ग्रन्थके सम्पादन आदिमें साहाय्य देनेवाले अपने सब सहयोगियोंका आभार स्वीकार करना अपना परम कर्तव्य मानता हूँ। सबसे प्रथम आभार तो मैं उन विद्वानोंका मानता हूँ जिन्होंने मुझे इस ग्रन्थके सम्पादनमें साहाय्य दिया। पं० अमृतलालजीसे मुझे बहुत साहाय्य मिला और उनके साहित्यिक ज्ञानसे मैं लाभान्वित हुआ। केकड़ीके पं० रतनलालजी कटारिया अभी नवयुवक हैं, मेरा उनसे साक्षात् परिचय तो गत मई मासमें भीलवाड़ामें हुआ। उन्हें देखकर कोई कल्पना भी नहीं कर सकता कि इस दुबले-पतले नवयुवकमें इतना अनुभवपूर्ण ज्ञान वर्तमान है। उन्होंने मुझे लम्बे-लम्बे पत्रोंके द्वारा अनेक श्लोकोंको स्पष्ट करनेमें निःसंकोच मदद दी। उन्हींसे मुझे प्रबोधसार और धर्मरत्नाकर ग्रन्थोंकी सूचना प्राप्त हुई कि इन ग्रन्थोंमें उपासकाध्ययनका अनुकरण किया गया है या उसके श्लोक उद्धृत हैं।

इसी तरह केकड़ीके ही दूसरे विद्वान्, पं० दीपचन्दजी पांड्यासे भी मुझे साहाय्य मिला है। अजमेरके पं० हेमचन्द्रजीके द्वारा मुझे अजमेरकी प्रति प्राप्त हुई थी। देहलीके लाला पन्नालालजी अग्रवालके द्वारा पंचायती मन्दिर देहलीकी धर्मरत्नाकर तथा श्रीदेवकृत टिप्पणकी प्रति प्राप्त हुई। प्रतियोंकी प्राप्तिमें पं० परमानन्दजी देहलीसे भी सहयोग मिला। अतः उन सभी विद्वानोंका मैं हृदयसे आभार स्वीकार करता हूँ।

भारतीय ज्ञानपीठके मन्त्री बाबू लक्ष्मीचन्द्रजी, तथा मूर्तिदेवी ग्रन्थमालाके सम्पादक डॉ० हीरालालजी तथा डॉ० ए० एन० उपाध्ये कोल्हापुरका भी आभारी हूँ। उन्हींके प्रयत्नसे यह ग्रन्थ इस रूपमें मूर्तिदेवी ग्रन्थमालासे प्रकाशित हो सका है। डॉ० उपाध्येने तो इसकी रूपरेखा निर्धारित करनेके सिवाय प्रारम्भके

लगभग आधे फार्मोंके अन्तिम प्रूफोंको देखनेका भी कष्ट उठाया है। पं० बाबूलालजी फागुल्लके सहयोगके लिए उन्हें भी धन्यवाद देता हूँ।

सबसे अन्तमें मैं 'यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर' के विद्वान् लेखक डॉ० कृष्णकान्त हान्दिकीको और उसकी प्रकाशिका श्री जीवराज जैन ग्रन्थमालाके संचालकोंको हृदयसे धन्यवाद देता हूँ। उनकी उक्त पुस्तकको पढ़कर मुझे बड़ी प्रेरणा मिली। मेरी यह भावना रही कि इस पुस्तकका हिन्दीमें अनुवाद प्रकाशित हो। मैंने इसके लिए एकाध बार जीवराज जैन ग्रन्थमालाके संचालकोंको प्रेरणा भी की। किन्तु ऐसे विद्वत्ता-पूर्ण ग्रन्थका प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कर सकना कठिन था। मैंने उसके आवश्यक अंशोंका भाव अपनी इस प्रस्तावनामें दे दिया है; किन्तु उसमें मेरे अपने भाव भी सम्मिलित हैं इसीसे मैंने डॉ० हान्दिकीका उल्लेख नहीं किया है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मेरी प्रस्तावनाका पूर्व भाग डॉ० हान्दिकीका ऋणी है। और उनके इस ग्रन्थसे मुझे अपने ग्रन्थके सम्पादनमें भी साहाय्य मिला है।

एक बार पुनः मैं अपने स्मृत और विस्मृत सहयोगियोंको धन्यवाद देते हुए विज्ञ पाठकोंसे अपनी त्रुटियोंके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ क्योंकि – 'को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे'।

दशलाक्षण पर्व २४९० | **जिनवाणीसेवक**
श्री स्याद्वाद महाविद्यालय | *कैलाशचन्द्र शास्त्री*
वाराणसी

प्रस्तावना तथा सम्पादनमें उपयुक्त ग्रन्थसूची

अनगार धर्मामृत	माणिकचन्द ग्रन्थमाला, बम्बई (काशी)
अनेकान्त (मासिक पत्र)	वीरसेवामन्दिर, देहली
अमितगति श्रावकाचार	दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत
अभिधानराजेन्द्र (कोष)	
अष्टसहस्री	गान्धी नाथारंग ग्रन्थमाला, शोलापुर
आचारसार	माणिकचन्द जैन ग्रन्थमाला, काशी
आत्मानुशासन	ब्र० जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर
आप्तपरीक्षा	वीरसेवामन्दिर, देहली
आप्तमीमांसा	सनातन जैन ग्रन्थमाला, काशी
आप्तस्वरूप	सिद्धान्तसारादि संग्रहमें – मा० ग्र०, काशी
आराधनासार	,,
कर्पूरमंजरी	चौखम्बा संस्कृत सिरीज, काशी
कार्तिकेयानुप्रेक्षा	श्री रायचन्द शास्त्रमाला, अगास
चरित्तपाहुड	षट्प्राभृतसंग्रहके अन्तर्गत – मा० ग्र०, काशी
चारित्रसार	,,
जैनसाहित्य और इतिहास	हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई
जैनिज्म इन साउथ इण्डिया	ब्र० जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर
ज्ञानार्णव	रायचन्द शास्त्रमाला, बम्बई
तत्त्वसंग्रह	गायकवाड़ संस्कृत सिरीज, बड़ौदा
तत्त्वानुशासन	तत्त्वानुशासनादिसंग्रहके अन्तर्गत मा० ग्र०, काशी
तत्त्वार्थवार्तिक	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	गान्धी नाथारंग ग्रन्थमाला, शोलापुर
तत्त्वार्थसूत्र	
तत्त्वोपप्लव सिंह	गायकवाड़ संस्कृत सिरीज, बड़ौदा
दानशासन	पं० वर्धमान शास्त्री, शोलापुर
द्रव्यसंग्रह टीका	श्री गणेशवर्णी ग्रन्थमाला, खरखरी, (बिहार)
धर्मरत्नाकर	दि० जैन मन्दिर पंचायती, देहली
धर्मसंग्रहश्रावकाचार	बा० सूरजभानु वकील, देवबन्द
नीतिवाक्यामृत	मा० जै० ग्र०, बम्बई, (काशी)
नीतिसार	तत्त्वानुशासनादिसंग्रहके अन्तर्गत – मा० ग्र०, काशी
न्यायविनिश्चयविवरण	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
पउमचरिउ	जैनधर्मप्रसारक सभा, भावनगर
पञ्चसंग्रह प्राकृत	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
पञ्चसंग्रह संस्कृत	माणिकचन्द ग्रन्थमाला, बम्बई (काशी)
पञ्चास्तिकाय	रायचन्द शास्त्रमाला, बम्बई
पद्मचन्द्रकोष	मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका	ब्र० जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर
पद्मपुराण	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
परमात्मप्रकाश	रायचन्द शास्त्रमाला, बम्बई
पात्रकेसरी स्तोत्र	तत्त्वानुशासनादिसंग्रहके अन्तर्गत – मा० ग्र०, काशी
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	रायचन्द शास्त्रमाला, बम्बई
प्रबोधसार	सेठ रावजी सखाराम दोशी, शोलापुर
प्रमाणवार्तिक	काशीप्रसाद जायसवाल इन्स्टीटयूट, पटना
प्रमेयरत्नमाला	पं० फूलचन्दजी शास्त्री द्वारा सम्पादित-प्रकाशित
भगवती आराधना	सेठ रावजी सखाराम दोशी, शोलापुर
भावसंग्रह	माणिकचन्द जैन ग्रन्थमाला, काशी
मनुस्मृति	चौखम्बा संस्कृत सिरीज, काशी
महापुराण	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
माठरवृत्ति	चौखम्बा संस्कृत सिरीज, काशी
माध्यमिककारिका	बिबलोथिका बुद्धिका रशिया
यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर	ब्र० जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर
याज्ञवल्क्यस्मृति	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
योगशास्त्र	हेमचन्द्राचार्य रचित
योगसूत्र	चौखम्बा संस्कृत सिरीज, काशी
रत्नकरंडश्रावकाचार	मा० ग्र०, काशी
रत्नमाला	सिद्धान्तसारादिसंग्रहके अन्तर्गत – मा० ग्र०, काशी
लाटीसंहिता	मा० ग्र०, काशी
वरांगचरित	मा० ग्र०, काशी
वसुनन्दिश्रावकाचार	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
विषापहार स्तोत्र	धनंजयकवि रचित
वेदान्तसूत्र	चौखम्बा संस्कृत सिरीज, काशी
वैशेषिकदर्शन	,, ,,
वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म	डॉ० भण्डारकर, पूना
बृहत्संहिता	सुब्रह्मण्य शास्त्री, बेंगलोर
शिवपुराण	सनातनधर्म प्रेस, मुरादाबाद
श्रुतसागरीवृत्ति	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
षट्खण्डागम	सेठ शिताबराय लखमीचन्द, भेलसा
सर्वार्थसिद्धि	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
सागारधर्मामृत	दि० जैन पुस्तकालय, सूरत
सावयधम्मदोहा	जैन सोसायटी, कारंजा
सुभाषितरत्नसंदोह	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
सौन्दरनन्दकाव्य	पंजाब यूनिवर्सिटी, लाहौर
हरिवंशपुराण	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्राज़	पी० बी० काणे, पूना

प्रस्तावनाकी विषयसूची

प्रस्तावना

प्रस्तुत उपासकाध्ययन सोमदेव सूरिकृत यशस्तिलकके अन्तिम तीन आश्वास हैं। स्वयं सोमदेवने इन्हें उपासकाध्ययन नाम दिया है।[1] यशस्तिलकमें सोमदेव केवल यशोधर महाराजकी कथा न कहकर कुछ 'और' भी कहना चाहते थे। इस 'और' को समझनेके लिए यशस्तिलककी समग्र कथावस्तु तथा उसमें आये आनुषंगिक प्रसंगोंका परिचय आवश्यक है। इसी दृष्टिसे प्रस्तावनाको दो भागोंमें विभक्त किया है। पूर्वभागमें यशस्तिलककी कथावस्तु, उपासकाध्ययन तथा आनुषंगिक प्रसंगोंका विवेचन है और उत्तरभागमें उपासकाध्ययनका तुलनात्मक अध्ययन।

पूर्वभाग

[१ यशस्तिलककी कथावस्तु

यौधेय देशमें राजपुर नामका एक सुन्दर नगर था। उसमें चण्डमहासेनका पुत्र राजा मारदत्त राज्य करता था। वह नृग, नल, नहुष, भरत, भगीरथ और भगदत्त नामके प्राचीन राजाओंसे भी पराक्रमशाली था। उसके अन्त:पुरमें आन्ध्र, चोल, केरल, सिंहल, कर्नाट, सौराष्ट्र, कम्बोज, पल्लव और कलिंग देशकी सुन्दरियोंका निवास था।

एक दिन वीरभैरव नामके कुलाचार्यने उससे कहा, "राजन्, तुम्हारी राजधानीमें जो चण्डमारीदेवीका मन्दिर है, उसमें यदि देवीके सामने सब प्रकारके प्राणियोंकी बलि दी जाये और समस्त लक्षणोंसे युक्त मनुष्य-युगलका वध तुम स्वयं अपने हाथसे करो तो तुम्हें विद्याधरोंके लोकको विजय करनेवाली तलवारकी सिद्धि प्राप्त हो सकती है।" यह सुनकर मारदत्त राजाने असमयमें ही महानवमीकी पूजाके बहानेसे समस्त जनताको मन्दिरमें बुलवाया और देवीके पादपीठके निकट बैठकर अपने रक्षक अनुचरोंको सब लक्षणोंसे युक्त मनुष्य-युगल खोजकर लानेका आदेश दिया।

चण्डमारीका मन्दिर बड़ा भयानक था। उसे देखकर स्वयं मृत्यु भी भयभीत होती थी। उसका परिसर प्रलयकालकी रात्रिकी तरह भयानक महायोगिनियोंसे भरा हुआ था और अन्धभक्तोंका झुण्ड विविध प्रकारकी आत्मयन्त्रणाओंमें संलग्न था। कहीं साधक अपने सिरोंपर गुग्गुल जला रहे थे, कहीं अपनी शिराओंको दीपककी तरह जलाते थे, कहीं रुद्रको प्रसन्न करनेके लिए अपना रुधिरपान करते थे, कहीं कापालिक अपने शरीरसे मांस काटकर बेचते थे, कहीं अपनी आँतें निकालकर मातृकाओंको प्रसन्न करते थे और कहीं अग्निमें अपने मांसकी आहुति देते थे।

इसी समय सुदत्त नामके जैनाचार्य मुनिसंघके साथ राजपुर पधारे। नगरके बाहर एक सुन्दर उद्यान था, वहाँ सुन्दरियोंके साथ युवा पुरुष क्रीडामें मग्न थे। ऐसे स्थानको मुनियोंके आवासके अयोग्य जानकर सुदत्ताचार्य आगे बढ़ गये। आगे श्मशान भूमि थी। उससे आगे एक पर्वत था। उसीपर वह ठहर गये और मध्यकालीन कृतिकर्मसे निवृत्त होकर उन्होंने साधुओंको निकटवर्ती ग्रामोंमें गोचरी करनेका आदेश दिया।

उन साधुओंमें दो मुनिकुमार भी थे। एकका नाम अभयरुचि था और दूसरेका नाम अभयमती। दोनों सहोदर भाई-बहन थे और यशोधर महाराजके पुत्र यशोमतीकी रानी कुसुमावलीके गर्भसे दोनों यमज उत्पन्न हुए थे। कुसुमावली राजा मारदत्तकी बहन थी। दोनोंने कुमार अवस्थामें ही क्षुल्लकके व्रत ग्रहण

---

१. इयता ग्रन्थेन मया प्रोक्तं चरितं यशोधरनृपस्य।
इत उत्तरं तु वक्ष्ये श्रुतपठितमुपासकाध्ययनम् ॥ यश०, आश्वास पाँच।

किये थे और सुदत्ताचार्यके साथ रहते थे। आचार्यने उन दोनोंको नगरमें भोजनके लिए जानेका आदेश दिया। मार्गमें बलिके निमित्त एक मनुष्य-युगलको लानेके लिए भेजे गये राजसेवकोंसे उनकी मुठभेड़ हो गयी। सेवकोंने उनसे बहाना किया कि आपके शुभागमनको जानकर एक महान् गुरु भवानीके मन्दिरमें आपके दर्शनोंके लिए उत्सुक हैं अतः इस ओर पधारनेकी कृपा करें। सेवकोंकी भीषण आकृतिसे उन्हें किसी भावी अनिष्टकी आशंका तो हुई, किन्तु सब कुछ दैवपर छोड़कर वे दोनों मन्दिरकी ओर चल दिये।

चण्डमारीके उस महाभैरव नामके मन्दिरका दृश्य बड़ा विचित्र था। बलिके लिए लाये गये सब प्रकारके प्राणियोंसे मन्दिरका आँगन भरा हुआ था। सशस्त्र रक्षक उनकी रखवालीके लिए नियुक्त थे। उनके शस्त्रोंको देखकर भेड़, भैंसें, ऊँट, हाथी और घोड़े दूरसे काँप रहे थे। अपने रुधिरके प्यासे राक्षसोंको देखकर मगर, मच्छ, मेढ़क, कच्छप आदि जलचर जन्तु त्रस्त थे। क्रौंच, चकवे, मुर्गे, जलकाक, राजहंस आदि विविध प्रकारके पक्षियोंकी भी यही दशा थी। सिंह और भालू-जैसे हिंसक जन्तुओंमें भी भय छाया हुआ था। राजाके द्वारा मनुष्य-युगलका बलिदान होनेके पश्चात् इन सबका संहार होनेवाला था।

दोनों मुनिकुमारोंने मन्दिरके आँगनके मध्यमें तलवार खींचकर खड़े हुए राजा मारदत्तको देखा। उस समय वह ऐसा प्रतीत होता था मानो नदीके मध्यमें कोई पहाड़ खड़ा है और उसपर फणा उठाये हुए एक सर्प बैठा है। वहाँके भयानक वातावरणको देखकर अभयरुचिने धोरतापूर्ण दृष्टिसे अपनी बहनकी ओर देखा। उसके आशयको समझकर अभयमतिने भी निःशंकचित्तसे अपने भाईके मुखकी ओर देखा। भाई बहनकी ओरसे आश्वस्त हुआ।

उधर मारदत्त दोनों मुनिकुमारोंको देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ, उसके लोचनोंसे कलुषता चली गयी, सब इन्द्रियाँ करुणरसमें निमग्न हो गयीं। उसने मुनिकुमारोंको आसनपर बैठाया और विचारने लगा, इन मुनिकुमारोंको देखकर मेरा हृदय क्यों शान्त हो गया? क्यों मेरा आत्मा आनन्दसे गद्‌गद हो रहा है, कहीं ये दोनों मेरे भानजा-भानजी तो नहीं हैं? उस दिन मैंने रैवतकसे सुना था कि वे दोनों कुमार अवस्थामें ही गृहत्यागी बन गये हैं।

राजाकी परिवर्तित प्रसन्नमुद्राको देखकर दोनों मुनिकुमारोंने राजाको आशीर्वाद दिया। राजाने दोनोंकी आशीर्वादात्मक मधुरवाणीसे अति प्रसन्न होकर पूछा, "आपका कौन-सा देश है, किस कुलको आपने अपने जन्मसे शोभित किया है और बाल्यावस्थामें ही आपने यह प्रव्रज्याका मार्ग क्यों स्वीकार किया? कृपया बतानेका कष्ट करें।"

मुनिकुमार बोला, "राजन्! यद्यपि मुनिजनोंके लिए अपना देश, कुल और दीक्षाका कारण बतलाना उचित नहीं है तथापि कुतूहल हो तो सुनिए—[प्रथम आश्वास]

अवन्ती जनपदमें उज्जैनी नामकी नगरी है। उसमें यशोर्घ नामका राजा राज्य करता था। उसकी पत्नीका नाम चन्द्रमती था। राजा यशोर्घ और रानी चन्द्रमतीके यशोधर नामका पुत्र था।

एक दिन राजा यशोर्घने अपने सिरमें एक सफेद बाल देखा और अपने पुत्र यशोधरके विवाह तथा राज्यारोहणका आदेश देकर साधु हो गये। बादको समारोहपूर्वक अमृतमतीके साथ यशोधरका विवाह हुआ और विवाहके पश्चात् राज्याभिषेक हुआ। [द्वितीय आश्वास]

तीसरे आश्वासमें राजा यशोधरकी दिनचर्या, राजव्यवस्था आदिका विस्तृत वर्णन है।

एक दिन राजा यशोधर अपनी रानी अमृतमतीके महलमें सोनेके लिए गया। मध्यरात्रिके समय उसने देखा कि उसकी रानी शय्या छोड़कर उठी। आँख मूँदकर लेटे हुए राजाकी ओर बड़े ध्यानसे देखा और उसे सोया हुआ जानकर अपने वस्त्राभूषण उतार दासीके वस्त्र पहनकर जल्दीसे महलसे निकल गयी। राजाको सन्देह हुआ। वह तुरत उठकर पंजोंके बल उसके पीछे-पीछे चल दिया।

रानीने एक पीलवानके झोंपड़ेमें प्रवेश किया। उसका नाम अष्टवंक था। वह बड़ा ही बदसूरत और कुबड़ा था। रस्सीके ढेरपर सिर रखकर घासपर पड़ा सोया था। रानी उसके पैरोंके पास बैठ गयी और

हाथ पकड़कर उसे जगाने लगी। रानीके देरसे आनेके कारण कुबड़ा क्रुद्ध होकर उसे मारने लगा। एक हाथसे उसने रानीके बालोंको खींचा और दूसरे हाथसे घूसे लगाये। रानी उसकी अनुनय-विनय करते हुए बोली, कि जब मैं यशोधरके साथ थी तब भी मेरे हृदयमें तुम ही विराजमान थे; यदि मेरा कथन असत्य हो तो भगवती कात्यायनी मुझे खा जायें।

राजा यशोधर यह सब कृत्य देख रहा था। एक बार तो उन दोनोंका वध करनेके लिए अपनी तलवार खींचना चाहा, किन्तु अपने पुत्र बालक यशोमतिकुमारके मातृवियोगके दुःखकी सम्भावनासे तथा निन्दाके भयसे अपनेको शान्त करनेका प्रयत्न किया। राजा यशोधर महलमें लौटकर सोनेका बहाना करके लेट गया और रानी अमृतमती भी चुपचाप आकर उसके पास ऐसे सो गयी, मानो कुछ हुआ ही नहीं।

किन्तु यशोधर फिर सो न सका, उसका अन्तःकरण घोर वेदनासे हाहाकार करने लगा और स्त्री मात्रके प्रति उसे तीव्र घृणा हो गयी। उसने अपने पुत्र यशोमतिकुमारको राज्य देकर संसारको छोड़ देनेका विचार किया।

प्रातःकाल होनेपर राजा यशोधर सभामण्डपमें पहुँचा। उसकी माता चन्द्रमती भी आयीं। स्तुति-पाठकने कुछ श्लोक पढ़े, जो राजाके मानसिक विचारोंके अनुकूल थे। राजाने प्रसन्न होकर उसे पारितोषिक प्रदान करनेका आदेश दिया।

यह देखकर माता चन्द्रमतीके मनमें सन्देह हुआ। वह सोचने लगी, आज मेरे पुत्रका मन संसारसे विरक्तिकी ओर क्यों है? कहीं महादेवीके महलमें तो कोई वैराग्यका कारण उपस्थित नहीं हुआ? मेरी अनिच्छाके होते हुए भी मेरे पुत्रने अपनी रानीको बड़ी स्वतन्त्रता दे रखी है। मेरी दासपुत्रीने एक दिन कहा भी था कि आपकी पुत्रवधूका उस कुबड़ेसे प्रेम ज्ञात होता है।

यह सोचकर माताने यशोधरसे उसकी उदासीका कारण पूछा। यशोधरने पूर्वनिर्धारित योजनाके अनुसार अपनी मातासे कहा कि मैंने एक स्वप्न देखा है कि मैं अपने पुत्रको राज्य देकर संसारसे विरक्त हो गया हूँ। माताने स्वप्नोंपर ध्यान न देनेका आग्रह करते हुए अन्तमें कहा कि यदि तुझे दुःस्वप्नका भय है तो शान्तिके लिए कुलदेवताके सामने समस्त प्रकारके प्राणियोंकी बलि देनी चाहिए।

पशुओंके बलिदानकी बात सुनकर यशोधरके चित्तको बड़ा कष्ट हुआ। पशुबलिको लेकर माता और पुत्रमें शास्त्राधारपूर्वक वार्तालाप हुआ; किन्तु राजा माताके मतसे सहमत नहीं हो सका। माताने सोचा मेरे पुत्रको जैनधर्मकी हवा लगी प्रतीत होती है। उस दिन पुरोहितके पुत्रने कहा भी था कि आज राजा एक वृक्षमूल-निवासी दिगम्बरसे मिला था। उसी दिनसे न तो यह मधु-मांसका सेवन करता है, न शिकार खेलता है, न पशुबलि करता है और श्रुति-स्मृतिके प्रमाण उपस्थित करनेपर उनके विरुद्ध उत्तर देता है।

यह सोचते ही दिगम्बरोंके विरुद्ध माताका क्रोध भड़क उठा और वह उनकी निन्दा करने लगी। किन्तु पुत्र उनका समर्थन ही करता गया। जब माताने शिव, विष्णु और सूर्यकी पूजा करनेपर जोर दिया तो पुत्रने ब्राह्मणधर्मकी कमजोरियाँ बतलाते हुए अनेक शास्त्रोंके आधारपर जैनधर्मकी प्राचीनता और महत्ताका ही समर्थन किया।

अन्तमें माता चन्द्रमतीने निराश होकर अपने पुत्रको इस बातके लिए सहमत किया कि आटेका एक मुर्गा बनाकर देवीके सामने उसकी बलि दी जाये।

रानी अमृतमतीको राजसभाका सब समाचार मिला। वह तुरन्त समझ गयी कि स्वप्नकी बात असत्य है और राजाको मेरा रहस्य ज्ञात हो गया है। उसने तुरन्त आगेका अपना कार्यक्रम निश्चित करके एक मन्त्रीके द्वारा यशोधरको कहलाया कि राजाको दुःस्वप्नके फलसे बचानेके लिए मैं स्वयं देवीके सामने अपनी बलि देनेको तैयार हूँ। तथा यदि राजाने संसारको त्यागनेका ही निश्चय किया है तो सीता, द्रौपदी और अरुन्धती आदिकी तरह मुझे भी वनमें साथ चलनेकी आज्ञा दी जाये। उसने देवीकी पूजाके पश्चात् राजा और उसकी माताको अपने महलमें भोजनके लिए भी आमन्त्रित किया और यशोधरने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया।

चण्डमारी देवीके सामने आटेके बने मुर्गेको राजा यशोधरने उसी विधिसे काटा जिस विधिसे जीवित मुर्गा काटा जाता है और उसे मांसके रूपमें पकाकर खाया भी।

दूसरे दिन अमृतमतीके महलमें राजा यशोधर, माता चन्द्रमती, पुत्र यशोमतिकुमार तथा पुत्रवधूका भोजन हुआ। अमृतमतीने अपने पति तथा सासके भोजनमें विष मिला दिया। भोजन करनेके बाद दोनों-का प्राणान्त हो गया। [चतुर्थ आश्वास]

मुनिकुमार कहता गया, हिमालयसे दक्षिणमें सुवेला नामका पर्वत है। उस पर्वतकी उपत्यकामें एक वृक्ष है। यशोधर मरकर उस वृक्षपर मयूरकुलमें उत्पन्न हुआ। उसे एक शिकारीने पकड़कर राजा यशोमति-कुमारको भेंट कर दिया। राजमहलको देखते ही मयूरको अपने पूर्व-जन्मका स्मरण हो आया।

उधर राजमाता चन्द्रमती मरकर विन्ध्याचलके दक्षिणमें स्थित करहाट देशमें कुत्ता हुई। संयोगवश उसके स्वामीने वह कुत्ता भी यशोमतिकुमारको भेंट कर दिया।

एक दिन मयूर राजमहलके सातवें खण्डपर जा पहुँचा और उसने अपने पूर्वभवकी पत्नी रानी अमृत-मतीको कुबड़ेके साथ रतिसुखमें निमग्न देखा। देखते ही मयूर क्रोधसे उन्मत्त हो गया और अपनी चोंच, पंख वगैरहसे उसने दोनोंपर प्रहार किया। दासियोंने यह देखकर शोर मचाया और जो कुछ भी उनके हाथमें आया, उसीसे मयूरको मारने लगीं। शोर सुनकर वह कुत्ता भी दौड़ा और उसने मयूरको मार डाला। यशोमतिकुमारने, जो निकट ही थे, कुत्तेको मयूरपर प्रहार करते हुए देखा और एक लकड़ीका टुकड़ा फेंककर मारा, उससे वह कुत्ता भी मर गया।

मयूर मरकर सेही हुआ और कुत्ता मरकर सर्प हुआ। एक दिन भूखा सेही सर्पको खा गया, उस समय उसके मुखकी आवाजसे पासमें ही सोया हुआ लकड़बग्घा जाग गया और उसने सेहीको मार डाला।

उसके पश्चात् यशोधरका जीव सिप्रा नदीमें मच्छ हुआ और चन्द्रमतीका जीव उसी नदीमें मगर हुआ। एक दिन ज्येष्ठ मासमें सिप्रामें उज्जैनीकी नारियाँ क्रीडा कर रही थीं। मगरने उनमें-से एक स्त्रीको पकड़ लिया जो राजा यशोमतिकुमारकी रानी कुसुमावलीकी दासी थी। यह सुनते ही क्रुद्ध राजाने धीवरोंको समस्त दुष्ट जल-जन्तुओंको मार डालनेका आदेश दिया। धीवरोंने उस मगरके साथ मच्छको भी पकड़ लिया और राजाके सम्मुख उपस्थित किया। राजाने अपने पितरोंके सन्तर्पणके लिए दोनोंको भोजनशालामें भिजवा दिया। इस तरह उन दोनोंका अन्त हुआ।

पुनः वे दोनों उज्जैनीके निकट कंकाहि नामक ग्राममें भेड़ोंके झुण्डमें बकरा-बकरी हुए। एक दिन यशोधरका जीव बकरा अपनी माता चन्द्रमतीके जीव बकरीके साथ रमण कर रहा था। उसी समय मेषोंके झुण्डके स्वामीने अपने ही तीक्ष्ण सींगोंसे बकरेके मर्मस्थानमें आघात किया। उस आघातसे वह मर गया और उसी बकरीके गर्भमें आया।

एक दिन यशोमतिकुमार शिकार खेलनेके लिए वनमें गया। किन्तु कोई शिकार उसके हाथ नहीं लगा। निराश और क्रुद्ध होकर वह वनसे लौटा। मार्गमें भेड़ोंके झुण्डमें-से जाते हुए उसने उस बकरीपर बाणसे प्रहार किया और उसका पेट फाड़ डाला। उसमें-से एक बच्चा निकला। उसे उसने अपने रसोइयेको सौंप दिया।

उधर वह बकरी मरकर कलिंग देशमें एक भैंसेके रूपमें उत्पन्न हुई। उस भैंसेको एक व्यापारीने खरीद लिया। एक बार वह उज्जैनी आ गया। एक दिन वह बलशाली भैंसा सिप्रा नदीमें तैर रहा था। वहाँ उसकी मुठभेड़ यशोमतिकुमारके एक अश्वसे हो गयी। भैंसेने घोड़ेपर सांघातिक प्रहार किया। फलस्वरूप राजाके आदेशसे सेवकोंके द्वारा वह भैंसा घोर यन्त्रणा देकर मार डाला गया। मांसकी प्रेमी अमृतमतीने उस बकरेको भी पकवाकर खा डाला। इस तरह भैंसा और बकरेका प्राणान्त हुआ। अगले जन्ममें दोनों मुर्गा-मुर्गी हुए।

मन्मथमथन नामके एक मुनिराज विजयार्ध पर्वतपर ध्यानमें लीन थे। कन्दलविलास नामका एक विद्याधर आकाशमार्गसे उधरसे निकला। मुनिराजके तपके माहात्म्यसे उसका विमान रुक गया। उसने क्रुद्ध

होकर मुनिके ऊपर घोर उपसर्ग किया। विद्याधरोंका राजा रत्नशिखण्डी मुनिराजके दर्शनके लिए उसी समय वहाँ आया। वह कन्दलविलासके दुष्कर्मको देखकर बहुत क्रुद्ध हुआ और उसे शाप दिया कि इस दुष्कर्मके विपाकसे तू उज्जैनीमें चण्डकर्मा नामका जल्लाद होगा।

विद्याधरके प्रार्थना करनेपर रत्नशिखण्डीने कहा कि जब तुझे आचार्य सुदत्तके दर्शनोंका लाभ होगा और तू उनसे धर्मग्रहण करेगा तो तेरी इस शापसे मुक्ति हो जायेगी।

आचार्य सुदत्तका परिचय देते हुए विद्याधरोंके राजाने कहा कि एक समय आचार्य सुदत्त कलिंगके शक्तिशाली राजा थे। एक दिन एक चोर उनके सामने उपस्थित किया गया, वह सोते हुए एक नाईको मार डालने तथा उसका सर्वस्व हरण करनेका अपराधी था। राजाने धर्माधिकारियोंसे उसको दण्ड देनेके विषयमें परामर्श किया। उन्होंने कहा कि इस चोरने सोते हुए मनुष्यका घात किया है अतः इसे नाना प्रकार-की यन्त्रणाएँ देकर इस तरह सताया जाये कि दस-बारह दिनमें इसकी मृत्यु हो जाये। यह सुनकर राजाको क्षत्रिय-जीवनसे बड़ी अरुचि हुई और उन्होंने राज्य त्याग कर जिनदीक्षा धारण कर ली।

इसी बीचमें वह विद्याधर उज्जैनीमें जल्लादका कर्म करने लगा। यशोधर तथा चन्द्रमती उसी नगरके समीप एक चाण्डाल बस्तीमें मुर्गा-मुर्गी हुए थे। एक दिन उस जल्लादने, जो चण्डकर्माके नामसे प्रसिद्ध था, एक चण्डालपुत्रके हाथमें उन मुर्गा-मुर्गीको देखा। और उससे लेकर उन्हें यशोमतिकुमारको दिखलाया। राजा उस समय कामदेवकी पूजाके लिए जा रहा था। उसने चण्डकर्मासे कहा कि अभी तुम इन्हें अपने ही पास रखो। वहीं उद्यानमें इनका युद्ध देखा जायेगा।

चण्डकर्मा पिंजरेके साथ उद्यानमें पहुँचा। उसके साथमें शकुन-शास्त्रमें निष्णात आसुरि, भागवत ज्योतिषी, धूमध्वज नामक ब्राह्मण, भूगर्भवेत्ता हरप्रबोध और सुगतकीर्ति नामक बौद्ध भी थे। उद्यानमें एक वृक्षके नीचे आचार्य सुदत्त विराजमान थे। उन सबने आचार्य सुदत्तके सामने अपने-अपने मतोंका निरूपण किया, किन्तु आचार्यने उन सभीके सिद्धान्तोंका खण्डन करते हुए अहिंसाको ही धर्मका मूल बतलाया। अपने पक्षके समर्थनमें उन्होंने उस मुर्गा-मुर्गीके पूर्वभवोंका वर्णन करते हुए राजा यशोधर और चन्द्रमतीके उस कृत्यकी चर्चा की, जिसके कारण उन्हें वे कष्ट भोगने पड़े। आचार्य सुदत्तके मुखसे अपने पूर्वभवोंकी बात सुनकर मुर्गा-मुर्गीको भी अपने पूर्वकृत्योंपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ और दोनोंने अपने मनमें व्रत धारण किये। दोनों एक पटमण्डपमें आनन्दसे कूज रहे थे। इतनेमें यशोमतिकुमारने अपनी रानीको शब्दवेधमें अपनी कुशलता दिखलानेके लिए बाण छोड़ा। उस बाणसे आहत होकर मुर्गा-मुर्गी दोनों मर गये। व्रतके प्रभावसे अगले जन्ममें दोनों मनुष्ययोनिको प्राप्त हुए और यशोमतिकुमारकी रानी कुसुमावलीके गर्भसे यमज भाई-बहनके रूपमें उत्पन्न हुए। उनका नाम यशस्तिलक और मदनमती रखा गया था, किन्तु वे अभयरुचि और अभयमतीके नामसे प्रसिद्ध हुए, क्योंकि उनके गर्भमें आनेके दिनसे ही उनकी माताका भाव सब प्राणियोंको अभयदान देनेका हो गया था।

एक दिन राजा यशोमति, शिकार खेलनेके लिए गया। और उसने सहस्रकूट जिनालयके उद्यानमें सुदत्ताचार्यको देखा। राजाके एक साथीने कहा कि राजन्, इस मुनिके दर्शनसे आज शिकारमें सफलता मिलना दुष्कर है। यह सुनकर राजाको क्षोभ हुआ। तब मुनिके दर्शनार्थ आया हुआ कल्याणमित्र बोला, राजन्! असमयमें यह मुखपर क्रोधके चिह्न क्यों? राजाका साथी बोला, इस अमंगलस्वरूप नंगे साधुको जो देख लिया। कल्याणमित्रने कहा, राजन्! ऐसा मत सोचो! यह महात्मा एक समय कलिंगदेशके राजा थे। तुम्हारे पितासे इनका वंशानुगत सम्बन्ध था। इन्होंने स्वयं प्राप्त लक्ष्मीको चंचल जानकर छोड़ दिया। अतः इनकी अवज्ञा करना उचित नहीं है। तब यशोमतिकुमारने कल्याणमित्रके साथ मुनिराजको नमस्कार किया और मुनिराजने उन्हें शुभाशीर्वाद दिया।

इससे यशोमतिकुमारको अपनी दुर्भावनापर बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उसके मनमें यह विचार आया कि मुझे अपने दुष्कृत्यके प्रायश्चित्त रूपमें अपना सिर काटकर इनके चरणोंमें चढ़ाना चाहिए। मुनि महाराजने

राजाके मनकी बातको जानकर उसे ऐसा करनेसे रोका। इससे यशोमतिकुमार और भी अधिक प्रभावित हुआ और उसने मुनिराजको अतीन्द्रियदर्शी जानकर अपने दादा यशोर्घ महाराज और पितामही चन्द्रमती तथा माता-पिताके विषयमें पूछा कि अब वे किस लोकमें हैं। मुनिराज बोले, राजन्! तुम्हारे दादा महाराज यशोर्घ तो ब्रह्मोत्तर स्वर्गमें देव हैं। तुम्हारी माता पाँचवें नरकमें है। और तुम्हारी पितामही तथा पिता आटेके बने मुर्गेकी बलि देनेके पापसे अनेक जन्मोंमें कष्ट उठाकर अब तुम्हारे घरमे पुत्र और पुत्रीके रूपमें वर्तमान हैं।

यह सुनकर यशोमतिकुमारको अपने दुष्कृत्योंपर बड़ा खेद हुआ और उसने आचार्यसे दीक्षा देनेकी प्रार्थना की। और सब परिवारको बुलवाकर उसे मुनिराजके द्वारा कहा हुआ वृत्तान्त सुनाया।

इतनी सब कथा कहनेके पश्चात् मुनिकुमार राजा मारदत्तसे बोला, "राजन्, हम वही अभयरुचि और अभयमति हैं। अपने पूर्वभवोंका वृत्तान्त सुनकर हमें अपने पूर्व जन्मका स्मरण हो आया और हमने संसारको छोड़ देनेका निश्चय किया। उस समय हम दोनोंकी अवस्था केवल आठ वर्षकी थी, इसलिए मुनि-दीक्षा तो नहीं क्षुल्लकके व्रत दिये गये। आचार्य सुदत्तके साथ विहार करते हुए तुम्हारी नगरीमें आये तो तुम्हारे सेवक हमें पकड़कर तुम्हारे पास ले आये।"

मुनिकुमारकी कथा सुनकर मारदत्त राजाको अपने ऊपर बड़ी ग्लानि हुई और उसने मुनिकुमारसे अपने समान बना लेनेकी प्रार्थना की। मुनिकुमारने उन्हें अपने गुरु सुदत्ताचार्यके पास चलनेके लिए कहा।
[पञ्चम आश्वास]

आचार्य सुदत्त अवधिज्ञानसे सब जानकर स्वयं ही वहाँ आ उपस्थित हुए। सबने खड़े होकर उनका सम्मान किया और राजा मारदत्तने उनसे धर्मका स्वरूप पूछा, उसीके उत्तरमें उन्होंने श्रावक धर्मका उपदेश दिया। वही उपदेश आश्वास छह, सात और आठमें वर्णित है जिसे सोमदेवने उपासकाध्ययन संज्ञा दी है।

[२] यशस्तिलकमें समागत धार्मिक प्रसंग

यशस्तिलककी कथावस्तुके परिचयसे यह स्पष्ट है कि बाणकी कादम्बरी और सुबन्धुकी वासवदत्ता-की तरह यह केवल एक आख्यानमात्र नहीं है, किन्तु जैन और जैनेतर दार्शनिक तथा धार्मिक सिद्धान्तोंका एक सारभूत ग्रन्थ भी है। इसके साथ ही इसमें तत्कालीन सामाजिक जीवनके विविध रूप भी चित्रित हैं और इस तरह यह एक महान् धार्मिक आख्यान भी है।

इसके अन्तिम तीन आश्वास जैनधर्मके श्रावकाचार-विषयक व्रतादि नियमोंसे ही सम्बद्ध हैं। कथा-भागमें भी सोमदेवने जैन-तत्त्वोंका समावेश किया है। जैनधर्मपर किये जानेवाले आक्षेपोंका परिहार और तत्कालीन जैनेतर धर्मों और दर्शनोंकी समीक्षा भी इसमें विस्तारसे की गयी है। इस दृष्टिसे यशस्तिलकका चतुर्थ आश्वास बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें कविने यशोधर और उसकी माताके बीचमें पशुबलिको लेकर वार्ता-लाप कराया है। यशोधर जैन सिद्धान्तोंमें आस्था रखता है और उसकी माता ब्राह्मणधर्ममें। यशोधर अपने पक्षके समर्थनके लिए एक ओर तो वैदिक धर्मके कतिपय सिद्धान्तोंका विरोध करता है, दूसरी ओर अनेक जैनेतर शास्त्रोंके उद्धरण देकर जैन-धर्मकी प्राचीनता और महत्ताको प्रस्थापित करता है।

यशोधरकी माता अपने पुत्रके द्वारा कथित दुःस्वप्नकी शान्तिके लिए देवीके सम्मुख सब प्रकारके प्राणियोंकी बलि देनेका सुझाव रखती है और इसीपरसे माता-पुत्रमें विवादका सूत्रपात होता है। माता अपनी बातके समर्थनमें मनुका मत रखती है,

> "यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।
> यज्ञो हि भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥३९॥
> मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि।
> अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥४१॥
> एष्वर्थेषु पशून् हिंसन् वेदवेदार्थविद्द्विजः।
> आत्मानं च पशूंश्चैव गमयत्युत्तमां गतिम् ॥४२॥"—मनुस्मृति—५ अ०

'स्वयं ब्रह्माने यज्ञके लिए पशुओंकी सृष्टि की है। और यज्ञ सबकी समृद्धिके लिए हैं। अतः यज्ञमें पशुका वध अवध है। मधुपर्क, यज्ञ, पितृकर्म और देवकर्ममें ही पशु-हिंसा करनी चाहिए, अन्यत्र नहीं, यह मनुने कहा है। वेद और वेदार्थको जाननेवाला द्विज इन पूर्वोक्त कर्मोंमें पशुकी हिंसा करता हुआ अपनेको और उस पशुको उत्तम गति प्राप्त कराता है।''

यह सुनकर यशोधर अपने कान बन्द करके दीर्घ निःश्वास लेता है और अपनी मातासे कुछ कहनेकी आज्ञा माँगता है। मातासे स्वीकृति पाकर यशोधर पशुबलिका सख्त विरोध करता है। वह कहता है कि प्राणियोंकी रक्षा करना क्षत्रियोंका महान् धर्म है। निरपराध प्राणियोंका वध करनेपर वह महान् धर्म नष्ट हो जायेगा।

''यः शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुः स्याद् यः कण्टको वा निजमण्डलस्य।
अस्त्राणि तत्रैव नृपाः क्षिपन्ति न दीन-कानीन-शुभाशयेषु॥''

''राजागण उसीपर अस्त्र-प्रहार करते हैं जो शत्रु-संग्राममें सशस्त्र उपस्थित होता है, अथवा जो निज देशका कण्टक होता है। दुर्बलोंपर, नीचोंपर और सज्जनोंपर नहीं।'' तो माता! इस लोक और परलोक-सम्बन्धी आचारमें तत्पर रहते हुए मैं उन पशुओंपर कैसे अस्त्र चलाऊँ! क्या आप भूल गयीं कि कल ही हिरण्यगर्भ मन्त्रीके पुत्र नीति बृहस्पतिने आपकी प्रेरणापर मुझे ये तीन श्लोक पढ़ाये थे,

''न कुर्वीत स्वयं हिंसां प्रवृत्तां च निवारयेत्।
जीवितं बलमारोग्यं शश्वद् वाञ्छन्महीपतिः॥
यो दद्यात् काञ्चनं मेरुं कृत्स्नां चापि वसुन्धराम्।
एकस्य जीवितं दद्यात् फलेन च न समं भवेत्॥
यथात्मनि शरीरस्य दुःखं नेच्छन्ति जन्तवः।
तथा यदि परस्यापि न दुःखं तेषु जायते॥''

''दीर्घ आयु, शारीरिक सामर्थ्य और आरोग्यको चाहनेवाले राजाको स्वयं हिंसा नहीं करनी चाहिए, और यदि कोई अन्य करता हो तो उसको रोकना चाहिए। जो पुरुष मेरुके बराबर स्वर्ण तथा समस्त पृथ्वीका दान करता है और एक जीवको जीवन दान करता है इन दोनोंके फल समान नहीं है। जैसे जीव अपने शरीरमें दुःख नहीं चाहते वैसे ही यदि दूसरे जीवके दुःखकी भी कामना न करें तो उन्हें कभी दुःख उठाना न पड़े।''

ब्राह्मण और देवताओंके सन्तर्पण और शरीरकी पुष्टिके लिए लोकमें अन्य भी बहुत-से उत्तम उपाय हैं। तब सत्पुरुष पाप क्यों करेगा? फिर मांस तो रज और वीर्यके संयोगसे उत्पन्न होता है, अतः वह अपवित्रताका घर है। ऐसा मांस भी यदि देवताओंको पसन्द है तो हमें मांसभक्षी व्याघ्रोंकी उपासना करनी चाहिए। अतः देवता पशुओंके उपहारसे प्रसन्न होते हैं, यह प्रवाद मिथ्या है। वनमें भी तलवारके द्वारा और गला दबानेसे पशु मारे जाते हैं। और इनको देवियाँ यदि स्वयं खा जाती हैं, तब तो उनसे व्याघ्र ही विशेष स्तुतिके योग्य हैं क्योंकि वे स्वयं मारकर खा जाते हैं, देवताओंकी तरह दूसरोंसे मरवाकर नहीं खाते। यथार्थमें लोग देवताओंके बहानेसे स्वयं मद्य और मांसका सेवन करते हैं। ऐसा करनेसे यदि दुर्गति न हो तो फिर दुर्गतिका दूसरा मार्ग कौन-सा है?

यदि परमार्थसे हिंसा ही धर्म है तो शिकारको 'पापर्द्धि' क्यों कहते हैं, मांसको ढाँककर क्यों लाते हैं? मांस बनानेवाला घरसे बाहर क्यों रहता है, मांसका दूसरा नाम रावणशाक क्यों है? तथा पर्वके दिनोंमें मांसका त्याग क्यों बतलाया है?

तथा पुराणोंमें (महाभारतमें) ऐसा क्यों कहा है,

''यावन्ति पशुरोमाणि पशुगात्रेषु भारत।
तावद् वर्षसहस्राणि पच्यन्ते पशुघातकाः॥''

''हे युधिष्ठिर, पशुके शरीरमें जितने रोम होते हैं, पशुके घातक उतने हजार वर्ष तक नरकमें दुःख भोगते हैं।''

वररुचिने ऐसा क्यों कहा है,

"प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं
काले शक्त्या प्रदेयं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम् ।
तृष्णास्रोतोविभङ्गो गुरुषु च विनतिः सर्वभूतानुकम्पा
सामान्यं सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष मार्गः ॥"

"प्राणोंका घात करनेका त्याग, पर-धनके हरणका त्याग, सत्य वचन बोलना, समयपर शक्तिके अनुसार दान देना, परायी युवतियोंकी चर्चा-वार्तामें चुप रहना, तृष्णाके स्रोतको रोकना अर्थात् परिग्रहका परिमाण करना, गुरुओंको नमस्कार करना, सब प्राणियोंपर दया करना, सब शास्त्रोंमें यह कल्याणका सामान्य मार्ग है, किसीने भी इसका निषेध नहीं किया है।" तथा व्यासने कहा है,

"होम-स्नान-तपो-जाप्य-ब्रह्मचर्यादयो गुणाः ।
पुंसि हिंसारते पार्थ चाण्डाक-सरसीसमाः ॥"

"हे अर्जुन, हिंसक पुरुषके हवन, स्नान, तप, जप, ब्रह्मचर्य आदि गुण चाण्डालके तालाबके पानीकी तरह अग्राह्य हैं।"

इस तरह यशोधरने अनेक प्रमाणभूत जैनेतर शास्त्रोंके उद्धरण-द्वारा पशुवध और मांस-भक्षणका विरोध किया।

अपने पुत्रके मुखसे इस प्रकारका तर्क सुनकर चन्द्रमतीको लगा कि मेरे पुत्रपर किसी दिगम्बर साधुकी छाया पड़ गयी है। अतः वह उनकी निन्दा करती हुई कहती है, "हे पुत्र, इन दिगम्बरोंके धर्ममें देव, पितर और द्विजोंका तर्पण नहीं होता, स्नान और होमकी बात ही नहीं है। न ये वेदको मानते हैं और न स्मृतिको। ऐसे दिगम्बरोंके धर्ममें तेरी रुचि कैसे हुई ? ये दिगम्बर खड़े होकर पशुकी तरह भोजन करते हैं। निर्लज्ज हैं, शौच नहीं करते हैं, देव और ब्राह्मणोंके इन निन्दकोंसे तो कोई बात भी नहीं करता। कृतयुग, त्रेता और द्वापरमें तो इनका नाम भी नहीं है। ये तो कलियुगमें ही उत्पन्न हुए हैं। इनके मतमें मनुष्य ही देवता है और उनकी संख्या अनन्त है। हे पुत्र, धर्ममें केवल श्रुति ही प्रमाण है, वेदके सिवाय अन्य कोई देवता नहीं है। यदि तेरा अनुराग देवताओंमें है तो हर, हरि अथवा सूर्यकी भक्ति कर।

माताके वचनोंको सुनकर यशोधर उसका प्रतिवाद करते हुए कहता है, "माता, ये जैन लोग जिस प्रकारसे देवका अभिषेक, पूजन, स्तवन करते हैं तथा मन्त्र, जप और श्रुतपूजन करते हैं, उसे आप ही जरा उनसे पूछकर देखें। जो हमारे पितर पुण्य-कर्म करके स्वर्गादिकमें चले गये उनके उद्देश्यसे प्रतिवर्ष ब्राह्मणों और कौओंको भोजन करानेसे क्या प्रयोजन है ?

इन दिगम्बर साधुओंका एक जन्म तो माताके उदरसे होता ही है, दूसरा जन्म व्रत धारणसे होता है अतः ये भी द्विज हैं। और इन द्विजोंका सन्तर्पण चतुर्विध दानके द्वारा जैन लोग करते ही हैं। इनमें जो गृहस्थ होते है, वे स्नान करके देव और शास्त्रका पूजन करते हैं, स्वाध्याय और ध्यान करते हैं। यदि नदी या समुद्र वगैरहमें स्नानसे ही पुण्य होता है तो सबसे प्रथम तो जलचर जीव उस पुण्यके भागी होने चाहिए। कहा भी है,

"रागद्वेषमदोन्मत्ताः स्त्रीणां ये वशवर्तिनः ।
न ते कालेन शुद्धयन्ति स्नानात्तीर्थशतैरपि ॥"–आ० ४, पृ० १०९।

"जो पुरुष राग, द्वेष और मदसे उन्मत्त हैं और स्त्रियोंमें आसक्त हैं, वे सैकड़ों तीर्थोंमें स्नान करनेपर भी कभी शुद्ध नहीं हो सकते। स्तम्भन, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, विद्वेषण और मारणके लिए व्यन्तरोंको प्रसन्न करनेके लिए तथा अन्नशुद्धिके लिए हवन और भूतबलि की जाती है। देवगण तो अमृतपान करते हैं, उन्हें अग्निमें अर्पित अन्नसे क्या प्रयोजन ? मोक्षके लिए उद्यत साधुओंको स्नान और होमसे क्या प्रयोजन ?

गृहस्थोंका धर्म साधुका धर्म नहीं हो सकता और साधुका धर्म गृहस्थका धर्म नहीं हो सकता। कहा भी है,

"विमत्सरः कुचैलाङ्गः सर्वद्वन्द्वविवर्जितः।
समः सर्वेषु भूतेषु स यतिः परिकीर्तितः॥
आपस्नानं व्रतस्नानं मन्त्रस्नानं तथैव च।
आपस्नानं गृहस्थस्य व्रतमन्त्रैस्तपस्विनः॥
न स्त्रीभिः संगमो यस्य यः परे ब्रह्मणि स्थितः।
तं शुचिं सर्वदा प्राहुर्मारुतं च हुताशनम्॥"

"जो दूसरोंसे द्वेष नहीं रखता, कुत्सित वस्त्रकी तरह जिसका शरीर मलिन है, जो सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे अछूता है, तथा सब प्राणियोंमें समभाव रखता है उसे यति कहा है। स्नानके तीन प्रकार हैं, जलस्नान, मन्त्रस्नान और व्रतस्नान। गृहस्थ जलस्नान करता है और तपस्वी व्रत और मन्त्रोंके द्वारा स्नान करते हैं। जिसका स्त्रियोंके साथ संगम नहीं है तथा जो परब्रह्ममें लीन है उस पुरुषको और वायु तथा अग्निको सर्वदा शुचि कहा है।"

तथा ज्योतिषांगमें कहा है,

"सप्तमं शनिना दृष्टः क्षपणः कोपितः पुनः।
तद्भक्तस्तस्य पीडायां तावेव परिपूजयेत्॥"

"किसीका शनि सप्तम स्थानमें हो और क्षपण—दिगम्बर साधु यदि कुपित हो जाये तो शनिके भक्तको शनिकी पीड़ामें शनिकी ही पूजा करनी चाहिए और क्षपणके भक्तको क्षपणकी पूजा करनी चाहिए।"

प्रजापतिके द्वारा प्रतिपादित चित्रकर्म शास्त्रमें कहा है,

"श्रमणं तैलदिग्धाङ्गं नवभिर्भित्तिभिर्युतम्।
यो लिखेत् स लिखेत् सर्वां पृथ्वीमपि ससागराम्॥"

"जो चित्रकार तेलसे लिप्त अंगवाले श्रमणका नवों भित्तियोंसे युक्त चित्र बनाता है वह सागरसहित समस्त पृथ्वीका चित्र बनाता है।"

तथा आदित्यमतमें अर्थात् सूर्यसिद्धान्तमें लिखा है,

"भवबीजाङ्कुरमथना अष्टमहाप्रातिहार्यविभवसमेताः।
ते देवा दशतालाः शेषा देवा भवन्ति नवतालाः॥"

"संसारके बीजभूत मोहनीय कर्मके अंकुररूप राग-द्वेषका क्षय करनेवाले और आठ महा-प्रातिहार्यरूप ऐश्वर्यसे सहित अर्हन्त देवकी प्रतिमा दशताल प्रमाण होती है और शेष देवताओंकी मूर्तियाँ नौताल प्रमाण होती है।"

आचार्य वराहमिहिरकृत प्रतिष्ठाकाण्डमें लिखा है,

"विष्णोर्भागवता मगाश्च सवितुर्विप्रा विदुर्ब्रह्मणो
मातॄणामिति मातृमण्डलविदः शम्भोः सभस्मा द्विजाः।
शाक्याः सर्वहिताय शान्तमनसो नग्ना जिनानां विदुः
ये यं देवमुपाश्रिताः स्वविधिना ते तस्य कुर्युः क्रियाम्॥"

"भागवत विष्णुकी प्रतिष्ठा करते हैं, सूर्यभक्त शाकद्वीपीय ब्राह्मण सूर्यकी प्रतिष्ठा करते हैं, ब्राह्मण ब्रह्माकी प्रतिष्ठा करते हैं, मातृ-मण्डलके भक्त सात माताओंकी प्रतिष्ठा करते हैं, भस्म रमानेवाले द्विज शिवकी प्रतिष्ठा करते हैं, बौद्ध बुद्धकी प्रतिष्ठा करते हैं, शान्तचित्त दिगम्बर जिनदेवकी प्रतिष्ठा करते हैं। इस तरह जो जिस देवका उपासक है उसे अपनी विधिसे उस देवकी प्रतिष्ठा करनी चाहिए।"

निमित्ताध्यायमें लिखा है,

"पद्मिनी राजहंसाश्च निर्ग्रन्थाश्च तपोधनाः।
यं देशमुपसर्पन्ति सुभिक्षं तत्र निर्दिशेत् ॥"

"कमलिनी, राजहंस और निर्ग्रन्थ तपस्वी जिस देशमे पाये जाते है वहाँ सुभिक्ष होता है।"

इस तरह सोमदेवने राजा यशोधरके द्वारा जैनधर्म और उसके अनुयायी दिगम्बर साधुओं तथा देवोंकी प्राचीनता तथा मान्यताके सम्बन्धमें जैनेतर ग्रन्थोंसे प्रमाण उपस्थित कराये हैं।

आगे और भी लिखा है कि उर्व, भारवि, भवभूति, भर्तृहरि, भर्तृमेण्ठ, कण्ठ, गुणाढ्य, व्यास, भास, वोस, कालिदास, बाण, मयूर, नारायण, कुमार, माघ, राजशेखर आदि महाकवियोंके काव्योंमें और भरतप्रणीत काव्याध्यायमें तथा सर्वजनप्रसिद्ध उन-उन उपाख्यानोंमें दिगम्बरसम्बन्धी इतनी महती प्रसिद्धि क्यों पायी जाती (यदि दिगम्बर कलिमें उत्पन्न हुए होते तो)।

उक्त प्रमाण विशेष प्राचीन तो नहीं हैं। वराहमिहिरका समय पाँचवीं-छठी शताब्दी है। और सम्भवतया उक्त उद्धरणोंमें वही सबसे प्राचीन है। किन्तु उस समय प्राचीन इतिहासकी खोज और अध्ययनका चलन आजकी तरह सार्वजनिक रूपसे नहीं था, अतः उक्त प्रमाणोंसे जैन धर्म और जैन साधुओंकी सार्वजनिक मान्यता और विश्रुतिपर ही प्रकाश पड़ता है। हाँ, उक्त कवियोंने अपने किन-किन ग्रन्थोंमें जैनोंका उल्लेख किया है, यह अवश्य अन्वेषणीय है।

इस प्रकार माताके द्वारा जैन धर्मपर किये गये आक्षेपोंका परिहार करते हुए यशोधर जैन साधुओंपर किये गये आक्षेपोंके उत्तरमें कहता है,

"माता! तुमने कहा था कि जैन साधु खड़े होकर भोजन करते हैं तो इसका कारण यह है कि, जबतक खड़े होनेकी शक्ति है और जबतक दोनों हाथ आपसमें मिलते हैं तबतक ही मुनि भोजन करते हैं। जिस धर्ममें बालकी नोक बराबर भी परिग्रहके होनेपर उत्कृष्ट निष्परिग्रहत्वका निषेध किया है, उस धर्मके अनुयायी मुमुक्षुओंकी मति वस्त्र, चर्म या वल्कलमें कैसे हो सकती है? रही शौचकी बात, सो मुनिगण कमण्डलुकी सहायतासे बराबर शौच करते हैं। किन्तु अंगुलिमें सर्पके काट लेनेपर कोई अपनी नाक नहीं काट डालता, अर्थात् जो अंग अपवित्र होता है उसीकी शुद्धि की जाती है। जैन लोग उसीको आप्त मानते हैं जिनमें रागादि दोष नहीं होते। जिस धर्ममें मद्यादिका नाम लेना भी बुरा है, शिष्टजन उस धर्मकी निन्दा कैसे कर सकते हैं?"

इसके पश्चात् यशोधर मद्य, मांस सेवनका विरोध तथा मद्य, मांस और मधुके प्रयोगकी बुराई बतलाते हुए शास्त्रप्रमाण उपस्थित करता है,

"तिलसर्षपमात्रं यो मांसमश्नाति मानवः।
स श्वभ्रान्न निवर्तेत यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥"

"जो मनुष्य तिल या सरसोंके बराबर भी मांस खाता है वह जबतक आकाशमें चाँद और सूरज है तबतक नरकसे नही निकल सकता। स्मृतिमे कहा है,

"सप्तग्रामेषु यत्पापमग्निना भस्मसात्कृते।
तस्य चैतद्भवेत् पापं मधुबिन्दुनिषेवणात् ॥"

"अग्निके द्वारा सात गाँवोंको जलानेपर जितना पाप होता है उतना ही पाप मधुकी एक बूँदके खानेसे होता है।"

इसके पश्चात् यशोधर वेदके प्रामाण्यपर आक्षेप करता है। पुत्रकी बातोंको सुनकर यशोधरकी माता पुनः पुत्रको अपनी बात मनवानेकी प्रेरणा करते हुए कहती है, "राजा लोग अपनी लक्ष्मी और जीवनकी रक्षाके लिए पुत्र, मित्र, पिता और बन्धु-बान्धवों तकको मार डालते हैं। क्षमाशील राजाओंका राज्य

ठहर नहीं सकता। अतः पुत्र, दुर्वासनाको छोड़कर दुःस्वप्नकी शान्ति तथा अपने जीवनकी रक्षाके लिए कुलदेवताके सामने जीवोंकी बलि दो। क्या महामुनि गौतमने अपने प्राण बचानेके लिए अपने उपकारी बन्दरको नहीं मारा था? क्या विश्वामित्रने कुत्तेको नहीं मारा था। इसी तरह अन्य राजाओंने भी शिवि, दधीचि, बलि, बाणासुर वगैरह राजाओंको तथा गाय वगैरहको मारकर अपना शान्तिकर्म किया था। जैसे विषकी औषध विष है वैसे ही हिंसा भी पुण्यके लिए होती है। गौ, ब्राह्मण, स्त्री, मुनि और देवताओंके चरितका विचार विद्वान् लोग नहीं किया करते। यदि तुझे अपने जीवनसे कुछ प्रयोजन न हो तो श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणोंकी बातको मत मान। जैसा जगत्का प्रवाह हो वैसा ही बरतना चाहिए।"

आगे चन्द्रमती मधु और मांसकी प्रशंसा करते हुए कहती है कि यदि मधु और मांसका सेवन करनेमें महादोष है तो महर्षियोंने ऐसा क्यों कहा है,

"न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेव भूतानां निवृत्तेश्च महत्फलम् ॥"[1]

किन्तु माताके द्वारा दिये गये प्रमाणोंसे भी यशोधरका विचार परिवर्तित नहीं होता और वह पुनः कहता है, "माता, दूसरोंके विषयमें मनसे भी बुरा नहीं विचारना चाहिए; तब मैं उसी कामको स्वयं साक्षात् कैसे कर सकता हूँ? क्या तुमने लोकमें प्रसिद्ध राजा वसुकी और तन्दुल मत्स्यकी कथा नहीं सुनी? कोई अभागा मनुष्य यदि अमृत समझकर विषका पान करता है तो क्या उसकी मृत्यु नहीं होती? जो मनुष्य पाप और अज्ञानसे ग्रस्त हैं, उनका दुराचरण सज्जनोंके लिए उदाहरणरूप नहीं होता है। जैसे उठती हुई धूल सबके ऊपर समान रूपसे पड़ती है वैसे ही पाप भी जाति और कुलका विचार नहीं करता है। जन्म, जरा और मृत्यु, राजा हो या रंक, सबको समान भावसे अपनाते हैं। राजा और अन्य मनुष्योंमें पुण्यकृत ही भेद होता है, मनुष्य-रूपसे सभी मनुष्य समान हैं। हे माता, जैसे मेरे प्राणोंका घात होनेपर आपको महान् दुःख होता है वैसे ही दूसरे जीवोंका भी घात होनेपर उनकी माताओंको महान् दुःख होता है। यदि दूसरोंके जीवनसे अपनी रक्षा हो सकती तो पुराने राजा लोग क्यों मरते? यदि सर्वत्र शास्त्र प्रमाण है तो कुत्ते और कौएका मांस भी खाना चाहिए। परस्त्री गमनको लोकमें निन्द्य माना गया तब माताके साथ ऐसा कुकर्म कौन करेगा। यदि कोई मनुष्य मांस खाना चाहता है तो उसके लिए शास्त्रका उदाहरण देनेकी क्या आवश्यकता है? लोगोंके मनके अनुकूल इन्द्रियलम्पटोंने अपनी जीविकाके लिए शास्त्र रचे हैं। यदि पशुके घातकोंको स्वर्ग मिल सकता है तो कसाइयोंको तो अवश्य ही स्वर्ग मिलना चाहिए। चाहे मन्त्रोंके द्वारा किसीका वध किया जाये, चाहे शस्त्राघातके द्वारा, चाहे यज्ञकी वेदिकापर किया जाये, चाहे बाहर, वध तो समान ही है, उससे उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। यदि यज्ञमें मारे गये पशुओंको स्वर्ग मिलता है तो अपने कुटुम्बियोंसे यज्ञ क्यों नहीं करना चाहिए?"

इस प्रकार यशोधरके विरोध करनेपर माता उसका अनुनय-विनय करने लगी और उसने यशोधरसे आग्रहपूर्वक कहा कि यदि तुम पशुवध नहीं करना चाहते तो आटेसे बने हुए मुर्गेकी ही बलि दे देना और उसको मांस मानकर मेरे साथ अवश्य खाना।

हिंसाका अभिप्राय ही हिंसा है

माताके आग्रहवश यशोधर मारनेके अभिप्रायसे एक आटेके बने हुए मुर्गेकी हत्या करता है और इसके फलस्वरूप उसे अनेक जन्मोंमें कष्ट उठाना पड़ता है। कथाके इस रूप-द्वारा ग्रन्थकारने कुछ नैतिक और धार्मिक विचारोंको व्यक्त किया है जो अहिंसाविषयक जैन दृष्टिकोणपर आकर्षक प्रकाश डालते हैं।

जो लोग पशुबलिके विरोधी रहे हैं उनके द्वारा किसी पशुकी प्रतिकृतिकी बलि देनेकी परम्परा

---

१. पाठान्तर—प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥ —मनुस्मृति ५-५६।

रही है ऐसा ज्ञात होता है। उदाहरणके लिए, राजतरंगिणीमें[1] लिखा है कि कश्मीरके एक प्राचीन राजा मेघवाहनने अपने राज्यमें पशुवधपर रोक लगा दी थी, अतः उसके समयमें वैदिक यज्ञमें घृतमय पशुकी तथा भूतबलिमें आटेसे बनाये गये पशुकी बलि दी जाती थी। कहा जाता है कि उत्तर कालमें माध्वाचार्यने वैदिक यज्ञोंमें जीवित पशुके बदलेमें उसके चावलके आटेसे बनाये गये प्रतिरूपकी बलि देनेका सुधार चालू किया था। यशोधरकी कथासे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्म पशुओंकी जीवनहीन प्रतिकृतियोंकी भी बलिके विरुद्ध रहा है और इस तरह वह पशुबलिके प्रत्येक रूपका विरोधी है।

दूसरी बात यह है कि अहिंसा और हिंसाका मुख्य सम्बन्ध कर्ताके 'अभिनिवेश'से है। चतुर्थ आश्वासमें जब यशोधर चण्डिकाके सामने आटेसे बने मुर्गेका बलिदान करनेके लिए सहमत हो जाता है तो वह बलिदान करते समय देवीसे प्रार्थना करता है कि "सब जीवोंके मारनेपर जो फल मुझे मिलना चाहिए वही फल मुझे इस आटेके मुर्गेका वध करनेपर मिले।[2]" यही 'अभिनिवेश' है। सोमदेवने कहा है, "विद्वज्जन पुण्य और पापके कामोंमें 'अभिनिवेश' को मुख्य स्थान देते हैं। सूर्यके तेजकी तरह बाह्य इन्द्रियाँ तो शुभ और अशुभ वस्तुओंमें समान रूपसे गिरती हैं, किन्तु इतने मात्रसे ही उस व्यक्तिको पुण्य और पापका बन्ध नहीं होता"[3] अर्थात् किसी कार्यके नैतिक मूल्यका निर्धारण कर्ताके अभिप्रायसे किया जाता है। बाह्य प्रवृत्तिसे नहीं।

आगे सोमदेवने कहा है, "जिस मनुष्यका मन वचन और काय तथा अन्तरात्मा शुद्ध है, वह हिंसक होनेपर भी हिंसक नहीं है।"[4]

सोमदेवने 'अभिनिवेश'के स्थानमें 'अभिध्यान' शब्दका प्रयोग करते हुए उक्त कथनको एक दृष्टान्त-द्वारा स्पष्ट करते हुए कहा है, "एक मछलीमार मछली मारनेके अभिप्रायसे नदीमें जाल डालकर बैठा है, यद्यपि उस समय वह मछली नहीं मारता फिर भी वह पापी है, क्योंकि उसका ध्यान मछली मारनेमें है। इसके विपरीत एक किसान खेत जोतता है और उससे अनेक प्राणियोंका घात भी होता है, किन्तु वह पापी नहीं है, क्योंकि उसका ध्यान अन्नोत्पादनमें है। अतः ऐसी कोई क्रिया नहीं जिसमें हिंसा नहीं होती किन्तु भावकी मुख्यता और गौणतासे क्रियाके फलमें अन्तर हो जाता है।"[5]

सोमदेवने अभिनिवेश और अभिध्यानके स्थानमें अभिसन्धि और संकल्प शब्दका भी प्रयोग किया है। वह लिखते हैं, "[6]पाषाणका देवता बनाकर और उसमें देवत्वके संकल्पकी प्रतिष्ठा करनेपर यदि कोई उसकी अवज्ञा करता है तो क्या वह पापी नहीं है? [7]संकल्पसे ही गृहस्थ मुनि बन जाते हैं और मुनि गृहस्थ बन जाते हैं। [8]उत्तर मथुरामें अर्हद्दास श्रेष्ठी रात्रिके समय प्रतिमायोगमें स्थित था। देवोंने उसकी परीक्षाके

---

१. 'तस्य राज्ये जिनस्येव मारविद्वेषिणः प्रभोः। क्रतौ घृतपशुः पिष्टपशुर्भूतबलावभूत् ॥
—राजतरंगिणी श्लो० ३, ७।

२. 'सर्वेषु सत्त्वेषु हतेषु यन्मे भवेत् फलं देवि तदत्र भूयात्।– आश्वास ४, पृ० १६३।

३. 'अभिनिवेशं च पुनः पापपुण्यक्रियासु प्रधानं निधानमामनन्ति मनीषिणः। बाह्यानीन्द्रियाणि तपनतेजांसीव शुभेष्वशुभेषु च वस्तुषु समं विनिपतन्ति। न चैतावता भवति तदधिष्ठातुः कुशलेन चादृष्टेन सम्बन्धः।– आश्वास ४, पृ० १३६।

४. ५. सो० उपा० श्लो० २५१, ३४०--३४१।

६. "संकल्पोपपन्नप्रतिष्ठानि च देवसायुज्यभाञ्जि शिलाशकलानि किमस्यासादयन् पुरुषो न भवति लोके पञ्च महापातकी।"—आ० ४, पृ० १३६।

७. "संकल्पेन च भवन्ति गृहमेधिनोऽपि मुनयः।....मुनयश्च गृहस्थाः।"

८. "उत्तरमथुरायां निशाप्रतिमास्थितास्त्रिदिवसूत्रितकलत्रपुत्रमित्रोपद्रवोऽप्येकत्वभावनमानसोऽर्हद्दासः' कुसुमपुरे चरादाकर्षितसुतसमरस्थितिरलापनयोगयुतोऽपि पुरुहूतदेवर्षिः।" आ० ४, पृ० १३७।

लिए उसके स्त्री-पुत्रादिकपर घोर उपद्रवका प्रदर्शन किया, किन्तु वह अविचल रहा। दूसरी ओर कुसुमपुरमें पुरुहूत देवर्षि आतापन योगमें स्थित होते हुए भी चरके द्वारा अपने पुत्रपर शत्रुका आक्रमण सुनकर विचलित हो गये।"

सोमदेवने संकल्पका महत्त्व बतलाते हुए और भी लिखा है कि चिरकालसे संचित किया हुआ पुण्यकर्मका संचय प्रमादवश एक बारके भी दुष्ट संकल्पसे क्षण-भरमें उसी तरह नष्ट हो जाता है जैसे आगसे महल। जगत्में यह उदाहरण अति प्रसिद्ध है कि एक वेश्याके शवको देखकर एक मुनि, एक कामी और एक शवभक्षी मनुष्यने अपने-अपने संकल्पके अनुसार विचित्र कर्मबन्ध किया। अतः जैसे संकल्पसे मनुष्योंमें कामविकार उत्पन्न होता है और गौके स्तनमें दूध आता है, वैसे ही मनुष्य मानसिक भावोंके अनुसार पुण्य या पापकर्मका बन्ध करता है।

इस प्रकार यशस्तिलकके कथाभागमें भी सोमदेवने जैनधर्मके सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें विस्तारसे लिखा है।

[३] सोमदेव और उनका युग

सोमदेवके तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं—यशस्तिलक, नीतिवाक्यामृत और अध्यात्मतरंगिणी। तीनों ही मुद्रित होकर प्रकाशित हो चुके हैं।[1] पहलेमें आठ आश्वासोंमें गद्य और पद्यमें राजा यशोधरकी कथा वर्णित है; इसीसे उसे 'यशोधर महाराज चरित' भी कहते हैं। दूसरे ग्रन्थमें सूत्र शैलीमें राजनीतिका कथन है। इसमें ३२ अध्याय है। ऐसा प्रतीत होता है कि नीतिवाक्यामृतकी रचना यशस्तिलकके पश्चात् हुई है। तीसरा ग्रन्थ ४० पद्योंका एक प्रकरण है।

सोमदेवने यशस्तिलकके अन्तमे अपने विषयमें पर्याप्त सूचना[2] दी है। वह देवसंघके आचार्य यशोदेवके प्रशिष्य और नेमिदेवके शिष्य थे। नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि सोमदेव महेन्द्रदेवके लघुभ्राता थे, और 'स्याद्वादाचलसिंह', 'तार्किकचक्रवर्ती', 'वादीभपञ्चानन', 'वाक्कल्लोलपयोनिधि' तथा 'कविकुल-राज' उनकी उपाधियाँ थीं। उसमे यह भी लिखा है कि सोमदेव यशोधर महाराजचरित, षण्णवतिप्रकरण, महेन्द्र-मातलि-संजल्प और युक्तिचिन्तामणिस्तवके रचयिता थे।

समय और स्थान

सोमदेवने लिखा है कि शक संवत् ८८१ (९५९ ई०) में सिद्धार्थ संवत्सरमें चैत्रमासकी मदनत्रयो-दशीके दिन, जब कृष्णराजदेव पाण्ड्य, सिंहल, चोल और चेरम आदि राजाओंको जीतकर मेलपाटीमें शासन करते थे, यशस्तिलक समाप्त हुआ। सोमदेवका यह कथन ऐतिहासिक सत्यताकी दृष्टिसे भी उल्लेखनीय है; क्योंकि सोमदेवके यशस्तिलककी समाप्तिसे कुछ ही सप्ताह पूर्व मेलपाटीमें ६ मार्च सन् ९५९ ई० के दिन अंकित किये गये महान् राष्ट्रकूट चक्रवर्ती कृष्ण तृतीयके करहाट ताम्रपत्रसे उसका समर्थन होता है। इस ताम्रपत्रमें चोलोंके साथ चेरम, पाण्ड्य, सिंहल आदि देशोंके राजाओंके ऊपर कृष्णराज तृतीयकी विजयका निर्देश है। तथा उसमें यह भी लिखा है कि कृष्णराजने अपना विजय-कटक मेलपाटीमें स्थापित किया था,

"मेलपाटीसमवासितश्रीमद्विजयकटकेन मया"

एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि पुष्पदन्तने अपने अपभ्रंशभाषामें निबद्ध महापुराणमें भी कृष्ण-राज तृतीयके मेलपाटीमें ससैन्य निवासका उल्लेख किया है। जिस ९५९ ई० में सोमदेवने अपना यशस्तिलक

---

१. प्रथम ग्रन्थ निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे १९०१ में तथा दूसरा और तीसरा माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित हुए हैं।

२. "श्रीमानस्ति स देवसंघतिलको देवो यशःपूर्वकः शिष्यस्तस्य बभूव सद्गुणनिधिः श्रीनेमिदेवाह्वयः। तस्याश्चर्यतपःस्थितेस्त्रिनवतेर्जेतुर्महावादिनां शिष्योऽभूदिह सोमदेव इति यस्तस्यैष काव्यक्रमः॥"

सम्पूर्ण किया था, उसी सन्‌में पुष्पदन्तने अपने महापुराणकी रचनाका प्रारम्भ किया था। महापुराणकी उत्थानिकामें पुष्पदन्तने लिखा है,

"जं कहमि पुराणु पसिद्धणामु, सिद्धत्थवरिसि भुवणाहिरामु।
उव्वद्ध जूडु भूभंगभीसु, तोडेप्पिणु चोडहो तणउ सीसु।
भुवणेक्करामु रायाहिराउ, जहिं अच्छइ तुडिगु महाणुभाउ।
तं दीणदिण्णधणकणयपयरु, महि परिभमंतु मेपाडिणयरु।"

अर्थात् सिद्धार्थ संवत्सरमें (सोमदेवने भी इसी संवत्सरका उल्लेख किया है) जब चोलराजका सिर, जिसपर केशोंका जूड़ा ऊपरकी ओर बँधा था, काटकर राजाधिराज तुडिग (कृष्णराज) मेपाडि (मेलपाटी) नगरमें वर्तमान हैं, मैं प्रसिद्ध नामवाले पुराणको कहता हूँ।

यद्यपि [1] सोमदेव कृष्णराज तृतीयके समकालीन थे तथापि उन्होंने अपना ग्रन्थ राष्ट्रकूटोंकी राजधानी मान्यखेटमें नहीं रचा; किन्तु एक अप्रसिद्ध स्थान गंगधारामें रचा, जो सम्भवतया कृष्णराजके सामन्त चालुक्य-वंशी अरिकेसरीके ज्येष्ठ पुत्र बागराजकी राजधानी थी। गंगधाराके विषयमें कुछ भी ज्ञात नहीं है, किन्तु वह धारवाड़ जिलेमें या उसके आस-पास कहीं होना चाहिए। शायद धारवाड़के बिलकुल निकट जो गंगवाटी नामक स्थान है वही गंगधारा हो। धारवाड़के दक्षिण-पश्चिममें उत्तर कनारा जिलेमें गंगवाली नामकी एक नदी भी है।

जिस राजाके राज्यमें सोमदेवने अपना काव्य समाप्त किया था उसका नाम यद्यपि मुद्रित प्रतिमें तथा हस्तलिखित प्रतिमें वागराज पाया जाता है, किन्तु कुछ [2] हस्तलिखित प्रतियोंमें वाद्यराज और वाद्यगराज भी मिलता है। किन्तु शुद्ध नाम वड्डिग प्रतीत होता है जिसका संस्कृत रूप वाद्यराज या वाद्यगराज कर लिया गया है।

सोमदेव-सम्बन्धी एक शिलालेख

ब्रिटिशकालीन हैदराबाद राज्यके परभनी नामक स्थानसे एक ताम्रपत्र प्राप्त हुआ है। जिसपर अंकित संस्कृत लेखमें यशस्तिलककी रचनासे सात वर्ष पश्चात् सोमदेवको दिये गये दानका ही केवल उल्लेख नहीं है, किन्तु उन चालुक्य सामन्तोंकी वंशावली भी दी है जिनके प्रदेशमें सोमदेवने ग्रन्थरचना की थी। वंशावली इस प्रकार है,

युद्धमल्ल १, अरिकेसरी १, नरसिंह १, (+ भद्रदेव), युद्धमल्ल २, बड्डिग १, युद्धमल्ल ३, नरसिंह २, अरिकेसरी २, भद्रदेव, अरिकेसरी ३, बड्डिग २, (वाद्यग) और अरिकेसरी ४। इनमें-से अरिकेसरी द्वितीय उस पम्प कविका आश्रयदाता था, जिसने सन् ९४१ में कनडीमें 'भारत' रचा और वड्डिग द्वितीय या वाद्यगके राज्यकालमें ९५९ ई० में सोमदेवने अपना काव्य रचा।

---

१. शकनृपकालातीतसंवत्सरशतेष्वष्टस्वेकाशीत्यधिकेषु गतेषु अंकतः (८८१) सिद्धार्थ संवत्सरान्तर्गतचैत्रमासमदनत्रयोदश्यां पाण्ड्य-सिंहल-चोल-चेरमप्रभृतीन् महीपतीन् प्रसाध्य मेलपाटी प्रवर्धमानराज्यप्रभावे श्री कृष्णराजदेवे सति तत्पादपद्मोपजीविनः समधिगतपंचमहाशब्दमहासामन्ताधिपतेश्चालुक्यकुलजन्मनः सामन्तचूडामणेः श्रीमदरिकेसरिणः प्रथमपुत्रस्य श्रीमद्वाद्यगराजस्य लक्ष्मी-प्रवर्धमानवसुधारायां गंगधारायां विनिर्मापितमिदं काव्यमिति।

२. "यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर"—पृ० ४।

उक्त[1] ताम्रपत्रमें वाद्यगके पुत्र अरिकेसरी चतुर्थके द्वारा शक संवत् ८८८ (९६६ ई०) में शुभधाम नामके जिनालयके जीर्णोद्धारके लिए सोमदेवको एक गाँव देनेका उल्लेख है। यह जिनालय लेंबुल पाटक नामकी राजधानीमें वाद्यगने बनवाया था।

इससे यह स्पष्ट है कि ९६६ ई०में सोमदेव शुभधाम जिनालयके व्यवस्थापक थे और अपनी साहित्यिक प्रवृत्तिमें भी संलग्न थे; क्योंकि इस लेखमें[2] सोमदेवको यशोधरचरितके साथ-साथ 'स्याद्वादोपनिषद्' नामके एक अन्य ग्रन्थका भी रचयिता कहा है। उस समय सोमदेव प्रतिष्ठाके उच्च शिखरपर आसीन प्रतीत होते हैं क्योंकि लेखके[3] अनुसार समस्त सामन्त और राजा उनके चरणोंमें नमस्कार करते थे और उनका यशरूपी कमल समस्त विद्वज्जनोंके कानोंका आभूषण बना हुआ था।

किन्तु इस ताम्रलेखकी दो बातें विशेष विचारणीय हैं। प्रथम इसमें सोमदेवके दादा गुरु यशोदेवको गौड़संघका लिखा है जब कि सोमदेवने उन्हें देवसंघका बतलाया है। दूसरे अरिकेसरी चतुर्थकी राजधानीका नाम लेंबुल पाटक लिखा है। जब कि सोमदेवने उसके पिता बद्दिगकी राजधानीका नाम गंगधारा लिखा है। इसके साथ ही यह बात भी उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार सोमदेवने वाद्यगके पिता अरिकेसरीको कृष्णराज तृतीयका सामन्त बतलाया है ठीक उसी प्रकार उक्त लेखमें भी वाद्यगके पुत्र अरिकेसरीको उन्हींका सामन्त बतलाया है।

समकालीन विद्वान्

दसवीं शताब्दीका समय संस्कृत प्राकृत और कन्नड़ जैन साहित्यका समृद्धिकाल था, कृष्णराज तृतीयके राज्यकाल (९३९ से ९६८ ई०) के समयको ही यदि लें तो उसीमें हमें अनेक विशिष्ट विद्वानों और ग्रन्थकारोंके परिचयका सौभाग्य प्राप्त होता है। ९४१ ई० में प्रसिद्ध कन्नड़ कवि पम्पने अपने आदिपुराण और विक्रमार्जुनविजय नामक काव्योंकी रचना की थी। सन् ९५० के लगभग उस शताब्दीके दूसरे महान् कन्नड़ कवि पोन्नने कृष्णराज तृतीयके संरक्षकत्वमें शान्तिपुराणकी रचना की थी। कन्नड़ और संस्कृत भाषामें प्रवीणताके लिए कृष्णराजने कवि पोन्नको 'उभयकविचक्रवर्ती' की उपाधिसे विभूषित किया था। कृष्णराज तृतीयके राज्यकालके आरम्भमें इन्द्रनन्दिने संस्कृतमें 'ज्वालामालिनीकल्प' नामक मन्त्रशास्त्रकी रचना की थी। यह ग्रन्थ ९३९ ई० में मान्यखेटमें रचा गया था और उसमें कृष्णराजका उल्लेख है।

सोमदेवके बिलकुल समकालीन विद्वानोंमें हमें दो महान् विद्वानोंसे परिचित होनेका सौभाग्य प्राप्त है। उनमें-से एक पुष्पदन्त हैं और दूसरे हैं, वादिघंघल भट्ट। पुष्पदन्तके सम्बन्धमें हम ऊपर लिख आये हैं। उन्होंने ९५९ ई०में कृष्णराज तृतीयके मन्त्री भरतकी संरक्षकतामें अपना महापुराण प्रारम्भ किया था। तथा भरतके पुत्र और उत्तराधिकारी नन्नकी संरक्षकतामें जसहरचरिउ और नायकुमारचरिउकी रचना की थी। पुष्पदन्तने अपनी रचनाएँ अपभ्रंश भाषाके पद्योंमें की हैं। और अब तक प्रकाशमें आये अपभ्रंश भाषाके सर्वाधिक प्रमुख जैन कवियोंमें उनकी गणना की जाती है। उनकी अद्भुत साहित्यिक प्रवृत्ति इस बातकी साक्षी है कि दसवीं शताब्दीमें अपभ्रंश साहित्यकी स्थिति कितनी समुन्नत थी।

---

१. "(लें) बुलपाटकनामधेयनिजराजधान्यां निजपितुः श्रीमद्वद्यगस्य शुभधामजिनालयाख्यवस(तेः) खण्डस्फुटितनवसुधाकर्म बलिनिवेद्यार्थं शकाब्देष्वष्टाशीत्यधिकेष्वष्टशतेषु गतेषु····तेन श्रीमदरिकेसरिणा·····श्रीमत्सोमदेवसूरये·····वनिकटुपुलुनामा ग्रामः·····दत्तः।"—यशस्ति० इण्डि० क०, पृ० ५।

२. "विरचयिता यशोधरचरितस्य कर्ता स्याद्वादोपनिषदः कवि (यि) ता····।"

३. "अखिलमहासाम (न्तसी) मन्तप्रान्तपर्यस्तोत्तंसस्रक्सुरभिचरणः सकलविद्वज्जनकर्णावतंसीभवद्यशःपुण्डरीकः सूर्य इव सकलावनिभृतां शिरःश्रेणिषु शिखण्डमण्डनायमानपादपद्मोऽभूत्।"

हरिषेणने ९८८ ई० में अपभ्रंशमें अपनी धर्मपरीक्षा रची थी। उन्होंने अपभ्रंश भाषाके पुष्पदन्त, स्वयंभु और चतुर्मुख इन तीन महाकवियोंका निर्देश किया है, तथा स्वयं पुष्पदन्तने अपने महापुराणमें (१-९) स्वयंभु और चतुर्मुखका निर्देश किया है। स्वयंभुके पुत्र त्रिभुवन स्वयंभु भी कवि थे, उन्होंने अपने पिताके द्वारा रचित पउमचरिउ और रिट्ठनेमिचरिउकी पूर्तिमें योगदान किया था।

स्वयंभुको आठवीं या नौवीं शताब्दीमें रखा जा सकता है, क्योंकि उन्होंने अपने पउमचरिउमें पद्मचरित-के रचयिता रविषेण (७ वीं शताब्दी) का निर्देश किया है और स्वयं उनका निर्देश पुष्पदन्तने किया है। चतुर्मुख स्वयंभुसे प्राचीन हैं क्योंकि स्वयंभुने अपने रिट्ठणेमिचरिउमें उनका निर्देश किया है। स्वयंभुने अपने 'स्वयंभु छन्द' नामक ग्रन्थमें अपभ्रंश भाषाके अनेक कवियोंका उल्लेख किया है।

इस तरह सोमदेवके समयमें तथा उनसे पूर्व अपभ्रंश भाषाकी साहित्यिक परम्परा प्रवर्तित थी और वे उससे निस्सन्देह रूपमें प्रभावित थे; क्योंकि उन्होंने उपासकाध्ययनमें अपभ्रंश छन्दोंका प्रयोग बड़ी चतुरता-से किया है।

पूर्वज तथा उत्तरकालीन विद्वान्

नौवीं शताब्दीके प्रारम्भसे लेकर दसवीं शताब्दीके पूर्व भाग तक हुए सोमदेवके पूर्वज ग्रन्थकारोंमें धवला, जयधवलाके रचयिता वीरसेन, आदिपुराणके रचयिता जिनसेन, हरिवंशपुराणके रचयिता जिनसेन, उत्तरपुराण और आत्मानुशासनके रचयिता गुणभद्र, शाकटायन व्याकरणके रचयिता पाल्यकीर्ति, अष्टसहस्री और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदिके रचयिता विद्यानन्दि, उपमितिभवप्रपञ्चकथाके रचयिता सिद्धर्षि, बृहत्कथा-कोशके रचयिता हरिषेण, नयचक्रादिके रचयिता देवसेन तथा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदिके रचयिता अमृत-चन्द्रके नाम उल्लेखनीय हैं। दसवीं शताब्दीके अन्तिम चरणसे लेकर ग्यारहवीं शताब्दीके प्रथम चरण तकके कालमें हुए सोमदेवके अव्यवहित उत्तरकालीन ग्रन्थकारोंमें चामुण्डराय, कन्नड़ अजितपुराण और गदायुद्धके रचयिता रन्न, बाणकी कादम्बरीके कन्नड़ अनुवादकर्ता नागवर्मा, गोमट्टसारादिके रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती, न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्ड आदिके रचयिता प्रभाचन्द्र, पार्श्वनाथचरित, यशोधर-चरित और न्यायविनिश्चयविवरणके रचयिता वादिराज, गद्यचिन्तामणि और क्षत्रचूड़ामणिके रचयिता वादीभसिंह, तिलकमञ्जरीके रचयिता धनपाल, सुभाषितरत्नसन्दोह, धर्मपरीक्षा, पञ्चसंग्रह, श्रावकाचार आदि-के रचयिता अमितगति, वर्धमानचरितके रचयिता असग, प्रद्युम्नचरितके रचयिता महासेन और चन्द्रप्रभ-चरितके रचयिता वीरनन्दी आदिके नाम उल्लेखनीय हैं।

वैदुष्य-परिचय

सोमदेवकी ख्याति उनके गद्य-पद्यात्मक काव्य यशस्तिलक और राजनीतिकी पुस्तक नीतिवाक्यामृतको लेकर है। यदि इनमें-से नीतिवाक्यामृतको छोड़ भी दिया जाये तो अकेला यशस्तिलक ही उनके वैदुष्यके परिचयके लिए पर्याप्त है। उसमें उनके अपूर्व वैदुष्यके विविध रूप दृष्टिगोचर होते हैं। संस्कृत गद्य और पद्य-रचनापर उनका पूर्ण प्रभुत्व है, जैन सिद्धान्तोंके अधिकारी विद्वान् होनेके साथ ही वे प्रतिपक्षी दर्शनोंके दक्ष आलोचक भी हैं। राजनीतिका उनका अध्ययन बहुत गम्भीर है और इस दृष्टिसे उनकी दोनों सुप्रसिद्ध रचनाएँ परस्परमें एक दूसरेकी पूरक हैं।

नीतिवाक्यामृतकी प्रशस्तिमें एक श्लोक इस प्रकार है,

"सकलसमयतर्के नाकलङ्कोऽसि वादी न भवसि समयोक्तौ हंससिद्धान्तदेवः।
न च वचनविलासे पूज्यपादोऽसि तत्त्वं वदसि कथमिदानीं सोमदेवेन सार्धम्॥"

---

१. पुष्पदन्त तथा स्वयंभु और त्रिभुवन स्वयंभुके विषयमें विशेष जाननेके लिए प्रेमीजीका 'जैन साहित्य और इतिहास' देखें।

इसमें एक वादीसे कहा गया है कि तुम समस्त दर्शनोंके तर्कमें अकलंकदेव नहीं हो, न आगमिक उक्तियोंमें हंससिद्धान्तदेव हो और न वचन-विलासमें पूज्यपाद हो, तब तुम इस समय सोमदेवके साथ कैसे वाद कर सकते हो ?

उसी प्रशस्तिके अन्तिम पद्यमें कहा गया है कि सोमदेवकी वाणी वादिरूपी मदोन्मत्त गजोंके लिए सिंहनादके तुल्य है। वादकालमें बृहस्पति भी उनके सम्मुख नहीं ठहर सकता।

सोमदेवने यशस्तिलककी उत्थानिकामें कहा[1] है कि जैसे गाय घास खाकर दूध देती है वैसे ही जन्मसे शुष्क तर्कका अभ्यास करनेवाली मेरी बुद्धिसे काव्यधारा निःसृत हुई है। इससे प्रकट होता है कि सोमदेवने अपना विद्याभ्यास तर्कसे आरम्भ किया और तर्क ही उनका वास्तविक व्यवसाय था। तार्किकचक्रवर्ती और वादीभपंचानन आदि उपाधियाँ भी इसी तथ्यका समर्थन करती हैं। अपने समयके अन्य अनेक विद्वानोंकी तरह उन्होंने भी अपनी शक्ति प्रतिपक्षी विद्वानोंके साथ शास्त्रार्थ करनेमें व्यय की थी। वास्तवमें यह उस समयकी एक साधारण प्रवृत्ति थी और जैन परम्परामें उस कालमें हुए विद्वानोंके वादिराज, वादीभसिंह, वादिघरट्ट, वादिघंघल, परवादिमल्ल, वादिकोलाहल-जैसे विचित्र नामोंसे उसका समर्थन होता है।

सोमदेव तार्किक होनेके साथ जैन सिद्धान्तके भी दिग्गज विद्वान् थे। उनके यशस्तिलकका लगभग आधा भाग जैनधर्मके आचार और विचारोंके प्रतिपादन और समर्थनसे ओत-प्रोत है। उसके अन्तिम तीन आश्वासोंमें जैन गृहस्थके आचारका वर्णन है, इसीसे उन्हें ग्रन्थकारने उपासकाध्ययन नाम दिया है और वे ही तीनों आश्वास प्रस्तुत संस्करणमें सोमदेव उपासकाध्ययनके नामसे मुद्रित हैं।

इस तरह तत्त्वज्ञानी और तार्किक सोमदेवने कविताको बादमें अपनाया; किन्तु जब अपनाया तो तन-मनसे अपनाया। तभी तो उन्हें लिखना पड़ा,

"निद्रां विद्रवयसि शास्त्ररसं हरसि सर्वेन्द्रियार्थमसमर्थविधिं विधत्से।
चेतश्च विभ्रमयसे कविते पिशाचि लोकस्तथापि सुकृती त्वदनुग्रहेण॥" (१-४१)

"हे पिशाचिनी कविते ! जो तेरे प्रेमपाशमें फँस जाता है, उसकी निद्रा भंग हो जाती है, शास्त्ररस जाता रहता है, सब इन्द्रियाँ बेकाम हो जाती हैं, चित्त विभ्रमित हो जाता है; फिर भी जिसपर तेरी कृपादृष्टि हो जाती है वह पुण्यशाली है।"

सोमदेव उन्हीं पुण्यशालियोंमें हैं इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उनका यशस्तिलक है। शब्द और अर्थ दोनों ही दृष्टियोंसे यशस्तिलककी व्युत्पत्तिकारकता अनुपम है[2]।

सोमदेवने अपनी इस कृतिमें अनेक अप्रसिद्ध शब्दोंका प्रयोग किया है। उनमें-से बहुतसे शब्द संस्कृत साहित्यमें अन्यत्र कहीं नहीं मिलते। इस दृष्टिसे यशस्तिलक संस्कृत शब्दोंके कोशका संवर्धन करनेमें परम सहायक हो सकता है।

सोमदेवने पाँचवें आश्वासके अन्तमें लिखा है,

"अरालकालव्यालेन ये लीढा सांप्रतं तु ते।
शब्दाः श्रीसोमदेवेन प्रोत्थाप्यन्ते किमद्भुतम्॥"

अर्थात् भयानक कालरूपी सर्पके द्वारा निगल लिये गये शब्दोंका सोमदेवने उद्धार किया। और भी लिखा है,

"उद्धृत्य शास्त्रजलधेर्नितले निमग्नैः पर्यागतैरिव चिरादभिधानरत्नैः।
या सोमदेवविदुषा विहिता विभूषा वाग्देवता वहतु संप्रति तामनर्घाम्॥"

---

१. आजन्मसमभ्यस्ताच्छुष्कात्तर्कात्तृणादिव ममास्याः।
मतिसुरभेरभवदिदं सूक्तिपयः सुकृतिनां पुण्यैः॥

२. किंचित् काव्यं श्रवणसुभगं वर्णनोद्दीर्णवर्णं, किंचित् वाच्योचितपरिचयं हृच्चमत्कारकारि।
अत्रासूयेत् क इह सुकृती किन्तु युक्तं तदुक्तं, यद्व्युत्पत्त्यै सकलविषये स्वस्य चान्यस्य च स्यात्॥१-१६

"चिरकालसे शास्त्ररूपी समुद्रके तलमें डूबे हुए शब्दरूपी रत्नोंका उद्धार करके सोमदेव पण्डितने जो रत्नभूषण तैयार किया है, अब सरस्वती उस अमूल्य आभूषणको धारण करे।"

सचमुचमें यशस्तिलक ऐसा ही रत्नभूषण है और समस्त संस्कृत साहित्यको सामने रखकर ही उसका वास्तविक मूल्य आँका जा सकता है। यशस्तिलककी प्रशंसामें स्वयं ग्रन्थकारने यत्र तत्र जो सुन्दर पद्य कहे हैं वे केवल गर्वोक्ति नहीं हैं[1]।

"असहायमनादर्शं रत्नं रत्नाकरादिव।
मत्तः काव्यमिदं जातं सतां हृदयमण्डनम् ॥ १४ ॥ आश्वास १।
कर्णाञ्जलिपुटैः पातुं चेतः सूक्तामृते यदि।
श्रूयतां सोमदेवस्य नव्याः काव्योक्तियुक्तयः ॥ २४६ ॥ आश्वास २।
लोकवित्त्वे कवित्वे वा यदि चातुर्यचञ्चवः।
सोमदेवकवेः सूक्तिं समभ्यस्यन्तु साधवः ॥ ५१३ ॥ आश्वास ३।
मया वागर्थसंभारे भुक्ते सारस्वते रसे।
कवयोऽन्ये भविष्यन्ति नूनमुच्छिष्टभोजनाः ॥ आश्वास ४।"

यशस्तिलक और नीतिवाक्यामृतके अनुशीलनसे पता चलता है कि सोमदेव सूरिका अध्ययन बहुत ही विस्तृत और गम्भीर था। उनके समयमें जितना जैन और जैनेतर साहित्य उपलब्ध था, उस सबसे उनका परिचय था। यशस्तिलकके चतुर्थ[1] आश्वासमें उन्होंने उर्व, भारवि, भवभूति, भर्तृहरि, भर्तृमेण्ठ, कण्ठ, गुणाढ्य, व्यास, भास, वोस, कालिदास, बाण, मयूर, नारायण, कुमार, माघ और राजशेखर कवियोंका उल्लेख किया है। इससे मालूम होता है कि वे उक्त कवियोंके काव्योंसे परिचित थे।

प्रथम[2] आश्वासमें उन्होंने इन्द्र, चन्द्र, जैनेन्द्र, आपिशल और पाणिनिके व्याकरणोंकी चर्चा की है। गुरु, शुक्र, विशालाक्ष, परीक्षित, पराशर, भीम, भीष्म और भरद्वाज आदि नीतिशास्त्र-प्रणेताओंका भी उन्होंने स्मरण किया है। कौटिलीय अर्थशास्त्रसे तो वे अच्छी तरह परिचित थे। [3]अश्वविद्या, गजविद्या, रत्नपरीक्षा, कामशास्त्र, वैद्यक आदि विद्याओंके आचार्योंका भी उन्होंने कई प्रसंगोंमें जिक्र किया है। प्रजापति [4]प्रोक्त चित्रकर्म, वराहमिहिरकृत प्रतिष्ठा[5] काण्ड, आदित्यमत[6] (सूर्यसिद्धान्त) निमित्ताध्याय[7], रत्नपरीक्षा[8], पतंजलिका योगशास्त्र[9], और वररुचि[10], [11]व्यास, हर[12] प्रबोध, तथा[13] कुमारिलके उद्धरण दिये हैं। सैद्धान्त[14] वैशेषिक, तार्किक वैशेषिक, पाशुपत, कुलाचार्य, सांख्य, दशबल, जैमिनीय, बार्हस्पत्य, वेदान्तवादि, कणाद, कपिल, ब्रह्माद्वैत, अवधूत आदि दर्शनोंके सिद्धान्तोंपर विचार किया है। तथा मतंग[15], भृगु, भर्ग, भरत, गौतम, गर्ग, पिंगल, पुलह, पुलोम, पुलस्ति, पराशर, मरीचि, विरोचन, धूमध्वज, नीलपट,[16] ग्रहिल आदि अनेक

---

१. "तथा उर्व-भारवि-भवभूति-भर्तृहरि-भर्तृमेण्ठ-कण्ठ-गुणाढ्य-व्यास-भास-वोस-कालिदास-बाण-मयूर-नारायणकुमार-माघ-राजशेखरादिमहाकविकाव्येषु तत्र तत्रावसरे भरतप्रणीते काव्याध्याये……।" पृ० ११३।

२. "कैश्चिदैन्द्रजैनेन्द्रचान्द्रापिशलपाणिनीयाद्यनेकव्याकरणोपदिश्यमान……।"—पृ० ९०।

३. "प्रजापतिरिव सर्ववर्णागमेषु, पारिरक्षक इव प्रसंख्यानोपदेशेषु, पूज्यपाद इव शब्दैतिह्येषु, स्याद्वादेश्वर इव धर्माख्यानेषु, अकलंकदेव इव प्रमाणशास्त्रेषु, पाणिपुत्र इव पदप्रयोगेषु, कविरिव राजराद्धान्तेषु, रोमपाद इव गजविद्यासु, रैवत इव हयनयेषु, अरुण इव रथचर्यासु, परशुराम इव शस्त्राधिगमेषु, शुकनाश इव रत्नपरीक्षासु……।"—२ आश्वास, पृ० २३७।

४-५-६-७. आ० ४, पृ० ११२-११३। ८. आश्वा० ५, पृ० २५६। ९. सो० उपासका०, पृ० ९। १०-११. आश्वा० ४, पृ० ९९। १२-१३. आश्वा० ५, पृ० २५१—२५४। १४. सो० उपा०, पृ० २-३-४ में सब दर्शनोंका विचार किया है। १५. सो० उपा०, पृ० ६६। १६. आश्वा० ५, पृ० २५२-२५५।

प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध जैनेतर आचार्योंका नामोल्लेख किया है। अनेक ऐतिहासिक दृष्टान्तों और पौराणिक आख्यानोंका उल्लेख किया है। इस सबसे सोमदेवके वैदुष्यका परिचय मिलता है।

[४] उपासकाध्ययन

नाम—सोमदेवने यशस्तिलकके अन्तिम तीन आश्वासोंको उपासकाध्ययन नाम दिया है। अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीरके उपदेशोंको उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधरने जिन बारह अंगोंमें निबद्ध किया उनमें-से सातवें अंगका नाम उपासकाध्ययन था और उसमें श्रावकके धर्मका कथन था। सोमदेवने भी सम्भवतया इसीसे उपासकाध्ययन नाम दिया। यह भाग यशस्तिलकका अंग होते हुए भी एक स्वतन्त्र ग्रन्थके समान है।

जैन साहित्यमें इस विषयपर अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, किन्तु उनमें-से किसी अन्यका नाम उपासकाध्ययन नहीं है, श्रावकाचार नाम ही अधिक व्यवहृत है। यथा रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अमितगति श्रावकाचार, वसुनन्दि श्रावकाचार, मेधावी श्रावकाचार आदि। चामुण्डरायने अपने चारित्रसारमें "उक्तं च [1]उपासकाध्ययने" लिखकर एक श्लोक उद्धृत किया है, किन्तु वह श्लोक किसी उपलब्ध ग्रन्थमें नहीं मिलता। हाँ, उसीसे मिलता-जुलता श्लोक जिनसेनाचार्यके [2]महापुराणके ३८वें पर्वमें अवश्य मिलता है। अतः चामुण्डरायके सामने कोई इस नामका ग्रन्थ अवश्य वर्तमान होना चाहिए जो अभी अनुपलब्ध है। और चूँकि चामुण्डराय सोमदेवके लघुसमकालीन थे अतः उनके द्वारा निर्दिष्ट उपासकाध्ययन अवश्य ही सोमदेवकृत उपासकाध्ययनके बादका नहीं हो सकता। किन्तु चूँकि वह अनुपलब्ध है अतः कहना होगा कि उपासकाध्ययन नामका यह एक ही श्रावकाचार उपलब्ध है।

विषयपरिचय—उपासकाध्ययन ४६ कल्पोंमें विभाजित है। १ प्रथम कल्पका नाम है "समस्तसमयसिद्धान्तावबोधन"। क्योंकि इसमें वैशेषिक, पाशुपत, कुलाचार्य, सांख्य, बौद्ध, जैमिनीय, चार्वाक, वेदान्ती आदि समस्त दर्शनोंकी समीक्षा की गयी है। और केवल ४७ श्लोकोंमें ही इतनी मौलिक बातें कह दी गयी हैं जिन्हें ४७ पृष्ठोंमें भी कह सकना शक्य नहीं था। इससे प्रकट होता है कि सोमदेवने सभी दर्शनों और मतवादोंका तलस्पर्शी अध्ययन किया था।

२ दूसरे कल्पका नाम है, आप्तस्वरूप-मीमांसन। इसमें आप्तके स्वरूपकी मीमांसा करते हुए ब्रह्मा, विष्णु, शिव, बुद्ध और सूर्य आदिके देवत्वका युक्तिपूर्वक निरसन किया है, सम्भवतः सोमदेवके समयमें शैवमतका बहुत अधिक प्रचार था, इसीसे उन्होंने शिव और शैव सिद्धान्तोंका निराकरण विशेष रूपसे किया है।

३ तीसरे कल्पका नाम है, आगमपदार्थ-परीक्षण। इसको प्रारम्भ करते हुए सोमदेवने कहा है कि पहले देवकी परीक्षा करनी चाहिए, पीछे उसके वचनोंकी परीक्षा करनी चाहिए। तत्पश्चात् ही उसका पालन करना चाहिए। जो लोग देवका विचार किये बिना उसके वचनोंको मान लेते हैं वे अन्धे हैं। आगे जैन मान्यताओंका विवेचन करते हुए लिखा है कि दूसरे मतवादी जैनोंके देव, शास्त्र और पदार्थव्यवस्थामें कोई दोष न पाकर जैन मुनियोंमें चार दोष लगाते हैं—१ वे स्नान नहीं करते, २ आचमन नहीं करते, ३ नंगे रहते हैं और ४ खड़े होकर भोजन करते हैं। सोमदेवने इन चारों ही बातोंका युक्तिपूर्वक समर्थन किया है।

४ चौथे कल्पका नाम है, मूढतोन्मथन। इसमें लोकमें प्रचलित मूढताओंका परदाफाश किया गया है। वे मूढताएँ इस प्रकार हैं, सूर्यको अर्घ्य देना, ग्रहणमें स्नान करना, संक्रान्तिमें दान देना, सन्ध्यावन्दन करना, अग्निको पूजना, धर्मभावनासे नदी-समुद्रमें स्नान करना, वृक्ष स्तूप प्रथम ग्रासकी वन्दना करना, गौके पृष्ठ भागको नमस्कार करना, गोमूत्रका सेवन, रत्न भूमि यक्ष शस्त्र पर्वत वगैरहकी पूजना।

साधारणतया आप्त, आगम और तत्त्वोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा गया है किन्तु सोमदेवने उनके प्रसंगसे कितनी ही आवश्यक बातें इन चार कल्पोंमें कही हैं। अन्य किसी भी श्रावकाचारमें इतना तत्त्वज्ञान

१. "ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः। इत्याश्रमास्तु जैनानां सप्तमाङ्गाद् विनिःसृताः।"-पृ० २०

२. केवल उत्तरार्द्धमें अन्तर है—"इत्याश्रमास्तु जैनानामुत्तरोत्तरशुद्धितः।"

प्रतिपादित नहीं किया है। और वह भी केवल १४५ श्लोकोंमें। गागरमें सागर इसीको कहते हैं।

इन चार कल्पोंके पश्चात् १६ कल्पोंमें सम्यग्दर्शनके आठों अंगोंमें प्रसिद्ध अंजनचोर, अनन्तमती, उद्दायन, रेवती रानी, जिनेन्द्र भक्तसेठ, वारिषेण, विष्णुकुमार मुनि और वज्रकुमार मुनिकी रोचक कथाएँ बड़ी प्रांजल गद्यमें कही गयी हैं। रत्नकरण्ड (श्लोक १९-२०) में तो दो श्लोकोंके द्वारा केवल इन व्यक्तियों-के नाम मात्र गिनाये हैं। अन्य किसी भी श्रावकाचारमें ये कथाएँ नहीं पायी जातीं। इन कथाओंसे पहले जो प्रत्येक अंगका वर्णन किया गया है उसमें भी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें कही गयी हैं। उनका विवेचन अलगसे किया जायेगा। २१वें कल्पमें सम्यग्दर्शनके भेदोंका कथन करते हुए प्रारम्भमें गद्य-द्वारा सम्यक्त्वके बाह्य उत्पत्ति निमित्तोंको बतलाते हुए निसर्गज और अधिगमज भेदोंको स्पष्ट किया है। पश्चात् सर्वार्थसिद्धिमें प्रति-पादित सराग वीतराग भेदों तथा उनके अभिव्यंजक प्रशमादिके स्वरूपको बतलाकर गुणभद्राचार्यके द्वारा आत्मानुशासनमें प्रतिपादित दस भेदोंका स्वरूप बतलाया है। आगे रत्नकरण्डकी शैलीमें सम्यक्त्वकी महिमा बतलाते हुए निश्चय रत्नत्रयका स्वरूप बतलाया है तथा अन्य भी अनेक उपयोगी बातें कही हैं। २२—२५ कल्पोंमें मद्य, मांस, मधु आदिके दोष बतलाते हुए चार कथाएँ वर्णित हैं जिनमें मद्यपान और मांस-भक्षणके संकल्पकी बुराई और उनके त्यागकी भलाई बतलायी है।

२६—३२ कल्पोंमें पाँच अणुव्रतोंका वर्णन है और हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रहकी बुराइयाँ बतलाते हुए पाँच कथाएँ प्रांजल गद्यशैलीमें वर्णित हैं; कथाएँ बहुत ही रोचक और शिक्षाप्रद हैं। ३३वें कल्पमें तीन गुणव्रतोंका कथन है।

३४वें कल्पसे सामायिक शिक्षाव्रतका वर्णन प्रारम्भ होता है। सोमदेवने सामायिकका अर्थ जिनपूजा सम्बन्धी क्रियाएँ किया है। अतः ३४वें कल्पमें स्नानविधि, ३५ में समय समाचार विधि, ३६ में अभिषेक और पूजनविधि, ३७ में स्तवनविधि, ३८ में जपविधि, ३९ मे ध्यानविधि और ४०वें कल्पमें श्रुताराधन-विधि वर्णित है। इस तरहका वर्णन अन्य श्रावकाचारोंमें नहीं पाया जाता और इसलिए यह सारा ही वर्णन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उसमें भी ध्यानविधि विशेष महत्त्वपूर्ण है। सोमदेवके पूर्वके उपलब्ध साहित्यमें भी यह वर्णन नही मिलता।

४१वें कल्पमे प्रोषधोपवासका और ४२वें कल्पमें भोगोपभोग परिमाण व्रतका कथन है। ४३वें कल्पमें दानकी विधिका वर्णन विशेष महत्त्वपूर्ण है।

४४वें कल्पके प्रारम्भमें श्रावककी ग्यारह प्रतिमाओंको संक्षेपमें बतलाकर यतियोंके लिए जैनेतर सम्प्रदायमें प्रचलित नामोंकी निरुक्तियाँ दी गयी हैं जो एक नयी वस्तु है।

४५वें कल्पमें सल्लेखनाका और ४६वें कल्पमें कुछ फुटकर बातोंका कथन है। इस तरह सोमदेवका उपासकाध्ययन कई दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण है। इन कल्पोंमें चर्चित विशेष बातोंपर हम आगे प्रकाश डालेंगे।

महत्त्व—यों तो सोमदेवसे पहले भी कुन्दकुन्दके चरित्र प्राभृत, तत्त्वार्थसूत्र तथा उसके टीका ग्रन्थोंमें, और पद्मपुराण, वरांगचरित, महापुराण आदि ग्रन्थोंमें श्रावकाचार वर्णित था, किन्तु श्रावकाचारके सम्बन्धमें एक रत्नकरण्ड श्रावकाचारको छोड़कर कोई अन्य स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं था। यह बात हम उपलब्ध साहित्यके पर्यालोचनके आधारपर कहते हैं।

सोमदेव और अमृतचन्द्र—अमृतचन्द्र सूरिका पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भी श्रावकाचारसे ही सम्बद्ध है किन्तु वह सोमदेवके उपासकाध्ययनका केवल अग्रज हो सकता है, क्योंकि वि. सं. १०५५ में रचे गये आचार्य जयसेनके धर्मरत्नाकर नामक ग्रन्थमें पुरुषार्थसिद्ध्युपाय और सोमदेवके उपासकाध्ययन, दोनोंके ही पद्य भरपूर पाये जाते हैं। सोमदेवने अपना उपासकाध्ययन उससे ३९ वर्ष पहले वि. सं. १०१६ में रचकर समाप्त किया था। अमृतचन्द्र सूरिने अपना कोई समय निर्दिष्ट नहीं किया है। उनकी उत्तरावधि १०५५ ही मानी जाती है। उससे कितने समय पूर्व वह हुए हैं यह अभी निश्चित नहीं हो सका है। किन्तु इतना निश्चित है कि न तो सोमदेवके उपासकाध्ययनपर पुरुषार्थसिद्ध्युपायका किंचित् भी प्रभाव परिलक्षित होता है और

न पुरुषार्थसिद्धयुपायपर सोमदेवके उपासकाध्ययनकी कोई छाया है। अतः यही प्रतीत होता है कि इन दोनोंमें-से किसी एकने दूसरेकी कृतिको नहीं देखा था। फिर भी यदि पुरुषार्थसिद्धयुपायसे सोमदेवके उपासकाध्ययनकी तुलना की जाये तो दोनोंका अपना-अपना वैशिष्ट्य स्पष्ट रूपसे प्रतीत होता है। पुरुषार्थसिद्धयुपाय अपने नामके अनुसार मोक्ष पुरुषार्थकी प्राप्तिका उपाय बतलानेकी दृष्टिसे रचा गया है। किन्तु सोमदेवने अपने उपासकाध्ययनमें जो कुछ लिखा है वह उपासकका अध्ययन करके लिखा है। आधुनिक शैलीमें उसे 'उपासक–एक अध्ययन' नाम दिया जा सकता है या इस रूपमें उसके उपासकाध्ययन नामकी व्याख्या की जा सकती है। अमृतचन्द्रका उपासक मुमुक्षु है—अन्तरंगसे भी और बहिरंगसे भी, किन्तु सोमदेवका उपासक अन्तरंगसे मुमुक्षु होते हुए भी बहिरंगसे संसारी है। उसकी कमजोरियोंके प्रति सोमदेवमें करुणाबुद्धि है। साथ ही अमृतचन्द्रकी दृष्टि जब केवल अपने मुमुक्षु जनोंपर केन्द्रित है तब सोमदेव संसारी गृहस्थोंकी समाजपर दृष्टि रखे हुए हैं—जिस समाजमें सभी तरहके जन सम्मिलित हैं। तभी तो वह अन्तमें कहते हैं, "जिन भगवान्‌का यह धर्म अनेक प्रकारके मनुष्योंसे भरा है। जैसे मकान एक स्तम्भपर नहीं ठहर सकता वैसे ही यह धर्म भी एक पुरुषके आश्रयसे नहीं ठहर सकता।"

अमृतचन्द्र आध्यात्मिक थे किन्तु सोमदेव आध्यात्मिकसे अधिक व्यवहारी थे। इसीसे उनके उपासकाध्ययनमें व्यवहार धर्मका सांगोपांग निरूपण मिलता है।

सोमदेवके उपासकाध्ययनके पश्चात् जो श्रावकाचार रचे गये उनपर उपासकाध्ययनका ही विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

सोमदेव और जयसेन—आचार्य जयसेनने उपासकाध्ययनकी रचनाके ३९ वर्ष पश्चात् ही वि० सं० १०५५ में अपना धर्मरत्नाकर नामक ग्रन्थ रचकर पूर्ण किया था। उसमें उपासकाध्ययनके श्लोकोंके उद्धरण बहुतायतसे पाये जाते हैं। उपासकाध्ययनके टिप्पणमें ऐसे उद्धरणोंका यथास्थान निर्देश किया गया है।

सोमदेव और अमितगति—आचार्य अमितगतिने विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें अपना उपासकाचार[1] रचा था। उसपर सोमदेवका स्पष्ट प्रभाव है। प्रमाणके लिए दोनोंसे एक-एक श्लोक नीचे दिया जाता है,

"देवतातिथिपित्रर्थं मन्त्रौषधिभयाय वा।
न हिंस्यात् प्राणिनः सर्वानहिंसा नाम तद्व्रतम्" ॥३२०॥ सो. उ.।

"देवतातिथिमन्त्रौषधपित्रादि निमित्ततोऽपि सम्पन्ना।
हिंसा धत्ते नरकं किं पुनरिह नान्यथा विहिता ॥२९॥" ६ श्रा., अमि० उ.।

उपासकाध्ययनके प्रारम्भमें सोमदेवने दर्शनान्तरोंकी समीक्षा की है। अमितगतिने भी अपने उपासकाचारके चतुर्थ परिच्छेदमें दर्शनान्तरोंकी समीक्षा की है। सोमदेवने पूजाविधि और ध्यानका बहुत विस्तारसे कथन किया है। अमितगतिने भी १२वें परिच्छेदमें पूजाविधिका और १५वे में ध्यानका कथन किया है। उपासकाचार नाम भी उपासकाध्ययनकी ही अनुकृति प्रतीत होता है।

सोमदेव और पद्मनन्दि—(वि० की १२वीं शताब्दीके लगभग)—प्राचीन समयमें श्रावकों और मुनियोंके षट् आवश्यक सामायिक, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग थे। आचार्य जिनसेनने (महापुराण ३८।२४ में) इज्या, वार्ता, दान, तप, संयम, स्वाध्यायको श्रावकके षट्कर्म बतलाया था। उसमें किंचित् संशोधन करके सोमदेवने श्लोक सं० ९११ के द्वारा देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और

---

1. यह उपासकाचार अनन्तकीर्तिग्रन्थमाला बम्बईसे और फिर सूरतसे प्रकाशित हुआ है। पद्मनन्दि पञ्चविंशतिकाका नया संस्करण जीवराज जैन ग्रन्थमाला शोलापुरसे प्रकाशित हुआ है।

दान इन षट्कर्मोंका विधान किया। पद्मनन्दिने अपनी पञ्चविंशतिकाके[1] अन्तर्गत उपासक संस्कारमें सोमदेवके उस श्लोकको ही सम्मिलित कर लिया। और तबसे श्रावकके ये ही षट्कर्म प्रचलित हो गये और पुराने षट् आवश्यकोंको श्रावक भूल ही गये। इसी तरह सोमदेवके[2] द्वारा निर्दिष्ट अष्ट मूलगुणोंको भी पद्मनन्दिने[3] अपनाया। अन्य भी अनेक समानताएँ पायी जाती हैं। यथा,

"अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम्।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि गुणाः स्युर्द्वादशोत्तरे ॥३१४॥"—सो० उ०।

"अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम्।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि द्वादशेति गृहिव्रते ॥२४॥"—प० प०, पृ० १३१

सोमदेव और वीरनन्दि—वीरनन्दिके आचारसार[4] नामक ग्रन्थपर भी सोमदेवके उपासकाध्ययनका प्रभाव है। उसके अनेक श्लोक सोमदेवसे प्रभावित हैं। यथा,

"माता स्वसा तनूजेति मतिर्ब्रह्म गृहाश्रमे ॥"—सो० उ०।

"मातानुजा तनूजेति मत्या ब्रह्मव्रतं मतम् ॥"—आचा० ११११।

"संगे कापालिकात्रेयीचाण्डालशबरादिभिः।
आप्लुत्य दण्डवत् सम्यग् जपेन्मन्त्रमुपोषितः ॥"—सो० उ०।

"स्पृष्टे कपालिचाण्डालपुष्पवत्यादिके सति।
जपेदुपोषितो मन्त्रं प्रागुत्प्लुत्याशु दण्डवत् ॥"—आचा० २।७०।

"सवित्रीव तनूजानामपराधं सधर्मसु।
दैवप्रमादसंपन्नं निगूहेद् गुणसंपदा ॥"—सो० उ०।

"यद्वत्पुत्रकृतं दोषं यत्नान्माता निगूहति।
तद्वत् सद्धर्मदोषोपगूहः स्यादुपगूहनम् ॥"—आचा० ३।६१।

सोमदेव और आशाधर—विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके प्रमुख विद्वान् पं० आशाधरने अपने सागार[5]-धर्मामृत और अनगार-धर्मामृतकी टीकाओंमें सोमदेवके उपासकाध्ययनसे अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं। सागार-धर्मामृतपर सोमदेवके उपासकाध्ययनका बहुत प्रभाव है। उसके दूसरे अध्यायके प्रारम्भमें आशाधरने सोमदेवके मतानुसार आठ मूलगुणोंको बतलाते हुए टीकामें 'उपासकाध्ययनादिशास्त्रानुसारिभिः पूर्वमनुष्ठेयतया उपदिष्टान्' लिखा है। इसका आशय यह है कि उपासकाध्ययन आदि शास्त्रोंका अनुसरण करनेवालोंने इन आठ मूल गुणोंको विधेय माना है। कहना न होगा कि यह उपासकाध्ययन सोमदेवकृत उपासकाध्ययन ही है और उसका अनुसरण करनेवालोंमें एक पद्मनन्दि अवश्य हैं। सागार-धर्मामृत[6] और अनगार[7]-धर्मामृतकी टीकाओंमें आशाधरने सोमदेवके उपासकाध्ययनसे अनेक पद्य भी उद्धृत किये हैं। तथा अन्य प्रकारसे भी उसका अनुसरण किया है।

सोमदेव और यशःकीर्ति—महापण्डित यशःकीर्तिरचित प्रबोधसार ग्रन्थ भी सोमदेवके उपासकाध्ययनका ऋणी है। उसके अनेक श्लोक थोड़े-से हेर-फेरके साथ प्रबोधसारके कलेवरको अलंकृत किये हुए हैं। उपासकाध्ययनके टिप्पणोंसे पाठक उन्हें जान सकते हैं।

---

१. श्लो० ७। २. श्लो० २७०। ३. श्लो० २३।

४. आचारसार माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित हुआ है।

५. सागार धर्मामृत और अनगार-धर्मामृत मा० मा० प्र० बम्बईसे प्रकाशित हुए हैं। किन्तु हमने सूरतसे प्रकाशित सागार-धर्मामृतका उपयोग किया है।

६. पृ० ४, ६, १८, ४०, ४१, ४६, ४७, ७२, । ७. पृ० ६७३ और ६८४।

विक्रमकी १५वीं शतीमें रचित दानशासन ग्रन्थमें भी सोमदेवके उपासकाध्ययनके अनेक श्लोकोंका अनुकरण किया गया है।[1] इस तरह उत्तरकालीन श्रावकाचार-सम्बन्धी साहित्य सोमदेवके उपासकाध्ययनसे प्रभावित है। और उसके उद्धरण तो ज्ञानार्णवमें,[2] परमात्मप्रकाश[3] और बृहद्द्रव्यसंग्रहकी[4] टीकाओंमें, अनन्तवीर्यकी प्रमेयरत्नमाला[5], रत्नकरण्डकी[6] प्रभाचन्द्रकृत टीकामें तथा श्रुतसागरकी षट्प्राभृत टीकामें[7] पाये जाते हैं।

इन्द्रनन्दिने अपने नीतिसार[8] में उन जैनाचार्योंका नामोल्लेख किया है जिनके ग्रन्थोंको उन्होंने प्रमाण माननेकी सम्मति दी है। उनमें अन्य महान् जैनाचार्योंके साथ सोमदेवका भी नाम है। अतः सोमदेव और उनके उपासकाध्ययनका महत्त्व उक्त विवरणसे स्पष्ट है।

सोमदेवके उपासकाध्ययनको उनके पश्चात् हुए ग्रन्थकारोंके द्वारा इतना अपनाया जानेके कई कारण हो सकते हैं, सबसे प्रथम कारण तो हमें यह प्रतीत होता है कि उस समयतक श्रावकाचारोंकी रचनाका विशेष प्रचलन नहीं था और कई दृष्टियोंसे उस दिशामें यह एक अभिनव प्रयोग था। यद्यपि उनसे पहले समन्तभद्रका रत्नकरण्ड श्रावकाचार रचा जा चुका था और वह उनके सामने न केवल वर्तमान था, किन्तु सम्भव है उसीसे उन्हें उपासकाध्ययनके रचनेकी प्रेरणा तथा रूपरेखा प्राप्त हुई हो। इसके सिवा आचार्य जिनसेनने अपने महापुराणके पर्व ३८-३९ में श्रावकोंकी जिन क्रियाओंका वर्णन किया था उससे भी वह प्रभावित थे। तीसरे तत्कालीन स्थिति। इन सबकी सम्मिलित प्रेरणावश ही उपासकाध्ययन रचा गया और उसमें सम्यग्दर्शन, अष्टमूलगुण और बारह व्रतोंके अतिरिक्त ऐसे अनेक विषय सम्मिलित किये गये और अनेक ऐसी महत्त्वपूर्ण बातें कही गयीं जो मध्यकालके श्रावकोंके लिए अति उपयोगी थीं और आज भी हैं।

साधारणतया सम्यग्दर्शन, अष्टमूलगुण, बारह व्रत, ग्यारह प्रतिमा और सल्लेखना ये ही श्रावकधर्म हैं। रत्नकरण्डमें इन्हीं सबका वर्णन १५० श्लोकोंमें है। पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें भी प्रतिमाओंके सिवाय शेषका वर्णन है। उपासकाध्ययनमें भी प्रायः इन्हीं सबका वर्णन है, किन्तु इसमें जो अनेक मौलिक विशेषताएँ हैं, उन्हींके कारण सोमदेव और उनके उपासकाध्ययनको इतना समादर प्राप्त हुआ।

[५] उपासकाध्ययनपर प्रभाव

समन्तभद्र और सोमदेव—सोमदेवके उपासकाध्ययनपर सबसे अधिक प्रभाव आचार्य समन्तभद्रके रत्नकरण्ड श्रावकाचारका है। उसीके अनुसार उसमें आप्त, आगम आदिके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन बतलाकर क्रमसे आप्त आगम आदिका विस्तारसे कथन किया है। साधारणतया सम्यग्दर्शन, अष्टमूल गुण, बारह व्रत, ग्यारह प्रतिमाएँ और समाधिमरण, ये श्रावक धर्म हैं। रत्नकरण्डके १५० पद्योंमें इन्हीं सबका

---

१. प्रबोधसार और दानशासन सखाराम नेमचन्द ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित हुए हैं।

२. रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बईसे प्रकाशित, पृ० ७५ तथा पृ० ९३ पर।

३. रा० शा० बम्बईसे प्रकाशित दूसरा संस्करण। पृ० १४३ पर।

४. दिल्लीसे प्रकाशित संस्करण, पृ० १५९ पर।

५. बनारससे प्रकाशित संस्करण, पृ० १८।

६. मा० ग्र० संस्करण, पृ० ८० में।

७. मा० ग्र० संस्करण, पृ० ८५, ९०, १०२, २९४, ३०२, ३४५ प्रति।

८. श्री भद्रबाहुः श्रीचन्द्रो जिनचन्द्रो महामतिः। गृद्धपिच्छगुरुः श्रीमान् लोहाचार्यो जितेन्द्रियः॥
एलाचार्यः पूज्यपादः सिंहनन्दी महाकविः। वीरसेनो जिनसेनो गुणनन्दी महातपाः॥
समन्तभद्रः श्रीकुम्भः शिवकोटिः शिवंकरः। शिवायनो विष्णुसेनो गुणभद्रो गुणाधिकः॥
अकलंको महाप्राज्ञःसोमदेवो विदांवरः। प्रभाचन्द्रो नेमिचन्द्र इत्यादि मुनिसत्तमैः।
यच्छास्त्रं रचितं नूनं तदेवाद्वेयमन्यकैः। विसन्धै रचितं नैव प्रमाणं साध्वपि स्फुटम्॥

कथन है। उपासकाध्ययनमें भी इन्हींका कथन विस्तारसे किया गया है। किन्तु ग्यारह प्रतिमाओंके तो नाम मात्र गिनाकर उनमें-से आदिकी छह प्रतिमाओंके धारकोंको गृहस्थ, तीनके धारकोंको ब्रह्मचारी और अन्तकी दो प्रतिमाओंके धारकोंको भिक्षुक कहा है। रत्नकरण्डमें ग्यारह प्रतिमाओंका स्वरूप अलग-अलग बतलाया है। तथा उसमें सम्यग्दर्शनमें प्रसिद्ध आठ व्यक्तियोंके नाममात्र गिनाये हैं। किन्तु उपासकाध्ययनमें उन आठोंकी कथाएँ सुन्दर संस्कृत गद्यमें बड़ी रोचक शैलीसे कही हैं।

जटासिंहनन्दी और सोमदेव—जटासिंह नन्दी (७वीं शती) का [1] वरांगचरित एक पौराणिक महाकाव्य है। उसमें ३१ सर्ग हैं। उनमें-से लगभग १२ सर्गोंमें जैन सिद्धान्तका वर्णन है। सोमदेवके उपासकाध्ययनमें उसका एक श्लोक तो उद्धृत है ही उसके सिवा भी प्रभाव है। वरांगचरितके सर्ग २२-२३ में जिन-पूजाका विस्तारसे वर्णन है तथा २५वें सर्गमें ब्राह्मणी क्रियाकाण्डकी समीक्षा है और अन्य देवताओंमें दोष बतलाकर जिनेन्द्रदेवको ही आप्त सिद्ध किया है। सोमदेवके उपासकाध्ययनमें भी उक्त सब विषयोंकी चर्चा है। गौकी पवित्रता, मृतोंका श्राद्ध, ब्रह्मभोज, हरि हर ब्रह्मा वगैरहका देवत्व, बुद्धकी आप्तता आदि विषय दोनोंमें चर्चित हैं।

जिनसेन और सोमदेव—आचार्य जिनसेनके [2] महापुराणके ३८-३९वें पर्वोंमें श्रावकोंकी क्रियाओंका वर्णन है। जिनसेनके द्वारा प्रतिपादित षट्कर्मोंमें थोड़ा-सा संशोधन करके ही सोमदेवने श्रावकके षट्कर्म स्थापित किये यह बात पहले लिख आये हैं।

गुणभद्र और सोमदेव—आचार्य जिनसेनके शिष्य गुणभद्रका आत्मानुशासन [3] प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थका एक पद्य (२३) उपासकाध्ययन पृ० १५१ में तदुक्तं करके उद्धृत है। तथा सम्यक्त्वके दस भेदोंको बतलानेके लिए ११वाँ श्लोक 'दशविधं तदाह' करके मूलमें अपना लिया है। इस तरह उपासकाध्ययन आत्मानुशासनका भी ऋणी है।

देवसेन और सोमदेव—विमलसेन गणिके शिष्य देवसेनके द्वारा रचित एक [4] भावसंग्रह नामक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थके साथ सोमदेवके उपासकाध्ययनका तुलनात्मक अध्ययन करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि एकका दूसरेपर प्रभाव है। भावसंग्रहमें ७०१ गाथाओंके द्वारा चौदह गुणस्थानोंका वर्णन है। प्रथम गुणस्थानका वर्णन करते हुए मिथ्यात्वके पाँच भेद बतलाये हैं। ब्रह्मवादियोंको विपरीत मिथ्यादृष्टि बतलाकर लिखा है कि ब्राह्मण जलसे शुद्धि मानते हैं, मांससे पितरोंकी तृप्ति मानते हैं, पशुघातसे स्वर्ग मानते हैं और गौके स्पर्शसे धर्म मानते हैं (१७) इन्हींका निरूपण करते हुए स्नानदूषण, मांसदूषण आदिका कथन किया है। उपासकाध्ययनके भी तीसरे कल्पमें मिथ्यात्वके पाँच भेद बतलाकर उक्त विषयोंकी आलोचना की है। किन्तु वह आलोचना भावसंग्रहसे बहुत अधिक सन्तुलित और संक्षिप्त है। उपासकाध्ययनमें लिखा है,

"ब्रह्मचर्योपपन्नानामध्यात्माचारचेतसाम् ।
मुनीनां स्नानमप्राप्तं दोषे त्वस्य विधिर्मतः ॥"

भावसंग्रहमें लिखा है,

"वयणियमसीलजुत्ता णिहयकसाया दयावरा जइणो ।
ण्हाणरहिया वि पुरिसा बंभचारी सया सुद्धा ॥२५॥"

भावसंग्रहमें पाँचों मिथ्यात्वोंको माननेवाले ब्राह्मण, बौद्ध तापस, श्वेताम्बर और मस्करिके मतोंका निराकरण करके चार्वाक सांख्य और कौल धर्मकी आलोचना की है। उपासकाध्ययनके प्रथम कल्पमें ही सब

---

१. माणिकचन्द ग्रन्थमाला बम्बई (वर्तमानमें वाराणसीसे प्रकाशित)।
२. भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसीसे प्रकाशित।
३. जीवराज ग्रन्थमाला शोलापुरसे प्रकाशित।
४. माणिकचन्द ग्रन्थमाला बम्बई (वर्तमानमें भा० ज्ञा० वाराणसी) से प्रकाशित।

दर्शनोंकी समीक्षा की है उनमें उक्त सभी मत आ जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भावसंग्रहके कर्ता दार्शनिकसे अधिक पौराणिक थे। उन्होंने प्रत्येक मतके सम्बन्धमें प्रचलित बातोंको लेकर ही उनकी हँसी उड़ायी है। उसमें दार्शनिकता विशेष नहीं है। तीसरे गुणस्थानका वर्णन करते हुए भी हरि, हर, ब्रह्मा आदि देवोंकी समीक्षा पौराणिक आख्यानोंको लेकर ही की है।

पाँचवें गुणस्थानका वर्णन करते हुए यद्यपि गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंके भेद कुन्दकुन्दके अनुसार बतलाये हैं। किन्तु सामायिकके स्थानमें 'त्रिकाल[1] देवसेवा' को स्थान दिया है। उपासकाध्ययनमें सामायिकका स्वरूप आप्तसेवा ही बतलाया है। तथा अष्टमूलगुण[2] भी उपासकाध्ययनके अनुसार ही बतलाये हैं। आगे देवपूजाका कथन करते हुए स्नानके पश्चात् मन्त्रसे आचमन[3]का फिर सकलीकरणका विधान किया है। सोमदेवने आचमनको मान्य करके भी पूजनके समय आचमन नहीं बतलाया है और न सकलीकरण बतलाया है। हाँ, जपसे पहले उन्होंने सकलीकरणका विधान किया है। [4]भावसंग्रहमें अभिषेकसे पूर्व कंकणमुद्रा और यज्ञोपवीत धारण करनेका विधान किया है, सोमदेवने नहीं किया। सोमदेवने केवल इन्द्रादि देवोंका ही आह्वानन किया है। [5]भावसंग्रहमें उनका आह्वानन शस्त्र और वाहनके साथ करना बतलाया है। उपासकाध्ययनमें अष्टद्रव्योंसे पूजा करनेका फल नहीं बतलाया है, भावसंग्रहमें एक-एक गाथाके द्वारा प्रत्येकका फल बतलाया है। उपासकाध्ययनमें पूजनके बाद स्तवन, फिर जप और फिर ध्यानका विधान है। भावसंग्रहमें पूजनके बाद ध्यान करके आहूत देवोंका विसर्जन करना बतलाया है। उपासकाध्ययनमें विसर्जनका कोई निर्देश नहीं है।

भावसंग्रहमें इसी प्रकरणमें आगे दानका वर्णन है जो उपासकाध्ययनके ४३वें कल्पके वर्णनसे मिलता है। दोनोंमें दानके चार भेद बतलाये हैं, अभयदान, आहारदान, औषधदान और शास्त्रदान। उपासकाध्ययनमें केवल एक श्लोक-द्वारा चारों दानोंका जो फल बतलाया है, भावसंग्रहमें प्रायः वही फल चार गाथाओंके द्वारा बतलाया है। दाताके सात गुण दोनोंमें समान हैं। यथा,

> "श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा शक्तिः।
> यत्रैते सप्त गुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति॥"—उपासकाध्ययन।
> "भत्ती तुट्ठी य खमा सद्दा सत्तं च लोहपरिचाओ।
> विण्णाणं तक्काले सत्त गुणा होंति दायारे॥" ४९६॥ —भावसंग्रह।

उपासकाध्ययन श्लो० १४४ में कहा है कि जो मूढताको सर्वथा छोड़नेमें असमर्थ है उसे सम्यक् मिथ्यादृष्टि मानना चाहिए। भावसंग्रह गा० २५७ में यही बात कही है। इस तरह भावसंग्रह और उपासकाध्ययनके कुछ वर्णनोंमें समानता पायी जाती है और उन दोनोंमें कुछ ऐसी विशेष बातें भी हैं जो उससे पूर्वके उपलब्ध साहित्यमें नहीं हैं।

उपासकाध्ययनका तो रचनाकाल (वि० सं० १०१६) निश्चित है किन्तु भावसंग्रहके रचनाकालमें मतभेद है और उस मतभेदका कारण स्वयं भावसंग्रह ही है।

भावसंग्रह देवसेनकी रचना है। देवसेनकी कुछ अन्य रचनाएँ भी प्रकाशित हो चुकी हैं, उनके नाम हैं—दर्शनसार, आराधनासार, तत्त्वसार, नयचक्र और आलापपद्धति। इनमें-से [6]दर्शनसारके अन्तमें उसका रचनाकाल ९९० दिया है। चूँकि उसकी रचना धारा नगरीमें हुई है और वहाँ विक्रम संवत्का चलन था इसलिए,

१. गा० ३५५। २. गा० ३५६। ३. गा० ४२७। ४. गा० ४३६। ५. गा० ४३९।

६. "पुव्वाइरियकयाइं गाहाइं संचिऊण एयत्थ। सिरिदेवसेणगणिणा धाराए संवसंतेण॥४९॥
रइओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवसए णवई। सिरिपासणाहगेहे सुविसुद्धे माहसुद्धदसमीए॥
—जै० सा० इ० पृ० १७५।

उसे वि० सं० ९९० माना जाता है। भावसंग्रहको भी उन्हीं देवसेनकी रचना मानकर उसका रचनाकाल भी श्रीयुत् प्रेमीजीने विक्रमकी दसवीं शताब्दीका अन्तिम चरण माना था। तदनुसार भावसंग्रह उपासकाध्ययनका पूर्वज ठहरता है। किन्तु पं० परमानन्दजीने भावसंग्रहमें चर्चित कुछ उक्त विषयोंके आधारपर उसके उक्त-कालमें आपत्ति करते हुए उसे सुलोचनाचरित (अपभ्रंश) के रचयिता देवसेनकी रचना बतलाया और श्रीजुगलकिशोरजी मुख्तारने उसका निरसन करते हुए भावसंग्रहको दर्शनसारके रचयिता देवसेनकी ही कृति सिद्ध किया था।[1] किन्तु श्रीप्रेमीजीने अपने जैन साहित्य और इतिहासके दूसरे संस्करणमें पं० परमानन्दजीके मतको स्थान दिया। केकड़ीके श्री पं० रतनलालजी कटारियाने भी भावसंग्रहके दर्शनसारके रचयिता देवसेनकी कृति होनेके पक्षमें अनेक आपत्तियाँ हमारे पास लिखकर भेजी थीं। अतः भावसंग्रहके उपासकाध्ययनके पूर्वज होनेमें सन्देह है। इसलिए सन्देहका निराकरण हुए बिना कोई मत निर्धारित नहीं किया जा सकता। जहाँ कुछ बातें पक्षमें हैं वहाँ अनेक बातें विपक्षमें भी हैं। दर्शनसार, आराधनासार और भावसंग्रहकी प्रथम गाथामें 'सुरसेण' नाम विशेषण रूपमें पाया जाता है किन्तु अन्तिम गाथामें दर्शनसारमें 'देवसेनगणि' नाम है। भाव-संग्रहमें विमलसेन गणधरका शिष्य लिखा है तथा आराधनासारमें केवल देवसेन नाम है। इसके साथ नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीरचित गोम्मट्टसार जीवकाण्डकी अनेक गाथाओंके अंश ज्योंके-त्यों भावसंग्रहमें वर्तमान हैं। किन्तु एक गाथा ११० ऐसी भी है जो प्रमेयकमलमार्तण्डमें उद्धृत है। ये सभी बातें विचारणीय हैं।

[६] उपासकाध्ययनमें चर्चित दर्शन और मत

उपासकाध्ययनका प्रारम्भ करते हुए सोमदेव सूरिने प्रथम कल्पमें विभिन्न दर्शनोंमें मान्य मुक्तिके स्वरूपका उल्लेख करके उनकी आलोचना की है। इसीसे इस कल्पको सोमदेवने 'समस्तसमयसिद्धान्तावबोधन' नाम दिया है। दशमी शती और उससे पूर्व प्रचलित दार्शनिक मतोंके संकलनकी दृष्टिसे यह कल्प महत्त्वपूर्ण है। इसमें सैद्धान्त वैशेषिक, तार्किक वैशेषिक, काणाद, पाशुपत, कौल, सांख्य, कापिल, बौद्ध, जैमिनीय, बार्हस्पत्य और वेदान्त दर्शनोंका उल्लेख है। इसके अतिरिक्त सोमदेवने शैव और याज्ञिकोंका भी उल्लेख किया है। इनकी संक्षिप्त जानकारी निम्न प्रकार है।

वैशेषिक

सोमदेवने वैशेषिकके दो भेदोंका निर्देश किया है—एक सैद्धान्त वैशेषिक और दूसरे तार्किक वैशेषिक। इन दोनोंमें मुख्य अन्तर यह है कि सैद्धान्त वैशेषिक शिवके भक्त हैं और वे श्रद्धापर विशेष जोर देते हैं जब कि तार्किक वैशेषिक दर्शनके पूर्ण अनुयायी हैं और छह पदार्थोंके ज्ञानपर विशेष जोर देते हैं। सैद्धान्तियोंका मत[2] है कि शिवने अपने सशरीर और अशरीर रूपोंमें जिस धर्मका उपदेश दिया उसकी श्रद्धा करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। हरिभद्र सूरिने अपने षड्दर्शनसमुच्चयमें नैयायिकों और वैशेषिकोंको शैव-शिवका भक्त बतलाया है। उसके टीकाकार गुणरत्नने शिवके अनुयायियोंके शैव, पाशुपत आदि चार सम्प्रदाय बतलाये हैं और लिखा है कि नैयायिक शैव कहलाते हैं तथा वैशेषिक पाशुपत[3]; किन्तु पाशुपतोंके अपने पृथक् सिद्धान्त हैं और उनका वैशेषिकोंसे कोई साक्षात् सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। सोमदेवने स्वयं उनके मोक्ष सम्बन्धी मतका पृथक् निर्देश किया है।

तार्किक वैशेषिक द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, विशेष और अभाव इन सात पदार्थोंके साधर्म्य और वैधर्म्यमूलक ज्ञानमात्रसे मोक्ष मानते हैं।[4] यहाँ उल्लेखनीय यह है कि सप्तपदार्थीके कर्ता शिवादित्यकी तरह सोमदेवने भी अभावको पदार्थोंमें सम्मिलित किया है। यह सर्वविश्रुत है कि कणादने छह ही पदार्थ

१. अनेकान्त वर्ष ७ कि० ११-१२।

२. सो० उपा०, पृ० २।

३. "नैयायिकाः सदाशिवभक्तत्वाच्छैवाः। वैशेषिकाः पाशुपताः।"—षड्दर्शनसमुच्चय टीका, पृ० २०।

४. सो० उपा०, पृ० २

कहे हैं, किन्तु लगभग दसवीं शताब्दीसे वैशेषिक दर्शनपर लिखनेवाले श्रीधर और उदयन-जैसे ग्रन्थकारोंने अभावकी महत्तापर जोर दिया है और दूसरे ग्रन्थकारोंने अभावको पदार्थोंमें सम्मिलित कर लिया है।

सोमदेवने वैशेषिकोंके द्वारा मान्य मुक्तिका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि कणादके अनुयायी आत्माके ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन नौ विशेष गुणोंके नष्ट हो जानेको मुक्ति कहते हैं।[1] सोमदेवने अपने कथनके समर्थनमें एक श्लोक भी उद्धृत किया है, जिसमें बतलाया है कि शरीरसे बाहर आत्माके जिस रूपकी प्रतीति होती है, कणाद मुनिने वही मुक्तिका स्वरूप कहा है।[2]

श्रीधराचार्यने लिखा है "आत्मामें नित्य सुख नहीं है अतः मोक्षावस्थामें सुखानुभव न होनेसे सुखानुभवका नाम मोक्षावस्था नहीं है किन्तु आत्माके समस्त विशेष गुणोंका विनाश हो जानेसे उसकी स्वरूपमें स्थितिका नाम मोक्ष है।" मण्डन मिश्रने मुक्तिके इस रूपपर यह आपत्ति की थी कि विशेषगुणोंकी निवृत्तिरूप मुक्ति तो उच्छेद पक्षसे भिन्न नहीं है। इसका उत्तर देते हुए श्रीधरने कहा है कि विशेषगुणोंका उच्छेद होने-पर आत्मा अपने स्वरूपसे अवस्थित रहता है, उसका उच्छेद नहीं होता क्योंकि वह नित्य है।[3]

सोमदेवने भी मुक्तिके उक्त स्वरूपकी समीक्षा करते हुए कहा है कि यदि मुक्तिमें सांसारिक ज्ञान और सांसारिक सुख नहीं है तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है, हमें यह इष्ट ही है, किन्तु यदि मुक्तावस्थामें आत्माके स्वाभाविक ज्ञान और सुख-गुण भी नष्ट हो जाते हैं तो फिर मुक्तात्माका लक्षण क्या रहेगा। अग्निमें-से यदि उष्णता नष्ट हो जाये तो अग्निका अस्तित्व कैसे रह सकता है।[4]

मुक्तिके कारणकी आलोचना करते हुए सोमदेवने कहा है कि ज्ञानसे हमें वस्तुका बोध होता है, प्राप्ति नहीं होती। पानीको जान लेनेसे प्यास नहीं बुझती। अतः ज्ञानमात्रसे मुक्ति नहीं हो सकती।[5] इसी तरह सैद्धान्त वैशेषिकोंकी आलोचना करते हुए सोमदेवने कहा है कि केवल श्रद्धामात्रसे मुक्तिलाभ नहीं हो सकता। क्या भूख लगनेसे ही उदुम्बर फल पक सकता है।[6]

कणाद मुनि वैशेषिक दर्शनके आद्य प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके दर्शनको औलूक्य दर्शन भी कहते हैं। उसके ऊपरसे ऐसी कल्पना की गयी है कि शिवजीने उल्लूका रूप धारण करके उन्हें परमाणुवादका उपदेश दिया था इससे उनके दर्शनको औलूक्य दर्शन करते हैं। कणादमुनि शैव अथवा पाशुपत थे।

पाशुपत-दर्शन

सोमदेवके कथनानुसार पाशुपत दर्शनमें केवल क्रियाकाण्डसे मुक्ति मानी गयी है। वे क्रियाएँ इस प्रकार हैं—प्रातः दोपहर और सन्ध्याके समय शरीरमें भस्म लगाना, शिवलिंगकी पूजा करना, जलपात्रका अर्पण, प्रदक्षिणा और आत्मविडम्बना। सोमदेवने इनमें-से किसी भी क्रियाका खुलासा नहीं किया। किन्तु भासर्वज्ञकी गणकारिकाकी टीकासे उन्हें बहुत कुछ समझा जा सकता है। भासर्वज्ञ सम्भवतया सोमदेवका समकालीन था।

गणकारिकाकी रत्नटीकामें केवल दिनमें तीन बार शरीरमें भस्म[7] रमानेका ही निर्देश नहीं है किन्तु

---

१. सो० उपा०, पृ० ३।

२. सो० उपा०, पृ० ३ श्लो० ९।

३. "नास्यात्मनो नित्यं सुखं तदभावान्न तदनुभवो मोक्षावस्था किन्तु समस्तात्मविशेषगुणोच्छेदोपलक्षिता स्वरूपस्थितिरेव।...यदुक्तं मण्डनेन विशेषगुणनिवृत्तिलक्षणा मुक्तिरुच्छेदपक्षान्न भिद्यते इति विशेषगुणोच्छेदे हि सति आत्मनः स्वरूपेणावस्थानं नोच्छेदो नित्यत्वात्।"

४. सो० उपा०, श्लो० ३२-३३।

५. सो० उ० ५-६।

६. सो० उपा० पृ० ५, श्लो० १७।

७. "भगवन्तं प्रणम्य त्वदाज्ञां करोमीत्यभिसंधाय जघन्येवापादतलमस्तकं यावत् प्रभूतेन भस्मनाऽङ्गं प्रत्यङ्गं च प्रयत्नातिशयेन निघृष्य निघृष्य स्नानमाचरेदित्येवं मध्याह्नापराह्णसन्ध्ययोरपीति.... निष्क्रम्येशं प्रणम्य प्रणामान्तं प्रदक्षिणत्रयं...कुर्यात्।"

देवालयमें भस्मपर आवर्तन सोनेका भी निर्देश है। तथा तीन प्रदक्षिणा करनेका भी उल्लेख है। इज्या से शिवलिंगकी पूजा ली गयी है। आत्मविडम्बनामें कुछ विचित्र क्रियाएँ बतायी गयी हैं जिनका उद्देश्य भक्तको अपमानित अनुभव कराना है।

टीकामें लिखा[2] है कि ये क्रियाएँ भक्तको अपमानका अनुभव करानेके लिए बतलायी हैं जिससे वह अपमानको सहन कर सके। अपमानको जंगलकी आगके तुल्य बतलाया है और उसे इष्टतम कहा है। तथा लिखा[3] है कि जैसे रंगमंचपर नट अपनी कलाएँ दिखाकर जनताको प्रसन्न करता है उसी तरह शिवभक्तको जनसमुदायमें विचित्र क्रियाएँ दिखाकर प्रसन्न करना चाहिए।

सोमदेवने पाशुपतोंके द्वारा मुक्तिके उपाय रूपसे बताये गये क्रियाकाण्डका तो उल्लेख करके उसकी आलोचना की है, किन्तु पाशुपतोंने मुक्तिका स्वरूप कैसा माना है इस विषयमें कुछ भी नहीं कहा। कुछ ग्रन्थकारोंके अनुसार पाशुपतोंकी मुक्तिका स्वरूप न्याय-वैशेषिक दर्शनसे भिन्न नहीं है।

भास्करने ब्रह्मसूत्रभाष्यमें लिखा है कि पाशुपत और कापालिक मुक्तिका स्वरूप वही मानते थे जो नैयायिकों और वैशेषिकोंने माना है। और शैवोंकी मुक्तिका स्वरूप सांख्यके समान है। उसने लिखा[4] है कि पाशुपत, वैशेषिक, नैयायिक और कापालिकोंके मतानुसार मुक्ति अवस्थामें आत्माएँ पत्थरके तुल्य हो जाती हैं। किन्तु सांख्य और शैवमतमें चैतन्यविशिष्ट रहती हैं।

यमुनाचार्यने अपने आगमप्रामाण्यमें शैव सम्प्रदायका विवरण दिया है। उसने भी पाशुपतोंके मुक्तिके स्वरूपके विषयमें वही लिखा है जो भास्करने लिखा है। पाशुपतदर्शनका एक मूल सिद्धान्त दुःखान्त है। इसका खुलासा करते हुए यमुनाचार्यने लिखा[5] है कि दुःखान्तका अर्थ है, दुःखकी आत्यन्तिकी निवृत्ति, इसीको समस्त विशिष्ट आत्मगुणोंका विनाशरूप मुक्ति मानते हैं।

गणकारिकाकी रत्नटीकामें दुःखान्तकी निषेधपरक व्याख्या तो उक्त प्रकार ही है। विधिपरक व्याख्यामें दुःखान्तका अर्थ सिद्धि अर्थात् शिवकी तरह सर्वोच्च शक्तिकी प्राप्ति किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि पाशुपतमत दार्शनिक होनेकी अपेक्षा एक धार्मिक आचाररूप रहा है। पाशुपत सूत्रोंकी कौण्डिन्यरचित टीकामें पाशुपतोंके आचारकी पूरी रूप-रेखा दी है। उसके मूल अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, असमव्यवहार, शौच, आहारलाघव और अप्रमाद आदि पाँच यम हैं। अहिंसा जैनोंकी तरह ही व्यवहारात्मक है। जीवोंकी सुरक्षाके विचारसे आग जलानेतकका निषेध किया है। वस्त्रसे छानकर पानीका उपयोग करना बतलाया है। तथा वनस्पतिकी जड़, कन्दमूल और पके बीजोंको खानेका निषेध किया है। किन्तु जो मारा गया न हो ऐसे पशुके मांस खानेकी आज्ञा है।

ब्रह्मचर्य तो स्पष्ट ही है। सत्यके विषयमें कौण्डिन्यने एक श्लोक[6] उद्धृत किया है जिसमें बतलाया है कि सब प्राणियोंपर दया करनेके लिए बोले गये झूठसे स्वर्ग मिल सकता है। किन्तु सज्जनोंके विनाशके लिए बोले गये सत्यसे भी स्वर्ग नहीं मिल सकता।

---

१. "मूर्तिशब्देन यदुपहारसूत्रे महादेवेऽव्यास्थानमूर्ध्वलिङ्गादि लक्षणं व्याख्यातम्।"

२. "येन परिभवं गच्छेदित्युपदेशाद्दवाग्नितुल्यत्वेनापमानादेरिष्टतमत्वादिति।"

३ "रङ्गवदवस्थितेषु जनेषु मध्ये नटवदवस्थितो विवेच्य विवेच्य क्राथनादीनि कुर्यात्।"

४. "पाशुपतवैशेषिकनैयायिककापालिकानामविशिष्टा मुक्त्यवस्थायां पाषाणकल्पा आत्मानो भवन्तीति। सांख्यशैवयोश्च विशिष्टा आत्मानश्चैतन्यस्वभावास्तिष्ठन्तीति।"

५. "आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिर्दुःखान्तशब्देनोक्ता तामेव निःशेषवैशेषिकात्मगुणोच्छेदलक्षणां मुक्तिं मन्यन्ते।"

६. "स्वर्गमनृतेन गच्छति दयार्थमुक्तेन सर्वभूतानाम्। सत्येनापि न गच्छति सतां विनाशार्थमुक्तेन॥"

असमव्यवहारका मतलब है—ब्याजादि देन-लेनके व्यवहारसे तथा कोर्टसे दूर रहना। अस्तेयमें अनधिकार प्रतिग्रह और अनुपालम्भको भी लिया है। शौचका मतलब है शारीरिक, मानसिक और आत्मिक पवित्रता। शारीरिक अपवित्रता भस्म लगानेसे दूर हो जाती है। भावशौच विशेष आवश्यक है। अपमान, तिरस्कार वगैरहसे आत्मशौच होता है। आहार लाघवसे मतलब है, भिक्षावृत्तिसे भोजन करना।

प्राचीन पाशुपत कठोर-जीवन बिताते थे ऐसा प्रकट होता है। पाशुपत सूत्रोंके अनुसार पाशुपत भिक्षुक किसी उजड़े हुए घरमें अथवा गुफामें या श्मशानमें रहता है, एक वस्त्रखण्ड रखता है और यदि सम्भव हो तो सर्वस्वत्यागके चिह्नस्वरूप वस्त्रोंसे सर्वथा दूर रहता है। भिक्षावृत्तिसे भोजन करता है, यहाँ तक कि भस्म भी भिक्षासे प्राप्त करता है और वैदिक यज्ञोंसे घृणा करता है।

वेदान्तसूत्र (२--२--३७) के भाष्यमें शंकराचार्यने पाशुपतोंका खण्डन किया है किन्तु माहेश्वर—शिवके अनुयायी नामसे उनका उल्लेख किया है। इससे प्रकट होता है कि पाशुपत भी एक शैव सम्प्रदाय था। नौवीं शताब्दीके ग्रन्थकार वाचस्पतिने भामतीमें और भास्करने ब्रह्मसूत्रभाष्यमें चार शैव सम्प्रदायोंका निर्देश किया है—पाशुपत, कापालिक, शैव और कारुणिक सिद्धान्ती। यमुनाचार्यने अपने आगमप्रामाण्यमें उनके नाम शैव, पाशुपत, कापालिक और कालमुख दिये हैं। रामानुजके श्रीभाष्यमें भी ये ही नाम हैं।

पाशुपत मतमें पाँच पदार्थ हैं—दुःखान्त, कार्य, कारण, विधि और योग। इनका प्रवर्तक नकुलीश पाशुपत था। इन पाँच पदार्थोंको जानना जरूरी है। न्यायवैशेषिक दर्शनमें दुःखकी निवृत्तिका नाम दुःखान्त है, किन्तु पाशुपत दर्शनमें पारमैश्वर्यकी प्राप्ति भी सम्मिलित है। न्यायवैशेषिक दर्शन असत्कार्यवादी है, किन्तु इस दर्शनमें पशु आदि कार्य नित्य है। अन्य दर्शनोंमें सृष्टिके कारण प्रधान परमाणु वगैरह हैं जो परतन्त्र हैं, किन्तु इस दर्शनमें स्वतन्त्र शिव ही सृष्टिका मूल कारण है। अन्य दर्शनोंमें योग कैवल्य और अभ्युदयको देनेवाला है, किन्तु इस दर्शनमें परमदुःखकी अवधिका भानरूप योग है। अन्य दर्शनोंमें स्वर्गादि फलको देनेवाली विधि है, जहाँसे पुनरावर्तन होता है, किन्तु पाशुपत दर्शनमें पुनरावृत्ति नहीं करानेवाली किन्तु रुद्रसायुज्य करानेवाली विधि है।

तत्त्वज्ञानके पाँच लाभ हैं। इन लाभपंचक, मलपंचक, उपायपंचक, देशपंचक, विशुद्धिपंचक, अवस्थापंचक, दीक्षापंचक और बलपंचक, ये आठ पंचक जान लेनेसे पाशुपतोंके आचारप्रधान मार्गका बोध हो जाता है। मिथ्याज्ञान, पाप, विषयासक्तिरूप दोष, परमेश्वरपदकी विस्मृति, पशुत्व अर्थात् बद्ध जीवका स्वरूप ये मलपंचक हैं। इनकी पाँच शुद्धियाँ हैं जो इन पाँच मलोंकी निवृत्तिरूप है। पशुभावकी निवृत्तिवाली पाँच अवस्थाएँ हैं। उन अवस्थाओंमें ले जानेवाली पाँच दीक्षाएँ हैं। ये दीक्षा पाशुपत गुरु देते हैं। उक्त आठ पंचकोंसे युक्त शिवभक्त कैसे जीवननिर्वाह करता है यह ऊपर लिख आये हैं।

शैव धर्ममें तीन मूल चीज है—पति, पशु और पाश। पति स्वयं शिव है, और पशु जगत्के प्राणी है जो पाशसे बँधे हुए हैं। शिवमें बाँधने और मुक्त करनेकी शक्ति है। किन्तु अपने कर्मोंके फलको भोगे बिना पाशसे छुटकारा नहीं मिल सकता। जो अपने कर्मोंको नष्ट कर देते है उनकी मुक्तिके लिए शिव दयालु होकर आचार्यका पद ग्रहण करते हैं और उन्हें प्राथमिक दीक्षा देते हैं।

शैवधर्म

सोमदेवने शैवधर्मके दो मुख्य भेद बतलाये हैं—दक्षिणमार्ग और वाममार्ग। इनमें-से वाममार्ग शैवधर्मका विकृत रूप है, किन्तु दक्षिणमार्गको शैवधर्मका ठीक रूप कहा जा सकता है। इसके सिद्धान्तोंको बतलानेके लिए सोमदेवने तीन श्लोक उद्धृत किये हैं जो इस प्रकार हैं,

"प्रपञ्चरहितं शास्त्रं प्रपञ्चरहितो गुरुः।
प्रपञ्चरहितं ज्ञानं प्रपञ्चरहितः शिवः॥

शिवं शक्तिविनाशेन ये वाञ्छन्ति नराधमाः ।
ते भूमिरहिताद् बीजात् सन्तु नूनं फलोत्तमाः ॥"
—यशस्ति० भाग २ पृ० २५१

"अद्वैतान्न परं तत्त्वं न देवः शंकरात् परः ।
शैवशास्त्रात् परं नास्ति भुक्तिमुक्तिप्रदं वचः ॥" २१९ ॥
—सो० उपासका० ।

पहले श्लोकमें बतलाया है कि शास्त्र, गुरु, ज्ञान और शिव, ये सब प्रपंच अर्थात् सांसारिक पदार्थोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रखते। दूसरे श्लोकमें शिव और शक्तिके सम्बन्धपर जोर दिया गया है और बतलाया है कि शक्तिको स्वीकार किये बिना शिवको स्वीकार करना वैसा ही है जैसे बिना भूमिके बीजसे फलोत्पादन करना। तीसरे श्लोकमें बतलाया है कि अद्वैतसे श्रेष्ठ अन्य तत्त्व नहीं, शिवसे श्रेष्ठ दूसरा देव नहीं और शैव शास्त्रसे श्रेष्ठ भुक्ति और मुक्तिको देनेवाला अन्य शास्त्र नहीं है।

ये तीनों श्लोक शैव धर्मके अद्वैत मतके सिद्धान्तोंको बतलाते हैं। शिवपुराण (कैलास संहिता १०-१६६)में शैवमतके लिए 'अद्वैत शैववेद' शब्दका प्रयोग किया गया है और लिखा है कि वह द्वैतको सहन नहीं करता। एक अन्य शैव ग्रन्थमें[1] केवल अद्वैतको ही स्वीकार किया है और प्रपंच तथा संसारकी वास्तविकताको अस्वीकार किया है। स्वयं प्रकाशमान अद्वैत चेतने[2] और अचेतनके भेदको लिये हुए यह समस्त जगत् शिवमात्र ही है, शिवकी शक्तिसे ही उसकी रचना हुई है। शिवसे भिन्न कुछ भी नहीं है।

शिवकी शक्ति उसीकी इच्छाके अनुसार सृष्टिकी रचना करती है। उसी अनादि अनन्त शक्तिको माया कहते हैं, वही इस भौतिक विश्वका कारण है। जैसे प्रकाश[3] और अन्धकारका कोई सम्बन्ध नहीं, वैसे ही प्रपंच और शिवका भी कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु जैसे फेन[4] और लहरें समुद्रसे उत्पन्न होकर समुद्रमें ही लय हो जाती हैं वैसे ही यह जगत् भी शिवमें ही लीन हो जाता है।

प्रपंचरहित ज्ञान उस समाधिको[5] बतलाता है जिसमें भक्त अधिक समय तक संसारका पात्र नहीं रहता और शिवमें लीन हो जाता है, प्रपञ्चरहित गुरु तो शिव स्वयं[6] है। शिव और शक्तिका अभेद्य[7] सम्बन्ध भी शैव ग्रन्थोंमें बतलाया है और वह शैव धर्मका एक मौलिक सिद्धान्त है।

सोमदेवने 'वक्ता नैव सदाशिवः' (सो० उ० पृ० २१) आदि श्लोकके द्वारा इस बातका खण्डन किया है कि आगमिक ज्ञान शिवसे प्रकट हुआ है।

---

१. "एकः स भिद्यते भ्रान्त्या मायया न स्वरूपतः । तस्मादद्वैतमेवास्ति न प्रपञ्चो न संसृतिः ।"
—सूतसंहिता (ज्ञानयोगखण्ड २०-४) ।

२ "अतश्च संक्षेपमिमं शृणुध्वं जगत्समस्तं चिदचित्प्रभिन्नम् ।
स्वशक्तिक्लृप्तं शिवमात्रमेव न देवदेवात् पृथगस्ति किञ्चित् ॥"

३. "यथा प्रकाशतमसो सम्बन्धो नोपपद्यते । तद्वदेव न सम्बन्धः प्रपञ्चपरमात्मनोः ॥
छायातपौ यथा लोके परस्परविलक्षणौ । तद्वत् प्रपञ्चपुरुषौ विभिन्नौ परमार्थतः ॥"
—ईश्वरगीता २, १०-११ ।

४. "यथा फेनतरङ्गादि समुद्रादुत्थितं पुनः । समुद्रे लीयते तद्वज्जगन्मय्येव लीयते ॥"
—सूतसंहिता (ज्ञानयोग खण्ड २०-२०)

५. "यदा सर्वाणि भूतानि समाधिस्थो न पश्यति । एकीभूतः परेणासौ तदा भवति केवलः ॥"

६. "गुणातीतः परशिवो गुरुरूपं समाश्रितः ।"—शिवपुराण (विद्येश्वरसंहिता १६-८४)

७. "न शिवेन विना शक्तिः न शक्तिरहितः शिवः । उमाशंकरयोरैक्यं यः पश्यति स पश्यति ।"
—सूतसंहिता (यज्ञवैभव खण्ड १३-३०)

सोमदेवने उपासकाध्ययनके अन्तिम आश्वासमें शैव और तान्त्रिक मतोंके कुछ मूलभूत विचारोंका खण्डन किया है। वे हैं—ज्योति[1], बिन्दु, कला, नाद, कुण्डली और निर्बीजीकरण। 'ज्योति' शिवके गूढ़ नामोंमें-से है। संस्कृतमें 'ज्योति' शब्द नपुंसक लिंग है। एक ही शिव तत्त्वको[2] भी पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग शब्दोंके द्वारा कहा जाता है। यद्यपि शिवतत्त्व लिंगरहित है तथापि उसका कथन लिंगभेदसे किया जाता है। प्रणव अथवा 'ओं' को भी, जो शिवका वाचक है, ज्योति शब्दसे कहा जाता है।

कला शैव सिद्धान्तोंके छत्तीस मुख्य सिद्धान्तोंमें-से है। यह मनुष्यकी कर्तृत्व शक्तिको प्रकट करती है इसलिए इसे कला[3] कहते हैं दूसरे शब्दोंमें पशु अर्थात् पाशबद्ध प्राणीमें जो मर्यादित कर्तृत्व शक्ति है उसका मूल कारण कला है।

नाद और बिन्दु ये दो धारणाएँ हैं। इनका सदा एक साथ निर्देश किया जाता है। शिवपुराणमें लिखा है कि सृष्टिके आरम्भमें शिवकी इच्छासे शक्ति प्रकट होती है। और जब वह शक्ति शिवकी उत्पादक शक्तिके द्वारा उत्तेजित की जाती है तो नाद उत्पन्न होता है, उससे बिन्दु होता है, बिन्दुसे सदाशिव, सदाशिवसे महेश्वर और महेश्वरसे विद्या उत्पन्न होती है। शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और महेश्वर ये पाँच शुद्ध तत्त्व हैं। इन्हींमें नाद और बिन्दु भी गर्भित है।

कुण्डलिनी संचित शक्ति है जो प्रत्येक व्यक्तिमें स्वाभाविक रूपसे पायी जाती है, प्राथमिक अस्पष्ट ध्वनिसे लेकर साहित्यिक वाणी तक सब ध्वनियाँ उसीसे उत्पन्न होती हैं।

कुण्डलिनीके स्थानको मूलाधार कहते हैं। यह सुषुम्ना नाड़ीसे आवेष्टित है। कुण्डलिनीकी कल्पना कुण्डलीभूत सर्पकी तरह की जाती है, किन्तु राघवभट्टने शारदातिलक (१-५१) की टीकामें लिखा है कि मूलाधारमें कुण्डलीभूत सर्पकी तरह एक नाड़ी है और यह नाड़ी वायुके द्वारा प्रेरित होकर शरीरके सब भागोंमें भ्रमण करती है। वायुके द्वारा कुण्डलिनीके इस संचारको गुणन कहते हैं। 'कुण्डली वायुसंचरः' वाक्यका यही अभिप्राय है।

निर्बीजीकरण एक यौगिक प्रक्रिया है और उसका उद्देश्य है शरीरपर पूर्णाधिकार करना। सोमदेवने इन सबको व्यर्थ बतलाया है।

कुलाचार्य और त्रिकमत

सोमदेवने लिखा[4] है कि कुलाचार्यके मतानुसार समस्त पेय अपेय और भक्ष्य अभक्ष्य वगैरहका निःशंक चित्तसे सेवन करनेसे मुक्ति मिलती है। सोमदेवसे दो शताब्दी पश्चात् यशःपाल नामके जैन ग्रन्थकारने 'मोहराज पराजय[5]' नामका नाटक रचा था। उन्होंने भी कौलों अथवा कुलाचार्योंका यही मत दिया है। इस नाटकमें कौल कहता है कि "प्रतिदिन मांस खाना चाहिए और दिल खोलकर मद्य पीना चाहिए। मनकी गति अनिवार्य है। यह धर्म मैंने कहा है।" कर्पूरमंजरी नाटिका[6]में भी भैरवानन्दने कौलधर्मका यही स्वरूप बतलाया है

---

१. "ज्योतिर्बिन्दुः कला नादः कुण्डली वायुसंचरः।"

२. "एकमेव शिवतत्त्वं पुंल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग-नपुंसकलिङ्गशब्दैर्व्यवह्रियते। तदुक्तं बृंहण्याम्—
शिवो देवः शिवा देवी शिवं ज्योतिरिति त्रिधा। अलिङ्गमपि यत्तत्त्वं लिंगभेदेन कथ्यते।"
—तत्त्वप्रकाश टीका १-३।

३. "व्यञ्जयति कर्तृशक्तिं कलेति तेनेह कथिता सा।"—तत्त्वप्रकाश ६-६।

४. "सर्वेषु पेयापेयभक्ष्याभक्ष्यादिषु निःशङ्कचित्ताद्वृत्तात् इति कुलाचार्यकाः।"—सो० उपा०, पृ० २।

५. "खज्जइ मंसं अणुदिणु पिज्जइ मज्जं च मुक्क संकप्पं। अणिवारिय मणपसरो एसो धम्मो मए दिट्ठो॥" ४-२२।

६. "रण्डा चण्डा दिक्खिदा धम्मदारा मज्जं मंसं पिज्जए खज्जए आ।
भिक्खा भोज्जं चम्मखंडं च सेज्जा कोलो धम्मो कस्स णो भादि रम्मो॥"—कर्पू० पृ० २६।

और देवसेनके भावसंग्रहमें भी यही कहा है। सोमदेवने त्रिकमतको भी कुलाचार्यके समान ही बतलाया है। त्रिकमतके अनुसार मुखको मदिरासे सुवासित करके और मांससे हृदयको प्रसन्न करके, तथा बायीं ओर एक स्त्रीको बैठाकर मदिरासे शिवकी पूजा करे और स्वयं शिव-पार्वती बनकर योनिमुद्राका प्रदर्शन करे। यह तान्त्रिक पद्धतिका यथार्थ चित्रण है। कुलार्णवतन्त्र और कुलचूडामणितन्त्रमें ऐसा ही लिखा है। शराब और मांसका सेवन इस मतका उत्कृष्ट रूप है। अन्य स्त्रीके सम्बन्धमें कुलचूडामणितन्त्रमें लिखा है कि पूजक रात्रिके समय जब पूजाके लिए किसी स्त्रीके साथ बैठे तो वह स्त्री लाल वस्त्र धारण किये हो और बहुमूल्य स्वर्णालंकारोंसे सज्जित हो। वह स्त्री पूजकके बायीं ओर एक गद्दीपर बैठे और पूजक दोनों हाथोंसे वेष्टित करके उसका आलिंगन करे। यह बात स्मरणीय है कि बिना किसी भेदभावके किसी भी जातिकी स्त्रीकी पूजा तान्त्रिक पद्धतिका एक मुख्य लक्षण है। किन्तु धार्मिक विधिमें मद्य और मांसका सेवन तथा स्त्री सहवासकी स्वच्छन्दता अवश्य ही दुराचारकी ओर ले जाती है। अतः सोमदेवने कौलमतके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा है उसका आधार वही है जो उन्होंने अपने समयमें देखा और सुना होगा। कुलार्णवतन्त्र (अध्याय ९) में सोमदेवकी तरह लिखा है "कौलिकोंके[1] मतमें अपेय भी पेय, अभक्ष्य भी भक्ष्य और असेव्य भी सेव्य हो जाता है। तथा कौलिकोंके मतमें न कोई विधि है और न कोई निषेध है, न पुण्य है और न पाप है, न स्वर्ग है और न नरक है।" इसीसे सोमदेवने कौलिक मतकी आलोचना करते हुए लिखा[2] है कि यदि इस प्रकारकी स्वच्छन्द प्रवृत्तिसे मोक्ष प्राप्त हो सकता है तो कौलिकोंसे भी पहले ठगों और पापियोंको मोक्ष मिलना चाहिए।

यशस्तिलकके प्रथम आश्वासमें भी त्रिकमतका निर्देश है। टीकाकार श्रुतसागरने त्रिकमतका अर्थ शैव मत किया है। स्कन्दपुराण प्रभासखण्ड (अध्याय ११९) में कहा है कि जब प्रभास क्षेत्रकी महादेवीने बल और अतिबल नामक असुरोंकी सेनाका संहार किया तो बचे हुए असुरोंमें-से कुछ कौल हो गये और मांस, मदिरा तथा स्त्रीसेवनमें रत हो गये।

कापालिक

सोमदेवने अपने उपासकाचारके आरम्भमें लिखा है कि यदि कोई जैन मुनि किसी कापालिकसे छू जाये तो उसे स्नान करना चाहिए। यमुनाचार्यके आगमप्रामाण्य[3] (ई० १०५० के लगभग) में कापालिकोंकी छह मुद्राएँ (चिह्न) बतलायी हैं—'कर्णिका', 'कुण्डल', 'माला', 'शिखामणि', 'यज्ञोपवीत' और 'शरीरमें भस्म।' तथा दो उपमुद्राएँ बतलायी हैं—'कपाल' और 'खट्वांग।' तथा लिखा है कि जो इन छह मुद्राओंके तत्त्वको जानता है और परमुद्रामें विशारद होता है वह भगासनसे स्थित आत्माका ध्यान करके निर्वाणको प्राप्त करता है।

कृष्णमिश्रके प्रबोधचन्द्रोदय नाटकके तीसरे अंकसे भी कापालिकोंके सम्बन्धमें कुछ जानकारी प्राप्त होती है। उसमें जो कापालिक उपस्थित किया गया है, वह मनुष्यकी अस्थियोंकी माला पहने हुए है, श्मशान भूमिमें रहता है, खप्परका पात्र रखता है। अपने धर्मका वर्णन करते हुए वह कहता है कि नरमेध यज्ञके साथ शिवके महाभैरव रूपको पूजना चाहिए तथा खप्परसे मदिरापान करना चाहिए। और रुधिरसे महाभैरवीकी पूजा भी करनी चाहिए। जगत्‌के विषयमें वह कहता है कि आपसमें भिन्न होते हुए भी यह जगत् शिवसे भिन्न नहीं है। मुक्तिके विषयमें उसका कहना है कि केवल जीवकी स्थितिरूप मुक्ति तो पाषाणके तुल्य है। उसे कौन चाहेगा। बिना विषयके सुख नहीं देखा जाता। अतः मुक्त जीव शिवकी तरह

---

१. "अपेयमपि पेयं स्यादभक्ष्यं भक्ष्यमेव च। अगम्यमपि गम्यं स्यात् कौलिकानां कुलेश्वरि।"
"न विधिर्न निषेधः स्यान्न पुण्यं न च पातकम्। न स्वर्गो नैव नरकः कौलिकानां कुलेश्वरि॥"

२. सो० उ० श्लोक २४।

३. "तथाहुः—मुद्रिकाषट्कतत्त्वज्ञः परमुद्राविशारदः। भगासनस्थमात्मानं ध्यात्वा निर्वाणमृच्छति॥"
तथा—"कर्णिकारुचकं चैव कुण्डलं च शिखामणिम्। भस्मयज्ञोपवीतं च मुद्राषट्कं प्रचक्षते॥
कपालमथ खट्वाङ्गमुपमुद्रे प्रकीर्तिते। आभिर्मुद्रितदेहस्तु न भूय इह जायते।"

पार्वतीकी प्रतिरूप स्त्रीके साथ आनन्द करता है। कापालिकोंके इस सिद्धान्तको प्रबोधचन्द्रोदयमें महा-भैरवानुशासन, परमेश्वरसिद्धान्त आदि नामोंसे कहा है।

एक स्थानपर नाटकमें कापालिकको कुलाचार्य भी कहा है। इससे प्रकट होता है कि यद्यपि कापालिकों और कौलोंका मत जुदा-जुदा था तथापि उनके आचारमें समानता होनेसे कभी-कभी दोनोंको एक समझ लिया जाता था। दोनों ही आपत्तियोग्य आचारको पालते थे किन्तु कापालिक नरमेध भी करते थे।

आर० जी० भण्डारकरने लिखा[1] है कि पुलकेशी द्वितीयके भतीजे नागवर्धनका एक ताम्रपत्र मिला है जिसमें कपालेश्वरकी पूजाके लिए और मन्दिरमें रहनेवाले महाव्रतियोंके लिए नासिक जिलेके अन्तर्गत इगतपुरीके पासका एक गाँव दान देनेका उल्लेख है। इससे प्रकट है कि सातवीं शताब्दीके मध्यके लगभग महाराष्ट्रमें कापालिक सम्प्रदाय वर्तमान था। कवि भवभूतिके मालतीमाधव नाटकके प्रथम अंकसे प्रकट होता है कि उसके समयमें (आठवीं शताब्दी) कर्नूल जिलेका श्रीपर्वत कापालिकोंका केन्द्र था। वीर पाण्ड्यके समकालीन विक्रमकेशरीके एक दानपत्रमें मदुराके मल्लिकार्जुनको, जो कालमुख सम्प्रदायका साधु था, एक बड़ा मठ देनेका उल्लेख है। कालमुख भी कापालिकोंके ही भाईबन्द थे। त्रिविक्रम भट्टके नल[2] चम्पूमें, जो दसवीं शताब्दीके प्रारम्भकी रचना है, कालमुखोंको महाव्रतिकों अथवा कापालिकोंके अन्तर्गत बतलाया है।

सांख्य दर्शन

सोमदेवने अपने उपासकाध्ययनके प्रारम्भमें मोक्षके सम्बन्धमें अन्य दार्शनिकोंके मत उद्धृत करते हुए सांख्य दर्शनका भी मत दिया है। प्रथम तो यह बतलाया है कि प्रकृति और पुरुषके भेदज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति सांख्य दर्शनमें बतलायी है। आगे लिखा है कि बुद्धि, मन, अहंकारका अभाव होनेसे समस्त इन्द्रियोंके शान्त हो जानेसे द्रष्टाका अपने स्वरूपमें अवस्थित होना मोक्ष है।

सांख्यकी मोक्षविषयक उक्त मान्यताओंका सोमदेवने खण्डन किया है। सांख्य दर्शनमें मूल तत्त्व दो हैं, प्रकृति और पुरुष। प्रकृतिसे महान्, महान्से अहंकार, अहंकारसे पाँच तन्मात्राएँ—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक मन, तथा पाँच तन्मात्राओंसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पाँच भूत उत्पन्न होते हैं। इस तरह प्रकृतिके साथ उसके परिवारकी संख्या चौबीस हो जाती है और एक पुरुष मिलकर कुल संख्या पचीस हो जाती है। सांख्य दर्शनमें पुरुषको अकर्ता, निर्गुण, शुद्ध, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, अमूर्त, भोक्ता और चेतन माना है। अतः सोमदेवने सांख्यकी आलोचना करते हुए लिखा है कि जब प्रकृति और पुरुष दोनों ही नित्य और व्यापी हैं तब उनमें भेद कैसे किया जा सकता है।

सांख्य मुक्तावस्थामें ज्ञान नहीं मानता, केवल चैतन्य मानता है। अतः सोमदेव कहते हैं कि आत्मा तो स्वाभाविक अनन्त ज्ञानका भण्डार है। कर्ममलके नष्ट हो जानेपर वह केवल ज्ञानके द्वारा बाह्य पदार्थोंको जानता हुआ ही अपने स्वरूपमें स्थित रहता है।....आदि।

सोमदेवने यशस्तिलकके पाँचवें आश्वासमें भी (पृ० २५०) सांख्य मतका चित्रण किया है। उसमें एक श्लोक भी दिया है जिसका भाव यह है कि यतः मोक्ष तो प्रकृति और पुरुषके भेदज्ञानसे होता है अतः धार्मिक क्रियाएँ करना व्यर्थ है। इसलिए व्यक्तिको खाना पीना और मौज करना चाहिए।

एक विद्वान् पाठकको सांख्यदर्शनके सम्बन्धमें ऐसा कथन उपहासास्पद प्रतीत हो सकता है किन्तु सांख्यकारिकाकी टीका माठरवृत्तिमें एक श्लोक बिलकुल इसी आशयका पाया जाता है। श्लोक इस प्रकार है,

"हस पिब लल मोद नित्यं विषयानुपभुञ्ज कुरु च मा शङ्काम्।
यदि विदितं ते कपिलमतं तत्प्राप्स्यसे मोक्षसौख्यं च॥"

---

1. वैष्णविज्म, शैविज्म (पृ० १६८)।
2. "कलियुगशिवशासनस्थितिमिव महाव्रतिकान्तःपातिभिः कालमुखैर्वानरैः" –नलचम्पू उ० ६।

यह श्लोक सांख्य दर्शनके महान् आचार्य आसुरिके मुखसे कहलाया गया है, इसमें कहा है—हँस, खा-पी, खेल कूद और निःशंक होकर विषयोंको भोग। यदि तूने कपिल मतको जान लिया तो तुझे मोक्षका सुख भी मिल जायेगा।

देवसेनने अपने भावसंग्रहमें भी (गाथा १७९–१८०) सांख्यमतके विषयमें इसी तरहकी बातें कही हैं और उसे दयाधर्मसे रहित बतलाया है; किन्तु माठर वृत्तिमें इस बातको सिद्ध किया है कि वैदिक हिंसा पापका कारण है। हरिभद्रके षड्दर्शनसमुच्चयकी टीकामें गुणरत्न सूरिने भी लिखा है कि सांख्य वैदिक क्रियाकाण्डको नहीं मानता क्योंकि उसमें हिंसा होती है। किन्तु सोमदेवने बौद्धोंकी तरह सांख्योंको भी मांस-भक्षी कहा है। शायद इसीसे देवसेनने उन्हें जीवदयासे रहित कहा है।

बौद्ध दर्शन

सोमदेवने अपने उपासकाध्ययनमें मोक्षके सम्बन्धमें बौद्ध दर्शनके तीन मन्तव्योंको उपस्थित किया है। पहला मन्तव्य[1] यह है कि नैरात्म्य भावनाके अभ्याससे निर्वाण लाभ होता है। नैरात्म्यका अर्थ है आत्माका अभाव। बौद्धमतके अनुसार मनुष्य स्कन्धोंका एक सम्मिश्रण मात्र है। जैसे 'गाड़ी' शब्द धुर, पहिये तथा अन्य अवयवोंके संयोजनसे बनी एक वस्तुका वाचक मात्र है यदि हम उसके प्रत्येक अवयवकी परीक्षा करें तो हम इसी परिणामपर पहुँचते हैं कि गाड़ी स्वयं अपनेमें कोई एक वस्तु नहीं है। उसी तरहसे आत्मा भी स्कन्धोंका एक समुदाय मात्र है।

सोमदेवने यशस्तिलकके पाँचवें आश्वास (पृ० २५२) में भी बौद्ध सुगतकीर्तिके द्वारा नैरात्म्यवादका कथन कराया है। सुगतकीर्ति कहता है कि आत्माका आग्रह ही प्राणियोंके महामोहरूपी अन्धकारका कारण है। उसके द्वारा उद्धृत दो कारिकाएँ इस प्रकार हैं,

"यः पश्यत्यात्मानं तस्यात्मनि भवति शाश्वतः स्नेहः।
स्नेहात्सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते॥
आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ।
अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते॥"

जो मनुष्य आत्माको मानता है उसका आत्मामें शाश्वत स्नेह होता है। आत्मस्नेहसे सुखकी तृष्णा होती है, तृष्णा दोषोंकी उपेक्षा करती है। दूसरी बात यह है कि आत्माको माननेपर 'पर' यह संज्ञा होना अनिवार्य है और 'स्व' तथा 'पर'का भेद होनेसे राग और द्वेष होते हैं। ये दोनों ही सब दोषोंके मूल हैं।

मोक्षके सम्बन्धमें भी सुगतकीर्ति एक श्लोक उपस्थित करता है,

"यथा स्नेहक्षयाद्दीपः प्रशाम्यति निरन्वयः।
तथा क्लेशक्षयाज्जन्तुः प्रशाम्यति निरन्वयः॥"

जैसे तेलके समाप्त हो जानेपर दीपक शान्त हो जाता है और अपने पीछे कुछ भी नहीं छोड़ जाता, वैसे ही क्लेशोंका क्षय होनेपर यह मनुष्य भी निरन्वय शान्त हो जाता है।

सोमदेवने उपासकाध्ययनमें भी इसी आशयके अश्वघोषके सौन्दरनन्दकाव्यसे दो प्रसिद्ध श्लोक 'दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित्' आदि उद्धृत किये हैं।

प्राचीन बौद्ध ग्रन्थोंमें क्लेशक्षयको निर्वाण कहा है। मोह, राग और द्वेष क्लेश हैं। इन्हींके अन्तका नाम निर्वाण है। बौद्ध दृष्टिसे 'मुक्त होनेके बाद मुक्त हुए प्राणीका क्या होता है' यह प्रश्न अनावश्यक है। इस प्रकारके प्रश्नके उत्तरमें बुद्धने प्रश्न करनेवालेसे पूछा, "क्या तुम बता सकते हो बुझ जानेपर दीपककी

---

१. "नैरात्म्यादिनिवेदितसंभावनातो भावनातो इति दशबलशिष्याः"—सो० उपा०, पृ० २

को किस दिशामें चली जाती है ?" जैसे तेलके समाप्त हो जानेपर दीपक बुझ जाता है उसी तरह मुक्त प्राणी जिनके द्वारा कहा जाता वे सब भी उसके साथ ही समाप्त हो जाते हैं। पुनर्जन्म समाप्त हो जाता है और उसके साथ ही साथ सब कुछ समाप्त हो जाता है।

सोमदेवने बौद्धोंके इस निर्वाणके खण्डनमें कहा है कि जब आत्मा अनेक जन्म धारण करनेपर भी नष्ट नहीं होता तो वह मुक्ति अवस्थामें कैसे नष्ट हो जाता है ?

सोमदेवने बौद्धदर्शनकी एक अन्य मान्यता शून्यवादका भी निर्देश किया है। और उसके माननेवालों-को 'शाक्यविशेषाः' 'पश्यतोहराः' 'प्रकाशितशून्यतैकान्ततिमिराः', अर्थात् देखते हुए भी इस दृश्य जगत्की वस्तुओंको चुरा लेनेवाले और शून्यतैकान्तरूपी अन्धकारको प्रकाशित करनेवाले बौद्धविशेष कहा है। बौद्धदर्शन-का एक भेद माध्यमिक शून्यतावाद है। नागार्जुनकी माध्यमिक कारिका शून्यतावादी दर्शनका प्रमुख ग्रन्थ है। उसमें कहा है,

"यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा॥"

टीकाकार चन्द्रकीर्ति अपनी टीकामें लिखता है,

"योऽयं प्रतीत्यसमुत्पादो हेतुप्रत्ययानपेक्ष्याङ्कुरविज्ञानादीनां प्रादुर्भावः स स्वभावेनानुत्पादः। यश्च स्वभावेनानुत्पादो भावानां सा शून्यता।... एवं प्रतीत्यसमुत्पादशब्दस्य योऽर्थः स एव शून्यता-शब्दस्यार्थः न पुनरभाव शब्दस्य योऽर्थः शून्यताशब्दस्यार्थः।"

अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पादको ही शून्यता कहते हैं। हेतु और प्रत्ययकी अपेक्षासे जो अंकुरादि और विज्ञानादिकी उत्पत्ति होती है वह वास्तवमें अनुत्पत्ति है और पदार्थोंका स्वभावसे अनुत्पन्न होना ही शून्यता है। माया अथवा स्वप्न या गन्धर्वनगरकी तरह सभी लौकिक पदार्थोंका अस्तित्व केवल आपेक्षिक है, वास्तविक नहीं है। समस्त मनुष्योंकी बुद्धिरूपी आँखें अविद्यारूपी अन्धकारसे खराब हो गयी हैं अतः उन्हें लौकिक पदार्थोंका अस्तित्व प्रतीत होता है। वास्तवमें वे न अस्तिरूप हैं और न नास्तिरूप हैं। इसीसे इस दर्शनका नाम माध्यमिक दर्शन है इसमें अस्तित्व और नास्तित्वरूप दोनों दर्शनोंका प्रसंग नहीं है। कहा भी है,

"अस्तीति शाश्वतग्राहो नास्तीत्युच्छेददर्शनम्।
तस्मादस्तित्वनास्तित्वे नाश्रीयेत विचक्षणः॥"—माध्यमिक का० १५, १०।

शून्यतावादका खण्डन करते हुए सोमदेवने लिखा है कि शून्यतावादकी सिद्धि आप बिना प्रमाणके तो कर नहीं सकते। और जब आप यह प्रतिज्ञा करेंगे कि मैं प्रमाणसे शून्य तत्त्वको सिद्ध करता हूँ तब प्रमाणका अस्तित्व सिद्ध हो जानेसे सर्वशून्यवाद समाप्त हो जायेगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि नैरात्म्यवाद और शून्यवाद-जैसे वादोंने बौद्ध साधुओंको खान-पानकी ओरसे बिलकुल स्वच्छन्द बना दिया था। सोमदेवने अपने उपासकाध्ययनमें कहा[1] है कि श्रुति, बौद्ध और शैव आगम मद्य, मांस और मधुके सेवनके पक्षमें हैं। बौद्धोंके सम्बन्धमें खास तौरसे लिखा है कि वे खान-पानमें किसी तरहका कोई परहेज नहीं करते। उन्हें 'तरसासवशक्तधीः' कहा है।

जैनग्रन्थ भावसंग्रह (गा० ६८-६९) में भी बौद्धोंको मद्य-मांसका सेवी कहा है। योगशास्त्र (४-१०२) की टीकामें हेमचन्द्रने भी बौद्धोंके कदाचारकी आलोचना की है। जैन ग्रन्थकारोंने ही नहीं, किन्तु सोमदेवके समकालीन न्यायकुसुमांजलिकार[2] उदयनने भी यही बात लिखी है।

---

१. श्लोक १७४

२. "संभवन्ति चैते हेतवो बौद्धागमपरिग्रहे। तथाहि—भूयस्तत्र कर्मकाण्डमित्यलसाः।......भक्ष्याद्यनियम इति रागिणः।...सस्वटिका भोजनादिसिद्धेः अविवेक्यप्योग्याः"—। स्तबक २।

बौद्ध मान्यताओंसे परिचित जनोंसे यह बात अज्ञात नहीं है कि बुद्धके समयमें भी बौद्ध साधु मांस ग्रहण करते थे और उनके निमित्तसे गृहस्थ पशुको मारकर मांस तैयार करते थे। किन्तु अन्य तीर्थ्योंके द्वारा इस बातकी आलोचना किये जानेपर बुद्धने त्रिकोटिपरिशुद्ध मांसको ही भिक्षुओंके लिए ग्राह्य करार दिया था। त्रिकोटिपरिशुद्धका मतलब है, अनदेखा, अनसुना और निःसन्देह। जिस पशुको अपने निमित्तसे मारा जाता देखा हो, या जिस पशुके बारेमें यह कहा गया हो कि यह तुम्हारे लिए मारा गया है अथवा जिसके बारेमें यह सन्देह हो कि यह हमारे लिए मारा गया है, उस पशुका मांस खाना वर्जित है। बादको स्वयं मरे हुए पशुका और किसी शिकारी पशु-पक्षीके द्वारा मारे गये पशुका मांस भी ग्राह्य करार दिया गया। किन्तु हीनयान सम्प्रदायमें ही मांस ग्राह्य माना गया है। महायानमें मांसभक्षणका निषेध है।

जैमिनीय दर्शन

सोमदेवने लिखा[1] है कि जैमिनीयोंका कहना है कि कोयले और अंजन वगैरहकी तरह स्वभावसे ही कलुषित चित्त कभी विशुद्ध नहीं होता।

जैमिनिके अनुयायी जैमिनीय कहे जाते हैं। जैमिनिने बारह अध्यायोंमें कर्ममीमांसाकी रचना की थी। और बादरायणने चार अध्यायोंमें ब्रह्ममीमांसाकी रचना की थी। जैमिनिके अनुयायी मीमांसक कहे जाते हैं और उनकी कर्ममीमांसाको पूर्वमीमांसा कहते हैं। यज्ञ किस प्रकार करना चाहिए और वेदके अर्थका निर्णय करनेकी रीति क्या है? इन प्रश्नोंका निर्णय करनेके लिए मीमांसादर्शन उत्पन्न हुआ था। जैमिनिके सूत्रोंपर शबरस्वामीने शाबरभाष्य ई० सन् ४०० के लगभग रचा था। यह शाबरभाष्य मीमांसाशास्त्रका वर्तमान आद्य मूलप्रस्थान ग्रन्थ माना जाता है। शाबरभाष्यके द्वारा प्रस्थापित मीमांसादर्शनके दो मुख्य विचारक हुए हैं, एक प्रभाकर और दूसरे कुमारिल भट्ट। कुमारिलने शाबरभाष्यके प्रथम अध्यायके प्रथम पादके ऊपर श्लोकवार्तिककी रचना की थी। इसमें कुमारिलने[2] समन्तभद्रके द्वारा आप्तमीमांसामें प्रस्थापित आत्माकी सर्वज्ञताका खण्डन किया है। उसका उत्तर अकलंक[3] देवने तथा विद्यानन्दि और प्रभाचन्द्र आदिने दिया है।

मीमांसा दर्शनमें वेदप्रतिपादित यज्ञोंके करनेसे स्वर्गादि फलकी प्राप्ति मानी गयी है। मीमांसक ईश्वरवादी नहीं है। अतः वह जगत्के प्रवाहको अनादि मानता है और जीवात्माका सद्‌भाव भी मानता है। आत्मा चेतन, व्यापक, नित्य, स्वयंकर्तृत्व धर्मवाला है और कर्मके फलका भोक्ता है। धर्म अधर्मकी प्रवृत्तिका रुक जाना और शरीरसे भिन्न आत्माका अस्तित्व रहना ही मोक्ष है। मोक्षमें ज्ञान सुख आदि नहीं रहते। अतः मीमांसा दर्शन जैनोंकी तरह मुक्तिमें पूर्ण विशुद्धि नहीं मानता। इसीसे सोमदेवने उसकी समीक्षा करते हुए कहा है कि जहाँ स्वभावसे स्वभावान्तरकी उद्‌भूति हो सकती है वहाँ अपने योग्य कारणोंसे मलका क्षय भी किया जा सकता है जैसा कि मणि और मोतीमें देखा जाता है।

जैमिनिकी ओरसे जो यह कहा गया है कि जैसे कोयला घिसनेपर भी सफेद नहीं होता वैसे ही स्वभावसे मलिन आत्मा कभी निर्मल नहीं होता, इसका खण्डन करते हुए सोमदेवने यशस्तिलकके चौथे आश्वासमें लिखा है,

---

१. सो० उपा०, पृ० ३

२. "एवं यैः केवलं ज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः। सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम्" ॥१४१॥ –श्लो० वा० "नर्ते तदागमात् सिद्धेन्न च तेनागमो विना। दृष्टान्तोऽपि न तस्यान्यो नृषु कश्चित् प्रवर्तते" ॥ १४२ ॥–सो० उपा० श्लो० २८

३. "एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम्। नर्ते तदागमात् सिध्येन्न च तेन विनागमः ॥४१२॥ सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः। प्रभवः पौरुषेयोऽस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते" ॥४१३॥ –न्यायविनि० ३ परि०।

"घृष्यमाणाङ्गारवदन्तरङ्गस्य विशुद्ध्यभावे कथमिदमुदहारि कुमारिलेन—

विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे ।
श्रेयःप्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्धधारिणे ॥"

अर्थात् घिसे गये कोयलेकी तरह यदि अन्तरंगकी विशुद्धि नहीं होती तो कुमारिलने ऐसा क्यों कहा है कि मैं विशुद्धज्ञानरूपी शरीरधारी और तीन वेदरूपी दिव्य चक्षुओंसे सम्पन्न तथा श्रेयकी प्राप्तिमें निमित्त अर्धचन्द्रधारी शिवको नमस्कार करता हूँ ।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि कर्ममीमांसामें भी उत्तर कालमें सेश्वरवादकी छाया आ गयी थी । और नैयायिक वैशेषिकोंकी तरह मीमांसक भी शिवके भक्त बन गये थे ।

बार्हस्पत्य अथवा चार्वाक

सोमदेवने मोक्षके विरोधमें बार्हस्पत्योंका मत[1] दिया है कि जब परलोकी आत्माका अभाव होनेसे परलोकका ही अभाव है तब मोक्षकी चर्चा ही बेकार है । यशस्तिलकके चतुर्थ आश्वासमें सोमदेवने बार्हस्पत्योंका पक्ष लेकर बोलनेवाले चण्डककी 'प्रयुक्तलोकायतमतधर्मा' कहा है । सिद्धर्षिने अपनी उपमितिभवप्रपंचकथामें कहा[2] है कि बार्हस्पत्य लोग लोकायतपुरके निवासी थे । सिद्धर्षिने उनके मतको प्रमुख जैनेतर दर्शनोंमें लिया है । ई० [illegible]३के गंगनरेश मारसिहके कुडुलूर ताम्रपत्रमें एक जैनाचार्यको 'लोकायत लोकसम्मतमतिः' लिखा है । अतः यह निश्चित है कि दसवीं शताब्दीमें और उसके लगभग लोकायत एक प्रमुख मत था । इस मतके अनुयायी भारतीय दर्शन-साहित्यमें चार्वाकके नामसे प्रसिद्ध हैं । किन्तु इस दर्शनका कोई ग्रन्थ अभी तक प्रकाशमें नहीं आया है । एक बार्हस्पत्य सूत्र नामका ग्रन्थ कहा जाता है जो सम्भवतया अतिसंक्षिप्त है ।

तत्त्वोपप्लवसिंह चार्वाक दर्शनका एक अपूर्व ग्रन्थ है जो बड़ौदासे प्रकाशित हुआ है । इसका अनुमानित समय ईसाकी आठवीं शताब्दी है । इसमें 'पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा' यह वाक्य आया है । शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहकी कमलशीलरचित पंजिका (पृ०५२०) में 'पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति चत्वारि तत्त्वानि, तेभ्यश्चैतन्यमिति' इतना वाक्य उद्धृत है और आगे लिखा है कि कुछ वृत्तिकार 'उत्पद्यते तेभ्यश्चैतन्यम्' ऐसा कहते हैं और कुछ 'अभिव्यज्यते' ऐसा कहते हैं । विद्यानन्दिने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें (पृ० २८) 'पृथिव्य(व्या)पस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञाः तेभ्यश्चैतन्यम्' इस रूपमें उद्धृत किया है । प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ११६) में तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३४१-४२) में भी विद्यानन्दिकी तरह ही उद्धृत किया है । तथा आगे 'मदशक्तिवद् विज्ञानम्' इतना अंश और उद्धृत किया है । वादिराजने भी अपने न्यायविनिश्चयविवरण (भा० २ पृ० ९३) में, उक्त वाक्योंको खण्डशः अलग-अलग उद्धृत किया है; किन्तु इनमें-से किसीने भी इनको 'बृहस्पतिसूत्र' नहीं बतलाया । भास्करने ब्रह्मसूत्रभाष्य (३-३-५३)में उक्त सूत्रोंको बृहस्पतिके सूत्र बतलाते हुए इस प्रकार उद्धृत किया है,

"तथा बार्हस्पत्यानि सूत्राणि—पृथिव्यप्तेजो वायुरिति तत्त्वानि तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा तेभ्यश्चैतन्यं, किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानमिति ।"

अकलंकके सिद्धिविनिश्चयके टीकाकार अनन्तवीर्यने अपनी टीकामें (पृ० २७७) 'अथ तत्त्वोपप्लवकृद् आह—चार्वाकैश्चारुचर्चितं' आदि लिखकर अन्तमें लिखा है, 'परपर्यनुयोगपराणि बृहस्पतेः सूत्राणि' इति सूक्तं स्यात् ।' अतः बृहस्पतिके सूत्र और उसकी व्याख्याओंके पाये जानेका उल्लेख उक्त उद्धरणोंसे मिलता है ।

---

१. सो० उपा० पृ० ३ ।

२. "लोकायतमिति प्रोक्तं पुरमत्र तथा परम् । बार्हस्पत्याश्च ते लोका वास्तव्याः पुरेऽत्र भोः ।"

सोमदेवने जो 'परलोकिनोऽभावात् परलोकाभावः' लिखा है यह भी बृहस्पतिका एक सूत्र प्रतीत होता है। कमलशीलने अपनी पंजिकामें 'उक्तं तथाहि' से पूर्व लिखा है, 'तथाहि तस्यैतत् सूत्रं-परलोकिनोऽभावात् परलोकाभावः इति' तत्त्वोपप्लव (पृ० ५८), न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ३४३) और प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ११६) में भी यह उद्धृत है।

उक्त उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि बार्हस्पत्य अर्थात् बृहस्पतिके अनुयायी परलोकी आत्माको नहीं मानते थे अतः परलोकको भी नहीं मानते थे। पृथिवी, जल, अग्नि और वायु केवल चार तत्त्व मानते थे, उन्हींसे कोई चैतन्यकी उत्पत्ति मानते थे और कोई अभिव्यक्ति मानते थे। इस तरह व्याख्याकारोंमें मतभेद था।

अद्वैत ब्रह्मसिद्धिमें लिखा है कि लोकायत या चार्वाक केवल एक काम पुरुषार्थको ही मानते हैं और मृत्यु ही मोक्ष मानते हैं। सोमदेवने यशस्तिलकचम्पूके पाँचवें आश्वास (पृ० २५३)में नीचे लिखा एक प्रसिद्ध श्लोक उद्धृत किया है,

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् नास्ति मृत्योरगोचरः।
भस्मीभूतस्य शान्तस्य पुनरागमनं कुतः॥"

जबतक जियो सुखपूर्वक जियो। मृत्यु अवश्य होगी। अतः शरीरके भस्मीभूत हो जानेपर पुनरागमन कैसे हो सकता है।

उक्त आश्वासके ही पृ० २५७ पर सोमदेवने कई श्लोकोंके द्वारा चार्वाक मतका खण्डन किया है। उसमें-से एक श्लोक उपासकाचारमें भी दिया है,

"तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः।
भूतानन्वयनाज्जीवः प्रकृतिज्ञः सनातनः॥२९॥"

'उसी दिनके जन्मे हुए शिशुको माँका स्तन पीनेकी अभिलाषा देखी जाती है, राक्षस वगैरह देखे जाते हैं, पूर्वभवका स्मरण भी पाया जाता है तथा पृथिवी, जल, अग्नि और वायुका अन्वय जीवमें नहीं पाया जाता अर्थात् जीवमें ज्ञान, सुख, आदि गुण पाये जाते हैं जो पृथिवी वगैरहमें नहीं पाये जाते तथा पृथिवीमें धारण गुण, वायुमें प्रवाहित होनापना, अग्निमें दाहकपना और जलमें द्रवत्व गुण पाये जाते है जो जीवमें नहीं पाये जाते, अतः इस प्रकृतिका ज्ञाता जीव सनातन है।

आगे और भी लिखा है कि जैसे पृथिवी आदि अनादि-अनिधन हैं वैसे ही आत्मा भी अनादि-अनिधन है। चूँकि पृथिवी आदि भूतोंसे बने शरीरमें चेतन आत्मा व्यक्त होता है इसलिए यदि उसे तुम भूतोंका कार्य मानते हो तो जलसे मोती, काष्ठसे अग्नि, चन्द्रकान्तमणिसे जल, और पंखेसे वायु उत्पन्न होती है उनको भी जलादिका कार्य मानना चाहिए और ऐसा माननेपर तत्त्वोंकी संख्या चार नहीं बन सकती। इस तरह सोमदेवने पाँचवें आश्वासमें चार्वाकमतकी सयुक्तिक समीक्षा की है।

वेदान्त अथवा ब्रह्माद्वैत

सोमदेवने उपासकाध्ययनके प्रथम आश्वासमें वेदान्तवादियों और ब्रह्माद्वैतवादियोंका नामोल्लेखपूर्वक मत दिया है। साथ ही 'शाक्यः शंकरानुकृतागमः' लिखा है जिसका मतलब है कि शंकरने बौद्ध आगमका अनुसरण किया। इससे प्रतीत होता है सोमदेवके समयमें शंकराचार्यका अद्वैतवाद प्रवर्तित था। और उस समय भी यह प्रवाद फैला हुआ था कि शंकराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध था। यह भी प्रकट होता है कि सोमदेव शंकरमतके ग्रन्थोंसे सुपरिचित थे। उन्होंने लिखा है,

"यथा घट विघटने घटाकाशमाकाशी भवति तथा देहोच्छेदात्सर्वः प्राणी परे ब्रह्मणि लीयते इति ब्रह्माद्वैतवादिनः।" पृ० ४

शंकराचार्यके सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रहमें इसी आशयका एक श्लोक है,

"घटाभावे घटाकाशो महाकाशो यथा तथा।
उपाध्यभावे त्वात्मैव स्वयं ब्रह्मैव केवलम् ॥" ६९५ ॥

वेदान्ती लोग परम ब्रह्मके दर्शनसे समस्त भेदबुद्धिको उत्पन्न करनेवाली अविद्याके विनाशको मोक्षका कारण बतलाते हैं ऐसा सोमदेवने लिखा है। सो ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्यके चतुर्थ अध्यायमें निर्गुण परम ब्रह्मके साक्षात्कारसे मोक्षकी प्राप्ति बतलायी है। शंकराचार्यका मत है,

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः"

ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्मरूप है उससे भिन्न नहीं है। जगत्को मिथ्या प्रमाणित करनेके लिए शंकराचार्यने जो मायावादका सिद्धान्त स्वीकार किया उसे बौद्धोंके शून्यवाद और विज्ञानवादकी देन कहा जाता है। शंकराचार्यने ब्राह्मण धर्मकी प्रस्थानत्रयीसे जो तात्पर्य निकाला उसको प्रमाणित करनेके लिए उक्त सिद्धान्तका आश्रय लिया। इस तरह बौद्धोंके शास्त्रके द्वारा उन्होंने श्रुतिप्रतिपादित धर्मका संरक्षण किया इसीसे उनके ऊपर प्रच्छन्न बौद्ध होनेका आरोप किया जाता है।

उक्त सिद्धान्तकी आलोचना करते हुए सोमदेवने लिखा है कि यदि दृश्यमान जगत्का यह भेद अविद्याजन्य है तो जन्म, मरण सुख आदि विवर्तोंके द्वारा जो जगत्में वैचित्र्य दिखायी देता है वह कैसे है।

तथा यदि केवल ब्रह्म ही है और कुछ भी नहीं है तो वह निस्तरंग क्यों नहीं है सांसारिक भेद-प्रभेद क्यों दृष्टि गोचर होते हैं। जैसे घटावरुद्ध आकाश आकाशमें मिल जाता है वैसे ही यह जगत् ब्रह्ममें क्यों नहीं मिल जाता। वेदान्तियोंका मत है कि ब्रह्म एक है यद्यपि वह प्रत्येक व्यक्तिमें अलग-अलग दृष्टि-गोचर होता है जैसे चन्द्रमा एक होनेपर भी पानीमें अनेक दृष्टिगोचर होता है। सोमदेवका कहना है कि चन्द्रमा आकाशमें एक दिखायी देता है और जलमें अनेक दिखायी देता है, उस तरह ब्रह्म व्यक्तियोंसे भिन्न कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

[७] कतिपय आनुषंगिक प्रसंग

सांस्कृतिक आदान-प्रदान

सोमदेवने अपने उपासकाध्ययनमें दर्शन और धर्मकी चर्चा करनेके साथ प्रसंगवश कुछ ऐसी बातोंका भी कथन किया है जिनका समाज-व्यवस्थासे गहरा सम्बन्ध है और जिससे सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्योंके परस्पर आदान-प्रदानका पता चलता है। वास्तविकता यह है कि श्रावक गृहस्थ होनेके कारण समाजके मध्यमें रहता है। अतः उसे वैयक्तिक धर्मके साथ सामाजिकताको भी निभाना होता है। समाजमें सभी प्रकारके आदमी होते हैं। उन सबका भी निर्वाह करना होता है। इसके सिवा जैनधर्मके अनुयायियोंकी समाजको बहुसंख्यक अन्यधर्मावलम्बी समाजके भी सम्पर्कमें रहना होता है; अतः उसके साथ भी निर्वाह करना आवश्यक होता है। और विभिन्न समाजोंके परस्पर सम्पर्कमें आनेपर एकका दूसरेपर प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक है अतः समाज और धर्मके चिन्तकोंको इन सब बातोंपर दृष्टि रखकर कभी-कभी धर्म और समाज-व्यवस्थाके व्यावहारिक सिद्धान्तोंमें भी परिवर्तन और परिवर्धन करना पड़ जाता है, क्योंकि ऐसा किये बिना धर्म और समाजकी सुरक्षा सम्भव नहीं होती।

समन्तभद्र स्वामीने लिखा है कि धार्मिकोंके बिना धर्मकी कोई स्थिति नहीं है।[1] धार्मिकोंकी परम्पराके सुरक्षित रहनेसे ही धर्मकी परम्परा सुरक्षित रह सकती है। अत एव धर्मकी परम्पराको सुरक्षित रखनेके लिए धार्मिकोंकी परम्पराको सुरक्षित रखना आवश्यक है, और धार्मिकोंकी परम्पराको सुरक्षित रखनेके लिए

---

१. 'न धर्मो धार्मिकैर्विना'—रत्न० श्रा०।

तत्कालीन स्थितिको देखकर एक ओर धार्मिकोंको अन्य समाजोंके प्रभावसे बचाना आवश्यक है दूसरी ओर कुछ ऐसे लौकिक तत्त्वोंको भी अपनेमें समाविष्ट कर लेना आवश्यक होता है जो धर्म-सम्मत नहीं होते, किन्तु जिनका लौकिक स्थितिपर विशेष प्रभाव पड़ता देखा जाता है और जिनके बिना बहुसंख्यक समाजके मध्यमें रहना कठिन होता है। यदि समर्थ जैनाचार्योंने, जिनमें जिनसेनका नाम प्रमुख है, ऐसा न किया होता तो भारतमें गुप्त साम्राज्य कालमें बढ़ते हुए ब्राह्मण धर्मके प्रवाहवश बौद्धधर्मकी तरह सम्भवतया जैनधर्मके भी पैर भारतसे उखड़ जाते। ऐसे कठिन समयमें प्रवाहके वेगसे सुपरिचित धर्महितचिन्तकोंने अपने मूलतत्त्वोंको पकड़े रहकर ब्राह्मण धर्मकी उन सामाजिक आचारविषयक प्रवृत्तियोंको अपनाना उचित समझा जिनको अपनाने से अपने धर्मको भी क्षति नहीं पहुँचती थी और आया हुआ संकट भी टल जाता था। सोमदेवके उपासकाध्ययनमें ऐसे अनेक प्रसंग हैं और उनसे समाधान भी।

चौंतीसवे कल्पमें सामायिक शिक्षाव्रतका वर्णन करते हुए सोमदेवने देवपूजाके प्रसंगसे गृहस्थोंके लिए जो विधियाँ बतलायी हैं उनमें कुछ ऐसी विधियाँ भी हैं जो ब्राह्मणधर्मसे सम्बद्ध हैं। जैसे बाहरसे आकर आचमन किये बिना घरमें प्रवेश करनेका निषेध[1] और भोजनकी विशुद्धिके लिए होम और भूतबलिका विधान[2] इत्यादि। इतना होने पर भी इसीके साथ सोमदेवने यह भी लिख दिया है कि इनके करनेसे धर्म नहीं होता और न करनेसे अधर्म भी नहीं।[3]

स्मृति ग्रन्थोंमें भोजनसे पहले होम और बलिका विधान है। भोज्य अन्नको अग्निमें क्षेपण करनेका नाम होम है और भोजनसे पहले ग्रास निकालकर उसे देवता वगैरहके उद्देशसे देना बलि है। इनको वैश्वदेव कहते हैं। वैश्वदेवके बिना भोजन करनेसे हिन्दू स्मृतिकारोंके अनुसार नरकमें जाना पड़ता है।[4] इसी तरह आचमनका विधान भी स्मृतियोंमें वर्णित है (मनु० २-६०)।

सोमदेवने स्पष्ट शब्दोंमें लिखा है कि गृहस्थके दो धर्म होते हैं एक लौकिक और दूसरा पारलौकिक। लौकिक धर्म लोकानुसार चलता है और पारलौकिक धर्म आगमानुसार[5]।

किस लौकिक विधिको अपनाया जाये और किसको न अपनाया जाये इसके निर्णयके लिए सोमदेवजीने यह कसौटी बतायी है कि 'जिससे[6] सम्यक्त्वकी हानि न होवे और व्रतोंमें दूषण न लगे वह लौकिक विधि सभी जैनोंके लिए मान्य है।'

सोमदेवकी बतायी इस कसौटीपर प्रत्येक लौकिक विधिको कसनेकी क्षमता श्रावकमें होनी चाहिए। ऐसे प्रसंगोंसे अनर्थकी पूरी सम्भावना रहती है। रूढ़िचुस्त लोग लौकिक विधिको भी धर्मका ही अंग समझ बैठते हैं। और इस प्रकारके शास्त्रवचन प्रमाण रूपमें उपस्थित किये जाने लगते हैं।

वर्ण व्यवस्था

जैन साहित्यमें वर्णव्यवस्थाका वर्णन आता है, किन्तु वह स्मृति-ग्रन्थोंमें प्रतिपादित वर्णनसे भिन्न है। मनुस्मृति आदिमें जो ब्राह्मण वर्णकी सर्वोत्कृष्टता स्थापित की गयी है सभी जैनाचार्योंने उसका एक स्वरसे विरोध किया है तथा वर्णव्यवस्थामें कर्मको प्रधानता दी है। वरांगचरितमें (७वीं शती अनुमानित) जटासिंहनन्दिने लिखा है,

दया, रक्षा, कृषि और शिल्पके कर्मके भेदसे शिष्टपुरुष चार वर्ण कहते हैं, अन्य प्रकारसे चार वर्ण नहीं हो सकते[7]।

---

१. श्लो० ४७१। २. श्लो० ४७४। ३. "एतद्विधिर्न धर्माय नाधर्माय तदक्रियाः।" ४. 'अकृत्वा वैश्वदेवं तु यो भुंक्तेऽनापदि द्विजः। स मूढो नरकं याति।" स्मृतिचन्द्रिका पृ० २१३ में उद्धृत। ५. सो० उपा० श्लो० ४७६। ६. वही, श्लो० ४८०।

७. क्रिया विशेषाद् व्यवहारमात्राद्दयाभिरक्षाकृषिशिल्पभेदात्।
शिष्टाश्च वर्णांश्चतुरो वदन्ति न चान्यथा वर्णचतुष्टयं स्यात् ॥११॥ —२५वाँ सर्ग,

न यहाँ कोई ब्राह्मण जाति है, न कोई क्षत्रिय जाति है और न वैश्य और शूद्र जातियाँ हैं। अभागा जीव कर्मोंके वशीभूत होकर संसार-चक्रमें भ्रमण करता है[1]।

विद्या आचार आदि सुन्दर गुणोंसे जो रहित है वह ब्राह्मण कुलमें जन्म लेने मात्रसे ब्राह्मण नहीं हो सकता। जो ज्ञानशील और गुणसे युक्त है उसे ही ज्ञानी पुरुष ब्राह्मण कहते हैं।[2]

आचार्य जिनसेन (नवमी शती)के महापुराणके सोलहवें पर्वमें लिखा है, प्रजा भगवान् ऋषभदेवके पास आजीविकाका उपाय पूछनेके लिए गयी थी, प्रजाकी प्रार्थना सुनकर भगवान्ने विचार किया कि विदेहोंमें जिस प्रकारका षट्कर्म है और जैसी वर्णोंकी स्थिति है वैसी ही व्यवस्था यहाँ भी होनी चाहिए, तभी प्रजा जीवित रह सकती है। इसलिए उन्होंने पीड़ितोंकी रक्षा करना आदि गुणोंके आधारपर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तीन वर्णोंकी स्थापना की। बादको उनके पुत्र सम्राट् भरतने इन्हीं तीन वर्णोंके मनुष्योंमें-से ब्राह्मण वर्णकी स्थापना की और उसको गर्भान्वय क्रिया आदिका उपदेश दिया।[3]

कुछ विद्वान् इसे मनुस्मृतिका प्रभाव बतलाते हैं क्योंकि जैन परम्परामें महापुराणसे पूर्व किसी ग्रन्थमें ये क्रियाएँ वर्णित नहीं हैं और न सोलह संस्कारोंकी ही चर्चा है। मेरी दृष्टिसे यह मनुस्मृतिका प्रभाव नहीं है, किन्तु प्रतिक्रिया है। मनुस्मृतिने जो ब्राह्मण वर्णको सर्वोच्च पद प्रदान करके शेष वर्णोंको तिरस्कृत किया, भगवज्जिनसेनने उसका समुचित उत्तर दिया है। इस उत्तरमें दो बातें हैं एक ओर तो उन्होंने ब्राह्मणत्व जातिके अहंकारपर करारी चोटें दी हैं, दूसरी ओर उन बातोंको अपनाया भी है जिनके कारण ब्राह्मणत्वकी प्रतिष्ठा थी। ऐसा किये बिना वे ब्राह्मणोंके बढ़ते हुए प्रभावके सामने अपने धर्मकी सुरक्षा नहीं कर सकते थे। एक बार मनुस्मृतिको पढ़नेके बाद महापुराणके ३८-३९ पर्वोंको पढ़नेसे यह बात स्पष्ट समझमें आ जाती है।

वर्णकी तरह जैनाचार्योंने जातिको भी महत्त्व नहीं दिया प्रत्युत गुणोंको ही महत्त्व दिया है। समन्तभद्राचार्यने कहा है, जिसका आन्तरिक ओज भस्मसे ढका हुआ है उस अंगारकी तरह सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न चाण्डालको भी जिनदेव देव मानते हैं।[4]

पद्मपुराणमें रविषेणाचार्यने लिखा है, कोई जाति निन्द्य नहीं है, गुण ही कल्याण करनेवाले हैं। गणधरदेव व्रती चाण्डालको भी ब्राह्मण कहते हैं।[5]

सोमदेवने ब्राह्मणधर्मकी क्रियाओंका तो खूब विरोध किया है, किन्तु ब्राह्मणजातिपर कोई आक्रमण नहीं किया। उन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णोंको रत्नकी तरह जन्मसे ही विशुद्ध माना है और इन तीनोंको ही जिनदीक्षाका अधिकारी बतलाया है। शूद्रको भी उन्होंने एकदम भुला नहीं दिया है, उसे भी यथायोग्य धर्मसेवनका अधिकारी माना है। लिखा है, दीक्षाके योग्य तीन ही वर्ण हैं, किन्तु

---

१. "न ब्रह्मजातिस्त्विह काचिदस्ति न क्षत्रियो नापि च वैश्यशूद्रे।
ततस्तु कर्मानुवशा हितात्मा संसारचक्रे परिबंभ्रमीति ॥४१॥"

२. "विद्याक्रियाचारुगुणैः प्रहीणो न जातिमात्रेण भवेत् स विप्रः।
ज्ञानेन शीलेन गुणेन युक्तं तं ब्राह्मणं ब्रह्मविदो वदन्ति ॥४३॥"

३. "उत्पादितास्त्रयो वर्णाः तदा तेनादिवेधसा।
क्षत्रिया वणिजः शूद्राः क्षतत्राणादिभिर्गुणैः ॥१८३॥"

४. "सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥२८॥"—रत्नकरण्डश्रा०।

५. "न जातिर्गर्हिता काचित् गुणाः कल्याणकारणम्।
व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥२०३॥"—पर्व ११ ॥

आहारदानके योग्य चारों वर्ण हैं। सभी प्राणी मानसिक वाचनिक और कायिक धर्मके लिए सम्मत हैं।[1]

इसमें शूद्रको आहारदान देनेके योग्य बतलाया है। शूद्रसे यहाँ सत् शूद्र ही लेना चाहिए। सोमदेवने नीतिवाक्यामृतमें इसको स्पष्ट किया है। सत् शूद्रका लक्षण करते हुए लिखा है, जिनमें एक बार ही विवाह होता है उन्हें सच्छूद्र कहते हैं। आचारविशुद्धि, घर पात्र आदिकी निर्मलता और शारीरिक विशुद्धिसे शूद्र भी देव, द्विज और तपस्वी जनोंकी सेवा करनेयोग्य होता है।[2]

सोमदेवके आधारपर ही आशाधरने अपने अनगारधर्मामृतकी टीकामें चौथे अध्यायमें एषणासमितिका व्याख्यान करते हुए[3] सच्छूद्रको मुनिदानका पात्र बतलाया है।

स्पष्ट है कि सत् शूद्र मुनिदीक्षाका अधिकारी न होते हुए भी मुनिको दान देनेका तो पात्र है ही। और जो मुनिको दान दे सकता है वह जिनपूजा भी कर ही सकता है। सागारधर्मामृतमें भी शूद्रको धर्म धारण करनेका अधिकारी बतलाया है।[4]

साधर्मी व्यवहार

सोमदेव सूरिने साधर्मी व्यवहारपर भी यत्र तत्र अनेक बहुमूल्य बातें कही हैं। मूढतोन्मथन नामक चतुर्थ कल्पमें ब्राह्मणधर्ममें प्रचलित मूढताओंको बतलाते हुए अन्तमें उन्होंने कहा है कि यदि इन मूढताओंको कोई पूरी तरहसे न छोड़ सकता हो तो उसे एकदम जैन धर्मबाह्य मिथ्यादृष्टि नहीं मान लेना चाहिए, किन्तु सम्यग्-मिथ्यादृष्टि समझना चाहिए; क्योंकि सर्वनाश सुन्दर नहीं है।[5] सूर्यको अर्घ देना, ग्रहणमें स्नान करना, संक्रान्तिमें दान देना, अग्नि पूजना, श्राद्ध तर्पण आदि करना, धर्म मानकर नदी स्नान करना, वृक्ष वगैरहको पूजना, रत्न, सवारी, यक्ष, शस्त्र आदिको पूजना आदि जैन दृष्टिसे मूढताएँ हैं। सामाजिक प्रभाववश इनमें-से कोई-कोई मूढता जैन गृहस्थ भी कहीं-कहीं अज्ञानवश पालते जाते हैं। ऐसे लोगोंको केवल इतने मात्रसे अजैन नहीं मान लेना चाहिए, किन्तु उनकी उस मूढताको छुड़ानेका ही प्रयत्न करना चाहिए।

सम्यग्दर्शनके उपगूहन अंगका वर्णन करते हुए सोमदेवने कहा है कि जैसे माता अपनी सन्तानके अपराधको छिपा लेती है वैसे ही दैववश या प्रमादवश बन गये साधर्मीके अपराधको भी ढकना चाहिए। अशक्तकी गलतीसे धर्म मलिन नहीं होता, किन्तु यदि कोई एक बार गलती करके क्षमा कर दिये जानेपर पुनः वही-वही गलती करे तो ऐसे जान-बूझकर गलती करनेवालेको क्षमादान देना युक्त नहीं। ऐसा करनेसे मार्ग बिगड़ता है।

धर्म और समाजकी रक्षाके लिए एक आवश्यक कार्य है साधर्मी भाइयोंकी मदद करना, उनके कष्टोंको दूर करना और दूसरा आवश्यक कार्य है नये लोगोंको धर्ममें दीक्षित करना। सोमदेवने इन दोनोंकी ओर श्रावकोंका ध्यान आकृष्ट किया है। उनका कहना है कि जो लोग सदाशय नहीं हैं उन्हें जैन धर्मकी ओर लानेकी प्रेरणा नहीं करनी चाहिए, किन्तु जो स्वतः उस ओर आना चाहे तो उसके योग्य उसे साहाय्य कर देना चाहिए।[6]

---

१. सो० उपा० श्लो० ७५१।

२. "सकृत् परिणयनव्यवहाराः सच्छूद्राः ॥११॥ आचारानवद्यत्वं शुचिरुपस्करः शारीरी च विशुद्धिः करोति शूद्रमपि देवद्विजतपस्विपरिकर्मसु योग्यम् ॥"१२॥—नीतिवाक्यामृत (त्रयीसमुद्देश)।

३. "दत्तं विस्तीर्णं। कैः ? अन्यैः—ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यसच्छूद्रैः।"

४. "शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपुः शुद्ध्याऽस्तु तादृशः।"
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक् ॥"२२॥—सागारधर्मामृत अ० २।

५. सो० उपा० श्लो० १४४।

६. वही श्लो० १४५।

जिनके निर्वाहमें सन्देह है ऐसे नये मनुष्योंसे भी संघको बढ़ाना चाहिए। धर्मका काम अनेक मनुष्योंसे चलता है अतः समझा-बुझाकर जो जिस कामके योग्य हो उसे उसमें लगा देना चाहिए। उपेक्षा करनेसे मनुष्य धर्मसे दूर हो जाता है। ऐसा होनेसे एक ओर तो धर्मकी हानि होती है, दूसरी ओर उस मनुष्यका संसार दीर्घ हो जाता है।[1]

सोमदेवने आगे लिखा है कि यह जिनेन्द्रदेवका धर्म अनेक प्रकारके मनुष्योंसे व्याप्त है। जैसे मकान एक स्तम्भपर नहीं ठहर सकता वैसे ही यह धर्म भी एक व्यक्तिपर स्थिर नहीं रह सकता।

उन अनेक प्रकारके मनुष्योंमें सर्वप्रथम तो धर्मका पालन करनेवाले श्रावक और साधु होते हैं। दूसरे, ऐसे विद्वानोंकी भी परम्परा बनाये रखनेकी आवश्यकता है जो ज्योतिष, मन्त्र और पूजा प्रतिष्ठा करानेमें दक्ष हों; क्योंकि उनके अभावमें धार्मिक दीक्षा यात्रा प्रतिष्ठा आदि क्रियाएँ नहीं हो सकतीं। यदि उनके लिए दूसरे धर्मके अनुयायीकी मदद ली जायेगी तो धर्मकी उन्नति नहीं हो सकती, धर्मके विषयमें पराश्रित रहनेसे तो धर्मको हँसी ही होती है। अतः इन सबका संरक्षण करना आवश्यक है।[2]

व्रती और साधुओंकी स्थिति

चौवालीसवें कल्पमें सोमदेव सूरिने प्रव्रजित व्यक्तियोंके लिए व्यवहृत होनेवाले अनेक शब्द तथा उनकी निरुक्तियाँ की है। वे शब्द हैं—जितेन्द्रिय, क्षपण, श्रमण, आशाम्बर, नग्न, ऋषि, मुनि, यति, अनगार, शुचि, निर्मम, मुमुक्षु, शंसितव्रत, वाचंयम, अनूचान, अनाश्वान्, योगी, पंचाग्निसाधक, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, शिखाच्छेदि, परमहंस, तपस्वी, अतिथि, दीक्षितात्मा, श्रोत्रिय, होता, यष्टा, अध्वर्यु, वेद, त्रयी, ब्राह्मण, शैव, बौद्ध, सांख्य और द्विज। इनमें-से शंसितव्रत आदि शब्द वैदिक परम्परामें व्यवहृत होते हैं। सोमदेवने उनकी वैदिक व्याख्याओंका निरसन करके जैनधर्मानुकूल निरुक्तियाँ की हैं।

यहाँ यह लिखना अप्रासंगिक न होगा कि सोमदेव सूरिका नीतिवाक्यामृत प्रायः वैदिक श्रुति स्मृतियोंसे प्रभावित है। जब उसका माणिकचन्द ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रथम बार प्रकाशन हुआ तो उसके सम्पादक पं० पन्नालालजी सोनीने कई सूत्रोंके सम्बन्धमें पाद-टिप्पणमें यह आशय व्यक्त किया कि टीकाकारने स्वयं ही सूत्र गढ़कर मूलमें शामिल कर दिये हैं। श्री नाथूरामजी प्रेमीने अपनी भूमिकामें सोनीजीके उक्त पाद-टिप्पणोंपर आपत्ति की, किन्तु 'एक विचारणीय प्रश्न'के अन्तर्गत यह भी लिखा कि "इस ग्रन्थका वर्णाचार और आश्रमाचारकी व्यवस्थाके लिए वैदिक साहित्यकी ओर बहुत अधिक झुकाव है। इस ग्रन्थके विद्यावृद्ध, आन्वीक्षिकी और त्रयी समुद्देशोंको पढ़नेसे पाठक हमारे अभिप्रायको अच्छी तरह समझ जायेंगे।" साथ ही प्रेमीजीने जैनधर्मके मर्मज्ञ विद्वानोंसे इस प्रश्नका विचारपूर्वक समाधान भी चाहा कि एक जैनाचार्यकी कृतिमें आन्वीक्षिकी और त्रयीको इतनी अधिक प्रधानता क्यों दी गयी। और उपासकाध्ययनके कुछ श्लोकोंके प्रकाशमें यह भी सम्भावना व्यक्त की कि "कहीं सोमदेव सूरि वर्णाश्रम-व्यवस्था और तत्सम्बन्धी वैदिक साहित्यको लौकिक धर्म तो नहीं मानते थे।"

नीतिवाक्यामृतके त्रयी समुद्देशमें चार वेद, छह वेदांग, इतिहास, पुराण, मीमांसा, न्याय और धर्मशास्त्रको त्रयी कहा है और त्रयीसे वर्णाश्रमोंकी धर्माधर्म व्यवस्था बतलायी है। यह पूरा कथन वैदिक परम्पराके अनुसार है; किन्तु उपासकाध्ययनमें त्रयीकी निरुक्ति करते हुए लिखा है कि जन्म, जरा और मरण यह त्रयी संसारका कारण है। इस त्रयीका जिस त्रयी (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) से विनाश होता है वही त्रयी है। इसी तरह वेदकी निरुक्तिमें कहा है—"जो देह और जीवके भेदको जानता है वही वेद है। जो सब जीवोंके विनाशका कारण है वह वेद नहीं है।"

नीतिवाक्यामृत (विद्यावृद्ध समु० २२ सू०)में स्त्रीके साथ या स्त्रीके बिना वनमें रहनेवाले त्यागीको

---

१. सो० उपा० श्लो० १९२-१९४। २. वही, श्लो० ८१०-८११।

वानप्रस्थ कहा है। उपासकाध्ययनमें कुटुम्बके साथ वनमें रहनेवालेको वानप्रस्थ माननेका निषेध करते हुए सच्चे ब्रह्मचारीको ही वानप्रस्थ कहा गया है। नीति० (विद्या० १८ सू०) में नित्य और नैमित्तिक अनुष्ठान-में लगे रहनेवालेको गृहस्थ कहा है। उपासकाध्ययनमें क्षमारूपी स्त्रीमें आसक्त ज्ञानीको गृहस्थ कहा है।

इससे यह स्पष्ट है कि नीतिवाक्यामृतकी विषय-वस्तु चूँकि लोक-व्यवहारसे सम्बन्धित है, इसलिए इसकी रचना लोकमें प्रचलित पद्धतिके अनुसार की गयी है और पारलौकिक धर्मका कथन करनेवाले उपासका-ध्ययनकी रचना आगमानुसार की गयी है। इसी बातको सोमदेवने उपासकाध्ययनमें प्रकारान्तरसे स्पष्ट किया है कि गृहस्थके दो धर्म होते हैं लौकिक और पारलौकिक, लौकिक धर्म लोकानुसार होता है और पारलौकिक धर्म आगमानुसार होता है। (उपा० श्लो० ४७६)।

सोमदेव लोकप्रचलित वर्णाश्रम धर्मको और तत्सम्बन्धी वैदिक मान्यताओंको लौकिक धर्म ही मानते हैं, किन्तु वर्ण और आश्रमकी व्यवस्थाको लौकिक नहीं मानते। उनकी यह मान्यता उचित भी लगती है, क्योंकि उनके लगभग एक शताब्दी पूर्व जिनसेनाचार्य महापुराणमें इन मान्यताओंको स्वीकार कर चुके थे।[1]

चामुण्डरायने अपने चारित्रसारमें भी जैनागममें चार आश्रम बतलाये हैं और 'उक्तं च उपासकाध्ययने' लिखकर महापुराणका 'ब्रह्मचारी' आदि श्लोक उद्धृत किया है; केवल उसका अन्तिम चरण भिन्न है— 'सप्तमाङ्गाद् विनिःसृता।'

तपस्वियोंकी चर्याके विषयमें सोमदेवने लिखा है कि उन्हें आहार देते समय विशेष ऊहापोह करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे अच्छे हों या बुरे गृहस्थको तो आहार देनेका फल मिल ही जाता है।[2]

सोमदेवका यह कथन साधु-मुनियोंके आचारके विषयमें शिथिलताकी सूचना अनजाने ही दे देता है। देखना यह है कि सोमदेव-जैसा व्यक्ति इस शिथिलताके प्रति अपनी सहमति-सी क्यों व्यक्त करता है? ऐतिहासिक पृष्ठभूमिपर इस बातका विचार करनेसे ज्ञात होता है कि जैन मुनि विशेषकर दिगम्बर जैन मुनिका आचार इतना कठिन है कि उसका पूर्णरूपसे पालन विरल व्यक्ति ही कर पाते हैं। जो व्यक्ति अन्तरंगसे संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त हो चुका है वही इसका सही रूपमें पालन कर सकता है। आचार्य कुन्द-कुन्दने केवल वेष धारण करनेवाले अज्ञानी अवास्तविक मुनियोंकी भावपाहुडमें आलोचना और भर्त्सना की है।

मुनियोंका निवास ग्राम, नगर आदिमें वर्जित है, किन्तु कालदोषके कारण संहनन इत्यादिकी दुर्ब-लताके कारण धीरे-धीरे मुनिगण भी ग्राम आदिमें रहने लगे थे। आचारसम्बन्धी शिथिलताएँ इसी प्रकार आयी लगती हैं। गुणभद्राचार्य (नवीं शती) ने लिखा है कि जिस प्रकार सिंह आदिसे डरकर रात्रिमें हरिण वनसे निकलकर पासके गाँवोंमें घुस आते हैं उसी प्रकार कलिकालमें कष्ट सहनेकी क्षमता न होनेसे तपस्वी-जन भी ग्रामोंमें रहने लगे हैं।[3]

आचार सम्बन्धी शिथिलताके बहुत-से प्रमाण साहित्यमें प्राप्त होते हैं। सोमदेवने भी इसी परम्परामें

---

१. "चतुर्णामाश्रमाणां च शुद्धिः स्यादार्हते मते।
चातुराश्रम्यमन्येषामविचारितसुन्दरम् ॥१५१॥
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
इत्याश्रमास्तु जैनानामुत्तरोत्तरशुद्धितः ॥१५२॥"
—पर्व ३९।

२. "भुक्तिमात्रप्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनाम्।
ते सन्तः सन्त्वसन्तो वा गृही दानेन शुद्ध्यति ॥"—सो० उपा० श्लो० ८१८।

३. "इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्यां यथा मृगाः।
वनाद्विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः ॥"—आत्मानुशासन श्लो० १९७।

यह कह दिया कि आहार-दान देनेमें यह विशेष ऊहापोह आवश्यक नहीं। वास्तवमें सोमदेवका उक्त कथन जैन सिद्धान्तानुसार मुनिचर्याका प्रतिपादक नहीं है। करुणादान या पात्रदानमें अन्तर है। करुणादान दया बुद्धिसे दिया जाता है, किन्तु पात्रदान देते समय पात्रका विवेक आवश्यक है।

दान और दानविधि

बयालीसवें कल्पमें दानका वर्णन करते हुए सोमदेवने सर्वप्रथम गृहस्थोंको यथाविधि, यथादेश, यथाद्रव्य, यथागम, यथाकाल और यथापात्र दान देनेका विधान किया है। पुनः अपने कल्याणके लिए और दूसरोंके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी समृद्धिके लिए जो दिया जाता है उसे दान कहा है। अतः सम्यग्दर्शनादिमें जो संलग्न है वही सुपात्र होनेसे सर्वप्रथम दानार्ह माना गया है।

इस दृष्टिसे श्रावक और साधु दोनोंके ही लिए दानका बहुत महत्त्व है। यह पारलौकिक दृष्टिसे ही नहीं, लौकिक दृष्टिसे भी आवश्यक है। धर्मकी स्थितिके लिए गृहस्थ मार्ग और साधु मार्ग दोनों आवश्यक हैं, दोनोंमें-से एकके भी अभावमें धर्म कायम नहीं रह सकता। जैन साधु दिनमें गृहस्थके द्वारा आदरपूर्वक पड़गाहे जानेपर केवल एक बार आहार लेते हैं। उन्हें केवल आहारके लिए ही परापेक्षा रहती है। गृहस्थके बारह व्रतोंमें अतिथिको दान देना भी एक व्रत है। अतः गृहस्थको स्वपरोपकारकी भावनासे प्रतिदिन दान देना चाहिए तथा साधुको अपना शरीर कायम रखनेके लिए भोजन ग्रहण करना चाहिए। जैन साधुके भोजनकी विधि ऐसी है कि जैन प्रक्रियाका ज्ञाता श्रावक ही उस विधिसे आहार दे सकता है। अतः जैन साधु जैन श्रावकके ही घरपर आहार करते हैं। इस तरह परस्परमें श्रावक और साधु दोनों एक दूसरेसे बँधे रहते हैं। यद्यपि श्रावक जैन साधुके सिवाय अन्यको भी दान दे सकता है, किन्तु सर्वोत्तम दानपात्र साधु है अतः श्रावकके लिए सबसे प्रथम वही दानार्ह होता है।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि दूसरोंको दान देनेका निषेध है। धर्मबुद्धिसे ये ही दानपात्र हैं, दया बुद्धिसे तो उन सभीको दान दिया जा सकता है जो दयाके पात्र होते हैं। इसीसे सोमदेवने बौद्ध, नास्तिक, आजीवक आदि सम्प्रदायके साधुओंको दान देनेका निषेध करते हुए भी लिखा है कि जिनके चित्त दुराग्रहसे मलिन हैं और जो तत्त्वसे अपरिचित हैं उनके साथ गोष्ठी करनेसे कलह ही होती है पर उन्हें भी कारुण्य बुद्धिसे कुछ दिया जा सकता है।

दानके प्रकार हैं—अभयदान, आहारदान, औषधदान और शास्त्रदान। इनमें-से सोमदेव सूरिने अभयदानको सर्वोपरि स्थान दिया है। उन्होंने लिखा है कि सर्वप्रथम गृहस्थको सब प्राणियोंको अभयदान देना चाहिए। किसी भी रूपमें उनके प्राणोंका घात नहीं करना चाहिए, उनको अपने जीवनकी ओरसे निर्भय कर देना चाहिए, उसके बिना सारा धर्म-कार्य व्यर्थ है। अन्य कोई दान मनुष्य करे या न करे, किन्तु अभयदान अवश्य करे, क्योंकि वह सब दानोंमें श्रेष्ठ है। जिसने अभयदान दिया, उसने सब दान दिये।

दानके उपर्युक्त भेद देयवस्तुकी अपेक्षासे हैं। दान देनेकी प्रक्रिया तथा भावनाकी अपेक्षासे सोमदेवने दानके तीन भेद किये हैं—राजस, तामस और सात्त्विक। जो दान अपनी प्रशंसासे परिपूर्ण होता है और दूसरेके विश्वासके आधारपर दिया जाता है वह राजस दान है। पात्र और अपात्रका बिना विचार किये और बिना किसी आदर सम्मानके जो नौकरोंसे दान दिलवाया जाता है वह तामस है। और पात्रको देखकर स्वयं दाता जो श्रद्धापूर्वक दान देता है वह सात्त्विक दान है। इनमें-से सात्त्विक दान उत्तम है; राजस दान मध्यम है और तामस दान जघन्य है। दानके ये तीन भेद जैन परम्परामें सोमदेवसे पहले किसी ग्रन्थमें नहीं देखे गये। महाभारतमें इस प्रकारके भेद मिलते हैं।

ध्यान और जप

ध्यानविधि नामक उनतालीसवें कल्पमें ध्यानका वर्णन है। ज्ञानार्णवमें ध्यानका विशेष तथा महत्त्वपूर्ण वर्णन है किन्तु वह उपासकाध्ययनके बाद रचा गया है। उसमें उपासकाध्ययनके श्लोक उद्धृत हैं। ध्यान-

विषयक एक अन्य लघु ग्रन्थ तत्त्वानुशासन भी महत्त्वपूर्ण है, किन्तु वह भी उपासकाध्ययनसे पूर्वका प्रतीत नहीं होता। महापुराणके इक्कीसवें पर्वमें ध्यानका सुन्दर वर्णन है और वह प्रायः अकलंक देवके तत्त्वार्थ-वार्तिकका ऋणी है। सोमदेवने यद्यपि केवल सवा-सौ श्लोकोंमें ध्यानका वर्णन किया है, किन्तु वह एक स्वतन्त्र ग्रन्थसे कम नहीं। ध्यानके पहले सोमदेवने अड़तीसवें कल्पमें जपविधिका कथन किया है। ध्यानसे पूर्वकी अवस्था जप ही है। विधिपूर्वक जपमें अभ्यस्त हो जानेपर ही ध्यानका नम्बर आता है। इस दृष्टिसे इसका विशेष महत्त्व है।

सोमदेव पंचनमस्कार मन्त्रके जपनेपर विशेष जोर देते हैं, उनका कहना है कि पंचनमस्कार मन्त्र अकेला भी सब मन्त्रोंका कार्य करनेमें समर्थ है। अन्य सब मन्त्र मिलकर भी इसका एक देशकार्य भी नहीं कर सकते। मन्त्रका उच्चारण शुद्ध और स्पष्ट होना चाहिए। जप पुष्पोंके द्वारा, अंगुलिपर्वोंके द्वारा, कमलगट्टोंके द्वारा या स्वर्ण, रत्न वगैरहकी मालाके द्वारा किया जा सकता है। वाचनिक जपसे मानसिक जपका विशेष महत्त्व है। जप करनेवाले व्यक्तिको इन्द्रियोंको निश्चल रखकर और पर्यंकासनसे बैठकर ही जप करना चाहिए, तथा श्वास और उच्छ्वासके प्रति भी सावधान रहना चाहिए। णमो अरिहंताणं और णमो सिद्धाणंके अन्तमें एक, णमो आइरियाणं णमो उवज्झायाणंके अन्तमें एक और णमो लोए सव्वसाहूणंके अन्तमें एक, इस तरह तीन श्वासोच्छ्वासमें एक बार नमस्कार मन्त्र जपना चाहिए। उसमें अभ्यस्त हो जानेपर ध्यानका अभ्यास करना चाहिए। एक ही विषयमें चित्तको स्थिर करनेका नाम ध्यान है। ध्यान करते समय अन्तरंग और बहिरंग पत्थरकी मूर्तिकी तरह निश्चल होने चाहिए और विपत्ति आनेपर भी घबराना नहीं चाहिए। वैराग्य, ज्ञान, निष्परिग्रहिता, चित्तकी स्थिरता और कष्ट सहनकी क्षमता, ये ध्यानके साधन हैं। रोग, शोक, प्रमाद, वगैरह उसके बाधक हैं। सोमदेव सूरिने अन्य आम्नायमें कही गयी हठयोगकी प्रक्रियाका निषेध किया है। जो योगी होकर भी इन्द्रियोंके वशीभूत है वह योगी नहीं है।

सभी जैन ग्रन्थोंमें ध्यानके चार भेद बतलाये हैं—आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान। इनमें-से आदिके दो ध्यान त्याज्य हैं; क्योंकि वे संसारको बढ़ानेवाले हैं। शेष दो ध्यान ही करने योग्य हैं और वे ही मोक्षके कारण हैं। उनमें-से प्रत्येक ध्यानके चार-चार भेद हैं। सोमदेवने ध्यानके दो भेद और भी कहे हैं—एक सबीज ध्यान और एक अबीज ध्यान।[1] सबीज ध्यानमें मन वायुशून्य प्रदेशमें स्थित दीपशिखाकी तरह निश्चल रहता है और तत्त्वके दर्शनसे उल्लासयुक्त होता है। अबीज ध्यानमें चित्त निर्विचार हो जाता है तथा आत्मा आत्मामें ही लीन हो जाता है। अर्थात् सबीज ध्यानमें मन सविकल्प रहता है, किन्तु अबीज ध्यानमें निर्विकल्प हो जाता है। यह ध्यानकी उत्कृष्ट दशा है। सोमदेवने लिखा है कि जब पाँचों इन्द्रियाँ और मन स्वात्मामें लीन हो जाते हैं, तब अन्तस्तलमें ज्योतिका विकास होता है। चित्तकी एकाग्रताका नाम ध्यान है। आत्मा ध्याता है और आत्मा ही ध्येय है तथा वही उसके फलका स्वामी है। ध्यानका उपाय है इन्द्रियोंका दमन। असमर्थतासे विघ्न दूर नहीं हो सकते और न कातरतासे मृत्युके पंजेसे छुटकारा मिल सकता है। अतः बिना किसी प्रकारके खेदके परब्रह्मका ही चिन्तन करना चाहिए[2]।

मनका नियन्त्रण किये बिना ध्यान सम्भव नहीं है। देवसेनने आराधनासारमें कहा है कि मनका निग्रह करनेपर आत्मा परमात्मा हो जाता है[3]। योगीन्दुने परमात्मप्रकाश (२-१७२) में लिखा है कि सब प्रकारके रागोंसे और पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंसे चित्तको हटाकर आत्माका ध्यान करो।[4] पूज्यपादने समाधि-शतक (श्लो० ३०) में लिखा है कि सब इन्द्रियोंको संयमित करके स्थिर अन्तरात्माके द्वारा एक क्षणके

---

१. उपा० श्लो० ६२२, ६२३,
२. उपा० श्लो० ६१५, ६१६
३. "णिग्गहिए मणपसरे अप्पा परमप्पओ हवइ।"
४. "सव्वहिं रायहिं छहिं रसहिं पंचहिं रूवहिं जंतु। चित्त णिवारिवि झाहि तुहुँ अप्पा देउ अणंतु।"

लिए जो कुछ गोचर होता है वही परमात्मतत्त्व है[1]। इसी बातको सोमदेवने रहस्यवादके रूपमें चित्रित करते हुए लिखा है कि जब मनरूपी हंस मानसिक कार्यसे वियुक्त हो जाता है, और आत्मारूपी हंस सब तरहसे स्थिर हो जाता है तो ज्ञानरूपी हंस सबके द्वारा दृश्य सरोवरका हंस बन जाता है[2]।

ध्यान बहुत कठिन है इसीसे उसका काल एक अन्तर्मुहूर्त बतलाया है, क्योंकि इससे अधिक समय तक चित्तको एक ही विषयमें एकाग्र रखना सम्भव नहीं है। किन्तु उतना अल्पकालीन निश्चय ध्यान भी कर्मरूपी पर्वतको वज्रकी तरह चूर्ण कर डालता है।

सोमदेवने ध्यानका वर्णन करते हुए कुछ श्लोकोंके द्वारा ध्याताकी भावनाका चित्र खींचा है। ध्याता विचारता है, "मैं परम ब्रह्म हूँ, सुखरूपी अमृतके लिए चन्द्रमा और सुखरूपी सूर्यके लिए उदयाचल हूँ; किन्तु अज्ञानान्धकारके फन्देमें फँसकर इस शरीरमें निवास करता हूँ। जब मेरा चित्त परमात्माके ध्यानसे आलोकित होगा, तब मैं प्रकाशमान सूर्यकी तरह संसारका द्रष्टा बन जाऊँगा। इन्द्रियजन्य समस्त सुख प्रारम्भमें मधुर प्रतीत होता है, किन्तु अन्तमें कटु। यदि जन्मका अन्त मृत्यु, यौवनका अन्त बुढ़ापा, संयोगका अन्त वियोग और सुखका अन्त दुःख न होता तो कौन मनुष्य संसारको छोड़ना चाहता। मैं आज बड़ा भाग्यशाली हूँ कि सम्यग्दर्शनके तेजसे मेरा अन्तरात्मा विशुद्ध होकर अन्धकारके पार पहुँच गया है। मैंने इस संसारमें कौन-सा सुख और दुःख नहीं भोगा; किन्तु जिनवाणीरूपी अमृतका पान कभी नहीं किया। इस अमृतसागरकी एक बूँदको भी चाट लेनेसे जीवको फिर जन्मरूपी आगमें कभी भी जलना नहीं पड़ता।[3]

ज्ञानार्णवमें संस्थानविचय नामक धर्मध्यानके अन्तर्गत पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान-का वर्णन है। तत्त्वानुशासनमें भी धर्मध्यानके अन्तर्गत इन चारों ध्यानोंका वर्णन है, किन्तु उनके पिण्डस्थ आदि नाम नहीं है। सोमदेवने आर्त आदि चारों ध्यानोंका वर्णन करनेके पश्चात् रूपस्थ और पदस्थ ध्यानों-का वर्णन किया है, पर दोनों नाम नहीं दिये हैं और उसके पश्चात् लिखा है कि लोकोत्तर ध्यानका कथन किया अब कुछ लौकिक ध्यानका कथन करते हैं।

इसमें उन्होंने सर्वप्रथम 'ओं' का ध्यान करना बतलाया है और उसके लिए प्राणायामकी साधनाकी आवश्यकता बतलायी है। इसका वर्णन ज्ञानार्णवके उनतीसवें अधिकारमें विशेष रूपसे आया है।

ध्यानके प्रकरणके अन्तमें सोमदेवने पद्मासन, वीरासन और सुखासनका लक्षण भी बतलाया है।

मूर्तिपूजन

सोमदेवके मूर्तिपूजनके सम्बन्धमें जो जानकारी और सामग्री उपासकाध्ययनमें प्रस्तुत की है उसे ऐति-हासिक पृष्ठभूमिपर जाँचने-देखनेसे अनेक नये तथ्य सामने आते हैं। सोमदेवसे पूर्व किसी ग्रन्थमें पूजा तथा पूजा-विधिका इतना विस्तृत और स्पष्ट विवरण दिखायी नहीं पड़ता।

आचार्य कुन्दकुन्दने अपने पंचास्तिकायमें (गा० १६६) अरिहन्त, सिद्ध, चैत्य और प्रवचन भक्तिका निर्देश किया है, तथा प्रवचनसार (गा० १-६९)में देवता, यति और गुरुकी पूजाका निर्देश किया है। दूसरी शताब्दी ईस्वी पूर्वके खारवेलके शिलालेखमें अग्रजिनकी मूर्तिका उल्लेख है, जिसे राजा नन्द कलिंग जीतनेपर पाटलिपुत्र ले गया था और जिसे खारवेलने मगधपर चढ़ाई करके पुनः प्राप्त किया था। एक मौर्यकालीन जैन मूर्ति पटनाके म्यूजियममें स्थित है। इसी प्रकारकी मूर्तिका कबन्ध हड़प्पासे प्राप्त हुआ है, जिसका समय ईस्वी सन्‌से २४००–२००० वर्ष पूर्व अनुमान किया गया है और जिसे भारतीय पुरातत्त्व विभागके तत्कालीन संयुक्त

१. "सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना। यत् क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः॥"
२. उपा० श्लो० ६२५।
३. उपा० श्लो० ६६६–६७४।

निर्देशक श्री टी०एन० रामचन्द्रन जैन तीर्थंकरकी मूर्ति बतलाते हैं।[१] इससे स्पष्ट है कि जैनधर्मके साथ उसकी मूर्तिपूजा भी बहुत प्राचीन है।

वैदिक कालमें वैदिकोंके द्वारा अग्नि, सूर्य, वरुण आदि देवताओंकी पूजा अग्निमें घी, अन्न वगैरहकी आहुति देकर भावात्मक रूपमें की जाती थी। इससे यह स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि मूर्तिपूजक नहीं थे। सम्भवतया जब अहिंसा सिद्धान्त तथा उपनिषदोंके परब्रह्मके विचारोंके कारण वैदिक यज्ञोंका लोप हो चला तो वैदिक ऋषियोंने भी इस देशके प्राचीन निवासियोंमें प्रचलित मूर्तिपूजाको अपना लिया और मध्यकालमें उसका व्यापक प्रचार हो गया। वराहमिहिर (पाँचवीं शताब्दी) ने अपनी बृहत्संहिता (६०-१९)में विभिन्न देवताओंको पूजनेवाले विभिन्न समुदायोंका उल्लेख किया है।[२] तथा अठावनवें अध्यायमें राम, विष्णु, बलदेव, एकानंशा (?), ब्रह्मा, स्कन्द, शिव, गिरिजा, बुद्ध, जिन, सूर्य, माता, यम, वरुण और कुबेरकी मूर्तियोंका वर्णन किया है। इससे स्पष्ट है कि उस कालमें इन देवी-देवताओंकी पूजा की जाती थी।

सातवीं शताब्दीके जैनाचार्य रविषेणने पद्मचरित्रमें लिखा है,

"जो जिन भगवान्‌की आकृतिके अनुरूप जिनबिम्ब बनवाता है तथा जिन भगवान्‌की पूजा और स्तुति करता है उसके लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है।"[३]

इसी तरह उक्त शताब्दीमें रचे गये अध्यात्म ग्रन्थ परमात्मप्रकाशमें लिखा है,

"तूने न तो मुनिवरोंको दान ही दिया, न जिन भगवान्‌की पूजा ही की और न पंचपरमेष्ठीको नमस्कार किया, तब तुझे मोक्षका लाभ कैसे होगा।"[४]

सातवीं शताब्दीमें रचित वरांगचरित (सर्ग २२)में जटासिंहनन्दीने जिनपूजाके माहात्म्यके साथ-साथ जिनबिम्ब और जिनालयनिर्माणका बहुत महत्त्व बतलाया है तथा जैनपूजा-महोत्सवका सुन्दर चित्रण किया है। उनके लेखसे पता चलता है कि उस समय मन्दिरोंकी दीवारोंपर पौराणिक उपाख्यान चित्रित किये जाते थे और राज्योंकी ओरसे पूजाके निमित्त ग्राम वगैरह मन्दिरोंको दानमें दिये जाते थे।[५]

जब भारतपर मुसलमानोंके आक्रमण होने लगे और मन्दिर तथा मूर्तियाँ तोड़ी जाने लगीं तो उसकी प्रतिक्रियाके रूपमें भारतमें मन्दिरों और मूर्तियोंके निर्माणपर पहले-से भी अधिक जोर दिया जाने लगा।

आचार्य अमितगतिने अपने सुभाषितरत्नसन्दोहमें लिखा है कि जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान्‌की अंगुष्ठ-प्रमाण प्रतिमा बनवाता है वह भी अविनाशी लक्ष्मीको प्राप्त करता है।[६] आचार्य पद्मनन्दि उनसे भी आगे बढ़-

१. अनेकान्त वर्ष १४, कि० ६ में 'हड़प्पा और जैनधर्म' शीर्षक लेख।

२. "विष्णोर्भागवतान्मगांश्च सवितुः शम्भोः सभस्मद्विजान्, मातृणामपि मातृमण्डलविदो विप्रान् विदुर्ब्रह्मणः। शाक्यान् सर्वहितस्य शान्तमनसो नग्नान् जिनानां विदुर्ये यं देवमुपाश्रिताः स्वविधिना तैस्तस्य कार्या क्रिया॥"—बृहत्संहिता ६०-१९।

३. "जिनबिम्बं जिनाकारं जिनपूजां जिनस्तुतिम्।
यः करोति जनस्तस्य न किञ्चिद् दुर्लभं भवेत्॥" २१३॥ पर्व १४॥

४. "दाण ण दिण्णउ मुणिवरहँ ण वि पुज्जिउ जिणणाहु।
पंच ण वंदिय परमगुरु किमु होसइ सिवलाहु॥"१६८॥

५. "अष्टोत्तरग्रामशतं वरिष्ठं दास्यांश्च दासीभृतकान् गवादीन्।
संगीतकं सान्ततिकं प्रमोदं समर्पयामास जिनालयाय॥"—वरांगचरित २३।९१॥

६. "येनाङ्गुष्ठ प्रमाणार्चा जैनेन्द्री क्रियतेऽगिना।
तस्याप्यनश्वरी लक्ष्मीर्न दूरे जातु जायते॥"—सु० सं० श्लो० ८७६।

कर कहते हैं कि जो बिम्बपत्रके प्रमाण जिनमन्दिर बनाकर उसमें जौ बराबर जिनप्रतिमाकी भक्तिपूर्वक स्थापना करते हैं उनके पुण्यका वर्णन सरस्वती भी नहीं कर सकती, फिर जो बड़ा मन्दिर और बड़ी प्रतिमा बनवायें उनका तो कहना ही क्या है।[1] आचार्य वसुनन्दिने (बारहवीं शती) पद्मनन्दिसे भी आगे कहा, जो कुन्थुम्भरिके पत्र बराबर जिनमन्दिर बनवाकर उसमें सरसोंके बराबर भी जिनप्रतिमाकी स्थापना करता है वह मनुष्य तीर्थंकरपदके योग्य पुण्यबन्ध करता है।[2]

आचार्य पद्मनन्दि और वसुनन्दिने जिनपूजा वगैरहका भी वर्णन किया है, उनका महत्त्व भी बतलाया है और उसपर जोर भी दिया है। सागारधर्मामृतमें पं० आशाधरजीने भी संक्षेपमें जिनमन्दिरोंकी आवश्यकता और जिनपूजाकी विधि बतलायी है तथा जिनबिम्ब, जिनालयवसतिका और स्वाध्यायशाला बनवाना पाक्षिक श्रावकोंका कर्तव्य बतलाया है। सावयधम्मदोहामें तो जिनबिम्ब और जिनमन्दिरके निर्माणके साथ ही साथ जिनमन्दिरमें सफेदी करानेका, जिनेन्द्रदेवपर चन्दौआ चढ़ानेका, उनकी आरती करनेका और उन्हें तिलक चढ़ानेका भी माहात्म्य बतलाया है[3]। लाटीसंहितामें भी, जिनमन्दिर, अर्हन्त और सिद्धोंकी प्रतिमाएँ तथा यन्त्र वगैरह बनवानेका विधान किया है और लिखा है 'जिनबिम्ब महोत्सव आदि करानेमें कभी शिथिलता नहीं करना चाहिए। तत्त्वज्ञोंको तो विशेष रूपसे नित्य नैमित्तिक महोत्सव करने-कराने चाहिए।

उपर्युक्त साक्ष्योंके आधारपर यह सहज रूपमें कहा जा सकता है कि मूर्तिपूजनकी परम्परा जैनधर्ममें बहुत पुराने समयसे चली आ रही थी, और उत्तरकालमें तो जिनप्रतिमा और जिनमन्दिरोंका निर्माण बहुतायतसे होने लगा। ग्यारहवीं शताब्दीके बादका युग, जिसे 'श्रावकाचार युग' कहना अधिक उपयुक्त होगा, तो जैसे इन प्रवृत्तियोंके चरमोत्कर्षका समय रहा। इसी युगमें प्रतिष्ठापाठों आदिकी रचनाएँ हुई। पूजनसाहित्य भी इस युगमें विशेष रूपसे लिखा गया। किन्तु इस सबका तात्पर्य यह नहीं कि पूजा-प्रतिष्ठाकी ये प्रवृत्तियाँ पहले न थीं। जैन आचारसंहिताका ये सदासे अविभाज्य अंग रही हैं। अन्तर केवल इतना है कि प्राचीन समयमें मुनियों और आचार्योंका बाहुल्य होनेसे श्रावक उनके सान्निध्यका लाभ उठा लेते थे और वही धर्मकी स्थिरताका एक बड़ा आधार था। बादके युगमें मुनिसंघोंकी विरलता होती गयी और श्रावकोंको धर्ममें स्थिर करनेके लिए मन्दिर आदिके निर्माणपर अधिक जोर दिया गया।

पूजन : एक प्रश्न और उसका समाधान

स्वामी विद्यानन्दिने अपने पात्रकेसरिस्तोत्रमें लिखा है कि भगवन्! जिनबिम्बका निर्माण, दान और पूजन आदि क्रियाएँ, जो कि अनेक प्राणियोंके मरण और पीड़ाकी कारण है, आपने उनका उपदेश नहीं किया। किन्तु भक्तिवश श्रावकोंने ही स्वयं उन्हें किया है[4]।

इसका अर्थ यह नहीं लगाया जाना चाहिए कि पूजनका उपदेश भगवान्ने तो दिया नहीं, वह तो

---

१. "बिम्बादलोन्नतियवोन्नतिमेव भक्त्या ये कारयन्ति जिनसद्म जिनाकृतिं वा।
पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता स्तोतुं परस्य किमु कारयितुर्द्वयस्य ॥"—पद्म० पंच०,श्लो० २२।

२. "कुंथुंभरिदलमेत्ते जिणभवणे जो ठवेइ जिणपडिमं।
सरिसवमेत्तं पि लहइ सो णरो तित्थयरं पुण्णं॥" —वसु० श्राव० श्लो० ४८१।

३. "जिणभवणइं कारावियइं लब्भइ सग्गि विमाणु। 'अह टिक्कइं आराहणहं होइ समाहिहि ठाणु॥
जो धवलावइ जिण भवणु तसु जसु कहिँ पि ण माइ।
ससिकरणियरु सरयमिलिउ जगु धवलणहं वसाइ॥"—साव० दो० १९३-१९४।

४. "विमोक्षसुखचैत्यदानपरिपूजनाद्यात्मिकाः, क्रिया बहुविधासुभृन्मरणपीडनाहेतवः।
त्वया ज्वलितकेवलेन न हि देशिताः किन्तु तास्त्वयि प्रसृतभक्तिभिः स्वयमनुष्ठिताः श्रावकैः॥३७॥"

लोगोंने ही चला दिया है। प्रथम तो इसके आगेके ही पद्यमें कहा है—अथवा, भगवन् आपने या आपके उपदेशका प्रचार करनेवाले गणधर आदिने पर्यायरूपसे चैत्यनिर्माण और दानका उपदेश दिया है। तीर्थंकर नाम कर्मके कारण ऐसा उपदेश देना सम्भव है[1]। दूसरे, अर्हत्पूजाको सोलह कारण भावनाओंमें गिनाया गया है। तीसरे स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डश्रावकाचारमें अर्हन्त देवके चरणोंकी प्रतिदिन आदरपूर्वक पूजा करनेका विधान किया है। लिखा है, इच्छित वस्तुको देनेवाले और कामविकारको जलानेवाले अर्हन्तदेवके चरणोंकी पूजा आदरपूर्वक प्रतिदिन करनी चाहिए। उससे समस्त दुःखोंका नाश होता है। अर्हन्त भगवान्के चरणोंकी पूजाका महत्त्व तो आनन्दसे उन्मत्त मेण्डकने एक फूल लेकर राजगृही नगरीमें बतलाया था[2]।

यह सत्य है कि इस युगमें भगवान् ऋषभदेवको आहार दान देकर राजा श्रेयांसने और चैत्य-चैत्यालयोंका निर्माण कराकर सम्राट् भरतने दान और चैत्य आदिके निर्माणकी प्रवृत्तिको जन्म दिया था और ये दोनों ही गृहस्थ थे; किन्तु यह भी सत्य है कि धर्मप्रवर्तक तीर्थंकरोंने, गणधरोंने और आचार्योंने श्रावकोंके लिए बराबर उसका विधान किया और उसे प्रोत्साहन दिया। समन्तभद्र स्वामीके उक्त पद्य इसके स्पष्ट प्रमाण हैं।

पूजनके भेद

आचार्य जिनसेनने महापुराणके अड़तीसवें पर्वके प्रारम्भमें श्रावकके षट् कर्म इज्या,[3] वार्ता, दान, स्वाध्याय, संयम और तपका वर्णन करते हुए पूजाके चार[4] भेद बतलाये हैं, नित्यपूजा, चतुर्मुखपूजा, कल्पद्रुमपूजा और आष्टाह्निकपूजा। प्रतिदिन अपने घरसे गन्ध, पुष्प, अक्षत आदि ले जाकर जिनालयमें अर्हन्तदेवका पूजन करना नित्यपूजा अथवा भक्तिपूर्वक अर्हन्तदेवकी प्रतिमा और मन्दिरका निर्माण कराना तथा दानपत्र लिखकर ग्राम, खेत आदिका दान देना नित्यपूजा है। प्रतिदिन शक्तिके अनुसार नित्य दान देते हुए मुनियोंकी पूजा करना भी नित्यपूजा है। महामुकुटबद्ध राजाओंके द्वारा जो महापूजा की जाती है उसे चतुर्मुख या सर्वतोभद्र कहते हैं। चक्रवर्तियोंके द्वारा किमिच्छिक (मुँहमाँगा) दानपूर्वक जगत्के सब जीवोंके मनोरथोंको पूरा करके जो पूजा की जाती है उसे कल्पद्रुमपूजा कहते हैं। चौथी आष्टाह्निकपूजा है जो सर्वत्र प्रसिद्ध है। इनके सिवाय एक इन्द्रध्वज पूजा है।[3] इससे पूर्वके उपलब्ध साहित्यमें पूजाके भेद नहीं मिलते।

पूजन-विधि

उपलब्ध साहित्यमें सोमदेव उपासकाध्ययनसे पूर्व अन्य किसी ग्रन्थमें भी इस तरह विस्तारसे पूजनकी विधि मेरे देखनेमें नहीं आयी है। उत्तरकालके ग्रन्थकारोंमें वसुनन्दिने अपने श्रावकाचारमें प्रतिष्ठाकी विधि भी बतलायी है, किन्तु पूजनकी विधि इतने विस्तारसे नहीं बतलायी। पं० आशाधरने भी दो एक पद्योंके द्वारा संक्षेपमें पूजाका क्रम बतलाया है। मेधावीने भी वसुनन्दिके अनुसार लिखा है।

---

१. "त्वया त्वदुपदेशकारि पुरुषेण वा केनचित्
कथंचिदुपदिश्यते स्म जिन ! चैत्यदानक्रिया।"

२. "देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम्।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम् ॥११९॥
अर्हच्चरणसपर्या महानुभावं महात्मनामवदत्।
भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥ १२० ॥"

३. "इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः।" महापुराण, पर्व ३८, श्लो० २४।

४. "प्रोक्ता पूजार्हतामिज्या सा चतुर्धा सदार्चनम्। चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमाश्चाष्टाह्निकोऽपि च ॥२६॥"

सोमदेव सूरिने पूजकोंके दो भेद किये हैं—एक पुष्पादिमें पूज्यकी स्थापना करके पूजन करनेवाले और दूसरे, प्रतिमाका अवलम्बन लेकर पूजन करनेवाले[1]। उन्होंने पूजकको फल, पत्र और पाषाण आदिकी तरह अन्य धर्मकी मूर्तिमें स्थापना करनेका निषेध किया है तथा दोनों प्रकारके पूजकोंके लिए अलग-अलग विधि बतलायी है। वसुनन्दिने सोमदेवके द्वारा विहित उक्त दोनों प्रकारोंको सद्भावस्थापना तथा असद्भावस्थापना नाम दिया है। साकार वस्तु (प्रतिमा) में अरहन्त आदिके गुणोंका आरोपण करना सद्भावस्थापना है और अक्षत वराटक (कमलगट्टा) वगैरहमें अपनी बुद्धिसे 'यह अमुक देव है' ऐसा संकल्प करना असद्भावस्थापना है[2]। वसुनन्दिने इस कालमें असद्भाव स्थापनाका निषेध किया है[3]। आशाधरने निषेध नहीं किया। सम्भवतया प्रतिमाके सामने न होते हुए पुष्पादिमें अर्हन्तकी स्थापना करके पूजन करनेका ही निषेध वसुनन्दिने किया है। इससे भ्रम होनेकी सम्भावना है। आजकल जिनप्रतिमाके अभिमुख ही पुष्पक्षेपण करके स्थापना की जाती है। वसुनन्दिने इसे नामपूजा कहा है। उन्होंने पूजाके छह भेद किये हैं—नामपूजा, स्थापनापूजा, द्रव्यपूजा, भावपूजा, क्षेत्रपूजा और कालपूजा[4]। अरहन्त आदिका नाम उच्चारण करके विशुद्ध प्रदेशमें पुष्पक्षेपण करना नामपूजा है[5]। आगे अन्य पूजाओंके लक्षण इस प्रकार दिये हैं, जिनप्रतिमाकी स्थापना करके पूजन करना स्थापनापूजा है। जल गन्ध आदि द्रव्यसे प्रतिमादि द्रव्यकी पूजा करना द्रव्यपूजा है। जिन भगवान्के पंचकल्याणकोंकी भूमिमें पूजा करना क्षेत्रपूजा है और भक्तिपूर्वक जिन भगवान्के गुणोंका कीर्तन करके जो त्रिकाल वन्दना की जाती है वह भावपूजा है, नमस्कार मन्त्रका जाप और ध्यान भी भावपूजा है।

अमितगतिने अपने श्रावकाचारमें पूर्वाचार्योंके अनुसार वचन और शरीरकी क्रियाको रोकनेका नाम द्रव्यपूजा और मनको रोककर जिनभक्तिमें लगानेका नाम भावपूजा कहा है[6]। उनके अपने मतसे गन्ध पुष्प नैवेद्य दीप धूप और अक्षतसे पूजा करनेका नाम द्रव्यपूजा और जिनेन्द्रके गुणोंका चिन्तन करनेका नाम भावपूजा कहा है[7]।

सोमदेवने पूजाके ये भेद नहीं बतलाये। ऊपर जिन दो प्रकारके पूजकोंका उल्लेख किया है उनके लिए सोमदेवने पूजनकी दो विभिन्न विधियोंका वर्णन किया है। जो प्रतिमामें स्थापना नहीं करते उनके लिए अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्रकी स्थापना करके प्रत्येकको अष्ट द्रव्यसे पूजा करना बतलाया है। उसके बाद क्रमसे दर्शनभक्ति, ज्ञानभक्ति, चारित्रभक्ति, अर्हद्भक्ति, सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति, शान्तिभक्ति और आचार्यभक्ति करना बतलाया है। पूजाका यह प्रकार वर्तमानमें प्रचलित नहीं है।

---

१. उपा० पृ०२१७।

२. "सब्भावासब्भावा दुविहा ठवणा जिणेहि पण्णत्ता। सायारवंतवत्थुम्मि जं गुणारोवणं पढमा ॥३८३॥ अक्खय वराडओ वा अमुगो एसो त्ति णिययबुद्धीए। संकप्पिऊण वयणं एसा विइया असब्भावा ॥३८४॥" —वसुनन्दिश्रा०।

३. "हुण्डावसप्पिणीए विइया ठवणाण होदि कायव्वा। लोए कुलिंगमइमोहिए जदो होइ संदेहो॥३८५॥" —वसुनन्दिश्रा०

४. "णामट्ठवणा दव्वे खित्ते काले वियाण भावे य। छव्विहपूजा भणिया समासओ जिणवरिंदेहि॥३८१॥"

५. "उच्चारिऊण णामं अरुहाईणं विसुद्धदेसम्मि। पुप्फाणि जं खिविज्जंति वण्णिया णामपूया सा॥३८२॥"

६. "वचो विग्रहसंकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते। तत्र मानससंकोचो भावपूजा पुरातनैः ॥१२॥"

७. "गन्धप्रसूनसान्नाय्यदीपधूपाक्षतादिभिः। क्रियमाणाथवा ज्ञेया द्रव्यपूजा विधानतः ॥१३॥ व्यापकानां विशुद्धानां जिनानामनुरागतः। गुणानां यदनुध्यानं भावपूजेयमुच्यते॥१४॥"-१२ परि०।

यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि सोमदेवने पूजनसे पूर्व जो स्थापन और सन्निधापन क्रिया बतलायी है वे आजके प्रचलित आह्वानन, स्थापन और सन्निधिकरणसे भिन्न हैं। आज तो प्रत्येक पूजनके प्रारम्भमें प्रत्येक पूज्यका आह्वानन आदि किया जाता है—आइए आइए, यहाँ विराजमान हूजिए, मेरे निकट हूजिए। किन्तु सोमदेव-द्वारा प्रदर्शित विधिमें आह्वानन तो है ही नहीं, और अभिषेकके लिए जो जिनबिम्बको सिंहासनपर विराजमान किया जाता है वही स्थापना है। अभिषेकके पश्चात् ही जलादि पूजन प्रारम्भ हो जाता है, उसके प्रारम्भमें पुनः कोई आह्वानन आदि नहीं किया जाता। इसीसे सोमदेवकी विधिमें पूजनके अन्तमें विसर्जन भी नहीं है, क्योंकि विसर्जनका सम्बन्ध तो आह्वानन आदिके साथ है। जब किसीको बुलाया जाता है तो उसे बिदा भी किया जाता है। जब बुलाया ही नहीं जाता तो विदा करनेका प्रश्न ही नहीं रहता।

आगे चलकर पूजाकी प्रक्रियामें परिवर्तन आया। धर्मसंग्रह श्रावकाचार[1] (वि० सं० १५१९के लगभग) और लाटी[2] संहिता (वि०सं० १६४१) में आह्वानन, स्थापन, सन्निधिकरण, पूजन और विसर्जन ये पाँच प्रकार पूजाके बतलाये हैं। सम्भवतया आशाधर (वि० की तेरहवीं शताब्दीका अन्त) के पश्चात् ही उक्त प्रक्रियाने पूजामें स्थान ग्रहण किया है, क्योंकि आशाधरके काल तकके साहित्यमें ये पाँच प्रकार देखनेमें नहीं आते।

प्रश्न यह है कि यह आह्वानन आदिकी विधि जैनपरम्परामें कैसे प्रविष्ट हुई ? सोमदेव[3] सूरिने स्थापन और सन्निधापनके पश्चात् तथा अभिषेकसे पहले विघ्नोंकी शान्तिके लिए इन्द्र, अग्नि, यम आदि देवताओंसे बलिग्रहण करके अपनी अपनी दिशामें स्थित होनेकी प्रार्थना की है; किन्तु उन्हें बुलाकर भी उनका विसर्जन नहीं किया है। देवसेनकृत भाव[4] संग्रहमें इन्द्रादि देवताओंका आह्वानन तथा उन्हें यज्ञका भाग अर्पित करके पूजनके अन्तमें उन आहूत देवोंका विसर्जन भी किया है। इस तरह जो आह्वानन और विसर्जन इन्द्रादि देवताओंके निमित्तसे किया जाता था, आगे उसे पूजाका आवश्यक अंग मानकर जिनेन्द्रदेवके लिए ही किया जाने लगा। आजकल पूजनके अन्तमें विसर्जन करते हुए नीचे यह श्लोक भी पढ़ा जाता है,

> "आहूता ये पुरा देवा लब्धभागा यथाक्रमम्।
> ते मयाऽभ्यर्चिताः भक्त्या सर्वे यान्तु यथास्थितिम् ॥"

इसीको हिन्दीमें इस प्रकार पढ़ा जाता है,

> आये जो जो देवगण पूजे भक्ति समान।
> ते सब जावहु कृपा कर अपने अपने थान ॥

मुक्तात्माओंके लिए यह कितना बेतुका और हास्यास्पद है। वास्तवमें यह विसर्जन पूजनके प्रारम्भमें आहूत इन्द्रादि देवताओंके लिए है, जिनेन्द्रदेवके लिए नहीं है। संस्कृतके श्लोकमें जो 'पुरा' 'यथाक्रमं लब्धभागाः' पद हैं वे इस कथनके समर्थक हैं। 'पुरा'का अर्थ है पहले अर्थात् पूजन आरम्भ करनेसे पूर्व। ऊपर लिखा जा चुका है कि सोमदेव उपासकाध्ययनमें तथा भावसंग्रहमें अभिषेकसे पहले इन्द्रादि देवताओंको

---

१. "जिनानाहूय संस्थाप्य सन्निधीकृत्य पूजयेत। पुनर्विसर्जयेन्मन्त्रैः संहितोक्तैर्गुरुक्रमात॥५६॥"
—धर्मसंग्रह श्रा०, पृ० २१९।

२. "अस्त्यत्र पञ्चधा पूजा मुख्याह्वानमात्रिका। प्रतिष्ठापनसंज्ञाऽथ सन्निधिकरणं तथा ॥१७४॥ ततः पूजनमत्रास्ति ततो नाम विसर्जनम्। पञ्चधेयं समाख्याता पञ्चकल्याणदायिनी ॥१७५॥"—पृ० ११५

३. उपा० श्लो० ५३८।

४. "आवाहिऊण देवे सुरवइ सिहिकालणेरिए वरुणे। पवणे जक्खे ससूली सपिय सवाहणे ससत्थे य ॥ दाऊण पुज्जदव्वं बलिचरुयं तह य जण्णभायं च। सव्वेसिमंतेहि य बीयक्खरणामजुत्तेहि ॥४३९-४४०॥ ''''झाणं झाऊण पुणो मज्झाणियवंदणत्थ काऊणं। उवसंहरिय विसज्जउ जे पुव्वावाहिया देवा ॥४८१॥"—भावसं०।

बुलाकर उन्हें बलि या यज्ञभाग देनेका विधान है। यही बात उक्त श्लोकके पूर्वार्द्ध द्वारा कही गयी है, "जिन देवोंको पूजनके प्रारम्भसे पहले आहूत किया था और जिन्होंने क्रमानुसार अपना-अपना भाग पा लिया है। वे मेरे द्वारा पूजित होकर अपने-अपने स्थानको जायें।"

जिनेन्द्रदेव तो न कहीं जाते हैं और न पूजाका द्रव्य ग्रहण करते हैं। किन्तु वैदिक विधिके अनुसार इन्द्रादि देवताओंका आह्वान यज्ञमें किया जाता है और अग्नि देवताओंका मुख है। अतः उस-उस देवताके उद्देशसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक अग्निमें जो आहुति दी जाती है वह उस-उस देवताको पहुँच जाती है, ऐसी वैदिक मान्यता है। उसी मान्यताका प्रभाव उत्तरकालमें जैनपूजाविधिमें भी प्रविष्ट हो गया प्रतीत होता है। इन्द्र, वरुण आदि वैदिक देवता हैं। उन्हींको प्रसन्न करके उनकी कृपाकामनाके लिए वैदिक यज्ञ किये जाते थे। यज्ञ तो जैनों और बौद्धोंके विरोधके कारण एक तरहसे बन्द हो गये। उसके साथ ही वैदिक देवताओंका भी पुराना स्थान जाता रहा, फिर भी लौकिक मान्यता बनी रही। सम्भवतः उसी मान्यताने जैनोंकी पूजाविधिको भी प्रभावित कर दिया। सोमदेवने तो केवल दिक्पालों और नवग्रहोंका आह्वान मात्र करके उनसे बलिग्रहण करनेकी प्रार्थना की है। किन्तु आशाधरने अपने प्रतिष्ठापाठमें नवग्रहोंका वर्णन करके उन सबको पृथक्-पृथक् बलि प्रदान करनेका विधान किया है।

सोमदेवने रस, घी, धारोष्ण दूध, दही और अन्तमें जलसे अभिषेक करनेके पश्चात् जल, चन्दन, तन्दुल, पुष्प, हवि (नैवेद्य), दीप, धूप, फलसे जिन भगवान्की पूजाका विधान किया है। लिखा है, "अभिषेक महोत्सवके पश्चात् जिनेन्द्रदेवकी जल, चन्दन, तन्दुल, पुष्प, हवि, दीप, धूप और फलोंसे पूजा करके मैं उनका स्तवन करता हूँ, उनका नाम जपता हूँ, उन्हें चित्तमें धारण करता हूँ, शास्त्रकी आराधना करता हूँ तथा त्रिलोकके ज्ञाता उनके ज्ञानरूपी तेजकी श्रद्धा करता हूँ।"[1] अर्थात् पूजनके पश्चात् पूजकको जिनेन्द्रका स्तवन, जप, ध्यान आदि करना चाहिए। इस क्रियाके समाप्त होनेके साथ पूजनका पाँचवाँ प्रकार समाप्त हो जाता है। इसके आगे छठे प्रकारमें पूजनके फलका कथन है। लिखा है, "हे भगवन्! जबतक इस चित्तमें आपका निवास है तबतक सदा जिनचरणोंमें मेरी भक्ति रहे, सब प्राणियोंमें मेरा भक्तिभाव रहे, मेरी ऐश्वर्यरत बुद्धि सबका आतिथ्य करनेमें संलग्न हो, मेरी बुद्धि अध्यात्मतत्त्वमें लीन रहे, ज्ञानी जनोंसे मेरा स्नेहभाव रहे और मेरी चित्तवृत्ति सदा परोपकारमें लगी रहे। हे देव! प्रातःकालीन विधि आपके चरणकमलोंकी पूजासे सम्पन्न हो, मध्याह्नकाल मुनियोंके समागममें बीते तथा सायंकालका समय भी आपके चारित्रका कीर्तन करनेमें व्यतीत हो। धर्मके प्रभावसे राज्यपदको प्राप्त हुआ राजा धर्मके विषयमें, धार्मिकोंके विषयमें और धर्मके हेतु चैत्यालय आदिके विषयमें सदा अनुकूल रहे। तथा प्रतिदिन जिनेन्द्रदेवके चरणोंकी पूजासे प्राप्त हुए पुण्यसे धन्य हुई जनता यथेच्छ उत्कृष्ट लक्ष्मीको प्राप्त करे।"[2] यही पूजाका फल है। सोमदेवने जलादि पूजाका इसके अतिरिक्त अन्य कोई फल नहीं बतलाया कि अमुक वस्तुसे पूजा करनेसे अमुक लाभ होता है या अमुक उद्देशसे जल चढ़ाता हूँ। भावसंग्रह (गा० ४७१-४७७)मे तथा आशाधरके सागारधर्मामृत[3] (३।३०)में इस प्रकारके फलका वर्णन पाया जाता है। दोनों प्रायः समान हैं। आशाधरने लिखा है, "अर्हन्तदेवके चरणोंमें जलकी धारा अर्पित करनेसे पापोंकी शान्ति होती है, चन्दनसे शरीर सुगन्धित होता है, अक्षतसे अविनाशी ऐश्वर्य प्राप्त होता है, पुष्पमालासे स्वर्गीय पुष्पोंकी माला प्राप्त होती है, नैवेद्यसे लक्ष्मीका स्वामी बनता है, दीपसे कान्ति प्राप्त होती है, धूपसे परम सौभाग्य प्राप्त होता है, फलसे इष्टकी प्राप्ति होती है और अर्घसे मूल्यवान् पद प्राप्त होता है।"

१. २. सो० उपा० श्लो० ५५९, ५६०—५६३

३. "वार्धारा रजसः शमाय पदयोः सम्यक् प्रयुक्ताऽर्हतः
सद्गन्धः तनुसौरभाय विभवाच्छेदाय सन्त्यक्षताः।
यष्टुः स्रग्दिविजस्रजे चरुरुमास्वाम्याय दीपस्त्विषे
धूपो विश्वदृगुत्सवाय फलमिष्टार्थाय चार्घाय सः॥"

आठों द्रव्योंको अलग-अलग चढ़ानेके पश्चात् उन्हें मिलाकर अर्घ चढ़ानेका उल्लेख न तो सोमदेवके उपासकाध्ययनमें है और न भावसंग्रहमें है।

पूजनका वास्तविक फल वही है जो सोमदेवने बताया है। जिनेन्द्रकी पूजासे भौतिक सुख-कामना करना उपयुक्त नहीं। आज-कल भी पूजनके अन्तमें शान्तिविधानके पश्चात् 'क्षेमं सर्वप्रजानां' तथा 'शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः' आदि श्लोकोंके द्वारा वही प्रार्थना की जाती है, जो सोमदेवने बतलाया है।

पूजाफलके बाद एक श्लोकमें सोमदेवने लिखा है, "हे भगवन्! शरीरके आलस्यसे या इन्द्रियोंके इधर-उधर लग जानेसे अथवा आत्माकी अन्यमनस्कतासे अथवा मनकी चपलतासे या बुद्धिकी जड़तासे अथवा वाणीमें सौष्ठवकी कमीके कारण आपके स्तवनमें मुझसे जो कुछ प्रमाद हुआ है वह मिथ्या हो" ॥५६५॥ इसी भावके सूचक 'ज्ञानतोऽज्ञानतो वाऽपि' या 'बिन जाने वा जानके' आदि पद्य आज भी पूजनके अन्तमें पढ़े जाते हैं। इसके आगे सोमदेवके उपासकाध्ययनमें यह विसर्जन नहीं है कि 'भगवन्, अपना अपना भाग लेकर अपने अपने स्थान-को जाओ।' वस्तुतः यह होना भी नहीं चाहिए।

पंचामृताभिषेक

प्रसंगवश पंचामृताभिषेकके विषयमें भी विचार कर लेना उपयुक्त होगा। जिनबिम्बका अभिषेक तीर्थंकरोंके जन्मकल्याणकके समय सुमेरु पर्वतपर इन्द्रके द्वारा किये गये अभिषेकका ही प्रतिरूप है। सोमदेवने अभिषेकके अवसरपर सन्निधापन क्रियाका वर्णन करते हुए लिखा है, "यही वे जिनेन्द्रदेव हैं, यह सिंहासन ही सुमेरुपर्वत है, और कलशोंमें स्थित जलादि ही साक्षात् क्षीरसमुद्रका जल है।" आज-कल भी अभिषेकके प्रारम्भमें इस प्रकारका सन्निधापन किया जाता है।

इन्द्रने केवल क्षीरसमुद्रके जलसे ही भगवान्का अभिषेक किया था, यद्यपि जैन मान्यताके अनुसार क्षीरसमुद्रके पश्चात् ही घृतवर और इक्षुवर नामके समुद्र भी हैं, किन्तु उनके जलसे भगवान्का अभिषेक नहीं किया गया। फिर भी जैनपरम्परामें घी, दूध, दही आदिसे अभिषेककी परम्परा कैसे चल पड़ी, यह प्रश्न विचारणीय है।

सोमदेवसे पूर्वका कोई श्रावकाचार या पूजा-प्रतिष्ठा-पाठ ऐसा उपलब्ध नहीं है जिसमें अभिषेक पूजा आदिका विधान हो। भावसंग्रहमें इस तरहका वर्णन है, किन्तु उसे सोमदेवके पहलेकी रचना माननेमें सन्देह है। कतिपय पुराण सोमदेवसे पहलेके हैं और उनमें-से कुछेकमें दूध, दही आदिसे अभिषेकका उल्लेख है।

पद्मपुराण (पर्व ६८ श्लोक १४) में जिनबिम्बके अभिषेकके लिए घी, दूध आदिसे पूर्ण कलशोंका उल्लेख है। हरिवंशपुराण (सर्ग २२, श्लोक २१)में भी क्षीर, इक्षुरस, घी, दही और जलसे भगवान्का अभिषेक करनेका उल्लेख है; किन्तु वरांगचरित (सर्ग २३) में जो हरिवंशपुराणसे प्राचीन है अभिषेकका विस्तृत वर्णन होते हुए भी और दूध, दही आदिसे भरे कलशोंका उल्लेख होते हुए भी उनसे अभिषेक किये जानेका उल्लेख नहीं है, जलसे अभिषेकका अवश्य उल्लेख है। उसमें अभिषेककी पूरी विधिका चित्रण किया गया है। आवश्यक अंशका भाव इस प्रकार है, राजाकी आज्ञासे बुद्धिमान् पुरोहितने जिन भगवान्के अभिषेकके लिए जल, दूध, पुष्प, फल, गन्ध, जौ, घी, सरसों, तन्दुल, लाजा, अक्षत, काले तिल, दर्भ और दही आदि सामग्री संकलित की। जल शान्तिके लिए है, दूधसे तृप्ति होती है, दहीसे कार्यकी सिद्धि होती है, तण्डुलोंसे दीर्घायु प्राप्त होती है, सरसों विघ्नोंको दूर करते है, तिलोंसे मनुष्योंकी वृद्धि होती है, अक्षतसे नीरोगता प्राप्त होती है, जौसे अच्छा रूप मिलता है, घीसे अच्छा शरीर मिलता है, फलोंसे इस लोक और पर-लोककी सिद्धि होती है, गन्ध सौभाग्यदायक है, पुष्पों और लाजासे सौमनस्य प्राप्त होता है। इन्द्र आदि दिशाओंमें दान करनेके लिए क्रमसे सोने, चाँदी, ताँबा और काँसेके पात्र बनवाये। नदी, कूप, वापी, तालाब आदि पवित्र स्थानोंसे पानी एकत्र किया गया। दूध, दही, घी और जल वगैरहसे भरे हुए घट फूलोंके गुच्छों-

से ढाँके गये। उनपर सुवर्णकारोंने चित्रकारी की थी। एक हजार आठ विशाल घट शीतल जलसे पूर्ण किये गये। उनके मुख कमलोंसे ढके हुए थे। ये केवल जिनबिम्बके अभिषेकके लिए थे।[1] अनेक प्रकारके फल, कुंकुम, हिंगुल, चन्दन तथा धूप वगैरह संकलित की गयीं। ये सब चीजें राजमहलसे लेकर जुलूस चला और खूब ठाट-बाटके साथ जिनमन्दिरमें पहुँचा। राजाकी पत्नियों और राजाने प्रवेश करके प्रदक्षिणा दी और उपहार-सामग्रीको स्थापित कराकर अभिषेक-मण्डपमें चले गये। अभिषेककर्ताने सुगन्धित जलसे उनके हाथ धोये। उसके हाथमें दर्भ थे और वह इधर-उधर पुष्प फेंकता जाता था। मृदंग आदिकी ध्वनि हो रही थी, चामर ढोरे जा रहे थे। मौनव्रत पूर्वक उसने जिनेन्द्र-बिम्बको लाकर रत्नखचित पीठिकापर विराजमान कर दिया। इसके बाद पहले उसने जिनबिम्बको प्रणाम किया। फिर दोनों हाथोंसे झारी उठाकर चरणोंका अभिषेक किया और दुपट्टेसे सामग्री खोलकर चढ़ा दी। फिर दोनों हाथोंसे प्रतिमाको साफ करके बायें हाथमें जल लेकर 'जिनादिभ्यः स्वाहा' ऐसा मन्त्र पढ़कर स्तोत्र पाठ करते हुए दायें हाथके अंगूठेसे भगवान्‌के मस्तकपर जलकी धारा डाली। फिर भगवान्‌के चरणोंमें पुष्प और अक्षत क्षेपण करके साथ-ही-साथ केशरकी भी धारा दी। इसके बाद स्वच्छ जलसे पूर्ण तथा सत्पुष्पोंसे व्याप्त सोने और मिट्टीके अनेक घटोंसे भगवान्‌का अभिषेक करके पुरोहितने सुगन्धित द्रव्योंका भगवान्‌पर लेप कर दिया[2]। वरांगचरितके रचयिता दक्षिणके थे। किन्तु दाक्षिणात्य शैलीकी अभिषेकविधिका निरूपण करके भी उन्होंने अभिषेक केवल जल या सुगन्धित जलसे ही कराया है। घृत आदिकी धाराका कोई निर्देश नहीं किया है और न अभिषेकके प्रारम्भमें दिक्पालों और नव देवताओंको बलि ही दी है। यद्यपि आचार्य रविषेणने, जो उनके समकालीन प्रतीत होते हैं, घृत, दूध वगैरहसे अभिषेक-का उल्लेख किया है, किन्तु विद्वान् लोग जानते हैं कि आचार्य रविषेणने अपना पद्मचरित विमलसूरिके 'पउमचरिअ' के पद्योंको प्रायः परिवर्तित करके बनाया है। पउमचरिअके छासठवें पर्वमें भी एक पद्य इसी आशयका है जिसका रूपान्तर पद्मचरितमें है। दोनोंके पद्य निम्न प्रकारके हैं:—

"दारेसु पुण्णकलसा ठविया दहि खीर सप्पिसंपुण्णा।
वरपउमपिहियवदणा जिणवर पूयाभिसेयत्थे॥"२३॥—पउम०

"घृतक्षीरादिभिः पूर्णाः कलशाः कमलाननाः।
मुक्तादामादिसत्कण्ठा रत्नराशिविराजिताः॥२४॥
जिनबिम्बाभिषेकार्थमाहृता भक्तिभासुराः।",

इससे स्पष्ट है कि पद्मचरितमें घृत, दूध आदिका उल्लेख पउमचरिअसे आया है। 'पउमचरिअ'के रचयिता किस सम्प्रदायके थे यह अभी निर्णीत नहीं हो सका है; क्योंकि उसकी सभी बातें न दिगम्बर सम्प्रदायके अनुकूल हैं और न श्वेताम्बर सम्प्रदायके। ऐसी स्थितिमें पद्मचरितके उल्लेखको दिगम्बर मान्यताका रूप तो नहीं दिया जा सकता। पंचामृतसे सम्बन्ध रखनेवाले दूध, इक्षुरस, घृत, दधि और उदकका सबसे प्रथम स्पष्ट उल्लेख हरिवंशपुराणमें (स० २२ श्लो० २१) में मिलता है, किन्तु स्वामी जिनसेनने जिनका स्मरण हरिवंशपुराणमें किया गया है, अपने महापुराणमें और उनके शिष्य गुणभद्राचार्यने उत्तर-पुराणमें इन चीजोंसे अभिषेकका उल्लेख कहीं भी नहीं किया। प्रत्युत जलसे ही अभिषेक कराया है।

पंचामृतके सम्बन्धमें एक बात और भी लेखनीय है। प्रारम्भमें केवल इक्षुरस ही लिया जाता था। वैष्णवमतमें भी पंचामृतमें घी, दूध, दही, शर्करा और मधु लिया जाता है। मधु और शर्कराके स्थानमें इक्षुरस ठीक भी

---

१. "अष्टोत्तरा शीतजलैः प्रपूर्णाः सहस्रमात्राः कलशा विशालाः।
पद्मोत्पलोत्फुल्लपिधानवक्त्रा जिनेन्द्रबिम्बस्नपनैककार्याः" ॥२६॥

२. "स्वच्छाम्बुपूर्णैर्वरहेमकुम्भैस्तैर्मृन्मयैः सत्कुसुमावकीर्णैः।
घटैरनेकैरभिषिच्य नाथं तं गन्धपङ्केन विलिम्पति स्म॥"

बैठता है। किन्तु उत्तरकालमें तो सभी फलोंका रस लिया जाने लगा। सोमदेवने दाख, खजूर, केला, इक्षु, आँवला, आम और सुपारी आदिके रससे भी भगवान्‌का अभिषेक कराया है।

वैदिकपूजा-पद्धति

यह हम पहले लिख आये हैं कि सोमदेव सूरि जैनसिद्धान्तकी तरह वैदिक धर्म और साहित्यसे भी पूर्ण परिचित थे और उनपर उसका प्रभाव भी था। अतः उन्होंने अपने उपासकाध्ययनमें जिस पूजा-पद्धतिका वर्णन किया है वह उस प्रभावसे अछूती नहीं लगती। इसलिए यहाँ वैदिक-पूजा-पद्धतिका भी संक्षिप्त परिचय देना अप्रासंगिक न होगा।

प्रारम्भमें यह स्पष्ट कर दिया है कि वैदिक परम्परामें यज्ञोंकी ही प्रधानता थी। यज्ञोंमें इन्द्र आदि देवताओंके उद्देशसे अग्निमें द्रव्यका हवन किया जाता था। अतः शाबरभाष्यकारने याग, होम और दानका विश्लेषण करते हुए लिखा है कि तीनोंमें स्वद्रव्यका त्याग समान है। अतः चूँकि देवताके उद्देशसे द्रव्यका त्याग करना पूजा है इसलिए पूजा भी याग ही है।[1]

वैदिक धर्ममें पूजाके सोलह उपचार बतलाये हैं[2]—आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, अनुलेपन या गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, नमस्कार, प्रदक्षिणा और विसर्जन या उद्वासन। विभिन्न ग्रन्थोंमें विभेद भी पाया जाता है, कुछमें यज्ञोपवीतके पश्चात् भूषण और प्रदक्षिणा या नैवेद्यके बाद ताम्बूल पाया जाता है। इसलिए किन्हीं ग्रन्थोंमें उपचारोंकी संख्या अठारह है। कुछमें आवाहन नहीं है और आसनके बाद स्वागत और आचमनीयके बाद मधुपर्क है। कुछमें स्तोत्र और प्रणाम भी हैं। जो वस्त्र और अलंकार नहीं दे सकता, वह सोलहमें-से केवल दशोपचारी पूजा करता है। और जो इतना भी नहीं कर सकता वह पंचोपचारी पूजा करता है। और जो पंचोपचार भी करनेमें असमर्थ है वह केवल पुष्पोपचार कर सकता है।

प्रतिष्ठित प्रतिमाकी पूजामें आवाहन और विसर्जन नहीं होता, केवल चौदह ही उपचार होते हैं। अथवा आवाहन और विसर्जनके स्थानमें मन्त्रोच्चारणपूर्वक पुष्पांजलि दी जाती है। नूतन प्रतिमामें षोडशोपचारी ही पूजा होती है।[3]

प्रतिमाका स्नान पंचामृतसे होता है। दूध, दही, घी, शहद और चीनी ये पंचामृत हैं। पहले[4] दूधसे, फिर दहीसे, फिर घीसे, फिर मधुसे और अन्तमें चीनीसे अभिषेक किया जाता है। इनके पश्चात् केवल जलाभिषेक होता है। यदि प्रतिमा मिट्टीकी हो या चित्ररूपमें हो तो उसका अभिषेक नहीं किया जाता। जो पंचामृतसे अभिषेक नहीं कर सकते वे जलमें तुलसीके पत्ते डालकर उसीसे अभिषेक करते हैं। अभिषेकके बाद चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्योंसे प्रतिमाका लेपन होता है।

यदि पुष्प न हों तो फलसे, फल न हो तो पल्लवसे, पल्लव न हो तो जलसे प्रतिमापूजन किया जा सकता है। पुष्पादिके अभावमें सफेद चावलोंसे पूजन करनेका विधान है।[5] पूजनके बाद आरातिका (आरती)

---

१. "तत्र पूजा नाम देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागात्मकत्वाद्याग एव।"—पूजाप्रकाश पृ० १।

२. हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, पृ० ७२९।

३. "प्रतिष्ठितप्रतिमायामावाहनविसर्जनयोरभावेन चतुर्दशोपचारैव पूजा। अथवावाहनविसर्जनयोः स्थाने मन्त्रपुष्पाञ्जलिदानम्। नूतनप्रतिमायां तु षोडशोपचारैव पूजा।"
—संस्कार रत्नमाला, पृ० २७।

४. "क्षीरेण पूर्वं कुर्वीत दध्ना पश्चाद् घृतेन च। मधुना चाथ खण्डेन क्रमो ज्ञेयो विचक्षणैः॥"
—पूजाप्रकाश पृ० २४ में उद्धृत।

५. "पुष्पाभावे फलं शस्तं फलाभावे तु पल्लवम्। पल्लवस्याप्यभावे तु सलिलं ग्राह्यमिष्यते। पुष्पाद्यसंभवे देवं पूजयेत्सिततण्डुलैः।"—पूजाप्रकाश पृ० ६५ में उद्धृत।

की जाती है। नैवेद्यके सम्बन्धमें रामायणमें लिखा है कि जो वस्तु पूजक स्वयं खाता है वही अपने देवताको भी अर्पित करता है।[1]

संक्षेपमें यह वैदिकपूजा-पद्धति है। इसका प्रभाव उत्तरकालमें जैनपूजा-पद्धतिपर भी पड़ा प्रतीत होता है। इस विषयमें स्वतन्त्र रूपसे विशेष शोध-खोजकी आवश्यकता है।

दिक्पालादिककी पूजा

अभिषेकादिके प्रारम्भमें दिक्पालादिके आवाहनकी प्रथा बहुत प्राचीन प्रतीत नहीं होती ; क्योंकि वरांगचरित जैसे ग्रन्थमें, जिसमें अभिषेकविधिका सांगोपांग वर्णन है, दिक्पालादिके आवाहनका नाम भी नहीं है। उत्तरकालमें वैदिक क्रिया-काण्डका विशेष जोर रहा और उसीके प्रभावसे प्रभावित होकर जैनाचारमें भी इस तरहकी बातें प्रविष्ट हो गयी प्रतीत होती हैं। नौवीं-दसवीं शताब्दीके साथ ही श्रावकाचार सम्बन्धी साहित्यका विपुल सर्जन मिलता है, उसीके साथ पूजापाठ और प्रतिष्ठाविधानविषयक ग्रन्थोंकी रचना भी उपलब्ध होती है। उसी कालके साहित्यमें शासन देवताओंके चमत्कारका भी दर्शन होता है।

लगभग इन्हीं शताब्दियोंमें ही भारतमें तान्त्रिक धर्मका प्राबल्य बढ़ा और उसके प्रभावसे कोई धर्म अछूता नहीं रहा। तान्त्रिक धर्ममें देवी-देवताओंकी आराधनाका ही प्राबल्य था।

श्री पी० बी० देसाईने अपनी 'जैनिज्म इन साउथ इण्डिया'[2] नामक पुस्तकमें यक्षी संस्कृतिपर भी प्रकाश डाला है। तमिलनाडमें यक्षी संस्कृतिका उद्‌गम बतलाते हुए श्री देसाईने लिखा है कि तमिलनाडमें जैनधर्मको शैव और वैष्णवधर्मोंसे टक्कर लेनी पड़ी। शैव और वैष्णवधर्ममें पार्वती और लक्ष्मीपूजाका प्राधान्य था क्योंकि ये दोनों शिव और विष्णुकी अर्धांगिनी थीं। उधर जैनधर्ममें तीर्थंकर जिनकी कोई स्त्री नहीं थी, अतः भक्त जनताके मनको आकृष्ट करनेके लिए जैनाचार्योंने अपने धर्ममें यक्षीपूजाका आविष्कार किया और उसे खूब बढ़ावा दिया।

प्राप्त यक्षी मूर्तियोंसे पता चलता है कि तमिलनाडमें यक्षी अम्बिकाकी सबसे अधिक मान्यता थी। उसके बाद सिद्धायिकाका स्थान था, किन्तु पद्मावतीकी उतनी मान्यता नहीं थी।

जैनाचार्योंमें मन्त्रविद्याका भी उत्तरकालमें विशेष प्रचार था, यह बात श्रवणबेलगोलाके लेखोंसे प्रमाणित होती है। उसके लेख नं० ६६-६७ में श्रीधरदेव और पद्मनन्दिको मन्त्रवादीश्वर कहा है। मल्लिषेण भी मन्त्र-तन्त्रवादी थे। उन्होंने ज्वालिनीकल्प नामक ग्रन्थकी रचना की है। ज्वालिनी तान्त्रिक यक्षिणी है। दक्षिणमें उसकी भी विशेष मान्यता थी। मल्लिषेणका समय ग्यारहवीं शताब्दी है। उसने भैरवपद्मावतीकल्प नामका भी ग्रन्थ रचा है। उसमें पद्मावतीकी सहायतासे शक्ति प्राप्त करनेके मन्त्र-तन्त्रोंका वर्णन है। कर्नाटकमें दसवीं शताब्दीमें पद्मावतीकी बहुत मान्यता थी। 'पद्मावती देवी लब्धवरप्रसाद' यह उस समयका सम्मान्य विरुद था, जिसे छोटे-मोटे शासक बड़े गौरवसे धारण करते थे। उस समयके टीकाकार अनन्तवीर्यने और वादिराजने अकलंककृत न्यायविनिश्चयकी टीकामें 'अन्यथानुपपन्नत्व' रूप हेतुलक्षणको पद्मावतीके द्वारा सीमन्धर स्वामीके समवसरणसे लाकर पात्रकेसरी स्वामीको देनेका उल्लेख किया है। श्रवणबेलगोलकी मल्लिषेणप्रशस्तिमें भी एक श्लोक इसी आशयका दिया है,

> "महिमा स पात्रकेसरिगुरोः परं भवति यस्य भक्त्यासीत् ।
> पद्मावतीसहाया त्रिलक्षणकदर्थनं कर्तुम् ॥"

---

१. "यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः।"—अयोध्याकाण्ड १०३, ३०।

२. यह पुस्तक जीवराज ग्रन्थमाला शोलापुरसे प्रकाशित हुई है।

३. इसके लिए न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भागकी प्रस्तावनाका पृष्ठ ७४ देखें।

अर्थात् उस गुरु पात्रकेसरीकी उत्कृष्ट महिमा है जिसकी भक्तिसे प्रेरित होकर पद्मावती बौद्धोंके त्रिलक्षणवादका खण्डन करनेके लिए सहायक हुई।

उक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि सोमदेवके समयमें तथोक्त शासन देवताओंकी बड़ी प्रतिष्ठा दक्षिण देशमें थी और उन्हें जिनेन्द्रदेवके समकक्ष मानकर पूजा जाता था।

इसीसे उन्होंने अपने उपासकाध्ययनमें ध्यानके प्रकरणमें लिखा है, तीनों लोकोंके द्रष्टा जिनेन्द्रदेव और व्यन्तरादिक देवताओंको जो पूजा-विधानोंमें समान रूपसे देखता है वह नरकमें जाता है। परमागममें शासनकी रक्षाके लिए उनकी कल्पना की गयी है। अतः सम्यग्दृष्टियोंको पूजाका अंश देकर उनका सम्मान करना चाहिए। एकमात्र जिन-शासनकी भक्ति करनेवाले व्रती सम्यग्दृष्टियोंपर तो वे इन्द्रसहित स्वयं ही प्रसन्न होते हैं।[1]

उक्त कथन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। प्रथम तो इनके द्वारा व्यन्तरादिक देवताओंको जिन-शासनकी रक्षाके लिए कल्पित बतलाया है। कल्पित वस्तु वास्तविक नहीं होती। इनकी कल्पनाका कारण पूर्वमें बतलाया है। दूसरे, सम्यग्दृष्टियोंसे कहा गया है कि वे उनको यज्ञांश देकर सम्मान करें, नमस्कार या स्तुति आदिके द्वारा नहीं, इसके अधिकारी तो जिनेन्द्रदेव ही हैं। किन्तु यतः व्रती सम्यग्दृष्टियोंपर वे स्वयं ही प्रसन्न होते हैं। अतः उनके लिए यज्ञांशदानका भी विधान नहीं किया है। इसीसे पं० आशाधरने सागारधर्मामृतके तीसरे अध्यायके सातवें श्लोककी टीकामें दार्शनिक श्रावकका कथन करते हुए लिखा है कि आपत्तिसे व्याकुल होते हुए भी प्रथम प्रतिमाधारी श्रावक उसको दूर करनेके लिए कभी भी शासन-देवता वगैरहको नहीं भजता[2]।

सोमदेवने शासन-देवताओंकी चर्चा ध्यानके प्रकरणमें की है। इसका कारण सम्भवतया यह है कि तन्त्र-मन्त्रके आराधकोंके द्वारा शासन-देवताओंकी जो आराधना की जाती थी, उसीका निषेध करनेके लिए ऐसा किया गया है।

सोमदेवकृत यशस्तिलक तथा उसके अन्तमें स्थित उपासकाध्ययनकी बहुविध सामग्रीका परिचय करनेके बाद यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि यशस्तिलककी न केवल कथात्मक उपयोगिता है, प्रत्युत बहुविध सामग्रीकी दृष्टिसे यह एक अमूल्य ग्रन्थ है।

उत्तर भाग

श्रावकाचारोंका तुलनात्मक पर्यवेक्षण

'चारित्तं खलु धम्मो'— चारित्र ही धर्म है, और वह चारित्र या आचार मुनि और श्रावकके भेदसे दो प्रकारका है। जो यह जानते हुए भी कि सांसारिक विषय-भोग हेय है मोहवश उन्हें छोड़नेमें असमर्थ होता है वह गृहमें रहकर श्रावकाचारका पालन करता है। श्रावकाचारका मतलब होता है—जैन गृहस्थका धर्म। जैन गृहस्थको श्रावक कहते हैं। इसका प्राकृत रूप 'सावग' होता है। संस्कृत 'श्रावक' और प्राकृत 'सावग' रूपके भ्रष्ट मिश्रणसे बना 'सरावगी' शब्द किसी समय जैन गृहस्थोंके लिए बहुत अधिक व्यवहृत होता था। अब तो सब अपनेको जैन ही लिखते हैं और जैन ही कहे जाते हैं।

---

१. सो० उपा० श्लो० ६९७-६९९।

२. "आपदाकुलितोऽपि दर्शनिकस्तन्निवृत्त्यर्थं शासनदेवतादीन् कदाचिदपि न भजते।"

जैन श्रावकके लिए उपासक शब्द भी व्यवहृत होता था। प्राचीन आगमोंमें-से जिस आगममें श्रावक धर्मका वर्णन था उसका नाम ही उपासकाध्ययन था। इसीसे सोमदेव सूरिने अपने यशस्तिलक नामक ग्रन्थके जिन दो अन्तिम अध्यायोंमें श्रावकाचारका वर्णन किया है उनका नाम उपासकाध्ययन रखा है।

गृहस्थको संस्कृतमें 'सागार' भी कहते हैं। 'अगार' कहते हैं गृहको। उसमें जो रहे सो सागार है। अतः गृहस्थ धर्मको सागार धर्म भी कहते हैं। उक्त कारणोंसे जैन गृहस्थके आचारको बतलानेवाले ग्रन्थोंका नाम श्रावकाचार उपासकाध्ययन या सागारधर्मामृत आदि रखा गया है। जैनसाहित्यमें आज एतद्विषयक अनेक ग्रन्थ वर्तमान हैं, जो प्रकाशमें आ चुके हैं। इसी प्राप्त साहित्यके आधारपर ऐतिहासिक क्रमसे श्रावकाचारोंका तुलनात्मक पर्यवेक्षण अनेक दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण होगा। इसीसे प्रस्तावनाके इस भागमें इसका एक प्रयत्न किया गया है।

श्रावकके बारह व्रत होते हैं—पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। इस विषयमें सभी ग्रन्थकार एकमत हैं और अणुव्रतके पाँच भेदोंके सम्बन्धमें भी कोई मतभेद नहीं है, यदि कुछ भेद है तो मूलगुण, गुणव्रत और शिक्षाव्रतके भेदोंको लेकर ही है। किन्तु उस भेदको मतभेद न कहकर दृष्टिभेद कहना अधिक उपयुक्त होगा। आगेके विश्लेषणसे इसपर स्पष्ट प्रकाश पड़ सकेगा। सबसे पहले हम मूलगुणोंको ही लेते हैं।

मूल-गुण

आचार्य कुन्दकुन्दने अपने 'चारित्रप्राभृत'में श्रावकधर्मका भी वर्णन किया है, किन्तु उसमें उन्होंने ग्यारह प्रतिमाओंके नाम गिनाकर श्रावकके उक्त बारह व्रतोंको ही चार गाथाओंसे बतला दिया है और उन्हें ही श्रावकका आचार बतलाया है।[1] श्रावकके मूल गुणोंका कोई उल्लेख उन्होंने नहीं किया।

आचार्य उमास्वामीने अपने तत्त्वार्थसूत्रके सातवें अध्यायमें पुण्यास्रवके कारणोंका वर्णन करते हुए श्रावकधर्मका वर्णन किया है; किन्तु उन्होंने भी श्रावकके उक्त बारह व्रतोंको ही बतलाया है। इतनी विशेषता है कि उन्होंने पाँचों व्रतोंका स्वरूप और श्रावकके बारह व्रतोंके अतीचार भी बतलाये हैं, परन्तु मूलगुण-जैसी कोई चीज उन्होंने नहीं बतलायी। तत्त्वार्थसूत्रके टीकाकार स्वामी पूज्यपाद, भट्टाकलंक और विद्यानन्दिने भी अपनी टीकाओंमें मूल गुणोंका कोई उल्लेख नहीं किया।

आचार्य रविषेणने वि० सं० ७३४ के लगभग अपना पद्मचरित, जिसे पद्मपुराण कहते हैं, रचा था। उसके चौदहवें पर्वमें उन्होंने श्रावकधर्मका निरूपण एक केवलीके मुखसे कराया है। उसमें भी उन्होंने श्रावकके बारह व्रतोंका ही निरूपण किया है। किन्तु अन्तमें लिखा है कि मधु, मद्य, मांस, जुआ, रात्रिभोजन और वेश्यासंगमके त्यागको नियम कहते हैं[2]।

आगे इसका विवेचन करते हुए ग्रन्थकारने रात्रिभोजन वर्जनपर बहुत जोर दिया है और फिर लिखा है कि जो मनुष्य मांस, मद्य, रात्रिभोजन, चोरी और परस्त्रीका सेवन करता है वह अपने इस

---

१. "पंचेवणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि।
सिक्खावय चत्तारि संजमचरणं च सायारं ॥२२॥"

२. "मधुनो मद्यतो मांसाद् द्यूततो रात्रिभोजनात्।
वेश्यासंगमनाच्चास्य विरतिर्नियमः स्मृतः ॥२०२॥"

जन्म और पर जन्मको नष्ट करता है।[१]

आचार्य जिनसेनने वि० सं० ८४०में अपना हरिवंशपुराण रचा था। इसके अठारहवें सर्गमें श्रावक धर्मका वर्णन करते हुए ग्रन्थकारने पद्मचरितके ढंगसे ही श्रावकके बारह व्रत गिनाकर अन्तमें लिखा है, मांस, मद्य, मधु, द्यूत और उदुम्बरफलका छोड़ना तथा वेश्या और परस्त्रीके साथ भोगका त्याग करना आदिको नियम कहते हैं।[२]

इससे पहले दसवें सर्गमें भी गृहस्थके पाँच अणुव्रतोंको बतलाकर दान, पूजा, तप और शीलको गृहस्थों-का धर्म बतलाया है। यद्यपि ऊपर कहे गये नियममें मूलगुणोंकी परिगणना हो जाती है किन्तु मूलगुण रूपसे उल्लेख हरिवंशपुराणमें भी नहीं है।

हरिवंशपुराणसे पहले रचे गये वरांगचरितके बाईसवें अध्यायमें भी श्रावकके बारह व्रत गिनाये है, किन्तु मूलगुणोंका कोई उल्लेख नहीं है और न मूलगुणोंके अन्तर्गत वस्तुओंका ही प्रकारान्तरसे कोई उल्लेख है। हाँ, दान, पूजा, तप और शीलको श्रावकोंका धर्म अवश्य बतलाया है।

स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षामें धर्मानुप्रेक्षाका वर्णन करते हुए ग्यारह प्रतिमाओंका निरूपण किया है। उसमे पहली प्रतिमाका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि जो बहुत त्रस जीवोंसे युक्त मद्य मांस आदि निन्दित वस्तुका सेवन नहीं करता वह दर्शनप्रतिमाका धारी श्रावक है।[३]

इस तरह पहली प्रतिमावालेके लिए त्याज्यरूपसे मद्य मांसादिकका उल्लेख किया गया है किन्तु मूल-गुण रूपसे नहीं।

वसुनन्दिश्रावकाचारमें भी पहली प्रतिमाका स्वरूप बतलाते हुए पाँच उदुम्बर और सात व्यसनके त्यागीको दर्शनप्रतिमाका धारी श्रावक बतलाया है तथा आगे सात व्यसनोंका विवेचन करते हुए मद्य मांस-की बुराइयाँ तो बतायी ही हैं, क्योंकि सात व्यसनोंमें दोनों गर्भित हैं; किन्तु साथ-ही-साथ मधुकी भी बुराइयाँ बतलायी हैं। अतः यद्यपि उन्होंने अष्टमूलगुणका निर्देश नहीं किया तथापि ग्रन्थकारको पहली प्रतिमाधारीके द्वारा पाँच उदुम्बर और तीन मकारोंका त्याग इष्ट है, यह स्पष्ट है।

ऊपर जिन ग्रन्थोंका कालक्रमके अनुसार उल्लेख किया उनमें श्रावकाचारका वर्णन होते हुए भी मूलगुणोंका या मूलगुण रूपसे कोई निर्देश नहीं मिलता। आगे ऐसे ग्रन्थोंका उल्लेख किया जाता है जिनमें इस प्रकारका निर्देश मिलता है।

गृहस्थोंके आठ मूलगुणोंका सबसे प्रथम स्पष्ट निर्देश स्वामी समन्तभद्ररचित रत्नकरण्डश्रावका-चारमें मिलता है। उसमे लिखा है, जिनेन्द्रदेव मद्य, मांस और मधुके त्यागके साथ पाँच अणुव्रतोंको गृहस्थोंके अष्टमूलगुण कहते हैं।[४]

---

१. "मांसं मद्यं निशाभुक्तिं स्तेयमन्यस्य योषितम्।
सेवते यो जनस्तेन भवे जन्मद्वयं हतम् ॥२७७॥"

२. मांसमद्यमधुद्यूतक्षीरिवृक्षफलोज्झनम्।
वेश्यावधूरतित्याग इत्यादि नियमो मतः ॥४८॥"

३. "बहुतससमण्णिदं जं मज्जं मंसादि णिंदिदं दव्वं।
जो ण य सेवदि णियमा सो दंसण सावओ होदि ॥३२८॥"

४. "मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥६६॥"

चामुण्डरायने स्वरचित चारित्रसारमें, जो विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें रचा गया है, 'तथा चोक्तं महापुराणे' लिखकर यह श्लोक उद्धृत किया है,

"हिंसासत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात् ।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः ॥"

अर्थात् स्थूल हिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल अब्रह्म और स्थूल परिग्रह तथा जुआ, मांस और मद्यसे विरति, ये गृहस्थोंके आठ मूलगुण हैं ।

विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके विद्वान् पं० आशाधरने अपने सागारधर्मामृत तथा उसकी टीकामें भी महापुराणके उक्त मतका निर्देश किया है और टिप्पणोंमें उक्त श्लोक उद्धृत किया है । किन्तु जिनसेनाचार्य-कृत महापुराणमें उक्त श्लोक नहीं मिलता और न उक्त श्लोकके द्वारा कहे गये आठ मूलगुण ही मिलते हैं । अड़तीसवें पर्वमें व्रतावतरण क्रियाका वर्णन करते हुए लिखा है, मधु और मांसका त्याग, पाँच उदुम्बरफलोंका त्याग और हिंसादिका त्याग ये उसके सार्वकालिक–सदा रहनेवाले व्रत हैं ।[1]

इसमें अष्टमूलगुण शब्दका व्यवहार नहीं किया गया है, और मधुके त्यागका विधान किया है, जब कि मद्यको नहीं गिनाया है । अतः चारित्रसारमें उद्धृत उक्त श्लोकके साथ उसकी संगति नहीं बैठती ।

अमृतचन्द्रसूरिने अपने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें लिखा है कि हिंसासे बचनेकी अभिलाषा रखनेवाले पुरुषोंको सबसे पहले मद्य मांस मधु और पाँच उदुम्बर फलोंको छोड़ देना चाहिए । ये आठों घोर पापके घर हैं । इन्हें छोड़नेसे ही मनुष्यकी बुद्धि निर्मल होती है और तभी वह जिनधर्मके उपदेशका पात्र होता है[2] ।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यद्यपि इन्हें ग्रन्थकारने मूलगुण नहीं कहा, किन्तु उन्हें अभीष्ट यही प्रतीत होता है कि ये श्रावकके मूलगुण हैं ।

वि० सं० १०१६ में रचे गये सोमदेव उपासकाध्ययनमें भी अष्टमूलगुणोंको इसी रूपमें गिनाया है ।

"मद्यमांसमधुत्यागाः सहोदुम्बरपञ्चकैः ।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुते ॥"

देवसेन आचार्यने अपने भावसंग्रहमें भी ये ही अष्टमूलगुण बतलाये हैं,

"महुमज्जमंस विरई चाओ पुण उंबराण पंचण्हं ।
अट्ठेदे मूलगुणा हवंति फुड देसविरयम्मि ॥३५६॥"

पद्मनन्दि पंचविंशतिकामें भी ये ही मूलगुण बतलाये हैं,

"त्याज्यं मांसं च मद्यं च मधूदुम्बरपञ्चकम् ।
अष्टौ मूलगुणाः प्रोक्ता गृहिणो दृष्टिपूर्वकाः ॥२३॥"

आचार्य अमितगतिने अपने सुभाषितरत्नसन्दोहमें, जो वि० सं० १०५० में रचकर पूर्ण हुआ था,

---

१. "मधुमांसपरित्यागः पञ्चोदुम्बरवर्जनम् ।
हिंसादिविरतिश्चास्य व्रतं स्यात् सार्वकालिकम् ॥ १२२ ॥"

२. "मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन ।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥६१॥
अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनानि परिवर्ज्य ।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥७४॥"

अहिंसाणुव्रतका वर्णन करते हुए त्रसरक्षामें तत्पर श्रावकोंको सदा मद्य मांस मधु और पाँच उदुम्बर फलोंके खानेका त्याग करना आवश्यक बतलाया है।

"मद्यमांसमधुक्षीरक्षोणीरुहफलाशनम्।
वर्जनीयं सदा सद्भिस्त्रसरक्षणतत्परैः ॥७६५॥"

अपने उपासकाचारमें भी व्रतोंका वर्णन प्रारम्भ करते हुए आचार्य अमितगतिने रात्रिभोजनके साथ-साथ पाँच उदुम्बर और तीन मकारका त्याग आवश्यक बतलाया है क्योंकि उनके त्यागनेसे व्रत पुष्ट होते हैं,

"मद्यमांसमधुरात्रिभोजनं क्षीरवृक्षफलवर्जनं त्रिधा।
कुर्वते व्रतजिघृक्षया बुधास्तत्र पुष्यति निषेविते व्रतम् ॥१॥"

किन्तु इन्हें मूलगुण रूपसे नहीं बतलाया।

सावयधम्मदोहामें भी मद्य मांस मधु और पाँच उदुम्बरोंके त्यागको अष्टमूलगुण बतलाया है,

"मज्जु मंसु महु परिहरहि करि पंचुंबर दूरि।
आयहं अंतरि अट्ठहं मि तस उप्पज्जइं भूरि ॥२२॥"

आगे लिखा है,

"अट्ठइं पालइ मूलगुण पियइ जि गालिउ णीरु।
अह चित्तं सुविसुद्धइण सुवइ सव्वु सरीरु ॥२६॥"

अर्थात् आठ मूलगुणोंको पालो और पानी छानकर पियो।

विक्रमकी तेरहवीं शतीमें पं० आशाधरजी नामके बहुश्रुत विद्वान् हो गये हैं। उन्होंने अपनेसे पूर्वके अनेक ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंका आलोडन करके जो सागारधर्मामृत नामका श्रावकाचार रचा है, उसमें भी उन्होंने इन्हीं आठ मूलगुणोंको गिनाया है और साथ ही साथ मूलगुणोंके सम्बन्धमें आचार्य समन्तभद्र और महापुराणकी जो मान्यता थी उसका भी उल्लेख कर दिया है,

"तत्रादौ श्रद्दधज्जैनीमाज्ञां हिंसामपासितुम्।
मद्यमांसमधून्युज्झेत्पञ्च क्षीरिफलानि च ॥२॥
अष्टैतान् गृहिणां मूलगुणान् स्थूलवधादि वा।
फलस्थाने स्मरेत् द्यूतं मधुस्थान इहैव वा ॥३॥"

अर्थात् गृहस्थधर्ममें सबसे प्रथम जिनागमपर श्रद्धान रखते हुए हिंसाको छोड़नेके लिए मद्य मांस मधु और पाँच उदुम्बर फलोंका त्याग करना चाहिए। ये गृहस्थोंके आठ मूलगुण हैं। स्वामी समन्तभद्राचार्यके मतानुसार पाँच उदुम्बर फलोंके स्थानमें स्थूल हिंसा आदि पाँच पाप लेना चाहिए। अर्थात् पाँच अणुव्रत और मद्य मांस तथा मधुका त्याग और महापुराणके मतसे स्वामी समन्तभद्रसम्मत अष्टमूलगुणोंमें मधुके स्थानमें जुआ लेना चाहिए।

अष्टमूलगुणोंका निर्देश न करनेवाले और करनेवाले ग्रन्थकारोंके मतोंका उल्लेख करनेके बाद उसपर विचार किया जाता है :

१. जिन ग्रन्थकारोंने अष्टमूलगुणोंका निर्देश नहीं किया उनमें से आचार्य कुन्दकुन्दका चारित्रप्राभृत तो बहुत ही संक्षिप्त है। उस प्राभृतमें उन्होंने श्रावक और मुनिधर्मका आभास मात्र करा दिया है, तथा उनकी प्रवृत्ति मुनिधर्मका ही वर्णन करनेकी ओर रही है जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण प्रवचनसार-का चारित्राधिकार है। अतः यदि उन्होंने श्रावकके अष्टमूलगुणोंका निर्देश नहीं किया तो उससे वस्तु-स्थितिपर अधिक प्रकाश नहीं पड़ सकता।

२. तत्त्वार्थसूत्र एक सूत्रग्रन्थ है और उसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय सात तत्त्व हैं। अतः उसमें या उसकी टीकाओंमें श्रावकके अष्टमूलगुणोंका निर्देश न होना भी वस्तुस्थितिपर अधिक प्रकाश नहीं डालता।

३. पद्मचरित, वरांगचरित और हरिवंशपुराण ये तीनों पौराणिक काव्य-ग्रन्थ हैं। वरांगचरितमें वरदत्त मुनिके द्वारा जो उपदेश दिया गया है, एकसे दस तक सात सर्गोंमें वह निबद्ध है किन्तु उसमें द्रव्यानुयोग और करणानुयोगका ही वर्णन है। ग्यारहवें सर्गमें वरांग वरदत्तसे पंचाणुव्रत ग्रहण करता है। बाईसवें सर्गमें अपनी रानीके पूछनेपर वरांग उसे धर्म श्रवण कराता है। उसमें भी वह श्रावकके बारह व्रतोंको गिनाकर दान तप शील और पूजाका उपदेश देता है और उनमें-से भी पूजापर अधिक जोर देते हुए जिनबिम्ब और जिनालयोंके निर्माणको उत्तम बतलाता है। श्रावकाचार या मुनि-आचारके वर्णनकी ओर ग्रन्थकारकी प्रवृत्ति ही नहीं प्रतीत होती। अतः वरांगचरितमें अष्टमूलगुण या उसके अन्तर्गत वस्तुओंका निर्देश न होना भी वस्तुस्थितिपर अधिक प्रकाश नहीं डालता।

रहे पद्मचरित और हरिवंशपुराण। दोनोंमें श्रावकके बारह व्रतोंका वर्णन करके अन्तमें नियम रूपसे मद्य मांसादिककी विरतिका विधान किया गया है। पद्मचरितमें तो मधु, मद्य, मांस, जुआ, रात्रि-भोजन और वेश्यासंगमके त्यागको नियम बतलाया है, किन्तु हरिवंशपुराणमें तो इनमें उदुम्बर फलोंको भी सम्मिलित कर लिया गया है। फिर भी मूलगुण रूपसे निर्देश न करके, नियम रूपसे उनका उल्लेख किया जाना अवश्य ही अन्वेषकोंका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करता है। यदि स्वामी समन्तभद्राचार्यके द्वारा रचे गये रत्नकरण्डश्रावकाचारमें अष्टमूलगुणोंका निर्देश करनेवाला पद्य न होता तो हम तो यही सम्भावना करते कि श्रावकके मूलगुण समयकी आवश्यकताको देखकर नौवीं शतीके आचार्योंके द्वारा ही निबद्ध किये गये हैं, प्राचीन परम्परा तो श्रावकके बारह व्रतोंका ही विधान करती है। किन्तु रत्नकरण्डश्रावकाचारमें उक्त पद्य जिस रूपमे स्थित है उससे उसे प्रक्षिप्त भी नहीं कहा जा सकता और न समर्थ प्रमाणोंके अभावमें रत्नकरण्डको ही किसी अर्वाचीन आचार्यकी कृति माना जा सकता है। उसमें जो गुरुके लिए पाखण्डी शब्दका प्रयोग किया गया है वह उसकी प्राचीनताको सूचित करता है। प्राचीन समयमें पाखण्डी शब्द साधुके लिए व्यवहृत होता था। उत्तर कालमें उसका अर्थ ढोंगी हो गया। अन्य भी कई विशेषताएँ उसमे हैं, जो उसकी प्राचीनताको सूचित करती हैं। परन्तु रत्नकरण्डमें पहली प्रतिमाका जो स्वरूप बतलाया गया है वह और भी सन्देह उत्पन्न कर देता है। उसमें पहली प्रतिमावाले श्रावकके लिए मूलगुण पालनका भी विधान नहीं है, जब कि स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा और वसुनन्दिश्रावकाचार आदि ग्रन्थोंमे पहली प्रतिमावाले श्रावकके लिए मद्य-मांसादिकके त्यागका स्पष्ट निर्देश किया है। जैसे दूसरी प्रतिमावाले श्रावकके लिए निरतिचार पाँच अणुव्रतों और सात शीलव्रतोंका पालन करना आवश्यक बतलाया है वैसे ही पहली प्रतिमावाले श्रावकके लिए अष्टमूलगुणोंका विधान होना चाहिए था। अन्यथा जब श्रावकके[1] ग्यारह ही पद बतलाये गये हैं तब अष्टमूलगुणोंका पालन किस पदमें किया जायेगा। टीकाकार प्रभाचन्द्रको भी यह चीज खटकी जान पड़ती है। इसीसे उन्होंने 'तत्त्वपथगृह्यः' का व्याख्यान करते हुए 'तत्त्व यानी व्रतका पथ यानी मार्ग अर्थात् मद्यादि निवृत्तिरूप अष्टमूलगुण' ऐसा किया है। किन्तु यह उनकी अपनी सूझ है। उससे यह प्रमाणित नहीं होता कि ग्रन्थकारने मूलगुणोंके लिए 'तत्त्वपथगृह्यः' पद दिया है।

इसके साथ ही साथ भोगोपभोगपरिमाण नामक व्रतमें जो मद्य मांस मधु और कन्दमूल आदिका त्याग बतलाया है वह भी विचारणीय हो जाता है। जब इन चीजोंका त्याग अष्टमूलगुण रूपसे श्रावक पहले ही कर चुकता है तब भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें पुनः उसका विधान करनेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। जिन श्रावकाचारोंमें अष्टमूलगुणका विधान है उनमें भोगोपभोगपरिमाणव्रतका वर्णन

---

१. "श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु।" र० श्रा०।

करते हुए मद्य-मांसादिकके त्याग करनेका विधान नहीं किया। उदाहरणके लिए पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, सोमदेव उपासकाचार, अमितगति उपासकाचार, वसुनन्दि श्रावकाचार और सागारधर्मामृतको देखा जा सकता है।

हम पहले लिख आये हैं कि पं० आशाधर बहुश्रुत विद्वान् थे। उन्होंने इस बातको अवश्य भाँपा कि जब अष्टमूलगुणोंमें मद्य-मांसादिकका त्याग कर दिया जाता है तो भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें उसकी आवश्यकता नहीं रहती। इसीसे उन्होंने अपने सागारधर्मामृतमें भोगोपभोगपरिमाणव्रतका वर्णन करते हुए लिखा है कि जिन पदार्थोंका सेवन करनेसे त्रस जीवोंका घात होता है या बहुत जीवोंका घात होता है या प्रमाद उत्पन्न होता है, मांस मधु और मद्यकी तरह ही उनका भी त्याग कर देना चाहिए। अर्थात् मद्य मांस और मधुका त्याग तो वह अष्टमूलगुण धारण करते समय ही कर देता है, किन्तु व्रतोंमें उन वस्तुओंके सेवनका भी त्याग कर देता है जिनमें उक्त बुराइयाँ होती हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि जिन्होंने अष्टमूलगुणका निर्देश नहीं किया और भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें मद्यादिकके त्यागका विधान किया, उनके मतसे क्या अणुव्रती श्रावक मद्यादिकका सेवन कर सकता था? हमारा उत्तर है—'नहीं।' तब क्यों उन्होंने ऐसा विधान किया? विधान इसलिए किया कि लोकमें मद्य-मांसादिकको भी भोग्य माना जाता है और पहले अहिंसाणुव्रतका निर्देश करके भी इन वस्तुओंका नामोल्लेखपूर्वक त्याग कराया नहीं गया। अतः जैसे आजकल कन्दमूलके त्यागी कुछ महानुभाव सूखे आलू खाने लगे हैं वैसे ही अहिंसाणुव्रती यदि मृत पशुका मांस खाने लगे तो उसे कौन रोके। बुद्धदेव अहिंसाके पुजारी थे किन्तु 'त्रिकोटिपरिशुद्ध मांस' को भिक्षुओंके लिए ग्राह्य बतलाते थे। अतः भोगोपभोगपरिमाणव्रतको व्याख्यामें यह खुलासा कर देना आवश्यक हुआ कि व्रतीको मद्य मांस और मधुका त्याग तो सदाके लिए कर देना चाहिए।

४. समन्तभद्र स्वामीके बाद अष्टमूलगुणोंका स्पष्ट विधान चारित्रसारके उल्लेखके अनुसार महापुराणमें है। उसमें स्वामीजीके मूल-गुणोंमें थोड़ा-सा परिवर्तन करके मधुके स्थानमें जुआको त्याज्य बतलाया है। ऐसा करनेकी आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई इस सम्बन्धमें हम कुछ भी कहनेमें असमर्थ हैं; किन्तु जिनसेनके महापुराणमें वह श्लोक ही नहीं है और न अष्टमूलगुण रूपसे ही किन्हीं व्रतोंका निर्देश है।

५. आगे चलकर उक्त अष्टमूलगुणोंमें क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ, पाँच अणुव्रतोंकी परम्परा सम्भवतः आगे नहीं चल सकी। सामान्य श्रावक लोग उसके पालनमें अशक्त प्रतीत हुए। अतः उनके स्थानमें पाँच उदुम्बर फलोंको स्थान दिया गया। यह कार्य किसने किया यह तो हम निश्चित रीतिसे कहनेमें असमर्थ हैं, किन्तु इस परिवर्तनको उत्तर कालके सभी श्रावकाचारोंने अपनाया। जैसा कि हम पहले बतला आये हैं पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, सोमदेव उपासकाध्ययन, अमितगति उपासकाचार, पद्मनन्दि पंचविंशतिका, सावयधम्मदोहा, सागारधर्मामृत और लाटीसंहितामें पाँच उदुम्बर फलों और तीन मकारोंके त्यागको अष्टमूलगुण बतलाया है।

यह हम पहले लिख आये हैं कि हरिवंशपुराणमें जो नियम बतलाया है उसमें क्षीरी वृक्षके फलोंको भी त्याज्य ठहराया है तथा आदिपुराणमें व्रतावतरण क्रियाका वर्णन करते हुए गृहस्थके लिए मधु मांसके साथ पंच उदुम्बरोंको भी त्याज्य बतलाया है और आदिपुराण तथा हरिवंशपुराण पाँच उदुम्बर फलों और तीनों मकारोंके त्यागको अष्टमूलगुण बतलानेवाले उक्त सभी श्रावकाचारोंसे पूर्वके हैं। अतः यद्यपि क्षीरी वृक्षके फलोंके साथ-साथ मद्य-मांस और मधुको प्रारम्भिक रूपमें त्यागनेका

---

१. "पलमधुमद्यवदखिलस्त्रसबहुघातप्रमादविषयोऽर्थः।
त्याज्योऽन्यथाप्यनिष्टोऽनुपसेव्यश्च व्रताद्धि फलमिष्टम् ॥१५॥ अ. ५।"

२. बुद्धचर्या, पृ० ४२३।

विधान हमें हरिवंशपुराण और आदिपुराणमें सर्वप्रथम देखनेको मिलता है तथापि अष्टमूलगुण रूपसे उनका उल्लेख उक्त श्रावकाचारोंमें ही पाया जाता है। यहाँ हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि यह हम वर्तमानमें उपलब्ध साहित्यके आधारपर लिख रहे हैं। नवीन ग्रन्थ प्रकाशमें आनेपर नयी बातें भी प्रकाशमें आ सकती हैं।

उक्त श्रावकाचारोंके पौर्वापर्यको दृष्टिमें रखते हुए हमारा विचार है कि उक्त अष्टमूलगुणोंका सबसे प्रथम निर्देश पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें किया गया है। यह हम पहले लिख आये हैं कि पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें यद्यपि इन्हें मूलगुण नहीं लिखा तथापि उससे व्यक्त यही होता है कि ये श्रावकके अष्टमूलगुण हैं। अन्य श्रावकाचारोंमें तो इन्हें अष्टमूलगुण ही बतलाया है। इससे भी ऐसा लगता है जब वे अष्टमूलगुण रूपसे व्यवहृत नहीं हुए थे उस समय पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें श्रावकके लिए प्रथम उनका त्याग आवश्यक बतलाया गया और बादको वे ही अष्टमूलगुण रूपसे प्रसिद्ध हो गये।

श्रावकाचारोंका पौर्वापर्य

प्रकरणवश यहाँ उक्त श्रावकाचारोंके पौर्वापर्यके सम्बन्धमें लिखना आवश्यक है।

पं० आशाधरने अपने सागारधर्मामृतकी प्रशस्तिमें लिखा है कि उन्होंने उसकी टीका वि० सं० १२९६ में पूर्ण की और अनगारधर्मामृतकी टीका वि० सं० १३०० में पूर्ण की। इन टीकाओंमें पं० आशाधरने अमृतचन्द्र सूरि, सोमदेव, अमितगति, वसुनन्दि और पद्मनन्दिका न केवल जगह-जगह नामोल्लेख किया है किन्तु इनके श्रावकाचारोंसे बहुत-से पद्य भी जगह-जगह उद्धृत किये हैं। अतः यह तो निश्चित ही है कि ये सब आचार्य पं० आशाधरसे पहलेके हैं।

वसुनन्दिने मूलाचारकी वृत्तिमें अमितगतिके श्रावकाचारसे पाँच श्लोक उद्धृत किये हैं, इससे यह भी स्पष्ट है कि अमितगति वसुनन्दिसे भी पूर्व हुए हैं। अमितगतिने अपना सुभाषितरत्नसन्दोह वि० सं० १०५० मे रचा है और सोमदेवने अपना उपासकाचार वि० सं० १०१६ में रचकर पूर्ण किया है। अतः अमितगतिके उपासकाचारसे सोमदेवका उपासकाध्ययन अवश्य ही पहले रचा गया है। अमितगतिका रचनाकाल वि०सं० १०५० से १०७३ तक पाया जाता है। अमितगतिके श्रावकाचार[1]पर पुरुषार्थसिद्ध्युपायकी स्पष्ट छाप है। अतः पुरुषार्थसिद्ध्युपाय निश्चय ही अमितगति-श्रावकाचारसे पूर्वका है। किन्तु सोमदेवके उपासकाचारपर पुरुषार्थसिद्ध्युपायका कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता।

---

१. "रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम्।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम् ॥६३॥"—पुरु० सि०।
"ये भवन्ति विविधाः शरीरिणस्तत्र सूक्ष्मवपुषो रसांगिकाः।
तेऽखिला झटिति यान्ति पञ्चतां निन्दितस्य सरकस्य पानतः ॥६॥"—अमित० श्रा०।
"अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम्।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान् ॥१०३॥"—पुरु० सि०।
"यो यस्य हरति वित्तं स तस्य जीवस्य जीवनं हरति।
आश्वासकरं बाह्यं जीवानां जीवितं वित्तम् ॥६१॥"—अमित० श्रा०।
"प्रतिरूपकव्यवहारः स्तेननियोगस्तदाहृतादानम्।
राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे च ॥१८५॥"—पु० सि०।
"व्यवहारः कृत्रिमकः स्तेननियोगस्तदाहृतादानम्।
ते मानवैपरीत्यं विरुद्धराज्यव्यतिक्रमणम् ॥५॥"—अमि० श्रा०।

शेष रह जाते हैं सावय धम्मदोहा और लाटीसंहिता। लाटीसंहिता तो स्पष्ट ही पं० आशाधरके बादकी है; क्योंकि उसकी प्रशस्तिमें उसका रचनाकाल वि० सं० १६४१ दिया है। सावयधम्मदोहा उनसे पूर्वका है। आगेके तुलनात्मक विवेचनोंसे इसपर और भी प्रकाश पड़ सकेगा।

इस प्रकार अष्टमूलगुणोंके अन्दर पाँच अणुव्रतोंके स्थानमें पाँच उदुम्बर फलोंके त्यागको स्थान दिया गया और वह प्रचलित भी हो गया। किन्तु हिंसादिक पापोंमें और उदुम्बर फलोंमें तो बड़ा अन्तर है। कहाँ अहिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहका एकदेश त्याग करना और कहाँ पाँच उदुम्बर फलोंको त्यागना। ऐसा क्यों किया गया किसीने इसपर प्रकाश नहीं डाला। केवल रत्नमाला और सावयधम्मदोहासे इस सम्बन्धमें थोड़ा-सा प्रकाश पड़ता है। रत्नमालामें[1] लिखा है।

"मद्यमांसमधुत्यागसंयुक्ताणुव्रतानि नुः।
अष्टौ मूलगुणाः पञ्चोदुम्बरैश्चार्भकेष्वपि ॥ १९ ॥"

मद्य मांस मधुका त्याग और पाँच अणुव्रत ये आठ मूल गुण पुरुषके हैं। और पाँच उदुम्बर और तीन मकारका त्याग ये आठ मूल गुण बच्चोंके हैं।

सचमुच पुरुषोंके अष्टमूलगुण तो पुराने ही थे। बादके अष्टमूलगुण तो बच्चोंके ही उपयुक्त हैं। किन्तु जब धर्मसेवनमें बड़े भी बच्चे बन गये तब तो बच्चेवाले मूल गुण ही सबके लिए हो गये और पुरुषोंवाले मूलगुण एकमतके रूपमें स्मृत किये जाने लगे। और वह परिस्थिति उत्पन्न हो गयी जिसका उल्लेख सावयधम्मदोहामें मिलता है। उसमें लिखा है,

"मज्जु मंसु महु परिहरइ संपइ सावउ सोइ
णीरुक्खइ एरंड वणि किं ण भवाई होइ ॥ ७७ ॥"

अर्थात् जो मद्य, मांस और मधुका त्याग करे आजकल वही श्रावक है। क्या बड़े वृक्षोंसे रहित एरण्डके वनमें छाँह नहीं होती ?

श्रावकके षट्कर्म

आचार्य कुन्दकुन्दके प्राभृतमें तथा वरांगचरित और हरिवंशपुराणमें दान पूजा तप और शीलको श्रावकोंका कर्तव्य बतलाया है। किन्तु आदिपुराणमें भगवज्जिनसेनाचार्यने लिखा है कि महाराज भरतने पूजा, [2]वार्ता, दान, स्वाध्याय, संयम और तपको व्रती लोगोंका कुलधर्म बतलाया,

"इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः।
श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥२४॥
कुलधर्मोऽयमित्येषामर्हत्पूजादिवर्णनम्।
तदा भरतराजर्षिरन्ववोचदनुक्रमात् ॥२५॥"

इस तरह उत्तरकालमें शीलका विश्लेषण वार्ता, स्वाध्याय और संयमके रूपमें हुआ या यह कहिए कि शीलका स्थान इन तीन चीजोंने लिया। इसके बाद वार्ताके स्थानमें गुरुसेवा आयी और देवपूजा, गुरुकी उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये प्रत्येक श्रावकके दैनिक षट्कर्म कहलाये, जैसा कि सोमदेव उपासकाचार और पद्मनन्दि पंचविंशतिकामें लिखा है,

---

१. रत्नमालाका यह उल्लेख दोनों प्रकारके अणुव्रतोंके समीकरणका एक प्रयास प्रतीत होता है। और ऐसा जान पड़ता है कि उसकी रचना मध्यकालमें उस समय हुई जब पाँच उदुम्बरवाले मूलगुण प्रचलित हो गये थे।

२. "वार्ता विशुद्धवृत्त्या स्यात् कृष्यादीनामनुष्ठितिः।"
विशुद्ध व्यवहारपूर्वक खेती आदि आजीविकाके उपायोंके करनेको वार्ता कहते हैं।

"देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ॥"

तबसे श्रावकके ये ही षट्कर्म प्रचलित हैं।

श्रावकके बारह व्रत

हम प्रारम्भमें ही लिख आये हैं कि पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये श्रावकके बारह व्रत हैं। इनकी संख्यामें कोई विवाद नहीं है और आचार्य कुन्दकुन्द तकने इनका वर्णन किया है, इसलिए बारह व्रतोंकी परम्परा अति प्राचीन है और श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भी मान्य है।

पाँच अणुव्रत

बारह व्रतोंमें सर्वप्रथम अणुव्रत आते हैं। अणुव्रतके भेदोंमें तो कोई अन्तर नहीं है पर नाम-भेद मिलता है। उल्लेखनीय नाम-भेद इस प्रकार है :

१. आचार्य कुन्दकुन्दने अपने चारित्रप्राभृतमें पाँचवें अणुव्रतका नाम 'परिग्गहारंभ परिमाण' रखा है जिसका तात्पर्य है कि परिग्रह और आरम्भ दोनोंका परिमाण करना चाहिए। तथा चतुर्थ अणुव्रतका नाम रखा है – 'परपिम्म परिहार' इसका अर्थ टीकाकार श्रुतसागर सूरिने 'परस्त्री त्याग' किया है। तथा प्रथम अणुव्रतका नाम 'स्थूल त्रसकायवधपरिहार' रखा है,

"थूले तसकायवहे थूले मोसे तितिक्ख थूले य।
परिहारो परपिम्मे परिग्गहारंभ परिमाणं ॥२३॥"

२. स्वामी समन्तभद्रने[1] चतुर्थ अणुव्रतका नाम परदारनिवृत्ति और स्वदारसन्तोष रखा है। तथा पाँचवें अणुव्रतका नाम परिग्रहपरिमाणके साथ-साथ इच्छापरिमाण भी रखा है।

३. आचार्य रविषेणने[2] भी चतुर्थव्रतका नाम परदारसमागमविरति और पाँचवेंका अनन्तगर्द्धाविरति दिया है।

४. हरिवंशपुराणमें पहले व्रतका नाम 'दया' रखा है।

५. आदिपुराणमें[3] पाँचवें व्रतका नाम तृष्णाप्रकर्षनिवृत्ति और चौथेका परस्त्रीसेवननिवृत्ति रखा है।

६. पं० आशाधरजीने चतुर्थ व्रतका नाम स्वदारसन्तोष रखा है।

अहिंसाणुव्रत

रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें अहिंसाणुव्रतका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है,

"संकल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्वान्।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः ॥७॥"

अर्थात् जो मन, वचन और कायके कृत, कारित और अनुमोदनारूप संकल्पके द्वारा त्रसजीवोंका घात नहीं करता है उसे स्थूलवधका त्यागी यानी अहिंसाणुव्रती कहते हैं।

यह अहिंसाणुव्रतका परिपूर्ण लक्षण है और उत्तर कालमें भी इसमें कुछ घटाने या बढ़ानेकी आव-

---

१. रत्नकरण्ड० श्लो० १३ और १५।

२. पद्मचरित प० १४, श्लोक १८४, १८५।

३. आ० पु० पर्व १०, श्लो० ६३।

श्यकता प्रतीत नहीं हुई। किन्तु सर्वार्थसिद्धिमें[1] त्रस जीवोंके प्राणोंका घात न करनेवालेको अहिंसाणुव्रती कहा है। उसमें न मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनाका उल्लेख है और न संकल्पका ही उल्लेख है। परन्तु[2] राजवार्तिकमें 'त्रिधा' पद जोड़कर मन वचन काय या कृत कारित अनुमोदनाका निर्देश कर दिया गया है किन्तु संकल्पका उल्लेख उसमें भी नहीं है।

हिंसाकी निवृत्तिको अहिंसा कहते हैं। हिंसाका लक्षण तत्त्वार्थसूत्र अध्याय सातमें "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥१३॥" ऐसा किया है। इसीका खुलासा अमृतचन्द्रसूरिने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें किया है। यथा,

"यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥४३॥"

अर्थात् कषायके वशीभूत होकर द्रव्यरूप या भावरूप प्राणोंका घात करना हिंसा है। हिंसाका यह लक्षण भी वैसा ही परिपूर्ण है जैसा रत्नकरण्डका अहिंसाणुव्रतका लक्षण है। हिंसाके इस लक्षणका विश्लेषण सर्वार्थसिद्धिकारने बड़ी उत्तमतासे कर दिया है। उन्होंने लक्षणके प्रत्येक पदकी सार्थकता बतलाते हुए अनेक प्राचीन उद्धरण देकर यह प्रमाणित किया है कि केवल प्राणोंका घात हो जानेसे ही हिंसा नहीं होती जबतक कि जिसके द्वारा घात हुआ है वह कषायाविष्ट न हो। और यदि वह कषायाविष्ट है असावधान और अयत्नाचारी है तो दूसरेके प्राणोंका घात न होनेपर भी वह हिंसाका भागी है, क्योंकि जो प्रमादी है, दूसरोंको कष्ट पहुँचानेके लिए उद्यत है या दूसरोंके प्रति असावधान है वह सबसे पहले तो अपना ही अनिष्ट करके अपना घात करता है, दूसरोंका घात तो पीछेकी वस्तु है, वह हो या न हो किन्तु वह हिंसाका भागी होता है।

तत्त्वार्थराजवार्तिकमें तत्त्वार्थसूत्रके उक्त सूत्रका व्याख्यान करते हुए सर्वार्थसिद्धिटीकाके उक्त मन्तव्यको तो दिया ही है। उसके साथ ही साथ महाभारतका एक श्लोक देकर यह चर्चा उठायी है कि लोकमें सर्वत्र जीव भरे हुए हैं, उसमें रहते हुए कोई साधु अहिंसक कैसे हो सकता है। इसका समाधान करते हुए भट्टाकलंकदेवने कहा है कि प्राणी दो तरहके होते हैं सूक्ष्म और स्थूल। जो सूक्ष्म है उन्हे तो कोई बाधा पहुँच ही नहीं सकती। शेष रहे स्थूल, जहाँतक शक्य होता है उसकी रक्षा की जाती है, अतः संयमी पुरुष हिंसाका भागी नहीं होता।

भगवज्जिनसेनाचार्यने अपने आदिपुराणमें गृहस्थोंके लिए चर्याका विधान करते हुए लिखा है,

"चर्या तु देवतार्थं वा मन्त्रसिद्ध्यर्थमेव वा।
औषधाहारक्लृप्त्यै वा न हिंस्यामिति चेष्टितम् ॥१४७॥"–पर्व ३९।

अर्थात् देवताके लिए, मन्त्रकी सिद्धिके लिए, औषध और भोजनके लिए मैं कभी किसी जीवको नहीं मारूँगा ऐसी प्रतिज्ञाको चर्या कहते हैं।

हिंसाके उक्त विवेचनका विस्तृत खुलासा पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें अमृतचन्द्राचार्यने किया है। कारिका ४३ से ४९ तक उक्त तथ्योंका व्याख्यान करके उन्होंने कारिका ५१ से ५७ तक हिंसाके विविध अंगोंका अभूतपूर्व चित्रण किया है जो द्रष्टव्य है। उसके बाद उन्होंने हिंसासे बचनेके इच्छुक जनोंको सबसे प्रथम मद्य मांस मधु और पाँच उदुम्बर फलोंके त्यागका आदेश दिया है जिसका निर्देश पहले अष्टमूलगुणोंमें किया गया है।[3] मांसका निषेध करते हुए उन्होंने स्वयं मरे हुए पशुके मासमें भी हिंसा बतलायी है। यह सम्भवतः उन बौद्ध मतानुयायियोंको उत्तर दिया गया है, जो स्वयं मरे हुए पशुका मांस खानेमें कोई दोष नहीं मानते। मधुका निषेध करते हुए उन्होंने छत्तेसे स्वयं टपके हुए मधुको भी अखाद्य बतलाया[4] है। मद्यादिककी तरह मक्खन[5] भी त्याज्य है। उदुम्बर फलोंके भक्षणका निषेध करते हुए उन्होंने उन उदुम्बर[6] फलोंको भी त्याज्य बतलाया है जिसमें काल पाकर त्रस जीव मर गये है।

---

१. सूत्र० ७–२० की व्याख्यामें। २. सूत्र ७–२० की व्याख्यामें।

३. का० ६६–६८। ४. का० ७०। ५. का० ७१। ६. का० ७३।

यह सब बतलाकर उन्होंने लिखा[1] है कि हिंसाका पूर्ण त्याग तो मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे ही होता है। आंशिक त्यागके तो अनेक रूप हैं। उन्होंने जल सब्जी वायु आदिके द्वारा भोगोपभोगमें आनेवाले एकेन्द्रिय जीवोंके सिवा शेष एकेन्द्रिय जीवोंकी भी रक्षा करना गृहस्थोंका कर्तव्य बतलाया है। आगे लिखा है कि अमृतत्वके कारण अहिंसारूपी रसायनको पाकर मूर्ख लोगोंकी उक्तियोंके चक्करमें नहीं आना चाहिए। मूर्ख लोगोंकी उक्तियाँ जो सम्भवतः उस समय प्रचलित थीं—निम्न प्रकार उन्होंने बतलायी हैं।

१. धर्मके लिए हिंसा नहीं करनी चाहिए – जैसे यज्ञोंमें पशुवध किया जाता है।
२. देवताके लिए हिंसा नहीं करनी चाहिए – जैसे मन्दिरोंमें कालीके सामने बलिदान किया जाता है।
३. पूज्य[2] अतिथियोंके लिए पशुवध नहीं करना चाहिए।
४. बहुत-से क्षुद्र प्राणियोंको मारनेकी अपेक्षा एक बड़े शरीरधारीको मारना अच्छा है ऐसा सोचकर किसी बड़े प्राणीको भी नहीं मारना चाहिए।
५. एकके मारनेसे बहुत-से प्राणियोंकी रक्षा होती है ऐसा सोचकर हिंसक जन्तुओंको भी नहीं मारना चाहिए।
६. सिंहादिक बहुत-से प्राणियोंका घात करते हैं। ये अगर जीवित रहेंगे तो बहुत पाप उपार्जित करेंगे। अतः उनपर दयाबुद्धि करके भी उन्हें नहीं मारना चाहिए।
७. जो बहुत दुःखी हैं उन्हें यदि मार दिया जाये तो शीघ्र ही उनका दुःखोंसे छुटकारा हो जायेगा। इस प्रकारके तर्करूपी तलवारको लेकर दुःखी जीवोंको भी नहीं मारना चाहिए।
८. सुखकी प्राप्ति बड़े कष्टसे होती है। और यदि सुखी प्राणियोंको मार दिया जाये तो वे मरकर भी सुखी ही उत्पन्न होते हैं। इस प्रकारके कुतर्करूपी तलवारसे सुखी जीवोंकी भी हत्या नहीं करना चाहिए।
९. गुरु महाराज जब समाधिमें लीन हों तब यदि उनका घात कर दिया जाये तो उन्हें उच्चपद प्राप्त हो जायेगा। ऐसा सोचकर शिष्यको अपने गुरुका सिर नहीं काट डालना चाहिए।
१०. जैसे घड़ेमें बन्द चिड़िया घड़ेके फूट जानेसे मुक्त हो जाती है वैसे ही शरीरके छूट जानेसे जीव मुक्त हो जाता है ऐसा विश्वास दिलानेवाले धनके लोभी खारपटिकोंका विश्वास नहीं करना चाहिए।
११. सामनेसे आते हुए किसी भूखे अतिथिको देखकर उसके भोजनके लिए अपना मांस देनेके लिए अपना घात भी नहीं करना चाहिए।

इन ग्यारह बातोंसे पता चलता है कि उस समय धर्मकी ओटमें हिंसाका व्यापार कितने रूप धारण किये हुए था। अहिंसा और हिंसाका जैसा वर्णन पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें है वैसा पूर्वके या उत्तरके ग्रन्थोंमें नहीं मिलता।

सोमदेव सूरिने अपने उपासकाचारमें अहिंसाका नीचेवाला लक्षण लिखा है, यह लक्षण सम्भवतः आदिपुराणके 'चर्या तु देवतार्थं वा' आदि श्लोकको दृष्टिमें रखकर लिखा गया है। इसमें आहारके स्थानमें अतिथि और पितर रखे गये हैं और भय बढ़ा दिया गया है,

"देवतातिथिपित्रर्थं मन्त्रौषधभयाय वा।
न हिंस्यात् प्राणिनः सर्वानहिंसा नाम तद्व्रतम् ॥३२०॥"

देवताके लिए, अतिथिके लिए, पितरोंके लिए, मन्त्रसिद्धिके लिए, औषधके लिए और भयसे सब प्राणियोंकी हिंसा न करनेको अहिंसा व्रत कहते हैं।

हम पहले लिख आये हैं कि राजवार्तिकमें इस शंकाका समाधान किया गया है कि जब सर्वत्र जीव हैं तो कोई हिंसासे कैसे बच सकता है। सोमदेवसूरिने भी अपने ढंगसे इस शंकाका समाधान करते हुए लिखा है– ऐसा कोई काम नहीं है जिसमें हिंसा न हो। किन्तु उसमें मुख्य और आनुषंगिक भावोंका अन्तर है। जैसे संकल्पमें भेद

---

१. का० ७६। २. वैदिक कालमें ऐसी पद्धति थी।

होनेसे धीवर तो नहीं मारते हुए भी पापी है और किसान मारते हुए भी पापी नहीं है। अर्थात् हिंसा करना और हिंसा हो जाना इन दोनोंमें अन्तर है। धीवर मछली मारनेके इरादेसे जाल डाले हुए बैठा है, उसका ध्यान मछली मारनेकी ओर है, अतः जालमें एक मछलीके न आनेपर भी वह पापी है और किसान अन्न उत्पन्न करनेके भावसे हल जोतता है, जोतते समय अनेक जीव मर जाते हैं मगर वह आनुषंगिक हिंसा है, कृषि आदि आरम्भ करते हुए हो जाती है, अतः किसान पापी नहीं है ॥३४०-३४१॥

आचार्य अमितगतिने अपने उपासकाचारके छठे परिच्छेदमें हिंसा और अहिंसाका अच्छा विवेचन किया है और पूर्वोक्त सभी बातोंका एक जगह संकलन कर दिया है। विशेषता इतनी है कि उन्होंने हिंसाके दो भेद किये हैं, एक आरम्भी हिंसा और दूसरी अनारम्भी हिंसा। और लिखा है कि जो गृहत्यागी मुनि हैं वे तो दोनों प्रकारकी हिंसा नहीं करते। किन्तु जो गृही है वह अनारम्भी हिंसा तो छोड़ देता है, किन्तु आरम्भी हिंसा नहीं छोड़ सकता,

"हिंसा द्वेधा प्रोक्ताऽऽरम्भानारम्भभेदतो दक्षैः।
गृहवासतो निवृत्तो द्वेधाऽपि त्रायते तां च ॥६॥
गृहवाससेवनरतो मन्दकषायः प्रवर्तितारम्भः।
आरम्भजां स हिंसां शक्नोति न रक्षितुं नियतम् ॥७॥"

प्रारम्भमें रत्नकरण्डश्रावकाचारसे जो अहिंसाणुव्रतका लक्षण दिया है उसमें मन वचन और कायके कृत कारित और अनुमत विकल्पोंके द्वारा नौ प्रकारसे त्रस जीवोंकी हिंसा न करनेको अहिंसाणुव्रत बतलाया है। जो श्रावक घर छोड़ चुके हैं वे ही नौ प्रकारसे अहिंसाका पालन कर सकते है, किन्तु जो घरमें रहते हैं वे अनुमत हिंसासे नहीं बच सकते; अतः गृहवासी श्रावक छह प्रकारसे हिंसाका त्याग करता है। किन्तु गृहत्यागी श्रावक नौ प्रकारसे हिंसाका त्याग करता है। आचार्य अमितगतिने उपासकाचारमें ऐसा लिखा है,

"त्रिविधा द्विविधेन मता विरतिर्हिंसादितो गृहस्थानाम्।
त्रिविधा त्रिविधेन मता गृहचारकतो निवृत्तानाम् ॥१९॥"

पं० आशाधरजीने अपने सागारधर्मामृतमें उक्त बातका अच्छा खुलासा किया है और अमितगतिके उक्त विश्लेषणको अपनाकर अणुव्रतके लक्षणमें ही उसे सम्मिलित कर दिया है,

"विरतिः स्थूलवधादेर्मनोवचोऽङ्गकृतकारितानुमतैः।
क्वचिदपरेऽप्यननुमतैः पञ्चाहिंसाद्यणुव्रतानि स्युः ॥५॥ अ० ४।"

अर्थात् मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे स्थूल हिंसा आदि पाचों पापोंके त्यागनेको अणुव्रत कहते हैं। किन्तु जो गृहवासी श्रावक है उसके मन वचन काय और कृत कारितसे स्थूल हिंसा आदिको त्यागना अणुव्रत है।

पं० आशाधरजीने अहिंसाणुव्रतका वर्णन करते हुए कोई ऐसी नयी बात तो नहीं कही जो उनसे पूर्वके ग्रन्थोंमें वर्तमान न हो। किन्तु उन्होंने अपनी शैलीमे उन बातोंका अच्छा खुलासा किया है।

गृही श्रावक आरम्भी हिंसाका त्याग नहीं कर सकता इसका उपपादन करते हुए वे लिखते हैं,

"गृहवासो विनारम्भान्न चारम्भो विना वधात्।
त्याज्यः स यत्नात्तन्मुख्यो दुस्त्यजस्त्वानुषङ्गिकः ॥१२॥"

अर्थात् बिना उद्योग-धन्धा किये घरमें नहीं रहा जा सकता और आरम्भ कोई ऐसा है नहीं जिसमें हिंसा न होती हो। अतः गृहस्थको प्रयत्न करके मुख्य संकल्पी हिंसाको छोड़ देना चाहिए। किन्तु जो कृषि आदि करते हुए हिंसा हो जाती है उसका त्याग करना तो गृहस्थके लिए शक्य नहीं है।

यह ठीक है कि चूंकि गृहस्थ बिना आरम्भ किये अपना निर्वाह नहीं कर सकता इसलिए उसे आरम्भ

तो करना ही चाहिए। किन्तु यदि कोई मांसका व्यापार करने लगे तो क्या हानि है ? इस प्रकारकी आशंकाका निराकरण करते हुए वे लिखते हैं,

"आरम्भेऽपि सदा हिंसां सुधीः सांकल्पिकीं त्यजेत् ।
घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चैः पापोऽघ्नन्नपि धीवरः ॥८२॥ अ० २ ।"

सद्बुद्धिवाले श्रावकको आरम्भमें भी सांकल्पी हिंसा नहीं करनी चाहिए। देखो, मारते हुए किसानसे नहीं मारता हुआ भी मछलीमार अधिक पापी होता है।

'मैं इसे मारूँगा या सताऊँगा या इसका घरबार लुटवा लूँगा' यह सब सांकल्पी हिंसा है। चूँकि पशुओंको मारे बिना मांस उत्पन्न नहीं होता अतः कसाईका काम तो किया ही नहीं जा सकता। उसके सिवा भी जो उद्योग-धन्धा किया जाये उसमें अपनी आजीविकाकी भावना होनी चाहिए दूसरोंको सतानेकी नहीं। किन्तु जो नाना उपायोंके द्वारा धन कमानेको ही अपना लक्ष्य बना लेते हैं वे अहिंसक नहीं हो सकते। इसलिए आशाधरजीने लिखा है,

"सन्तोषपोषतो यः स्यादल्पारम्भपरिग्रहः
भावशुद्ध्येकसर्गोऽसावहिंसाणुव्रतं भजेत् ॥१४॥"

अर्थात् जो अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रहसे सन्तुष्ट रहता है वही अहिंसाणुव्रतको पाल सकता है।

लोग समझते है कि जैनी शासन नहीं कर सकता, क्योंकि उसमें अपराधीको दण्ड देना पड़ता है और उसके देनेसे अहिंसा व्रतमें क्षति पहुँचती है। किन्तु यह भ्रम है। आशाधरजीने इसका निराकरण करते हुए लिखा है,[1] कहा है कि राजाके द्वारा दोषके अनुसार शत्रु और पुत्रको समान रूपसे दिया गया दण्ड इस लोककी भी रक्षा करता है और परलोककी भी रक्षा करता है, अतः पुराण वगैरहमें जो प्रायः सुना जाता है कि अपराधियोंको नियमानुसार दण्ड देनेवाले चक्रवर्ती वगैरह भी अणुव्रत आदि धारण करते थे सो उसमें कोई विरोध नहीं आता है; क्योंकि वे अपनी पदवी और शक्तिके अनुसार स्थूल हिंसा आदिके त्यागकी प्रतिज्ञा लेते थे।

अतः अपनी पदवी और शक्तिके अनुसार प्रत्येक मनुष्य अणुव्रतोंको धारण कर सकता है उसमें केवल सांकल्पी हिंसाके लिए ही कोई स्थान नहीं है।

इस प्रकार विक्रमकी तेरहवीं शती तकके ग्रन्थोंके अनुशीलनसे अहिंसाणुव्रतके सम्बन्धमें हम नीचे लिखे निष्कर्षोंपर पहुँचते हैं,

१. प्रमादके योगसे प्राणोंके घात करनेको हिंसा कहते हैं।

२. जहाँ प्रमादका योग है वहाँ हिंसा है और दूसरेके प्राणोंका घात हो जानेपर भी जहाँ प्रमादका योग नहीं है वहाँ हिंसा नहीं है। अतः हिंसा कर्ताके भावोंपर अवलम्बित है।

३. त्रस जीवोंकी हिंसाके त्यागको अहिंसाणुव्रत कहते हैं। अहिंसाणुव्रतका यह एक स्थूल लक्षण है जिसे सबने माना है, किन्तु उसका परिपूर्ण लक्षण है मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनाके संकल्पसे त्रस जीवोंका घात न करना। यह लक्षण रत्नकरण्डश्रावकाचारका है।

---

१. "दण्डो हि केवलो लोकमिमं चामुं च रक्षति। राज्ञा शत्रौ च मित्रे च यथादोषं समं धृतः॥ इति वचनादपराधकारिषु यथाविधिदण्डप्रणेतॄणामपि चक्रवर्त्यादीनामणुव्रतादिधारणं पुराणादिषु च बहुशः श्रूयमाणं न विरुध्यते। आत्मीयपदवीशक्त्यनुसारेण तैः स्थूलहिंसादिविरतेः प्रतिज्ञानात्॥" —सागा० ध० अ० ४, श्लो० ५ की टीका।

४. उत्तरकालमें इस लक्षणका खुलासा इस रूपमें हुआ, जो गृही श्रावक है वह मन वचन और कायके कृत और कारित रूप संकल्पसे ही त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करता है; किन्तु जो घर-बार छोड़ चुका है वह श्रावक नौ संकल्पसे त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करता है। यह खुलासा सर्वप्रथम अमितगतिके ग्रन्थमें पाया जाता है।

५. अणुव्रती श्रावक कृषि आदि कर सकता है और यदि वह शासक है तो अपराधियोंको दण्ड भी दे सकता है किन्तु जान-बूझकर या अयत्नाचारपूर्वक किसी प्राणीका घात नहीं कर सकता है। अतः धर्मके नाम-पर, देवताके नामपर, मन्त्रके लिए, भोजनके लिए या औषधके लिए किसीकी जान लेना अत्यन्त अनुचित है।

६. हिंसाके दो भेद हैं आरम्भी हिंसा और अनारम्भी या संकल्पी हिंसा। मुनिके लिए दोनों हिंसा त्याज्य हैं किन्तु गृहस्थ केवल अनारम्भी हिंसाका ही त्याग कर सकता है, आरम्भीका नहीं। यह दोनों भेद भी हमें आचार्य अमितगतिके उपासकाचारमें ही देखनेको मिले। उसीसे सागारधर्मामृत वगैरहमें लिये गये हैं।

हिंसाके आजकल चार भेद किये जाते हैं – संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी और विरोधी। आरम्भी हिंसाके ही आरम्भी आदि तीन भेद दिये गये प्रतीत होते हैं। किन्तु किसी ग्रन्थमें ये भेद हमने नहीं देखे।

अब हम अहिंसाणुव्रतका पालन करनेके लिए शास्त्रकारोंने जो नियमोपनियम बनाये उनपर विचार करेंगे।

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें तो हिंसाको छोड़नेके इच्छुक जनोंके लिए सबसे प्रथम मद्य मांस मधु और पाँच उदुम्बरोंका त्याग कर देना आवश्यक बतलाया है तथा मक्खनको भी त्याज्य ठहराया है। रातमें भोजन करनेका भी निषेध किया है।

२. सोमदेव सूरिने निम्न बातें बतलायी हैं,

(१) घरके सब काम देख-भालकर करना चाहिए और सब पेय पदार्थोंको वस्त्रसे छानकर काममें लाना चाहिए।

(२) आसन, शय्या, मार्ग, अन्न तथा और भी जो वस्तुएँ हैं उन्हें बिना देखे काममें नहीं लाना चाहिए।

(३) मांस वगैरहको देखकर, छूकर, भोजनमें यह मांसके समान है ऐसा खयाल हो जानेपर, तथा अत्यन्त करुण चीत्कार सुनकरके यदि भोजन करते हुए हों तो भोजन छोड़ देना चाहिए।

(४) रात्रिमें भोजन नहीं करना चाहिए।

(५) पहले अपने आश्रितोंको खिलाकर तब स्वयं खाना चाहिए।

(६) जिसमें जन्तु हों ऐसे अचार, पेय, अन्न, फल, फूल वगैरह नहीं एकत्र करने चाहिए।

(७) जिस सब्जीके अन्दर छेद हो गये हैं उसे फेंक देना चाहिए। अनन्तकाय वनस्पतिका सेवन नहीं करना चाहिए।

(८) चना उड़द वगैरह यदि पुराना हो गया हो तो उसे दलकर ही काममें लाना चाहिए। सब प्रकारकी फलियोंको खोलकर ही काममें लाना चाहिए।

(९) जो बहुत आरम्भी और बहुत परिग्रही है वह अहिंसक नहीं हो सकता।

(१०) ठग और दुराचारी मनुष्यमें दया नहीं रहती।

(११) पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और तृण वगैरहका उपयोग भी उतना ही करना चाहिए जितनेसे प्रयोजन हो।

(१२) मदसे अथवा प्रमादसे द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवोंका यदि घात हो जाये तो आगमानुसार उसका प्रायश्चित्त लेना चाहिए।

३. आचार्य अमितगतिने मद्य मांस मधु, पाँच उदुम्बर, रात्रिभोजन और मक्खनको सबसे प्रथम त्याज्य बतलाया है।

४. पं० आशाधरजीने सागारधर्मामृतमें श्रावकके तीन भेद किये हैं—पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक। यह भेद इससे पूर्व किसी ग्रन्थमें मेरे देखनेमें नहीं आये। हाँ, महापुराणके उन्तालीसवें पर्वमें कर्त्रन्वय क्रियाओंका वर्णन करते हुए पक्ष, चर्या और साधनका कथन किया है। यह कथन सद्गृहित्वसे सम्बन्ध रखता है। सम्भवतया इन्हीं तीनोंके आधारपर आशाधरजीने श्रावकके उक्त भेद किये हैं। आशाधरजीके अनुसार पाक्षिक अष्टमूलगुण पालता है। उसके लिए मक्खन भी त्याज्य है क्योंकि उसमें दो मुहूर्तके बाद बहुत-से जीव उत्पन्न हो जाते हैं। उसे रात्रिमें केवल पानी, औषध और पान-सुपारी आदि ही लेना चाहिए। पानी छानकर काममें लाना चाहिए। वह आरम्भमें भी संकल्पी हिंसा नहीं करता। ग्यारह प्रतिमाओंको नैष्ठिक श्रावकका भेद बतलाया है। उनमें-से प्रथम प्रतिमा दर्शनिक श्रावकका वर्णन करते हुए लिखा है कि वह अष्टमूलगुणोंमें कोई दोष नहीं लगने देता और इसलिए वह—

(१) मद्य, मांस, मधु, मक्खन वगैरहका व्यापारादि न स्वयं करता है, न दूसरोंसे कराता है और न किसीको वैसी सलाह ही देता है।

(२) जो स्त्री या पुरुष इन वस्तुओंका सेवन करते हैं उनके साथ वह खान-पान वगैरह नहीं करता।

(३) सब प्रकारके अचार, मुरब्बे, दो दिन रातका रखा हुआ दही, छाछ और फपूँदी हुई भोज्यसामग्री वह नहीं खाता।

(४) चमड़ेके कुप्पोंमें रखा पानी, घी, तेल वगैरह वह नहीं खाता।

(५) वस्तिकर्म और नेत्रांजनके रूपमें भी मधुका सेवन नहीं करता।

(६) अनजान फल नहीं खाता। फलियोंको बिना चीरे नहीं खाता।

(७) दिनके प्रथम और अन्तिम मुहूर्तमें भोजन नहीं करता। और रात्रिमें औषधके रूपमें भी घी दूध फल आदिका सेवन नहीं करता।

(८) पानीको छाने हुए यदि दो मुहूर्त हो गये हों तो उसे पुनः छानकर ही काममें लेता है। दुर्गन्धित वस्त्रसे पानी नहीं छानता और बिन छानीको उसी जलाशयमें पहुँचा देता है जिससे जल लाया था।

(९) जुआ, मांस, मद्य, चोरी, वेश्या, शिकार, परस्त्री, इन सात व्यसनोंका सेवन नहीं करता।

(१०) जिस वस्तुको बुरी समझकर स्वयं छोड़ देता है उसका प्रयोग दूसरोंके प्रति भी नहीं करता।

मुगल बादशाह अकबरके समयका रचा हुआ लाटीसंहिता नामका भी एक श्रावकाचार है। उसके उक्त नियमोंमें हम और भी कड़ाई पाते हैं। श्रावककी तिरपन क्रियाओंकी दिग्दर्शक एक गाथा इसमें उद्धृत है, जो अन्य श्रावकाचारोंमें हमने नहीं देखी। सम्भवतः यह प्राकृत क्रियाकाण्डकी जान पड़ती है। इसमें शुद्ध आहारपर अधिक जोर दिया गया है। लिखा है,

१. अपने हाथोंसे अन्न वगैरहको शोधना चाहिए। २. अनजान साधर्मीके द्वारा और जानकार विधर्मीके द्वारा शोधा गया या पकाया गया भी भोजन नहीं करना चाहिए। ३. आगपर अकेला पकाया गया या घीके साथ पकाया गया बासी भोजन नहीं करना चाहिए। ४. सब प्रकारका पत्तेका शाक नहीं खाना चाहिए। ५. जब बासी भोजन ही अभक्ष्य है तब आसव, अरिष्ट, अथाना वगैरहका तो कहना ही क्या? ६. भंग, अफीम धतूरा वगैरह जो मद्यकी तरह मादक वस्तुएँ हैं वे सब त्याज्य हैं। ७. इन्होंने अणुव्रती श्रावकके लिए खेती वगैरह करनेका भी निषेध[1] किया है, लिखा है—कृषि आदिमें महान् आरम्भ करना पड़ता है, उससे क्रूर कर्मोंका

---

१. "कृष्यादयो महारम्भाः क्रूरकर्मार्जनक्षमाः।
तत्क्रियानिरतो जीवः कुतो हिंसावकाशवान्॥१४८॥"

बन्ध होता है अतः जो कृषि आदि क्रिया करता है उसे हिंसासे अवकाश कैसे मिल सकता है। आगे लिखा है कि यदि कोई किसान खेतीको घटा दे तो अच्छा है किन्तु उसके कोई भी प्रतिमा नहीं हो सकती।[1] आगे खेती करानेका भी निषेध किया है और लिखा है कि व्यापारके लिए विदेशोंको गाड़ी वगैरह भी नहीं भेजना चाहिए।[2] ८. श्रावकको त्रस जीवोंसे रहित वस्तुका ही क्रय-विक्रय करना चाहिए। ९. अकालके समय व्यापारके लिए धान्यसंग्रह नहीं करना चाहिए तथा घी तेल और गुड़का संग्रह कभी नहीं करना चाहिए। १०. लाख, ईंट, खार, शस्त्र और चमड़े वगैरहका तथा पशुओंका व्यापार नहीं करना चाहिए। ११. तोता, कुत्ता, बिलाव, बन्दर, सिंह और मृग वगैरहको नहीं पालना चाहिए। १२. अन्य भी जो ऐसे काम हैं जिनमें त्रस जीवोंका वध होता हो वे सब नहीं करना चाहिए। १३. व्रती नैष्ठिकको संग्रामकी चिन्ता नहीं करना चाहिए। हाँ, अव्रती पाक्षिक कर भी सकता है।

अन्य भी बहुत-से प्रतिबन्ध अणुव्रती श्रावकके लिए इस ग्रन्थमें बतलाये गये हैं।

इस विवरणसे प्रतीत होता है कि अहिंसाका स्रोत खान-पानकी शुद्धिकी ओर अधिक प्रवाहित हुआ है और उत्तरकालमें भारतमें मुसलमानोंका आवागमन बढ़ जानेके कारण उसमें और भी अधिक कड़ाई बरती गयी है। यद्यपि राग और द्वेष तथा उससे उत्पन्न होनेवाले काम क्रोध आदि सभी भाव हिंसाके ही रूपान्तर हैं तथापि उनकी ओर उतना लक्ष्य नहीं दिया गया जितना खान-पानकी शुद्धिकी ओर दिया गया है। उसीके फलस्वरूप शुद्ध खान-पान करनेवाले भी मनुष्योंमें मानसिक अशुद्धिकी मन्दता नहीं पायी जाती और व्यवहारमें अहिंसाके दर्शन कम ही होते हैं।

रात्रिभोजन

श्रावकाचारका वर्णन करते हुए प्रायः सभी शास्त्रकारोंने रात्रिभोजनका निषेध किया है। थोड़ा अन्तर देखा जाता है; वह यह कि श्रावकके जो ग्यारह भेद बतलाये हैं उसमें छठे भेदके स्वरूपको लेकर शास्त्रकारोंमें मतभेद है। आचार्य कुन्दकुन्दने[3] तो ग्यारह भेदोंके केवल नाम गिनाये हैं जिसमें छठे भेदका नाम 'रायभत्त' रखा है। टीकाकार श्रुतसागर सूरिने दोनों मान्यताओंको लेकर उसका अर्थ रात्रिभोजनविरत और दिवा ब्रह्मचर्य किया है। रत्नकरण्डश्रावकाचारमें स्वामी समन्तभद्रने छठी प्रतिमाका नाम 'रात्रिभुक्तिविरत' रखा है और लिखा[4] है कि जो प्राणियोंपर दया करके रात्रिमें चारों प्रकारके भोजनका त्याग करता है उसे रात्रिभुक्तिविरत करते हैं। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षामें[5] भी छठी प्रतिमाका यही स्वरूप दिया है। किन्तु चारित्रसार,[6] सोमदेवकृत उपासकाचार,[7] वसुनन्दि श्रावकाचार,[8] अमितगति श्रावकाचार,[9] सं० भावसंग्रह[10] और[11] सागारधर्मामृतमें दूसरा लक्षण दिया है अर्थात् जो केवल रात्रिमें ही स्त्रीसे भोग करता है और दिनमें ब्रह्मचर्य पालता है उसे रात्रिभक्तव्रत या दिवामैथुनविरत कहते हैं। लाटी[12] संहितामें दोनोंको ही सम्मिलित कर लिया है, अर्थात् रात्रिभोजन और दिवामैथुनका जो त्याग करता है वह षष्ठम श्रावक कहा जाता है।

छठी प्रतिमामें रात्रिभोजनका त्याग करानेवाले रत्नकरण्डश्रावकाचार और स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षामें छठी प्रतिमासे पहले रात्रिभोजन न करनेकी कोई चर्चा नहीं की गयी है, जब कि अन्य श्रावकाचारोंमें मद्यादिककी तरह रात्रिभोजनका त्याग भी आवश्यक बतलाया है।

---

१. "आह कृषीवलः कश्चिद् द्विशतं न च करोम्यहम्।
शतमात्रं करिष्यामि प्रतिमाऽस्य न कापि सा ॥१६३॥"

२. "क्रूरं कृष्यादिकं कर्म सर्वतोऽपि न कारयेत्।
वाणिज्यार्थं विदेशेषु शकटादिं न प्रेषयेत् ॥१७७॥"

३. चारित्र प्रा०गा० २१। ४. श्लो० १४२। ५. गा० ३८२। ६. पृ० १९। ७. श्लो० ८५३। ८. गा० २९६। ९. अ० ७, श्लो० ७२। १०. श्लो० ५३८। ११. अ० ७, श्लो० १२। १२. पृ० १२३।

सर्वार्थसिद्धिमें व्रतका वर्णन करते हुए सातवें अध्यायके प्रथम सूत्रके व्याख्यानमें एक शंका की गयी है कि रात्रिभोजनविरमण नामका एक षष्ठ अणुव्रत भी है उसे भी यहाँ गिनाना चाहिए। इसका यह समाधान किया गया कि रात्रिभोजनविरमण कोई अलग अणुव्रत नहीं है, किन्तु उसका अन्तर्भाव अहिंसाव्रतकी 'आलोकित पानभोजन' भावनामें हो जाता है। अकलंकदेवने राजवार्तिकमें भी यही शंका उठायी है और समाधान भी यही किया है। इसका यह मतलब नहीं है कि दिगम्बर परम्परामें रात्रिभोजनविरति नामका भी षष्ठ अणुव्रत था। यह शंका तो श्वेताम्बर मान्यताको लेकर की गयी प्रतीत होती है, क्योंकि श्वेताम्बरोंमें[1] छह मूलगुण माने गये हैं–पाँच अहिंसा आदि और छठा रात्रिभोजनत्याग। उसीको दृष्टिमें रखकर यह शंका की गयी प्रतीत होती है। किन्तु चारित्रसारमें जो मुख्य रीतिसे सर्वार्थसिद्धिको सामने रखकर लिखा गया है, रात्रिभोजनविरतिको छठा अणुव्रत स्वीकार किया है। और रत्नकरण्डमें छठी प्रतिमाका जो स्वरूप बतलाया है वही उसका स्वरूप बतलाया है। चारित्रसारकी इस मान्यताका समर्थन पूर्वकालीन या उत्तरकालीन किसी भी ग्रन्थसे नहीं होता। रात्रिभोजनविरतिको छठी प्रतिमा मानना अवश्य ही ध्यान देने योग्य है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि छठी प्रतिमासे पहलेके श्रावकोंके लिए रात्रिभोजन विधेय था, क्योंकि प्रायः सभी पूर्वकालीन और उत्तरकालीन ग्रन्थोंमें रात्रिभोजनका निषेध जोरसे किया गया है। प्रमाण रूपमें सबसे पहले वि० सं० ७३४ के रचे हुए पद्मचरितको ही लें, उसके चौदहवें पर्वमें लगभग ६० श्लोकोंके द्वारा रात्रिभोजनकी बुराइयाँ और उसके त्यागकी भलाइयाँ बतलायी गयी हैं। उसमें लिखा है, "जिन्होंने रात्रिभोजन रूपी अधर्मको धर्म माना है वे कठोर पापी हैं। सूर्यके छिप जानेपर पापी जीव परम लालसासे भोजन करता है, किन्तु दुर्गतिको नहीं देखता। रात्रिको खानेवाला पापी अन्धकारमें मक्खी कीड़े वगैरह खा जाता है। जो रात्रिको भोजन करता है वह डाकिनी भूत पिशाच आदि कुत्सित प्राणियोंके साथ तथा कुत्ता, बिल्ली वगैरह मांसाहारी प्राणियोंके साथ भोजन करता है। अधिक क्या, जिसने रात्रिमें खाया उसने सब अपवित्र वस्तुओंको खाया। अतः रात्रिमें खानेवाले मनुष्य नहीं, पशु हैं।" इत्यादि।

अकलंकदेवने राजवार्तिकमें रात्रिभोजनका जो निषेध किया है वह अधिक जोरदार प्रतीत नहीं होता, दूसरे वह मुनियोंकी दृष्टिसे किया गया जान पड़ता है। उत्तरकालीन श्रावकाचारोंमें पद्मचरितके स्वरमें ही रात्रिभोजनका निषेध मिलता है। उदाहरणके लिए अमितगति श्रावकाचारका विवरण देखने योग्य है जो लगभग ३० श्लोकोंके द्वारा किया गया है। उसमें लिखा है, "जिसमें राक्षस पिशाच आदि घूमते हैं, जीवसमूह दिखायी नहीं देता, छोड़ी गयी वस्तु भी खानेमें आ जाती है, घना अन्धकार रहता है, मुनिदानका अवसर नहीं मिलता, न देवपूजन ही होता है, खानेके साथ जीवोंको भी भक्षण करना पड़ता है, कोई भी शुभ काम जिस समय नहीं किया जा सकता उस दोषपूर्ण रातके समयमें धर्मात्मा और कर्मठ पुरुष भोजन नहीं करते।" आदि।

सोमदेव सूरिने तो केवल एक श्लोकके द्वारा अहिंसाव्रतकी रक्षाके लिए और मूलव्रतकी विशुद्धिके लिए रात्रिभोजनका निषेध किया है। सागारधर्मामृतमें भी प्रायः उक्त युक्तियोंको देकर रात्रिभोजनका निषेध किया गया है। इस प्रकार ज्ञात होता है कि साधारण श्रावकके लिए कभी भी रात्रिभोजन विधेय नहीं रहा। पाक्षिक श्रावकके लिए मुखवास तथा औषध आदिकी छूट देखी जाती है। सागारधर्मामृतमें लिखा है कि पाक्षिक श्रावक रात्रिमें पान, इलायची, पानी, औषध वगैरह ले सकता है।

ऊपर लिखा है कि लाटीसंहितामें छठी प्रतिमाका स्वरूप बतलाते हुए रात्रिभोजनत्यागको भी उसका स्वरूप बतलाया है। फिर भी पहली प्रतिमाका स्वरूप बतलाते[2] हुए उसमें रात्रिभोजनका निषेध किया

---

1. "मूलगुण—पंचमहव्वयाणि राईभोयणं छट्ठाइं।" महा० ३ अ०।
2. लाटीसंहिता, पृ० १९।

है और लिखा है कि रात्रिभोजन करनेसे मांसभक्षणका दोष लगता है। इसपर यह शंका की गयी है कि आपको यहाँ रात्रिभोजनका निषेध नहीं करना चाहिए वह तो आपके छठी प्रतिमामें बतलाया है। इसका यह समाधान किया गया कि पूरी तरहसे रात्रिभोजनका निषेध छठी प्रतिमामें होता है। यहाँ तो उसका आंशिक त्याग किया जाता है। अर्थात् यहाँ रात्रिभोजननिषेध सातिचार है और छठी प्रतिमामें निरतिचार है। यहाँ तो अन्न वगैरह स्थूल खाद्यका निषेध है जलपान वगैरहका निषेध नहीं है; किन्तु छठी प्रतिमामें तो प्राणान्त हो जानेपर भी जलपानकी तो बात ही क्या औषध भी नहीं ली जा सकती। शायद कोई कहे कि पहली प्रतिमावाला श्रावक तो केवल जैनधर्मका पक्ष करता है वैसे तो वह अव्रती है अतः उसे रात्रिमें अन्न खाना चाहिए। इसका समाधान यह किया गया कि रात्रिभोजन न करना जैनोंका कुलाचार है उसके बिना कोई नामसे भी श्रावक नहीं हो सकता। रात्रिभोजन न करना तो सबसे जघन्य व्रत है, उसके नीचे तो फिर कोई क्रिया ही नहीं है।

शायद कहा जाये कि पाक्षिक श्रावक तो अव्रती होता है, उसके तो केवल जैनधर्मका पक्ष मात्र रहता है, व्रत तो वह पालता ही नहीं है, किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसी अवस्थामें उसे पाक्षिक भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह सर्वज्ञ भगवान्की आज्ञाका लोपक है। भगवान्की आज्ञा है कि जो क्रियावान् हो वही श्रावक है। अतः निकृष्टसे निकृष्ट श्रावक भी कुलाचारको नहीं छोड़ता।

इस प्रकार लाटीसंहिताके कर्ता निकृष्टसे निकृष्ट श्रावकको भी व्रतके रूपमें न सही तो कुलाचारके रूपमें ही रात्रिभोजन न करना आवश्यक बतलाकर रात्रिभोजनकी बुराइयाँ बतलाते हैं।

वे लिखते हैं, "यह सब जानते हैं कि रात्रिमें दीपकके निकट पतिंगे आते ही हैं और वे हवाके वेगसे मर जाते हैं। अतः उनके कलेवर जिस भोजनमें पड जाते हैं वह भोजन निरामिष कैसे रहा? तथा रात्रिमें भोजन करनेमें युक्त-अयुक्तका भी विचार नहीं रहता। अरे जहाँ मक्खी दिखायी नहीं देती वहाँ मच्छरोंका तो कहना ही क्या? अतः संयमकी वृद्धिके लिए रात्रिमें चारों प्रकारके आहारका त्याग करना चाहिए। यदि उतनी सामर्थ्य न हो तो अन्न वगैरहका त्याग करना चाहिए।

सातवीं शतीसे लेकर सत्रहवीं शती तक एक हजार वर्षके समयमें रात्रिभोजनके विषयमें जो विचार-धारा बहती आयी है ऊपर उसका विवरण दिया गया है और उस सबका सार सोमदेव सूरिके शब्दोंमें यह निकलता है,

> "अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये।
> निशायां वर्जयेद् भुक्तिमिहामुत्र च दुःखदाम् ॥३२५॥"

अर्थात् अहिंसाव्रतकी रक्षाके लिए और मूलव्रतोंको विशुद्ध रखनेके लिए इस लोक और परलोकमें दुःखदायी रात्रिभोजनको छोड़ देना चाहिए ॥३२५॥

उत्सर्ग मार्ग यही है। इसमें अपवाद तो केवल पानी औषध और मुखको सुवासित करनेवाले पान इलायची आदिके भक्षण कर सकनेका था। किन्तु उत्तरकालमें हिन्दू और मुसलमानोंके संसर्गसे रात्रिभोजनका प्रचार जैनोंमें चला तो फिर अन्नाहारके त्यागपर ही जोर दिया जाने लगा। रात्रिमें फलाहार करना और फलाहारके नामपर सिंघाड़ेकी गिरी, तिल, रजगिरा आदिके व्यंजन बनाकर सेवन करनेकी रीति एकदम हिन्दुओंके प्रभावको व्यक्त करती है; क्योंकि उनमें व्रतके दिन अन्नाहार न करके ऐसी ही वस्तुओंका आहार किया जाता है। धीरे-धीरे जब जैनधर्ममें केवल वैश्य वर्ग ही रह गया और व्रताचरण मन्द हो चला तो रात्रिभोजनत्यागको कुलाचार मानकर उसपर जोर दिया जाने लगा, जैसा लाटीसंहितासे प्रकट है। किन्तु वास्तविक बात तो 'सावयधम्मदोहा' के शब्दोंमें यही है,

> "तम्बोलोसहु जलु मुइवि जे अत्थमियइ सूरि।
> भोग्गासणुं फलु अहिलसिउ तें किउ दंसणु दूरि ॥३७॥"

अर्थात् ताम्बूल, औषध और जलको छोड़कर सूर्यास्तके बाद जिसने भोजन या फलाहारकी अभिलाषा को उसने दर्शन (श्रद्धान) को दूर कर दिया।

अहिंसाणुव्रतके अतिचार

अहिंसाणुव्रतके पाँच अतीचार सभी श्रावकाचारोंमें बतलाये हैं जो समान हैं। अतीचार कहते हैं, व्रतका ध्यान रखते हुए भी उसमें दूषण लगा लेना। जिन दूषणोंसे व्रत पूरी तरह खण्डित नहीं होता किन्तु आंशिक खण्डित हो जाता है वे दूषण अतीचार कहे जाते हैं। वे अतीचार हैं, मनुष्य या पशुको बाँधना, दण्डे वगैरहसे पीटना, नाक वगैरहका छेदना, शक्तिसे अधिक भार लादना और समयपर खाना-पीना नहीं देना। ये अतिचार बहुत प्राचीन हैं, तत्त्वार्थसूत्र और रत्नकरण्डश्रावकाचारमें भी ये ही अतिचार गिनाये गये हैं। इनसे यह स्पष्ट है कि अहिंसा अणुव्रतका सम्बन्ध केवल खान-पानकी शुद्धिसे ही नहीं था किन्तु व्यवहारकी शुद्धिसे भी था। ऊपरके पाँचों अतिचार मनुष्य और पशुओंके साथ किये जानेवाले व्यवहारसे ही सम्बन्ध रखते हैं।

सत्याणुव्रत

शेष चार अणुव्रतोंका वर्णन करनेसे पहले यह बता देना आवश्यक है कि वे अहिंसा व्रतके रक्षक मात्र हैं—स्वतन्त्र नहीं हैं। जैसे किसान खेतकी रक्षाके लिए चारों ओर बाड़ा लगा देता है वैसे ही अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिए वे चारों बाड़रूप हैं, उनके पालन करनेसे अहिंसाव्रतकी रक्षा होती है। किन्तु जहाँ उन चारों व्रतोंमें-से कोई भी व्रत अहिंसाका रक्षक न होकर भक्षक होता हो वहाँ अहिंसाकी रक्षाका ही ध्यान रखा जाता है, शेष व्रतोंका नहीं। इसीलिए रत्नकरण्डश्रावकाचारमें सत्याणुव्रतका स्वरूप बतलाते हुए स्वामी समन्तभद्रने लिखा है,

"स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे।
यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणम् ॥५५॥"

जो स्थूल झूठ न स्वयं बोलता है और न दूसरोंसे बुलवाता है तथा जब सत्य बोलनेसे दूसरेका अपकार होता हो तो ऐसे समय सत्य भी न स्वयं बोलता है और न दूसरोंसे बुलवाता है उसे स्थूल झूठका त्यागी या सत्याणुव्रती कहते हैं।

आचार्य उमास्वामीने अपने तत्त्वार्थसूत्रमें असत्यका लक्षण बतलाया है,

"असदभिधानमनृतम्।" अ० ७, सू० १४ ॥

इसका व्याख्यान करते हुए सर्वार्थसिद्धिके कर्ताने लिखा है, "असत्का अर्थ है—अप्रशस्त। और जिससे प्राणीको पीडा पहुँचती हो वह वचन, चाहे वह सच्चा हो या झूठा, अप्रशस्त है अतः उसका बोलना असत्य है।" जैसे काने मनुष्यको काना कहना यद्यपि सत्य है किन्तु है मर्मभेदी, अतः वह झूठमें ही सम्मिलित है। पुरुषार्थसिद्धयुपायमें असत्यके चार भेद किये हैं—विद्यमान वस्तुका निषेध करना पहला असत्य है, जैसे देवदत्तके घरमें होते हुए भी यह कहना कि देवदत्त यहाँ नहीं है। अविद्यमान वस्तुको विद्यमान बतलाना दूसरा असत्य है, जैसे घटके नहीं होते हुए भी यह कहना कि घट है। कुछका कुछ कह देना तीसरा असत्य है, जैसे बैलको घोड़ा बतलाना। चौथे असत्यके भी तीन भेद हैं—गर्हित, सावद्य और अप्रिय। किसीकी चुगली करना, हँसी करना, किसीको कठोर बातें कहना, बक-झक करना आदि गर्हित कहलाता है। मारो, काटो, इसके घरमें आग लगा दो, इसे लूट लो इत्यादि वचनोंको सावद्य कहते हैं। जो वचन बैर, शोक, कलह, खेद और सन्ताप करनेवाला हो वह अप्रिय है। इस प्रकारके वचन चूँकि प्रमादके कारण ही बोले जाते हैं इसलिए ये सब हिंसामें ही सम्मिलित हैं। किन्तु जहाँ कोई हितकी दृष्टिसे दूसरेको कठोर शब्द कहता है वहाँ उसका उद्देश्य सत् होनेसे वे कठोर वचन उक्त वचनोंमें गर्भित नहीं समझे जाते।

जो लोग अपनी सांसारिक जीवन-यात्रामें सहायक असत्य वचनको छोड़नेमें असमर्थ हैं उन्हें भी अन्य असत्य वचनोंको सदाके लिए छोड़ देना चाहिए।

सोमदेव सूरिने अपने उपासकाध्ययनमें असत्यका वर्णन करते हुए वचनके चार भेद दूसरे प्रकारसे किये हैं। वे भेद हैं—असत्य सत्य, सत्य असत्य, सत्य सत्य और असत्य असत्य। इसका अभिप्राय यह है कि कोई वचन असत्य होते हुए भी सत्य होता है जैसे, भात पकाता है, कपड़ा बुनता है। कोई वचन सत्य होते हुए भी असत्य है। जैसे, किसीने कहा कि तुम्हें मैं पन्द्रह दिन बाद तुम्हारी चीज लौटा दूँगा, किन्तु प्रतिज्ञात समयपर न लौटाकर एक माह बाद या एक वर्ष बाद बाद लौटाता है। जो वस्तु जहाँपर जिस रूपमें देखी या सुनी थी उसको वैसा ही कहना सत्य सत्य है। और सर्वथा झूठ वचन असत्य असत्य है। इसमें-से पहलेके तीन वचन ही लोकयात्रामें सहायक हैं। अतः चौथे प्रकारके झूठको कभी नहीं बोलना चाहिए।

आगे और भी लिखा है कि न अपनी प्रशंसा करनी चाहिए और न दूसरोंकी निन्दा करनी चाहिए। न दूसरेके गुणोंको छिपाना चाहिए और न अपनेमें जो गुण नहीं हों उनको प्रकट करना चाहिए। जो दूसरोंका प्रिय कार्य करता है वह अपना ही प्रिय करता है। फिर भी न जाने यह संसार दूसरोंका अप्रिय करनेमें ही क्यों तत्पर रहता है। जो सत्य वचन बोलता है उसे सत्यके माहात्म्यसे वचनसिद्धि हो जाती है और जहाँ जहाँ वह जाता है उसके वचनका आदर होता है तथा जो झूठ बोलता है उसकी जीभ काट डाली जाती है और वह परलोकमें भी कष्ट उठाता है। (श्लोक ३७६–३९१)आदि।

अमितगति उपासकाचारमें[2] पुरुषार्थसिद्धयुपायके अनुसार ही असत्यके चार भेद किये हैं। अन्तर केवल इतना है कि यहाँ उन भेदोंका नामकरण कर दिया है—असदुद्भावन, सदपलपन, विपरीत और निन्द्य। फिर निन्द्यके तीन भेद कर दिये हैं–सावद्य, अप्रिय और गर्ह्य। तथा लिखा है कि कामके वशमें होकर या क्रोधके वशमें होकर या हँसीमें या प्रमादसे अथवा घमण्डमें आकर या लोभसे या मोहसे या द्वेषवश असत्य वचन नहीं बोलना चाहिए।

सागारधर्मामृतमें सत्याणुव्रतका वर्णन करते हुए वचनके जो भेद बतलाये है वे सोमदेव सूरिके उपासकाध्ययनके अनुसार हैं। किन्तु उसमें जो सत्याणुव्रतका स्वरूप बतलाते हुए कन्या अलीक, गो अलीक आदिका निषेध किया है वह किसी भी दिगम्बर जैन ग्रन्थमें नहीं मिलता और इसलिए वह हेमचन्द्राचार्यके योगशास्त्रसे लिया गया प्रतीत होता है। सागारधर्मामृतमें लिखा है,

"कन्यागोक्ष्मालीककूटसाक्ष्यन्यासापलापवत्।
स्यात् सत्याणुव्रती सत्यमपि स्वान्यापदे त्यजन् ॥३९॥—अ० ४।"

और योगशास्त्रमें लिखा है,

"कन्यागोभूम्यलीकानि न्यासापहरणं तथा।
कूटसाक्ष्यं च पञ्चेति स्थूलासत्यान्यकीर्तनम् ॥५४॥"

कन्या आदि द्विपदोंके सम्बन्धमें झूठ बोलना कन्यालीक है। गौ आदि चौपायोंके सम्बन्धमें झूठ बोलना गो-अलीक है। जैसे थोड़ा दूध देने वाली गायको बहुत दूधवाली या बहुत दूध देनेवाली गायको थोड़ा दूध देनेवाली बतलाना। पृथ्वी आदि अचेतन वस्तुओंके विषयमें झूठ बोलना क्ष्मा-अलीक है जैसे परायी जमीनको अपनी या अपनी जमीनको परायी बतलाना। इस तरहके झूठ नहीं बोलना चाहिए। इस तरह विविध श्रावकाचारोंमें सत्याणुव्रतका स्वरूप बतलाया है।

---

१. पृ० १७५-१७६। २. पृ० १५५-१५८।

सत्याणुव्रतके अतीचार भी पाँच बतलाये हैं—झूठी सलाह देना, स्त्री पुरुषकी एकान्तमें की गयी किसी चेष्टाको देखकर दूसरोंसे कह देना, जाली हस्ताक्षर बनाना, कोई अपनी रखी हुई धरोहरको भूलकर कम माँगे तो उससे यह न कहना कि तुम्हारी धरोहर अधिक थी और उठाकर वह जितनी कहे उतनी दे देना। मुखकी आकृति वगैरहसे दूसरेके मनकी बात जानकर उसे प्रकट कर देना। रत्नकरण्ड (श्लो० ५६) में मिथ्योपदेश और साकार मन्त्रभेदके स्थानमें परिवाद और पैशून्यको रखा है और सोमदेवके उपासकाध्ययन (श्लो० ३८१) में मिथ्योपदेश, रहोऽभ्याख्यान और न्यासापहारके स्थानमें परीवाद पैशुन्य और झूठी गवाहीको रखा है।

अचौर्याणुव्रत

कहीं रखे हुए या गिरे हुए या भूले हुए परद्रव्यको न स्वयं लेना और न उठाकर दूसरेको देना अचौर्याणुव्रत है (रत्न० श्रा० श्लो० ५७)। तत्त्वार्थसूत्र (७।१५) में बिना दी हुई वस्तुके लेनेको चोरी कहा है। इसकी व्याख्यामें सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपादने (विक्रमकी छठी शताब्दी) कुछ शंकाएँ उठाकर उनका समाधान किया है।

शंका–तब तो जीवके द्वारा कर्म नोकर्मका ग्रहण भी चोरी ठहरता है? क्योंकि वह भी बिना दिया हुआ है?

समाधान–जिस वस्तुमें देन-लेनका व्यवहार सम्भव है उसीको बिना दिये लेनेसे चोरीका व्यवहार होता है।

शंका–फिर भी साधु ग्राम नगर आदिमें भ्रमण करते समय मार्गमें बने हुए द्वारोंमें प्रवेश करता है अतः यह भी तो बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण है।

समाधान–नहीं, मार्ग तो सार्वजनिक है। किन्तु बन्द द्वारोंको खोलकर साधु प्रवेश नहीं करता है, क्योंकि वह सार्वजनिक नहीं है। अथवा प्रमादके योगसे जो बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण किया जाता है उसे चोरी कहते हैं। मार्गके द्वारमें प्रवेश करते समय साधुके प्रमादका योग नहीं होता। सारांश यह है कि जहाँ संक्लेश परिणामसे प्रवृत्ति हो वह चोरी है, चाहे बाह्य वस्तु हाथ लगे या न लगे।

अमृतचन्द्र सूरिने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें चोरीका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि धन मनुष्योंका बाह्य प्राण है। जो जिसका धन हरता है वह उसका प्राण हरता है। जो जलाशयोंसे पानी आदि भी लेनेका त्याग करनेमें असमर्थ हैं उन्हें भी अन्य सब बिना दी हुई वस्तुके ग्रहणका त्याग करना चाहिए (श्लो० १०३-१०६)। सोमदेवने उक्त परिभाषाओंको दृष्टिमें रखकर लिखा है कि सार्वजनिक जल, तृण आदिके सिवाय अन्य सब बिना दी हुई परायी वस्तुओंका ग्रहण करना चोरी है। तथा यदि कोई अपना कुटुम्बी मर जाये तो उसका धन बिना दिये हुए भी लिया जा सकता है। किन्तु जीवित होनेपर उसके आदेशसे ही लिया जा सकता है अन्यथा व्रतकी हानि होती है। जो धन पृथिवी वगैरहमें गड़ा हुआ मिला हो, उसे भी नहीं लेना चाहिए; क्योंकि जिस धनका कोई स्वामी नहीं होता उसका स्वामी राजा होता है। अतः मकानमें, जलमें, जंगलमें या पर्वतमें गड़े हुए पराये धनको नहीं लेना चाहिए। यदि कभी अपनी वस्तुमें भी यह संशय हो जाये कि यह हमारी है या नहीं? तो जबतक सन्देह दूर न हो उसे नहीं लेना चाहिए। (श्लो० ३६४–३७२) अमितगति श्रावकाचार तथा सागारधर्मामृत (अ० ४) में भी यही सब बातें बतलायी हैं। लाटीसंहितामें भी कोई नयी बात नहीं है।

अतीचार भी सब श्रावकाचारोंमें प्रायः समान ही हैं। दूसरोंको चोरीकी ओर प्रेरित करना, चोरीका माल खरीदना, खरीदनेके बाट तराजू अधिक और बेचनेके कम रखना, बहुमूल्य वस्तुमें कम मूल्यकी उसके समान वस्तु मिलाकर बेचना ये चार अतीचार हैं। सोमदेवकृत उपासकाध्ययनमें इनमें-से अन्तिम अतीचारको न गिनाकर बाट तराजू अधिक और कमती रखनेको अलग-अलग गिनाया है। पाँचवें अतीचारको अन्य

श्रावकाचारोंमें तत्त्वार्थसूत्रके ही अनुसार 'विरुद्धराज्यातिक्रम' नाम दिया है, किन्तु रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें 'विलोप' और सोमदेव उपासकाचारमें 'विग्रहे संग्रहोऽर्थस्य' नाम दिया है। इसका अर्थ होता है देशमें युद्ध छिड़नेपर धन संचय करना, जैसा कि गत युद्धके समय किया गया है। विलोपका मतलब होता है राजकीय नियमोंकी अवहेलना करके धन संचय करना, और विरुद्धराज्यातिक्रमका मतलब होता है, जब राज्यमें विप्लव हो जाये तो उचित उपायोंको छोड़कर दूसरे ही तरीकोंसे धन संचय करना।

विरुद्धराज्यातिक्रमका व्याख्यान करते हुए पं० आशाधरजीने कुछ अन्य भी अर्थ किये हैं जो इस प्रकार हैं,

(१) राज्यविप्लव हो जानेपर वस्तुओंके मूल्य बढ़ानेका प्रयत्न करना अर्थात् कम कीमती वस्तुओं-को भी बहुमूल्य करनेका प्रयत्न करना।

(२) एक राजाके निवासीका दूसरे राजाके राज्यमें प्रवेश करना। लिखा है कि अपने राजाकी आज्ञाके बिना दूसरेके राज्यमें जाना यद्यपि चोरी है फिर भी ऐसा करनेवाला यह समझकर ऐसा करता है कि मैंने तो व्यापार किया है, चोरी नहीं की। इसलिए उसका व्रत भंग तो नहीं होता किन्तु उसमें दूषण अवश्य लगता है। यद्यपि ऐसा लगता है कि ये अतीचार व्यापारीवर्गको लक्ष्यमें रखकर बतलाये हैं किन्तु राजा या उसके कर्मचारियोंको भी ये सब सम्भव हैं। पहला और दूसरा तो स्पष्ट ही है। जब राजा अपने भण्डारमें वस्तुओंका आदान-प्रदान कराते समय अधिक और कम बाटोंसे खरिदवाता और बिकवाता है तो उसको भी तीसरा और चौथा अतिचार लगता है। जब कोई सामन्त अपने राज्यके विरुद्ध मदद करता है तो वह विरुद्धराज्यातिक्रम दोषका भागी होता है।

लाटीसंहितामें विरुद्धराज्यातिक्रमका व्याख्यान दूसरे ही रूपमें किया है। उसमें लिखा है कि राजाकी आज्ञा युक्त हो वा अयुक्त उसका न पालना विरुद्धराज्यातिक्रम है। सम्भवतः विरुद्धराज्यातिक्रमका यह व्याख्यान अकबरके राज्यकालके प्रभावसे प्रेरित है। ग्रन्थकारने ग्रन्थके प्रारम्भमें अकबरकी खूब प्रशंसा की है। अस्तु!

ब्रह्मचर्याणुव्रत

रत्नकरण्ड श्रावकाचार[१]में लिखा है कि जो पाप समझकर न तो परस्त्रियोंके पास स्वयं जाता है और न दूसरोंको भेजता है उसे परदारनिवृत्ति या स्वदारसन्तोषव्रत कहते हैं। [२]सर्वार्थसिद्धिमें लिखा है कि गृहीत या अगृहीत परस्त्रीके साथ रति न करना गृहस्थका चौथा अणुव्रत है। पुरुषार्थ[३] सिद्ध्युपायमें लिखा है कि जो मोहवश अपनी स्त्रीको छोड़नेमें असमर्थ हैं उन्हें भी शेष सब स्त्रियोंका सेवन नहीं करना चाहिए। सोमदेव [४]उपासकाचारमें लिखा है, पत्नी और वेश्याको छोड़कर अन्य सब स्त्रियोंको माता बहन और पुत्री समझना गृहस्थका ब्रह्मचर्य है। स्वामी [५]कार्त्तिकेयानुप्रेक्षामें लिखा है, जो मन वचन और कायसे परस्त्रीको माता बहन और पुत्रीके समान मानता है वह स्थूल ब्रह्मचर्याणुव्रती है। अमितगतिने भी यही स्वरूप बतलाया है। वसुनन्दि श्रावकाचारमें लिखा है, पर्वके दिन स्त्रीभोग और अनंगक्रीडाको जो सदाके लिए छोड़ देता है वह स्थूल ब्रह्मचारी है। [६]सागारधर्मामृतमें लिखा है, जो पापके भयसे मन वचन और कायसे परस्त्री और वेश्याके पास न स्वयं जाता है और न दूसरोंको भेजता है वह स्वदारसन्तोषी है।

लाटी संहिता[७]में लिखा है कि ब्रह्मचर्याणुव्रतीको धर्मपत्नीका ही सेवन करना चाहिए अन्यका नहीं। उसके रचयिताने परस्त्रीव्यसनके त्यागका उपदेश देते हुए लिखा है[८], यद्यपि परस्त्रीत्यागका अन्तर्भाव चौथे अणुव्रतमें होता है फिर भी उसका कुछ दिग्दर्शन प्रसंगवश यहाँ भी कराते हैं—

---

१. श्लो० ५९। २. अ० ७, सू० २०। ३. श्लो० ११०। ४. श्लो० ४०५। ५. गा० ३३८। ६. अ० ४, श्लो० ५२। ७. पृ० १०५। ८. पृ० ३१-३२।

देव, शास्त्र और गुरुको नमस्कार करके कुटुम्बियोंकी साक्षीपूर्वक जिसका पाणिग्रहण किया जाता है वह तो पत्नी है और जिसका इस प्रकार पाणिग्रहण नहीं किया जाता वह चेटिका है। पाणिगृहीता पत्नी दो प्रकारकी होती है, एक स्वजातिकी, दूसरी अन्य जातिकी। स्वजातिकी पाणिगृहीता पत्नी ही धर्मपत्नी है और दूसरी भोगपत्नी है। इन दोनोंसे अतिरिक्त जो सामान्य स्त्री होती है वह चेटिका कही जाती है। चेटिका और भोगपत्नी दोनों केवल भोगके लिए होती हैं अतः इन दोनोंमें वास्तवमें कोई भेद नहीं है। धर्मके ज्ञाताओं-को भोगपत्नी नहीं रखनी चाहिए। जब भोगपत्नी ही निषिद्ध है तब परस्त्रीका तो कहना ही क्या है। फिर भी परस्त्रीका स्वरूप बतलाते हैं। परस्त्री तीन प्रकारकी होती है—गृहीता, अगृहीता और वेश्या। गृहीता भी दो प्रकारकी होती हैं—एक वह जिसका पति जीवित है और दूसरी वह जिसका पति तो मर चुका है किन्तु पिता वगैरह जीवित हैं। जो चेटिका बतलायी है उसका पति वही है जिसके पास वह रहती है अतः वह भी गृहीता ही है। विधवा स्त्रीके जब कुटुम्बी भी मर जाते हैं तो स्वच्छन्दचारिणी होनेपर वही अगृहीता कहलाती है। इसके साथ सम्भोग करनेपर यदि वैरी लोग राजाको खबर कर दें तो निश्चय दण्ड मिलता है।

आगे लाटीसंहिताकार लिखते हैं, कुछ जैन ऐसा कहते हैं कि उक्त स्त्री गृहीता ही समझी जाती है; क्योंकि ऐसा नियम है कि जिसका स्वामी नहीं है उसका स्वामी राजा होता है। अतः उनके मतसे वह स्त्री अगृहीता है, पिता वगैरहके होते हुए भी जिसके साथ सम्भोग करनेसे राजा आदिका भय नहीं रहता। उनके मतसे स्वच्छन्द नारीके दो ही भेद हैं—एक गृहीता और दूसरी अगृहीता। वेश्याका अन्तर्भाव भी इन्हींमें हो जाता है। ये सब जानकर परस्त्रीकी ओर मन नहीं लगाना चाहिए।

ऊपरके विवेचनसे यह स्पष्ट है कि सोमदेवके सिवा सभी श्रावकाचारोंमें ब्रह्मचर्याणुव्रतीके लिए स्वस्त्रीके सिवा शेष सभी परस्त्रियोंका त्याग आवश्यक बतलाया है। किन्तु सोमदेवने 'वित्तस्त्री'को भी उक्त व्रतकी मर्यादाके अन्दर ले लिया है। ऐसा उन्होंने क्यों किया इसके सम्बन्धमें स्वयं उन्होंने तो कुछ लिखा नहीं, हाँ उनके उत्तरकालीन पं० आशाधरने अवश्य कुछ प्रकाश डाला है। सागारधर्मामृतके चतुर्थ अध्यायमें स्वदारसन्तोषका व्याख्यान करते हुए वे लिखते हैं—जो मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे पापके भयसे परनारी और वेश्याको न स्वयं भोगता है और न दूसरोंको ऐसा कराता है वह स्वदारसन्तोषी है। यह ब्रह्माणुव्रत निरतिचार अष्टमूलगुणोंके धारक विशुद्ध सम्यग्दृष्टि श्रावकके लिए बतलाया गया है। जो गृहस्थ अपनी पत्नीकी तरह साधारण स्त्रियोंका भी त्याग करनेमें अशक्त है और केवल परस्त्रियों-का ही त्याग करता है, वह भी ब्रह्माणुव्रती माना जाता है। क्योंकि ब्रह्माणुव्रतके दो भेद हैं—स्वदारसन्तोष और परदारनिवृत्ति। यह बात स्वदारसन्तोषव्रतके उक्त लक्षणमें परनारी और वेश्याका निषेध करनेसे निकलती है। इनमें-से स्वदारसन्तोषव्रत तो देशसंयममें अभ्यस्त नैष्ठिक श्रावक पालता है और दूसरा व्रत देशसंयमके अभ्यासके लिए तत्पर पाक्षिक श्रावक पालता है, जैसा कि सोमदेव पण्डितने लिखा है।

पं० आशाधर आगे और लिखते हैं, वसुनन्दि श्रावकाचारमें — दर्शन प्रतिमाका लक्षण यह बतलाया है — पाँच उदुम्बरोंके साथ-साथ सातों व्यसनोंको जो छोड़ देता है उस सम्यग्दृष्टिको दर्शन श्रावक कहते हैं। अतः वसुनन्दि आचार्यके मतसे व्रत प्रतिमाधारीके ब्रह्माणुव्रतका स्वरूप यह है, जो पर्वोमें स्त्रीसेवन और अनंगक्रीडाको सदाके लिए छोड़ देता है उसे स्थूल ब्रह्माणुव्रती कहते हैं। स्वामी समन्तभद्रके मतसे जो दर्शनिक श्रावक है उसके लिए ऊपर कहा हुआ ही ब्रह्माणुव्रत है जो अतिचार छुड़ानेके लिए यहाँ कहा गया है।[1]

इससे यह स्पष्ट होता है कि पं० सोमदेवने जो ब्रह्माणुव्रतका लक्षण बतलाया है वह देशचारित्रके अभ्यासी श्रावकके लिए है और पं० आशाधर वगैरहने जो ब्रह्माणुव्रतका लक्षण बतलाया है वह देशचारित्र-में जो अभ्यस्त हो चुका है उस श्रावकके लिए है। इसी तरह वसुनन्दि श्रावकाचारमें जो ब्रह्माणुव्रतका स्वरूप बतलाया है, है तो वह भी अभ्यस्त देश-संयमी नैष्ठिक श्रावकके लिए ही किन्तु उसमें अन्तर इसलिए पड़ा

१. सागार० अ० ४ श्लो० ५२ की टीकामें।

कि वसुनन्दिके मतसे दर्शनिक श्रावक सात व्यसन छोड़ चुकता है। और सात व्यसनोंमें परनारी और वेश्या दोनों आ जाती हैं। अतः जब वह आगे बढ़कर दूसरी प्रतिमा धारण करता है तो वहाँ ब्रह्माणुव्रतमें वह स्वपत्नीके साथ भी पर्वके दिन काम भोग आदिका त्याग करता है। मगर स्वामी समन्तभद्रके मतसे दर्शन-प्रतिमामें सप्त व्यसनोंके त्यागका विधान नहीं है, अतः उनके मतसे दर्शनप्रतिमाका धारी जब व्रतप्रतिमा धारण करता है तो उसका ब्रह्माणुव्रत वही है जो अन्य श्रावकाचारोंमें बतलाया है। यह पं० आशाधरजीका समन्वय है।

किन्तु ब्रह्माणुव्रतको स्वदारसन्तोष और परदारनिवृत्ति नामके दो भेदोंमें विभाजित अन्य किसी भी आचार्यने नहीं किया। स्वामी समन्तभद्रने तो दोनोंको एक ही व्रतका नामान्तर बतलाया है। हाँ, श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रने अपने योगशास्त्रमें[1] अवश्य ये भेद किये हैं और पं० आशाधरने भी इन्हें वहींसे लिया प्रतीत होता है। यह सागारधर्मामृत और योगशास्त्रकी टीकाओंका मिलान करनेसे बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। अतः यद्यपि यह ठीक है कि पं० सोमदेवका उक्त लक्षण प्रारम्भिक श्रावकके लिए है तथापि यह स्पष्ट है कि ब्रह्माणुव्रतका इस तरहका लक्षण अन्य किसी भी श्रावकाचारमें हमने नहीं देखा और इसलिए यह सामयिक परिस्थितिसे प्रभावित है। इतना लिखकर अब हम ब्रह्माणुव्रतके अतिचारोंपर आते हैं।

ब्रह्माणुव्रतके अतिचार

ब्रह्माणुव्रतके अतिचार तत्त्वार्थसूत्रमें इस प्रकार बताये हैं – परविवाहकरण, इत्वरिका परिगृहीतागमन, इत्वरिका अपरिगृहीतागमन, अनंगक्रीडा, कामतीव्राभिनिवेश। चारित्रसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, अमितगति श्रावकाचार और लाटीसंहितामें ये ही अतीचार बतलाये हैं। रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें 'इत्वरिका गमन' नामका एक ही अतिचार है, दूसरेकी पूर्ति विटत्व नामके अतिचारसे की गयी है। शेष तीन अतिचार उक्त अतिचारोंके समान हैं। पं० आशाधरने रत्नकरण्डके अनुसार ही पाँच अतिचार गिनाये हैं। पं० सोमदेवने इत्वरिकागमनके स्थानमें 'परस्त्रीसंगम' नामका अतिचार गिनाया है और विटत्वके स्थानमें 'रतिकैतव्य'।

तत्त्वार्थसूत्रकी सर्वार्थसिद्धि आदि टीकाओंमें उक्त अतीचारोंका जो स्वरूप बतलाया है उसके अनुसार दूसरेका विवाह करना पहला अतिचार है। जो अन्य पुरुषोंके पास जाती है उस स्त्रीको इत्वरी कहते हैं। जिसका एक पति होता है वह परिगृहीता है और जिसका कोई स्वामी नहीं ऐसी वेश्या वगैरह अपरिगृहीता हैं, उनमें जाना ये दूसरा और तीसरा अतिचार है। कामसेवनके अंगसे अन्यत्र कामक्रीडा करना अनंगक्रीडा है और कामभावकी अधिकता पाँचवाँ अतीचार है।

पं० आशाधरने सागारधर्मामृतको टीकामें इन अतिचारोंका अच्छा खुलासा किया है जो हेमचन्द्राचार्यके योगशास्त्रका ऋणी है। उसमें उन्होंने ब्रह्माणुव्रतके जो दो भेद किये हैं, उनके अनुसार ही 'इत्वरिकागमन'का व्याख्यान भी किया है, जो अन्य दिगम्बर साहित्यसे मेल नहीं खाता।

इत्वरिकागमनकी व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं, इत्वरिका अर्थात् व्यभिचारिणी स्त्रियाँ दो प्रकारकी होती हैं, एक जो खुला व्यभिचार करती हैं उन्हें वेश्या कहते हैं और दूसरी वे, जो यद्यपि अस्वामिका होती हैं किन्तु खुला व्यभिचार नहीं करती। दोनों प्रकारकी स्त्रियोंका सेवन करना स्वदारसन्तोषव्रतका अतिचार है। क्योंकि उनका शुल्क चुका देनेसे कुछ कालके लिए वे 'स्वदार' हो जाती हैं। इसलिए व्रतकी कथंचित् रक्षा हो जाती है। और वास्तवमें वह स्वदार नहीं है अतः कथंचित् व्रतभंग भी होता है।

इस प्रकार 'इत्वरिकागमन'को स्वदारसन्तोषव्रतका अतिचार बतलाकर पं० आशाधरजी उसे परदारनिवृत्ति नामक दूसरे व्रतका अतिचार इस प्रकार बतलाते हैं,

'किसी मनुष्यकी रखेली वेश्याके साथ सहवास करनेसे परदारनिवृत्तिव्रत भंग होता है क्योंकि वह वेश्या उस समय एक तरहसे परदार है। किन्तु लोकमें वह 'परदारा' नहीं मानी जाती अतः व्रतभंग नहीं

---

१. योगशास्त्र पृ० ३४८।

होता। किन्हींके मतसे अविवाहित कुलांगनाका सेवन कर लेना भी परदारनिवृत्तिव्रतका अतिचार है, क्योंकि स्वामीके न होनेसे वह परदार नहीं है, किन्तु लोकमें वह परस्त्री ही मानी जाती[1] है।'

इत्वरिकागमनके इस व्याख्यानके अनुसार स्वदारसन्तोषव्रतीके लिए वेश्यासेवन करना अतिचार है और परदारनिवृत्ति व्रतीके लिए किसीकी रखेली वेश्याके साथ गमन करना अतिचार है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पं० सोमदेवने जो ब्रह्माणुव्रतका स्वरूप बतलाया है वह परदारनिवृत्तिव्रतका ही स्वरूप है। इसीसे उन्होंने उसके अतिचारोंमें 'इत्वरिकागमन'के स्थानमें स्पष्ट 'परस्त्रीसंगम' को रखा है।

यहाँ 'गमन' के स्थानमें 'संगम' शब्द रखा है, जिसका स्पष्ट अर्थ भोग होता है। 'गमन' शब्दका अर्थ इससे पहलेके किसी ग्रन्थमें हमने नहीं देखा। तत्त्वार्थसूत्रकी सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक टीकामें 'गमन' शब्दका अर्थ नहीं किया। हाँ, श्रुतसागरी[2] वृत्तिमें तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी शुभचन्द्राचार्यप्रणीत सं०टीकामें किया है। जघन आदिको ताकना, बातचीत करना, हाथ-भौं आदि चलाना इत्यादि रागपूर्ण चेष्टाओंको गमन कहते हैं। पं०आशाधरने भी गमनका अर्थ सेवन किया है। लाटीसंहितामें गमनका अर्थ रागपूर्ण बातचीत, शरीरस्पर्श अथवा रति लिया है।

इस तरह ब्रह्माणुव्रती इत्वरिकाके साथ यदि गमन करता है तो वह अपने व्रतमें अतीचार लगाता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस तरह विषयोंमें प्रवृत्ति करना तभीतक अतिचार है जबतक कभी-कभी ही इस तरह प्रवृत्ति की जाती हो। यदि उसमें अति प्रवृत्ति की गयी तो फिर वह अनाचार ही कहा जायेगा, अतिचार नहीं।

परिग्रहपरिमाणव्रत

तत्त्वार्थसूत्र ७।१७ में मूर्छाको परिग्रह कहा है। और सर्वार्थसिद्धिमें उसकी व्याख्या करते हुए बाह्य गौ, भैंस, मणि, मुक्ता वगैरह चेतन-अचेतन और रागादि भावोंके संरक्षण, अर्जन आदिरूप व्यापारको मूर्छा कहा है। उसपर यह शंका-समाधान किया गया है,

शंका—तब तो बाह्य परिग्रह नहीं बनती; क्योंकि आध्यात्मिकका ही ग्रहण किया है।

समाधान—आपका कथन ठीक ही है। प्रधान होनेसे अभ्यन्तरका ही ग्रहण किया है क्योंकि बाह्यमें परिग्रहके अभावमें भी 'यह मेरा है' ऐसा संकल्प करनेवाला परिग्रही होता है।

शंका—तो क्या बाह्य परिग्रह होता ही नहीं?

समाधान—मूर्छाका कारण होनेसे बाह्य भी परिग्रह होता है।

शंका—यदि 'यह मेरा है' इस प्रकारका संकल्प परिग्रह है तो सम्यग्ज्ञानादिको भी परिग्रह कहा जायेगा; क्योंकि जैसे रागादि भावोंमें 'यह मेरे है' इस प्रकारका संकल्प करना परिग्रह है वैसे ही सम्यग्ज्ञानादिमें भी 'यह मेरे हैं' ऐसा संकल्प किया जाता है।

---

१. "तत्र इत्वरिकागमनम्—अस्वामिका असती गणिकात्वेन पुंश्चलित्वेन वा पुरुषानेति गच्छतीत्येवंशीला इत्वरी। तथा प्रतिपुरुषमेतीत्येवंशीलेति व्युत्पत्त्या वेश्यापीत्वरी। ततः कुत्सायां के इत्वरिका। तस्यां गमनमासेवनम्। इयं चात्र भावना—भाटिप्रदानान्नियतकालस्वीकारेण स्वकलत्रीकृत्य वेश्यां वेत्वरिकां सेवमानस्य स्वबुद्धिकल्पनया स्वदारत्वेन व्रतसापेक्षचित्तत्वादल्पकालपरिग्रहाच्च न भङ्गो वस्तुतोऽस्वदारत्वाच्च भङ्ग इति भंङ्गाभङ्गरूपत्वादित्वरिकाथा वेश्यात्वेनास्यास्त्वनाथतयैव परदारत्वात्। किं चास्य भाट्यादिना परेण किंचित्कालं परिगृहीतां वेश्यां गच्छतो भङ्गः कथंचित्परदारत्वात्तस्याः। लोके तु परदारत्वारूढेर्न भङ्ग इति भङ्गाभङ्गरूपोऽतिचारः। अन्ये त्वपरिगृहीतकुलाङ्गनामप्यन्यदारवर्जिनोऽतिचारमाहुः। तत्कल्पनया परस्य भर्तुरभावेनापरदारत्वादभङ्गो लोके च परदारतया रूढेर्भङ्ग इति भङ्गाभङ्गरूपत्वात्तस्य।" —सागा० टी०, अ० ४, श्लोक ५८।

२. "जघनवदनस्तनादिनिरीक्षणं संभाषणं पाणिभ्रुचक्षुरन्तादिसंज्ञाविधानमित्येवमादिकं निखिलं रागित्वेन दुश्चेष्टितं गमनमित्युच्यते।"

समाधान—उक्त दोष ठीक नहीं है। क्योंकि प्रमादका योग भी होना चाहिए। अतः सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रसे युक्त अप्रमादी पुरुषके मोहका अभाव होनेसे मूर्छा नहीं है अतः वह अपरिग्रही है। किन्तु रागादि तो कर्मके उदयसे होते हैं इसलिए वे आत्मस्वभावरूप न होनेसे हेय हैं। अतः उनमें 'यह मेरे हैं' इस प्रकारका संकल्प परिग्रह है। वही सब दोषोंका मूल है। क्योंकि 'यह मेरा है' इस प्रकारका संकल्प होनेपर संरक्षण वगैरह किया जाता है। उसमें हिंसा अवश्य होती है। उसके लिए मनुष्य झूठ बोलता है। चोरी करता है। मैथुन कर्ममें प्रवृत्त होता है।

इस तरह परिग्रहकी भावनाका मूल ममत्वभाव है इसलिए उसे ही परिग्रह कहा है। किन्तु धन धान्य आदि बाह्य वस्तु उस ममत्वभावमें कारण होती हैं इसलिए उन्हें भी परिग्रह कहा है। इसीसे रत्नकरण्डश्रावकाचारमें दोनोंका समन्वय करके धन धान्य आदि परिग्रहका परिमाण करके उससे अधिकमें निःस्पृह होनेको परिग्रह परिमाणव्रत कहा है और उसका दूसरा नाम इच्छापरिमाण बतलाया है।

पहले लिख आये हैं कि स्वामी कुन्दकुन्दने इस व्रतका नाम 'परिग्रहारम्भविरमण' दिया है अर्थात् परिग्रहपरिमाणव्रतीको परिग्रहके साथ आरम्भका भी नियम करना चाहिए; किन्तु इस प्रकारका निर्देश अन्यत्र नहीं मिलता। शायद इसका कारण यह हो कि जो परिग्रहका परिमाण कर लेता है उसके आरम्भका परिमाण तो स्वतः हो जाता है; क्योंकि परिग्रहके संचयके लिए ही आरम्भ किया जाता है। आचार्य अमितगतिने अपने उपासकाचारमें लिखा भी है,

"सर्वारम्भा लोके संपद्यन्ते परिग्रहनिमित्ताः।
स्वल्पयते यः सङ्गं स्वल्पयति यः सर्वमारम्भम् ॥७५॥"

अर्थात् लोकमें सब आरम्भ परिग्रहके लिए किये जाते हैं। जो परिग्रहको कम करता है वह समस्त आरम्भोंको कम करता है।

तत्त्वार्थसूत्र और उसकी प्राचीन टीकाओंके उक्त कथनको लक्ष्यमें रखकर सोमदेव सूरिने भी बाह्य और आभ्यन्तर वस्तुओंमें 'यह मेरा है' इस प्रकारके संकल्पको परिग्रह बतलाकर उसके विषयमें चित्तको संकुचित करनेका अर्थात् ममत्वभावको घटानेका विधान किया है।

परिग्रहके सचित्त अचित्त तथा अन्तरंग बहिरंग भेदोंका निर्देश तो सर्वार्थसिद्धिकारने हो कर दिया था। किन्तु उनकी संख्याका निर्देश पुरुषार्थसिद्धयुपाय और उपासकाध्ययनमें मिलता है। किन्तु पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (श्लो० ११५-११७) में अन्तरंग परिग्रहके तो चौदह भेद बतलाये हैं और बहिरंग परिग्रहके केवल सचित्त-अचित्त दो ही भेद बतलाये हैं। परन्तु उपासकाध्ययनमें बहिरंग परिग्रहके दस भेद बतलाये हैं। उनमें कुछ सचेतन हैं और कुछ अचेतन हैं। तथा अनेक श्लोकोंके द्वारा परिग्रहकी बुराइयाँ बतलायी हैं।

एक गृहस्थको कितनी परिग्रहका परिमाण करना चाहिए इसका उल्लेख पूर्वोक्त ग्रन्थोंमें नहीं मिलता। लोग समझते हैं कि एक हजारपति एक करोड़की सम्पत्तिका परिमाण कर ले तो वह भी परिग्रहपरिमाणव्रती है। इसमें सन्देह नहीं कि परिमाण न करनेसे तो ऐसा परिमाण कर लेना भी बेहतर है; क्योंकि उसकी तृष्णाकी एक मर्यादा तो बँध जाती है। किन्तु परिग्रह परिमाणव्रतका यह आशय कदापि नहीं है कि श्रावक अधिकसे अधिक बढ़ाकर परिग्रहका परिमाण करे। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षामें इसका अच्छा स्पष्टीकरण किया है। उसमें लिखा है,

"जो लोहं णिहणित्ता संतोसरसायणेण संतुट्ठो।
णिहणदि तिण्हा दुट्ठा मण्णंतो विणस्सरं सव्वं ॥३३९॥
जो परिमाणं कुव्वदि धणधाणसुवण्णखित्तमाईणं।
उवओगं जाणित्ता अणुव्वयं पंचमं तस्स ॥३४०॥"

१. श्लो० ६१। २. श्लो० ४३३।

जो लोभको मारकर, सन्तोषरूपी रसायनसे सन्तुष्ट होता हुआ दुष्ट तृष्णाका वध कर देता है और सब पदार्थोंको विनश्वर जानकर धन, धान्य, सुवर्ण, जमीन वगैरहकी आवश्यकताको समझकर परिमाण करता है उसके पाँचवाँ अणुव्रत होता है।

इससे स्पष्ट है कि अपनी आवश्यकताको समझकर ही परिमाण करना चाहिए, अनावश्यक द्रव्यका परिमाण करनेवाला तृष्णा और लोभके वशीभूत होनेके कारण परिग्रहपरिमाणव्रती नहीं कहा जा सकता। लाटीसंहितामें तो इसे और भी सुन्दर रीतिसे स्पष्ट किया है। उसमें लिखा है,

"परिमाणे कृते तस्मादर्वाक्मूर्च्छा प्रवर्तते।
अभावान्मूर्च्छायास्तदूर्ध्वं मुनित्वमिव गीयते ॥८५॥
तस्मादात्मोचिताद् द्रव्याद् ह्रासनं तद्वरं स्मृतम्।
अनात्मोचितसंकल्पाद् ह्रासनं तन्निरर्थकम् ॥८६॥
अनात्मोचितसंकल्पाद् ह्रासनं यन्मनीषया।
कुर्युर्यद्वा न कुर्युर्वा तत्सर्वं व्योमचित्रवत् ॥८७॥"

जितने द्रव्यका परिमाण कर लिया जाता है, ममत्व उसके अन्दर ही रहता है। उससे अधिकमें ममत्वका अभाव होनेसे वह मनुष्य मुनिकी तरह माना जाता है। अतः अपने योग्य द्रव्यको घटाना ही श्रेष्ठ है। अपने लिए अनावश्यक द्रव्यका संकल्प करके उसीमें कमी करना तो व्यर्थ है। अपने संकल्पित अनावश्यक द्रव्यको कम करो या मत करो, वह सब आकाशमें चित्र बनानेकी तरह व्यर्थ है।

इससे तो यही प्रमाणित होता है कि अपने पास जो कुछ है उसमें-से भी कम करना चाहिए। जो नहीं है उसमें कम करना बेकार है। जैसे जिस मनुष्यके पास एक हजार रुपया है वह यदि परिग्रहपरिमाण धारण करते समय यह सोचकर कि इससे ज्यादा रुपया तो मेरे पास होगा नहीं, एक करोड़का परिमाण कर ले तो उसने कम क्या किया। इसी तरह यदि वह एक करोड़को घटाकर पचास लाखका परिमाण कर ले तब भी उसने क्या त्यागा। त्याग तो वर्तमानमें जो मौजूद है उसका किया जाना चाहिए न कि उसका जिसकी अभी सम्भावना भी नहीं है।

कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि हजारपति यदि करोड़का परिमाण कर लेता है तो उसे उसका फल अगले जन्ममें मिलेगा। लाटी संहिताकार[1] कहते हैं कि इसमें कुछ भी सार नहीं है। और वस्तुतः उनका कहना ठीक है, आखिर उसने क्या त्यागा जिसका उसे परलोकमें फल मिले। इसलिए लाटीसंहिताकारके अनुसार व्रती पुरुषोंको मनुष्य पर्यायकी स्थिति मात्रके लिए आवश्यक धन रखना चाहिए और बाकी सब छोड़ देना चाहिए। यह उत्सर्ग मार्ग है। तथा गृहीत व्रतोंकी रक्षा हो, उनमें कोई हानि न हो इस बातका ध्यान रखकर परिग्रहका परिमाण करना चाहिए, यह अपवाद मार्ग है।

अतिचार

परिग्रहपरिमाणव्रतका अतिचार उपासकाध्ययन सहित सभी श्रावकाचारोंमें तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार 'लोभमें आकर लिये हुए परिमाणमें अतिक्रम कर लेना ही' बतलाया है। किन्तु रत्नकरण्डश्रावकाचार और

---

१. "प्रत्यग्रजन्मनोहेत्वमत्यन्ताभावलक्षणम्।
तत्त्यागोऽपि वरं कैश्चिदुच्यते सारवर्जितम् ॥८८॥
तत्रोत्सर्गो नृपर्यायस्थितिमात्रकृते धनम्।
रक्षणीयं व्रतस्थैस्तैस्त्याज्यं शेषमशेषतः ॥८९॥
अपवादस्तूपात्तानां व्रतानां रक्षणं यथा।
स्याद्वा न स्यात्तु तद्धानिः संख्यातव्यस्तथोपधिः ॥९०॥"
—पृ० १०७-१०८।

सागारधर्मामृतमें विभिन्न प्रकारसे उसके अतिचार बतलाये हैं। रत्नकरण्डमें नीचे लिखे अतिचार गिनाये हैं,

१. अतिवाहन– बैल मनुष्य वगैरह जितनी दूर तक सुखपूर्वक चल सकते हैं, लोभमें आकर उससे अधिक दूर तक उन्हें चलाना।

२. अतिसंग्रह– धान्य वगैरह आगे जाकर खूब लाभ देगा इस भावसे लोभमें आकर धान्यादिक वस्तुओंका संग्रह करना।

३. अतिविस्मय– खूब लाभसे उनके बेचनेपर भी खरीदनेवालेको अधिक लाभ होता देख कर खेद करना।

४. अतिलोभ– खूब लाभ होनेपर भी अधिक लाभकी इच्छा करना।

५. अतिभारवहन– लोभके कारण मनुष्य या पशुओंपर उनकी शक्तिसे अधिक भार लादना।

सागारधर्मामृतमें पाँच अतिचार इस प्रकार बतलाये हैं– १. मकान और खेतमें पासका दूसरा मकान और खेत मिला लेना। २. अपने घरका धान्य और पशुधन बेच लेनेके बाद यह धान्य और धन ले लूँगा ऐसा विचार कर परिमाणसे अधिक धन और धान्यको बेचनेवालेके घरपर ही रखना। ३. व्रतकी अवधि पूरी होनेपर ये सोना चाँदी ले लूँगा इस भावसे परिमाणसे अधिक सोना चाँदी दूसरोंको दे रखना। ४. काँसी पीतल वगैरहके बरतनोंकी संख्या परिमाणसे अधिक हो जानेपर व्रतभंगके भयसे दो दो बरतनोंको मिलाकर एक करना। ५. परिग्रहपरिमाणव्रत जितने दिनोंके लिए है उसके अन्दर ही यदि ये गाय वगैरह बच्चा देंगी तो अधिक संख्या हो जानेसे व्रतभंग हो जायेगा इस भयसे अवधिका जब कितना हो काल बीत जाये तब गाय वगैरहको ग्याभन होने देना पाँचवाँ अतीचार है।

यद्यपि ये अतीचार भी हेमचन्द्राचार्यके योगशास्त्रके आधारपर बतलाये गये हैं फिर भी तत्त्वार्थसूत्रमें जो अतिचार बतलाये हैं यह उनका ही विस्तार है। अतः स्वामी समन्तभद्रके सिवा अन्य सब शास्त्रकारोंके द्वारा बतलाये गये अतिचार समान ही हैं।

अष्टमूलगुण और पाँच अणुव्रतोंके उक्त तुलनात्मक अनुशीलनसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि जैन आचारका मूल अहिंसा है। उस अहिंसाको व्यवहारमें लानेके लिए ही अष्टमूलगुण और शेष चार अणुव्रत बतलाये गये हैं। चूँकि गला-सड़ा अन्न, बासी भोजन तथा अन्य संयोग विरुद्ध पदार्थोंका भक्षण करनेसे मांस और मद्यके सेवनका दोष लगता है अतः ऐसे खान-पानको निषिद्ध बतलाया गया। और इसपर बहुत अधिक जोर दिया गया। मेरा ऐसा विचार है कि पंच अणुव्रतवाले प्राचीन मूलगुणोंमें पाँच पापोंके स्थानमें जो पंच उदुम्बरको स्थान दिया गया, इसने जैनाचारकी दिशाको ही बदल दिया, क्योंकि पाँच उदुम्बर और तीन मकारके त्यागरूप अष्टमूलगुण केवल खान-पानसे सम्बन्ध रखते हैं, जब कि पाँच अणुव्रत समस्त गार्हस्थिक व्यवहारसे सम्बद्ध हैं, अतः जैन गृहस्थ लोग खान-पानसम्बन्धी आचारकी ओर तो विशेष ध्यान देने लगे और सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह परिमाणके प्रति उदासीन होते चले गये। उन्होंने केवल शुद्ध खान-पानको ही अहिंसाका अंग समझा और उत्तर कालमें यही लोगोंको समझाया भी गया। हमारे त्यागीवर्गका भी दृष्टिकोण उसी ओर रहा और वर्तमानमें भी है। वे भी जब किसी श्रावक या श्राविकासे त्याग कराते हैं तो खाने-पीनेकी वस्तुओंका ही त्याग कराते हैं। हमने किसीको भी सत्यव्यवहार करनेकी, लेन-देनमें बेईमानी न करनेकी, कसकर सूद न लेनेकी, न्यायसे धन उपार्जित करनेकी, स्वदारसन्तोषव्रत धारण करनेकी या जरूरतसे अधिक संचय न करनेकी प्रतिज्ञा लेते या लिवाते नहीं देखा।

अणुव्रतोंके अतिचार मनुष्यकी कमजोरियोंके या यह कहना होगा कि उसकी चालाक बुद्धिके जीवित उदाहरण हमारे सामने रखते हैं। और उनका तुलनात्मक अनुशीलन सामयिक परिस्थितिपर तथा हमारे आचार्योंकी समयदर्शितापर अच्छा प्रकाश डालता है।

गुणव्रत और शिक्षाव्रत

अब हम गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंपर आते हैं—

१. आचार्य कुन्दकुन्द[1]ने दिशा-विदिशा प्रमाण, अनर्थदण्डत्याग और भोगोपभोगपरिमाण ये तीन गुणव्रत बतलाये हैं और सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिपूजा और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत बतलाये हैं।

२. तत्त्वार्थसूत्र[2]में गुणव्रत और शिक्षाव्रत भेद न करके सात शील बतलाये हैं—दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग। सल्लेखनाको उसमें अलगसे बतलाया है। सर्वार्थसिद्धि टीकामें शुरूके तीन व्रतोंको गुणव्रत बतलाया है किन्तु शेष चारको कोई नाम नहीं दिया।

३. रत्नकरण्डश्रा[3]वकाचारमें दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण[9] ये तीन गुणव्रत बतलाये हैं और देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत बतलाये हैं, सल्लेखनाको पृथक् बतलाया है।

४. पद्मच[4]रितमें अनर्थदण्डव्रत, दिग्विदिक्त्याग, भोगोपभोगसंख्यान ये तीन गुणव्रत बतलाये हैं और सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत बतलाये हैं। भावसंग्रहमें भी यही क्रम अपनाया है।

५. हरिवंशपुराण[5]में गुणव्रत तो तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार गिनाये हैं किन्तु शिक्षाव्रतोंमें भोगोपभोगपरिमाणको न गिनाकर सल्लेखनाको गिनाया है।

६. आदि[6]पुराणमें दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रतको गुणव्रत बतलाकर लिखा है। कोई भोगोपभोगपरिमाणव्रतको भी गुणव्रत कहते हैं। सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथिसंविभाग और सल्लेखना ये चार शिक्षाव्रत बतलाये हैं।

७. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, सोमदेव उपासकाध्ययन, चारित्रसार, अमितगति उपासकाचार, पद्मनन्दि पंचविंशतिका और लाटीसंहितामें तत्त्वार्थसूत्रका ही क्रम अपनाया गया है।

८. स्वामी[7] कार्तिकेयानुप्रेक्षा और सागारधर्मामृतमें रत्नकरण्डश्रावकाचारके अनुसार बतलाये हैं।

९. वसुनन्दि[8] श्रावकाचारमें गुणव्रत तो तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार है और शिक्षाव्रत इस प्रकार है—भोगविरति, परिभोगविरति, अतिथिसंविभाग और सल्लेखना।

इन सबका वर्गीकरण इस प्रकार होता है—

१. आचार्य कुन्दकुन्द और रविषेणका एक मत है या यह कह सकते हैं कि पद्मचरितमें चारित्रप्राभृतके अनुसार ही गुणव्रत और शिक्षाव्रत बतलाये हैं। सम्भवतः यही प्राचीन परम्परा हो। प्राकृत भावसंग्रह और सावयधम्मदोहामें भी यही क्रम है।

२. रत्नकरण्डश्राव[9]काचारमें उक्त परम्परासे केवल इतना अन्तर है कि उसमें शिक्षाव्रतोंमें सल्लेखनाके

---

१. चारित्रप्रा० गा० २४, २५। २. अ० ७, सू० २१। ३. श्लो० ६७ और ९१। ४. पर्व १४, श्लो० १९८, १९९। ५. स० १८, श्लो० ४६, ४७। ६. पर्व १०, श्लो० ६५, ६६। ७. गा० ३४१—३६८। ८. गा० २१३ आदि।

९. यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि श्वेताम्बर परम्परामें भी गुणव्रत और शिक्षाव्रतोंका वही क्रम है जो रत्नकरण्डमें बतलाया है। तत्त्वार्थसूत्रके श्वेताम्बरसम्मत पाठमें भी सात शीलव्रतोंका वही क्रम है जो दिगम्बरसम्मत पाठमें। फिर भी उसके टीकाकार सिद्धसेन गणिने गुणव्रत और शिक्षाव्रतके भेद अपनी परम्पराके अनुसार ही गिनाये हैं अर्थात् इन सात शीलोंमें-से दिग्व्रत, भोगपरिभोगपरिमाणव्रत और अनर्थदण्डव्रत ये तीन गुणव्रत हैं और शेष चार शिक्षाव्रत हैं।

स्थानमें देशावकाशिकको स्थान दिया है।

३. आदिपुराण भी कुन्दकुन्दकी ही परम्पराको अपनाता है, अन्तर इतना है कि उसमें गुणव्रत तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार गिनाकर भी भोगोपभोगपरिमाणको गुणव्रत माननेका भी उल्लेख किया है। हरिवंशपुराणमें भी गुणव्रत तो तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार बतलाये हैं किन्तु शिक्षाव्रत चारित्रप्राभृतके अनुसार बतलाये हैं।

४. चारित्रप्राभृतके सामने तत्त्वार्थसूत्रने दूसरी ही परम्परा स्थापित की, जिसका अनुसरण उत्तरकालमें अधिक किया गया है।

दूसरे प्रकारसे इस वर्गीकरणका विश्लेषण इस प्रकार भी किया जा सकता है—

१. दिग्व्रत और अनर्थदण्डव्रतको गुणव्रत सबने माना है तथा सामायिक, प्रोषधोपवास और अतिथिसंविभागको शिक्षाव्रत वसुनन्दिके सिवा सबने माना है। वसुनन्दि सामायिक और प्रोषधोपवासके स्थानमें भोगविरति और परिभोगविरति पढ़ते हैं। एक भोगोपभोगपरिमाणव्रतके दो भेद इस तरह अन्य किसी भी ग्रन्थमें हमारे देखनेमें नहीं आये।

२. शेष रह जाते हैं– देशव्रत, भोगोपभोगपरिमाण और सल्लेखना। कुन्दकुन्द देशव्रत मानते ही नहीं। समन्तभद्र मानते हैं किन्तु शिक्षाव्रतोंमें उसे गिनते हैं गुणव्रतोंमें नहीं, जब कि तत्त्वार्थसूत्रमें देशव्रतको गुणव्रतोंके साथ गिना है, यद्यपि उसमें गुणव्रत और शिक्षाव्रत भेद नहीं किये गये।

३. भोगोपभोगपरिमाणव्रतको हरिवंशपुराणके सिवा सबने माना है किन्तु, एक परम्परा उसे गुणव्रतोंमें गिनती है और दूसरी शिक्षाव्रतोंमें।

४. सल्लेखनाको मानते सभी हैं, किन्तु कुन्दकुन्दकी परम्परा उसे शिक्षाव्रतोंमें गिनती है जब कि तत्त्वार्थसूत्र और रत्नकरण्ड दोनों ही उसे अलग रखते हैं।

यह हम ऊपर लिख आये हैं कि तत्त्वार्थसूत्रमें उक्त गुणव्रतों और शिक्षाव्रतोंको शील कहा है और सर्वार्थसिद्धिमें उनका कार्य व्रतोंकी रक्षा करना बतलाया है। उसीका अनुसरण करते हुए अमृतचन्द्राचार्यने (पुरुषार्थ०, श्लोक १३६) लिखा है कि जैसे प्राकारसे नगरकी रक्षा होती है वैसे ही शीलोंसे व्रतोंकी रक्षा होती है इसलिए व्रतोंका पालन करनेके लिए शीलोंको भी पालना चाहिए।

यह भी हम पहले लिख आये हैं कि सर्वार्थसिद्धिमें आदिके तीन शीलोंकी गुणव्रत संज्ञा तो है किन्तु शेषकी शिक्षाव्रत संज्ञा नहीं है। यही बात हम पद्मपुराणमें तथा भावसंग्रहमें भी पाते हैं। शेष चार शीलोंकी शिक्षाव्रत संज्ञा रत्नकरण्डश्रावकाचारमें, वरांगचरित (१५।१११)में और उपासकाध्ययनमें तथा उसके समकालीन चारित्रसारमें तथा उत्तरकालीन वसुनन्दि श्रावकाचार, सागारधर्मामृत वगैरहमें पाते हैं। रत्नकरण्डमें गुणव्रतका लक्षण तो दिया है किन्तु शिक्षाव्रतका लक्षण हमें सागारधर्मामृतमें[1] ही देखनेको मिलता है। रत्नकरण्ड (श्लो० ६७) के अनुसार गुणोंमें वृद्धि करनेके कारण दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाण गुणव्रत हैं। और सागारधर्मामृतके अनुसार जो अणुव्रतोंका उपकार करे उसे गुणव्रत कहते हैं और जो अभ्यासके लिए हो उसे शिक्षाव्रत कहते हैं। श्वेताम्बरीय[2] ग्रन्थोंमें यही लक्षण पाया जाता है। गुणव्रत और शिक्षाव्रतमें अन्तर बतलाते हुए लिखा है कि सामायिक, देशावकाशिक, प्रोषधोपवास और अतिथिसंविभाग ये स्वल्पकालिक होते हैं अतः गुणव्रतोंसे इनका भेद है। गुणव्रत तो प्रायः जीवन पर्यन्त होते हैं। इनमें से भी सामायिक और देशावकाशिक तो प्रतिदिन किये जाते हैं और प्रोषधोपवास तथा अतिथिसंविभाग प्रतिनियत दिन ही किये जाते हैं, प्रतिदिन नहीं किये जाते। पं० आशाधरने भी देशव्रतको शिक्षाव्रत बतलाते हुए यही उपपत्ति दी है। उन्होंने लिखा[3] है कि शिक्षा प्रधान होनेसे तथा नियतकालके लिए होनेसे देशव्रत

---

१. ५।१ तथा ५।२४। २. अभिधानराजेन्द्रमें 'सिक्खावयव्वय' शब्द। ३. सागार० अ० ५।२६ की टीका।

शिक्षाव्रत है यह दिग्व्रतकी तरह जीवनपर्यन्तके लिए नहीं होता। तत्त्वार्थसूत्र वगैरहमें जो इसे गुणव्रत बतलाया है, वह केवल दिग्व्रतको संकुचित करनेकी दृष्टिसे बतलाया है।

दिग्विरतिव्रत, देशविरतिव्रत और अनर्थदण्डविरतिव्रत, इन तीनों गुणव्रतोंके स्वरूप और अतिचारोंमें कोई अन्तर नहीं है। सभी ग्रन्थकारोंने प्रायः एक-सा ही कथन किया है। सोमदेव सूरिने गुणव्रतोंका कथन बहुत संक्षेपसे किया है किन्तु शिक्षाव्रतोंका कथन बहुत ही विस्तारसे किया है। पहला शिक्षाव्रत है सामायिक। सामायिकका कथन रत्नकरण्डमें आठ श्लोकोंके द्वारा विस्तारसे किया है और उनमें सामायिकका समय, स्थान, विधि आदि आवश्यक बातें बतला दी हैं। तदनुसार एकान्त स्थानमें, वनमें, मकानमें या चैत्यालयमें बाह्य व्यापारसे मनको हटाकर तथा पर्यंकासनसे बैठकर अन्तरात्मामें लीन होना सामायिक है। उपवास और एकभुक्तिके दिन सामायिक करना चाहिए तथा प्रतिदिवस भी करना चाहिए। उससे पाचों व्रतोंकी पूर्ति होती है। सामायिकमें न कोई आरम्भ होता है और न परिग्रह, अतः उस समय गृहस्थ भी वस्त्रसे युक्त मुनिकी तरह प्रतीत होता है।

तत्त्वार्थसूत्र (७।२१) के टीकाकार पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धिमें और अकलंकदेवने तत्त्वार्थवार्तिकमें 'समय'का अर्थ 'एकत्व रूपसे गमन' किया है और उसे ही सामायिक बतलाया है। अर्थात् मन वचन कायकी क्रियाओंसे निवृत्त होकर एक आत्मद्रव्यमें लीन होना सामायिक है। किन्तु सोमदेव सूरिने 'समय'का अर्थ 'आप्तसेवाका उपदेश' किया है और उसमें जो क्रिया की जाती है उसे सामायिक कहा है। तदनुसार स्नान, अभिषेक, पूजन, स्तवन, जप, ध्यान आदि सब सामायिकके अंग हैं। भावसंग्रह (गा० ३५५) में भी त्रिकाल देव-स्तवनको सामायिक कहा है। आशाधरने (सागार० ५।२८-३१) प्राचीन परम्पराके साथ सोमदेव सूरिके कथनको भी स्थान दे दिया है। असलमें मन, वचन, कायको एकाग्र करके साम्यभावकी वृद्धिके लिए सामायिक की जाती है। पूजनादिका भी वास्तविक उद्देश यही है। इसीसे सोमदेव सूरिने द्रव्यकालको देखकर सामायिकमें ध्यानके साथ पूजनादिको भी गर्भित कर लिया है।

प्रोषधोपवासव्रतका कथन करते हुए रत्नकरण्ड (श्लो० १०६-१०९) में प्रोषधका अर्थ 'एक बार भोजन' किया है और चारों प्रकारके आहारके त्यागको उपवास कहा है। जो उपवास करके एक बार भोजन करता है उसे प्रोषधोपवास कहते हैं। यह अष्टमी और चतुर्दशीके दिन किया जाता है। उपवासके दिन पाँचों पापोंका, अलंकार, आरम्भ, गन्ध, पुष्प, स्नान, अंजन और नस्यका त्याग किया जाता है तथा धर्मामृतका पान करते हुए ज्ञान और ध्यानमें तत्पर रहा जाता है।

किन्तु सर्वार्थसिद्धि (७।२१) में प्रोषधका अर्थ पर्व किया है और जिसमें पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंसे विमुख होकर रहती हैं उसे उपवास कहा है और उसका अर्थ किया है पर्वके दिन चारों प्रकारके आहारका त्याग करना। लिखा है, "अपने शरीरके संस्कारके कारण स्नान, गन्ध, माला, आभरण आदिको त्याग कर शुभ स्थानमें साधुओंके निवासस्थानमें या चैत्यालयमें अथवा अपने उपवासगृहमें धर्मकथाके चिन्तनमें मन लगाकर श्रावकको उपवास करना चाहिए और किसी प्रकारका आरम्भ नहीं करना चाहिए। सोमदेव सूरिने सर्वार्थसिद्धिके अनुसार ही कथन करते हुए प्रोषधका अर्थ पर्व ही किया है।

वसुनन्दिने अपने श्रावकाचारमें प्रोषधोपवासको शिक्षाव्रतोंमें स्थान नहीं दिया। प्रोषधप्रतिमाका वर्णन करते हुए प्रोषधोपवासकी विधि इस प्रकार बतलायी है, "सप्तमी और तेरसके दिन अतिथिभोजनके अन्तमें स्वयं भोजन करके और वहीं मुखशुद्धि करके, मुखको और हाथ-पैरोंको धोकर वहाँ ही उपवासका नियम लेकर जिनमन्दिर जावे और जिनेन्द्रदेवको नमस्कार करके और गुरुके सामने वन्दनापूर्वक कृतिकर्मको करके गुरुकी साक्षीपूर्वक उपवासको ग्रहण करके शास्त्रवाचन, धर्मकथा सुनना-सुनाना, बारह भावनाओंका चिन्तन, आदिके द्वारा शेष दिन बितावे। फिर सायंकालीन वन्दना करके रात्रिके समय अपनी शक्तिके अनुसार कायोत्सर्गसे स्थित होकर भूमिका शोधन करके, अपने शरीरके प्रमाण सन्थारा लगाकर अपने घरमें या जिनमन्दिरमें सोवे। अथवा पूरी रात कायोत्सर्गपूर्वक बिताकर प्रातःकाल उठकर वन्दनाविधिसे जिनदेवको नमस्कार करके

तथा देव शास्त्र गुरुका द्रव्य अथवा भावपूजन करके अपने घर जावे और अतिथिदान देकर भोजन करे। इस प्रकार जो करता है उसकी प्रोषधविधि उत्तम है। केवल जल ग्रहण करना मध्यम प्रोषध है। मध्यम प्रोषध-वाला आवश्यक होनेपर सावद्यरहित गृहकार्य कर सकता है, शेष विधि पूर्ववत् है। उस दिन एक बार भोजन करना या कुछ हलका भोजन ले लेना जघन्य प्रोषध है। (गा० २८१-२९२)। आशाधरने वसुनन्दिके अनु-सार ही प्रोषधोपवासव्रतका कथन किया है।

तत्त्वार्थसूत्र (७।२१)में उपभोगपरिभोगपरिमाण नामका व्रत है किन्तु रत्नकरण्ड (श्लो० ३६)में भोगोपभोगपरिमाण नाम है। सर्वार्थसिद्धिमें उपभोगका जो अर्थ है वही अर्थ रत्नकरण्डमें भोगका है। और परिभोगका जो अर्थ सर्वार्थसिद्धिमें है वही अर्थ रत्नकरण्डमें उपभोगका है। सोमदेव सूरिने न तो तत्त्वार्थसूत्रकी तरह उपभोगपरिभोगपरिमाण नाम अपनाया है और न रत्नकरण्डकी तरह भोगोपभोगपरिमाण नाम अपनाया है। किन्तु भोगपरिभोगपरिमाण नाम दिया है। इनमें-से भोग शब्द रत्नकरण्डसे लिया है और परि-भोग शब्द तत्त्वार्थसूत्रसे। रत्नकरण्डमें भोगोपभोगके नियम और यम रूप त्यागका विधान किया है। सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकमें नियम और यम रूप त्यागका विधान नहीं है, सोमदेवने उसे रत्नकरण्ड-से अपनाया है।

अष्टमूलगुणोंपर प्रकाश डालते हुए हम यह लिख आये हैं कि रत्नकरण्डश्रावकाचारमें भोगोपभोग-परिमाणव्रतमें भी मद्य, मांस आदिके त्यागका विधान किया है। किन्तु अष्टमूलगुणोंका निर्देश करनेवाले पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदिमें भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें मद्य, मांस आदिका त्याग नहीं कराया है क्योंकि अष्ट-मूलगुणोंमें उनका त्याग हो जाता है।

रत्नकरण्ड (श्लो० ३८-३९) में लिखा है कि जिन भगवान्की शरणमें आये हुए प्राणियोंको त्रसघात-से बचनेके लिए मधु और मांस तथा प्रमादसे बचनेके लिए मद्यको छोड़ना चाहिए। तथा लाभ कम और घात अधिक होनेसे मूली, अदरक, शृंगवेर, मक्खन, नीमके फूल और केतकीके फूल नहीं खाना चाहिए। सर्वार्थसिद्धि (७।२१) में भी लगभग रत्नकरण्डके शब्दोंमें ही मक्खनके सिवाय उक्त अन्य वस्तुओंको त्याज्य बतलाया है।

अकलंकदेवने राजवार्तिकमें भोगसंख्यानके त्रसघात, प्रमाद, बहुवध, अनिष्ट और अनुपसेव्य भेद करके [1]रत्नकरण्डश्रावकाचारके शब्दोंमें ही उनके त्यागका विधान किया है किन्तु मक्खनको उन्होंने भी नहीं गिनाया।

चारित्रसारका तो आधार ही सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय और सोमदेव उपासकाध्ययनमें भोगोपभोगपरिमाणव्रतका वर्णन करते हुए केवल अनन्तकाय वनस्पतिके त्याग करनेका विधान किया है। अमितगतिने व्रतका स्वरूपमात्र बतला दिया है।

सागारधर्मामृतमें मद्य, मांस और मधुके तुल्य वस्तुओंका त्याग बतलानेके साथ-ही-साथ रत्नकरण्ड-प्रतिपादित वनस्पतियोंका त्याग तो बतलाया ही है, कुछ और भी बतलाया है जो उनसे पूर्वके उक्त श्रावका-चारोंमें नहीं बतलाया। वे लिखते है, बिना उबाले हुए दूध और उसके दही मठामें मिलाया हुआ द्विदल मूँग उड़द वगैरह अन्न नहीं खाना चाहिए। वर्षाऋतुमें प्राय: करके पुराना और बिना दला हुआ द्विदल नहीं खाना चाहिए और न पत्तेका शाक खाना चाहिए। यथा,

"आमगोरससंपृक्तं द्विदलं प्रायशोऽनवम्।
वर्षास्वदलितं चात्र पत्रशाकं च नाहरेत् ॥१७॥"

---

१. सर्वार्थसिद्धिकारने भी यद्यपि रत्नकरण्डश्रावकाचारके शब्दोंमें ही भोगोपभोगके त्यागका कथन किया है फिर भी उसमें थोड़ा-सा अन्तर कर दिया है किन्तु अकलंकदेवने तो उसके श्लोकोंको ही एक तरहसे गद्यमें रख दिया है। अत: यह निश्चित प्रतीत होता है कि अकलंकदेवके सामने रत्नकरण्ड अवश्य रहा है।

आचार्य हेमचन्द्रने भी अपने योगशास्त्रमें भोगोपभोगव्रतका वर्णन करते हुए लिखा है,

"मद्यं मांसं नवनीतं मधूदुम्बरपञ्चकम् ।
अनन्तकायमज्ञातफलं रात्रौ च भोजनम् ॥ ६ ॥
आमगोरससंपृक्तं द्विदलं पुष्पितौदनम् ।
दध्यहर्द्वितयातीतं कुथितान्नं च वर्जयेत् ॥ ७ ॥"

अर्थात् मद्य, मांस, मक्खन, मधु, पाँच उदुम्बर, अनन्तकाय वनस्पति, अनजान फल, रात्रिभोजन, बिना पके गोरसमें मिला हुआ द्विदल, फफूँदा हुआ भोजन, दो दिनका बासा दही और सड़ा हुआ अन्न छोड़ देना चाहिए।

इस तरह जिसे प्राथमिक श्रावकका कर्तव्य बतलाया जाता है उसका त्याग भोगोपभोगव्रतमें कराया गया है। श्वेताम्बर परम्परामें इस व्रतमें क्रूर कामोंके करनेका भी निषेध है। योगशास्त्रमें उन्हें गिनाया है और पं० आशाधरने अपने सागारधर्मामृतमें[1] उसका उल्लेख करके क्रूर कर्मोंके गिनानेका निषेध किया है।

भोगोपभोगव्रतके अतिचार रत्नकरण्डके सिवा अन्य सभीमें[2] 'सचित्तका आहार, सचित्तसे सम्बन्धित वस्तुका आहार, सचित्तसे सम्मिश्रित वस्तुका आहार, जले हुए या अधपके भोजनका आहार और गरिष्ठ भोजनका आहार' ये पाँच बतलाये हैं। राजवार्तिकमें लिखा है कि इनके खानेसे सचित्तका भक्षण करना पड़ता है, इन्द्रियोंमें उन्माद पैदा होता है और वायु आदिका प्रकोप होता है उसका इलाज करनेमें पापका संचय होता है तथा मुनिगण भी ऐसे भोजनको ग्रहण नहीं करते। अतः ऐसा आहार त्याज्य है।

रत्नकरण्डश्रावकाचारमें इस व्रतके अतिचार बिलकुल ही भिन्न हैं, किन्तु हैं उपयुक्त। यथा,

"विषयविषतोऽनुपेक्षाऽनुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवौ ।
भोगोपभोगपरिमाव्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥९०॥"

विषयरूपी विषका आदर करना, भुक्त भोगोंका स्मरण करना, वर्तमान भोगोंमें अति लिप्सा रखना, भावी भोगोंको प्राप्त करनेकी चाह करना और भोग न भोगते हुए भी यह अनुभव करना कि मैं भोग भोग रहा हूँ, ये पाँच भोगोपभोगपरिमाणव्रतके अतिचार हैं।

आचार्य समन्तभद्रने अतिथिसंविभागव्रतका नाम वैयावृत्य दिया है और उसीमें जिनपूजाको भी सम्मिलित किया है। किन्तु सोमदेवके उपासकाध्ययनमें जिनपूजाको सामायिक व्रतमें सम्मिलित किया है। और इस व्रतका नाम दान रखा है।

रत्नकरण्ड (श्लो० १११ आदि) में तपोनिधि अनगारोंको दान देनेका नाम वैयावृत्य है। तत्त्वार्थसूत्रमें इसका नाम अतिथिसंविभागव्रत है। दोनोंमें केवल नामका अन्तर है अभिप्रायमें अन्तर नहीं है। इसीसे सोमदेव सूरिने स्पष्टार्थक नाम दान देना ही उचित समझा। रत्नकरण्डमें भी आगे (श्लो० ११३) दान नाम दिया है और उसका लक्षण इस प्रकार लिखा है, "सात गुणसहित शुद्ध श्रावकके द्वारा आरम्भ और चूल्हा चक्की आदि सूनाओंके त्यागी मुनियोंका नौ पुण्योंके द्वारा आदर-सत्कार करनेको दान कहते हैं।" रत्नकरण्डमें न तो नौ पुण्योंको बतलाया है और न दाताके सात गुणोंका कोई निर्देश किया है। तत्त्वार्थवार्तिक (७।३९) में प्रतिग्रह, उच्चदेशस्थापन, पादप्रक्षालन, अर्चन और प्रणाम आदिको विधि रूपमें बतलाया है। दाताके भी अनसूया, अविषाद, प्रीतियोग, कुशलाभिसन्धिता, दृष्टफलानपेक्षिता, निरुपरोधत्व और अनिदानत्व ये सात गुण बतलाये हैं। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (श्लो० १६९) में भी ये ही सात गुण गिनाये

---

१. श्लो० ५। २१-२३। २. "सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुष्पक्वाहाराः ॥"—तत्त्वा० सू० अ० ७, सू० ३५ ॥

हैं। किन्तु सोमदेवके उपासकाचारमें श्रद्धा, तुष्टि, भक्ति, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा और शक्ति ये सात गुण दाताके बतलाये हैं। चारित्रसारमें भी 'उक्तं च' करके उद्धृत किये गये एक श्लोकके द्वारा सोमदेवके द्वारा उक्त सात गुण गिनाये हैं और नवधा भक्ति भी गिनायी हैं; किन्तु दोनों ही उद्धृत श्लोक सोमदेव उपासकाध्ययनसे भिन्न किसी अन्य ग्रन्थके हैं।

जिनसेनाचार्यके महापुराण (२०।८२) में भी उक्त सात गुणोंको गिनाया है और प्रत्येकका लक्षण भी दिया है, केवल तुष्टिके स्थानमें त्याग दिया है और चारित्रसारमें उद्धृत श्लोकमें दया दिया है। वसुनन्दि श्रावकाचारकी गाथा २२४ सोमदेव उपासकाध्ययनके आर्यावृत्तका ही प्राकृत रूपान्तर है।

विज्ञान गुणका लक्षण महापुराणमें क्रमज्ञत्व कहा है अर्थात् दाताको दान देनेका क्रम ज्ञात होना चाहिए। किन्तु सोमदेवने विज्ञानका लक्षण बतलाते हुए मुनिको किस प्रकारका भोजन देना चाहिए इसके ज्ञानको विज्ञान कहा है। इसी प्रकरणमें सोमदेवने तीन वर्णोंको दीक्षाके योग्य और चारों वर्णोंको आहारदानके योग्य बतलाया है तथा पात्रके पाँच भेद किये हैं, समयी, श्रावक, साधु, आचार्य और जैनधर्मका प्रभावक। इस तरह जैनधर्मके पालक, पोषक और प्रभावक श्रावकोंको भी पात्र बतलाकर उनका भी यथायोग्य सम्मान आदि करनेका विधान किया है। पात्रके उत्तम, मध्यम और जघन्य भेद तो प्रसिद्ध ही हैं। उनके पश्चात् उक्त पाँच भेद किये हैं।

श्रावकोंके भेद

श्रावकोंके ग्यारह भेद, जो ग्यारह प्रतिमाके नामसे प्रसिद्ध हैं, प्राचीन हैं। आचार्य कुन्दकुन्दसे लेकर उत्तरकालीन सभी श्रावकाचारोंमें तथा अन्य ग्रन्थोंमें भी इन्हीं भेदोंको गिनाया है। हाँ, सागारधर्मामृतमें श्रावकके पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक ये तीन भेद करके ग्यारह भेदोंको नैष्ठिक श्रावकका भेद बतलाया है। जिसको जैनधर्मका पक्ष होता है वह पाक्षिक श्रावक कहलाता है। पाक्षिकको श्रावकधर्मका प्रारम्भक कहना चाहिए। जो उसमें अभ्यस्त हो जाता है वह नैष्ठिक है, यह मध्यम अवस्था है। और जो आत्मध्यानमें तत्पर होकर समाधिमरणका साधन करता है, वह साधक है। यह परिपूर्ण अवस्था है।

१. पाक्षिक श्रावक

पाक्षिक श्रावक जिनेन्द्र भगवान्की आज्ञाको शिरोधार्य करके, हिंसाको छोड़नेके लिए मद्य मांस मधु और पाँच उदुम्बर फलोंके सेवन करनेका त्याग करता है। रात्रिभोजन नहीं करता, पानीको छानकर काममें लाता है। पाँचों पापोंको और सात व्यसनोंको छोड़नेका यथाशक्ति अभ्यास करता है। यथाशक्ति जिन भगवान्की पूजा करता है। जिनबिम्ब, जिनमन्दिर, मुनियोंके लिए वसतिका, स्वाध्यायशाला, भोजनशाला, औषधालय वगैरहका निर्माण करता है। गुरुओंकी सेवा करता है। अपने सुयोग्य साधर्मी श्रावकको ही अपनी कन्या देता है। मुनियोंको दान देता है। इस बातका प्रयत्न करता है कि मुनियोंकी परम्परा बराबर चलती रहे और वे गुणवान् हों। पहले अपने आश्रितोंको भोजन कराकर फिर अपने आप भोजन करता है। रात्रिमें केवल पानी, औषध और पान इलायची वगैरह मुखशुद्धिकारक पदार्थ ही लेता है। ऐसा कोई आरम्भ नहीं करता जिसमें संकल्पी हिंसा हो। तीर्थयात्रा वगैरह करता है। सागारधर्मामृतके दूसरे अध्यायमें पाक्षिकका कथन है।

२. नैष्ठिक श्रावक

१. **दर्शनिक**— स्वामी[3] समन्तभद्रके अनुसार दर्शनिक श्रावक संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त होता है, सम्यग्दृष्टि होता है, पंचपरमेष्ठीका भक्त होता है और जैनधर्मका उसे पक्ष होता है। स्वामी[4]

---

१. सात गुणोंको बतलानेवाले उक्त सब ग्रन्थोंके श्लोकोंके लिए सोमदेव उपासकाध्ययन पृ० २९६ का टिप्पण देखना चाहिए। २. १।२०। ३. रत्नक० श्रा० श्लो० १३७। ४. स्वा० कार्ति० गा० ३२८।

कार्तिकेयके अनुसार जो त्रसजीवोंसे युक्त मद्य, मांस आदि निन्दनीय वस्तुओंका कभी भी सेवन नहीं करता वह दर्शनिक है। वसुनन्दि श्रावकाचारके अनुसार जो सम्यग्दृष्टि पाँच उदुम्बर और सात व्यसनोंका त्याग कर देता है वह दर्शन श्रावक है। सागारधर्मामृतमें इतना विशेष लिखा है कि अष्टमूलगुणोंमें कोई अतिचार नहीं लगने देता और निर्वाहके लिए न्यायपूर्वक आजीविका करता है वह दर्शनिक है।

अन्य ग्रन्थोंमें श्रावकका पाक्षिक भेद नहीं बतलाया किन्तु सागारधर्मामृतमें बतलाया है। इसीलिए उसमें निरतिचार अष्टमूलगुणोंके पालनका उल्लेख किया है; क्योंकि सातिचार अष्टमूलगुणोंका पालन पाक्षिक श्रावक करता है। अतः दर्शनिक श्रावक मद्य वगैरहका व्यापार भी नहीं करता। जो लोग मद्यादिकका सेवन करते हैं उनके साथ खान-पान नहीं करता। अचार मुरब्बे नहीं खाता। एक दिन रातके बादका दही मट्ठा नहीं खाता। फफूँदी वस्तुएँ नहीं खाता, चमड़ेके बरतनमें रखा घी, तेल, हींग या पानी काममें नहीं लाता। बाह्य दवा-के रूपमें भी मधुका प्रयोग नहीं करता। अनजान फल और बिना खुली फलियाँ नहीं खाता। रात्रिमें रोग दूर करनेके लिए भी दुग्ध, फलादिकका सेवन नहीं करता। पानीको साफ-सुथरे वस्त्रसे छानकर ही काममें लेता है और छने पानीको भी प्रत्येक दो मुहूर्तके बाद छानकर ही काममें लाता है। बिनछानीको उसी जलाशयमें पहुँचा देता है जिसका पानी होता है। मनोविनोदके लिए भी कभी जुआ नहीं खेलता। गायन, नर्तन और वादन-में अत्यासक्ति नहीं रखता। वेश्याके घर आता-जाता भी नहीं। किसी कुटुम्बीका भी धन अनुचित रीति से नहीं लेता। लकड़ी वगैरहपर अंकित प्राणियोंके चित्रोंको भी नहीं काटता। परनारीगमन तो दूर रहा, किसी लड़कीसे गान्धर्व-विवाह भी नहीं करता। वही लोकाचार पालता है जो उसके आचारके प्रतिकूल नहीं होता। धर्मपत्नीमें ही सन्तानोत्पादनका प्रयत्न करता है। सन्तानको शिक्षित और आचारवान् बनानेका प्रयत्न करता है। इस तरह सागारधर्मामृत तथा लाटीसंहितामें विस्तारसे दर्शनिक श्रावकका आचार बतलाया है।

२. व्रतप्रतिमा— जो पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंका निरतिचार पालन करता है वह व्रतिक श्रावक है। इन व्रतोंका वर्णन पहले कर आये हैं।

३. सामायिक— जो तीनों सन्ध्याओंको मन वचन और कायको शुद्ध करके सामायिक करता है वह सामायिक प्रतिमाका धारी है। वसुनन्दि श्रावकाचारमें[1] लिखा है, जो शुद्ध होकर जिनमन्दिरमें या अपने घरमें जिनबिम्बके सम्मुख या अन्य पवित्र स्थानमें पूर्व दिशा या उत्तर दिशाकी ओर मुख करके प्रतिदिन तीनों सन्ध्याओंको जिनधर्म, जिनवाणी, जिनबिम्ब, जिनालय और परमेष्ठीकी वन्दना करता है वह सामा-यिक प्रतिमाका धारी है। तथा जो कायोत्सर्गपूर्वक खड़े होकर लाभ-अलाभ, शत्रु-मित्र, संयोग-वियोग, तृण-कंचन, चन्दन-विसौलीमें समबुद्धि रखता है तथा मनमें पंचनमस्कार मन्त्रको धारण करके अष्ट प्रातिहार्यविशिष्ट जिन भगवान्का, सिद्धपरमेष्ठीका अथवा अपनी आत्माका ध्यान करता है उसकी सामायिक उत्तम है। इसमें पहली प्रकारकी सामायिकको जप और दूसरीको ध्यान समझना चाहिए।

४. प्रोषधोपवासप्रतिमा— प्रत्येक मासके चारों पर्वोंमें अपनी शक्तिको न छिपाकर जो प्रोषधोपवासका नियम लेता है वह श्रावक चतुर्थ प्रतिमाका धारी है। स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षामें लिखा है, सप्तमी और त्रयोदशीके दिन अपराह्णमें जिनमन्दिरमें जाकर सामायिक करके चारों प्रकारके आहारका त्याग करके उपवासका नियम कर ले और घरका सब काम-धाम छोड़कर रात्रिको धर्मचिन्तनपूर्वक बितावे। सुबह-को उठकर क्रिया कर्म करके शास्त्र-स्वाध्याय करते हुए अष्टमी या चतुर्दशीका दिन बितावे। फिर सामायिक करके उसी तरहसे रात्रिको बितावे। प्रातः उठकर सामायिक करे, फिर पूजन करे, फिर पात्रदान देकर भोजन करे। इसका नाम प्रोषधोपवास है। वसुनन्दि श्रावकाचारमें इसे उत्कृष्ट प्रोष-धोपवास बतलाया है, 'मध्यम प्रोषधोपवासमें केवल पानी लिया जाता है। और कोई हलका भोजन एक बार करना जघन्य उपवास बतलाया है। उपवासके दिन स्नान वगैरहका निषेध किया है। इसीलिए

१. गा० २७४–२७८। २. गा० २७२–२७६।

उस दिन भावपूजाका विधान है। हाँ, जो द्रव्यपूजा करना चाहते हैं, उन्हें स्नान करना चाहिए।

सामायिक और प्रोषधोपवास व्रतप्रतिमामें भी आते हैं और स्वतन्त्र प्रतिमारूप भी हैं।

५. **सचित्तत्यागप्रतिमा**— जो सचित्त वनस्पतिको नहीं खाता वह सचित्तत्यागप्रतिमाका धारी है। स्वामी[1] कार्तिकेयानुप्रेक्षामें लिखा है कि जो वस्तु स्वयं नहीं खाता उसे वह वस्तु दूसरोंको भी नहीं खिलाना चाहिए; क्योंकि खाने और खिलानेमें कोई अन्तर नहीं है, अतः सचित्तत्यागी दूसरोंको भी सचित्तवस्तु नहीं खिला सकता। वसुनन्दि[2] श्रावकाचारमें अप्रासुक जलका भी त्याग सचित्तत्यागप्रतिमामें कराया गया है। और सागार[3]धर्मामृतमें अप्रासुक नमक वगैरहको भी त्याज्य बतलाया है। लाटीसंहितामें[4] लिखा है कि पाँचवीं प्रतिमामें सचित्तभक्षणका त्याग है। सचित्तको स्पर्श करनेका त्याग नहीं है। अतः अपने हाथसे अप्रासुकको प्रासुक करके खाना चाहिए।

६ **रात्रिभक्तव्रत**— पहले बतला आये हैं कि छठी प्रतिमाको लेकर आचार्योंमें मतभेद है। स्वामी समन्तभद्र और स्वामी कार्तिकेयके मतसे जो रात्रिमें चारों प्रकारके आहारका त्याग कर देता है वह रात्रिभक्तव्रती है और दूसरे आचार्योंके मतसे जो रात्रिमें ही स्त्री-सेवनका व्रत लेता है अर्थात् दिनमें मैथुन नहीं करता वह रात्रिभक्तव्रती है। लाटीसंहितामें लिखा है, छठी प्रतिमासे पहले श्रावक रात्रिमें कदाचित् पानी वगैरह पी लेता है किन्तु छठी प्रतिमासे वह पानी भी नहीं लेता है। न वह रात्रिमें गन्ध लेप तथा माला वगैरहका ही उपयोग करता है तथा रोगकी शान्तिके लिए तैल आदिकी मालिश भी नहीं कराता, तथा जैसे छठी प्रतिमामें रात्रिभोजनका सर्वथा त्याग होता है वैसे ही दिनमें मैथुनका भी सर्वथा त्याग आवश्यक है। इस तरह लाटीसंहितामें दोनों मतोंका समन्वय कर दिया गया है।

७. **ब्रह्मचर्यप्रतिमा**— मन वचन और कायसे स्त्री मात्रकी अभिलाषा न करनेको ब्रह्मचर्यप्रतिमा कहते हैं।

८. **आरम्भत्याग**— रत्नकरण्ड[5]श्रावकाचारके अनुसार नौकरी खेती व्यापार वगैरहके त्यागको आरम्भत्यागप्रतिमा कहते हैं। कार्तिकेयानु[6]प्रेक्षामें लिखा है, जो न स्वयं आरम्भ करता है, न दूसरेसे कराता और न उसकी अनुमोदना ही करता है वह आरम्भत्यागी है। वसु[7]नन्दि श्रावकाचारमें लिखा है, जो कुछ भी थोड़ा बहुत गृहसम्बन्धी आरम्भ है उसका जो त्याग कर देता है वह आरम्भत्यागी है। सागार[8] धर्मामृतमें लिखा है, जो मन वचन और कायसे कृषि, सेवा, व्यापार आदि आरम्भोंको न स्वयं करता है और न दूसरेसे कराता है वह आरम्भत्यागी है। लाटी[9]संहितामें लिखा है, आठवीं प्रतिमासे पहले अपने हाथसे सचित्तका स्पर्श करता था, किन्तु आठवीं प्रतिमामें जो सचित्त द्रव्य है उसे अपने हाथसे नहीं छूता। तथा आठवां श्रावक यद्यपि अपने कुटुम्बमें ही रहता है किन्तु मुनिकी तरह जो तैयार भोजन मिल जाता है, उसे ही खा लेता है। प्रासुक जलसे अपने वस्त्र स्वयं धो लेता है या किसी साधर्मीके हाथसे धुलवा लेता है।

इस तरह आरम्भत्यागप्रतिमाके स्वरूपमें भी उक्त ग्रन्थकारोंमें अन्तर है। रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें कृषि, सेवा और व्यापारके स्वयं करनेका त्याग है। सागारधर्मामृतमें स्वयं करने और दूसरेसे करानेका त्याग है तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षामें अनुमतिका भी त्याग है। सागारधर्मामृतकी टीकामें तो स्पष्ट लिखा है कि गृहस्थके लिए कदाचित् पुत्र वगैरहको अनुमति देना आवश्यक हो सकता है इसलिए मन वचन काय और कृत कारितसे ही आरम्भका त्याग किया जाता है। तथा कृषि सेवा वाणिज्यका त्याग करानेसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि अष्टम प्रतिमाका धारी श्रावक धन कमानेका कोई काम नहीं करता। किन्तु वसुनन्दि श्रावकाचार और लाटीसंहितामें तो गृहसम्बन्धी प्रत्येक आरम्भका त्याग आवश्यक बतलाया

---

१. गा० ३८०। २. गा० २९५। ३. श्लो० ८, अ. ७। ४. पृ० १२२, श्लो. १७। ५. श्लो० १४४।
६. गा० ३८५। ७. गा० २९८। ८. १. अ० ७, श्लो० २१। ९. पृ० १२३, श्लो० ३२।

है। अतः उनके मतसे वह अपने लिए भोजन भी नहीं बना सकता।

९. परिग्रहत्याग— परिग्रहके त्यागको परिग्रहत्यागप्रतिमा कहते हैं। वसुनन्दि[1] श्रावकाचारमें लिखा है, जो वस्त्रके सिवा शेष परिग्रहको छोड़ देता है और उस वस्त्रसे भी मोह नहीं रखता वह नवम श्रावक है। सागारधर्मामृतमें परिग्रहके त्यागनेकी विधि बतलायी है। लाटीसंहितामें[2] लिखा है, नौवीं प्रतिमासे पहले श्रावक सुवर्ण आदिका परिमाण घटाता जाता है, किन्तु नौवींसे तो उसे बिलकुल ही त्याग देता है। अपने शरीरके लिए वस्त्र, मकान वगैरह तथा धर्मके साधन मात्र रखकर शेष सबका त्याग कर देता है। इससे पहले वह अपनी जमीन-जायदादका स्वामी बना रहता है; किन्तु नौवींसे जीवनपर्यन्तके लिए उस सबको त्याग कर निःशल्य हो जाता है।

१०. अनुमतित्याग— कृषि आदि आरम्भमें, परिग्रहमें तथा विवाह आदि लौकिक कार्योंमें अनुमति देनेके त्यागको अनुमतित्यागप्रतिमा कहते हैं। सागारधर्मामृतमें[3] दशम श्रावकको विशेष क्रिया बतलायी है। लिखा है, दशम श्रावक चैत्यालयमें बैठकर स्वाध्याय करता है और मध्याह्न कालकी सामायिक करनेके पश्चात् बुलानेपर अपने या अन्य श्रावकोंके घर भोजन कर लेता है। लाटीसंहितामें[4] इतना विशेष लिखा है, दसवीं प्रतिमा तक श्रावकका कोई खास वेष नहीं होता। चोटी जनेऊ चाहे तो रख सकता है, न चाहे नहीं भी रखे। यथा,

> "अत्र यावद्यथालिङ्गो नापि वेषधरो मनाक्।
> शिखासूत्रादि दध्याद्वा न दध्याद्वा यथेच्छया ॥४९॥"

११. उद्दिष्टत्याग— रत्नकरण्डश्रावकाचारमें[5] लिखा है, घरको त्याग कर मुनियोंके पास वनमें चला जाये और वहाँ गुरुके सामने व्रत धारण करके भिक्षा भोजन करे, तपस्या करे और खण्डवस्त्र अपने पास रखे वह उद्दिष्टत्यागी श्रावक है। वसुनन्दि[6] श्रावकाचारमें लिखा है, उद्दिष्ट श्रावकके दो प्रकार हैं— एक, एक वस्त्र रखता है और दूसरा केवल लंगोटी रखता है। पहला अपने बाल छुरे या कैंचीसे बनवाता है और उठते-बैठते समय उपकरणसे स्थान वगैरहको साफ कर लेता है। हाथमें या पात्रमें भोजन करता है और चारों पर्वोंमें नियमसे उपवास करता है।

दूसरा श्रावक भी ये ही क्रियाएँ पालता है, अन्तर इतना है कि वह नियमसे केशलोंच करता है, पीछी रखता है और हाथमें भोजन करता है। श्रावकोंको दिनमें प्रतिमायोग धारण करनेका, वीरचर्याका अर्थात् मुनिकी तरह स्वयं भ्रामरी वृत्तिसे भोजन करनेका, त्रिकालयोगका – गरमीमें पर्वतके शिखरपर, बरसातमें वृक्षके तले और सर्दीमें नदीके किनारे ध्यान करनेका तथा सिद्धान्त अर्थात् सूत्ररूप परमागमका और रहस्य अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्रके अध्ययनका अधिकार नहीं है।

सागारधर्मामृतमें भी ये ही सब बातें बतलायी हैं जो वसुनन्दि श्रावकाचारसे ही ली गयी हैं। लाटीसंहितामें वसुनन्दि श्रावकाचारकी गाथा उद्धृत करके उद्दिष्टत्यागी श्रावकके दो भेद बतलाये हैं, एकको क्षुल्लक संज्ञा दी है और दूसरेको ऐलक। क्षुल्लकके विषयमें लिखा है, ऐलककी अपेक्षा उसका आचार कोमल होता है। वह शिखा-सूत्र रखता है, एक वस्त्र, एक लंगोटी, वस्त्रकी पीछी और कमण्डलु रखता है। काँसी अथवा लोहेका भिक्षापात्र रखता है। एषणा दोषको टालकर एक बार भिक्षा भोजन करता है। निर्दिष्ट समयपर वह भोजनके लिए घूमता है और पात्रमें भिक्षा लेकर किसी घरमें प्रासुक जल पाकर पात्रकी प्रतीक्षा करता है। यदि कोई पात्र मिल जाता है तो गृहस्थकी तरह अपने भोजनमें-से उसे आहारदान देता है और जो कुछ बच जाता है उसे स्वयं खा लेता है। यदि कुछ भी नहीं बचता तो उपवास धारण कर लेता है। यदि उसे गन्ध आदि अष्ट द्रव्य मिल जाते हैं तो बड़ी प्रसन्नतासे जिनबिम्ब वगैरहकी पूजा करता है, आदि।

---

१. गा० २९९ २. पृ० १२४, श्लो० ४० से। ३. अ० ७ श्लो० ३१। ४. पृ० १२५। ५. श्लो० १४७। ६. गा० ३०१ आदि।

ऐलककी विधि वही है जो ऊपर दूसरे श्रावककी विधि बतलायी है।

उक्त ग्यारह भेदोंमें-से प्रारम्भके छह भेदवाले जघन्य श्रावक कहे जाते हैं और उनकी गृहस्थ संज्ञा होती है। सात, आठ और नौ भेदवाले मध्यम श्रावक होते हैं और उन्हें वर्णी कहते हैं। शेष दो प्रतिमावाले श्रावक उत्कृष्ट श्रावक होते हैं और उन्हें भिक्षु कहते हैं।

साधक

उपसर्ग आनेपर, दुर्भिक्ष पड़नेपर, बुढ़ापा आनेपर या असाध्य रोग हो जानेपर जब जीवनकी कोई आशा न रहे तो धर्मकी रक्षाके लिए शरीरको छोड़ देना सल्लेखना है और जो उसका साधन करता है वह साधक कहलाता है। रत्नकरण्डश्रावकाचारके अनुसार ही सोमदेव उपासकाध्ययनमें भी सल्लेखनाका वर्णन है। सागारधर्मामृतके आठवें अध्यायमें सल्लेखनाका विस्तृत वर्णन है।

इस तरह श्रावकाचारके मुख्य-मुख्य गुणोंका कालक्रमसे यह विश्लेषण किया गया है, जो स्वाध्यायप्रेमियों, तत्त्वचिन्तकों, अन्वेषकों और आचारप्रेमियोंके लिए विचारकी और खोजकी सामग्री प्रस्तुत करता है।

उपसंहार

सोमदेवका उपासकाध्ययन हिन्दी अनुवाद आदिके साथ प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है और श्रावकाचारविषयक जैन साहित्यमें उसका अपना एक विशिष्ट स्थान है, इसीसे इस प्रस्तावनामें उसके अन्तर्गत विषयोंपर प्रकाश डालनेके साथ श्रावकाचारपर भी विस्तारसे प्रकाश डाला गया है। किसी भी विषयके परिपूर्ण परिचयके लिए उस विषयके साहित्यका तुलनात्मक अनुशीलन आवश्यक होता है। उससे मूल विचार के प्रारम्भिक रूपका और उसमें कालक्रमसे होनेवाले विकासका पूर्ण परिचय मिल जाता है। यही विश्लेषण की आधुनिक पद्धति है।

श्रेष्ठ साहित्य जिस विषय और परम्परासे सम्बद्ध होता है उस विषय और परम्पराका तो प्रतिनिधित्व करता ही है जिस कालमें वह रचा जाता है उस कालका भी वह प्रतिनिधित्व करता है। अतः जहाँ उससे विषय और परम्पराका सम्यग्बोध होता है वहाँ तत्कालीन सामायिक स्थितिका भी बोध होता है। उसके बिना विषयगत बोध अधूरा ही रहता है। यही वे दृष्टियाँ हैं जिनको लक्ष्यमें रखकर प्रस्तावनामें विविध चर्चाएँ की गयी है। दृष्टि दोषसे उनमें चित्त स्खलन भी हो सकता है उसके लिए ज्ञानियोंसे क्षमा प्रार्थना है।

ऋषभनिर्वाण दिवस
वी० नि० सं० २४८९

—कैलाशचन्द्र शास्त्री

विषयसूची

मूल और अनुवाद

उपासकाध्ययन

[हिन्दी अनुवाद सहित]

ॐ

श्री सोमदेव विरचित

उपासकाध्ययन

धर्मात्किलैष जन्तुर्भवति सुखी जगति स च पुनर्धर्मः ।
किंरूपः किंभेदः किमुपायः किंफलश्च जायेत ॥१॥
यस्मादभ्युदयः[1] पुंसां निःश्रेयसफलाश्रयः ।
वदन्ति विदिताम्नायास्तं धर्मं धर्मसूरयः ॥२॥
स [2]प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मा गृहस्थेतरगोचरः ।
प्रवृत्तिर्मुक्तिहेतौ स्यान्निवृत्तिर्भवकारणात् ॥३॥
सम्यक्त्वज्ञानचारित्रत्रयं[3] मोक्षस्य कारणम् ।
संसारस्य च मीमांस्यं मिथ्यात्वादिचतुष्टयम् ॥४॥
सम्यक्त्वं[4] भावनामाहुर्युक्तियुक्तेषु वस्तुषु ।
मोह[5]संदेहविभ्रान्तिवर्जितं ज्ञानमुच्यते ॥५॥
कर्मादाननिमित्तायाः[6] क्रियायाः परमं शमम् ।
चारित्रोचितचातुर्याश्चारुचारित्रमूचिरे ॥६॥

धर्मविषयक जिज्ञासा

धर्मसे यह प्राणी जगत्में सुखी होता है । उस धर्मका क्या स्वरूप है ? कितने भेद हैं ? तथा उसका क्या उपाय और क्या फल है ॥१॥

धर्मका स्वरूप और भेद

जिससे मनुष्योंको ऐसे अभ्युदयकी प्राप्ति होती है, जिसका फल मोक्ष है उसे आम्नायके ज्ञाता धर्माचार्य धर्म कहते हैं ॥२॥ वह धर्म प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप है । मोक्षके कारणोंमें लगनेको प्रवृत्ति और संसारके कारणोंसे बचनेको निवृत्ति कहते हैं । वह धर्म गृहस्थ धर्म और मुनि धर्मके भेदसे दो प्रकारका है ॥३॥

संसार और मोक्षके कारणोंका स्वरूप

अब प्रश्न यह है कि मुक्तिका कारण क्या है और संसारका कारण क्या है ? तथा गृहस्थोंका धर्म क्या है और मुनियोंका धर्म क्या है ?

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र मोक्षके कारण हैं । तथा मिथ्यादर्शन, अविरति, कषाय और योग संसारके कारण हैं ॥४॥ युक्तियुक्त वस्तुओंमें दृढ़ आस्थाका होना सम्यग्दर्शन है । और मोह, सन्देह तथा भ्रमसे रहित ज्ञानका होना सम्यग्ज्ञान है ॥५॥ जिन कामोंके करनेसे

१. 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।'—वैशे० द० १–२ । यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थसिद्धिः सुनिश्चिता । स धर्मः ।—महापुराण ५–२० । २. संप्र—अ०, ब० । ३. 'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' ॥१॥ —तत्त्वा० सू० अ० १ । ४. दर्शनं भावनां प्राहुः प्रमापूतेषु वस्तुषु । भ्रान्ति-सन्देह-संमोह-दूरितं वेदनं हि तत् ॥२१॥—प्रबोधसार । ५. अज्ञानं मोहः । इदं तत्त्वमिदं वा तत्त्वमिति चलन्ती प्रतीतिः संदेहः । अतत्त्वे तत्त्वव्यवसायो भ्रान्तिः । ६. 'कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम्'—सर्वा० सि०, १–१ ।

सम्यक्त्वज्ञानचारित्रविपर्ययपरं मनः ।
मिथ्यात्वं नृषु[1] भाषन्ते सूरयः सर्ववेदिनः ॥७॥

अत्र दुरागमवासनाविलासिनीवासितचेतसां प्रवर्तितप्राकृतलोकानोकहोन्मूलनसमयस्रोतसां सदाचाराचरणचातुरीविदूरवर्तिनां परवादिनां मुक्तेरुपाये कार्ये[2] च बहुवृत्तयः खलु प्रवृत्तयः। तथा हि—'सकलनिष्कलाप्तप्राप्तमन्त्रतन्त्रापेक्षदीक्षालक्षणाच्छ्रद्धामात्रानुसरणान्मोक्षः' इति सैद्धान्तवैशेषिकाः, '[3]द्रव्यगुणकर्मसामान्यसमवायान्त्यविशेषाभावाभिधानानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्यावबोधतन्त्राज्ज्ञानमात्रात्' इति तार्किकवैशेषिकाः, 'त्रिकालभस्मोद्धूलनेज्यागड्डुकप्रदानाप्रदक्षिणीकरणात्मविडम्बनादिक्रियाकाण्डमात्राधिष्ठानादनुष्ठानात्' इति पाशुपताः, 'सर्वेषु पेयापेयभक्ष्याभक्ष्यादिषु निःशङ्कचित्ताद् वृत्तात्' इति कुलाचार्यकाः। तथा च त्रिकमतोक्तिः—'मदिरामोदमेदुरवदनस्तरसरसप्रसन्नहृदयः सव्यपार्श्वविनिवेशितशक्ति[5]ः शक्ति[6]मुद्रासनधरः स्वयमुमामहेश्वरायमाणः कृष्णया[7] शर्वाणीश्वरमाराधयेदिति। प्रकृतिपुरुषयोर्विवेकमतेः ख्यातेः' इति सांख्याः, 'नैरात्म्यादिनिवेदितसंभावनातो[8] भावनातः' इति [9]दशबल-

---

कर्मोंका बन्ध होता है उन कामोंके न करनेको चारित्रमें चतुर आचार्य सम्यक्चारित्र कहते हैं ॥६॥ तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके विषयमें विपरीत मानसिक प्रवृत्तिको सर्वविद् आचार्योंने मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र कहा है ॥७॥

मुक्तिके विषयमें मतान्तर

अन्य मतवाले मुक्तिका स्वरूप तथा उपाय अलग-अलग बतलाते हैं। १. सैद्धान्तिक वैशेषिकोंका कहना है कि सशरीर वा अशरीर परम शिवके द्वारा प्राप्त हुए मन्त्र-तन्त्र पूर्वक दीक्षा धारण करना और उनपर श्रद्धा मात्र रखना मोक्षका कारण है।

२. तार्किक वैशेषिकोंका कहना है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, विशेष और अभाव इन सात पदार्थोंके साधर्म्य और वैधर्म्य मूलक ज्ञान मात्रसे मोक्ष होता है।

३. पाशुपतोंका कहना है कि तीनों समय प्रातः दोपहर और शामको भस्म लगाने, शिवलिंगकी पूजा करने, उसके सामने जलपात्र स्थापित करने, प्रदक्षिणा करने और आत्मदमन आदि क्रियाकाण्डमात्रके अनुष्ठानसे मोक्ष होता है।

४. कुलाचार्यकोंका कहना है कि निःशङ्क चित्तसे समस्त पीने योग्य, न पीने योग्य, खाने योग्य, न खाने योग्य पदार्थोंमें प्रवृत्ति करनेसे मोक्ष होता है। त्रिकमतमें लिखा है कि शराबकी सुगन्धसे मुखको सुवासित करके, मांसके स्वादसे हृदयको प्रसन्न करके और दक्षिण पार्श्वमें स्त्री शक्तिको स्थापित करके योनि-मुद्रा आसनका धारक स्वयं ही शिव और पार्वती बनकर मदिराके द्वारा उमा और महेश्वरकी आराधना करे।

५. सांख्योंका कहना है कि प्रकृति और पुरुषके भेदज्ञानसे मोक्ष होता है।

---

१. अत्र 'त्रिषु' इति पाठः प्रतिभाति। यथा— वेदने दर्शने वृत्ते विपर्ययपरं मनः। मिथ्यात्वं त्रिषु भाषंते सूरयः सर्वदेहिनः ॥२१॥—प्रबोध०। २. स्वरूपे। ३. 'द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्' ॥—वैशे० द० १-४। ४. —लवाद्योगपट्टकप्रदाना—आ०। ५. स्त्री। ६. योनिमुद्रा। ७. मदिरया। ८. सभाव—आ०। संभावमातो इति ज०। ९. बौद्धाः।

शिष्याः, 'अङ्गाराञ्जनादिवत्स्वभावादेव कालुष्योत्कर्षप्रवृत्तस्य[1] चित्तस्य न कुतश्चिद्विशुद्ध-चित्तवृत्तिः' इति जैमिनीयाः, 'सति धर्मिणि धर्माश्चिन्त्यन्ते ततः परलोकिनोऽभावात्पर-लोकाभावे कस्यासौ मोक्षः' इति समवाप्तसमस्तनास्तिकाधिपत्या [2]बार्हस्पत्याः, 'परमब्रह्म-दर्शनवशादशेषभेदसंवेदनाविद्याविनाशात्' इति वेदान्तवादिनः,

> "नैवान्तस्तत्त्वमस्तीह न बहिस्तत्त्वमञ्जसा ।
> विचारगोचरातीतेः शून्यता श्रेयसी ततः ॥८॥

इति पश्यतोहराः प्रकाशितशून्यतैकान्ततिमिराः [3]शाक्यविशेषाः, तथा 'ज्ञानसुख-दुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराणां नवसंख्यावसराणामात्मगुणानामत्यन्तोन्मुक्तिर्मुक्तिः' इति काणादाः । तदुक्तम्—

> "बहिः शरीराद्यद्रूपमात्मनः संप्रतीयते ।
> उक्तं तदेव मुक्तस्य मुनिना कणभोजिना" ॥९॥

---

६. बुद्धके शिष्योंका कहना है कि नैरात्म्य भावनाके अभ्याससे मोक्ष होता है ।

७. जैमिनीयोंका मत है कि कोयले और अंजनकी तरह स्वभावसे ही कलुषित चित्तकी चित्त-वृत्ति विशुद्ध नहीं हो सकती । अर्थात् जैसे कोयलेको घिसनेपर भी वह सफेद नहीं हो सकता, उसी तरह स्वभावसे ही मलिन चित्त विशुद्ध नहीं हो सकता ।

८. नास्तिक शिरोमणि बृहस्पतिके अनुयायी चार्वाकोंका कहना है कि धर्मीके होनेपर ही धर्मों-का विचार किया जाता है । अतः परलोकमें जानेवाली किसी आत्माके न होनेसे जब परलोक ही नहीं है तो मोक्ष होता किसको है ? अर्थात् जब आत्मा ही नहीं है तो मोक्षकी बात ही बेकार है ।

९. वेदान्तियोंका मत है कि परम ब्रह्मका दर्शन होनेसे समस्त भेदज्ञानको करानेवाली अविद्याका नाश हो जाता है और उससे मोक्षकी प्राप्ति होती है ।

१०. दिखाई देनेवाले विश्वका भी निषेध करनेवाले शून्यतैकान्तवादी बौद्धविशेषोंका मत है कि न कोई अन्तस्तत्त्व आत्मा वगैरह है और न कोई वास्तविक बाहरी तत्त्व घटादिक ही है, दोनों ही विचारगोचर नहीं है, अतः शून्यता ही श्रेष्ठ है ॥८॥

११. कणादके अनुयायियोंका मत है कि ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म और अधर्म, आत्माके इन नौ गुणोंका अत्यन्त अभाव हो जानेको ही मुक्ति कहते हैं । कहा भी है— "शरीरसे बाहर आत्माका जो स्वरूप प्रतीत होता है, कणाद मुनिने उसीको मुक्तात्माका स्वरूप कहा है ॥९॥

---

१ -स्य न-अ० । 'घृष्यमाणो यथाङ्गारः शुक्लतां नैति जातुचित् । विशुद्धयति कुतश्चित्तं निसर्गमलिनं तथा ॥—यशस्ति०, भाग २, पृ० २५० । घृष्यमाणाङ्गारवदन्तरङ्गस्य विशुद्ध्यभावे कथमिदमुदा-हारि कुमारिलेन—विशुद्धज्ञानदेहाय'''पृ० २५४ । २. चार्वाकाः । 'परलोकिनोऽभावात् परलोकाभावः'—तत्त्वसंग्रह पृ० ५२३, तत्त्वोपप्लव पृ० ५८, प्रमेयकमल० पृ०, ११६, न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ३४३, सन्मति० टीका पृ० ७१ पर उद्धृत । ३. 'कर्मक्लेशक्षयान्मोक्षः कर्मक्लेशा विकल्पतः । ते प्रपञ्चात् प्रपञ्चस्तु शून्यतायां निरुध्यते ॥—माध्य० का० १८-५ ।

'निराश्रयचित्तोत्पत्तिलक्षणो मोक्षक्षणः'[1] इति ताथागताः। तदुक्तम्—

"दिशं[2] न कांचिद्विदिशं न कांचिन्नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतः स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥१०॥
दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचिन्नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतः क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम्" ॥११॥

—सौन्दरनन्द १६, २८–२९

'बुद्धिमनोऽहंकारविरहादखिलेन्द्रियोपशमावहात्तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं मुक्तिः' इति कापिलाः। 'यथा घटविघटने घटाकाशमाकाशीभवति[3] तथा देहोच्छेदात्सर्वः प्राणी परब्रह्मणि लीयते' इति ब्रह्माद्वैतवादिनः।

अज्ञातपरमार्थानामेवमन्येऽपि दुर्नयाः।
मिथ्यादृशां न गण्यन्ते जात्यन्धानामिव द्विपे ॥१२॥
प्रायः[4] संप्रति कोपाय सन्मार्गस्योपदेशनम्।
निर्लूननासिकस्येव विशुद्धादर्शदर्शनम् ॥१३॥

१२. बौद्धोंका कहना है कि निराश्रय चित्तकी उत्पत्ति हो जाना ही मोक्ष है। कहा भी है—"जैसे दीपक बुझ जानेपर न किसी दिशाको चला जाता है, न किसी विदिशाको चला जाता है। न नीचे पृथिवीमें समा जाता है और न ऊपर आकाशमें समा जाता है, किन्तु तेलके चुक जानेसे शान्त हो जाता है। उसी तरह निर्वाणको प्राप्त हुआ जीव न किसी दिशाको जाता है, न किसी विदिशाको जाता है, न पृथिवीमें समा जाता है और न ऊपर आकाशमें समा जाता है, किन्तु क्लेशोंके क्षय हो जानेसे शान्त हो जाता है" ॥१०–११॥

१२. बुद्धि, मन और अहंकारका अभाव हो जानेके कारण समस्त इन्द्रियोंके शान्त हो जानेसे पुरुषका अपने चैतन्य स्वरूपमें स्थित होना मोक्ष है, ऐसा कपिल ऋषिके अनुयायी मानते हैं।

ब्रह्माद्वैतवादियोंका कहना है कि जैसे घटके फूट जानेपर घटसे रोका हुआ आकाश आकाशमें मिल जाता है, उसी तरह शरीरका विनाश हो जानेपर सब प्राणी परम ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं।

जिस तरह जन्मान्ध मनुष्य हाथीके विषयमें विचित्र कल्पनाएँ कर लेते हैं, उसी तरह परमार्थको न जाननेवाले मिथ्यामतवादियोंने अन्य भी अनेक मत कल्पित कर रखे हैं, उनकी गणना करना भी कठिन है ॥१२॥

[इस प्रकार मोक्षके विषयमें अन्य मतोंको बतला कर आचार्य विचारते हैं—]

जैसे नकटे मनुष्यको स्वच्छ दर्पण दिखानेसे उसे क्रोध आता है, वैसे ही आजकल सन्मार्गका उपदेश भी प्रायः लोगोंके क्रोधका कारण होता है ॥१३॥

---

१. 'मोक्ष इति मोक्षावसरास्ताथागताः'—मु०। मोक्षक्षणः = मोक्षावसरः। २. अश्वघोषकृत सौन्दरनन्द काव्य, सर्ग १६, श्लो० २८–२९ इस प्रकार है—'दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्। दिशं न कांचित् विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥ एवं कृती निर्वृतिमभ्युपेतः''''इत्यादि। ३. घटाभावे घटाकाशो महाकाशो यथा तथा। उपाध्यभावे त्वात्मैषः स्वयं ब्रह्मैव केवलम् ॥६९५॥—सर्ववेदान्तसिद्धान्तसंग्रह। 'देहे मोहाश्रये भग्ने युक्तः स परमात्मनि। कुम्भाकाश इवाकाशे लभते चैकरूपताम्।'—माठरवृत्ति (सां० का० ३९) में उद्धृत। ४. 'प्रायः प्रत्युत तापाय यथार्थस्योपदर्शनम्। यथा निर्लूतनासस्य विशुद्धादर्शदर्शनम् ॥२३॥ —प्रबो० सार।

दृष्टान्ताः सन्त्यसंख्येया मतिस्तद्वशवर्तिनी ।
किं न कुर्युर्महीं धूर्ता विवेकरहितामिमाम् ॥१४॥
दुराग्रहग्रहग्रस्ते विद्वान्पुंसि करोतु किम् ।
कृष्णपाषाणखण्डेषु मार्दवाय न तोयदः ॥१५॥
ईर्ते युक्तिं यदेवात्र तदेव परमार्थसत् ।
यद्भानुदीप्तिवत्तस्याः पक्षपातोऽस्ति न क्वचित् ॥१६॥
श्रद्धा श्रेयोऽर्थिनां श्रेयःसंश्रयाय न केवला ।
बुभुक्षितवशात्पाको जायेत किमुदम्बरे ॥१७॥
पात्रावेशादिवन्मन्त्रादात्मदोषपरिक्षयः ।
दृश्येत यदि को नाम कृती क्लिश्येत संयमैः ॥१८॥
दीक्षाक्षणान्तरात्पूर्वं ये दोषा भवसंभवाः ।
ते पश्चादपि दृश्यन्ते तत्र सा[1] मुक्तिकारणम् ॥१९॥

संसारमें दृष्टान्तोंकी कमी नहीं है, दृष्टान्तोंको सुनकर लोगोंकी बुद्धि उनके आधीन हो जाती है। ठीक ही है—धूर्त लोग इस विवेक शून्य पृथिवीपर क्या नहीं कर सकते ॥१४॥ जो पुरुष दुराग्रह रूपी राहुसे ग्रस लिया गया है अर्थात् जो अपनी बुरी हठको पकड़े हुए है उस पुरुषको विद्वान् कैसे समझावें। मेघके बरसनेसे काले पत्थरके टुकड़ोंमें कोमलता नहीं आती ॥१५॥ फिर भी इस लोकमें जो वस्तु युक्तिसिद्ध हो वही सत्य है, क्योंकि सूर्यकी किरणोंकी तरह युक्ति भी किसीका पक्षपात नहीं करती ॥१६॥

[इस प्रकार मनमें विचार कर आचार्य यहाँसे उक्त मतान्तरोंका क्रमशः निराकरण करते हैं—]

१. कल्याण चाहनेवालोंका कल्याण केवल श्रद्धा मात्रसे नहीं हो सकता। क्या भूख लगनेसे ही गूलर पक जाते हैं ? ॥१७॥ उचित व्यक्तिमें आगत भूतावेशकी तरह यदि मन्त्र पाठसे ही आत्माके दोषोंका नाश होता देखा जाता, तो कौन मनुष्य संयम धारण करनेका क्लेश उठाता ॥१८॥ दीक्षा धारण करनेसे पहले जो सांसारिक दोष देखे जाते हैं, दीक्षा धारण करनेके बाद भी वे दोष देखे जाते हैं। अतः केवल दीक्षा भी मुक्तिका कारण नहीं है ॥१९॥

भावार्थ—पहले सैद्धान्त वैशेषिकोंका मत बतलाते हुए कहा है कि वे मन्त्र-तन्त्र पूर्वक दीक्षा धारण करने और उनपर श्रद्धा मात्र रखनेसे मोक्ष मानते हैं। उसीकी आलोचना करते हुए आचार्य कहते हैं कि न केवल श्रद्धासे ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है और न मन्त्र-तन्त्र पूर्वक दीक्षा धारण करनेसे ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है। श्रद्धा तो मात्र रुचिको बतलाती है, किन्तु किसी चीजपर श्रद्धा हो जाने मात्रसे ही तो वह प्राप्त नहीं हो जाती। इसी तरह दीक्षा धारण कर लेने मात्रसे भी काम नहीं चलता, क्योंकि दीक्षा लेनेपर भी यदि सांसारिक दोषोंके विनाशका प्रयत्न न किया जाये तो वे दोष जैसे दीक्षा लेनेसे पहले देखे जाते हैं वैसे ही दीक्षा धारण करनेके बादमें भी देखे जाते हैं। यदि केवल श्रद्धा या दीक्षासे ही काम चल सकता होता तो संयम धारण करनेके कष्टोंको उठानेकी जरूरत ही नहीं रहती। अतः ये मोक्षके कारण नहीं माने जा सकते।

---

१. दीक्षा।

ज्ञानादवगमोऽर्थानां न तत्कार्यसमागमः।[1]
तर्षापकर्षयोगि स्याद्दृष्टमेवान्यथा पयः ॥२०॥
ज्ञानहीने क्रिया पुंसि परं नारभते फलम्।
तरोश्छायेव किं लभ्या फलश्रीर्नष्टदृष्टिभिः ॥२१॥
ज्ञानं पङ्गौ क्रिया चान्धे निःश्रद्धे नार्थकृद्द्वयम्।
ततो ज्ञानक्रियाश्रद्धात्रयं तत्पदकारणम् ॥२२॥

उक्तं च—

"हतं[2] ज्ञानं क्रियाशून्यं हता चाज्ञानिनः क्रिया।
धावन्नप्यन्धको नष्टः पश्यन्नपि च पङ्गुकः" ॥२३॥

निःशङ्कात्मप्रवृत्तेः स्याद्यदि मोक्षसमीक्षणम्।
ठकसूनाकृतां पूर्वं पश्चात्कौलेष्वसौ भवेत् ॥२४॥
अव्यक्तनरयोर्नित्यं नित्यव्यापिस्वभावयोः।
विवेकेन[3] कथं ख्यातिं सांख्यमुख्याः प्रचक्षते ॥२५॥

[अब आचार्य बिना ज्ञानकी क्रियाको और बिना क्रियाके ज्ञानको व्यर्थ बतलाते हैं—]

२. ३. ज्ञानसे पदार्थोंका बोध होता है, किन्तु उन्हें जानने मात्रसे उन पदार्थोंका कार्य होता नहीं देखा जाता। यदि ऐसा होता तो पानीके देखते ही प्यास बुझ जानी चाहिए ॥२०॥ तथा ज्ञानहीन पुरुषकी क्रिया फलदायी नहीं होती। क्या अन्धे मनुष्य वृक्षकी छायाकी तरह उसके फलोंकी शोभाका आनन्द ले सकते हैं ? ॥२१॥ श्रद्धाहीन पंगुका ज्ञान और श्रद्धाहीन अन्धेकी क्रिया दोनों ही कार्यकारी नहीं हैं। अतः ज्ञान, चारित्र और श्रद्धा तीनों ही मिलकर मोक्षका कारण हैं ॥२२॥

कहा भी है—

क्रिया-आचरणसे शून्य ज्ञान भी व्यर्थ है और अज्ञानीकी क्रिया भी व्यर्थ है। देखो, एक जंगलमें आग लगनेपर अन्धा मनुष्य दौड़ भाग करके भी नहीं बच सका, क्योंकि वह देख नहीं सकता था और लँगड़ा मनुष्य आगको देखते हुए भी न भाग सकनेके कारण उसीमें जल मरा ॥२३॥

[कौल मतवादियोंको आचार्य उत्तर देते हैं—]

४. यदि मद्य-मांस वगैरहमें निःशङ्क होकर प्रवृत्ति करनेसे मोक्षकी प्राप्ति हो सकती तो सबसे पहले तो ठगों और मांस बेचनेवाले कसाइयोंकी मुक्ति होनी चाहिए। उनके पीछे कौल मतवालोंकी मुक्ति होना चाहिए ॥२४॥

[इस प्रकार केवल ज्ञान या केवल चारित्रसे मुक्तिकी प्राप्तिको असम्भव बतलाकर आगे आचार्य सांख्य मतकी आलोचना करते हैं—]

५. सांख्य मतमें प्रकृति और पुरुष दोनों व्यापक और नित्य माने गये हैं। ऐसी अवस्थामें उनमें भेद ग्रहण कैसे सम्भव है ? अर्थात् व्यापक और नित्य होनेसे प्रकृति और पुरुष दोनों सदासे मिले हुए ही रहते हैं। तब उनमें भेद ग्रहणका कथन सांख्याचार्य कैसे करते हैं ॥२५॥

---

१. चेत् ज्ञानमात्रेण पदार्थस्यावगमो भवति तर्हि दृष्टं ज्ञातमात्रं जलं पानं विनापि तृषाछेदकं भवति, न च तथा दृश्यते। २. 'उक्तं च—हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया। धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पङ्गुलः॥'—तत्त्वा० वा०, पृ० १४। ३. भेदेन।

सर्वं चेतसि भासेत वस्तु भावनया स्फुटम् ।
तावन्मात्रेण मुक्तत्वे मुक्तिः स्याद्विप्रलम्भिनाम्[1] ॥२६॥

तदुक्तम्—

"पिहिते कारागारे[2] तमसि च सूचीमुखाग्रनिर्भेद्ये ।
मयि च निमीलितनयने तथापि कान्ताननं व्यक्तम्" ॥२७॥

स्वभावान्तरसंभूतिर्यत्र तत्र मलक्षयः ।
कर्तुं शक्यः स्वहेतुभ्यो मणिमुक्ताफलेष्विव ॥२८॥
"तदहर्जस्तनेहातो[3] रक्षोदृष्टेर्भवस्मृतेः ।
भूतानन्वयनाज्जीवः प्रकृतिज्ञः सनातनः" ॥२९॥

[पहले नैरात्म्य भावनासे मुक्ति माननेवाले एक मतका उल्लेख कर आये हैं, उसकी आलोचना करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—]

६. भावनासे सभी वस्तु चित्तमें स्पष्ट रूपसे झलकने लगती है। यदि केवल उतनेसे ही मुक्ति प्राप्त होती है तो ठगोंकी भी मुक्ति हो जायेगी ॥२६॥

कहा भी है—

"सब ओरसे बन्द जेलखानेमें अत्यन्त घोर अन्धकारके होते हुए और मेरे आँख बन्द कर लेनेपर भी मुझे अपनी प्रियाका मुख दिखाई दिया" ॥२७॥

भावार्थ—आशय यह है कि भावना जैसी भाई जाती है वैसी ही वस्तु दिखाई देने लगती है। अतः केवल भावनाके बलपर यथार्थ वस्तुकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

[इस प्रकार नैरात्म्य भावनावादीको उत्तर देकर आचार्य जैमिनिके मतकी आलोचना करते हैं। जैमिनिका कहना है कि स्वभावसे ही कलुषित चित्तकी विशुद्धि नहीं हो सकती। इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—]

७. जिस वस्तुमें स्वभावान्तर हो सकता है, उसमें अपने कारणोंसे मलका क्षय किया जा सकता है, जैसा कि मणि और मोतियोंमें देखा जाता है। अर्थात् मणि मोती वगैरह जन्मसे ही सुमैल पैदा होते हैं किन्तु बादको उनका मैल दूर करके उन्हें चमकदार बना लिया जाता है। इसी तरह अनादिसे मलिन आत्मासे भी कर्म जन्य मलिनताको हटाकर उसे विशुद्ध किया जा सकता है ॥२८॥

[अब आत्मा और परलोकको न माननेवाले चार्वाकोंको उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—]

८. उसी दिनका पैदा हुआ बच्चा माताके स्तनोंको पीनेकी चेष्टा करता है, राक्षस वगैरह देखे जाते हैं, किसी-किसीको पूर्व जन्मका स्मरण भी हो जाता है, तथा आत्मामें पञ्च भूतोंका कोई भी धर्म नहीं पाया जाता। इन बातोंसे प्रकृतिका ज्ञाता जीव सनातन सिद्ध होता है ॥२९॥

भावार्थ—आशय यह है कि चार्वाक आत्माको एक स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानता। उसका कहना है कि जैसे कई चीजोंके मिलानेसे शराब बन जाती है और उसमें मादकता उत्पन्न हो जाती है, उसी तरह पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच भूतोंके मिलनेसे एक शक्ति उत्पन्न हो जाती है या प्रकट हो जाती है, उसे ही आत्मा कह देते हैं। जब वे पाँचों भूत बिछुड़ जाते हैं तो वह शक्ति भी नष्ट हो जाती है। अतः पञ्चभूतोंके सिवा आत्मा कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है।

---

१. वञ्चकानाम्। २. प्रमेयरत्नमाला (पृ० ६१)में उद्धृत। ३. प्रमेयरत्नमाला (पृ० १८१)में उद्धृत।

भेदोऽयं यद्यविद्या स्याद्वैचित्र्यं जगतः कुतः।
जन्ममृत्युसुखप्रायैर्विवर्तैर्मानवर्तिभिः ॥३०॥
शून्यं तत्त्वमहं वादी साधयामि प्रमाणतः।
इत्यास्थायां विरुध्येत सर्वशून्यत्ववादिता ॥३१॥
बोधो वा यदि वानन्दो नास्ति मुक्तौ भवोद्भवः।
सिद्धसाध्यतयास्माकं न काचित्क्षतिरीच्यते ॥३२॥

इसका निराकरण करते हुए आचार्य कहते हैं कि एक तो उसी दिनका जन्मा हुआ बच्चा माताके स्तनोंको पीनेकी चेष्टा करता हुआ देखा जाता है, और यदि उसके मुँहमें स्तन लगा दिया जाता है तो झट पीने लगता है। यदि बच्चेको पूर्व जन्मका संस्कार न होता तो पैदा होते ही उसमें ऐसी चेष्टा नहीं होनी चाहिए थी। यह सब पूर्व जन्मका संस्कार ही है। तथा राक्षस व्यन्तरादिक देव देखे जाते हैं जो अनेक बातें बतलाते हैं। पूर्व जन्मके स्मरणकी कई घटनाएँ सच्ची पाई गई हैं, तथा सबसे बड़ी बात तो यह है कि यदि चैतन्य भूतोंके मेलसे पैदा होता है तो उसमें भूतोंका धर्म पाया जाना चाहिए था, क्योंकि जो वस्तु जिन कारणोंसे पैदा होती है उस वस्तुमें उन कारणोंका धर्म पाया जाता है, जैसे मिट्टीसे पैदा होनेवाले घड़ेमें मिट्टीपना रहता है, धागोंसे बनाये जाने वाले वस्त्रमें धागे पाये जाते हैं, किन्तु चैतन्यमें पंचभूतोंका कोई धर्म नहीं पाया जाता। पंच भूत तो जड़ होते हैं उनमें जानने-देखनेकी शक्ति नहीं होती, किन्तु चैतन्यमें जानने देखनेकी शक्ति पाई जाती है। तथा यदि चैतन्य पंचभूतोंका धर्म है तो मोटे शरीरमें अधिक चैतन्य पाया जाना चाहिए था और दुबले शरीरमें कम। किन्तु इसके विपरीत कोई-कोई दुबले-पतले बड़े मेधावी और ज्ञानी देखे जाते हैं और स्थूल मनुष्य निर्बुद्धि होते हैं। तथा यदि चैतन्य पंचभूतोंका धर्म है तो शरीरका हाथ-पैर आदि कट जानेपर उसमें चैतन्यकी कमी हो जानी चाहिए; क्योंकि पंचभूत कम हो गये हैं किन्तु हाथ-पैर वगैरहके कट जानेपर भी मनुष्यके ज्ञानमें कोई कमी नहीं देखी जाती। इससे सिद्ध है कि चैतन्य पंचभूतोंका धर्म नहीं है बल्कि एक नित्य द्रव्य आत्माका ही धर्म है। अतः आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है।

[अब आचार्य वेदान्तियोंके मतकी आलोचना करते हुए उनसे पूछते हैं—]

९. यदि यह भेद अविद्याजन्य है—अज्ञान मूलक है, तो संसारमें वैचित्र्य क्यों पाया जाता है, क्यों कोई मरता है और कोई जन्म लेता है? कोई सुखी और कोई दुःखी क्यों देखा जाता है? ॥३०॥

[अब आचार्य शून्यवादी बौद्धके मतकी आलोचना करते हैं—]

१०. 'मैं शून्य तत्त्वको प्रमाणसे सिद्ध करता हूँ', ऐसी प्रतिज्ञा करनेपर सर्वशून्यवादका स्वयं विरोध हो जाता है ॥३१॥

भावार्थ—आशय यह है कि शून्यतावादी अपने मतकी सिद्धि यदि किसी प्रमाणसे करता है तो प्रमाणके वस्तु सिद्ध हो जानेसे शून्यतावाद सिद्ध नहीं हो सकता। और यदि बिना किसी प्रमाणके ही शून्यतावादको सिद्ध मानता है तब तो दुनियामें ऐसी कोई वस्तु ही न रहेगी जिसे सिद्ध न किया जा सके। और ऐसी अवस्थामें बिना प्रमाणके ही शून्यतावादके विरुद्ध अशून्यतावाद भी सिद्ध हो जायेगा। अतः सर्वशून्यतावाद भी ठीक नहीं है।

न्यक्षवीक्षाविनिर्मोक्षे[1] मोक्षे किं मोक्षिलक्षणम्[2] ।
न ह्यग्नावन्युष्णत्वा[3]ल्लक्ष्म लक्ष्यं[4] विचक्षणैः ॥३३॥

किं च सदाशिवेश्वरादयः संसारिणो मुक्ता वा ? संसारित्वे कथमाप्तता ? मुक्तत्वे 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरस्तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' इति पतञ्जलिजल्पितम्[5]

"ऐश्वर्यमप्रतिहतं[6] सहजो विराग-
स्तृप्तिर्निसर्गजनिता वशितेन्द्रियेषु ।
आत्यन्तिकं सुखमनावरणा च शक्ति-
र्ज्ञानं च सर्वविषयं भगवंस्तवैव" ॥३४॥

इत्यवधूताभिधानं च न घटेत ।

अनेक[7]जन्मसंततेर्यावदद्याक्षयः पुमान् ।
यद्यसौ मुक्त्यवस्थायां कुतः क्षीयेत हेतुतः ॥३५॥

[अब आचार्य मुक्तिमें आत्माके विशेष गुणोंका विनाश माननेवाले कणाद मतानुयायियोंकी आलोचना करते हैं—]

११. यदि आप यह मानते हैं कि मुक्तिमें सांसारिक सुख-दुःख नहीं है तो इसमें कोई हानि नहीं है,यह बात तो हमको भी इष्ट ही है। किन्तु यदि आत्माके समस्त पदार्थविषयक ज्ञानके विनाश-को मोक्ष मानते हैं तो फिर मुक्तात्माका लक्षण क्या है ? क्योंकि विद्वान् लोग वस्तुके विशेष गुणों-को ही वस्तुका लक्षण मानते हैं, जैसे आगका लक्षण उष्णता है, यदि आगकी उष्णता नष्ट हो जाये तो फिर उसका लक्षण क्या होगा ? फिर तो आगका ही अभाव हो जायेगा; क्योंकि विशेष गुणोंके अभावमें गुणीका भी अभाव हो जाता है । अतः यदि मुक्तिमें आत्माके ज्ञानादि विशेष गुणोंका अभाव माना जायेगा तो आत्माका भी अभाव हो जायेगा ॥३२-३३॥

तथा आपके सदाशिव ईश्वर वगैरह संसारी हैं या मुक्त ? यदि संसारी हैं तो वे आप्त नहीं हो सकते । यदि मुक्त हैं तो 'क्लेश, कर्म, कर्मफलका उपभोग और उसके अनुरूप संस्कारोंसे रहित पुरुष विशेष ईश्वर है । उस ईश्वरमें सर्वज्ञताका जो बीज है वह अपनी चरम सीमाको प्राप्त है अर्थात् वह पूर्णज्ञानी है' । पतञ्जलिका यह कथन, और 'हे भगवन् ! आपमें अविनाशी ऐश्वर्य है, स्वाभाविक विरागता है, स्वाभाविक सन्तोष है, स्वभावसे ही आप इन्द्रियजयी हैं । आपमें ही अविनाशी सुख, निरावरण शक्ति और सब विषयोंका ज्ञान है ॥३४॥ अवधूताचार्यका यह कथन घटित नहीं हो सकता है ।

[इस प्रकार कणाद मतके अनुयायियोंकी आलोचना करके आचार्य बौद्धोंकी आलोचना करते हैं —]

१२. यदि पुरुष अनेक जन्म धारण करनेपर भी आज तक अक्षय है, उसका विनाश नहीं हुआ तो मुक्ति प्राप्त होनेपर उसका विनाश किस कारणसे हो जाता है ? ॥३५॥

---

१. समग्रपदार्थावलोकनविनाशलक्षणे । २. आत्मनः लक्षणम् । ३. ष्मत्वा—ज० । ४. लक्ष्यवि—ज० । ५. योगसूत्र १, २४-२६ । ६. यशस्तिलकके आश्वास ४ और ५ में भी यह श्लोक उद्धृत है । वहाँ भी इसे अवधूतका बतलाया है । प्रमेयरत्नमाला (पृ० ६३) में भी अवधूतके नामसे उद्धृत है । ७. चेत्पूर्वं बहूनि जन्मानि जीवेन गृहीतानि अद्यापि विनाशो न संजातः । तर्हि मोक्षगमने सति कस्मात्कारणात् क्षीयेत—क्षयं याति ।

बाह्ये[1] ग्राह्ये मलापायात्सत्यस्वप्न इवात्मनः ।
तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽस्मिन्नवस्थानममानकम् ॥३६॥

न चायं सत्यस्वप्नोऽप्रसिद्धः स्वप्नाध्यायेऽतीव सुप्रसिद्धत्वात् । तथा हि—

"यस्तु[2] पश्यति राष्यन्ते राजानं कुञ्जरं हयम् ।
सुवर्णं वृषभं गां च कुटुम्बं तस्य वर्धते" ॥३७॥

यत्र नेत्रादिकं नास्ति न तत्र मतिरात्मनि ।
तन्न युक्तमिदं यस्मात्स्वप्नमन्धोऽपि वीक्षते ॥३८॥
जैमिन्यादेर्नरत्वेऽपि [3]प्रकृष्येत मतिर्यदि ।
[4]पराकाष्ठाप्यतस्तस्या[5]ः क्वचित्खे परिमाणवत् ॥३९॥

[अब आचार्य सांख्यमतकी आलोचना करते हैं—]

१३. जैसे वात, पित्त आदिका प्रकोप न रहनेपर आत्माको सच्चा स्वप्न दिखाई देता है वैसे ही ज्ञानावरण कर्म रूपी मलके नष्ट हो जानेपर आत्मा बाह्य पदार्थोंको जानता है । अतः मुक्त हो जानेपर आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है और बाह्य पदार्थोंको नहीं जानता यह कहना अप्रमाण है। यह भी अर्थ हो सकता है कि मलके नष्ट हो जाने पर आत्मा बाह्य पदार्थों को जानता है । और तब अपने इस स्वरूपमें अनन्त काल तक अवस्थित रहता है ॥ ३६ ॥

शायद कहा जाये कि सच्चे स्वप्न होते ही नहीं हैं, किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'स्वप्नाध्याय'में सच्चे स्वप्न बतलाये हैं । जैसा कि उसमें लिखा है—'जो रात्रिके पिछले पहरमें राजा, हाथी, घोड़ा, सोना, बैल और गायको देखता है उसका कुटुम्ब बढ़ता है ॥ ३७ ॥

जहाँ आँख वगैरह इन्द्रियां नहीं होतीं वहां आत्मामें ज्ञान भी नहीं होता ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अन्धे मनुष्यको भी स्वप्न दिखाई देता है ॥ ३८ ॥

भावार्थ—सांख्य मुक्तात्मामें ज्ञान नहीं मानता, क्योंकि वहाँ इन्द्रियाँ नहीं होतीं । उसकी इस मान्यताका खण्डन करते हुए ग्रन्थकारका कहना है कि इन्द्रियोंके होनेपर ही ज्ञान हो और उनके नहीं होनेपर न हो ऐसा कोई नियम नहीं है । इन्द्रियोंके अभावमें भी ज्ञान होता देखा जाता है । स्वप्न दशामें इन्द्रियाँ काम नहीं करतीं फिर भी ज्ञान होता है और वह सच्चा निकलता है । अतः इन्द्रियोंके अभावमें भी मुक्तात्माको स्वाभाविक ज्ञान रहता ही है ।

[जैमिनिके मतके अनुयायी मीमांसक कहे जाते हैं । मीमांसक लोग सर्वज्ञको नहीं मानते । वे वेदको ही प्रमाण मानते हैं । उनके मतसे वेद ही भूत और भविष्यत्का भी ज्ञान करा सकता है । उनका कहना है कि मनुष्यकी बुद्धि कितना भी विकास करे किन्तु उसमें अतीन्द्रिय पदार्थोंको जाननेकी शक्ति कभी नहीं आसकती । मनुष्य यदि अतीन्द्रिय पदार्थोंको जान सकता है तो केवल वेदके द्वारा ही जान सकता है । इसकी आलोचना करते हुए आचार्य कहते हैं—]

आपके आप्त जैमिनि मनुष्य थे । फिर भी उनकी बुद्धि इतनी विकसित हो गई थी कि वे वेदको पूरी तरहसे जान सके । इसी तरह किसी पुरुषकी बुद्धिका विकास अपनी चरम सीमा को भी पहुँच सकता है । क्योंकि जिनकी हानि-वृद्धि देखी जाती है, उनका कहीं परम प्रकर्ष

---

१. कर्मक्षयात् केवलज्ञानेन बाह्ये पदार्थे ग्राह्येऽवलोकिते सति द्रष्टुरात्मनः स्वस्वरूपेऽवस्थानं स्थितिर्भवति मानरहितम् । २. प्रमाणपरीक्षामें पृ० ५८ उद्धृत । ३. प्रकृष्टा भवति । ४. परमप्रकर्षः ५. मतेः ।

तुच्छाभावो न कस्यापि हानिर्दीपस्तमोऽन्वयी ।
धरादिषु धियो हानौ विश्लेषे सिद्धसाध्यता ॥४०॥
तदावृतिहतौ तस्य तपनस्येव दीधितिः ।
कथं न शेमुषी सर्वं प्रकाशयति वस्तु यत् ॥४१॥
ब्रह्मैकं[2] यदि सिद्धं स्यान्निस्तरङ्गं कुतश्च न ।
घटाकाशमिवाकाशे तत्रेदं लीयतां जगत् ॥४२॥

अथ मतम्—

एक[3] एव हि भूतात्मा देहे देहे व्यवस्थितः ।
एकधानेकधा चापि दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥४३॥

[ब्रह्म वि०, १-१]

और परम अपकर्ष अर्थात् अति हानि और अति वृद्धि भी देखी जाती है । जैसे परिमाणका परम प्रकर्ष आकाशमें पाया जाता है ॥ ३९ ॥

शायद कहा जाये कि इस नियमके अनुसार तो किसीमें बुद्धिका बिलकुल अभाव भी हो सकता है तो इसका उत्तर यह है कि किसी भी वस्तुका तुच्छाभाव नहीं होता, अर्थात् वह चीज एक दम नष्ट हो जाये और कुछ भी शेष न रहे ऐसा नहीं होता । दीपक जब बुझ जाता है तो प्रकाश अन्धकार रूपमें परिवर्तित हो जाता है । तथा पृथिवी वगैरहमें बुद्धिकी अत्यन्त हानि देखी जाती है । क्योंकि पृथिवीकायिक आदि जीव पृथिवी आदि रूप पुद्गलोंको अपने शरीर रूप से ग्रहण करता है और मरण होनेपर उन्हें छोड़ देता है । अतः जीवके वियुक्त हो जाने पर उन पृथिवी आदि रूप पुद्गलोंमें बुद्धिका सर्वथा अभाव हो जाता है । इसमें तो सिद्ध साध्यता है ॥४०॥

अतः जैसे सूर्यके ऊपरसे आवरणके हट जानेपर उसकी किरणें समस्त जगत्को प्रकाशित करती हैं । वैसे ही बुद्धिके ऊपरसे कर्मोंका आवरण हट जाने पर वह समस्त जगत्को क्यों नहीं जान सकती, अवश्य जान सकती है ॥४१॥

[*अब आचार्य ब्रह्माद्वैतकी आलोचना करते हैं*—]

१४. यदि केवल एक ब्रह्म ही है तो वह निस्तरंग—सांसारिक भेदोंसे रहित क्यों नहीं है अर्थात् यह लोक भिन्न क्यों दिखाई देता है । तथा जैसे घटके फूट जानेपर घटके द्वारा छेका गया आकाश आकाश में मिल जाता है,वैसेही इस जगत्को भी उसी ब्रह्ममें मिल जाना चाहिए ॥४२॥

शायद कहा जाये कि जैसे चंद्रमा एक होते हुए भी जलमें प्रतिबिम्ब पड़नेपर अनेक रूप दिखाई देता है उसी तरह एक ही ब्रह्म भिन्न भिन्न शरीरोंमें पाया जानेसे अनेक रूप दिखाई देता है ॥४३॥

---

१. 'नन्वेवं दोषावरणयोर्हानिरतिशायनात् निश्शेषतायां साध्यायां बुद्धेरपि किन्न परिक्षयः स्याद्विशेषाभावावतोऽनैकान्तिको हेतुरित्यशिक्षितलक्षितं चेतनादि-गुणव्यावृत्तेः सर्वात्मना पृथिव्यादेरभिमतत्वात्' । —अष्टसहस्री, पृ० ५२ । २. यदि एकं ब्रह्मैवास्ति तर्हि अयं लोकः पृथक् किं दृश्यते ? तत्रैव ब्रह्मणि कथं न लीयते । ३. 'एकदण्डिदर्शनमिदं—एकमेकं हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एक वानेक वा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥'—सिद्धि वि०, पृ० ६७५ ।

तदप्युक्तम् ।

एकः खेऽनेकधान्यत्र यथेन्दुर्वेद्यते जनैः ।
न तथा वेद्यते ब्रह्म भेदेभ्योऽन्यदभेदभाक् ॥४४॥

अलमतिविस्तरेण ।

आनन्दो ज्ञानमैश्वर्यं वीर्यं परमसूक्ष्मता ।
एतदात्यन्तिकं यत्र स मोक्षः परिकीर्तितः ॥४५॥
ज्वालोरुवूक[1]बीजादेः स्वभावादूर्ध्वगामिता ।
नियता च यथा दृष्टा मुक्तस्यापि तथात्मनः ॥४६॥
तथाप्यत्र तदावासे पुण्यपापात्मनामपि ।
स्वर्गश्वभ्रागमो न स्यादलं लोकान्तरेण वै ॥४७॥

इत्युपासकाध्ययने समस्तसमयसिद्धान्तावबोधनो नाम प्रथमः कल्पः ।

अहो धर्माराधनैकमते वसुमतीपते, सम्यक्त्वं हि नाम नराणां महती खलु पुरुषदेवता । यत्सकृदेकमेव यथोक्तगुणप्रगुणतया संजातमशेषकल्मषकलुषधिषणतया नरकादिषु गतिषु, पुष्यदायुषामपि मनुष्याणां षट्सु तलपातालेषु[2], अष्टविधेषु व्यन्तरेषु[3], दशविधेषु भवनवासिषु[4], पञ्चविधेषु ज्योतिष्केषु, त्रिविधासु स्त्रीषु, विकलकरणेषु पृथ्वीपयःपावकपवनकायिकेषु वनस्पतिषु च न भवति संभूतिहेतुः[5] । सावधि विदधात्याजवंजवीभावं, नियमेन

किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे चन्द्रमा आकाशमें एक और जलमें अनेक दिखाई देता है, वैसे भेदोंसे जुदा एक ब्रह्म ज्ञानगोचर नहीं होता ॥ ४४ ॥

अस्तु, अब इस प्रसंगको यहीं समाप्त करते हैं ।

मुक्त जीवका ऊर्ध्वगमन

जहाँपर अविनाशी सुख, ज्ञान, ऐश्वर्य, वीर्य और परम सूक्ष्मत्व आदि गुण पाये जाते हैं उसीको मोक्ष कहते हैं ॥ जैसे आगकी ज्वाला और एरण्डके बीज स्वभावसे ही ऊपरको जाते हैं, उसी प्रकार मुक्तात्मा भी स्वभावसे ही ऊपरको जाता है ॥ यदि यही माना जाये कि मुक्त होनेपर आत्मा यहीं रह जाता है कहीं जाता नहीं है, तो पुण्यात्माओंका स्वर्गगमन और पापात्माओंका नरक गमन भी नहीं होगा । फिर तो परलोक की कथा ही व्यर्थ हो जाती है । अतः मुक्तात्माको ऊर्ध्वगामी मानना चाहिए ॥४५-४७॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें समस्त मतोंके सिद्धान्तोंका ज्ञान करानेवाला पहला कल्प समाप्त हुआ ।

[अब ग्रन्थकार सम्यक्त्वका माहात्म्य और स्वरूप बतलाते हैं—]

सम्यक्त्वका माहात्म्य

धर्मप्रेमी राजन् ! सम्यक्त्व मनुष्योंका एक महती पुरुष देवता है अर्थात् देवताकी तरह उनका रक्षक है । क्योंकि यदि अपने यथोक्त गुणोंसे समन्वित सम्यग्दर्शन एक बार भी प्राप्त हो जाता है तो समस्त पापोंसे कलुषित मति होनेके कारण जिन पुरुषोंने नरकादिक गतियोंमेंसे किसी एककी आयुका बन्ध कर लिया है उन मनुष्योंका नीचेके छै नरकोंमें, आठ प्रकारके व्यन्तरोंमें, दस प्रकारके भवनवासियोंमें, पाँच प्रकारके ज्योतिषी देवोंमें, तीन प्रकारकी स्त्रियोंमें, विकले-

१. एरंडबीज । २. शर्कराबालकादिषु । ३. किन्नरकिंपुरुषादिषु । ४. असुरनागादिषु । ५. 'छसु हेट्ठिमासु पुढवीसु जोइस-वण-भवण-सव्वइत्थीसु । बारसमिच्छावादे सम्माइट्ठिस्स णत्थि उववादो ॥१९३॥' —पञ्चसंग्रह पृ० ४१ ।

संपादयति कंचित्कालमुपलभ्यात्मनश्चावींचारित्रे, साधुसंपादनसारः संस्कार इव [1] बीजेषु जन्मान्तरेऽपि न जहात्यात्मनोऽनुवृत्तिम्, सिद्धश्चिन्तामणिरिव च फलत्यसीमं कामितानि। व्रतानि पुनरोषधय इव फलपाकावसानानि पाथेयवन्नियतवृत्तीनि च। न च सिद्धरस-वेधसंबन्धात् [2] बुधंबु [3] धसंनिधानमात्रजन्मनि जाम्बु [3] नद इवात्र पदार्थयाथात्म्यसमवगमान्मनो-मननमात्रतन्त्रे निःशेषश्रुतश्रवणपरिश्रमः समाश्रयणीयः, न शरीरमायासयितव्यम्, न देशा-न्तरमनुसरणीयम्, नापि कालक्षेपकुक्षिरपेक्षितव्यः। तस्मादधिष्ठानमिव प्रासादस्य, सौभाग्यमिव रूपसंसदः, [4] प्राणितमिव भोगायतनोपचारस्य, मूलबलमिव विजयप्राप्तेः, विनीतत्वमिवाभिजात्यस्य, नयानुष्ठानमिव राज्यस्थितेरखिलस्यापि परलोकोदाहरस्य [6] सम्य-क्त्वमेव ननु प्रथमं कारणं गृणन्ति गरीयांसः। तस्य चेदं लक्षणम्—

आप्तागमपदार्थानां श्रद्धानं कारणद्वयात् ।
मूढाद्यपोढमष्टाङ्गं सम्यक्त्वं प्रशमादिभाक् ॥४८॥

न्द्रियोंमें, पृथिवीकाय, जलकाय, तैजसकाय, वायुकाय और वनस्पतिकायमें जन्म नहीं होने देता। संसारको सान्त कर देता है। कुछ समयके पश्चात् उस आत्माके सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अवश्य प्रकट हो जाते हैं। जैसे, बीजोंमें अच्छी तरहसे किया गया संस्कार बीजोंकी वृक्षरूप पर्यायान्तर होनेपर भी वर्तमान रहता है, उसी तरह सम्यक्त्व जन्मान्तरमें भी आत्माका अनुसरण करता है, उसे छोड़ता नहीं है। सिद्ध चिन्तामणिके समान असीम मनोरथोंको पूर्ण करता है। व्रत तो ओषधि वृक्षोंकी तरह (जो वृक्ष फलोंके पकनेके बाद नष्ट हो जाते हैं उन्हें ओषधि वृक्ष कहते हैं) मोक्षरूपी फलके पकने तक ही ठहरते हैं तथा कलेवाकी तरह नियत कालतक ही रहते हैं। (किन्तु सम्यक्त्व ऐसा नहीं है) पारे और अग्निके संयोगमात्रसे उत्पन्न होनेवाले स्वर्णकी तरह, पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको जानकर उनमें मनको लगाने मात्रसे प्रकट होनेवाले सम्यक्त्वके लिए न तो समस्त श्रुतको सुननेका परिश्रम ही करना आवश्यक है, न शरीरको ही कष्ट देना चाहिए, न देशान्तरमें भटकना चाहिए और न कालकी ही अपेक्षा करनी चाहिए। अर्थात् सम्यक्त्वके लिए किसी कालविशेष या देश-विशेषकी आवश्यकता नहीं है। सब देशों और सब कालोंमें वह हो सकता है। इसलिए जैसे नींवको महलका, सौभाग्यको रूप सम्पदाका, जीवनको शारीरिक सुखका, मूल बलको विजयका, विनम्रताको कुलीनताका, और नीति पालनको राज्यकी स्थिरताका मूल कारण माना जाता है वैसे ही महात्मागण सम्यक्त्वको ही समस्त पारलौकिक अभ्युन्नतिका अथवा मोक्षका प्रथम कारण कहते हैं। उस सम्यक्त्वका लक्षण इस प्रकार है—

सम्यग्दर्शनका लक्षण

अन्तरंग और बहिरंग कारणोंके मिलनेपर आप्त (देव), शास्त्र और पदार्थोंका तीन मूढता रहित, आठ अङ्ग सहित जो श्रद्धान होता है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं, यह सम्यग्दर्शन प्रशम संवेग आदि गुणवाला होता है ॥४८॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व अन्तरंग और बहिरंग कारणोंके मिलनेपर प्रकट होता है।

---

१. जीवेषु मु०। २. अग्नि। ३. सुवर्ण। ४. जीवितं। ५. शरीर। ६.-हरणस्य मु०। ७. तुलना—'श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्। त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥३॥—रत्नकरण्डश्रा०।

इसका अन्तरंग कारण तो दर्शन मोहनीय कर्मका उपशम क्षय अथवा क्षयोपशम है। मोहनीय कर्मके भेदोंमेंसे दर्शन मोहनीय कर्म सम्यक्त्व गुणका घातक है। जबतक इस कर्मका उदय रहता है तबतक सम्यक्त्वगुण प्रकट नहीं होता। जब उस कर्मका उपशम कर दिया जाता है अर्थात् कुछ समयके लिए उसे इस योग्य कर दिया जाता है कि वह अपना फल नहीं दे सकता तब जीवके प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्रकट होता है। इसके प्रकट होते ही जीवकी अन्तर्दृष्टिमें ऐसी निर्मलता आजाती है कि वह अपने सच्चे हित और सच्चे हितकारीको पहचाननेमें भूल नहीं करता। सच्चा देव कौन है, सच्चे शास्त्र कौन हैं और सच्चे तत्त्व कौन हैं, इसकी उसे परख हो जाती है और उनपर वह ऐसी दृढ़ आस्था रखता है कि कोई उसे उसकी आस्थासे विचलित नहीं कर सकता। साथ-साथ सम्यक्त्वके प्रभावसे उसके अन्दर प्रशम आदि अनेक गुण प्रकट होते हैं। काम क्रोधादि विकारोंसे उसकी रुचि हट जाती है। जो उसको हानि पहुँचाते हैं उन जीवोंको भी सतानेके उसके भाव नहीं होते। यह प्रशम गुण कहलाता है। धर्माचरण करनेमें उसे खूब उत्साह रहता है और जो अन्य धर्मात्मा होते हैं उनसे वह खूब प्रेम करता है। यह संवेग गुण कहलाता है। सब जीवोंसे वह मित्रकी तरह व्यवहार करता है। इसे अनुकम्पा कहते हैं। जीव एक स्वतः सिद्ध पदार्थ है। वह अनादिकालसे कर्मोंसे बद्ध है। वह उनका कर्ता भी है और भोक्ता भी है। और जब वह उन कर्मोंको नष्ट कर देता है तो मुक्त हो जाता है इस तरहका उसे विश्वास रहता है। इसे आस्तिक्य कहते हैं। असलमें सम्यक्त्व आत्माका गुण है, और वह गुण दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे अनादिकालसे मिथ्यारूप हो रहा है। उसके मिथ्यारूप होनेसे जीवकी रुचि विषय भोग वगैरह बुरे कामोंमें तो लगती है, किन्तु जिनसे उसका सच्चा और स्थायी कल्याण होता है उन कार्योंमें या कार्योंका उपदेश देनेवालोंमें नहीं होती। जब काललब्धि वगैरहका योग मिल जाता है और संसार समुद्रका किनारा करीब आनेको होता है तब विना प्रयत्न किये ही अन्तर्मुहूर्तके लिए दर्शन मोहनीय कर्मका उपशम हो जानेसे उपशम सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है। इसमें बाह्य निमित्त अनेक होते हैं। किन्हींको जिन बिम्बके दर्शनसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। किन्हींको जिन भगवान्की महिमाके देखनेसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। किन्हींको जैन धर्मका उपदेश सुननेसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। किन्हीं देवताओंको अन्य देवताओंका ऐश्वर्य देखकर और उसे धर्मका फल समझनेसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। किन्हींको पूर्वजन्मका स्मरण हो जानेसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है और किन्हीं नारकी वगैरहको कष्ट भोगनेसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। अन्य भी अनेक बाह्य कारण शास्त्रोंमें बतलाये हैं। इन अन्तरंग और बाह्य कारणोंके मिलनेपर सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है। जैसे शराब या धतूरेके नशेसे बेहोश मनुष्यका जब नशा उतर जाता है तो उसे जैसा होश होता है, वैसे ही दर्शन मोहनीयके उदयसे जीवमें एक विचित्र प्रकारका नशा-सा छाया रहता है, जिससे उसे बराबर बुद्धिभ्रम बना रहता है। अनेक शास्त्रोंका पण्डित हो जानेपर भी उसकी बुद्धिका भ्रम दूर नहीं होता। किन्तु जैसे ही दर्शन मोहका उदय शान्त हो जाता है वसे ही उसका वह बुद्धि भ्रम हट जाता है और उसकी दृष्टि ठीक दिशामें लग जाती है। इसीसे उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। सम्यग्दर्शनके विषयभूत देव आप्त वगैरहका तथा आठ अंगोंका स्वरूप आगे ग्रन्थकार स्वयं बतलायेंगे।

सर्वज्ञं सर्वलोकेशं सर्वदोषविवर्जितम् ।
सर्वसत्त्वहितं प्राहुराप्तमाप्तमतोचिताः ॥४९॥
[1]ज्ञानवान्मृग्यते कश्चित्तदुक्तप्रतिपत्तये ।
अज्ञोपदेशकरणे विप्रलम्भनशङ्किभिः ॥५०॥
यस्तत्त्वदेशनाद् दुःखवार्धेरुद्धरते जगत् ।
कथं न सर्वलोकेशः प्रह्वीभूतजगत्त्रयः ॥५१॥
क्षुत्पिपासाभयं[2] द्वेषश्चिन्तनं मूढतागमः ।
रागो जरा रुजा मृत्युः क्रोधः खेदो मदो रतिः ॥५२॥
विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवाः ।
त्रिजगत्सर्वभूतानां दोषाः साधारणा इमे ॥५३॥
एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः ।
स एव हेतुः सूक्तीनां केवलज्ञानलोचनः ॥५४॥
[3]रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् ।
यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं नास्ति ॥५५॥

आप्तका स्वरूप

जो सर्वज्ञ है, समस्त लोकोंका स्वामी है, सब दोषोंसे रहित है और सब जीवोंका हितू है, उसे आप्त कहते हैं। चूंकि यदि अज्ञ मनुष्य उपदेश दे तो उससे ठगाये जानेकी शंका रहती है, इसलिए मनुष्य उपदेशके लिए ज्ञानी पुरुषकी ही खोज करते हैं, क्योंकि उसके द्वारा कही गई बातोंपर विश्वास करनेके लिए किसी ज्ञानीको ही खोजा जाता है ॥४९-५०॥

[ऊपर आप्तको समस्त लोकोंका स्वामी बतलाया है। किन्तु जैनधर्ममें आप्तको न तो ईश्वर की तरह जगत्का कर्ता हर्ता माना गया है और न उसे सुख-दुःखका देनेवाला ही माना गया है। ऐसी स्थितिमें यह शङ्का होना स्वाभाविक है कि आप्तको सब लोगोंका स्वामी क्यों बतलाया? इसी बातको मनमें रखकर ग्रन्थकार कहते हैं—]

जो तत्त्वों का उपदेश देकर दुःखोंके समुद्रसे जगत्का उद्धार करता है, अत एव कृतज्ञतावश तीनों लोक जिसके चरणोंमें नत हो जाते हैं, वह सर्वलोकोंका स्वामी क्यों नहीं है? ॥५१॥

भूख, प्यास, भय, द्वेष, चिन्ता, मोह, राग, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, क्रोध, खेद, मद, रति, आश्चर्य, जन्म, निद्रा और खेद ये अठारह दोष संसारके सभी प्राणियोंमें पाये जाते हैं। जो इन दोषोंसे रहित है वही आप्त है। उसकी आँखे केवल ज्ञान है उसीके द्वारा वह चराचर विश्वको जानता है तथा वही सदुपदेशका दाता है। वह जो कुछ कहता है सत्य कहता है, क्योंकि रागसे, द्वेषसे या मोहसे झूठ बोला जाता है। किन्तु जिसमें ये तीनों दोष नहीं हैं, उसके झूठ बोलनेका कोई कारण नहीं है ॥५२-५५॥

---

१. यह श्लोक धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक (१–३२) का है। २. "क्षुधा तृषा भयं द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम्। जरा रुजा च मृत्युश्च स्वेदः खेदो मदो रतिः ॥१५॥ विस्मयो जननं निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवाः। त्रिजगत् सर्वभूतानां दोषाः साधारणा इमे ॥१६॥ एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः। विद्यन्ते येषु ते नित्यं तेऽत्र संसारिणः स्मृताः ॥१७॥"—आप्तस्व०। ३. आप्तस्वरूप—श्लो० ४।

उच्चा[1]वचप्रसूतीनां सत्त्वानां सदृशाकृतिः ।
य आदर्श इवाभाति स एव जगतां पतिः ॥५६॥
यस्यात्मनि श्रुते तत्त्वे चारित्रे मुक्तिकारणे ।
एकवाक्यतया वृत्तिराप्तः सोऽनुमतः सताम् ॥५७॥
अत्यक्षे[2]ऽप्यागमात्पुंसि विशिष्टत्वं प्रतीयते ।
उद्यानमध्यवृत्तीनां ध्वनेरिव नगौकसाम्[3] ॥५८॥
स्वगुणैः श्लाघ्यतां याति स्वदोषैर्दूष्यतां जनः ।
रोषतोषौ वृथा तत्र कलधौतायसोरिव[4] ॥५९॥
द्रुहिणा[5]धोक्षजेशानशाक्यसूरपुरःसराः ।
यदि रागाद्यधिष्ठानं कथं तत्राप्तता भवेत् ॥६०॥
रागादिदोषसंभूतिर्ज्ञेयामीषु तदागमात्[6] ।
असतः परदोषस्य गृहीतौ पातकं महत् ॥६१॥
अजस्तिलोत्तमाचित्तः श्रीरतः श्रीपतिः स्मृतः ।
अर्धनारीश्वरः शंभुस्तथाप्येषां किलाप्तता ॥६२॥
वसुदेवः पिता यस्य सवित्री देवकी हरेः ।
स्वयं च राजधर्मस्थश्चित्रं देवस्तथापि सः ॥६३॥

विविध प्रकारके प्राणियोंको शकल-सूरत समान होती है । किन्तु उनमेंसे जिसका आत्मा दर्पणके समान स्वच्छ हो वही जगत्‌का स्वामी है ॥५६॥

जिसकी आत्मामें, श्रुतिमें, तत्त्वमें और मुक्तिके कारणभूत चारित्रमें एकवाक्यता पाई जाती है अर्थात् जो जैसा कहता है वैसा ही स्वयं आचरण करता है और वैसी ही तत्त्वव्यवस्था भी उपलब्ध होती है , उसे सज्जन पुरुष आप्त मानते हैं ॥५७॥

[*इस पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि जिन पुरुषोंको आप्त माना जाता है वे तो गुजर चुके । हम कैसे जानें कि वे आप्त थे ? इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—*]

अतीन्द्रिय पुरुषकी विशिष्टता उसके द्वारा उपदिष्ट आगमसे जानी जाती है । जैसे , बगीचेमें रहने वाले पक्षियोंकी आवाज से उनकी विशिष्टताका भान होता है । अर्थात् पक्षियोंको विना देखे भी जैसे उनकी आवाजसे उनकी पहचान हो जाती है, वैसे ही आप्त पुरुषोंको बिना देखे भी उनके शास्त्रोंसे उनकी आप्तताका पता चल जाता है ॥५८॥

चाँदी और लोहकी तरह मनुष्य अपने ही गुणोंसे प्रशंसा पाता है और अपने ही दोषोंसे बदनामी उठाता है । इसमें रोष और तोष करना अर्थात् अपने आप्तकी प्रशंसा सुनकर हर्षित होना और निन्दा सुनकर क्रुद्ध होना व्यर्थ है ॥५९॥

ब्रह्मा, विष्णु, महेश, बुद्ध और सूर्य वगैरह देवता यदि रागादिक दोषोंसे युक्त हैं तो वे आप्त कैसे हो सकते हैं ? और वे रागादि दोषोंसे युक्त हैं यह बात उनके शास्त्रोंसे ही जाननी चाहिए,क्योंकि जिसमें जो दोष नहीं है उसमें उस दोषको माननेमें बड़ा पाप है ॥६०–६१॥ देखो, ब्रह्मा तिलोत्तमामें आसक्त हैं, विष्णु लक्ष्मीमें लीन हैं और महेश तो अर्धनारीश्वर प्रसिद्ध

---

१. 'उच्चावचं नैकभेदम्' इत्यमरः । २. परोक्षेऽपि नरे । ३. यथा पक्षिणां परोक्षेऽपि शब्दात् विशिष्टत्वं ज्ञायते । ४. सुवर्णलोहयोरिव । ५. ब्रह्म-हरि-हर-बुद्ध-सूर्यादयः । ६. तस्य तस्य शास्त्रात् ।

त्रैलोक्यं जठरे यस्य यश्च सर्वत्र विद्यते ।
किमुत्पत्तिविपत्ती स्तां कचित्तस्येति चिन्त्यताम् ॥६४॥
कपर्दी दोषवानेष निःशरीरः सदाशिवः ।
अप्रामाण्यादशक्तेश्च कथं तत्रागमागमः ॥६५॥[1]
परस्परविरुद्धार्थमीश्वरः पञ्चभिर्मुखैः ।
शास्त्रं शास्ति भवेत्तत्र कतमार्थविनिश्चयः ॥६६॥
सदाशिवकला रुद्रे यद्यायाति युगे युगे ।
कथं स्वरूपभेदः स्यात्काञ्चनस्य कलास्विव ॥६७॥

ही हैं। आश्चर्य है, फिर भी इन्हें आप्त माना जाता है। विष्णुके पिता वसुदेव थे, माता देवकी थी, और वे स्वयं राजधर्मका पालन करते थे। आश्चर्य है, फिर भी वे देव माने जाते हैं। सोचनेकी बात है कि जिस विष्णुके उदरमें तीनों लोक बसते हैं और जो सर्वव्यापी है, उसका जन्म और मृत्यु कैसे हो सकते हैं? ॥६०-६४॥

महेशको अशरीरी और सदाशिव मानते हैं, और वह दोषोंसे भी युक्त है। ऐसी अवस्थामें न तो वह प्रमाण माना जा सकता है और न वह कुछ उपदेश ही दे सकता है; क्योंकि वह दोषयुक्त है और शरीरसे रहित है। तब उससे आगमकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है?, जब शिव पाँच मुखोंसे परस्परमें विरुद्ध शास्त्रोंका उपदेश देता है तो उनमेंसे किसी एक अर्थ का निश्चय करना कैसे संभव है ॥६५-६६॥

कहा जाता है कि प्रत्येक युगमें रुद्रमें सदाशिवकी कला अवतरित होती है। किन्तु जैसे सुवर्ण और उसके टुकड़ोंमें कोई भेद नहीं किया जा सकता, वैसे ही अशरीरी सदाशिव और सशरीर रुद्रमें कैसे स्वरूपभेद हो सकता है ॥६७॥

भावार्थ—शिव या रुद्रकी उपासना वैदिक कालसे भी पूर्वसे प्रचलित बतलाई जाती है। शैवोंके चार विभिन्न सम्प्रदाय हैं—शैव, पाशुपत, कालमुख और कापालिक। इन्हींके मूल ग्रन्थोंको शैवागमके नामसे पुकारते हैं। इन शैव मतोंका प्रचार भिन्न-भिन्न प्रान्तोंमें था। शैव सिद्धान्तका प्रचार तमिल देशमें और वीर शैव मतका प्रचार कर्नाटक प्रान्तमें था। पाशुपत मतका केन्द्र गुजरात और राजपूताना था। कहा जाता है कि शिवने अपने भक्तोंके उद्धारके लिए अपने पाँच मुखोंसे २८ तंत्रोंका आविर्भाव किया। इनमें १० तंत्र द्वैतमूलक हैं और १८ द्वैताद्वैत प्रधान हैं। देवताके स्वरूप, गुण, कर्म आदिका जिसमें चिन्तन हो तद्विषयक मंत्रोंका उद्धार किया गया हो, उन मंत्रोंको यंत्रमें रखकर देवताका ध्यान तथा उपासनाके पाँचों अंग व्यवस्थित रूपसे दिखलाये गये हों, उन ग्रन्थोंको तंत्र कहते हैं। तंत्रोंकी विशेषता क्रिया है। तांत्रिक आचार एक रहस्यपूर्ण व्यापार है। गुरुके द्वारा दीक्षा ग्रहण करनेके समय ही शिष्यको इसका रहस्य समझाया जाता है। शैव सिद्धान्तमें चार पाद हैं—विद्यापाद, क्रियापाद, योगपाद और चर्यापाद। इनमेंसे अन्तके तीन पाद क्रियापरक हैं और विद्यापाद

१. यो रागादि दोषवान् संसारी शिवः स तावदप्रमाणं, तत्कृत आगमोऽपि प्रमाणं न भवति। यस्तु सदाशिवः स आगमं कर्तुमशक्तः जिह्वाकण्ठाद्युपकरणाभावात्। पद्मचन्द्र कोषमें आगमका अर्थ करते हुए एक श्लोक दिया है—आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरजाश्रुतौ। मतं च वासुदेवस्य तस्मादागममुच्यते॥ अर्थात्—शिवजीके मुखसे आया, पार्वतीके कानमें गया, विष्णुजीने मान लिया, इसीलिए आगम हुआ।

भैक्ष्यं[1] नर्तननग्नत्वं पुरत्रयविलोपनम् ।
ब्रह्महत्याकपालित्वमेताः क्रीडाः किलेश्वरे ॥६८॥

तत्त्वज्ञानसे सम्बन्ध रखता है। विद्या अर्थात् ज्ञानके तीन विषय हैं—(१) पति अर्थात् स्वतंत्र शिव अथवा परमेश्वर तत्त्व, (२) पशु अर्थात् परतंत्र जीव और (३) पाश अर्थात् बन्धके कारण। मुक्त जीव भी परमेश्वरके परतंत्र रहते हैं। यद्यपि पशुओंकी अपेक्षा उनमें स्वतंत्रता रहती है फिर भी वे परमेश्वरके प्रसादसे ही मुक्ति लाभ करनेमें समर्थ होते हैं, इसलिए वे शिवके परतंत्र हैं। शिव नित्य मुक्त है। उसका शरीर पञ्चमंत्रात्मक है। वह पाँच मुखोंके द्वारा पाँच आम्नायोंका प्रवर्तन कर्ता है। इसी बातको लेकर ग्रन्थकारने ऊपर शैवमतकी आलोचना की है। जब शिवको उपास्य और उपासक रूपसे क्रीड़ा करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है तब परम शिवमें कम्पन उत्पन्न होता है और उससे वह दो रूप हो जाता है—चैतन्यात्मक रूपका नाम शिव और दूसरे अंशका नाम जीव होता है। शैव सिद्धान्तके अनुसार शिव, शक्ति और बिन्दु ये तीन रत्न माने जाते हैं। ये ही समस्त तत्त्वोंके अधिष्ठाता हैं। शुद्ध जगत्का कर्ता शिव, करण शक्ति और उपादान बिन्दु है। शक्ति परम शिवसे अभिन्न होकर रहनेवाला विशेषण है। न तो शिव शक्तिसे भिन्न है न शक्ति शिवसे भिन्न है। शक्तिके क्षोभ मात्रसे परम शिवके दो रूप हो जाते हैं एक उपास्य रूप, जिसका नाम है लिंग (शिव) और दूसरा उपासक रूप, जिसका नाम है 'अंग' (जीव)। परम शिवकी द्विरूपताके समान शक्तिमें भी दो रूप उत्पन्न होते हैं, लिंगकी शक्तिका नाम 'कला' है जो प्रवृत्ति उत्पन्न करती है। कला शक्तिसे जगत् परमशिवसे प्रकट होता है। सदाशिवकी यह कला रुद्रोंमें अवतरित होती है जो भिन्न भिन्न रूपवाले होते हैं।

भिक्षा माँगना, नाचना, नग्न होना, त्रिपुरको भस्म करना, ब्रह्म हत्या करना और हाथमें खप्पर रखना ये सदाशिव ईश्वरकी क्रीड़ायें हैं ॥६८॥

भावार्थ—शिवका हाथमें खप्पर लेकर भिक्षा माँगना, नंगे घूमना और ताण्डव नृत्य करना तो प्रसिद्ध ही है। शिवकी उपासना भी इसी प्रकारसे की जाती है। साधकको महेश्वरकी पूजाके समय हँसना, गाना, नाचना, जीभ और तालुके संयोगसे बैलकी आवाजके समान हुड़हुड़ शब्द करना होता है। इसीके साथ भस्मस्नान, भस्मशयन, जप और प्रदक्षिणाको पंचविध व्रत कहते हैं। ये सब कार्य शिवको बहुत प्रिय बतलाये जाते हैं। त्रिपुरको भस्म करनेकी कथा निम्न प्रकार है—एक बार इन्द्रके साथ सब देवता महेश्वरके पास आये और कहने लगे कि बाण नामका एक दानव है उसका त्रिपुर नामका नगर है। उससे डरकर हम आपकी शरणमें आये हैं, आप हमारी रक्षा करें। शिवजीने उन्हें रक्षाका आश्वासन दिया और यह विचारने लगे कि त्रिपुरको कैसे नष्ट करना चाहिये। शिवजीने नारदजीको बुलाया और उनसे कहा कि हे नारद ! तुम दानवेन्द्र बाणके त्रिपुर नगरको जाओ। वहाँकी स्त्रियोंके तेजसे वह नगर आकाशमें डोलता है। तुम वहाँ जाकर उनकी बुद्धि विपरीत करदो। नारदने वहाँ जाकर अपने मिथ्या उपदेशसे वहाँकी स्त्रियोंका मन पतिव्रत धर्मसे विचलित कर दिया। इससे उनका तेज जाता रहा और पुरमें छिद्र होगया। तब शिवजीने त्रिपुरको अपने बाणसे जला डाला। इसके जलनेका दर्दनाक

१. भिक्षा।

सिद्धान्तेऽन्यत्प्रमाणेऽन्यदन्यत्काव्येऽन्यदीहिते ।
तत्त्वमाप्तस्वरूपं च विचित्रं शैवदर्शनम् ॥६६॥
एकान्तः शपथश्चैव वृथा तत्त्वपरिग्रहे ।
सन्तस्तत्त्वं न हीच्छन्ति परप्रत्ययमात्रतः ॥७०॥
दाहच्छेदकषाऽशुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया ।
दाहच्छेदकषाशुद्धे हेम्नि का शपथक्रिया ॥७१॥
यद्दृष्टमनुमानं च प्रतीतिं लौकिकीं भजेत् ।
तदाहुः सुविदस्तत्त्वं रहः कुहकवर्जितम् ॥७२॥

चित्रण मत्स्य पुराणमें है । ब्रह्महत्याकी कथा इस प्रकार है—ब्रह्माके गर्दभकी तरह पाँचवाँ मुख था । जब दैत्य लोग देवोंसे डरकर भागने लगे तो ब्रह्माने कहा—'क्यों डरकर भागते हो ? मैं सब सुरोंको खा डालूँगा ।' इससे डरकर देवतागण विष्णुकी शरणमें पहुँचे और उनसे प्रार्थना की कि आप ब्रह्माका मुख काट डालें । विष्णु बोले—'यदि मैं ब्रह्माका मुख काट डालूँगा तो उसी समय वह कटा सिर सचराचर जगतका संहार कर डालेगा । तुम शिवजीके पास जाओ । देवता शिवजीके पास गये और शिवजीने अपने नखोंसे ब्रह्माके उस पाँचवें मुखको काट डाला । इसपर ब्रह्माने कहा—तुमने बिना किसी अपराधके मेरा सिर काटा है, मैं तुम्हें शाप देता हूँ तुम ब्रह्महत्यासे पीड़ित होकर भूतलपर हाथमें खप्पर लेकर भटकते फिरोगे । इस शापसे शिवजी हाथमें खप्पर लेकर घूमने लगे । एक दिन वे नारायणके पास भिक्षाके लिए गये । विष्णुने अपने नखोंसे अपने पार्श्वको चीर डाला और रक्तकी बड़ी भारी धारा बह निकली किन्तु खप्पर नहीं भरा । जब विष्णुने इसका कारण पूछा तब शिवजीने ब्रह्महत्या करनेका सब हाल उनसे कहा और बोले कि मैं जहाँ-जहाँ जाता हूँ वहाँ यह कपाल मेरे साथ जाता है । तब विष्णु बोले—तुम स्थान-स्थानपर जाकर ब्रह्माकी इच्छा पूर्ण करो । उसके तेजसे यह कपाल ठहर जायेगा । तब शिवजीने वैसा ही किया और विष्णुके प्रसादसे वह कपाल सहस्र खण्ड होकर फूट गया । और शिवजी ब्रह्महत्याके पापसे मुक्त होगये ।' इस तरहकी बातें किसी ईश्वरमें कैसे पाई जा सकती हैं ।

शैवदर्शनमें तत्त्व और आप्तका स्वरूप सिद्धान्त रूपमें कुछ अन्य है, प्रमाणित कुछ अन्य किया जाता है, काव्यमें कुछ अन्य है और व्यवहारमें कुछ अन्य है । शैवदर्शन भी बड़ा विचित्र है ॥६९॥

तत्त्वको स्वीकार करनेमें एकान्त और कसम खाना दोनों ही व्यर्थ हैं । विवेकशील पुरुष दूसरोंपर विश्वास करके तत्त्वको स्वीकार नहीं करते ॥ तपाने, काटने और कसौटीपर घिसनेसे जो सोना अशुद्ध ठहरता है, उसके लिए कसम खाना बेकार है । तथा तपाने, काटने और कसौटीपर घिसनेसे जो सोना खरा निकलता है उसके लिए कसम खानेसे क्या लाभ ? जो प्रत्यक्ष, अनुमान और लौकिक अनुभवसे ठीक प्रमाणित होता है, और गोप्यता तथा माया छलसे रहित होता है विद्वान लोग उसीको यथार्थ तत्त्व मानते हैं ॥७०-७२॥

[इस प्रकार शैव मतकी आलोचना करके ग्रन्थकार शाक्त मतकी आलोचना करते हैं । यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि शैवदर्शन और शाक्तदर्शनका पारस्परिक सम्बन्ध आत्मा और शरीर जैसा है । दोनोंके सिद्धान्त लगभग मिलते हुए हैं । शैवदर्शनमें पूर्ण शिवभावको प्रकट करनेके तीन उपाय बतलाये हैं—१ शांभव उपाय—इसमें पूर्ण अनुभवी गुरुसे दीक्षा ली जाती है और उसीसे

निर्बीजतेव तन्त्रेण यदि स्यान्मुक्तताङ्गिनि ।
बीजवत्पावकस्पर्शः प्रणेयो मोक्षकांक्षिणि ॥७३॥
विषसामर्थ्यवन्मन्त्रात्क्षयश्चेदिह कर्मणः ।
तर्हि तन्मन्त्रमान्यस्य न स्युर्दोषा भवोद्भवाः ॥७४॥
ग्रहगोत्रगतोऽप्येष पूषा पूज्यो न चन्द्रमाः ।
अविचारिततत्त्वस्य जन्तोर्वृत्तिर्निरङ्कुशा ॥७५॥
द्वताद्वैताश्रयः शाक्यः शंकरानुकृतागमः ।
कथं मनीषिभिर्मान्यस्तरसासवशक्तधी ॥७६॥

अथैवं प्रत्यवतिष्ठासवो[2]—भवतां समये किल मनुजः सज्ञातो भवति तस्य चासतातीव दुर्घटा संप्रति संजातजनवद्,भवतु वा, तथापि मनुष्यस्याभिलषिततत्त्वावबोधो न स्वतस्तथा-

स्वरूपका भान प्रकट होता है । २ शाक्त उपाय—इसमें दीक्षाके क्रमसे प्राप्त हुए मंत्रकी भावनाके द्वारा सिद्धि करके स्वरूपका भान करनेका क्रम बतलाया है । ३ आणव उपाय—इसमें बद्ध जीवका दीक्षा क्रमके द्वारा शोधन करके जप, होम, पूजन, ध्यान वगैरह क्रियाकाण्डके द्वारा स्वरूपका भान करनेकी पद्धति होती है । इन तीन उपायोंमेंसे दूसरे और तीसरे उपायका वर्णन करनेमें शैवदर्शन शाक्तदर्शन रूप ही पड़ता है । शाक्तदर्शनका मुख्य प्रयोजन शब्द ब्रह्मको ज्ञानकी मर्यादामें लाना है । इसमें यन्त्र तन्त्र और मंत्रकी बहुतायत होती है । इष्टदेवताके स्वरूपको मर्यादामें अंकित करनेवाली बाह्य आकृतिको यंत्र कहते हैं । उस देवताके नाम, रूप, गुण और कर्मको लेकर पूजन वगैरहकी पद्धतिका वर्णन करनेवाले शास्त्रको तन्त्र कहते हैं और उसके रहस्यके बोधक शब्दोंको मंत्र कहते हैं । यहाँ ग्रन्थकार तन्त्र मंत्रसे मुक्ति होनेके विचारकी आलोचना करते हैं—यहाँ इतना और बतला देना आवश्यक है कि तंत्र साधनामें स्त्री एक आवश्यक साधन माना जाता है । और मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन इन पाँच मकारोंका सेवन भी किया जाता है ।]

जैसे अग्निके स्पर्शसे बीज निर्बीज हो जाता है उसमें उत्पादन शक्ति नहीं रहती, वैसे ही यदि तंत्रके प्रयोगसे ही प्राणीकी मुक्ति हो जाती है तो मुक्ति चाहनेवाले मनुष्यको भी आगका स्पर्श करा देना चाहिए जिससे बीजकी तरह वह भी जन्म मरणके चक्रसे छूट जाये ॥७३॥

जैसे, मंत्रके द्वारा विषकी मारणशक्तिको नष्ट कर दिया जाता है, वैसे ही मंत्रके द्वारा यदि कर्मोंका भी क्षय हो जाता है तो उन मंत्रोंके जो मान्य हैं उनमें सासांरिक दोष नहीं पाये जाने चाहिये ॥७४॥

[इस प्रकार शाक्त मतकी आलोचना करके ग्रन्थकार सूर्य पूजाकी आलोचना करते हैं]

ग्रहोंके कुलका होनेपर भी यह सूर्य तो पूज्य है और चन्द्रमा पूज्य नहीं है ? ठीक ही है जिस जीवने तत्त्वका विचार नहीं किया, उसकी वृत्ति निरंकुश होती है ॥७५॥

[अब बौद्ध मतकी आलोचना करते हैं]

बौद्धमत एक ओर द्वैतवादी है अर्थात् संयम और भक्ष्याभक्ष्य आदिका विचार करता है और दूसरी ओर अद्वैतवादी है, अर्थात् सर्व कुछ सेवन करनेकी छूट देता है । उसीके आगमका अनुकरण शंकराचार्यने किया है । ऐसा मद्य और मांसका प्रेमी मत बुद्धिमानोंके द्वारा मान्य कैसे हो सकता है ? ॥७६॥

---

१. 'गम्यागम्ययोः प्रवृत्तिपरिहारबुद्धिः द्वैतम् । सर्वत्र प्रवृत्तिनिरङ्कुशत्वमद्वैतम्' ।
२. पूर्वपक्षचिकीर्षवः ।

दर्शनाभावात्। परश्चेत्कोऽसौ परः? तीर्थकरोऽन्यो वा? तीर्थकरश्चेत्तत्राप्येवं पर्यनुयोगो प्रकृतमनुबन्धे। तस्मादनवस्था। तदभावमाप्तसद्भावं च वाञ्छद्भिः सदाशिवः शिवापतिर्वा तस्य तत्त्वोपदेशकः प्रतिश्रोतव्यः। तदाह पतञ्जलिः—"*स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।*" **तथा हि।**

> *अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात्परमकारणात्।*
> *नादरूपं समुत्पन्नं शास्त्रं परमदुर्लभम्"* ॥७७॥

तथाप्तेनैकेन भवितव्यम्। न ह्याप्तानामितरप्राणिवद् गणः समस्ति, संभवे वा चतुर्विंशतिरिति नियमः कौतस्कुत इति वन्ध्यास्तनंधयधैर्यव्यावर्णनमुदीर्णमोहार्णवविलयनं च परेषाम्। यतः—

> *वक्ता नैव सदाशिवो विकरणस्तस्मात्परो रागवान्-*
> *द्वैविध्यादपरं तृतीयमिति चेत्तत्कस्य हेतोरभूत्।*
> *शक्त्या चेत्परकीयया कथमसौ तद्वाचसंबन्धतः*
> *संबन्धोऽपि न जाघटीति भवतां शास्त्रं निरालम्बनम्* ॥७८॥

[इस प्रकार अन्य मतोंकी समीक्षा करनेपर उन मतोंके अनुयायी कहते हैं—]

आप जैनोंके आगममें मनुष्यको आप्त माना है। किन्तु उसका आप्तपना किसी भी तरह नहीं बनता। आज भी लाखों करोड़ों मनुष्य वर्तमान हैं, किन्तु उनमें कोई भी आप्त नहीं देखा जाता। यदि किसी तरह मनुष्यको आप्त मान भी लिया जाये तो उसे इष्ट तत्त्वका ज्ञान स्वयं तो नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा नहीं देखा जाता। यदि दूसरेसे ऐसा ज्ञान होता है तो वह दूसरा कौन है? तीर्थंकर है या अन्य कोई है? यदि तीर्थंकर है तो उसमें भी यही प्रश्न पैदा होता है। यदि तीर्थंकरको इष्ट तत्त्वका ज्ञान किसी तीसरेके द्वारा होता है तो उस तीसरेको इष्ट तत्त्वका ज्ञान चौथेके द्वारा होगा और चौथेको इष्ट तत्त्वका ज्ञान पाँचवेंके द्वारा होगा। इस तरह अनवस्था दोष आजाता है। अतः यदि अनवस्था दोषसे बचना चाहते हैं और साथ ही साथ आप्तका सद्भाव भी चाहते हैं तो तत्त्वके उपदेष्टा सदाशिव पार्वतीपतिको ही मानना चाहिये। पतञ्जलि ऋषिने भी कहा है—'वह पहलोंके भी गुरु हैं, क्योंकि कालके द्वारा उनका नाश नहीं होता। और भी कहा है—"अशरीरी, शान्त और परम कारण शिवसे परमदुर्लभ नादरूप शास्त्रकी उत्पत्ति हुई॥७७॥

तथा आप्त एक ही होना चाहिये। अन्य प्राणियोंके समूहकी तरह आप्तोंका समूह तो होता नहीं है। और यदि हो भी तो चौबीस संख्याका नियम कहाँसे आया?'

इस प्रकार दूसरे मतवालोंका उक्त कथन बन्ध्याके पुत्रके धैर्यकी प्रशंसा करनेके तुल्य व्यर्थ है, वे महान् मोहके समुद्रमें डूबे हुए हैं, क्योंकि—

सदाशिव अशरीरी है अतः वह वक्ता नहीं हो सकता। और शिव यद्यपि सशरीर हैं मगर वह रागी हैं—पार्वतीके साथ रहते हैं, अतः उनका उपदेश प्रमाण नहीं माना जा सकता। यदि इन दोनोंके सिवा किसी तीसरेको वक्ता मानते हो तो वह तीसरा किससे हुआ। यदि कहोगे कि शक्तिसे हुआ, तो शक्ति तो भिन्न है, भिन्न शक्तिसे वह शक्तिवान कैसे हो सकता है, क्योंकि उन दोनोंका कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि सम्बन्ध मानोगे तो विचार करनेपर उनका कोई सम्बन्ध भी नहीं बनता है, अतः आपका शास्त्र निराधार ठहरता है क्योंकि उसका कोई वक्ता सिद्ध नहीं होता॥७८॥

---

१. यह श्लोक यशस्तिलकके पाँचवें आश्वासमें पृ० २५४ पर 'तदुक्तं' करके दिया गया है।

'संबन्धो हि सदाशिवस्य शक्त्या सह न भिन्नस्य संयोगः शक्तेरद्रव्यत्वात्, 'द्रव्ययोरेव संयोगः' इति यौगसिद्धान्तः। 'समवायलक्षणोऽपि न संबन्धः शक्तेः पृथक्सिद्धत्वात्, 'अयुतसिद्धानां गुणगुण्यादीनां समवायसंबन्धः'[1] इति वैशेषिकमैतिह्यम्।

तत्त्वभावनयोद्भूतं जन्मान्तरसमुत्थया।
हिताहितविवेकाय यस्य ज्ञानत्रयं परम् ॥७९॥
दृष्टादृष्टमवैत्यर्थं रूपवन्तमथावधेः।
श्रुतेः श्रुतिसमाश्रेयं क्वासौ परमपेक्षताम् ॥८०॥

सदाशिवका शक्तिके साथ संयोग सम्बन्ध तो हो नहीं सकता, क्योंकि शक्ति द्रव्य नहीं है और 'संयोग सम्बन्ध द्रव्योंका ही होता है' ऐसा यौगोंका सिद्धान्त है। तथा समवाय सम्बन्ध भी नहीं हो सकता, क्योंकि शक्ति तो शिवसे पृथक् सिद्ध है—जुदी है और 'जो पृथक् सिद्ध नहीं हैं ऐसे गुण गुणी वगैरहका ही समवाय सम्बन्ध होता है' ऐसा वैशेषिकोंका मत है।

भावार्थ—ऊपर शैवमतवादियोंने मनुष्यको आप्त माननेमें आपत्ति दिखलाते हुए सदाशिवको ही आप्त और शास्त्रका उपदेष्टा माननेपर जोर दिया था। उसीका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि सदाशिव तो अशरीरी है इसलिए वे वक्ता हो नहीं सकते, क्योंकि बोलनेके लिए शरीरका होना जरूरी है उनके विना शब्दकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि सशरीरी शिवको वक्ता माना जायेगा तो वह रागी हैं, पार्वतीके साथ रहते हैं, अर्धनारीश्वर हैं, अतः उनका वचन प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। यदि किसी तीसरेको वक्ता माना जायेगा तो प्रश्न होता है कि वह तीसरा कहाँसे उत्पन्न हुआ। यदि कहा जायेगा कि शक्तिसे उत्पन्न हुआ तो शक्तिके साथ उसका सम्बन्ध बतलाना चाहिये। दो ही सम्बन्ध यौग दर्शनमें माने गये हैं संयोग और समवाय। ये दोनों ही सम्बन्ध शक्ति और शक्तिमान्के बीच नहीं बनते; क्योंकि संयोग दो द्रव्योंमें ही होता है किन्तु शक्ति द्रव्य नहीं है। तथा समवाय सम्बन्ध अभिन्नोंमें ही होता है किन्तु शक्ति शक्तिमान्से भिन्न है।

[इस प्रकार सदाशिववादियोंके शास्त्रको निराधार बतलाकर ग्रन्थकार, मनुष्यको आप्त माननेमें जो आपत्ति की गई है, उनका निराकरण करते हैं—]

पूर्वजन्ममें उत्पन्न हुई तत्त्व भावनासे, हित और अहितकी पहचान करनेके लिए उत्पन्न हुए जिसके तीन ज्ञान-मति, श्रुत और अवधि-दृष्ट और अदृष्ट अर्थको जानते हैं, उनमें भी अवधिज्ञान केवल रूपी पदार्थोंको ही जानता है और श्रुतज्ञान शास्त्रमें वर्णित विषयोंको जानता है। ऐसी अवस्थामें इष्ट तत्त्वको जाननेके लिए उसे दूसरेकी अपेक्षा ही क्या रहती है? ॥७९-८०॥

भावार्थ—पहले शैवमतवादीने मनुष्यको आप्त माननेमें आपत्ति करते हुए कहा था कि मनुष्यको इष्ट तत्त्वका बोध यदि तीर्थङ्करके द्वारा होता है तो तीर्थङ्करको इष्ट तत्वका ज्ञान किसके द्वारा होता है? इसका परिहार करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि तीर्थङ्करके जन्मसे ही तीन ज्ञान होते हैं। और वे तीनों ज्ञान पूर्व जन्मकी भावनासे उत्पन्न होते हैं, उनसे वह इष्ट तत्त्वको जान लेते हैं। बादमें मुनि होकर तपस्याके द्वारा कर्मोंको नष्ट करके वे सर्वज्ञ हो

१. 'अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहेदर प्रत्ययलिंगो यः संबन्धः स समवायः।' प्रशस्तपाद भाष्य पृ० १४।—आप्तपरीक्षा पृ० १०६।

न चैतदसार्वत्रिकम् । कथमन्यथा स्वत एव संजातषट्पदार्थावसायप्रसरे[1] कणचरे[2] वाराणस्यां महेश्वरस्योलूकसायुज्यसरस्येदं वचः[3] संगच्छेत्—'ब्रह्मतुला[4] नामेदं दिवौकसां दिव्यमद्भुतं ज्ञानं प्रादुर्भूतमिह त्वयि तद्वत्संविधत्स्व विप्रेभ्यः।

उपाये सत्युपेयस्य प्राप्तेः का प्रतिबन्धिता ।
पातालस्थं जलं यन्त्रात्करस्थं क्रियते यतः ॥८१॥
अश्मा[6] हेम जलं मुक्ता द्रुमो वह्निः क्षितिर्मणिः ।
तत्तद्धेतुतया भावा[7] भवन्त्यद्भुतसंपदः ॥८२॥
सर्गावस्थितिसंहार[8]ग्रीष्मवर्षातुषारवत् ।
अनाद्यनन्तभावोऽयमाप्तश्रुतसमाश्रयः[9] ॥८३॥
नियतं न बहुत्वं चेत्कथमेते तथाविधाः ।
तिथिताराग्रहाम्भोधिभूभृत्प्रभृतयो मताः ॥८४॥

जाते हैं। तब उन्हें इष्ट तत्त्वको जाननेके लिए दूसरेसे सहायता लेनेकी जरूरत ही क्या है ? वे स्वयं ही जानकर संसारके प्राणियोंको तत्त्वोंका उपदेश देते है। उनके उपदेशसे अन्य मनुष्योंको इष्ट तत्त्वका ज्ञान हो जाता है।

[आगे कहते हैं—]

और यह बात कि तीर्थङ्कर स्वयं ही इष्ट तत्त्वको जान लेते हैं, ऐसी नहीं है जिसे सब न मानते हों। यदि ऐसा नहीं है तो स्वतः ही छ पदार्थोंका ज्ञान होनेपर कणाद-ऋषिके प्रति वाराणसी नगरीमें उलूकका अवतार लेनेवाले महेश्वरका यह कथन कैसे संगत हो सकता है—'हे कणाद ! तुझे देवोंके ब्रह्मतुला नामके दिव्य ज्ञानकी प्राप्ति हुई है इसे विप्रोंको प्रदान कर।'

भावार्थ—वैदिक पुराणोंके अनुसार महेश्वरने उल्लूका अवतार धारण करके कणाद ऋषिसे उक्त बात कही थी। ऊपर शैवमतवादियोंने जैनोंपर यह आपत्ति की थी कि दूसरेकी सहायताके विना तुम्हारे तीर्थङ्करोंको ज्ञान कैसे होता है, उसीका निराकरण करते हुए ग्रन्थकारने बतलाया है कि तुम्हारे मतमें भी कणाद ऋषिको स्वयं छः पदार्थोंका ज्ञान होनेका उल्लेख है। अतः यह आपत्ति कि विना अन्यकी सहायताके ज्ञान नहीं हो सकता, निराधार है।

साधन सामग्रीके मिलनेपर पाने योग्य वस्तुकी प्राप्तिमें रुकावट ही क्या हो सकती है ? क्योंकि यंत्रके द्वारा पातालमें भी स्थित जल प्राप्त कर लिया जाता है ॥८१॥

पत्थरसे सोना पैदा होता है। जलसे मोती बनता है। वृक्षसे आग पैदा होती है और पृथ्वीसे मणि पैदा होती है। इस तरह अपने-अपने कारणोंसे अद्भुत सम्पदा उत्पन्न होती है। जैसे उत्पत्ति, स्थिति और विनाशकी परम्परा अनादि-अनन्त है, या ग्रीष्म ऋतु, वर्षा ऋतु और शीत ऋतुकी परम्परा अनादि अनन्त है, वैसे ही आप्त और श्रुतकी परम्परा भी प्रवाह रूपसे चली आती है, न उसका आदि है और न अन्त। आप्तसे श्रुत उत्पन्न होता है और श्रुतसे आप्त बनता है ॥८२-८३॥

[शैव मतवादीने यह आपत्ति की थी कि आप्त बहुतसे नहीं हो सकते और यदि हों भी तो चौबीसका नियम कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—]

यदि वस्तुओंका बहुत्व नियत न हो तो तिथि, तारा, ग्रह, समुद्र, पहाड़ वगैरह नियत

१. ज्ञान। २. कणादऋषौ अक्षपादे। ३. स्तुतिवचनं कथं संगच्छेत्। ४. जगत्तोलने परिज्ञाने तुलाप्रायं तव कणचरस्य ज्ञानम्। ५. देवानामपि दिव्यम्। ६. पाषाणो हेम भवति, जलं मुक्ता स्यादित्यादि। ७. पदार्थाः। ८. उत्पादव्ययध्रौव्य। ९. आप्तात् श्रुतं श्रुतादाप्तः।

अनयैव दिशा चिन्त्यं सांख्यशाक्यादिशासनम् ।
तत्त्वागमाप्तरूपाणां नानात्वस्याविशेषतः ॥८५॥
जैनमेकं मतं मुक्त्वा द्वैताद्वैतसमाश्रयौ ।
मार्गौ समाश्रिताः सर्वे सर्वाभ्युपगमागमाः ॥८६॥
वामदक्षिणमार्गस्थो मन्त्रीतरसमाश्रयः ।
कर्मज्ञानगतो ज्ञेयः शंभुशाक्यद्विजागमः ॥८७॥

यच्चैतत्—

'श्रुतिं वेदमिह प्राहुर्धर्मशास्त्रं स्मृतिर्मता ।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥८८॥
ते तु यस्त्ववमन्येत हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ।
स साधुभिर्बहिः कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः' ॥८९॥

—मनुस्मृति २, १०–११ ।

क्यों माने गये हैं ? अर्थात् जैसे ये बहुत हैं फिर भी इनकी संख्या नियत है उसी तरह जैन तीर्थङ्करोंकी भी चौवीस संख्या नियत है ॥८४॥

इसी प्रकारसे सांख्य और बौद्ध वगैरहके मतोंका भी विचार कर लेना चाहिये । क्योंकि उनमें भी तत्त्व, आगम और आप्तके स्वरूपोंमें भेद पाया जाता है ॥८५॥

एक जैनमतको छोड़कर शेष सभी मतवालोंने या तो द्वैतमतको अपनाया है या अद्वैत मतको अपनाया है । और उनके आगमोंमें ऐसी बातें हैं जो सभी लोगोंके द्वारा मान्य हैं ॥८६॥

शैवमत, बौद्धमत और ब्राह्मणमत वाममार्गी और दक्षिणमार्गी हैं, मंत्र तंत्र प्रधान भी हैं, तथा उसको न मानने वाले भी हैं और कर्मकाण्डी तथा ज्ञानकाण्डी हैं ॥८७॥

भावार्थ—शैवमत ब्राह्मणमत और बौद्धमतमें उत्तर कालमें वाममार्ग भी उत्पन्न हो गया था, और वह वाममार्ग मंत्र तंत्र प्रधान था तथा उसमें क्रियाकाण्डका ही प्राधान्य था । दक्षिण मार्ग न तो मंत्र तंत्र प्रधान था और न क्रियाकाण्डको ही विशेष महत्त्व देता था । शैवमतका तो वाममार्ग प्रसिद्ध है । बौद्धमतके महायान सम्प्रदायमेंसे तांत्रिक वाममार्गका उदय हुआ था । वैसे बुद्धके पश्चात् बौद्धमत हीनयान और महायान सम्प्रदायोंमें विभाजित हो गया था । इसीप्रकार वैदिक ब्राह्मणमत भी पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसाके भेदसे दो रूप हो गया था । पूर्व मीमांसा यज्ञ यागादि कर्मकाण्ड प्रधान है, और उत्तर मीमांसा, जिसे वेदान्त भी कहते हैं, ज्ञान प्रधान है ।

[*अब ग्रन्थकार मनुस्मृतिके दो पद्योंको देकर उसकी आलोचना करते हैं—*]

तथा (मनुस्मृति अ० २ श्लोक १०–११ में) जो यह कहा है—"श्रुतिको वेद कहते हैं और धर्मशास्त्रको स्मृति कहते हैं । उन श्रुति और स्मृतिका विचार प्रतिकूल तर्कोंसे नहीं करना चाहिये क्योंकि उन्हींसे धर्म प्रकट हुआ है । जो द्विज युक्ति शास्त्रका आश्रय लेकर श्रुति और स्मृतिका निरादर करता है, साधु पुरुषोंको उसका बहिष्कार करना चाहिये; क्योंकि वेदका निन्दक होनेसे वह नास्तिक है ॥८८–८९॥

---

१. मन्त्रेण सर्वान् वशीकरोति शैवः ।

तदपि न साधु। यतः।

समस्तयुक्तिनिर्मुक्तः केवलागमलोचनः।
तत्त्वमिच्छन्न कस्येह भवेद्वादी जयावहः ॥९०॥
सन्तो गुणेषु तुष्यन्ति नाविचारेषु वस्तुषु।
पादेन लिप्यते ग्रावा[2] रत्नं मौलौ निधीयते ॥९१॥
श्रेष्ठो गुणैर्गृहस्थः स्यात्ततः श्रेष्ठतरो यतिः।
यतेः श्रेष्ठतरो देवो न देवादधिकं परम् ॥९२॥
गेहिना[3] समवृत्तस्य यतेरप्यधरस्थितेः।
यदि देवस्य देवत्वं न देवो दुर्लभो भवेत् ॥९३॥
इत्युपासकाध्ययने आप्तस्वरूपमीमांसनो नाम द्वितीयः कल्पः।

देवमादौ परीक्षेत पश्चात्तद्वचनक्रमम्।
ततश्च तदनुष्ठानं कुर्यात्तत्र मतिं ततः ॥९४॥
येऽविचार्य पुनर्देवं रुचिं तद्वाचि कुर्वते।
तेऽन्धास्तत्[4]स्कन्धविन्यस्तहस्ता वाञ्छन्ति सद्गतिम् ॥९५॥

यह भी ठीक नहीं है क्योंकि—

जो मतावलम्बी समस्त युक्तियोंको छोड़कर केवल आगमके बलपर तत्त्वकी सिद्धि करना चाहता है वह किसीको नहीं जीत सकता ॥९०॥

भावार्थ—मनुस्मृतिकारने श्रुति और स्मृतिमें युक्ति लगानेका निषेध किया है किन्तु जैनाचार्य कहते हैं कि युक्तिके विना केवल आगमसे तत्त्वकी सिद्धि नहीं हो सकती। यदि केवल आगमसे ही तत्त्वकी सिद्धि मानी जायेगी तब तो ऐसा व्यक्ति सबको जीत लेगा। अथवा सभी धर्मवाले अपने-अपने आगमोंसे अपने-अपने तत्त्व सिद्ध कर लेंगे। अतः युक्तिसे नहीं घबराना चाहिए, जो बात विचार पूर्ण होती है उसे सब ही माननेको तैयार रहते हैं।

सज्जन पुरुष गुणोंसे प्रसन्न होते हैं, अविचारित वस्तुओंसे नहीं। देखो, पत्थरको पैरसे ठुकराया जाता है और रत्नको मुकुटमें स्थापित किया जाता है। अतः जो गुणोंसे श्रेष्ठ है वह गृहस्थ है, गृहस्थसे भी श्रेष्ठ यति है और यतिसे श्रेष्ठ देव है। किन्तु देवसे श्रेष्ठ कोई नहीं है। जिसका आचरण गृहस्थके समान है और जो यतिसे भी नीचे स्थित है, ऐसे देवको भी यदि देव माना जाता है तो फिर देवत्व दुर्लभ नहीं रहता ॥९१–९३॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें आप्त स्वरूपकी मीमांसा नामका दूसरा कल्प समाप्त हुआ।

[अब ग्रन्थकार आगम और तत्त्वकी मीमांसा करते हैं—]

सबसे प्रथम देवकी परीक्षा करनी चाहिए, पीछे उसके वचनोंकी परीक्षा करनी चाहिए। उसके बाद उसमें मनको लगाना चाहिए। जो लोग देवकी परीक्षा किये बिना उसके वचनोंका आदर करते हैं वे अन्धे हैं और उस देवके कन्धेपर हाथ रखकर सद्गति प्राप्त करना चाहते हैं। जैसे माता-पिताके शुद्ध होनेपर सन्तानमें शुद्धि देखी जाती है वैसे ही आप्तके विशुद्ध होनेपर ही

१. एक आगम एव लोचनं यस्य स पुमान् तत्त्वं वाञ्छति सर्वेषां जयकारी स्यात्। २. पाषाण। ३. गृहिसदृशस्य देवस्य यतेरपि हीनस्य देवत्वं घटते चेत्। ४. तस्य अन्धस्य।

पित्रोः शुद्धौ यथाऽपत्ये विशुद्धिरिह दृश्यते ।
तथाप्तस्य विशुद्धत्वे भवेदागमशुद्धता ॥९६॥
वाग्विशुद्धापि दुष्टा स्याद् वृष्टिवत्पात्रदोषतः ।
वन्द्यं च स्तदेवोच्चैस्तोय[1]वत्तीर्थसंश्रयम् ॥९७॥
दृष्टेऽर्थे [2]वचसो[3]ऽध्यक्षादनुमेयेऽनुमानतः ।
पूर्वापराविरोधेन परोक्षे च प्रमाणता ॥९८॥
पूर्वापरविरोधेन यस्तु युक्त्या च बाध्यते ।
मत्तोन्मत्तवचःप्रख्यः स प्रमाणं किमागमः ॥९९॥
हेयोपादेयरूपेण चतुर्वर्गसमाश्रयात् ।
कालत्रयगतानर्थान्गमय[4]न्नागमः स्मृतः ॥१००॥
आत्मानात्म[5]स्थितिर्लोको बन्धमोक्षौ सहेतुकौ ।
आगमस्य निगद्यन्ते पदार्थास्तत्त्ववेदिभिः ॥१०१॥

आगममें शुद्धता हो सकती है। अर्थात् यदि आप्त निर्दोष होता है तो उसके द्वारा कहे गये आगममें भी कोई दोष नहीं पाया जाता। अतः पहले आप्त या देवकी परीक्षा करनी चाहिए, उसके बाद उसके वचनोंको प्रमाण मानना चाहिए ॥९४-९६॥

जैसे वर्षाका पानी समुद्रमें जाकर खारा हो जाता है या सांपके मुखमें जाकर विषरूप हो जाता है, वैसे ही पात्रके दोषसे विशुद्ध वचन भी दुष्ट हो जाता है। तथा जैसे तीर्थका आश्रय लेनेवाला जल पूज्य होता है वैसे ही जो वचन तीर्थङ्करोंका आश्रय ले लेता है अर्थात् उनके द्वारा कहा जाता है वही पूज्य होता है ॥९७॥

जो वचन ऐसे अर्थको कहता है जिसे प्रत्यक्षसे देखा जा सकता है, उस वचनकी प्रमाणता प्रत्यक्षसे साबित हो जाती है। जो वचन ऐसे अर्थको कहता है जिसे अनुमानसे ही जाना जा सकता है उस वचनकी प्रमाणता अनुमानसे साबित होती है। और जो वचन बिल्कुल परोक्ष वस्तुको कहता है, जिसे न प्रत्यक्षसे ही जाना जा सकता है और न अनुमानसे, पूर्वापरमें कोई विरोध न होनेसे उस वचनकी प्रमाणता सिद्ध होती है। अर्थात् यदि उस वचनके द्वारा कही गई बातें आपसमें कटती नहीं हैं, तो उस वचनको प्रमाण माना जाता है ॥९८॥

भावार्थ—शास्त्रोंमें बहुत सी ऐसी बातोंका भी कथन पाया जाता है जिनके विषयमें न युक्तिसे काम लिया जा सकता है और न प्रत्यक्षसे, ऐसे कथनको सहसा अप्रमाण भी नहीं कहा जा सकता। अतः उन शास्त्रोंकी अन्य बातें, जो प्रत्यक्ष और अनुमानसे जानी जा सकती हैं वे यदि ठीक ठहरती हैं और यदि उनमें परस्परमें विरोधी बातें नहीं कही गई हैं तो उन शास्त्रोंके ऐसे कथनको भी प्रमाण ही मानना चाहिए।

जिस आगममें परस्परमें विरोधी बातोंका कथन है और युक्तिसे भी बाधा आती है, पागलकी बकवादके समान उस आगमको कैसे प्रमाण माना जा सकता है ॥९९॥

आगमका स्वरूप और विषय

जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंका अवलम्बन लेकर, हेय और उपादेय रूपसे त्रिकालवर्ती पदार्थोंका ज्ञान कराता है उसे आगम कहते हैं ॥१००॥ तत्त्वके ज्ञाताओंका

१. जलवत्। २. वचनस्य। ३. प्रत्यक्षात्। ४. ज्ञापयन्। ५. पुद्गल।

उत्पत्तिस्थितिसंहारसाराः [1]सर्वे स्वभावतः।
नयद्वयाश्रयादेते तरङ्गा इव तोयधेः ॥१०२॥

कहना है कि आगममें जीव, अजीव, उनके रहनेके स्थान, लोक तथा अपने-अपने कारणोंके साथ बन्ध और मोक्षका कथन होता है ॥१०१॥

भावार्थ—जिसमें चारों पुरुषार्थोंका वर्णन करते हुए यह बतलाया गया हो कि क्या छोड़ने योग्य है और कौन ग्रहण करने योग्य है वही सच्चा आगम है। उस आगममें जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंका वर्णन रहता है।

प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय ध्रौव्यात्मक है

जैसे समुद्रमें लहरें होती हैं वैसे ही सभी पदार्थ द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे स्वभावसे ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त होते हैं ॥१०२॥

भावार्थ—जैनधर्ममें प्रत्येक वस्तुको प्रति समय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त माना है अर्थात् प्रत्येक वस्तु प्रति समय उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और स्थिर भी रहती है। इसपर यह प्रश्न होता है कि ये तीनों बातें तो परस्परमें विरुद्ध हैं, अतः एक वस्तुमें एक साथ वे तीनों बातें कैसे हो सकती हैं, क्योंकि जिस समय वस्तु उत्पन्न होती है उस समय वह नष्ट कैसे हो सकती है और जिस समय नष्ट होती है उसी समय वह उत्पन्न कैसे हो सकती है। तथा जिस समय नष्ट और उत्पन्न होती है उस समय वह स्थिर कैसे रह सकती है ? इसका समाधान यह है कि प्रत्येक वस्तु प्रति समय परिवर्तनशील है। संसारमें कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है। उदाहरणके लिए बच्चा जब जन्म लेता है तो छोटा सा होता है, कुछ दिनोंके बाद वह बड़ा हो जाता है। उसमें जो बढ़ोतरी दिखाई देती है वह किसी खास समयमें नहीं हुई है,किन्तु बच्चेके जन्म लेनेके क्षणसे ही उसमें बढ़ोतरी प्रारम्भ हो जाती है और जब वह कुछ बड़ा हो जाता है तो वह बढ़ोतरी स्पष्ट रूपसे दिखाई देने लगती है। इसी तरह एक मकान सौ वर्षके बाद जीर्ण होकर गिर पड़ता है। उसमें यह जीर्णता किसी खास समयमें नहीं आई, किन्तु जिस क्षणसे वह बनना प्रारम्भ हुआ था उसी क्षणसे उसमें परिवर्तन होना प्रारम्भ हो गया था उसीका यह फल है जो कुछ समयके बाद दिखाई देता है। अन्य भी अनेक दृष्टान्त हैं जिनसे वस्तु प्रति समय परिवर्तनशील प्रमाणित होती है। इस तरह वस्तुके परिवर्तनशील होनेसे उसमें एक साथ तीन बातें होती हैं, पहली हालत नष्ट होती है और जिस क्षणमें पहली हालत नष्ट होती है उसी क्षणमें दूसरी हालत उत्पन्न होती है। ऐसा नहीं है कि पहली हालत नष्ट हो जाये उसके बाद दूसरी हालत उत्पन्न हो। पहली हालतका नष्ट होना ही तो दूसरी हालतकी उत्पत्ति है। जैसे, कुम्हार मिट्टीको चाकपर रखकर जब उसे घुमाता है तो उस मिट्टीकी पहली हालत बदलती जाती है और नई-नई अवस्थाएँ उसमें उत्पन्न होती जाती हैं। पहली हालतका बदलना और दूसरीका बनना दोनों एक साथ होते हैं। यदि ऐसा माना जायेगा कि पहली हालत नष्ट हो चुकनेके बाद दूसरी हालत उत्पन्न होती है तो पहली हालतके नष्ट हो चुकने और दूसरी हालतके उत्पन्न होनेके बीचमें वस्तुमें कौन-सी हालत—दशा मानी जायेगी। घड़ा जिस क्षणमें फूटता है उसी क्षणमें ठीकरे पैदा हो जाते हैं। ऐसा नहीं

१. समस्ताः पदार्थाः।

क्षयाक्षयैकपक्षत्वे बन्धमोक्षक्षयागमः[1] ।
तात्त्विकैकत्वसद्भावे स्वभावान्तरहानितः ॥१०३॥
ज्ञाता द्रष्टा महान् सूक्ष्मः कृतिभुक्त्योः स्वयं प्रभुः ।
भोगायतनमात्रोऽयं[2] स्वभावादूर्ध्वगः पुमान् ॥१०४॥
ज्ञानदर्शनशून्यस्य न भेदः स्यादचेतनात् ।
ज्ञानमात्रस्य जीवत्वे नैकधीश्चित्रमित्रवत् ॥१०५॥

है कि घड़ा पहले फूट जाता है पीछेसे उसके ठीकरे बन जाते हैं। घड़ेका फूटना ही ठीकरेका उत्पन्न होना है और ठीकरेका उत्पन्न होना ही घड़ेका फूटना है। अतः उत्पाद और विनाश दोनों एक साथ होते हैं—एक ही क्षणमें एक पर्याय नष्ट होती है और दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है, और इनके उत्पन्न और नष्ट होनेपर भी द्रव्य-मूलवस्तु कायम रहता है—न वह उत्पन्न होता है और न नष्ट। जैसे घड़ेके फूट जाने और ठीकरेके उत्पन्न हो जानेपर भी मिट्टी दोनों हालतोंमें बराबर कायम रहती है। अतः वस्तु प्रति समय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त कहलाती है।

वस्तुको देखनेकी दो दृष्टियाँ हैं—एक दृष्टिका नाम है द्रव्यार्थिक और दूसरीका नाम है पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे वस्तु ध्रुव है, और पर्यायार्थिक नय दृष्टिसे उत्पाद-व्ययशील है।

यदि वस्तुको केवल प्रतिक्षण विनाशशील या केवल नित्य माना जायेगा तो बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था नहीं बन सकेगी। क्योंकि सर्वथा एक रूप माननेपर उसमें स्वभावान्तर नहीं हो सकेगा ॥१०३॥

भावार्थ—वस्तुको उत्पाद विनाशशील न मानकर यदि सर्वथा क्षणिक ही माना जायेगा तो प्रत्येक वस्तु दूसरे क्षणमें नष्ट हो जायेगी। ऐसी अवस्थामें जो आत्मा बँधा है वह तो नष्ट हो जायेगा तब मुक्ति किसकी होगी ? इसी तरह यदि वस्तुको सर्वथा नित्य माना जायेगा तो वस्तुमें कभी भी कोई परिवर्तन नहीं हो सकेगा। और परिवर्तन न होनेसे जो जिस रूपमें है वह उसी रूपमें बनी रहेगी। अतः बद्ध आत्मा सदा बद्ध ही बना रहेगा, अथवा कोई आत्मा बँधेगा ही नहीं; क्योंकि जब वस्तु सर्वथा नित्य है तो आत्मा सदा एक रूप ही रहेगा, न वह कर्ता हो सकेगा और न भोक्ता। यदि उसे कर्ता भोक्ता माना जायेगा तो वह सर्वथा नित्य नहीं रहेगा। अतः प्रत्येक वस्तुको द्रव्यकी अपेक्षा नित्य और पर्यायकी अपेक्षा अनित्य मानना चाहिए।

आत्माका स्वरूप

आत्मा ज्ञाता और द्रष्टा है, महान् और सूक्ष्म है, स्वयं ही कर्ता और स्वयं ही भोक्ता है। अपने शरीरके बराबर है। तथा स्वभावसे ही ऊपरको गमन करनेवाला है ॥ यदि आत्माको ज्ञान और दर्शनसे रहित माना जायेगा तो अचेतनसे उसमें कोई भेद नहीं रहेगा। अर्थात् जड़ और चेतन दोनों एक हो जायेंगे। और यदि ज्ञानमात्रको जीव माना जायेगा तो चित्र मित्रकी तरह एक बुद्धि नहीं बनेगी ॥१०४-१०५॥

---

१. यदि क्षय एव अनित्यं क्षणिकं सर्वं मन्यते अथवा अक्षयम् अविनश्वरं मन्यते तर्हि स्यात् भवेत् कोऽसौ बन्धमोक्षयोः क्षयागमः—न बन्धो घटते, न मोक्षं घटते, कुतः स्वभावान्तरहानितः क्व सति तात्त्विकैकत्व-सद्भावे नित्यत्वे इत्यर्थः । २. शरीरप्रमाणः । "जीवोत्ति हवदि चेदा उपओगविसेसिदो पहू कत्ता । भोत्ता य देहमेत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुतो ॥२७॥—पञ्चास्तिकाय ।

प्रेर्यते [1]कर्म जीवेन जीवः प्रेर्यत कर्मणा ।
एतयोः प्रेरको नान्यो नौनाविकसमानयोः ॥१०६॥
[2]मन्त्रवन्नियतोऽप्येषोऽचिन्त्यशक्तिः स्वभावतः ।
अतः शरीरतोऽन्यत्र न [3]भावोऽस्य [4]प्रमान्वितः ॥१०७॥
त्रसस्थावरभेदेन चतुर्गतिसमाश्रयाः ।
जीवाः केचित्तथान्ये च पञ्चमीं गतिमाश्रिताः ॥१०८॥
धर्माधर्मौ नभः कालो पुद्गलश्चेति पञ्चमः ।
अजीवशब्दवाच्याः स्युरेते विविधपर्ययाः ॥१०९॥
[5]गतिस्थित्यप्रतीघातपरिणामनिबन्धनम् ।
चत्वारः सर्ववस्तूनां रूपाद्यात्मा च पुद्गलः ॥११०॥
अन्योन्यानुप्रवेशेन [6]बन्धः कर्मात्मनो मतः ।
अनादिः सावसानश्च कालिकास्वर्णयोरिव ॥१११॥

जीव कर्मको प्रेरित करता है और कर्म जीवको प्रेरित करता है। इन दोनोंका सम्बन्ध नौका और नाविकके समान है। कोई तीसरा इन दोनोंका प्रेरक नहीं है ॥१०६॥

जैसे मंत्रमें कुछ नियत अक्षर होते हैं, फिर भी उसकी शक्ति अचिन्त्य होती है उसी तरह यद्यपि आत्मा शरीर परिमाणवाला है, फिर भी वह स्वभावसे ही अचिन्त्य शक्तिवाला है, अतः शरीरसे अन्यत्र उसका अस्तित्व प्रमाणित नहीं है ॥१०७॥

जीवके भेद

त्रस और स्थावरके भेदसे जीव दो प्रकारके हैं; जो नरकगति, तिर्यञ्चगति मनुष्यगति, और देवगतिमें पाये जाते हैं। ये सब संसारी जीवोंके भेद हैं। और पञ्चम गतिको प्राप्त मुक्त जीव होते हैं ॥१०८॥

अजीव द्रव्य

धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये पाँच अजीव द्रव्य कहलाते हैं। इनकी अनेक पर्यायें होती हैं ॥१०९॥

धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलोंकी गतिमें निमित्त कारण है। अधर्म द्रव्य उनकी स्थितिमें निमित्त कारण है। आकाश सब वस्तुओंको स्थान देनेमें निमित्त है और काल सबके परिणमनमें निमित्त है। तथा जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चारों गुण पाये जाते हैं, उसे पुद्गल कहते हैं ॥११०॥

बन्धका स्वरूप और भेद

आत्मा और कर्मका अन्योन्यानुप्रवेशरूप बन्ध होता है अर्थात् आत्मा और कर्मके प्रदेश परस्परमें मिल जाते हैं। स्वर्ण और कालिमाके बन्धकी तरह यह बन्ध अनादि और सान्त होता है अर्थात् जैसे सोनेमें खानसे ही मैल मिला होता है और बादमें मैलको दूर करके सोने-

---

१. कर्मस्थितिं जन्तुरनेकभूमिं नयत्यमुं सा च परस्परस्य। त्वं नेतृभावं हि तयोर्भवाब्धौ जिनेन्द्र नौनाविकयोरिवाख्यः ॥—विषापहार। २. मंत्रोऽप्यक्षरैः कृत्वा समर्यादः एषोऽप्यात्मा कायमात्रः। ३. न सद्भावः। ४. कायमात्रः। ५. सर्ववस्तूनां गतिनिबन्धनं धर्मः, स्थितिनिबन्धनमधर्मः, अप्रतिघातनिबन्धनं नभः, परिणामनिबन्धनं कालः। ६. तदुक्तं—परस्परं प्रदेशानां प्रवेशो जीवकर्मणोः। एकत्वकारको बन्धो रुक्मकाञ्चनयोरिव ॥'—सं० पञ्चसंग्रह, पृ० ५४।

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशप्रविभागतः ।
चतुर्धा भिद्यते बन्धः सर्वेषामेव देहिनाम् ॥११२॥
आत्मलाभं विदुर्मोक्षं जीवस्यान्तर्मलक्षयात् ।
नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम् ॥११३॥
बन्धस्य कारणं प्रोक्तं मिथ्यात्वासंयमादिकम् ।
रत्नत्रयं तु मोक्षस्य कारणं संप्रकीर्तितम् ॥११४॥
आप्तागमपदार्थानामश्रद्धानं विपर्ययः ।
संशयश्च त्रिधा प्रोक्तं मिथ्यात्वं मलिनात्मनाम् ॥११५॥

को शुद्ध कर लिया जाता है वैसे ही जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादि होने पर भी सान्त है,— उसका अन्त हो जाता है। यह बन्ध चार प्रकारका है—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेशबन्ध। यह चारों प्रकारका बन्ध सभी शरीरधारी जीवोंके होता है ॥१११-११२॥

भावार्थ—प्रकृति शब्दका अर्थ स्वभाव है। कर्मोंमें ज्ञानादिको घातनेका जो स्वभाव उत्पन्न होता है,उसे प्रकृतिबन्ध कहते हैं। कर्मोंमें अपने अपने स्वभावको न त्यागकर जीवके साथ बँधे रहनेके कालकी मर्यादाके पड़नेको स्थितिबन्ध कहते हैं। उनमें फल देनेकी न्यूनाधिक शक्ति के होनेको अनुभाग बन्ध कहते हैं और न्यूनाधिक परमाणुवाले कर्मस्कन्धोंका जीवके साथ सम्बन्ध होनेको प्रदेशबन्ध कहते हैं। सारांश यह है कि जीवके योग और कषायरूप भावोंका निमित्त पाकर जब कार्मण वर्गणाएँ कर्मरूप परिणत होती हैं तो उनमें चार बातें होती हैं, एक उनका स्वभाव, दूसरे स्थिति, तीसरे फल देनेकी शक्ति और चौथे अमुक परिमाणमें उसका जीवके साथ सम्बद्ध होना। इन चार बातोंको ही चार बन्ध कहते हैं। सभी जीवोंके दसवें गुणस्थान तक ये चारों प्रकारके बन्ध होते हैं। आगे कषायका उदय न होनेसे स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्ध नहीं होता। तथा चौदहवें गुणस्थानमें योगके भी न रहनेसे कोई बन्ध नहीं होता। इस तरह अनादि होने पर भी यह बन्ध भव्य जीवके सान्त होता है।

मोक्षका स्वरूप

रागद्वेषादिरूप आभ्यन्तर मलके क्षय हो जानेसे जीवके स्व स्वरूपकी प्राप्तिको मोक्ष कहते हैं। मोक्षमें न तो आत्माका अभाव ही होता है, न आत्मा अचेतन ही होता है और चेतन होने पर भी न आत्मामें ज्ञानादिका अभाव ही होता है ॥११३॥

भावार्थ—पहले बतला आये हैं कि बौद्ध आत्माके अभाव को ही मोक्ष मानते हैं, वैशेषिक आत्माके विशेष गुणोंके अभावको मोक्ष कहता है और सांख्य ज्ञानादिसे रहित केवल चैतन्यको ही मुक्त आत्माका स्वरूप मानता है। इन सभीको दृष्टिमें रखकर ग्रन्थकारने मोक्षका स्वरूप बतलाया है।

बन्ध और मोक्षके कारण

मिथ्यात्व असंयम वगैरहको बन्धका कारण कहा है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयको मोक्षका कारण कहा है ॥११४॥

मिथ्यात्वके भेद

मलिन आत्माओंमें पाये जानेवाले मिथ्यात्वके तीन भेद हैं—१. देव, शास्त्र और उनके

१. 'प्रकृतिः स्यात् स्वभावोऽत्र स्वभावादच्युतिः स्थितिः। तद्रसोऽप्यनुभागः स्यात्प्रदेशः स्यादियत्ता॥'

अथवा ।

एकान्तसंशयाज्ञानं व्यत्यासविनयाश्रयम् ।
भवपक्षाविपक्षत्वान्मिथ्यात्वं पञ्चधा स्मृतम् ॥११६॥
अव्रतित्वं प्रमादित्वं निर्दयत्वमतृप्तता ।
इन्द्रियेच्छानुवर्तित्वं सन्तः प्राहुरसंयमम् ॥११७॥
कषायाः क्रोधमानाद्यास्ते चत्वारश्चतुर्विधाः ।
संसारसिन्धुसंपातहेतवः प्राणिनां मताः ॥११८॥

द्वारा कहे गये पदार्थोंका श्रद्धान न करना, २. विपर्यय और ३. संशय । अथवा मिथ्यात्वके पाँच भेद भी हैं—एकान्त मिथ्यात्व, संशय मिथ्यात्व, अज्ञान मिथ्यात्व, विपर्यय मिथ्यात्व और विनय मिथ्यात्व । ये पाँचों प्रकारका मिथ्यात्व संसारका कारण है ॥११५-११६॥

भावार्थ—मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन सम्यग्दर्शनका विरोधी है, उसके रहते हुए आत्मामें सम्यक्त्व गुण प्रकट नहीं हो सकता । उसके पाँच भेद हैं । अनेकान्तात्मक वस्तुको एकान्त रूप मानना एकान्त मिथ्यात्व है,जैसे आत्मा नित्य ही है या अनित्य ही है । सम्यग्दर्शन,सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षके कारण हैं या नहीं, इस प्रकारके सन्देहको संशय मिथ्यात्व कहते हैं । देवादिकके स्वरूपको न जानना अज्ञान मिथ्यात्व है, इसके रहते हुए जीव हित और अहितका भेद नहीं कर पाता । झूठे देव, झूठे शास्त्र और झूठे पदार्थोंको सच्चा मानकर उनपर विश्वास करना विपर्यय मिथ्यात्व है और सभी धर्मों, और उनके प्रवर्तकोंको तथा उनके द्वारा कहे गये आचार विचारको समान मानना विनय मिथ्यात्व है ।

असंयमका स्वरूप

व्रतोंका पालन न करना,अच्छे कामोंमें आलस्य करना, निर्दय होना, सदा असन्तुष्ट रहना और इन्द्रियोंकी रुचिके अनुसार प्रवृत्ति करना इन सबको सज्जन पुरुष असंयम कहते हैं ॥११७॥

कषायके भेद

क्रोध, मान, माया और लोभके भेदसे कषाय चार प्रकारकी कही है । इनमेंसे प्रत्येकके चार चार भेद हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ तथा संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ । ये कषायें प्राणियोंको संसाररूपी समुद्रमें गिरानेमें कारण हैं ॥११८॥

भावार्थ—कष् धातुका अर्थ घातना है । ये क्रोध, मान, माया और लोभ आत्माके गुणोंको घातते हैं इसलिए इन्हें कषाय कहते हैं । उनके चार दर्जे हैं । जो कषाय मिथ्यात्वके साथ रहकर जीवके संसारका अन्त नहीं होने देती उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं । इस कषायका उदय होते रहते सम्यक्त्व गुण प्रकट नहीं होता । जो कषाय अप्रत्याख्यान अर्थात् देशचारित्रको नहीं होने देती उसे अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं । जिस कषायका उदय रहते प्रत्याख्यान अर्थात् सम्पूर्ण चारित्र प्रकट नहीं होता उसे अप्रत्यास्यानावरण कहते हैं । और जिस कषायका उदय रहते यथाख्यात चारित्र प्रकट नहीं होता उसे संज्वलन कहते हैं । इस प्रकार ये कषायें आत्माके सम्यक्त्व और चारित्र गुणकी घातक

१. विपर्यय । २. अनन्तानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यान-संज्वलनभेदेन ।

मनोवाक्कायकर्माणि शुभाशुभविभेदतः।
भवन्ति पुण्यपापानां बन्धकारणमात्मनि ॥११९॥
निराधारो निरालम्बः पवमानसमाश्रयः।
नभोमध्यस्थितो लोकः सृष्टिसंहारवर्जितः ॥१२०॥

होनेसे जीवके उद्धारमें सबसे प्रबल बाधक हैं। इनको दूर किये बिना कोई प्राणी संसार समुद्रसे बाहर नहीं निकल सकता ॥

योग

मन वचन और कायकी क्रिया शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारकी होती हैं। इनमेंसे शुभ क्रियाओंसे आत्माके पुण्यबन्ध होता है और अशुभ क्रियाओंसे पापबन्ध होता है ॥११९

भावार्थ—हिंसा करना, चोरी करना, मैथुन करना आदि अशुभ कायिक क्रिया है। कठोर वचन बोलना, असत्य वचन बोलना, किसीकी निन्दा करना आदि अशुभ वाचनिक क्रिया है। किसीका बुरा विचारना आदि अशुभ मानसिक क्रिया है। इन क्रियाओंसे पाप बन्ध होता है। और इनसे बचकर अच्छे काम करना, हित मित वचन बोलना और दूसरोंका भला बिचारना आदि शुभ क्रियाओंसे पुण्यबन्ध होता है। असलमें शास्त्रकारोंने योगको बन्धका कारण बतलाया है और चूंकि उक्त क्रियाएँ योगमें कारण होती है इस लिए क्रियाओंको योग कहा है। ऊपर भी क्रियाओंसे आशय योगका ही है क्यों कि ग्रन्थकार बन्धके कारण बतला रहे हैं और वे पाँच होते हैं—मिथ्यात्व, असंयम, प्रमाद, कषाय और योग। कोई कोई आचार्य प्रमादको असंयममें ही गर्भित कर लेते हैं,जैसा कि सोमदेव सूरिने किया है। अतः उनके मतसे चार ही बन्धके कारण माने जाते हैं।

[इस प्रकार बन्धके कारण बतलाकर ग्रन्थकार लोकका स्वरूप कहते हैं—]

लोकका स्वरूप

यह लोक निराधार है, निरालम्ब है-कोई इसे धारण किये हुए नहीं हैं, केवल तीन प्रकारकी वायुके सहारेसे आकाशके बीचोबीचमें यह ठहरा हुआ है। न इसकी कभी उत्पत्ति हुई है और न कभी विनाश ही होता है।

भावार्थ—जैन धर्मके अनुसार आकाश द्रव्य सर्वत्र व्याप्त है। आकाशका काम सब द्रव्योंको स्थान देना है। उस आकाशके बीचमें चौदह राजू ऊँचा, उत्तर दक्षिण सात राजू मोटा और पूर्व पश्चिम नीचे सात राजू, मध्यमें एक राजू, पुनः पाँच राजू और अन्तमें एक राजू विस्तार वाला लोक है। लोकका आकार दोनों पैर फैलाकर तथा कूल्हेंपर दोनों हाथ रखकर खड़े हुए पुरुषके समान है। पूर्व पश्चिममें पैरके नीचे लम्बाई ७ राजू है, कटिभागमें एक राजू है, दोनों कोनियोंके स्थानपर पाँच राजू है और ऊपर सिरपर एक राजू है। वैसे तो यह लोक आकाशका ही एक भाग है। किन्तु जितने आकाशमें सभी द्रव्य पाये जाते हैं उतनेको लोकाकाश कहते हैं और लोकसे बाहरके शुद्ध आकाशको अलोकाकाश कहते हैं। इस तरह आकाशके दो भाग हो गये हैं। वह आकाश स्वयं ही अपना आधार है उसके लिए किसी आधारकी आवश्यकता नहीं है। अब रह जाते हैं शेष द्रव्य, उनमें भी जो चार द्रव्य अमूर्तिक हैं उन्हें भी किसी अन्य आधारकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि एक तो वे आकाशकी ही तरह अमूर्तिक और स्वाधार हैं। दूसरे

अथ मतम्—

नैव लग्नं जगत्क्वापि भूभृ[1]द्वाम्भोधिनिर्भरम् ।
धातारश्च न युज्यन्ते मत्स्यकूर्माहिपोत्रिणः[2] ॥१२१॥
एवमालोच्य लोकस्य निरालम्बस्य धारणे ।
कल्प्यते पवनो जैनैरित्येतत्साहसं महत् ॥१२२॥
यो हि वायुर्न शक्तोऽत्र लोष्टकाष्ठादिधारणे ।
त्रैलोक्यस्य कथं स स्याद्धारणावसरक्षमः ॥१२३॥

तदसत् ।

ये प्लावयन्ति पानीयैर्विष्टपं[3] सचराचरम् ।
मेघास्ते वातसामर्थ्यात्किं न व्योम्नि समासते ॥१२४॥

आप्तागमपदार्थेष्वपरं दोषमपश्यतः

अमज्जनमनाचामो नग्नत्वं स्थितिभोजिता ।
मिथ्यादृशो वदन्त्येतन्मुनेर्दोषचतुष्टयम् ॥१२५॥

उनका साधारण आधार आकाश द्रव्य है ही, अतः उन्हें भी किसी अन्य आधारकी आवश्यकता नहीं है । अब रह गये मूर्तिक पदार्थ. सो उनका भी साधारण आधार तो आकाश ही है तथा दूसरा आधार वायु है । वायु तीन प्रकारकी है घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय । वलय चूड़ी या कड़ेको कहते हैं जो गोल होते हैं । जैसे कड़ा हाथमें पहिरनेपर वह हाथको चारों ओरसे घेर लेता है वैसे ही लोकको चारों ओरसे तीनों वायु घेरे हुए हैं इस लिए उन्हें वातवलय कहा है । ये वातवलय ही पृथ्वी वगैरहको धारण करनेमें सहायक हैं ।

जैनोंकी इस मान्यतापर दूसरे आक्षेप करते हुए कहते हैं—पृथ्वी, पहाड़, समुद्र वगैरहके भारसे लदा हुआ यह जगत् किसीके भी आधार नहीं है, तथा मच्छ, कच्छप, बासुकीनाग और शूकर इसके धारणकर्ता हो नहीं सकते । ऐसा विचार करके जैन लोग इस निरालम्ब जगत्का धारणकर्ता वायुको मानते हैं । किन्तु यह उनका बड़ा साहस है, क्योंकि जो वायु हमारे देखनेमें ईंट पत्थर लकड़ी वगैरहका भी बोझ सम्हालनेमें असमर्थ है, वह तीनों लोकोंको धारण करनेमें कैसे समर्थ हो सकता है ? ॥१२१-१२३॥

किन्तु उनका यह आक्षेप ठीक नहीं है, क्योंकि जो मेघ पानीके द्वारा चराचर जगत्को जलमय बना देते हैं, वे वायुके द्वारा ही क्या आकाशमें नहीं ठहरे रहते ? ॥१२४॥

भावार्थ—आज कल तो हजारों टन बोझा लेजाने वाले वायुयान वायुके सहारे ही आकाशमें उड़ते हुए पाये जाते हैं । अतः वायुमें बड़ी शक्ति है और वही लोकको धारण करनेमें समर्थ है । मच्छ कछुवे आदिको जो पुराणोंमें पृथ्वीका आधार माना गया है वह विज्ञान सम्मत नहीं है ।

जैन मुनियोंपर दोषारोपण

जैन आप्त, जैन आगम और उनके द्वारा कहे हुए पदार्थोंमें अन्य दोष न पाकर कुछ लोग जैन मुनियोंमें दोष लगाते हैं । वे कहते हैं कि जैनोंके साधु स्नान नहीं करते, आचमन नहीं करते, नंगे रहते हैं और खड़े होकर भोजन करते हैं । इन दोषोंका समाधान इस प्रकार है॥१२५॥

---

१. पर्वत । २. सूकरः । ३. भुवनम् ।

तत्रैव समाधिः—

ब्रह्मचर्योपपन्नानामध्यात्माचारचेतसाम् ।
मुनीनां स्नानमप्राप्तं[1] दोषे त्वस्य विधिर्मतः ॥१२६॥
संगे कापालिकात्रेयी[2]चाण्डालशबरादिभिः ।
आप्लुत्य[3] दण्डवत्सम्यग्जपेन्मन्त्रमुपोषितः ॥१२७॥
एकान्तरं त्रिरात्रं वा कृत्वा स्नात्वा चतुर्थके ।
दिने शुद्धयन्त्यसंदेहमृतौ व्रतगताः स्त्रियः ॥१२८॥
यदेवांगमशुद्धं स्यादद्भिः शोध्यं तदेव हि ।
अङ्गुली सर्पदष्टायां न हि नासा निकृत्यते ॥१२९॥
निष्पर्न्दा[4]दिविधौ वक्त्रे यद्यपूतत्वमिष्यते ।
तर्हि वक्त्रापवित्रत्वे शौचं नारभ्यते कुतः ॥१३०॥

उनका समाधान

ब्रह्मचर्यसे युक्त और आत्मिक आचारमें लीन मुनियोंके लिए स्नानकी आवश्यकता नहीं है। हाँ, यदि कोई दोष लग जावे तो उसका विधान है ॥ यदि मुनि हाथमें खोपड़ी लेकर माँगने वाले वाममार्गी कापालिकोंसे, रजस्वला स्त्रीसे, चाण्डाल और म्लेच्छ वगैरहसे छू जाये तो उसे स्नान करके, उपवास पूर्वक कायोत्सर्गके द्वारा मंत्रका जप करना चाहिए ॥१२६-१२७॥

भावार्थ—साधारणतः मुनिके लिए स्नान करनेका निषेध है; क्योंकि मुनि अखण्ड ब्रह्मचारी होते हैं तथा आरम्भ आदिसे दूर रहते हैं। हाँ, यदि ऊपर कही गई कोई अशुद्धि हो जाये तो वे स्नान करके बादको उसका प्रायश्चित्त करते हैं।

ऋतुमती स्त्रियोंकी शुद्धि

जो स्त्रियाँ व्रताचरण करती हैं, वे ऋतुकालमें एकाशन अथवा तीन दिनका उपवास करके, चौथे दिन स्नान करके निःसन्देह शुद्ध हो जाती हैं ॥१२८॥

[इस प्रकार मुनियोंके स्नान करनेका कारण बतलाकर ग्रन्थकार आचमन विधिकी आलोचना करते हैं—]

शरीरका जो भाग अशुद्ध हो, जलसे उसीकी शुद्धि करनी चाहिए। अंगुलियोंमें साँपके काट लेनेपर नाकको नहीं काटा जाता है ॥१२९॥ अधोवायुका निस्सरण आदि करनेपर यदि मुखमें अपवित्रता मानते हो तो मुखके अपवित्र होनेपर अधोभागमें शौच क्यों नहीं करते हो ॥१३०॥

भावार्थ—ब्राह्मण धर्ममें विहित कर्म करनेसे पहले शरीरकी शुद्धिके लिए तीन बार हाथपर जलपान किया जाता है। इसे ही आचमन कहते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि शरीरका जो भाग अशुद्ध हो जलसे उसीकी शुद्धि करनी चाहिए, जलपान कर लेनेसे अशुद्ध शरीर कैसे शुद्ध हो सकता है ? यदि मुख अशुद्ध हो तो उसकी शुद्धि करनी चाहिए और यदि कोई दूसरा अंग अशुद्ध हो तो उसकी शुद्धि करनी चाहिए। सबकी शुद्धि जलपान मात्रसे तो नहीं हो सकती। अतः आचमन करना व्यर्थ है।

१. अयोग्यम्। २. ऋतुमती। ३. स्नात्वा। ४. पर्द कुत्सिते शब्दे। पर्दने सति चेदाचमनं क्रियते तर्हि मुखोच्छिष्टे सति अधोभागे शौचं (कुतो न) क्रियते।

विकारे विदुषां द्वेषो नाविकारानुवर्तने ।
तन्नग्नत्वे निसर्गोत्थे को नाम द्वेषकल्मषः ॥१३१॥
नैष्किंचन्यमहिंसा च कुतः संयमिनां भवेत् ।
ते संगाय यदीहन्ते वल्कलाजिनवाससाम् ॥१३२॥
न स्वर्गाय स्थितेर्भुक्तिर्न श्वभ्रायास्थितेः पुनः ।
किं तु संयमिलोकेऽस्मिन्सा प्रतिज्ञार्थमिष्यते ॥१३३॥
पाणिपात्रं मिलत्येतच्छक्तिश्च स्थितिभोजने ।
यावत्तावदहं भुञ्जे रहस्याहारमन्यथा ॥१३४॥
अदैन्यासंगवैराग्यपरीषहकृते कृतः ।
अत एव यतीशानां केशोत्पाटनसद्विधिः ॥१३५॥

इत्युपासकाध्ययन आगमपदार्थपरीक्षो नाम तृतीयः कल्पः ।

[अब मुनियोंकी नग्नताका समर्थन करते हैं—]

विद्वान् लोग विकारसे द्वेष करते हैं, अविकारतासे नहीं । ऐसी स्थितिमें प्राकृतिक नग्नतासे किस बातका द्वेष ? यदि मुनिजन पहिरनेके लिए वल्कल, चर्म अथवा वस्त्रकी इच्छा रखते हैं तो उनमें नैष्किंचन्य—मेरा कुछ भी नहीं है ऐसा भाव तथा अहिंसा कैसे सम्भव है ? अर्थात् वस्त्रादिककी इच्छा रखनेसे उससे मोह तो बना ही रहा तथा वस्त्रके धोने वगैरहमें हिंसा भी होती ही है ॥१३१-१३२॥

[अब मुनियोंके खड़े होकर आहार ग्रहण करनेका समर्थन करते हैं—]

बैठकर भोजन करनेसे स्वर्ग नहीं मिलता और न खड़े होकर भोजन करनेसे नरकमें जाना पड़ता है । किन्तु मुनिजन प्रतिज्ञाके निर्वाहके लिए ही खड़े होकर भोजन करते हैं ॥ मुनि भोजन प्रारम्भ करनेसे पूर्व यह प्रतिज्ञा करते हैं कि—'जबतक मेरे दोनों हाथ मिले हैं और मेरेमें खड़े होकर भोजन करनेकी शक्ति है तबतक मैं भोजन करूँगा अन्यथा आहारको छोड़ दूँगा । इसी प्रतिज्ञाके निर्वाहके लिए मुनि खड़े होकर भोजन करते है ॥१३३-१३४॥

भावार्थ—मुनि खानेके लिए नहीं जीते, किन्तु जीनेके लिए खाते हैं । जैसे गाड़ीको ठीक चलानेके लिए उसे औंघ देते हैं वैसे ही इस शरीररूपी गाड़ीके ठीक तरहसे चलते रहनेके लिए मुनि इसे उतना ही आहार देते हैं जितनेसे यह शरीर चलता रहे और मुनिके स्वाध्याय ध्यान वगैरह कार्योंमें उससे कोई बाधा उपस्थित न हो । इसलिए तथा आत्मनिर्भर बने रहनेके लिए वे खड़े होकर और बायें हाथकी कनकी अंगुलीमें दायें हाथकी कनकी अंगुलि दबाकर बनाये गये हस्तपुटमें भोजन करते हैं । श्रावक एक-एक ग्रास उसकी बाईं हथेली पर रखता जाता है और वे उसे शोधकर दायें हाथकी अंगुलियोंसे मुँहमें रखते जाते हैं । खड़े होकर भोजन करनेसे आत्मनिर्भरता बनी रहती है, भोजनमें अलौल्यता रहती है और परिमित आहार होता है तथा हाथमें भोजन करनेसे एक तो पात्रकी आवश्यकता नहीं रहती, दूसरे यदि शोधकर खाते समय भोजनमें अन्तराय हो जाता है तो बहुत सा भोजन खराब नहीं होता, अन्यथा भरी थाली भी छोड़ना पड़ सकती है । अतः खड़े होकर हाथमें भोजन करना मुनिके लिए विधेय है ।

[अब केशलोंचका समर्थन करते हैं—]

अदीनता, निष्परिग्रहपना, वैराग्य और परीषहके लिए मुनियोंको केशलोंच करना बतलाया है ॥१३५॥

सूर्यार्घो ग्रहणस्नानं संक्रान्तौ द्रविणव्ययः ।
संध्यासेवाग्निसत्कारो गेहदेहार्चनो विधिः ॥१३६॥
नदीनदसमुद्रेषु मज्जनं धर्मचेतसा ।
तरुस्तूपाग्रभक्तानां वन्दनं भृगुसंश्रयः[1] ॥१३७॥
गोपृष्ठान्तनमस्कारस्तन्मूत्रस्य निषेवणम् ।
रत्नवाहनभूयक्षशस्त्रशैलादिसेवनम्[2] ॥१३८॥
समयान्तरपाखण्डवेदलोकसमाश्रयम् ।
एवमादिविमूढानां ज्ञेयं मूढमनेकधा ॥१३९॥
वरार्थं[3] लोकवार्तार्थमुपरोधार्थमेव वा ।
उपासनममीषां स्यात्सम्यग्दर्शनहानये ॥१४०॥
क्लेशायैव क्रियामीषु न फलावाप्तिकारणम् ।
यद्भवेन्मुग्धबोधानामूषरे कृषिकर्मवत् ॥१४१॥
वस्तुन्येव भवेद्भक्तिः शुभारम्भाय भाक्तिके ।
न हारत्नेषु रत्नाय भावो भवति भूतये ॥१४२॥

भावार्थ—मुनियोंके पास एक दमड़ी भी नहीं रहती, जिससे क्षौरकर्म करा सकें, यदि दूसरेसे माँगते हैं तो दीनता प्रकट होती है, पासमें छुरा वगैरह भी नहीं रख सकते। और यदि केश बढ़ाकर जटा रखते हैं तो उसमें जूँ वगैरह पड़ जाती हैं इसलिए वह हिंसाका कारण है। इसके विपरीत केशलोंच करनेमें न किसीसे कुछ माँगना पड़ता है, न कोई हिंसा होती है, प्रत्युत उससे वैराग्यभाव दृढ़ होता है और कष्टोंको सहनेकी क्षमता बढ़ती है, इसलिए मुनिगण केशलोंच करते हैं।

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें आगम और उसमें कहे गये पदार्थोंकी परीक्षा नामका तीसरा कल्प समाप्त हुआ।

लोकमें प्रचलित मूढ़ताओंका निषेध

सूर्यको अर्घ देना, ग्रहणके समय स्नान करना, संक्रान्ति होनेपर दान देना, सन्ध्या वन्दन करना, अग्निको पूजना, मकान और शरीरकी पूजा करना, धर्म मान कर नदियों और समुद्रमें स्नान करना, वृक्ष स्तूप और प्रथम ग्रासको नमस्कार करना, पहाड़की चोटीसे गिरकर मरना, गौके पृष्ठ भागको नमस्कार करना, उसका मूत्र पान करना, रत्न सवारी पृथ्वी यक्ष शस्त्र और पहाड़ वगैरहकी पूजा करना, तथा धर्मान्तरके पाखण्ड, वेद और लोकसे सम्बन्ध रखनेवाली इस प्रकारकी अनेक मूढ़ताएँ जाननी चाहिएँ ॥ वरकी आशासे या लोक रिवाजके विचारसे या दूसरोंके आग्रहसे इन मूढ़ताओंका सेवन करनेसे सम्यग्दर्शनकी हानि होती है ॥ जिस प्रकार ऊसर भूमिमें खेती करनेसे केवल क्लेश ही उठाना पड़ता है, फल कुछ भी नहीं निकलता, उसी तरह इन मूढ़ताओंके करनेसे केवल क्लेश ही उठाना पड़ता है, फल कुछ भी नहीं निकलता ॥ १३६–१४१ ॥

वस्तुमें की गई भक्ति ही शुभ कर्मका बन्ध कराती है। जो रत्न नहीं है उसे

---

१. गिरिपातः । २. पूजनम् । ३. 'भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम् । प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥३०॥— रत्नकरण्डश्रा० ।

अदेवे देवताबुद्धिमव्रते व्रतभावनाम् ।
अतत्त्वे तत्त्वविज्ञानमतो मिथ्यात्वमुत्सृजेत् ॥१४३॥
तथापि यदि मूढत्वं न त्यजेत्कोऽपि सर्वथा ।
मिश्रत्वेनानुमान्योऽसौ सर्वनाशो न सुन्दरः ॥१४४॥
न [1]स्वतो जन्तवः प्रेर्या दुरीहाः स्युर्जिनागमे ।
स्वत एव प्रवृत्तानां तद्योग्यानुग्रहो मतः ॥१४५॥

इत्युपासकाध्ययने मूढतोन्मथनो नाम चतुर्थः कल्पः ।

[2]शङ्काकाङ्क्षाविनिन्दान्यश्लाघा च मनसा गिरा ।
एते दोषाः प्रजायन्ते सम्यक्त्वक्षतिकारणम् ॥१४६॥

रत्न माननेसे कल्याण नहीं हो सकता ॥ कुदेवको देव मानना, अव्रतको व्रत मानना और अतत्त्वको तत्त्व मानना मिथ्यात्व है अतः इसे छोड़ देना चाहिए ॥ फिर भी यदि कोई इन मूढ़ताओंका सर्वथा त्याग नहीं करता (और सम्यक्त्वके साथ-साथ किसी मूढ़ताका भी पालन करता है) तो उसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि मानना चाहिए, क्योंकि मिथ्यात्व सेवनके कारण उसके धर्माचरणका भी लोप कर देना अर्थात् उसे मिथ्यादृष्टि ही मानना ठीक नहीं है ॥ १४२–१४४ ॥

भावार्थ—ऊपर जिन मूढ़ताओंका उल्लेख किया है, उनमेंसे बहुत-सी मूढ़ताएँ आज भी प्रचलित हैं, और लोग धर्म मानकर उन्हें करते हैं, किन्तु उनमें कुछ भी धर्म नहीं है। वे केवल धर्मके नामपर कमाने-खानेका आडम्बर मात्र है। ऐसी मूढ़ताओंसे सबको बचना चाहिए। किन्तु यदि कोई किसी कारणसे उन मूढ़ताओंको पूरी तरहसे नहीं त्याग देता और अपने धर्माचरणके साथ उन्हें भी किये जाता है तो उसे एक दम मिथ्यादृष्टि न मानकर सम्यङ् मिथ्यादृष्टि माननेकी सलाह ग्रन्थकार देते हैं। वे उसके उस धर्माचरणका लोप नहीं करना चाहते,जो वह मूढ़ता पालते हुए भी करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारके समयमें लोक-रिवाज या कामना वश कुछ जैनोंमें भी मिथ्यात्वका प्रचार था और बहुतसे जैन उसे छोड़नेमें असमर्थ थे। शायद उन्हें एक दम मिथ्यादृष्टि कह देना भी उन्हें उचित नहीं जँचा, इसलिए सम्यङ्मिथ्यादृष्टि कह दिया है, वैसे तो मिथ्यात्वसेवी जैन भी मिथ्यात्वी ही माने गये हैं।

जिन मनुष्योंकी चेष्टाएँ या इच्छाएँ अच्छी नहीं हैं उन्हें जिनागममें स्वयं प्रेरित नहीं करना चाहिए। अर्थात् ऐसे मनुष्योंको जैनधर्ममें लानेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिए, किन्तु यदि वे स्वयं इधर आवें तो उनके योग्य अनुग्रह–साहाय्य कर देना चाहिए ॥ १४५ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें मूढ़ताका निषेध करनेवाला चौथा कल्प समाप्त हुआ।

सम्यग्दर्शनके दोष

[अब ग्रन्थकार सम्यग्दर्शनके दोष बतलाते हैं—]

शङ्का, कांक्षा, विनिन्दा और मन तथा वचनसे मिथ्यादृष्टिकी प्रशंसा करना, ये दोष सम्यग्दर्शनकी हानिके कारण हैं ॥१४६॥

---

१. ये नरा दुरीहा दुश्चेष्टास्ते न प्रेरणीया जिनागमे। ये च स्वयं प्रवृत्तास्तेषां योग्यानुग्रहः कार्यः।

२. 'शंकाकांक्षाविचिकित्साऽन्यदृष्टिप्रशंसा-संस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः।—तत्त्वार्थसूत्र ७–२३।

तत्र—

> अहमेको न मे कश्चिदस्ति त्राता जगत्त्रये ।
> इति व्याधिव्रजोत्क्रान्तिभीतिं शङ्कां प्रचक्षते ॥१४७॥
> एतत्तत्त्वमिदं[1] तत्त्वमेतद्व्रतमिदं व्रतम् ।
> एष देवश्च देवोऽयमिति शङ्कां विदुः पराम् ॥१४८॥
> इत्थं[2] शङ्कितचित्तस्य न स्याद्दर्शनशुद्धता ।
> न चास्मिन्नीप्सितावाप्तिर्यथैवोभयवेदने[3] ॥१४९॥
> एष[4] एव भवेद्देवस्तत्त्वमप्येतदेव हि ।
> एतदेव व्रतं मुक्त्यै तदेव स्यादशङ्कधीः ॥१५०॥
> तत्त्वे[5] ज्ञाते रिपौ दृष्टे पात्रे वा समुपस्थिते ।
> यस्य दोलायते चित्तं रिक्तः सोऽमुत्र चेह च ॥१५१॥

इनमेंसे पहले शंका दोषका वर्णन करते हैं—

'मैं अकेला हूँ, तीनों लोकोंमें मेरा कोई रक्षक नहीं है।' इस प्रकार रोगोंके आक्रमणके भयको शंका कहते हैं ॥ 'अथवा यह तत्त्व है या यह तत्त्व है ?' 'यह व्रत है या यह व्रत है ?' 'यह देव है कि यह देव है ?' इस प्रकारके संशयको शंका कहते हैं ॥ जिसका चित्त इस प्रकारसे शङ्कित—शङ्काकुल या भयभीत है उसका सम्यग्दर्शन शुद्ध नहीं है। तथा जैसे नपुंसक अपने मनोरथको पूरा नहीं कर सकता, वैसे ही उसे भी अभीष्टकी प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ 'यही देव है, यही तत्त्व हैं और इन्हीं व्रतोंसे मुक्ति प्राप्त हो सकती है। ऐसा जिसको दृढ़ विश्वास है वही मनुष्य निःशङ्क बुद्धिवाला है ॥ किन्तु तत्त्वके जाननेपर, शत्रुके दृष्टि-गोचर होनेपर और पात्रके उपस्थित होनेपर जिसका चित्त डोलता है,—जो कुछ भी स्थिर नहीं कर सकता, वह इस लोकमें भी खाली हाथ रहता है और परलोकमें भी खाली हाथ रहता है ॥ १४७-१५१ ॥

भावार्थ—'शंका' शब्दके दो अर्थ हैं—भय और सन्देह। जो मिथ्यादृष्टि होता है उसे सदा भय सताता रहता है क्योंकि भय उसे ही होता है जो परवस्तुमें 'यह मेरी हैं' ऐसी भावना रखता है। जो यह समझता है कि यह शरीर, स्त्री, पुत्र, धन-सम्पत्ति वगैरह मुझे शुभ कर्मके उदय से प्राप्त हुई है। जबतक शुभ कर्मका उदय है तब तक रहेगी उसके बाद नष्ट हो जायेगी, उसे कभी भी भय नहीं सताता। अतः जिसे मृत्युका, अरक्षाका या धन-धान्यके विनाशका सदा भय लगा रहता है वह मिथ्यादृष्टि है। किन्तु जो सम्यग्दृष्टि होता है वह सदा निर्भय रहता है। अतः भय करना सम्यक्त्वका घातक है। इसी तरह सदा सन्देह करते रहना भी सम्यक्त्वका घातक है। वस्तु तत्त्वमें यथार्थ प्रतीति सम्यग्दृष्टिको ही होती है। वह एक बार वस्तु स्वरूपको समझकर जब उसपर दृढ़ आस्था कर लेता है तो फिर उसे उसके विश्वाससे कोई भी नहीं डिगा

---

१. 'तत्त्वमेतदिदं तत्त्वमेतद्व्रतमिदं व्रतम्। देवोऽयमेष देवः स्यादित्ययं संशयो मतः ॥२४॥—प्रबोधसार। २. 'तथा संदेहभावेषु न स्याद्दर्शनशुद्धता। नैवास्मिन्नीप्सितावाप्तिर्यथैवोभयवेतने ॥२५॥—प्रबो० सा०। ३. नपुंसकवेदने वाञ्छायां यथा वाञ्छितार्थप्राप्तिर्न भवति। ४. 'अर्हन्नेव भवेद्देवस्तत्त्वं तेनोक्तमेव च। व्रतं दयाद्यमेव स्यान्मुक्त्यै योऽन्यो ह्यशङ्कितः ॥३८॥—धर्मरत्नाकर-पत्र ६६। ५. 'तत्त्वे बुद्धे धने लब्धे पात्रे वा समुपस्थिते। यस्य दोलायते स्वान्तः सोऽधर्मः स्याद् भवद्वये ॥२६॥—प्रबो० सा०। विज्ञाय तत्त्वं प्रविलोक्य शत्रून् दृष्ट्वा स्वयं पात्रमुपस्थितं च। दोलायमानो हृदि जायते यो रिक्तो ? ह्यसावत्र परत्र च स्यात् ॥४०॥ धर्मरत्ना०, पत्र ६९।

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—इहैवानेकाश्चर्यसमीपे जम्बूद्वीपे जनपदाभिधानास्पदे जनपदे भूमितिलकपुरपरमेश्वरस्य गुणमालामहादेवीरतिकुसुमशरस्य नरपालनाम्नो नरेन्द्रस्य श्रेष्ठी सुनन्दो नाम। धर्मपत्नी चास्य जनितनिखिलपरिजनहृदयानन्दा सुनन्दा नाम। अनयोः सूनुर्धनद-धनबन्धु-धनप्रिय-धनपाल-धनदत्त-धनेश्वराणामनुजः सकलकूटकपटचेष्टितहरिर्धन्वन्तरिर्नाम। तथा तन्नृपतिपुरोहितस्याग्निलादयितस्योदितोदितधर्मकर्मणः सोमशर्मणः सुतो विश्वरूप-विश्वेश्वर-विश्वमूर्ति-विश्वामित्र-विश्वावसु-विश्वावलोकानामनवरजः समस्तसद्वृत्तप्रतिलोमो[1] विश्वानुलोमो नाम।

तौ द्वावपि सहपांशुक्रीडितत्वात्समानशीलव्यसनत्वाच्च क्षीरनीरवत्समाचरितसख्यौ द्यूतमदिरापरदारचौर्याद्यनार्यकार्यपर्यायप्रवर्तनमुख्यौ सन्तौ तेनावनीपतिनात्मीयनगरात्सनिकारं[2] निर्वासितौ कुरुजाङ्गलदेशेषु वीरमतिमहादेवीवरेण चोरनरेश्वरेणाधिष्ठितं यमदण्डतरपालेनाश्रितमशेषसंसारसारसीमन्तिनीमनोहरं हस्तिनागपुरमवाप्य संपादितावस्थितौ

सकता। ऐसा अडिगपना ही सिद्धिका कारण होता है। किन्तु जो लोग जरासे सन्देहमें पड़कर मूल तत्त्वोंमें ही सन्देह करने लगते हैं। कभी किसीको अच्छा समझ बैठते हैं तो कभी किसीको अच्छा समझ बैठते हैं। वे बे-पेन्दीकी लोटेकी तरह सदा इधरसे उधर लुढ़का करते हैं और कोई भी उनकी प्रतीति नहीं करता। अतः सम्यग्दृष्टिको निःसन्देह होना चाहिए। उसे तत्त्वको समझनेका प्रयत्न तो करना चाहिए किन्तु यदि वह समझमें न आये या कोई समझा न सके तो उस तत्त्वकी सत्यतामें ही सन्देह नहीं कर बैठना चाहिए। यही निःशंकितपना है जो सम्यग्दर्शन का प्रथम अंग है।

१. निःशङ्कित अंगमें प्रसिद्ध अंजनचोरकी कथा[3]

अब निःशङ्कित अङ्गके सम्बन्धमें कथा सुनिए—

इसी जम्बूद्वीपके जनपद नामक देशमें भूमितिलकपुर नामका नगर है। उसका स्वामी नरपाल नामका राजा था। उसकी पट्टरानीका नाम गुणमाला था। उसके राजश्रेष्ठीका नाम सुनन्द था। सुनन्दके समस्त परिवारके हृदयको आनन्दित करनेवाली सुनन्दा नामकी धर्मपत्नी थी। इन दोनोंके धनद, धनबन्धु, धनप्रिय, धनपाल, धनदत्त, धनेश्वर और धन्वन्तरि नामके पुत्र थे। छोटा पुत्र धन्वन्तरि सब जाल-फरेबकी मायामें निपुण था।

राजाका पुरोहित धर्म-कर्ममें निपुण सोमशर्मा था। उसकी पत्नीका नाम अग्निला था। उनके विश्वरूप, विश्वेश्वर, विश्वमूर्ति, विश्वामित्र, विश्वावसु, विश्वावलोक और विश्वानुलोम नामके पुत्र थे। ज्येष्ठ पुत्र विश्वानुलोम समस्त सदाचारका विद्वेषी था।

धन्वन्तरि और विश्वानुलोम दोनों साथ-साथ खेले थे तथा दोनोंका स्वभाव और आदतें भी समान थीं, इसलिए दोनोंमें दूध और पानीकी तरह घनिष्ठ मित्रता थी। जुआ, शराब, परस्त्रीगमन और चोरी वगैरह दुराचारोंमें रत रहनेके कारण दोनोंका तिरस्कार करके राजाने उन्हें अपने देशसे निकाल दिया। वहाँसे निकाले जाकर वे दोनों कुरुजांगल देशके हस्तिना-

---

१. सदाचारशत्रुः। २. सपरिभवम्। ३. यह शब्दशः अनुवाद नहीं है।

कदाचिदस्तमस्तकोत्संसतपनातपनिचये संध्यासमये मदसखी[1]मलिनकपोलपालीनिलीनालिकुलालिख्यमानमुखपटाभोगमक्षोभ्रसरान्नीलगिरिकुञ्जरात्स्वच्छन्दतोऽभिमुखमागच्छतो निवृत्य श्रीधर्माचार्योच्चार्यमाणधर्मश्रवणोचितं नित्यमण्डितं नाम चैत्यालयमासादयामासतुः।

तत्र च 'धन्वन्तरे, यदि सीधुपिशितोपदंशप्रमुखानि संसारसुखानि स्वेच्छयानुभवितुमिच्छसि, तदाऽवश्यममीषामम्बराम्बरावृतवपुषां धर्मो न श्रोतव्यः' इत्यभिधाय पिधाय च श्रवणयुगलमतिनिर्भरं[2] प्रमीला[3]वलम्बिलोचनायामो विश्वानुलोमः सुष्वाप। धन्वन्तरिस्तु 'प्राणिना हि नियमेन किमप्यचलितात्मतया व्रतमुपात्तं भवति उदर्केऽवश्यं स्वःश्रेयसनिमित्तम्' इति प्रस्तावायातमाचार्योदितमुपश्रुत्य, प्रणिपत्य च 'यद्येवं तर्हि भगवन्, अयमपि जनोऽनुगृह्यतां कस्यापि व्रतस्य प्रदानेन' इत्यवोचत्। तदनु 'ततः सूरेः खलतिविलोकनात्त्वयाश[4]नीयम्[5]' इति व्रतेन कुलालालब्धधनिधानः पयःपूराविष्टपिष्टशकटपरित्यागाद्विगतोर-

पुर नामक नगरमें आये। वहाँके राजाका नाम वीरनरेश्वर था और उसकी पट्टरानी वीरमणी थी। तथा यमदण्ड वहाँका कोतवाल था।

एक दिन सन्ध्याके समय सूरजके डूब जानेपर वे दोनों घूमने निकले। सामनेसे नीलगिरिके समान एक मदोन्मत्त हाथीको स्वच्छन्दताके साथ सन्मुख आता हुआ देखकर दोनों एक नित्यमण्डित नामके चैत्यालयमें घुस गये। वहाँ धर्माचार्य धर्मका उपदेश कर रहे थे।

विश्वानुलोमने धन्वन्तरिसे कहा—'धन्वन्तरि! यदि संसारके मदिरा, माँस, व्यञ्जन आदि सुखोंको यथेच्छ भोगना चाहते हो तो इन दिगम्बर साधुओंका धर्म मत सुनो।' ऐसा कहकर दोनों कानोंको बन्द करके और आँखोंको मीचकर विश्वानुलोम सो गया। उधर आचार्य कह रहे थे कि यदि प्राणी दृढ़ताके साथ नियम पूर्वक किसी भी व्रतका पालन करे तो उत्तरकालमें वह व्रत अवश्य ही उसका कल्याण करता है। यह सुनकर आचार्यको नमस्कार करके धन्वन्तरि बोला—'भगवान्! यदि ऐसा है तो इस दासको भी कोई व्रत देनेकी कृपा करें।'

आचार्यने उसकी स्थितिको समझकर कहा—'तुम प्रतिदिन घुटे सिर व्यक्तिका दर्शन करके भोजन किया करो।' धन्वन्तरिने इस व्रतको सहर्ष स्वीकार कर लिया।

एक दिन जैसे ही वह भोजन करनेके लिए बैठा, उसे अपने नियमकी याद आई, उस दिन वह घुटे सिर व्यक्तिका दर्शन करना भूल गया था। अतः उसने भोजन नहीं किया और घुटे सिर व्यक्तिकी खोजमें चल दिया। उसके पड़ोसी एक कुम्हारने उसी दिन सिर घुटवाया था, किन्तु वह मिट्टी लेनेके लिए बाहर चला गया था, धन्वन्तरि उसकी खोजमें चल दिया। जब वह कुम्हारके पास पहुँचा तो कुम्हार उसे देखकर घबरा गया। कुम्हारको उस दिन मिट्टी खोदते हुए एक घड़ा मिला था उसमें धन था। जब धन्वन्तरि कुम्हारको देखकर तुरन्त ही लौट गया तो कुम्हारको सन्देह हुआ कि उसने मुझे जमीनसे घड़ा निकालते हुए देख लिया है और अब वह कहीं राजासे मेरी शिकायत न कर दे। अतः उसे धनका आधा भाग देकर राजी कर लेना चाहिए। राजा तो सब धन ले लेगा। यह सोचकर कुम्हार धनका घड़ा सिरपर रखकर धन्वन्तरिके पीछे-पीछे हो लिया। और उसके घर पहुँचकर उसने वह घड़ा उसके सामने रखकर सब हाल

१. मदमषी—आ०। मदपक्षी—मु०। २. निरर्भप्र—आ०। ३. निद्रा। ४. -र्वं सूरे त—आ०। ५. भोक्तव्यम्।

गोक्षीर्णगरलजनितमृत्युसंगतिरज्ञातनामानोकहपरिहारेण[1] व्यतिक्रान्तकिंपाकफलापादितापत्तिः पुनरविचार्य किमपि कार्यं नाचर्यमिति गृहीतव्रतजातिरेकदा निशि नगरनायकनिलये नटनृत्यनिरीक्षणात्कृतकालक्षेपक्षणः स्वावासमनुसृत्य शनैर्विघटितकपाटपुटसंधिबन्धः स्वकीयया सवित्र्या[2] विहितगाढावरुण्डनमात्मकलत्रं[3] जातनिद्रातन्त्रमवलोक्योपपत्तिशङ्कया[4] मुहुरुत्खातखड्गो भगवतोपपादितं व्रतमनुसस्मार। शुश्राव[5] च दैवात्तदैव 'मनागतः परतः सर, खरं,

---

कहा। एक छोटे-से व्रतके कारण धनकी प्राप्तिको देखकर धन्वन्तरिका हृदय गुरु महाराजके प्रति भक्तिसे गद्‌गद् हो गया। और वह नया व्रत ग्रहण करनेके लिए पुनः उनकी शरणमें पहुँचा।

इस बार मुनिराजने उससे कहा—बलिदानके लिए आटेका पशु वगैरह बनाकर लोग चौराहों आदिपर रख देते हैं उसे तुम नहीं खाना।

एक दिन धन्वन्तरि अपने मित्र विश्वानुलोम तथा अन्य साथियोंके साथ चोरी करके लौट रहा था। सब लोग भूखे थे। उन्होंने मार्गमें आटेके बने बैल रखे हुए देखे। विश्वानुलोमने उसकी रोटी बनाकर खानेका प्रस्ताव किया। किन्तु धन्वन्तरिने अपने व्रतके कारण उसे स्वीकार नहीं किया। तब विश्वानुलोम उसपर बहुत नाराज हुआ। किन्तु धन्वन्तरि अपने नियमसे विचलित नहीं हुआ। उसके साथियोंने उस आटेकी रोटियाँ बनाईं किन्तु धन्वन्तरिके स्नेहवश विश्वानुलोमने नहीं खाईं। वे दोनों बच गये और उन रोटियोंको खानेवाले उनके साथी मृत्युके मुखमें चले गये, क्योंकि कोई साँप उस आटेके पुतलेको जहरीला कर गया था। व्रतके ही कारण जीवन रक्षा होनेसे धन्वन्तरि और भी अधिक प्रभावित हुआ और गुरु महाराजके पास पुनः व्रत ग्रहण करनेके लिए गया।

गुरु महाराजने कहा—जिस वृक्षका नाम अज्ञात हो, उसके फल नहीं खाना।

एक दिन धन्वन्तरि और विश्वानुलोम चोरी करके एक जंगलमें पहुँचे। सब लोग भूखे थे किन्तु खानेके लिए वहाँ कुछ भी नहीं था। खोजबीन करनेपर एक वृक्षपर फल लगे हुए मिले। उन्हें ही तोड़कर सब खानेके लिए बैठे। धन्वन्तरिने जैसे ही एक फल अपने मुखमें रखनेके लिए उठाया। उसे अपने व्रतका स्मरण हो आया। उसने तत्काल पूछा कि ये फल जिस वृक्षके हैं उसका नाम क्या है? किन्तु कोई भी उसका नाम नहीं बता सका। अतः धन्वन्तरिने उनको खाना स्वीकार नहीं किया। धन्वन्तरिके साथ विश्वानुलोमने भी उन फलोंको नहीं खाया। वे विषफल थे, अतः खाते ही उनके साथी चल बसे और वे दोनों मित्र पुनः बच गये।

व्रतके कारण दुबारा प्राणरक्षा होनेसे धन्वन्तरि गुरु महाराजका और भी दृढ़ भक्त बन गया और पुनः उनकी सेवामें उपस्थित होकर व्रतोंकी याचना करने लगा। इस बार आचार्यने उसे बिना विचारे कोई काम न करनेका व्रत दिया।

एक दिन रातमें नगरके मुखियाके मकानपर नटोंका नृत्य होता था। उसे देखकर धन्वन्तरि देरसे घर लौटा। धीरेसे द्वार खोलकर जैसे ही उसने अन्दर देखा, अपनी माता और पत्नीको गाढ़ आलिंगन पूर्वक सोते हुए पाया। परपुरुषकी आशङ्कासे उसे मारनेके लिए जैसे ही धन्वन्तरिने तलवार ऊपर उठाई वैसे ही उसे आचार्यके द्वारा दिये हुए व्रतका स्मरण हो आया।

---

१. परित्यागेन मु०। २. मात्रया धृतपुरुषरूपया। ३. कृतालिङ्गनम्। ४. निद्राधीनम्। ५. श्रुतवान् गृहिणीवाणीं—हे मातः परतः सर यतो मे खरं कठिनं शरीरसम्बाधा इति।

मे शरीरसंबाधः' इति गृहिणीगिरम् । ततश्च 'यद्येदं व्रतमहमद्य नाग्रहीषम्, तदेमां मातरमिदं च प्रियकलत्रमसंशयं [1]विशस्येह दुरपवादरजसाममुत्र च दुरन्तैनसां भागी भवेयम्' इति जातनिर्वेदः सर्वमपि ज्ञातिलोकं यथायथं मनोरथोल्लेकमवस्थाप्य 'यत्रैव देशे दुरपवादोपहतं चेतस्तत्रैव देशे समाश्रीयमाणमाचरणं न भवति निरपवादम्' इति प्रकाशितोपदेशस्य तस्य भगवतो निदेशाद्धरणिभूषणभूधरोपकण्ठे तपस्यतः कान्तारदेवताविहितसपर्यार्द्धर्माचार्यात्सुरसुन्दरीकटाक्षविपक्षां दीक्षामादाय विदितवेदितव्यसंप्रदायः सब्रह्मचारिस्तम्बाडम्बरितोपान्तपलाशिमालायामेतदचलमेखलायामातापनयोगस्थितोऽनवरतप्रवर्धमानाध्यात्मध्यानावन्ध्यनिरतः 'किमयं कर्कशोत्कीर्णः, किं वास्मादेव पर्वतान्निरूढः' इति वितर्काभ्यर्णो बभूव ।

संजातसुहृत्समालोकनकामो विश्वानुलोमोऽपि तत्परिजनात्परिज्ञाततत्प्रव्रजनव्यतिकरः 'मित्रधेयस्य धन्वन्तरेर्या गतिः सा ममापि' इति प्रतिज्ञाप्रवरस्तत्रागत्य जैनजनसमयस्थितिमनवबुध्यमानः 'हंहो मनोरहस्य वयस्य, चिरान्मिलितोऽसि । किमिति न मे गाढामङ्क[2]पालीं ददासि, किमिति न माममालापयसि, किमिति न सादरं [3]वार्तामापृच्छसे' इत्यादि बहु सप्रश्रयमाभाष्य निजनियमानुष्ठानै[4]कतानमनसि निरागसि धन्वन्तरियतीश्वरे प्रकुप्य सविधाशिवतातिः प्रादुर्भवदप्रीतिर्भू[5]तरमणीयधरणिधरसमीपसमुत्पादितोटजस्य सहस्रजटस्य जटिनो निकटे शतजटोऽजनिष्ट ।

भाग्यवश उसी समय उसने पत्नीकी आवाज सुनी, जो कह रही थी—माता ! 'जरा दूर हटो, मुझे कष्ट हो रहा है ।' तब धन्वन्तरि सोचने लगा—'यदि मैंने यह व्रत न लिया होता तो आज अवश्य ही माता और पत्नीको मारकर इस लोकमें निन्दाका और परलोकमें भारी पापका भागी होता ।' यह सोचते ही उसे वैराग्य हो गया । तब सब परिवारके लोगोंके मनको जैसे-तैसे सान्त्वना देकर उसने जिन दीक्षा लेनेका विचार किया । आचार्यने कहा कि जिस देशमें अपनी बदनामी हो उस देशमें धारण किया हुआ आचरण निरपवाद नहीं रहता । अतः आचार्यकी आज्ञासे धरणिभूषण नामके पर्वतके समीपमें तपस्या करनेवाले, श्रीधर्माचार्यके पास जाकर उसने जिनदीक्षा धारण कर ली । आम्नायकी जानने योग्य सब बातोंको जानकर धन्वन्तरि मुनि उसी पहाड़की उपत्यकामें आतापन योगसे स्थित होकर आत्मध्यानमें लीन हो गये । उन्हें देखकर यह सन्देह होता था क्या यह इसी पर्वतसे निकला है या पत्थरमें उकेरी गई कोई आकृति है ?

एक दिन विश्वानुलोम अपने मित्र धन्वन्तरिसे मिलनेकी उत्कण्ठाके साथ उसके घर गया । और वहाँ उसे धन्वन्तरिके कुटुम्बिजनोंसे उसके दीक्षा लेनेका सब समाचार ज्ञात हुआ । 'मेरे मित्र धन्वन्तरिकी जो दशा हुई वही मेरी भी हो' ऐसी प्रतिज्ञा करके वह धन्वन्तरिके पास आया और जैन मुनिके आचारको न जानता हुआ कहने लगा—'अरे प्रिय मित्र ! बहुत दिनोंके बाद मिले हो । क्यों नहीं मुझसे गले मिलते ? क्यों मुझसे बात नहीं करते ? क्यों आदरके साथ मेरे कुशल-समाचार नहीं पूछते ?' इस प्रकार बड़े प्रेमसे बोलनेपर भी धन्वन्तरि मुनि आत्मध्यानमें लीन रहे । इससे रुष्ट होकर, विश्वानुलोम उसी पहाड़के समीप एक कुटीमें रहनेवाले जटाधारी साधुके निकट

---

१. मारयित्वा । २. आलिंगनम् । ३. कुशलम् । ४. एकाग्र । ५. तृणगृहम् ।

धन्वन्तरिर्व्यातापनयोगान्ते तस्य संबोधनाय संमन्ते[1] समुपसद्य 'मत्प्रणयपान्थविश्रामाराम विश्वानुलोम जिनधर्मस्थितिमनवबुध्यमानः किमित्यकाण्डे चण्डभावमावाय दुराचारप्रधानः समभूः। तदेहि विहायेमं दुःपथकथासनाथं शमथावसथ[2]मनोरथं सहैव तपस्याव:' इति बहुशः कृतप्रयत्नप्रकाशोऽपि दुःशिक्षावशात्समोलपोतरुतभीतपतङ्गपाकमिव[3] मुधामौनमूकतोपरक्तितचित्तोत्सेकं तितउ[4]र्पात्र इव तन्मनोमत्रेऽप्राप्तसदुपदेशपयोवस्थानः प्रतिबोधयितुमशक्नुवन्गुरुपादमूलमनुशील्य कालेन प्रवचनोचितं चरमाचरणाधिकृतं विधिं विधाय विबुधाङ्गनाजनोच्चार्यमाणमङ्गलपरम्परानल्पेऽच्युतकल्पे समस्तसुरसमाजस्तूयमानमहातपःपरायणप्रतिभोऽमितप्रभो नाम देवोऽभवत्।

विश्वानुलोमोऽपि पुरोपार्जितजीवितावसाने विपद्योत्पद्य च व्यन्तरेषु गजानीकमध्ये विजयनामधेयस्य विद्युत्प्रभाख्यया वाहनो बभूव। पुनरेकदा पुरंदरपुरःसरेण दिविजवृन्देन सह नन्दीश्वरद्वीपास्तमत्यचैत्यालयाश्रयामष्टाह्नीपर्वक्रियां निर्वर्त्यागच्छन्नसावमितप्रभो देवस्तं विद्युत्प्रभमिभमवेक्ष्याह्लादमानमानसः प्रयुज्यावधिमवबुद्धपूर्ववृत्तान्तः 'विद्युत्प्रभ, किं स्मरसि जन्मान्तरोदन्तम्' इत्यभाषत।

विद्युत्प्रभः—'अमितप्रभ, बाढं स्मरामि। किंतु सकलत्रचारित्राधिष्ठानादनुष्ठानान्ममैवंविधः कर्मविपाकानुरोधः। तव तु ब्रह्मचर्यवशात्कायक्लेशादीदृशः। ये च मदीये समये जमदग्नि-मतङ्ग-पिङ्गल-कपिञ्जलादयो महर्षयस्ते तपोविशेषादिहागत्य भवतोऽप्यभ्यधिका भविष्यन्ति। ततो न विस्मेतव्यम्'।

जटाधारी साधु बन गया। आतापन योगके समाप्त होनेपर धन्वन्तरि मुनि उसे समझाने गये। बोले—'मेरे प्रेमरूपी पथिकके विश्राम करनेके लिए उद्यानके तुल्य विश्वानुलोम! जैन धर्मकी मर्यादाको न जानकर, बिना कारण क्रोध करके तुम क्यों कुमार्गगामी हो गये हो? चलो इस कुमार्गको छोड़ो, दोनों साथ ही तपस्या करेंगे।' इस प्रकार बार-बार कहनेपर भी विलावके बच्चेके शब्दसे डरे हुए पक्षी शावककी तरह मूक रहकर वह मौनका ढोंग बनाये रहा और चलनीमें दूधकी तरह उसके मनमें धन्वन्तरिका सदुपदेश नहीं ठहर सका। तब धन्वन्तरि उसे समझानेमें अपनेको असमर्थ जानकर गुरुके पादमूलमें लौट आये और आगमानुसार उत्कृष्ट चारित्रका पालन करते हुए शरीर त्यागकर देवांगनाओंके मंगलगानसे मुखरित सोलहवें स्वर्गमें अमितप्रभ नामक देव हुए। वहाँ देव समाजने उनके महातपकी बड़ी प्रशंसा की।

विश्वानुलोम भी मरकर विजय नामक व्यन्तरकी गजसेनामें विद्युत्प्रभ नामसे वाहन जातिका देव हुआ। एक बार अष्टाह्निका पर्वमें अमितप्रभ देव इन्द्रादिक देवताओंके साथ नन्दीश्वरद्वीपके चैत्यालयोंकी पूजा करके लौट रहा था। मार्गमें विद्युत्प्रभ नामके हाथीको देखकर उसका मन बड़ा हर्षित हुआ और अवधिज्ञानसे पूर्व जन्मका सब वृत्तान्त जानकर वह बोला—'विद्युत्प्रभ! क्या पूर्व जन्मका वृत्तान्त याद है?'

विद्युत्प्रभ बोला—'अमितप्रभ, हाँ, खूब याद है। किन्तु सपत्नीक चारित्रका पालन करनेसे मेरा कर्मोदय ऐसा हुआ और ब्रह्मचर्यके कारण कायक्लेश उठानेसे तेरा कर्मोदय ऐसा हुआ। किन्तु मेरे समयके जो जमदग्नि, मतङ्ग, पिंगल, कपिञ्जल आदि महर्षि हैं वे तपस्याके

---

१. समीपे। २. तापसाश्रम। ३. मार्जारबालशब्दभीतपक्षिबालमिव।—क्रुशावक—ब०। ४. चालनिका।

अमितप्रभः—'विद्युत्प्रभ, संप्रत्यपि न मुञ्चसि दुराग्रहम्। तदेहि। तव मम च लोकस्य परीक्षावहे चित्तम्' इति विहितविवादौ तौ द्वावपि देवौ करहाटदेशस्य पश्चिमदिग्भागमाश्रित्य क्ष्मापीतलमवतेरतुः।

तत्र च वनेचरसैन्यसौजन्याशून्ये तन्निकटदण्डकारण्यवने समित्कुशकुशेशयप्रकामे बदरिकाश्रमे बहुलकालकृतकृच्छ्रतपसं चन्द्रचण्डमरीचिरुचिपानपरायणमनसमूर्ध्वबाहुमेकपादावस्थानाग्रहराद्युमनल्पोल्लसत्पल्लवाविरलवल्लीगुल्मवल्मीकावरुद्धवपुषमतिप्रवृद्धवृद्धतासु-धावधलितशिरःश्मश्रुजटाजालत्विषमृषेः कश्यपस्य शिष्यं जमदग्निमवलोक्य पत्त्ररथमिथुनकथोचिताश्लेषं वेषं विरचय्य तत्कूर्चकुलायकुटीरकोटरे निविष्टौ 'कान्ते, काञ्चनाचलमूलमेखलायामशेषशकुन्तचक्रवर्तिनो वैनतेयस्य वातराजसुतया मदनकन्दलीनामया सह महान्विवाहोत्सवो वर्तते। तत्र मयावश्यं गन्तव्यम्। त्वं तु सखि, समासन्नप्रसवसमया सती सह न शक्यसे नेतुम्। अहं पुनस्तद्विवाहोत्सवानन्तरमकालक्षेपमागमिष्यामि। यथा चाहं तत्र चिरं नावस्थास्ये तथा मातुः पितुश्चोपरि महान्तः शपथाः। किं च बहुनोक्तेन। यद्यहमन्यथा वदामि तदास्य पापकर्मणस्तपस्विनो दुरितभागी स्याम्' इत्यालापं चक्रतुः।

तं च जमदग्निः कर्णकटुमालापमाकर्ण्य प्रवृद्धक्रोधः कराभ्यां तत्कदर्थनार्थं कूर्चं

प्रभावसे यहाँ आकर तुमसे भी बड़े देव होंगे। इसलिए मुझे देखकर तुम्हें आश्चर्य नहीं करना चाहिए।'

अमितप्रभ बोला—'विद्युत्प्रभ ! अब भी अपने दुराग्रहको नहीं छोड़ते हो तो आओ हम दोनों अपने-अपने धर्मात्माओंके चित्तकी परीक्षा करें।'

इस प्रकार परस्परमें झगड़ते हुए वे दोनों देव करहाट देशकी पश्चिम दिशामें पृथ्वीपर उतरे। वहाँ दण्डकारण्य वनमें समिधा, कुश और कमलोंसे भरे हुए बदरिकाश्रममें उन्होंने बहुत कालसे कठोर तपस्या करते हुए कश्यप ऋषिके शिष्य जमदग्निको देखा। वे जमदग्नि ऋषि चन्द्र और सूर्य दोनोंकी किरणोंका पान करनेमें तत्पर थे। उनके दोनों हाथ ऊपर उठे हुए थे, वे एक पैरसे खड़े थे। उनके चारों ओर उगी हुई घनी लता झाड़ी और वामियोंने उनके शरीरको ढक दिया था, और बहुत वृद्ध हो जानेके कारण उनके सिर और दाढ़ी मूछोंके बाल चूनेकी तरह सफेद हो गये थे। उन्हें देखकर उन दोनों देवताओंने पक्षियोंके जोड़का रूप बनाया और उनकी जटाओंमें घोंसला बनाकर रहने लगे।

एक दिन पक्षी बोला—'प्रिये ! सुवर्णगिरिकी उपत्यकामें समस्त पक्षीकुलके सम्राट् गरुड़राजका वातराजकी सुता मदनकन्दलीके साथ महान् विवाहोत्सव हो रहा है। उसमें मुझे अवश्य जाना है। तुम्हारा प्रसवकाल समीप है इसलिए तुम्हें मैं अपने साथ नहीं ले जा सकता। विवाहोत्सवके बाद तुरन्त ही मैं लौट आऊँगा। मैं अपने माता-पिताकी शपथ करता हूँ कि मैं वहाँ बहुत समय तक नहीं ठहरूँगा। अधिक क्या कहूँ, यदि झूठ बोलूँ तो इस पापी तपस्वीके पापका भागी मैं होऊँ।'

इस अप्रिय बातके सुनते ही जमदग्निका क्रोध भड़क उठा और उसने पक्षियोंको मारनेके

---

१. भूमि। २. ईंधन। ३. दर्भ। ४. जल। ५. सूर्य। ६. -तिप्रवृद्धहृदयता—आ०। ७. पक्षियुगल। ८.-चक्रचक्र—आ०। ९. नामधेयया आ०।

मलितवान्। अम्बरचरौ [2]विकिरावप्युड्डीय तदग्रविटपिनि संनिविश्य पुनरपि तं तापसम-वलोहलालापौ निकाममुपजहसतुः। तापसः साध्वसविस्मयोपप्लुतमानसः 'नैतौ खलु पक्षिणौ भवतः। किं तु रूपान्तरावुमामहेश्वराविव कौचिद्देवविशेषौ। तदुपगम्य प्रणम्य च पृच्छामि तावदात्मनः पापकर्मत्वकारणम्।

अहो मत्पूर्वपुण्यसंपादितावलोकनदिव्यद्विजोत्तमान्वयसंभवसदनपतङ्गमिथुन, कथयतां भवन्तौ कथमहं पापकर्मा' इति।

पतत्रिणौ—'तपस्विन्, आकर्णय।

अपुत्रस्य गतिर्नास्ति स्वर्गो नैव च नैव च।
तस्मात्पुत्रमुखं दृष्ट्वा पश्चाद्भवति भिक्षुकः ॥१५२॥

तथा—

[3]अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्राँश्चोत्पाद्य युक्तितः।
इष्ट्वा यज्ञैर्यथाकालं ततः प्रव्रजितो भवेत् ॥१५३॥

इति स्मृतिकारकीर्तितमप्रमाणीकृत्य तपस्यसि' इति।

'कथं तर्हि मे शुभाः परलोकाः'।

'परिणयनकरणादौरसपुत्रोत्पादनेन'।

'किमत्र दुष्करम्' इत्यभिधाय मातुलस्य विजयामहादेवीपतेरिन्द्रपुरैश्वर्यभाजः काशिराजस्य भूभुजो भवनभाग्भूत्वा तदुदुहितरं रेणुकां परिणीयाविरलकलापोलपालंकृत-पुलिनासराले मन्दाकिनीकूले महदाश्रमपदं संपाद्य परशुरामपिताऽभूत्।'

लिए दोनों हाथोंसे अपने सिरको मसला। दोनों पक्षी भी तत्काल उड़कर उसके सामने वाले वृक्षपर जा बैठे, और मीठे शब्दोंमें उस तापसकी खूब हँसी करने लगे। यह देखकर तापसका मन भय और आश्चर्यसे भर गया। वह सोचने लगा—'ये दोनों पक्षी नहीं हैं किन्तु रूप बदले हुए शिव और पार्वतीके समान कोई देवता हैं अतः इनके पास जाकर और प्रणाम करके अपने पापी होनेका कारण पूछूँ।'

यह सोच उनके पास जाकर वह बोला—'दिव्य द्विजश्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न पक्षियुगल! मेरे पूर्व संचित पुण्यसे ही आपका दर्शन हुआ है। बतलाइए। मैं कैसे पापी हूँ।'

पक्षी बोले—'सुनो तपस्वी—स्मृतिकारोंका कथन है कि—बिना पुत्रके मनुष्यकी गति नहीं होती और स्वर्ग तो मिलता ही नहीं है। इसलिए पुत्रका मुख देखकर पीछे भिक्षुक होना चाहिए। तथा—विधिपूर्वक वेदोंका अध्ययन करके, धर्मपूर्वक पुत्रोंको उत्पन्न करके और शक्तिके अनुसार यज्ञ करके फिर साधु होना चाहिए। ॥१५२-१५३॥

किन्तु तुम स्मृतिकारके इस कथनको प्रमाण न मानकर तपस्या करते हो।'

'तो मेरा परलोक कैसे शुभ हो सकता है?'

'विवाह करके औरस पुत्र उत्पन्न करनेसे।'

'यह क्या कठिन है'—ऐसा कहकर जमदग्नि ऋषिने विजया महादेवीके पति, इन्द्रपुरके समान ऐश्वर्यके भोगी अपने मामा काशीराजके महलमें जाकर उनकी लड़की रेणुकासे विवाह कर

---

१. पक्षिणौ। २. व्यक्तस्वरौ। ३. 'अधीत्य......। इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥' —मनुस्मृति ६-३६।

भवति चात्र श्लोकः—

अन्तस्तत्त्वविहीनस्य वृथा व्रतसमुद्यमः ।
पुंसः स्वभावभीरोः स्यान्न शौर्यायायुधग्रहः ॥१५४॥

इत्युपासकाध्ययने जमदग्नितपःप्रत्यवसादनो नाम पञ्चमः कल्पः ।

पुनस्तौ त्रिदशौ मगधदेशेषु कुशाग्र[1]नगरोपान्तापातिनि पितृवने कृष्णचतुर्दशी-निशि निशाप्रतिमाशयवशमेकाकिनं जिनदत्तनामानमुपासकमवलोक्य साक्षेपम् 'अरे दुराचाराचरणमते निराकृते[2] अविदितपरमपद मनुष्यापसद, शीघ्रमिमामूर्ध्वशोषं शुष्कस्थाणुसमां प्रतिमां[3] परित्यज्य पलायस्व । न श्रेयस्करं खलु तवात्रावसरं पश्यावः । यस्मादावां ह्येतस्याः परेतपुरभूयस्या[4] भूमेः पिशाचपरमेश्वरौ । तदलमत्र कालव्यालावलोकनकरप्रस्थानेन[5] । मा हि कार्षीरन्तरायोत्कर्ष[6]भावमतुच्छस्वच्छन्द-केलिकुतूहलबहलान्तःकरणप्रसवयोरावयोः' इत्युक्तमपि प्रकामप्रणिधानो[7]द्युक्तमवेक्ष्य न्यक्षतः[8] कीनाश[9]कासर[10]निकायकायाकारघोरघनघस्मराडम्बरप्रथमप्रारम्भावहैः प्रचण्डतडिद्दण्डसंघ-ट्टोच्छलच्छब्दसंदोहदुःसहैः निःसीमसमीरासरालसूत्कारसारप्रसरप्रबलैः करालवेतालकुल-काहलकोलाहलानुकूलैरन्यसामान्यैरन्यैश्च परिगृहीतगृहदाहबान्धवधनविध्वंसानुबन्धैः प्रत्यूहप्रबन्धैः[11] सबहुमानैस्तत्तद्वरप्रदानैश्च निःशेषामप्युषा[12]मध्यात्मसमाधिनिरोधनिघ्नौ[13]

लिया और तृण लता वगैरहसे सुशोभित गंगाके तटपर एक बड़ा आश्रम स्थापित करके परशुरामके पिता बन गये ।

ऐसे ही लोगोंके लिए किसीने कहा है—

'आत्मज्ञानसे शून्य मनुष्यका व्रताचरणका प्रयास व्यर्थ है । ठीक ही है जो मनुष्य स्वभावसे ही डरपोक है, शस्त्र ग्रहण करनेसे उसमें शौर्य नहीं आ जाता ॥१५४॥

फिर वे दोनों देव मगध देशके कुशाग्र नगरके निकटवर्ती स्मशानमें पहुँचे । कृष्णपक्षकी चतुर्दशीकी रात्रिका समय था । जिनदत्त नामका एक जैन श्रावक अकेला रात्रिमें प्रतिमा योगसे स्थित था । उसे देखकर वे दोनों देव तिरस्कारपूर्वक बोले—'अरे दुराचारी, विरूप, परम पदसे अन-जान, नीच मनुष्य ! शीघ्र ही इस सूखे ठूँठके समान प्रतिमायोगको छोड़कर भाग जा । तेरा यहाँ ठहरना ठीक नहीं है क्योंकि हम दोनों इस स्मशान भूमिके पिशाचोंके स्वामी हैं । हम दोनोंका अन्तःकरण अति स्वच्छन्द होकर क्रीड़ा करनेके लिए आतुर है । इसमें बाधा मत डालो ।'

इस प्रकार कहनेपर भी उसे आत्मध्यानमें तल्लीन देखकर उन दोनोंने विघ्न करना प्रारम्भ किया । यमराजके समान भयंकर काले-काले मेघ उमड़ आये, बिजलीका भयंकर गर्जन-तर्जन होने लगा, जोरकी हवा सर-सर करती हुई बहने लगी, भयानक वेतालोंकी आवाजके जैसी आवाजें होने लगीं, जब इससे भी वह विचलित नहीं हुआ तो उसका गृह-दाह, बन्धु-बान्धवों और धनादिकका विनाश होता हुआ उसे दिखाया गया । जब इससे भी विचलित नहीं हुआ तो बड़े आदरके साथ उसे अनेक वरदान दिये गये । इस प्रकार उसकी समाधिको भंग करनेके

१. राजगृह । २. निकृष्टा आकृतिर्यस्य । ३. कायोत्सर्गम् । ४. महत्याः । ५. स्थितिकरणेन । ६.—कर्षाभाव—अ०, ज०, मु०, आ० । ७. ध्यानस्थम् । ८. सामस्त्यतः । ९. यम । १०. महिष । ११. विघ्नस्वनैः । १२. रात्रि । १३. तत्परौ ।

विहितविघ्नावपि तमेकाग्रभावाभ्यासात्मसात्कृतान्तःकरणबहिःकरणेहितं शर्महर्म्यनिर्माणकार्मणपरमाणुप्रबन्धनाद्धर्मध्यानाच्चालयितुं न शेकतुः ।

संजाते च खरकिरणविरोक[1]निकरनिराकृतान्धकारोदये प्रभातसमये समुपहृतोपसर्गवर्गौ प्रकामप्रसन्नसर्गौ[2] तैस्तैर्महाभोगाचितैः प्रणयोदितैराश्लाघ्य तस्मै जिनदत्ताय विहायोविहाराय पञ्चत्रिंशद्वर्णानवद्यां विद्यां वितेरतुः[3] । इयं हि विद्या तवास्मदनुग्रहादम्बरविहारायासंसाधितापि भविष्यति परेषां त्वस्माद्विधेरिति ।

जिनदत्तोऽपि कुलशैलशिखण्डमण्डनजिनायतनालोकनकुतूहलिताशयः समाचरितामरानुवर्तनसमयस्तां विद्यां प्रतिपद्य हृदयदर्शनोत्सवसमानीतनिखिलनिलिम्पाचल[4]चैत्यालयस्तदवलोकनकृतकौतुकाय धरसेनाय परमाप्तोपासनपटवे पुण्यवटवे प्रादात् ।

पुनरप्यमितप्रभः 'विद्युत्प्रभ, जिनदत्तोऽयमतीवार्हदभिमतवस्तुपरिणतचित्तः स्वभावादेव च स्थिरमतिरशेषोपसर्गसहनप्रकृतिश्च । तदत्र महदप्यपकृतं कुलिशे[5] घुणकीटचेष्टितमिव न भवति समर्थम् । अतोऽन्यमेव कञ्चनाभिनवजिनोपासनायतनचैतन्यं निकषाव[6]' इति विमृश्योच्चलिताभ्यामेताभ्यां[7] मगधमण्डलमण्डनसनाथो मिथिलापुरीनाथः पद्मरथो नाम नरपतिर्निजनगरनिकटतटीधरदूरादेहायां कालगुहायां निवासरसमनसो दीप्ततपसो निःशेषानिमिषपरिषन्निषेव्यमाणाचरणचातुर्यात्सुधर्माचार्यात्तदकाद्भुतप्रभाप्रभावदर्शनो-

---

लिए रातभर दोनोंने विघ्न किये, किन्तु एकाग्रताके अभ्याससे अपने मनको वशमें कर लेनेवाले उस जिनदत्त श्रावकको वे सुखका महल बनानेवाले कर्म परमाणुओंके बन्धमें कारणभूत धर्मध्यानसे विचलित नहीं कर सके ।

इतनेमें प्रभात हो गया, सूरजकी किरणोंके प्रकाशसे अन्धकार दूर हो गया । तब उन्होंने अपने उपसर्गोंको समेट लिया और अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए भाग्यशालियोंके योग्य प्रेमभरे वचनोंसे जिनदत्तकी प्रशंसा करके उसे आकाशमें विहार करनेके लिए पैंतीस अक्षरोंकी एक निर्दोष विद्या प्रदान की । और कहा—'यह विद्या बिना साधे ही हमारे प्रभावसे तुम्हें आकाशमें विहार करा सकेगी और दूसरोंको अमुक विधिसे सिद्ध करनेपर विहार करा सकेगी ।'

जिनदत्तका मन भी कुलाचलोंपर स्थित जिनालयोंके दर्शनके लिए आकुल था । अतः उसने देवताओंके कहे अनुसार उस विद्याको ग्रहण करके सब कुलाचलोंपर स्थित चैत्यालयोंका दर्शन किया और फिर वह विद्या उन चैत्यालयोंके दर्शनके लिए उत्सुक, जिनेन्द्र देवके परम भक्त धरसेनको दे दी ।

फिर अमितप्रभ विद्युत्प्रभसे बोला—'विद्युत्प्रभ ! इस जिनदत्तका चित्त अर्हन्त भगवान्के द्वारा कहे गये वस्तु तत्त्वके विषयमें बहुत दृढ़ है तथा यह स्वभावसे ही स्थिर बुद्धि और समस्त उपसर्गोंको सहन करनेवाला है । इसलिए जैसे घुनके कीड़े वज्रमें कुछ भी नहीं कर सकते वैसे ही कितना भी अपकार इसका कुछ भी बिगाड़नेमें समर्थ नहीं है । अतः आओ जैन धर्मके किसी नये उपासककी परीक्षा करें ।' ऐसा विचार कर दोनों वहाँसे चल दिये और मगध देशके मण्डन स्वरूप मिथिलापुरीमें पहुँचे । मिथिलापुरीका राजा पद्मरथ था । एक दिन वह राजा अपने नगरके निकटवर्ती पहाड़की भयानक गुफामें रहनेवाले, महातपस्वी, समस्त देवोंसे सेवनीय और आच-

---

१. रश्मि । २. अभिप्रायौ । ३. दत्तवन्तौ । ४. पंचापि मेरु । ५. वज्रे । ६. परीक्षावहे । ७. पद्मरथराजा दृष्टः ।

प्रशान्ताशयः सम्यग्दर्शनमणुव्रताश्रयमादाय तद्दिवस एव तदुपदेशाभिज्ञितार्हत्परमेश्वरशरीरनिरतिशयप्रकाशमहिमः कृतनियमः सकलभुवनपतिस्तूयमानगुणगणोदन्तं[1] श्रीवासुपूज्यभगवन्तमुपासितुं प्रतिष्ठमानः प्रमदनादसुन्दरदुन्दुभिरवाकारितनिरवशेषपरिजनः समासर्जत्समस्तविष्टविशिष्टादृष्टचेष्टः[2][3]।

स च दृष्टः कदाचिदपि क्षुद्रोपद्रवाविप्रलब्धः[4] प्रारब्धश्च [5]पुरप्लोषान्तःपुरविध्वंसवरूथिनीमथनप्रसभप्रभञ्जनोर्जितपर्जन्यपरुषवर्षोपलासारादिवसतिभिर्दुर्दमशार्दूलोत्कराकृतिभिर्विकृतिभिरुपद्रोतुम्[6][7][8]। तथाप्यविचलितचेतसमवसाय[9] सनरवरं कुञ्जरं मायामयप्रतिघेस्ताघे[10] व्यात्ताखिलदिगारामसंगमे कर्दमे निमज्जयद्भ्यां ताभ्यां 'नमः सुरासुरोपसर्गसंगसूदनाभिधानमात्रमन्त्रमाहात्म्यसाम्राज्याय श्रीवासुपूज्याय' इति तत्र निमज्जतो भूभृतो वचनमाकर्ण्य तद्धैर्योत्कर्षोन्मिषत्तोषमनीषाप्रसराभ्यां लघुपरिमुषिताशेषविघ्नव्यतिकराभ्यामाचरितसत्काराभ्याम् 'अहो नूतनस्य सम्यक्त्वरत्नस्याच्छद्मसद्मपथ पद्मरथ, नैतच्चित्रमत्र यत्संधा[12]सत्त्वाभ्यामखिलैरपि लोकैरसदृशेषु भवादृशेषु न प्रभवन्ति प्रसभप्रसवाः[13] क्षुद्रोपद्रवाः। यतः।

एकापि [14]समर्थेयं जिनभक्तिर्दुर्गतिं निवारयितुम्।
पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्रियं कृतिनः ॥१५५॥

रणमें प्रवीण श्रीसुधर्माचार्यके दर्शनोंके लिए गया। उनके शरीरकी अद्भुत प्रभा और प्रभाव देखकर उसका राग शान्त हो गया और उसने उनसे सम्यग्दर्शन पूर्वक अणुव्रत धारण कर लिये। उसी दिन उसने आचार्यके उपदेशसे अर्हन्त भगवान्के अतिशय युक्त शरीरकी महिमाको समझ लिया और नियम लेकर समस्त भुवनके स्वामी जिनके गुणोंका बखान करते हैं उन श्रीवासुपूज्य भगवान्के दर्शनोंके लिए चल दिया। दुन्दुभिके मधुर शब्दको सुनकर समस्त परिजन भी साथ हो गये।

दोनों देवताओंने उस राजाको जाता हुआ देखा जो कभी भी क्षुद्र उपद्रवोंसे भी सताया नहीं गया था, और परीक्षा लेनेके लिए विघ्न करना प्रारम्भ कर दिया। नगर दाह, रनवासका विनाश, सेनाका नाश, जोरकी हवा चलाकर मेघोंके द्वारा घनघोर वर्षा, उल्कापात आदिके द्वारा तथा भयंकर सिंहोंकी आकृतियोंके द्वारा उपद्रव करनेपर भी जब पद्मरथ राजाका मन विचलित नहीं किया जा सका तो उन दोनोंने चारों ओर मायामयी कीचड़ बनाकर राजा सहित हाथीको उसमें डुबा दिया। डूबते हुए राजाके मुखसे निकला—'जिनके नाममात्रसे सुर और असुरोंके द्वारा किये गये उपसर्ग दूर हो जाते हैं उन वासुपूज्य भगवान्को नमस्कार है।'

यह शब्द सुनते ही उन दोनों देवोंको परम हर्ष हुआ, उन्होंने तुरन्त ही सब विघ्नोंको दूर कर दिया और राजाका सत्कार करते हुए बोले—'नये सम्यक्त्व रूपी रत्नके आश्रय रूप निष्कपट पद्मरथ! प्रतिज्ञा और साहसमें आपके समान कोई नहीं है, आप जैसे लोगोंपर बलात् किये गये क्षुद्र उपद्रवोंका कोई प्रभाव नहीं हो सकता। क्योंकि 'अकेली एक जिन-भक्ति ही ज्ञानीके दुर्गतिका निवारण करनेमें, पुण्यका संचय करनेमें और मुक्ति रूपी लक्ष्मीको देनेमें समर्थ है ॥१५५॥

१. वृत्तान्तम्। २. आनन्दभेरी। ३. सकलविष्टपनिविष्ट—आ०। ४. अपराभूतः। ५. नगरदाह। ६. सेना। ७. वायु। ८. ज्ञात्वा। ९. अगाधे। १०. विनाशन। ११. मात्रमाहा—आ०। १२. प्रतिज्ञा। १३. हठादुत्पन्नाः। —भप्रभवाः आ०। १४. एकापि शक्ता जिनदेवभक्तिर्या दुर्गतेर्वारयितुं हि जीवान्। आसीद्वितत्सौख्यपरं परार्थं पुण्यं नवं पूरयितुं समर्था ॥३८॥—वरांगचरित, २२ सर्ग।

इति निगीर्य, वितीर्य च जिनसमयाराधनवशे भवद्वंशे सर्वरुजापहारोऽयं हारः[1], सकलसपत्नसंतानोच्छेदयमिदमातोद्यं[2] च प्रेषणं[3] करिष्यतीति कृतसंकेताभ्यां तद्द्वयमभिमतावस्थानं[4] स्थानं प्रास्थायि । त्रिदशेश्वरवदनजृम्भमाणगुणसंकथः पद्मरथोऽपि तत्तीर्थकृतो गणधरपदाधिकृतो भूत्वा कृत्वा चात्मानमनूनरत्नत्रयतन्त्रं मोक्षामृतपात्रमजायत ।

भवति चात्र श्लोकः—

उररीकृतनिर्वाहसाहसोचितचेतसाम् ।
उभौ कामदुघौ लोकौ कीर्तेश्चाल्यं[5] जगत्त्रयम् ॥१५६॥

इत्युपासकाध्ययने जिनदत्तस्य पद्मरथपृथ्वीनाथस्य च प्रतिज्ञानिर्वाहसाहसो नाम षष्ठः कल्पः ।

इतश्च संगमित[6]सकलोपकरणसेनो धरसेनोऽप्यतुच्छभूच्छाँ[7]यावन्ध्ये पर्वदिवसवासते[8]यीमध्ये सर्वतो यातुधान[9]धावनप्रवर्धिनीषु स्मशानमेदिनीषु प्रवर्तिततदाराधनानुकूलमण्डलो न्यस्तासु[10] दिक्षु निक्षिप्तरक्षावलोऽवगणः[11] कृतसकलीकरणो भागधेयी[12]विधानसमये वटविटपाग्रे पतिंवराकर[13]कर्तितसूत्रसरसहस्रसंपादितमात्मासनसमानान्तरालोचितमन्तर्जल्पसंकल्पितमन्त्रवाक्यः सिक्यं निबध्य प्रबन्धना[14]धस्तादूर्ध्वमुखविन्यस्तनिशिताशेषशस्त्रो यथाशास्त्रं बहिर्निवेशिताष्टविधेष्टिसिद्धिस्तद्विद्याराधनसमृद्धबुद्धिर्बभूव ।

यह कहकर उसे एक हार और वाद्य दिया तथा कहा कि यह हार जैन धर्मका पालन करनेवाले तुम्हारे वंशके सब रोगोंको हरेगा और यह वाद्य समस्त वैरियोंकी सन्तानका नाश करेगा। ऐसा कहकर वे दोनों देव अपने अभिमत स्थानको चले गये। देवोंके द्वारा प्रशंसित पद्मरथ भी वासुपूज्य स्वामीके समवशरणमें जाकर जिनदीक्षा धारण करके भगवान्का गणधर बन गया और अपनेको सम्पूर्ण रत्नत्रयसे अलंकृत करके मोक्षरूपी अमृतका पात्र हो गया।

किसीने ठीक ही कहा है कि—

'जो अपनी प्रतिज्ञाका निर्वाह करनेमें उचित साहस दिखलाते हैं, इस लोक और परलोकमें वे इच्छित वस्तुको पाते हैं, तथा उनके यशसे तीनों लोक चलायमान हो जाते हैं ॥१५६॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें जिनदत्त और राजा पद्मरथके प्रतिज्ञा निर्वाहके साहसको बतलानेवाला छठा कल्प समाप्त हुआ।

अब जिस धरसेनको जिनदत्तने देवोंके द्वारा दी गई आकाशगामिनी विद्या साधनेके लिए दी थी, उसकी कथा सुनिए।

समस्त साधन सामग्रीको एकत्र करके धरसेन भी घने अन्धकारसे पूर्ण अमावस्याकी रात्रिके समयमें राक्षसोंके संचारसे व्याप्त स्मशान भूमिमें विद्या साधनेके लिए गया। वहाँ उसने विद्याराधनके अनुकूल मण्डलकी रचना की, सब दिशाओंमें रक्षावलय स्थापित किये, फिर सकलीकरण क्रिया की, फिर बटके पेड़के नीचे, अपने आसनसे समान अन्तरालपर, कन्याके हाथसे काते गये हजार धागोंसे बने हुए छीकेको, मन-ही-मन मंत्रोच्चारण करते हुए बाँधा। फिर छीकेके नीचे सब तीक्ष्ण शस्त्रोंको स्थापित किया, जिनका मुँह ऊपरकी ओर था। फिर शास्त्रानुसार आठ प्रकारकी इष्टसिद्धिको स्थापित करके उस विद्याकी आराधनाके लिए तैयार हुआ।

---

१. शत्रुकुल। २. वाद्यम्। ३. प्रेक्षणं ब०। ४. हारातोद्यद्वयम्। ५. कीर्तिश्चाल्पं अ० ज० मु०। ६. एकीकृत। ७. तिमिर। ८. रात्रि। ९. राक्षस। १०. सर्वासु। ११. एकाकी। १२. वलि। १३. कन्या। १४. प्रबन्धेना—आ०।

अत्रान्तरे निष्कारणकलिकायाञ्जनसुन्दर्या निशीथ[1]पथवर्तिवीक्षणे तपाक्षणे मध्यदेशे प्रसिद्धविजयपुरस्वामिनः सुन्दरीमहादेवीविलासिनः स्वकीयप्रतापबहुल[2]वाहनाहुतीकृताराति[3]समितेररिमन्थमहीपतेर्ललितो नाम सुतः समस्तव्यसनाभिभूतत्वाद्दाया[4]दक्रव्यादसंपादितसाम्राज्यपदापायः परमुपायमपश्यन्नदृश्याञ्जनावर्जनोर्जितप्रज्ञः प्रतीताञ्जनचोरापरसंज्ञः किलैवमुक्तः—'कुशाग्र[5]पुरपरमेश्वरस्याग्रमहिष्यास्ताविष्याः[6] सौभाग्यरत्नाकरं नाम कण्ठालंकारमिदानीमेव यद्यानीय प्रयच्छसि, तदा त्वं मे कान्तः, अन्यथा प्रणयान्तः' इति।

सोऽपि 'कियद्गहनमेतत्' इत्युदारमुदाहृत्य प्रियतमामनोरथमन्वर्थ[7]कं चिकीर्षुर्निजच्छायादृश्यताशीलकज्जलबहललोचनयुगलं विधाय प्रयार्य[8] च तन्महीश्वरगृहं गृहीततदलंकारस्तत्प्रभाप्रसरसमुल्लक्ष्यमाणचरणसंचारः शब्दश[9]स्त्रोत्तालाननकरैस्तलवरानुचरैरभियुक्तो निस्तरीतुमशक्तः परित्यज्य तदाभरणमितस्ततो नगरबाहिरिकायां विहरमाणस्तं धरसेनं प्रदीप[10]दीप्तिवशादधस्तादस्त्रनिवेशभयावेशान्मुहुर्मुहुरारोहावरोहावहदेहदोनमवे[11]क्ष्योपढौक्य च तं देशमेवं निर्दिदेश—'अहो प्रलयकालान्धकाराविलायामस्यां वेलायां महासाहसिकवृष[12]न्दुष्करकर्मकारिन् को नाम भवान्?

इसी बीचमें एक घटना घटी। मध्य देशके विजयपुर नगरका स्वामी राजा अरिमन्थ बड़ा प्रतापी था। उसकी पट्टरानीका नाम सुन्दरी था। उनके ललित नामका एक पुत्र था। वह बड़ा व्यसनी था। इसीलिए उसे अन्य बान्धवोंने उसके राज्यपद प्राप्तिमें बाधाएँ डालीं। तब उसने दूसरा उपाय न देखकर एक ऐसा अञ्जन सिद्ध किया जिसके लगा लेनेसे वह अदृश्य हो जाता था। इससे उसकी शक्ति बहुत बढ़ गई और उसका नाम अञ्जनचोर प्रसिद्ध हो गया। जिस रात्रिमें धरसेन विद्या साधनेका उपाय करता था उसी रात्रिमें जब अञ्जनचोर अपनी प्रियतमाके पास गया तो उसने कहा—'कुशाग्रपुरके राजाकी पट्टरानीके गलेका 'सौभाग्यरत्नाकर' नामका आभूषण यदि इसी समय लाकर मुझे दोगे तो तुम मेरे पति हो, नहीं तो हमारे तुम्हारे प्रेमका अन्त है।' यह सुनकर अञ्जनचोर बोला—'यह क्या कठिन है।' इतना कहकर अपनी प्रियतमाके मनोरथको पूरा करनेके लिए वह अपनी आँखोंमें अञ्जन लगाकर अदृश्य हो गया और उस राजाके महलमें पहुँचा।

जैसे ही वह उस आभूषणको चुराकर चला वैसे ही उसकी चमकसे कोतवालके सशस्त्र सिपाहियोंने उसके पद-संचारको लक्ष्य करके हल्ला करते हुए उसका पीछा किया। निकल भागनेमें अपनेको असमर्थ देखकर अञ्जनचोरने उस आभूषणको वहीं छोड़ दिया और नगरके बाहर इधर-उधर भागता हुआ जलते हुए दीपको देखकर उस स्थानपर आया जहाँ धरसेन नीचे लगे हुए अस्त्रोंके भयसे कभी छीकेसे उतरता था और कभी चढ़ता था।

'प्रलयकालके अन्धकारसे व्याप्त इस कालमें दुष्कर कर्म करनेवाले महा साहसी पुरुष! तुम कौन हो?' अञ्जनचोरने पूछा।

---

१. मध्यरात्रि। २. अग्नि। ३. शत्रुसमूहस्य। ४. गोत्रिण एव राक्षसाः। ५. राजगृह। ६. ताविषीनामिकायाः। ७. सार्थकम्।—मन्वर्थं आ०। ८. मत्वा। ९. शब्देन उत्तालं मुखं शस्त्रेण उत्तालः करो येषाम्। १०. प्रदीप्रदीप–आ०। ११.—क्ष्य समुपढौक्य–आ०। १२. प्रधान।

धरसेनः—'कल्याणबन्धो, महाभागवृत्तस्य जिनदत्तस्य विदितपुष्पवटुनियोगसंबन्धोऽहमेतदुपदेशादाकाशविहारव्यवहारनिषद्यां विद्यां सिसाधयिषुरत्रायाशिषम् ।'[1]

अञ्जनचोरः—'कथमियं साध्यते ।'

धरसेनः–कथयामि । पूजोपचारनिवेक्ये[2]ऽस्मिन्निःशङ्कमुपविश्य विद्यामिमामकुण्ठकण्ठं [3]पठन्नेकैकं शरप्रवेकं स्वच्छधीश्छिन्द्यादवसाने गगनगमनेन युज्यते ।

'यद्येवमपसरापसर । 'त्वं हि [4]तलोन्मुखनिखातनिशितशस्त्रसंजातभीतमतिर्न खलु भवस्यैतत्साधने यज्ञोपवीतदर्शनेनार्थावर्जनकृतार्थः समर्थः । तत्कथय मे यथार्थवादद्व्यां विद्याम् । एनां साधयामि' ।

ततस्तेनात्महितकटुना पुष्पवटुना साधुसमर्पितविद्यः सम्यग्विदितवेद्यः संगीत्याऽऽसन्नशिवागारोऽञ्जनचौरः स्वप्नेऽप्यपरवञ्चनाचारनिवृत्तचित्तो जिनदत्तः । स खलु महतामपि महान्प्रतिपन्नदेशयतिव्रततन्त्रो जन्तुमात्रस्याप्यन्यथा न चिन्तयति, किं पुनश्चिराय समाचरितोपचारस्य [5]तनूद्भवनिर्विशेषं पोषितस्यास्य धरसेनस्यान्यथा चिन्तयेत्' इति निश्चित्य निविश्य च सौत्सुक्यं सिक्ये निःशङ्कशेमुषीकः स्वकीयसाहसव्यवसायसंतोषितसुरासुरानीकः [6]सकृदेव तच्छरप्रसरं चिच्छेद, [7]आससाद च खेचरपदम् । पुनर्यत्र जिनदत्तस्तत्र मे गमनं भूयादिति विहिताशंसनः[8] काञ्चनाचलमेखलानिलयिनि[9] सौमनसवनोदयिनि

धरसेन—मेरे हितैषी मित्र ! महाभाग जिनदत्तके उपदेशसे आकाशविहारिणी विद्याको सिद्ध करनेकी इच्छासे मैं यहाँ आया हूँ ।

अञ्जनचोर—यह कैसे साधी जाती है ?

धरसेन—पूजाके द्वारा सिञ्चित इस छीकेपर निःशङ्क बैठकर इस विद्याको मन्दस्वरसे पढ़ते हुए निर्मल मनसे छीकेकी एक-एक डोरको काटना चाहिए । ऐसा करनेसे अन्तमें आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हो जायगी ।

अञ्जनचोर—हटो हटो, छीकेके नीचे खड़े किये गये तीक्ष्ण शस्त्रोंसे तुम भयभीत हो गये हो, इसलिए जनेऊ दिखाकर ही अपना काम निकालनेवाले तुम इस विद्याको सिद्ध नहीं कर सकते । अतः इस सच्ची विद्याको मुझे बतलाओ । मैं इसको साधता हूँ ।

यह सुनकर आत्महितके वैरी उस धरसेनने अञ्जनचोरको भले प्रकारसे विद्या अर्पित कर दी । सब बातोंको जानकर उसी भवसे मोक्ष जानेवाला अञ्जनचोर विचारने लगा—'जिनदत्त सेठ स्वप्नमें भी दूसरोंको ठगनेका विचार नहीं कर सकता । फिर चिरकालसे अपने पुत्रकी तरह जिसका लालन-पालन किया है उस धरसेनके विषयमें तो वह ऐसा सोच ही कैसे सकता है ?' ऐसा निश्चित करके वह बड़ी उत्कण्ठाके साथ उस छीकेपर बैठ गया और निःशंक होकर अपने साहससे सुर और असुरोंके समूहको सन्तुष्ट करनेवाले उस अञ्जनचोरने एक साथ ही सब धागोंको काट दिया और विद्याधर बन गया । फिर उसने यह इच्छा की कि जहाँ जिनदत्त है

१. आगतः । २. –क्ये शिक्येऽस्मि–आ० । ३. प्रपठ–आ० । ४. ऊर्ध्वमुख । ५. –द्भवतिनि–अ०, ज०, मु० । ६. एकवारम् । ७. प्राप्तवान् । ८. –ताशासनः आ० । ९. –लयितसौमनसदयिनि–आ० ।

जिनसद्मनि जिनदत्तस्य धर्मश्रवणकृतो गुरुदेवभगवतः समीपे तपो गृहीत्वावगाहितसमस्तै-तिह्यतत्त्वो हिमवच्छैलचूलिकोन्मीलि[1]तकेवलज्ञानः कैलासकेसर[2]कान्तारगतो मुक्तिश्रीसमागमसक्तिभोगा[3]यतनो बभूव।

भवति चात्र श्लोकः—

क्षत्रपुत्रोऽक्ष[4]विक्षिप्तः शिक्षितादृश्यकज्जलः।
अन्तरिक्षगतिं प्राप निःशङ्कोऽञ्जनतस्करः ॥१५७॥

इत्युपासकाध्ययने निःशङ्कितत्त्वप्रकाशनो नाम सप्तमः कल्पः।

स्यां[5] देवः स्यामहं यक्षः स्यां वा वसुमतीपतिः।
यदि सम्यक्त्वमाहात्म्यमस्तीतीच्छां परित्यजेत् ॥१५८॥
उदश्वि[6]तेव माणिक्यं सम्यक्त्वं भवजैः सुखैः।
विक्रीणानः पुमान्स्वस्य वञ्चकः केवलं भवेत् ॥१५९॥
चित्ते चिन्तामणिर्यस्य यस्य हस्ते सुरद्रुमः।
कामधेनु[7]र्धने यस्य तस्य कः प्रार्थनाक्रमः ॥१६०॥
उचिते[8] स्थानके यस्य चित्तवृत्तिरनाकुला।
तं श्रियः स्वयमायान्ति स्रोतस्विन्य इवाम्बुधिम् ॥१६१॥

वहीं मैं पहुँचूँ। यह इच्छा करते ही वह सुमेरु पर्वतपर स्थित सौमनस वनके जिनालयमें, आचार्य गुरुदेवसे धर्मश्रवण करते हुए जिनदत्तके पास पहुँच गया और जिनदीक्षा ग्रहण करके परम्परासे चले आये हुए समस्त तत्त्वोंको जानकर हिमवान् पर्वतकी चोटीपर केवलज्ञानी बन गया फिर कैलास पर्वतसे मुक्ति-श्री को वरण करके मुक्त हो गया।

इस विषयमें एक श्लोक निम्न प्रकार है—

'अञ्जनचोर राजपुत्र था, किन्तु इन्द्रियोंकी विषयलालसाने उसे पागल कर दिया था। तब उसने अदृश्य होनेका अञ्जन बनाना सीख लिया। फिर वह निःशङ्क होकर विद्याधर बन गया। और मुक्त हो गया' ॥१५७॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें निःशंकित तत्त्वको प्रकट करनेवाला सातवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[अब निष्कांक्षित अंगको बतलाते हैं—]

यदि सम्यग्दर्शनमें माहात्म्य है तो 'मैं देव होऊँ', यक्ष होऊँ, अथवा राजा होऊँ' इस प्रकारकी इच्छाको छोड़ देना चाहिए। जो सांसारिक सुखोंके बदलेमें सम्यक्त्वको बेच देता है वह छाछके बदलेमें माणिक्यको बेच देनेवाले मनुष्यके समान केवल अपनेको ठगता है ॥१५८-१५९॥

जिस सम्यग्दृष्टिके चित्तमें चिन्तामणि है, हाथमें कल्पवृक्ष है, धनमें कामधेनु है, उसको याचनासे क्या मतलब ? जिसकी चित्तवृत्ति उचित स्थानको पाकर निराकुल हो जाती है, समुद्रमें नदियोंकी तरह लक्ष्मी उसे स्वयं प्राप्त होती है ॥१६०-१६१॥

---

१. प्रकटीकृत। २. वकुलवृक्ष। ३. आत्मा। ४. द्यूत। ५. अहं भवामि। 'देवः स्यां दानवः स्यां वा स्यामहं वसुधापतिः। यदि दर्शनमाहात्म्यमितीहा तस्य दूषिता ॥२७॥'—प्रबोधसार। ६. तक्रेण। 'उदश्विता स माणिक्यं चक्रिराज्यं किलाटकैः। विक्रीणीते स सम्यक्त्वाद्य इच्छेद् भवजं सुखम् ॥४४॥'—धर्मरत्ना० प० ६९ उ०। ७. नुर्व—ब०। हस्ते चिन्तामणिर्यस्य प्रांगणे कल्पपादपः। कामधेनुर्धने यस्य तस्य कः प्रार्थनाक्रमः ॥४३॥'—धर्मर० प० ६९। देवधेनुर्धने यस्य यस्य हस्ते सुरद्रुमः। चिन्तामणिमणिप्रायं दर्शनं सर्वसौख्यदं॥ प्रबोधसार पृ० १५। ८. धर्मलक्षणे।

तत्कुदृष्ट्यन्तरोद्भूतामिहामुत्र च संभवाम्[1]।
सम्यग्दर्शनशुद्धयर्थमाकांक्षां त्रिविधां[2] त्यजेत् ॥१६२॥

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—अङ्गमण्डलेषु समस्तसपक्षसमरसमारम्भनिष्पकम्पायां चम्पायां पुरि लक्ष्मीमतिमहादेवीदयितस्य वसुवर्धनाभिधानोचितस्य वसुधापतेर्निरवशे[3]-षवैदेहकवरिष्ठः किल प्रियदत्तश्रेष्ठी धर्मपत्न्या गृहलक्ष्मीसपत्न्या सकलस्त्रैणगुणधाम्नाङ्गवती-नाम्ना सहाङ्क्षा[4]य प्राह्णेऽष्टाह्नीक्रियाकाण्डकरणायाभंकषकूटकोटिघटित[5]पताकापटप्रतानाञ्चल-जालस्खलितनिलिम्पविमानवलयं सहस्रकूटचैत्यालयं यियासुः स्वकीयसुतावयस्या[6]-

अतः सम्यग्दर्शनकी शुद्धिके लिए अन्य मिथ्या मतोंके सम्बन्धसे उत्पन्न होने वाली, तथा इस लोक और परलोक सम्बन्धी तीन प्रकारकी इच्छाओंको छोड़ देना चाहिए ॥१६२॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शनका दूसरा अंग है निःकांक्षित। जिसका अर्थ है—'कांक्षा मत करो।' और कांक्षा कहते हैं भोगोंकी चाहको। जो विषय इन्द्रियोंको नहीं रुचते, उनसे द्वेष करना ही भागोंकी चाहकी पहचान है, क्योंकि इन्द्रियोंको रुचनेवाले विषयोंकी चाहके कारण ही न रुचनेवाले विषयोंसे द्वेष होता है। देखा जाता है कि विपक्षसे द्वेष हुए बिना पक्षमें राग नहीं होता और पक्षमें राग हुए बिना उसके विपक्षसे द्वेष नहीं होता। अतः इष्ट भोगोंकी चाहके कारण ही अनिष्ट भोगोंसे द्वेष होता है और अनिष्ट भोगोंसे द्वेष होनेसे ही इष्ट भोगोंकी चाह होती है। जिसके इस प्रकारकी चाह है वह नियमसे मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि एक तो चाह करनेसे ही भोगोंकी प्राप्ति नहीं हो जाती। दूसरे, कर्मोंके उदयसे प्राप्त होनेवाली प्रत्येक वस्तु अनिष्ट ही मानी जाती है। इसलिए ज्ञानी पुरुष कर्म और उसके फलकी चाह बिलकुल नहीं करता। तीसरे, पदार्थोंमें जो इष्ट और अनिष्ट बुद्धि की जाती है वह सब दृष्टिका ही दोष है, क्योंकि पदार्थ न तो स्वयं इष्ट ही होते हैं और न स्वयं अनिष्ट ही होते हैं। यदि पदार्थ स्वयं इष्ट या अनिष्ट होते तो प्रत्येक पदार्थ सभीको इष्ट या अनिष्ट होना चाहिए था, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। एक ही पदार्थ किसीको इष्ट और किसीको अनिष्ट प्रतीत होता है। अतः पदार्थोंमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि भी मिथ्यात्वके उदयसे ही होती है। जिसके मिथ्यात्वका उदय नहीं होता उसकी दृष्टि वस्तुके यथार्थस्वरूपको देखती है और यथार्थमें कर्मोंके द्वारा प्राप्त होनेवाला फल अनिष्ट ही होता है क्योंकि वह दुःखका कारण है। अतः सम्यग्दृष्टि कर्मोंके द्वारा प्राप्त होने वाले भोगोंकी चाह नहीं करता।

२. निष्कांक्षित अंगमें प्रसिद्ध अनन्तमतिकी कथा

अब इस विषयमें एक कथा कहते हैं, उसे सुनिए—

अंगदेशकी चम्पा नगरीमें वसुवर्धन नामका राजा राज्य करता था। उसकी पट्टरानीका नाम लक्ष्मीमति था। राज्य श्रेष्ठी प्रियदत्त था और उसकी पत्नी अंगवती थी। एक बार एकदम प्रातः अष्टाह्निका पर्वका क्रियाकर्म करनेके लिए प्रियदत्त सेठ स्त्रियोचित सकल गुणोंसे युक्त अपनी

१. मिथ्यादर्शनोद्भूताम्। २. देव-यक्ष-राजोद्भवाम्। ३. समग्रवणिजां मध्ये श्रेष्ठः। ४. शीघ्रम्। ५. संयोजित। ६. सखीम्।

मनङ्गमतिमेवमपृच्छत्—'वत्से, अभिनवविवाहभूषणसुभगहस्ते, क्वास्ते [1]समुज्झितलाञ्छनेन्दुसुन्दरमुखी प्रियसखी तवातीवकेलिशीलप्रकृतिरनन्तमतिः।'

अनङ्गमतिः—'तात, वणिग्वृन्दारक[2]दारिकोद्गीयमानमङ्गला कृत्रिमपुत्रककरव्याजेनात्मपरिणयनाचरणपरिणामपेशला पञ्जरास्थितशुकसारिकावदनवाद्यसुन्दरे [3]वासौवासपरिसरे समास्ते।

'समाहूयतामितः'।

'यथादिशति तातः'।

प्रियदत्तश्रेष्ठी वृद्धभावात्परिहासालापनपरमेष्ठी समागतां सुतामवलोक्य 'पुत्रि, निसर्गविलासरसोत्तरङ्गापाङ्[4]गापहसितामृतसं[5]रणिविषये सदैव [6]पञ्चालिकाकेलिकिल[7]हृदये संप्रत्येव तव मन्मथपथाः परिणयनमनोरथाः। तद् गृह्यतां तावत्समस्तव्रतै[8]श्वर्यवर्यं ब्रह्मचर्यम्। अत्रैष ते साक्षी भगवानशेषश्रुतप्रकाशनाशयभूरि[9]र्धर्मकीर्तिसूरिः।

अनन्तमतिः—तात, नितान्तं गृहीतवत्यस्मि। न केवलमत्र मे भगवानेव साक्षी किंतु भवानम्बा च। अन्यदा तु।

> उद्भिन्ने स्तनकुड्मले स्फुटरसे हासे विलासालसे
> किंचित्कम्पितकैतवाधरभरप्राये वचःप्रक्रमे।

पत्नीके साथ सहकूट चैत्यालय जानेको था। उसने अपनी लड़कीकी सखी अनंगमतीसे पूछा—विवाहके नये भूषणोंसे अलंकृत पुत्री अतीव परिहासप्रिय तेरी सखी चन्द्रमुखी अनन्तमती कहाँ है?

अनंगमती बोली—'पिता जी! स्वच्छन्द विचरण करनेवाले तोता मैनाके मधुर कलरवसे गुंजित घरके निकट भागमें, वह गुड्डेके विवाहके बहानेसे अपने विवाहका स्वप्न देख रही है और श्रेष्ठीजनोंकी लड़कियाँ मंगल गान कर रही हैं।'

'उसे बुलाओ?'

'जो आज्ञा'

श्रेष्ठी प्रियदत्त वृद्ध हो जानेसे परिहास करनेमें बड़ा पटु था। कन्याको आई हुई देखकर बोला—'पुत्रि! सदैव गुड्डीसे खेलनेके लिए विकल तुम्हारे हृदयमें अभीसे विवाहका मनोरथ हो चला है, अतः समस्त व्रतोंमें श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य व्रतको स्वीकार करो। समस्त श्रुतके ज्ञाता भगवान् धर्मकीर्ति सूरि तुम्हारे साक्षी हैं।'

अनन्तमती बोली—पिताजी! मैंने ब्रह्मचर्यव्रत ले लिया। और इसमें केवल भगवान् ही साक्षी नहीं हैं किन्तु आप और माताजी भी साक्षी हैं।

उक्त घटनाको घटे वर्षों बीत गये और अनन्तमतीमें यौवनका संचार हो चला। उसके अंग-प्रत्यंग विकसित हो उठे। जब वह हँसती थी तो उसकी हँसी अलसाई हुई होती थी। जब

---

१. निर्लाञ्छनचन्द्रवत्। २. कन्याजन। ३. निवासगृहप्राङ्गणे। ४. नेत्रप्रान्त। ५. कुल्या। ६. पुत्तलिका। ७. पटुहृदये। –विकलहृ–आ०। ८. आशय एव सुवर्णं विद्यते यस्य सः। ९. कम्पितमिषेण।

कन्दर्पाभिनवास्त्रवृत्तिचतुरे नेत्राश्रिते विभ्रमे
प्रादायेव च मध्यगौरवगुणं[1] वृद्धे नितम्बे सति ॥१६३॥

समायाते मुहुरुत्पथप्रथमानमन्मथोन्माथ[2]मन्थरसमस्तसत्त्वस्वान्ते सद्यः प्रसू[3]तसहकाराङ्कुरकवलकषायकण्ठकोकिलकामिनीकुहारावासरालितमनोजविजये मलयाचलमेखलानिलीनकिंनरमिथुनमोहन[4]ामोदमेदुरपरिसरत्समीरसमुदये विकसत्कोशकुर[5]वकप्रसवपरिमलपानलुब्धमधुकरीनिकरझङ्कारसारप्रसरे वसन्तसमयावसरे सा प्रसरत्स्मरविकारा स्मरे[6]स्खलन्मतिगतिरनङ्गमतिः सह सहचरीसमूहेन मदनोत्सवदिवसे दोलान्दोलनलालसमानसा स्वकीयरूपातिशयसंपत्ति[ति]रस्कृतसकलभवनाङ्गनाङ्गविलासा सुकेशीप्रियतमानुगतेन कृतकामचारप्रचारचेतसा पूर्वापराकूपारपालिन्ध्री[7] सुन्दरीसनाथोत्सङ्गधरस्य विजयार्धावनीधरस्य विद्याधरीविनोदपादपोत्पादक्षोण्यां दक्षिणश्रेण्यां किंनरगीतनामनगरनरेन्द्रेण कुण्डलमण्डितनाम्नाम्बरचरेण निचायिता[8] ।

शृङ्गारसारममृतद्यु[9]तिमिन्दुकान्ति-
मिन्दीवरद्युतिमनङ्गशरांश्च सर्वान् ।
आदाय नूनमियमात्मभुवा[10] प्रयत्ना-
त्सृष्टा जगत्त्रयवशीकरणाय बाला ॥१६४॥

इति विचिन्त्याभिलषिता च । ततस्तामपजिहीर्षुधिषणेन[11] मुहुर्निवृत्य निर्वर्तितनिजनिलयसुकेशीनिवेशेन प्रत्यागत्यापहृत्य च पुनर्नभश्चरपुरं प्रत्यनुसरता गगनमार्गार्द्धे[12]

बोलती थी तो उसके ओष्ठ कुछ बनावटी कम्पनको लिये हुए होते थे। और आँखोंमें, कामदेवके नवीन अस्त्रोंके संचालनमें चतुर कटाक्षने अपना डेरा डाल दिया था। और मध्यभागकी गुरुताको मानो लेकर नितम्ब भाग विकसित हो गया था ॥१६३॥

यौवनके साथ ही वसन्त ऋतु भी आ टपकी। समस्त प्राणियोंके मनको कामदेवने सताना प्रारम्भ कर दिया। आमके वृक्षोंपर मौर आ गये और उसे खाकर कोयलने 'कुहू' 'कुहू' करके कामदेवकी विजय यात्राकी सूचना कर दी। मलय वायु बहने लगी। कमलोंपर भौरें गुंजार करने लगे।

एक बार मदनोत्सवके दिन रूपवती युवती अनन्तमती अपनी सखियोंके साथ झूला झूलनेके लिए उद्यानमें गई। विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणिमें स्थित किन्नरगीत नामक नगरका स्वामी कुण्डलमण्डित विद्याधर अपनी पत्नी सुकेशीके साथ आकाशमें विहार करता था। उसने उसे देखा। और उसके लावण्यसे मोहित होकर सोचने लगा—'शृङ्गारसे सार, अमृतसे तरलता, चन्द्रमासे कान्ति, कमलसे शोभा और कामदेवसे बाणोंको लेकर ही स्वयंभू ब्रह्माने तीनों लोकोंको वशमें करनेके लिए इस बालाकी रचना बड़े श्रमसे की है ॥१६४॥

यह सोच उसको हरनेकी इच्छासे अपने घरकी ओर लौटा। वहाँ अपनी पत्नी सुकेशीको छोड़कर फिर उसी उद्यानमें आया और अनन्तमतीको हरकर आकाशमार्गसे अपने नगरकी

---

१. गौरवगुणं नितम्बेन गृहीतं तेन मध्यं क्षामं जातम्। २. पीडन। ३. उत्पन्न। ४. सुरत। ५. मोगरसदृशरक्तसुगंधपुष्पविशेष। ६. सारस्खल –आ०। ७. बेला एव स्त्रीसहित तटी। ८. दृष्टा। ९. –तद्रुति–अ० ज०। १०. ब्रह्मणा। ११. अपहर्तुमिच्छुमतिना। १२. –मार्गार्द्धनिवृत्ति–आ०।

प्रतिनिवृत्तकुपितसुकेशीदर्शनाशङ्कितांशयेन तत्कायसंक्रमितावलोकिनीपर्णलघुविद्याद्वयेन शङ्खपुराभ्यर्णभागिनि भीमवननामनि कानने मुक्ता।

तत्र च मृगयाप्रशंसनमागतेन[1] भीमनाम्ना किरातराजलक्ष्मीसीम्नावलोकिता, नीता चोपान्तप्रकीर्णेङ्गुदिफलच्छल्लिं पल्लिम्। एतद्रूपदर्शनदीप्तमदनमदेन[2] च तेन स्वतः परतश्च तैस्तैरुपायैरात्मसंभोगसहायैः प्रार्थिताप्यसंजातकामिता हठात्कृतकठोरकामोपक्रमेण तत्परिगृहीतव्रतस्थैर्याध्यर्यितकान्तारदेवताप्रातिहार्यात्पर्यस्तपक्वणप्लोषेण[3] मृत्युहेतुकातङ्कपावकपच्यमानशरीरेण च 'मातः, क्षमस्वैकमिमपराधम्' इत्यभिधाय वनेचरोपचारोपचीयमानसहचरीचित्तोत्कण्ठे शङ्खपुरपर्यन्तपर्वतोपकण्ठे परिहृता तत्समीपसमावासितसार्थानीकेन पुष्पकनामकेन वणिक्पतिपाकेनावलोकिता सती स्वीकृता च तेन तेन चार्थेन स्वस्य वशमानेतुमसमर्थेन कोशलदेशमध्यायामयोध्यायां पुरि व्यालिकाभिधानकामपल्लवकन्दल्याः शंफल्यां[4] समर्पिता। तयापि मदनमदसंपादनावसथाभिः कथाभिः क्षोभयितुमशक्या तद्राजधानीविनिवेशस्य[5] सिंहमहीशस्योपायनीकृता[6]।

तेनाप्यलब्धतन्मनःप्रवेशेन विलक्षिताचित्तैर्दुरभिसंधिना[7] तत्कन्यापुण्यप्रभावप्रेरितपुर-

ओर चल दिया। आधे मार्गमें लौटती हुई अपनी कुपित पत्नीको देखकर उसके भयसे उसने उसे पर्णलघु नामकी दो विद्याओंको सौंप दिया और उन्होंने अनन्तमतीको शंखपुरके निकटवर्ती भीमवन नामके जंगलमें छोड़ दिया।

वहाँ शिकार खेलनेके लिए आये भिल्लराज भीमने उसे देखा और वह उसे अपनी कुटियापर ले आया, जहाँ आस-पासमें इंगुदी वृक्षके फलोंकी लताएँ फैली हुई थीं। भिल्लराज इसके रूपको देखकर कामान्ध हो गया। उसने स्वयं तथा दूसरेके द्वारा अनन्तमतीसे भोगकी बारम्बार प्रार्थना की, किन्तु वह तैयार नहीं हुई। तब उसने बलात्कार करनेका प्रयत्न किया। किन्तु उसके व्रतके माहात्म्यसे वन देवताने उसकी रक्षा की और शबरालयमें आग लगा दी। जब भिल्लराजका शरीर जलने लगा और उसने मृत्यु निकट देखी तो बोला—'माता! मेरे इस एक अपराधको क्षमा करो।'

इस प्रकार क्षमा माँगकर उसने अनन्तमतीको शंखपुरके निकटवर्ती पर्वतके समीपमें छुड़वा दिया। वहाँ पासमें व्यापारियोंका एक समूह आकर ठहरा हुआ था। वणिक् पतिके पुत्र पुष्पकने अनन्तमतीको देखा और जिस-तिस उपायोंसे उसे वशमें लानेका प्रयत्न किया। जब वह अपने प्रयत्नमें सफल नहीं हो सका तो उसने उसे कौशल देशके मध्यमें बसी हुई अयोध्या नगरीमें व्यालिका नामकी वेश्याको सौंप दिया। वेश्याने कामोन्मत्त करनेवाली कथाएँ सुना-सुनाकर उसे क्षुब्ध करना चाहा किन्तु वह भी अपने प्रयत्नमें असफल रही। तब उसने उसे अयोध्याके राजा सिंह महीपतिको भेंट कर दिया। राजा सिंह भी जब उसके हृदयमें स्थान नहीं पा सका तो उसने उसके साथ बलात्कार करना चाहा। तब उस कन्याके पुण्यके प्रतापसे नगर देवताने आकर उसकी रक्षा की।

---

१. क्रीडां प्रति। २. –मदमदनेन अ० ज० मु०। ३. परिपूर्णगृहदाहेन। ४. कुट्टिन्याः। ५. तद्राजधान्यां विनिवेशः स्थानं यस्य सः तस्य। ६. प्राभृतीकृता। ७. गृहीतदुष्टाभिप्रायेण।

देवतापादितान्तःपुरपुरीपरिजनापकारविधिना साधु संबोध्य नियमसमाहितहृदयचेष्टा विसृष्टा पितृस्वसुः सुदेवीनामधेयायाः पत्युः पितुश्चार्हद्दत्तस्य सुगृहीतनामवृत्तस्य[1] जिनेन्द्रदत्तस्योदवसितसमीपवर्तिनं विरतिचैत्यालयमवाप्य तत्र निवसन्ती यमनियमोपवासपूर्वकैर्विधिभिः क्षपितेन्द्रियमनोवृत्तिर्भवन्ती।

तस्मादङ्गदेशनगराज्जिनेन्द्रदत्तं चिरविरहोत्तालं[2] श्यालं विलोकितुमागतेन प्रियदत्तश्रेष्ठिना वीक्ष्य विषयाभिलाषमोषपरुषकचा सा विहितबहुशुचा पुनः प्रत्याय्य तस्मै जिनेन्द्रदत्तसुतायार्हद्दत्ताय दातुमुपक्रान्ता—'तात, तं भदन्तं भगवन्तं पितरं मातरं च तां प्रमाणीकृत्य कृतनिरवधिचतुर्थव्रतपरिग्रहा। ततः कथमहमिदानीं विवाहविधये परिकल्पनीया' इति निगीर्य कमलश्रीसकाशे विरतिविशेषवशं रत्नत्रयकोशमभजत्।

भवति चात्र श्लोकः—

हासात्पितुश्चतुर्थेऽस्मिन्व्रतेऽनन्तमतिः स्थिता।
कृत्वा तपश्च निष्काङ्क्षा कल्पं द्वादशमाविशत् ॥१६५॥

इत्युपासकाध्ययने निष्काङ्क्षिततत्त्वावेक्षणो नामाष्टमः कल्पः।

तपस्तीव्रं जिनेन्द्राणां नेदं संवा[3]दमन्दिरम्।
अदोऽपवादि[4] चेत्येवं चेतः स्याद्विचिकित्सना ॥१६६॥

वहाँसे निकलकर वह अपने पिताकी भगिनी सुदेवीके पति तथा अर्हद्दत्तके पिता जिनेन्द्रदत्तके निकटवर्ती चैत्यालयमें जाकर रहने लगी और यम नियम तथा उपवासके द्वारा इन्द्रियों और मनकी चंचलताको दूर करने लगी। एक दिन अनन्तमतीका पिता श्रेष्ठी प्रियदत्त अंगदेशसे अपने बहनोई जिनेन्द्रदत्तको देखनेके लिए आया। वहाँ उसने अपनी पुत्री अनन्तमतीको देख बहुत विलाप किया और बादको उसे जिनेन्द्रदत्तके पुत्र अर्हद्दत्तसे विवाहनेका प्रस्ताव किया। तब पुत्री बोली—'पिताजी! भगवान् आचार्य, आप और अपनी जननीको साक्षी करके मैंने आजन्मके लिए ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया था। अतः अब कैसे मैं विवाहकी विधिके लिए तैयार हो सकती हूँ।'

ऐसा कहकर उसने कमलश्री आर्यिकाके समीपमें व्रत धारण कर लिये।

इसके विषयमें एक श्लोक भी है—

'अनन्तमतीने पिताके परिहाससे ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया और उसमें स्थिर रही। फिर बिना किसी प्रकारकी इच्छाके तप करके बारहवें स्वर्गमें उत्पन्न हुई ॥१६५॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें निःकांक्षित तत्त्वको बतलानेवाला आठवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[अब निर्विचिकित्सा अंगको बतलाते हैं—]

'जिनेन्द्र भगवानके द्वारा कहा गया यह उग्र तप प्रशंसनीय नहीं है, उसमें अनेक दोष

---

१. यथार्थनाम्नः। २. भगिनीपतिम्। ३. तीव्रं तपो जिनवरैर्विहितं मुनीनां संवादमन्दिरमिदं न भवेत्तथाहि। आचाममज्जनविवर्जननाग्न्ययोगादूर्ध्वस्थभुक्तित इति प्रवदन्त्यविज्ञाः ॥५०॥—धर्मरत्ना० प० ७० पू०। इदं किंचित् श्लाघ्यं न। ४. सदोषं अदः एतद् वस्तु। अदोषवा–, आ०। सच्छ्रुतात् सुश्रुतुं शीलमसहाः श्रयितुं नराः। निबोधितुं तदर्थं च स्वदोषाद् दूषयन्त्यतः ॥५७॥—धर्मरत्ना० ७० प०। तीव्रं तपो यतीन्द्रेषु नेदं संवादि सर्वथा। स्नानाभावादिदोषैः स्यादपवादशतैर्युतम् ॥३१॥ मन्दबुद्धिर्महामोहादित्थं विप्रतिपद्यते। विनिन्दा नाम तस्यायं दोषः स्याद्दर्शनाश्रयः ॥३२॥ —प्रबोधसार

स्वस्यैव हि स दोषोऽयं यन्न शक्तः श्रुताश्रयम् ।
शील[1]माश्रयितुं जन्तुस्तदर्थं वा निबोधितुम् ॥१६७॥
स्वतःशुद्धमपि व्योम[2] वीक्षते यन्मलीमसम् ।
नासौ दोषोऽस्य किं तु स्यात्स दोषश्चक्षु[3]राश्रयः ॥१६८॥
दर्शनाद्देहदोषस्य यस्तत्त्वाय जुगुप्सते ।
स लोहे कालिकालोकान्नूनं मुञ्चति काञ्चनम् ॥१६९॥
स्वस्यान्यस्य च कायोऽयं बहिश्छायामनोहरः ।
अन्तर्विचार्यमाणः स्यादौदुम्बरफलोपमः ॥१७०॥
तदैतिह्ये च देहे च याथात्म्यं पश्यतां सताम् ।
उद्वेगाय कथं नाम चित्तवृत्तिः प्रवर्तताम् ॥१७१॥

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—मतिश्रुतावधिबोधमार्गत्रयप्रवृत्तमतिमन्दाकिनीसान्द्रः सौधर्मेन्द्रः किल सकलसुरसेवासभावसरसमये सम्यक्त्वरत्नगुणान्गीर्वाणानुग्रहायोदाहरन्निदानी-

हैं ।' इस प्रकार चित्तमें सोचना विचिकित्सा कहाता है । शास्त्रमें कहे गये शीलको पालने अथवा उसका आशय समझनेमें जो जीव असमर्थ है सो यह उसीका दोष है । स्वतः शुद्ध आकाश भी जो मलिन दिखाई देता है सो यह आकाशका दोष नहीं है किन्तु देखनेवालेकी आँखोंका दोष है ॥ जो मनुष्य शरीरमें दोष देखकर उसके अन्दर बसनेवाली आत्मासे ग्लानि करता है, वह लोहेकी कालिमाको देखकर निश्चय ही सोनेको छोड़ता है । अर्थात् जैसे लोहेकी कालिमाका सोनेसे कोई सम्बन्ध नहीं है वैसे ही शरीरकी गन्दगीका आत्माके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । अतः शरीरके गन्देपनको देखकर तपस्वी साधुकी आत्मासे घृणा नहीं करनी चाहिए ॥ अपना शरीर हो या दूसरेका, वह बाहरसे ही मनोहर लगता है । उसके अन्दरकी हालतका विचार करनेपर तो वह उदुम्बरके फलके समान ही है ॥ अतः इस परम्परागत उपदेश तथा इस शरीरके वास्तविक स्वरूपको जाननेवाले सज्जनोंकी चित्तवृत्ति (शरीरकी गन्दगीको देखकर) कैसे व्याकुल हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती ॥१६६–१७१॥

भावार्थ—रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें निर्विचिकित्साका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि यह शरीर स्वभावसे ही गन्दा है, किन्तु यदि उसमें रत्नत्रयसे पवित्र आत्माका वास है तो शरीरसे ग्लानि न करके उस आत्माके गुणोंसे प्रीति करनेको निर्विचिकित्सा अंग कहते हैं । प्रायः ऐसा देखा जाता है कि दुर्भाग्यसे पीड़ित मनुष्योंको देखकर सुखी मनुष्योंके चित्तमें यह भावना आ जाती है कि हम श्रीमान् हैं और यह बेचारा विपत्तिका मारा हुआ दीन-हीन प्राणी है, यह भला हमारे बराबर कैसे हो सकता है । इस प्रकारका अहंकार केवल अज्ञान मूलक है वास्तवमें कर्मोंके बन्धनमें पड़े हुए सभी प्राणी समान हैं । अतः जो कर्मोंके शुभोदयसे फूलकर कर्मोंके अशुभोदयसे पीड़ित प्राणियोंसे घृणा करते हैं और शास्त्रमें प्रतिपादित जप-तप-नियमादिकको कष्टदायक जानकर उसे वृथा समझते हैं तथा तपस्वियोंके मैले शरीरको देखकर उनकी निन्दा करते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं—उनकी दृष्टि ठीक नहीं है । और जो वैसा नहीं करते, वे ही सम्यग्दृष्टि हैं ।

३ निर्विचिकित्सा अंगमें प्रसिद्ध उद्दायन राजा की कथा

इस सम्बन्धमें एक कथा है, उसे सुनिए—

१. शीलार्थं आचरणप्रयोजनं ज्ञातुमसमर्थो वा । २. नभसः । ३. नेत्रस्य संबन्धी ।

मिन्द्रकच्छदेशेषु मायापुरीत्यपरनामावसरस्य रौरुकपुरस्य प्रभोः प्रभावतीमहादेवीविनोदायतनादुद्दायनान्मेदिनीपतेः सद्दर्शनशरीरगदचिकित्सायामविचिकित्सायामपरः कोऽपि क्षान्तमतिप्रसरो मोक्षलक्ष्मीकटाक्षावेक्षणाक्षुण्णपात्रे[1] मर्त्यक्षेत्रे नास्तीत्येतच्च वासवसंज्ञस्त्रिदशः पुरन्दरोदितासहमानप्रश्नस्तत्र महामुनिसमूहप्रचारप्रचरे नगरेऽवतीर्य सर्वाङ्गाधिना[2]ऽप्रतिष्ठ[3]कुष्ठकोष्ठकं निष्ठ्यूतद्रवोद्रेकोपद्रुतदेहमखिलदेहिसंदोहोद्वेजनश्रवणेक्षणघ्राणगरणविनिर्गलदनर्गलदुर्गन्धपूयप्रवाहमूर्धस्फुटितस्फोटस्फुटचेष्टितानिष्टमक्षिकाक्षिप्ताशेषशरीरमभ्यन्तरोच्छ्वयथु[4]कोथोत्तरङ्गत्वगन्तरालप्रलीनाखिलनखनासीरमविच्छिन्नोन्मूर्छ[5][6]त्तुच्छकच्छूच्छन्नसृक्कसारिणीसरन्[7]सततलालास्रावमनवरतस्रोत:स्रुतातीसारसंभूतबीभत्सभावमनेकशो[8] विशिखाशिखोत्पतनिपताश्रिताशुचिरं[9] [10]शिदुर्दर्शवपुषमृषिवेषमादायाद[11]नायावनीपतिभवनमभजत् ।

भूपतिरपि सप्ततलारब्धसौधमध्यमध्यासीनस्तमसाध्यव्याधिविधुरधिषणाधीनविष्वाणा[12] ध्येषणाय निजनिलयमालीय[13]मानमवलोक्य सौत्सुक्यमागत्य स्वीकृत्य च कृत्रिमातङ्क[14]पावकपरवशास्वनितं मुहुर्मुहुर्महीतले निपतन्तमनुद्विग्नमनश्चरित्रः प्रकामदुर्जयखर्जनार्जनजर्जरितगात्रं काश्मीरपङ्कपिञ्जरेण भुजपञ्जरेणोद[15]नीयानीय चाशन[16]वेश्मोदरं स्वयमेव समाचारितोपचारै[17]स्तदभिलाषोन्मेषसारैराहारैरुपशान्ताशना[18]योत्कण्ठमाकण्ठं भोजयामास ।

एक बार, मति, श्रुत और अवधि ज्ञानसे युक्त सौधर्मेन्द्र देवोंकी सभामें उनके उपकारके लिए सम्यग्दर्शन रूपी रत्नके गुणोंका उदाहरण देते हुए बोला—'इस समय, मोक्ष रूपी लक्ष्मीके कटाक्षको देखनेके लिए निर्दोष पात्र स्वरूप इस मनुष्य लोकमें, इन्द्रकच्छ देशकी मायापुरी नगरीके स्वामी राजा उद्दायनके समान निर्विचिकित्सा अंगका पालन करने वाला दूसरा नहीं है ।'

यह बात वासव नामके देवको सह्य नहीं हुई । वह अनेक महामुनियोंके विहारसे पवित्र उस नगरीमें आया और उसने एक कोढ़ी मुनिका रूप धारण किया । उसके समस्त अंग कोढ़से गल रहे थे, सारा शरीर बहते हुए पीब वगैरहसे सना था, आँख, नाक, कान वगैरहके छिद्रोंसे अत्यन्त दुर्गन्धवाला मल बहता था, जिसे देखकर सबको ग्लानि होती थी, शरीरके ऊपरी भागमें अनेक फोड़े उठे हुए थे जिनपर मक्खियाँ भिनभिना रही थीं । समस्त शरीरमें निरन्तर खाज उठ रही थी, ओठोंके दोनों ओरसे निरन्तर राल टपकती थी और अतीसार रोगके कारण निरन्तर मल बहता था । गन्दी नालियोंमें गिरने उठनेसे उसका शरीर गन्दगीसे भरा हुआ था ।

ऐसे दुर्दर्शनीय साधुका वेष बनाकर भोजन करनेके लिए वह देव राजभवन गया । अपने सतमंजिले महलमें बैठे हुए राजाने असाध्य रोगसे व्याकुल बुद्धिवाले उस साधुको जैसे ही भोजनके लिए अपने महलकी ओर आता हुआ देखा, वह बड़ी उत्सुकताके साथ उठकर आया और उसे पड़गाहा । बनावटी रोगसे उसकी आवाज भारी हो रही थी, बार-बार वह पृथ्वीपर गिर पड़ता था तथा अत्यन्त भयानक खाजसे उसका शरीर जर्जर हो चुका था । ऐसे उस साधुको वह राजा किसी उद्वेगके बिना केशरके लेपसे पीली हुई अपनी भुजाओंमें उठाकर भोजनशालामें लाया । और स्वयं ही सब उचित उपचार करके उसे भरपेट रुचिकर आहार कराया ।

१. –क्षूण– अ० ज० मु० । परिपूर्ण । २. व्याधिना–रोगेण । ३. अशोभित । ४. कर्ण-चक्षुर्घ्राण-गल-एतेभ्यो-विनिर्गलदनवरतपूयप्रवाहम् । ५. कोथस्तु मथने नेत्रत्वग्भेदे शाटितेऽपि च । ६. उत्पद्यमान । ७. श्रवत् । ८. मलद्वारश्रवत् । ९. –भावं ने–ब० । १०. गूथश्रेणि । ११. आहारार्थम् । १२. आहारग्रहणाय । १३. आगच्छन्तम् । १४. रोग । १५. उद्धृत्य । १६. रसवतीगृहमध्यम् । १७.–पचार–मु० । १८. उपशान्ता अशनाय उत्कण्ठा यस्य ।

मायामुनिः पुनरपि तन्मनोजिज्ञासमानमानसः प्रसभमतिगम्भीरगलगुहाकुहरोज्जिहानघोरघोषाभिघातघनघूर्णितापघनमप्रतिघं[1] चावमीत्[2]। भूमीपतिरपि 'आः, कष्टमजनिष्ट, यन्मे मन्दभाग्यस्य[3] गृहे गृहीताहारोपयोगस्यास्य मुनेर्मनः खेदपादपवितर्दिच्छर्दिः समभूत्' इत्युपक्रुष्टानिष्टचेष्टितवर्त्मानमात्मानं[4] विनिन्दन्मायामयमक्षिकामण्डलितकपोलरेखादेतन्मुखादसरालालालाक्लिन्नमिन्दिरामन्दिरारविन्दोदरसौन्दर्यनिकटेनाञ्जलिपुटेनादायादाय[5] मेदिन्यामुदसृजत्[6]। पुनश्चोद्गीर्णोदीर्णदुर्वर्णकूरनिकरे[7] [8]भर्मिभ्रमिनिर्भरारम्भपतितशरीरं सप्रयत्नकरस्थामसीमं[9] समुत्थाप्य जलजनितक्षालनप्रसंगमुत्तरीयदुकूलाञ्चलविलुप्तसलिलसंगमक्लसंवाहनेनानुकम्पनविधानोचितवचनरचनेन च साधु समाश्वासयत्।

तदनु[10] प्रमोदामृतामन्दहृदयालवालवलयोल्लसत्प्रीतिलतावनिः सुरचरो मुनिर्यथैवायं सद्दर्शनश्रवणोत्कण्ठितहृदि[11] त्रिदिवोत्पादिपरिषदि परगुणग्रहणाग्रहनिधानेन विबुधप्रधानेन प्राज्यराज्यसमज्यार्जनसर्जितजगत्त्रयीनिजनामधेयप्रसिद्धिर्यथोक्तसम्यक्त्वाधिगमावधेयबुद्धिरुपवर्णितस्तथैवायं[12] मया महाभागो निर्वर्णित[13] इति विचिन्त्य प्रकटितात्मरूपप्रसरस्तमवनीश्वरममरतरुप्रसूनवर्षानन्ददुन्दुभीनादोपघातशुचिभिः साधुकारपरव्याहाराावसरशुचिभिरुदारैरुपचारैरनिमिषविषयसंभूष्णुभिर्मनोभिलषितसंपादनजिष्णुभिस्तैस्तैः[14] पठितमात्रविधेयविद्योपदेशगर्भैर्वस्त्रसंदर्भैश्च[15] संभाव्य सुरसेव्यं देशमाविवेश।

तब उस मायावी मुनिने राजाके मनका भाव जाननेकी इच्छासे, मेघके गर्जनको भी मात कर देने वाली गलेकी आवाजके साथ जो कुछ खाया पिया था वह सब वमन कर दिया। 'यह बड़ा बुरा हुआ जो मुझ अभागेके घर भोजन करनेसे मुनिराजको वमन हो गया।' इस प्रकार अपनेको अनिष्ट चेष्टाओंसे युक्त मानकर वह राजा अपनी निन्दा करते हुए, मायामयी मक्खियोंके झुण्डसे आक्रान्त उस साधुके मुखसे निरन्तर बहने वाली लारसे सने हुए अन्नको, लक्ष्मीके निवासस्थान कमलके समान सौन्दर्यशाली अपनी अञ्जलिसे उठा-उठाकर भूमिमें फेंकने लगा। फिर वमन किये हुए दुर्गन्धित अन्नपर मूर्छा आजानेके कारण एक दम गिर पड़े साधुके शरीरको बड़े श्रमके साथ अपने हाथोंमें उठाकर अपने दुपट्टेके कोनेको जलमें भिगोकर उससे उसे धोने लगा। तथा पगचम्पी वगैरह व दयापूर्ण शब्दोंके द्वारा वह साधुको ढाढस बधाने लगा।

राजाके इस सेवाभावको देखकर मुनि वेषधारी उस देवके प्रमोदरूपी जलसे परिपूर्ण हृदय रूपी क्यारीमें प्रीतिरूपी लता लहलहाने लगी। वह सोचने लगा—'सम्यग्दर्शनका वर्णन सुननेके लिए उत्कण्ठित देवताओंकी सभामें, दूसरोंके गुणोंको ग्रहण करनेका आग्रह रखने वाले इन्द्रने तीनों लोकोंमें अपने नामको ख्यात करनेवाले यथोक्त सम्यक्त्वके आराधक इस राजाके सम्बन्धमें जैसा कहा था वैसा ही इस महाभागको मैंने पाया। ऐसा सोचकर उसने अपना असली रूप प्रकट कर दिया। और अमर तरुके पुष्पोंकी वर्षा, दुन्दुभिके आनन्दपूर्ण नाद तथा दूसरोंके आदर-सत्कारके अवसरपर किये जाने वाले अन्य महान् उपचारोंके द्वारा राजाका बड़ा सम्मान किया और उसे पाठमात्रसे सिद्ध होनेवाली अनेक विद्याएँ तथा वस्त्र वग़ैरह देकर स्वर्गलोकको चला गया।

१. विवर। २. निर्विघ्नं वान्तः। ३. मन्दभागस्य– अ०, ज०। ४. इत्यपक्रुष्ट—ब०। निन्दनीय चेष्टा। ५. लक्ष्मी निवास। ६. त्यक्तवान्। ७. ओदनसमूहे। ८. माया भ्रमण। –भर्मिभ्रम–आ०। ९. बल। १०. तत्पश्चात्। ११. देव। १२. श्लाघितः। १३. दृष्टः। १४. देव। १५. मंत्रपाठमात्रेण स्वाधीनविद्योपदेशसहितैर्वस्त्रैः।

भवति चात्र श्लोकः—

बालवृद्धगदग्लानान्मुनीनौद्दायनः स्वयम् ।
भजन्[1]निर्विचिकित्सात्मा स्तुतिं प्रापत्पुरन्दरात् ॥१७२॥

इत्युपासकाध्ययने निर्विचिकित्सासमुत्साहनो नाम नवमः कल्पः ।

अन्त[2]र्दुरन्तसंचारं बहिराकारसुन्दरम् ।
न श्रद्दध्यात्कुदृष्टीनां मतं किम्पाकसंनिभम् ॥१७३॥
[3]श्रुतिशाक्यशिवाम्नायः क्षौद्रमांसासवाश्रयः ।
यदन्ते[4] मखमोक्षाय विधिरत्रैतदन्वयः ॥१७४॥
धर्मिभस्मजटाबोटं[5]योगपट्टकटासनम् ।
मेखलाप्रोक्षणं मुद्रा [6]वृषीदण्डः करण्डकः ॥१७५॥
शौचं मज्जनमाचामः पितृपूजानलार्चनम् ।
अन्तस्तत्त्वविहीनानां प्रक्रियेयं विराजते ॥१७६॥
को देवः किमिदं ज्ञानं किं तत्त्वं कस्तपःक्रमः ।
को बन्धः कश्च मोक्षो वा यत्रत्रेदं न विद्यते ॥१७७॥
आप्तागमाविशुद्धत्वे क्रिया शुद्धापि देहिषु ।
नाभिजातफलप्राप्त्यै विजातिष्विव जायते ॥१७८॥

इसके विषयमें भी एक श्लोक है, जिसका आश्रय इस प्रकार है—"बाल, वृद्ध और रोगसे पीड़ित मुनियोंकी स्वयं सेवा करनेवाला, निर्विचिकित्सा अंगका पालक, राजा उद्दायन इन्द्रके द्वारा प्रशंसित हुआ।"

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें निर्विचिकित्सा अङ्गका वर्णन करनेवाला नौवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[अब अमूढदृष्टि अङ्गको बतलाते हैं—]

जिसके अन्दर बुराइयाँ भरी हैं किन्तु जो बाहरसे सुन्दर है, किम्पाकफलके समान ऐसे मिथ्यादृष्टियोंके मतपर श्रद्धा मत करो ॥१७३॥

वैदिक मतमें मधुके प्रयोगका विधान है, बौद्धमतमें मांस-भक्षणका विधान है, और शैवमतमें मद्यपानका विधान है। इन आम्नायोंमें जो यज्ञ और मोक्षकी विधियाँ है, उनमें भी उक्त वस्तुओंके सेवनका विधान आता है ॥१७४॥

नशा करना, भस्म रमाना, जटाजूट रखना, योगपट्ट, कटिसूत्र-धारण, यज्ञके लिए पशुवध करना, मुद्रा, कुशासन, दण्ड, पुष्प रखनेका पात्र, शौच, स्नान, आचमन, पितृतर्पण और अग्निपूजा, ये सब आत्मतत्त्वसे विमुख साधकोंकी प्रक्रिया है ॥ कौन देव है ? तत्त्व क्या है, तपस्याका क्रम क्या है ? बन्ध किसे कहते हैं ? मोक्षका क्या स्वरूप है ? ये सब बातें वहाँ नहीं हैं ॥१७५-१७७॥

यदि देव और शास्त्र निर्दोष न हों तो प्राणियोंकी शुद्ध क्रिया भी श्रेष्ठ फलको नहीं दे

---

१. भजन्निर्विचिकित्स्यात्सास्तुतिं प्राप पुरन्दरात् ॥७०॥—धर्मर: पृ० ७१उ० । २. विषवृक्षफलप्रायं बहिःशोभामनोहरम् । महामोहलतामूलं मतं मिथ्यादृशां मतम् ॥४०॥ प्रबोधसार । ३. श्रौतबुद्धशिवाम्नाया मधुमांसासवाश्रयाः । सुधिया न प्रशस्यन्ते ब्रह्मतत्त्वेऽपि संस्थिताः ॥४१॥—प्रबोधसार । वेदे क्षौद्रस्वीकारः । बौद्धमते मांसाम्नायः । शैवमते मद्यम् । ४. यज्ञेन कृत्वा मोक्षनिमित्तं विधिः क्रियते (?) ५. -जूट-ब० । ६. वृषी-व्रतिनां कुशासनम् ।

तत्संस्तवं प्रशंसां वा न कुर्वीत कुदृष्टिषु।
ज्ञानविज्ञानयोस्तेषां विपश्चिन्न च विभ्रमेत् ॥१७९॥

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—मुक्ताफलमञ्जरीविराजितविलासिनीकर्णकुण्डलेषु पाण्ड्यमण्डलेषु पौरपुण्याचारविदूरितविधुरायां दक्षिणमथुरायामशेषश्रुतपारावारपारगमवधिबोधाम्बुधिमध्यसाधितसकलभुवनभागम्, अष्टाङ्गमहानिमित्तसंपत्तिसमधिकधिषणाधिकरणम्, अखिलश्रमणसंघसिंहोपास्यमानचरणम् अत्याश्चर्यतपश्चरणगोचराचारचातुरीचमत्कृतचित्तखचरेश्वरविरचितचरणार्चनोपचारं श्रीमुनिगुप्तनामव्याहारं भदन्तं भगवन्तं गगनगैमनाङ्गनापाङ्गामृतसारणीसंबन्धवीध्रस्य विजयार्धमेदिनीध्रस्य रतिकेलिविलासविगलितनिलिम्पललनामेखलामणौ दक्षिणश्रेणौ मेघकूटपट्टनाधिपत्योपान्तः सुमतिसीमन्तिनीकान्तः संसारसुखपराङ्मुखप्रतिभश्चन्द्रशेखराय सुताय निजैश्वर्यं वितीर्य पर्यवसितदेशयतिरूपः सकलाम्बरचरविद्यापरिग्रहसमीपः सप्रश्रयमभिवन्द्यानवद्यविद्यामहन् भगवन्, पौराङ्गनाशृङ्गारोत्तरङ्गापाङ्गपुनरुक्तस्मरशरायामुत्तरमथुरायां जिनेन्द्रमन्दिरवन्दारुहृदयदोहदवर्ती वर्तेऽहम्। अतस्तन्नगरीगमनाय तत्र भगवता भगवतानुज्ञातव्योऽस्मि। किं च कस्य तस्यां पुरि कथयितव्यमित्यपृच्छत्।

सकती। जैसे विजातियोंमें कुलीन सन्तानकी प्राप्ति नहीं होती॥ इसलिए मिथ्यादृष्टियोंकी मनसे प्रशंसा नहीं करनी चाहिए और न वचनसे स्तुति करनी चाहिए। तथा समझदार मनुष्योंको उनके ज्ञानादिकको देखकर भ्रममें नहीं पड़ना चाहिए ॥१७८-१७९॥

भावार्थ—अतत्त्वको तत्त्व मानना, खोटे गुरुको गुरु मानना, कुदेवको देव मानना और अधर्मको धर्म मानना मूढ़ता है। और जो इस प्रकारकी मूढ़ता नहीं करता वह अमूढ़दृष्टि अङ्गवाला कहा जाता है। कुछ लोगोंका यह भाव रहता है कि लौकिक कल्याणके लिए कुदेवोंकी आराधना करनी चाहिए। किन्तु यह सब लोकमूढ़ता है। इस प्रकारकी मूढ़ता सम्यग्दृष्टिको शोभा नहीं देती।

४ अमूढदृष्टि अंगमें प्रसिद्ध रेवती रानी की कथा

इस विषयमें एक कथा है, उसे सुनें—

पाण्ड्य देशकी दक्षिण मथुरा नगरीमें श्री मुनिगुप्ताचार्य विराजमान थे। वे समस्त श्रुत समुद्रके पारगामी थे, उनके अवधिज्ञान रूपी समुद्रके मध्यमें समस्त भुवनके भाग वर्तमान थे, वे अष्टांगमहानिमित्तके ज्ञाता थे, समस्त मुनिसंघ उनके चरणोंकी उपासना करता था। उनके आश्चर्यकारी तपश्चरणको देखकर विद्याधरोंके स्वामियोंके चित्त भी आश्चर्यचकित हो गये थे और वे उनके चरणोंकी पूजा करते थे।

विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणिके मेघकूट नामक नगरका राजा संसारके सुखसे विमुख होकर, अपने पुत्र चन्द्रशेखरको अपना राज्य देकर विरक्त हो गया। और मुनि गुप्ताचार्यके समीपमें उसने देशचारित्र धारण कर लिया। साथ ही परोपकार और वन्दना वगैरहके लिए उसने कुछ विद्याएँ भी अपने पास रक्खीं।

एक दिन मुनिगुप्ताचार्यके पास जाकर वह बोला—"भगवन्, मैं उत्तर मथुराके जिनालयोंकी

१. राक्षस। २. समुद्र। ३. अष्टाङ्गमहानिमित्तानि अन्तरिक्षभौमस्वरव्यञ्जनलक्षणछिन्नभिन्नस्वप्नाः। ४. विद्याधर। ५. देवाङ्गना।

मुनिसत्तमः—'प्रियतम, यथा ते मनोरथस्तथाभिमतपथः समस्तु। संदेष्टव्यं पुनस्तत्रै-तावदेव यदुत तत्पुरीपुरंदरस्य वरुणधरणीश्वरस्य शचीसदृशः सुदृशः पति[1]जिनपतिचित्तचरणोपचारपद[2]व्या महादेव्या रेवतीतिगृहीतनामया मदीयाशीर्वाच्या, तथावश्यकविशेषवश्यचित्तः सुव्रतभगवतो वन्दना च।

देशे यतिवरः—किमपरः तत्र भगवन्, जैनो जनो नास्ति।

भगवान्—'देशव्रतिन्, अलं विकल्पेन। तत्र गतस्य भविष्यति समस्ताप्यार्हतेतरशरीरिस[3]पत्ता सम[4]क्षा स्थितिः'।

खचरविद्याबीजप्ररोहमल्ल[5]कः क्षुल्लको 'यथादिशति दिव्यज्ञानसंगवान्भगवान्' इति निगीर्य गगनचर्ययावतीर्य चोत्तरमथुरायां परीक्षेय तावदेकादशाङ्गनिधानं भव्यसेनम्। तदनु परीक्षिष्ये सम्यक्त्वरत्नवतीं रेवतीमिति कृतकौतुकः कलमकणिशकिंशारुप्रकाशकेशपेशलासरालचूलमुत्तप्तकाञ्चनरुचिरुचिरशरीरगौरतानुकूलमरविन्दमकरन्दपरागपिङ्गलनयनमतिस्पष्टविकटवर्ण[6]वर्णनोदीर्णवदनमेकादशवर्षदेशीयमतिविस्मयनीयं कपटबटुवेषमाश्लिष्य[7] तन्मुनिमतमुद[8]वसितमयासीत्।

वेषमुनिस्तमीक्षणकमनीयं द्विजात्मजसजातीयं विलोक्य किलैवं स्नेहाधिक्यमालीलपत्—'हंहो, निखिलद्विजवंश[9]व्यतिरिक्तसुकृतकृतकल्याणप्रकृतितया समस्तलोकलोचनानन्दोत्पादनपटो बटो कुतः खलु समागतोऽसि'।

वन्दना करना चाहता हूँ अतः उस नगरीको जानेकी आज्ञा प्रदान करें। तथा उस नगरीमें यदि किसीसे कुछ कहना हो तो वह भी बतला दें कि किससे क्या कहूँ। आचार्य बोले—'प्रियवर! अपने मनोरथके अनुसार मथुरा नगरीको जाओ। और वहाँके लिए मेरा इतना ही सन्देश है कि उस नगरीके स्वामी वरुण राजाकी रानी जिन भगवान्के चरणोंकी अनन्य उपासिका पतिव्रता महादेवी रेवतीको मेरा आशीर्वाद कहना और अपने आवश्यकोंमें लीन भगवान् सुव्रतमुनिसे वन्दना कहना।'

'भगवन्! क्या वहाँ अन्य जैन यति नहीं हैं?'—देशव्रतीने पूछा।

आचार्य—'देशव्रती! यह पूछनेकी आवश्यकता नहीं है। वहाँ जानेपर तुम्हें जैन और जैनेतर मनुष्योंकी स्थिति प्रत्यक्ष हो जायेगी।'

आकाशगामिनी विद्यामें पटु वह क्षुल्लक 'दिव्यज्ञानी भगवान्की जो आज्ञा' इतना कहकर आकाश मार्गसे उत्तर मथुरामें जा पहुँचा। वहाँ उसे कौतूहल हुआ कि पहले ग्यारह अङ्कके धारी भव्यसेनकी परीक्षा करनी चाहिए, फिर सम्यक्त्व रूपी रत्नसे भूषित रेवतीकी परीक्षा करूँगा। यह सोच उसने ग्यारह वर्षके बालकका अत्यन्त आश्चर्यकारक रूप बनाया। उसके धान्यकी मञ्जरीके अग्रभागकी तरह पीले केश थे, तपाये हुए सोनेके समान शरीरका रूप था, शरीरके अनुरूप ही कमलके रस और रजके समान पीले नेत्र थे और मुखसे अति स्पष्ट सुन्दर स्तुति पाठ करता था। ऐसा रूप बनाकर वह विद्याधारी क्षुल्लक भव्यसेन मुनिके वासस्थानपर गया।

उस सुन्दर ब्राह्मण बालकको देखकर वह मुनिवेषी बड़े स्नेहसे इस प्रकार बोला—

---

१. पतिश्च राजा जिनपतिर्वीतरागस्वामी तयोश्चित्तचरणौ पत्युश्चित्तं जिनपतेश्चरणौ। २. स्थानं मार्गो वा। ३. सदृशा। ४. प्रत्यक्षा। ५. भाजन। ६. अक्षरोच्चार। ७. गृहीत्वा। ८. स्थानं। ९. अधिक।

अभिनवजनमनोह्लादनवचनौषधप्रयोगचरकभट्टारक,[1] सकलकलाविलासावासविद्वज्जनपवित्रात्पाटलिपुत्रात्'। 'किमर्थम्'। 'अध्ययनार्थम्'। 'काधिजिगांसाधिकरणमन्तःकरणम्'[2]। 'वाङ्मलक्षालनकरप्रकरणे व्याकरणे'। 'यद्येवं भवदन्तिके [स्वाध्यायध्यानसर्वस्व समास्व[3]। परवादिमदविदारणवाक्प्रक्रमासे[4] भगवन्, साधु समासे'[5]।

तदन्वतीतवतीषु कियतीषुचित्कालकलासु 'बटो, ललाटंतपो वर्तते मार्तण्डः। तद्गृहाणेमं कमण्डलुम्। पर्यट्यागच्छावः'[6]।

बटुः—'यथाज्ञापयति भगवान्'।

पुनर्नगरबाहिरिकायां निर्गते सरूपसंयते[7] स कपटबटुर्मायामयशष्पाङ्कुरनिकरनिकीर्णां विहारावतीर्णामवनिमकार्षीत्। तद्दर्शनादाकृतियतिरपि मनाग्व्यलम्बिष्ट।

बटुः—'भगवन्, किमित्यकाण्डे विलम्ब्यते'।

'बटो, प्रवचने किलैते शष्पाङ्कुराः[8] स्थावराः प्राणिनः पठ्यन्ते'।

'भगवन्, श्वासादिषु मध्ये कियतिथगुणः[9] खल्वमीषां प्राणः। केवलं रत्नाङ्कुरा इव धराविकारा ह्येते[10] शष्पाङ्कुराः।'

'समस्त ब्राह्मण वंशसे अधिक उपार्जित पुण्यसे मनोरम प्रकृति होनेके कारण समस्त लोगोंकी आँखोंको आनन्द देनेवाले बालक, कहाँसे आते हो ?' 'नये मनुष्योंके मनको प्रसन्न करनेवाले वचनोंके प्रयोगमें कुशल भगवन्, मैं समस्त कलाओंमें प्रवीण, विद्वानोंसे पवित्र पाटलीपुत्र नगरसे आता हूँ।'

'क्यों आये हो ?'

'पढ़नेके लिए !'

'क्या पढ़ना चाहते हो ?'

'वचनदोषको दूर करनेमें समर्थ व्याकरण पढ़ना चाहता हूँ।'

'तो स्वाध्याय और ध्यानमें लीन, तुम मेरे पास ही रहो।,

हे परवादियोंके मदको बिदारण करनेवाले वचनोंमें प्रवीण भगवान् ! जैसी आज्ञा।' आपके पास ही ठहरता हूँ।

उसके पश्चात् कुछ काल बीतनेपर मुनि बोले—

'बालक ! सूर्य मध्याह्नमें आगया है। अतः कमण्डलु लो, चलो घूम आयें।'

बालक—'भगवन् ! जो आज्ञा।'

नगरसे बाहर जानेपर उस कपटवेषी बालकने उस विहारभूमिको मायामयी घासके अंकुरोसे ढक दिया। उसे देख कर वह मुनिवेषी भी थोड़ा सकपका गया।

बालक—'भगवन् ! व्यर्थमें क्यों देर करते हैं ?'

'बालक ! शास्त्रमें घासके इन अंकुरोंको स्थावर जीव बतलाया है।'

---

१. वचनमेव औषधं तस्य (प्रयोगे) चरकः–वैद्यः। २. अध्ययनकर्तुमिच्छा। ३. तिष्ठ। ४. वाक्प्रक्रम एव असि खड्गो यस्य। ५. तिष्ठामि। ६. पर्यटनं कृत्वा। ७. वेषधारिणि। ८. बालतृण। सस्या–मु०। ९. कियति गु–मु०। १०. सस्या–मु०।

वेशमुनिः 'साध्वयमभिदधाति' इति विचिन्त्य विहृत्य च निःशङ्कं निष्पादितनीहारो विरहितव्याहारः[1] करेण [2]किमप्यभिनयन्नेवमनेनोक्तः—'भगवन्, किमिदं मौनेनाभिनीयते। जिनरूपाजीव :

अभिमानस्य रक्षार्थं प्रतीक्षार्थं श्रुतस्य च
ध्वनन्ति मुनयो मौनमदनादिषु कर्मसु ॥१८०॥

इति मौनफलमविकल्प्य जालजल्पः 'द्विजात्मज, समन्विष्य समानीयतामावायत्कायो गोमयो भसितपटलमिष्टकाशकलं वा'।

'भगवन्, अखिललोकशौचोचितप्रवृत्तिकायां मृत्तिकायां को दोषः'।

'बटो, प्रवचनलोचननिचा[3]यिकास्तत्कायिकाः[4] किल तत्र सन्ति जीवाः'।

'भगवन्, ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणो जीवगणः। न च तेषु तद्द्व[5]यमुपलभ्यते'।

'यद्येवमानीयतां मृत्स्ना कृत्स्नाऽसुमत्सेव्या'। बटुस्तथाचर्य कुण्डिकामर्पयति। मुधामुनिर्जलविकलां कमण्डलुं करेणाकलय्य 'बटो, रिक्तोऽयं कमण्डलुः।

'भगवन्, इदमुदकमचिरवल्ले तल्ले समास्ते'।

'बटो, पटापूतपानीयादाने महदादीन[6]वं किमिति यतो जन्तवः सन्ति।

तदसत्यमिह स्वच्छतया विहायसीव पयसि तदनवलोकनादिति वचनात्तत्र बहिस्त-

---

भगवन्! इनके श्वासादिकमेंसे कितने प्राण होते हैं? घासके ये अंकुर तो रत्नोंके समान पार्थिव हैं।'

'यह बालक ठीक कहता है' यह सोचकर उस मुनिवेषीने निःशङ्क हो कर उस तृणोंसे व्याप्त पृथ्वीपर विहार किया और शौचसे निवृत्त होनेपर मौनपूर्वक हाथसे संकेत किया। तब बालक बोला—'भगवन्, मौनसे आप संकेत क्यों करते हैं?' यह सुनकर वह मुनिवेषी 'अभिमानकी रक्षाके लिए तथा शास्त्रकी विनयके लिए भोजन आदि करते समय मुनिगण मौन धारण करनेको कहते हैं' मौनके इस फलका विचार किये बिना बोला—'ब्राह्मणपुत्र! कहींसे भी खोजकर सूखा गोबर राख या ईंटका टुकड़ा लाओ।'

'भगवन्! सब लोग मिट्टीसे शुद्धि करते हैं, मिट्टीमें क्या दोष है?'

'बालक! शास्त्रमें कहा है कि मिट्टीमें पृथिवीकायिक जीव रहते हैं।'

'भगवान्! जीवका लक्षण तो ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग है, किन्तु मिट्टीमें ये दोनों नहीं पाये जाते।'

'तो सब जीवधारियोंसे सेवनीय मिट्टी लाओ।'

बालकने मिट्टी ला दी और कमण्डलु रख दिया। हाथसे कमण्डलुको खाली जानकर मुनिवेषी बोला—'बालक! यह कमण्डलु खाली है'

'भगवन्! सामने तालमें तो पानी है।'

'बालक! बिना छने पानीको काममें लानेमें बड़ा पाप है; क्योंकि उसमें जीव रहते हैं?'

'यह बिल्कुल झूठ है क्योंकि आकाशकी तरह स्वच्छ इस पानीमें जीव नहीं दिखाई देते।' यह सुनकर उस द्रव्य लिङ्गीने तालपर जाकर शौच क्रिया की।

यह सब देखकर वह विद्याधर सोचने लगा कि इसी लिए अतीन्द्रिय पदार्थोंको

---

१. मौनी। २. संज्ञां कुर्वन्। ३. दृष्टाः। ४. पृथ्वीकायिकाः। ५. ज्ञानदर्शनोपयोगद्वयं। ६. कर्मास्रवदोषं।

न्मसंयमिनि तत्त्वाभिनिवेशवशिकाशयवेश्मनि तद्देशमुद्दिश्याश्रितशौचे खचरेण चिन्तितम् अत एव भगवानतीन्द्रियपदार्थप्रकाशनशेमुषीं प्राप्तः श्रीमुनिगुप्त्यो[-सो]ऽस्य किमपि न[2] वाचिकं प्राहिणोत्। यस्मादस्मिन्प्रदीपवर्तिवदनमिवान्तस्तत्त्वसर्गे निसर्गमलीमसं मानसं बहिः प्रकाशनसरसं च।

भवति चात्र श्लोकः—

जले तैलमिवैतिह्यं[3] वृथा तत्र[4] बहिर्द्युति।
रसवत्[5]स्यान्न यत्रान्तर्बोधो वेधाय[6] धातुषु ॥१८१॥

इत्युपासकाध्ययने भवसेनदुर्विलसनो नाम दशमः कल्पः।

परीक्षितस्तावत्प्रसभा[7]विर्भविष्यद्भवसेनो भवसेनस्तदिदानीं भगवदाशीर्वादपादपोत्पादवसुमतीं रेवतीं परीक्षे, इत्याक्षिप्तान्तःकरणः पुरस्य[8] पुरंदरदिशि [9]हंसांशोत्तंसावासवेदिकान्तरालकमलकर्णिकास्तीर्णमृगाजिनासीनपर्यङ्कपर्यायम्, अमरसरः[10]संजातसरोजसूत्रवर्तितोपवीतपूतकायम्, [11]अमृतकरकुरङ्गकुलकृष्णसारकृत्तिकृतोत्तरासंगसंनिवेशम्, अनवरतहोमारम्भसंभूतभसितपाण्डुपुण्ड्र[12]कोत्कटनिटल[13]देशम्, अम्बरे[14]चरतरङ्गिणीजलक्षालितकल्पकुजवल्कलवलितोत्तरीयप्रतानपरिवेष्टितजटावलयम्, अमृतान्ध[15]सिन्धुरोधःसंजातकुत[16]पाङ्कुराक्षमालाकमण्डलुयोगमुद्राङ्कितकरचतुष्टयम्, उपासनसमायात-मतङ्ग-भृगु-भर्ग-भरत-गौतम-गर्ग-पिङ्गल-पुलह-पुलोम-पुलस्ति-पराशर-मरीचि-विरोचन-[17]चञ्चरीकानीकास्वाद्यमानवदनारवि-

---

जाननेकी बुद्धि रखनेवाले श्री मुनिगुप्ताचार्यने इससे कुछ भी नहीं कहलाया। क्योंकि दीपककी बत्तीके मुखकी तरह इसका मन तो स्वभावसे ही कलुषित है किन्तु बाहरमें प्रकाश दिखाई देता है।

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

जहाँ धातुमें पारदकी तरह अन्तर्बोध चित्तके अन्दर नहीं भिदता, वहाँ जलमें तेलकी तरह बाहरमें ही प्रकाशमान शास्त्रज्ञान व्यर्थ ही होता है ॥१८१॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें भव्यसेन मुनिकी दुश्चेष्टा बतलानेवाला दसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

भव्यसेनकी परीक्षा हो चुकी। अब भगवान् मुनि गुप्ताचार्यके द्वारा आशीर्वाद पानेवाली रेवती रानीकी परीक्षा करनी चाहिए। ऐसा सोचकर उस विद्याधरने नगरकी पूर्वदिशामें ब्रह्माका रूप बनाया।

वेदिकाके मध्यमें कमलकी कर्णिकापर बिछे हुए मृगचर्मपर वह पर्यङ्कासनसे बैठा हुआ था। मान-सरोवरमें उत्पन्न हुए कमलके धागोंसे बना हुआ यज्ञोपवीत उसके शरीरपर पड़ा हुआ था। चन्द्रमाके हिरणके वंशके कृष्णसार मृगके चर्मका बना हुआ उसका दुपट्टा था। निरन्तर होनेवाले होमकी भस्मका त्रिपुण्ड उसके मस्तकपर सुशोभित था।

गंगाके जलसे धोये गये कल्पवृक्षके वल्कलसे उसकी जटाएँ बँधी हुई थीं। गंगाके किनारोंपर उगे हुए दूर्वाङ्कुर, रुद्राक्ष माला, कमण्डलु और योगमुद्रासे उसके चारों हाथ युक्त

---

१. शून्य। २. सन्देशं। ३. शास्त्र। ४. बाह्याचार। ५. पारदवत्। ६. भेदाय। ७. हठात् प्रकटीभविष्यन्ती संसारसेना यस्य। ८. नगरस्य पूर्वदिशि। ९. अंसशब्देन अत्र पृष्ठं। तस्य पृष्ठस्य उत्तंसः मुकुटप्रायः योऽसौ आवासः। १०. मानसरोवर। ११. चन्द्रस्य लाञ्छने यो मृगो वर्तते तस्य वंशोत्पन्नस्य मृगस्य चर्मणा। १२. तिलक। १३. ललाट। १४. १५. देवगङ्गा। १६. दर्भ। १७. एते ऋषय एव भृङ्गाः।

न्वकन्दरविनिर्गलन्निखिलवेदमकरन्दसंदोहम्, उभयपार्श्वावस्थितमूर्तिमन्निखिलकलाविलासिनीसमाजसंचार्यमाणचामरप्रवाहम्, उदारनादनारदमुनिना मन्यमानप्रतीहारव्यवहारम्, [2]अम्भोभवोद्भवाकारमासाद्य स विद्याधरः समस्तमपि नगरं क्षोभयामास।

सापि जिनेश्वरचरणप्रणयमण्डपमण्डनमाधवी वरुणधरणीश्वरमहादेवी नृपतिपुरोहितात्तमुदन्तमाकर्ण्य त्रिषष्टिशलाकोन्मेषेषु पुरुषेषु मध्ये ब्रह्मा नाम न कोऽपि श्रूयते। तथा—

आत्मनि मोक्षे ज्ञाने वृत्ते ताते च भरतराजस्य।
ब्रह्मेति गीः प्रगीता[3] न चापरो विद्यते ब्रह्मा ॥१८२॥

इति चानुस्मृत्याविस्मयमतिरतिष्ठत्।

पुनः कीनाश[4]दिशि पवनाशनेश्वर[5]शरीरशयनाश्रितापघन[6]मितरतः प्रकामप्रसरत्तदङ्गोत्तरङ्ग[7]कान्तिप्रकाशपरिकल्पितामृताम्बुधिसंनिधानम्, उल्लेखोल्लसत्फणामणिमरीचिनिचयसिचया[8]चरितनिरालम्बाम्बरवितानभावम्, अमर्त्यो[9]द्यानप्रसूनमञ्जरीजालजटिलप्रतानवनमालामकरन्दमण्डितकौस्तुभप्रभाभावम्, असितसितरत्नकुण्डलोद्द्योतसंपादितोभयं[10]पक्षपक्षद्वयाक्षेपम्, अनेकमाणिक्याधिका[11]घटितकिरीटकोटिविन्यस्तास्तोकस्तबकपारिजातप्रसवपरिमलपानपरिचयचटुल[12]चञ्चरीकचयरच्यमाना[13]पेन्दीवरशेखरकलापमतिं गम्भीरनाभीनद[14]निर्गतोज्ज्वलनलि[15]नलिनिलयनिलीनहिरण्यगर्भसंभाव्यमाणनामसहस्रकलमाखण्डलं जलधि[16]सुता[17]संवाह्यमानक्रमकम-

थे। उसकी उपासनाके लिए मतङ्ग, भृगु, भर्ग, भरत, गौतम, गर्ग, पिङ्गल, पुलह, पुलोम, पुलस्ति, पाराशर, मरीचि और विरोचन ऋषिरूपी भ्रमरोंकी सेना आई हुई थी, जो उसके मुखकमलरूपी गुफासे झरनेवाले समस्त वेदरूपी पुष्पमधुके समूहका स्वाद ले रही थी। दोनों ओर खड़े होकर समस्त मूर्तिमान् कलाओंकी तरह देवांगनाएँ चामर ढारती थीं और नारद मुनि द्वारपालका काम करते थे। इस प्रकार ब्रह्माका रूप धारण करके उस विद्याधरने समस्त नगरमें हलचल मचा दी।

जिनेन्द्र भगवान्के चरणोंमें स्नेहरूपी मण्डपको सुशोभित करनेके लिए माधवीलताके समान उस वरुण राजाकी पटरानी रेवतीने जब राजपुरोहितके मुखसे उक्त वृत्तान्त सुना तो वह विचारने लगी कि तेरसठ शलाकापुरुषोंमें तो किसीका भी नाम ब्रह्मा नहीं है। तथा—

"आत्माको, मोक्षको, ज्ञानको, चारित्रको और भरतके पिता ऋषभदेवको ब्रह्मा कहते हैं। इनके सिवा और कोई ब्रह्मा नहीं है" ॥१८२॥

ऐसा विचारकर कुछ आश्चर्य करके चकित हो वह बैठी रही।

इसके पश्चात् उस विद्याधरने नगरकी दक्षिणदिशामें विष्णुका रूप धारण किया। विष्णु भगवान् शेषनाग शैय्यापर लेटे हुए थे। इधर-उधर फैली हुई उनके शरीरकी कान्तिके प्रकाशसे अमृतका समुद्र-सा बन गया था। उनके शेषनागके फणके मणिकी किरणोंके समूहरूपी वस्त्रसे निरालम्ब आकाशमें चन्दोआ-सा तना था। अनेक प्रकारके मणि-मुक्ताओंसे बने हुए उसके मुकुटकी चोटीपर पारिजात वृक्षके फूलोंके बड़े-बड़े गुच्छे रखे थे। उनकी सुगन्धका पान करनेके लिए उनपर बहुतसे भौंरे एकत्र हो गये थे। वे ऐसे मालूम होते थे मानो नीले कमलोंका बना यह

१. मूर्तिमत्यः कला इव देवस्त्रीसमूहः। २. कमलोत्पन्नस्य ब्रह्मणो रूपं प्राप्य। ३. प्रणीता आ०। कथिता। ४. यमस्य दक्षिणदिशि। ५. शेषनागशय्या। ६. शरीर। ७. नागशरीर। ८. वस्त्र। ९. देव। १०. कृष्णशुक्लपक्षौ। ११.-धिकाधिकघ-ब०। १२. चपलभ्रमर। १३. नीलोत्पल। १४. ह्रद। १५. कमल। १६. क्षीरसागर। १७ लक्ष्मी।

लमन[1]श्चरणश[2]ङ्खसारङ्ग[3]नन्दकसंकीर्णकरम्, [4]असुरवृन्दबन्दीकृतसुन्दरीसंपाद्यमानचामरोपचारव्यतिकरम्, [5]अरुणानुजविनीयमानसेवागतसुरसमाजम्, [6]अधोक्षजवेषं विशिष्य स विद्याधरः समस्तमपि नगरं क्षोभयामास। सापि जिनसमयरहस्याव[7]सायसरस्वती रेवती कर्णपरम्परया किंवदन्तीमेतामुपश्रुत्य 'सन्ति खल्वर्धचक्रवर्तिनो नव कौमोदकीप्र[8]भवः। ते तु संप्रति न विद्यन्ते। अयं पुनरपर एव कश्चिदिन्द्रजालिको लोकविप्रलम्भनायावतीर्णः' इति निर्णीयाविचलितचित्ता समासीत्।

पुनः [9]पाशभृद्दिशि शिशिरगिरिशिखराकारकायशाक्व[10]राश्रितशरीराभोगम[11]न्वग्भूतनगनन्दनानिर्वि[12]रीशस्तनतुङ्गिमस्तिमितपृष्टभागम्, अनिमिषवनविसर्पिकपूरोद्भिद[13]गर्भसंभवपरागपाण्डुरितपिण्ड[14]परिकरम्, अचिरगोरोचनाभङ्गरागपिङ्गलाम्ब[15]कपरिकलिपतभालसरःस्वर्णसरोजाकरम्, अबालकपालदलकलापालवालवलयविलसन्मौलिमूलव्यतिकरम् अतिविकटजटाजूटकोटरपर्यटद्गगना[16]टनतटनीतरङ्गकरकेलिकुतूहलितबालप्रालेय[17]करम्, आभरणे भक्ति[18]संव[19]भिताल[20]म्भकभुजङ्गभोग[21]संगतानेकमाणिक्यविरोक[22]निकरातिशयसा[23]रशार्दूलाजिनविराजमानम्, उड्डमरडमरुकाज[24]कावकृपाणपरशुत्रिशूलखट्वाङ्गादिसङ्गसंकटशकोट[25]कोटिविस्तारम्, स्तम्बेर[26]मासुरचर्मद्रवद्रुधिरदुर्दिनीकृतनर्तावनीप्रतानम्, अनलोद्भव-निकुम्भ[27]-कुम्भोदर

दूसरा शिरोभूषण है। विष्णुकी गहरी नाभिसे एक ऊँची नाल निकली हुई थी उसपर ब्रह्मा विराजमान थे और वे सहस्रनामका पाठ करते थे। लक्ष्मी उनके चरण-कमलोंकी सेवा कर रही थी। उनके हाथोंमें शंख, चक्र, कमल और खड्ग थे। बन्दिनी बनाई गई दैत्योंकी सुन्दरी स्त्रियाँ चमर ढारती थीं और सेवाके लिए आये हुए देवताओंको अन्दर ले जानेके लिए गरुड़ राजद्वारपर खड़े हुए थे।

इस प्रकार विष्णुका रूप धारण करके उस विद्याधरने समस्त नगरमें हलचल मचा दी। जिन-शासनके रहस्यको जाननेमें सरस्वतीके तुल्य रेवती रानीने भी परम्परासे इस बातको सुना। सुनकर वह विचारने लगी कि विष्णु नौ होते हैं किन्तु वे आजकल नहीं है। लोगोंको ठगनेके लिए यह कोई इन्द्रजालिया आया हुआ है। ऐसा निर्णय करके वह नहीं गई।

इसके पश्चात् उसने पश्चिम-दिशामें रुद्रका रूप धारण किया। वह हिमालय पर्वतके शिखरके आकार शरीरवाले वृषभपर बैठे हुए थे। उनके वाम भागमें पार्वती बैठी थी। गोरोचना और भाँगके रागसे पीले हुए नयन ऐसे मालूम होते थे मानो मस्तक रूपी सरोवरमें स्वर्ण-कमल खिले हुए हैं। गलेमें नरमुण्डोंकी माला पड़ी हुई थी। जटाओंके अन्दर विहार करती हुई गंगा नदीकी लहरोंमें बाल-चन्द्रमा खेलता था। भूषणकी तरह धारण किये गये बृहत्काय सर्पकी फणके रत्नोंकी किरणोंसे चितकबरा हुआ सिंहचर्म धारण किये हुए थे। डमरू त्रिशूल खट्वांग आदि लिये हुए थे। गजासुरके चर्मसे टपकनेवाले रक्तने नृत्यभूमिमें वर्षाऋतुका

१. चक्र। २. धनुः। ३. खड्ग। ४. दैत्यानां स्त्रियः कारागारे धृताः। ताभिः चामराः क्षिप्यन्ते ५. गरुडो द्वारपालो जातः। ६. विष्णो रूपं प्राप्य। ७. परिज्ञान। ८. गदास्वामिनः। ९. पश्चिमायां दिशि। १०. वृषभ। ११. पश्चाद्धृतगौरी। १२. निबिड़। १३. तरवः। १४. शरीर। १५. लोचन। १६. देवनदी। १७. चन्द्र। १८. रचना। १९. मिश्रित। २०. बृहत्। २१. शरीर। २२. किरण। २३. कर्बुर गजचर्म। २४. धनुः। २५. –टकोट–ज०। शकोटा हस्ताः। २६. गजासुर। २७. निकुम्भोदर–ज०।

हेरम्ब-भिङ्गिरिटि-प्रभृति-पारिषदपरिषत्परिकल्प्यमानबलिविधानम्, अहिर्बुध्नावतरनिधान-माकारमनुकृत्य स विद्याधरः समस्तमपि नगरं क्षोभयामास।

सापि स्याद्वादसरस्वतीसुरभिसंभावमयं ललवी वरुणमहीशमहादेवी इमां जनश्रुतिं कुतश्चित्पश्चिमप्रतोलिसृताद्द्विपश्चितो निश्चित्य, निशम्यन्ते खलु प्रवचने तपःप्रत्यवायवार्ताऽभद्रा रुद्रास्ते पुनः संप्रति स्वकीयकर्मणां विपाकात्कालिंदीसोदरोदरगर्तवर्तिनः संजाताः। तदयमपर एव कश्चिन्नरेन्द्रविद्याधिनोद्राविदग्धहृदयमर्दी कपर्दीति च प्रपद्य निःसंदिग्धबोधा समासिष्ट।

पुनः स्वापतेयेशदिशि विश्वंभरातलादूर्ध्वम्, अयोमुखासनदशसहस्रार्धावकृष्टम्, एकेन्द्रनीलशिलावर्तुलाधिष्ठानोत्कृष्टम्,अखिलगतिगर्तोत्तरणमार्गैरिव सोपानसर्गैश्चतुर्दिशमुपाहितावतारम्, अनर्घद्रुघणमणिश्लाघ्योन्नतनवप्राकारान्तराचरितस्पष्टाष्टविधवसुंधरम्, अनवधिनिर्माणमाणिक्यसूत्रितत्रिमेखलालंकारकण्ठीरवपीठप्रतिष्ठपरमेष्ठिप्रतिममशेषतः समासीनद्वादशसभान्तरालविलसन्निलम्पानकाशोकानोकहप्रमुखप्रातिहार्योपशोभितम्, ईषदुन्मिषदनिमिषोद्यानप्रसूनोपहारहरिचन्दनामोदसनाथगन्धकुटीसमेतम्, अनेकमानस्तम्भतडागतोरणस्तूपध्वजधूपनिपनिधाननिर्भरमुरगनरानिमिषनायकानीकानीतमहामहोत्सवप्रसरम्,अभितो भवसेनप्रभृत्यार्हताभासप्रभावितयात्राधिकरणं समवशरणं विस्तार्य स विद्याधरः समस्तमपि नगरं क्षोभयामास।

समय उपस्थित कर दिया था। कार्तिकेय, कुम्भ, निकुम्भ, गणेश आदि उनकी पूजा करते थे। इस प्रकार रुद्रका रूप धारण करके उस विद्याधरने समस्त नगरको क्षोभित कर दिया। स्याद्वादवाणी रूपी कामधेनुको दुहनेवाली रेवती महारानीने भी पश्चिम दिशाके मार्गसे आनेवाले किसी ब्राह्मणसे उक्त समाचार सुना। वह सोचने लगी कि शास्त्रमें तपोभ्रष्ट ऋषियोंसे रुद्रोंकी उत्पत्ति सुनी जाती है। किन्तु इस समय तो वे सब अपने-अपने कर्मोंके उदयसे यमराजके उदरमें चले गये। इस लिए यह कोई इन्द्रजाल विद्याके द्वारा मूर्ख मनुष्योंके हृदयोंको फुसलानेवाला दूसरा ही रुद्र है ऐसा निर्णय करके वह रह गई।

इसके बाद उस विद्याधरने उत्तर दिशामें जिनेन्द्रदेवके समवशरणकी रचना की। धरातलसे पाँच हजार धनुषकी ऊँचाई पर एक इन्द्रनीलमणिकी गोलाकार उसकी भूमि थी। उस तक पहुँचनेके लिए चारों दिशाओंमें सीढ़ियाँ बनी हुई थीं जो ऐसी प्रतीत होती थीं कि मानो चारों गति-रूपी गड्ढोंसे निकलनेके ये मार्ग हैं। बहुमूल्य मणिसे निर्मित नौ ऊँचे प्राकार बने थे जिनके मध्यमें आठ भूमियाँ थीं। माणिक्यसे बनी हुई तीन कटनियोंसे सुशोभित सिंहासन पर वह परमेष्ठी की तरह विराजमान था। चारों ओर बारह सभाएँ लगी थीं और उनके बीचमें अशोक वृक्ष आदि प्रातिहार्य थे। अनेक गन्धकुटी थीं, जो देवोद्यानके अधखिले हुए पुष्पोंसे और हरिचन्दनकी सुगन्धसे युक्त थीं। अनेक मानस्तम्भ, तालाब, तोरण, स्तूप, ध्वजा, धूपघट और निधियाँ वहाँ विराजमान थीं। तिर्यञ्च मनुष्य और देवोंके स्वामियोंकी सेनाके द्वारा वहाँ महामहोत्सव हो रहा था। उससे प्रभावित होकर भवसेन आदि जैनाभास वहाँ यात्राके लिए आ रहे थे। ऐसे समवशरणकी रचना करके उस विद्याधरने समस्त नगरमें हलचल मचा दी। जिनागमके उपदेशरूपी

---

१. रुद्रावतार। २. कामधेनु। ३. गोपी। ४. -श्रिता-ब०। ५. यमराज। ६. इन्द्रजाल। ७. उत्तरदिशि। ८. धनुः। ९. चतुर्गति। १०. व पसोपान-अ०, ज०। ११. सिंहासन। १२. देवदुन्दुभि। १३. धूपघट।

सापि जिनसमयोपदेशरसैरावती[1] रेवतीमं व्रतान्तोपक्रमं कुतोऽपि जैनाभासप्रतिभातोऽवबुध्य सिद्धान्ते खलु चतुर्विंशतिरेव तीर्थकराः, ते चाधुना सिद्धिवधूसौधमध्यविहाराः, तदेषोऽपर एव कोऽपि मायाचारी तद्रूपधारी' इति चावधार्याविपर्यस्तमतिः पर्यात्मधा[2]मन्येव प्रवर्तितधर्मकर्मचक्रे सुखेनासांचक्रे ।

पुनर्बहुकूटकपटमतिर्देशयतिस्ताभिर्विविधप्रकृतिभिराकृतिभिस्तदास्वनितमक्षुभितमवगत्योपात्तमासोपवासिवेषः क्रियामात्रानुमेयनिखिलकरणोन्मेषो गोचराय[3] तदालयं प्रविष्टस्तया स्वयमेव यथाविधिप्रतिपन्नचेष्टस्तथापि विद्याबलादनलनाशवमनादिविकारप्रबलात्कृतानेकमानसोद्वेजनवैयात्यो[4] रेवत्याः क्वचिदपि मनोमूढतामपश्यन्, 'अम्ब, सर्वाम्बरचरचित्रालंकारसम्यक्त्वरत्नाकरक्षोणि दक्षिणमथुरायां प्रसिद्धावसथः सकलगुणमणिनिर्माणविदूरावनिः श्रीमुनिगुप्तमुनिर्मदर्पितरचनैर्वचनैः परिमुषिताशेषकल्मषसंबन्धैः[5]रखिलकल्याणपरम्पराविरो[6]चनैर्भवतीं रेवतीमभिनन्दयति । रेवती भक्तिरसवशोल्लसल्लपनरागाभिरामं ससंभ्रमं च सप्तप्रचारोपसदैः पदैस्तां दिशमाश्रित्य श्रुतविधानेन विहितप्रणामा प्रमोदमानमनःपरिणामा तदर्पितान्याशीर्वचनान्यावितो[7] ।

भवति चात्र श्लोकः—

कादम्ब[8]तार्क्ष्य[9]गोसिंहपीठाधिपतिषु स्वयम् ।
आगतेष्वप्यभून्नैषा रेवती मूढतावती ॥१८३॥

इत्युपासकाध्ययनेऽमूढताप्रौढिपरिवृढो नामैकादशः कल्पः ।

जलकी नदीके तुल्य रेवती रानी किसी जैनाभाससे इस समाचारको जानकर विचारने लगी कि आगममें चौबीस ही तीर्थङ्कर बतलाये हैं और वे सब इस समय मुक्तिरूपी वधूके महलमें विहार करते हैं। इसलिए यह कोई मायाचारी है जो उनका रूप धारण किये हुए है। ऐसा निर्णय करके वह अपने घरमें ही धर्मकर्म करती हुई सुखपूर्वक बैठी रही।

इसके बाद अनेक रूप धरनेमें चतुर वह क्षुल्लक अनेक रूपोंके द्वारा भी रेवती रानीको चञ्चल हुआ न देखकर, एक मासका उपवास करनेवाले साधुका वेष बनाकर अत्यन्त शिथिल इन्द्रियोंके साथ आहारके लिए रेवती रानीके घरपर आया। रेवतीने स्वयं ही विधिके अनुसार सब काम किया, किन्तु उस क्षुल्लकने विद्याके बलसे कभी अग्निको बुझाकर और कभी वमन आदि करके उसके मनको उद्विग्न करनेका बहुत प्रयास किया, फिर भी वह उद्विग्न नहीं हुई। यह देखकर वह बोला—'माता ! दक्षिण मथुरामें विराजमान सकल गुणोंसे भूषित श्री मुनिगुप्त मुनि मेरे द्वारा समस्त पापसे रहित कल्याणकारक वचनोंसे आपका अभिनन्दन करते हैं।'

यह सुनते ही रेवती रानीका मुख भक्तिरसके रागसे रंजित हो उठा। उसने तत्काल ही दक्षिण दिशामें सात पग चलकर शास्त्रानुसार प्रणाम किया और हर्षसे गद्गद होकर मुनिके द्वारा दिये गये आशीर्वादको स्वीकार किया।

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

'ब्रह्मा, विष्णु, शिव और जिनके स्वयं पधारने पर भी रेवती रानी मूर्ख नहीं बनी ॥१८३॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें अमूढ़ता अंगका वर्णन करनेवाला कल्प समाप्त हुआ।

---

१. नदी । २. परिसामस्त्येन आत्मधामनि । ३. आहारार्थं । ४. धूर्तत्व । ५. सम्बन्धैः । ६. शोभमानैः । ७. गृहीतवती ।—न्यापादिता आ० । ८. हंस । ९. गरुड़ । 'कादम्ब…। आगतेष्वपि नैवाभूद् रेवती…'धर्मरत्ना०–७२ प० ।

उपगूहस्थितीकारौ यथाशक्तिप्रभावनम् ।
वात्सल्यं च भवन्त्येते गुणाः सम्यक्त्वसंपदे ॥१८४॥
तत्र—क्षान्त्या सत्येन शौचेन मार्दवेनार्जवेन च ।
तपोभिः संयमैर्दानैः कुर्यात्समयबृंहणम् ॥१८५॥
सवित्रीव तनूजानामपराधं सधर्मसु ।
दैवप्रमादसंपन्नं निगूहेद् गुणसंपदा ॥१८६॥
अशक्तस्यापराधेन किं धर्मो मलिनो भवेत् ।
न हि भेके मृते याति पयोधिः पूतिगन्धिताम् ॥१८७॥
दोषं गूहति नो जातं यस्तु धर्मं न बृंहयेत् ।
दुष्करं तत्र सम्यक्त्वं जिनागमबहिस्थिते ॥१८८॥

[अब उपगूहन अंगको बतलाते हैं—]

उपगूहन, स्थितिकरण, शक्तिके अनुसार प्रभावना और वात्सल्य ये गुण सम्यक्त्व रूपी सम्पदाके लिए होते हैं ॥१८४॥

क्षमा, सत्य, शौच, मार्दव, आर्जव, तप, संयम और दानके द्वारा धर्मकी वृद्धि करनी चाहिए ॥ तथा जैसे माता अपने पुत्रोंके अपराधको छिपाती है वैसे ही यदि सार्धार्मियोंमेंसे किसीसे दैववश या प्रमाद वश कोई अपराध बन गया हो तो उसे गुण सम्पदासे छिपाना चाहिए। क्या असमर्थ मनुष्यके द्वारा की गई गल्तीसे धर्म मलिन हो सकता है ? मेढ़कके मर जानेसे समुद्र दुर्गन्धित नहीं हो जाता ॥ जो न तो दोषको ढाँकता है और न धर्मकी वृद्धि करता है, वह जिनागमका पालक नहीं है और उसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति होना भी दुष्कर है ॥१८५-१८८॥

भावार्थ—इस गुणके दो नाम हैं एक उपबृंहण और दूसरा उपगूहन। अपनी आत्माकी शक्तिको बढ़ाना या उसे दुर्बल न होने देना उपबृंहण कहलाता है। जनतामें धर्मका उत्कर्ष करना भी उपबृंहण गुण कहलाता है। तथा यदि किसी साधर्मी बन्धुसे कभी कोई ग़ल्ती बन गई हो तो उसे प्रकट न होने देना उपगूहन हैं। ये दोनों एक ही गुणके दो नाम दो कार्योंकी अपेक्षासे रख दिये गये हैं, वास्तवमें ये दोनों एक ही हैं, क्योंकि उपगूहनके बिना उपबृंहण नहीं होता। यदि छोटी मोटी भूलोंके लिए भी साधर्मी भाइयोंके साथ कड़ाई बरती जायेगी और उन्हें जाति और धर्मसे वंचित कर दिया जायेगा तो उससे धर्मकी हानि ही होगी, क्योंकि धार्मिक पुरुषोंके बिना धर्म कैसे ठहर सकता है। अतः सम्यग्दृष्टिको समझदार माताके समान साधर्मी भाइयोंसे व्यवहार करना चाहिए। जैसे समझदार माता एक ओर इस बातका भी ध्यान रखती है कि उसकी सन्तान कुमार्गगामी न हो जाये और दूसरी ओर उसकी गल्तियोंको ढाँककर उसकी बदनामी भी नहीं होने देती तथा एकान्तमें उसे समझा बुझाकर उसे क्षमा कर देती है, वैसा ही भव अपराधी भाइयोंके प्रति भी होना चाहिए। जो पुरुष इस तरहका व्यवहार करते हैं उनमें ही सम्यक्त्व गुण प्रकट होता है। किन्तु दोषोंका उपगूहन करनेका यह आशय नहीं है कि दोषी दोष करता रहे और धर्म प्रेमवश दूसरे उस दोषको ढाँकते ही रहें। दैव या प्रमादवश हो गये किसी

१. मातृवत्। 'सवित्रीव स्वपुत्रेषु योऽपराधं न बाधते। दैवात्प्रमादात् संभूतं साधूनां सोऽधमः पुमान् ॥४३॥ बालिशस्यापराधेन मलिनं स्यान्न शासनम्। न हि मीने मृते याति पयोधिः पूतिपूरिताम् ॥४४॥–प्रबोधसार।

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—सुराष्ट्रदेशेषु मृगेक्षणापक्ष्मलमूलावलोकितापहसितानङ्गाख्यतन्त्रे पाटलिपुत्रे सुसीमाकामिनीमकरध्वजस्य यशोध्वजस्य भूभुजः पराक्रमाक्रमाक्रान्तसकलप्रवीरः सुवीरो नाम सूनुरनासादितविद्यावृद्धसंयोगसमयत्वाद्धिटविदूषकदूषितहृदयत्वाच्च प्रायेण परद्रविणदारादानोदारक्रियः क्रीडार्थमेकदा क्रीडावने गतः कितवकिरातपश्यतोहरचोरप[1]रिषदमिदमवादीत्—'अहो, विक्रमैकरसिकेषु महासाहसिकेषु भवत्सु मध्ये किं कोऽपि मे प्रार्थनातिथिमनोरथसारथिरस्ति, यः खलु पूर्वदेशनिवेशावाप्तकीर्तने तामलिप्तिपत्तने पुण्यपुरुषकाराभ्यामात्मसात्कृतरत्नाकरसारस्य जिनेन्द्रभक्तनामावतारस्य वणिक्पतेः सप्ततलागाराग्रिमभूमिभागिनि जिनसद्मनि छत्रत्रयशिखण्डमण्डनीभूतमद्भुतद्योतसनीडं[2] वैडूर्यमणिमानयति, तदानेतुः पुनरभिलाषविषयनिषेकमेव पारितोषिकम्।

तत्र च सदर्पः सूर्पो नाम समस्तमलिम्लुचाग्रेसरो[3] वीरः किलैवमलापीत्—'देव, कियद्गहनमेतद्यतो योऽहं देवप्रसादाद्वियदवसानविरचितामरावतीपुरस्य पुरंदरस्यापि चूडालंकारनूतनं रत्नं पातालमूलनिलीनभोगवतीनगरस्योरगेश्वरस्यापि फणगुम्फनाधिक्यं माणिक्यमपहरामि, तस्य मे मनुष्यमात्रपरित्राणधरणिं मणिं लोचनगोचरागारविहारमपहरतः कियन्मात्रं महासाहसम्' इति शौर्यं गर्जित्वा निर्गत्यागत्य च गौडमण्डलमपरमुपायमप-

दोषके कारण किसी धर्मात्माकी अवज्ञा और निन्दा न करके उस दोषको छिपाना तो उचित ही है। किन्तु यदि धर्मका वेष धारण करके कोई ढोंगी जानबूझकर अनाचार करता हो और समझानेपर भी न मानता हो तो ऐसे ढोंगियोंके दोषोंको छिपाना उपगूहन अंग नहीं है।

५. उपगूहन अंगमें प्रसिद्ध जिनेन्द्र भक्तकी कथा

इस अंगके विषयमें एक कथा है उसे सुनें—

सुराष्ट्र देशके पाटलीपुत्र नगरका राजा यशोध्वज था। उसके बड़ा पराक्रमी सुवीर नामका पुत्र था। विद्यावृद्ध सज्जनोंका समागम न मिलने तथा विलासी और बदमाशोंकी संगतिमें पड़ जानेसे वह परधन और परस्त्रीका लम्पट हो गया था।

एक बार क्रीड़ा करनेके लिए वह क्रीड़ावनमें गया। वहाँ एकत्र हुए ठग, चोर और भीलोंकी परिषद्से वह बोला—'आप लोग बड़े पराक्रमी और बड़े साहसी हैं। आपमें से जो कोई तामलिप्ति नगरमें अपने पुण्य और पौरुषसे समुद्रकी सारभूत सम्पत्तिको उपार्जित करनेवाले जिनेन्द्रभक्त सेठके सतमंजिले महलके ऊपर बने हुए जिनालयमेंसे तीन छत्रोंकी चोटीमें जड़ी हुई अद्भुत कान्तिवाली वैडूर्यमणिको चुरा लायेगा उसे उसकी इच्छानुसार पारितोषिक दिया जायेगा।

यह सुनकर समस्त चोरोंका मुखिया सूर्प बड़े गर्वसे बोला—'स्वामी यह क्या कठिन है? जो मैं आपकी कृपासे आकाशके अन्तमें बनी हुई अमरावती नगरीके स्वामी इन्द्रके मुकुटमें लगे हुए रत्नको और पातालके अन्दर छिपी हुई भोगवती नगरीके स्वामी शेषनागके फणमें लगे हुए माणिक्यको हर सकता हूँ, उसके लिए आँखोंसे दिखाई देनेवाले महलके ऊपर स्थित और मनुष्य मात्रके लिए शरणभूत मन्दिरसे मणि चुराना कौन साहसका काम है?' इस प्रकार अपने शौर्यकी

---

१. चौरः। २. समीपम्। ३. चौरः।

श्यन्मणिमोषायाक्लिष्टक्षुल्लकवेषश्चान्द्रायणाचरणैः पक्षपारणाकरणैर्मासोपवासप्रारम्भैरपरैरपि तपःसंरम्भैः क्षोभितनगनगरग्रामग्रामणीगणः क्रमेण जिनेन्द्रभक्तभावाधिकरणतामभजत् ।

एकान्तभक्तिशक्तः स जिनेन्द्रभक्तस्तं मायात्मसात्कृतप्रियतमाकारमपरमार्थाचारमजानन्नार्यवर्यावश्यमनेकानर्घ्यरत्नरचितजिनदेहसंदोहेऽस्मद्देवगृहे त्वया तावदासितव्यं यावदहं वहित्रयात्रां विधाय समायामि' इत्ययाचत ।

अप्रकटकूटकपटक्रमः प्रियतमः 'श्रेष्ठिन्, मैवं भाषिष्ठाः, यदङ्गनाजनसंकीर्णेषु द्रविणोदीर्णेषु देशेषु विहितौकसां प्रायेणामलिनमनसामपि सुलभोदाहाराः खलु खलजनतिरस्काराः' ।

श्रेष्ठी—'देशयतीश, न सत्यमेतत् । अपरिज्ञातपरलोकव्यवहारस्यावशेन्द्रियव्यापारस्य हि पुरुषस्य बहिःसङ्गे स्वान्तं विकुरुतां नाम, न पुनर्यथार्थदशामनन्यसामान्यसंयमस्पृशां यमस्पृशां भवादृशां यतीशाम्[3]' इति बह्वाग्रहं देवगृहपरिग्रहाय तमयथार्थमुनिमभ्यर्थ्य कलत्रपुत्रमित्रबान्धवेष्वकृतविश्वासो मनःपरिजनदिनशकुनपवनानुकूलतया नगरबाहिरिकायां प्रस्थानमकार्षीत् ।

मायामुनिस्तस्मिन्नेवावसरे तदगारमाकुलपरिवारमवबुध्यार्धावशेषायां निशि कृतरत्नापहारस्तन्मरीचिप्रचारादारक्षिकैरनुद्रुतशरीरः पलायितुमशक्तस्तस्यैव धर्महर्म्यनिर्माणपरमेष्ठिनः श्रेष्ठिनः प्रस्थानावासनिवेशमाविवेश । श्रेष्ठ्यपि दुरालापबहलात्तत्कोलाहला-

गर्जना करके सूर्य नामका चोर वहाँसे निकलकर गौड देशमें आया । दूसरा उपाय न देख उसने मणि चुरानेके लिए क्षुल्लकका वेष बना लिया । कभी वह चान्द्रायण व्रत करता था, कभी एक पक्षमें पारणा करता था और कभी एक मासका उपवास करता था । इस प्रकारकी तपस्यासे नगर, गाँव वगैरहमें सर्वत्र हलचल मच गई । फैलते-फैलते यह चर्चा जिनेन्द्रभक्तके कानों तक भी पहुँची । वह परमभक्त उस मायावीके कपटवेषको न जानकर उससे प्रार्थना करनेके लिए गया कि—'आर्य श्रेष्ठ ! जब तक मैं देशकी यात्रा करके न लौटूँ तब तक आप अनेक अमूल्य रत्नोंसे रचित मेरे जिनालयमें ही ठहरें ।'

अपने कपट जालको छिपानेके लिए वह बोला—'सेठ जी ! ऐसा मत कहिए; क्योंकि स्त्रियोंसे व्याप्त और धनसे परिपूर्ण स्थानपर ठहरनेवाले निर्मल चित्त व्यक्तियोंका भी दुष्टजनोंके द्वारा तिरस्कार किये जानेके उदाहरण पाये जाते हैं ।'

सेठ—'क्षुल्लक महाराज ! यह बात सत्य नहीं है । जिसने परलोकको नहीं जाना और जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, बाह्य निमित्तके मिलनेपर उसका मन भले ही खराब हो जाये, किन्तु यथार्थदर्शी और असाधारण संयमके पालक आप जैसे यतिपतियोंके विषयमें यह बात लागू नहीं हो सकती ।' इस प्रकार स्त्री, पुत्र, मित्र तथा बन्धु-बान्धवोंका विश्वास न करके वह सेठ आग्रह पूर्वक उस कपटवेषीको लिवा लाया । तथा मन, कुटुम्बीजन, दिन, शकुन और वायुको अनुकूल पाकर परदेश यात्राके लिए नगरके बाहर जाकर ठहर गया ।

उसी दिन वह कपटी मुनि उस मकानको आदमियोंसे भरपूर जानकर आधी रातके बीतनेपर रत्नको चुराकर जैसे ही चला वैसे ही उस रत्नकी चमकसे द्वारपालोंने उसे जाते देख

१. चोरणार्थं । २. रचित । ३. यतीशानाम् मु० ।

[1]द्रुद्राग्विघ्राणनिद्रुस्तदैव मृषामुनिमुद्रमवसाय[2] स्वभावतः शुद्धासागमपदार्थसमाचारनयस्य निशेषान्यदर्शनव्यतिरिक्तान्वयस्य समयस्याविदितपरमार्थजनापेक्षया दुरपवादो माभूदिति चः विचिन्त्य समस्तमप्यारक्षिकलोकमेवमभणीत्[3]—'अहो दुर्वाणीकाः, किमित्येनं संयमिनम-भल्लेन[4] संभावयन्ति भवन्तः, यदेष खलु महातपस्विनामपि महातपस्वी परमनिःस्पृहाणामपि परमनिःस्पृहः प्रकृत्यैव महापुरुषो मायामोष[5]रहितचित्तवृत्तिरस्मदभिमतेन मणिमेनमान-यत्कथं नाम स्तेन[6]भावेन भवद्भिः संभावनीयः। तत्प्रतूर्णमभ्यर्णीभूय प्रसन्न[7]वपुषः सदाचार-कैरवा[8]र्जुनज्योतिषमेनं क्षमयत स्तुत नमस्यत वरिवस्यत[9] च।

भवति चात्र श्लोकः—

मायासंयमनोत्सूर्पे[10] सूर्पे रत्नापहारिणि।
दोषं निषूदयामास जिनेन्द्रो भ[11]क्तवाकपरः ॥१८९॥

इत्युपासकाध्ययने धर्मोपबृंहणार्हणो नाम द्वादशः कल्पः।

परीषह[12] व्रतोद्विग्नमजातागमसङ्गमम्।
स्थापयेत्रस्यदात्मानं समयी समयस्थितम् ॥१९०॥

लिया और वे उसके पीछे दौड़े। अपनेको भागनेमें असमर्थ देख वह चोर उसी मकानमें घुस गया जिसमें प्रस्थानके लिए सेठ ठहरा हुआ था। कोलाहल सुनकर सेठकी नींद खुल गई और उसने उस कपटी मुनिको पहचानकर सब मामला समझ लिया। किन्तु अनजान आदमीके कारण सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सत्य पदार्थोंके अनुगामी जिन-शासनकी बदनामी न हो इस विचारसे वह सब रक्षकोंसे बोला—'अरे बकवादियो! इस साधुका क्यों तिरस्कार करते हो? यह महातपस्वियोंमें भी महातपस्वी और अत्यन्त निस्पृहोंमें भी अत्यन्त निस्पृह है। इसका चित्त माया और मोहसे रहित है। तथा यह प्रकृतिसे ही महापुरुष है। यह मेरे कहनेसे ही मणि लाया है। तुम्हें इसके साथ चोरका-सा बर्ताव नहीं करना चाहिए। अतः शीघ्र पास जाकर प्रसन्न मनसे सदाचाररूपी कुमुदके लिए चन्द्रमाके तुल्य उस साधुसे क्षमा माँगो, उसकी स्तुति करो, और उसे नमस्कार करो।'

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

'मायाके नियंत्रणमें प्रवीण रत्नको चुरानेवाले सूर्पके दोषको जिनेन्द्र भक्त सेठने छिपाया' ॥१८९॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें उपबृंहण गुणका वर्णन करनेवाला बारहवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[अब स्थितिकरण अंगको कहते हैं—]

परीषह और व्रतसे घबराया हुआ तथा आगमके ज्ञानसे शून्य कोई साधर्मी भाई यदि

---

१. शीघ्रं। २. ज्ञात्वा। ३. अभणत्—ब०। ४. असमीचीनेन परिणामेन। ५. मायामोह—मु०। ६. चौरभावेन। ७. निर्मलान्तःकरणबहिःकरणाः सन्तः। ८. कैरवं-कमलं, तस्य विकासने चन्द्रं। ९. पूजयत यूयं। १०. शीघ्रगामिनि (?)। ११. जिनेन्द्रभक्त इत्यर्थः। १२. 'परिषहाद् व्रताद् भीतमप्राप्तश्रुतसम्पदम्। धर्माद् भ्रस्यन्मतिं साधुं पुनस्तं तत्र रोपयेत् ॥४५॥ भ्रस्यन्तं तपसो दैवात् यो न पातीह संयतम्। सद्दर्शनबहिर्भूतः शासनस्थितिलोपनात् ॥४६॥ शिष्यैः संदेहनिर्वाहैरपि संवर्द्धयेन्मतम्। बहुमध्ये भवेन्नूनं रत्नत्रयधरोऽपरः ॥४७॥ यतः शासनसाध्योऽर्थो नानाशिष्यसमाश्रयः। ततः संबोध्य यो यत्र साधुस्त तत्र रोपयेत् ॥४८॥ बालः शिष्यो-ऽन्यथा नूनं तथा दूरतरोपयेत्। ततस्तस्य भवोऽनन्तः समयोऽपि निहीयते ॥४९॥—प्रबोधसार।

तपसः प्रत्यवस्यन्तं[1] यो न रक्षति संयतम् ।
नूनं स दर्शनाद्बाह्यः समयस्थितिलङ्घनात् ॥१६१॥
नवैः[2] संदिग्धनिर्वाहैर्विदध्याद्गणवर्धनम् ।
एकदोषकृते त्याज्यः प्राप्ततत्त्वः कथं नरः[3] ॥१६२॥
यतः समयकार्यार्थो नानापञ्चजनाश्रयः ।
अतः संबोध्य यो यत्र योग्यस्तं तत्र योजयेत् ॥१६३॥
उपेक्षायां तु जायेत तत्त्वाद् दूरतरो नरः ।
ततस्तस्य भवो दीर्घः समयोऽपि च हीयते ॥१६४॥

धर्मसे भ्रष्ट होता हो तो सम्यग्दृष्टीको उसका स्थितिकरण करना चाहिए। जो तपसे भ्रष्ट होते हुए मुनिकी रक्षा नहीं करता है, आगमकी मर्यादाका उल्लंघन करनेके कारण वह मनुष्य नियमसे सम्यग्दर्शनसे रहित है ॥१९०-१९१॥ जिनके निर्वाहमें सन्देह है ऐसे नये मनुष्योंसे भी संघको बढ़ाना चाहिए। केवल एक दोषके कारण तत्त्वज्ञ मनुष्यको छोड़ा नहीं जा सकता। क्योंकि धर्मका काम अनेक मनुष्योंके आश्रयसे चलता है। इसलिए समझा-बुझाकर जो जिसके योग्य हो उसे उसमें लगा देना चाहिए। उपेक्षा करनेसे मनुष्य धर्मसे दूर होता जाता है और ऐसा होनेसे उस मनुष्यका संसार सुदीर्घ होता है और धर्मकी भी हानि होती है ॥१९२-१९४॥

भावार्थ—ऊपर स्थितिकरण अंगका वर्णन करते हुए पं० सोमदेव सूरिने बहुत ही उपयोगी बातें कही हैं। धर्मसे डिगते हुए मनुष्योंको धर्मके प्रेमवश धर्ममें स्थिर करना स्थितिकरण अंग कहलाता है। धर्मके दो रूप व्यावहारिक कहे जाते हैं, एक श्रद्धान और दूसरा आचरण। यदि किन्हीं कारणोंसे किसी साधर्मीका श्रद्धान शिथिल हो रहा हो या वह अपने आचरणसे भ्रष्ट होता हो तो धर्मप्रेमीका यह कर्तव्य है कि वह उन कारणोंको यथाशक्ति दूर करके उस भाईको अपने धर्ममें स्थिर रखनेकी भरसक चेष्टा करे। डिगते हुए को स्थिर करनेके बदले भला-बुरा कहकर या उसकी उपेक्षा करके उसे यदि धर्मसे च्युत होने दिया जाये तो इससे लाभ तो कुछ नहीं होता उल्टे हानि ही होती है। क्योंकि एक तो धर्मसे भ्रष्ट होकर वह मनुष्य पाप-पंकमें और लिप्त होता जाता है और इस तरह उसका भयंकर पतन हो जाता है और दूसरी ओर संघमें-से एक व्यक्तिके निकल जानेसे धर्मकी भी हानि होती है। क्योंकि कहा है कि धर्मका पालन करने वालोंके बिना धर्म नहीं रह सकता। यदि हमें अपने धर्मको जीवित रखना है और उसकी उन्नति करना है तो हमें अपने साधर्मी भाइयोंके सुख-दुःखका तथा मानापमानका ध्यान रखकर ही उनके साथ सदा सद्व्यवहार करते रहना चाहिए तथा अपनी ओरसे कोई भी ऐसा दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिए जिससे उनके हृदयको चोट पहुँचे। क्योंकि प्रायः ऐसा देखा जाता है कि झगड़ा तो परस्परमें होता है और उसका गुस्सा निकाला जाता है मन्दिरपर। लड़-झगड़कर लोग मन्दिरमें आना छोड़ देते हैं। पूजन करते समय कहा-सुनी हो जाये तो पूजन करना छोड़ देते हैं। इस तरहकी बातोंसे कषाय बढ़ जानेके कारण मनुष्य हिताहितको भूल जाता है और उससे अपना

१. चलन्तम्। २. 'किं च संदिग्धनिर्वाहैर्नवैः संघं विवर्धयन्। प्राप्ततत्त्वं त्यजन्नेकदोषतः समयी कथम् ॥८४॥''''संघकार्यं यतोऽनेक''''॥८६॥ अथोपेक्षेत जायेत दवीयांस्तत्त्वतो जनः। बहीयांश्च भवोऽस्येत्थमनवस्था प्रथीयसी ॥८७॥—धर्मरत्ना०, पृ० ७३ उ०। ३. मनुष्य।

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—मगधदेशेषु राजगृहापरनामावसरे पञ्चशैलपुरे चेलिनीमहादेवीप्रणयकेणिकस्य[1] श्रेणिकस्य गोत्रकलत्रस्य पुत्रः सकलवैरिपुराभिषेणो वारिषेणो नाम। स किल कुमारकाल एव संसारसुखसमागमविमुखमानसः परमवैराग्योद्गूर्णः[2] पूर्णनिर्णयरसः श्रावकधर्माराधनधन्यधिषणतया गुरूपासनसंवीणतया[3] च सम्यगवसितोपासकाध्ययनविधिराश्चर्यशौर्यनिधिरेकदा प्रेतभूमिषु भूतवासरविभावर्यां रात्रिप्रतिमास्थितो बभूव।

अत्रावसरे क्षपायाः परिणताभोगे खलु मध्यभागे मगधसुन्दरीनामया पण्याङ्गनयात्मन्यतीवासक्तचित्तवृत्तिप्रसरो मृगवेगनामा वीरः शयनतलमापन्नः सन्नेवमुक्तः—'राजश्रेष्ठिनो धनदत्तनामनिष्ठस्य कीर्तिमतीनामायाः प्रियतमायाः स्तनमण्डनोदारमलङ्कारसारं[4] हारमिदानीमेवानीय यदि विश्राणयसि,[5] तदा त्वं मे रतिरामः, अन्यथा प्रणयविरामः' इति। सोऽप्यवशानङ्गवेगो[6] मृगवेगस्तद्वचनादेव तदायतनाभिःसृत्याभिसृत्य च निजकलाबला-

---

और दूसरोंका अनिष्ट कर बैठता है, अतः ऐसे प्रसंगोंपर शान्तिसे काम लेना चाहिए। इसी तरह जो पंच होते हैं उनका उत्तरदायित्व बहुत बड़ा होता है, जरा जरा-सी बातोंपर किसीको जातिच्युत कर देना, किसीका मन्दिर बन्द कर देना धर्मकी हानिका ही कारण होता है। ऐसे समयमें जब लोग धर्मसे विमुख होनेके लिए तैयार बैठे हों तब तो इस प्रकारके दण्डोंका उल्टा ही परिणाम होता है। दण्डका प्रयोग औषधकी तरह करना चाहिए। जैसे वैद्य रोगीके रोगके अनुकूल दवा देकर उसे रोगमुक्त करनेकी ही चेष्टा करता है वैसे ही पञ्चोंको भी अपराधीके अपराध और उसके निदानको देख-भाल करके ही उसे ऐसा दण्ड देना चाहिए जिससे उसका सुधार हो और आगे वह वैसा अपराध न कर सके। जाति और धर्मसे बहिष्कार तो अत्यन्त गुरुतर अपराधोंके लिए ही किया जाना चाहिए। इस तरह एक ओर तो मौजूदा साधर्मी भाइयोंको बनाये रखनेकी चेष्टा करनी चाहिए और दूसरी ओर ऐसे नये मनुष्योंको भी धर्ममें दीक्षित करके धर्मकी वृद्धि करनी चाहिए जिनसे हमें थोड़ी-सी भी आशा हो कि ये इसमें खप सकेंगे। इस प्रकार पुराने और नये साधर्मी भाइयोंका स्थितिकरण करते रहनेसे धर्मके नष्ट हो जानेका भय नहीं रहता। इस सम्बन्धमें एक कथा है, उसे सुनें—

६. स्थितिकरण अंगमें प्रसिद्ध वारिषेणकी कथा

मगध देशमें पञ्चशैलपुर नामका नगर है, जिसे राजगृही भी कहते हैं। उसमें राजा श्रेणिक राज्य करते थे, उनकी पट्टरानी चेलिनी थी। राजा श्रेणिकके समस्त वैरियोंके नगरोंको जीतनेवाला वारिषेण नामका पुत्र था। कुमार अवस्थासे ही वह सांसारिक सुखोंसे विमुख होकर श्रावक धर्मका पालन करता था और ऐसा करनेसे तथा गुरुओंकी उपासनामें संलग्न होनेसे उसे श्रावकाचारका अच्छा परिज्ञान हो गया था। रात्रिके समय एक दिन वह शूर-वीर श्मशान भूमिमें ध्यानमग्न था। उसी रातके मध्यमें मृगवेग नामका एक वीर जब मगधसुन्दरी नामकी वेश्याके शयन-कक्षमें पहुँचा तो वेश्याने कहा—'राजश्रेष्ठी धनदत्तकी पत्नी कीर्तिमतीके गलेका हार इसी समय लाकर यदि मुझे दोगे तो तुम मेरे प्रेमके स्वामी हो, अन्यथा हमारे तुम्हारे प्रेमका आज अन्त है।'

---

१. ग्राहकस्य। २. उद्यतः। ३. प्रवीणतया। ४. मण्डलो – ज०। ५. ददासि। ६. कामवेगः।

तस्य धनदत्तस्यागारमाचरितहारापहारस्तत्किरणनिकरनिश्चितचरणचारस्तलारानुचरै-रनुसृतो मृगायितुमसमर्थस्तस्य व्युत्सर्गवेषमुपेयुषो वारिषेणस्य पुरतो हारमपहाय तिरोदधे ।

तदनुचरास्तत्प्रकाशविशेषवशात् 'वारिषेणोऽयं ननु राजकुमारः पलायितुमशक्तः पित्रोः श्रावकत्वादिमामर्हत्प्रतिमासमानाकृतिं प्रतिपद्य पुरो निहितहारः समास्ते' इत्यवमृश्य प्रविश्य च विश्वम्भराधीशवेश्मनिवेशमेतत्पितुः प्रतिपादितवृत्तान्ताः ।

दण्डो हि केवलो लोकं परं चेमं च रक्षति ।
राज्ञा शत्रौ च पुत्रे च यथादोषं समं धृतः ॥१९५॥

इति वचनात् 'नहि महीभुजां गुणदोषाभ्यामन्यत्र मित्रामित्रव्यवस्थितिः, तदस्य रत्नापहारोपहतचरित्रस्य पुत्रशत्रोर्न प्राणप्रयाणादपरश्चण्डो दण्डः समस्ति' इति न्यायनिष्ठुरतावेशात्तज्जनकादेशादागत्य तं सदाचारमहान्तं प्रहरन्तः शरविशरान्प्रसूनशेखरतां भ्रमिलमण्डलानि कर्णकुण्डलतां कृपाणनिकरान्मुक्ताहारतामेवमपराण्यप्यस्त्राणि भूषणतामनुसरन्ति, निबुध्य तद्ध्यानधैर्यप्रवृद्धप्रमोदतया स्वयमेव पुरदेवताकरविकीर्यमाणामरतरुप्रसवोपहारमम्बरचरकुमारास्फाल्यमानानकनिकरमनिमिषनिकायकीर्त्यमानानेकस्तुतिव्यतिकरमितस्ततो महामहोत्सवावतारं च निचाय्य सत्वरमतिभीतविस्मितान्तःकरणाः श्रेणिकधरणीश्वरायेदं निवेदयामासुः ।

यह सुनते ही कामुक मृगवेग वेश्याके घरसे निकलकर धनदत्तके घर पहुँचा और अपनी चतुराईसे उसके घरमें घुस हारको चुरा जैसे ही चला वैसे ही उस हारकी किरणोंके प्रकाशसे नगरके सिपाहियोंने उसे देख लिया और वे उसके पीछे दौड़े। अपनेको दौड़नेमें असमर्थ जानकर मृगवेगने वह हार कायोत्सर्गसे स्थित वारिषेणके आगे डाल दिया और स्वयं छिप गया।

जब सिपाही वहाँ पहुँचे तो उन्होंने हारके प्रकाशमें वारिषेणको पहचाना। उन्होंने सोचा कि राजकुमारके माता-पिता श्रावक हैं अतः भागनेमें असमर्थता देख राजकुमारने अपने आगे हार रखकर जिनेन्द्रकी प्रतिमाके समान अपना रूप बना लिया है। यह सोच वे सब राजमहलमें आये और राजा श्रेणिकसे सब समाचार निवेदन कर दिया।

नीतिमें कहा है कि—'राजाके द्वारा शत्रु और पुत्रको अपराधके अनुसार समान रूपसे दिया गया दण्ड इस लोककी और परलोककी भी रक्षा करता है ॥१९५॥

अतः राजाओंके लिए जो गुणी है वह मित्र है और जो दोषी है वह शत्रु है। इसलिए रत्नहारको चुरानेवाला मेरा पुत्र भी मेरा शत्रु है और मृत्युके सिवा दूसरा कोई भयानक दण्ड है नहीं। यह विचारकर राजा श्रेणिकने कठोर बनकर अपने पुत्रकी मृत्युकी आज्ञा दे दी।

राजाकी आज्ञा पाकर वे सिपाही श्मशान भूमिमें आये और उस महान् सदाचारी वारिषेणके ऊपर शस्त्र-प्रहार करने लगे। शस्त्र प्रहार करते ही बाण तो फूलोंका मुकुट बन गये। चक्र कानोंके कुण्डल बन गये, तलवारें मोतियोंका हार बन गईं। इस तरह अन्य भी अस्त्र भूषणरूप हो गये। यह समाचार जानकर और वारिषेणके ध्यान और धैर्यसे प्रसन्न होकर नगर देवताने स्वयं ही पुष्पोंकी वर्षा की, विद्याधर कुमारोंने दुन्दुभि बाजे बजाये और देवताओंने वारिषेणकी बहुत स्तुति की। जब सिपाहियोंने यह सब महामहोत्सव देखा तो वे बड़े डरे और राजा श्रेणिकसे जाकर उन्होंने सब समाचार कहा।

---

१. पलायितुम्। २. त्यक्त्वा। ३. समास–अ०। ४. चक्र। ५. अवलोक्य।

नरवरः सपरिवारः सोत्तालं तत्रागतः सन्कुमाराचारानुरागरसोत्सारितमृतिभीतिसंगान्मृगवेगादवगतामूलवृत्तान्तः साधुं तं कुमारं क्षमयामास। नृपनन्दनोऽपि प्रतिज्ञातसमयावसाने 'प्राणिनां सुलभसंपाताः खलु संसारे व्यसनविनिपाताः तदलमत्र कालकवलनावलम्बेन विलम्बेन। एषोऽहमिदानीमवाप्तयथार्थमनीषोन्मेषस्तावदात्महितस्योपस्करिष्ये' इति निश्चयमुपश्लिष्याभाष्य पितरमापिष्य[2] च बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहाग्रहमाचार्यस्य सुरदेवस्यान्तिके तपो जग्राह।

भवति चात्र श्लोकः—

विशुद्धमनसां पुंसां परिच्छेदपरात्मनाम्[3]।
किं कुर्वन्ति कृता विघ्नाः सदाचारखिलैः खलैः ॥१९६॥

इत्युपासकाध्ययने वारिषेणकुमारप्रव्रज्याव्रजनो नाम त्रयोदशः कल्पः।

पुनः 'इष्टं धर्मे नियोजयेत्, तथा आतुरस्यागदंकारोपयोग[4] इवानिच्छतोऽपि जन्तोर्धर्मयोगः कुशलैः क्रियमाणो भवत्यायत्यामवश्यं निःश्रेयसाय' इति जातमतिस्तपःपरिग्रहेऽपि सहपांसुक्रीडितत्वाच्चिरपरिचयरूढप्रणयत्वाच्चात्मनः प्रियसुहृदं पुष्पवतीभट्टिनीभर्तुरमात्यस्य शाण्डिल्यायनस्य नन्दनमभिनवविवाहविहितकङ्कणबन्धनं पुष्पदन्ताभिधानमेतदाय-

राजा जल्दीसे परिवारके साथ वहाँ आया। वारिषेणके चारित्रका चमत्कार देखकर मृगवेग चोरको भी उससे बड़ा स्नेह उत्पन्न हुआ और वह मृत्युका भय छोड़कर वहाँ आया तथा उसने हारकी चोरीका सब हाल राजा श्रेणिकसे कहा। राजा श्रेणिकने कुमारको क्षमा कर दिया।

वारिषेणने यह सोचकर 'संसारमें प्राणियोंपर संकट आना सुलभ है अतः मृत्युकी प्रतीक्षा करनेसे क्या लाभ।' यह निश्चय कर लिया था कि चूँकि मुझे अब सच्चे ज्ञानकी प्राप्ति हुई है इसलिए अब मैं आत्माका कल्याण करूँगा। अतः उसने अपने पितापर अपना निश्चय प्रकट कर दिया और बाह्य तथा आभ्यन्तर परिग्रहको छोड़कर आचार्य सुरदेवके समीपमें जिन-दीक्षा लेली।

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

'सदाचारको बिगाड़नेवाले दुष्ट मनुष्योंके द्वारा किये गये विघ्न, विचारमें तत्पर विशुद्धमनवाले मनुष्योंका क्या कर सकते हैं ? अर्थात् कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते ॥१९६॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें वारिषेणकुमारका प्रव्रज्याव्रजन नामक तेरहवाँ कल्प समाप्त हुआ।

राजा श्रेणिकका मन्त्री शांडिल्यायन था और उसकी पत्नी पुष्पवती थी। उनके पुष्पदन्त नामका पुत्र था। उसका नया विवाह हुआ था। वह वारिषेणका अत्यन्त प्रिय मित्र था, बचपनमें दोनों साथ खेले थे और चिरपरिचित होनेसे दोनोंमें गाढ़ स्नेह था। जब वारिषेण मुनि हो गये तो उनका विचार अपने मित्र पुष्पदन्तको भी मुनि बनानेका हुआ। वे सोचने लगे कि शास्त्रकारोंका कहना है कि 'अपने प्रियजनको धर्ममें लगाना चाहिए' तथा जैसे रोगीका वैद्यसे इलाज कराना आगे लाभदायक होता है वैसे ही न चाहनेवाले जीवको भी समझदार मनुष्य यदि धर्ममें लगा दें तो उत्तरकालमें वह अवश्य ही मोक्षकी प्राप्तिका कारण होता है। यह सोचकर वारिषेण मुनि अपने मित्रके घर गये और स्वामीके पुत्र होनेके कारण तथा महामुनिका रूप होनेके

१. त्वरितं। २. चूर्णीकृत्य। ३. ज्ञातात्मनाम्। ४. 'औषधम्'।

तनानुगमनेन स्वामिपुत्रत्वात्प्रतिपन्नमहामुनिरूपत्वाच्चाचरिताभ्युत्थानं हस्तेनावलम्ब्य पुनः 'अतोऽतश्च प्रदेशान्मां व्यावर्तयिष्यत्ययं भगवान्' इति सहानुसरन्तमवाप्तवन्तं च गुरूपान्तम्, 'भदन्त, एष खलु महानुभावतालतालम्बनतरुः स्वभावेनैव भवभीरुर्भोगानुभवने विरक्तचित्तः सर्वसंयतवृत्तार्थी भगवत्पादमूलमायातः' इति सूचयित्वा भगवतोऽभ्यर्णे कामकरिकदलिकावहीभारमिव मूर्धजनिकरमपनाय्य दीक्षां ग्राहयामास। सोऽपि तदुपरोधात्ते-पादीक्षामादाय हृदयस्याविदितवेदितव्यत्वादनङ्गग्रहग्रसितत्वाच्च पञ्जरपात्रः पतत्रीव मन्त्रशक्तिकीलितप्रतापः पृदाकुरिव गाढबन्धनालानितो व्यालशुण्डाल इव चाहर्निशं वारिषेण-ऋषिणा रक्ष्यमाणोऽपि।

अलकवलयरम्यं भ्रूलतानर्तकान्तं
नवनयनविलासं चारुगण्डस्थलं च।
मधुरवचनगर्भं स्मेरबिम्बाधरायाः
पुरत इव समास्ते तन्मुखं मे प्रियायाः ॥१९७॥
कर्णावतंसमुखमण्डनकण्ठभूषा-
वक्षोजपत्रजघनाभरणानि रागात्।
पादेष्वलक्तकरसेन च चर्चनानि
कुर्वन्ति ये प्रणयिनीषु त एव धन्याः ॥१९८॥

कारण पुष्पदन्त उन्हें देखकर खड़ा हो गया और उनके साथ यह सोचता हुआ चला कि वह मुझे अमुक स्थानसे लौटा देंगे।

उसे साथ लेकर वारिषेण मुनि अपने गुरुके पास आये और बोले—'भगवन्! यह महानुभाव स्वभावसे ही संसारभीरु है तथा भोगोंके भोगसे इसका चित्त विरक्त हो गया है। महाव्रत धारण करनेकी इच्छासे यह आपके चरणोंमें आया है।'

वारिषेणने इतना निवेदन करनेके बाद पुष्पदन्तको गुरुके सम्मुख केशलोंच कराके जिनदीक्षा धारण करा दी। किन्तु उसका हृदय तो कामसे पीड़ित था अतः पींजरेमें बन्द पक्षीकी तरह, मंत्रकी शक्तिसे जिसका प्रताप कीलित कर दिया गया है उस सर्पकी तरह तथा मजबूत बन्धनसे बँधे हुए दुष्ट हाथीकी तरह वारिषेण मुनिके द्वारा रात-दिन देखरेख रखनेपर भी कभी वह अपनी स्त्रीके मुखका विचार करता था। 'वह केशोंसे कैसा सुन्दर लगता है और उसकी भ्रुकुटियाँ तो क्या गजब की हैं, आँखें कैसी मनोहारिणी हैं, कपोल कितने सुन्दर हैं, कैसी मीठी-मीठी बात करती है। मेरी प्यारीका मुख तो मुझे ऐसा दीखता है मानो वह मेरे सामने ही मौजूद है' ॥१९७॥

कभी वह सोचता—

'जो अपनी प्रियतमाओंके कानोंको कर्णफूलसे सजाते हैं, मुखको अलंकारोंसे भूषित करते हैं, कण्ठमें कण्ठमाल पहिनाते हैं, उरोजोंपर पत्र बाँधते हैं, जघन भागमें करधौनी धारण कराते हैं तथा पैरोंमें महावर लगाते हैं, वे ही धन्य हैं ॥१९८॥

---

१ कन्दर्पगजध्वजमिव। कावली–ब०। २. पञ्जरस्थः। ३. पक्षिवत्। ४. सर्पवत्। ५. दुष्टगजः।

लीलाविलासविलसन्नयनोत्पलायाः
स्फारस्मरोत्तरलिताधरपल्लवायाः ।
उत्तुङ्गपीवरपयोधरमण्डलाया-
स्तस्या मया सह कदा ननु संगमः स्यात् ॥१९९॥

किं च ।

चित्रालेखनकर्मभिर्मनसिजव्यापारसारामृतै-
र्गाढाभ्यासपुरःस्थितप्रियतमापादप्रणामक्रमैः ।
स्वप्ने [1]संगमविप्रयोगविषयप्रीत्यप्रमोदागमै-
रित्थं वेषमुनिर्दिनानि गमयत्युत्कण्ठितः कानने ॥२००॥

इति निर्बन्धेन ध्यायन् द्वादश[2] समाः समानैषीत् ।

शूरदेवभट्टारकोऽप्याभ्यां सह तेषु-तेषु विषयेषु तीर्थकृतां पञ्चकल्याणमङ्गलानि स्थानानि वन्दित्वा पुनर्विहारवशात्तत्रैव जिनायतनोत्तंसितोपान्तशैलचूले पञ्चशैलपुरे[3] समागत्यात्मनो वारिषेण-ऋषेश्च तद्दिवसे पर्युपासितोपवासत्वात्तं[4] पुष्पदन्तमेकाकिनमेव प्रत्यवसानायादिदेश[5] । तदर्थमादिष्टेन च तेन[6] चिन्तितं चिरात्कालात्खल्वेकस्मादपमृत्योर्जीवितमुद्धरितोऽस्मि । संप्रति हि मे नूनमनूनानि पुण्यान्यवेक्ष्य दीक्षां मुमुक्षुणा[7] मङ्क्षु पाशपरिक्षेपक्षरितेनेव पक्षिणा पलायितुमारब्धम् । वारिषेणस्तस्य तथा प्रस्थानात्कृतोदर्कं वितर्क्य 'अवश्यमयं जिनरूपं जिहासुरिव सौत्सुक्यं विक्रमते, तदेष कषायमुष्यमाणधिषणः समयप्रतिपालनाधिकरणैर्न भवत्युपेक्षणीयः' इत्यनुध्यायाध्वा[8] तमनुरुध्यैतत्स्थापनाय जनकनिकेतनं

कभी वह सोचता—

'जिसके नेत्रकमल लीलाके विलाससे शोभित हैं, अधरपल्लव कामके वेगसे काँपते हैं, उरोज उन्नत और स्थूल हैं, उसका मेरे साथ समागम कब होगा' ॥१९९॥

कभी वह चित्र बनाता, कभी अत्यन्त अभ्यासके कारण यह अनुभव करता कि उसकी प्रियतमा सामने खड़ी है और वह उसके चरणोंमें प्रणाम कर रहा है। कभी स्वप्नमें संगमका सुख भोगता तो कभी वियोगका कष्ट उठाता। इस प्रकार वह मुनिवेषी बड़ी उत्कण्ठाके साथ जंगलमें दिन बिताता था ॥२००॥ ऐसा करते-करते बारह वर्ष बीत गये।

एक बार शूरदेव गुरु अपने शिष्य वारिषेण और पुष्पदन्तके साथ तीर्थङ्करोंके पञ्चकल्याणकोंके स्थानोंकी वन्दना करके घूमते-घूमते जिनमन्दिरोंसे सुशोभित उसी पञ्चशैलपुरमें आकर ठहरे। उस दिन वारिषेणमुनिका प्रोषधोपवास था अतः उन्होंने पुष्पदन्तको अकेले ही जाकर भोजन कर आनेकी आज्ञा दी। आज्ञा पाकर पुष्पदन्तने सोचा कि बहुत कालके पश्चात् इस अपमृत्युसे जीवनका उद्धार हुआ है। आज मेरे बहुत पुण्यका उदय है।' यह सोच दीक्षाको छोड़नेकी इच्छासे, बन्धनमुक्त हुए पक्षीकी तरह वह वहाँसे भागा। वारिषेणने उसे इस तरहसे भागते हुए देखकर विचार किया कि 'यह अवश्य ही जिनदीक्षा छोड़ देनेके लिए उत्सुक जान पड़ता है। इसकी बुद्धि मोहसे भ्रष्ट हो गई है, अतः जिनागमके पालकोंको इसकी उपेक्षा नहीं

१. यदा स्वप्ने संगमो भवति तद्विषये प्रीत्यागमो भवति। यदा तु स्वप्नविप्रयोगो भवति तद्विषयेऽप्रमोदागमो भवति। २. वर्षाणि। ३. राजगृहनगरे। ४. सेवित। ५. आहारार्थं। ६. पुष्पदन्तेन। ७. दीक्षां मोक्तुमिच्छता। ८. शीघ्रं मार्गं रुद्ध्वा।

जगाम। चेलिनीमहादेवी पुत्रं मित्रेण सममुपढौकमानमवेत्य तदभिप्रायपरीक्षार्थं सरागं वीतरागं चासनमयच्छत्। वारिषेणस्तेन समं चरमोपचारं[2] विष्टरमलंकृत्य 'अम्ब, समाहूयतां समस्ता अप्यात्मीयाः स्नुषाः'।

तदनु वनदेवता इव प्रसूनोत्तंसोत्तरङ्कितकुन्तलारामाः, कल्पलता इव मणिभूषणरमणीयाङ्गनिर्गमाः, प्रावृष इव समुन्नद्धपयोधराविद्धमध्यभागाः, सकलजगल्लावण्यलवलिपिलिखिता इव सुभगभोगायतनाभोगाः, कङ्केल्लि[3]काननक्षितय इव पादपल्लवोल्लासितविहारविषयाः, कमलिन्य इव मणिमञ्जीरमणितोन्मदमरालमण्डलस्खलितचलन[4]जलेशयाः, स्वकीयरूपसंपत्तिरस्कृतत्रिभुवनरामारामणीयकाः सलीलमहमहमिकोत्सुकाः समागत्य समन्तात्परिवव्रुः पुण्यदेवता इव ताः स्ववासिन्यः। 'अम्ब, मद्भ्रातृजाया सुदत्यप्याकार्यताम्'। ततः सन्ध्येव धातुरक्ताम्बरचराटोपा[6], तपःश्रीरिव विलुप्तकुन्तलकलापा, भव्यजनमतिरिव विभ्रमभ्रंशिदर्शना, हिमोन्मथिता कमलिनीव क्षामच्छायापघना, शरदिव दीनपयोधरभरा, खट्वाङ्ग[7]करङ्काकृतिरिव प्रकटकीकस[8]निकरा सकलसंसारसुखव्यावृत्तिनीतिर्मूर्तिमती वैराग्यस्थितिरिव विवेश।

पुष्पदन्तहृदयकन्दलोल्लासवसुमती सुदती वारिषेणोऽवधार्य 'मित्र, सेयं तव प्रणयिनी

करनी चाहिए।' ऐसा सोचकर भागते हुए मित्रको रोककर उसको स्थिर करनेके लिए वे अपने पिताके घर गये।

चेलनी रानीने मित्रके साथ अपने पुत्रको आता हुआ देखकर उसके मनकी परीक्षा करनेके लिए दो आसन बिछा दिये। उनमें एक आसन रागियोंके योग्य था और दूसरा विरागियोंके योग्य। वारिषेण अपने मित्रके साथ विरागियोंके योग्य आसनपर बैठ गया और बोला— 'माता! अपनी सब बहुओंको बुलाओ।'

अपनी रूप-सम्पदासे तीनों लोकोंकी सुन्दर स्त्रियोंको तिरस्कृत करनेवाली सभी बहुएँ बड़ी उत्सुकताके साथ आकर चारों ओर बैठ गईं। केशपाशमें गूँथे गये फूलोंसे वे वनदेवताके समान प्रतीत होती थीं, उनके अंग मणियोंके भूषणोंसे शोभित थे अतः वे कल्पलताके तुल्य प्रतीत होती थीं, उन्नत पयोधरों (स्तनों) से उनका मध्यभाग पराजित हो गया था अर्थात् मध्यभाग कृश था, अतः वे वर्षाऋतुके तुल्य प्रतीत होती थीं क्योंकि वर्षाऋतुमें भी आकाशमें पयोधर (मेघ) उमड़े रहते हैं। उसके बाद वारिषेण बोले—'माता! मेरी भ्रातृवधू सुदतीको भी बुलाओ।'

आज्ञा पाते ही सुदती भी आ गई। उसके केशकलाप अस्त-व्यस्त थे, हिमपातसे कुमुलाई हुई कमलिनीकी तरह उसकी मुखश्री म्लान हो गई थी। शरीरमें हड्डियाँ ही दिखाई देती थीं। वह ऐसी मालूम देती थी मानो संसारके समस्त सुखोंसे उदासीन मूर्तिमती वैराग्यविभूति ही है।

पुष्पदन्तके हृदयरूपी नवांकुरके उल्लासके लिए पृथ्वीके तुल्य सुदतीको जानकर वारिषेण

---

१. आगच्छन्तम्। २. वीतरागासनम्। ३. अशोकवृक्षवनभूमयः। ४. शब्दित। ५. चलना चरणा एव जलेशयानि यासां ताः। ६. गेरुरक्तवस्त्रेण चरः चपलः आटोपो यस्याः सा। ७. खट्वाङ्गमेव करङ्कः। ८. अस्थि।

यन्निमित्तमद्यापि न संपद्यसे मनोमुनिरिति। एताश्चैवंविधकायास्तव भ्रातृजायाः, तथैते च वयं तव समक्षोद्यं समाचरिताभिजातजनोचितचरिताः'। पुष्पदन्तः—

स्नानानुलेपवसनाभरणप्रसून-
ताम्बूलवासविधिना क्षणमात्रमेतत्।
आधेयभावसुभगं वपुरङ्गनानां
नैसर्गिकी तु किमिव स्थितिरस्य वाच्या ॥२०१॥

इत्यसंशयमाशय्य[1] स्त्रैणेषु सुखकरणेषु विचिकित्सासज्ञां लज्जामभिनीय 'हंहो निकाम[2]-निरुद्धमकरध्वजोद्धव[3]विधुरबान्धव संसारसुखसरोजोत्सार[4]नीहारायमाणचरण वारिषेण, पर्याप्तमत्रावस्थानेन। प्रकामं शकलित[5]कुसुमास्त्ररसरहस्य वयस्य, इदानीं यथार्थनिर्वेदाव-निर्मनोमुनिरस्मीति चावधाय[6] विशुद्धहृदयौ द्वावपि तौ चेलिनीमहादेवीमभिनन्द्योपसद्य[7] च गुरुपादोपसल्यं[8] निःशल्याशयौ साधु तपश्चक्रतुः।

भवति चात्र श्लोकः—

सुदतीसंगमासक्तं पुष्पदन्तं तपस्विनम्।
वारिषेणः कृतत्राणः[9] स्थापयामास संयमे ॥२०२॥

इत्युपासकाध्ययने स्थितिकारकीर्तनो नाम चतुर्दशः कल्पः।

चैत्यैश्चैत्यालयैर्ज्ञानैस्तपोभिर्विविधात्मकैः।
पूजामहाध्वजाद्यैश्च कुर्यान्मार्गप्रभावनम् ॥२०३॥

बोले—'मित्र ! यही तुम्हारी वह प्रियतमा है जिसके कारण अबतक भी तुम मनसे साधु नहीं बन सके हो। और ये सब तुम्हारी भ्रातृवधू हैं। हम सब तुम्हारी सेवाके लिए तैयार हैं।

पुष्पदन्त सोचने लगा—'स्त्रियोंका शरीर स्नान, लेप, वस्त्र, आभूषण, फूल, पान, सुगन्ध आदिके द्वारा क्षणमात्र के लिए सुन्दर हो जाता है। यदि वह अपनी स्वाभाविक स्थितिमें रहे तब तो उसकी दशाका कहना ही क्या है ॥२०१॥

ऐसा निःसन्देह विचारकर तथा स्त्रियोंके विषयमें ग्लानिपूर्ण लज्जाका अभिनय करता हुआ वह बोला—'हे कामजेता और संसारके सुखरूपी कमलोंके लिए बर्फके समान वारिषेण ! यहाँ ठहरना वृथा है। कामरसके रहस्यको खण्ड-खण्ड कर डालनेवाले मेरे मित्र ! इस समय मुझे सच्चा वैराग्य हुआ है और मैं मनसे मुनि हूँ।'

दोनों विशुद्ध हृदय मित्रोंने रानी चेलनीका अभिनन्दन किया और गुरुके चरणोंमें आकर निशल्य होकर तपस्यामें लीन हो गये।

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

'वारिषेणने सुदतीमें आसक्त तपस्वी पुष्पदन्तकी रक्षा की और उसे संयममें लगाया ॥२०२॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें स्थितिकरणका वर्णन करनेवाला चौदहवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[अब प्रभावना अंगको बतलाते हैं—]

जिनबिम्ब और जिनालयोंकी स्थापनाके द्वारा, ज्ञानके द्वारा, तपके द्वारा तथा अनेक प्रकारकी महाध्वज आदि पूजाओंके द्वारा जैनधर्मकी प्रभावना करना चाहिये ॥२०३॥

---

१. विचिन्त्य। २. अतिशयेन। ३. दर्प। ४. विनाशे हिममिव चारित्रं यस्य। ५. खण्डित। ६. उक्त्वा। ७. प्राप्य। ८. समीपम्। ९. रक्षणः।

ज्ञाने तपसि पूजायां यतीनां यस्त्वसूयते।
स्वर्गापवर्गभूर्लक्ष्मीनूनं तस्याप्यसूयते ॥२०४॥
समर्थश्चित्तवित्ताभ्यामिहाशासनभासकः।
समर्थश्चित्तवित्ताभ्यां स्वस्यामुत्र न भासकः ॥२०५॥
तद्दानज्ञानविज्ञानमहामहमहोत्सवैः।
दर्शनद्योतनं कुर्यादैहिकापेक्षयोज्झितः ॥२०६॥

जो मुनियोंके ज्ञान, तप और पूजाकी निन्दा करता है, उनमें झूठा दोष लगाता है, स्वर्ग और मोक्ष लक्ष्मी भी नियमसे उससे द्वेष करती है। अर्थात् उसे न स्वर्गके सुखोंकी प्राप्ति होती है, और न मोक्ष ही मिलता है ॥२०४॥

इस लोकसे बुद्धि और धनमें समर्थ होनेपर भी जो जिनशासनकी प्रभावना नहीं करता, वह बुद्धि और धनसे समर्थ होनेपर भी परलोकमें अपना कल्याण नहीं करता। अतः ऐहिक सुखकी इच्छा न करके दान, ज्ञान, विज्ञान और महापूजा आदि महोत्सवोंके द्वारा सम्यग्दर्शनका प्रकाश करना चाहिए ॥२०५-२०६॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शनका एक अंग प्रभावना है। जैनधर्मके महत्त्वको प्रकट करना, ऐसे कार्य करना जिससे लोगोंमें जैनजर्मकी जानकारी हो, जैनधर्मके विषयमें फैला हुआ अज्ञान दूर हो और जनताकी रुचि जैनधर्मकी ओर आकृष्ट हो, प्रभावना कहलाता है। पहले जैनधर्ममें बड़े-बड़े तपस्वी मुनि, ज्ञानी, आचार्य और धर्मात्मा सेठ होते थे। तपस्वी मुनि अपनी तपस्याके द्वारा जनतापर ऐसा प्रभाव डालते थे जिससे स्वयं जनता उनकी ओर आकृष्ट होती थी और उनसे संयमकी शिक्षा लेकर अपने इस जन्म और परजन्मको सुखी बनाती थी। ज्ञानी, आचार्य जगह-जगह विहार करके जैनधर्मका उपदेश देते थे। यदि कहीं जैनधर्मपर आक्षेप होते थे तो उनको दूर करते थे, यदि कोई शास्त्रार्थ करना चाहता था तो राजसभाओंमें उपस्थित होकर शास्त्रार्थ करते थे और यदि कहीं किसी प्रतिद्वन्द्वीके द्वारा जैनधर्मके कार्योंमें रुकावट डाली जाती थी तो अपनी वाग्मिताका प्रभाव डालकर उन रुकावटोंको दूर करते थे। तथा बड़े-बड़े ग्रन्थराज रचकर जिनवाणीके भण्डारको भरते थे। आचार्य कुन्दकुन्द, स्वामी समन्तभद्र, भट्टाकलंक, स्वामी वीरसेन, स्वामी जिनसेन आदि महान् आचार्योंके पुण्यश्रमका ही यह फल है जो जैनधर्म आज भी जीवित है। इसी प्रकार राजा, सेठ, साहूकार तरह-तरहका महोत्सव करके जैनधर्मका प्रकाश करते थे। आज न वैसे तपस्वी मुनि हैं, न ज्ञानी आचार्य हैं और न वैसे धर्मात्मा सेठ हैं। फिर भी आज जैनधर्मके प्रकाशको फैलानेकी बहुत आवश्यकता है। जैन बालक, बालिकाएँ दिन-पर-दिन धर्मसे अनजान बनते जाते हैं, उन्हें शिक्षा देनेके लिए पाठशालाएँ खोलनी चाहिएँ। विद्वानोंको पैदा करनेका तथा उनकी परम्परा बनाये रखनेका प्रयत्न करते रहना चाहिए; क्योंकि उनके बिना शिक्षा–उपदेश और शास्त्रार्थोंका आयोजन नहीं हो सकता। इसी तरह जनतामें प्रचारके लिए विविध भाषाओंमें

---

१. 'बोधे तपसि सन्माने यतीनां यस्त्वसूयति। रत्नत्रयमहासम्पन्नूनं तस्याप्यसूयति ॥१२॥'–प्रबोधसार। स्वर्गापवर्गविषये भवतीति भूः। २. न शासनदीपको भवति। ३. स्वस्यात्मनः परलोके स उद्द्योतको न भवति। ४. इहलोकसुखापेक्षारहितः।

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—पञ्चालदेशेषु श्रीमत्पार्श्वनाथपरमेश्वरयशःप्रकाशनामत्रे[1] अहिच्छत्रे चन्द्राननाङ्गनारतिकुसुमचापस्य द्विषंतपस्य भूपतेरुदितोदितकुलशीलः षडङ्गे वेदे दैवे निमित्ते दण्डनीत्यां चाभिविनीतमर्तिरापदां[2] दैवीनां मानुषीणां च प्रतिकर्ता यज्ञदत्ताभट्टिनीभर्ता सोमदत्तो नाम पुरोहितोऽभूत्। एकदा तु सा किल यज्ञदत्तान्तर्वत्नी[3] सती माकन्दमञ्जरी[4]-कर्णपूरेषु तत्परिणतफलाहारेषु च समासादितदोहला व्यतिक्रान्तरसालवल्लरीफलकालतया कामितमनवाप्नुवती शिफासु[6] व्यथमाना प्रतानिनीव[7] तनुतानवमुपेयुषी[8] तेन पुरोहितेन ज्ञातिजनेन च प्रबन्धेन पृष्टा हृदयेष्टमभाषिष्ट। भट्टस्तन्निशम्य 'कथमेतन्मनोरथमयथार्थपथमस्मन्मनोमथं[9] मव्यर्थप्रार्थनं[10] करिष्यामि' इत्याकुलमनः परिच्छदच्छात्रतन्त्रानुपदः सात-पत्रपदत्राणस्तद्गवेषणधिषणापरायणः[11] सञ्जितस्ततो व्रजन् जलवाहिनीनामनदीतटनिकटनिविष्टप्रतनने महति कालिदासकानने परमतपश्चरणाचरणशुचिशरीरेण निःशेषश्रुतश्रवणप्रसूत-

---

ट्रैक्ट पुस्तकें वगैरह प्रकाशित करके वितरण करते रहना चाहिए। तथा साधु त्यागियोंको गुणवान् और विद्वान् बनानेका भी प्रयत्न करते रहना चाहिए। यदि साधु और त्यागीगण विद्वान् हों तो उनसे जैनधर्मकी प्रभावनाको बहुत साहाय्य मिल सकता है। इसके सिवा पूजा-प्रतिष्ठा कराकर भी जनतामें जैनधर्मका प्रचार कराते रहना चाहिए। आजकल कुछ भाई इसे व्यर्थ व्यय समझते हैं क्योंकि एक तो आज नये मन्दिरोंकी उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी जीर्णोद्धारकी आवश्यकता है। दूसरे इस तरहके कार्योंमें धर्म-प्रेमकी भावना कम रहती है और नामकी भावना व पदकी इच्छा ज्यादा रहती है। अतः इन बुराइयोंको दूर करके आवश्यक स्थानोंमें महोत्सवोंका आयोजन करते रहना चाहिए और उनमें उपदेश सभाओंका सुन्दर आयोजन रहना चाहिए। ऐसा करनेसे महोत्सवोंका आयोजन विशेष लाभदायक सिद्ध होगा और उनसे जैनधर्मकी भी विशेष प्रभावना हो सकेगी।

७. प्रभावना अंगमें प्रसिद्ध वज्रकुमार मुनिकी कथा

अब इस विषयमें कथा कहते हैं, उसे सुनें—

पञ्चाल देशमें श्रीमान् भगवान् पार्श्वनाथके यशसे प्रकाशित अहिछत्र नामका नगर है। उसमें द्विषंतप राजा राज्य करता था। उसकी पत्नीका नाम चन्द्रानना था। राजा द्विषंतपके सोमदेव नामका पुरोहित था। वह बड़ा कुलीन और शीलवान् था। षडङ्ग वेद, ज्योतिष शास्त्र, निमित्त शास्त्र और दण्डनीतिका पण्डित था तथा दैवी और मानवी विपत्तियोंका प्रतिकार करनेमें चतुर था। एकबार उसकी पत्नी यज्ञदत्ता गर्भवती हुई। उसे आमके बौरको कानोंमें पहिरनेका तथा आमके फलोंको खानेका दोहला हुआ। किन्तु आमका मौसम बीत चुका था इस लिये दोहला पूरा न होनेसे वह बहुत दुबली हो गई। पुरोहित तथा कुटुम्बीजनोंके पूछनेपर उसने अपने मनकी बात उनसे कही। सुनकर पुरोहितका मन बड़ा व्याकुल हुआ। वह सोचने लगा कि हमारे मनको पीड़ा देने वाले इसके असामयिक मनोरथको कैसे पूर्ण करूं। उसने जूते पहने, छाता हाथमें लिया तथा शिष्योंको साथ लेकर आमकी खोजमें निकल पड़ा। इधर-उधर घूमते

---

१. पात्रे। २. विशारदः। ३. गर्भणी। ४-५. आम्रमञ्जरी। ६. जटा। ७. लता। ८. कायकृशत्वं प्राप्ता। ९. अस्माकं मनो मथ्नातीति अस्मन्मनोमथं दुःखदम्। १०. सफल। ११. छत्रोपानत्सहितः।

मनस्कारेण समस्तसत्त्वस्वरूपनिरूपणस्वाध्यायध्वनिसिद्धौषधिसविधसाधितवनदेवतानिकरेण मूर्तिमतेव धर्मेण विनेयदैर्घिकेयमित्रेण[1] सुमित्रेण मुनिनालंकृतालवालवलयमेतद्ब्रह्मवर्चसमाहात्म्यादामूलमाचूलं चैकं चूतमुल्लसल्लवलीफलगुलुच्छस्फीतमवलोक्य [3]च्छेकच्छात्त्रहस्ते कलत्रस्य पिकप्रियप्रसवफलप्रतोलीं प्रहर्त्य ततो भगवतोऽवधिबोधपयोधिमध्यसंनिधीयमानसकलकलाकलापरत्नाद्धर्मश्रवणावसरप्रयत्नात्समायातं सहस्रारकल्पे सूर्यविमानसंभूतं सूर्यचराभिधानानुगतमत्यल्पविभवपरिप्लुतमात्मगोचरं भवान्तरमाकर्ण्योदीर्णजातिस्मरभावः स्वप्नसमासादितसाम्राज्यसमानसारात्संसाराद्विरज्य मनोजविजयप्राज्यां प्रव्रज्यामासज्य[6] प्रबुद्धसिद्धान्तहृदयो मगधविषये सोपारपुरपर्यन्तधाम्नि नाभिगिरिनाम्नि महीधरे सम्यग्योगातापनयोगधरो बभूव।

तदनु सा तद्वियोगातङ्कोद्भ्रान्तचित्ता यज्ञदत्ता तदन्तेवासिभ्यः सोमदत्तव्रतव्यतिकरमात्मखेदकरमनुभूय प्रसूय च समये स्तनन्धयं पुनस्तमादाय प्रयाय च तं भूमिभृतम् 'अहो कूटकपटपिटक मन्मनोवनदाहदावपावकनिःस्निग्ध दुर्विदग्ध, यदीमं दिगम्बरप्रतिच्छन्दमवच्छिद्य स्वच्छं[10]येच्छयागच्छसि तदाऽऽगच्छ। नो चेद् गृहाणैनमात्मनो नन्दनम्' इति व्याहृत्यास्योर्ध्वज्ञो[11] भगवतः पुरतः शिलातले बालकमुत्सृज्य विजहार निजं निवासम्। भगवानपि तेन सुतेन दृषदः प्लोषोत्कर्षकलुषत्वाद्विष्टरी[12]कृतचरणवर्गः सोपसर्गस्तथैवावतस्थे।

हुए उसने जलवाहिनी नामकी नदीके तटके निकट फैले हुए कालिदास नामके बड़े भारी जंगलमें सुमित्र नामके मुनिको देखा। उत्कृष्ट तपके करनेसे उनका शरीर पवित्र हो गया था, समस्त शास्त्रोंके सुननेसे उनका मनोबल बढ़ गया था। वे ऐसे प्रतीत होते थे मानो मूर्तिमान् धर्म है। उनके ब्रह्मचर्यके तेजके प्रतापसे एक आमका वृक्ष जड़से लेकर चोटी तक सुन्दर फलोंसे लदा हुआ था। पुरोहितने एक छात्रके द्वारा अपनी पत्नीके लिए आम्रफल भेज दिया और आप धर्म श्रवण करनेके लिए अवधिज्ञानी मुनिके समीप बैठ गया। मुनिने बतलाया कि वह पहले जन्ममें सहस्रार स्वर्गके सूर्य विमानमें बहुत थोड़े वैभवका स्वामी सूर्यचर नामका देव था।

पूर्वजन्मका वृत्तान्त सुनकर उसे जातिस्मरण हो आया। स्वप्नमें प्राप्त हुए साम्राज्यके तुल्य इस संसारसे विरक्त होकर उसने कामको जीतनेमें समर्थ जिन-दीक्षा ले ली, और शास्त्रोंके रहस्य को जानकर मगधदेशके सोपारपुरके निकटवर्ती नाभिगिरि पर्वतपर आतापनयोगसे स्थित होगया।

उधर यज्ञदत्ताको जब छात्रोंसे सोमदत्तके दीक्षा ग्रहण करनेका समाचार मिला तो उसे बड़ा खेद हुआ। उसके वियोगसे उसका चित्त उखड़ गया। समयपर उसने एक पुत्रको जन्म दिया और उसे लेकर उसी पर्वतपर आई जहाँ सोमदत्त आतापनयोगसे स्थित था। उसे देखकर बोली—'अरे मेरे मन रूपी वनको जलानेके लिए वनकी आगके समान, निःस्नेही, मूर्ख कपटी ! यदि इस दिगम्बर वेषको छोड़कर स्वेच्छासे चलता हो तो चल, नहीं तो इस अपने पुत्रको ले।' ऐसा कहकर उस आतापनयोगसे स्थित मुनिके सामने शिलापर बालकको छोड़कर अपने घर चली गई। शिला तप रही थी अतः बच्चा उनके चरणोंपर लिटा हुआ था और मुनि इस उपसर्गके साथ ज्योंके त्यों निश्चल खड़े थे।

---

१. कमलसूर्येण। २. माहूहीत्स्या–अ० ज० मु०। ३. चतुर। ४. संप्रेष्य। ५. सहितम्। ६. गृहीत्वा। ७. छात्रेभ्यः। ८. रूपम्। ९. मुक्त्वा। १०. स्वेच्छयागच्छसि–आ०। ११. उद्भूवस्य–ऊर्ध्वजानो। १२. शिशोराधारीभूतपादः।

अत्रान्तरे सहचरानुचरसंचरत्खेचरीचरणालक्तकरक्तरन्ध्रस्य विजयार्धतटीध्रस्य दयिताविदूरविद्याधरीविनोदविहारपरिमलितकान्तारधरण्यामुत्तरश्रेण्याममरावतीपुरीपरमेश्वरः सुमङ्गलाबलावरः प्रकामनिखातारातिकान्ताशयशोकशङ्कुस्त्रिशङ्कुर्नाम नृपतिः समरावसराभिसरत्सपत्नसंतानावसानसारशिलीमुखश्चिराय राज्यसुखमनुभूय जिनागमादवगतसंसारशरीरभोगवैराग्यस्थितिर्यतिबुभूषुर्भू गोचरसंचाराय हेमपुरेश्वराय समस्तमहीशमान्यशासनाय बलवाहनाय सुतां सुदेवीं राज्यं च ज्येष्ठाय पुत्राय भास्करदेवाय प्रदाय सुप्रभसूरिसमीपे संयमी समजनि।

ततो गतेषु कतिपयेषुचिद्दिवसेषु समुत्साहितात्मीयसहायसमूहेन स्वदोर्दर्पविद्याबलव्यूहेन दुर्विनीतवरिष्ठेन कनिष्ठेनानुजेन पुरंदरदेवेन विहितराज्यापहारः परिजनेन समं स भास्करदेवस्तत्र बलवाहनपुरे शिविरमधिनिवेश्य मणिमालया महिष्या[1]नुगस्तं सोमदत्तभगवन्तमुपासितुमागतस्तत्पादमूले स्थलकमलमिव तं बालकमवलोक्य 'अहो महदाश्चर्यम्, यतः कथमिदमरत्नाक[2]रमपि रत्नम्, अजलाशयमपि कुशेशयम्, अनिन्धन[3]मपि तेजःपुञ्जम्, अचण्डकरमप्युग्रत्विषम्, अनिला[4]मातुलमपि कमनीयम्, अपि च कथमयं बालपल्लव इव पाणिस्पर्शेनापि म्लायल्लावण्यः, कठोरोष्मणि ग्रावणि वज्रघटित इव रिरंसमानमानसः, मातुरुत्सङ्गगत इव सुखेन समास्ते' इति कृतमतिः प्रियतमे 'कामं स्तनंधयधृतमनोरथायास्तवायं भगवत्प्रसादसंपन्नः सर्वलक्षणोपपन्नो वज्रकुमारो नामास्मदीयवंशविशालताविधा-

इसी बीचमें एक घटना घटी। विजयार्ध पर्वतकी उत्तरश्रेणिमें अमरावती नगरीका राजा त्रिशङ्कु चिरकाल तक राज्यसुखको भोगकर संसारसे विरक्त हो गया। मुनि होनेकी इच्छासे उसने अपनी कन्या तो हेमपुरके स्वामी भूमिगोचरी बलवाहन राजाको दे दी और राज्य ज्येष्ठ पुत्र भास्कर देवको दे दिया। फिर सुप्रभ सूरिके निकट जिनदीक्षा धारण कर ली।

कुछ दिन बीतनेपर उसके छोटे पुत्र पुरन्दरने आत्मीय जनोंके द्वारा उत्साहित किये जानेपर अपनी भुजाओंके और सैन्यबलके घमण्डमें आकर अपने बड़े भाई भास्करदेवका राज्य छीन लिया। तब भास्करदेवने अपने परिजनोंके साथ आकर बलवाहनपुरमें अपना लश्कर डाला और स्वयं अपनी पटरानी मणिमालाके साथ सोमदत्त मुनिकी वन्दना करनेके लिए आया। मुनिके चरणोंमें पृथ्वीके कमलके समान उस बालकको देखकर वह बोला—'अरे! बड़ा आश्चर्य है। विना रत्नाकरके रत्न, विना जलाशयके कमल, विना ईंधनके तेजका पुंज, विना सूर्यके उग्रकान्तिकारक और विना चन्द्रमाके मनोहर यह बालक यहाँ कहाँसे आया? नवपल्लवके समान इसका लावण्य हाथके स्पर्शसे भी म्लान होने वाला है। किन्तु इस अत्यन्त गर्म पहाड़पर वज्रसे बने हुए के समान क्रीड़ा करता हुआ सुखसे ऐसा लेटा है मानो माताकी गोदमें ही है।

'प्रियतमे! तुम्हें पुत्रकी वांछा थी। भगवान्‌के प्रसादसे तुम्हें यह सर्व लक्षणोंसे पूर्ण पुत्र प्राप्त हुआ है। इसका नाम वज्रकुमार रखते हैं। यह हमारे वंशको समुन्नत करेगा।' ऐसा कह

१. –नुगतः आ०। २. समुद्रं विना। ३. इन्धनं विनाऽग्निं। ४. न इलामातुलम् अनिलामातुलम्–नचन्द्रम्।

यिधामपात्रम् पुत्र इत्यभिधाय विधाय च यथावत्तस्य भगवतः पर्युपासनं पुनरत एव महतोऽधिगतैतदपत्यवृत्तान्तो भावपुरमनुससार।

भवति चात्र श्लोकः—

अन्तःसारशरीरेषु हितायैवाहितेहितम्।
किं न स्यादग्निसंयोगः स्वर्णत्वाय तदश्मनि ॥२०७॥

इत्युपासकाध्ययने वज्रकुमारस्य विद्याधरसमागमो नाम पञ्चदशः कल्पः।

पुनर्बालभावाच्छोणच्छायकायः कङ्केल्लिपल्लव इव धातकीप्रसवस्तबक इवारुणमणिकन्दुक इव च बन्धूनामानन्दनिरीक्षितामृतपीथमन्थरितमुखः सखेलं करपरम्परया संचार्यमाणः क्रमेणोत्तानशयदरहसितजानुचङ्क्रमणगद्गदालापस्पष्टक्रियापञ्चकस्थामवस्थामनुभूय मरुमार्ग इव छायापादपेन, छायापादप इव जलाशयेन, जलाशय इव कमलाकरेण, कमलाकर इव कलहंसनिवहेन, कलहंसनिवह इव रामासमागमेन, रामासमागम इव च स्मरलीलायितेन, तरुणीजनमनोमृगप्रमदवनेन यौवनेनालंचक्रे।

तदनु बाढं प्ररूढप्रौढयौवनावतारसारो वज्रकुमारः पितुर्मातुश्च वंशनिवेशानवद्याभिर्विद्याभिः प्रवलितप्रतापगुणः प्राप्तखचरलोकाधिक्यः सुवाक्यमूर्तिनामधामस्य मामस्य मदनमदपण्यतारुण्यलावण्यारण्यवनदेवतावतरवसुमतीमिन्दुमतीं दुहितरं परिणीय मणिकुण्डल-रत्नशेखर-माणिक्य-शिखण्ड-किरीट-कीर्तन-कौस्तुभ-कर्णपूरपुरःसरैर्नभश्चरकुमारैरनुसृतस्तं पूर्वापरावारपारतरङ्गदन्तुरकन्दराधरं क्रीडारसवर्धनोद्धुरं विजयार्धमहीधरम-

---

कर उसने मुनिकी उपासना की और उनसे बच्चेका सब वृत्तान्त जानकर नगरको लौट आया।

किसीने ठीक कहा है—

'जिनके अन्तरंगमें कुछ सार है उनका अहित चाहना भी हितके लिए होता है। देखो, स्वर्णपाषाणको आगमें तपानेसे क्या वह सोना नहीं हो जाता ॥२०७॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें वज्रकुमारका विद्याधरसे समागमका वर्णन करनेवाला पन्द्रहवाँ कल्प समाप्त हुआ।

बचपनके कारण वज्रकुमारके शरीरकी कान्ति अशोक वृक्षके नये पत्तोंकी तरह या धतूरेके अथवा लालमणिकी गेंदकी तरह प्रतीत होती थी। घरके आदमी उसे बड़े प्यारसे पुष्प गुच्छकी तरह देखते थे और वह हाथों हाथ घूमता था। पहले वह ऊपरको मुख किये लेटा रहता था, कुछ बड़ा होनेपर उसनेमुसकराना शुरू किया। फिर घुटनोंके बल चलने लगा। फिर तुतुलाते हुए बोलना शुरू किया। फिर स्पष्ट बोलने लगा। इस तरह क्रमसे पाँच अवस्थाओंको बिताकर वह बड़ा हुआ। और जैसे मरु भूमिका मार्ग छाया देने वाले वृक्षसे शोभित होता है, छाया वृक्ष सरोवरसे शोभित होता है, सरोवर कमलोंसे शोभित होता है, कमलसमूह राजहंसोंसे शोभित होता है, राजहंसोंका समूह स्त्रीके समागमसे शोभित होता है और स्त्रीसमागम काम विलाससे शोभित होता है वैसे ही वज्रकुमारका शरीर यौवनसे सुशोभित हो गया।

उसके बाद यौवनके भर उठनेपर पितृवंश और मातृवंशसे प्राप्त हुई निर्दोष विद्याओंके प्राप्त होनेसे उसका प्रताप और भी बढ़ गया और उसने अपने मामाकी लड़की इन्दुमतीसे विवाह

---

१. योगावसाने एतस्मात् सोमदत्तगुरोः। २. ज्ञातबालकवृत्तान्तः। ३. स्वर्णपाषाणे। ४. रक्त। ५. पीथं बालस्य देयं नवनीतादि। ६. यथा मरुस्थलं छायावृक्षेण शोभते तथाऽयं यौवनेनालंचक्रे।

ध्यास्य विरविहायश्चरीपरिमिलनम्लानमृणालजलेजमशोकदलशय्यादयितासाद्यविद्याधरीसुरतपरिमलबहलमिदमुपवनलतास्थानं कन्दुकविनोदपरिणताम्बरचरीचरणालककाङ्कितमदस्तमालमूलोलवालालयमेवमिदं रमणीयमेतन्मनोहरमदश्च सुन्दरमटनीप्रतटमिति निध्यायन् समाचरितस्वैरविहारः पुनः प्राप्तहिमवद्गिरिप्राग्भारः खेचरीलोचनचन्द्रस्य पुरेन्द्रस्याङ्कवतोयुवतिप्रीतिधाम्नो गरुडवेगनाम्नो विद्याधरपतेरतिशयरूपनिरूपणपात्रीं प्रियपुत्रीं पवनवेगानामसङ्कां प्रालेयाचलमेखलाखलतिकलतालयनिलीनाङ्गीं बहुरूपिणीं नाम निषद्यां विद्यामाराधयन्तीमनयैवं विघ्नविघ्नया जाताजगररूपया विद्यया निगीर्णवदनामुपलक्ष्य परोपकारविचक्षणस्तार्क्ष्यविद्यया तमेतल्लपनाविलतालुं मार्याशयालुं वित्रासयामास।

पवनवेगा तत्प्रत्यूहाभोगापगमानन्तरमेव विद्यायाः सिद्धिं प्रपद्य 'अवश्यमिह जन्मन्ययमेव मे कृतप्राणत्राणावेशः प्राणेशः' इति चेतस्यभिनिविश्य पुनरस्यैव नीहारमहीधरस्य नितम्बतीरिणीपर्यन्ते सूर्यप्रतिमां समाश्रितवतो भगवतस्तपःप्रभावसंपादितसमस्तसत्त्वव्यापदन्तस्य संयतस्य पादपीठोपकण्ठे पठतस्तवेयं सेत्स्यतीत्युपदेशावेशाभिनवमाराय वज्रकुमाराय गगनगमनाङ्गनाजीवितभूतामभिमतार्थसाधनपर्याप्तिं प्रज्ञप्तिं विद्यां वितीर्य निजनगर्यां पर्यटत्। वज्रकुमारस्तथैव तत्सूरिसमक्षं फेनमालिनीकूले विद्यां प्रसाध्यासाध्यसाधनप्रवृद्धपराक्रमस्तमक्रमविक्रमाल्पीभूतदैवं पुरन्दरदेवं पितृव्यमव्याजमुच्छिद्य सद्यस्तां विजयोत्सवपरम्परावतीममरावतीं पुरमात्मपितरमखिलखचराचरितचरणसेवं भास्करदेवं निवेश्य वश्येन्द्रियः स्वयंवरव्याजेन विहिताभिलषितकान्तसंगामनङ्गसंगसंगतशृङ्गारसुभगां पवनवेगामपराश्चाम्बरचरपतिवरा विवाह्य महाभागगृह्यो विहायश्चरचित्तचिन्तामात्रायासैस्तैस्तैर्विलासैः कालमतिवाहयामास।

किया। एक बार वज्रकुमार अनेक विद्याधर कुमारोंके साथ विजयार्ध पर्वतकी शोभा देखता हुआ घूम रहा था। घूमते-घूमते वह हिमवान पर्वतपर जा पहुँचा। वहाँ विद्याधरोंके स्वामी गरुडवेग की अतिशय रूपवती कन्या पवनवेगा बहुरूपिणी विद्या साधती थी। वज्रकुमारने देखा कि विघ्न डालनेकी भावनासे वह विद्या अजगरका रूप बनाकर उस कन्याको निगला ही चाहती है। उस परोपकारीने तुरन्त ही गरुड़विद्याके द्वारा उसके मुखको चीर दिया। इस विघ्नके दूर होते ही पवनवेगाको विद्या सिद्ध हो गई। उसने संकल्प किया कि इस जन्ममें मेरे प्राणोंकी रक्षा करने वाला यही युवक मेरा स्वामी है। यह संकल्प करके उसने वज्रकुमारको इष्ट वस्तुकी सिद्धि करने वाली प्रज्ञप्ति नामकी विद्या प्रदान की और कहा कि इसी पहाड़के किनारेसे बहने वाली नदीके पास आतापनयोगसे स्थित, मुनि महाराजके चरणोंके समीपमें बैठकर पढ़ने मात्रसे तुम्हें यह विद्या सिद्ध हो जायेगी। यह कह कर वह अपने नगरको लौट गई। वज्रकुमारने उसके कहे अनुसार फेनमालिनी नदीके किनारे आचार्यके समक्ष विद्या सिद्ध की। इस विद्याके प्रभावसे उसमें असाध्य कामको भी साधनेकी शक्ति आ गई और इससे उसका पराक्रम और भी बढ़ गया। तब उसने अपने चाचा पुरन्दरदेवको मारकर अमरावती नगरीके राज्यासनपर अपने पिता भास्करदेवको बैठाया और स्वयंवरमें पवनवेगाके साथ अन्य विद्याधर कुमारियोंसे विवाह करके आनन्दपूर्वक दिन बिताने लगा।

१. विहायश्चरी–आ०। विरहिणी। २. अशोकदलशय्यायां दयितेन भर्त्रा आसाद्या प्राप्या या विद्याधरी। ३. चिह्नितं। ४. स्थानम्। ५. -मूलालवलय–अ० ज०। ६. पर्वत। ७. विघ्नविघ्न–ब०। ८. मायाजगरसर्पम्। ९. नदी। १०. विद्याधरी।

अन्यदा पुनरिष्टदुष्टज्ञातिप्रज्ञावज्ञाभ्यामात्मनः परैधितत्वमवबुध्य निजान्वयनिश्चये सति शारीरेषूपचारेषु प्रवृत्तिरन्यथा निवृत्तिरित्याचरितसंगरस्ताभ्यां महामुनिमाहात्म्यमन्त्रविस्रासितदुरितनिशाचरायां मथुरायां तपस्यतः सोमदत्तस्य भगवतः सनीडे नीतस्तदङ्गमुद्राप्रायमात्मकायमवसाय संजातानन्दनिकायस्तावुभावप्युपनेतारौ मातापितरौ सादरमुक्तियुक्तिभ्यां प्रतिबोध्यावधीरितोभयग्रन्थो निर्ग्रन्थश्चारणर्द्धिवृद्धिः समपादि।

भवति चात्रार्या—

तृणकल्पः श्रीकल्पः कान्तालोकश्चितालोकः।
पुण्यर्जनश्च स्वजनः कामविदूरे नरे भवति ॥२०८॥

इत्युपासकाध्ययने वज्रकुमारस्य तपोग्रहणो नाम षोडशः कल्पः।

पुनर्महामहोत्सवोत्साहितातोद्यवादनादमेदुरप्रासादकन्दरायामेतस्यामेव मथुरायां किल गोचराय चारणऋद्धियुगलं नगरमार्गे संगतगतिसर्गं सत् तत्र द्वित्रिपरिवत्सर प्रवावस्थावसरे बालिकामेकां चिल्लचिकिन लोचनसनाथामनाथामापणाङ्गणचारिणीं स्खलद्गमनविहारिणीं निरीक्ष्य प्रतीक्ष्य पश्चाच्चरः सुनन्दनाभिधानगोचरो भगवानेवमवादीत्—'अहो, दुरालोकः खलु प्राणिनां कर्मविपाकः, यदस्यामेव दशायां क्लेशाय प्रभवति' इति।

पुरश्चारी भगवानभिनन्दननामधारी–'तपःकल्पद्रुमोत्पादनन्दन सुनन्दनमुने, मैवं वादीः।

एक बार इष्ट बन्धु-बान्धवोंके कहनेसे और दुष्ट जनोंके अनादरसे उसे पता चला कि मैं भास्करदेवका पुत्र नहीं हूँ, बल्कि उन्होंने मेरा पालन किया है, तो उसने प्रतिज्ञा की कि अपने वंशका निश्चय होजानेपर ही मैं अन्न-जल ग्रहण करूँगा अन्यथा मेरे सबका त्याग है। तब उसके पालक माता-पिता उसे मथुरा नगरीमें तपस्या करते हुए सोमदत्त मुनिके पास ले गये। मुनिकी शारीरिक आकृतिके तुल्य ही अपनी आकृतिको देखकर उसे बड़ा आनन्द हुआ। और उसने उन दोनों माता-पिताको समझा-बुझाकर अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहका त्याग कर दिया और निर्ग्रन्थ साधु बनकर चारणऋद्धिका स्वामी हो गया।

किसीने ठीक कहा है कि 'जो मनुष्य काम-विकारसे दूर है उसके लिए लक्ष्मी तृणके समान है, एकत्र हुआ स्त्री-समुदाय चिताके आलोक समान हैं और कुटुम्बीजन राक्षसोंके समान हैं ॥२०८॥'

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें वज्रकुमारके तप ग्रहण करनेका वर्णन करनेवाला सोलहवाँ कल्प समाप्त हुआ।

एक बार मथुरा नगरीमें चारणऋद्धिके धारी दो मुनि मार्गमें चले जाते थे। उसी मार्गमें दो-तीन वर्षकी एक अनाथ बालिका जिसकी आँखें मैलसे भरी थीं, इधर-उधर भटकती माँगती खाती डोलती थी। उसे देखकर पीछे चलने वाले सुनन्दन नामके मुनि बोले—'जीवोंके कर्मका विपाक कोई नहीं जानता, देखो तो बेचारी यह बालिका इतनी-सी उम्रमें ही कष्ट भोगती है।'

यह सुनकर आगे चलने वाले अभिनन्दन मुनि बोले—'सुनन्दन मुनि! ऐसा मत कहो।

---

१. ज्ञातिमध्ये ये इष्टास्ते प्रज्ञां ददति, ये दुष्टास्ते निरादरं कुर्वन्ति। २. परपोषितत्वं। ३. स्नानभोजनादौ। ४. प्रतिज्ञः। ५. पापान्येव राक्षसाः यत्र। ६. ज्ञात्वा। ७. मृतकचितासदृशः। ८. राक्षसः। ९. आहारार्थम्। १०. वर्षद्वित्रिसमये। ११. दूषित।

यद्यपीयं गर्भसंभूता सती राजश्रेष्ठिपदप्रभूतं समुद्रदत्तं पितरं जातमात्रा तद्वियोगदुःखोपसदां धनदां मातरं प्रवर्धमाना च बन्धुजनमकाण्ड एव दशमीं दशामानीय इदमवस्थान्तरमनुभवन्ती तिष्ठति, तथाप्यनया प्रौढयौवनयास्य मथुरानाथस्यौर्विलादेवीविनोदावसथस्य पूतिकवाहनस्य महीनस्याग्रमहिष्या भवितव्यम्' इत्यवोचत्। एतच्च तत्रैव प्रस्तावे पिण्डपाताय[2] हिण्डमानः शाक्यभिक्षुरुपश्रुत्य[3] 'नान्यथा मुनिभाषितम्' इति निर्विकल्पं संकल्प्य, स्वीकृत्य चैनामभिकामाहितविहारवसतिकामभिलषितानुहारैराहारैरवीवृधत्। जुहाव[5] च बुद्धदासीति परिजनपरिहासतन्त्रेण गोत्रेण[6]।

ततो गतेषु केषुचिद्वर्षेषु भ्रमरकभङ्गाभिनयनभरते[7] भ्रूविभ्रमारम्भोपाध्यायस्थानिनि लोचनविचारचातुर्याचार्ये चतुरोक्तिचातुरीप्रचारगुरुणि बिम्बाधरविकारसौन्दर्यकादम्बरी[8]योगे निम्नोन्नतप्रदेशप्रकाशनशिल्पिनि मनसिजगजमदोद्दीपनपिण्डिपण्डिते शृङ्गारगर्भगतिरहस्योपदेशिनि समस्तभुवनमनोमोहनसिद्धौषधे प्रतिदिनप्रादुर्भावसंविधे सति यौवने सा रूपसंपन्महीयसी बुद्धदासी सोत्तालमुत्तुङ्गतमङ्गश्रृङ्गोत्सङ्गसंगता तं श्रमणिकया कृतविहारोपान्तागमनं[9] पूतिकवाहनं राजानमदर्शत्। राजा च ताम्। राजा—

'अलकवलयावर्तभ्रान्ता विलोचनवीचिका[10]
प्रसरविधुरा मन्दोद्योगा स्तनद्वयसैकते।
त्रिवलिवलनश्रान्ता नाभौ पुनश्च निमज्जना-
दिह हि स[11]रिति प्रायेणैवं मतिर्मम वर्तते ॥२०६॥

यद्यपि जब यह बालिका गर्भमें आई तो राजश्रेष्ठीके पदपर प्रतिष्ठित इसका पिता समुद्रदत्त मर गया, जब यह जन्मी तो पतिके वियोगमें इसकी माता धनदा चल बसी, बड़ी हुई तो असमयमें ही बन्धु-बान्धव मर गये और अब यह इस हालतमें है। तथापि युवती होनेपर यह इसी मथुरा नगरीके राजा पूतिकवाहनकी पटरानी होगी।' वहींपर भोजनके लिए घूमते हुए बौद्धभिक्षुने इस बातचीतको सुना। उसने सोचा कि मुनि झूठ नहीं बोलते। अतः वह उस बालिकाको अपने विहारमें लेगया और उसकी रुचिके अनुसार खान-पान देकर उसे बड़ा किया। सब लोग हँसीमें उसे बुद्धदासी कहते थे। धीरे-धीरे उसमें यौवनका प्रादुर्भाव हो चला। उसकी भ्रुकुटियोंमें विलास आ चला, लोचनोंमें कुछ अजीब चंचलता दृष्टिगोचर होने लगी, उसकी बातोंमें भी चातुर्य झलकने लगा, ओष्ठोंपर अपूर्व मादकता छा गई, अंग-प्रत्यङ्गमें यौवनकी शिल्पकलाका चातुर्य दिखाई पड़ने लगा, चालमें मादकता आगई। कुछ वर्ष बीतनेपर एक दिन वह रूपवती बुद्धदासी विहारके एक ऊँचे शिखरपर चढ़ी हुई थी। घूमते-घूमते राजा पूतिकवाहन उस विहारके करीब आ गया। दोनोंने एक दूसरेको देखा।

देखते ही राजा काममोहित हो गया और विचारने लगा—'इस स्त्रीरूपी नदीमें प्रायः मेरी मति इस प्रकारकी हो रही है—प्रथम तो वह उसके कुटिल केश पाशके गोलाकार जूड़ेरूपी भँवरमें पड़कर भ्रान्त हो गई, फिर नेत्ररूपी लहरोंके तूफानमें पड़कर पीड़ित हुई, उसके बाद दोनों स्तनरूपी बालुकामय किनारों पर पहुँचकर उसकी दौड़धूप शिथिल पड़ गई, पुनः उदरकी तीन रेखाओंमें भ्रमण करनेसे थक गई और पुनः नाभिमें डूब जानेसे क्लान्त हो गई ॥ २०६ ॥

---

१. मरणावस्थाम्। २. भिक्षार्थं। ३. श्रुत्वा। ४. सदृशैः। ५. आकारितवान्। ६. नाम्ना। ७. अलक। ८. मदिरा। ९. समीपे। १०. कल्लोल। ११. स्त्रीनद्यां मम मतिरीदृशी वर्तते।

इति विचिन्त्य, चेतोभूविभ्रमप्रारम्भं निवार्यावधार्यं च, 'किमियं विहितविवाहोपचारा, किं वाद्यापि पतिंवरा' इति भिक्षूनापृच्छ्य तत्र 'द्वितीयपक्षे सर्वथास्मत्पक्षे कर्तव्या' इति समर्पिताभिलाषमाप्तपुरुषं प्रेष्य रणरणकजडान्तःकरणः शरणमगात् । आप्तपुरुषोऽप्यग्र-महिषीपदपणबन्धेन साध्यसिद्धिं विधाय स्वामिनं तत्समागमिनमकरोत् ।

भवति चात्रार्या—

पुण्यं वा पापं वा यत्काले जन्तुना पुराचरितम् ।
तत्तत्समये तस्य हि सुखं च दुःखं च योजयति ॥२१०॥

इत्युपासकाध्ययने बुद्धदास्याः पूतिकवाहनवरणो नाम सप्तदशः कल्पः ।

अथ समायाते भव्यजनानन्दसंपादितकर्मणि नन्दीश्वरपर्वणि तया पतिप्रणयप्रेयस्या बुद्धदास्या प्रतिचातुर्मास्यमौर्विलादेव्याः स्यन्दनविनिर्गमेण भगवतः सकलभुवनोद्धरण-स्थितेर्जिनपतेर्महामहोत्सवकरणमुत्सेत्तुमिच्छन्त्या शुद्धोदनतनयस्येष्टार्थमष्टाह्ना सकलपरिवा-रानुगतमेतदुचितमुपकरणजातमवनिपतिर्याचितस्तथैव प्रत्यपद्यत । ऊर्विलादेव्यपि सुभगभा-वात्सपत्नीप्रभवं दौर्जन्यमनन्यसामान्यमप्रतीकारमाकलय्य सोमदत्ताचार्यमुपसद्य 'भदन्त, यद्येतस्मिन्द्वित्रिदिनभाविन्यष्टाहामहे पूर्वक्रमेण जिनपूजार्थे मथुरायां मदीयो रथो भ्रमिष्यति, तदा मे देहस्थितिहेतुषु वस्तुषु साभिलाषं मनः, अन्यथा निरभिलाषम्' इति प्रतिजिज्ञासमाना

फिर उसने अपने चित्तमें उठते हुए बवण्डरको जिस किसी तरह रोककर आगेका मार्ग निर्धारित किया। एक विश्वस्त पुरुषको बुलाकर उससे अपने मनकी अभिलाषा बतलाकर वह बोला—'तुम भिक्षुके पास जाकर यह पूछो कि यह कन्या विवाहित है या अविवाहित ? यदि अविवाहित हो तो उसे हमारे लिए तैयार करो।' उस विश्वस्त पुरुषने राजमहिषीका पद प्रदान करनेकी प्रतिज्ञा करके उसका राजाके साथ विवाह करा दिया।

किसीने ठीक कहा है—

'जीवने पूर्वजन्ममें जो पुण्य या पाप किया है, समय आनेपर वह उसे अवश्य सुख या दुःख देता है' ॥२१०॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें बुद्धदासी द्वारा पूतिकवाहनके वरणका वर्णन करनेवाला सत्रहवाँ कल्प समाप्त हुआ।

इसके बाद भव्यजनोंको आनन्द देनेवाला नन्दीश्वर पर्व आया। इस पर्वमें पूतिकवाहन राजाकी रानी ऊर्विलादेवी बड़ा भारी महोत्सव करके जिनेन्द्रदेवका रथ निकालती थी। बुद्ध-दासीने उसके महोत्सवको नष्ट-भ्रष्ट करनेके लिए बुद्धदेवकी पूजाका आयोजन किया और उसके योग्य सब सामग्री राजासे माँगी। राजाने सब सामान दे दिया। जब ऊर्विलाको अपनी सौतकी इस असाधारण दुर्जनताका पता चला तो उसे इसका कोई प्रतीकार न सूझा। तब वह सोमदत्त आचार्यके पास गई और बोली—'भगवन्, यदि इस दो-तीन दिनमें आनेवाले अष्टाह्निकापर्वमें पुराने क्रमके अनुसार जिन भगवानकी पूजाके निमित्तसे मेरा रथ मथुरामें निकलेगा तो मैं अन्न-जल ग्रहण करूँगी, नहीं तो मेरा त्याग है।' यह सुनकर सोमदत्तने उसके मनोरथको पूर्ण करनेकी भावनासे मुनि वज्रकुमारकी ओर देखा। वज्रकुमारने उसे समझाते हुए कहा—'सम्यग्दृष्टि ललनाओंमें अग्रणी

१. कन्या। २. चेत् कन्या भवति तर्हि ममाधीना कर्तव्येति। ३. उद्वेग। ४. गृह। ५. प्रतिज्ञया। ६. उच्छेदनकर्तुं। ७. बुद्धस्य। ८. प्राप्य। ९. प्रतिज्ञां कर्तुमिच्छन्ती।

तेन सोमदत्तेन भगवता तन्मनोरथसमर्थनार्थमवलोकितवक्त्रेण वज्रकुमारेण साधुना साधु संबोधिता 'मातः, सम्यग्दृशामेणीदृशामवासप्रथमकथे[1], अलमलमावेगेन। यतो न खलु मयि तव समयसविश्र्याश्चिन्तके[2] पुत्रके सति भविताऽर्हतामर्हणीयाः प्रत्यवायः[3]। तत्स्वस्थं पूर्वस्थित्यात्मस्थाने स्थातव्यम्' इति हृद्यमनवद्यममृषोद्यं च निगद्य, आसाद्य[4] च द्युगतिविद्याधरपुरं[5] महामुनितया बान्धवधिषणतया च निखिलेन भास्करदेवमुख्येनाम्बरचरचक्रेण क्रमशः कृताभ्युत्थानादिक्रियः सप्रश्रयमागमनायतनमापृष्टः[6] स्पष्टमाचष्ट।

तदनन्तरमानन्ददुन्दुभिनादोत्तालदवेलितमुखरमुखमण्डलैः, सामयिकालंकारसारसज्जितगजवाजिविमानगमनप्रचलत्कर्णकुण्डलैः, अनेकानणुमणिकिङ्किणीजालजटिलदुकूलकल्पित[9]पालिध्वजराजिविराजितभुजपञ्जरैः, करिमकरसिंहशार्दूलशरभकुम्भीरशफरशकुन्तेश्वरपुरःसराकारपताकासन्तानस्तिमितकरैः, मानस्तम्भस्तूपतोरणमणिवितानदर्पणसितातपत्रचामरविरोचनचन्द्रभद्रकुम्भसंभृतशयैः[16], अतुच्छदेवच्छन्दाविच्छिन्नकर्णीरथस्यन्दनद्विपतुरगनरनिकीर्णसैन्यनिचयैः, सजयघण्टापटुपटहकरटामृदङ्गशङ्खकाहलत्रिविलतालझल्लरीभेरिभम्भादिवाद्यानुगतगीतसंगताङ्गनाभोगसुभगसंचारैः, कुब्जवामनकिरातकितवनटनर्तकबन्दिवाग्जीवनविनोदानन्दितदिविजमनस्कारैः, सखेलखेचरसहचरीहस्तविन्यस्तस्वस्तिकप्रदीपधूपनिप[21]प्रभृतिविचित्रार्चनोपकरणरमणीयप्रसरैः, पिष्टातकपटवासप्रसूनोपहाराभिरामरमणीनिकरैः, अपरैश्च तैस्तैर्विधृतपूजापर्यायपरिवारैर्विहायोविहारैः[22] सह तं वज्रकुमारभगवन्तमम्बरादवतरन्तमुत्प्रेक्ष्य[23] 'भिक्षुदीक्षापटीयसी पुण्यभूयसी खलु बुद्धदासी, यस्याः सुगतस[24]-

माता! इतनी क्यों घबराती हो? अपनी धर्ममाताकी चिन्ता करनेवाले मुझ पुत्रके होते हुए जिनभगवान्‌की पूजामें विघ्न नहीं हो सकता। अतः निश्चिन्त होकर अपने महलोंमें जाकर बैठो।'

इस प्रकार अपने हृदयकी सच्ची बातको कहकर वज्रकुमार मुनि विद्याधर भास्करदेवके नगरमें पहुँचे। एक तो महामुनि होनेसे दूसरे बन्धुभाव होनेसे भास्करदेव वगैरह सभी विद्याधरोंने उनका सत्कार किया और विनयपूर्वक उनके आनेका कारण पूछा। वज्रकुमारने सब समाचार कहा।

सुनते ही सब विद्याधर उनके साथ मथुरा चलनेको तैयार हो गये। खूब जोर-जोरसे बाजे बजने लगे। हाथी, घोड़े और विमान सामयिक अलंकारोंसे सजा दिये गये। विद्याधरोंने बड़ी-बड़ी मणियोंकी घंटियोंसे सुशोभित ध्वजाएँ अपने हाथोंमें ले लीं। कुछके हाथोंमें हाथी, मगर, सिंह आदिके आकारोंसे चित्रित पताकाएँ थीं। कुछके हाथोंमें मानस्तम्भ, स्तूप, तोरण, दर्पण, छत्र, चमर, श्रृङ्गार आदि थे। जय-जयकारके साथ घण्टा, नगारा, मृदंग, शंख, वीणा, झाँझ आदि बाजे बजने लगे और उनके स्वरके साथ स्त्रियाँ गाने लगीं। नट लोग कुबड़े, बौने आदिका रूप बनाकर नाचने लगे, भाटोंने स्तुति-गान करना प्रारम्भ कर दिया। विनोदकी लहरें उठ पड़ीं। विद्याधरोंने अपनी-अपनी स्त्रियोंके साथ हाथोंमें स्वस्तिक, दीप, धूपघट आदि पूजनकी सामग्री ले ला। स्त्रियोंके हाथ केशरका चूर्ण, पुष्प आदि उपहारोंसे अलंकृत थे। इस प्रकार पूजनकी विविध सामग्री लेकर सब विद्याधर बड़े उत्सवके साथ वज्रकुमार मुनिके पीछे-पीछे चल दिये।

---

१. सम्यक्त्वसहितानां स्त्रीणां मध्ये धुरि वर्णनीये। २. जैनजनमातुः। ३. भविष्यति कोऽपि विघ्नः पूजायाः। ४. प्राप्य। ५. द्युगत्या आकाशगमनेन। ६. कारणं। ७. हस्तमुखसंयोगजो ध्वनिः। ८. यात्रोचित। ९. रचित। १०. लघुध्वज। ११. जलचरविशेषः। १२. मत्स्य। १३. गरुड। १४. सूर्य। १५. पूर्णकुम्भ। १६. हस्तैः। १७. निरन्तर। १८. शिविका। १९. शरीर। २०. सक्रीडा। २१. घट। २२. विद्याधरैः। २३. बौद्ध। २४. बुद्धपूजा।

पर्यासमये समायातं सकलमेतत्सुरसैन्यम्' इति धृतधिषणे पौरजनान्तःकरणे सति स भगवान्गगनगमनानीकैः साकमौर्विलानिलये निलीय[1] सावष्टम्भमष्टाह्नीमथुरायां[2] चक्रचरणं[3] परिभ्रमय्यार्हत्प्रतिबिम्बाङ्कितमेकं स्तूपं तत्रातिष्ठिपत्। अत एवाद्यापि तत्तीर्थं देवनिर्मिताख्यया प्रथते[4]। बुद्धदासी दासीवासीद्भग्नमनोरथा।

भवति चात्र श्लोकः—

ऊर्विलाया महादेव्याः पूतिकस्य महीभुजः।
स्यन्दनं भ्रमयामास मुनिर्वज्रकुमारकः ॥२११॥

इत्युपासकाध्ययने प्रभावनविभावनो नामाष्टादशः कल्पः।

अर्थित्वं भक्तिसंपत्तिः प्रयुक्तिः [प्रियोक्तिः] सत्क्रियाविधिः।
सधर्मसु च सौचिंत्यकृतिर्वत्सलता मता ॥२१२॥
स्वाध्याये संयमे सङ्घे गुरौ सब्रह्मचारिणि।
यथौचित्यं कृतात्मानो विनयं प्राहुरादरम् ॥२१३॥
आधिव्याधिनिरुद्धस्य निरवद्येन कर्मणा।
सौचित्यकरणं प्रोक्तं वैयावृत्यं विमुक्तये ॥२१४॥

मथुरा नगरीमें आकाशसे नीचे उतरते हुए इन विद्याधरोंको देखकर पुरवासी जनोंने समझा कि 'बुद्धदासी बड़ी पुण्यात्मा है उसीकी बुद्धपूजामें सम्मिलित होनेके लिए यह सब देवगण आये हैं। किन्तु वज्रकुमार मुनि विद्याधरोंकी इस सेनाके साथ ऊर्विला रानीके महलमें उतरे और उन्होंने अष्टाह्निका-पर्वमें मथुरामें रथयात्रा कराकर जिन-बिम्बसे सुशोभित एक स्तूपकी वहाँ स्थापना की। इसीसे आज भी वह तीर्थ 'देवनिर्मित' कहा जाता है। यह सब देखकर बुद्धदासीका मनोरथ भग्न हो गया।

इस विषयमें एक श्लोक है। जिसका भाव इस प्रकार है—

वज्रकुमार मुनिने राजा पूतिककी रानी महादेवी ऊर्विलाके रथका विहार कराया ॥२११॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें प्रभावना अंगका वर्णन करनेवाला अठारहवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[अब वात्सल्य अंगको कहते हैं—]

धर्मात्मा पुरुषोंके प्रति उदार होना, उनकी भक्ति करना, मिष्ट वचन बोलना, आदर सत्कार तथा अन्य उचित क्रियाएँ करना वात्सल्य है ॥२१२॥

स्वाध्याय, संयम, संघ, गुरु और सहाध्यायीका यथायोग्य आदर-सत्कार करनेको कृती पुरुष विनय कहते हैं ॥२१३॥

जो मानसिक या शारीरिक पीड़ासे पीड़ित हैं, निर्दोष विधिसे उनकी सेवा-शुश्रूषा करना वैयावृत्य कहा जाता है। यह वैयावृत्य मुक्तिका कारण है ॥२१४॥

---

१. अवतीर्य। २. अष्टाह्नी उपलक्षितायाम्। ३. रथम्। ४ प्रकाशते। ५. सौमनस्यम्। 'आदृतिर्व्यावृतिर्भक्तिश्चाटूक्तिः सत्कृतिः कृतिः। सधर्मसु च सौचित्तीकृतिर्वात्सल्यमुच्यते–।' धर्मरत्ना० प० ७३ उ०। 'भक्तिसंपत्तिरर्थित्वमिष्टोक्तिः सत्क्रियाविधिः। स्वधर्मस्वक्षिसौचित्तीकृतिर्वात्सल्यमूचिरे ॥३॥ –दानशासन, पृ० २७५। ६. समानशीले। 'स्वाध्याये संयमे धर्मे मुनौ वा धर्मबान्धवे। प्रतिपत्तिस्त्रिधा प्राहुर्विनयं विनयान्विताः ॥५४॥ व्याध्यादिना निरुद्धस्य निरवद्यो विधिर्महान्। विधेयो धर्मताधारैरौषधाद्यैः स्ववस्तुभिः ॥५५॥–प्रबोधसार

जिने जिनागमे सूरौ तपःश्रुतपरायणे।
सद्भावशुद्धिसंपन्नोऽनुरागो भक्तिरुच्यते ॥२१५॥
चातुर्वर्ण्यस्य संघस्य यथायोग्यं प्रमोदवान्।
वात्सल्यं यस्तु नो कुर्यात्स भवेत्समयी कथम् ॥२१६॥
तद्व्रतैर्विद्यया[1] वित्तैः शारीरैः श्रीमदाश्रयैः[2]।
त्रिविधातङ्कसंप्राप्तानुपकुर्वन्तु[3] संयतान् ॥२१७॥

जिन-भगवान्में, जिन-भगवान्के द्वारा कहे हुए शास्त्रमें, आचार्यमें और तप और स्वाध्यायमें लीन मुनि आदिमें विशुद्ध भावपूर्वक जो अनुराग होता है उसे भक्ति कहते हैं ॥२१५॥

जो हर्षित होकर चार प्रकारके संघमें यथायोग्य वात्सल्य नहीं करता वह धर्मात्मा कैसे हो सकता है ॥२१६॥

इसलिए व्रतोंके द्वारा, विद्याके द्वारा, धनके द्वारा, शरीरके द्वारा और सम्पन्न साधनोंके द्वारा शारीरिक मानसिक और आगन्तुक रोगोंसे पीड़ित संयमीजनोंका उपकार करना चाहिए ॥२१७॥

भावार्थ—जिस प्रकार एक सच्चा हितैषी भृत्य अपने स्वामीके कार्यके लिए सदा तैयार रहता है वैसे ही धर्मके कार्योंको करनेमें सदा तैयार रहना, धर्मके अंगोंकी रक्षाके लिए अपनी जान तक लगा देना वात्सल्य है। सम्यग्दृष्टिको वात्सल्यसे परिपूर्ण होना चाहिए। किसी भी धर्मायतनपर विपत्ति आनेपर उसे तन, मन और धन लगाकर दूर करना चाहिए। हम धर्मसे तो प्रेम करें और धर्मके जो अंग हैं—जिनबिम्ब, जिनमन्दिर, जिनागम, जैन साधु, गृहस्थ वगैरह, उनके प्रति उदासीन बने रहें, तो हमारा वह धर्म-प्रेम आखिर है क्या वस्तु ? जब धर्मके अंग ही नहीं रहेंगे तो धर्म ही कैसे रह सकता है ? जैसे शरीरकी स्थिति उसके अंगों और उपांगोंकी स्थितिपर निर्भर है वैसे ही धर्मकी स्थिति उसके उक्त अंगोंके आश्रित है। अतः धर्म-प्रेमीका यह कर्तव्य है कि वह धर्मके अंगोंसे प्रेम करे—उनके ऊपर कोई विपत्ति आई हो तो उसे प्राण-पणसे दूर करनेकी चेष्टा करे। इसीसे वात्सल्य अंगका वर्णन करते हुए श्री पञ्चाध्यायीके कर्ताने लिखा है कि जिनबिम्ब जिनालय वगैरहमेंसे किसीके ऊपर भी घोर संकट आनेपर बुद्धिमान् सम्यग्दृष्टि सदा उसे दूर करनेके लिए तत्पर रहता है और जब तक उनमें आत्मबल रहता है, मन्त्र, तलवार और धनका बल रहता है तब तक उस संकटको न वह सुन ही सकता है और न देख ही सकता है।' आज इस प्रकारका वात्सल्य देखनेमें नहीं आता। साधर्मी भाई मुसीबतमें पड़े रहते हैं और हम देखकर भी अनदेखा कर देते हैं। साधु त्यागियोंके कष्टोंकी ओर हमारा कोई ध्यान नहीं है। अपने ही भाइयोंकी कन्याके विवाहके अवसरपर हम उससे हजारोंका दहेज माँगते हैं। कोई गरीब निराश्रय हो तो उसकी सहायता करनेकी भावना हममें नहीं होती। उनका दुःख देखकर हमारा हृदय द्रवित हो भी जाये तो भी हम उनकी सहायता नहीं करते। मौखिक सहानुभूति मात्र प्रकट करके चुप हो जाते हैं। इस तरहकी बेरुखाईसे धर्मकी स्थिति कभी भी नहीं रह सकती। अतः जो सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा है वह सबकी यथायोग्य सेवा-शुश्रूषा करके, अपने हृदयकी भक्तिको प्रकट करता है और इस तरह वात्सल्य अंगका पालन करके अपना और दूसरोंका महान् उपकार करता है।

---

१. व्रतदानेन उपकारं कुर्वन्तु। २. उत्तमस्थानैः। ३. शारीरमानसागन्तुक।

श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—अवन्तिविषयेषु सुधान्धःसौधस्पर्द्धिशालायां विशालायां[1] पुरि[2] प्रभावतीमहादेवोश्रितशर्मसीमा जयवर्मनामा काश्यपीश्वरः शाक्यवाक्यवारिधिविक्रान्तिनक्रेण शुक्रेण चार्वाकलोकदिवस्पतिना[3] बृहस्पतिना रुद्रमुद्रानुद्रितविवेकेन प्रह्लादकेन चानुजेनानुगतेन वेदविद्यावलिना बलिना सचिवेन चिन्त्यमानराज्यस्थितिरेकदा समस्तशास्त्राभ्यासवर्षविस्फारितसरस्वतीतरङ्गपरम्पराप्लावनपवित्रितविनेयजनमनोनलिननिकुरम्बस्य परमतपश्चरणगर्ण[4]ग्रहणाजिह्मब्रह्मस्तम्बस्य[5] महामुनिपञ्चशतीवयस्य[6] भगवतोऽकम्पनाचार्यस्य महर्द्धिजुषः सर्वजनानन्दनं[8] नाम नगरोपवनमधितस्थुषश्चरणार्चनोपचाराय[6] राजमार्गेषु महोत्सवोत्साहोत्सेकिपरिजनं[7] पौरजनमभ्रंलिहगेहाग्रभागावसरे दिग्विलोकानन्दमन्दिरे स्थितः समवलोक्य 'कोऽयमकाण्डे प्रचण्डः पौराणामुद्यावद्योगे नियोगः' इति वितर्कयन्, 'सकलसमयसंभविप्रसूनस्तिमितहस्तपल्लवान्तरालाद्वनपालात् 'देव, भवद्दर्शनोत्सुकवनदेवतालोचने भगवत्तपःप्रभावप्रवृत्तसमस्तर्तून्मादितमेदिनीनन्दने[10] निजलक्ष्मीविलक्षयीकृतगन्धमादने पुरोपवने सद्गुणश्रीसंपादितसमूहेन[11] महता मुनिसमूहेन सर्वसत्त्वानन्दप्रदानोदाराभिधासुधाप्रबन्धावधीरितामृत[1]मरीचि[2]मण्डलो निखिलदिक्पालमौलिमणिनायकमुकुरन्दीभवत्पादनखमण्डलः[13] पुण्यद्विपयूथबन्धनवारिरकम्पनसूरिः समायातः। तदुपासनाय चास्योज्जयिनीजनस्य महामहावहश्चित्तोत्साहः[14]' इत्याकर्ण्य प्रतूर्णमेतत्पादवन्दनोद्यतहृदयस्तत्र गमनाय तं मिथ्यात्वप्रबलतालताश्रयक[15]लिं बलिमपृच्छत्।

८ वात्सल्य अंगमें प्रसिद्ध विष्णुकुमार मुनिकी कथा

इसके विषयमें एक कथा है उसे सुनें—

अवन्ति देशकी विशाला नगरीमें जयवर्म नामक राजा राज्य करता था। उसके चार मंत्री थे शुक्र, बृहस्पति, प्रह्लाद और बलि। शुक्र बौद्ध शास्त्रमें निष्णात था, बृहस्पति चार्वाक दर्शनमें बृहस्पतिके तुल्य था, प्रह्लाद शैव था और बलि वेदविद्यामें पारंगत था।

एक बार समस्त शास्त्रोंमें पारंगत और परम तपस्वी अकम्पनाचार्य पाँच सौ मुनियोंके संघके साथ सर्वजनानन्दन नामके उपवनमें आकर ठहरे। अपने आकाशचुम्बी महलके ऊपरसे आचार्यकी चरण पूजाके लिए बड़े उत्साहके साथ राजमार्गसे जाते हुए पुरवासियोंको देखकर राजा विचारने लगा—असमयमें ये पुरवासी उद्यानकी ओर क्यों जाते हैं?

इतनेमें ही सब ऋतुओंके फल-फूल हाथमें लेकर वनपाल उपस्थित हुआ और बोला—'स्वामी! नगरके उपवनमें बड़े भारी मुनि-संघके साथ सब जीवोंको आनन्द देनेवाले, अपने अमृत मय वचनोंकी वर्षासे चन्द्रमाको भी तिरस्कृत करनेवाले अकम्पनाचार्य गुरु पधारे हैं। उनके तपके प्रभावसे आई हुई समस्त ऋतुओंने उपवनको पृथिवीका नन्दनवन बना दिया है। उनकी उपासनाके लिए उज्जैनीवासियोंका उत्साह उमड़ पड़ा है।'

यह सुनकर राजाका मन उनके चरणोंकी वन्दना करनेके लिए आतुर हो उठा। राजाने

---

१. अमृतभोजना देवाः। २. उज्जयिन्याम्। ३. इन्द्रेण। ४. -णमण–ज० द०। ५. त्रिभुवनस्य। ६. स्थितवतः। ७. गर्वित। ८. उत्सव। ९. षड्ऋतु। १०. वृक्षे। ११. सम्पादितः सम्यगूहो विचारो येन। १२. चन्द्रः। १६. दर्पण। १४. महापूजाकारकः। १५. विभीतकवृक्षम्।

सद्धर्मधुरोद्धरणर्गलिर्बलिः—'देव,

न वेदादपरं तत्त्वं न श्राद्धादपरो विधिः ।
न यज्ञादपरो धर्मो न द्विजादपरो यतिः' ॥२१८॥

सन्मार्गसर्गोच्छेदकः प्रह्लादकः—

'अद्वैतान्न परं तत्त्वं न देवः शङ्करात्परः ।
शैवशास्त्रात्परं नास्ति भुक्तिमुक्तिप्रदं वचः ॥२१९॥

तथा नास्तिक्याधिक्यवाक्यवाचस्पती शुक्रबृहस्पती अपि राज्ञे स्वप्रज्ञां विज्ञापयामासतुः । मनागन्तःक्षुभितमतिः क्षितिपतिः—'अहो दुर्जनतालतालम्बनकुजा द्विजाः, किं ममैव पुरतो भवतां भारती प्रगल्भते, किं वा बुधप्रवेकस्य लोकस्यापि ?

सन्नीतिवसुमतीविदारणहलिर्बलिः—'इलापाल, यदि तवास्मन्मनीषोत्कर्षविषये सेर्ष्यं मनः, तदास्तां तावदभ्यस्तशास्त्रप्रवीणप्रज्ञः परः प्राज्ञः । किं तु सर्वज्ञस्यापि वादिवादे पुरस्तात्परिगृहीतविधानवद्या एव' । स्थिरप्रकृतिः क्षोणीपतिः—'यद्येवं शूराणां कातराणां च रणे व्यक्तिर्भविष्यति' इत्यभिधायानन्ददुन्दुभिरवोपार्जितपरिजनपूजोपकरणो विजयशेखरं नाम करिणमारुह्यान्तःपुरानुगमग्राह्योऽतिवाह्य नगरमार्गमुपगतारामसीमसंसर्गः, ततः करिणोऽवतीर्य गृहीतार्यवेषपरिकरः कतिपयाप्तपरिवारपुरःसरस्तं व्रतविधानवद्यं भगवन्तं

मुनियोंके पास चलनेके लिए बलि मंत्रीसे पूछा । सच्चे धर्मकी धुराको उखाड़ फेंकनेमें पटु बलि बोला—'राजन्, वेदसे उत्कृष्ट कोई तत्त्व नहीं है । श्राद्धसे बढ़कर कोई दूसरी विधि नहीं है । यज्ञसे बड़ा कोई दूसरा धर्म नहीं है और ब्राह्मणसे बढ़कर दूसरा कोई यति नहीं है' ॥२१८॥

सन्मार्गका नाशक प्रह्लाद मंत्री बोला—

'अद्वैतसे उत्कृष्ट दूसरा कोई तत्त्व नहीं है, शंकरसे बड़ा दूसरा कोई देवता नहीं है । और शैव शास्त्रसे बढ़कर दूसरा कोई भुक्ति और मुक्तिको देनेवाला शास्त्र नहीं है' ॥२१९॥

नास्तिक शिरोमणि शुक्र और बृहस्पतिने भी राजासे अपना अभिप्राय कहा । थोड़ा क्षुब्ध होकर राजा बोला—'अहो दुर्जनरूपी लताके आधारभूत द्विज वृक्षो, क्या मेरे ही सामने आपकी जबान चलती है या विद्वानोंके सामने भी कुछ बोल सकते हैं ?'

बलि बोला—'राजन् ! यदि हमारी बुद्धिके वैशिष्ट्यके विषयमें आपके मनमें ईर्ष्या है तो समस्त शास्त्रोंमें प्रवीण विद्वान्की तो बात ही क्या, सर्वज्ञ भी यदि वादी हो तो उसके सामने भी हमारी विद्या निर्दोष उतरेगी ।'

'यदि ऐसा है तो शूर-वीर और कायरकी पहचान रणमें ही होगी ।' ऐसा कहकर उस स्थिरस्वभाव राजाने आनन्द सूचक भेरी बजवायी । उसे सुनकर उसके परिवारके लोग पूजाकी सामग्री ले-लेकर आ गये । तब राजा विजयशेखर नामके हाथीपर चढ़कर चल दिया और नगरके बाहर उद्यानकी सीमामें पहुँचते ही हाथीसे उतर पड़ा । तथा अपने

---

१. दुष्टवृषः । २. महत् हलम् । ३. भूपाल । ४. वादिनः । ५. बहिर्नगरमार्गमतिबाह्य अतिक्रम्य । ६. संप्राप्तमुनिवनसीमसंगः ।

यथावदभिवन्द्य समाचरितनीचासनपरिग्रहः सविनयाग्रहं स्वर्गापवर्गमार्गस्वरूपनिरूपणपरायणः सद्धर्मसनाथां कथां प्रथयामास।

सत्कर्मवंश[1]प्रभिदलिर्बलिः—'स्वामिन्, कोऽयं स्वर्गापवर्गास्तित्वसंग्रहे[2] देवस्य दुराग्रहः, यतो द्वादशवर्षा स्त्री षोडशवर्षः पुरुषः। तयोरन्योन्यमनन्यसामान्यस्नेहरसोत्सेकप्रादुर्भूतिः प्रीतिः प्रत्यक्षसमधिसर्गः स्वर्गो न पुनरदृष्टः कोऽपीष्टः स्वर्गः समस्ति'।

गुणभूरिः सूरिः—'सकले[3] प्रमाणबले[4] बले, किं प्रत्यक्षताधिकरणमेकमेव प्रमाणं समस्ति'। नास्तिकेन्द्रमनोरथरथमातलि[5]र्बलिः—'अखिलश्रुतधरोद्धारादिपुरुषविदुष, एकमेव'। भगवान्—'कथं तर्हि भवतः पित्रोर्विवाहाद्यस्तित्वतन्त्रम्, कथं वा तवादृश्यानां वंश्यानामवस्थितिः, स्वयमप्रत्यक्षप्रमेयत्वादाप्तपुरुषोपदेशाश्रितौ स्वपक्षपरिक्षतिः परमतोत्सवकृतिश्च।

बलिभट्टो भट्ट[6] इवेतस्ततमितो मदोत्कटः करटीति संकटप्रघट्टकमापतितः परं सभाजनसभाजनकर[7]मुत्तरमपश्यन्नश्लीलमसभ्यसर्गं निरर्गलमार्गं किमपि तं भगवन्तं प्रत्युवाच। क्षितिपतिरतीव मन्दाक्ष[8]विक्षिप्तवीक्षणो मुमुक्षुसमक्षमासन्नाशिव[9]ताशनिसंघट्टं बलिभट्टं प्रतिष्ठाभङ्गभयात्किमप्यनभिलप्य[10] 'भगवन्, संपन्नतत्त्वसंबन्धस्य निजस्खलितप्रवृत्तचित्तमहामोहान्धस्य सद्धर्मध्वंसहेतोर्जन्तोर्निसर्गस्थैर्यमेरुषु गुणगुरुषु न खलु दुरपवादकरणात्परमव-

---

परिवारके कुछ आप्त पुरुषोंके साथ आचार्यके पास जाकर और उनके चरणोंकी वन्दना करके एक नीचे आसनपर बैठ गया और विनयपूर्वक स्वर्ग और मोक्षका स्वरूप बतलानेकी प्रार्थना करके चुप हो गया। आचार्यने स्वर्ग और मोक्षका निरूपण करते हुए धर्म चर्चा की। तब बलि बोला—'स्वामी! स्वर्ग और मोक्षका अस्तित्व माननेका दुराग्रह आप क्यों करते हैं? बारह वर्षकी स्त्री और सोलह वर्षके पुरुषका परस्परमें जो असाधारण प्रेमरस उत्पन्न होता है उसे प्रीति कहते हैं। यह प्रीति ही साक्षात् स्वर्ग है, उससे भिन्न कोई दूसरा अदृश्य स्वर्ग नहीं है।' आचार्य—बलि! क्या एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही है?

बलि—'हाँ, समस्त श्रुतरूपी पृथिवीका उद्धार करनेवाले आदि पुरुषके तुल्य विद्वन् महात्मन्, एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है।'

आचार्य—तो फिर तुम्हारे माता पिताने विवाह किया था इत्यादिमें क्या प्रमाण है? और तुम्हारे पूर्व पुरुष थे इसमें भी क्या प्रमाण है? यदि कहोगे कि जो वस्तुएँ हमारे प्रत्यक्षमें नहीं हैं उन्हें हम प्रामाणिक पुरुषोंके कथनसे मानते हैं तो ऐसा माननेमें तुम्हारे पक्षकी हानि होती है और हमारे मतकी पुष्टि होती है।

इस उत्तरको सुनकर बलि संकटमें पड़ गया और सदस्योंके लिए प्रीतिकर उत्तर न सूझने पर असभ्य वचन बकने लगा। यह देखकर राजाकी आँखें शरमसे गड़ गईं। किन्तु प्रतिष्ठाके भङ्ग होनेके भयसे उसने मुनिजनोंके सामने बलिसे कुछ भी नहीं कहा और बोला—'भगवन्! जिसका चित्त महामोहसे अन्धा हो रहा है और जो समीचीन धर्मको ध्वंस करनेपर तत्पर है तथा वर्तमान

---

१. वेणुः तत्र प्रभित् भेदने अलिर्भ्रमरः। २. निश्चयः। ३. सह कलिना वर्तते हे। ४. प्रमाणे बलिः पूजा यस्य सः हे। ५. इन्द्रसारथिः। ६. बलीवर्दवत्। ७. प्रीतिकरम्। ८. लज्जा। ९. अकल्याण। १०. अनुक्त्वा।

साने प्रहरणमस्ति' इति वचनपुरःसरं कथान्तरमनुबध्य साधु समाराध्य च प्रशान्ति हैमवती-प्रभवगिरिमकम्पनसूरिं विनेयजनसंभावनौचित्यक्षया तदनुज्ञयात्मसदनमासाद्यापरेद्युरपर-दोषमिषेण सनिकारकरणमनुजैः सह कर्मस्कन्धबन्धवार्द्धलिं बलिं निजदेशान्निर्वासयामास।

भवतश्चात्र श्लोकौ—

सर्वसंश्च समावेव यदि चित्तं मलीमसम्।
यात्यशान्तेः क्षयं पूर्वः परश्चाशुभचेष्टितात् ॥२२०॥
स्वमेव हन्तुमीहेत दुर्जनः सज्जनं द्विषन्।
योऽधितिष्ठेत्तुलामेकः किमसौ न व्रजेदधः ॥२२१॥

इत्युपासकाध्ययने बलिनिर्वासनो नामैकोनविंशः कल्पः।

बलिद्विजः सानुजस्तथा सकलजनसमक्षमसूक्ष्मसूक्ष्मणपूर्वकं निर्वासितः सन्मुनि-विषयरोषोन्मेषकलुषितः कुरुजाङ्गलमण्डलेषु तद्विलासिनीजलकेलिविगलितकालेयपाटल-कल्लोलाधरसुरसरित्सीमन्तिनीचुम्बितपर्यन्तप्रसरे हस्तिनागपुरे साम्राज्यलक्ष्मीमिव लक्ष्मी-मतीं महादेवीमवहाय सरस्वतीरसावगाहसागरस्य श्रुतसागरस्य भगवतोऽभ्यर्णे पितृ-विनयविष्णुना विष्णुना लघुजन्मना सूनुना सार्धं प्रवर्धितदीक्षापद्मस्य महापद्मस्य मही-पतेर्महान्तं पद्मनामनिलयं तनयमशिश्रियत्। पद्मोऽपि चारसंचाराद्विदितवंशविद्याप्रभावाय

तत्त्वोंसे ही सम्बन्ध रखता है उस मनुष्यके पास मेरुके समान स्थिर आप सरीखे गुरुओंका अपवाद करनेके सिवा दूसरा हथियार नहीं है।'

इस प्रकार चर्चाका प्रसङ्ग बदलकर, और परम शान्तिरूपी गंगा नदीके उद्गमके लिये हिमवान् पर्वतके तुल्य अकम्पनाचार्यकी शिष्यजनोंके योग्य आराधना करके तथा आज्ञा लेकर राजा अपने महलोंमें लौट आया। और दूसरे दिन अन्य अपराधके बहानेसे बलिको उसके साथी मंत्रियोंके साथ तिरस्कारपूर्वक देशसे निर्वासित कर दिया।

इस विषयमें दो श्लोक हैं जिसका भाव इस प्रकार है—'यदि चित्त मलीन है तो सज्जन और दुर्जन दोनों समान हैं। उनमेंसे सज्जन तो अशान्तिके कारण नष्ट हो जाता है और दुर्जन बुरे कार्योंके करनेसे नष्ट हो जाता है। क्योंकि सज्जनसे द्वेष करनेवाला दुर्जन स्वयं अपने ही घातकी चेष्टा करता है। ठीक ही है जो अकेला ही तराजूमें बैठ जाता है वह नीचे क्यों नहीं जायेगा' ॥२२०-२२१॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें बलिके देशनिर्वासनका वर्णन करनेवाला उन्नीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

समस्त लोगोंके सामने महान् तिरस्कारपूर्वक अपने साथियोंके साथ निर्वासित किये जानेपर बलि मुनियोंसे अत्यन्त रुष्ट हो गया और कुरुजांगल देशके हस्तिनागपुर नामके नगरके राजा पद्मकी शरणमें पहुँचा। राजा पद्मके पिता महापद्मने अपने बड़े पुत्र विष्णुके साथ श्रुतसागर मुनिके समीपमें जिनदीक्षा धारण कर ली थी और छोटे पुत्र पद्मको राज्यभार सौंप दिया था।

पद्मने गुप्तचरोंके द्वारा बलिको कुलीन और विद्वान् जानकर उसे अपना मंत्री बना

१. गंगानदी। २. गजागमाचार्यम्। ३. सज्जनदुर्जनौ। ४. क्रोधात् सत्पुरुषः क्षयं याति। ५. दुर्जनः। ६. बृहत्। ७. पराभव। सूर्क्षण–आ०। ८. कुंकुम। ९. गंगा एव सीमन्तिनी। १०. परित्यज्य। ११. विस्तारकेण। १२. सम्पदः।—दीक्षापद्मस्य मही–अ० ज० मु०।

तस्मै बलिसचिवाय सर्वाधिकारिकं स्थानमदात्।

बलिः—'देव, गृहीतोऽयमनन्यसामान्यसंभावनाह्लादः प्रसादः किंतु कर्णेजपवृत्तीनां लञ्चलुञ्चनोचितचेतःप्रवृत्तीनां च प्रायेण पुरुषाणां नियोगिपदं हृदयास्पदं न शौर्योर्जितचित्तस्योदारवृत्तस्य च तदसाध्यसाधनेन नन्वयं जनो निदेशदानेनानुगृहीतव्यः'। पद्मः—'सत्यमिदम्' किं तु स्वामिसमीहितसमर्थनसंवीणेषु[1] भवद्विधेषु सचिवेषु सत्सु किं नामासाध्यं समस्ति।'

अन्यदा तु कुम्भपुराधिकृतमूर्तिः सिंहकीर्तिर्नाम नृपतिरनेकायोधन[2]लब्धयशःप्रसाधनः संनद्धसारसाधनो हस्तिनागपुरावस्कन्दप्रदानायागच्छन्, पतञ्चरच्छन्नावसर्प[3]निवेदितागमनः पद्मनिदेशादभ्यमित्री[4]णप्रयाणपरायणेन कूटप्रकामकदन[5]कोविदधिषणेन बलिनाध्वमध्ये[6] प्रबन्धेन[7] युद्धयमानः, नार्मनिर्गमविधानैः[8] प्रधानैर्युद्धसिद्धान्तोपान्तैः सामन्तैश्च सार्धं प्रबध्य तस्मै हृदयशल्योन्मूलनप्रमदमतये क्षितिपतये प्राभृतीकृतः। क्षितिपतिः—'शस्त्रशास्त्रविद्याधिकरणव्याकरणपतञ्जले बले, निखिलेऽपि[9] बले चिरकालमनेकशः कृतकृष्ण[10]वदनच्छायस्यास्य द्विष्टस्य विजयान्वितान्तं तुष्टोऽस्मि। तद्याच्यतां मनोभिलाषधरो वरः'। बलिः—'अलक[11] यदाहं याचे तदार्य प्रसादीकर्तव्यः' इत्युदारमुदार्य पुनश्चतुरङ्गबलःप्रबलः प्रतिकूलभूपालविनयनाय पद्ममवनीपतिमादेशं याचित्वा सत्त्वरमशेषाशावशनिवेशानीकसूत्रितसकलमहीतलो दिग्विजयया-

लिया और सब अधिकार उसे दे दिया।

बलि बोला—देव! आपने हमपर असाधारण अनुग्रह किया है। किन्तु चुगलखोरों और घूसखोरोंको यह बात सह्य नहीं हो सकती। अतः आप कोई ऐसा कार्य करनेकी हमें आज्ञा दें जो असाध्य हो।

पद्म—तुम्हारा कहना ठीक है किन्तु स्वामीके अभीष्टको पूरा करनेमें कुशल तुम्हारे जैसे मंत्रियोंके होते हुए कुछ भी असाध्य नहीं है।

एक बार कुम्भपुरका स्वामी सिंहकीर्ति राजा, जिसने अनेक युद्धोंमें नाम कमाया था, बड़े भारी लश्करके साथ हस्तिनागपुरपर आक्रमण करनेके लिए चला। गुप्तचरोंने उसके आनेका समाचार बलिसे निवेदित किया। बलि शत्रुपर आक्रमण करनेमें तथा कपट-युद्धमें बड़ा चतुर था। उसने पद्मकी आज्ञा लेकर शत्रुका सामना करनेके लिए कूच कर दिया और मार्गमें ही उसपर आक्रमण कर दिया। तथा विख्यात नामवाले प्रधानों और युद्ध करनेमें कुशल उसके सब सामन्तोंके साथ उसे बाँधकर राजा पद्मके सामने उपस्थित कर दिया। हृदयके इस काँटेके निकल जानेसे राजा पद्म बड़ा प्रसन्न हुआ और बोला—

राजा—'व्याकरणमें पतञ्जलिके समान शस्त्र विद्यामें निपुण बलि! समस्त सैन्यके होते हुए भी चिरकालसे अनेक बार मेरे मुखको काला करनेवाले इस शत्रुको जीतनेसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। जो तुम्हें माँगना हो माँगो।'

'जब मैं याचना करूँ तब महाराज मुझपर कृपा करें। ऐसा कहकर और राजा पद्मसे आज्ञा लेकर विरोधी राजाओंको वश करनेके उद्देश्यसे बलि बड़ी भारी सेनाके साथ दिग्विजयके

---

१. प्रवीणेषु। २. संग्राम। ३. प्रच्छन्नचराः। ४. शत्रु सन्मुख। ५. संग्राम। ६. नाब्ज–ब०। –नाब्धि–मु०। ७. मार्गरोधेन। ८. स्वकीयअंकणविरुदावलीसहितैः। ९. समस्तसैन्ये विद्यमानेऽपि। १०. अनेकबारं मम कृतमानभंगस्य ईदृग्विधस्य शत्रोर्विजयात्। ११. स्वामिन्।

र्थमुच्चचाल।

अत्रान्तरे विहारवशाद्भगवानकम्पनाचार्यस्तेन महता मुनिनिकायेन साकं हास्तिनपुरमनुसृत्योत्तरदिग्विलासिन्यवतंसकुसुमतरौ हेमगिरौ महावगाहायां गुहायां चातुर्मासीनिमित्तं स्थितिं बबन्ध। बलिरपि निखिलजलधिरोधः[1] सविधवनविनोदितवीरवधूहृदयो दिग्विजयं विधायागतस्तं भगवन्तमवबुध्य चिरकालव्यवधानेऽप्यलर्कविषनिषेक[2] इव जातप्रकोपोद्रेकस्तदपराधविधानाय[3] धराधीश्वरं पुरावितीर्णवरव्याजेन समाशाखाद्धमात्मैकशासनप्राज्यं राज्यमन्तःपुरप्रचारैश्वर्यमात्रसखतः पद्मतोऽभ्यर्थ्य मखमिषेण मुनिसैन्योजन्योत्कर्षं चिकीर्षुर्मदनद्रव्याधिकरणैरुपकरणैरग्निहोत्रमारेभे।

अत्रावसरे निजनिवासपवित्रितमिथिलापुरे जिष्णुसूरेरन्तेवासी भ्राजिष्णुर्नाम तमीमध्यसमये बहिर्विहितविहारः समीरमार्गे नक्षत्रवीथीं लोचनालोकनसनाथां विदधानश्चमूरुसंचारचकितगात्रं कुरङ्गकलत्रमिव, तरलतारकाश्रयणं श्रवणमवेक्ष्यान्तरिक्षे लक्ष्यं बध्वा किलैवमुच्चैरवोचत—'अहो, न जाने क्वचिन्महामुनीनां महानुपसर्गो वर्तते' इति। एतच्च श्रमणशरणगणी समाकर्ण्य प्रयुक्तावधिबोधस्तन्नगरगिरिगुहायामकम्पनाचार्यस्य बलिदुर्विलसितमवधार्याकार्यं च गगनगमनप्रभावं पुष्पकदेवं देशव्रतसेवम् 'हंहो पुष्पकदेव, तव विक्रयर्द्धेर्वैधुर्यान्न तदुपसर्गविसर्गे सामर्थ्यमस्ति। ततस्तथाविधर्द्धिवृद्धिरोचिष्णवे विष्णवे ताम-

लिए निकला।

इसी बीचमें भगवान् अकम्पनाचार्य बड़े भारी मुनिसंघके साथ विहार करते हुए हस्तिनागपुरमें पधारे और उत्तर दिशामें स्थित हेम पर्वतकी विशाल गुफामें चातुर्मास करनेके लिए ठहर गये। बलि भी समस्त समुद्रोंके तट तक दिग्विजय करके लौट आया। जैसे बहुत समय बीत जानेपर भी पागल कुत्तेके काटेका जहर चढ़ जाता है वैसे ही मुनिसंघके आनेका समाचार जानकर उसे क्रोध चढ़ आया। पुराना बदला चुकानेके लिए उसने राजा पद्मसे पहले दिये हुए वरका स्मरण दिलाकर पन्द्रह दिनके लिए राज्य माँग लिया। राज्य देकर राजा पद्म अन्तःपुरमें रहने लगा। और बलिने यज्ञके बहानेसे मुनियोंको त्रास देनेके लिए मद्य, मांस आदिके द्वारा अग्निहोत्र करना प्रारम्भ किया।

इधर यह काण्ड चालू था उधर मिथिलापुरीमें जिष्णुसूरिका शिष्य भ्राजिष्णु रात्रिके मध्यमें बाहर बैठा था और आकाशमें नक्षत्र-मण्डलकी ओर देख रहा था। जैसे व्याघ्रके संचारसे हिरणी भयभीत हो जाती है वैसे ही श्रवण नक्षत्रको काँपता हुआ देखकर आकाशमें दृष्टि जमाये हुए वह जोरसे चिल्लाया—'आह, न जाने कहाँ महामुनियोंपर उपसर्ग आया है।'

यह सुनकर आचार्यने अपने अवधिज्ञानसे जाना कि हस्तिनागपुरके निकटवर्ती पर्वतकी गुफामें अकम्पनाचार्यके संघके ऊपर बलि घोर उपसर्ग कर रहा है। उन्होंने तुरन्त ही आकाशमें गमन कर सकनेवाले पुष्पकदेव नामक क्षुल्लकको बुलाया और बोले—

'पुष्पकदेव! तुम्हारे पास विक्रिया ऋद्धि नहीं है इस लिए तुम उस उपसर्गको दूर नहीं

१. तटसमीप। २. उष्णकाले शुना दष्टः, वर्षाकाले उदयमागच्छति तद्विषम्। ३. तेषां मुनीनां विराधना निमित्तम्। ४. पक्षैकम्। ५. उपसर्गम्। ६. मद्यमांस। ७. रात्रिः। ८. –तहारः ज० अ०। ९. गगने। १०. चमूर–अ० ज०। व्याघ्र। ११. श्रमणानां शरणीभूतश्चासौ गणी सूरिः।

दृष्टविशिष्टतामिवात्मस्थितामप्यविदुषे[1] निवेद्य तदुपसर्गापवर्गा[2]यास्मत्सर्गा[3]न्नियोजयितव्यः' । पुष्पकदेवस्त्रिदशोचितचरणसेवस्य तस्य महर्षेर्भाषितात्तं देशमासाद्य विष्णुमुनये तथाविधर्द्धिवृत्तिं गुरुनिदेशप्रवृत्तिं च प्रतिपादयामास । विष्णुमुनिः प्रदीप इव स्फाटिकभित्तिमध्यलब्धप्रसरेण किरणनिकरेण वारिधिवज्रवेदिकानिर्भेदनेन मानुषोत्तरगिरिपर्यन्तसंवेदनेन मनुष्यक्षेत्रसूत्रपातविडम्बनकरेण करेणोर्णनाभ इव तन्तुनिकाये काये स्ववशाश्रयया व्यास-समासक्रियया च तां[4]मवगम्योपगम्य च हास्तिनपुरं 'न खल्वनिवेद्य निखिलवर्णिवर्णाश्रम-पालाय मध्यमलोकपालायामर्षप्रवृत्ततन्त्रेण हुंकारमात्रेणाप्याकम्पितजगत्त्रयाः प्रसंख्यानवन-विध्वंसदावे तपःप्रभावे दुर्जनविनयनार्थमभिनिविशन्ते यतीशाः' इति च परामृश्य, प्रविश्य च पुरैव चिरपरिचितकञ्चुकिसूचितप्रचारोऽन्तःपुरं, पद्ममहीपते, राजधानीष्वरण्यानीषु वा तपस्यतः संयतलोकस्य न खलु नरेश्वरात्परः प्रायेणास्ति गोपायिता । तत्कथं नाम तृणमात्रेऽप्यनपराधमतीनां यतीनामात्मन्यशुभलोकनिषेकसर्गमुपसर्गं सहसे इत्युक्तम् । 'भगवन्, सत्यमेवैतत् । किंतु कतिचिद्दिनानि बलिरत्र राजा नाहम्' इति प्रत्युक्तियुक्तस्थितिं पद्मनृपति-मवमं[5]त्य 'छलेन खलु परेषु प्रायेण फलोल्लासनशीलास्तपःप्रभवर्द्धिलीलाः' इति चावगत्य शाला-

कर सकते । अतः विक्रिया ऋद्धिके धारक विष्णु मुनिके पास जाओ । यद्यपि उन्हें ऋद्धि प्राप्त हो चुकी है किन्तु उन्हें यह बात ज्ञात नहीं है । तुम जाकर उनसे कहो और हमारे आदेशसे उन्हें उस उपसर्गको दूर करनेके लिए नियुक्त करो ।'

इन्द्रके पूजने योग्य उन महर्षिके कहनेसे पुष्पकदेव विष्णु मुनिके पास पहुँचा और उनसे विक्रिया ऋद्धि उत्पन्न होनेकी बात तथा गुरुकी आज्ञा कह दी । विष्णु मुनिने अपने हाथको मानुषोत्तर पर्वत तक फैलाकर तथा फिर संकोचकर विक्रिया ऋद्धिकी परीक्षा की और हस्तिनागपुर जा पहुँचे ।

'मुनियोंके तपका प्रभाव उस दावाग्निके समान है जो असंख्य जंगलोंको जलाकर राख कर देती है । यदि मुनि क्रोधमें आकर हुंकार मात्र कर दें तो उनके हुंकार मात्रसे तीनों लोक काँप जाते हैं । किन्तु वे समस्त वर्णाश्रम धर्मके पालक राजासे कहे विना दुर्जनको दण्ड देनेका प्रयत्न नहीं करते ।' यह सोच विष्णु मुनि राजमहलमें पहुँचे । पुराने परिचित द्वारपालने जैसे ही उन्हें आते देखा तत्काल राजा पद्मसे उनके आनेका समाचार कहा ।

विष्णु मुनि बोले—'राजा पद्म ! राजधानियोंमें अथवा वनोंमें तपस्या करनेवाले मुनि-जनोंका रक्षक राजाके सिवा अन्य कोई नहीं है । अतः तृणमात्रका भी अपराध न करनेवाले मुनियोंपर दुर्जनोंके द्वारा किये जानेवाले उपसर्गको तुम कैसे सहन कर रहे हो ?'

'भगवन् ! आपका कहना ठीक है । किन्तु कुछ दिनोंके लिए यहाँका राजा बलि है, मैं नहीं ।' पद्मने उत्तर दिया ।

इस उत्तरको सुनकर उन्होंने राजा पद्मकी स्थितिको जाना और यह सोच कि प्रायः तपके प्रभावसे उत्पन्न हुई ऋद्धिका चमत्कार यदि दूसरोंपर छलसे प्रकट किया जाये तो वह फलदायक होता है, विष्णु मुनिने वामन रूप बनाया और यज्ञ भूमिमें जाकर मधुर कण्ठसे साम वेदका गान करने लगे ।

---

१. अजानते । २. मोचनाय । ३. आदेशात् । ४. विक्रियर्द्धि । ५. अवगणय्य ।—मवगत्य अ० ज० ।

जिरसंपुटकोटरावकाशः प्रदीपप्रकाश इव संजातवामनाकृतिः सततन्तुवसुमतीमनुसृत्य मधुरध्वनिः तृतीयेन[2] सवनेन प्राध्ययनं व्यधात् ।

बलिर्जलधरध्वानबन्धुरं वाक्प्रसरं सिन्धुर[3] इव निभृतकर्णो निर्वर्ण्य 'कोऽयं खलु वेदवाचि विरिञ्चे[4] इवोच्चारचतुरः[5]' इति कुतूहलितहृदयः सत्रनिलयान्निर्गत्य वयसि च निश्चिताश्चर्यसौन्दर्यं द्विजवर्यमेनमवादीत्—'भट्ट, किमिष्टं वस्तु चेतसि निधाय प्राधीषे[6]'। 'बले, दायादविलुप्तालयत्वात्तदर्थं पादत्रयप्रमाणकलमवनितलम् । द्विजोत्तम निकामं दत्तम्' । 'यद्येवं बहुमानयजमान, विधीयतामुदकधारोत्तरप्रवृत्तिः दत्तिः' । बलिः प्रबलामालूं[7]मादाय 'द्विजाचार्य, प्रसार्यतां हस्तः' इत्युक्तवति शुक्रः संक्रन्दनमिव कुलिशनिकेतनम्, प्रासादमिव कलशाह्लादम्, जलाशयमिव मत्स्याश्रयम्, सरिन्नाथमिव[9] शङ्खसनाथम्, विरहिणीवासरगणनकुड्यप्रदेशमिवोर्ध्वरेखावकाशम्, नारायणमिव चक्रलक्षणम्, यज्ञोपकरणमिव यवाधिकरणम्, जलयानपात्रमिव निश्छिद्रतामत्रम्, स्तम्बेरमकरमिव दीर्घाङ्गुलिप्रसरम्, वंशकिशलयमिवानुपूर्वीप्रवृत्तपर्वसंचयम्, कमलकोशमिवारुणप्रकाशनिवेशम्, विद्रुमभङ्गाभोगमिव स्निग्धपाटलनखराग्रं लक्ष्मीलताविर्भावोदयं शयमुपलक्ष्य, बले न खल्वयमेवंविधपाणितलसंबन्धो गोधः[10]

मेघकी ध्वनिके समान सुन्दर वचन-विलासको हाथीकी तरह कान लगाकर सुननेपर बलिको कौतूहल हुआ कि ब्रह्माके समान वेदका पाठ करनेमें चतुर यह कौन है ? वह तुरन्त ही यज्ञमण्डपसे बाहर आया और विष्णु मुनिके आश्चर्यजनक वामन रूपको देखकर बोला—'ब्राह्मणश्रेष्ठ ! किस इष्ट वस्तुकी इच्छा चित्तमें रखकर यह वेदपाठ करते हो ?'

'बलिराज ! मेरा घर हिस्सेदारों ने छीन लिया है । उसके लिए केवल तीन पैर जमीन चाहता हूँ ।'

'द्विजोत्तम ! मैं तुम्हें तीन पैर जमीन देता हूँ ।'

'तो माननीय यजमान ! जलकी धारा पूर्वक दानका संकल्प कर दें ।'

एक बड़ी झारी हाथमें लेकर बलि बोला—'द्विजाचार्य ! हाथ फैलाइये ।'

जैसे ही वामन रूप धारी विष्णु मुनिने हाथ फैलाया, शुक्राचार्यकी दृष्टि उसपर पड़ी । इन्द्रकी तरह वज्रसे युक्त, महलकी तरह कलशसे विशिष्ट, सरोवरकी तरह मछली युक्त, समुद्रकी तरह शंख सहित, विरहिणी स्त्रीके द्वारा अपने पतिके वियोगके दिनोंको गिननेके लिए दीवारपर खींची गई ऊर्ध्व रेखाओंकी तरह ऊर्ध्व रेखासे युक्त, विष्णुकी तरह चक्रसे चिह्नित, यज्ञके उपकरण भूत यवों (जौ) की तरह अँगूठेमें यवाकार रेखासे युक्त, पानी पर चलनेवाले जहाजकी तरह छिद्ररहित, हाथीकी सूँड़की तरह लम्बी अँगुलियोंवाले, बाँसके नये पत्तोंकी तरह पर्व और ग्रन्थिसे सहित, कमलके कोशकी तरह लालिमायुक्त और मूँगोंकी तरह गुलाबी रंगवाले नखोंके अग्रभागसे शोभित हस्तको देखकर अर्थात् वज्र, कलश, मछली, शंख, चक्र, उर्ध्वरेखा और जौ आदि शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न, छिद्र रहित और लम्बी अँगुलियों और लाल-लाल नखों युक्त

१. यज्ञभूमि । २. उदात्तस्वरेण । ३. गजवत् । ४. ब्रह्मा । ५. च्चारणच–आ० । ६. प्राध्ययनं कुरुषे । ७. भृङ्गारं । ८. इन्द्र । ९. समुद्र । १०. पुरुषः ।

परेषां याचिता किं तु याच्य इति वचनवक्रं शुक्रमवगणय्य बलिः स्वकीयां दत्तिमुदकधारोत्तरामकार्षीत्।

तदनु स विष्णुमुनिर्विरोचनविरोकनिकर इवाक्रमेणोर्ध्वमधश्चानवधिवृद्धिपरः, पर्वतस्योभयतः प्रवृत्तापगाप्रवाह इव तिरःप्रसरद्देहः, कायधरमेकमकूपारवज्रवेदिकायां निधाय परं च क्रमं चक्रवालचूलिकायां पुनस्तृतीयस्य मेदिनीमलभमानस्तपनरथस्खलनसेतुना सुरसरित्तुरीयस्रोतोहेतुना संपादितद्विविजसुन्दरीचरणमार्गविभ्रमेण समाचरितखेचरीचेतःसंभ्रमेण भूगोलगौरवपरिच्छेदे तुलादण्डविडम्बनेन चरणेन क्षोभितान्तरिक्षचरपुरकक्षः किन्नरामरखचरचारणादिवृन्दैर्वन्द्यमानपादारविन्दः संयतजनोपकाररसारस्वकीयर्द्धिवृद्धिपरितोषितमनीषैर्व्यन्तरानिमिषैरकारणखलतालतास्थलिं बलिं सबान्धवमबन्धयत्। प्रावेशयच्च सदेहं रसातलगेहम्।

भवति चात्र श्लोकः—

महापद्मसुतो विष्णुर्मुनीनां हास्तिने पुरे।
बलिद्विजकृतं विघ्नं शमयामास वत्सलः ॥२२२॥

इत्युपासकाध्ययने वात्सल्यरचनो नाम विंशतितमः कल्पः

हाथको देखकर शुक्राचार्य बोले—'बलि ! इस प्रकारका हाथवाला मनुष्य मांगता नहीं है किन्तु उल्टे उससे माँगा जाता है।'

किन्तु बलिने शुक्राचार्यके कहनेपर ध्यान नहीं दिया और जलकी धारा डालकर तीन पैर जमीनका संकल्प कर दिया।

इसके बाद सूर्यकी किरणोंके समान विष्णु मुनिका शरीर एकदमसे ऊपर नीचे बढ़ने लगा। उन्होंने एक पैर तो समुद्रकी वेदिकापर रखा, दूसरा मानुषोत्तर पर्वतकी चोटीपर रखा, और जगह न मिलनेसे सूर्यके रथकी गतिमें प्रतिबन्धक, गंगानदीकी चौथी धाराको उत्पन्न करनेमें हेतु, देवांगनाओंके चरणमार्गका भ्रम उत्पन्न करनेवाले, विद्याधरोंकी स्त्रियोंके चित्तमें संशयके जनक तथा पृथ्वीकी नापनेके लिए मापकके तुल्य तीसरे चरणसे विद्याधरोंके नगरोंमें हलचल मच गई। व्यन्तर देवताओंने और विद्याधरों आदिने आकर उनके चरणोंकी वन्दना की। मुनियोंका उपसर्ग दूर करनेमें अपनी विक्रिया ऋद्धिका प्रयोग करनेके कारण व्यन्तर देव उनसे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने बलिको उसके बन्धु-बान्धवोंके साथ बाँध लिया तथा उन्हें सशरीर रसातलको पहुँचा दिया।

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

'महापद्म राजाके पुत्र धर्मप्रेमी विष्णु मुनिने हस्तिनागपुरमें बलिके द्वारा मुनियोंपर किया गया उपसर्ग दूर किया ॥२२२॥'

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें वात्सल्य अंगका कथन करनेवाला बीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

---

१. अन्यैर्याचनीयः। २. सूर्यकिरण। ३. सर्वतस्यो-अ० ज०। ४. चरणम्। ५. मानुषोत्तर। ६. सूर्य। ७. चतुर्थ। गंगा किल त्रिपथगा। ८. भ्रान्तिना।

निसर्गोऽधिगमो[1] वापि तदाप्तौ कारणद्वयम् ।
सम्यक्त्वभाक्पुमान्यस्मादल्पानल्पप्रयासतः ॥२२३॥

उक्तं च—

"आसन्नभव्यताकर्महानिसंज्ञित्वशुद्धपरिणामाः ।
सम्यक्त्वहेतुरन्तर्बाह्योऽप्युपदेशकादिश्च ॥२२४॥

एतदुक्तं भवति—कस्यचिदासन्नभव्यस्य[2] तन्निदान[3]द्रव्यक्षेत्रकालभावभवसंपत्सेव्यस्य विधूतैतत्प्रतिबन्धकान्धकारसंबन्धस्यात्त[4]शिक्षाक्रियालापनिपुणकरणा[5]नुबन्धस्य नवस्य भाजनस्येवासंजातदुर्वासनागन्धस्य झटिति यथावस्थितवस्तुस्वरूपसंक्रान्तिहेतुतया स्फाटिकमणिदर्पणसगन्धस्य[6] पूर्वभवसंभालनेन[7] वा वेदनानुभवनेन वा धर्मश्रवणाकर्णनेन वार्हत्प्रतिनिधिनिध्यानेन वा महामहोत्सवनिर्हालनेन[8] वा महर्द्धिप्राप्ताचार्यवाहनेन वा नृषु नाकिषु[9] वा तन्माहात्म्यसंभूतविभवसंभावनेन वान्येन वा केनचित्कारणमात्रेण विचारकान्तारेषु मनोविहारास्पदं खेदमनापद्य यदा जीवादिषु पदार्थेषु याथात्म्यसमवधानं श्रद्धानं भवति तदा प्रयोक्तुः सुकरक्रियत्वाल्लूयन्ते शालयः स्वयमेव, विनीयन्ते कुशलाशयाः स्वयमेव,

सम्यग्दर्शनका वर्णन

सम्यग्दर्शन दो प्रकारसे होता है—एक तो परोपदेशके बिना स्वयं ही हो जाता है और दूसरे, परोपदेशसे होता है। क्योंकि किसी पुरुषको तो थोड़ा-सा प्रयत्न करनेसे ही सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है और किसीको बहुत प्रयत्न करनेसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है ॥२२३॥

कहा भी है—

'सम्यक्त्वके अन्तरंग कारण निकट भव्यता, ज्ञानावरणादिक कर्मोंकी हानि, संज्ञीपना और शुद्ध परिणाम है; तथा बाह्य कारण उपदेश वगैरह हैं' ॥२२४॥

आशय यह है कि जो कोई निकट भव्य है, सम्यग्दर्शनके योग्य द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव और भवरूपी सम्पत्तिकी जिसे प्राप्ति हो गई है, उसमें किसी तरहकी रुकावट डालने वाला कोई प्रतिबन्धक नहीं रहा है, शिक्षा, क्रिया, बातचीतको ग्रहण करनेमें निपुण पाँचो इन्द्रियों और मनसे जो युक्त है अर्थात् संज्ञी पंचेन्द्रिय है, नये बरतनकी तरह जिसमें दुर्वासनाकी गन्ध नहीं है, वस्तुका जैसा स्वरूप है वैसा ही स्वरूप दर्शानेके लिए जो स्फटिक मणिके दर्पणके समान स्वच्छ है, ऐसे जीवके पूर्वभवके स्मरणसे, कष्टोंके अनुभवसे, धर्मके श्रवणसे, जिनबिम्बके दर्शनसे, महामहोत्सवोंके अवलोकनसे, ऋद्धिधारी आचार्योंके दर्शन करनेसे, मनुष्यों तथा देवोंमें सम्यक्त्वके माहात्म्यसे उत्पन्न हुए विभवको देखनेसे या अन्य किसी कारणसे विचाररूपी वनमें मनको न भटका कर जब जीवादिक पदार्थोंमें ज्यों-का-त्यों श्रद्धान होता है तो उस सम्यग्दर्शनको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं। क्योंकि जैसे धान्य स्वयं ही कट जाते हैं अथवा सदाशयी स्वयं ही विनीत हो जाते हैं उसी तरह उसमें कर्ताको श्रम करना नहीं पड़ता।

१. 'तन्निसर्गादधिगमाद्वा' ॥—तत्त्वार्थसूत्र १-२। २. भव्वो पंचिंदिओ सण्णी जीवो पज्जत्तओ तहा। काललद्धाइसंजुत्तो सम्मत्तं पडिवज्जए ॥१५८॥—पंचसंग्रह पृ० ३४। ३. कारण। ४. गृहीत। ५. पञ्चेन्द्रियमनःसम्बन्धस्य। ६. समानस्य। ७. षट्खण्डागम, पु० ६, पृ० ४१८-४३६। सर्वार्थसिद्धि-सूत्र १-७। तत्त्वार्थवार्तिक। ८. निध्यानं निहालनं, वाहनं-दर्शनम्। ९. देवेषु।

इत्यादिवत्तन्निसर्गात्संजातमित्युच्यते । यदा त्वव्युत्पत्तिसंशीतिविपर्यस्तसमधिकबोधस्याधिमुक्तियुक्तिसूक्तिसंबन्धसविधस्य प्रमाणनयनिक्षेपानुयोगोपयोगावगाह्येषु समस्तेष्वैतिह्येषु परीक्षोपक्षेपादतिक्लिश्य निःशेषदुराशाविनिशाविनाशनांशुमन्मरीचिचिरेण तत्त्वेषु रुचिः संजायते, तदा विधातुरायासहेतुत्वान्मया निर्मापितोऽयं सूत्रानुसारो हारो, मयेदं संपादितं रत्नरचनाधिकरणमाभरणमित्यादिवत्तदधिगमादाविर्भूतमित्युच्यते । उक्तं च—

"अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः ।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥२२५॥"—आप्तमीमांसा

और जब संशय, विपर्यय और अनध्यवसायसे ग्रस्त ज्ञानवाले मनुष्यके श्रद्धा, युक्ति और आगमके निकट होकर, प्रमाण, नय, निक्षेप और अनुयोगके द्वारा अवगाहन करनेके योग्य समस्त शास्त्रोंकी परीक्षा करनेका कष्ट उठाकर चिरकालके पश्चात् समस्त दुराशारूपी रात्रिके विनाशके लिए सूर्यकी किरणोंके समान तत्त्वरुचि उत्पन्न होती है, तो उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं। क्योंकि जैसे मैंने यह हार बनाया है या मैंने यह रत्नखचित आभरण बनाया है, वैसे ही कर्ताके द्वारा विहित परिश्रमसे उत्पन्न हुए अधिगम-ज्ञानसे वह प्रकट होता है।

कहा भी है—

'बुद्धिपूर्वक प्रयत्नके बिना अचानक जो इष्ट या अनिष्ट होता है वह अपने दैवसे होता है और बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करनेसे जो इष्ट या अनिष्ट होता है वह अपने पौरुषसे होता है।।२२५।।'

भावार्थ—चारों गतिके सैनी पर्याप्तक मिथ्यादृष्टि भव्य जीवोंको सम्यग्दर्शन हो सकता है किन्तु वे जीव विशुद्ध और साकार उपयोगवाले होने चाहिएँ। सारांश यह है कि जो जीव असैनी हैं, लब्ध्यपर्याप्तक हैं, सम्मूर्छन जन्मवाले हैं, अति संक्लेश परिणामवाले हैं उन्हें सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती। सैनी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक और विशुद्ध परिणामवाले होनेपर भी जब वे दर्शनोपयोगी होते हैं, उस कालमें उन्हें सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि दर्शनोपयोगमें तत्त्व विचार नहीं होता और सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके समय उसका होना आवश्यक है। इसीसे सोते हुए जीवको भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं होती। उपर्युक्त बातोंके सिवा सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिए पाँच लब्धियोंका होना आवश्यक है। वे लब्धियाँ हैं—क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि। इनमेंसे शुरूकी चार लब्धियाँ तो साधारण हैं, अर्थात् जिन्हें सम्यक्त्वकी प्राप्ति होना संभव नहीं है उनके भी हो जाती हैं। किन्तु पाँचवी करणलब्धि तभी होती है जब सम्यक्त्वकी प्राप्ति होना होती है। उसके अन्तमें ही जीवको सम्यग्दर्शन हो जाता है। जब ज्ञानावरण आदि अप्रशस्त कर्मोंका अनुभाग प्रतिसमय अनन्तगुणा अनन्तगुणा घटता हुआ उदयमें आता है उस समय क्षयोपशमलब्धि होती है। क्षयोपशमलब्धिके होनेपर जीवके साता वगैरह प्रशस्त प्रकृतियोंके बन्धके कारण जो शुभ परिणाम होते हैं उसे विशुद्धिलब्धि कहते हैं। आचार्य वगैरहके द्वारा छः द्रव्यों और नौ पदार्थोंका उपदेश सुननेको मिलना देशनालब्धि है। जहाँ उपदेशका मिलना संभव नहीं है वहाँ पहले भवमें सुने हुए उपदेश

१. श्रद्धा। २. सूर्य।

के संस्कारसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जाती है। उक्त तीन लब्धियोंसे युक्त जीवके प्रतिसमय विशुद्धताके बढ़नेसे आयुके सिवा शेष सात कर्मोंकी जब अन्तःकोटाकोटी सागर प्रमाण स्थिति शेष रहे तब स्थिति और अनुभागका घात करनेकी योग्यताके आनेको प्रायोग्यलब्धि कहते हैं। उसके होनेसे वह जीव अप्रशस्त कर्मोंकी स्थिति और अनुभागका खण्डन करता है। इसके बाद करणलब्धि होती है। करण परिणामको कहते हैं। करणलब्धिमें अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामके परिणाम होते हैं। इन तीनोंमें से प्रत्येकका काल अन्तर्मुहूर्त है किन्तु एकसे दूसरेका काल संख्यातगुना हीन है अर्थात् अनिवृत्तिकरणका काल सबसे थोड़ा है। उससे अपूर्वकरणका काल संख्यातगुना है। उससे अधःप्रवृत्तका काल संख्यातगुना है। जहाँ नीचेके समयवर्ती किसी जीवके परिणाम ऊपरके समयवर्ती किसी जीवके परिणामसे मिल जाते हैं उसे अधःप्रवृत्तकरण कहते हैं। आशय यह है कि अधःकरणको अपनाये हुए किसी जीवको थोड़ा समय हुआ और किसी जीवको बहुत समय हुआ तो उनके परिणाम संख्या और विशुद्धिमें समान भी होते हैं। इसीलिए इसे अधःप्रवृत्तकरण कहते हैं। जहाँ प्रतिसमय अपूर्व-अपूर्व ही परिणाम होते हैं उसे अपूर्वकरण कहते हैं। आशय यह है कि किसी जीवको अपूर्वकरणको अपनाये थोड़ा समय हुआ और किसीको बहुत समय हुआ। उनके परिणाम बिलकुल मेल नहीं खाते। नीचेके समयवर्ती जीवोंके परिणामोंसे ऊपरके समयवर्ती जीवोंके परिणाम अधिक विशुद्ध होते हैं। और जिनको अपूर्वकरण किये बराबर समय हुआ है उनके परिणाम समान होते भी हैं और नहीं भी होते। जिसमें प्रतिसमय एक ही परिणाम होता है उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। यहाँ जिन जीवोंको अनिवृत्तिकरण किये बराबर समय बीता है उनके परिणाम समान ही होते हैं और नीचेके समयवर्ती जीवोंसे ऊपरके समयवर्ती जीवोंके परिणाम अधिक विशुद्ध ही होते हैं। इन तीनों करणोंमें जो अनेक कार्य होते हैं उनका वर्णन श्री गोमट्टसार जीवकाण्डमें और लब्धिसारमें किया है, वहाँसे देख लेना चाहिए। यहाँ इतना बतला देना आवश्यक है कि अनिवृत्तिकरणके कालमें से जब संख्यात बहुभाग बीतकर एक संख्यातवाँ भाग प्रमाण काल बाकी रह जाता है तब जीव मिथ्यात्वका अन्तरकरण करता है। इस अन्तरकरणके द्वारा मिथ्यात्वकी स्थितिमें अन्तर डाल दिया जाता है। आशय यह है कि किसी भी कर्मका प्रतिसमय एक-एक निषेक उदयमें आता है और इस तरह जिस कर्मकी जितनी स्थिति होती है उसके उतने ही निषेकोंका ताँता-सा लगा रहता है। जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, वैसे-वैसे क्रमवार निषेक अपनी-अपनी स्थिति पूरी होनेसे उदयमें आते जाते हैं। अन्तरकरणके द्वारा मिथ्यात्वकी नीचे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थितिवाले निषेकोंको ज्यों-का-त्यों छोड़कर उससे ऊपरके उन निषेकोंको, जो आगेके अन्तर्मुहूर्तमें उदय आयेंगे, नीचे वा ऊपरके निषेकोंमें स्थापित कर दिया जाता है और इस प्रकार उस अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कालको ऐसा बना दिया जाता है कि उसमें उदय आने योग्य मिथ्यात्वका कोई निषेक शेष नहीं रहता। इस तरहसे मिथ्यात्वकी स्थितिमें अन्तर डाल दिया जाता है। इस तरह मिथ्यात्वके उदयका जो प्रवाह चला आ रहा है, अन्तरकरणके द्वारा उस प्रवाहका ताँता एक अन्तर्मुहूर्तके लिए तोड़ दिया जाता है और इस प्रकार मिथ्यात्वकी स्थितिके दो भाग कर दिये जाते हैं। नीचेका भाग प्रथमस्थिति कहलाता है और ऊपरका भाग द्वितीयस्थिति। इस प्रथमस्थिति और द्वितीयस्थितिके बीचके उन निषेकोंको, जो अन्तर्मुहूर्तकालमें उदय आनेवाले हैं, अन्तरकरणके द्वारा

अपने-अपने स्थानसे उठाकर कुछको प्रथमस्थितिमें डाल दिया जाता है और कुछको द्वितीयस्थिति में डाल दिया जाता है। इस क्रियाके पूर्ण होनेके साथ मिथ्यात्वकी प्रथमस्थिति भी पूरी हो जाती है। उसके पूरे होते ही अन्तर्मुहूर्त कालके लिए मिथ्यात्वके उदयका अभाव हो जानेसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है। मिथ्यात्व गुणस्थानसे छूटते हुए जो उपशम सम्यक्त्व प्रकट होता है उसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। अनादि मिथ्यादृष्टिको पहले-पहले प्रथमोपशम सम्यक्त्व ही होता है।

प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति अन्तरंग और बहिरंग कारणोंसे होती है। सम्यग्दर्शन भी अन्तरंग और बाह्य कारणोंके मिलनेपर ही प्रकट होता है। इसका अन्तरंग कारण तो दर्शन मोहनीयकी मिथ्यात्व, सम्यक्त्व मोहनीय सौर सम्यक्मिथ्यात्व मोहनीय इन तीन प्रकृतियोंका तथा चारित्र मोहनीयको अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया और लोभ इन चार प्रकृतियोंका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम है। और इनके क्षय अथवा उपशममें पूर्वोक्त पाँच लब्धियोंमें से करणलब्धि मुख्य कारण है तथा बाह्य कारण अनेक हैं। नरक गतिमें पहलेके तीन नरकोंमें पूर्व जन्मकी घटनाओं का स्मरण, धर्मका श्रवण और कष्टोंका अनुभव बाह्य कारण है। आगेके चार नरकोंमें धर्म-श्रवणको छोड़कर बाकीके दो ही बाह्य कारण पाये जाते हैं। तिर्यञ्चों और मनुष्योंमें पूर्व जन्मका स्मरण, धर्मका श्रवण और जिनविम्बका दर्शन बाह्य कारण हैं। देवोंमें भवनवासीसे लेकर बारहवें स्वर्गतक पूर्व जन्मका स्मरण, धर्मका श्रवण, जिन भगवान्की महिमाका निरीक्षण तथा अपनेसे बड़े अन्य देवोंकी ऋद्धिका दर्शन बाह्य कारण है। बारहवें स्वर्गसे ऊपर तेरहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें और सोलहवें स्वर्गमें देवोंकी ऋद्धिके दर्शनके सिवा शेष तीन ही बाह्य कारण हैं। नव ग्रैवेयकके देवोंमें पूर्व जन्मका स्मरण और धर्मका श्रवण ये दो ही बाह्य कारण हैं क्योंकि सोलह स्वर्गसे ऊपरके देव कहीं बाहर नहीं जाते। और नव ग्रैवेयकसे ऊपरके सब देव नियमसे सम्यग्दृष्टि ही होते हैं क्यों कि वहाँ सम्यग्दृष्टि ही मरकर जन्म लेते हैं। इतना विशेष है कि नरकगति और देवगतिमें तो जन्म लेनेके अन्तर्मुहूर्त बाद सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है किन्तु तिर्यञ्च गतिमें जन्म लेनेके आठ नौ दिन बाद सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है और मनुष्यगतिमें आठ वर्षकी अवस्था हो जानेपर सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है। ऊपर पाँच लब्धियोंमें एक देशनालब्धि बतलायी है। जिसे सम्यग्दर्शन प्रकट होना होता है उसे इसी भव या पूर्व भवमें नौ या सात तत्त्वोंका उपदेश सुनने को अवश्य ही मिलना चाहिए। जिस जीवने पूर्व भवमें उपदेश सुना और उसके संस्कारके रहनेसे इस भवमें अन्य कारणोंके मिलनेपर उसे अनायास सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो गयी तो वह सम्यग्दर्शन निसर्गज कहा जाता है; क्योंकि उसे इन भवमें उसकी प्राप्तिके लिए थोड़ा-सा भी प्रयत्न नहीं करना पड़ा। किन्तु इसी भवमें उपदेशादिका निमित्त मिलनेपर जो सम्यक्त्व प्रकट होता है उसे अधिगमज सम्यक्दर्शन कहते हैं। सम्यग्दर्शनके ये दोनों भेद केवल बाह्य उपदेशकी अपेक्षाको लेकर ही किये गये हैं। जो सम्यक्त्व उसी भवमें तत्त्वोंके उपदेशका लाभ होनेपर प्रकट होता है उसे अधिगमज कहा जाता है और जो इस भवके प्रयत्नके बिना पूर्वभवके संस्कारके कारण प्रकट हो जाता है उसे निसर्गज कहा जाता है; क्योंकि इस भवमें उसके लिए कुछ भी श्रम नहीं किया गया और इस तरह वह अनायास ही प्राप्त हुआ कहलाया। दूसरे शब्दोंमें इसे दैवसे प्राप्त भी कह सकते हैं और अधिगमजको पौरुषसे प्राप्त कह सकते हैं।

द्विविधं त्रिविधं दशविधमाहुः सम्यक्त्वमात्महितमतयः।
तत्त्वश्रद्धानविधिः सर्वत्र च तत्र समवृत्तिः ॥२२६॥
सरागवीतरागात्मविषयत्वाद्द्विधा स्मृतम्[1]।
प्रशमादिगुणं पूर्वं परं चात्मविशुद्धिभाक् ॥२२७॥

यथा हि पुरुषस्य पुरुषशक्तिरियमतीन्द्रियाप्यङ्गनाजनाङ्गसंभोगेनापत्योत्पादनेन च विपदि धैर्यावलम्बनेन वा प्रारब्धवस्तुनिर्वहणेन वा निश्चेतुं शक्यते, तथात्मस्वभावतयाति-सूक्ष्मयत्नमपि सम्यक्त्वरत्नं प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्यैरेव[2] वाक्यैराकलयितुं शक्यम्। तत्र—

सम्यग्दर्शनके भेद और उसकी पहचान

आत्महितैषी महापुरुषोंने सम्यग्दर्शनके दो, तीन और दस भेद बतलाये हैं। इन सभी भेदोंमें तत्त्वोंका श्रद्धान समान रूपसे पाया जाता है। अर्थात् तत्त्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शनका सामान्य लक्षण है। अतः सम्यग्दर्शनके जितने भी भेद हैं उन सभीमें तत्त्वोंका श्रद्धान होना आवश्यक है उसके बिना सम्यग्दर्शन हो ही नहीं सकता ॥२२६॥

सम्यग्दर्शन रागी आत्माओंको भी हो सकता है और वीतरागी आत्माओंके भी होता है इसलिए उसके दो भेद कर दिये गये हैं—एक सरागसम्यग्दर्शन और दूसरा वीतराग-सम्यग्दर्शन। सरागसम्यग्दर्शन प्रशम आदि गुणरूप होता है और वीतरागसम्यग्दर्शन आत्मविशुद्धिरूप होता है ॥२२७॥

जैसे पुरुषकी शक्ति यद्यपि अतीन्द्रिय है, इन्द्रियोंसे उसे नहीं देखा जा सकता, फिर भी स्त्रियोंके साथ संभोग करनेसे, सन्तानोत्पादनसे, विपत्तिमें धैर्य और प्रारम्भ किये गये कार्यको समाप्त करना आदि बातोंसे उसकी शक्तिका निश्चय किया जाता है। वैसे ही सम्यक्त्वरूपी रत्न भी आत्माका स्वभाव होनेके कारण यद्यपि बहुत सूक्ष्म है, फिर भी प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदिके द्वारा उसका निश्चय किया जा सकता है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके सराग और वीतराग भेद सम्यग्दर्शनके धारक जीवोंकी अपेक्षासे किये गये हैं। जो जीव सरागी हैं उनके सम्यक्त्वको सरागसम्यक्त्व कहते हैं और जो जीव वीतरागी हैं उनके सम्यक्त्वको वीतरागसम्यक्त्व कहते हैं। चूँकि राग दसवें गुणस्थानतक पाया जाता है इसलिए दसवें गुणस्थानतकके जीवोंका सम्यक्त्व सरागसम्यक्त्व कहा जाता है और उससे आगेके जीवोंका सम्यक्त्व वीतरागसम्यक्त्व कहा जाता है। कोई विद्वान् सरागताका कारण सम्यक्त्व सरागसम्यक्त्व और वीतरागताका कारण सम्यक्त्व वीतरागसम्यक्त्व है, ऐसा कहते हैं, किन्तु उनका यह लक्षण ठीक नहीं है क्योंकि एक तो ग्रन्थकारने 'सरागवीतरागात्म-विषयत्वात्' लिखकर यह स्पष्ट कर दिया है कि सराग आत्मा और वीतराग आत्माकी अपेक्षासे सम्यक्त्वके सराग और वीतराग भेद हैं। दूसरे, किसी भी शास्त्रकारने ऐसा लक्षण नहीं किया बल्कि अनगारधर्मामृत (पृ० १२४) में पं० आशाधरजीने स्पष्ट रूपसे सरागीके सम्यक्त्वको सराग-सम्यक्त्व और वीतरागीके सम्यक्त्वको वीतरागसम्यक्त्व कहा है। तीसरे, सम्यग्दर्शन रागका कारण नहीं है; रागका कारण तो चारित्रमोहनीयका उदय है और वह दसवें गुणस्थानतक रहता

---

१. 'तद् द्विविधं सरागवीतरागविषयभेदात्। प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम्। आत्मविशुद्धिमात्रमितरत्'—सर्वार्थसिद्धि १-२। ज्ञे सरागे सरागं स्याच्छमादिव्यक्तिलक्षणम्। विरागे दर्शनं त्वात्मशुद्धिमात्रं विरागकम् ॥५१॥ अनगार० अ० २। २. रेकवा– ज०।

है, इसीसे दसवें गुणस्थानतकके जीव सरागी और उससे ऊपरके जीव वीतरागी कहे जाते हैं। चौथे, यदि सरागताका कारण सम्यग्दर्शन सरागसम्यग्दर्शन और वीतरागताका कारण सम्यग्दर्शन वीतरागसम्यग्दर्शन कहा जायेगा तो सम्यग्दर्शनके औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भेदोंमें सरागता और वीतरागताका कारण होनेकी दृष्टिसे भेद करना होगा। इन तीनमें क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तो सातवें गुणस्थानतक ही होता है और उसमें सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय भी रहता है अतः वह तो सरागसम्यक्त्व ही ठहरता है। किन्तु शेष दो सम्यग्दर्शन दसवें गुणस्थानतक सराग अवस्थामें भी पाये जाते हैं और उससे ऊपर वीतराग अवस्थामें भी पाये जाते हैं। अतः यह प्रश्न पैदा होता है कि इन दोनों सम्यग्दर्शनोंको सरागताका कारण माना जाये या वीतरागताका अथवा दोनोंका ? दोनोंको सरागताका कारण तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि यदि क्षायिक सम्यग्दर्शनको भी सरागताका कारण माना जायेगा तो वीतरागी क्षीणकषाय गुणस्थानवालोंको, केवलियोंको और सिद्धोंको भी सराग मानना पड़ेगा; क्योंकि उनके क्षायिकसम्यक्त्व ही होता है। रह जाता है द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। इसमें दर्शन मोहनीयका उपशम रहता है इसलिए क्षायिकसम्यक्त्वकी अपेक्षा इसकी स्थिति कमजोर होनेसे इसे रागका कारण मानकर यदि सरागसम्यक्त्व माना जायेगा तो ग्यारहवें गुणस्थानको वीतरागछद्मस्थ न मानकर सरागछद्मस्थ मानना होगा। शायद कहा जाये कि ग्यारहवें गुणस्थानमें चारित्रमोहनीयका साहाय्य न मिलनेसे उपशम सम्यक्त्व रागका कारण नहीं है तो चारित्रमोहनीयको ही रागका कारण क्यों नहीं मानते ? अतः बेचारे सम्यग्दर्शनको, जिसे शास्त्रोंमें प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जराका कारण बतलाया है, रागका कारण बतलाना उचित नहीं है। अतः क्षायिक और औपशमिक सम्यक्त्वको सरागताका कारण नहीं माना जा सकता। शायद कहा जाये कि सम्यग्दर्शनके होनेपर देव, शास्त्र, गुरुमें शुभोपयोग रूप प्रवृत्ति होती है अतः सम्यग्दर्शन शुभरागका कारण है। किन्तु ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि सम्यग्दर्शन होनेसे पहले भी उस जीवमें राग पाया जाता था। सम्यग्दर्शनके प्रकट होनेसे एक तो उसमें कुछ रागकी कमी हुई, दूसरे उसका आलम्बन बदल गया, जहाँ वह पहले स्त्री-पुत्रादिकके मोहमें ही पड़ा रहता था वहाँ वह अब आत्महितके कारणोंसे राग करने लगा। अतः सम्यग्दर्शन रागका कारण नहीं हुआ बल्कि उसकी हीनताका और उसकी प्रवृत्तिको बदलनेका ही कारण हुआ। इसीसे पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें आचार्य अमृतचन्द्रसूरिने कहा है कि—'जितने अंशमें जीव सम्यग्दृष्टि है उतना अंश बन्धका कारण नहीं है और जितने अंशमें उसके राग है उतने अंशमें उसके कर्मबन्ध होता है'। अतः अबन्धका कारण सम्यग्दर्शन रागका कारण नहीं हो सकता। अब रहा दूसरा प्रश्न कि क्या सम्यग्दर्शन वीतरागताका कारण है ? किसी अंशमें सम्यग्दर्शनको वीतरागताका कारण माना जा सकता है, क्योंकि दर्शनमोहनीय और अनन्तानुबन्धीका क्षय अथवा उपशम या क्षयोपशम होनेसे आत्मामें रागकी हानि ही होती है, वृद्धि नहीं। किन्तु ऐसी अवस्थामें सम्यग्दर्शनके दो भेद नहीं बन सकते। इस आपत्तिसे बचनेके लिए यदि उसे दोनोंका कारण माना जायेगा तो दोनों पक्षोंमें ऊपर उठाये गये विवाद खड़े हो जायेंगे। अतः सरागीके सम्यग्दर्शनको सरागसम्यग्दर्शन और वीतरागीके सम्यग्दर्शनको वीतरागसम्यग्दर्शन कहना ही ठीक है। सम्यग्दर्शन आत्माका धर्म है अतः वह इन्द्रियोंसे दिखायी दे सकनेवाली वस्तु नहीं है। किन्तु

यद्रागादिषु दोषेषु चित्तवृत्तिनिबर्हणम् ।
तं प्राहुः प्रशमं प्राज्ञाः समस्तव्रतभूषणम् ॥२२८॥
शारीरमानसागन्तुवेदनाप्रभवाद्भवात् ।
स्वप्नेन्द्रजालसङ्कल्पाद्भीतिः संवेग उच्यते ॥२२९॥
सत्त्वे सर्वत्र चित्तस्य दयार्द्रत्वं दयालवः ।
धर्मस्य परमं मूलमनुकम्पां प्रचक्षते ॥२३०॥

असंयतसम्यग्दृष्टि वगैरह सरागी जीवोंमें प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य वगैरहको देखकर सम्यग्दर्शनका अस्तित्व जाना जा सकता है। असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर दसवें गुणस्थानतकके जीव अपनेमें सम्यक्त्वके निमित्तसे होनेवाले प्रशमादि गुणोंका निश्चय करके 'हम सम्यग्दृष्टि हैं' ऐसा जान लेते हैं। और चौथेसे छठे गुणस्थानतकके जीवोंमें उनकी चेष्टाओंसे प्रशमादिकका निर्णय करके 'वे सम्यग्दृष्टि हैं' ऐसा जानते हैं। इस प्रकार अपनेमें स्वसंवेदनसे और दूसरोंमें अनुमानसे सरागसम्यग्दर्शनके सद्भावका निश्चय किया जाता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टिमें इस प्रकारके भाव देखे जाते हैं। किन्तु जिसमें इस प्रकारके भाव हों वह नियमसे सम्यग्दृष्टि ही है ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए क्योंकि सम्यग्दर्शनके अभावमें भी इस प्रकारके भाव पाये जाते हैं। अतः प्रशमादि भाव सम्यग्दर्शनके ज्ञापक हैं, नियामक नहीं हैं। इनके बिना सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता किन्तु ये सम्यग्दर्शनके बिना भी हो सकते हैं। अब रहे उपशान्त कषाय आदि गुणस्थानवर्ती वीतरागी जीव, उनका सम्यग्दर्शन वीतरागसम्यग्दर्शन कहलाता है, और वह सम्यग्दर्शन आत्मविशुद्धिरूप ही होता है। *दर्शनमोहनीयके उपशम अथवा क्षयसे आत्मामें जो निर्मलता होती है, उसे आत्मविशुद्धि कहते हैं, और वीतरागसम्यग्दर्शन आत्मविशुद्धिरूप ही होता है, क्योंकि वीतरागी जीवोंमें चारित्रमोहनीयका उदय न होनेसे प्रशमादि भाव नहीं पाये जाते। अतः वीतरागसम्यग्दर्शनको स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे ही जाना जा सकता है प्रशमादिके द्वारा उसे नहीं जाना जा सकता।

[अब आस्तिक्य आदिका स्वरूप बतलाते हैं—]

रागादिक दोषोंसे चित्तवृत्तिके हटनेको पण्डित-जन प्रशम कहते हैं। यह प्रशमगुण समस्त व्रतोंका भूषण है अर्थात् व्रत वगैरहका पालन करते हुए भी यदि चित्त रागादिक दोषोंसे नहीं हटता तो वे व्रत एक तरहसे व्यर्थ ही हैं ॥२२८॥

यह संसार शारीरिक, मानसिक और आगन्तुक कष्टोंसे भरा है और स्वप्न या जादूगरके तमाशेकी तरह चञ्चल है। इससे डरना संवेग है ॥२२९॥

सब प्राणियोंके प्रति चित्तका दयालु होना अनुकम्पा है। दयालु पुरुष इसे धर्मका परम मूल बतलाते हैं ॥२३०॥

---

* 'आत्मनो जीवस्य शुद्धिर्दृग्मोहस्योपशमेन क्षयेण वा जनितप्रसादः। सैव तन्मात्रं, न प्रशमादिचतुष्टयम्। तत्र हि चारित्रमोहस्य सहकारिणोऽपायान्न प्रशमाद्यभिव्यक्तिः स्यात्। केवलं स्वसंवेदनेनैव तद्वेद्येत।' अन० ध० टी० २-५१।

आप्ते श्रुते व्रते तत्त्वे चित्तमस्तित्वसंस्तुतम्[1]।
आस्तिक्यमास्तिकैरुक्तं मुक्तियुक्तिधरे[2] नरे ॥२३१॥
रागरोषधरे नित्यं निर्व्रते निर्दयात्मनि।
संसारो दीर्घसारः[3] स्यान्नरे नास्तिकनीतिके[4] ॥२३२॥

मुक्तिके लिए प्रयत्नशील पुरुषका चित्त आप्तके विषयमें, शास्त्रके विषयमें, व्रतके विषयमें और तत्त्वके विषयमें 'ये हैं' इस प्रकारकी भावनासे युक्त होता है उसे आस्तिक पुरुष आस्तिक्य कहते हैं। जो मनुष्य रागी और द्वेषी है, कभी व्रताचरण नहीं करता और न कभी उसकी आत्मामें दयाका भाव ही होता है उस नास्तिक धर्मवालेका संसारभ्रमण बढ़ता ही है ॥२३१-२३२॥

भावार्थ—राग, द्वेष, काम, क्रोध वगैरहकी ओर मनका रुझान न होना प्रशम कहलाता है। अथवा जिन्होंने अपना अपराध किया है, उन प्राणियोंको भी किसी प्रकारका कष्ट न देनेकी भावनाका होना भी प्रशम है। ऐसा प्रशम भाव अनन्तानुबन्धी कषायके उदयका अभाव होनेसे तथा शेष कषायोंका मन्द उदय होनेसे होता है। अतः वह सम्यक्त्वकी पहचान करानेमें सहायक है। किन्तु बिना सम्यक्त्वके जो प्रशम भाव देखा जाता है वह प्रशम नहीं है किन्तु प्रशमाभास है। संसार अनेक तरहकी यातनाओंका—तकलीफ़ोंका घर है। इसमें कोई भी सुखी नजर नहीं आता। किसीको किसी बातका कष्ट है तो किसीको किसी बातका कष्ट है। आज जो सुखी दिखायी देते हैं, कल उन्हें ही रोता और कलपता हुआ पाते हैं। ऐसे संसारसे मोह न करके सदा उससे बचते रहनेमें ही कल्याण है। इस प्रकारके भावोंका नाम संवेग है। धर्म, धर्मात्मा और धर्मके प्रवर्तक पञ्च परमेष्ठीमें मन तभी लग सकता है जब अधर्म, अधर्मी और अधर्मके सर्जकोंसे अरुचि हो। तथा इनमें अरुचि तभी हो सकती है जब मनुष्यका मन संसारकी विषय-वासनाओंसे हट गया हो। अतः संसारसे अरुचि रखनेमें ही आत्माका कल्याण है और इसीका नाम संवेग है। मगर वह अरुचि स्वाभाविक होनी चाहिए, बनावटी नहीं। विरागताकी लम्बी-चौड़ी बातें करके सिरसे पैरतक रागमें डूबे रहना संवेग नहीं है। जीवमात्रपर दया करनेको अनुकम्पा कहते हैं अर्थात् सबको अपना मित्र समझना और वैर-भावको छोड़कर निर्द्वन्द्व हो जाना अनुकम्पा है। सच्ची अनुकम्पा सम्यग्दृष्टिके ही होती है क्योंकि बिना अज्ञानके वैर-भाव नहीं होता। मनुष्य समझता है कि मैं चाहूँ तो अमुकको सुखी कर सकता हूँ और चाहूँ तो अमुकको दुःखी कर सकता हूँ। या मुझे अमुक सुख पहुँचा सकता है और अमुक दुःख पहुँचा सकता है। किन्तु उसका ऐसा समझना कोरा अज्ञान है, क्योंकि जिन जीवोंके प्रबल पुण्यका उदय होता है उनका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता और जिनके प्रबल पापका उदय होता है उनके हाथमें दिये गये रुपये भी कोयला हो जाते हैं। अतः प्राणियोंमें इष्ट और अनिष्टकी कल्पना करके किसीको अपना मित्र मानना और किसीको अपना शत्रु मानना अज्ञानता है। इसलिए सभीपर समान रूपसे दयाभाव रखना चाहिए। तथा दूसरोंपर दया करना एक तरहसे अपनेपर ही दया करना है

१. -मास्तिक्यसंयुतम्।'—सागारधर्मामृत, पृ० ६। २. 'युक्तं युक्तिधरेण वा'—सागारधर्मामृत पृ० ६। मोक्षसंयोगधरे—मुक्तिगामिनि। ३. भ्रमणः। ४. शास्त्रे।

कर्मणां क्षयतः शान्तेः क्षयोपशमतस्तथा ।
श्रद्धानं त्रिविधं बोध्यं गतौ सर्वत्र जन्तुषु ॥२३३॥

क्योंकि सबको अपना मित्र समझकर सभीके साथ दयाका व्यवहार करनेसे एक तो अपने हृदयमें दुर्भाव उत्पन्न नहीं होंगे, दूसरे, उनके उत्पन्न न होनेसे अशुभ कर्मोंका बन्ध नहीं होगा, तीसरे, हृदयमें शान्ति रहनेके साथ ही साथ दुनियामें अपना कोई वैरी न रहेगा। अतः दूसरोंपर अनुकम्पा करना अपनेपर ही अनुकम्पा करना है। सम्यग्दृष्टिमें ही इस प्रकारकी वास्तविक अनुकम्पा पायी जाती है। धर्म है, जीव है, परलोक है, मुक्ति है, मुक्तिके कारण हैं, इस प्रकारका जो भाव होता है उसे आस्तिक्य कहते हैं। यह आस्तिक्य सम्यग्दृष्टिमें ही पाया जाता है। इसके होनेपर ही वह आत्म-कल्याणके मार्गपर लगता है। यह प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यका स्वरूप है।

सम्यग्दर्शनके तीन भेद

सम्यग्दर्शनके तीन भेद भी हैं--औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक। जो सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे होता है उसे औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। जो इन सात प्रकृतियोंके क्षयसे होता है उसे क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं। और जो इनके क्षयोपशमसे होता है उसे क्षायोपशमिक कहते हैं। ये तीनों सम्यग्दर्शन सब गतियोंमें पाये जाते हैं ॥२३३॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके ये तीन भेद अन्तरङ्ग कारणकी अपेक्षासे किये गये हैं। अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके उपशमसम्यक्त्व ही होता है उसे प्रथमोपशमसम्यक्त्व कहते हैं। उपशमसम्यक्त्वके दो भेद हैं--प्रथमोपशम सम्यक्त्व और द्वितीयोपशमसम्यक्त्व। मिथ्यादृष्टिगुणस्थानसे जो उपशमसम्यक्त्व होता है उसे प्रथमोपशमसम्यक्त्व कहते हैं और उपशम श्रेणिके अभिमुख हुए जीवके क्षायोपशमिक सम्यक्त्वपूर्वक जो उपशमसम्यक्त्व होता है उसे द्वितीयोपशमसम्यक्त्व कहते हैं। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव यदि सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है तो तीन करणोंके द्वारा दर्शनमोहनीयका सर्वोपशमन करके ही सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है। जो सादि मिथ्यादृष्टि बहुत कालतक मिथ्यात्वमें रहकर पुनः सम्यक्त्वको प्राप्त करता है वह भी दर्शन मोहनीयका सर्वोपशमन करके ही सम्यक्त्वको प्राप्त करता है। किन्तु जो सम्यक्त्वसे च्युत होकर जल्दी ही सम्यक्त्वको प्राप्त कर लेता है वह सर्वोपशमन अथवा देशोपशमनके द्वारा सम्यक्त्वको प्राप्त करता है। यदि वेदक प्रायोग्यकालके अन्दर ही सम्यक्त्वको ग्रहण कर लेता है तो देशोपशमके द्वारा ही ग्रहण करता है, नहीं तो सर्वोपशमके द्वारा ग्रहण करता है। दर्शनमोहनीयकी तीनों प्रकृतियोंके उदयाभावको सर्वोपशम कहते हैं और सम्यक्त्व प्रकृतिसम्बन्धी देशघाती स्पर्द्धकोंके उदयको और शेष दोनों प्रकृतियोंके उदयाभावको देशोपशम कहते हैं। अनादि मिथ्यादृष्टि प्रथमोपशमसम्यक्त्वको प्राप्त करके अन्तर्मुहूर्तकाल पूरा होनेपर नियमसे मिथ्यात्वमें ही आता है और सादि मिथ्यादृष्टि सम्यक्त्वको प्राप्त करके उससे च्युत होनेपर दर्शनमोहनीयकी तीनों प्रकृतियोंमें से किसी एकका उदय हो जानेसे मिथ्यादृष्टि, सम्यक्मिथ्यादृष्टि अथवा वेदक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। वेदकसम्यक्त्वको ही क्षायोपशमिकसम्यक्त्व भी कहते हैं। अनन्तानुबन्धी कषायका अप्रशस्त उपशम अथवा विसंयोजन होनेपर और मिथ्यात्व तथा सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृतियोंका प्रशस्त उपशम

दशविधं तदाह—

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात् ।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढं च ॥२३४॥

—आत्मानुशासन, श्लो० ११ ।

होनेपर अथवा उनके क्षयके अभिमुख होनेपर देशघाती सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय होते हुए जो सम्यग्दर्शन होता है उसे वेदक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं । जहाँ विवक्षित प्रकृति उदय आने योग्य तो न हो किन्तु उसका स्थिति अनुभाग घटाया या बढ़ाया जा सके अथवा उसका संक्रमण किया जा सके, उसे अप्रशस्त उपशम कहते हैं । और जहाँ विवक्षित प्रकृति न तो उदय आने योग्य हो, न उसका स्थिति अनुभाग घटाया या बढ़ाया जा सके और न अन्य प्रकृतिरूप संक्रमण ही किया जा सके उसे प्रशस्त उपशम कहते हैं । वेदक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय होते हुए भी उसमें सम्यक्त्वको नष्ट कर देनेकी शक्ति तो नहीं है किन्तु वह सम्यक्त्वमें चल मलिन और अगाढ़ दोष पैदा करती है । जैसे जल एक होकर भी लहरोंके उठनेपर चञ्चल हो जाता है वैसे ही सम्यक्त्व मोहनीयका उदय होनेसे श्रद्धानमें कुछ चञ्चलपना आ जाता है और उसके आनेसे सम्यग्दृष्टि अपने और दूसरोंके बनवाये हुए जिनबिम्ब वगैरहमें यह मेरा है, यह दूसरोंका है ऐसा भेद कर बैठता है । इसके सिवा उसके श्रद्धानमें अन्य कुछ चञ्चलता नहीं होती । तथा जैसे शुद्ध सोना मलके सम्बन्धसे मलिन हो जाता है वैसे ही वेदक सम्यक्त्व शङ्का वगैरह मलके द्वारा मलिन हो जाता है । तथा जैसे वृद्ध मनुष्यके हाथकी लकड़ी हाथसे छूटती तो नहीं है किन्तु काँपती रहती है वैसे ही वेदक सम्यक्त्वीका श्रद्धान तो नहीं छूटता, किन्तु उसमें थोड़ी शिथिलता रहती है, वह जैन देवोंमें ही ऐसी भेदकल्पना कर लेता है कि शान्तिनाथ भगवान्की पूजा करनेसे शान्ति मिलती है, पार्श्वनाथ भगवान्की पूजा करनेसे धन मिलता है, आदि । क्षायिकसम्यक्त्व दर्शनमोहनीय कर्मके क्षय होनेपर होता है और दर्शन-मोहनीयके क्षपणका प्रारम्भ कर्मभूमिया मनुष्य ही तीर्थङ्कर, केवली अथवा श्रुतकेवलीके पाद-मूलमें करता है । किन्तु उसकी पूर्ति चारों गतियोंमें होती है क्योंकि बद्धायु कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि मरकर चारों गतियोंमें से किसी भी एक गतिमें उत्पन्न हो सकता है । इतना विशेष है कि यदि उसने पहले मनुष्यायुका बन्ध किया है तो वह भोगभूमिया मनुष्योंमें ही जन्म लेता है, यदि तिर्यञ्चायुका बन्ध किया है तो भोगभूमिया तिर्यञ्चोंमें ही जन्म लेता है, यदि नरकायुका बन्ध किया है तो प्रथम नरकमें ही जन्म लेता है और यदि देवायुका बन्ध किया है तो सौधर्मादि कल्पोंमें या कल्पातीत देवोंमें जन्म लेता है । क्षायिकसम्यग्दर्शन सुमेरुकी तरह निश्चल और सदा अविनाशी होता है, अन्य सम्यग्दर्शन तो होकर छूट भी जाते हैं, किन्तु क्षायिकसम्यग्दर्शन नहीं छूटता । जिसे क्षायिकसम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जाती है वह उसी भवमें या तीसरे भवमें अथवा चौथे भवमें मुक्तिलाभ कर लेता है, किन्तु चौथे भवसे आगे भव धारण नहीं करता । इस प्रकार सम्यग्दर्शनके तीन भेदोंका स्वरूप जानना चाहिए ।

सम्यग्दर्शनके दस भेद

[अब सम्यक्त्वके दस भेद बतलाते हैं—]

आज्ञासम्यक्त्व, मार्गसम्यक्त्व, उपदेशसम्यक्त्व, सूत्रसम्यक्त्व, बीजसम्यक्त्व,

अस्यायमर्थः—भगवदर्हत्सर्वज्ञप्रणीतागमानुज्ञासंज्ञा[2] आज्ञा, रत्नत्रयविचारसर्गो मार्गः, पुराणपुरुषचरितश्रवणाभिनिवेश उपदेशः, यतिजनाचरणनिरूपणपात्रं सूत्रम्, सकलसमयदलसूचनाव्याजं बीजम्, आप्तश्रुतव्रतपदार्थसमासालापाक्षेपः[3] संक्षेपः, द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्व-[5][4]प्रकीर्णविस्तीर्णश्रुतार्थसमर्थनप्रस्तारो विस्तारः, प्रवचनविषये स्वप्रत्ययसमर्थोऽर्थः, त्रिविधस्यागमस्य निःशेषतोऽन्यतमदेशावगाहालीढमवगाढम्, अवधिमनःपर्ययकेवलाधिकपुरुषप्रत्ययप्ररूढं परमावगाढम् ।

संक्षेपसम्यक्त्व, विस्तारसम्यक्त्व, अर्थसम्यक्त्व, अवगाढ़सम्यक्त्व और परमावगाढ़सम्यक्त्व ये सम्यक्त्वके दस भेद हैं ॥२३४॥

इनका स्वरूप इस प्रकार है—भगवान् सर्वज्ञ अर्हन्तदेवके द्वारा उपदिष्ट आगमकी आज्ञाको ही प्रमाण मानकर जो श्रद्धान किया जाता है उसे आज्ञासम्यक्त्व कहते हैं। रत्नत्रय रूप मोक्षके मार्गका कथन सुनकर जो श्रद्धान हो उसे मार्गसम्यक्त्व कहते हैं। तीर्थङ्कर बलदेव आदि पुराणपुरुषोंके चरितको सुनकर जो श्रद्धान होता है उसे उपदेशसम्यक्त्व कहते हैं। मुनिजनोंके आचारका कथन करनेवाले आचाराङ्गसूत्रको सुनकर जो श्रद्धान होता है उसे सूत्रसम्यक्त्व कहते हैं। जिस पदमें सूचन रूपसे समस्त शास्त्रोंके अंश छिपे होते हैं उसे बीज कहते हैं। बीज पदको समझकर सूक्ष्म तत्त्वोंके ज्ञानपूर्वक जो श्रद्धान होता है, उसे बीजसम्यक्त्व कहते हैं। संक्षेपसे आप्त, श्रुत, व्रत और पदार्थोंको जानकर उनपर जो श्रद्धान होता है उसे संक्षेपसम्यक्त्व कहते हैं। बारह अंगों, चौदह पूर्वों और अङ्गबाह्योंके द्वारा विस्तारसे तत्त्वार्थको सुनकर जो श्रद्धान होता है उसे विस्तारसम्यक्त्व कहते हैं। प्रवचनके वचनोंकी सहायताके बिना किसी अन्य प्रकारसे जो अर्थका बोध होकर श्रद्धान होता है उसे अर्थसम्यक्त्व कहते हैं। अङ्ग, पूर्व और प्रकीर्णक आगमोंके किसी एक देशका पूरी तरहसे अवगाहन करनेपर जो श्रद्धान होता है उसे अवगाढ़सम्यक्त्व कहते हैं। और अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञानके द्वारा जीवादि पदार्थोंको जानकर जो प्रगाढ़ श्रद्धान होता है उसे परमावगाढ़सम्यक्त्व कहते हैं।

---

१. "आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरचितं वीतरागाज्ञयैव,
त्यक्तग्रन्थप्रपञ्चं शिवममृतपथं श्रद्दधन् मोहशान्तेः।
मार्गश्रद्धानमाहुः पुरुषवर-पुराणोपदेशोपजाता
या संज्ञानागमाब्धिप्रसृतिभिरुपदेशादिरादेशि दृष्टिः ॥१२॥
आकर्ण्याचारसूत्रं मुनिचरणविधेः सूचनं श्रद्दधानः,
सूक्ताऽसौ सूत्रदृष्टिर्दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजैः।
कैश्चिज्जातोपलब्धेरसमशमवशाद् बीजदृष्टिः पदार्थात्,
संक्षेपेणैव बुद्ध्वा रुचिमुपगतवान् साधु संक्षेपदृष्टिः ॥१३॥
यः श्रुत्वा द्वादशाङ्गीं कृतरुचिरथ तं विद्धि विस्तारदृष्टिं,
संजातार्थात् कुतश्चित् प्रवचनवचनान्यन्तरेणार्थदृष्टिः।
दृष्टिः साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढा,
कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति रूढा ॥१४॥ —आत्मानुशासन।

२—'नुज्ञा आज्ञा'-धर्मरत्नाकरे (पृ० ६८ उ०) पाठः। ३—लापोपक्षेपः, धर्मरत्नाकरे (पृ० ६८ उ०) पाठः। ४—प्रकीर्णकभेदविस्तीर्ण, धर्मरत्नाकरे (पृ० ६८ उ०) पाठः। ५—द्वादशाङ्ग-चतुर्दशपूर्व-प्रकीर्णकभेदेन।

गृहस्थो वा यतिर्वापि सम्यक्त्वस्य समाश्रयः।
एकादशविधः पूर्वश्चरमश्च चतुर्विधः[1] ॥२३५॥
मायानिदानमिथ्यात्वशल्य[2]त्रितयमुद्धरेत्।
आर्जवाकाङ्क्षणाभावतत्त्वभावनकीलकैः ॥२३६॥

भावार्थ—सम्यक्त्वके ये भेद बाह्य निमित्तोंको लेकर किये गये हैं। इनमें से जिनमें तत्त्वार्थका श्रद्धान आचार्य वगैरहके उपदेशसे होता है वे अधिगमज कहलाते हैं और जिनमें स्वतः ही शास्त्रादिकका अवगाहन करके तत्त्वार्थका श्रद्धान होता है वे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहलाते हैं। इसी तरह इनमें से जो सम्यक्त्व सरागीके होते हैं वे सरागसम्यग्दर्शन कहलाते हैं और जो वीतरागीके होते हैं वे वीतरागसम्यग्दर्शन कहलाते हैं। किन्तु इन सभीका अन्तरङ्ग कारण दर्शनमोहनीयका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम है, उसके बिना तो सम्यग्दर्शन हो ही नहीं सकता। इनमें से जो सम्यग्दर्शन दर्शनमोहनीयके उपशमसे होते हैं वे औपशमिक कहे जाते हैं, जो दर्शनमोहनीयके क्षयसे होते हैं वे क्षायिक कहे जाते हैं और जो दर्शनमोहनीयके क्षयोपशमसे होते हैं वे क्षायोपशमिक कहे जाते हैं। इस प्रकार इन सब भेदोंका परस्परमें समन्वय कर लेना चाहिए।

गृहस्थ हो या मुनि हो, सम्यग्दृष्टि, अवश्य होना चाहिए अर्थात् सम्यक्त्वके बिना न कोई श्रावक कहला सकता है और न कोई मुनि कहला सकता है। गृहस्थके ग्यारह भेद हैं जिन्हें ग्यारह प्रतिमाएँ कहते हैं और मुनिके चार भेद हैं ॥२३५॥

सरलता रूपी कीलके द्वारा माया रूपी काँटेको निकालना चाहिए। इच्छाका अभाव रूपी कीलके द्वारा निदान रूपी काँटेको निकालना चाहिए और तत्त्वोंकी भावना रूपी कीलके द्वारा मिथ्यात्व रूपी काँटेको निकालना चाहिए ॥२३६॥

भावार्थ—माया, निदान और मिथ्यात्व ये तीन शल्य हैं। शल्य काँटेको कहते हैं। जैसे काँटा शरीरमें लग जानेपर तकलीफ देता है वैसे ही ये तीनों भी जीवोंको शारीरिक और मानसिक कष्ट पहुँचाते हैं इसलिए इन्हें शल्य कहते हैं। इन शल्योंको हृदयसे दूर किये बिना कोई व्रती नहीं कहा जा सकता। व्रती होनेके लिए केवल व्रतोंको धारण कर लेना ही आवश्यक नहीं है किन्तु उनके साथ-साथ तीनों शल्योंको भी निकाल डालना आवश्यक है। जो मायाचारी है वह कैसे व्रती हो सकता है? व्रती होनेके लिए सरलताका होना जरूरी है। अतः सरलताके द्वारा मायाचारको दूर करना चाहिए। इसी तरह जो रात-दिन भविष्यके भोगोंकी ही कामना करता रहता है, उसका व्रत-नियम कैसे निर्दोष कहा जा सकता है? जो इसलिए उपवास करता है कि उपवासके बाद नाना तरहके पक्वान्न भरपेट खानेको मिलेंगे, जो इसलिए ब्रह्मचर्य पालता है कि शक्ति सञ्चित करके फिर खूब भोग भोगूँगा, या मरकर स्वर्गमें देव होकर अनेक देवाङ्गनाओंके साथ रमण करूँगा, जो इसलिए दान देता है कि उससे मेरी खूब ख्याति

---

१. ऋषि-मुनि-यति-अनगारभेदेन। 'देशप्रत्यक्षवित्केवलभृदिह मुनिः स्याद् ऋषिः प्रोद्गतर्द्धिरारूढ-श्रेणियुग्मोऽजनि यतिरनगारोऽपरः साधुरुक्तः। राजा ब्रह्मा च देवः परम इति ऋषिर्विक्रियाऽक्षीणशक्तिः प्राप्तो बुद्ध्यौषधीशो वियदयनपटुर्विश्ववेदी क्रमेण ॥—चारित्रसार पृ० २२। २. निःशल्यो व्रती।—तत्त्वार्थसूत्र ७–१८।

दृष्टि[1]हीनः पुमानेति न यथा पदमीप्सितम् ।
दृष्टि[2]हीनः पुमानेति न तथा पदमीप्सितम् ॥२३७॥
सम्य[3]क्त्वं नाङ्गहीनं स्याद्राज्यवत्प्राज्यभूतये ।
ततस्तदङ्ग[4]संगत्यामङ्गी निःसंगमीहताम् ॥२३८॥
विद्या[5]विभूतिरूपाद्याः सम्यक्त्वरहिते कुतः ।
नहि बीजव्यपायेऽस्ति सस्यसम्पत्तिरङ्गिनि ॥२३९॥
चक्रि[6]श्रीः संश्रयोत्कण्ठा नाकिश्रीर्दर्शनोत्सुका ।
तस्य दूरे न मुक्तिश्रीर्निर्दोषं यस्य दर्शनम् ॥२४०॥

होगी, अखबारोंमें गुणगान होगा, मेरी साख बढ़ेगी और फिर मेरा व्यापार चमक उठेगा, उनका उपवास, ब्रह्मचर्य और दान स्तुत्य नहीं कहे जा सकते। व्रत भोगोंकी चाहका नियन्त्रण करनेके लिए ही बतलाये गये हैं, जिससे व्रतीकी आत्मा सबल हो। यदि कोई व्रतोंके द्वारा भी भोगोंकी तृष्णाकी ही पूर्ति करना चाहता है तो यह उसकी नासमझी है। इसी तरह यदि कोई व्रताचरण करते हुए भी मिथ्यात्वसे ग्रस्त है तो उसका व्रताचरण व्यर्थ है, क्योंकि जो सन्मार्गपर पैर रखकर भी कुमार्गको छोड़ना नहीं चाहता वह सन्मार्गपर कभी चल ही नहीं सकता। अतः उक्त तीनों शल्योंके होते हुए व्रताचरणका ढोंग रचा जा सकता है, व्रताचरण नहीं किया जा सकता। इसलिए उन्हें दूर कर देना आवश्यक है।

सम्यग्दर्शनकी महिमा

जैसे दृष्टि अर्थात् आँखोंसे हीन पुरुष अपने इच्छित स्थान तक नहीं पहुँच सकता। वैसे ही दृष्टि अर्थात् सम्यग्दर्शनसे हीन पुरुष मुक्तिलाभ नहीं कर सकता ॥२३७॥

जैसे राज्यके अङ्ग मन्त्री सेनापति वगैरहके बिना राज्य समृद्धिशाली नहीं हो सकता, वैसे ही निःशङ्कित आदि अङ्गोंके बिना सम्यग्दर्शन भी उत्कृष्ट आभ्यन्तर और बाह्य विभूतिको नहीं दे सकता। इसलिए प्राणीको चाहिए कि सम्यग्दर्शनके अङ्गोंको प्राप्त करके निःसंग—निर्ग्रन्थ दिगम्बर हो जानेकी कामना करे ॥२३८॥

सम्यक्त्वसे रहित प्राणीमें सम्यग्ज्ञान वगैरह कैसे हो सकते हैं? बीजके अभावमें धान्य सम्पत्ति नहीं होती। जिसका सम्यग्दर्शन निर्दोष है, चक्रवर्तीकी विभूति उसका आलिंगन करनेके लिए उत्कण्ठित रहती है और देवोंकी विभूति उसके दर्शनके लिए उत्सुक रहती है। अधिक क्या, मोक्षलक्ष्मी भी उससे दूर नहीं है ॥२३९–२४०॥

---

१. नेत्र। २. सम्यग्दर्शन। 'दृशाहीनः पुमानेति न यथा स्थानमीप्सितम्। निर्दर्शनः पुमान् याति न तथा पदमीप्सितम् ॥ ६४ ॥–प्रबोधसार। ३. 'नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम्।–रत्न० श्रा०। ४. अष्टाङ्गपूर्णतायां सत्यां प्राणी निसंगं चारित्रं वाञ्छतु।' ५. 'विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः। न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥ ३२ ॥' – रत्नकरण्डश्रावकाचार। ६. देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानं राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयम्। धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः ॥४१॥ –रत्न० श्रा०।

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट् ।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशतिः ॥२४१॥[1]
निश्चयोचितचारित्रः[2] सुदृष्टिस्तत्त्वकोविदः ।
अव्रतस्थोऽपि मुक्तिस्थो न व्रतस्थोऽप्यदर्शनः ॥२४२॥
बहिःक्रिया[3] बहिष्कर्म[4]कारणं केवलं भवेत् ।
रत्नत्रयसमृद्धेः स्यादात्मा रत्नत्रयात्मकः ॥२४३॥
विशुद्धवस्तुधीर्दृष्टि[5]र्बोधः[6] साकारगोचरः ।
अप्रसङ्ग[7]स्तयोर्वृत्तं भूतार्थनयवादिनाम्[8] ॥२४४॥

सम्यग्दर्शनके दोष

तीन मूढ़ताएँ, आठ मद, छह अनायतन और आठ शंका वगैरह, ये सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष हैं ॥२४१॥

भावार्थ—देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता और लोकमूढ़ता ये तीन मूढ़ताएँ हैं। इनका स्वरूप पहले बतला आये हैं। ज्ञानका मद करना, आदर सत्कारका मद करना, कुलका मद करना, जातिका मद करना, बलका मद करना, ऐश्वर्यका मद करना, तपका मद करना और शरीरका मद करना, ये आठ मद हैं। मद घमण्डको कहते हैं। कुदेव, कुदेवका मन्दिर, कुशास्त्र, कुशास्त्रके धारक, कुतप और कुतपके धारक ये छह अनायतन हैं। अनगारधर्मामृतमें मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र और उनके धारक इस तरह छह अनायतन कहे हैं। सम्यग्दर्शनके जो आठ अङ्ग बतलाये हैं उनके उलटे शङ्का, कांक्षा, विचिकित्सा आदि आठ दोष हैं। ये सब मिलाकर सम्यग्दर्शनके पच्चीस दोष हैं। जो सम्यग्दृष्टि इन दोषोंसे रहित होता है उसका सम्यग्दर्शन निर्दोष कहा जाता है।

मुक्तिके मार्गमें कौन स्थित है ?

स्वरूपाचरण चारित्रका धारक और तत्त्वोंका ज्ञाता सम्यग्दृष्टि व्रतोंका पालन नहीं करते हुए भी मुक्तिके मार्गमें स्थित है। किन्तु व्रतोंका पालन करते हुए भी जो सम्यग्दर्शनसे रहित है वह मुक्तिके मार्गमें स्थित नहीं है ॥२४२॥

रत्नत्रय आत्मस्वरूप है

बाह्य क्रिया तो केवल बाह्य कर्मकी ही कारण होती है। किन्तु रत्नत्रय रूपी समृद्धिका कारण तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमय आत्मा ही है ॥२४३॥

निश्चयनयवादियोंके मतमें अर्थात् निश्चयनयकी दृष्टिमें विशुद्ध आत्मस्वरूपमें रुचि होना निश्चय सम्यक्त्व है। विशुद्ध आत्माको साकार रूपसे जानना निश्चय सम्यग्ज्ञान है और उन सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके विषयोंमें भेद-बुद्धि न करके एकरूप होना, अर्थात् आत्मस्वरूपमें लीन होना निश्चयचारित्र है ॥२४४॥

---

१. 'श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् । त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४॥' ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः । अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥ २५॥ –रत्न० श्रा० । २. अव्रतोऽपि योग्यचारित्रः (?) । ३. बाह्यज्ञानचारित्रादि । ४. शरीरग्रहणलक्षणम् । ५. आत्मस्वरूपे रुचिर्निश्चयसम्यक्त्वम् । ६. आत्मपरिज्ञानम् । ७. तयोर्दृग्बोधयोर्विषयेऽप्रसङ्गः भेदः (?) एकलोलीभावः निश्चयचारित्रम् । ८. निश्चयनयज्ञानिनाम् ।

अक्षा[1]ज्ज्ञानं रुचि[2]र्मोहाद्देहा[3]द्वृत्तं च नास्ति यत् ।
आत्मन्यस्मिञ्शिवीभूते तस्मादात्मैव तत्त्र[4]यम् ॥२४५॥

इस आत्माके मुक्त हो जानेपर न तो इन्द्रियोंसे ज्ञान होता है, न मोहसे जन्य रुचि होती है और न शारीरिक आचरण होता है। अतः ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनों आत्म-स्वरूप ही हैं ॥२४५॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्षके मार्ग हैं। किन्तु मोहके रहते हुए सच्चा श्रद्धान नहीं हो सकता, क्योंकि मोहके वशीभूत होकर प्राणी अपने हित-अहितको नहीं समझ पाता। जिससे उसे अपनी वासनाकी पूर्ति होती हुई दिखाई देती है उसे ही अपने सुखका साधन समझ बैठता है और जब उसीसे उसकी वासनाकी पूर्ति होती हुई नहीं दिखाई देती तब उसे ही दुःखका कारण मान बैठता है। इस तरह मोहके रहते हुए कभी वह सच्चे सुख और उसके साधनोंकी ओर दृष्टि ही नहीं देता। अतः मोहसे मिथ्याश्रद्धान ही होता है, सम्यक्श्रद्धान नहीं। सम्यक्श्रद्धान तो आत्माका गुण है और वह मोहके अभावमें ही प्रकट होता है तथा ज्ञान भी आत्माका ही गुण है, इन्द्रियोंका नहीं। इन्द्रियाँ तो संसार अवस्थामें ज्ञानकी उत्पत्तिमें सहायक मात्र हैं। उनके बिना भी अतीन्द्रिय वस्तुओंका ज्ञान होता है और उनके रहते हुए भी कभी-कभी ज्ञान नहीं होता। अतः ज्ञान भी इन्द्रियोंका धर्म नहीं है। तथा चारित्र भी शरीरका धर्म नहीं है; क्योंकि शरीरसे कुछ न कुछ करते रहनेका नाम चारित्र नहीं है किन्तु कर्मबन्धके कारणभूत सब क्रियाओंका निरोध करना ही सम्यक्चारित्र है। शारीरिक क्रियाएँ तो कर्मोंके आस्रवकी कारण हैं। यदि वे क्रियाएँ शुभ होती हैं तो शुभ कर्मका आस्रव होता है और यदि वे क्रियाएँ अशुभ होती हैं तो अशुभ कर्मका आस्रव होता है। इसके सिवा यदि शरीरसे अच्छी क्रिया करते हुए भी मन उस ओर न हो और किन्हीं बुरे विचारोंमें रमता हो तो शारीरिक क्रिया शुभ होनेपर भी उसका फल शुभ नहीं होता; क्योंकि केवल द्रव्यसे, यदि उसमें भाव न लगा हो तो कुछ भी कार्य नहीं सध सकता। अतः चारित्र शरीरका धर्म नहीं है आत्माका धर्म है, शरीर तो केवल शुभाचरण रूप चारित्रमें सहायक मात्र है। और फिर जब मुक्ति आत्मस्वरूप है तो वे तीनों आत्मस्वरूप ही होने चाहिए। क्योंकि कहा है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आत्माके सिवा अन्य द्रव्यमें नहीं रहते। अतः रत्नत्रयमय आत्मा ही मोक्षका कारण है। मुक्तावस्थामें इन्द्रियोंके अभावमें भी स्वाभाविक ज्ञानादिक गुण रहते हैं। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि जैन सिद्धान्तमें वस्तुका विवेचन दो दृष्टियोंसे होता है, एक व्यवहार-दृष्टिसे और दूसरे निश्चय-दृष्टिसे। व्यवहार-दृष्टिको व्यवहारनय कहते हैं और निश्चय-दृष्टिको निश्चयनय कहते हैं। आचार्य अमृतचन्द्रसूरिने अपने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक ग्रन्थके प्रारम्भमें लिखा है कि व्यवहार

---

१. आत्मनि मोक्षं प्राप्ते सति अक्षात् षडिन्द्रियात् ज्ञानं न भवति। २. मुक्तजीवे मोहनीय-कर्मणः रुचिर्न किन्तु आत्मरुचेरेव रुचिर्भवति। ३. शरीराच्चारित्रं न किन्तु आत्मन्येकलोलीभावश्चारित्रम्। ४. दर्शन-ज्ञान-चारित्रत्रयम्।

और निश्चयके ज्ञाता ही जगत्में धर्मतीर्थका प्रवर्तन करते हैं। और जो केवल व्यवहारको ही जानता है वह उपदेशका पात्र नहीं है क्योंकि जैसे किसी बच्चेमें शूर-वीरता, निर्भयता आदि धर्मोंको देखकर किसीने कहा कि 'यह बच्चा तो शेर है'। जो आदमी शेरको नहीं जानता वह समझ बैठता है कि यही शेर है। वैसे ही निश्चयको न जाननेवाला व्यवहारको ही निश्चय समझ बैठता है। किन्तु जो व्यवहार और निश्चय दोनोंको जानकर दोनोंमें मध्यस्थ रहता है, दोनोंमें से किसी एक नयका ही पक्ष पकड़कर नहीं बैठ जाता वही शिष्य या श्रोता उपदेशका पूरा लाभ उठाता है। अतः निश्चय और व्यवहार दोनोंको समझना आवश्यक है। वस्तुके असली स्वरूपको निश्चय कहते हैं, जैसे मिट्टीके घड़ेको मिट्टीका घड़ा कहना। और परके निमित्तसे वस्तुका जो औपचारिक या उपाधिजन्य स्वरूप होता है उसे व्यवहार कहते हैं। जैसे मिट्टीके घड़ेमें घी भरा होनेके कारण उसे घीका घड़ा कहना। अतः चूँकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र आत्मस्वरूप ही हैं, अतः आत्माका विनिश्चय ही निश्चय सम्यग्दर्शन है, आत्माका ज्ञान ही निश्चय सम्यग्ज्ञान है और आत्मामें स्थित होना ही निश्चय सम्यक्चारित्र है। किन्तु आत्म-स्वरूपका विनिश्चय तबतक नहीं हो सकता जबतक आत्मा और कर्मोंके मेलसे जिन सात तत्त्वोंकी सृष्टि हुई है उनका तथा उनके उपदेष्टा देव, शास्त्र और गुरुओंका श्रद्धान न हो, क्योंकि परम्परासे ये सभी आत्म-श्रद्धानके कारण हैं। इनपर श्रद्धान हुए बिना इनकी बातोंपर श्रद्धान नहीं हो सकता और इनकी बातोंपर श्रद्धान हुए बिना आत्माकी ओर उन्मुखता, उसकी पहचान और विनिश्चिति उत्तरोत्तर नहीं हो सकती। यही बात सम्यग्ज्ञानके सम्बन्धमें जाननी चाहिए। वास्तवमें देव शास्त्र गुरु और उनके द्वारा उपदिष्ट सात तत्त्वोंका श्रद्धान और ज्ञान इसीलिए आवश्यक है क्योंकि वह आत्मश्रद्धान और आत्मज्ञानमें निमित्त है। इन सबके श्रद्धान और ज्ञानका लक्ष्य आत्मश्रद्धान और आत्मज्ञान ही है। इसी तरह आत्मामें स्थिति तबतक नहीं हो सकती जबतक उसकी प्रवृत्ति बहिर्मुखी है। अतः उसकी प्रवृत्तिको अन्तर्मुखी करनेके लिए पहले उसे बुरी प्रवृत्तियोंसे छुड़ाकर अच्छी प्रवृत्तियोंमें लगाया जाता है। जब वह उनका अभ्यस्त हो जाता है तब धीरे-धीरे उनका भी निरोध करके उसे प्रवृत्तिमार्गसे निवृत्तिमार्गकी ओर लगाया जाता है। होते-होते वह उस स्थितिमें पहुँच जाता है जहाँ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्रका विषय केवल आत्मा ही रह जाता है और समस्त परावलम्ब विलीन हो जाते हैं। यही निश्चयरूप रत्नत्रय है। किन्तु बिना व्यवहारका अवलम्बन किये इस निश्चयकी प्रतीति नहीं हो सकती। अतः अजानकारोंको समझानेके लिए व्यवहारका उपदेश दिया जाता है और व्यवहारके द्वारा निश्चयकी प्रतीति करायी जाती है। जबतक जीव सरागी रहता है तबतक वह व्यवहारी रहता है, ज्यों-ज्यों उसका राग घटता जाता है त्यों-त्यों वह व्यवहारसे निश्चयकी ओर आता जाता है और ज्यों-ज्यों वह निश्चयकी ओर आता-जाता है त्यों-त्यों उसके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र व्यवहारसे निश्चयका रूप लेते जाते हैं। किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि चौथे आदि गुणस्थानोंमें जो सम्यक्त्व होता है उसमें आत्मविनिश्चिति, आत्मबोध और आत्मस्थिति कतई रहती ही नहीं, यदि ऐसा हो तो उसे सम्यक्त्व ही नहीं कहा जायेगा। दर्शन मोहनीय और अनन्तानुबन्धी कषाय जैसी प्रकृतियोंका उपशम क्षयोपशम अथवा क्षय हो जाना मामूली बात नहीं है और उनके हो जानेसे जीवकी परिणतिमें आमूल-चूल परिवर्तन हो जाता है, उसीके कारण

नात्मा कर्म न कर्मात्मा तयोर्यन्महदन्तरम्[1][2]।
तदात्मैव[3] तदा सत्ता वात्मा[4] व्योमेव केवलम् ॥२४६॥

क्लेशाय कारणं कर्म विशुद्धे स्वयमात्मनि।
नोष्णमम्बु स्वतः किन्तु[5] तदौष्ण्यं वह्निसंश्रयम् ॥२४७॥

आत्मा कर्ता स्वपर्याये कर्म कर्तृ स्वपर्यये।
मिथो[6] न जातु कर्तृत्वमपरत्रोपचारतः ॥२४८॥

स्वतः सर्वं स्वभावेषु सक्रियं सचराचरम्।
निमित्तमात्रमन्यत्र वार्गतेरिव[7] सारिणिः ॥२४९॥

उसके प्रतिसमय असंख्यातगुणी कर्म निर्जरा होती है, अनेक प्रकृतियोंका बन्ध रुक जाता है और अनेकोंके स्थिति अनुभागका ह्रास या क्षय हो जाता है। तभी तो प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनके साथ-साथ स्वरूपाचरण चारित्र भी बतलाया है जोकि शुद्धात्मानुभवका अविनाभावी है। और शुद्धात्मानुभव सम्यग्दर्शनके बिना नहीं होता। अतः भेद-दृष्टिके कारण जो सम्यग्दर्शन व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है उसमें भी आत्मविनिश्चिति, आत्मानुभव और आत्मस्थिति रहती ही है। किन्तु चारित्रमोहनीय आदिके कारण उनमें स्थिरता न आ सकनेसे वे तीनों एक आत्मरूप नहीं हो पाते।

[अब आत्मा और कर्मका सम्बन्ध कैसा है यह स्पष्ट करते हैं—]

न आत्मा कर्म है और न कर्म आत्मा है; क्योंकि दोनोंमें बड़ा भारी अन्तर है। अतः मुक्तावस्थामें केवल आत्मा ही रहता है और वह शुद्ध आकाशकी तरह है ॥२४६॥

आत्मा स्वयं विशुद्ध है और कर्म उसके क्लेशका कारण है। जैसे जल स्वयं गरम नहीं होता; किन्तु आगके सम्बन्धसे उसमें गरमी आ जाती है ॥२४७॥

आत्मा अपनी पर्यायका कर्ता है और कर्म अपनी पर्यायका कर्ता है। उपचारके सिवा दोनों परस्परमें एक दूसरेके कर्ता नहीं हैं। अर्थात् उपचारसे आत्माको कर्मका और कर्मको आत्माका कर्ता कहा जाता है परन्तु वास्तवमें दोनों अपनी-अपनी पर्यायोंके ही कर्ता हैं। समस्त चराचर विश्व स्वयं अपने स्वभावका कर्ता है, दूसरे तो उसमें निमित्त मात्र हैं। जैसे जलमें स्वयं बहनेकी शक्ति है, किन्तु नाली उसके बहनेमें निमित्त मात्र है ॥२४८–२४९॥

भावार्थ—आत्मा और कर्म ये दोनों दो स्वतन्त्र पदार्थ हैं। आत्मा चेतन है और कर्म जड़ है। अतः न चेतन जड़ हो सकता है और न जड़ चेतन हो सकता है। किन्तु दोनों पदार्थोंमें एक वैभाविकी नामकी शक्ति है। इस वैभाविकी शक्तिके कारण परका निमित्त मिलनेपर वस्तुका विभावरूप परिणमन होता है। इसीसे अनादि कालसे जीव कर्मोंसे बँधा हुआ है। जब

१. आत्मकर्मणोः। २. महान् भेदः। ३. तत्कारणात्। 'तदात्मैवं'–अ. ज.। ४. वात्माद्योमेव अ० ज०। अद्य इदानीं केवलमात्मा उमेव (?) अंगीकृतः अस्माभिः एव निश्चयेन। ५. किञ्चिदौष्ण्यं–आ०। ६. परस्परमात्मकर्मणोः कर्तृत्वं न, उपचाराद् व्यवहारात् अन्यत्र परस्परं कर्तृत्वं भवति न च निश्चयात्। 'आत्मभावान् करोत्यात्मा परभावान् सदा परः। आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ॥५६॥' –समयसार पृ० १४१। ७. जलगमनस्य।

जीवन्तु वा म्रियन्तां वा प्राणिनोऽमी स्वकर्मतः ।
[2]स्वं विशुद्धं मनो हिंसन् हिंसकः पापभाग्भवेत् ॥२५०॥
शुद्धमार्गमतोद्योगः शुद्धचेतोवचोवपुः ।
शुद्धान्तरात्मसंपन्नो हिंसकोऽपि न हिंसकः ॥२५१॥

राग-द्वेषसे युक्त जीव अच्छे या बुरे कामोंमें लगता है तब कर्मरूपी रज ज्ञानावरणादिक रूपसे उसमें प्रवेश करता है। जैनदर्शनमें पुद्गल द्रव्यकी २३ वर्गणाएँ मानी गयी हैं। उनमेंसे एक कार्मण वर्गणा भी है, जो समस्त संसारमें व्याप्त है। यह कार्मण वर्गणा ही जीवोंके भावोंका निमित्त पाकर कर्मरूप परिणत हो जाती है। जीव उनका कर्ता नहीं है, क्योंकि द्रव्य कर्म पौद्गलिक है, पुद्गल द्रव्यके विकार हैं। उनका कर्ता चेतन जीव कैसे हो सकता है? चेतनका कर्म चैतन्य रूप होता है और अचेतनका कर्म अचेतन रूप। यदि चेतनका कर्म भी अचेतन रूप होने लगे तो चेतन और अचेतनका भेद मिट जानेसे महान् संकर दोष उपस्थित हो। अतः प्रत्येक द्रव्य स्वभावका कर्ता है, परभावका कर्ता नहीं है। जैसे जल स्वभावसे शीतल होता है, किन्तु आगपर रखनेसे उष्ण हो जाता है। यहाँपर उष्णताका कर्ता जलको नहीं कहा जा सकता। उष्णता तो अग्निका धर्म है, वह जलमें अग्निके सम्बन्धसे आयी है, अतः आगन्तुक है, अग्निका सम्बन्ध अलग होते ही चली जाती है। इसी प्रकार जीवके अशुद्ध भावोंका निमित्त पाकर जो पुद्गल द्रव्य कर्मरूप परिणत होते हैं उनका कर्ता स्वयं पुद्गल ही है, जीव उनका कर्ता नहीं हो सकता। जीव तो अपने भावोंका कर्ता है। जैसे यदि कोई सुन्दर युवा पुरुष बाजारसे कार्यवश जाता हो और कोई सुन्दरी उसपर मोहित होकर उसकी अनुगामिनी बन जाये तो इसमें पुरुषका क्या कर्तृत्व है? कर्त्री तो वह स्त्री है, पुरुष उसमें केवल निमित्तमात्र है। वैसे ही जीव तो अपने रागद्वेषादि रूप भावोंका कर्ता है। किन्तु उन भावोंका निमित्त पाकर कर्मरूप होनेके योग्य पुद्गल कर्मरूप परिणत हो जाते हैं। तथा कर्मरूप परिणत हुए पुद्गल द्रव्य जब अपना फल देते हैं तो उनके निमित्तको पाकर जीव भी रागादि रूप परिणमन करता है। यद्यपि जीव और पौद्गलिक कर्म दोनों एक दूसरेका निमित्त पाकर परिणमन करते हैं तथापि न तो जीव पुद्गल कर्मोंके गुणोंका कर्ता है और न पुद्गल कर्म जीवके गुणोंका कर्ता है। किन्तु परस्परमें दोनों एक दूसरेका निमित्त पाकर परिणमन करते हैं। अतः आत्मा अपने भावोंका ही कर्ता है [इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि जब जीव अपने-अपने कर्मके उदयसे जीते और मरते हैं तो जो मारनेमें निमित्त होता है उसे हिंसाका पाप क्यों लगता है, अतः इसका समाधान करते हैं]

ये प्राणी अपने कर्मके उदयसे जीवें या मरें, किन्तु अपने विशुद्ध मनकी हिंसा करने वाला हिंसक है और इसलिए वह पापका भागी है। जो शुद्ध मार्गमें प्रयत्नशील है, जिसका मन, वचन और शरीर शुद्ध है, तथा जिसकी अन्तरात्मा भी शुद्ध है वह हिंसा करके भी हिंसक नहीं है ॥ २५०-२५१ ॥

१. 'मरदु व जीवदु जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा। पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥'
२. अशुद्धं मनः कुर्वन् पुमान् हिंसको भवति। 'स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्। पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चाद् स्याद्वा न वा वधः' ॥—सर्वार्थसिद्धि ७-१३ में उद्धृत।

पुण्यायापि भवेद् दुःखं पापायापि भवेत्सुखम् ।
स्वस्मिन्नन्यत्र वा नीतमचिन्त्यं चित्तचेष्टितम् ॥२५२॥
सुखदुःखाविधातापि भवेत्पापसमाश्रयः ।
पेटीमध्यविनिक्षिप्तं वासः स्यान्मलिनं न किम् ॥२५३॥

भावार्थ—*प्रमादके योगसे प्राणोंके घात करनेको हिंसा कहते हैं। जैन धर्मके अनुसार अपनेसे किसीके प्राणोंका घात हो जाने मात्रसे ही हिंसा नहीं होती। संसारमें सर्वत्र जीव पाये जाते हैं और वे अपने निमित्तसे मरते भी हैं, किन्तु फिर भी उसे जैन धर्म हिंसा नहीं कहता। क्योंकि हिंसा दो प्रकारसे होती है एक कषायसे यानी जान-बूझकर और दूसरे अयत्नाचार या असावधानीसे। जब एक मनुष्य क्रोध, मान, माया या लोभके वश होकर दूसरोंपर वार करता है तो वह कषायसे हिंसा कही जाती है और जब मनुष्यकी असावधानतासे किसीका घात हो जाता है या किसीको कष्ट पहुँचता है तो वह अयत्नाचारसे हिंसा कही जाती है। किन्तु यदि कोई मनुष्य देख-भालकर कार्य करता है और उस समय उसके चित्तमें कोई कषाय भी नहीं है फिर भी यदि उसके द्वारा किसीका वध हो जाता है तो वह हिंसक नहीं कहा जाता। जैसा कि शास्त्रकारोंने कहा है कि जो मनुष्य देख-देखके मार्गमें चल रहा है, उसके पैर उठाने पर यदि कोई जन्तु उसके पैरके नीचे आ जावे और दबकर मर जावे तो उस मनुष्यको उस जीवके मारनेका थोड़ा-सा भी पाप नहीं लगता। किन्तु यदि कोई मनुष्य असावधानतासे कार्य कर रहा है और उसके द्वारा किसी प्राणीकी हिंसा भी नहीं हो रही है तब भी वह हिंसाका भागी है। जैसा कि शास्त्रकारोंने कहा है कि 'जीव मरे या जिये, असावधानतासे काम करनेवालों को हिंसाका पाप अवश्य लगता है। किन्तु जो यत्नाचारसे कार्य कर रहा है उसे हिंसा हो जाने पर भी हिंसाका पाप नहीं लगता'। वास्तवमें हिंसा रूप परिणाम ही हिंसा है। द्रव्य हिंसाको तो केवल इसलिए हिंसा कहा जाता है कि उसका भावहिंसाके साथ सम्बन्ध है। इसीलिए कहा है कि 'जो प्रमादी है वह प्रथम तो अपना ही घात करता है। बादको अन्य प्राणियोंका घात हो या न हो।' अतः जो दूसरोंको कष्ट पहुँचानेका प्रयत्न करता है वह अपने परिणामोंका ही घात करनेके कारण हिंसक है अतः वह पापका भागी है। और जो सावधान और अप्रमादी है वह दूसरेका घात हो जानेपर भी हिंसक नहीं है क्योंकि उसके परिणाम पवित्र हैं। इसीसे पण्डित आशाधरजीने अपने सागारधर्मामृतमें लिखा है—'यदि बन्ध और मोक्ष भावोंके ऊपर निर्भर न होता तो जीवोंसे भरे हुए इस लोकमें कौन मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता।'

अपनेको या दूसरेको दुःख देनेसे पुण्य कर्मका भी बन्ध होता है और सुख देनेसे पाप कर्मका भी बन्ध होता है। मनकी चेष्टाएँ अचिन्त्य हैं। जो सुख और दुःखका अकर्ता है वह भी पापसे लिप्त हो जाता है। ठीक ही है, क्या सन्दूकमें रखा हुआ वस्त्र मैला नहीं हो जाता।

---

१. 'पापं ध्रुवं परे दुःखात् पुण्यं च सुखतो यदि। अचेतनाकषायौ च बध्येयातां निमित्ततः ॥ ९२ ॥' पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि। वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः ॥ ९३ ॥— आप्तमीमांसा। तपः कष्टादिकं तदपि विरुद्धमाचरितं कदाचित् पापाय भवति तेन एकान्तं नास्ति।

* इस भावार्थमें जो शास्त्रकारोंके मत दिये गये हैं उनके लिए सर्वार्थसिद्धि अ० ७, सू० १३ की टीका देखें।

बहिष्कार्यासमर्थेऽपि हृदि हृद्येव संस्थिते ।
परं पापं परं पुण्यं परमं च पदं भवेत् ॥२५४॥
प्रकुर्वाणः क्रियास्तास्ताः केवलं क्लेशभाजनः ।
यो न चित्त²प्रचारज्ञस्तस्य मोक्षपदं कुतः ॥२५५॥

बाह्य क्रिया न करते हुए भी यदि चित्त चित्तमें ही लीन रहता है तो उत्कृष्ट पाप, उत्कृष्ट पुण्य और उत्कृष्ट पद मोक्ष प्राप्त हो सकता है ॥ जो केवल बाह्य क्रियाओंको करनेका ही कष्ट उठाता रहता है और चित्तकी चंचलताको नहीं समझता, उसे मोक्ष पद कैसे प्राप्त हो सकता है ? ॥ २५४--२५५ ॥

भावार्थ—कुछ लोग समझते हैं कि दूसरोंको दुःख देनेसे पाप कर्मका बन्ध होता है और सुख देनेसे पुण्य कर्मका बन्ध होता है। कुछ समझते हैं कि स्वयं दुःख उठानेसे पुण्य कर्मका बन्ध होता है और सुख भोगनेसे पाप कर्मका बन्ध होता है। किन्तु ऐसा ऐकान्तिक नियम नहीं है। क्योंकि यदि किसीको अच्छे भावोंसे दुःख भी पहुँचाया जाय तो वह पाप कर्मके बन्धका कारण नहीं होता। जैसे डाक्टर रोगीको नीरोग कर देनेकी भावनासे चीरा लगाता है। रोगीको महान् कष्ट होता है वह चिल्लाता है और छटपटाता है। फिर भी डाक्टरको चीरा लगाने से पाप कर्मका बन्ध नहीं होता। तथा यदि बुरे भावोंसे किसीको सुख दिया जाये तो वह पुण्य कर्मके बन्धका कारण नहीं होता। जैसे, कोई वेश्या किसी अनाथ सुन्दरीका पालन-पोषण करके उसे सुख पहुँचाती है जिससे उसके शरीरको बेचकर वह खूब धन जमा कर सके। वह सुखदान वेश्याके पुण्य कर्मके बन्धका कारण नहीं है। इसी तरह स्वयं दुख उठानेसे पुण्य कर्मका और सुख उठानेसे पाप कर्मका ही बन्ध होता है, यह भी एकान्त नियम नहीं है। क्योंकि बुरे भावोंसे दुःख उठानेपर पाप कर्मका ही बन्ध होता है और अच्छे भावोंसे सुख भोगनेपर भी पुण्य कर्मका बन्ध होता है। अतः जैन धर्ममें भावकी ही मुख्यता है। भावकी विशुद्धि और अविशुद्धि पर ही पुण्य और पाप कर्मका बन्ध निर्भर है केवल बाह्य क्रियाके अच्छेपन या बुरेपनपर नहीं, क्योंकि एक पूजक भगवान्की पूजा करते समय यदि मनमें बुरे विचारोंका चिन्तवन करता है तो उसकी बाह्य क्रिया शुभ होने पर भी मनकी क्रिया शुभ नहीं है इसलिए उसे पुण्य कर्मका बन्ध नहीं होता। तथा एक पिता बच्चेकी बुरी आदतें छुड़ानेके लिए उसे मारता है। यहाँ यद्यपि पिताकी बाह्य क्रिया खराब है, देखनेवाले उसे बुरा-भला कहते हैं मगर उसके चित्तमें लड़केके कल्याणकी भावना समायी हुई है। अतः जो केवल बाह्य क्रियाओंके करनेमें ही लगे रहते हैं और मनको उनमें लगानेका प्रयत्न नहीं करते वे कभी भी मुक्ति लाभ नहीं कर सकते। चित्तकी वृत्तियाँ बड़ी चंचल होती हैं और उनके नियमनपर ही सब कुछ निर्भर है। जो आदमी एकान्त स्थानमें ध्यान लगाकर बैठा हुआ है, न वह किसीको दुःख देता है और न किसीको सुख, फिर भी चूँकि उसका मन योगमें न लगाकर भोगकी कल्पनामें रम रहा है अतः वह बैठे-बिठाये पाप कर्मका बन्ध करता है। इसीलिए कहा है कि मन ही मनुष्योंके बन्ध और मोक्षका कारण है। उसके द्वारा मनुष्य चाहे तो न कुछ करते हुए भी सातवें नरकका बन्ध कर सकता है और

१. चित्ते। अशुभध्यानेन पापं स्यात्, शुभेन पुण्यम्। परमशुक्लेन परं पदम्। २. चित्तप्रसार-आ०।

यज्जानाति यथावस्थं वस्तुसर्वस्वमञ्जसा[1]।
तृतीयं लोचनं नृणां सम्यग्ज्ञानं तदुच्यते ॥२५६॥
यष्टिवज्जनुषान्धस्य तत्स्यात्सुकृतचेतसः।
प्रवृत्तिविनिवृत्त्यङ्गं हिताहितविवेचनात् ॥२५७॥
मतिर्जागर्ति दृष्टेऽर्थे[2] दृष्टेऽदृष्टे तथागमः।
अतो न दुर्लभं तत्त्वं यदि निर्मत्सरं[3] मनः ॥२५८॥
यद्यर्थे दर्शितेऽपि स्याज्जन्तोः संतमसा[4] मतिः।
ज्ञानमालोकवत्तस्य वृथा रविरिपोरिव[5] ॥२५९॥
ज्ञातुरेव स दोषोऽयं यदबाधेऽपि वस्तुनि।
मतिर्विपर्ययं धत्ते यथेन्दौ मन्दचक्षुषः[6] ॥२६०॥

उसीको शुभ विचारोंमें लगाकर उत्कृष्ट पुण्यका बन्ध कर सकता है। तथा उसीको शुभ और अशुभ दोनोंसे हटाकर शुद्धोपयोग में लगा देनेसे मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अतः चित्तके विकल्पों को समझकर उन्हींके नियन्त्रणका प्रयत्न करते रहना चाहिए तभी बाह्य क्रियाएँ भी फलदायी हो सकती हैं।

सम्यग्ज्ञानका स्वरूप

[*अब सम्यग्ज्ञानका स्वरूप बतलाते हैं—*]

जो सब वस्तुओंको ठीक रीतिसे जैसाका-तैसा जानता है उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। यह सम्यग्ज्ञान मनुष्योंका तीसरा नेत्र है ॥ जैसे जन्मसे अन्धे मनुष्यको लाठी ऊँची-नीची जगहको बतलाकर उसे चलने और रुकनेमें मदद देती है वैसे ही सम्यग्ज्ञान हित और अहितका विवेचन करके धर्मात्मा पुरुषको हितकारक कार्योंमें लगाता है और अहित करनेवाले कामोंसे रोकता है ॥२५६-२५७॥

मतिज्ञान तो इन्द्रियोंके विषयभूत पदार्थोंको ही जानता है। किन्तु शास्त्र इन्द्रियोंके विषयभूत और अतीन्द्रिय दोनों प्रकारके पदार्थोंका ज्ञान कराता है। अतः यदि ज्ञाताका मन ईर्षा, द्वेष आदि दुर्भावोंसे रहित है तो उसे तत्त्वका ज्ञान होना दुर्लभ नहीं है ॥२५८॥

यदि तत्त्वके ज्ञान लेनेपर भी मनुष्यकी बुद्धि अन्धकारमें रहती है तो जैसे उल्लूके लिए प्रकाश व्यर्थ होता है वैसे ही उस मनुष्यका ज्ञान भी व्यर्थ है ॥ साफ स्पष्ट वस्तुमें भी बुद्धिका विपरीत होना ज्ञाताके ही दोषको बतलाता है। जैसे चन्द्रमाके विषयमें काच कामलादि रोगसे ग्रस्त नेत्रवाले मनुष्यको विपरीत ज्ञान होता है—एकके दो चन्द्रमा दिखायी देते हैं। यह ज्ञाताकी ही खराबी है, चन्द्रमाकी नहीं ॥२५९-२६०॥

भावार्थ—जो वस्तु जिस रूपमें है उसको वैसा जानना सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञानका फल ही यह है कि वह हित और अहितका ज्ञान कराकर ज्ञाताको हितमें लगाये और अहितसे बचाये। किन्तु यदि कोई सम्यग्ज्ञानसे वस्तुको जानकर भी उसकी उपेक्षा करता है तो यह

१. सर्ववस्तुस्वरूपम्। २. पदार्थे। ३. मात्सर्यरहितम्। ४. मलिना। ५. उलूकस्येव। 'यद्यर्थे दर्शितेऽपि स्यान्महामोहमयी मतिः। बुद्धिः प्रभातवत् तस्य वृथा रविरिपोरिव ॥ ७४ ॥—प्रबोधसार। ६. यथा मन्ददृष्टिः पुमान् द्वौ त्रीन् वा चन्द्रान् पश्यति।

ज्ञानमेकं पुनर्द्वेधा पञ्चधा चापि तद्भवेत् ।
अन्यत्र केवलज्ञानात्तत्प्रत्येकमनेकधा ॥२६१॥

ज्ञानका दोष नहीं है किन्तु जाननेवालेका दोष है। असलमें ज्ञान दो कारणोंसे मिथ्या होता है एक बहिरङ्ग कारणसे और दूसरे अन्तरङ्ग कारणसे। आँखोंमें खराबी होने या अन्धकार होनेसे जो कुछका-कुछ दिखायी दे जाता है वह बहिरङ्ग कारणोंकी खराबी या कमीसे होता है। किन्तु बहिरंग कारणोंके ठीक होते हुए भी और वस्तुको जैसाका-तैसा जाननेपर भी अन्तरङ्गमें मिथ्यात्वका उदय होनेसे भी ज्ञाताका ज्ञान मिथ्या होता है। जैसे नशीली वस्तुओंके सेवनसे मनुष्यका मस्तिष्क विकृत हो जाता है और उसकी आँखें खुली होने तथा प्रकाश वगैरहके होनेपर भी वह कुछका-कुछ जानता है। वैसे ही मिथ्यात्वका उदय होते हुए ज्ञानी मनुष्यका चित्त भी आत्म-कल्याणकी ओर न झुककर राग-रंगकी ओर ही झुकता है। जो वस्तुएँ उसे रुचती हैं उनसे वह राग करता है और जो वस्तुएँ उसे नहीं रुचतीं उनसे द्वेष करता है। चूँकि वह ज्ञानी है इस लिए जब वह वस्तुस्वरूपका विवेचन करने खड़ा होता है तो यथावत् विवेचन कर जाता है। किन्तु जब स्वयं उन वस्तुओंमें प्रवृत्ति करता है तो उसकी प्रवृत्ति राग-द्वेषके रंगमें रंगी होती है। एक ही मनुष्यका यह दो तरहका व्यवहार इस बातको सूचित करता है कि यह ज्ञानकी खराबी नहीं है, वह तो अपना काम कर चुका। उसका काम तो इतना ही है कि वस्तुका जैसाका-तैसा ज्ञान करा दे सो वह करा चुका। किन्तु ज्ञातामें जो खराबी है वह खराबी ही ज्ञानके किये-कराये पर मिट्टी फेर देती है। उसीके कारण वह जानते हुए भी नहीं जानता और देखते हुए भी नहीं देखता। अतः ज्ञान वास्तवमें तभी सम्यग्ज्ञान होता है जब ज्ञातामें-से मिथ्यात्व बुद्धि दूर हो जाये। जैसे नशेके दूर होते ही मनुष्यकी इन्द्रियाँ सचेत हो जाती हैं और वह हल्कापन तथा जागरूकताका अनुभव करता है। वैसे ही मिथ्यात्वका नशा दूर होते ही मनुष्यका वही ज्ञान कुछका-कुछ हो जाता है और तब वह वस्तुके यथावत् स्वरूपका अनुभव करता है वही अनुभव सम्यग्ज्ञान है।

ज्ञानके भेद

सामान्यसे ज्ञान एक है। प्रत्यक्ष परोक्षके भेदसे वह दो प्रकारका है। तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय और केवलज्ञानके भेदसे पाँच प्रकारका है। केवलज्ञानके सिवा अन्य चार ज्ञानोंमें-से प्रत्येकके अनेक भेद हैं ॥२६१॥

भावार्थ—जो जाने उसे ज्ञान कहते हैं। इस अपेक्षासे सभी ज्ञान एक हैं क्योंकि सभी जानते हैं। किन्तु यह जानना भी अपने-अपने कारणोंकी अपेक्षासे तथा विषयकी स्पष्टता या अस्पष्टताकी अपेक्षासे अनेक प्रकारका हो जाता है। जो ज्ञान इन्द्रिय वगैरहकी सहायताके बिना केवल आत्मासे ही होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। ऐसे ज्ञान तीन हैं—अवधि, मनःपर्यय और केवल। तथा जो ज्ञान इन्द्रिय, मन वगैरहकी सहायतासे होता है उसे परोक्ष कहते हैं। ऐसे ज्ञान दो हैं—मति और श्रुत। जो ज्ञान पाँच इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होता है वह मतिज्ञान है। मति ज्ञानके भी चार भेद हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। अवग्रहके दो भेद ह—व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह। प्राप्त अर्थके प्रथम ग्रहणको व्यंजनावग्रह और प्राप्त तथा अप्राप्त अर्थके प्रथम

ग्रहणको अर्थावग्रह कहते हैं। जो पदार्थ इन्द्रियोंसे सम्बद्ध होकर जाना जाता है वह प्राप्त अर्थ है और जो पदार्थ इन्द्रियोंसे सम्बद्ध न होकर जाना जाता है वह अप्राप्त अर्थ है। चक्षु और मन अप्राप्त अर्थको ही जानते हैं। शेष चार इन्द्रियाँ प्राप्त और अप्राप्त दोनों प्रकारके पदार्थोंको जानती हैं। प्राप्त अर्थमें व्यंजनावग्रहके बाद अर्थावग्रह होता है और अप्राप्त अर्थमें व्यंजनावग्रह न होकर अर्थावग्रह ही होता है। इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध होते ही जो अस्पष्ट ज्ञान होता है उसे व्यंजनावग्रह कहते हैं। और व्यंजनावग्रहके बाद जो स्पष्ट ज्ञान होता है कि 'यह शब्द है' उसे अर्थाग्रवह कहते हैं। जैसे मिट्टीके कोरे सकोरेपर जलके दो-चार छींटे देनेसे वह गीला नहीं होता किन्तु बार-बार बूँद टपकाते रहनेसे धीरे-धीरे वह गीला हो जाता है। वैसे ही शब्द भी कानमें एक बार आनेसे ही स्पष्ट नहीं हो जाता किन्तु धीरे-धीरे स्पष्ट होता है। अतः अर्थावग्रह से पहले व्यंजनावग्रह होता है। अवग्रहके द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थमें विशेष जाननेकी इच्छा रूप ज्ञानको ईहा कहते हैं। जैसे शब्द सुननेपर यह जाननेकी इच्छा होती है कि यह शब्द किसका है? निर्णयात्मक ज्ञानको अवाय कहते हैं। जैसे यह शब्द अमुक पक्षीका है। और कालान्तरमें न भूलनेका कारण जो संस्काररूप ज्ञान होता है उसे धारणा कहते हैं। जिसके कारण कुछ कालके बाद भी यह स्मरण होता है कि मैंने अमुक पक्षीका शब्द सुना था। इस प्रकार चूँकि व्यंजनावग्रह केवल चार इन्द्रियोंसे ही होता है इस लिए उसके चार भेद हैं। तथा अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा पाँचों इन्द्रियों और मनसे होते हैं। इस लिए उनके चौबीस भेद हुए। ये सब मिलाकर मतिज्ञानके अट्ठाईस भेद होते हैं। तथा ये अट्ठाईस मतिज्ञान बहु आदि बारह प्रकारके पदार्थोंके होते हैं। इसलिए मतिज्ञानके तीन-सौ छत्तीस भेद हो जाते हैं। मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थका अवलम्बन लेकर जो विशेष ज्ञान होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। उसके दो भेद हैं—अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक। श्रोत्रेन्द्रियके सिवा शेष चार इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक जो श्रुतज्ञान होता है उसे अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं और श्रोत्रेन्द्रियजन्य मति ज्ञानपूर्वक जो श्रुतज्ञान होता है उसे अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं। इन श्रुतज्ञानोंके क्षयो-पशमकी अपेक्षा बीस भेद और हैं। तथा ग्रन्थकी अपेक्षा श्रुतज्ञानके दो भेद हैं—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। तीर्थङ्कर भगवान्की दिव्यध्वनिको सुनकर गणधरदेव उसका अवधारण करके जो आचाराङ्ग आदि बारह अंग रचते हैं वे अंगप्रविष्ट कहे जाते हैं। और काल दोषसे मनुष्योंकी आयु तथा बुद्धि कम होती हुई देखकर आचार्य वगैरह जो ग्रन्थ रचते हैं उन्हें अंगबाह्य कहते हैं। इस तरह ग्रन्थात्मक श्रुतके बारह और चौदह भेद हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादा लेकर मूर्तिक पदार्थको प्रत्यक्ष जाननेवाले ज्ञानको अवधिज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद हैं—भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। यद्यपि दोनों ही प्रकारके अवधिज्ञान अवधि ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमके होनेपर ही होते हैं। फिर भी जो क्षयोपशम भवके निमित्तसे होता है उससे होने वाले अवधिज्ञानको भवप्रत्यय कहते हैं और जो क्षयोपशम सम्यग्दर्शन आदि गुणोंके निमित्तसे होता है उससे होनेवाले अवधिज्ञानको गुणप्रत्यय कहते हैं। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव और नारकियोंके होता है और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यञ्चोंके होता है। विषय आदिकी अपेक्षासे अवधिज्ञानके देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ये तीन भेद किये जाते हैं। भवप्रत्यय अवधिज्ञान देशावधि रूप ही होता है और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान तीनों रूप होता है। उत्कृष्ट

अधर्मकर्मनिर्मुक्तिर्धर्मकर्मविनिर्मितिः ।
चारित्रं तच्च सागारानगारयतिसंश्रयम् ॥२६२॥
देशतः प्रथमं तत्स्यात्सर्वतस्तु द्वितीयकम् ।
चारित्रं चारुचारित्रविचारोचितचेतसाम् ॥२६३॥
देशतः सर्वतो वापि नरो न लभते व्रतम् ।
स्वर्गापवर्गयोर्यस्य नास्त्यन्यतरयोग्यता ॥२६४॥
तुण्डकण्डूहरं शास्त्रं सम्यक्त्वविधुरे नरे ।
ज्ञानहीने तु चारित्रं दुर्भगाभरणोपमम् ॥२६५॥

देशावधि परमावधि और सर्वावधि संयमी मनुष्यके ही होते हैं। मति श्रुत और अवधि विपरीत भी होते हैं और उन्हें कुमति, कुश्रुत और कुअवधि या विभङ्ग कहते हैं। अपने या दूसरोंके मनमें स्थित अर्थको जो बिना किसी अन्यकी सहायताके प्रत्यक्ष जानता है उसे मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान संयमी पुरुषोंके ही होता है। उसके दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुलमति। जो सरल मनके द्वारा बिचारे गये, सरल वचनके द्वारा कहे गये और सरल कायके द्वारा किये गये मनोगत अर्थको जानता है उसे ऋजुमति मनःपर्यय कहते हैं। जो पदार्थ जैसा है उसका वैसा ही चिन्तवन करना, वैसा ही कहना और वैसा ही करना, सरल मन, सरल वचन और सरल काय है। सरल मन वचन कायके द्वारा अथवा कुटिल मन वचन कायके द्वारा बिचारे गये, कहे गये या किये गये मनोगत अर्थको जो प्रत्यक्ष जानता है उसे विपुल मति मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं। जो बिना किसी अन्यकी सहायताके आत्मासे ही सचराचर विश्वको एक साथ प्रत्यक्ष जानता है उसे केवलज्ञान कहते हैं। यह केवलज्ञान अर्हन्त अवस्थाके साथ ही प्रकट होता है। इसका कोई भेद नहीं है, क्योंकि यह ज्ञान पूर्ण है।

सम्यक्चारित्रका स्वरूप तथा भेद

बुरे कामोंसे बचना और अच्छे कामोंमें लगना चारित्र है। वह चारित्र गृहस्थ और मुनि के भेदसे दो प्रकारका है। गृहस्थोंका चारित्र देशचारित्र कहा जाता है और मुनियोंका चारित्र सकल चारित्र कहा जाता है। जिनके चित्त सद्विचारोंसे युक्त हैं वे ही चारित्रका पालन कर सकते हैं। जिस मनुष्यमें स्वर्ग और मोक्षमें-से किसीको भी प्राप्त कर सकनेकी योग्यता नहीं है वह न तो देशचारित्र ही पाल सकता है और न सकलचारित्र ही पाल सकता है। जो मनुष्य सम्यग्दर्शनसे रहित है उसका शास्त्र वाचन मुखकी खाज मिटानेका एक साधनमात्र है। और जो मनुष्य ज्ञानसे रहित है उसका चारित्र धारण करना अभागे मनुष्यके आभूषण धारण करनेके समान है ॥२६२-२६५॥

भावार्थ—बिना सम्यग्दर्शनके शास्त्राभ्यास—ज्ञानार्जन व्यर्थ है और बिना ज्ञानके चारित्रका पालन करना व्यर्थ है।

---

१. 'असुहादो विणिवित्ति सुहे पवत्ती य जाण चारित्तं'।—द्रव्यसंग्रह। २. सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसङ्गविरतानाम्। अनगाराणां विकलं सागाराणां ससङ्गानाम् ॥ ५० ॥—'रत्नकरण्ड श्रा०। ३. स्वर्गमोक्षयोर्मध्ये यस्य जीवस्य एकस्यापि योग्यता न भवति, तस्य अणुव्रतं महाव्रतं च न भवति। 'अणुवय-महव्वयाइं न लहइ देवाउअं मोत्तुं ॥ २०१ ॥—पञ्चसंग्रह पृ० ४२। ४. मुखखर्जन। ५. रहिते।

सम्यक्त्वात्सुगतिः प्रोक्ता ज्ञानात्कीर्तिरुदाहृता ।
वृत्तात्पूजामवाप्नोति त्रयाच्च लभते शिवम् ॥२६६॥

रुचिस्तत्त्वेषु सम्यक्त्वं ज्ञानं तत्त्वनिरूपणम् ।
औदासीन्यं परं प्राहुर्वृत्तं सर्वक्रियोज्झितम् ॥२६७॥

वृत्तमग्निरुपायो धीः सम्यक्त्वं च रसौषधिः ।
साधुसिद्धो भवेदेष तल्लाभादात्मपारदः ॥२६८॥

सम्यक्त्वस्याश्रयश्चित्तमभ्यासो मतिसम्पदः ।
चारित्रस्य शरीरं स्याद्वित्तं दानादिकर्मणः ॥२६९॥

इत्युपासकाध्ययने रत्नत्रयस्वरूपनिरूपणो नामैकविंशतितमः कल्पः ।

पुनर्गुणमणिकटक षेकटकर्मेव माणिक्यस्य, सुधाविधानमिव प्रासादस्य, पुरुषकारानुष्ठानमिव दैवसम्पदः, पराक्रमावलम्बनमिव नीतिमार्गस्य, विशेषवेदित्वमिव सेव्यत्वस्य, व्रतं हि खलु सम्यक्त्वरत्नस्योपबृंहकमाहुः । तच्च देशयतीनां द्विविधं मूलोत्तरगुणाश्रय-

सम्यग्दर्शनसे अच्छी गति मिलती है। सम्यग्ज्ञानसे संसारमें यश फैलता है। सम्यक्चारित्रसे सम्मान प्राप्त होता है और तीनोंसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥२६६॥

तत्त्वोंमें रुचिका होना सम्यग्दर्शन है। तत्त्वोंका कथन कर सकना सम्यग्ज्ञान है और समस्त क्रियाओंको छोड़कर अत्यन्त उदासीन हो जाना सम्यक्चारित्र है ॥२६७॥

चारित्र अग्नि है, सम्यग्ज्ञान उपाय है और सम्यग्दर्शन परिपूर्ण औषधियोंके तुल्य है। इन सबके मिलनेपर आत्मारूपी पारदधातु अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है ॥२६८॥

भावार्थ—पारेको सिद्ध करनेके लिए रसायनशास्त्री उसमें अनेक औषधियोंके रसोंकी भावना दे-देकर आगपर तपाते हैं तब पारा सिद्ध हो जाता है वैसे ही आत्मारूपी पारदको सिद्ध करनेके लिए चारित्ररूपी अग्नि, सम्यग्ज्ञानरूपी उपाय और सम्यग्दर्शनरूपी औषधियाँ आवश्यक हैं। उनके मिलनेपर आत्मा सिद्ध अर्थात् मुक्त हो जाता है।

सम्यग्दर्शनका आश्रय चित्त है। सम्यग्ज्ञानका आश्रय अभ्यास है। सम्यक्चारित्रका आश्रय शरीर है और दाता वगैरहका आश्रय धन है ॥२६९॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें रत्नत्रयका स्वरूप बतलानेवाला इक्कीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

जैसे चूनाकी छुआईसे मकान, पौरुष करनेसे दैव, पराक्रमसे नीति और विशेषज्ञतासे सेव्यपना चमक उठता है वैसे ही व्रत भी सम्यक्त्वरूपी रत्नको चमका देता है। गृहस्थोंके व्रत

१. 'वृत्तं वह्निरुपायो धीर्दर्शनं परमौषधिः । साधुसिद्धो भवेदेष तल्लाभादात्मपारदः ।। दर्शनस्याश्रयः स्वान्तमभ्यासो मतिसम्पदः । सद्वृत्तस्य शरीरं स्याद्वित्तं दानादिसद्विधिः ।।—प्रबोधसारमें उद्धृत । २. अत्र यशस्तिलकचम्पूकाव्यस्य षष्ठ आश्वासः समाप्यते; यथा—"इति सकलतार्किकलोकचूडामणेः श्रीमन्नेमिदेवभगवतः शिष्येण सद्योनवद्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रचक्रवर्तिशिखण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्न्यपवर्गमार्गमहोदयो नाम षष्ठ आश्वासः ।" ३. शोधनरचनाक्रिया । ४. पौरुषशक्तिकर्तव्यम् । ५. पूर्वोपार्जितपुण्यस्य । ६. विद्वत्त्वम् । ७. गुरोः नृपादिकस्य (?) । ८. व्रतम् ।

णात् । तत्र—

मद्यमांसमधुत्यागः सहोदुम्बरपञ्चकैः[1] ।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुते ॥२७०॥
सर्वदोषोदयो मद्यान्महामोहकृतेर्मतः[2] ।
सर्वेषां पातकानां च पुरःसरतया स्थितम् ॥२७१॥
हिताहितविमोहेन देहिनः किं न पातकम् ।
कुर्युः संसारकान्तारपरिभ्रमणकारणम् ॥२७२॥
मद्येन यादवा नष्टा नष्टा द्यूतेन पाण्डवाः ।
इति सर्वत्र लोकेऽस्मिन्सुप्रसिद्धं कथानकम् ॥२७३॥
समुत्पद्य विपद्येह[3] देहिनोऽनेकशः[4] किल ।
मद्यीभवन्ति[5] कालेन मनोमोहाय देहिनाम् ॥२७४॥

मूल गुण और उत्तर गुणके भेदसे दो प्रकारके होते हैं ।

अष्ट मूल गुण

आगममें पाँच उदुम्बर और मद्य, मांस तथा मधुका त्याग ये आठ मूल गुण गृहस्थोंके बतलाये हैं ॥२७०॥

शराबकी बुराइयाँ

मद्य अर्थात् शराब महा मोहको करनेवाला है । सब बुराइयोंका मूल है और सब पापों का अगुआ है ॥२७१॥ इसके पीनेसे मनुष्यको हित और अहितका ज्ञान नहीं रहता । और हित-अहितका ज्ञान न रहनेसे प्राणी संसाररूपी जंगलमें भटकानेवाला कौन पाप नहीं करते ? ॥२७२॥

सब लोकमें यह कथा प्रसिद्ध है कि शराब पीनेके कारण यादव बरबाद हो गये और जुआ खेलनेके कारण पाण्डव बरबाद हो गये ॥२७३॥ जन्तु अनेक बार जन्म-मरण करके कालके द्वारा प्राणियोंका मन मोहित करनेके लिए मद्यका रूप धारण करते हैं ॥२७४॥ मद्यकी एक बूँदमें

---

१. त्यागाः सहोदुम्बरपञ्चकः, अ० ज० मु० । त्यागैः सहोदुम्बरपञ्चकैः—सागारधर्मामृत पृ० ४०
'मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम् ।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ॥६६॥ —रत्नकरण्ड० ।
हिंसासत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात् ।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः ॥ —महापुराण (?)
मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन ।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥६१॥ —पुरुषार्थसि० ।
मद्यमांसमधुरात्रिभोजनं क्षीरवृक्षफलवर्जनं त्रिधा ।
कुर्वते व्रतजिघृक्षया बुधास्तत्र पुष्यति निषेविते व्रतम् ॥१॥—अमित० श्रावका० ।
त्याज्यं मांसं च मद्यञ्च मधूदुम्बरपञ्चकम् ।
अष्टौ मूलगुणाः प्रोक्ता गृहिणो दृष्टिपूर्वकाः ॥२३॥ —पद्म० पञ्चविं०, पृ० ११६ ।
२.—र्मतेः—अ० ज० मु० । ३. मृत्वा । ४. बहुवारम् । ५. मद्ये भवन्ति— सागारधर्मा० पृ० ४२ ।

मद्यैकबिन्दुसंपन्नाः प्राणिनः प्रचरन्ति चेत्।
पूरयेयुर्न संदेहं समस्तमपि विष्टपम् ॥२७५॥
[1]मनोमोहस्य हेतुत्वान्निदानत्वाच्च दुर्गतेः।
मद्यं सद्भिः सदा त्याज्यमिहामुत्र च दोषकृत् ॥२७६॥

श्रूयतामत्र मद्यप्रवृत्तिदोषस्योपाख्यानम्—[2]उदुर्वीश्वरा[3]खर्वगर्वौर्वानलाहुतीभूताहितान्वयनक्रादेकचक्रात्पुरादेकपान्नाम परिव्राजको जाह्नवीजलेषु मज्जनाय व्रजन्निजच्छायापरद्विपाशङ्का[4]तिक्रुद्धमदान्धगन्धसिन्धुरो[5]द्धुरविषाणविदार्यमाणमेदिनीहृदये विन्ध्याटवीविषये प्ररूढप्रौढयौवनासवास्वादपुनरुक्तकादम्बरी[6]पानप्रसूतासरालविलासग्रहिलाभिर्महिलाभिः सह [7]पलोपदंशवश्यं [8]कश्यमासेवमानस्य महतो मातङ्गसमूहस्य मध्ये निपतितः सन् सीधुसंबन्धविधुर[9]धीसङ्गैर्मातङ्गैरुपरुध्य असौ किलैवमुक्तः—'त्वया मद्यमांसमहिलासु मध्येऽन्यतमसमागमः कर्तव्यः, अन्यथा जीवन्न पश्यसि मन्दाकिनीम्' इति। सोऽप्येवमुक्त[10]स्तिलसर्षपप्रमितस्यापि हि पिशितस्य प्राशने स्मृतिषु महावृत्तयो विपत्तयः श्रूयन्ते। मातङ्गीसङ्गे

इतने जीव रहते हैं कि यदि वे फैलें तो समस्त जगत्में भर जायें। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है॥२७५॥ अतः चूँकि मद्यपानसे मन हित अहितके विचारसे शून्य हो जाता है और वह दुर्गतिका कारण है, इसलिए इस लोक और परलोकमें बुराइयोंको पैदा करनेवाले मद्यका सज्जन पुरुषोंको सदाके लिए त्याग करना चाहिए॥२७६॥

६ मद्यपायी एकपात संन्यासीकी कथा

मद्यपानके दोषोंके सम्बन्धमें एक कथा है उसे सुनें—

एकपात नामका एक संन्यासी गंगास्नान करनेके लिए एकचक्र नामके नगरसे चला। मार्गमें वह विन्ध्याटवीसे गुजरा। वहाँ भीलोंका एक बड़ा भारी झुण्ड यौवन मदके साथ शराब पीकर मस्त हुई विलासिनी तरुणियोंके साथ मांस और सुराका सेवन कर रहा था। वह संन्यासी उस झुण्डमें जा फँसा। शराबके नशेमें मस्त हुए भीलोंने उसे पकड़ लिया और उससे बोले—'तुझे मद्य, मांस और स्त्रीमें-से किसी एकका सेवन करना होगा, नहीं तो तू जीते जी गंगाका दर्शन नहीं कर सकता।

यह सुनकर तापसी सोचने लगा—'स्मृतियोंमें एक तिल या सरसों बराबर भी मांस खाने पर बड़ी-बड़ी विपत्तियोंका आना सुना जाता है। भिल्लनीके साथ सम्बन्ध करनेपर प्रायश्चित्त

---

१. 'मनोमोहस्य····निदानत्वाद् भवापदाम्।····दोषभृत्॥'—प्रबोधसारमें उद्धृत।
'मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम्।
विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशङ्कमाचरति॥६२॥
रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम्।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा सञ्जायतेऽवश्यम्॥६३॥—पुरुषार्थसि०।
'चित्ते भ्रान्तिर्जायते मद्यपानाद् भ्रान्ते चित्ते पापचर्यामुपैति।
पापं कृत्वा दुर्गतिं यान्ति मूढास्तस्मान्मद्यं नैव पेयं न पेयम्॥'—सुभाषितरत्नभाण्डागार पृ० १४८।६
२. महत्। ३. बडवानल। ४. गज। ५. दन्त। ६. मद्य। ७. मांसशाकसहितम्। ८. मद्यम्। ९. विकलमतियुक्तैः। १०. मातंगैरुक्तः सन् चिन्तयति।

च मृ[1]तिनिकेतनं प्राये[2]श्चेतनम्। य एवंविधां सुरां पिबति न तेन सुरा पीता भवतीति निखिलमखशिखामणौ सौत्रामणौ मदिरास्वादाभिसंधिरनुमतविधिरस्ति। यैश्च पिष्टोदकगुडधातकीप्रायैर्वस्तुकायैः सुरा संधीयं[3]ते तान्यपि वस्तूनि विशुद्धान्येवेति चिरं चेतसि विचार्यानार्यविद्यावि[4]धानः कृतमद्यपानस्तन्[5]माहात्म्यात्समाविर्भूतमनोमहामोहः कौपीनमपहाय हारहूरव्यवहारातिलङ्घितमातङ्गिकागीतानुगतकरतालिकाविडम्बनावसरो ग्रहगृहीतशरीर इवानीतानेकविकारः पुनर्बुभुक्षाशुं[6]शुक्षिणिक्षीणकुक्षिकुहरस्तरं[7]समपि भक्षितवान्। प्रादुर्भवद्दुःसहोद्रेकमदनो मातङ्गीं कामि[8]तवान्।

भवति चात्र श्लोकः—

हेतुशुद्धेः श्रुतेर्वाक्यात्पीतमद्यः किलैकपात्।
मांसमातङ्गिकासङ्गमकरोन्मूढमानसः ॥२७७॥

इत्युपासकाध्ययने मद्यप्रवृत्तिदोषदर्शनो नाम द्वाविंशः कल्पः।

श्रूयतां मद्यनिवृत्तिगुणस्योपाख्यानम्—अशेषविद्यावैशारं[9]द्यमदमत्तमनीषि[10]मत्तालिकुलकेलि[11]कमलनाभ्यां[12] वलभ्यां पुरि [13]खात्रचरित्रशीलः [14]करवालः, कपाटोद्घाटनपटुर्वट्टः,

---

लेना पड़ता है जो मृत्युका घर है। किन्तु समस्त यज्ञोंके सिरमौर सौत्रामणि नामके यज्ञमें शराब पीनेकी अनुमति है, और लिखा है कि जो इस विधिसे मदिरापान करता है, उसका मदिरापान मदिरापान नहीं है। तथा पीठी, जल, गुड़, धतूरा आदि जिन वस्तुओंसे शराब बनती है वे भी शुद्ध ही होती हैं।' ऐसा चिरकाल तक मनमें विचार कर उसने शराब पी ली। उसके पीते ही उसका मन चंचल हो उठा। नशेमें मस्त होकर उसने अपनी लंगोटी खोल डाली। और शराब पीकर मत्त हुई भिल्लनियोंके गीतके साथ तालियाँ बजा-बजा कर कूदने लगा। उस समय उसकी दशा ऐसी हो गयी मानो उसके शरीरमें कोई भूत घुस गया है। उसने अनेक विकृत चेष्टाएँ कीं और फिर भूखसे पीड़ित होकर मांस भी खा लिया। उससे उसे असह्य कामोद्रेक हुआ और उसने भिल्लनीको भी भोगा।

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

"मद्यको उत्पन्न करने वाली वस्तुओंके शुद्ध होनेसे तथा वेदमें लिखा होनेसे मूढ़ एकपातने मद्य पी लिया और फिर उसने मांस भी खाया और भिल्लनीको भी भोगा" ॥२७७॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें मद्यके दोष बतलानेवाला बाईसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

१० मद्यव्रती धूर्तिल नामक चोरकी कथा

अब मद्य त्यागके लाभके सम्बन्धमें कथा सुनें—

वलभी नगरीमें पाँच चोर रहते थे। उनमें-से करवाल नामका चोर मकानोंमें सेंध लगानेमें कुशल था। वट्ट दरवाजा खोलनेमें कुशल था। धूर्तिल महानिद्रा बुलानेमें कुशल था। शारद

---

१. मरणलक्षणमेव। २. प्रायश्चित्तम्। ३. निष्पाद्यते। ४. निधानः आ०। ५. मद्यपान। ६. अग्नि। ७. मांसम्। ८. सेवितवानित्यर्थः। ९. चातुर्य। १०. मनीषिण एव मत्तभ्रमराः। ११. क्रीडा। १२. मध्यकोशसदृशायाम्। १३. चौरकर्म। १४. नाम।

महानिद्रासंपादनकुशलो धूर्तिलः, परगोपायितद्रविणदेश[1]विशारदः शारदः, खर[2]पटागमविलासः कृकिलासश्चेति पञ्च मलिम्लुचाः[3] प्रतिपन्नपरस्परप्रीतिप्रपञ्चाः स्वव्यवसायसाहसाभ्यामीश्वरशरीरार्धवासिनीं भवानीमपि मुकुन्दहृदयाश्रयधियं श्रियमपि कात्यायनीलोचनासञ्जनमञ्जनमपि हर्तुं समर्थाः, पश्यतोहराणामपि पश्यतोहराः, कृतान्तदूतानामपि कृतान्तदूताः, कदाचिदेकस्यां निशि चेला[4]लोपं वर्षति देवे कज्जलपटल[5]कालकायप्रतिष्ठासु सकलासु [6]काष्ठासु विहितपुर[7]सारापहाराः पुरबाहिरिकोपवने धनं विभजन्तस्तवेदं ममेदमिति विवदमानाः कन्दल[8]मपहाय समा[9]नायितमैरेयाः पानगोष्ठीमनुतिष्ठन्तः पू[10]र्वाहितकलहकोपोन्मेषकलुषधिषणाः यष्टायष्टि मुष्टामुष्टि च युद्धं विधाय सर्वेऽपि मम्रुरन्यत्र धूर्तिलात्।

स किल यथाद[11]र्शनसम्भवं महामुनिविलोकनात्तस्मिन्नहन्येकं व्रतं गृह्णाति। तत्र च दिने तद्द[12]र्शनादासवव्रतमग्रहीत्। तदनु धूर्तिलः समानशीलेषु कश्यवश्यां विनाश[13]लेश्यामात्मसमक्षमुपयुज्य[14] विरज्याजवंज[15]वादसुखबीजादुत्पाट्य[16] च मनोजकुजजटाजालनिवेशमिव केशपाशं चिरत्राय[17] (?)परत्र[18]ाहितजैत्राय समीहांचक्रे।

छिपाये हुए धनका स्थान खोज निकालनेमें कुशल था। और कृकिलास ठग विद्यामें निपुण था। पाँचोंमें परस्परमें बड़ी प्रीति थी। और अपने उद्यम और साहससे वे शिवके अर्धाङ्गमें निवास करनेवाली पार्वतीको, विष्णुके हृदयमें बसनेवाली लक्ष्मीको और दुर्गाकी आँखोंमें लगे अंजनको भी चुरानेमें समर्थ थे। वे चोरोंके भी चोर थे और यमराजके दूतोंके लिए भी यमराजके दूत थे।

एक बार रातमें जब जोरसे वर्षा हो रही थी और दिशाएँ कज्जलकी तरह काली थीं, वे चोर चोरी करके नगरसे बाहर एक उद्यानमें धनका बटवारा करते थे। और यह मेरा है यह तेरा है कहकर परस्परमें झगड़ रहे थे। झगड़ा बन्द करके उन्होंने शराब बुलवायी और पीने लगे। झगड़ेके कारण उनके मनमें क्रोध तो समाया ही हुआ था, शराब पीकर वे परस्परमें मुक्का-मुक्की और लट्ठं-लट्ठा करने लगे और धूर्तिलके सिवा सब मर गये। धूर्तिलके यह नियम था कि यदि उसे किसी दिन किसी महामुनिके दर्शन होते थे तो उस दिनके लिए वह एक व्रत ले लेता था। उस दिन भी उसे महामुनिके दर्शन हुए थे और उसने शराबका व्रत ले लिया था। इसीसे वह बच गया।

उक्त घटनाके बाद शराबके कारण अपने साथियोंका विनाश हुआ देखकर धूर्तिल दुःखोंके मूल इस संसारसे विरक्त हो गया और कामदेवरूपी वृक्षकी जटाओंके समान बालोंका लोंच करके परलोकमें अहितको जीतनेवाले रत्नत्रयकी प्राप्तिका इच्छुक हो गया।

१. –देशनिवेशवि–ब०। २. ठगविद्या। ३. चौराः। ४. चेलक्रोपं–आ०। ५. कृष्णशरीरशोभासु। ६. दिशासु। ७. द्रव्य। ८. युद्धम्। ९. अन्येन केनचित् कृत्वा आनायितमद्याः। १०. मद्यपानात् पूर्वं कृत्—। ११. यस्मिन् दिने मुनयो मिलन्ति तद्दिने नित्यं व्रतं गृह्णाति। १२. मुनि। १३. मरणावस्थाम्। १४. दृष्ट्वा। १५. संसारात्। १६. उत्पाटनं कृत्वा। १७. चिरं दीर्घकालं पालितवानित्यर्थः (?)। १८. परलोकपापदुःखजयनशीलाय।

भवति चात्र श्लोकः—

एकस्मिन्वासरे मद्यनिवृत्तेर्धूर्तिलः किल।
एतद्दोषात्सहायेषु मृतेष्वापदनापदम्[1] ॥ २७८ ॥

इत्युपासकाध्ययने मद्यनिवृत्तिगुणनिदानो नाम त्रयोविंशतितमः कल्पः।

स्वभावाशुचि दुर्गन्धमन्यापायं दुरास्पदम्[2]।
सन्तोऽदन्ति[3] कथं मांसं विपाके दुर्गतिप्रदम् ॥ २७९ ॥
कर्माकृत्यमपि प्राणी करोतु यदि चात्मनः।
हन्यमानविधिर्न[4] स्यादन्यथा वा न जीवनम् ॥ २८० ॥
धर्माच्छर्मभुजां धर्मे किन्तु विद्वेषकारणम्।
प्रार्थितार्थप्रदं द्वेष्टु[5] को नामामरपादपम् ॥ २८१ ॥
अल्पात्क्लेशात्सुखं सुष्ठु सुधीश्चेत्स्वस्य वाञ्छति।
[6]आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥ २८२ ॥
[7]स सुखं सेवमानोऽपि जन्मान्तरसुखाश्रयः।
यः परानुपघातेन सुखसेवापरायणः ॥ २८३ ॥

उक्त कथाके सम्बन्धमें एक श्लोक है, जिसका भाव इस प्रकार है—

"जब कि मद्यपानके दोषसे अन्य साथी चोर मर गये तब एक दिनके लिए शराबका त्याग कर देनेसे धूर्तिल चोर बच गया" ॥२७८॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें मद्यत्यागके गुणोंको बतलानेवाला तेईसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

मांस निषेध

मांस स्वभावसे ही अपवित्र है, दुर्गन्धसे भरा है, दूसरोंकी जान ले-लेनेपर तैयार होता है, तथा कसाईके घर-जैसे दुस्थानसे प्राप्त होता है। ऐसे मांसको भले आदमी कैसे खाते हैं? ॥२७९॥ यदि जिस पशुको मांसके लिए हम मारते हैं, दूसरे जन्ममें वह हमें न मारे या मांसके बिना जीवन ही न रह सके तो प्राणी नहीं करने योग्य पशु-हत्या भले ही करे। किन्तु ऐसी बात नहीं है। मांसके बिना भी मनुष्योंका जीवन चलता ही है ॥२८०॥

धर्मसे सुख भोगनेवाले न जाने धर्मसे द्वेष क्यों करते हैं? इच्छित वस्तुको देनेवाले कल्पवृक्षसे कौन द्वेष करता है ॥२८१॥ यदि बुद्धिमान् पुरुष थोड़ेसे कष्टसे अच्छा सुख प्राप्त करना चाहता है तो जो काम उसे स्वयं बुरे लगें उन कामोंको दूसरोंके प्रति भी उसे नहीं करना चाहिए ॥२८२॥

जो दूसरोंका घात न करके सुखका सेवन करता है वह इस जन्ममें भी सुख भोगता है और दूसरे जन्ममें भी सुख भोगता है ॥२८३॥ [धर्मरत्नाकरके पाठके अनुसार दूसरा अर्थ यह भी

---

१. प्राप्तवान्। २. दुःस्थाने शूनाकारगृहे लभ्यम्। ३. भक्षयन्ति। ४. यथा पशुर्हतः तथा पश्चाच्चेत्स पशुः तस्य हिंसकस्य न हिनस्ति, अथवा चेन्मांसं विनाऽन्यः कोऽपि जीवनोपायो नास्ति चेदन्नफलादिकं वर्तते तर्हि मांसं कथं भक्ष्यते। ५. को द्वेषं करोतु। ६. 'श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधारयेत्। आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥'—महाभारत। ७. 'यः परानुपघातेन सुखसेवापरायणः। स सुखं सेवमानोऽपि जन्मान्तरासुखाश्रयः' ॥—धर्मरत्नाकर, पृ० ७८।

स पुमान्ननु लोकेऽस्मिन्नुदर्के दुःखवर्जितः ।
यस्तदात्वसुखासक्तान्न मुह्येद्धर्मकर्मणि ॥ २८४ ॥
स भूभारः परं प्राणी जीवन्नपि मृतश्च सः ।
यो न धर्मार्थकामेषु भवेदन्यसमाश्रयः ॥ २८५ ॥

हो सकता है कि] 'जो दूसरोंके घातके द्वारा सुख भोगनेमें तत्पर रहता है वह वर्तमानमें सुख भोगते हुए भी दूसरे जन्ममें दुःख भोगता है।' [आगेके श्लोकको देखते हुए यही अर्थ विशेष उचित प्रतीत होता है] ॥ जो मनुष्य तात्कालिक सुखोपभोगमें आसक्त होकर धर्म-कर्ममें मूढ़ नहीं हो जाता अर्थात् धर्म-कर्म करता रहता है, वह इस लोकमें और परलोकमें दुःख नहीं उठाता ॥२८४॥

भावार्थ—धर्मका मतलब केवल पूजा-पाठ कर लेना मात्र ही नहीं है; किन्तु अपने प्रतिदिनके आचरणमें सुधार करना भी है। और वह सुधार है, ऐसे काम न करना जिनसे दूसरोंको कष्ट पहुँचता हो। मांस भक्षण एक ऐसी आदत है जो दूसरे प्राणियोंकी जान लिये बिना व्यवहार में नहीं लायी जा सकती; क्योंकि बिना किसी प्राणीकी जान लिये मांस मिल ही नहीं सकता। अतः जरासे जीभके स्वादके लिए किसी प्राणीकी मृत्युका कारण बनना किसी भी समझदार आदमी का काम नहीं है। हमारी यदि जरा-सी खाल भी उचट जाती है तो कितनी वेदना होती है। फिर कसाईकी छुरीसे जिसे काटा जाता है, उसकी तकलीफका तो कहना ही क्या है ? मनुष्य जानता है कि बुराईका फल बुरा है और भलाईका फल भला है। फिर भी वह अपने स्वार्थके लिए बुराई करनेपर उतारू हो जाता है। वह स्वयं तो चाहता है कि मेरे साथ कोई बुरा व्यवहार न करे, मेरी कोई जान न ले, मेरे बच्चोंको कोई न सताये, मेरी स्त्री, बहन और बेटीको कोई बुरी निगाहसे देखे भी नहीं, मेरा माल-मत्ता कोई चुराये नहीं। किन्तु स्वयं वह दूसरोंकी जानका ग्राहक बन जाता है, दूसरोंकी बहू-बेटियोंको देखकर आवाजें कसता है और मौका मिलते ही दूसरोंका माल हड़प कर जाता है। ऐसी स्थितिमें उसका यह चाहना कि मेरे साथ कोई बुरा व्यवहार न करे, कैसे ठीक कहा जा सकता है। इसी बुराईको दृष्टिमें रखकर ग्रन्थकार कहते हैं कि यदि थोड़ेसे कष्टसे खूब सुख भोगना चाहते हो तो उसका एक सीधा उपाय यह है कि जो व्यवहार तुम अपने लिए अनुचित समझते हो उसे दूसरोंके साथ भी मत करो। अनेक मनुष्य सुखमें ऐसे मग्न हो जाते हैं कि उन्हें दीन-दुनियाकी सुध ही नहीं रहती। फिर वे अपने सामने किसीको कुछ समझते ही नहीं। ऐसे मदान्ध मनुष्य जीते जी भले ही सुख भोग लें किन्तु मरनेपर उनकी दुर्गति हुए बिना नहीं रहती। क्योंकि कहावत है कि 'जब तक तेरे पुण्यका नहीं आता है छोर। अवगुन तेरे माफ़ हैं कर ले लाख करोर'। पुण्यका अन्त आनेपर उसकी भी वही दुर्गति होगी जो वह आज दूसरोंकी करता है। अतः ग्रन्थकार कहते हैं कि जरासे सुख में मग्न होकर उस धर्म-कर्मको मत भूलो जिसका फल सुखके रूपमें भोग रहे हो।

जो मनुष्य धर्म, अर्थ और काममें-से एकका भी पालन नहीं करता, वह पृथ्वीका भार है

१. त्रिषु मध्ये एकस्यापि आश्रयो न भवेत्।
स भूभारः.........भवेदन्यतमाश्रयः—धर्मरत्ना०, पृ० ७८ उ.।
'स भूभारः परं पापी पशोरपि महापशुः।
यो न मर्त्यभवं प्राप्य दयाधर्मं निषेवते ॥१६॥—प्रबोधसार

स मूर्खः स जडः सोऽज्ञः स पशुश्च पशोरपि ।
योऽश्नन्नपि[1] फलं धर्माद्धर्मे भवति मन्दधीः ॥ २८६ ॥
स विद्वान्स महाप्राज्ञः स धीमान्स च पण्डितः ।
यः[2] स्वतो वान्यतो वापि नाधर्माय समीहते ॥ २८७ ॥
तत्स्वस्य हितमिच्छन्तो मुञ्चन्तश्चाहितं मुहुः ।
अन्यमांसैः स्वमांसस्य कथं वृद्धिविधायिनः ॥२८८॥
यत्परत्र करोतीह सुखं वा दुःखमेव वा ।
वृद्धये धनवद्दत्तं स्वस्य तज्जायतेऽधिकम् ॥२८९॥
मद्यमांसमधुप्रायं[3] कर्म धर्माय चेन्मतम् ।
अधर्मः कोऽपरः किं वा भवेद् दुर्गतिदायकम् ॥२९०॥
स[4] धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखं यत्र नासुखम् ।
तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागतिः ॥२९१॥
स्वकीयं[5] जीवितं यद्वत्सर्वस्य प्राणिनः प्रियम् ।
तद्वदेतत्परस्यापि ततो हिंसां परित्यजेत् ॥२९२॥

और जीते हुए भी मृत है ॥२८५॥ तथा जो धर्मका फल भोगता हुआ भी धर्माचरण करनेमें आलस्य करता है वह मूर्ख है, जड़ है, अज्ञानी है और पशुसे भी गया बीता है ॥२८६॥ और जो न स्वयं अधर्म करता है और न दूसरोंसे अधर्म कराता है वह विद्वान् है, बड़ा समझदार है, बुद्धिमान् है और पण्डित है ॥२८७॥ जो अपना हित चाहते हैं और अहितसे बचते हैं वे दूसरोंके मांससे अपने मांसकी वृद्धि कैसे करते हैं ॥२८८॥ जैसे दूसरेको दिया हुआ धन कालान्तरमें ब्याज के बढ़ जानेसे अपनेको अधिक होकर मिलता है वैसे ही मनुष्य दूसरेको जो सुख या दुःख देता है, वह सुख या दुःख कालान्तरमें उसे अधिक होकर मिलता है। अर्थात् सुख देनेसे अधिक सुख मिलता है और दुःख देनेसे अधिक दुःख मिलता है ॥२८९॥ यदि मद्य, मांस और मधुका सेवन करना धर्म है तो फिर अधर्म क्या है और कौन दुर्गतिका कारण है ? ॥२९०॥ धर्म वही है जिसमें अधर्म नहीं है। सुख वही है जिसमें दुःख नहीं है। ज्ञान वही है जिसमें अज्ञान नहीं है और गति वही है जहाँसे लौटकर आना नहीं है ॥२९१॥

जिस प्रकार सभी प्राणियोंको अपना जीवन प्रिय है उसी तरह दूसरोंको भी अपना जीवन प्रिय है। इस लिए हिंसाको छोड़ देना चाहिए ॥२९२॥

१. भुञ्जन् । 'स विद्वान् स महामान्यः स धीमान् तत्त्वधीधनः ।
योऽश्नन्नपि फलं धर्माद् धर्मे भवति तत्परः ॥१७॥'—प्रबोधसार ।

२. 'यः स्वतोऽन्यतो वापि नाधर्माय समीहते ।
विश्वत्रयशिरोरत्नं तं पुमांसं विदुर्बुधाः ॥१८॥'—प्रबोधसार ।
'यः स्वतो········ । स एव विदुषामाद्यो विपरीतं चरन् जडः ॥४॥'—धर्मर०, पृ० ७८ उ. ।

३. 'मद्यमांसमधुप्रायं यदि धर्माय सम्मतम् । साधनं तर्हि पापस्य हतं नास्तीह भूतले ॥२१॥'—प्रबोधसार ।

४. यह श्लोक आत्मानुशासनका (४६वाँ श्लोक) है ।

५. प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा ।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ॥२३६॥—सुभाषितरत्न० पृ० २५२ ।
इष्टो यथात्मनो देहः सर्वेषां प्राणिनां तथा ।
एवं ज्ञात्वा सदा कार्या दया सर्वासुधारिणाम् ॥१८६॥—पद्मपुराण १४ पर्व ।

मांसादिषु[1] दया नास्ति न सत्यं मद्यपायिषु।
आनृशंस्यं[2] न मर्त्येषु मधूदुम्बरसेविषु ॥२९३॥
मक्षिकागर्भसंभूतबालाण्डविनिपीडनात्।
जातं मधु कथं सन्तः सेवन्ते कललाकृति ॥२९४॥
उत्क्रान्तार्भकगर्भेऽस्मिन्नण्डजाण्डकखण्डवत्[3]।
कुतो मधु[4] मधुच्छत्रे व्याधलुब्धकजीवितम् ॥२९५॥
अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षन्यग्रोधादिफलेष्वपि[5]।
प्रत्यक्षाः प्राणिनः स्थूलाः सूक्ष्माश्चागमगोचराः ॥२९६॥
मद्यादिस्वादिगेहेषु[6] पानमन्नं च नाचरेत्।
तदमत्रादिसंपर्कं[7] न कुर्वीत कदाचन ॥२९७॥

जो मांस खाते हैं उनमें दया नहीं होती। जो शराब पीते हैं वे सच नहीं बोल सकते। और जो मधु और उदुम्बर फलोंका भक्षण करते हैं उनमें रहम नहीं होता ॥२९३॥

मधुके दोष

मधु मक्खियोंके अण्डोंके निचोड़नेसे पैदा हुए मधुका, जो रज और वीर्यके मिश्रणके समान है, सज्जन पुरुष कैसे सेवन करते हैं? ॥२९४॥ मधुका छत्ता व्याकुल शिशुके गर्भकी तरह है और अण्डेसे उत्पन्न होनेवाले जन्तुओंके छोटे-छोटे अण्डोंके टुकड़ोंके जैसा है। भील लोधी वगैरह हिंसक मनुष्य उसे खाते हैं। उसमें माधुर्य कहाँसे आया? ॥२९५॥

उदुम्बरफलकी बुराइयाँ

पीपल, उदुम्बर जिसे जन्तुफल भी कहते हैं, पाकर और वट वृक्ष वगैरहके फलोंमें स्थूल जन्तु रहते हैं जो प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं। इनके सिवा सूक्ष्म जन्तु भी उनमें पाये जाते हैं जो शास्त्रोंके द्वारा जाने जा सकते हैं ॥२९६॥

मद्यादिकका सेवन करनेवालोंसे बचो

मद्य मांस वगैरहका सेवन करनेवाले लोगोंके घरोंमें खान-पान भी नहीं करना चाहिए। तथा उनके बरतनोंको कभी भी काममें नहीं लाना चाहिए ॥२९७॥ जो मनुष्य मद्य आदिका

---

१. मांसमदन्तीत्येवं शीलास्तेषु मनुष्येषु। २. दयालुत्वम्।
'धर्मभावो न मर्त्येषु सर्वोदुम्बरसेविषु' ॥—प्रबोधसारमे उद्धृत।
'पलभुक्षु दया नास्ति न शौचं मद्यपासु च। उदुम्बराशिषु प्रोक्तो न धर्मः सौख्यदो नृपु ॥१४७॥'
—धर्मसं० श्रा० पृ० ११८।

३. षंडवत्—अ० ज०। पक्षिबालकसमूहवत्। ४. माधुर्यम्।

५. 'योनिरुदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि।
त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा' ॥७२॥—पुरुषार्थसि०।
'सर्वोदुम्बरमध्यस्था दृश्यन्ते विविधास्त्रसाः। तथैव बहुशस्तत्र स्थावराः समयोदिताः ॥३३॥'
—प्रबोधसार।

६. मद्यमांसमधुभक्षकाणां गेहेषु। ७. तेषां भाजनादिस्पर्शम्। 'मद्यादिस्वाद्यमत्रेषु पानमन्नं तु नाहरेत्। दूरतो हि विधातव्यस्तत्सम्बन्धोऽशनादिषु' ॥३४॥—प्रबोधसार।

कुर्वन्नव्रतिभिः[1] सार्धं संसर्गं भोजनादिषु।
प्राप्नोति वाच्यतामत्र परत्र च न सत्फलम् ॥२९८॥
दृतिप्रायेषु[2] पानीयं स्नेहं च कुतुपादिषु[3]।
व्रतस्थो वर्जयेन्नित्यं योषितश्चाव्रतोचिताः ॥२९९॥

सेवन करनेवाले पुरुषोंके साथ खान-पान करता है उसकी यहाँ निन्दा होती है और परलोकमें भी उसे अच्छे फलकी प्राप्ति नहीं होती ॥२९८॥ व्रती पुरुषको चमड़ेकी मशकका पानी, चमड़ेके कुप्पोंमें रखा हुआ घी, तेल और मद्य, मांस आदिका सेवन करनेवाली स्त्रियोंको सदाके लिए छोड़ देना चाहिए ॥२९९॥

भावार्थ—छोटीसे-छोटी बुराईसे बचनेके लिए बड़ी सावधानी रखनी होती है। फिर आज तो मद्य, मांसका इतना प्रचार बढ़ता जाता है कि उच्च कुलीन पढ़े-लिखे लोग भी उनसे परहेज नहीं रखते। अँग्रेजी सभ्यताके साथ अँग्रेजी खान-पान भी भारतमें बढ़ता जाता है। और अँग्रेजी खान-पानकी जान मद्य और मांस ही हैं। प्रायः जो लोग शाकाहारी होते हैं उनका भोजन भी रेल्वे वगैरहमें मांसाहारियोंके भोजनके साथ ही पकाया जाता है। उसीमें-से मांसको बचाकर शाकाहारियोंको खिला देते हैं। जो लोग पार्टियों वगैरहमें शरीक होते हैं उनमेंसे कोई-कोई सभ्यताके विरुद्ध समझकर जो कुछ मिल जाता है उसे ही खा आते हैं। इस तरह संगतिके दोषसे बचे-खुचे शाकाहारी भी मांसादिकके स्वादसे नहीं बच पाते और ऐसा करते-करते उनमें से कोई-कोई मांसाहार करने लग जाते हैं। अँग्रेजी दवाइयोंका तो कहना ही क्या है, उनमें भी मद्य वगैरहका सम्मिश्रण रहता है। पौष्टिक औषधियों और तथोक्त विटामिनोंको न जाने किन-किन पशु-पक्षियों और जलचर जीवों तकके अवयवों और तेलोंसे बनाया जाता है। फिर भी सब खुशी-खुशी उनका सेवन करते हैं। ओवल्टीन नामके पौष्टिक खाद्यमें अण्डे डाले जाते हैं फिर भी जैन-घरानों तकमें उसका सेवन छोटे और बड़े करते हैं। यह सब संगति दोषका ही कुफल है। उसीके कारण बुरी चीजोंसे घृणाका भाव घटता जाता है और धीरे-धीरे उनके प्रति लोगोंकी अरुचि टूटती जाती है। इन्हीं बुराइयोंसे बचनेके लिए आचार्योंने ऐसे स्त्री-पुरुषोंके साथ रोटी-बेटी व्यवहारका निषेध किया है जो मद्यादिकका सेवन करते हैं। जैनाचारको बनाये रखने के लिए और अहिंसाधर्मको जीवित रखनेके लिए यह आवश्यक है कि जैनधर्मका पालन करने वाले कमसे-कम अपने खान-पानमें दृढ़ बने रहें। यदि उन्होंने भी देखा-देखी शुरू की और वे भी भोग-विलासके गुलाम बन गये तो दुनियाको फिर अहिंसा-धर्मका सन्देश कौन देगा? कौन दुनियाको बतायेगा कि शराबका पीना और मांसका खाना मनुष्यको बर्बर बनाता है और बर्बरता के रहते हुए दुनियामें शान्ति नहीं हो सकती। अतः जैसे सफेदपोश बदमाशोंसे बचे रहनेमें ही कल्याण है वैसे ही सभ्य कहे जानेवाले पियक्कड़ों और गोश्तखोरोंके साथ खान-पानका सम्बन्ध न रखनेमें ही सबका हित है। ऐसा करनेसे आप प्रतिगामी, कूढ़मग्ज़ या दकियानूसी

१. 'अपाङ्क्तेयैः समं कुर्वन् संसर्गं भोजनादिषु।
प्राप्नोति निन्द्यतामत्र परत्र च न सत्फलम् ॥७३॥'—धर्मर०, पृ० ८० उ.।

२. चर्मभाण्डेषु। ३. घृततैलाधारचर्मभाजनेषु। 'दृतिप्रायेषु पात्रेषु तोयं स्नेहं तु नाश्रयेत्।' —प्रबोधसार पृ० ७४।

जीवयोगाविशेषेण मेयमेषादिकायवत्[1]।
मुद्गमाषादिकायोऽपि मांसमित्यपरे जगुः ॥३००॥

तदयुक्तम् । तदाह—

मांसं जीवशरीरं जीवशरीरं भवेन्न वा मांसम् ।
यद्वन्निम्बो वृक्षो वृक्षस्तु भवेन्न वा निम्बः ॥३०१॥

किं च—

द्विजाण्डजनिहन्तॄणां यथा पापं विशिष्यते ।
जीवयोगाविशेषेऽपि तथा फलपलाशिनाम् ॥३०२॥
स्त्रीत्वपेयत्वसामान्याद्दार[2]वारिवदीहताम् ।
एष वादी वदन्नेवं मद्यमातृसमागमे ॥३०३॥
शुद्धं दुग्धं न गोर्मांसं वस्तुवैचित्र्यमीदृशम् ।
विषघ्नं रत्नमाहेयं[3] विषं च विपदे यतः ॥३०४॥

भले ही कहलावें किन्तु इसकी परवाह न करें। आप दृढ़ रहेंगे तो दुनिया आपकी बातकी कदर करने लगेगी। किन्तु यदि आप ही अपना विश्वास खो बैठेंगे और क्षण-भरकी वाहवाहीमें बह जायेंगे तो न अपना हित कर सकेंगे और न दूसरोंका हित कर सकेंगे। मधु भी मद्य और मांसका ही भाई है। कुछ लोग आधुनिक ढंगसे निकाले जानेवाले मधुको खाद्य बतलाते हैं। किन्तु ढंगके बदलने मात्रसे मधु खाद्य नहीं हो सकता। आखिरको तो वह मधु-मक्खियोंका उगाल ही है।

मांस, और अन्न, दूध वगैरहमें अन्तर

कुछ लोगोंका कहना है कि मूँग, उड़द वगैरहमें और ऊँट, मेढ़ा वगैरहमें कोई अन्तर नहीं है क्योंकि जैसे ऊँट, मेढ़ा वगैरहके शरीरमें जीव रहता है वैसे ही मूँग उड़द वगैरहमें भी जीव रहता है। दोनों ही जीवके शरीर हैं। अतः जीवका शरीर होनेसे मूँग, उड़द वगैरह भी मांस ही हैं ॥३००॥ किन्तु उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि मांस जीवका शरीर है यह ठीक है। किन्तु जो जीवका शरीर है वह मांस होता भी है और नहीं भी होता। जैसे, नीम वृक्ष होता है किन्तु वृक्ष नीम होता भी है और नहीं भी होता ॥३०१॥ तथा—

जैसे ब्राह्मण और पक्षी दोनोंमें जीव है फिर भी पक्षीको मारनेकी अपेक्षा ब्राह्मणको मारने में अधिक पाप है। वैसे ही फल भी जीवका शरीर है और मांस भी जीवका शरीर है, किन्तु फल खानेवालेकी अपेक्षा मांस खानेवालेको अधिक पाप होता है ॥३०२॥ तथा जिसका यह कहना है कि फल और मांस दोनों ही जीवका शरीर होनेसे बराबर हैं उसके लिए पत्नी और माता दोनों स्त्री होनेसे समान हैं और शराब तथा पानी दोनों पेय होनेसे समान हैं। अतः जैसे वह पानी और पत्नीका उपभोग करता है वैसे ही शराब और माताका भी उपभोग क्यों नहीं करता? ॥३०३॥

गौका दूध शुद्ध है किन्तु गोमांस शुद्ध नहीं है। वस्तुका वैचित्र्य ही इस प्रकार है। देखो, साँपकी मणिसे विष दूर होता है, किन्तु साँपका विष मृत्युका कारण है ॥३०४॥

---

१. उष्ट्रः । 'जीवयोगाविशेषेण उष्ट्रमेषादिकायवत् ।—धर्मर०, पृ० ८० उ. । २. मातरं दारानिव, मद्यं वारीव ईहताम् । "प्राण्यङ्गत्वाविशेषेऽपि भोज्यं मांसं न धार्मिकैः । भोग्या स्त्रीत्वाविशेषेऽपि जनैर्जायैव नाम्बिका ॥१०॥" —सागारधर्मामृत २ अ० । ३. अहेः सर्पस्येदं रत्नम् । धेन्वादीनां पयः पेयं न मूत्रादि स्वभावतः । विषापहमहे रत्नं विषं तु मृतिसाधनम् ॥३७॥—प्रबोधसार ।

अथवा—

> हेयं पलं पयः पेयं समे सत्यपि कारणे ।
> विषद्रो[1]रायुषे पत्रं मूलं तु मृतये मतम् ॥३०५॥

अपि च—

> [2]शरीरावयवत्वेऽपि मांसे दोषो न सर्पिषि ।
> जिह्वावत्र हि दोषाय पादे मद्यं द्विजातिषु ॥३०६॥
> विधि[3]श्चेत्केवलं शुद्धयै द्विजैः सर्वं[4] निषेव्यताम् ।
> [5]शुद्धयै चेत्केवलं वस्तु भुज्यतां श्वपचालये ॥३०७॥
> तद्द्रव्यदातृपात्राणां विशुद्धौ विधिशुद्धता ।
> यत्संस्कारशतेनापि नाजातिर्द्विजतां व्रजेत् ॥३०८॥
> तच्छाक्यसांख्यचार्वाकवेदवैद्यकपर्दिनाम् ।
> मतं विहाय हातव्यं[6] मांसं श्रेयोऽर्थिभिः सदा ॥३०९॥
> यस्तु लौल्येन मांसाशी[7] धर्मधीः स द्विपातकः[8] ।
> परदारक्रियाकारी मात्रा [9]सत्रं यथा नरः ॥३१०॥

अथवा, मांस और दूधका एक कारण होनेपर भी मांस छोड़ने योग्य है और दूध पीने योग्य है। जैसे कारस्कर नामके विषवृक्षका पत्ता आयुवर्धक होता है और उसकी जड़ मृत्युका कारण होती है ॥३०५॥ और भी कहते हैं—

मांस भी शरीरका हिस्सा है और घी भी शरीरका ही हिस्सा है फिर भी मांसमें दोष है, घी में नहीं। जैसे ब्राह्मणोंमें जीभसे शराबका स्पर्श करनेमें दोष है पैरमें लगानेपर नहीं ॥३०६॥

यदि विधिसे ही वस्तु शुद्ध हो जाती तो ब्राह्मणोंके लिए कोई वस्तु असेव्य रहती ही नहीं। और यदि केवल वस्तुकी शुद्धि ही अपेक्षित है तो चाण्डालके घरपर भी भोजन कर लेना चाहिए ॥३०७॥ अतः द्रव्य, दाता और पात्र तीनोंके शुद्ध होनेपर ही शुद्ध विधि बनती है। क्योंकि सैकड़ों संस्कार करनेपर भी शूद्र ब्राह्मण नहीं हो सकता ॥ ३०८ ॥ इस लिए जो अपना कल्याण चाहते हैं उन्हें बौद्ध, सांख्य, चार्वाक, वैदिक और शैवोंके मतोंकी परवाह न करके मांसका त्याग कर देना चाहिए ॥३०९॥

जैसे जो परस्त्रीगामी पुरुष अपनी माताके साथ सम्भोग करता है वह दो पाप करता है, एक तो परस्त्री गमनका पाप करता है और दूसरे माताके साथ सम्भोग करनेका पाप करता है। वैसे ही जो मनुष्य धर्मबुद्धिसे लालसापूर्वक मांस भक्षण करता है वह भी डबल पाप करता है। एक तो वह मांस खाता है दूसरे धर्मका ढोंग रचकर उसे खाता है ॥३१०॥

---

१. विषतरोः आयुर्निमित्तं पत्रं स्यात्। "पयः पेयं पलं हेयं समे सत्यपि साधने। विषद्रोरायुषे पत्रं मूलं तु मृतये मतम् ॥३८॥" —प्रबोधसार। "ग्राह्यं दुग्धं पलं नैव वस्तुनो गतिरीदृशी। विषद्रोः पत्रमारोग्य-कृन्मूलं मृतिकृद् भवेत् ॥४२॥" —धर्मसं०। २. द्वयोर्मांससर्पिषोः निमित्तं शरीरमेव। "शरीरावयवत्वेऽपि मांसे दोषो न सर्पिषि। धेनुदेहस्रुतं मूत्रं न पुनः पयसा समम् ॥३९॥" —प्रबोधसार। ३. संप्रोक्षणं यज्ञादिश्चेत् शुद्धयै भवति। ४. योग्यमयोग्यञ्च। ५. अथवा विधिस्तिष्ठतु वस्तु स्वयमेव शुद्धं वर्तते। ६. त्याज्यम्। ७. मांसभक्षकः। ८. तस्य पातकद्वयं भवति। ९. सह। 'यस्तु मांसादिलौल्येन धर्म धर्मेति भाषते। मांसास्वादाद्विधेर्ध्वंसात् स स्यात्पापद्वयाश्रयः ॥४०॥' —प्रबोधसार। 'पापी ह्यास्यं लभेतासौ मांसलौल्येन धर्मधीः। परदारं विधातेव मात्रा सार्द्धं नराधमः ॥४१॥ प्रबोधसार।

श्रूयतामत्र मांसाशनाभिध्यानमात्रस्यापि[1] पातकस्य फलम्—श्रीमत्पुष्पदन्तभदन्तावतारावतीर्णत्रिदिवपतिसंपादितोद्यो[2]पेन्दिरासन्द्यां काकन्द्यां पुरि श्रावकान्वयसंभूतिः सौरसेनो नाम नृपतिः कुलधर्मानुरोधबुद्ध्या गृहीतपिशितव्रतः पुनर्वेदवैद्यो[3]द्वैतमतमोहितमतिः संजातजाङ्गलजिघित्सानुमतिरङ्गीकृतवस्तुनिर्वहणाज्जनापवादाज्जुगुप्समानो मनोविश्रान्तिहेतुना कर्मप्रियनामकेतुना[4] बल्लवेन रहसि[5] बिलस्थलजलान्तरालचरतरसमानाययन्न[6]प्यनेकराजकार्यपर्याकुलमानसतया मांसभक्षणक्षणं नावाप ।

भावार्थ—जो व्यक्ति या धर्म मांसाहारको उचित ठहराते हैं वे उसके समर्थनमें अनेक कुयुक्तियाँ देते हैं । उन्हींका निर्देश तथा परीक्षण ग्रन्थकारने ऊपर किया है । जीवका शरीर होने मात्रसे मांसको अभक्ष्य नहीं बतलाया गया है, किन्तु एक तो किसी पञ्चेन्द्रिय जीवको काटे बिना मांस उत्पन्न नहीं होता । दूसरे वह अत्यन्त तामसिक भोजन है । दूध, फल वगैरहमें यह बात नहीं है । वे पशुओं और वृक्षोंको बिना हानि पहुँचाये प्राप्त किये जा सकते हैं तथा उनके खानेसे चित्तमें सात्त्विकता आती है । कहा जा सकता है कि यदि स्वयं मरे हुए जीवका मांस प्राप्त हो जाये तो क्या हानि है ? इसका समाधान यह है कि यद्यपि इससे शुरूमें किसी जीवका घात नहीं होगा किन्तु आगे मांस खानेका चश्का लग जानेसे दूसरे लोगोंके द्वारा मारे गये पशुके मांसमें भी प्रवृत्ति होने लगेगी । जैसे बौद्ध धर्ममें त्रिकोटि परिशुद्ध मांसके ग्रहण कर लेनेका विधान है तो तिब्बतके लामाओंके लिए शहरसे दूर पशु मारे जाते हैं और उनका मांस वह ग्रहण कर लेते हैं । दूसरे, मांसमें भी एकेन्द्रिय जीवोंकी उत्पत्ति होने लगती है तीसरे, मृत पशुका मांस खानेपर भी तामसिकपना तो बना ही रहता है । वह तो मांसमात्रका धर्म है । अतः मांसाहार और दुग्ध तथा फलाहार समान नहीं हो सकता । हिन्दू धर्ममें यज्ञके प्रसादके तौरपर मांसके ग्रहणका विधान कुछ ग्रन्थोंमें मिलता है । किन्तु जो चीज स्वभाव से ही अशुद्ध है, मन्त्रादिकके द्वारा उसे शुद्ध नहीं किया जा सकता । यदि मंत्रोंके द्वारा स्वभावसे ही अशुद्ध वस्तुएँ भी शुद्ध हो सकती हैं तो फिर तो संसारमें अभक्ष्य कुछ रहेगा ही नहीं । अतः यज्ञादिकमें मन्त्रपाठपूर्वक पशुका बलिदान करके उसका मांस खाना भी निरामिषभोजियोंके लिए उचित नहीं है । मांस खाना तो बहुत दूर है उसका इरादा करना भी बुरा है । मांस खानेके संकल्पमात्रसे भी जो पाप होता है उसके फलके सम्बन्धमें एक कथा है उसे सुनें—

११ मांसभक्षणसंकल्पी राजा सौरसेनकी कथा

भगवान् पुष्पदन्तके जन्मोत्सवसे पवित्र काकन्दी नगरीमें श्रावककुलोत्पन्न सौरसेन नामका राजा राज्य करता था । उसने अपना कुलधर्म समझकर मांस खानेका त्याग कर दिया था । बादमें कुछ वैदिकों, वैद्यों और शैवोंके कहनेसे उसे मांस खानेकी रुचि उत्पन्न हुई । किन्तु की हुई प्रतिज्ञाको न निबाहनेके लोकापवादसे वह डरता था । उसका कर्मप्रिय नामका रसोइया एकान्तमें अनेक जलचर, थलचर और बिलोंमें रहनेवाले जन्तुओंका मांस तैयार करता था किन्तु अनेक राजकार्योंमें घिरे रहनेसे उसे मांस खानेके लिए एकान्त समय नहीं मिलता था ।

१. चिन्तनम्-इच्छामात्रं वा । २. उत्सवलक्ष्मीस्थान । ३. वेदवचन-वैद्यवचन-शैववचन । ४. सूपकारेण । ५. एकान्ते । ६. आनयनं कारयन् ।

कर्मप्रियोऽपि तथा पृथिवीश्वरनिदेशमनुदिनमनुतिष्ठन्नेकदा[1] पृदाकुपाकोपप्लुतः[2] प्रेत्य[3] स्वयम्भूरमणाभिधानमुद्रे समुद्रे महादेहबलस्तिमिङ्गिलगिलो बभूव। भूपालोऽपि चिरकालेन कथाशेषतामाश्रित्य पिशिताशनाशयानुबन्धात्तत्रैव[4] सिन्धौ तस्यैव महामीनस्य कर्णबिले तन्मलाशनशीलः[5] शालिसिक्थकलकलेवरः[6] शफरोऽभूत्। तदन्वेष पर्याप्तोभयकरणस्तस्य वदनं व्यादाय निद्रायतो गलगुहावगाहे वेलानदीप्रवाह इवानेकं जलचरानीकं प्रविश्य तथैव निष्कामन्तं निरीक्ष्य 'पापकर्मा निर्भाग्याणां चाग्रणीधर्मा खल्वेष झषो यद्वक्त्रसंपातरतचेतां-[7] स्यपि न शक्नोति अशितुं यादांसि। मम पुनर्यदि हृदयेप्सितप्रभावाद्दैवादेतावन्मात्रं[8] गात्रं स्यात्तदा समस्तमपि समुद्रं विद्रुतसकलसत्त्वसंचारमुद्रं विदधामि' इत्यभिध्यानादल्पकाय-कर्लः शकुलो[9] निखिलनक्रचक्रचाराद्[10] महादेहाधीनो मीनः कालेन विपद्योत्पद्य[11] चोत्तमतस्त्र-यस्त्रिंशत्सागरोपमायुर्निलये निरये भवप्रत्ययायत्ताविर्भूतज्ञानविशेषौ तावनिमिषचरौ[12] नार-कपर्यायधरौ किलैवमालापं चक्रतुः—'अहो क्षुद्रमत्स्य, तथा निर्मितकर्मणो दुष्कर्मणो ममा-त्रागतिरुचितैव। तव तु मत्कर्णबिले मलोपजीवनस्य कथमत्रागमनमभूत्? हे महामत्स्य, चेष्टितादपि दुरन्तदुःखसंबन्धनिबन्धनादशुभध्यानात्।'

भवति चात्र श्लोकः—

इस प्रकार कर्मप्रिय राजाकी आज्ञाके अनुसार प्रतिदिन मांस पकाता था। एक दिन उसने साँपका मांस पकाया और उसीके जहरसे मरकर वह स्वयंभूरमण नामके समुद्रमें विशालकाय तिमिङ्गिल नामका महामत्स्य हुआ। कुछ कालके बाद राजा भी मरकर मांस खानेके संकल्पके कारण उसी समुद्रमें उसी महामत्स्यके कानमें उसका मैल खानेवाला मत्स्य हुआ, जिसका शरीर शाली चावलके बराबर था। महामत्स्य मुँह खोलकर सोता रहता था और उसके गुफाके समान गहरे गलेमें नदीके प्रवाहकी तरह जलचर जीवोंकी सेना घुसकर जीवित निकल आती थी। उसे देखकर तन्दुलमत्स्य सोचता—'यह मत्स्य बड़ा पापी और अभागोंमें भी सबसे बड़ा अभागा है, जो अपने मुँहमें स्वयं ही आनेवाले मत्स्योंको भी नहीं खा सकता। यदि हार्दिक इच्छाके प्रभावसे दैववश मेरा इतना बड़ा शरीर हो जाये तो मैं समस्त समुद्रको जलचर जीवोंसे शून्य कर दूँ।'

इस संकल्पसे अल्पकाय तन्दुलमत्स्य और समस्त मगरमच्छोंको खानेसे महाकाय महाम-त्स्य मरकर सातवें नरकमें तेतीस सागरकी उत्कृष्ट आयु लेकर उत्पन्न हुए। उन दोनोंको भवप्रत्यय नामका कुअवधि ज्ञान था। उसके द्वारा पूर्वजन्मका वृत्तान्त जानकर वे दोनों नारकी आपसमें कहते–'तन्दुलमत्स्य ! मैंने बड़ा पाप किया इसलिए मेरा यहाँ आना तो उचित ही था। किन्तु तुम तो मेरे कानके बिलमें कानका मैल ही खाया करते थे। तुम यहाँ कैसे आये ?' तब तन्दुल मत्स्य उत्तर देता—'तुम्हारे कर्मसे भी बुरे, महादुःखके कारण अशुभ ध्यानसे मरकर मैं यहाँ पैदा हुआ हूँ।'

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है–

---

१. कुर्वन्। २. सर्प। ३. मृत्वा। ४. संतत्या प्रवर्तनात्। ५. भक्षण। ६. शालिसिक्थ-मात्रशरीरः। ७. संपातरत—अ० ज०। ८. भागः। ९. मत्स्यः। १०. भक्षणात्। ११. मृत्वा। १२. भूतपूर्वमत्स्यौ।

क्षुद्रमत्स्यः[1] किलैकस्तु स्वयम्भूरमणोदधौ ।
महामत्स्यस्य कर्णस्थः स्मृतिदोषादधो गतः ॥३११॥

—वरांगचरित ५,१०३ ।

इत्युपासकाध्ययने मांसाभिलाषमात्रफलप्रलपनो नाम चतुर्विंशतितमः कल्पः ।

श्रूयतामत्र मांसनिवृत्तिफलस्योपाख्यानम्—अवन्तिमण्डलनलिनाभिनिवाससरस्या-मेकानस्यां[2] पुरि पुरबाहिरिकायां देविलामहिलाविलासविशिखवृत्तिकोदण्डस्य[3] चण्डनाम्नो मातङ्गस्यैकस्यां दिशि निवेशितपिशितोपदंशस्यापरस्यां दिशि विन्यस्तसुरासंभृतकलशस्य[4] तां पलावदंशोदारां[5] सुरां पायं पायं तदुभयान्तराले चर्मनिर्माणतन्त्रीं वरत्रां वर्तयतो वियद्विहारोड्डीनाण्डजडिम्भतुण्डखण्डनविनिष्पन्दिविषधरविषदोषावसरा सुरासीत् । अत्रैवावसरे तत्समीपवर्त्मगोचरे धर्मश्रवणजन्मान्तरादिप्रकाशनपथाभिः कथाभिर्विनेयजनोपकाराय कृतकामचारप्रचारमम्बरान्मूर्तिमत्स्वर्गापवर्गमार्गयमलमिवावतरच्चारणर्षियुगलमवलोक्य संजातकुतूहलस्तं देशमनुगम्य नगरे तद्दर्शनेन श्रावकलोकं व्रतानि समाददानमनुस्मृत्य समाचरितप्रणामः सुनन्दनाग्रेसरगमनमभिनन्दनं भगवन्तमात्मोचितं व्रतमयाचत ।

भगवानपि—

उपकाराय सर्वस्य पर्जन्य[6] इव धार्मिकः ।
तत्स्थानास्थानचिन्तेयं[7] वृष्टिवन्न हितोक्तिषु ॥३१२॥

"स्वयंभूरमण समुद्रमें महामत्स्यके कानमें रहने वाला तन्दुलमत्स्य बुरे संकल्पसे नरक में गया ॥३११॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें मांसकी इच्छा मात्र करनेका फल बतलानेवाला चौबीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

अब मांस त्यागके फलके सम्बन्धमें एक कथा कहते हैं, उसे सुनें—

१२ मांसत्यागी चाण्डालकी कथा

अवन्तिदेशकी उज्जयिनी नामकी नगरीमें नगरके बाहर चण्ड नामका एक चाण्डाल रहता था । एक दिन वह चाण्डाल मौज ले रहा था । उसके एक ओर मांसके व्यंजन रखे हुए थे । दूसरी ओर शराबसे भरे कलश रखे थे । चाण्डाल मांसके व्यंजनोंके साथ शराब पीता जाता था और बीच-बीचमें चमड़ेकी रस्सी बटता जाता था । आकाशमें उड़ते हुए एक पक्षीशावकका मुँह खुल जानेसे एक सर्प शराबमें आ गिरा था और उससे शराब विषैली हो गयी थी । इसी समय धर्मोपदेश तथा जन्मान्तरकी कथाओंके द्वारा लोगोंका उपकार करनेके लिए भ्रमण करते हुए दो चारण ऋद्धिके धारी मुनियोंको पासमें ही आकाशसे उतरते हुए देखकर चाण्डालको बड़ा कुतूहल हुआ । वह भी उनके समीप गया । वहाँ नगरके श्रावकोंको व्रत ग्रहण करते हुए देखकर उसने उन्हें प्रणाम किया और सुनन्दन मुनिके अग्रवर्ती भगवान् अभिनन्दन मुनिसे अपने योग्य व्रतकी याचना की ।

'जैसे मेघ सबके उपकारके लिए है वैसे ही धार्मिक पुरुष भी सबके उपकारके लिए हैं ।

---

१. सिक्थमत्स्यः किलैकोऽसौ स्वयम्भूरमणाम्बुधौ । महामत्स्यसमान् दोषान् अवाप स्मृतिदोषतः ॥ ४७ ॥ —महापुराण २१ पर्व । २. उज्जयिन्याम् । ३. बाण । ४. सुरासारसं—ब० । ५. पलोपदंशो—ब० । ६. मेघ । ७. एष उत्तम एष नीचः धर्मकथने इति चिन्ता न सर्वेषां धर्मो वाच्यः ।

इत्यवगम्य सम्यगवधिबोधोपयोगादवगतैतदासन्नपरासुतायोगस्तम्मातङ्गमेवमवोचत्–'अहो मातङ्ग, तदुभयान्तरालसज्जां रज्जुं सृजतस्तन्मध्ये तव तन्निवृत्तिव्रतम्' इति। मातङ्गस्तथा प्रतिपद्योपसृत्य च तमवकाशं पिशितं प्राश्य 'यावदहमिदं स्थानकं नायामि तावन्मेऽस्य निवृत्तिः' इत्यभिधाय समासादितमदिरास्थानः प्रतिपन्नपानस्ततुग्रतरगरभराघ्रघूर्णितमतिप्रसरस्तन्निवृत्तिमलभमानचित्तोऽपि प्रेत्य तावन्मात्रव्रतमाहात्म्येन यक्षकुले यक्षमुख्यत्वं प्रतिपेदे।

भवति चात्र श्लोकः—

चण्डोऽवन्तिषु मातङ्गः पिशितस्य निवृत्तितः।
अत्यल्पकालभाविन्याः प्रपेदे यक्षमुख्यताम् ॥३१३॥

इत्युपासकाध्ययने मांसनिवृत्तिफलाख्यानो नाम पञ्चविंशतितमः कल्पः।

अथ के ते उत्तरगुणाः—

[11]अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिप्रकारं गुणव्रतम्।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि गुणाः स्युर्द्वादशोत्तरे ॥३१४॥

और जैसे स्थान और अस्थानका विचार किये बिना मेघ सर्वत्र बरसता है वैसे ही धार्मिक पुरुष भी हितकी बात कहनेमें स्थान और अस्थानका विचार नहीं करते ॥३१२॥' ऐसा सोचकर भगवान् अभिनन्दन मुनिने अवधिज्ञानसे जाना कि यह चाण्डाल जल्द ही मरने वाला है। अतः वे उससे बोले–'भाई चाण्डाल ! मांस खाने और शराब पीनेके बीचमें जितनी देर तुम रस्सी बाँटो उतनी देरके लिए तुम मांस और शराबका त्याग कर दो।'

चाण्डालने इस बातको स्वीकार कर लिया। और वहाँसे चलकर अपने स्थानपर आया। मांसके पास जाकर उसने मांस खाया और संकल्प किया कि जबतक फिर मैं इस स्थानपर नहीं आऊँगा तबतकके लिए मेरे मांसका त्याग है। इसके बाद वह शराबके पास गया और वहाँ उसने शराब पी। पीते ही तीव्र जहरके प्रभावसे उसकी बुद्धि कुण्ठित हो गयी। अतः यद्यपि वह उसका त्याग नहीं कर सका फिर भी मरकर उतने ही व्रतके प्रभावसे यक्षकुलमें प्रधान यक्ष हुआ।

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है--

"अवन्ति देशमें चण्ड नामका चाण्डाल बहुत थोड़ी देरके लिए मांसका त्याग कर देनेसे मरकर यक्षोंका प्रधान हुआ ॥३१३॥"

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें मांस त्यागके फलको कहनेवाला पच्चीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

श्रावकोंके उत्तरगुण

[अब श्रावकोंके उत्तरगुण बतलाते हैं—]

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये बारह उत्तरगुण हैं ॥३१४॥

१. ज्ञात। २. मरण। ३. यस्मिन् पार्श्वे यद्भुक्तं तत्समीपं त्यक्त्वा द्वितीयवारं यावन्नायाति तावत्कालपर्यन्तं तद्व्रतम्। ४. गत्वा। ५. स्थानम्। ६. मांसम्। ७. भुक्त्वा। ८. शीघ्रम्। ९. मद्यनियमम्। १०. मृत्वा। ११. 'पंचेवणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि। सिक्खावय चत्तारि संजमचरणं च सायारं' ॥ २ ॥ —चारित्रप्राभृत। 'गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणुगुणशिक्षाव्रतात्मकं चरणम्। पञ्चत्रिचतुर्भेदं त्रयं यथासंख्यमाख्यातम् ॥५१॥' —रत्नकरण्ड श्रा०। 'अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिःप्रकारं गुणव्रतम्। शिक्षाव्रतानि चत्वारि इत्येतद्द्वादशात्मकम् ॥' —वरांगचरित १५,१११। 'व्रतान्यणूनि पञ्चैषां शिक्षा चोक्ता चतुर्विधा। गुणास्त्रयो यथाशक्तिनियमास्तु सहस्रशः ॥१८३॥'—पद्मपु०, पर्व १४। पद्मनन्दि पञ्च० पृ० १९

तत्र—

> हिंसा[1]स्तेयानृताब्रह्मपरिग्रहविनिग्रहाः ।
> एतानि देशतः पञ्चाणुव्रतानि प्रचक्षते ॥३१५॥
> सं[2]कल्पपूर्वकः सेव्ये नियमो व्रतमुच्यते ।
> प्रवृत्तिविनिवृत्ती वा सदसत्कर्मसंभवे ॥३१६॥
> हिं[3]सायामनृते चौर्यामब्रह्मणि परिग्रहे ।
> दृष्टा विपत्तिरत्रैव परत्रैव च दुर्गतिः ॥३१७॥

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहका एक देश त्याग करनेको पाँच अणुव्रत कहते हैं ॥ ३१५ ॥

व्रतका लक्षण

सेवनीय वस्तुका इरादापूर्वक त्याग करना व्रत है। अथवा अच्छे कार्योंमें प्रवृत्ति और बुरे कार्योंसे निवृत्तिको व्रत कहते हैं ॥३१६॥

भावार्थ—किसी वस्तुके सेवन न करनेका नाम व्रत नहीं है किन्तु उसका बुद्धिपूर्वक त्याग करके सेवन न करना व्रत कहलाता है, क्योंकि किसी वस्तुके सेवन नहीं करनेमें तो अनेक कारण हो सकते हैं। कोई अच्छी न लगनेके कारण किसी वस्तुका सेवन नहीं करता। कोई न मिलनेके कारण किसी वस्तुका सेवन नहीं करता। कोई स्वास्थ्यके अनुकूल न होनेके कारण किसी वस्तुका सेवन नहीं करता। कोई बदनामीके भयसे किसी वस्तुका सेवन नहीं करता। किन्तु यदि वह वस्तु उसे अच्छी लगने लगे, या बाजारमें मिलने लगे, या स्वास्थ्यके अनुकूल पड़ने लगे या बदनामीका भय जाता रहे तो वह उस वस्तुको तुरन्त सेवन करने लगेगा। परन्तु जो किसी वस्तुके सेवन न करनेका नियम ले लेता है वह अपने नियमकाल तक किसी भी अवस्थामें उस वस्तुका सेवन नहीं करता। अतः केवल सेवन न करनेका नाम व्रत नहीं है बल्कि समझ-बूझकर त्याग कर देनेका नाम व्रत है।

पाँचों पापोंमें बुराई

हिंसा करने, झूठ बोलने, चोरी करने, कुशील सेवन करने और परिग्रहका संचय करनेसे इसी लोकमें मुसीबत आती देखी जाती है और परलोकमें भी दुर्गति होती है ॥३१७॥

भावार्थ—भारतीय पिलनकोडमें जिन जुर्मोंके लिए सजा देनेका विधान है वे सब जुर्म प्रायः इन पाँच पापोंमें ही सम्मिलित हैं। हिंसा करनेसे फाँसी तक हो जाती है। झूठी बात कहने, झूठी गवाही देनेसे जेलकी हवा खानी पड़ती है। चोरी करनेसे भी यही दण्ड भोगना पड़ता है। दुराचार करनेसे जेलखानेकी साथ-ही-साथ बेतोंकी भी सजा मिलती है। और

---

१. 'थूले तसकायवहे थूले मोसे तितिक्ख थूले य। परिहारो परपिम्मे परिग्गहारम्भपरिमाणं ॥२३॥' —चारि० प्रा०। 'हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्याञ्च। पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम्' ॥४९॥ —रत्नकरण्ड श्रा०। 'प्राणातिपाततः स्थूलाद्विरतिर्वितथात्तथा। ग्रहणात् परवित्तस्य परदारसमागमात् ॥१८४॥ अनन्तायाश्च गर्द्धायाः पञ्चसंख्यमिदं व्रतम्।...' ॥१८५॥ —पद्मपु०, पर्व १४। २. संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमोऽशुभकर्मणः। निवृत्तिर्वा व्रतं स्याद्वा प्रवृत्तिः शुभकर्मणि ॥ ८० ॥ सागारधर्मामृत अ० २। ३. सर्वार्थसिद्धि अ० ७, सू० ९ इसके विवरणके लिए देखें।

यत्स्यात्प्रमादयोगेन प्राणिषु प्राणहापनम्[1]।
सा हिंसा रक्षणं तेषामहिंसा तु सतां मता ॥३१८॥
विकथाक्षकषायाणां[2] निद्रायाः प्रणयस्य च ।
अभ्यासाभिरतो जन्तुः प्रमत्तः परिकीर्तितः ॥३१९॥
देवतातिथिपित्रर्थं[3] मन्त्रौषधभयाय वा ।
न हिंस्यात्प्राणिनः सर्वानहिंसा नाम तद्व्रतम् ॥३२०॥

अनुचित तरीकेसे ज्यादा सामग्री इकट्ठी कर लेनेपर भी सजाका भय बना ही रहता है। तथा परिग्रहीको चोरोंका डर भी सताता रहता है, इसके कारण वह रातको आरामसे सो भी नहीं पाता। जब इसी लोकमें इन पाँच पापोंके कारण इतनी विपत्ति उठानी पड़ती है तब परलोकका तो कहना ही क्या है।

अहिंसा

[अब अहिंसा धर्मका वर्णन करते हैं—]

प्रमादके योगसे प्राणियोंके प्राणोंका घात करना हिंसा है और उनकी रक्षा करना अहिंसा है ॥३१८॥ जो जीव ४ विकथा, ४ कषाय, ५ इन्द्रियाँ, निद्रा और मोहके वशीभूत है उसे प्रमादी कहते हैं ॥ ३१९ ॥

भावार्थ—प्रमादके पन्द्रह भेद हैं—४ विकथा, ४ कषाय, ५ इन्द्रियाँ, एक निद्रा और एक मोह। विकथा खोटी कथाको कहते हैं जैसे स्त्रियोंकी चर्चा करना, भोजनकी चर्चा करना, चोरोंकी चर्चा करना, ये चर्चाएँ प्रायः कामुकता और मनोविनोदके लिए की जाती हैं और उनसे लाभके बजाय हानि होती है। अतः जो मनुष्य इस प्रकारकी चर्चाओंमें रस लेता है वह प्रमादी है। क्रोध, मान, माया और लोभको कषाय कहते हैं। जो क्रोध करता है, मान करता है, मायाचार करता है या लोभी है वह तो प्रमादी है ही, क्योंकि ऐसा आदमी कभी भी अपने कर्तव्यके प्रति सावधान नहीं रह सकता। इसी तरह जो पाँचों इन्द्रियोंका दास है उन्हींकी तृप्तिमें लगा रहा है वह भी प्रमादी है। ऐसे लोग किसीका घात करते हुए नहीं सकुचाते। यही बात निद्रा और मोहके सम्बन्धमें जाननी चाहिए। अतः प्रमादके योगसे जो प्राणोंका घात किया जाता है वह हिंसा है किन्तु जहाँ प्रमाद नहीं है वहाँ किसीका घात हो जानेपर भी हिंसा नहीं कहलाती है। इसका खुलासा पहले कर आये हैं।

देवताके लिए, अतिथिके लिए, पितरोंके लिए, मंत्रकी सिद्धिके लिए, औषधिके लिए, अथवा भयसे सब प्राणियोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिए। इसे अहिंसाव्रत कहते हैं ॥३२०॥

---

१. 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥' —तत्त्वार्थसूत्र ७-१३। २. 'विकहा तहा कसाया इंदिय णिद्दा तहेव पणयो य। चदु चदु पण एगेगं होंति पमादा हु पण्णरसा ॥ १५ ॥' —पञ्चसंग्रह-जीवसमास। ३. 'मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि। अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः ॥' —मनुस्मृति ५-४१। 'देवतातिथिप्रीत्यर्थं मन्त्रौषधिभयाय वा। न हिंस्याः प्राणिनः सर्वे अहिंसा नाम तद्व्रतम्।' —वरांग च० १५-११२। 'देवतातिथिमन्त्रौषधपित्रादिनिमित्ततोऽपि सम्पन्ना। हिंसा धत्ते नरके किं पुनरिह नान्यथा विहिता ॥२९॥' —अमित० श्रावकाचार ६ परि०। 'उक्तं च—देवता···मन्त्रौषधिभयेन वा। —धर्मरत्ना०, पृ० ८५।

गृहकार्याणि सर्वाणि दृष्टिपूतानि कारयेत् ।
द्रवद्रव्याणि सर्वाणि पटपूतानि योजयेत् ॥३२१॥
आसनं शयनं[2] मार्गमन्नमन्यच्च[1] वस्तु यत् ।
अदृष्टं तन्न सेवेत यथाकालं भजन्नपि ॥३२२॥
दर्शनस्पर्शसंकल्पसंसर्गत्यक्तभोजिताः ।
हिंसनाक्रन्दनप्रायाः प्राशप्रत्यूहकारकाः[3] ॥३२३॥

भावार्थ—मनुस्मृतिके तीसरे अध्यायमें मांससे श्राद्ध करनेका विधान है तथा यह भी बतलाया है कि किस मांससे श्राद्ध करनेसे कितने दिन तक पितृ लोग तृप्त रहते हैं। पाँचवें अध्यायमें यज्ञके लिए पशुवध करनेका तथा मांस खानेका विधान है। उत्तररामचरितमें लिखा है कि जब वशिष्ठ ऋषि वाल्मीकि ऋषिके आश्रममें पहुँचे तो उनके आतिथ्य-सत्कारके लिए वाल्मीकि ऋषिने गायकी बछियाका वध करवाया। ये सब कार्य हिंसा ही हैं। इसी तरहकी बातोंको देखकर ग्रन्थकारने देवता वगैरहके लिए पशुघात करनेका निषेध किया है। आश्चर्य है कि धर्मके नामपर भी हिंसाका पोषण किया गया है। जब कि हिंसासे बड़ा कोई अधर्म नहीं है। इसी तरह दवाईके लिए भी किसीका घात नहीं करना चाहिए, क्योंकि अपने जीवनकी रक्षाके लिए दूसरोंके जीवनको नष्ट कर देनेका हमें क्या अधिकार है ?

पानी वगैरहको छानकर काममें लाओ

घरके सब काम देख-भाल कर करना चाहिए। और पतली वस्तुओंको कपड़ेसे छानकर ही काममें लाना चाहिए। आसन, शय्या, मार्ग, अन्न और भी जो वस्तु हो, समयपर उसका उपयोग करते समय बिना देखे उपयोग नहीं करना चाहिए ॥३२१-३२२॥

भावार्थ—प्रत्येक वस्तुको देख-भाल कर काममें लानेकी आदत डालनेसे तथा पानी वगैरहको छानकर काममें लानेसे मनुष्य हिंसासे ही नहीं बचता, किन्तु बहुत-सी मुसीबतोंसे भी बच जाता है। उदाहरणके लिए प्रत्येक वस्तुको देख-भाल कर काममें लानेकी आदतसे साँप, बिच्छू वगैरहसे बचाव हो जाता है। शय्याको बिना झाड़े उपयोगमें लानेसे अनेक मनुष्य साँपके शिकार बन चुके हैं। बिना देखे चाहे जहाँ हाथ डाल देनेसे भी ऐसी ही घटनाएँ प्रायः घटती हैं। बिना छाने या बिना देखे-भाले पानी पी लेनेसे मुरादाबाद जिलेके एक गाँवमें एक लड़केके मुँहमें बिच्छू चला गया था और उसके कारण उस लड़केकी मौत बिच्छूके डंक मारते रहनेसे बड़ी कष्टकर हुई थी। अतः प्रत्येक वस्तुको देखकर ही काममें लाना चाहिए और पानी वगैरह कपड़ेसे छानकर ही काममें लाना चाहिए।

भोजनके अन्तराय

ताजा चमड़ा, हड्डी, मांस, लोहू और पीब वगैरहका देखना, रजस्वला स्त्री, सूखा

१. 'दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।'—मनुस्मृति अ० ६-४६। २. 'शयनं यानं मार्गमन्यच्च' —सागारधर्मा० पृ० १२०। ३. भोजनान्तरायाः। 'दृष्ट्वाऽऽर्द्रचर्मास्थिसुरामांसासृक्पूयपूर्वकम् । स्पृष्ट्वा रजस्वलाशुष्कचर्मास्थिशुनकादिकम् । श्रुत्वातिकर्कशाक्रन्दविड्वरप्रायनिःस्वनम् । भुक्त्वा नियमितं वस्तु भोज्येऽशक्यविवेचनैः ॥ संसृष्टे सति जीवद्भिर्जीवैर्वा बहुभिर्मृतैः। इदं मांसमिति दृष्टसंकल्पे चाशनं त्यजेत् ॥' —सागारधर्मामृत ४ अ०, श्लो० ३१-३३। 'उदक्यामपि चाण्डालश्वानकुक्कुटमेव च। भुञ्जानो

अतिप्रसङ्गहानाय तपसः परिवृद्धये ।
अन्तरायाः स्मृता सद्भिर्व्रतबीजविनिर्मिताः[1] ॥३२४॥
अहिंसाव्रतरक्षार्थं[2] मूलव्रतविशुद्धये ।
निशायां वर्जयेद्भुक्तिमिहामुत्र च दुःखदाम् ॥३२५॥

चमड़ा, कुत्ता वगैरहसे छू जाना, भोजनके पदार्थोंमें 'यह मांसकी तरह है' इस प्रकारका बुरा संकल्प हो जाना, भोजनमें मक्खी वगैरहका गिर पड़ना, त्याग की हुई वस्तुको खा लेना, मारने, काटने, रोने, चिल्लाने आदिकी आवाज सुनना, ये सब भोजनमें विघ्न पैदा करनेवाले हैं। अर्थात् उक्त अवस्थाओंमें भोजन छोड़ देना चाहिए ॥३२३॥ ये अन्तराय व्रतरूपी बीजकी रक्षाके लिए बाड़के समान हैं। इनके पालनेसे अतिप्रसङ्ग दोषकी निवृत्ति होती है और तपकी वृद्धि होती है ॥३२४॥

भावार्थ—भोजन करते समय यदि ऊपर कही हुई चीजोंको देख ले या उनसे छू जाये या ऊपर बतलायी हुई बातोंमें-से कोई और बात हो जाये तो भोजन छोड़ देना चाहिए। क्यों कि उस अवस्थामें भी यदि भोजन नहीं छोड़ा जायेगा तो बुरी वस्तुओंसे घृणा धीरे-धीरे दूर हो जायेगी और उसके दूर होनेसे मन कठोर होता जायेगा, बुरी वस्तुओंके प्रति अरुचि हटती जायेगी और फिर एक समय ऐसा भी आ सकता है जब उन बुरी वस्तुओंमें प्रवृत्ति होने लगे। इस तरह यह अतिप्रसङ्ग दोष उपस्थित हो सकता है। इससे बचनेके लिए अन्तरायोंका पालन करना जरूरी है। तथा ऐसी अवस्थामें भोजनके छोड़ देनेसे तपकी वृद्धि भी होती है, क्योंकि इच्छाके रोकनेको तप कहते हैं। भोजनके बीचमें अन्तरायके आ जानेपर भी भूख तो भोजन चाहती है अतः मन भोजनके लिए लालायित रहता है। किन्तु समझदार व्रती भूखकी परवाह न करके भोजन छोड़ देता है और इस तरह वह खानेकी इच्छापर विजय पाकर अपने तपको बढ़ाता है। अतः अन्तरायोंका पालना आवश्यक है। वे व्रतरूपी बीजकी बाड़के समान हैं। जैसे खेतमें बीज बोकर उसकी रक्षाके लिए चारों ओर काँटे वगैरहकी बाड़ लगा देते हैं उससे कोई पशु वगैरह भीतर घुसकर खेतीको नहीं चर पाता; वैसे ही अन्तरायोंका पालन भी व्रतोंकी रक्षा करता है।

रात्रि-भोजन त्याग

अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिए और मूलव्रतोंको विशुद्ध रखनेके लिए इस लोक और परलोकमें दुःख देनेवाले रात्रि-भोजनका त्याग कर देना चाहिए ॥३२५॥

भावार्थ—रातमें भोजन करनेसे हिंसा अवश्य होती है; क्योंकि सूर्यके सिवा अन्य जितने भी कृत्रिम प्रकाश हैं उनमें जीवोंका बाहुल्य देखा जाता है। रात्रिमें दीपक या बिजलीकी

यदि पश्येत तदन्नं तु परित्यजेत् ॥' —व्यासः। 'चाण्डालपतितोदक्यावाक्यं श्रुत्वा द्विजोत्तमः। भुञ्जीत ग्रासमात्रं चेद्दिनमेकमभोजनम् ॥' —कात्यायनः। —आह्निक प्रकरण पृ० ४८२ पर उद्धृत।

१. व्रतबीजवृत्तयः। 'अतिप्रसङ्गमसितुं परिवर्धयितुं तपः। व्रतबीजवृती भुक्तेरन्तरायान् गृही श्रयेत् ॥ ३० ॥' —सागारधर्मामृत ४ अ०। २. 'अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये। नक्तं भुक्तिं चतुर्धाऽपि सदा धीरस्त्रिधा त्यजेत् ॥' —सागारधर्मा०, ४-२४। 'निशायामशनं हेयमहिंसाव्रतवृद्धये। मूलव्रतविशुद्ध्यर्थं यमार्थं परमार्थतः ॥ ५१ ॥' —प्रबोधसार पृ० ८४।

आश्रितेषु च सर्वेषु यथावद्विहितस्थितिः ।
गृहाश्रमी समीहेत शारीरेऽवसरे स्वयम् ॥३२६॥
संधानं पानकं धान्यं पुष्पं मूलं फलं दलम् ।
जीवयोनि न संग्राह्यं यच्च जीवैरुपद्रुतम् ॥३२७॥
[1]अमिश्रं [2]मिश्रमुत्सर्गि[3] कालदेशदशाश्रयम् ।
वस्तु किञ्चित्परित्याज्यमपीहास्ति जिनागमे ॥३२८॥
यदन्तःशुषिरप्रायं हेयं नालीनलादि तत् ।

रोशनीपर इतने जीव मँडराते देखे जाते हैं कि जिनकी संख्याका अन्दाजा भी लगाना कठिन है। ऐसे समयमें रातमें खानेवाला कैसे उनसे बच सकता है? उसके भोजनमें वे जीव बिना पड़े रह नहीं सकते। और इस तरह भोजनके साथ उनका भी भोजन हो जाता है। ऐसी स्थितिमें न तो अहिंसा व्रतकी ही रक्षा हो सकती है और न अष्ट मूलगुण ही रह सकते हैं। रातके खानेमें केवल इतनी ही बुराई नहीं है। कभी-कभी तो बिषैले जन्तुओंके संसर्गसे दूषित भोजनके कर लेनेपर जीवनका ही अन्त हो जाता है। जैसा कि एक बार लाहौरमें एक दावतमें चायके साथ छिपकलीके भी चुर जानेसे बहुत-से आदमी उसे पीकर बेहोश हो गये थे। यदि मकड़ी भोजनमें चली जाये तो कोढ़ पैदा कर देती है। यदि बालोंकी जूं पेटमें चली जाये तो जलोदर रोग हो जाता है। अतः दिनमें सूर्यके प्रकाशमें ही भोजन करना चाहिए।

गृहस्थको चाहिए कि जो अपने आश्रित हों पहले उनको भोजन कराये पीछे स्वयं भोजन करे ॥३२६॥ अचार, पानक, धान्य, फूल, मूल, फल और पत्तोंके जीवोंकी योनि होनेसे ग्रहण नहीं करना चाहिए। तथा जिसमें जीवोंका वास हो ऐसी वस्तु भी काममें नहीं लानी चाहिए ॥ ३२७ ॥

भावार्थ—अधिक दिनोंका मुरब्बा, अचार, मद्य और मांसके तुल्य हो जाता है अतः मर्यादाके भीतर ही उसका सेवन करना चाहिए। पेय भी सब ताजे और साफ होने चाहिए। अनाज घुना हुआ नहीं होना चाहिए और न इतना अन्न संग्रह ही करना चाहिए कि घुन लग जाये। फल, फूल, शाक-सब्जी वगैरह भी शोध कर ही काममें लाना चाहिए। गली सड़ी हुई या कीड़ा खायी सब्जी प्रत्येक दृष्टिसे अभक्ष्य है।

जिनागममें कोई वस्तु अकेली त्याज्य बतलायी है, कोई वस्तु किसीके साथ मिल जानेसे त्याज्य हो जाती है। कोई सर्वदा त्याज्य होती है और कोई अमुक काल, अमुक देश और अमुक दशामें त्याज्य होती है ॥३२८॥

अहिंसा पालनके लिए अन्य आवश्यक बातें

जिसके बीचमें छिद्र रहते हैं ऐसे कमलडंडी वगैरह शाकोंको नहीं खाना चाहिए।

---

१. केवलम्। २. संयुक्तम्। ३. निरपवादम्। 'अमिश्रं मिश्रसंसर्गि···।' —धर्मरत्ना०, पृ० ८५ उ०। 'जातिदुष्टं क्रियादुष्टं कालाश्रयविदूषितम्। संसर्गाश्रयदुष्टं च सहृल्लेखं स्वभावतः ॥' तथा—'भावदुष्टं क्रियादुष्टं कालदुष्टं तथैव च। संसर्गदुष्टं च तथा वर्जयेद्यज्ञकर्मणि ॥' —वृद्ध हारीत—११, १२२-१२३ ॥ ४. 'सन्धानपानकफलं दलमूलपुष्पं जीवैरुपद्रुतमपीह च जीवयोनिः। नालीनलादिसुषिरं च यदस्ति मध्ये यच्चाऽप्यनन्तमनुरूपमदः समुज्झ्यम् ॥ ४६ ॥' —धर्मरत्ना०, पृ० ८५ उ०। 'नालीसूरण-कालिन्दद्रोणपुष्पादि वर्जयेत्। आजन्म तद्भुजां ह्यल्पं फलं घातश्च भूयसाम् ॥१६॥' —सागारधर्मा० ५ अ०।

अनन्तकायिकप्रायं वल्लीकन्दादिकं[1][2] त्यजेत् ॥३२९॥
द्विदलं[3] द्विदलं[4] प्राश्यं प्रायेणानवतां गतम् ।
शिम्बयः[5] सकलास्त्याज्याः साधिताः सकलाश्च याः ॥३३०॥
तत्राहिंसा कुतो यत्र बह्वारम्भपरिग्रहः ।
वञ्चके च कुशीले च नरे नास्ति दयालुता ॥३३१॥
शोकसंतापसंक्रन्दपरिदेवनदुःखधीः ।
भवन्स्वपरयोर्जन्तुरसद्वेद्याय[6] जायते ॥३३२॥
कषायोदयतीव्रात्मा भावो यस्योपजायते ।
जीवो जायेत चारित्रमोहस्यासौ[7] समाश्रयः ॥३३३॥

और जो अनन्तकाय हैं, जैसे लता, सूरण वगैरह, उन्हें भी नहीं खाना चाहिए ॥ ३२९ ॥

पुराने मूंग, उड़द, चना वगैरहको दलनेके बाद ही खाना चाहिए, बिना दले सारा मूंग, सारा उड़द वगैरह नहीं खाना चाहिए । और जितनी साबित फलियाँ हैं चाहे वे कच्ची हों या आगपर पकायी गयी हों, उन्हें नहीं खाना चाहिए । उन्हें खोलकर शोधनेके बाद ही खाना चाहिए ॥३३०॥ जहाँ बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह है वहाँ अहिंसा कैसे रह सकती है ? तथा ठग और दुराचारी मनुष्यमें दया नहीं होती ॥ ३३१ ॥

भावार्थ—बहुत आरम्भ करनेवाले और बहुत परिग्रह रखनेवाले कभी अहिंसक हो ही नहीं सकते क्योंकि आरम्भ और परिग्रह हिंसाका मूल है । इसीलिए सागारधर्मामृतमें लिखा है कि जो सन्तोष धारण करके अल्प आरम्भ करता है और अल्पपरिग्रह रखता है उसीका मन शुद्ध रहता है और वही अहिंसाणुव्रतका पालन कर सकता है । इसी तरह व्यभिचारी और ठग भी निर्दय हो जाते हैं । जो दूसरोंको सताते हैं, खूब क्रोध वगैरह करते हैं उनके परिणाम भी सदा खराब रहते हैं और उससे उन्हें अशुभ कर्मका बन्ध होता है ।

जो मनुष्य स्वयं शोक करता है तथा दूसरोंके शोकका कारण बनता है, स्वयं सन्ताप करता है तथा दूसरोंके संतापका कारण बनता है, स्वयं रोता है तथा दूसरोंको रुलाता या कलपाता है, स्वयं दुःखी होता है और दूसरोंको दुःखी करता है, वह असातावेदनीय कर्मका बन्ध करता है ॥३३२॥ जिसके कषायके उदयसे अति संक्लिष्ट परिणाम होते हैं वह जीव चारित्र-मोहनीय कर्मका बन्ध करता है ॥३३३॥

'सन्धानं पुष्पितं मिश्रं पुष्पं मूलं फलं दलम् । तथान्तर्विवरप्रायं हेयं नालीनलादि यत् ॥४९॥' —प्रबोधसार ।

१. गुडूच्यादि । २. सूरणादि । ३. द्विदलं द्विदलं हेयं···।—धर्मरत्ना०, प० ८५ उ० । माषमुद्गादि । ४. द्विखण्डम् । 'आमगोरससम्पृक्तं द्विदलं प्रायशोऽनवम् । वर्षास्वदलितं चात्र पत्रशाकं च नाहरेत् ॥१८॥' —सागारधर्मा० ५ अ० । 'बहुशोऽनन्तदेहास्स्वमृतवल्ल्यादिसंश्रया ॥ शिम्बयोऽपि न हि प्राश्या यतस्तास्त्रस-संहिताः ॥५०॥' —प्रबोधसार । ५. 'सिधयः' अ० ज० । सिद्धयः मु० । फलयः । ६. 'दुःखशोकतापाक्रन्दन-वधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थानान्यसद्वेद्यस्य' —तत्त्वार्थसूत्र० ६-११ । ७. 'कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्र-मोहस्य' —तत्त्वार्थसूत्र ६-१४ ।

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि[1] यथाक्रमम् ।
सत्त्वे गुणाधिके क्लिष्टे निर्गुणेऽपि च भावयेत् ॥३३४॥
कायेन[2] मनसा वाचाऽपरे सर्वत्र देहिनि ।
अदुःखजननी वृत्तिर्मैत्री मैत्रीविदां मता ॥३३५॥
तपोगुणाधिके पुंसि प्रश्रयाश्रयनिर्भरः ।
जायमानो मनोरागः प्रमोदो विदुषां मतः ॥३३६॥
दीनाभ्युद्धरणे बुद्धिः कारुण्यं करुणात्मनाम् ।
हर्षामर्षोज्झिता वृत्तिर्माध्यस्थ्यं[3] निर्गुणात्मनि ॥३३७॥
इत्थं प्रयतमानस्य गृहस्थस्यापि देहिनः ।
करस्थो जायते स्वर्गो नास्य दूरे च तत्पदम् ॥३३८॥
पुण्यं तेजोमयं प्राहुः प्राहुः पापं तमोमयम् ।
तत्पापं पुंसि किं तिष्ठेद्दयादीधितिमालिनि ॥३३९॥
सा क्रिया कापि नास्तीह यस्यां हिंसा न विद्यते ।
विशिष्येते परं भावावत्र मुख्यानुषङ्गिकौ ॥३४०॥
[4]अघ्नन्नपि भवेत्पापी निघ्नन्नपि न पापभाक् ।
अभिध्यानविशेषेण यथा धीवरकर्षकौ ॥३४१॥

मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाका स्वरूप

सब जीवोंसे मैत्री भाव रखना चाहिए। जो गुणोंमें अधिक हों उनमें प्रमोद भाव रखना चाहिए। दुःखी जीवोंके प्रति करुणा भाव रखना चाहिए। और जो निर्गुण हों, असभ्य और उद्धत हों उनके प्रति माध्यस्थ्य भाव रखना चाहिए ॥ ३३४ ॥ 'अन्य सब जीवोंको दुःख न हो' मन, वचन और कायसे इस प्रकारका बर्ताव करनेको मैत्री कहते हैं ॥३३५॥ तप आदि गुणोंसे विशिष्ट पुरुषको देखकर जो विनयपूर्ण हार्दिक प्रेम उमड़ता है उसे प्रमोद कहते हैं ॥३३६॥ दयालु पुरुषोंकी गरीबोंका उद्धार करनेकी भावनाको कारुण्य कहते हैं। और उद्धत तथा असभ्य पुरुषोंके प्रति राग और द्वेषके न होनेको माध्यस्थ्य कहते हैं ॥३३७॥ जो प्राणी गृहस्थ होकर भी इस प्रकारका प्रयत्न करता है, स्वर्ग तो उसके हाथमें है और मोक्ष भी दूर नहीं है ॥ ३३८ ॥ पुण्यको प्रकाशमय कहते हैं और पापको अन्धकारमय कहते हैं। दयारूपी सूर्यके होते हुए क्या पुरुषमें पाप ठहर सकता है ? ॥ ३३९ ॥ ऐसी कोई क्रिया नहीं है जिसमें हिंसा नहीं होती। किन्तु हिंसा और अहिंसाके लिए गौण और मुख्य भावोंकी विशेषता है ॥३४०॥ संकल्पमें भेद होनेसे धीवर नहीं मारते हुए भी पापी है और किसान मारते हुए भी पापी नहीं है ॥३४१॥

---

१. 'मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु' —तत्त्वा० सू० ७-११। २. 'परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री। वदनप्रसादादिभिरभिव्यज्यमानान्तर्भक्तिरागः प्रमोदः। दीनानुग्रहभावः कारुण्यम्। रागद्वेषपूर्वकपक्षपाताभावो माध्यस्थ्यम्।' —सर्वार्थसिद्धि ७-११। उक्तं—'कायेन मनसा वाचा सर्वेष्वपि च देहिषु।' —धर्मर०, प० ९६ पू०। ३. माध्यस्थ्यं समुदाहृतं ॥५९॥ —धर्मर० प० ८६ पू०। ४. 'आरम्भेऽपि सदा हिंसां सुधीः साङ्कल्पिकीं त्यजेत्। घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चैः पापोऽघ्नन्नपि धीवरः ॥२२॥' —सागारधर्मा०, अ० २। 'मृतेऽपि न भवेत् पापममृतेऽपि भवेद्ध्रुवम्। पापधर्मविधाने हि स्वान्तं हेतुः शुभाशुभम् ॥५६॥' —प्रबोधसार।

कस्यचित्सन्निविष्टस्य दारान्मातरमन्तरा।
वपुःस्पर्शाविशेषेऽपि शेमुषी तु विशिष्यते ॥३४२॥

तदुक्तम्—

"परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुण्यपापयोः कुशलाः।
तस्मात्पुण्योपचयः पापापचयश्च सुविधेयः" ॥३४३॥

—आत्मानुशासन, श्लो० २३।

वपुषो वचसो वापि शुभाशुभसमाश्रया।
क्रिया चित्तादचिन्त्येयं तदत्र प्रयतो भवेत् ॥३४४॥
क्रियान्यत्र[2] क्रमेण स्यात्कियत्स्वेव च वस्तुषु।
जगत्त्रयादपि स्फारा चित्ते तु क्षणतः क्रिया ॥३४५॥

भावार्थ—हिंसा और अहिंसाका विवेचन करते हुए पहले बतला आये हैं कि किसीका घात हो जानेसे ही हिंसाका पाप नहीं लगता। संसारमें सर्वत्र जीव पाये जाते हैं और वे अपने निमित्तसे मरते भी हैं फिर भी मात्र इतनेसे ही उसे हिंसा नहीं कह सकते। वास्तवमें तो हिंसा रूप परिणाम ही हिंसा है। जहाँ हिंसारूप परिणाम है वहाँ किसी अन्यका घात न होनेपर भी हिंसा होती है और जहाँ हिंसारूप परिणाम नहीं है वहाँ अन्यका घात हो जानेपर भी हिंसा नहीं होती। उदाहरणके लिए धीवर और किसानको उपस्थित किया जा सकता है। एक मच्छीमार धीवर मछली मारनेके उद्देश्यसे पानीमें जाल डालकर बैठा है। उसके जालमें एक भी मछली नहीं आ रही है फिर भी धीवर हिंसक है क्योंकि उसके परिणाम मछली मारनेमें लगे हैं। दूसरी ओर एक किसान है वह अन्न उपजानेकी भावनासे खेतमें हल चलाता है। हल चलाते समय बहुतसे जीव उसके हलसे मरते जाते हैं किन्तु उसका भाव जीवोंके मारनेका नहीं है बल्कि खेत जोत-बोकर अन्न उत्पन्न करनेका है अतः वह मारते हुए भी पापी नहीं है। इसीलिए गृहस्थको सबसे पहले संकल्पी हिंसाका त्याग करना आवश्यक बतलाया है।

एक आदमी पत्नीके समीप बैठा है और एक आदमी माताके समीप बैठा है। दोनों ही नारीके अंगका स्पर्श करते हैं किन्तु दोनोंकी भावनाओंमें बड़ा अन्तर है ॥३४२॥

कहा भी है—

'कुशल मनुष्य परिणामोंको ही पुण्य और पापका कारण बतलाते हैं। अतः पुण्यका संचय करना चाहिए और पापकी हानि करनी चाहिए' ॥३४३॥

मनके निमित्तसे ही शरीर और वचनकी क्रिया भी शुभ और अशुभ होती है। मनकी शक्ति अचिन्त्य है। इसलिए मनको ही शुद्ध करनेका प्रयत्न करो ॥३४४॥ शरीर और वचनकी क्रिया तो क्रमसे होती हैं और कुछ ही वस्तुओंको अपना विषय बनाती हैं। किन्तु मनमें तो तीनों लोकोंसे भी बड़ी क्रिया क्षण-भरमें हो जाती है। अर्थात् मन एक क्षणमें तीनों लोकोंके बारेमें सोच सकता है ॥३४५॥

---

१. 'भावशुद्धिर्मनुष्याणां विज्ञेया सर्वकर्मसु। अन्यथा चुम्ब्यते कान्ता भावेन दुहितान्यथा ॥' —सुभाषितावलि, पृ० ४९३। २. काये वचसि च।

तथा च लोकोक्तिः—

"एकस्मिन्मनसः कोणे पुंसामुत्साहशालिनाम् ।
अनायासेन संमान्ति भुवनानि चतुर्दश" ॥३४६॥
भूपयःपवनाग्नीनां तृणादीनां च हिंसनम् ।
यावत्प्रयोजनं स्वस्य तावत्कुर्यादजन्तु यत् ॥३४७॥
ग्रामस्वामिस्वकार्येषु यथालोकं प्रवर्तताम् ।
गुणदोषविभागेऽत्र लोक एव यतो गुरुः ॥३४८॥
दर्पेण वा प्रमादाद्वा द्वीन्द्रियादिविराधने ।
प्रायश्चित्तविधिं कुर्याद्यथादोषं यथागमम् ॥३४९॥

इसी विषयमें एक कहावत भी है—

'उत्साही मनुष्योंके मनके एक कोनेमें बिना किसी प्रयासके चौदह भुवन समा जाते हैं' ॥ ३४६ ॥

भावार्थ—पहले बतला आये हैं कि जो काम अच्छे भावोंसे किया जाता है उसे अच्छा कहते हैं और जो काम बुरे भावोंसे किया जाता है उसे बुरा कहते हैं। अतः वचनकी और कायकी क्रिया तभी अच्छी कही जायेगी जब उसके कर्ताके भाव अच्छे हों। अच्छे इरादेसे बच्चोंको पीटना भी अच्छा है और बुरे इरादेसे उन्हें मिठाई खिलाना भी अच्छा नहीं है। अतः मनकी खराबीसे वचनकी और कायकी क्रिया खराब कही जाती है और मनकी अच्छाईसे अच्छी कही जाती है। इसीलिए मनकी शक्तिको अचिन्त्य बतलाया है। मन एक ही क्षणमें दुनिया-भर की बातें सोच जाता है किन्तु जो कुछ वह सोच जाता है उसे एक क्षणमें न कहा जा सकता है और न किया जा सकता है। अतः मनका सुधार करना चाहिए।

पृथ्वी, जल, हवा, आग और तृण वगैरहकी हिंसा उतनी ही करनी चाहिए जितनेसे अपना प्रयोजन हो ॥३४७॥

भावार्थ—जीव दो प्रकारके बतलाये हैं त्रस और स्थावर। त्रस जीवोंकी हिंसा न करनेके विषयमें ऊपर कहा गया है। स्थावर जीवोंकी भी उतनी ही हिंसा करनी चाहिए जितनेके बिना सांसारिक काम न चलता हो। व्यर्थ जमीनका खोदना, पानीको व्यर्थ बहाना, व्यर्थ हवा करना व आग जलाना और बिना जरूरतके पेड़-पत्तोंको तोड़ना आदि काम नहीं करना चाहिए। आशय यह है कि मिट्टी, पानी, हवा, आग और सब्जीका भी दुरुपयोग नहीं करना चाहिए।

नागरिक कार्योंमें, स्वामीके कार्योंमें और अपने कार्योंमें लोकरीतिके अनुसार ही प्रवृत्ति करनी चाहिए, क्योंकि इन कार्योंकी भलाई और बुराईमें लोक ही गुरु है। अर्थात् लौकिक कार्योंको लोकरीतिके अनुसार ही करना चाहिए ॥३४८॥

प्रायश्चित्तका विधान

मदसे अथवा प्रमादसे द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवोंका घात हो जानेपर दोषके अनुसार आगममें बतलायी गयी विधिपूर्वक प्रायश्चित्त करना चाहिए ॥३४९॥

---

१. —दजन्तुजित्—सागारधर्मा० पृ० १२२। —दयं तु यत् मु०।

प्राय[1] इत्युच्यते लोकस्तस्य चित्तं मनो भवेत् । । धर्म. पृ. ७३, पृ. ५८
एतच्छुद्धिकरं कर्म प्रायश्चित्तं[2] प्रचक्षते ॥३५०॥
द्वादशाङ्गधरोऽप्येको न कृच्छ्रं दातुमर्हति ।
तस्माद्बहुश्रुताः प्राज्ञाः प्रायश्चित्तप्रदाः स्मृताः ॥३५१॥
मनसा कर्मणा वाचा यद्दुष्कृतमुपार्जितम् ।
मनसा कर्मणा वाचा तत् तथैव विहापयेत् ॥३५२॥
आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो[3] योगो योगविदां मतः ।
मनोवाक्कायतस्त्रेधा पुण्यपापास्रवाश्रयः ॥३५३॥

प्रायश्चित्तका स्वरूप

'प्रायः' शब्दका अर्थ (साधु) लोक है । उसके मनको चित्त कहते हैं । अतः साधु लोगोंके मनको शुद्ध करनेवाले कामको प्रायश्चित्त कहते हैं ॥३५०॥

प्रायश्चित्त देनेका अधिकार

द्वादशांगका पाठी होनेपर भी एक व्यक्ति प्रायश्चित्त देनेका अधिकारी नहीं है । अतः जो बहुश्रुत अनेक विद्वान् होते हैं वे ही प्रायश्चित्त देते हैं ॥३५१॥

मनके द्वारा, वचनके द्वारा अथवा कायके द्वारा जो पाप किया है उसे मनके द्वारा, वचन के द्वारा अथवा कायके द्वारा ही छुड़वाना चाहिए ॥३५२॥

योगका स्वरूप, भेद और कार्य

योगके ज्ञाता पुरुष आत्माके प्रदेशोंके हलन-चलनको योग कहते हैं । वह योग मन, वचन और कायके भेदसे तीन प्रकारका होता है और उसीके निमित्तसे पुण्यकर्म और पापकर्मका आस्रव होता है ॥३५३॥

भावार्थ—जीवकाण्ड गोमट्टसारमें योगका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—पुद्गल विपाकी शरीर नाम कर्मके उदयसे मन, वचन और कायसे युक्त जीवकी जो शक्ति कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारण है उसे योग कहते हैं । इस योग शक्तिके द्वारा जीव शरीर, वचन और मनके योग्य पुद्गल वर्गणाओंका ग्रहण करता है और उनके ग्रहण करनेसे आत्माके प्रदेशोंमें कम्पन होता है । यदि वह कम्पन काय-वर्गणाके निमित्तसे होता है तो उसे काययोग कहते हैं, यदि वचन वर्गणाके निमित्तसे होता है तो उसे वचनयोग कहते हैं और यदि मनोवर्गणाके निमित्तसे होता है तो मनोयोग कहते हैं । इन योगोंके होनेपर जीवके पुण्य और पाप कर्मोंका आस्रव होता है । ये तीनों योग शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकारके होते हैं ।

१. 'प्रायः साधुलोकः, प्रायस्य यस्मिन् कर्मणि चित्तं तत्प्रायश्चित्तम् । अपराधो वा प्रायः, चित्तं शुद्धिः, प्रायस्य चित्तं प्रायश्चित्तम् अपराधविशुद्धिरित्यर्थः ।' —तत्त्वार्थवार्तिक, पृ० ६२० । भगवती आराधना (गा० ५२९) की अपराजिता टीकामे उद्धृत है—'चित्तशुद्धिकरं कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्' ॥ उसी गाथाकी मूलाराधना टीकामें भी उद्धृत है—'तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तमितीरितम्' ॥ किन्तु अनगारधर्मामृत टीका (पृ० ४९५) मे उपासकाध्ययनवाले पाठको लिये हुए ही उद्धृत है । 'तदुक्तम्—प्रायो लोको जिनैरुक्तश्चित्तं तस्य मनो मतम् । तच्चित्तग्राहकं कर्म प्रायश्चित्तं निगद्यते' ॥६४॥—धर्मरत्ना०, पृ० ८७ पू० । २. प्रायश्चित्तम् । ३. 'आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो योगः । स निमित्तभेदेन त्रिधा भिद्यते । काययोगो वाग्योगो मनोयोग इति' । —सर्वार्थसिद्धि ६-१ ।

हिंसनाब्रह्मचौर्यादि[1] काये कर्माशुभं विदुः ।
असत्यासभ्यपारुष्यप्रायं वचनगोचरम् ॥३५४॥
[2]मदेर्ष्यासूयनादि स्यान्मनोव्यापारसंश्रयम् ।
[3]एतद्विपर्ययाज्ज्ञेयं शुभमेतेषु तत्पुनः ॥३५५॥
[4]हिरण्यपशुभूमीनां कन्याशय्यान्नवाससाम् ।
दानैर्बहुविधैश्चान्यैर्न पापमुपशाम्यति ॥३५६॥
लङ्घनौषधसाध्यानां व्याधीनां बाह्यको विधिः ।
यथाकिञ्चित्करो लोके तथा पापोऽपि मन्यताम् ॥३५७॥
निहत्य निखिलं पापं मनोवाग्देहदण्डनैः ।
करोतु सकलं कर्म दानपूजादिकं ततः ॥३५८॥
आप्रवृत्तेर्निवृत्तिर्मे सर्वस्येति कृतक्रियः ।
संस्मृत्य गुरुनामानि कुर्यान्निद्रादिकं विधिम् ॥३५९॥

शुभाशुभ योग

हिंसा करना, कुशील सेवन करना, चोरी करना आदि कायसम्बन्धी अशुभ कर्म जानना चाहिए। झूठ बोलना, असभ्य वचन बोलना और कठोर वचन बोलना आदि वचनसम्बन्धी अशुभ कर्म जानना चाहिए ॥३५४॥ घमण्ड करना, ईर्ष्या करना, दूसरोंकी निन्दा करना आदि मनो-व्यापार सम्बन्धी अशुभ कर्म हैं। तथा इससे विपरीत करनेसे काय, वचन और मन सम्बन्धी शुभ कर्म जानना चाहिए। अर्थात् हिंसा न करना, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य पालन करना आदि कायिक शुभ कर्म हैं। सत्य और हित मित वचन बोलना आदि वचन सम्बन्धी शुभ कर्म हैं। अर्हन्त आदि की भक्ति करना, तपमें रुचि होना, ज्ञान और ज्ञानियोंकी विनय करना आदि मानसिक शुभ कर्म हैं ॥३५५॥

पापसे बचनेका उपाय

सोना, पशु, जमीन, कन्या, शय्या, अन्न, वस्त्र तथा अन्य अनेक वस्तुओंके दान देनेसे पाप शान्त नहीं होता ॥३५६॥ जो रोग उपवास करने और औषधीका सेवन करनेसे दूर होते हैं जैसे उनके लिए केवल बाह्य उपचार व्यर्थ होता है वैसे ही पापके विषयमें भी समझना चाहिए। अर्थात् मन वचन और कायको वशमें किये बिना केवल बाह्य वस्तुका त्याग कर देने मात्रसे पाप रूपी रोग शान्त नहीं होता ॥३५७॥ इसलिए पहले मन, बचन और कायको वशमें करके समस्त पापके कारणोंको दूर करो। फिर दान-पूजा वगैरह सब काम करो ॥३५८॥

रात्रिका कर्तव्य

रात्रिको जब सोओ तो सन्ध्याकालका कृतिकर्म करके यह प्रतिज्ञा करो कि जबतक मैं गार्हस्थिक कार्योंमें फिरसे न लगूँ तबतकके लिए मेरे सबका त्याग है। और फिर पञ्च नमस्कार

१. 'प्राणातिपातं स्तैन्यं च परदारानथापि च। त्रीणि पापानि कायेन नित्यशः परिवर्जयेत्॥ असत्प्रलापं पारुष्यं पैशुन्यमनृतं तथा। चत्वारि वाचा राजेन्द्र न जल्पेन्नापि चिन्तयेत्॥ अस्पृहां परवित्तेषु सर्वसत्त्वेषु सौहृदम्। कर्मणां फलमस्तीति मनसा त्रिविधं चरेत्'॥ —सुभाषितावली, पृ० ४९२-४९३। 'स्तेयाब्रह्महिंसादि पापं देहाश्रितं विदुः। पैशुन्यासत्यपारुष्यप्रायं भाषोद्भवं तथा ॥५८॥' —प्रबोधसार।

दैवादायुर्विरामे स्यात्प्रत्याख्यानफलं[1] महत् ।
भोगशून्यमतः कालं[2] नावहेद्व्रतं व्रती ॥३६०॥
एका जीवदयैकत्र परत्र सकलाः क्रियाः ।
परं फलं तु पूर्वत्र[3] कृषेश्चिन्तामणेरिव ॥३६१॥
आयुष्मान्सुभगः श्रीमान्सुरूपः कीर्तिमान्नरः ।
अहिंसाव्रतमाहात्म्यादेकस्मादेव जायते ॥३६२॥

श्रूयतामत्र हिंसाफलस्योपाख्यानम्—अवन्तिदेशेषु सकललोकमनोहरागमारामे शिरीषग्रामे मृगसेनाभिधानो मत्स्यबन्धः स्कन्धावलम्बितगलजालाद्युपकरणः[4] पृथुरोमसमानयनोपनीतविहरणः कल्लोलजलप्लावितकूलशालेयमालवप्रां[6] सिप्रां सरितमनुसरन्नशेषमहर्षिपरिषद्वयमखिलमहाभागभूपतिपरिकल्पितसपर्यं[7] मिथ्यात्वविरहितधर्मचर्यं[8] श्रीयशोधराचार्यं निचाय्य[9] समासन्नसुकृतासाद्यहृदयत्वाद्दूरादेव परित्यक्तपापसंपादनोपकरणग्रामः[10] [11]ससंभ्रमं संपादितदीर्घप्रणामः प्रकामप्रगलदेनाः समाहितमनाः 'साधुसमाजसत्तम, समस्तमहामुनिजनोत्तम, दैवादुपपन्नपुण्यगृह्णभावोऽनुगृह्णातां कस्यचिद्व्रतस्य प्रदानेनायं जनः' इत्यभाषत ।

मंत्रका स्मरण करके निद्रा वगैरह ले ॥३५९॥ क्योंकि दैववश यदि आयु समाप्त हो जाये तो त्यागसे बड़ा लाभ होता है । इसलिए व्रतीको चाहिए कि जिस कालमें वह भोग न करता हो उस कालको बिना व्रत के न जाने दे । अर्थात् उतने समयके लिए भोगका व्रत ले ले ॥३६०॥

जीव दयाका महत्त्व

अकेली जीव दया एक ओर है और बाकीकी सब क्रियाएँ दूसरी ओर हैं । अर्थात् अन्य सब क्रियाओंसे जीव दया श्रेष्ठ है । अन्य सब क्रियाओंका फल खेतीकी तरह है और जीवदयाका फल चिन्तामणि रत्नकी तरह है—जो चाहो सो मिलता है । अकेले एक अहिंसा व्रतके प्रतापसे ही मनुष्य चिरजीवी, सौभाग्यशाली, ऐश्वर्यवान्, सुन्दर और यशस्वी होता है ॥३६१-३६२॥

१३ अहिंसाव्रतके पालक मृगसेन धीवरकी कथा

अब अहिंसाव्रतके फलके सम्बन्धमें एक कथा सुनें—

अवन्ति देशके शिरीष नामक गाँवमें मृगसेन नामका धीवर रहता था । एक दिन वह कन्धेपर जाल रखकर मछली लानेके लिए सिप्रा नदीकी ओर चला । रास्तेमें उसने मुनियोंकी परिषद्के बीचमें बैठे हुए तथा राजाओंसे पूजित और मिथ्यात्वसे रहित धर्मका आचरण करनेवाले आचार्य श्री यशोधरको देखा । अपने पापार्जनमें सहायक जाल वगैरह उपकरणोंको दूरसे ही छोड़कर वह आचार्यके पास गया और जल्दीसे साष्टांग नमस्कार करके बड़ी धीरताके साथ बोला—'हे साधु-समाजमें श्रेष्ठ और समस्त महामुनियोंमें उत्तम मुनिराज ! आज भाग्यसे ही पुण्य संचयका यह अवसर मिला है अतः कोई व्रत देकर मुझे अनुगृहीत करें ।'

---

१. संन्यासफलम् । २. नियमं विना कालं न गमयेत् । ३. अन्यासां क्रियाणां फलं कृषिवत्, दयायास्तु चिन्तामणिवत् । ४. मत्स्य । ५. कृत । ६. ह्नावित ज० । ७. वृक्षश्रेणितटाम् । ८. मिथ्यात्वेन विरहिता धर्मचर्या चारित्रं यस्य स तम् । ९. अवलोक्य । १०. समूहः । ११. सादरम् ।

भगवान्—'ननु कथमस्य [1]पयःपतङ्गस्येव सदैव [2]शकुलिविनाशनिःशङ्[3]काशयवशस्य व्रतग्रहणोपदेशे प्रवीणमन्तःकरणमभूत्। अस्ति हि लोके प्रवादः, न खलु प्रायेण प्राणिनां प्रकृतेर्विकृतिरायत्यां[4] शुभमशुभं वा विना भवति' इत्युपयुक्तावधिः सम्यगवबुद्धसंविधैतज्जी-वितावधि[6]स्तमेवमवादीत्—'अहो शुभाशयायतन, अद्यतनाहनि यस्तवाद्यावे[7]वानाये[8] मीनः समापतति स त्वया न प्रमापयितव्यः[9]। यावच्चात्म[10]वृत्तिविषयमामिषं न प्राप्नोषि तावत्तव तन्निवृत्तिः[11]। अयं पुनः पञ्चत्रिंशदक्षरपवित्रो मन्त्रः सर्वदा सुस्थितेन दुःस्थितेन च त्वया ध्यातव्यः' इति।

मृगसेनः—'यथादिशति बहुमानस्तथास्तु' इत्यभिनिविश्य[12] तां शैव[13]लिनीमनुसृत्य जनितजालक्षेपोऽ[14]कालक्षेपमतनु[15]करणं[16]वैसारिणमासाद्य स्मृतव्रतस्तस्य[17] [18]श्रवसि चिह्नाय[19] चीरचीरीं[20] निबध्यात्याक्षीत्[21]। पुनरपरावकाशे[22] तीरिणीप्रदेशे तथैवादूरतरशर्मा समा-चरितकर्मा[23] तमेवाषडक्षीणमक्षीणायुषमवाप्यामुञ्चत। तदेवमेतस्मिन्ननणिष्ठे पाठीनवरिष्ठे पञ्चकृत्वो लग्ने विपदमग्ने मुच्यमाने सति, [24]अस्तमस्तकमध्यास्त[25] [26]घनघुसृणरसारुणित-वरुणपुरपुरन्ध्रीकपोलकान्तिशाली गभस्तिमाली[27]। तदनु तं गृहीतव्रतापरित्यागमोदमान-चेतनं मृगसेनमधार्मिकलोकव्यतिरिक्तं[28] रिक्तमागच्छन्तं परिच्छिद्य[29], अतुच्छकोपापरिहार्या तद्भार्या घण्टाख्या यमघण्टेव किमपि कर्णकटु क्वणन्ती कुटीरान्तःश्रितशरीरा निर्विवरं[30]ररं

यह सुनकर मुनिराज सोचने लगे—'बगुलेकी तरह सदैव मछलियोंके मारनेमें निःशङ्कचित्त इस धीवरका मन व्रतग्रहण करनेके लिए कैसे हुआ ? लोकमें किंवदन्ती है कि प्रायः उत्तर कालमें होनेवाले शुभाशुभके बिना प्राणियोंका स्वभाव नहीं बदलता' यह सोचकर उन्होंने अवधिज्ञानका उपयोग किया और उसे अल्पायु जानकर बोले—'हे सदाशय ! आज तुम्हारे जालमें जो पहली मछली आये उसे मत मारना। तथा जब तक अपनी जीविकारूप मांस तुम्हें प्राप्त न हो तब तकके लिए तुम्हारे मांसका त्याग है। और यह पैंतीस अक्षरका पवित्र नमस्कार मन्त्र है, सदा सुख-दुःखमें इसका ध्यान करना।'

मृगसेनने 'जो आज्ञा' कहकर व्रत ग्रहण कर लिये और नदीपर जाकर जाल डाल दिया। जल्दी ही उसके जालमें एक बड़ी मछली आ गयी। उसने अपने व्रतको स्मरण करके पहचानके लिए उसके कानमें कपड़ेकी चिन्दी बाँधकर जलमें छोड़ दिया। फिर उसने दूसरे स्थानसे नदीमें जाल डाला किन्तु वही मछली जालमें फिर आ गयी। अतः उसे अवध्य जानकर छोड़ दिया। इस प्रकार पाँच बार वही मछली जालमें आयी और पाँचों बार उसने उसे जलमें छोड़ दिया। इतनेमें प्रचुर केसरसे युक्त स्त्रीके कपोलकी तरह कान्तिवाला सूर्य अस्त हो गया। और मृगसेन स्वीकार किये हुए व्रतका पालन करनेसे प्रसन्नचित्त होता हुआ खाली हाथ घर लौटा।

उसे खाली हाथ आता देखकर उसकी पत्नी घण्टा बड़ी क्रुद्ध हुई और यमराजके घण्टेकी

१. बकस्य। २. मत्स्य विनाशे। ३. निर्दयस्य। ४. उत्तरकाले। ५. समीप। ६. मर्यादः। ७. प्रथमतः। ८. जाले। ९. न मारणीयः। १०. स्वकरमानीतम्। ११. मांसस्य नियमः। १२. अभिप्रायं कृत्वा। १३. सिप्रां नदीम्। १४. शीघ्रम्। १५. बृहच्छरीरम्। १६. मत्स्यम्। १७. मत्स्यस्य। १८. कर्णे। १९. अभि-ज्ञानाय। २०. वस्त्रम्। २१. त्यजति स्म। २२. स्थाने। २३. मत्स्यम्। २४. अस्तपर्वते। २५. आश्रितः। २६. प्रचुरकुङ्कुमयुक्तकपोलवत् शोभमानः। २७. सूर्यः। २८. पृथग्भूतम्। २९. ज्ञात्वा। ३०. निश्छिद्रं कपाटं।

प्रदायास्थात् । मृगसेनोऽपि तया निरुद्धवेश्मप्रवेशनस्तन्मन्त्रस्मरणशक्तचित्तः [1] [2]पुराणतरतरुभित्तमुच्छीर्षे विधाय सान्द्रं [3]निद्रायमाणस्तरुभित्ताभ्यन्तरविनिःसृतेन [4]सरीसृपसुतेन दष्टः कष्टमवस्थान्तरमाविष्टो [5]व्युष्टसमये घण्टया दृष्टः । पुनरनेन सार्धमुषर्बुधमध्यानुगमोचितनिश्चयात्मनि विहितबहुनिन्दया शोचितश्च । ततः सा 'यदेवास्य व्रतं तदेव ममापि । जन्मान्तरे चायमेव मे पतिः' इत्यावेदितनिदाना समित्समिद्धमहसि [6]द्रविणोदसि[7] [8]हव्यसमस्नेहं देहं [9]जुहाव ।

अथ विलासिनीविलोचनोत्पलपुनरुक्त[10]चन्दनमालायां विशालायां[11] पुरि विश्वगुणा महादेवीश्वरो विश्वम्भरो विश्वम्भरो नाम नृपतिः धनश्रीपतिः पिता च दुहितुः [12]सुबन्धोर्गुणपालो नाम श्रेष्ठी । तस्य किल गुणपालस्य मनोरथपान्थप्रीतिप्रपापालिकायामेतस्यां [13]कुलपालिकायामनेन मृगसेनेन समापन्नसत्त्वायां[14] सत्याम्, असौ वसुधापतिर्विटकथासंसृष्टतया प्रतिपन्नपाञ्चजनीनभावो[15] नर्मभर्मनाम्नो नर्मसचिवस्य सुताय नर्मधर्मणे गुणपालश्रेष्ठिनमखिलकलाकलापालंकृतरूपसमन्वितां सुतामयाचत । श्रेष्ठी दुष्प्रज्ञेन राज्ञा तथा याचितः 'यदि नर्मसचिवसुताय सुतां वितरामि[16] तदावश्यं कुलक्रमव्यतिक्रमो दुरपवादोपक्रमश्च । अथ [17]स्वामिशासनमतिक्रम्यात्रैवासे तदा सर्वस्वापहारः प्राणसंहारश्च' इति निश्चित्य

तरह गाली-गलौज बकती-झकती अपनी झोपड़ीमें चला गयी और अन्दरसे दरवाजा बन्द करके बैठ गयी।

मृगसेन भी अपनी पत्नीके द्वारा घरमें प्रवेश करनेसे रोक दिये जानेपर पञ्च-नमस्कार मन्त्र का स्मरण करते हुए एक पुराने वृक्षकी जड़को तकिया बनाकर गाढ़ नींदमें सो गया। जब वह गाढ़ नींदमें था तभी उस वृक्षकी जड़से निकलकर एक साँपने उसे डस लिया और वह बड़े कष्टसे मर गया। प्रभात होनेपर घण्टाने उसे उस अवस्थामें देखा। उसने अपनी निन्दा करते हुए बड़ा पश्चात्ताप किया। और उसीके साथ अग्निमें जल जानेका निश्चय किया। तथा उसने निदान किया कि जो इसका व्रत था वही मेरा भी है और दूसरे जन्ममें भी यही मेरा पति हो। उसके बाद उसने आग प्रदीप्त की और उसमें होम सामग्रीके समान स्नेहसे पूरित शरीरको होम दिया।

विशाला नगरीमें विश्वम्भर नामका राजा राज्य करता था। उसकी पटरानीका नाम विश्वगुणा था। वहीं गुणपाल नामका सेठ रहता था। उसकी पत्नीका नाम धनश्री था और पुत्रीका नाम सुबन्धु था। गुणपाल सेठकी पत्नी धनश्री गर्भवती हुई और मृगसेन धीवरका जीव उसके गर्भमें आया। राजा विश्वम्भरको विटोंकी संगतिके कारण भाण्डजन बहुत प्रिय थे। अतः उसने नर्मभर्म नामके विदूषकके पुत्र नर्मधर्मके लिए गुणपालसे उसकी समस्त कलाओंमें प्रवीण सुन्दरी कन्याकी याचना की। दुर्बुद्धि राजाकी इस माँगसे गुणपाल विचारमें पड़ गया। 'यदि विदूषकके पुत्रको कन्या देता हूँ तो अवश्य ही कुलपरम्पराका लंघन होता है और अपवाद भी फैलता है। और यदि राजाज्ञाको न मानकर भी यहाँ रहता हूँ तो सर्वस्व अपहरणके साथ-साथ प्राण भी जाते हैं।' ऐसा सोचकर उसने रत्नजटित करधौनीसे शोभित अपनी पत्नीको तो अपने

१. पञ्चनमस्कार मन्त्र। २. जीर्णवृक्षखण्डकाष्ठम्। ३. निद्रां कुर्वन्। ४. सर्पेण। ५. प्रभातकाले। ६. अग्नि। ७. अग्नौ। ८. घृतवत् चिक्कणम्। ९. आहुतीचकार। १०. तोरण। ११. उज्जयिन्याम। १२. सुबन्धुपुत्रीतातः। १३. भार्यायाम्। १४. गर्भिण्याम्। १५. पाञ्चजनीनः भण्डप्रियः। १६. ददामि। १७. राजादेशम्।

प्रियसुहृदः श्रीदत्तस्य वणिक्पतेर्निकेतने समणिमेखलकलत्रं[1] कलत्रमवस्थाप्य स्वापतेयसारं[2] दुहितरं चात्मसात्कृत्य सुलभकेलिवनवनाशयनिवेशं[3] कौशाम्बीदेशमयासीत् ।

अत्रान्तरे श्रीमद्दरिद्रमन्दिरनिर्विशेषमाचरितचर्यापर्यटनौ[4] शिवगुप्तमुनिगुप्तनामानौ मुनी श्रीदत्तप्रतिनिवेशनिवासिनोपासकेन यथाविधिविहितप्रतिग्रहौ कृतोपचारविग्रहौ च ताम-ङ्गणाश्रयां धनश्रियमपश्यताम् ।

तत्र मुनिगुप्तभगवान्किल केवलखलिस्नानपरुषवपुषमुद्वमनीयसंगताङ्गाभोगत्विषम-[5] वैधव्यचिह्नदवरकमात्रालंकारजुषमाप्तकान्तापत्यपरिजनविरहदेहसादां गर्भगौरवखेदां च शिशिराजस्रवासरवशवर्तिनीं[6] स्थलकमलिनीमिव मलिनच्छविमुदवसितपरिसरे[7] परगृहवास-विशीर्यमाणमुखश्रियं धनश्रियं निध्याय[9] 'अहो, महीयसां खलु एनसामावासः[8] कोऽप्यस्याः कुक्षौ महापुरुषोऽवतीर्णः, येनावतीर्णमात्रेणापि दुष्पुत्रेणेयं वराकी इयदावेशां दशामशिश्रयत्' इत्यभाषत । मुनिवृषा[10] शिवगुप्तः—'मुनिगुप्त मैवं भाषिष्ठा यतो यद्यपीयं श्रेष्ठिनी कानि-चिद्दिनान्येवम्भूता सती[11] पराधिष्ठाने तिष्ठति, तथाप्येतन्नन्दनेन सकलवणिक्पतिना राज-श्रेष्ठिना निरवधिशेव[12]धीश्वरेण विश्वम्भरेश्वरसुतावरेण च भवितव्यम्' इत्यवोचत् ।

एतच्च स्वकीयमन्दिरालिन्दगतः[13] श्रीदत्तो निशम्य 'न खलु प्रायेणासत्यमिदमुक्तं भविष्यति महर्षेः' इत्यवधार्य सूचीमुखसर्पवद्दरीहितदत्तचेतोवृत्तिरासीत् । धनश्रीश्च परि-

प्रिय मित्र श्रीदत्त सेठके घरमें रखा और पुत्रीको साथ लेकर बाग-बगीचोंसे शोभित कौशाम्बीपुरी-को चला गया ।

इसी बीचमें धनी और गरीबके मकानका भेद न करके चर्याके लिए भ्रमण करते हुए शिवगुप्त और मुनिगुप्त नामके दो मुनि श्रीदत्तके मकानके सामनेसे निकले । श्रीदत्तके पड़ोसमें रहनेवाले गृहस्थने उन्हें विधिपूर्वक पड़गाहा । और जब वे भोजन कर चुके तो आँगनमें बैठी हुई धनश्रीपर उनकी दृष्टि पड़ी ।

तेलके बिना स्नान करनेसे उसका शरीर रूक्ष हो गया था, केवल दो वस्त्र और सधवाके चिह्न स्वरूप बहुत थोड़े अलंकार पहने हुए थी, पति पुत्री और परिजनोंके वियोगसे उसका शरीर खेद खिन्न था, गर्भके भारसे पीड़ित थी, शीतऋतुके निरन्तर आगमनसे कुम्हलायी हुई स्थल-कमलिनीकी तरह उसकी कान्ति मलिन हो गयी थी, दूसरेके घरमें रहनेसे मुखकी शोभा चली गयी थी । घरके आँगनमें बैठी हुई धनश्रीको इस रूपमें देखकर मुनिगुप्त मुनि बोले—'इसकी कोखमें कोई बड़ा पापी महापुरुष आया जान पड़ता है, जिसके गर्भमें आने मात्रसे इस बेचारीकी यह दुर्दशा हुई है ।'

यह सुनकर शिवगुप्त मुनि बोले—'मुनिगुप्त ! ऐसा मत कहो । यद्यपि यह सेठानी कुछ दिन तक इस तरह पराये घरमें रहेगी, फिर भी इसका पुत्र समस्त वैश्योंका स्वामी और अपार सम्पत्तिशाली राजश्रेष्ठी होगा तथा राजा विश्वम्भरकी पुत्रीको वरण करेगा ।'

यह बात अपने मकानके बाहर चबूतरेपर खड़े श्रीदत्तने सुनी । 'मुनियोंका कथन झूठा

१. कलत्रं जघनं भार्या च । २. धनम् । ३. जलाशय । ४. सधननिर्धनगृहसमचित्त । ५. शुक्लवस्त्र-युक्ता अंगत्वक् यस्याः । ६. दिन । ७. गृहाङ्गणे । ८. म्लान । ९. दृष्ट्वा । १०. मुनिश्रेष्ठः । ११. परगृहे । १२. निधि । १३. उत्तरकगतः ।

प्राप्तप्रसवदिवसा सती सुतमसूत ।

श्रीदत्तः—[1]'चित्रभानुरिवायमाश्रयाश[2]: खलु बालिशः । [3]तदसंजातस्नेहायामेवास्य जनन्यामुपांशुदण्ड[4]: श्रेयान्' इति परामृश्य प्रसूतिदुःखेनातुच्छमूर्छापाश्रयां धनश्रियमाकलय्य निजपरिजनजरती[5]मुखेन 'प्रमीत[6] एवायं तनयः संजातः' इति प्रसिद्धिं विधायाकार्ये चैकमाचरितोपचारप्रपञ्चं श्वपचं जिह्म[7]ब्राह्मीरहस्यनिकेतः कृतापायसंकेतस्तं स्तन्य[8]पमेतस्मै समर्पयामास ।

सोऽपि जनंगमः स्वर्भानु[9]प्रभेण करेण रामर[10]श्मिमिव तं स्तनन्धयमुपरुध्य निःशैलो[11]कावकाशं देशमाश्रित्य पुण्यपरमाणुपुञ्जमिव शुभशरीरभाजमेनमवेक्ष्य संजातकरुणारसप्रसरप्रसन्नमुखः सुखेन विनिधाय स्वकीयमटी[12]कत । पुनरस्यै[13]वाधरभव[14]भगिनीपतिरशेषापणिक[15]पणपरमेष्ठी इन्द्रदत्तश्रेष्ठी विक्रयाडम्बरितशण्ड[16]मण्डलाधीनं पेठोपकण्ठगोष्ठीनमनुसृतो वत्सीय[17]विषय[18]संनीडक्रीडागतगोपालबालकले[19]पनपरम्परालापाद्वत्सतर[20]तरतानकसंतानपरिवृतमनेकचन्द्रकान्तोपलान्तरालनिलीनमरुणमणिनिधानमिव तं जात[21]मुपलभ्य स्वयमदृष्टनन्दनवदनत्वात्तद्बुद्ध्या साध्वनुरुध्य 'स्तनन्धयावधानधृतबोधे राधे, तवायं गूढगर्भसंभवस्तनूद्भवः' इति प्रवर्धितप्रसिद्धिर्महान्तमपत्योत्पत्तिमहोत्सवमकार्षीत् ।

नहीं होता' यह सोचकर श्रीदत्तने विषधर सर्पकी तरह अपना मन अपने दुष्ट संकल्पकी ओर लगाया।

पूरे दिन होनेपर धनश्रीने पुत्रको जन्म दिया । श्रीदत्तने सोचा–'यह बालक आगकी तरह अपने आश्रयको ही खानेवाला है । इसलिए माताका इसपर स्नेह उत्पन्न होनेके पहले ही इसका गुप्त वध करा डालना श्रेष्ठ है ।' प्रसूतिके कष्टसे धनश्रीको एकदम बेहोश देखकर उसने अपने कुटुम्बकी एक बुढ़ियाके द्वारा यह प्रसिद्ध करा दिया कि बच्चा मरा हुआ ही पैदा हुआ है । और घूस वगैरह देकर एक चाण्डालको इस कार्यके लिए तैयार किया तथा उसे बुलाकर उस कुटिल भाषाके रहस्यमें विशारद श्रीदत्तने उसे मारनेका संकेत करके बालकको सौंप दिया ।

राहुके समान हाथके द्वारा सूर्यके समान उस बालकको उठाकर वह चाण्डाल एकान्त स्थानमें ले गया । वहाँ पुण्य परमाणुओंके पुंजकी तरह इस सुन्दर बालकको देखकर उसे दया आ गयी और प्रसन्नमुख होकर उसने उस बालकको वहीं सुखसे लिटा दिया तथा अपने घर चला आया ।

श्रीदत्तका छोटा बहनोई इन्द्रदत्त श्रेष्ठी व्यापारके लिए उधर गया था । वहाँ उसने शिशुके पास खेलनेके लिए आये हुए ग्वाल-बालकोंके मुखसे उस बालकका समाचार सुना और वह उस स्थानपर गया । वहाँ उसने अनेक बछड़ोंसे घिरे हुए उस शिशुको देखा जो ऐसा प्रतीत होता था, मानो अनेक चन्द्रकान्त मणियोंके बीचमें स्थित लालमणिका खजाना है । उसके कोई पुत्र नहीं था । अतः उसने उसे अपना पुत्र मानकर उठा लिया और पुत्रके लिए अत्यन्त लालायित अपनी पत्नी राधासे बोला–'राधे ! तुम्हारे गूढ़ गर्भसे इस शिशुने जन्म लिया है ।' उसने सर्वत्र यह बात फैला दी और पुत्रोत्पत्तिकी खुशीमें बड़ा भारी उत्सव किया ।

श्रीदत्तने कानों-कान यह समाचार सुना और बच्चेको मार डालनेके विचारसे यमराजकी

---

१. अग्निवत् । २. आश्रयमश्नातीति । ३. तस्मात् कारणात् । ४. गूढवधः । ५. वृद्धा स्त्री । ६. मृत एव जनितः । ७. कुटिलवाणी । ८. बालम् । ९. राहु । १०. चन्द्रम् । ११. एकान्तम् । १२. स्वगृहं गतः । १३. श्रीदत्तस्य । १४. लघुभगिनी । १५. वणिग्व्यवहार । १६. गोकुल । १७. वत्सेभ्यो हितप्रदेशः । १८. समीप । १९. मुख । २०. लघुवत्स । २१. बालम् ।

श्रीदत्तः श्रवणपरम्परया तमेनं वृत्तान्तमुपश्रुत्याश्रित्य च शिशुविनाशनाशयेन कीनाश इव तन्निवेशम् 'इन्द्रदत्त, अयं महाभागधेयो भागिनेयो ममैव तावद्धाम्नि वर्धताम्' इत्यभिधाय सभगिनीकं [1]तोकमात्मावासमानीय पुरावत्क्रूरप्रज्ञः संज्ञपनार्थ[2]मन्तावसायिने[3] प्रायच्छत। सोऽपि दिवाकीर्तिरुपात्तपुत्रभाण्डः सत्वरमुपह्वर[4]गह्वरानुसारी समीरवश[5]विगलितघनाम्बरावरणं [6]हरिणकिरणमिव ईक्षणरमणीयं गुणपालतनयमालोक्य सदयहृदयः प्रबलविटपिसंकटे सरित्तटनिकटे परित्यज्य यथायथमश्वक्षीत्[7]।

तत्राप्यसौ पुरोपार्जितपुण्यप्रभावादुपमातृ[8]भिरिव [9]एतद्वीक्षणात्क्षरत्क्षीरस्तनीभिरानन्दोदीरितनिर्भरहम्भाध्वनिभिः[10] [11]प्रचारायागताभिः कुण्डोध्नीभिर्व्रज[12]लोकधेनुभिरुपरुद्ध[13]सविधभागोऽपदान्तर[14]मागतेन तद्रक्षणदक्षेण गोपालजनेन [15]अस्तावतंस[16]भासिन्यशोकस्तबकसुन्दरे [17]सरोजसुहृदि सति विलोकितः। कथितश्च सकलगोष्ठज्येष्ठाय बल्लवकुलवरिष्ठाय निजाननापहसितारविन्दाय गोविन्दाय। सोऽपि पुत्रप्रेम्णा प्रमोदगरिम्णा चानीय जनितहृदयानन्दायाः सुनन्दायाः समर्पितवान्। अ(क)रोच्चास्येन्दिरामन्दिरस्य[18] धनकीर्तिरिति नाम।

ततोऽसौ क्रमेण मकरन्दपरित्यक्तशैशवदशः कमलेश[19] इव युवजनमनः[20]पण्यतारुण्योत्फुल्लव[21]ल्लवीलोचनालिकुलाव[22]लेह्यलावण्यमकरन्दममन्दानन्दकामदमतिकान्तरूपायतनं यौवनमासादितः पुनरपि प्राज्याज्यवणिज्योपार्जनसज्जागमनेन तेन श्रीदत्तेन दृष्टः। पृष्टश्च गोविन्द-

तरह इन्द्रदत्तके घर आया और बोला—'इन्द्रदत्त ! यह भाग्यशाली भानजा मेरे ही घरमें बड़ा होना चाहिए।' यह कहकर बहिनके साथ बच्चेको अपने घर ले आया और पहलेकी ही तरह मार डालनेके लिए उसे बधिकको दे दिया। वह बधिक भी उस बच्चेको लेकर शीघ्र ही एकान्त गुफाकी ओर चल दिया। हवाके चलनेसे जिसके ऊपरसे मेघपटलका आवरण हट गया है उस चन्द्रमाके समान नयनाभिराम उस बालकको देखकर उसका हृदय भी दयालु हो गया। और नदीके किनारे वृक्षोंके एक झुण्डमें उस बालकको रखकर वह चला गया।

इसके पूर्वोपार्जित पुण्यके प्रभावसे वहाँ भी चरनेके लिए जो गायें आयी थीं वे इसे देखते ही आनन्दसे रभाती हुई इसके पास चली आयीं और उनके थनोंसे दूध झरने लगा। सन्ध्याके समय जब सूर्य डूबने लगा तो उन गायोंके रखवाले ग्वालोंने यह कौतुक देखा और समस्त ग्वालोंके सरदार गोविन्दसे कहा। पुत्र स्नेह वश आनन्दसे गद्गद होता हुआ गोविन्द भी उस बालकको घर ले आया और अपनी पत्नी सुनन्दाको सौंप दिया। बालकका नाम धनकीर्ति रखा गया।

धीरे-धीरे बचपनको छोड़कर धनकीर्ति असीम आनन्दको देनेवाली तथा अत्यन्त मनोहर रूपकी दात्री युवावस्थाको प्राप्त हुआ। श्री कृष्णकी तरह युवाजनोंके मनको खरीदनेके लिये पण्य रूप तारुण्यसे विकसित गोपिकाओंके लोचनरूपी भ्रमर उसके लावण्यरूपी मकरन्दका पान करनेके लिए आकुल रहते थे। एक दिन घीके व्यापारके निमित्तसे श्रीदत्त उधर आ निकला। उसने देखा और गोविन्दसे पूछा कि यह लड़का उसे कहाँसे मिला ? सुनकर श्रीदत्त बोला—

---

१. पुत्रम्। २. मारणार्थम्। ३. मातंगाय। ४. एकान्त। ५. वायुवशेन। ६. चन्द्रम्। ७. आशु गतवान्। ८. धात्रीभिः। ९. शिशु। १०. हंभा—गोरुतम्। ११. तृणादनार्थम्। १२. गोपाल। १४. समीप। १५. सन्ध्यासमये। १६. भागिन्य—आ०। १७. रवौ। १८. लक्ष्मीगृहस्य। १९. हरिरिव। २०. मनोग्रहणे यत्पण्यं क्रियाणं (?) अर्थप्रायं तारुण्यम्। २१. गोपी। २२. आस्वाद्य।

स्तदवाप्तिप्रपञ्चम्। श्रीदत्तः—'गोविन्द, मदीये सदने किमपि महत्कार्यमात्मजस्य निवेद्य-मस्ति। तदयं [1]प्रज्ञुरिमं लेखं ग्राहयित्वा सत्वरं प्रहेतव्यः[2]।' गोविन्दः—'श्रेष्ठिन्, एवमस्तु।' लेखं चैवमलिखत्—'अहो विदितसमस्तपौतव[3]कल महाबल, एष खल्वस्मद्वंशविनाशवैश्वा-नरोऽवश्यं [4]विष्यो [5]मुशल्यो वा विधातव्यः' इति। धनकीर्तिस्तथा तातवणिक्पतिभ्यामादिष्टः सावष्टम्भं[6] गलालङ्कारसखं लेखं कृत्वा गत्वा च [7]जन्मान्तरोपकाराधीनमीनावतारसरसी-मेकानसीं[8] तत्प्रवेशपदिरपर्यन्त[9]वर्तिनि वने वर्त्मश्रमापनयनाय [10]पिकप्रियालवालपरिसरे [11]निःसंज्ञमस्वाप्सीत्।

अत्रावसरे विहितपुष्पावचयविनोदा सपरिच्छदा निखिलविद्याविदग्धा[12] पूर्वभवो-पकारस्निग्धा संजीवनौषधिसमानानङ्गसेनानामिका गणिका तस्यैव सहकारतरोस्तलमुप-ढौक्य विलोक्य च निस्पन्दलोचना चिराय तमनङ्गमिव [13]मुक्तकुसुमास्त्रतन्त्रं [14]लोकान्तर-मित्रमशेषलक्षणोपलक्षितमूर्तिं धनकीर्तिं पुनरायुःश्रीसरस्वतीसमागमादेशरेखात्रयेणेव प्रकट-वितर्कित[15]कर्कोटत्रयेण बन्धुरमध्यप्रदेशात्कण्ठदेशादादायापायप्रतिपादनाक्षरालेखं लेखमवाच-यत्। लिलेख च तं वाणिजकापसदं हृदयेन [16]विकुर्वती लोचनाञ्जनकरण्डादुपात्तेन वनवल्लि-पल्लवनिर्यासरसद्रुतेन[17] कज्जलेनार्जुन[18]शलाकया तत्रैव परिम्लिष्ट[19]पुरातनसूत्रे पत्रे लेखान्तरम्। तथा हि—'यदि श्रेष्ठिनी मामवधेय[20]वचनं श्रेष्ठिनं मन्यते, महाबलश्च यदि मामनुल्लङ्घनीय-

'गोविन्द, मुझे अपने घरपर अपने लड़केसे कुछ जरूरी बात कहलाना है। अतः इस लड़केको यह पत्र देकर शीघ्र भेज दो।'

गोविन्दने श्रीदत्तकी बात स्वीकार कर ली। पत्रमें लिखा था—'माप-तौलमें कुशल महाबल! यह लड़का हमारे वंशका विनाश करनेके लिए आगके समान है। अतः या तो इसे विष दे देना या मूसलसे मार डालना।'

पिता और वैश्यपतिकी आज्ञा पाकर उस मुद्राङ्कित पत्रको अपने गलेमें बाँधकर धनकीर्ति उस उज्जैनी नगरीकी ओर चल दिया जिसमें उसके द्वारा पूर्व जन्ममें उपकृत मछलीने जन्म लिया था। नगरीके निकट पहुँचकर वह नगरीके प्रवेश मार्गके निकटवर्ती वनमें रास्तेकी थकान दूर करनेके लिए आमकी क्यारियोंके निकट गहरी नींदमें सो गया।

इसी बीचमें वस्त्रालंकारसे सुसज्जित, समस्त विद्याओंमें निपुण और पूर्व जन्मके उपकारसे उपकृत अनङ्गसेना नामक वेश्या पुष्प चयन करके उसी आमके पेड़के नीचे आयी और कामदेव के समान सुन्दर समस्त लक्षणोंसे युक्त तथा पूर्व जन्मके मित्र धनकीर्तिको देखकर देखती ही रह गयी। उसके कण्ठमें तीन रेखाएँ थीं जो मानो आयु, लक्ष्मी और सरस्वतीके आगमनको ही सूचित करती थीं। अचानक अनङ्गसेनाकी निर्निमेष दृष्टि गलेमें बँधे पत्रपर पड़ी। उसने उस अशुभ पत्रको खोलकर पढ़ा, और उस निकृष्ट वणिकका हृदयसे तिरस्कार करते हुए अपने लोचन रूपी अञ्जनकी डिबियासे काजल लेकर उसे लताओंकी नयी कोंपलोंके रसमें भिगोया तथा चाँदी की सलाईसे अथवा तृणसे उसी पत्रपर पहलेके लेखको मिटाकर दूसरा लेख लिखा। लेख इस

१. प्रकृष्ट जानुः। २ प्रेषणीयः। ३. तुला मानं वा। ४. विषेण वध्यः। ५. मुशलेन वध्यः। ६. मुद्रासहितम्। ७. पूर्वजन्मनि यो मत्स्यः स यत्र वेश्या जाता वर्तते। ८. उज्जयिनीम्। ९. मार्ग। १०. आम्रवृक्षथाणप्रांगणे। ११. निश्चेतनं यथा। १२. चतुरा। १३. वाणान् विना कन्दर्पम्। १४. जन्मान्त-रोपकारिणम्। १५. कण्ठरेखा। १६. निन्दती। १७. घोलितेन। १८. हेम, तृणं वा। १९. पूर्वाक्षराणि परिमृज्य नूतनाक्षराणि लिखितानि। २०. आदरणीय।

वाक्प्रसरं पितरं गणयति, तदास्मै निकामं सप्तपुरुषपर्यन्तपरीक्षितान्वयसंपत्तये धनकीर्तये कूपद[1]प्रक्रमेण [2]द्विजदेवमुखसमक्षमविचारापेक्षं श्रीमतिर्दातव्या' इति। ततो यथाम्नातवि[3]शिखमिमं लेखमामुच्य[4] समाचरितगमनायामनङ्गसेनायां धनकीर्तिश्चिरेण [5]विद्राणसान्द्रनिद्रोद्रेकः [6]सोत्सेकमुत्थाय प्रयाय[7] च श्रीदत्तनिकेतनं जननीसमन्विताय महाबलाय प्रदर्शितलेखः श्रीमतीसखो[8]ऽभवत्।

श्रीदत्तो वार्तामिमामाकर्ण्य प्रतूर्णं प्रत्यावर्त्य[9] निधाय[10] च तद्वधाय राजधानीबाहिरिकायां चण्डिकायतने कृतसंकेतं संनद्धवपुषं पुरुषं कश्वरा[11]चरणपिशाचीं [12]देवद्रीचीं च परिप्राप्तोदवसितो[13] रहसि धनकीर्तिं मुहुराहूय बहुकूटकपटमतिरेवमाबभाषे—'वत्स, मदीये कुले किलैवमाचारो यदुत यामिनीमुखे कात्यायिनीप्रमुखे[14] प्रदेशे प्रतिपन्नाभिनवकङ्कणबन्धेन स्तनन्धयागोधेन महारजन[15]रसरक्तांशुक[16]समाश्रयः स्वयमेव माषमय[17]मोरमौकु[18]लिर्बलिरुपहर्तव्यः[19]।' धनकीर्तिः—'तात, यथा तातादेशः' इति निगीर्य गृहीतकुलदेवतादेयहन्त[2]कारो[20]पकरणस्तेन श्यालेन महाबलेन पुरप्रदेशान्निःसरन्नवलोकितः। समालापितश्च—'हंहो धनकीर्ते, प्रवर्धमानान्धकारावन्ध्यायामस्यां वेलायामवर्गणः[21] क्वोच्चलितोऽसि।' 'महाबल, मातुलनिदेशान्न[22]मसितनिवेदनाय दुर्गालये।' 'यद्येवं नगरजनासंस्तुतत्वात्त्वं निवासं प्रति निवर्तस्व।

प्रकार था—'यदि सेठानी मेरे वचनोंको मानती है और यदि महाबल मुझे अपना पिता मानता है तथा मेरे वचनोंको अनुल्लङ्घ्य समझता है तो इस धनकीर्तिको, जिसके वंशकी श्रेष्ठताकी परीक्षा सात जनोंके सामने कर ली गयी है, बिना किसी विचारके अग्निकी साक्षी पूर्वक दहेजके साथ श्रीमतीको सौंप देना।' पहलेकी ही तरह इस लेखको उसके गलेमें बाँधकर अनङ्गसेना चली गयी। धनकीर्ति बहुत देर तक गहरी नींदमें सोता रहा। फिर उठकर श्रीदत्तके घर पहुँचा और माता सहित महाबलको पत्र देकर श्रीमतीका पति बन गया। श्रीदत्त इस समाचारको सुनकर शीघ्र ही लौट आया और राजधानीके बाहर स्थित चण्डीदेवीके मन्दिरमें धनकीर्तिको मारनेके लिए एक सशस्त्र मनुष्यको तथा कुत्सित काम करनेमें पिशाचीसमान देवीको नियुक्त करके घर आया। और एकान्तमें धनकीर्तिको बुलाकर वह कपटी बोला—'वत्स! मेरे कुलकी ऐसी रीति है कि जिस कन्याका नया विवाह होता है उसका पति रात्रिके समय कुसुम्भेके रंगसे रंगे हुए वस्त्र पहनकर स्वयं ही चण्डीके मन्दिरमें उड़दसे बने हुए मोर और कौवेकी बलि देता है।'

'जैसी आज्ञा' कहकर धनकीर्ति कुलदेवताको अर्पित करनेकी सामग्री लेकर घरसे निकला। सामनेसे आते हुए उसके साले महाबलने उसे देखा और पूछा—'धनकीर्ति! इस अन्धेरी रातमें अकेले कहाँ जाते हो?'

'महाबल! मामाकी आज्ञासे बलि देनेके लिए दुर्गाके मन्दिरको जाता हूँ।'

'यदि ऐसा है तो तुम्हारा जाना ठीक नहीं है। नगरके आदमी क्या कहेंगे! अतः तुम

१. जामातृदेयं वस्तु सहिरण्यकन्यादायी कूपदः कथ्यते। २. अग्निसाक्षिकम्। ३. मार्गम्। ४. कण्ठे बध्वा। ५. उपशान्त। ६. सगर्वम्। ७. गत्वा। ८. भर्ता। ९. गोविन्दगृहात् स्वगृहमागत्य। १०. पुरुषं स्थापयित्वा। ११. कुत्सितं। १२. चण्डिकां। १३. गृह। १४. प्राङ्गणे। १५. कुसुम्भ। १६. रक्तवस्त्रेण वेष्टितः। १७. माषधान्येन घटित। १८. मयूर-काक। १९. दातव्यः। २०. दान। २१. एकाकी। २२. देय वस्तु। नमस्तित–ज०।

अहमेतदुपयाचितमैशान्याः [2]स्पर्शयितुं प्रगच्छामि । यद्यत्र तातो रोषिष्यति तदा तद्रोषमह-मपनेष्यामि ।' ततो धनकीर्तिर्मन्दिरमगात्, महाबलश्च कृतान्तोदरकन्दरम् ।

श्रीदत्तः सुतमरणशोकातङ्कोपान्तः प्रकाशिताशेषवृत्तान्तः 'सकलनिकाय्य[3]कार्यानुष्ठान-परमेष्ठिनि श्रेष्ठिनि मन्मनोह्लादचन्द्रलेखे विशाखे, कथमयं वैधेयो[4] ममान्वया[5]पायहेतुः प्रयुक्तोपायविलोपनकेतुः [6][7]प्रवाशयितव्यः ।' विशाखा—'श्रेष्ठिन्, [8]भेलभावात्सर्वमनुपपन्नं त्वया चेष्टितम् । अतः [9]कुरुण्डतो भीतः कुक्कुटपोत इव तूष्णीमास्स्व । भविष्यति भवतोऽ-शेषं मनीषितम्' इत्याभाष्य अपरेद्युर्दयितजीवितव्यतोदकेषु[10] मोदकेषु विषं संचार्य 'सुते श्रीमते, य एते कुन्दकुमुदकान्तयो मोदकास्ते स्वकीयाय कान्ताय देयाः, [11]श्यावश्यामाक-श्यामलरुचयश्च जनकाय' इति समर्पितसमया[12] समासन्नमरणसमया सरिति सं[13]वनायानु-ससार । श्रीमतिः 'यच्चोक्षं[14] भक्ष्यन्तत् [15]प्रतीक्ष्याय ताताय वितरीतव्यम्[16]' इत्यवगत्या-विज्ञातसवित्रीचित्तकौटिल्या निःशल्यहृदया तानेतयोर्विपर्ययेणावीवृधत् । विशाखा पति-शून्यमरण्यसामान्यमगारमाप्य परिदेव्य च सुचिरं पुनः 'पुत्रि, किमन्यथा भवति महामुनि-भाषितम् । केवलं तव [17]वापेन मया च [18]थेर्य्यात्मीयान्वयविलोपाय कृत्योत्थापनमाचरितम् ।

घरको लौट जाओ। देवीको यह भेंट समर्पित करनेके लिए मैं जाता हूँ। यदि पिताजी रुष्ट होंगे तो उनके रोषको मैं दूर कर दूँगा।'

इस बात-चीतके बाद धनकीर्ति घरको चला गया और महाबल यमराजके पेटमें समा गया।

पुत्र-मरणके शोकसे विह्वल होकर श्रीदत्तने अपनी पत्नी विशाखासे सब समाचार कह दिया और बोला—सब गृहकार्योंके करनेमें चतुर सेठानी ! यह अभागा मेरे वंशका अनिष्ट करने-वाला है, इसके मारनेका जो-जो उपाय किया जाता है वही व्यर्थ हो जाता है। इसे कैसे मारना चाहिए।'

'सेठजी! अविचारके कारण आपके सब उपाय व्यर्थ हुए। अतः बिलावसे डरे हुए मुर्गेके बच्चेकी तरह आप चुप होकर बैठो। आपकी सब इच्छाएँ पूर्ण होंगी।'

दूसरे दिन सेठानीने अपने पतिके जीवनको नष्ट करनेवाले लड्डुओंमें जहर मिलाकर अपनी पुत्री श्रीमतीसे कहा—'पुत्री ! ये जो सफेद कमलकी तरह स्वच्छ लड्डू हैं इन्हें अपने पतिको देना और ये जो काले धान्यके समान काले रंगके लड्डू हैं इन्हें अपने पिताको देना।' इतना कहकर सेठानी नदीमें स्नान करने चली गयी। श्रीमतीको माताके चित्तकी कुटिलताका पता नहीं था। उसने सोचा कि जो सुन्दर लड्डू हैं उन्हें पूज्य पिताको देना चाहिए। अतः उसने जहर मिले सफेद लड्डू तो पिताको दिये और काले लड्डू अपने पतिको दिये। जब विशाखा लौटी तो उसका पति मर चुका था। वह बहुत रोई फिर बोली—'पुत्री ! महामुनियोंका कथन कैसे झूठा हो सकता है ? तेरे पिताने और मुझ वृद्धाने अपने वंशका नाश करनेके लिए

---

१. नभसितम् । २. दातुम् । ३. गृहकार्य । ४. निर्भाग्यः । ५. वंश । ६. मम कृतानेककपटविनाशस-मर्थः । ७. प्रणाश—ब० । मारणीयः । ८. वृद्ध वा अविचारक । ९. मार्जारात् । १०. पीडकेषु । ११. श्यावः स्यात् कपिशः धूसरारुणः । १२. मता-अभिप्राया । १३. स्नानाय । १४. चोक्षः सुन्दरगीतयोः । १५. पूज्याय । १६. देयम् । १७. पित्रा । १८. वृद्धया ।

तदलमत्र बहुप्रलापेन। कल्पद्रुमेण कल्पलतेव त्वमनेन दैवदेयदेहरक्षाविधानेन धवेन[1] सार्ध-माकल्पमिन्द्रियैश्वर्यसुखमनुभव' इति संभावि[2]ताशीर्वादा तमेकं मोदकमास्वाद्य पत्युः पथि प्रै[3]तस्थे।

एवं विहितदुरीहितवशादुपात्तामिततोकशोकावस्थे दर्शमीस्थे[4] तस्मिञ्श्वशुरे श्वश्रूजने च सति स पुरातनपुण्यमाहात्म्यादुल्लङ्घितघोरप्रतिघ[5]पञ्चकापत्प्रतिदिनमुदीयमानसंपदेकदा तेन विश्वम्भरेण क्षितीश्वरेण निरीक्षितः। तद्रूपसंपत्तौ जातबहुविस्मयेन तनूजया सह उभ[6]येन विशामाधिपत्यपदेन योजितश्च। गुणपालः किंवदन्तीपरम्परया अस्य[7] कल्याणपरम्परामुप-श्रुत्य कौशाम्बीदेशात्पद्मावतीपुरमागत्य अनेनाश्चर्यैश्वर्यभाजा तुजा[9] सह संजग्मे[10]।

अथान्यदा सकलत्रपुत्रमित्रतन्त्रेण धनकीर्तिना दर्शनायागतयानङ्गसेनया चानुगतिनिष्ठो गुणपालश्रेष्ठी मतिश्रुतावधिमनःपर्ययविषयसाम्राजमखिलमुनिमण्डलीराजं श्रीयशोध्वजनाम-भाजं भगवन्तमभिवन्द्य सबहुप्रश्रयमेवमपृच्छत्—'भगवन्, किं नाम जन्मान्तरे धर्ममूर्तिना धनकीर्तिना सुकृतमुपार्जितम्, येन बालकालेऽपि तानि तानि दैवैकशरणप्रतीकाराणि व्यस-नानि व्यतिक्रान्तः, येनास्मि[11]न्व्यतिरिक्त[12]रसारूपसंपन्नोऽभूत्, येनाद[13]भ्राभ्रिय[14]विभावसुप्रभा-संभार इव देवानामप्यप्रतिहतमहः[15] समजनि, येन चापरेषामपि तेषां तेषां महापुरुषकक्षा-[16]वग्रहाणां गुणानां समवायोऽभवत्। तथा हि—स्थानं [17]वदन्यतायाः, समाश्रयो वदान्य[18]-

ही यह गढ़ा खोदा था। अब रोनेसे क्या होता है? कल्पवृक्षके साथ कल्पलताके समान तू अपने इस दैवरक्षित पतिके साथ कल्पकाल तक ऐश्वर्य और इन्द्रिय सुखको भोग।' ऐसा आशीर्वाद देकर उसने भी एक जहरीला लड्डू खा लिया और पतिकी अनुगामिनी बन गयी।

इस प्रकार पूर्व उपार्जित पुण्यके प्रतापसे पाँच भयानक विपत्तियोंसे बचकर धनकीर्ति अपने ही द्वारा की गयी दुर्भावनाओंके कारणसे सास और श्वसुरके चल बसनेपर प्रतिदिन सम्पत्तिशाली होने लगा। एक दिन राजा विश्वम्भरने उसे देखा। उसका सौन्दर्य देखकर राजाको बहुत अचरज हुआ। उसने उसके साथ अपनी पुत्रीका विवाह कर दिया और उसे वैश्योंका अधिपति बना दिया। धनकीर्तिके पिता गुणपालने लोगोंके मुखसे जब अपने पुत्रके अभ्युदयका समाचार सुना तो वह कौशाम्बी नगरीसे उज्जयिनी आकर आश्चर्यजनक सम्पत्तिशाली पुत्रसे मिला।

एक बार मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञानके धारी श्री यशोध्वज मुनिराज वहाँ पधारे। गुणपाल सेठ, सकुटुम्ब धनकीर्ति और उससे मिलनेके लिए आयी हुई अनंगसेनाके साथ मुनिराजके दर्शनके लिए गया, और उन्हें नमस्कार करके विनयपूर्वक बोला—'भगवन्! धर्म-मूर्ति धनकीर्तिने पूर्व जन्ममें कौन-सा पुण्य कमाया था, जिसके कारण बचपनमें भी यह उन कष्टोंको पार कर गया जो दैवके द्वारा ही दूर किये जा सकते थे तथा इस जन्ममें इसने बड़ी भारी सम्पत्ति और सौन्दर्य पाया, सूर्यके तेजकी तरह देवोंसे भी न रोका जा सकनेवाला इसे तेज प्राप्त हुआ। इसके सिवाय महापुरुषोंके योग्य अन्य भी गुण इसे प्राप्त हो सके। जैसे, यह बड़ा दानी

१. कान्तेन। २. दत्त। ३. मृता इत्यर्थः। ४. मृते। ५. विघ्न। ६. एको विवाहोत्सवो द्वितीयः श्रेष्ठिपदप्रदानोत्सवः। ७. धनकीर्तेः। ८. उज्जयिनीम्। ९. पुत्रेण। १०. सम्मिलितः। ११. जन्मनि। १२. अधिक। -क्तसाररूप—आ०। १३. बहुल। १४. अभ्रपटलसम्बन्धि अग्नितेजःसमूहवत्। वज्राग्निवत्। १५. तेजः। १६. पक्षवशानां। १७. विदग्धतायाः। १८. वदति दीयतामिति वदान्यः। त्यागी।

भावस्य, निकेतनमवदानकर्मणः[1], क्षेत्रं मैत्रेयिकायाः[2], स्वप्नेऽपि न स्वजनस्याजनि मनोमर्तुः[3] [4]कन्तुरिव च कामिनीलोकस्य। तदस्य [5]भदन्त, [6]प्रापणिकपरिषत्प्रवणस्य निःशेषशास्त्र-प्रवीणान्तःकरणस्य निसर्गादेव निखिलपरिजनालापनसक्तस्य विनेयजनमनःकुवलयानन्दि-कथावतारामृतमूर्तेः[7] सुकीर्तेर्धनकीर्तेः पुरोपार्जितं सुकृतं कथयितुमर्हसि।'

भगवान्—'श्रेष्ठिन्, श्रूयताम्।' तत्संबन्धसक्तं पूर्वोक्तं वृत्तान्तमचकथत्—'या चास्य पूर्वभवनिकटा घण्टा वधूटी सा कृतनिदानादर्मूनसि[8]प्रवेशादियं संप्रति श्रीमतिः संजाता। यश्च स मीनः स कालक्रमेण व्यतिक्रम्य पूर्वपर्यायपर्वैयमनङ्गसेनाभूत्। अतोऽस्य महाभागस्यै-कदिवसाऽहिंसाफलमेतद्विजृम्भते। धनकीर्तिरेतद्वचः[9]पवित्रश्रोत्रवर्त्मा तथा श्रीमतिरनङ्गसेना च पुराभवं भवं संभाल्योन्मूल्य च तमःसंतानतरुनिवेशमिव केशपाशं तस्यैव दोषज्ञस्या[10]न्तिके यथायोग्यताविकल्पं तपःकल्पमादाय जिनमार्गोचितेनाचरितेन चिरायाराध्य रत्नत्रयं विधाय च विधिवन्निरं[11]जन्यमनोवर्तनं प्रायोपवेशनम्[12]। तदनु धनकीर्तिः सर्वार्थसिद्धिसाधनकीर्तिर्ब-भूव। श्रीमतिरनङ्गसेना च [13]कल्पान्तरसंयोज्यं देवसायुज्यमभजत्।

भवति चात्र श्लोकः—

है, प्रियवादी है, सत्कर्म करता है, मित्रताके उपयुक्त है, स्वप्नमें भी स्वजनोंके मनको कष्ट नहीं पहुँचाता और स्त्रियोंके लिए तो मानो कामदेव ही है। इसलिए भगवन्! समस्त शास्त्रोंमें प्रवीण और स्वभावसे ही समस्त कुटुम्बीजनोंसे मीठे वचन बोलनेवाले इस वैश्यपति धनकीर्तिके पूर्वोपार्जित पुण्यकी कथा कहें। इसकी कथा सुनकर सबके मन प्रफुल्लित होंगे।'

मुनिराजने धनकीर्तिके पूर्व जन्मकी कथा कह सुनायी और बोले—'इसके पूर्वभवकी पत्नी घण्टा यह निदान करके कि 'जो इसका व्रत है वही मेरा भी व्रत है और मैं दूसरे भवमें भी इसकी पत्नी होऊँ' अग्निमें जल मरी थी। वही मरकर श्रीमती हुई है। और जो मछली थी जिसे मृगसेन धीवरने जलमें छोड़ दिया था, वह पूर्व पर्यायको छोड़कर अनङ्गसेना हुई है। अतः एक दिन हिंसा न करनेका यह फल इस महाभागको मिला है।'

पूर्वभवके इस वृत्तान्तको सुनकर धनकीर्ति, श्रीमती और अनंगसेनाने केशलोंच करके उन्हीं मुनिराजके पासमें जिनदीक्षा ले ली। और अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार तप ग्रहण करके जैनमार्गके अनुसार चिरकाल तक रत्नत्रयका आराधन किया। तथा अन्तमें विधिपूर्वक निर्विघ्न समाधिमरण करके धनकीर्ति तो सर्वार्थसिद्धिमें देव हुआ और श्रीमती तथा अनंगसेना स्वर्गलोक-में उत्पन्न हुई।

इस कथाके विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

---

१. अवदानं शत्रुखण्डनं, सर्वपालनम् साहसम्। २. मित्रयुर्व्यवहारवेदी तस्य भावो मैत्रेयिका। ३. विप्रियम्। ४. कामः। ५. हे मुने। ६. वणिक्। ७. चन्द्रस्य। ८. अग्नौ। ९. वचन। १०. अतीन्द्रियज्ञस्य विदुषः। ११. निर्विघ्नं। १२. संन्यासविधिम्। १३. स्वर्गलोक।

पञ्चकृत्वः किलैकस्य मत्स्यस्याहिंसनात्पुरा ।
अभूत्पञ्चापदोऽतीत्य धनकीर्तिः पतिः श्रियः ॥३६३॥

इत्युपासकाध्ययने अहिंसाफलावलोकनो नाम षड्विंशः कल्पः ।

अदत्तस्य परस्व[1]स्य ग्रहणं स्तेयमुच्यते ।
सर्वभोग्यात्तदन्यत्र भावात्तोयतृणादितः ॥३६४॥
ज्ञातीनामत्य[2]ये वित्तमदत्तमपि संमतम् ।
जीवतां तु निदेशेन[3] व्रतक्षति[4]रतोऽन्यथा ॥३६५॥
[5]संक्लेशाभिनिवेशेन प्रवृत्तिर्यत्र जायते ।
तत्सर्वं रायि विज्ञेयं स्तेयं स्वान्यजनाश्रये ॥३६६॥
रिक्थं [6]निधिनिधानोत्थं न राज्ञोऽन्यस्य युज्यते ।
यत्स्वस्या[7]स्वामिकस्येह दायादो मेदिनीपतिः ॥३६७॥

"पूर्व जन्ममें पाँच बार एक मछलीको न मारनेसे धनकीर्ति पाँच बार आपत्तिसे बचकर लक्ष्मीका स्वामी बना" ॥३६३॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें अहिंसाका फल बतलानेवाला छब्बीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

अब चोरी न करनेका उपदेश करते हैं—

अचौर्याणुव्रत

पानी, घास वगैरह जो वस्तु सबके भोगनेके लिए हैं उनके सिवा शेष सब बिना दी हुई परवस्तुओंको ले लेना चोरी है ॥३६४॥ यदि कोई ऐसे कुटुम्बी मर जायें जिनका उत्तराधिकार हमें प्राप्त है तो उनका धन बिना दिये हुए भी लिया जा सकता है । किन्तु यदि वह जीवित हों तो उनकी आज्ञासे ही उनका धन लिया जा सकता है । उनकी जीवित अवस्थामें ही उनसे पूछे बिना उनका धन ले लेनेसे अचौर्याणुव्रतकी क्षति होती है ॥३६५॥

अपना धन हो या दूसरोंका हो, जिसमें चोरीके भावसे प्रवृत्ति की जाती है तो वह सब चोरी ही समझना चाहिए ॥३६६॥ जमीन वगैरहमें गड़ा हुआ धन राजाका होता है किसी दूसरेका नहीं । क्योंकि जिस धनका कोई स्वामी नहीं है उसका स्वामी राजा होता है ॥३६७॥ अपने द्वारा

१. धनस्य । 'अदत्तादानं स्तेयम्' । —तत्त्वा० सू० ७-१५ । 'निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम् । न हरति यन्न च दत्ते तदकृशचौर्यादुपारणम् ॥५७॥ —रत्नकरण्डश्रा० । 'अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत् । तत्प्रत्येयं स्तेयं' ॥१०२॥ 'असमर्था ये कर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम् । तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम् ॥ १०६ ॥' —पुरुषार्थसि० । 'परस्वस्याप्रदत्तस्यादानं स्तेयमुदाहृतम् । सर्वस्वाधीनतोयादेरन्यत्र तन्मतं सताम् ॥ ६१ ॥ प्रबोध० । २. मरणे सति । ३. आदेशेन ग्राह्यम् । ४. विनाशः । 'वंश्यानामत्यये वित्तमदत्तमपि सम्मतम् । समर्पितं निदेशेन व्रतहानिरतोऽन्यथा ॥६६॥' —प्रबोधसार । ५. 'संक्लेशाभिनिवेशेन तृणमप्यन्यभर्तृकम् । अदत्तमाददानो वा ददानस्तस्करो ध्रुवम् ॥४७॥' सागारधर्मा०, ४ अ० । ६. यो व्ययीकृतः क्षयं न याति स निधिः । यद् व्ययीकृतं सत् क्षयं याति तन्निधानम् । ७. धनस्य । 'नास्वामिकमिति ग्राह्यं निधानादि धनं यतः । धनस्यास्वामिकस्येह दायादो मेदनीपतिः' ॥४८॥ —सागारधर्मा, ४ अ० । 'प्रणष्टस्वामिकं रिक्थं राजा त्र्यब्दं निधापयेत् । अर्वाक् त्र्यब्दाद्धरेत्स्वामी परेण नृपतिर्हरेत् ॥३०॥ —मनुस्मृति ८ अ० । 'द्रव्य निधिनिधानोत्थं भूपादन्यस्य नो भवेत् । निरीशस्य यतः स्वस्य दायादो मेदिनीपतिः ॥६७॥' —प्रबोधसार ।

आत्मार्जितमपि द्रव्यं द्वापरायान्यथा[1] भवेत् ।
निजान्वयादतोऽन्यस्य[2] व्रती स्वं परिवर्जयेत् ॥३६८॥
मन्दिरे [3]पदिरे नीरे कान्तारे धरणीधरे ।
तत्रान्यदीयमादेयं स्वापतेयं व्रताश्रयैः ॥३६९॥
पौतवन्यूनताधिक्ये[4] स्तेनकर्म ततो ग्रहः[5] ।
विग्रहे संग्रहोऽर्थस्यास्तेयस्यैते [6]निवर्तकाः ॥३७०॥
रत्नरत्नाङ्ग[7]रत्नस्त्रीरत्ना[8]म्बरविभूतयः ।
भवन्त्यचिन्तितास्तेषामस्तेयं येषु निर्मलम् ॥३७१॥
पर[9]प्रमोषतोषेण तृष्णाकृष्णधियां नृणाम् ।
अत्रैव दोषसंभूतिः परत्रैव च दुर्गतिः ॥३७२॥

श्रूयतामत्र स्तेयफलस्योपाख्यानम्—प्रयागदेशेषु निवासविलासवाचालप्रलापवाचालितविलासिनीनूपुरे सिंहपुरे समस्तसमुद्रमुद्रितमेदिनीप्रसाधनसेनः पराक्रमेण सिंह इव सिंहसेनो नाम नृपतिः । तस्य निखिलभुवनजनस्तवनोचितवृत्ता रामदत्ता नामाग्रमहिषी । सुतौ चानयोराश्चर्यसौन्दर्यौदार्यपरितोषितानिमिषेन्द्रौ सिंहचन्द्र-पूर्णचन्द्रौ नाम । निःशेषशास्त्रविशारदमतिः श्रीभूतिरस्य पुरोहितः सूनृ[10]ताधिकधिषणतया सत्यघोषापरनामधेयः ।

उपार्जित द्रव्यमें भी यदि संशय हो जाये कि यह मेरा है या दूसरेका, तो वह द्रव्य ग्रहण करनेके अयोग्य है अतः व्रतीको अपने कुटुम्बके सिवा दूसरोंका धन नहीं लेना चाहिए ॥३६८॥

अतः मकानमें, मार्गमें, पानीमें, जंगलमें या पहाड़में रखा हुआ दूसरोंका धन अचौर्याणुव्रतीको नहीं लेना चाहिए ॥३६९॥ बाँट तराजूका कमती-बढ़ती रखना, चोरीका उपाय बतलाना, चोरीका माल खरीदना, देशमें युद्ध छिड़ जानेपर पदार्थोंका संग्रह कर रखना, ये सब अचौर्याणुव्रतके दोष हैं ॥३७०॥

जो निर्दोष अचौर्याणुव्रतको पालते हैं उनको रत्न, सोना, उत्तम स्त्री, उत्तम वस्त्र आदि विभूति स्वयं प्राप्त होती है, उसके लिए उन्हें चिन्ता नहीं करनी पड़ती ॥३७१॥ जो मनुष्य दूसरोंकी वस्तुओंको चुराकर प्रसन्न होते हैं, तृष्णासे कलुषित बुद्धिवाले उन मनुष्योंमें इसी जन्ममें अनेक बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं और दूसरे जन्ममें भी उनकी दुर्गति होती है ॥३७२॥

१४. चोरीमें आसक्त श्रीभूति पुरोहितकी कथा

चोरीके फलके सम्बन्धमें एक कथा है उसे सुनें—

प्रयागदेशके सिंहपुर नामक नगरमें सिंहकी तरह पराक्रमशाली सिंहसेन नामका राजा राज्य करता था । उसकी पटरानीका नाम रामदत्ता था । उनके आश्चर्यजनक सौन्दर्य और उदारतासे देवोंके इन्द्रको भी सन्तुष्ट करनेवाले सिंहचन्द्र और पूर्णचन्द्र नामके दो पुत्र थे । समस्त शास्त्रोंमें कुशल श्रीभूति राजाका पुरोहित था । सत्यकी ओर अधिक रुझान होनेके कारण उसका

---

१. संदेहाय । २. स्ववंशादन्यस्य धनं वर्जयेत् । ३. मार्गे । ४. तुलाहीनाधिक्ये । ५. चौरार्थादानम् । ६. अतीचाराः । 'स्तेनप्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥' तत्त्वार्थ सू० ७-२७ । 'चौरप्रयोगचौरार्थादानविलोपसदृशसन्मिश्राः । हीनाधिकविनिमानं पञ्चास्तेये व्यतीपाताः ॥५८॥' —रत्न० श्रा० । पुरुषार्थसि०, श्लो० १८५ । ७. सुवर्णादि । ८. उत्तम । ९. परवस्तुचौर्यहर्षेण । १०. सत्यवचन ।

धर्मपत्नी चास्य पतिहितैकचित्ता श्रीदत्ता नामाभूत् ।

स किल श्रीभूतिर्विश्वासरसनिर्विघ्नतया[1] परोपकारनिघ्नतया च विभक्तानेकापवरकरचनाशालिनीभिर्महाभाण्डवाहिनीभिर्गोशालोपशल्याभिः[2] कुल्याभिः समन्वितमतिसुलभजलयवसेन्धनप्रचारं[3] भण्डनारम्भोद्भटभटीरपेटकपक्षरक्षासारं[4][5][6] गोरुतप्रमाणं वप्रप्राकारप्रतोलिपरिखापरिसूत्रितत्राणं प्रपासत्रसभासनाथवीथिनिवेशनं[7] पण्यपुटभेदनं विदूरितकितवविटविदूषकपीठमर्दावस्थानं[8] पेण्ठास्थानं[9] विनिर्माप्य नानादिग्देशोपसर्पणयुजां वणिजां[10] प्रशान्तशुल्कभाटकभागहारव्यवहारमचीकरत्[11] ।

अत्रान्तरे पद्मिनीखेटपट्टनविनिविष्टावासतन्त्रस्य सुदत्ताकलत्रचरित्रपवित्रितगोत्रस्य वणिक्पतेः सुमित्रस्य[12] निजसनाभिजनाम्भोजभानुः सूनुर्भद्रमित्रो नाम समानधनचारित्रैर्वणिक्पुत्रैः[13] सत्रं[14] वहित्रयात्रायां यियासुः

'पादमायान्निधिं[15][16] कुर्यात्पादं वित्ताय[17] कल्पयेत् ।
धर्मोपभोगयोः पादं पादं भर्तव्यपोषणे ॥३७३॥' इति पुण्यश्लोकः ।

श्लोकार्थमवधार्य विचार्य चातिचिरमुपनिधिन्यासयोग्यमावासम्[18] उदिताचारसेभ्योऽवधारितेतिकर्तव्यस्तस्याखिललोकश्लाघ्यविश्वासप्रसूतेः[19] श्रीभूतेर्हस्ते तत्पत्नीसमक्षमनर्घ-

नाम सत्यघोष पड़ गया था । उसकी धर्मपत्नीका नाम श्रीदत्ता था । वह सदा पतिका हित चाहती थी ।

श्रीभूति पुरोहितका सब विश्वास करते थे और वह सदा परोपकारमें लगा रहता था । उसने एक बाजार बनवाया था । उसमें अनेक गलियाँ थीं, जिनमें अनेक दूकानें बनी हुई थीं, जो मालसे भरी रहती थीं और उनके पासमें ही गोशालाएँ बनी हुई थीं ।

पानी, घास व ईंधन वगैरह बहुत सहूलियतसे मिल जाता था । लड़नेके लिए तत्पर अनेक सुभट वीर उसकी रक्षा करते थे । दो कोसका उसका विस्तार था । खाई, कोट, गली-कूँचा आदि से सुरक्षित था । मार्गोंमें प्याऊ और सदाव्रतशालाएँ बनी हुई थीं, धूर्त, जार और विलासी पुरुषों से रहित था । उसमें नाना देशोंके व्यापारी व्यापारके लिए आते थे । उनसे बहुत थोड़ा टैक्स, भाड़ा और दान लिया जाता था ।

एकबार पद्मिनीपुरके निवासी, सुदत्ता नामकी सुशील स्त्रीके पति, वणिकपति सुमित्रके पुत्र भद्रमित्रने धन और चारित्रमें अपने समान अन्य वणिक् पुत्रोंके साथ समुद्र-यात्रा करनेकी इच्छा की ।

नीतिमें कहा है—"अपनी आमदनीका एक चौथाई तो जमा करके रखना चाहिए । एक चौथाईसे व्यापार करना चाहिए । एक चौथाई धार्मिक कार्यों और भोगमें खर्च करना चाहिए और एक चौथाईसे अपने आश्रितोंका पालन करना चाहिए ॥३७३॥

इस नीतिको मानकर भद्रमित्रने अपने संचित धनको किसी सुरक्षित स्थानमें रखनेका विचार किया और सोच-विचार कर समस्त लोकमें अति विश्वस्त माने जानेवाले उसी श्रीभूतिके

१. परवशतया । २. गोमहिषीबन्धनस्थानसमीपाभिः । ३. तृण । ४. संग्राम । ५. उत्कट । ६. भरीर—अ०, ज०, मु०, । सुभट । ७. सहितमार्ग । ८. कामाचार्य । ९. पीठस्थानम् । १०. स्वल्प । ११. दान । १२. गोत्रजन । १३. सह । १४. यानपात्र । १५. उपार्जितलाभमध्यात् । १६. अन्तर्द्धानं—स्थापनम् । १७. पुंजीनिमित्तम् । १८. स्थापनीयद्रव्यस्थापनयोग्यम् । १९. निर्धारितकार्यः ।

[1]कलत्रमनुगतासक्तं[2]रत्नसप्तकं निधाय विधाय च जलयात्रासमर्थमर्थमेकवर्णप्रजाप्रलापसुवर्ण-द्वीपमनुससार।

पुनरगण्यपण्यविनिमयेन तत्रत्यमचिन्त्यमात्माभिमतवस्तुस्कन्[3]धमादाय [4]प्रत्यावर्त-मानस्यादूरसागरावसानस्याकाण्डप्रचण्डवलादनिलात्परिवर्तितपोतपात्रस्य [5]यद्भविष्यत्तया आयुषः शेषत्वात्तस्यैकस्य [6]प्रमादफलकावलम्बनोद्यतस्य कण्ठप्रदेशप्राप्तजीवितस्य कथंकथ-मपि क्षणदा[7]याः क्षयिणि चरमयामक्षणेऽब्धि[8]रोधोपलब्धिरभवत् ।

ततोऽसौ सुखैधित[9]शरीरत्वादपाराकूपारक्षारवारिवशवशीका[10]शयश्चिरायापचितमूर्च्छोदयः [11]करप्रचारचूर्णितचक्रवाकचिन्ता[12]मणौ प्रागचलचूलिकाचक्र[13]वालचूडामणौ कमलिनीकुलविका-साहितहंसवासि[14]ताशर्मणि विश्व[15]कर्मणि [16]दरनलिनान्तरालरुचिरे लोचनगोचरे संजाते सति बान्धवजनमरणाद्द्रविण[17]संद्रवणाच्चातीवान्त[18]र्मनस्तया [19]छातच्छायकायः [20]पटच्चरचेलचीरी-[21]निचिताङ्गशकटिः [22]कर्पटिः [23]परपस्त्योपास्तिनिरस्ताभिमानावनिर्[24]वर्तनिः सन् क्रमेण सिंहपुरं नगरमागत्य गीर्मात्रावसेयपूर्वपर्यायस्तं महामोहरसोत्सारितप्रीतिं[25] श्रीभूतिमभिज्ञानाधिक-वाक्यो माणिकसप्तकमयाचत ।

हाथमें उसकी पत्नीके सामने अत्यन्त मूल्यवान् सात रत्न सौंपकर जल-यात्रामें समर्थ एक जहाजके द्वारा सुवर्णद्वीपको चल दिया ।

वहाँ बहुत-सा माल बेचकर तथा उसके बदलेमें वहाँकी बहुत-सी मनपसन्द वस्तुएँ खरीद कर वह घरके लिए लौटा । जब समुद्रका किनारा थोड़ी दूर रह गया, बड़ी जोरका तूफान आ गया और उससे उसका जहाज उलट गया । दैववश आयु शेष होनेसे उसे जहाजका टूटा हुआ एक लकड़ीका पटिया मिल गया और उसने उसे पकड़ लिया । उसे पकड़े-पकड़े जब उसके प्राण कण्ठमें आ गये तब जिस किसी तरह रात्रिका अन्तिम पहर बीतते-बीतते उसे समुद्रका किनारा मिल गया ।

एक तो वणिक्पुत्र जन्मसे ही सुखमें पला था दूसरे अपार समुद्रके खारी पानीने उसे धनशून्य ही नहीं संज्ञाशून्य भी बना दिया था । अतः किनारेपर लगकर वह बहुत देर तक मूर्छित पड़ा रहा । जब सूर्योदय हुआ तो उसकी आँखें कमलोंकी तरह कुछ खुलीं । बन्धुजनोंके मर जाने और धनके नष्ट हो जानेसे उसका मन बहुत दुखी था और मुख पीला पड़ गया था । जिस किसी तरह फटे हुए वस्त्रके टुकड़ेसे अपने शरीरको ढाँककर वह वहाँसे उठा ।

दूसरोंकी चाकरी करते-करते उसका सब अभिमान जाता रहा । अन्तमें आजीविकाके न मिलनेसे घूमता-घूमता सिंहपुर पहुँचा और श्रीभूतिके पास जाकर उससे अपने सात रत्न माँगे । इस समय उसकी दशा बिलकुल हीन थी । उसकी पूर्व दशाको उसके बचनसे ही जाना जा सकता था । अन्य कुछ प्रमाण उसके पास नहीं था ।

---

१. बहुमूल्य । २. पूर्वपुरुषसंचितम् । ३. समूहं । ४. व्याघुटितस्य । ५. दैवालम्बनपरतया । ६. त्रुटित । भग्नप्रवहणकाष्ठ । ७. रात्रेः । ८. समुद्रतटप्राप्तिः । ९. वर्धित । १०. शून्यचित्तः । ११. किरण । १२. चिन्ता एव मणिः । १३. मण्डल । १४. स्त्री । १५. सूर्ये । १६. विकसत्कमल । १७. धनविनाशात् । १८. अतीवार्तमनस्तया—मु० । मानसदुःखेन । १९. कृश । २०. जीर्णवस्त्र । २१. अङ्गमेव शकटिः । २२. कटिमात्रवस्त्रः दरिद्रः । २३. परगृहसेवा । २४. वर्तनिः—आजीविका । २५. त्यक्तस्नेहम् ।

परप्रतारणाभ्यस्तश्रुति[1]गीतिः श्रीभूतिः

'सुप्रयुक्तेन दम्भेन स्वयंभूरपि वञ्च्यते ।
का नामालोचना[2]न्यत्र[3] संवृत्तिः परमा यदि ॥३७४॥'

इति परामृश्य [4]महाधङ्काघ्रातचेतास्तमायातं[5]शुचमेवमवोचत्—'अहो दुर्दुरूट[6] किराट, किमिह खलु त्वं केनचित्पिशाचेन छलितः, किमु मनोमहामोहावहानुरोधेन मोहनौषधेनातिलङ्घितः, किं वा कितवव्यवहारेषु हारितसमस्तचित्तवृत्तिः, उत अहो परचित्तवञ्चनपिशाचिकया कयाचिल्लञ्जिकया[7] जनितदुष्प्रवृत्तिः, आहोस्वित्फलवतः पादपस्येव श्रीमतः क्रियमाणोऽभियोगो न खलु किमपि फलमसंपाद्य विश्राम्यतीति चेतसा केनचिद्दुर्मेधसा विप्रलब्धबुद्धिर्येनैवमतिविरुद्धमभिधत्से[8] । काहम्, क भवान्, क मणयः, कश्चावयोः सम्बन्धः । तत्कूटकपटचेष्टिताकर पट्टनपाटच्चर[9], अर्णकपणिक[10], सकलमण्डलप्रतीतप्रत्ययि[11]कशीलमति-[12]वेलमेवं मामकाण्डे चण्डकमन्पर्यनुयुञ्जानः[13] कथं न लज्जसे' । पुनश्चैनमर्थप्रार्थनपथमनोरथविशालं शब्दालं[14] बलात्पा[15]लिन्दमन्दिरमनुचरैरानाय्यानायमतिः[16], 'देव, अयं वणिग्निष्कारणमस्माकं दुरपवादमृदङ्गवन्मुखरमुखः सुखेनानस्तितस्तानक[17] इवासितुं न ददाति' इत्यादिभि रुदितैरवाप्तप्रसरतयोत्तेजितराजहृदयस्तथैव पृथिवीनाथेनापि निराकारयत्[18] ।

अतः दूसरोंको ठगनेमें कुशल श्रीभूतिने सोचा--

'यदि अच्छी तरहसे छलका प्रयोग किया जाये तो ब्रह्माको भी ठगा जा सकता है । और यदि दूसरे मनुष्यमें बड़ा परिवर्तन हो गया हो तब तो आलोचनाकी बात ही दूर है' ॥३७४॥

ऐसा विचारकर वह महातृष्णालु उस शोकमग्न वणिक्पुत्रसे इस प्रकार बोला—'अरे दुराग्रही नीच वणिक् ! क्या तुझे किसी पिशाचने छला है ? या मनको मोहित करनेवाली किसी मोहन औषधने तुझे बदहोश कर दिया है ? या जुएमें अपनी चित्तवृत्तिको भी हार गया है ? या दूसरोंके मनको ठगनेवाली किसी दुराचारिणीने तेरी यह दुर्गति की है ? या 'फलवान वृक्षकी तरह किसी श्रीमान्के विरुद्ध लगाया गया अभियोग बिना फल दिये नहीं रहता' इस विचारसे किसी दुर्बुद्धिने तुझे ठगा है जिससे तू ऐसी बेसिर-पैरकी बात बोलता है ? कहाँ मैं, कहाँ तू, कहाँ रत्न ? हमारा तुम्हारा सम्बन्ध ही क्या ? छल-कपटमें चतुर, नगरचोर, निन्दनीय वणिक ! सर्वत्र देशोंमें मेरी विश्वसनीयताकी ख्याति है । इस तरह असमयमें मुझसे पूछते हुए तुझे लज्जा नहीं आती ?'

इसके पश्चात् उस पिशाच श्रीभूतिने अपने रत्न प्राप्त करनेके लिए चिल्लाते फिरते उस वणिक्पुत्रको जबरदस्ती नौकरोंके द्वारा राजमन्दिरमें बुलवाकर राजासे कहा—'महाराज ! यह वणिक् व्यर्थ ही सर्वत्र हमारा अपवाद करता फिरता है । बिना नाथके बैलकी तरह सुखसे बैठने भी नहीं देता।' इत्यादि बातोंके द्वारा उसने राजाका हृदय भी उसकी ओरसे उत्तेजित कर दिया । और राजाके द्वारा भी उसे महलसे निकलवा दिया ।

---

१. शास्त्रं वेदः स्मृतिश्च । २. विचारः । ३. परनरे । ४. तृष्णा । ५. प्राप्तशोकम् । ६. दुराग्रहिन् । ७. वेश्यया । ८. वदसि । ९. नगरचौर । १०. निन्द्यवणिक । ११. विश्वासस्वभावम् । १२. अतीव । १३. प्रच्छन् । १४. वाचालम् । १५. राजमन्दिरम् । १६. असंगतमतिः । —नार्यमतिः आ० । १७. नाथरहितवृषभवत् । १८. निर्घाटनं कारयामास ।

भद्रमित्रः 'चित्रमेतन्ननु यन्मामपि परविप्रलम्भाय[1] कुलक्रमायाताखिलकमलानिलयमनन्यसामान्यसाहसालयमेष मोष[2]धिषणानिधिरपर[3] इवापायजलनिधिर्नगरमध्येऽपि मोषितुमभिलषति' इति जातामर्षो[4]त्कर्षस्तं न्यासा[5]र्पणेऽतिचिक्कण[6]चित्तं निश्चित्य स्वाध्यायिपरिषदि[7] महापरिषदि च तदन्यायोपविन्यासेन साध्यसिद्धिमनवबुद्ध्या[8]नधीनधीः अशङ्कशंक[9]मतिर्महादेवीधामनेम[10] निवेशमल्लिकानोकहशिखादेशमारुह्यापद्गृह्यः[11] कुररीविरहावसरः कुरर इव तमस्विनी[12]प्रथमपश्चिमयामसमये[13] 'सुहृद्वराहुतिः श्रीभूतिरेवंविधकरण्डकविन्यस्तम्, इयत्संस्थानसम्, एतद्वर्णम्, अदः संख्याभ्यर्णं च मदीयं मणिगणमुपनिधिनिधेयं[14] न प्रतिददातीत्यत्र चास्यैव धर्मरमणी साक्षिणी। यदि च यद्वदतयैतदन्यथा[15] मनागपि भवति तदा मे चित्रवधो विधातव्यः' इति दीर्घघोषघूर्णितमूर्धमध्यमूर्ध्वबाहुः सर्वर्तुपरिवर्तार्धं[16] पूत्कुर्वन्नेकदा नगराङ्गनाजनस्य [17]चन्द्रामृतपात्रयन्त्रधारागृहावगाहगौरितजगत्त्रयं कौमुदीमहोत्सवसमयमालोकमानया तमङ्कोत्सङ्गसमासीनया[18] निपुणिकाभिधानोपसवित्री[19] समेतया अनाथलोकलोचनचकोरकौमुदीकल्पवृत्तया रामदत्तया करुणारसप्रचारपदव्या[20] महादेव्याकर्णितोऽनुक्रोशा[21]भिनिवेशान्निर्वर्णितश्च।

तदस्मन्मनःसंधात्रि धात्रि, न खल्वेष मनुष्यः पिशाचपरिप्लुतो नाप्युन्मत्ताचरितो

तब भद्रमित्र विचारने लगा—'मेरे घरमें वंशपरम्परासे लक्ष्मीका निवास चला आता है, तथा मैं असाधारण साहसी भी हूँ फिर भी आश्चर्य है कि यह पक्का ठग नगरके बीचमें ही मेरा माल हड़प लेना चाहता है।' यह सोचकर उसे बड़ा क्रोध हो आया। उसे निश्चय हो गया कि श्रीभूति मेरी धरोहरको कभी नहीं देगा तथा समझदारों और धर्माधिकारियोंके सामने उसके अन्यायको रखनेसे भी कुछ लाभ नहीं होगा। तब उस बुद्धिशालीने एक दूसरा उपाय किया।

राजाकी पटरानीके महलके समीप एक इमलीका वृक्ष था। रातके समय वह उसकी चोटीपर चढ़ जाता और जैसे सारसीके बिछोहमें सारस चिल्लाता है उस तरह रात्रिके प्रथम और अन्तिम पहरमें हाथ ऊपर उठाकर बड़े जोरसे चिल्लाता—"मेरा पूर्व मित्र किन्तु अब शत्रु श्रीभूति अमुक प्रकारकी पेटीमें रखे हुए, अमुक आकार और अमुक रंगके तथा अमुक संख्यावाले मेरे रत्नोंको नहीं देता। मैंने उसके पास धरोहरके रूपमें रखे थे। इसकी साक्षी उसीकी धर्मपत्नी है। यदि मेरा कथन रंच मात्र भी असत्य हो तो मुझे मरवा दिया जाये।"

ऐसा चिल्लाते-चिल्लाते उसे छह माह बीत गये। एकबार अनाथ लोगोंके लोचनरूपी चकोरके लिए चाँदनीके समान आचरणवाली दयावती राजमहिषी रामदत्ता कौमुदी महोत्सव देखती थी। उसके पासमें उसकी धाय निपुणिका बैठी थी। उस समय रामदत्ताने उस वणिक्की पुकार सुनी और दयापूर्ण भावसे अपनी धायसे बोली—

'धाय! न तो यह मनुष्य पिशाचसे ही ठगा गया है और न इसका आचरण पागलोंके

---

१. परवञ्चननिमित्ते मामपि मोषितुमभिलषति। २. चौर्य। ३. द्वितीयः। ४. क्रोध। ५. स्थापितधनदाने। ६. लोभिष्ठम्। ७. धर्माधिकार। ८. न परवशबुद्धिः। ९. असंकमुक—अ० ज० द०। स्थिरमतिः। १०. समीप। ११. पक्षिणो। १२. रात्रि। १३. पूर्वं सुहृदिदानीं शत्रुरिति। १४. स्थाप्यं धनम्। १५. असंबद्धप्रलापतया। १६. षण्मासान् यावत्। १७. चन्द्र एवाऽमृतपात्रं तदेव यन्त्रधारागृहम्। १८. उपरितनभूमिस्थितया रामदत्तया। १९. धात्री। २०. मार्गरूपया। २१. करुणाभिप्रायात्।

यतस्तं दिवसमादिं कृत्वा सकलमपि परिवत्सरदलमेकवाक्यव्याहाराकुण्ठपाठकठोर-कण्ठनालः। तद्विचारयेयं तावदचिरकालं शारविशारदहृदयाम्बुजस्य पतत्क्रीडाव्याजेन मन्त्रेरन्तःकरणम्। अम्बिके, त्वयापि द्यूतदेवनावसरे यद्यहमेनमनेककुचराचारनिचित-चित्तमतिबहुकुक्कुटिचेष्टितं बकोटवृत्तमुदन्तजातं पृच्छामि, यद्यदास्य कटकोर्मिकांशु-कादिकं जयामि, तत्तदेवाभिज्ञानीकृत्य मृगीमुखव्याघ्रीसमाचारकुट्टनी श्रीदत्ता भट्टिनी तिन्तिणीकातरुभाजोऽस्य वणिजो विषमरुचिमरीचिसंख्यासंपन्नानि रत्नानि याचयितव्या' इति निपुणिकायाः कृतसंगीतिः श्वस्तने ऽहनि 'सदैव मदीयहृदयानन्ददुन्दुभे दुन्दुभे, त्वयापि भगवत्या साधु विजृम्भितव्यम्, यद्यस्य चिञ्चापुरुषस्यास्ति सत्यता' इत्यध्येष्य तथैवाचरिताचरणा शतशस्तत्तदभिज्ञानज्ञापनानुबन्धतन्त्रात्तत्कलत्रान्मणीनुपप्रणीय राज्ञः समर्पयामास।

स राजाद्भुतांशौ स्वकीयरत्नराशौ तानि संकीर्य आकार्य चैनमासन्नलक्ष्मीकल्प-लताविलासैर्नन्दनं वैदेहकनन्दनम्, 'अहो वणिक्तनय, यान्यत्र रत्ननिचये तव रत्नानि सन्ति तानि त्वं विचिन्त्य गृहाण' इत्यभाणीत्। भद्रमित्रः 'चिरत्राय ननु दिष्ट्या वर्धेऽहम्' इति मनस्यभिनिविश्य 'यथादिशति विशांपतिः' इत्युपादिश्य विमृश्य च तस्यां माणिक्यपुञ्जौ निजान्येव मनाग्विलम्बितपरिचयचिरत्नानि रत्नानि समग्रहीत्।

ततः स नरवरः सपरिवारः प्रकामं विस्मितमतिः 'वणिक्पते, त्वमेवात्रान्वर्थतः

जैसा ही है। क्योंकि उस दिनसे लेकर पूरे छह माह तक यह एक ही बात चिल्लाता है। अतः द्यूतक्रीडाके शौकीन श्रीभूतिके साथ द्यूतक्रीडाके बहानेसे उसके मनकी बात शीघ्र जाननी चाहिए। जुआ खेलते समय मैं उस अनाचारी बगुला भगतसे जो-जो बात पूछूँ तथा जो उसके कंकण, अँगूठी, वस्त्र वगैरह जीतूँ उन सबको प्रमाणरूपसे उपस्थित करके तुम्हें उस मृगीके समान मुख किन्तु सिंहनीके समान आचरणवाली कुटनी श्रीदत्तासे इमलीके वृक्षपर चढ़े हुए इस वणिक्के सात रत्न माँग लाने चाहिए।'

इस प्रकार निपुणिकाको समझाकर दूसरे दिन रानीने—हे मेरे हृदयको आनन्द देनेवाले पाशदेवता! यदि इस इमलीके वृक्षवाला मनुष्य सच्चा है तो तुम्हें भी उसमें सहायता करनी चाहिए ऐसी प्रार्थना करके वैसा ही किया और बार-बार जुएमें जीते हुए पदार्थोंको प्रमाण रूपसे उपस्थित करके श्रीभूतिकी पत्नीसे रत्न माँग लिये तथा उन्हें राजाको दे दिया। राजाने उन रत्नोंको अपने अद्भुत रत्नोंमें मिलाकर उस वणिक्-पुत्रको बुलाया और कहा—'वणिक्-पुत्र! इन रत्नोंमें-से जो रत्न तुम्हारे हों उन्हें चुनकर ले लो।' 'चिरकालके बाद मेरा भाग्योदय हुआ है' ऐसा मनमें सोचकर भद्रमित्र बोला—'जो आज्ञा महाराज।' चूँकि रत्नोंको देखे हुए बहुत दिन हो गये थे इसलिए उन्हें चुननेमें थोड़ा समय लगा। किन्तु उसने विचारकर उन रत्नोंमें-से अपने रत्नोंको खोज लिया।

यह देखकर सपरिवार राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ। वह बोला—'वणिक्पति! तुम ही

---

१. वर्षार्द्धं। २. आलाप। ३. अमन्द। ४. द्यूतक्रीडा। ५. सचिवस्य। ६. द्यूतक्रीडन। ७. कुत्सित। ८. माया। कुक्कुटि—आ०। ९. कंकण-मुद्रिका-वस्त्रादिकं। १० कुटनीति भाषायाम्। ११. सप्तार्चिः संख्यानि। १२. संकेतः। १३. आगामिनि दिने। १४. प्रार्थ्य। १५. आनीय। १६. किरणे। १७. मिश्रीकृत्य। १८. देवोद्यानम्। १९. चिराय। २०. पुण्येन। २१. अभिप्रायं कृत्वा। २२. समूहे। २३. मनाग् विलम्बितपरिचयेन चिरत्नः कालक्षेपो येषु रत्नेषु तानि चिरत्नानि।

सत्यघोषः, त्वमेव च परमनिस्पृहमनीषः, यत्तव चेतसि वचसि च न मनागप्यन्यथाभावः समस्ति' इति प्रतीतिभिः पारितोषिकप्रदानपुरःसरप्रकृतिभिस्तत्तदौपयिकोपचितिवसतिभिश्च भणितिभिस्तमखिलब्रह्म[1]स्तम्बस्तिभीविजृम्भमाणगुणस्तोमं भद्रमित्रं कथंकारं न श्लाघयामास।

पुनरदूरा[2]शिवतातिं श्रीभूतिं निखिललोकलपना[3]लवालमूलकौलीनै[4]तालताश्रयशाखिनं न्युब्जाननं[5] निसर्गेण हरिणी[6]समच्छायमपि महासाहसानुष्ठानात्सूर्मी[7]समानकायमनल्पवैलक्ष्यस्फुटदास्यनितमतीवभयाविर्भूतोत्पथ[8]वेपथु[9]स्तिमितमवेक्ष्य बह्वाक्षेपम्, 'आः[10] सोमपायिनामपांक्तेय[11] वैधेय[12], विश्वासघातपातकप्रसव श्रोत्रियकितव दुराचार प्रवर्तितनूलरत्नापहार, कुसिककुलपांसन[13], बकानुष्ठानसद्म, साधुजनमनःशकुनि[14]निबन्धनायातनुतन्त्रीजालमिव खलु तवेदं यज्ञोपवीतम्। असदाचारावधिक[15] वेदवैवधिक[16], सद्धर्मधामध्यामलताविधानाय विश्वभोजः[17] समेधन[18], अकृत्यचैत्य[19] वात्यामात्य[20] जरायमदूति[21]कोपपतिक[22] दुर्गतिक, किमात्मनो न पश्यसि [23]चर्मितरुत्वचमिवातिप्रवृद्धविश्रो[24]वात्योन्माथशिथिलितां, प्रभातप्रदीपिकामिवास्तासन्नजीवितरविमङ्कच्छविं येनाद्यापि वयोधसि[25] वयसि वर्तमान इव चेष्टसे। तदिदानीं यदि घनाभि घार[26]घोरतेजसि विश्ववेदसि[27] निक्षिप्यसे, तदा चिरोपचितदुराचारग्रहस्य स तवाचिरदुःखदायिपरिग्रहोऽनुग्रहो इव। ततो द्विजापसद, कदाचि[28]त्त्वयेदमति-

---

वास्तवमें सत्यघोष हो, तुम ही अत्यन्त निस्पृही हो; क्योंकि तुम्हारे मन और वचनमें जरा भी छलछिद्र नहीं है।' इस प्रकारके वचनोंके द्वारा, पारितोषिक वगैरहके द्वारा तथा उस समयके योग्य अन्य उपायोंके द्वारा राजाने सबके द्वारा प्रशंसित भद्रमित्रकी बहुत-बहुत सराहना की।

बेचारा अभागा श्रीभूति नीचा मुख किये हुए खड़ा था। यद्यपि वह स्वभावसे ही देखनेमें हरिणीके समान दीन था तथापि उसने बड़ा साहस किया था और उसके कारण वह ऐसा प्रतीत होता था मानो लोहेकी कोई मूर्ति है। उसके मुखपर असीम लज्जा बोलती थी। भयके कारण वह थर-थर काँप रहा था। उसे देखकर राजा बड़े तिरस्कारके साथ बोला—'ब्राह्मण कुल कलंक, मूर्ख, विश्वासघाती, जुएके द्वारा नये-नये रत्नोंको अपहरण करनेवाले, बगुला भगत! तुम्हारा यह यज्ञोपवीत साधु पुरुषोंके मनरूपी पक्षियोंको फँसानेके लिए बड़ा भारी ताँतका जाल है। अरे दुराचारी, वेदोंके भारवाही! समीचीन धर्मरूपी मन्दिरको मलिन करनेवाले, कुकर्मके घर, दुष्ट मन्त्री! क्या तुम वृद्धताके कारण भोजवृक्षकी छालकी तरह शिथिल हुए और तेज हवाके झोंकेसे बुझनेके उन्मुख हुए प्रभातकालीन दीपककी तरह अथवा अस्त होनेके उन्मुख हुए सूर्यकी तरह अपने शरीरकी दशाको नहीं देखते हो, जिससे अब भी ऐसी चेष्टाएँ करते हो मानो तुम युवा हो। अतः अब यदि तुम्हें खूब जलती हुई अग्निमें डाल दिया जाये तो यह तुम्हारे जैसे पुराने पापीपर अनुग्रह ही होगा; क्योंकि इससे तुम थोड़ी ही देर तक दुःख उठा सकोगे। इसलिए नीच ब्राह्मण! या तो तुम्हें अत्यन्त दुर्गन्धित गोबरसे भरे हुए तीन प्याले खाने चाहिये, या

---

१. ब्रह्माण्ड। २. समीपाऽमंगलम्। ३. मुख। ४. जनापवाद। ५. अधोमुखम्। ६. स्वर्णप्रतिमा। ७. लोहप्रतिमा। ८. उन्मार्ग। ९. कम्पेनार्द्र—प्रस्वेदितम्। १०. खेदे। ११. पंक्तिरहित। १२. निर्भाग्य। १३. ब्राह्मणकुलदूषण। १४. पक्षिबन्धनार्थम्। १५. मर्यादक। १६. भारवाहक। १७. अग्नेः। १८. इन्धन। १९. गृह। २०. निकृष्टमंत्रिन्। २१. जरा एव यमदूती। २२. जार। २३. भूर्जपत्रवत् शिथिलशरीरचर्म। २४. जरा एव वात्या। २५. यौवने। २६. घृत। २७. अग्नौ। २८. अथवा।

दुर्गन्धगोर्वरोदूर्[1]गर्वितमभ्याशयं शालाजिर[2]त्रयमशितव्यम्, नो चेद्शरालबलो[3]त्फुल्लगल्लानां मल्लानां त्रयस्त्रिंशदपहस्[4]तप्रहतानि सहितव्यानि । ध्रुवमन्यथा तव सर्वस्[5]वापहारः ।'

प्रणाशावकाशविभूतिः श्रीभूतिराद्यनयं दण्डद्वयं क्रमेणातितिक्ष[5]माणः [6]पर्यात्तसमस्तद्रविणः क्रिमिकिर्मीरपरिषत्परिकल्पित[7]मार्ष्टिः[8], कृतकलशकपालमालार्वासिकच्छुष्टि[9]रुत्सृष्टसरावलकपरिष्कृतः[10] पुरा[11]दवालंबालेय[12]कमारोह्य सनिकारं निष्कासितः पापविपाकोपपन्नाप्रतिष्ठ[13]कुष्ठो दुष्परिणामकनिष्ठः[14] शुभाशयारण्यविनाशमहसि [15]हिरण्यरेतसि तनुविसर्गादतिरौद्रसर्गाद्[16]दाहेयेऽन्ववाये[17] प्रादुर्भूय चिरायापराध्य[18] च प्राणिषु जातजीवितावधिरधःप्रधाननिधिर्बभूव ।

भवति चात्र श्लोकः—

श्रीभूतिः स्तेयदोषेण पत्युः प्राप्य पराभवम् ।
रोहिद्भ्व[19] प्रवेशेन दंशेरः[20] सन्नधोगतः ॥३७५॥

इत्युपासकाध्ययने स्तेयफलप्रलपनो नाम सप्तविंशतितमः कल्पः ।

अत्युक्तिमन्यदोषोक्तिमसभ्योक्तिं च वर्जयेत् ।
भाषेत वचनं नित्यमभिजातं[21] हितं मितम् ॥३७६॥
तत्सत्य[22]मपि नो वाच्यं यत्स्यात्परविपत्तये ।

खूब मोटे ताजे बलशाली पहलवानोंके हाथके तेतीस प्रहार सहने चाहिएँ । नहीं तो अवश्य ही तुम्हारा सर्वस्व हर लिया जायेगा ।'

विनाशसे बचावको विभूति माननेवाला श्रीभूति पहलेके दो दण्ड तो क्रमसे नहीं सह सका । अतः उसका सब धन हर लिया गया और समस्त बदनपर चितकबरे रंगसे चित्रकारी करके तथा घड़ेके खप्परोंकी और फूटे हुए शकोरोंकी माला पहना कर गधेपर बैठाकर उसे तिरस्कारपूर्वक नगरसे निकाल दिया । पापकर्मका उदय आनेसे उसे कोढ़ हो गया और वह अत्यन्त नीच परिणामोंसे आगमें जलकर मर गया । तथा साँपोंके वंशमें उत्पन्न हुआ । वहाँ उसने अनेक प्राणियोंको डँसा और आयु पूरी करके नरकमें गया ।

इसके सम्बन्धमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

'चोरीके दोषके कारण श्रीभूति राजाके द्वारा तिरस्कृत हुआ । और आगमें जलकर मर गया । फिर सर्पयोनिमें जन्म लेकर नरकगामी हुआ' ॥३७५॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें चोरीका फल बतलानेवाला सत्ताईसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

[अब सत्य व्रतका वर्णन करते हैं—]

सत्याणुव्रत

किसी बातको बढ़ाकर नहीं कहना चाहिए, न दूसरेके दोषोंको ही कहना चाहिए और न असभ्य वचन ही बोलना चाहिए । किन्तु सदा हित-मित और सभ्य वचन ही बोलना चाहिए ॥ ३७६ ॥ किन्तु ऐसा सत्य भी नहीं बोलना चाहिए, जिससे दूसरोंपर विपत्ति आती हो

१. भूतमध्यदेशम् । २. सरावं भाजनं । ३. बहुबल । ४. कोहणी । ५. असहमान । ६. गृहीत । ७. क्रमिभिर्विचित्रः । ८. विलेपन । ९. उच्छिष्ट । १०. सरावमालालंकृतः । ११. नगरात् । १२. बृहत् रासभम् । १३. अशोभमान । १४. जघन्यः । १५. अग्नौ । १६. सर्पवंशे । १७. उत्पद्य । १८. प्राणिषु अपराधं कृत्वा । १९. अग्नि । २०. सर्पः । २१. अभिजातस्तु कुलजे बुधे सुकुमारे न्याय्ये चोपचारात् । २२. 'स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे । यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावादवैरमणम् ॥ ५५ ॥' —रत्न० श्रा० । पुरुषार्थसि० श्लो० ९१–९८ । अमित० श्राव० अ० ६ श्लो० ४५–५८ । 'तत्सत्यमपि नो भाष्यं यत्स्यात्स्वपरविपत्तये । वर्तन्ते येन वा स्वस्य व्यापदस्तु दुरुत्तराः ॥७५॥' —प्रबोधसार ।

जायन्ते येन वा स्वस्य व्यापदश्च दुरास्पदाः ॥३७७॥
प्रियशीलः प्रियाचारः प्रियकारी प्रियंवदः ।
स्यादानृशंसधीर्नित्यं नित्यं परहिते रतः ॥३७८॥
केवलिश्रुतसङ्घेषु देवधर्मतपःसु च ।
अवर्णयादवाञ्जन्तुर्भवेद्दर्शनमोहवान् ॥३७९॥
मोक्षमार्गं स्वयं जानन्नर्थिने यो न भाषते ।
मदापह्नवमात्सर्यैः स स्यादावरणद्वयी ॥३८०॥
मन्त्रभेदः परीवादः पैशून्यं कूटलेखनम् ।
मुधासाक्षिपदोक्तिश्च सत्यस्यैते विघातकाः ॥३८१॥
परस्त्रीराजविद्विष्टलोकविद्विष्टसंश्रयाम् ।
अनायकसमारम्भां न कथां कथयेद्बुधः ॥३८२॥
असत्यं सत्यगं किंचित्किंचित्सत्यमसत्यगम् ।
सत्यसत्यं पुनः किंचिदसत्यासत्यमेव च ॥३८३॥

अस्येदमैदंपर्यम्—असत्यमपि किंचित्सत्यमेव, यथान्धांसि रन्धयति वयति वासांसी-

या अपने ऊपर दुर्निवार संकट आता हो ॥ ३७७ ॥

मनुष्यको सदा प्रिय स्वभाववाला, प्रिय आचरणवाला, प्रिय करनेवाला, प्रिय बोलनेवाला, सदा दयालु और सदा दूसरोंके हितमें तत्पर होना चाहिए ॥ ३७८ ॥

जो जीव केवली, शास्त्र, संघ, देव, धर्म और तपमें मिथ्या दोष लगाता है, वह दर्शन मोहनीय कर्मका बन्ध करता है ॥ ३७९ ॥ जो मोक्षके मार्गको जानता हुआ भी, जो उसे जानने को इच्छुक है उसे भी नहीं बतलाता, वह अपने ज्ञानका घमण्ड करनेसे, ज्ञानको छिपानेसे तथा उसके सिवा दूसरा कोई न जानने पावे इस ईर्ष्या भावसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका बन्ध करता है ॥ ३८० ॥

संकेत वगैरहसे दूसरेके मनकी बातको जानकर उसे दूसरोंपर प्रकट कर देना, दूसरेकी बदनामी फैलाना, चुगली खाना, जो बात दूसरेने नहीं कही या नहीं की, दूसरोंका दबाव पड़नेसे ऐसा उसने कहा या किया है इस प्रकारका झूठा लेख लिखना, और झूठी गवाही देना, ये सब काम सत्यव्रतके घातक हैं ॥३८१॥ समझदार मनुष्यको परायी स्त्रियोंकी कथा, राजविरुद्ध कथा, लोकविरुद्ध कथा और कपोलकल्पित व्यर्थ कथा नहीं कहनी चाहिएँ ॥ ३८२ ॥

वचन चार प्रकारका होता है। कोई वचन असत्य-सत्य होता है, कोई वचन सत्य-असत्य होता है। कोई वचन सत्य-सत्य होता है और कोई वचन असत्य-असत्य होता है ॥ ३८३ ॥

इसका यह अभिप्राय है कि कोई वचन असत्य होते हुए भी सत्य होता है, जैसे—'भात पकाता है, या कपड़ा बुनता है'। ये वचन यद्यपि असत्य हैं क्योंकि न भात पकाया जाता है

१. दयासहितबुद्धिः । २. निन्दापरः । 'केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥' तत्त्वा० सू० ६, १३ सू० । ३. 'तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥' ६ तत्त्वा० सू० ६, १० । ४. 'मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ।' —त० सू० ७-२६ । 'परिवादरहोभ्याख्या पैशून्यं कूटलेखकरणं च । न्यासापहारितापि च व्यतिक्रमाः पञ्च सत्यस्य ॥५६॥' —रत्न० श्रा० । पुरुषार्थसि० श्लो० १८४ । अमित० श्राव०, अ० ७, श्लो० ४ । ५. एतत् सर्वं गद्यभागसहितं धर्मरत्नाकरे समुपलभ्यते ।

ति। सत्यमप्यसत्यं किंचिद्यथार्धमासतमे दिवसे तवेदं देयमित्यास्थाय मासतमे संवत्सरतमे वा दिवसे ददातीति। सत्यंसत्यं[1] किंचिद्यद्वस्तु यद्देशकालाकारप्रमाणं प्रतिपन्नं तत्र तथैवाविसंवादः। असत्यासत्यं किंचित्स्वस्यासत्संगिरते कल्ये दास्यामीति।

तुरीयं वर्जयेन्नित्यं लोकयात्रा[2] त्रये स्थिता।
सा मिथ्यापि न गीर्मिथ्या या गुर्वादिप्रसादिनी ॥३८४॥
न स्तूयादात्मनात्मानं[3] न परं परिवादयेत्।
न सतोऽन्यगुणान् हिंस्यान्नासतः स्वस्य वर्णयेत् ॥३८५॥
तथा कुर्वन्प्रजायेत नीचैर्गोत्रोचितः पुमान्।
उच्चैर्गोत्रमवाप्नोति विपरीतकृतेः कृती ॥३८६॥
यत्परस्य प्रियं कुर्यादात्मनस्तत्प्रियं हि तत्।
अतः किमिति लोकोऽयं पराप्रियपरायणः ॥३८७॥
यथा यथा परेष्वेतच्चेतो वितनुते तमः।

और न कपड़ा बुना जाता है किन्तु पके हुए को भात कहते हैं, और बुन जानेपर कपड़ा कहलाता है, फिर भी लोकव्यवहारमें ऐसा ही कहा जाता है इसलिए इस तरहके वचनोंको सत्य मानते हैं। इसी तरह कोई वचन सत्य होते हुए भी असत्य होता है। जैसे-किसीने वादा किया कि पन्द्रह दिनमें मैं तुम्हें अमुक वस्तु दे दूँगा। किन्तु पन्द्रहवें दिन न देकर वह एक मासमें या एक वर्षमें देता है। यहाँ चूँकि उसने वस्तु दे दी इस लिए उसका कहना सत्य है किन्तु समयपर नहीं दी इस लिए सत्य होते हुए भी असत्य है। जो वस्तु जिस देशमें, जिस कालमें, जिस आकारमें और जिस प्रमाणमें जानी है उसको उसी रूपमें कहना सत्य-सत्य है। जो वस्तु अपने पास नहीं है उसके लिए ऐसा वचन देना कि मैं तुम्हें कल दूँगा असत्य-असत्य वचन है।

इनमेंसे चौथे असत्य असत्य वचनको कभी नहीं बोलना चाहिए। क्योंकि लोकव्यवहार शेष तीन प्रकारके वचनोंपर ही स्थित है। जो वचन गुरुजनोंको प्रसन्न करनेवाला है, वह मिथ्या होते हुए भी मिथ्या नहीं है ॥ ३८४ ॥

न स्वयं अपनी प्रशंसा करनी चाहिए और न दूसरोंकी निन्दा करनी चाहिए। दूसरोंमें यदि गुण हैं तो उनका लोप नहीं करना चाहिए और अपनेमें यदि गुण नहीं हैं तो उनका वर्णन नहीं करना चाहिए कि मेरेमें ये गुण हैं ॥ ३८५ ॥ ऐसा करनेसे मनुष्य नीच गोत्रका बन्ध करता है, और उससे विपरीत करनेसे अर्थात् अपनी निन्दा और दूसरोंकी प्रशंसा करनेसे तथा दूसरोंमें गुण न होनेपर भी उनका वर्णन करनेसे और अपनेमें गुण होते हुए भी उनका कथन न करनेसे उच्चगोत्रका बन्ध करता है ॥ ३८६ ॥

जो दूसरोंका हित करता है वह अपना ही हित करता है फिर भी न जाने क्यों यह संसार दूसरोंका अहित करनेमें ही तत्पर रहता है ॥ ३८७ ॥ जैसे-जैसे यह चित्त दूसरोंके विषयमें

---

१. 'यद्वस्तु यद्देशकालप्रमाकारं प्रतिश्रुतम्। तस्मिंस्तथैव संवादि सत्यसत्यं वचो वदेत् ॥४१॥' —सागारधर्मामृत, अ० ४। २. 'लोकयात्रानुरोधित्वात्सत्यसत्यादिवाक्त्रयम्। ब्रूयादसत्यासत्यं तु तद्विरोधान्न जातुचित् ॥४०॥' —सागारधर्मा०, अ० ४। ३. 'परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥२५॥ तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥२६॥' —तत्त्वा० सू० ६ अ०। 'सा मिथ्या न भवेन्मिथ्या या पत्यादिप्रसादिनी। न स्तुयादात्मनात्मानं न परं परिवादयेत् ॥८६॥ —प्रबोधसार।

तथा तथात्मनाडीषु तमोधारा निषिञ्चति ॥३८८॥
दोषतोयैर्गुणग्रीष्मैः संगन्तॄणि शरीरिणाम् ।
भवन्ति चित्तवासांसि गुरूणि च लघूनि च ॥३८९॥
सत्यवाक्सत्यसामर्थ्याद्वचःसिद्धिं समश्नुते ।
वाणी चास्य भवेन्मान्या यत्र यत्रोपजायते ॥३९०॥
तर्षेर्ष्यामर्षहर्षाद्यैर्मृषाभाषामनीषितः ।
[1]जिह्वाच्छेदमवाप्नोति परत्र च गतिक्षतिम् ॥३९१॥

श्रूयतामत्रासत्यफलस्योपाख्यानम्—आङ्गलदेशेषु ह्स्तिनागनामावनीश्वरकुञ्जरजनितावतारे[2] हस्तिनागपुरे प्रचण्डदोर्दण्डमण्डलीमण्डनमण्डलाग्रखण्डितभण्डनकण्डूलारातिकीर्तिलतानिबन्धनोऽभूदयोधनो नाम नृपतिः । अनवरतवसुविश्राणनप्रीणितातिथिरतिथिर्नामास्य[3] महादेवी । सुता चानयोः सकलकलावलोकानलसा सुलसा नाम । सा किल तया महादेव्या गर्भगतापि [4]ज्ञातेयेनैकोदरशालिनो रम्यकदेशनिवेशोपेतपौदनपुरनिवेशिनो निर्विपक्ष[5]लक्ष्मीललितापूर्ण[7]मङ्गलस्य पिङ्गलस्य [8]गुणगीर्वाणाचलरत्नसानवे सूनवे दुर्वारवैरिवक्षःस्थलोद्दलनावदानोद्योगलाङ्गलाय[9] मधुपिङ्गलाय परिपणिता[10] बभूव ।

भूभुजा च महोदयेन तेन विदितमहादेवीहृदयेनापि 'यस्य कस्यचिन्महाभागस्य भाग्यैर्भोग्यतया योग्यमिदं स्त्रैणं द्रविणं तस्यैतद्भूयात् । अत्र सर्वेषामपि वपुष्मतामचिन्तितसुख-

अन्धकार फैलाता है वैसे-वैसे अपनी नाड़ियोंमें अन्धकारकी धाराको प्रवाहित करता है । अर्थात् दूसरोंका बुरा सोचनेसे अपना ही बुरा होता है ॥ ३८८ ॥

प्राणियोंके चित्तरूपी वस्त्र यदि दोषरूपी जलमें डाले जाते हैं तो भारी हो जाते हैं और यदि गुणरूपी ग्रीष्म ऋतुमें फैलाये जाते हैं तो हल्के हो जाते हैं ॥ ३८९ ॥ सत्यवादीको सदा सच बोलनेके कारण वचनकी सिद्धि प्राप्त होती है । जहाँ-जहाँ वह जो कुछ कहता है उसकी वाणीका आदर होता है ॥ ३९० ॥ इसके विपरीत जो तृष्णा, ईर्षा, क्रोध या हर्ष वगैरह के वशीभूत होकर झूठ बोलता है उसकी जिह्वा कटवा दी जाती है और परलोकमें भी उसकी दुर्गति होती है ॥ ३९१ ॥

१५ असत्यभाषी वसु और पर्वत-नारदकी कथा ।

अब झूठ बोलनेका क्या फल होता है इसके विषयमें एक कथा सुनें—जांगल देशमें हस्तिनागपुर नामका नगर है, वहाँ अयोधन नामका राजा था । उसके अतिथि नामकी राजमहिषी थी । उनके समस्त कलाओंमें निपुण सुलसा नामकी पुत्री थी । जब वह गर्भमें थी तभी रानीने अपने सहोदर भाई पोदनपुरनरेश पिंगलके गुणी पुत्र मधुपिंगलके साथ उसका वाग्दान करनेका संकल्प कर लिया था ।

राजाको यद्यपि रानीके हृदयकी बात ज्ञात थी फिर भी उसने सोचा कि 'यह स्त्रीधन

१. 'तथा अनृतवादी अश्रद्धेयो भवति इहैव च जिह्वाच्छेदादीन् प्रतिलभते।''''प्रेत्य च अशुभां गतिम् ॥' —सर्वार्थसिद्धि ७, ९ । २. हस्तिनागनामा कश्चिद् राजा तत्र पूर्वमभूत् तेन तन्नगरं हस्तिनागपुरमित्यभवत् । ३. नामा चास्य—मु० । ४. ज्ञातेर्भावः ज्ञातेयं तेन बन्धुत्वेन इत्यर्थः । ५. अतिथिपिंगलावेकोदरोत्पन्नौ । ६. शत्रुरहित । ७. परिपूर्ण । ८. गुणा एव गीर्वाणाचलः मेरुस्तत्र रत्नशिखराय । ९. उद्दलनाय अवदानं अद्भुतकर्म तत्र उद्योग एव लाङ्गलं यस्य तस्मै । १०. संकल्पिता ।

दुःखागमानुमेयप्रभावं दैवमेव शरणम्' इति विगणय्य[1] स्वयंवरार्थं भीम-भीष्म-भरत-भाग-सङ्ग-सगर-सुबन्धु-मधुपिङ्गलादीनामवनिपतीनामुपदे[2]नुकूलं मूलं[3] प्रस्थापयां[4]बभूवे।

अत्रान्तरे मगधमध्यप्रसिद्धधाराध्यायामयोध्यायां नरवरः सगरो नाम। स किल लास्यादिविलासकौशलसरसायाः सुलसायाः कर्णपरम्परया श्रुतसौरूप्यातिशयो मनागुपरमत्तारुण्यलावण्योदयः प्रयोगेण[5] तामात्मसाच्चिकीर्षुस्तौर्यत्रिकसूत्रे प्रतिकर्मविकल्पेषु[6] संभोगसिद्धान्ते विप्रश्नविद्यायां[7] स्त्रीपुरुषलक्षणेषु [8]कथाख्यायिकाख्यानप्रवाह्लीकास्वपरासु च तासु तासु कलासु परमसंवीणतालताधरित्रीं मन्दोदरीं नाम धात्रीं ज्योतिषादिशास्त्रनिशितं[9]मतिप्रसूतिं विश्वभूतिं च बहुमानसंभावितमनसं पुरोधसं तत्र पुरि प्राहिणोत्।

[10]विशिकाशयशार्दूलदरी[11] मन्दोदरी तां पुरमुपगम्य परप्रतारणप्रगल्भमनीषा कृत[12]कात्यायिनीवेषा तत्तत्कलावलोकनकुतूहलमयोधनधरापालं [13]निजनाथार्थसिद्धिपरवती[14] रञ्जितवती सती [15]शुद्धान्तोपाध्यायी भूत्वा सुलसां सगरे[16] संगरं ग्राहयामास। तथा बकोटवृत्तिवेधाः स पुरोधाश्च तैस्तैरादेशैस्तस्य नृपस्य महादेव्याश्च वशीकृतचित्तवृत्तिः

कुण्टे षष्टिरशीतिः स्यादेकाक्षे बधिरे शतम्।
वामने च शतं विंशं दोषाः पिङ्गे त्वसंख्यया ॥३१२॥

जिस किसी महाभागके भाग्यमें भोगनेके योग्य है उसीका यह होना चाहिए। इस विषयमें सब शरीरधारियोंका दैव ही शरण है और दैवका प्रभाव अचानक सुख-दुःखके आगमनसे अनुमेय है।' ऐसा जानकर उसने स्वयंवरके लिए भीम, भीष्म, भरत, भाग, संग, सगर, सुबन्धु और मधुपिंगल वगैरह राजाओंके पास भेंट पूर्वक पत्र भिजवा दिये।

इसी बीचमें एक दूसरी घटना घटी। अयोध्याके राजा सगरने कानों-कानों नृत्य आदि कलामें कुशल सुलसाके सौन्दर्यकी चर्चा सुनी। इस राजाका तारुण्य अपने लावण्यके साथ थोड़ा ढल चला था। अतः उसने उसे उपायसे अपनानेके लिए ज्योतिष आदि शास्त्रोंमें प्रवीण विश्वभूति नामक पुरोहितके साथ मन्दोदरी नामकी धायको सुलसाकी नगरीमें भेजा। वह धाय सब कलाओंमें प्रवीण थी, गाना-बजाना और नाचना जानती थी। साज-शृङ्गार करनेमें चतुर थी। सम्भोगके सिद्धान्त, सामुद्रिक विद्या, स्त्री पुरुषके लक्षण, कथा-कहानी और पहेलीमें पूरी पण्डिता थी।

उस नगरमें पहुँचकर दूसरोंको ठगनेमें पटु उस धायने प्रौढ़ा स्त्रीका वेष बनाया और अपने स्वामीका प्रयोजन सिद्ध करनेके लिए तरह-तरहकी कलाएँ दिखाकर राजा अयोधनको प्रसन्न कर लिया तथा उसके अन्तःपुरमें अध्यापिका बनकर सुलसासे यह प्रतिज्ञा करा ली कि वह सगरको ही वरण करेगी। बगुला भगत पुरोहितने भी तरह-तरहके आदेशोंसे राजा और रानीका मन अपने वशमें कर लिया। उसने स्वयं श्लोक रच-रचकर राजा-रानीको सुनाये जिनका भाव इस प्रकार था—

टुण्टेमें ६० दोष होते हैं, कानेमें अस्सी और बहरेमें सौ दोष होते हैं। बौनेमें एक सौ बीस दोष होते हैं। किन्तु जिसकी आँखें पीतवर्णकी होती हैं, उसमें तो अगणित दोष होते

---

१. ज्ञात्वा। २. भेंटपूर्वकं। ३. लेखम्। ४. तेन भूभुजा। ५. केनाऽप्युपायेनेत्यर्थः। ६. मण्डनाभरणादिषु। ७. होराक्षरादिभिः परचित्तज्ञानम्। ८. 'कथा चित्रार्थगा ज्ञेया, ख्यातार्था ख्यायिका मता। दृष्टान्तस्योक्तिराख्यानं प्रवाह्लीका प्रहेलिका।' ९. तीक्ष्ण। १०. परवञ्चनोपाय। ११. व्याघ्रगुहा। १२. अर्द्धवृद्धा। १३. सगरनृप। १४. तत्पराम्। १५. अन्तःपुर। १६. प्रतिज्ञां।

मुखस्यार्धं शरीरं स्यान्नासार्धं मुखमुच्यते।
नेत्रार्धं घ्राणमित्याहुस्तत्तेषु[1] नयने परे ॥३९३॥

इत्यादिभिः स्वयं विहितविरचनैर्मधुपिङ्गले विप्रीतिं कारयामास।

[2]ततश्चाम्पेयमञ्जरीसौरभपयःपानलुब्धबोधस्तनन्धयेषु पुष्पन्धयेष्विव मिलितेषु तेषु स्वयंवराह्वानमदकारिताहङ्कारेषु महीश्वरेषु सा मन्दोदरीवशमानसा सुलसा श्रुतिमनोहरं सगरमवृणीत्तन्निम्न[3]गेवरोपगार्पणेव सागरम्।

भवति चात्र श्लोकः—

अल्पैरपि समर्थैः स्यात्सहायैर्विजयी नृपः।
कार्यायान्तो[4] हि कुन्तस्य दण्डस्त्वस्य[5] परिच्छदः ॥३९४॥

इत्युपासकाध्ययने सुलसायाः सगरसंगमो नामाष्टाविंशः कल्पः।

प्ररूढनिर्वेदकन्दलो मधुपिङ्गलः 'धिगिदमभोगायतनं[7] भोगार्यतनं[8] यदेकदेशदोषादिमामुचितसमागमामपि मामतनूद्भवामहं[9] नालं[10]प्सि' इति मत्वा[11] विमुक्तसंसारपक्षः परिगृहीतदीक्षः क्रमेण तांस्तान्ग्रामारामनिवेशान्निरनुको[12] जङ्घाकरिक इव लोचनोत्सवतां नयन्नशनाया[13]बुद्धयायोध्यामागत्यानेकोपवासपरवशहृदयोत्साहस्तीव्रातपातिश्रान्तदेहो [14]वाप्पीह इव

हैं ॥३९२॥ तथा, शरीरमें मुखके आधे भागका जो मूल्य है वह पूरे शरीरके बराबर है। नाकके आधे भागका मूल्य पूरे मुखके बराबर है। और आधे नेत्रका मूल्य पूरी नाकके बराबर है। इसलिए उन सबमें नेत्र ही बेशकीमत होते हैं ॥३९३॥

इस प्रकारके वचनोंसे उसने उन्हें मधुपिंगलके प्रति विरक्त बना दिया।

इसके बाद स्वयंवर हुआ। जैसे चम्पेकी कलीकी सुगन्धि रूपी दुग्धका पान करनेके लिए भौंरे एकत्र हो जाते हैं उसी तरह स्वयंवरके नियंत्रणको पाकर मदमत्त हुए सब राजा उसमें सम्मिलित हुए। सुलसाका मन तो मन्दोदरीके वशमें था। अतः जैसे नीची भूमिकी ओर बहनेवाली नदी सागरमें जाकर मिल जाती है वैसे ही उसने उन राजाओंमें-से सगर राजाको वरण कर लिया।

इस विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

शक्तिशाली थोड़ेसे भी सहायकोंके द्वारा राजा विजयी होता है। जैसे भालेकी नोक ही अपना काम करती है, उसमें लगा डंडा तो उसका सहायक मात्र है ॥३९४॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें सुलसाका सगरके साथ संगम नामका
अठाईसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

इस घटनासे मधुपिंगलको बड़ा वैराग्य हुआ—'इस भोगशून्य शरीरको धिक्कार हो जिसके एक भागमें दोष होनेसे मैं समागमके योग्य भी मामाकी पुत्री नहीं प्राप्त कर सका'। ऐसा सोचकर उसने संसारको छोड़ दिया और जिन-दीक्षा ले ली। इसके बाद एकाकी पादचारीकी तरह अनेक ग्रामों और नगरोंमें भ्रमण करता हुआ एक दिन अचानक वह भोजनके लिए अयोध्या नगरीमें

१. पूर्वोक्तेषु मध्ये नेत्रे उत्कृष्टे। २. 'चम्पकवल्लरी शुभसुगन्धता एव दुग्धपानं तत्र लोभिष्ठज्ञानबालकेषु। ३. निम्नभूगामिनी। ४. नदी। ५. अग्रभागः। ६. कुन्तस्य।–स्तस्य आ०। ७. भोगरहितम्। ८. शरीरम्। ९. मातुलपुत्रीम्। १०. न प्राप्तवान्। ११. एकाकी। १२. पादचारी। १३. आहारार्थम्। १४. चातकवत्।

क्लमथुव्यपोहाय सगरागारद्वारप्रदिरे मनाग्व्यलम्बत। तत्र च पुराप्रयुक्तपरिणयापायनीति-विश्वभूतिः प्रगल्भमतये शिवभूतये रुचिष्याय शिष्याय रहितरहस्यमुद्रकं सामुद्रकमशेष-विदुषविचक्षणो व्याचक्षाणो बभूव। परामर्शवशाशीतिः शिवभूतिस्तं न्यक्षलक्षणपेशलं मधुपिङ्गलमवलोक्य–'उपाध्याय, घनघृताहुतिवृद्धिमद्धामशालिनि ज्वालामालिनि दह्यता-मेतदैतिह्यस्वाध्यायो यदेवंविधमूर्तिरप्ययमीदृगवस्थाकीर्तिः'। सदाचारनिगृहीतिर्विश्वभूतिः-अपर्याप्तपूर्वापरसंगीते शिवभूते, मागाः खेदम्, यदेष नृपवरस्य सगरस्य निदेशादस्मदुप-देशादनन्यसामान्यलावण्यविनिवासां सुलसामलभमानस्तपस्वी तपस्वी समभूत्।

एतच्चासन्नारिष्टतातेर्विश्वभूतेर्वचनमेकायनमनाः स यतिर्निशम्य प्रवृद्धक्रोधानलः कालेन विपद्योत्पद्य चासुरेषु कालासुरनामा भवप्रत्ययमाहात्म्यादुपजातावधिसन्निधिस्तपस्या-प्रपञ्चमसुरान्वयोदञ्चं चात्मनो विनिश्चित्य यदीदानीमेव महापराधनगरं सगरमकारण-प्रकाशितदोषजातिं विश्वभूतिं च चूर्णपेषं पिनष्मि, तदानयोः सुकृतभूयिष्ठत्वात्प्रेत्यापि सुर-श्रेष्ठत्वावाप्तिरिति न साध्वपराधः स्यात्। ततो 'यथेहानयोर्बहुविडम्बनावरोधो वधः, परत्र च दुःखपरम्परानुरोधो भवति, तथा विधेयम्। न चैकस्य बृहस्पतेरपि कार्यसिद्धिरस्ति' इत्यभि-

आया। कई दिनसे उपवास होनेके कारण उसके हृदयका उत्साह मन्द पड़ गया था और तेज घामसे उसका शरीर अत्यन्त खिन्न था। अतः चातककी तरह थकान दूर करनेके लिए सगर राजाके महलके द्वार-मण्डपपर थोड़ी देरके लिए ठहर गया।

वहाँ समस्त विद्वानोंमें प्रवीण विश्वभूति, जिसने पहले सुलसाका सगरके साथ विवाह कराने में दुर्नीतिका प्रयोग किया था, अपने प्रिय शिष्य बुद्धिशाली शिवभूतिको खुले तौरपर सामुद्रिक विद्याका व्याख्यान दे रहा था। विचारचतुर शिवभूतिने समस्त लक्षणोंसे युक्त मधुपिंगलको देखकर अपने गुरुसे कहा—'गुरुजी! घीकी आहुतिसे प्रज्वलित अग्निमें इस सामुद्रिक विद्याको जला देना चाहिए; क्योंकि इस प्रकारके लक्षणोंसे युक्त होनेपर भी इस आदमीकी यह अवस्था है।' सदाचारका शत्रु विश्वभूति बोला—'पूर्वापर सम्बन्धसे अनजान शिवभूति! खेद मत करो, क्योंकि राजा सगरकी आज्ञासे और हमारे कहनेसे असाधारण सुन्दरी सुलसाको न पा सकनेके कारण यह बेचारा तपस्वी हो गया है।'

विश्वभूतिका अमङ्गल निकट था। अतः उसकी बात उस एकाग्रमन तपस्वीने सुन ली। सुनते ही उसकी क्रोधाग्नि भड़क उठी और वह मरकर कालासुर नामका देव हुआ। वहाँ उसे भवप्रत्यय नामका अवधिज्ञान प्राप्त हुआ। उसके द्वारा उसने अपने पूर्व भवका सब वृत्तान्त जान लिया। तब वह सोचने लगा कि यदि मैं इसी समय महा अपराधी सगरको और दुष्ट विश्वभूति को पीस डालूँगा तो पुण्य अधिक होनेसे ये दोनों मरकर भी देव हो जायेंगे और यह प्रतिशोध ठीक नहीं होगा। इसलिए ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि इनका वध भी कष्टसे हो और ये मरकर परलोकमें भी बहुत दुःख उठा सकें। किन्तु अकेले तो बृहस्पतिका भी काम सिद्ध नहीं हो

१. श्रमदूरीकरणाय। २. प्राङ्गणे। ३. शास्त्रोपदेशयोग्याय विदुषे। ४. गोप्यरहितम्। ५. अग्नौ। ६. सम्बन्ध। ७. दीनः। ८. अमङ्गल। ९. एकाग्रमनाः। १०. मृत्वा। ११. विस्तारम्। १२. उद्भवम्। १३. मृत्वा। १४. नृपमन्त्रिणोः द्वयोः।

प्रायेणात्मवैकारिकर्द्धि[1]प्रदर्शनातिथिं वैरनिर्यातनमनोरथरथसारथि[2]मन्वेषमाणमतिरासीत् ।

अथ कामकोदण्डकारणकान्तारैरिक्षुवणावतारैर्विराजितमण्डलायां डहालायामस्ति स्वस्तिमती नाम पुरी । तस्यामभिचन्द्रापरनामवसुर्विश्वावसुर्नाम नृपतिः । तस्य निखिलगुणमणिप्रसूतिवसुमती वसुमती नामाग्रमहिषी । सूनुरनयोः समस्तसपत्न[3]भूरुहविभावसुर्वसुः । पुरोहितश्च निश्चिताशेषशास्त्ररहस्यनिकुरम्बः क्षीरकदम्बः । कुटुम्बिनी पुनरस्य सतीव्रतोपास्तिमती स्वस्तिमती नाम । जन्युर[4]नयोरनेकनैमसितपर्व[5]तप्राप्तः पर्वतो नाम । स किल सदाचारणभूरिः क्षीरकदम्बकसूरिः शिष्यशेमुष्यामिव स्वाध्यायसंपादनविशालायां सुवर्णगिरिगुहाङ्गणशिलायामेकदा तस्मै मुदा गतस्म[6]याय यथाविधि समधि[7]जिगांसवे वसवे प्रगलितपितृपाण्डित्यगर्वपर्वताय तस्मै पर्वताय गिरिकूटपत्तनवसतेर्विश्वनाम्नो विश्वम्भरापतेः पुरोहितस्य विहितानवद्यविद्याचार्यचरणसेवस्य विश्वदेवस्य नन्दनाय नारदाभिधानाय च निखिलभुव[8]नव्यवहारतन्त्रमागमसूत्रमतिमधुरस्वरो[9]पदेशमुपदिशन्नम्बरादवतरद्भ्यां सूर्याचन्द्रमस्समाभ्याममितगत्यनन्तगतिभ्यामृषिभ्यामीक्षांचक्रे ।

तत्र समासन्नसुगतिरनन्तगतिर्भगवान्किलैवमभाषत—'भगवन्, एत एव खलु विदुष्याः शिष्याः यदेवमनवद्यं [10]ब्रह्मोद्यविद्यमेतस्माद्ग्रन्थार्थप्रयोगभङ्गीषु[11] यथार्थप्रदर्शनतया [12]विधूतोपाध्यायादुपाध्यायादेकसर्ग[13]धियोऽधीयते' । प्रयुक्तावधिबोधस्थितिरमितगतिर्भगवान्—'मुनिवृषन्, सत्यमेवैतत् । किन्त्वेतेषु चतुर्षु मध्ये द्वाभ्यामम्भसि गौरवोपेतपदार्थ-

---

सकता ।' ऐसा सोचकर वह ऐसे व्यक्तिकी खोजमें चला, जिसके द्वारा वह अपनी विक्रिया शक्ति का चमत्कार दिखला कर अपने बैरका परिशोध ले सके ।

इक्षुवनसे सुशोभित डहाला देशमें स्वस्तिमती नामकी नगरी है । उसमें विश्वावसु नामका राजा राज्य करता था । उसकी पटरानीका नाम वसुमती था । उनके वसु नामका पुत्र था । समस्त शास्त्रोंके रहस्यका ज्ञाता क्षीरकदम्ब राजाका पुरोहित था । उसकी पत्नी स्वस्तिमती थी । उन दोनोंके पर्वत नामका पुत्र था जो बहुविध देवाराधनसे प्राप्त हुआ था ।

एक दिन क्षीरकदम्ब सुवर्ण गिरिकी गुफाके आँगनमें एक शिलापर पढ़नेके इच्छुक मदरहित वसुको, अपने पिताके पाण्डित्यके गर्वसे गर्वित पर्वतको और गिरिकूट नगरके स्वामी राजा विश्वके पुरोहित विश्वदेवके पुत्र नारदको अत्यन्त मधुर स्वरसे समस्त लोकके व्यवहारोंसे पूर्ण आगम सूत्रका उपदेश देता था । उस समय आकाशसे उतरते हुए सूर्य और चन्द्रमाके समान अमितगति और अनन्तगति नामके दो मुनियोंने उन्हें देखा ।

भगवान् अनन्तगति बोले—'भगवन् ! ये ही शिष्य विद्वान् हैं, जो ग्रन्थके अर्थको यथार्थ रूपसे बतलानेवाले गर्वरहित उपाध्यायसे इस निर्दोष ब्रह्मज्ञानको एकाग्रतासे पढ़ रहे हैं ।'

अवधिज्ञानसे जानकर भगवान् अमितगतिने उत्तर दिया—'मुनिश्रेष्ठ ! आपका कहना

---

१. विकारे भवा विक्रियर्द्धिः । २. वैरशुद्धिकरणसहायम् । ३. शत्रुवृक्षदहनाग्निः । ४. पुत्रः । ५. हंतकारा एव पर्वताः तैः प्राप्तः बहुलनैवेद्येन देवाराधनैः प्राप्त इत्यर्थः । ६. रहितगर्वाय । ७. अध्येतुमिच्छवे । ८. त्रैलोक्यवर्णनसिद्धान्तम् । ९. स्वरसहितम् । १०. शास्त्रम् । ११. रचनासु । १२. विधूतः स्फेटित उपाधेर्विकारस्य आय आगमनं येन स तथोक्तस्तस्मात् । १३. एकाभिप्रायाः ।

वदधःप्रबोधोचितमतिभ्यामिदमतिपवित्रमपि सूत्रं विपर्यासयितव्यम्' ।

एतच्च प्रवचनलोचनालोकितब्रह्मस्तम्बः[1] क्षीरकदम्बः संश्रुत्य 'नूनमस्मिन्महामुनिवाक्येऽर्थात्सप्तरुचिमरीचिवद्[2]द्वाभ्यामूर्ध्वगाभ्यां भवितव्यमिति प्रतीयते । तत्राहं तावदेकदेशयतिव्रतपूतात्मानमात्मानमधरधाम[3]संनिधानं न संभावयेयम् । नरकान्तं राज्यम्, बन्धनान्तो नियोगः, मरणान्तः स्त्रीषु विश्वासः, विपदन्ता खलेषु मैत्री, इति वचनादिन्दिरामदिरामदमलिनमनःप्रचारे राज्यभारे प्रसरदसुं[4] वसुं च नोर्ध्वं यियासुम्[5] । तन्नारदपर्वतौ परीक्षाधिकृतौ' इति निश्चित्य [6]समिथमयमूर्णायुद्वयं[7] निर्माय प्रदाय च ताभ्याम् 'अहो, द्वाभ्यामपि भवद्भ्यामिदमुर्[8]णयुगलं यत्र न कोऽप्यालोकते तत्र विनाश्य[9] प्राशितव्यम्' इत्यादिदेश । तावपि तदादेशेन हव्यवाह[10]वाहनद्वितयं प्रत्येकमादाय यथायथमयासिष्टाम् । तत्र[11] सत्ख्याति[12] खर्वः पर्वतः पस्त्यपाश्चात्यकुम्बामु[13]पसद्यापाद्य[14] च [15]भटित्रमुरभ्रपुत्रमुदरानलपात्रमकार्षीत् । शुभाशयविशारदो नारदस्तु 'यत्र न कोऽप्यालोकते' इत्युपाध्यायोक्तं ध्यायन् 'को नामात्र पुरे कान्तारे वा सद्घणो[16] योऽधिकरणं[17] नात्मेक्षणस्य व्यन्तरगणस्य महामुनिजनान्तःकरणस्य च' इति विचिन्त्य तथैव तं वृष्णिमुपाध्यायाय समर्पयामास ।

उपाध्यायो नारदमप्यूर्ध्वगमवबुद्ध्य संसारतरुस्तम्बमिव कचनिकुरम्बमुत्पाट्य

ठीक है, किन्तु इन चारोंमें-से दो शिष्योंकी बुद्धि पानीमें पड़े भारी पदार्थकी तरह नीच ज्ञानकी ओर जानेवाली है, ये दोनों इस अत्यन्त पवित्र शास्त्रको भी विपरीत कर देंगे ।'

शास्त्ररूपी चक्षुसे ब्रह्माण्डको देखनेवाले क्षीरकदम्बने मुनियोंकी बातचीत सुन ली । वह सोचने लगा—'महामुनिके वाक्यसे ऐसा प्रतीत होता है कि हममें-से दो निश्चय ही अग्निकी शिखाकी तरह उर्ध्वगामी हैं । उनमें-से मैं तो देशचारित्रका पालक हूँ अतः अपने नरकगामी होनेकी सम्भावना तो मैं नहीं कर सकता । कहावत है कि—'राज्यका फल नरक है । शासनका फल बन्धन है । स्त्रीमें विश्वास करनेका फल मरण है और दुर्जनोंसे मैत्री करनेका फल विपत्ति है ।' अतः लक्ष्मीरूपी मदिराके मदसे मनको कलुषित करनेवाले राज्यभारमें जिसके प्राण बसे हैं वह वसु ऊर्ध्वगामी हो नहीं सकता । शेष रह जाते हैं नारद और पर्वत । इनकी परीक्षा करनी चाहिए ।' ऐसा निश्चय करके पुरोहितने हविष्यके दो मेढ़े बनवाये और दोनोंको एक-एक मेढ़ा देकर कहा—'तुम दोनों जहाँ कोई न देख सके, ऐसे स्थानपर इन मेढ़ोंको मारकर खा जाओ ।'

गुरुकी आज्ञासे वे दोनों उन मेढ़ोंको लेकर चले गये । उनमेंसे पर्वतने तो घरके पिछवाड़े एक घिरे हुए स्थानपर जाकर उस मेढ़ेके बच्चेको भूनकर अपने पेटमें रख लिया । किन्तु शुभाशयी नारदने गुरुके 'जहाँ कोई न देख सके' इस वचनका ध्यान करके विचारा—'नगर या जंगलमें ऐसा कौन-सा स्थान है जो अतीन्द्रियदर्शी व्यन्तरादिकका और महामुनियोंके अन्तःकरणका विषय न हो ।' ऐसा विचारकर उसने वह मेढ़ा जैसाका-तैसा उपाध्यायको सौंप दिया ।

पुरोहितने जान लिया कि नारद भी ऊर्ध्वगामी है । अतः संसाररूपी वृक्षके गुच्छोंके

---

१. ब्रह्माण्डः । २. अग्नि । ३. नीचस्थान-नरक । ४. विस्तरत्प्राणम् । ५. नाहं संभावयेयमिति वाक्यशेषः । ६. कणिकमयं छागद्वयम् । ७. ऊरणद्वयं । ८. –मूर्णायुयुगलं–आ० । ९. हत्वा । १०. मेषद्वयम् । ११. तयोश्छात्रयोः । १२. ह्रस्वः । १३. वृत्तिम् । १४. कृत्वा । १५. शूलाकृतं । १६. प्रदेशः । १७. स्थानम् ।

स्वर्गलक्ष्मीसपक्षां दीक्षामादाय निखिलागमसमीक्षां शिक्षामनुश्रित्य चातुर्वर्ण्यश्रमणसङ्घसंतोषणं गणपोषणमात्मसात्कृत्य एकत्वादिभावनापुरस्कारमात्मसंस्कारं विधाय कायकषायकर्शनां सल्लेखनामनुष्ठाय[1] निःशेषदोषालोचनपूर्वकाङ्गविसर्गसमर्थमुत्तमार्थं च प्रतिपद्य सुरसुखकृतार्थो बभूव। पूर्वमेव तदादेशादात्मदेशोपदेशदः[2] सकलसिद्धान्तकोविदो नारदः सद्गुणभूरेः क्षीरकदम्बसूरेः प्रव्रज्याचरणं स्वर्गावरोहणं चावगत्य 'गुरुवद्गुरुपुत्रं च पश्येत्' इति कृतसूक्तस्मरणः। पर्याप्त[3]तदाराधनोपकरणस्तद्विरहदुःखदुर्मनसमुपाध्यायानीं जननीं सहपांसुक्रीडितं पर्वतं च द्रष्टुमागतः।

अपरेद्युस्तं पर्वतम् 'अजैर्यष्टव्यम्' इति वाक्यम् 'अजैर्[4]जातमजैर्यष्टव्यं हव्यकव्यार्थो विधिर्विधातव्यः' इति श्रद्धामात्रावभासिभ्योऽन्तेवासिभ्यो व्याहरन्तमुपश्रुत्यबृहस्पतिप्रज्ञः–पर्वत, मैवं व्याख्यः। किं तु 'न जायन्त इत्यजा वर्षत्रयप्रवृत्तयो व्रीहयस्तैर्यष्टव्यं शान्तिपौष्टिकार्था क्रिया कार्या' इति परार्ये[5]वाचार्यादिदं वाक्यमेवमश्रौष्व[6] परुत्सजूँ[7]स्तथैवाचिन्तयाव। तत्कथमैषमे[8] एव तव मतिर्द्वापर[9]वसतिः समजनीति बहुविस्मयं मे मनः। आचार्यनिकेत[10] पर्वत, यद्येवमर्थश्वीने[11]ऽप्यर्थाभिधाने भवानपरवानपि[12] [13]विपर्यस्यति, तदा पराधीने [14]मादृग्विधीने को नाम संप्रत्ययः'।

समान केशोंका लोंच करके उसने स्वर्गरूपी लक्ष्मीकी सखी जिन-दीक्षा ले ली। तथा समस्त शास्त्रोंकी शिक्षाका अनुसरण करके आचार्य पदको सुशोभित किया और श्रमण संघका पालन करके जब आयु थोड़ी शेष रह गयी, तब एकत्व आदि भावनाओंसे आत्माको सुसंस्कृत करके काय और कषायकी सल्लेखनारूप समाधिमरण धारण किया। तथा अपने समस्त दोषोंकी आलोचना पूर्वक शरीरको त्याग कर देवलोकमें उत्पन्न हुआ।

गुरुकी आज्ञासे नारद पहले ही अपने देशकी ओर चला गया था। समस्त सिद्धान्तके पण्डित नारदने जब गुणोंसे भूषित आचार्य क्षीरकदम्बके दीक्षा ग्रहण और स्वर्गारोहणके समाचार सुने तो उसे 'गुरुके समान ही गुरु-पुत्रको मानना चाहिए' इस सूक्तिका स्मरण हो आया। और वह उनकी भेंटके लिए बहुत-सा सामान साथ लेकर गुरुके वियोगसे दुःखी गुरुपत्नी और एक साथ खेले हुए मित्र पर्वतको देखनेके लिए आया।

दूसरे दिन नारदने सुना कि पर्वत श्रद्धालु छात्रोंको 'अजैर्यष्टव्यम्' का अर्थ 'बकरोंसे यज्ञ और श्राद्ध करना चाहिए' ऐसा बतला रहा है। नारदने रोका–'पर्वत ! ऐसी व्याख्या मत करो। किन्तु 'अज' अर्थात् जो उग न सकें ऐसे तीन वर्षके पुराने धान्यसे शान्ति आदि क्रिया करनी चाहिए' ऐसा अर्थ करो। क्योंकि परार साल आचार्यसे हम दोनोंने इस वाक्यका यही अर्थ सुना था, और गत वर्ष हम दोनोंने ऐसा ही विचार भी किया था। न जाने इसी वर्ष तुम्हारी मति संशयमें क्यों पड़ गयी है ? मुझे यह देखकर बड़ा अचरज हो रहा है। पर्वत ! तुम आचार्यका काम करते हो। यदि तुम स्वतन्त्र होकर भी इस अर्थके करनेमें भूल करते हो तो मेरे समान पराधीनका ही क्या विश्वास है ?'

१. संन्यासम्। २. नारदो गतः। ३. गृहीत। ४. छागपुत्रैः। ५. परारि—पूर्वतरवत्सर। ६. आवां श्रुतवन्तौ। ७. गतवर्ष। ८. इदानीमस्मिन् वर्षे। ९. सन्देह। १०. अद्यश्वः परदिने वा प्रसोष्यते। ११. अर्थकथने। १२. स्वतन्त्रः। १३. विपरीतं करोति। १४. मादृशी विधिः तस्य इने-नाथे।

पर्वतः—नारद, नेदमस्तुङ्कारं[1] यदस्य पदस्य मन्निरुक्त एवातिसूक्तोऽर्थः। यदि चाय-मन्यथा स्यात्तदा रसवाहिनी[2]खण्डनमेव मे दण्डः'।

नारदः—'पर्वत, को नु खल्वत्र विवदमानयोरावयोर्निकषभूमिः'।

पर्वतः—'नारद, वसुः'।

कर्हि तर्हि तं समयानुसर्तव्यम्। 'इदानीमेव नात्रोद्धारः[3]' इत्यभिधाय द्वावपि तौ वसुं निकषा[4] प्रास्थिषाताम्[5], पेक्षिषातां च तथोपस्थितौ तेन वसुना गुरुनिर्विशेषमाचरितसम्मानौ यथावत्कृतकशिपु[6]विधानौ विहितोचितोचित[7]काञ्चनदानौ समागमनकारणमापृष्टौ स्वाभिप्राय-मभाषिषाताम्। वसुः—'यथाहतुस्तत्रभवन्तौ तथा प्रातरेवानुतिष्ठेयम्'।

अत्रान्तरे वसुलक्ष्मीक्षयक्षपेव क्षपायां सा किलोपाध्याया नारदपक्षानुमतं क्षीरकदम्बा-चार्यकृतं तद्वाक्यव्याख्यानं स्मरन्ती स्वस्तिमती पर्वतपरिभवापायबुद्ध्या वसुमनुसृत्य 'वत्स वसो, यः पूर्वमुपाध्यायादन्तर्धानापराधलक्षणावसरो वरस्त्वयादायि, स मे संप्रति समर्पयितव्यः' इत्युवाच। सत्यप्रतिपालनासुर्वसुः—'किमम्ब, संदेहस्तत्र। यद्येवं यथा सहाध्यायी पर्वतो वदति, तथा त्वया साक्षिणा भवितव्यम्'। वसुस्तथा स्वयमाचार्याण्या-भिहितः[9]—'यदि साक्षी भवामि तदावश्यं निरये पतामि। अथ न भवामि तदा सत्यात्प्रच-लामि' इत्युभयाशयशार्दूलविद्रुतमनोमृगश्चिरं विचिन्त्य

पर्वत—नारद ! मैं इसे स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि इस पदका मेरा कहा हुआ अर्थ ही ठीक है। यदि वह ठीक न हो तो मैं अपनी जिह्वा कटवा दूँगा।

नारद—पर्वत ! हमारे विवादका फैसला कौन करेगा ?

पर्वत—वसु।

नारद—तो उसके पास कब चलना चाहिए ?

पर्वत—इसी समय। इसमें विलम्ब क्यों ?

इस प्रकार बातचीत करके दोनों वसुके पास चल दिये। वसुने जैसे ही उन दोनोंको आते हुए देखा, गुरुके समान ही उनका सम्मान किया और यथायोग्य भोजन, वस्त्राभरण तथा स्वर्ण प्रदान करके उनसे आनेका कारण पूछा। दोनोंने अपना-अपना अभिप्राय कह दिया। वसुने उनसे सुबह आनेके लिए कहा।

इसी बीचमें पर्वतकी माता स्वस्तिमती गुरुवानीको अपने पति क्षीरकदम्बके द्वारा बतलाया हुआ उस वाक्यका व्याख्यान स्मरण हो गया। उसे लगा कि नारदका व्याख्यान ही ठीक है। अतः पर्वतके अनिष्टकी आशंकासे वह रात्रिमें ही वसुके पास गयी और बोली—'पुत्र वसु ! पहले गुरुसे छिपनेका अपराध करनेके समय तुमने मुझे जो वर दिया था वह मुझे अब दो।' सत्यका पालक वसु बोला—'माता ! उसमें सन्देह मत करो।' 'तो जैसा तुम्हारा गुरुपुत्र कहता है वैसा ही तुम्हें भी कहना चाहिए।' गुरुपत्नीके ऐसा कहनेपर वसु विचारमें पड़ गया—'यदि पर्वतका कथन ठीक ठहराता हूँ तो नरकमें गिरता हूँ। और यदि नहीं ठहराता हूँ तो सत्यसे विचलित

---

१. न युक्तम्। २. जिह्वा। ३. न विलम्बः। ४. समीपम्। ५. प्रस्थितौ। ६. भोजनाच्छादनौ। ७. विहितोचितोचित मु०। ८. तिरोधान। ९. प्रार्थितः।

'न व्रतमस्थिग्रहणं शाकपयोमूलभैक्षचर्या वा ।
व्रतमेतदुन्नतधियामङ्गीकृतवस्तुनिर्वहणम्[1]' ॥३९५॥

इति च विमृश्य निरयनिदानदक्षं चरमं पक्षमेव पक्षमाक्षैप्सीत्[2] ।

तदनु मुमुदिषमाणारविन्दहृदयविनिद्रेन्दिन्दिरचरणप्रचारोदश्चन्मकरन्दसिन्दूरितनीर[4]-देवतासीमन्तान्तराले प्रभातकाले, सेवासमागतसमस्तसामन्तोपास्तिपर्यस्तोत्तंसकुसुम-संपादितोपहारमहीयसि च सति सदसि मृगयाव्यसनव्याजशरव्यीकृते कुरङ्गपोते, अपराद्धेषु[5]-रिषु[6]प्रत्यावृत्त्यासादितस्पर्शमात्रावसेयाकाशस्फटिकघटितविलसनं सिंहासनमुपगत्य 'सत्य-शौचादिमाहात्म्यादहं विहायसि गतो जगद्व्यवहारं निहालयामि[7]' इत्यात्मनात्मानमुत्कु[8]-र्वाणो विवादसमये तेन विनतवरदेन[9] नारदेन 'अहो, मृषोद्योङ्क्षिदविभावसो वसो, अद्यापि न किञ्चिन्नङ्क्ष्यति[10] तत्सत्यं ब्रूहि' इत्यनेकशः कृतोपदेशः काश्यपीतलं यियासुर्वसुः—'नारद, यथैवाह पर्वतस्तथैव सत्यम्' इत्यसमीक्ष्यं साक्ष्यं वदन् 'देव, अद्यापि यथायथं वद यथायथं वद' इत्यालापबहुले समन्युमानस[11]विलासिनीस्खलितोक्तिलोहले[12][13] विषादासादि-हृदयप्रजाप्रजल्पकाहले स्फुटद्ब्रह्माण्ड[14]खण्डध्वनिकुतूहले समुच्छलति परिच्छदकोलाहले सत्यधर्मकर्मप्रवर्तनकुपितपुरदेवतावशदुर्विलसनः ससिंहासनः क्षणमात्रमप्यनासादित[15]सुख-

होता हूँ ।' इस प्रकार उसका मनरूपी मृग द्विविधारूपी सिंहके फेरमें पड़ गया । बहुत देर तक विचार करनेके बाद उसने सोचा—

हड्डीका धारण करना, शाक, पानी, कन्दमूलका लेना अथवा भिक्षा भोजन करना ये सब व्रत नहीं हैं । किन्तु स्वीकार की हुई वस्तुको निबाहना ही समझदार पुरुषोंका व्रत है ॥३९५॥

ऐसा विचार कर उसने नरकमें ले जानेवाले दूसरे पक्षको ही स्वीकार कर लिया ।

एक बार एक शिकारी जंगलमें शिकार खेलनेके लिये गया था वहाँ उसने एक हरिणके बच्चेपर तीर चलाया । किन्तु वह तीर किसी वस्तुसे टकराकर लौट आया । तब शिकारीको बड़ा आश्चर्य हुआ और वह इसका कारण जाननेके लिए आगे बढ़ा । मार्गमें उसे आकाशकी तरह स्वच्छ स्फटिकमणिकी एक शिला मिली, जो छूनेसे ही जानी जा सकती थी । उस शिलाको मँगाकर वसुने अपनी सभामें रखा और उसपर अपना सिंहासन रखवाया । तथा उसपर बैठकर अपने ही मुखसे अपनी प्रशंसा करते हुए यह घोषणा की कि मैं 'अपने सत्य धर्मके प्रभावसे आकाशमें बैठकर जगत्का न्याय करता हूँ ।'

दूसरे दिन प्रभात होनेपर राजसभा लगी । वसु अपने उसी सिंहासनपर आकर बैठ गया । सेवाके लिए आये हुए सामन्तोंने भेंटें चढ़ायीं । और विवाद प्रारम्भ हुआ । नारदने विनय पूर्वक कहा—'असत्यवादी वसु अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है अतः सच बोल,' बार-बार समझानेपर भी नरकगामी वसुने यही कहा—'जो पर्वत कहता है वही सत्य है' । इस प्रकार झूठी गवाही देते देखकर प्रजाको भी क्रोध आ गया और वह भी चिल्लाने लगी—'महाराज! 'अब भी सच बोलिए,', 'अब भी सच बोलिए ।' सभामें ऐसा कोलाहल मचा मानो ब्रह्माण्डके फटनेकी आवाज है । इसी समय सत्य धर्म-कर्मका लोप करनेके कारण क्रुद्ध हुए नगर-देवताने सिंहासन-सहित

१. साक्षिवचनम् । २. अङ्गीचकार । ३. विकसमानपद्ममध्य--उड्डीयमाणभ्रमरचरण । ४. जलदेवता । ५. लक्ष्यच्युतबाणः । ६. बाण पश्चाद्वलनेन । ७. न्यायं पश्यामि । ८. उत्कर्षतां प्रापयन् । ९. विनतानां विनेयानाम् । १०. नाशं यास्यति । ११. सकोपचित्त । १२. अव्यक्तवचन । १३. अस्फुटे । १४. मर्त्यलोक । १५. अप्राप्त ।

कालं पातालमूलं जगाहे[1]। अत एवाद्यापि प्रथममाहुतिवेलायां प्रजा[2] जल्पन्ति—'उत्तिष्ठ वसो, स्वर्गं गच्छ' इति। भवति चात्र श्लोकः—

अस्थाने बद्धकक्षाणां नराणां सुलभं द्वयम्।
परत्र दुर्गतिर्दीर्घा दुष्कीर्तिश्चात्र शाश्वती ॥३९६॥

इत्युपासकाध्ययने वसो रसातलासादनो नामैकोनत्रिंशः कल्पः।

नारदस्तमेव निर्वेदमुररीकृत्य नतभ्रूविभ्रमभ्रमरकुलनिलयनीलोत्पलस्तूपमिव कुन्तलकलापमुन्मूल्य परमनिष्किञ्चनतानिरूपं जातरूपमास्थाय सकलसत्त्वाभयप्रदानामृतवर्षाधिकरणं संयमोपकरणमाकलय्य मुक्तिलक्ष्मीसमागमसंचारिकामिवोदकपरिचारिकामादृत्य शिवश्रीवशीकरणार्ध्यायमिव स्वाध्यायमनुबध्य मनोमर्कटक्रीडाप्रकाममिन्द्रियाराममुपरम्य अन्तरात्महेमाश्मसमस्तमलदहनं ध्यानदहनमुद्दीप्य संजातकेवलस्तत्पदासिपेशलो बभूव।

पर्वतस्तु तथा सर्वसभासमाजोदीरितोदीर्घदुरपवादरजसि मिथ्यासाक्षिपक्षविचक्षणवक्षसि दुराचारेक्षणक्षुभितसहस्राक्षानुचरीक्षितजीवितमहसि कथाशेषतेजसि वसौ सति ह्रस्वह्रीणतया पौरापचिकीर्षया च निरन्तरोदञ्चद्रोमाञ्चनिकायः शल्लशलाकानिकीर्णकाय इव निजार्गणेयदुरीहिताध्मातोदरचर्मपुटः स्फुटन्निव च तैर्नृपतिविनाशवशामर्षिभिः संभूयोपदिष्टलोष्टवर्षिभिरतुच्छपिच्छोलेदलास्फालनप्रकर्षिभिः प्रतिघातोच्छलच्छकलकषाप्रहारतर्षिभि-

वसुको पातालमें भेज दिया। इसीसे आज भी यज्ञमें पहला आहुति देते समय ब्राह्मणजन कहते हैं—'वसु उठ! स्वर्ग जा।'

किसीने ठीक ही कहा है— 'झूठी बातका दुराग्रह करनेवाले मनुष्योंके लिए दो चीज सुलभ हैं—परलोकमें दीर्घकाल तक दुर्गति और इस लोकमें स्थायी अपयश' ॥३९६॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें वसुकी रसातल-प्राप्तिको बतलानेवाला उनतीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ॥

इस घटनासे नारदको बड़ा वैराग्य हुआ। उसने केशलोंच करके नग्न दिगम्बर होकर सकल जीवोंको अभयदान देनेवाले संयमके उपकरण पीछी और कमण्डलु ग्रहण कर लिये। और स्वाध्यायपूर्वक, मनरूपी बन्दरके खेलनेके स्थान इन्द्रियरूपी उपवनको बन्द करके, अन्तरात्मारूपी स्वर्णपाषाणके समस्त मलको जलानेमें समर्थ ध्यानरूपी अग्निको प्रदीप्त किया। तथा केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो गया।

राजा वसुके मर जानेपर अत्यन्त लज्जा तथा पुरवासी जनोंके तीव्र तिरस्कारके कारण पर्वतको क्रोधसे रोमांच हो आया। उसे ऐसी पीड़ा हुई मानो सेहीके काँटोंसे उसका शरीर बीधा गया है। अपने असंख्य दुष्ट संकल्पोंके कारण उसका पेट फटने-सा लगा। उधर नगरवासी लोग राजाकी मृत्युसे क्रुद्ध होकर उसके ऊपर ईंट-पत्थरोंकी वर्षा करने लगे। उन्होंने उसे गधेपर चढ़ाकर समस्त नगरमें घुमाया। पीछे-पीछे कुत्ते भोंकते जाते थे। ईंट-पत्थरोंकी वर्षा होती जाती थी। मार्गमें उल्टे उस्तरेसे सिर मूँड़ा जाता था। गलेमें फूटे ठीकरोंकी माला पड़ी थी। चाण्डालके

१. सप्तमनरकम्। २. प्रप्रा अ०, ज०। विप्राः। ३. स्त्री। ४. मयूरपिच्छम्। ५. गृहीत्वा। ६. दूती। ७. कमण्डलुम्। ८. परिच्छेद। ९. कृत्वा। १०. यथेष्टम् = अधिकम्। ११. सुवर्णपाषाण। १२. मोक्ष। १३. किङ्करीभिः क्षितं विध्वस्तं जीवितमेव महस्तेजो यस्य। १४. वासौ–अ०, ज०, मु०। १५. दीर्घलज्जितया। १६. अपकर्तुमिच्छया। १७. सेहीशूलविद्धशरीरः। १८. असंख्य। १९. संधुक्षित। २०. वंश।

र्नगरनिवासहर्षिभिर्जनैरगणितापकारं खरासभारोहणावतारं कण्ठप्रदेशप्राप्तप्राणः पुरु[1]पूत्कृ-तोल्वणकाएः सकलपुरवीथिषु विश्वरघुष्टानुजातो[2] निष्काशितः श्वपचश्मशानांशुक[3]पिहित-मेहनो विपरीतक्षुरधाराचरितमार्गमुण्डनः प्रकाशितशिखाश्रीफलजालो गलनालावलम्बित-शरावमालः प्रथीयसि वनगहनरहसि प्रविष्टः तुच्छोदकद्वीपिनीतटिनीतट[4]निकटोपविष्टस्तेन कालासुरेण दृष्टः।

प्रत्यवमृष्टहृच्चेष्टेन 'चाहं तावद्वैकारिकर्द्धिप्रचिकाशयिषुशक्तिः एषोऽपि स्वमतप्रतिति-ष्ठापयिषुमतिप्रसक्तिरतः निष्प्रतिघः[5] खलु मे कार्योल्लाघः' इति निभृतं[6] वितर्क्य पर्याप्तपरिव्राज[7]-कवेषेण मायामयमनीषेण भाषितश्च। तथा हि—'पर्वत, केन खलु समासन्नकीनाश[8]केलि-नर्मणा दुष्कर्मणा विनिर्मापितनिर्वरापकारः[9]' । पर्वतः—'तात, को भवान्' । 'पर्वत, भवत्पितुः खलु प्रियसुहृदहं सहाध्यायी शाण्डिल्य इति नामाभिधायी। यदा हि वत्स, भवान्षोडन्त[10]सम-भवत्तदाहं तीर्थयात्रायामगाम्। इदानीं चागाम्[11]। अतो न भवान्मां सम्यगवधारयति। तत्कथय हन्त[12] कारणमस्य व्यतिकरस्य'।

पर्वतः—'मत्प्राणित[13]परित्राणसद्मन् भगवन्, समाकर्णय। समस्तागमरत्नसन्निधा[14]तरि सुकृतमणिसमाहर्तरि जिनरूपानुजातरि पितरि नाकलोकमिते सति स्वातन्त्र्यादेकदा प्रदीप्त-निकामकामोद्गमः संपन्नपण्यांगना[15]जनसमागमः कृतपिशितकापिशायन[16]स्वादः पापकर्म-प्रासादः चेतन्नप्या[17]र्योपदिष्टं विशिष्टं व्याख्यानमहं दुरात्माख्यानः[18] स्वव्यसनविवृद्धये

कफनके टुकड़ेसे उसकी नग्नताको ढाँक दिया गया था। बेचारा रास्ते-भर चिल्लाता जाता था। कष्टसे प्राण कण्ठमें आ गये थे। इस रूपमें उसे नगरसे निकाल दिया गया और वह एक घने जंगलमें घुसकर एक नदीके किनारे बैठ गया। वहाँ उसे कालासुर नामके व्यन्तरने देखा। उसके मनकी दशा जानकर कालासुरने सोचा—'मैं अपनी विक्रिया शक्तिको दिखलाना चाहता हूँ और यह अपना मत चलाना चाहता है अतः मेरा काम निर्विघ्न होगा।' ऐसा विचारकर उसने संन्यासीका वेष धारण किया और मायावी बुद्धिसे बोला—'पर्वत ! जल्दी ही यमराजकी क्रीड़ाके शिकार बननेवाले किस दुष्टने तुम्हारे साथ यह निष्ठुर व्यवहार किया है ?'

पर्वत—पिता ! आप कौन हैं ?

'मैं तुम्हारे पिताका सहपाठी मित्र हूँ। मेरा नाम शाण्डिल्य है। जब तुम्हारे दाँत निकले थे तब मैं तीर्थयात्राके लिए चला गया था। और अब लौटा हूँ। इसलिए तुम मुझे नहीं पहचानते हो। अपनी इस विपत्तिका कारण बतलाओ।'

पर्वत—'मेरे प्राणोंके रक्षक भगवन् ! सुनिए। समस्त आगमरूपी रत्नोंके धारक और पुण्यरूपी मणियोंके संग्राहक मेरे पिता जिन-दीक्षा धारण करके जब स्वर्गलोकको चले गये तो मैं स्वतन्त्र हो गया। एक दिन मैंने कामके वशीभूत होकर वेश्या सेवन किया और मांस-मदिराका स्वाद लिया। 'अजैर्यष्टव्यम्' इस वाक्यका पिताजीने जो व्याख्यान किया था उसे जानते हुए

१. महत्। २. सारमेयाः पृष्ठतो भवन्ति। विस्वरघुष्टा –आ०। ३. चाण्डालचितास्थानवस्त्रेण कृतकौपीनः। ४. नदी। ५. निर्विघ्नः। ६. निश्चलं विचार्य। ७. तपस्वि। ८. यम। ९. निष्ठुर। १०. यदा तव षड्दन्ताः। ११. आगतः। १२. अहो। १३. जीवितरक्षणे। १४. संधारके। १५. कृतवेश्यासमागमः। १६. मद्य। १७. जानन्नपि पित्रा उपदिष्ठम्। १८. दुरात्मा–दुष्टस्वभावमाख्यानं चरितं यस्य सोऽहम्।

धर्मबुद्ध्या साधुमध्ये अजैर्यष्टव्यमितीदं वाक्यमशेषकल्मषनिषेव्योऽन्यथोपन्यस्यमानो नारदेनापादितवचनस्खलनः सन् एतावद्विपत्तिस्थामवस्थामकपम्।'

कालासुरः—'पर्वत, मा शोच। मुञ्च त्वमशेषं धिषणाकलुषम्। अङ्ग, साधु सम्बोधयात्मानम्। न खलु निरीहस्य[1] नरस्यास्ति काचिन्मनीषितावाप्तिः। तदलं हन्त[2] हृदयदाहानुगेनावेगेन[3]। हंहो पुत्र पर्वत, यथा स्वकीयसंकेताङ्कं ब्राह्मगोसवाश्वमेधसौत्रामणिवाजपेयराजसूयपुण्डरीकप्रभृतीनां सप्ततन्तूनां[4] प्रतिपादकानि वाक्यानि विरचय्य अन्तरान्तरा[5] वेदवचनेषु निवेशय। वत्स, मयि भूर्भुवःस्वस्त्रयीविपर्यासनसमर्थमन्त्रमाहात्म्ये, त्वयि च तरसासवसवित्रीप्रवृत्तिहेतुश्रुतिगीतिसमभ्यस्तसात्म्ये, किं नु[6] नामेहासाध्यम्' इत्युत्साह्य स्वयं विद्यावष्टम्भसृष्टाभिरष्टाभिरँपीतिभिरुपद्रूयमाणजनपदहृदयमयोध्याविषयमागत्य नगरबाहिरिकायां स देवश्चतुराननोऽभूत्। 'अध्वर्युः[7] पर्वतः समासीत्। मायामयसृष्टयः पिङ्गल-मनु-मतङ्ग-मरीचि-गौतमादयश्च ऋत्विजोऽजनिषत। तत्र श्रुतिधृतिश्चतुर्भिर्वदनैरुपदिशति[8]। पर्वतस्तु

> *यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा[9]।*
> *यज्ञो हि भूत्यै सर्वेषां तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥३६७॥*

भी मुझ दुरात्माने अपने व्यसनकी पुष्टिके लिए उसे बदल कर अन्यथा रूपसे कहा। नारदने मेरी इस गलतीको पकड़ लिया। बस, उसीसे मेरी यह दुर्दशा हुई है।'

कालासुर—'पर्वत! रंज मत कर, और इस सब बुद्धि विकारको दूर कर' अपनेको सम्बोध। जो मनुष्य निरीह है उसकी मनोवाञ्छा पूरी नहीं होती। अतः हृदयको जलानेवाले शोकको छोड़। और पुत्र पर्वत! अपने संकेतसे चिह्नित ब्राह्ममेध, गोमेध, अश्वमेध, सौत्रामणि, वाजपेय, राजसूय, पुण्डरीक आदि यज्ञोंके प्रतिपादक वाक्योंको रचकर वेदमें जगह-जगह मिला दो। पुत्र! मेरेमें 'भूर्भुवः स्वः' इत्यादि मन्त्रको बदलनेकी सामर्थ्यके होते हुए और मांस-मदिरा आदिमें प्रवृत्ति करानेवाले वेदमन्त्रोंकी रचनामें सिद्धहस्त तुम्हारे होते हुए ऐसा कौन काम है जो हम नहीं कर सकते।'

इस प्रकार पर्वतको उत्साहित करके उस कालासुरने अपनी विद्याके बलसे अतिवृष्टि आदि आठ ईतियोंको समस्त देशमें फैला दिया। तथा आप अयोध्या नगरीमें आकर ब्रह्माका रूप धारण करके नगरके बाहर बैठ गया। पर्वत यजुर्वेदका ज्ञाता पुरोहित बना। मायामयी पिंगल, मनु, मतङ्ग, मरीचि, गौतम वगैरह होता बन गये। ब्रह्माजी चारों मुखोंसे उपदेश देते थे। और पर्वत आदेश देता था—

ब्रह्माजीने स्वयं यज्ञके लिए ही पशुओंकी सृष्टि की है। यज्ञ सबकी समृद्धिके लिए है इसलिए यज्ञमें किया जानेवाला पशुवध वध नहीं है॥ ३९७॥

---

१. शत्रुलोकोपरि निस्पृहस्य। २. हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः। ३. शोकेन। ४. यज्ञानाम्। ५. मध्ये। ६. नु प्रच्छायां विकल्पे च वितर्के च। नाम प्रकाश्यसंभाव्य क्रोधोपगमकुत्सने। ७. अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः। स्वचक्रपरचक्रं च सप्तैता ईतयः स्मृताः॥ ८. यजुर्वेदज्ञाता। ९. ब्रह्मा।

ब्रह्मणे[1] ब्राह्मणमालभेत, इन्द्राय क्षत्रियं, मरुद्भ्यः वैश्यं, तमसे शूद्रम्, उत्तमसे तस्करं, आत्मने क्लीबं, कामाय पुंश्चलमप्रतिकुष्टाय मागधं, गीताय सुतम्, आदित्याय स्त्रियं गर्भिणीं, सौत्रामणौ य एवंविधां सुरां पिबति, न तेन सुरा पीता भवति। सुराश्च[2] तिस्र एव श्रुतौ संमताः—पैष्टी, गौडी, माधवी चेति। गोसवे ब्राह्मणो गोसवेनेष्ट्वा संवत्सरान्ते मातरमप्यभिलषति। उपेहि मातरम्, उपेहि स्वसारम्।

[3]षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि।
अश्वमेधस्य वचनादूनानि पशुभिस्त्रिभिः ॥३९८॥
[4]महोक्षो वा [5]महाजो वा श्रोत्रियाय विशस्यते[6]।
निवेद्यते तु दिव्याय स्रक्सुगन्धनिधिर्विधिः ॥३९९॥
गोसवे सुरभिं हन्याद्राजसूये तु भूभुजम्।
अश्वमेधे हयं हन्यात्पौण्डरीके च दन्तिनम् ॥४००॥
[7]औषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणो नराः।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युच्छ्रितां गतिम् ॥४०१॥

ब्रह्माके लिए ब्राह्मणका वध करना चाहिए, इन्द्रके लिए क्षत्रियका वध करना चाहिए, वायुके लिए वैश्यका वध करना चाहिए, तमके लिए शूद्रका वध करना चाहिए, गाढ़तमके लिए चोरका वध करना चाहिए, आत्माके लिए नपुंसकका वध करना चाहिए, कामके लिए बदमाशका वध करना चाहिए, अप्रतिकुष्टके लिए मागधका वध करना चाहिए, गीतके लिए पुत्रका वध करना चाहिए, सूर्यके लिए गर्भिणी स्त्रीका वध करना चाहिए। सौत्रामणि यज्ञमें जो अमुक प्रकारकी शराब पीता है वह शराब नहीं पीता। तीन प्रकारकी शराब वेदसम्मत है—पैष्टी—जो जौ वगैरहके आटेसे बनायी जाती है, गौडी–जो गुड़से बनायी जाती है, और माधवी, जो महुएसे बनती है। गोसव यज्ञमें ब्राह्मण तुरतके जन्मे हुए गौके बछड़ेसे यज्ञ करके वर्षके अन्तमें मातासे भी भोग करता है। माताके पास जाओ, बहनके पास जाओ।

अश्वमेध यज्ञमें मध्यके दिन तीन कम छह सौ अर्थात् पाँच सौ सत्तानवे पशु मारे जाते हैं ऐसा वचन है ॥ ३९८ ॥ श्रोत्रियके लिए महान् बैल अथवा बकरा मारा जाता है। तथा माला गन्ध वगैरह विधिपूर्वक अर्पित की जाती है ॥३९९॥

गोसव यज्ञमें गायका वध करना चाहिए। राजसूय यज्ञमें राजाका वध करना चाहिए। अश्वमेधमें घोड़ेका वध करना चाहिए और पौण्डरीक यज्ञमें हाथीका वध करना चाहिए ॥४००॥ औषधि, पशु, वृक्ष, तिर्यञ्च, पक्षी और मनुष्य ये सब यज्ञमें मारे जाने से उच्चगति पाते हैं ॥४०१॥

---

१. 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते। क्षत्राय राजन्यम्। मरुद्भ्यो वैश्यम्। तपसे शूद्रम्। तमसे तस्करम्। नारकाय वीरहणम्। पाप्मने क्लीबम्। आक्रयाया योगूम्। कामाय पुंश्चलम्। अतिक्रुष्टाय मागधम्। गीताय सूतम्। नृत्ताय शैलूषम्।' –तैत्तिरीय ब्राह्मण ३, ४। वाजसनेयी संहिता ३०, ५ में तथा शतपथ ब्राह्मण १३, ६, २ में भी पाठभेदके साथ उक्त उद्धरण मिलता है। २. 'गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा।' –मनुस्मृति ११,९४। ३. वाजसनेयी संहिता २४, ४० की उव्वट और महीधरकी टीकामें वह श्लोक पाया जाता है। उसमें उत्तरार्ध इस प्रकार है–'अश्वमेधस्य यज्ञस्य नवभिश्चाधिकानि च।' ४. 'महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्। सत्क्रियान्वासनं स्वादु भोजनं सूनृतं वचः ॥१०९॥'–याज्ञवल्क्यस्मृति, पृ०३४। उक्षो वृषभः। ५. छागः। ६. हिंस्यते। ७. 'ओषध्यः''''पक्षिणस्तथा।''''प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः ॥ ४० ॥ –मनुस्मृति अ० ५।

मानवं व्यासवासिष्ठं वचनं वेदसंयुतम् ।
अप्रमाणं तु यो ब्रूयात्स भवेद्ब्रह्मघातकः ॥४०२॥
[1]पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् ।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥४०३॥

इति मनु-मरीचि-मतङ्गप्रभृतयश्च सवषट्[2]कारमजद्विजगजवाजिप्रभृतीन्देहिनो जुह्वति । तदेवं श्रुतिशस्त्र[3]वाणिज्यजित्योपजीविनामीतीः पर्वतो व्यपोहति । कालासुरः पुनरालभ्य[4]मानान् प्राणिनः साक्षाद्विमानारूढान्स्वर्गं सांवर्या[5] पर्यटतो दर्शयति । मनुप्रमुखाश्च मुनयः प्रभावयन्ति[6] । ततो मायाप्रदर्शितत्रिदशवेश्मप्रवेशादिलोभे सञ्जाते सकलजनक्षोभे [7]सप्रत्यासन्ननरकनगरः सगरः, स च श्वभ्रविभ्रमोचितस्थितिर्विश्वभूति[8]स्तदुपदेशात्तांस्तान्सत्त्वान् हत्वा [9]प्सात्वा च दुरन्तदुरितचित्तचेतसौ मखमिषात्कालासुरेण स्मारितपूर्वभवागसौ[10] वीतिहोत्राहु[11]-तिविहितविचित्रवधरहसौ विचित्रायाः[12] धरित्र्या [13]द्राघीयो दुःखवेपथु[14]मन्थरं तलमगाताम्[15] ।

पर्वतोऽप्यग्नायीपतिविजये[16] जठरेधन[17]ञ्जये च हव्य[18]कव्य[19]कर्मभिः समाचरितसमस्तसत्त्व-संहारः कालासुरतिरोधानविधुरविधिसारस्तद्विरहातङ्कशोक[20]शोचिः क्लेशकृश्यच्छरीरः कालेन [21]जीनजीवितप्रचारः सप्तमरसावसरः[22] समपादि[23] ।

मनु, व्यास, वसिष्ठ आदि ऋषियोंके वचनोंको और वैदिक वचनोंको जो अप्रमाण बतलाता है वह ब्रह्मघाती है ॥४०२॥ पुराण, मानवधर्म मनुस्मृति, साङ्गवेद और आयुर्वेद ये चार स्वयं प्रमाण हैं । इन्हें युक्तियोंसे खण्डित नहीं करना चाहिए ॥४०३॥ इस तरहकी आज्ञाएँ पर्वत देता था । और मनु, मरीचि, मतङ्ग आदि ऋषि 'स्वाहा' शब्दके साथ बकरा, द्विज, हाथी, घोड़ा वगैरह प्राणियोंसे होम करते थे । इस प्रकार वेदसे जीविका करनेवाले ब्राह्मणोंमें, शस्त्रसे जीविका करनेवाले क्षत्रियोंमें, व्यापारसे जीविका करनेवाले वश्योंमें और खेती आदिसे जीविका करनेवाले कृषकोंमें कालासुरने जो बीमारियाँ फैलायी थीं उन्हें पर्वत दूर करता था, और कालासुर मारे गये प्राणियोंको अपनी मायाके द्वारा विमानमें सवार कराकर स्वर्गको जाते हुए दिखाता था । मनु वगैरह मुनि इससे दूसरोंको प्रभावित करते थे। इस प्रकार जब सब लोगोंमें मायाके द्वारा दिखलाये गये स्वर्ग गमनके लोभसे हलचल मच गयी तो नरकगामी सगर और विश्वभूति पुरोहितने भी कालासुरके उपदेशसे बहुतसे प्राणियोंका वध किया और उन्हें खाया । इससे उनका चित्त पापमें लिप्त हो गया । फिर कालासुरने उन दोनोंके पूर्व जन्ममें किये गये अपराधका स्मरण कराकर यज्ञके बहानेसे उन दोनोंको यज्ञकी अग्निमें होम दिया, और वे दोनों मरकर तीसरे नरकमें चले गये । पर्वतने भी अग्निको तिरस्कृत करनेवाली अपनी जठराग्निमें देवताओं और पितरोंकी तृप्तिके बहाने समस्त प्राणियोंका संहार कर डाला । कालासुर तो अपना काम करके अन्तर्धान हो गया । अतः उसके बिना उसकी सब विधि फीकी पड़ गयी । कालासुरके विरह रूपी संतापके शोकसे उसकी दशा शोचनीय हो गयी। क्लेशसे उसका शरीर कृश हो गया। अन्तमें मरण करके वह सप्तम नरकमें उत्पन्न हुआ ।

---

१. मनुस्मृति १२, ११० । २. स्वाहासहितम् । ३. श्रुतजीविनां विप्राणां, शस्त्रजीविनां क्षत्रियाणां, वाणिज्यहलजीविनां वणिजां या ईतयः कालासुरेण मायया कृताः ताः पर्वतः कालासुरमायया स्फेटयति । ४. हिंस्यमानान् । ५. मायया । ६. प्रभावनां कुर्वन्ति । ७. समीपनरकावासः । ८. कालासुर । ९. भक्षित्वा । १०. सुलसापहारदोषौ । ११. अग्नि । १२. बालुकाप्रभायाः । १३. दीर्घतरम् । १४. परितापेन मन्दगमन-सहितम् (?) । १५. गतौ । १६. अग्नितिरस्कारके । १७. उदराग्नौ । १८. देवदेयं । १९. पितृदेयं । २०. शोकाग्नि । २१. क्षीण । २२. सप्तमपृथिवी । २३. संजातः ।

भवति चात्र श्लोकः—

मृषोद्यादीनवोद्योगात्पर्वतेन समं वसुः।
जगाम जगतीमूलं ज्वलदातङ्कपावकम् ॥४०४॥

इत्युपासकाध्ययने असत्यफलसूचनो नाम त्रिंशत्तमः कल्पः।

वधूवित्तस्त्रियौ[2] मुक्त्वा सर्वत्रान्यत्र [3]तज्जने।
माता स्वसा तनूजेति मतिर्ब्रह्म गृहाश्रमे ॥४०५॥
[5]धर्मभूमौ स्वभावेन मनुष्यो नियतस्मरः[6]।
[7]यज्जात्यैव [8]पराजातिबन्धुलिङ्गिस्त्रियस्त्यजेत् ॥४०६॥
रक्ष्यमाणे हि बृंहन्ति यत्राहिंसादयो गुणाः।
उदाहरन्ति तद्ब्रह्म[9] ब्रह्मविद्याविशारदाः ॥४०७॥

इसके विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

'झूठ बोलनेके दोषके कारण पर्वतके साथ वसु भी सातवें नरकको गया, जहाँ सदा संताप-रूपी अग्नि जलती रहती है ॥४०४॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें असत्यके फलका सूचक तीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[अब ब्रह्मचर्याणुव्रतका वर्णन करते हैं—]

अपनी विवाहिता स्त्री और वेश्याके सिवा अन्य सब स्त्रियोंको अपनी माता बहिन और पुत्री मानना ब्रह्मचर्याणुव्रत है ॥४०५॥

विशेषार्थ—सब श्रावकाचारोंमें विवाहिताके सिवा स्त्री मात्रके त्यागीको ब्रह्मचर्याणुव्रती बतलाया है। परनारी और वेश्या ये दोनों ही त्याज्य हैं। किन्तु पं० सोमदेवजीने अणुव्रतीके लिए वेश्याकी भी छूट दे दी है। न जाने यह छूट किस आधारसे दी गई है ?

धर्मभूमि आर्यखण्डमें स्वभावसे ही मनुष्य कम कामी होते हैं। अतः अपनी जातिकी विवाहित स्त्रीसे ही सम्बन्ध करना चाहिए और अन्य कुजातियोंकी तथा बन्धु-बान्धवोंकी स्त्रियोंसे और व्रती स्त्रियोंसे सम्बन्ध नहीं करना चाहिए ॥४०६॥

जिसकी रक्षा करने पर अहिंसा आदि गुणोंमें वृद्धि होती है उसे ब्रह्मविद्यामें निष्णात विद्वान् ब्रह्म कहते हैं ॥४०७॥

---

१. आदीनवं दोषः। २. परिणीता अवधृता च। ३. स्त्री जने। ४. 'न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्। सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसन्तोषनामाऽपि ॥५९॥' —रत्नकरण्ड श्रा०। 'उपात्ताया अनुपात्तायाश्च पराङ्गनायाः सङ्गान्निवृत्तरतिर्गृहीति चतुर्थमणुव्रतम्।' —सर्वार्थसिद्धि ७, २०। 'ये निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवन्ति न हि मोहात्। निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम् ॥११०॥' —पुरुषार्थसि०। विवाहितां वा यदि वा विरुद्धां भजेदुदीर्णे मदनेऽथ वेश्याम्। विवर्जयेत् स्वामपि किन्त्वकाले स्वदारसन्तोष-परः सदैव ॥२१॥ —धर्मर०, प० ९२ उ०। स्वसृमातृदुहितृसदृशीः दृष्ट्वा परकामिनीः पटीयांसः। दूरं विवर्जयन्ते भुजगीमिव घोरदृष्टिविषाम् ॥६४॥ —अमित० श्रा०, ६ प०। 'सोऽस्ति स्वदारसन्तोषी योऽन्यस्त्रीप्रकटस्त्रियौ। न गच्छत्यंहसो भीत्या नान्यैर्गमयति त्रिधा ॥ ५२ ॥' —सागारधर्मा०, ४ अ०। ५. आर्यखण्डे। ६. अल्पकामः। ७. यस्मात्। स्वजात्या परिणीतया सह संभोगः कार्यः। ८. परा चासौ अजातिः पराजातिः परकीयजातिस्त्री। ९. 'अहिंसादयो धर्मा यस्मिन् परिपाल्यमाने बृंहन्ति वृद्धिमुपयान्ति तद् ब्रह्म।' —सर्वार्थसि० ७-१६।

मदनोद्दीपनैर्वृत्तैर्मदनोद्दीपनै रसैः ।
मदनोद्दीपनैः शास्त्रैर्मदमात्मनि नाचरेत् ॥४०८॥
[1]हव्यैरिव [2]हुतप्रीतिः [3]पाथोभिरिव नीरधिः ।
तोषमेति पुमानेष न भोगैर्भवसंभवैः ॥४०९॥
[4]विषवद्विषयाः पुंसामापाते मधुरागमाः ।
अन्ते विपत्तिफलदास्तत्सतामिह को ग्रहः ॥४१०॥
बहिस्तास्ताः क्रियाः कुर्वन्नरः संकल्पजन्मवान् ।
[5]भावाप्तावेव निर्वाति क्लेशस्तत्राधिकः परम् ॥४११॥
[6]निकामं कामकामात्मा तृतीया[7] प्रकृतिर्भवेत् ।
अनन्तवीर्यपर्यायस्तस्यानारतसेवने[8] ॥४१२॥
सर्वा क्रियानुलोमा स्यात्फलाय हितकामिनाम् ।
अपत्रार्थकामाभ्यां [9]यत्तौ न स्तां तदर्थिषु ॥४१३॥
क्षयामयं[10] समः कामः सर्वदोषोदयद्युतिः ।
[11]उत्सूत्रे तत्र मर्त्यानां कुतः श्रेयः समागमः ॥४१४॥
[12]देहद्रविणसंस्कारसमुपार्जनवृत्तयः ।
जितकामे वृथा सर्वास्तत्कामः सर्वदोषभाक् ॥४१५॥

अतः कामोद्दीपन करनेवाले कार्योंसे, कामोद्दीपन करनेवाले रसोंके सेवनसे और कामोद्दीपन करनेवाले शास्त्रोंके श्रवण या पठनसे अपनेमें कामका मद नहीं लाना चाहिए ॥४०८॥

जैसे हवनकी सामग्रीसे अग्नि और जलसे समुद्र कभी तृप्त नहीं होते। वैसे ही यह पुरुष सांसारिक भोगोंसे कभी तृप्त नहीं होता ॥४०९॥ ये विषय विषके तुल्य हैं। जब आते हैं तो प्रिय लगते हैं किन्तु अन्तमें विपत्तिको ही लाते हैं। अतः सज्जनका विषयोंमें आग्रह कैसे हो सकता है ॥४१०॥ तरह-तरहकी बाह्य क्रियाओंको करता हुआ कामी मनुष्य रति सुखके मिलने पर ही सुखी होता है। किन्तु इसमें क्लेश ही अधिक होता है सुख तो नाम मात्र है ॥४११॥ जो अत्यन्त कामासक्त होता है वह निरन्तर कामका सेवन करनेसे नपुंसक हो जाता है और जो निरन्तर ब्रह्मचर्यका पालन करता है वह अनन्त वीर्यका धारी होता है ॥४१२॥ जो अपना हित चाहते हैं उनकी सब अनुलोम क्रियाएँ फलदायक होती हैं। किन्तु अर्थ और कामको छोड़कर। क्योंकि जो अर्थ और कामकी अभिलाषा करते हैं उन्हें अर्थ और कामकी प्राप्ति नहीं होती, अतः उन्हें अर्थ और कामकी प्राप्ति होने पर भी सदा असन्तोष ही रहता है ॥४१३॥ काम क्षय रोगके समान सब दोषोंको उत्पन्न करता है। उसका आधिक्य होने पर मनुष्योंका कल्याण कैसे हो सकता है ? ॥४१४॥

जिसने कामको जीत लिया उसका देहका संस्कार करना, धन कमाना आदि सभी व्यापार व्यर्थ हैं; क्योंकि काम ही इन सब दोषोंकी जड़ है ॥४१५॥

---

१. देवदेयद्रव्यैः। 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्मेव भूय एवाभिवर्धते। २. अग्निर्न तोषमेति। ३. जलैः। ४. 'किंपाक फलसम्भोगसन्निभं तद्धि मैथुनम्। आपातमात्ररम्यं स्याद्विपाकेऽत्यन्तभीतिदम् ॥१०॥ –ज्ञानार्णव पृ० १३४। ५. रतिरसप्राप्तावेव सुखी भवति किन्तु तत्र सुखं स्तोकम्। ६. अतीव कामेच्छावान्। ७. नपुंसकः। ८. ब्रह्मचर्यस्य। ९. 'यत्कारणात्तावर्थकामौ न स्तां न भवेताम्, केषु ? तदर्थिषु अर्थकामवाञ्छकेषु। कोऽर्थः ? तेषु तृप्तिर्न भवतीति भावार्थः। १०. क्षयरोगसदृशः। ११. आधिक्ये। १२. देहस्य संस्कारवृतिः द्रविणस्योपार्जनवृत्तिः।

स्वाध्यायध्यानधर्माद्याः क्रियास्तावन्नरे कुतः।
इद्धे[1] चित्तेन्धने यावदेष कामाशुशुक्षणिः[2] ॥४१६॥
ऐदम्पर्यमतो[3] मुक्त्वा भोगानाहारवद्भजेत्।
देहदाहोपशान्त्यर्थमभिध्यानविहानये ॥४१७॥
परस्त्रीसंगमानङ्गक्रीडान्योपयमक्रियाः[4]।
तीव्रतारतिकैतव्ये[5][6] हन्युरेतानि तद् व्रतम्[7] ॥४१८॥
मद्यं द्यूतमुपद्रव्यं[8] तौर्यत्रिकमलंक्रिया[9]।
मदो विटा वृथाटयेति[10][11] दशधानङ्गजो गणः ॥४१९॥
हिंसनं साहसं द्रोहः पौरो[12] भाग्यार्थदूषणे।
ईर्ष्या वाग्दण्डपारुष्ये कोपजः स्याद्गणोऽष्टधा ॥४२०॥
ऐश्वर्यौदार्यशौण्डीर्यधैर्यसौन्दर्यवीर्यताः।
लभेताद्भुतसञ्चाराश्चतुर्थव्रतपूतधीः ॥४२१॥

जबतक चित्तरूपी ईंधनमें यह कामरूपी आग धधकती है तबतक मनुष्य स्वाध्याय, ध्यान, धर्माचरण आदि क्रिया कैसे कर सकता है? ॥४१६॥ अतः कामुकताको छोड़कर शारीरिक सन्तापकी शान्तिके लिए और विषयोंकी चाहको कम करनेके लिए आहारकी तरह भोगोंका सेवन करना चाहिए ॥४१७॥ परायी स्त्रीके साथ संगम करना, काम सेवनके अंगोंसे भिन्न अंगोंमें कामक्रीड़ा करना, दूसरोंके लड़की-लड़कोंका विवाह कराना, कामभोगकी तीव्र लालसाका होना और विटत्व, ये बातें ब्रह्मचर्यव्रतको घातनेवाली हैं ॥४१८॥ शराब, जुआ, मांस मधु, नाच, गाना और वादन, लिंगपर लेप वगैरह लगाना, शरीरको सजाना, मस्ती, लुच्चापन और व्यर्थ भ्रमण, ये दस कामके अनुचर हैं ॥४१९॥

हिंसा, साहस, मित्रादिके साथ द्रोह, दूसरोंके दोष देखनेका स्वभाव, अर्थदोष अर्थात् न ग्रहण करने योग्य धनका ग्रहण करना, और देयधनको न देना, ईर्ष्या, कठोर वचन बोलना और कठोर दण्ड देना ये आठ क्रोधके अनुचर हैं ॥४२०॥

ब्रह्मचर्याणुव्रती अद्भुत ऐश्वर्य, अद्भुत उदारता, अद्भुत शूर-वीरता, अद्भुत धीरता, अद्भुत सौन्दर्य और अद्भुत शक्तिको प्राप्त करता है ॥४२१॥

१. ज्वलति। २. कामाग्निः। 'श्रुतं सत्यं तपः शीलं विज्ञानं वृत्तमुत्तमम्। इन्धनीकुरुते मूढः प्रविश्य वनितानले ॥२२॥ –ज्ञानार्णव पृ० १६१। ३. आधिक्यम्। 'भजेद्देहमनस्तापशमान्तं स्त्रियमन्नवत्। क्षीयन्ते खलु धर्मार्थकामास्तदतिसेवया ॥२९॥ –सागारधर्मा० अ० ३। 'स्मरदोषास्पदं बुद्ध्वा स्वस्त्रीमन्नवदाश्रयेत्। देहदाहोपशान्त्यर्थं दुर्ध्यानस्यापि हानये ॥ ९८ ॥ –प्रबोधसार। ४. परविवाहकरणम्। ५. विपुलतृषा। ६. विटत्वम्। ७. ब्रह्मचर्यम्। 'परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशाः ॥२८॥–तत्त्वा० सू०, अ० ७। 'अन्यविवाहाकरणानङ्गक्रीडाविटत्वविपुलतृषाः। इत्वरिकागमनं चास्मरस्य पञ्च व्यतीचाराः ॥६०॥ –रत्नकरण्ड श्रा०। 'स्मरतीव्राभिनिवेशानङ्गक्रीडान्यपरिणयनकरणम्। अपरिगृहीतेतरयोर्गमने चेत्वरिकयोः पञ्च ॥१८६॥ –पुरुषार्थसि०। अमित० श्रा० ७, ६। सागारधर्मा० ४, ५८। ८. मांस मधु। ९. यन्त्रलिङ्गलेपादिप्रयोगः। १०. एवमेव विहरणम्। ११. 'मृगयाऽक्षो दिवा स्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः। तौर्यत्रिकं वृथाटद्या च कामजो दशको गणः ॥ ४७ ॥ –मनुस्मृति अ० ७। १२. पौरे भा–आ० मु०। पौरभा–ज०। पौरोभाग्यम्–असूयकत्वम्। 'पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्। वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥ ४८ ॥–मनुस्मृति अ० ७।

अनङ्गानलसंलीढे परस्त्रीरतिचेतसि ।
सद्यस्का विपदो ह्यत्र परत्र च दुरास्पदाः ॥४२२॥

श्रूयतामत्राब्रह्मफलस्योपाख्यानम्—काशिदेशेषु सुरसुन्दरीसपत्नपौराङ्गनाजनविनोदारविन्दसरस्यां वाणारस्यां संपादितसमस्तारातिसंतानप्रकर्षकर्षणो धर्षणो नाम नृपतिः। अस्यातिचिरप्ररूढप्रणयसहकारमञ्जरी सुमञ्जरी नामाग्रमहादेवी। पञ्चतन्त्रादिशास्त्रविस्तृतवचन उग्रसेनो नाम सचिवः। पतिहितैकमनोमुद्रा सुभद्रा नामास्य पत्नी। दुर्विलासरसरङ्गः कडारपिङ्गो नामानयोः सूनुः। अनवद्यविद्योपदेशप्रकाशिताशेषशिष्यः पुष्यो नाम पुरोहितः। सौरूप्यातिशयापहसितपद्मा[1] पद्मा नामास्य धर्मपत्नी। समस्ताभिजातजनवाह्यव्यवहारानुगः स कडारपिङ्गः स्वापतेयतारुण्यमदमन्दमानबलाबापलाद्दुरालपनभण्डेन षिड्गषण्डेन[2] सह नतभ्रूविभ्रमाभ्यर्थ्यमानभुजङ्गा[3]तिथिषु[4] वीथिषु संचरमाणस्तामेकदा प्रासादतलोपसदामरालपक्ष्मे[5]क्षणाक्षिप्तपद्मां[6] पद्मामवलोक्य

'एषेन्द्रियद्रुमसमुल्लसनाम्बुवृष्टि-
रेषा मनोमृगविनोदविहारभूमिः।
एषा स्मरद्विरदबन्धनवारिवृत्तिः
किं खेचरी किममरी किमियं रतिर्वा ॥४२३॥'

जिसका कामरूपी अग्निसे वेष्टित चित्त पर-नारीसे रति करनेमें आसक्त है उसे इसी जन्ममें तत्काल विपत्तियाँ उठानी पड़ती हैं और परलोकमें भी कठोर विपत्तियोंका सामना करना पड़ता है ॥४२२॥

दुराचारके फलके सम्बन्धमें एक कथा सुनें—

१६ दुराचारी कडारपिंगकी कथा

काशी देशमें वाराणसी नामकी नगरी है। उसमें धर्षण नामका राजा राज्य करता था। सुमञ्जरी नामकी उसकी पटरानी थी, और उग्रसेन नामका मन्त्री था। मन्त्रीकी पत्नीका नाम सुभद्रा था, और पुत्रका नाम कडारपिंग था। वह बड़ा विलासी था। राजपुरोहितका नाम पुष्य था और उसकी पत्नीका नाम पद्मा था।

मन्त्रीपुत्र कडारपिंग कुलीन पुरुषोंके न करने योग्य काम करता था। एक दिन वह धन और जवानीके मदसे मस्त होकर अश्लील बात-चीत करते हुए कामीजनोंके साथ उन गलियोंमें घूमता था, जहाँ स्त्रियोंके विलाससे आमन्त्रित होकर विलासी जन आतिथ्य ग्रहण करते हैं। उसने महलके ऊपर अपने सुन्दर नयनोंसे कमलको तिरस्कृत करनेवाली पद्माको देखा। वह सोचने लगा—

इन्द्रियरूपी वृक्षकी वृद्धिके लिए जलवृष्टि, मनरूपी मृगके विनोदके लिए क्रीड़ाभूमि और कामरूपी हाथीको बाँधनेके लिए सांकलके समान यह कौन है? कोई विद्याधरी है या देवाङ्गना है अथवा रति है? ॥४२३॥

---

१. तिरस्कृतलक्ष्मी। २. विटसमूहेन। ३. कामिजन। ४. गताम्। ५. अरालं चारु कुटिलं वा। ६. श्रियम्।

इति च विचिन्त्य मकरकेतुवशव्यापारनिधिः प्रवृत्तदुरभिसन्धिः पुरुषप्रयोगेणाभिमतसिद्धि-[1][2] मनवबुध्यमानः पराशयशैलविदारणतडिल्लतामिव[3] तडिल्लतां नाम धात्रीं अषड्क्षीणे[4] शरणे[5] सुनयायतनपतनादिभिः[6] पादपतनादिभिः प्रश्रयैरसदाशयाश्रयैरवन्ध्यसाध्यमुपरुध्य[7][8] स्वकीयाकूतकान्तारप्रवर्धनघरित्रीम[9][10] करोत्[11]।

तदुपरोधात्तथाविधविधिविधात्री[12] धात्री—(स्वगतम्) 'परपरि[13]ग्रहोऽन्यतरानुरागग्रहश्चेति दुर्घटप्रतिभासः खलु कार्योपन्यासः। अथवा सुघट एवायं कार्यघटः। यत-स्तप्तातप्तवयसोरयसोरिव चेतसोः साकृत्याय खलु पण्डितैर्दौत्यं[14] दौत्यमन्यथा सं[15]रंसतरसो-रम्भसोरिव द्वयोरपि द्रवस्वभावयोरेकीकरणे किं नु नाम प्रतिभाविजृम्भितम्। किं च।

सा दूतिकाभिमतकार्यविधौ बुधानां
चातुर्यवर्यवचनोचितचित्तवृत्तिः।
या [16]चुम्बकोपलकलेवहि [17]शल्यमन्त-
श्चेतोनिरूढमपरस्य बहिष्करोति ॥४२४॥

तदलं विलम्बेन। परिपक्वफलमिव न खलु व्यतिक्रान्तकालमदः[18] सर[19]सताधिष्ठान-मनुष्ठानम्। किं त्वस्य साहसावलम्बनधर्मणः कर्मणः सिद्धावसिद्धौ वा दैवात्परेङ्गिताकार-सर्वज्ञैः प्राज्ञैः कथमपि बहुजनावकाशे कृते सति [20]पुरश्चारी हि शरीरी भवति दुरपवाद-

ऐसा विचारते हुए उसने कामसे पीड़ित होकर दुष्ट संकल्प किया। बलात्कारके द्वारा अपने मनोरथकी सिद्धि न होती जानकर उसने दूसरेके अभिप्रायरूपी पर्वतको भेदनेमें बिजलीकी तरह कुशल तडिल्लता नामकी धायको उसके पास भेजनेका विचार किया। और एकान्त गृहमें नीतिवानोंको भी मार्ग भ्रष्ट करनेवाले पैरों पर गिरना आदि दुर्जनोंके द्वारा आश्रय की जानेवाली विनयके द्वारा उसे अपना मनोरथ सिद्ध करनेके लिए तैयार किया।

उसके अति आग्रहसे उस कार्यका भार लेकर धाय सोचने लगी—'पर-नारी और किसी दूसरेके प्रेमको जुटानेका कार्य बड़ा कठिन प्रतीत होता है। अथवा यह कार्य सरल ही है; क्योंकि तपे हुए और बिना तपे हुए लोहोंके समान दो चित्तोंको मिलानेके लिए पंडित जन जो कुछ प्रयत्न करते हैं वही तो वास्तवमें दौत्य है। अन्यथा वेगसे बहनेवाले दो जलोंकी तरह दो तरल हृदयोंको मिलानेमें क्या बुद्धिमानी है?' तथा

वही दूती इष्ट कार्यको करनेमें चतुर कहलाती है, जो चुम्बक पत्थरकी तरह दूसरेके मनके भीतरके शल्यको बाहर निकाल लेती है ॥४२४॥

अतः इस कार्यमें देरी नहीं करनी चाहिए। जैसे समय बीत जानेपर पका फल भी सरस नहीं रहता वैसे ही समय बीत जानेपर सुकर काम भी दुष्कर हो जाता है। किन्तु यह कार्य बड़े साहसका है भाग्यवश यह सिद्ध हो या न हो किन्तु दूसरेके अभिप्रायको जाननेमें सर्वज्ञ विद्वान् भी यदि ऐसे कार्यको बहुतसे मनुष्योंके सामने करें तो दूत निन्दाका पात्र तो बनता ही है, साथ

१. बलात्कारेण। २. –मतकार्यघटनासिद्धि—आ०। ३. विद्युत्। ४. न सन्ति षट् अक्षीणि यत्र—तृतीयागोचरे। ५. गृहे। ६. सुनयायतनस्य पतनं गमनमदन्ति विनाशयन्तीत्येवं शीलानि तैः। ७. विनयैः। ८. सफल। अवन्ध्यसाध्यमिति क्रियाविशेषणम्। ९. अभिप्रायवन। १०. भूमिप्रायाम्। ११. तस्याग्रहात्। १२. कर्त्री। १३. कलत्रम्। १४. यत् क्रियते तदेव दूतत्वम्। १५. द्रवीभूतवेगयोः। १६. चुम्बकपाषाण। १७. पक्षे लोहादिकम्। १८. कार्यम्। १९. यथा पक्वं फलं अतीतकाले सरसं न भवति। २०. दूतः।

परागावसरो व्यसनगोचरश्च। तद् भ्वर्नयेयमिदमवसेयमद्वितीयापत्यप्रसवाय सचिवाय। तदुदाहरन्ति न चानिवेद्य भर्तुः किञ्चिदारम्भं कुर्यादन्यत्रापत्प्रतीकारेभ्य' इति। (प्रकाशम्) 'प्राणप्रियैकापत्य अमात्य, ईदृश इव ननु भवादृशोऽपि जनो जातजीविताऽमृतानिषेकाय अचिरत्नं यत्नं कर्तुमर्हति।'

अमात्यः—'समस्तमनोरथसमर्थनकथास्मार्ये आर्ये, तज्जीविताऽमृतनिषेकाय मज्जीवितोचितविवेकाय च तत्रभवत्येव प्रभवति।'

धात्री—'अथ किम्। तथाप्यबलाजनमनोतिरिक्तप्रतिभावता तत्रभवतापि प्रतियतितव्यम्।' इत्यभिधाय धृतकात्यायिनीप्रतिकर्मा करतलामलकमिवाकलितसकलस्त्रैणधर्मा तैस्तैः परचित्ताकर्षणमन्त्रैर्वचनैश्चक्षुश्चेतोह्लादैर्वास्तुभिश्च अतिचिरायाचरितोपचारा परिप्राप्तप्रणयप्रसरावतारा च एकदा मुदा रहसीमं प्रस्तुतकार्यघटनासमसीमं तां पुष्यकान्तामुद्दिश्य श्लोकमुदाहार्षीत्।

'स्त्रीषु धन्यात्र गङ्गैव परभोगोपगापि या।
मणिमालेव सोल्लासं ध्रियते मूर्ध्नि शम्भुना ॥४२५॥'

भट्टिनी—(स्वगतम्) इत्वरीजनाचरणहर्म्यनिर्माणाय प्रथमसूत्रपात इवायं वाक्यो-

ही साथ मुसीबतमें भी पड़ जाता है। इसलिए यह कार्य केवल एक ही पुत्रवाले मंत्रीसे कह देना चाहिए, कहा भी है कि स्वामीसे निवेदन किये बिना दूतको कोई भी काम नहीं करना चाहिए। हाँ, यदि कोई आपत्ति आ जाये तो उसका प्रतीकार स्वामीसे बिना कहे भी किया जा सकता है।'

ऐसा मनमें सोचकर धाय मन्त्रीसे बोली—

'मंत्री जी! आपका यह प्राणप्रिय इकलौता लड़का है। आप भी पहले ऐसे ही थे। इसलिए पुत्रके जीवनको बचानेके लिए आपको शीघ्र प्रयत्न करना चाहिए।'

मंत्री—आर्ये! मेरे और मेरे पुत्रके जीवनको बचाना आपके ही हाथ है।

धाय—सो तो है ही, किन्तु फिर भी आपकी प्रतिभा हम स्त्रियोंकी बुद्धिसे बहुत अधिक है। इसलिए आपको भी प्रयत्न करना चाहिए।

इतना कहकर धायने ढलती उम्रकी स्त्रीका वेश धारण किया। वह स्त्रीजनोचित सब बातोंमें बड़ी चतुर थी। उसने दूसरेके चित्तको आकृष्ट करनेवाले वचनोंसे और आँखों तथा मनको प्रसन्न करनेवाली वस्तुओंसे कुछ दिनोंमें ही पद्माको खुश कर लिया। एक दिन प्रेमका जाल फैलाने का अवसर आया देखकर धायने बड़े हर्षके साथ एकान्तमें पद्माको लक्ष्य करके एक श्लोक कहा उसका भाव यह था--'इस लोककी स्त्रियोंमें गङ्गा नदी ही धन्य है, जिसे सब भोगते हैं, फिर भी महादेव बड़े हर्षसे मणियोंकी मालाकी तरह उसे अपने मस्तक पर धारण करते हैं ॥४२५॥

इसे सुनकर पद्माने अपने मनमें विचारा--'इसकी यह भूमिका तो दुराचारिणी स्त्रियोंके

---

१. भूत येय—मु०। कथयामि। २. कार्यम्। ३. आर्याः कथयन्ति। ४. आपत्प्रतीकारः स्वामिनोऽनिवेद्यापि करणीयः, अन्यत्कार्यं कथनीयमित्यर्थः। ५. पूर्वं त्वमपीदृशोऽभूः इति भावः। ६. पुत्रजीवितमेवाऽमृतं तत्सेचनाय। ७. त्वमेव। ८. समर्था। ९. अर्धवृद्धा। १०. वचनैः। ११. वास्तुभिर्वस्तुभिश्च अ.।

[1]पोद्घातः। तथा चाह येयं[2] तावदेतदाकू[3]तपरिपाकम्। (प्रकाशम्।) आर्ये, किमस्य सुभाषितस्य पैदम्पर्यम्[4]।

धात्री—परमसौभाग्यभागिनि भट्टिनि, जानासि एवास्य सुभाषितस्य [5]कैम्पर्यम्, यदि न वज्रघटितहृदयासि।

भट्टिनी—(स्वगतम्) सत्यं वज्रघटितहृदयाहम्, यदि भवत्प्रयुक्तोपघातघण[6]-अर्जरितकाया न भविष्यामि। (प्रकाशम्) आर्ये, हृदयेऽभिनिविष्टमर्थं श्रोतुमिच्छामि।

धात्री—वत्से, कथयामि। किं तु।

'चित्तं द्वयोः पुरत एव निवेदनीयं
ज्ञानाभिमान[7]धनधन्यधिया नरेण।
यः प्रार्थितं न [8]रहयत्यभियुज्यमानो[9]
यो वा भवेन्ननु जनो मनसोऽनुकूलः ॥४२६॥

भट्टिनी—(स्वगतम्) अहो नभः[10]प्रकृतिमपीयं पङ्केरुपलेप्तुमिच्छति। (प्रकाशम्) आर्ये, [11]उभयत्रापि समर्थाहं न चैतन्मदुपज्ञं[12] भवदुपक्रमं वा।

धात्री—(स्वगतम्) [13]अनुगुणेयं खलु कार्यपरिणतिः, यदि निकटतटतन्त्रस्य वहित्र[14]पात्रस्येव [15]दुर्वातालीसन्निपातो न भवेत्। (प्रकाशम्) अत एव भद्रे, वदन्ति पुराणविदः—

योग्य दुराचारका महल बनानेके लिए पहला नापा-जोखी जैसी है। फिर भी जो कुछ इसने कहा है उसके अभिप्रायको परिपक्व करनेका प्रयत्न करना चाहिए।' यह सोच धायसे बोली—'माता आपके इस सुभाषितका क्या मतलब है ?'

धाय—परम सौभाग्यवती देवी यदि तुम्हारा हृदय वज्रका नहीं है तो इस सुभाषितका मतलब तुम जानती ही हो।

पद्मा—(मनमें) यदि तुम्हारे द्वारा फेंके गये इस लोह मुद्गरसे मेरा मन चूर्ण नहीं होता तो जरूर मेरा हृदय वज्रसे बना है। (प्रकाशमें) माता ! हृदयमें वर्तमान अर्थको मैं तुमसे सुनना चाहती हूँ।

धाय—पुत्री ? बतलाती हूँ। किन्तु समझदार और स्वाभिमानी मनुष्यको दोके ही सामने अपने मनकी बात कहनी चाहिए। एक तो उससे, जो प्रार्थना करने पर प्रार्थनाको अस्वीकार न करे। दूसरे उससे, जो अपने मनके अनुकूल हो ॥४२६॥

पद्मा—(मनमें) देखो इसकी धृष्टता, आकाशकी तरह निर्लिप्त वस्तुको भी यह कीचड़से लीपना चाहती है। (प्रकाशमें) माता ! मैं उक्त दोनों बातोंमें समर्थ हूँ। न मेरे लिए यह कोई नयी बात है और न इसमें तुम्हारा ही कुछ प्रयत्न है।

धाय—(मनमें) यदि कोई तूफ़ान न आ पहुँचे तो तटके निकट आये हुए जहाजकी तरह यह कार्य सिद्ध है। (प्रकाशमें) पुत्री ! इसीलिए पुराणकारोंने कहा है कि प्राचीनकालमें

---

१. अवतारणक्रमः। २. या इयं धात्री आह। ज्ञेयं आ०। ३. अभिप्रायोदयं सूत्रपातसदृशम्। ४. रहस्यम्। ५. रहस्यम्। ६. –घुण-अ० ज०। ७. –न घवनधन्य– आ० ज०। ८. त्याजयति। ९. प्रार्थितः। १०. आकाशस्वभावम्। ११. प्रार्थितदाने मनोऽनुकूलतायाञ्च। १२. न हि मदीय उपाधिर्न च भवदीय उद्यमः किन्तु पुरैव ईदृशी गतिरस्ति। १३. अनुकूला इयम्। १४. पोतस्य। १५. वात्या।

'विधुर्गुरोः कलत्रेण गोतमस्यामरेश्वरः ।
[1]संतनोश्चापि [2]दुश्चर्मा समगंस्त पुरा किल ॥४२७॥'

भट्टिनी—आर्ये, एवमेव । यतः-

'स्त्रीणां वपुर्बन्धुभिरग्निसाक्षिकं परत्र विक्रीतमिदं न मानसम् ।
स एव तस्याधिपतिर्मतः कृती विस्रम्भगर्भा ननु यत्र निर्वृतिः ॥४२८॥'

धात्री—पुत्रि, तर्हि श्रूयताम् । त्वं किलैकदा कस्यचित्कुसुम[3]किसारुनिर्विशेषवपुषः पुराङ्गनाजनलोचनोत्पलोत्सवामृतरोचिषः प्रासादपरिसरविहारिणी वीक्षणपथानुसारिणी सती कौमुदीव हृदयचन्द्रकान्तानन्दस्यन्दसंपादिनी अभूः । तत्प्रभृति ननु तस्य मदनसुन्दरस्य यूनः [4]प्रत्यवसितवसन्तश्रीसमागमसमयस्य [5]पुष्पन्धयस्येव [6]रसालमञ्जर्यामिव भवत्यां महान्ति खलु मन्दमकरन्दास्वादन[7]दोहदानि, नितान्तं चिन्ताचक्रपरिक्रान्तं स्वान्तम्, प्रसभं गुणस्मरणपरिणामाधिकरणमन्तःकरणम्, अनवरतं रामणीयकानुकीर्तनसंकेतं चेतः, प्रविकसत्कुसुमविलासोचितसंनिहितेऽप्यन्यस्मिँल्लताकान्ताजने महानुद्वेगः, पिशाचच्छलितस्येवास्थानानुबन्धः, सञ्जातोन्मादस्येव विचित्रोपलम्भः क्रियाप्रारम्भः, [8]स्कन्दगदगृहीतस्येव प्रतिवासरं कार्श्यावतारः, स्मराराधनप्रणीतप्रणिधानस्येवेन्द्रियेषु [9]सन्नता जडता प्राणेषु [10]चाद्यश्वीनपथाकथा । अपि च-

'अनवरतजलार्द्रान्दोलनस्पन्दमन्दै-
रतिसरसमृणालीकन्दलैश्चन्दनार्द्रैः ।

चन्द्रमाने अपनी गुरुपत्नीसे, इन्द्रने गौतमकी पत्नी अहिल्यासे और महादेवने संतनु राजाकी पत्नीसे संगम किया था ॥४२७॥

पद्मा—माता आपका कहना ठीक है; क्योंकि बन्धु-बान्धव अग्निकी साक्षी पूर्वक स्त्रीका शरीर दूसरेको बेच देते हैं, मन नहीं। उसका पति तो वही भाग्यशाली होता है जिससे उसे विश्वासके साथ ही साथ सुरत भी मिलता है ॥४२८॥

धाय—पुत्री ! तो सुन एक दिन तू अपने महलके ऊपर घूमती थी। फूलकी पंखुड़ीकी तरह कोमल और नगरकी स्त्रियोंके नयन कुमुदोंको विकसित करनेके लिए चन्द्रमाके तुल्य किसी युवाकी दृष्टि तेरे ऊपर पड़ गयी। जैसे वसन्तका समागम होनेपर भौंरा आमकी मंजरीका रस पान करनेके लिए लालायित रहता है वैसे ही उस दिनसे कामदेवकी तरह सुन्दर वह युवा तेरे रसका पान करनेके मनोरथ बाँधता रहता है। उसी दिनसे उसका चित्त तेरे लिए चिन्तित है, सदा तेरे गुणोंको स्मरण करता है, तेरी सुन्दरताका बखान करता है, विलासके योग्य अन्य स्त्रियोंके पास आनेपर भी उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता। भूताविष्टकी तरह एक स्थानपर नहीं बैठता। पागलोंकी तरह विचित्र काम करता है। क्षयरोगके रोगीकी तरह दिन-दिन कृश होता जाता है। इन्द्रियाँ ऐसी क्षीण हो गयी है मानो कामदेवकी आराधनाके लिए उसने ध्यान लगाया है। आज-कलमें ही उसके प्राण पखेरू उड़ना चाहते हैं। तथा सदा जलसे भीगे हुए पंखेसे

---

१. शांतनुराज्ञः । २. हरः । ३. कामः । ४. संजात । ५. भ्रमरस्य । ६. आम्र । ७. -स्वादने दो- आ० म० द० । ८. स्कन्ध -आ० मु० । क्षयरोग । ९. क्षीणता । १०. अद्य कल्ये वा प्राणा यास्यन्ति ।

अमृतरुचिमरीचिप्रौढितायां निशायां
प्रियसखि सुहृदस्ते किञ्चिदात्मप्रबोधः[1] ॥४२९॥'

भट्टिनी—आर्ये, किमित्यद्यापि गोपाय्यते।

धात्री—([2] कर्णजाहमनुसृत्य) एवमेवम्।

भट्टिनी—को दोषः।

धात्री—कदा।

भट्टिनी—यदा तुभ्यं रोचते।

इतश्चानन्तरायतया [3]तनयानुमताहितमतिपाटवः सचिवोऽपि नृपतिनिवासोचितप्रचारेषु [4]वासुरेषु गुणव्यावर्णनावसरायातमेतस्य महीपतेः पुरस्ताच्छ्लोकमिममुप[5]न्यास्थत—

'राज्यं प्रवर्धते तस्य किञ्जल्पो यस्य वेश्मनि।
शत्रवश्च क्षयं यान्ति सिद्धाच्चिन्तामणेरिव ॥४३०॥'

राजा—अमात्य, क्व तस्य प्रादुर्भूतिः, कीदृशी च तस्याकृतिः।

अमात्यः—देव, भगवतः पार्वतीपतेः [6]श्वशुरस्य मन्दाकिनीस्पन्दनिदानकन्दरनीहा[7]रस्य [8]रमणसहचरखेचरीसुरतपरिमलमत्तमत्तालिमण्डलीविलिख्यमानमरकतमणिमेखलस्य प्रालेयाचलस्य [9]वृन्तोत्पलषण्डमण्डितशिखण्डस्य रत्नशिखण्डनाम्नः शिखरस्याभ्यासे[10] निः-

मन्द-मन्द हवाके किये जानेसे और अत्यन्त सरस कमलोंके डोंडोंको चन्दनके रसमें भिगोकर उनका लेप करनेसे चाँदनी रातमें तेरे प्रेमीको कुछ होश होता है ॥४२९॥

पद्मा—माता! तो अब तक यह बात तुम क्यों छिपाये रहीं?

धाय—(कानमें)। इस इस प्रकार।

पद्मा—इसमें क्या बुराई है?

धाय—तो कब?

पद्मा—जब तुम चाहो।

इधर धायका प्रयत्न चालू था उधर मन्त्री भी प्रतिदिन अपने पुत्रकी हित-कामनासे राजाके पास जाता था और राजाके महलमें रहने योग्य पक्षियोंके गुणोंका वर्णन किया करता था। एक दिन अवसर पाकर उसने राजाके सामने एक श्लोक पढ़ा। जिसका मतलब यह था कि जिस राजाके महलमें किञ्जल्प नामका पक्षी रहता है उसका राज्य बढ़ता है और सिद्ध किये गये चिन्तामणि रत्नकी तरह उससे शत्रु नष्ट हो जाते हैं ॥४३०॥

राजा—मन्त्री! यह पक्षी कहाँ पैदा होता है और उसकी शक्ल कैसी होती है?

मंत्री—स्वामी! भगवान् महादेवके श्वसुर हिमालय पर्वतकी रत्नशिखण्ड नामकी चोटीके समीपमें एक गुफा है, जिसमें सब प्रकारके पक्षी उत्पन्न होते हैं। जटायु, वैनतेय, वैशम्पायन

१. -प्रबोधैः आ० ज० ब०। २. कर्णसमीपं शनैः कथितवती। ३. पुत्र। तयानुमता हि गता म-ब०। ४. पक्षिषु। ५. पठति स्म। ६. हिमाचलस्य। ७. हिमस्य। हिमं गलित्वा जलं भूत्वा गङ्गा वहति। ८. भर्तृसहगमन। ९. कर्णिकार। १०. समीपे।

शेषशकुन्तसंभवायद्दा गुहा समस्ति। यस्यां जटायु-वैनतेय-वैशम्पायनप्रभृतयः शकुन्तयः प्रादुरासन्। [1]तस्यामेव [2]तस्योत्पत्तिः। तां च गुहामहं पुण्यश्चानेकशो नन्दाभगवतीयात्रानुसारित्वात्साधु जानीवः। प्रतिकृतिश्चास्या[3]नेकवर्णा मनुष्यसवर्णा[4] च।

भूपालः—(सञ्जातकुतूहलः) अमात्य, कथं तद्दर्शनोत्कण्ठा ममाकुण्ठा स्यात्।

अमात्यः—देव, मयि पुण्ये वा गते सति।

राजा—अमात्य, भवानतीव [5]प्रवयाः। तत्पुण्यः प्रयातु।

अमात्यः—देव, तर्हि दीयतामस्मै सरत्नालङ्कारप्रवेकं[6] पारितोषिकम्, [7]अगणेयं पाथेयं च।

राजा—बाढम्।

स्वामिचिन्ताचारचक्षुष्यः पुण्यस्तथादिष्टो[8] गेहमागत्य 'आदेशं न विकल्पयेत्' इति मतानुसारी प्रयाणसामग्रीं कुर्वाणस्तया सतीव्रतपवित्रितसपया पद्मया पृष्टः—'भट्ट, किमकाण्डे प्रयाणाडम्बरः।

पुण्यः—प्रस्तुतमाचष्टे।

भट्टिनी—भट्ट, सर्वमेतत्सचिवस्य कूटकपटचेष्टितम्।

भट्टः—भट्टिनि, किं नु खल्वेतच्चेष्टितस्यायतनम्[9]।

भट्टिनी—प्रक्रान्तमभाषिष्ट।

भट्टः—किमत्र कार्यम्।

आदि पक्षी उसी गुफामें पैदा हुए थे। उसी गुफामें किञ्जल्प नामका पक्षी उत्पन्न होता है। उस गुफाको मैं और पुण्य अच्छी तरह जानते हैं क्योंकि हम दोनों भगवती नन्दाकी यात्रा करने गये थे। उसका आकार मनुष्यकी तरह होता है और वह अनेक रंगका होता है।

राजा—(बड़े कौतूहलसे) मंत्री! उसके दर्शनकी मेरी अभिलाषा कैसे सफल हो?

मंत्री—स्वामी! मेरे या पुण्यके जानेसे आपकी अभिलाषा पूर्ण हो सकती है।

राजा—मंत्री! तुम बहुत वृद्ध हो इसलिए पुण्यको भेज दो।

मंत्री—स्वामी! तो पुण्यको उत्तम रत्नजड़ित कंकण पारितोषिकमें दीजिए और रास्तेके लिए बहुत-सी आवश्यक सामग्री भी।

राजा—अच्छा।

आज्ञा पाकर पुण्य घर आया। उसका मत था कि आज्ञामें संकल्प विकल्प नहीं करना चाहिए। अतः आते ही जानेकी तैयारी करने लगा। पतिव्रता पद्माने यह देखकर पूछा—'स्वामी! यह असमयमें जानेकी तैयारी क्यों?'

पुण्य—प्रस्तुत बातको कहता है।

पद्मा—यह सब कपटी मन्त्रीका जाल है।

पुण्य—ऐसा करनेका कारण क्या?

पद्माने सब कुछ कह सुनाया।

पुण्य—फिर अब क्या करना चाहिए?

---

१. गुहायाम्। २-३ किंजल्पपक्षिणः। ४. समाना। ५. वृद्धः। ६. कङ्कणम्। ७. प्रचुरम्। ८. तदा दिष्टो आ०। ९. कारणम्।

भट्टिनी—कार्यमेतदेव। दिवा सप्रकाशमेतस्मात्पुरात्प्रस्थाय निशि निभृतं च प्रत्यावृत्य अत्रैव महावकाशे निजनिवासनिवेशे सुखेन वस्तव्यम्। उत्तरत्राहं जानामि।

भट्टः—तथास्तु।

ततोऽन्यदा तया परनिकृतिपात्र्या[1] धाव्या [2]सदुराचाराभिषङ्गः कडारपिङ्गः सुप्तजनसमये समानीतः 'समभ्यसतु तावदिहैवेयमयं[3] च महीमूलं यियासुः पातालावासदुःखम्' इत्यनुध्याय तया पद्मया [4]महावर्तस्य गर्तस्योपरि कल्पितातायामवानायां खट्वायां क्रमेणोपवेशितवपुषौ तौ द्वावपि दुरातङ्कावन्ध्ये श्वभ्रमध्ये विनिपेततुः। अनुबभूवतुश्च निखिलपरिजनोच्छिष्टसिक्थजीवनौ कुम्भीपाकोपक्रमं षट्समा[5]शाखान्दुःखक्रमम्।

पुनरेकदा 'स्वाम्यादेशविशेषविदुष्यः पुष्यः तथाविधपक्षिप्रसवसमर्थपक्षिणीसहितं कृतपञ्जरपरिकल्पं किञ्जल्पमादाय आगच्छंस्त्रिचतुरेषु वासरेष्वस्यां पुरि प्रविशति' इति प्रसिद्धम्। प्रवर्तिनी भट्टिनी विविधवर्णविडम्बितकायेन चटकचकोरचाषचातकादिच्छदच्छादितप्रतीक[6]निकायेन पञ्जरालयेन तद्द्वयेन सह चिरप्रवासोचितवेषजोष्यं[7] पुष्यं पुरोपवने विनिवेश्य भट्टोद्भूतारम्भसंभाषणसनाथसखीजनसंकल्पा धृतप्रोषितभर्तृकाकल्पाभि[8]मुखमयासीत्। अपरेद्युः स निखिलगुणविशेष्यः पुष्यः पृथिवीपतिभवनमनुगम्य 'देव, अयं स किञ्जल्पः पक्षी, इयं च तत्प्रसवित्री पतत्रिणी च' इत्याचरत्।

पद्मा—यही करना चाहिए कि दिन चढ़नेपर इस नगरसे प्रस्थान करो और रातमें चुपचाप लौट कर अपने इसी बड़े मकानके किसी एक हिस्सेमें सुखसे निवास करो। आगे जो करना है वह मैं कर लूँगी।

पुष्य—ठीक है।

दूसरे दिन जब सब सो गये तो वह ठगनी धाय उस दुराचारी कडारपिंगको लेकर आयी। उधर पद्माने यह सोचकर कि 'ये दोनों नरकगामी इसी जन्ममें नरकके दुःखोंको सहनेका अभ्यास क्यों न करें' अपने घरमें एक खूब गहरा गढ़ा खुदवाकर उसके ऊपर बिना बुनी खाट बिछा दी और खाटपर एक कपड़ा डाल दिया। वे दोनों जैसे ही उस खाटपर बैठे दोनों उस गड्ढेमें गिर गये। और छह मासतक सबका झूठा भात खाकर नरकके समान दुखोंको भोगते रहे।

एक दिन सारे नगरमें यह बात फैल गयी कि स्वामीकी आज्ञाका पालक पुष्य एक पिंजरेमें किञ्जल्प पक्षीको और इस प्रकारके पक्षीको जन्म दे सकने वाली पक्षिणीको लेकर आ रहा है और तीन चार दिनमें वह इस नगरमें प्रवेश करेगा। उधर पद्माने उन दोनोंके शरीरोंको अनेक रंगोंसे रँगा और चिड़िया, चकोर, नीलकण्ठ, चातक आदि पक्षियोंके पर उनपर चिपका दिये। तथा पिंजरेमें बन्द करके उन दोनोंके साथ अपने पति पुष्यको चिर प्रवासके योग्य वेश बनाकर पहलेसे नगरके बाहर स्थित उपवनमें भेज दिया। और आप विरहिणी स्त्रीका वेश बनाकर पुरोहितके अद्भुत कार्यके सम्बन्धमें बातचीत करनेके लिए आतुर सहेलियोंके साथ पतिसे मिलने गयी।

दूसरे दिन गुणी पुष्य राजभवनमें जाकर बोला—"महाराज! यह किंजल्प पक्षी है और

---

१. माया। २. दुराचारेण सह अभिषङ्गः सम्बन्धो यस्य। ३. धात्रीकडारपिंगौ। ४. विस्तारेण गम्भीरस्य। ५. मासान्। ६. अवयव। ७. सेवनीयम्। ८. वेषा। ९. सम्मुखं गता।

राजा—(चिरं निर्वर्ण्य निर्णीय च स्वरेण ।) पुरोहित, नैष खलु किञ्जल्पः पक्षी, किं तु कडारपिङ्गोऽयम् । एषापि विहङ्गी न भवति, किं तु तडिल्लतेयं कुट्टिनी ।

पुष्यः—देव, एतत्परिज्ञाने प्रगल्भमतिप्रसवः सचिवः ।

राज्ञा सचिवस्तथा पृष्टः क्ष्मातलं प्रविविक्षुरिव[1] क्षोणीतलमवालोकत ।

राजा—पुष्य, समास्तामयं, भवानेतद्व्यतिकरं कथयितुमर्हति ।

पुष्यः—स्वामिन् , कुलपालिकात्र प्रगल्भते ।

भूपतिः भट्टिनीमाहूय 'अम्ब, कोऽयं व्यतिकरः' इत्यपृच्छत् । भट्टिनी गतमुदन्तमाख्यत्—काश्यपीश्वरः शैलूष[3] इव हर्षामर्षोत्कर्षस्थामवस्थामनुभवन्निखिलान्तःपुरपुरन्ध्रीजनवन्द्यमानपादपद्मां पद्मां तैस्तैः सतीजनप्रह्लादनवचनैः सम्मानसन्निधानैरलङ्कारदानैश्चोपचर्य, प्रवेश्य च वेदविद्द्विजोह्यमानकर्णीरथारूढां वेश्म[4], पुनः 'अरे निहीन, किमिह नगरे न सन्ति सकललोकसाधारणभोगाः सुभगाः सीमन्तिन्यः, येनैवमाचरः । कथं च दुराचार, एवमाचरन्नात्र विलायं[5] विलीनोऽसि । तदिदानीमेव यदि भवन्तं तृणाङ्कुरमिव [6]तृणेह्मि तदा न बहुकृतमपकृतं स्यात्' इति निर्वरं निर्भर्त्स्य दुर्नयगरभुजङ्गं कडारपिङ्गं कुट्टिनीमनोरथातिथि[7]सत्रिणमुग्रसेनमन्त्रिणं च निखिलजनसमक्षमाक्रोशणपूर्वकं प्रावासयत् । दुष्प्रवृत्तानङ्गमा-

---

यह उसको जन्म देने वाली पक्षिणी है ।'

राजा—(बहुत देरतक देखकर और स्वरसे पहचान कर) पुरोहित ! यह किञ्जल्प पक्षी नहीं है, यह तो कडारपिङ्ग है । यह भी पक्षिणी नहीं है किन्तु कुट्टिनी तडिल्लता है ।

पुष्य—स्वामी ! इनको पहचाननेमें मन्त्रीजी बहुत प्रवीण हैं ।

राजाने मन्त्रीसे उन्हें पहचाननेके लिए कहा तो मन्त्री पृथ्वीको देखता रह गया, मानो पृथ्वीमें समा जाना चाहता है ।

राजा—पुष्य ! मन्त्रीको रहने दो, तुम सब समाचार कहो ।

पुष्य—स्वामी ! मेरी पत्नी ही यह काम कर सकनेमें समर्थ है ।

राजाने पद्माको बुलाकर कहा—"माता ! यह क्या मामला है ?" पद्माने सब बीता वृत्तान्त सुना दिया । वृत्तान्त सुनते-सुनते कभी राजा नटकी तरह प्रसन्न होता था और कभी क्रोधसे तमतमा उठता था । सब सुनकर अन्तःपुरकी स्त्रियोंने पद्माके पैर पड़े और राजाने सती स्त्रियोंके योग्य आनन्ददायक वचनोंसे और आदरसूचक वस्त्राभरणके प्रदानसे पद्माको सम्मानित करके पालकीमें बैठाकर उसके घर पहुँचा दिया । फिर कुट्टिनी और कडारपिङ्गका तिरस्कार करते हुए बोला—"अरे नीच ! क्या इस नगरमें वेश्याएँ नहीं हैं जो तूने ऐसा आचरण किया । अरे दुराचारी ! ऐसा करते हुए तू मर क्यों नहीं गया ? अतः यदि इसी समय मैं तुझे तिनके-की तरह नष्ट कर डालूँ तो यह तेरा बहुत अपकार नहीं कहलायेगा ।" इस प्रकार बुरी तरहसे तिरस्कार करके दुराचारी कडारपिङ्गको और कुट्टिनीके साथी उग्रसेन मन्त्रीको सब लोगोंके सामने फटकारते हुए देशसे निर्वासित कर दिया ।

---

१. प्रवेशं कर्तुमिच्छुरिव । २. तिष्ठतु तावदयं मन्त्री । ३. नटाचार्यवत् । ४. गृहम् । ५. विनाशं गत्वा किन्न विनष्टोऽसि । ६. हिनस्मि । ७. यजमानम् । ८. आक्रोश । ९. निर्घाटितः । १०. अनङ्ग एव मातङ्गो यस्य ।

तङ्गः कडारपिङ्गस्तथा प्रजाप्रत्यक्षमाक्षारितः सुचिरमेतदेनःफलमनुभूय [1]दशमीस्थः सन् श्वभ्रप्रभवभाजनं[2] जनमभजत।

भवति चात्र श्लोकः—

मन्मथोन्माथितस्वान्तःपरस्त्रीरतिजातधीः।
कडारपिङ्गः संकल्पादिपपात रसातले ॥४३१॥

इत्युपासकाध्ययनेऽब्रह्मफल[3]सारणो नामैकत्रिंशत्तमः कल्पः।

ममेदमिति संकल्पो बाह्याभ्यन्तरवस्तुषु।
[4]परिग्रहो मतस्तत्र कुर्याच्चेतोनिकुञ्चनम् ॥४३२॥
क्षेत्रं[5] धान्यं धनं वास्तु कुप्यं शयनमासनम्।
द्विपदाः पशवो भाण्डं बाह्या दश परिग्रहाः ॥४३३॥
[6]समिथ्यात्वास्त्रयो वेदा हास्यप्रभृतयोऽपि षट्।
चत्वारश्च कषायाः स्युरन्तर्ग्रन्थाश्चतुर्दश ॥४३४॥

इस प्रकार व्यभिचारके लिए प्रजाके सामने तिरस्कृत होकर कामी कडारपिङ्ग बहुत समय तक इस पापका फल भोगता रहा। फिर मरकर नरकमें चला गया।

इस विषयमें एक श्लोक है, जिसका भाव इस प्रकार है—

'कामसे पीड़ित और परस्त्री सम्भोगके लिए उत्सुक कडारपिङ्ग परस्त्रीगमनके संकल्पसे नरकमें गया।' ॥ ४३१ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें दुराचारके फलको बतलानेवाला एकतीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[अब परिग्रह परिमाण व्रतको कहते हैं—]

बाह्य और अभ्यन्तर वस्तुओंमें 'यह मेरी है' इस प्रकारके संकल्पको परिग्रह कहते हैं। उसके विषयमें चित्तवृत्तिको संकुचित करना चाहिए अर्थात् संकल्पको घटाकर परिग्रहका परिमाण करना चाहिए ॥ ४३२ ॥

खेत, अनाज, धन, मकान, ताँबा-पीतल आदि धातु, शय्या, आसन, दास-दासी, पशु और भाजन ये दस बाह्य परिग्रह हैं ॥ ४३३ ॥

मिथ्यात्व, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, हास्य, शोक, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ ये चौदह अन्तरङ्ग परिग्रह हैं ॥ ४३४ ॥

भावार्थ—बाह्य वस्तुओंको बाह्य परिग्रह कहते हैं। और आत्माके कर्मजन्य क्रोधादि भावोंको अन्तरंग परिग्रह कहते हैं।

---

१. मृतः। २. स्थानं नारकलोकं श्रित इत्यर्थः। ३. साधारणो मु०। ४. 'मूर्च्छा परिग्रहः ॥ १७ ॥' –तत्त्वा० सू० ७ अ०। 'ममेदमिति सङ्कल्पश्चिदचिन्मिश्रवस्तुषु। ग्रन्थस्तत्कर्शनात्तेषां कर्शनं तत्प्रमाव्रतम् ॥५९॥' –सागारधर्मा०। ५. 'वास्तु क्षेत्रं धनं धान्यं दासी दासं चतुष्पदं भाण्डम्। परिमेयं कर्त्तव्यं सर्वं सन्तोषकुशलेन ॥ ७३ ॥' –अमित० श्रा० ६। ६. 'मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड् दोषाः। चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाऽभ्यन्तरा ग्रन्थाः ॥११६॥' –पुरुषार्थसि०।

अथवा—

चेतनाचेतनासङ्गाद्द्विधा [1]बाह्यपरिग्रहः ।
अन्तः स एक एव स्याद्भवहेत्वाशयाश्रयः[2] ॥४३५॥
धनायाविद्धबुद्धीनामधनाः[3] स्युर्मनोरथाः[4] ।
न ह्यनर्थक्रियारम्भा[5] धीस्तदर्थिषु [5]कामधुक् ॥४३६॥
[6]सहसंभूतिरप्येष देहो यत्र न शाश्वतः ।
द्रव्यदारकदारेषु तत्र काऽऽस्था महात्मनाम् ॥४३७॥
स श्रीमानपि निःश्रीकः स नरश्च नराधमः ।
यो न धर्माय भोगाय विनयेत धनागमम् ॥४३८॥
प्राप्तेऽर्थे ये न माद्यन्ति नाप्राप्ते स्पृहयालवः ।
लोकद्वयश्रितां श्रीणां त एव परमेश्वराः ॥४३९॥
चित्तस्य वित्तचिन्तायां न फलं परमेनसः[7] ।
अस्थाने क्लिश्यमानस्य न हि क्लेशात्परं फलम् ॥४४०॥
अन्तर्बहिर्गते सङ्गे निःसङ्गं यस्य मानसम् ।
सोऽगण्यपुण्यसंपन्नः सर्वत्र सुखमश्नुते ॥४४१॥

अथवा, चेतन और अचेतनके भेदसे बाह्य परिग्रह दो प्रकारका है, और संसारके कारणभूत कर्माशयकी अपेक्षा अन्तरङ्ग परिग्रह एक ही प्रकारका है ॥४३५॥

जो धनकी वाञ्छा करते रहते हैं उनके मनोरथ सफल नहीं होते; क्योंकि वाञ्छा करने मात्रसे इच्छित वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती ॥४३६॥

जहाँ साथ पैदा होनेवाला शरीर भी स्थायी नहीं है वहाँ शरीरसे भिन्न धन, स्त्री और पुत्रमें महात्माओंकी आस्था कैसे हो सकती है ? ॥४३७॥

वह मनुष्य धनी होकर भी गरीब है तथा मनुष्य होकर भी मनुष्योंमें नीच है जो धनको न धर्ममें लगाता है और न भोगता है ॥४३८॥

जो धनको पाकर मद नहीं करते और धनके न मिलनेपर उसकी इच्छा नहीं करते वे ही इस लोक और परलोकमें लक्ष्मीके स्वामी होते हैं ॥४३९॥

मनमें धनकी चिन्ता करनेका फल पापके सिवा और कुछ नहीं है। ठीक ही है अस्थानमें क्लेश करनेसे क्लेशके सिवा और क्या फल हो सकता है ॥४४०॥

अन्तरङ्ग और बाह्य परिग्रहमें जिसका मन अनासक्त है वह महान् पुण्यशाली सर्वत्र सुख भोगता है ॥४४१॥

---

१. 'अथ निश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ ।'–पुरुषार्थसि० ११७ श्लो० । २. –शयश्रय: अ० ज० । संसाराश्रयपरिणामः । ३. निष्फलाः । ४. वांछामात्रा । ५. वांछितप्रदा । ६. 'तिष्ठन्तु बाह्यधनधान्यपुरःसरार्थाः संवर्धिताः प्रचुरलोभवशेन पुंसा । कायोऽपि नश्यति निजोऽयमिति प्रचिन्त्य लोभारिमुग्रमुपहन्ति विरुद्धतत्त्वम् ॥८२॥' –सुभाषितरत्नसंदोह । 'देहोऽयं सह संभूतिः सोऽप्येष नहि शाश्वतः । बाह्यास्तु द्रव्यदारादिपदार्थाः सर्वथा वृथाः ॥११३॥ प्राप्तेऽर्थे न प्रमाद्यन्ति न दूयन्तेऽन्यथा स्थिते ।' –प्रबोधसार । ७. 'पापात् भिन्नं फलं न, किन्तु पापमेव भवति । वित्तार्थचित्तचिन्तायां न फलं परमेनसः । अतीवोद्योगिनोऽस्थाने न हि क्लेशात् परं फलम् ॥६३॥' –धर्मरत्ना० पृ० ९६ ।

बाह्यसङ्गरते पुंसि कुतश्चित्तविशुद्धता ।
सतुषे हि बहिर्धान्ये दुर्लभान्तर्विशुद्धता ॥४४२॥
सत्पात्रविनियोगेन[1] योऽर्थसंग्रहतत्परः ।
लुब्धेषु स परं लुब्धः सहामुत्र धनं नयन् ॥४४३॥
कृतप्रमाणाल्लोभेन धनादधिकसंग्रहः ।
पञ्चमाणुव्रतज्यानिं[2] करोति गृहमेधिनाम् ॥४४४॥
यस्य [3]द्वन्द्वद्वयेऽप्यस्मिन्निस्पृहं देहिनो मनः ।
स्वर्गापवर्गलक्ष्मीणां क्षणात्पदे स दक्षते ॥४४५॥
अत्यर्थमर्थकाङ्क्षायामवश्यं जायते नृणाम् ।
अघसंघचितं चेतः संसारावर्तवर्तगम् ॥४४६॥

श्रूयतामत्र परिग्रहाग्रहस्योपाख्यानम्—पञ्चालदेशेषु त्रिदशनिवेशानुकूलोपशल्ये[4] काम्पिल्ये निजमतिमाहात्म्यापहसितामराचार्यप्रतिभो[5] रत्नप्रभो नाम नृपतिः । आत्मीय-

जो पुरुष बाह्य परिग्रहमें आसक्त है उसका मन कैसे विशुद्ध रह सकता है ? ठीक ही है, जो धान्य तुष—छिलके सहित है उसके भीतरी भागका स्वच्छ पाया जाना दुर्लभ है ॥४४२॥

भावार्थ—जब धानको कूटकर उसका छिलका अलग कर दिया जाता है तभी साफ चावल निकलता है । छिलकेके रहते हुए उसके अन्दरका चावल भी लाल ही रहता है । वैसे ही बाह्य परिग्रहमें आसक्त रहते हुए मनुष्यका मन स्वच्छ नहीं होता ।

जो सत्पात्रको दान देकर धनका संग्रह करनेमें तत्पर है, वह उस धनको परलोकमें अपने साथ ले जाता है । अतः वह लोभियोंमें परम लोभी है ॥४४३॥

भावार्थ—जो अपने धनको सत्पात्रोंके लिए खर्च करता है वह असीम पुण्यका बन्ध करता है और उस पुण्यको, जो धन-प्राप्तिका मूल कारण है, वह अपने साथ परलोकमें ले जाता है । उसके प्रभावसे उसे उस जन्ममें भी धनका लाभ होता है । अतः ऐसा आदमी ही सच्चा धनका लोभी है । किन्तु जो धनको ही समेटकर रखता है—न उसे भोगता है और न किसीको देता है वह तो उसे यहीं छोड़ जाता है । अतः सत्पात्रमें धनको खरचना ही उत्तम है । और पुण्यरूपी धन ही सच्चा धन है ।

जितने धनका प्रमाण किया है, लोभमें आकर उससे अधिकका संचय करना गृहस्थोंके परिग्रह परिमाणव्रतको हानि पहुँचाता है । अर्थात् यह उस व्रतका अतिचार है ॥४४४॥

जिस प्राणीका मन अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परिग्रहमें निस्पृह है वह क्षण-भरमें स्वर्ग और मोक्षकी लक्ष्मीका स्वामी बन जाता है ॥४४५॥

धनकी बहुत अधिक तृष्णा होनेपर मनुष्योंका मन पापके भारसे दबकर संसाररूपी भँवरके गड्ढेमें चला जाता है ॥४४६॥

अब परिग्रहकी तृष्णाके सम्बन्धमें एक कथा कहते हैं, उसे सुनें—

१७. लोभी पिण्याकगंधकी कथा

पञ्चाल देशमें कम्पिला नामकी नगरी है, वहाँ रत्नप्रभ राजा राज्य करता था । उसकी

---

१. दानयोगेन । २. हानिम् । 'कृत''''यो धनाधिक्यसंग्रहः'—धर्मर०, पृ० ९५ उ० । 'कृत''''धनाद्यधिक्-संग्रहः । पञ्चमाणुव्रतहानि''''।'—सागारधर्मा० पृ० १६४से उद्धृत । ३. परिग्रहे । ४. समीपे । ५. बृहस्पतिबुद्धिः ।

कपोलकान्तिविजितामृतमरीचिमण्डला मणिकुण्डला नामास्य महादेवी। कुलक्रमागतात्मोपार्जितामितवित्तः सागरदत्तो नाम श्रेष्ठी। गृहस्य श्रीरिव धनश्रीर्नामास्य भार्या। सूनुरनयोर्न्याय्यार्थोपार्जनैकचित्तः सुदत्तो नाम। स महालोभविभावसुज्वलच्चित्तभित्तः सागरदत्तः पुरुषपरम्परायातायाः काञ्चनकोटेरेकस्याः स्वयमुपार्जितार्धकोटेः पतिर्भवन्नपि शालीयादिभक्तभोजने द्वितयतुषापनीतिर्धावनाश्चाव्रणकृतिश्च, शाकपाकविधाने [1]संभारादिकृतिः प्रसभा[2]भ्यवहृतिश्च, घार्तपूरपूरिमावेष्टिमादिभक्ष्योपक्षेपे महती स्नेहापहृतिरिन्धनविरतिश्च दुग्धदधिघोलरसाद्युपयोगे न विक्रयाय घृतं न च तक्रं [3]कडङ्करायेति च मन्यमानः स्वयमेव प्रतिदिवसवृद्धिग्रहणाय[4] [5]ध्वजलोकपाटके विहरमाणः [6]प्रतिपितृप्रियन्त्रमुपसृत्य 'आः, सुरभिः खल्वेष खलः संजातः' इति सस्मेरं व्याहरन्, गृहीतपिण्डखण्डः[7] प्रत्यवसानसमये[8] तद्गन्धमाजिघ्रन्सन्, सर्वलोकपरिहृतमनवधि[9]कालोषितमतिसमर्घतां[10] गतमकण्डितमेव[11] च स्थालीविलीयं भवति [12]तत्केवलावन्तिसोमसहायमाहरति। अत एवास्य[13] महामोहानुबन्धस्य पिण्याकगन्ध इति जगति नाम पप्रथे। 'मुखामोदमात्रेण च प्रयोजनम्। तदलं ताम्बूलार्थमर्थव्ययेन' इति विचिन्त्य विष्णुतरुत्वचः[14] [15]कालवल्लीदलोत्तरास्वादरुचः कवलयति। 'अर्धघ्राणोदरः[16] परिवारः कदाचिदपि देहे हृदये वा न मनागपि

पटरानी मणिकुण्डला थी। नगरसेठ सागरदत्त था। उसके पास बहुत धन था। नगरसेठकी पत्नीका नाम धनश्री था। उनके सुदत्त नामका पुत्र था वह सदा न्यायपूर्वक ही धन कमाता था।

महालोभी सागरदत्त यद्यपि वंश-परम्परासे प्राप्त एक करोड़ स्वर्णमुद्राओंका और स्वयं उपार्जित आधे करोड़ स्वर्णमुद्राओंका स्वामी था, फिर भी वह सोचता था कि यदि चावलका भात खाया जाये तो उसके छिलके दूर करने होंगे और धोने-धानेमें भी कुछ कमी अवश्य होगी, यदि शाक पकाया जाये तो मसाला वगैरह खर्च होगा और उसके साथमें अधिक अन्न खाया जायेगा, घेवर, पूरी वगैरह व्यञ्जनोंके बनानेमें घी खर्च होगा और ईंधन भी ज्यादा जलेगा, दूध, दही आदि रसोंका सेवन करनेसे न बेचनेके लिए घी रहेगा और न भूसीके लिए मठा बचेगा। अतः जब वह प्रतिदिन व्याज वसूल करनेके लिए जाता तो तेलियोंमें घूमते-घूमते उनके कोल्हूके पास जाकर जरा हँसकर कहता 'वाह यह तो खूब खुशबूदार है', और ऐसा कहकर तेलकी खलका एक टुकड़ा उठा लेता। जब भोजनका समय होता तो उस खलकी गन्धको सूँघता जाता और जिसे कोई भी नहीं खा सकता ऐसे बहुत पुराने और कम कीमती धानको बिना ही कूटे-काटे काँजीके साथ खा जाता। इसीसे सर्वत्र उस लोभीका नाम 'पिण्याकगन्ध' प्रसिद्ध हो गया था।

'मुखको सुगन्धित करने मात्रसे ही तो प्रयोजन है, अतः पानमें धन खर्च करना व्यर्थ है' ऐसा सोचकर वह पीपलके वृक्षकी छालको तमाखूके पत्तेके साथ खाता था उसके खानेसे भोजनसे भी अरुचि हो जाती थी।

आधे पेट खानेसे न शरीरमें कोई विकार उत्पन्न होता है और न मनमें, ऐसा सोचकर वह

१. मरिचादीनां व्ययः। २. प्रचुरान्नस्य भुक्तिः। ३. धान्यत्वग्निमित्तम्। ४. व्याज। ५. तिलंतुद। ६. तिलपील्लनभाण्डम्। ७. खलः। ८. भोजनवेलायाम्। ९. अतिजीर्णम्। १०. स्वल्पमूल्यम्। ११. खण्डनरहितम्। १२. काञ्जिकेन सह। १३. सागरदत्तस्य। १४. पिप्पलछल्ली। १५. वावचीपत्र। पत्राणां पश्चाद् भोजने न रुक्रुचिर्यासां विष्णुतरुत्वचां ताः। १६. अर्धाहारेण।

विकुरुते' इति मत्वा न कमप्यूर्धपूरं पूरयति। प्रतिचारकांश्चैवं शिक्षयति—'न तैलार्थं लवणार्थं वित्तं व्ययितव्यम्, किं तु कार्षापणं मापं चादाय आपणमुपढौक्य तदुभयं गृहीत्वा पुनरिदं साधु न भवतीति प्रतिसमर्पयंस्तत्र मापे किञ्चिल्लग्नमायाति तेन शारीरो विधिर्विधातव्यः।' परिजनार्भकान्स्वकीयांश्चैवमुपजपति—'न भवद्भिरङ्गाभ्यङ्गार्थं भवनमुपद्रोतव्यम्, किं तु सस्नेहदेहैः [1]प्रातिवेश्मिकशिशुसंदोहैः सहातिसंबाधं योद्धव्यम्। अतो भवतामनुपायसंनिधिः स्नानविधिः। क्षपायां च प्रतिवेशवेश्मप्रदीपप्रभाप्रज्वलितेन बली[2]कान्तावलम्बितेन [3]काचमुकुरेण गृहाङ्गणे प्रदीपकार्यं [4]निकाय्यमध्ये च सणसरण्डप्रोतै[5]र्विषमरुचिदीप्तैरुरुबूकबीजैः करोति। सकलजनसाधारणाश्च नवीनसक्ता एव [7]युगाः सपरिच्छदः परिदधाति। मनाग्मलीमसरागाश्च विक्रीणीते। ततोऽस्य [8]वसनधावनार्थमपि न कपर्दकोपक्षयः। [9]पर्वाणि च पुराणपल्लवकचवरापनयनक[10]णोत्करेणातपतप्तसंघाटस्नेहद्रवेण गुडगोणीक्षालनकषायेण च मिवर्तयति। प्रत्यामन्त्रणेन द्रविणव्ययात्परागार[11]भोजनावलोकनेनाश्रितजनमनोविनाशभयाच्चामन्त्रितो न कस्यापि निकेतने [12]प्साति।

एवमतीवतर्षोत्कर्षरसहार्यें सकलकदर्याचार्यें तस्मिञ्जीवत्यपि मृतकल्पमनसि वसति

अपने कुटुम्बको कभी भी भर पेट भोजन नहीं करने देता था। वह अपने नौकरोंको शिक्षा देता था कि 'तेल और नमकके लिए पैसा नहीं खर्च करना चाहिए, किन्तु पैसा और बर्तन लेकर दुकान पर जाना चाहिए और दोनों चीजें लेकर फिर यह कहकर लौटा देना चाहिए कि ये अच्छी नहीं हैं। ऐसा करनेसे बर्तनमें कुछ तेल और नमक लगा रह जाता है, उसीसे अपना काम चलाना चाहिए।' अपने और अपने कुटुम्बके बच्चोंसे वह कहता था कि 'तुम्हें शरीरमें तेल लगानेके लिए घरमें ऊधम नहीं मचाना चाहिए किन्तु पड़ोसियोंके तेल लगाये हुए बच्चोंके साथ खूब भिड़कर लड़ना चाहिए। इससे बिना प्रयत्नके ही तुम्हारे स्नानकी विधि बन जायेगी।'

उसने अपने घरकी छत पर एक दर्पण टाँग रखा था। रात्रिमें जब सामनेके घरमें दीपक जलता था तो उसका प्रकाश दर्पणमें प्रतिबिम्बित होकर घरके आगनमें पड़ता था। और उससे दीपकका काम निकल जाता था। तथा घरके अन्दर एरण्डके बीजोंको सड़ेरेकी लकड़ीमें पिरोकर और उन्हें आगसे जलाकर दीपकका काम लेता था। जन साधारणके पहनने योग्य कोरे वस्त्र ही वह पहनता था। और जैसे ही वह मैले होते थे उन्हें बेच डालता था। इस तरह कपड़े धोनेमें उसकी एक कौड़ी भी खर्च नहीं होती थी। पुराने पल्लवोंको कूट कर उसमेंसे रेसे निकाल देता था। घाममें संघाट (?) को सुखानेसे उसमेंसे तेल निकल आता था और गुड़के बोरोंको धोकर उनमेंसे मीठा निकाल लेता था। और इन सबसे तीज त्योहारका काम चलाता था। बदलेमें दूसरोंका निमन्त्रण करनेसे धन खर्च होगा, तथा दूसरोंके घरका भोजन देखनेसे मेरे आश्रित जनोंके मन मुझसे टूट जायेंगे इस भयसे निमन्त्रण आनेपर भी वह किसीके घर नहीं जीमता था। इस प्रकार वह तृष्णालु और सब कंजूसोंका सिरमौर जीते हुए भी मुर्देकी तरह जीवन व्यतीत करता था।

---

१. पड़ोसी। २. गृहस्योपरितनभागे। ३. दर्पणेन। ४. गृहमध्ये। ५. अग्नि। ६. एरण्ड। ७. कोरावस्त्र। ८. वस्त्रप्रक्षालनार्थम्। ९. दीपोत्सवादि। १०. करणो- अ० ज० मु०। ११. अन्यलोकगृहे भोजनं यदि एभिर्दृष्टं तदा मद्गृहे एते न स्थास्यन्तीति भयात्। १२. भुंक्ते।

सति एकदा स लक्ष्मीकमलिनीपरिमलनकलभो रत्नप्रभो राजसिन्धुरप्रधावसन्दर्शनप्रासाद-संपादनाय श्रवणाश्रयवृत्तस्य[2] ब्रह्मदत्तस्य महीपतेः कालेन स्थण्डिलतालुतावकाशे भवनप्रदेशे भूशोधनं विधापयन्नेतदास्थानमण्डपाभोगबन्धभुषः प्रकामोषरदोषकलुषवपुषः संपूर्णविस्ता-[3]रपुषः [4]प्रथिमगुणविशिष्टकाः सुवर्णेष्टकाः समालोक्य बहिर्निकामं कलङ्कमलिनत्वाद्वितरेष्ट-काविशिष्टत्वमाकलयन् 'एताः खलु चैत्यालयनिर्माणाय योग्याः' इति चेतसैकत्र स्तूपता-मानाययामास।

अत्रान्तरे समस्तमितंपचपुरोगमसगन्धः पिण्याकगन्धः सरभसमापतत्तामिष्टकावहतां [7]वैवधिकनिवहानां [8]सायंसमये मार्गविषये पतितामेकामिष्टकामवाप्य [9]चलनक्षालनदेशे न्यधात्। तत्र च [10]प्रतिघस्त्रमङ्घ्रिसंघर्षादशेषकालुष्यमोषे[11] भर्मनिर्मितत्वमवेत्य तैस्तैः प्रलोभनवस्तुभिः काचवहानां विहितोपचारस्ताः[12] संगृह्णन् श्रुतस्व[13]स्रीयापायोदन्तः स्फा-[14]यमानमनोमन्युकृतान्तः[15] पिण्याकगन्धः 'पुत्र, निखिलकलावदातचित्त सुदत्त, भवत्पितृ-स्वसुः सुतशोकशंकुशमनाय मयावश्यं तत्र गन्तव्यमपस्नातव्यं[16] च। ततस्त्वयाप्येताः परि-[17]स्कन्दलोकप्रलोभनेन साधु संग्रहीतव्याः' इत्युपह्वरे[18] व्याहृत्य सकलजगद्व्यवहारावतार-त्रिवेद्यां काकन्द्यां तोकशोकभूयिष्ठायास्तूर्णं कनिष्ठाया दर्शनार्थमगच्छत्। असद्व्यवहार[19]-

---

एक बार राजा रत्नप्रभने हाथीकी दौड़ देखनेके लिए एक महल बनवानेका विचार किया और उसके लिए स्वर्गीय राजा ब्रह्मदत्तके महलके खण्डहरोंवाले प्रदेशको चुना। जब उन खण्डहरों को ढवाया गया तो उसके सभामण्डपसे बहुत-सी बड़ी-बड़ी सोनेकी ईंटे निकलीं। किन्तु वे बहुत दिनोंसे मिट्टीमें दबी रहनेके कारण एक दम काली पड़ गयी थीं। अतः उन्हें भी अन्य पुरानी ईंटोंकी तरह साधारण ईंट मानकर और वह सोचकर कि ये चैत्यालय बनवानेके लायक हैं एक जगह उनका ढेर लगवा दिया।

इसी बीचमें लुब्धक शिरोमणि पिण्याकगन्ध संध्याके समय उधर गया। जल्दी-जल्दी ईंटे ढोने वालोंसे मार्गमें एक ईंट गिर पड़ी वह उसे उठा लाया और लाकर पैर धोनेके स्थानपर उसे डाल दिया। प्रतिदिन पैरोंकी रगड़से उसकी कलौसी जाती रही। तब उसे मालूम हुआ कि यह तो सोनेकी ईंट है। फिर तो वह ईंटें ढोने वालोंको तरह-तरहका लालच देकर ईंटे इकट्ठी करने लगा।

एक दिन पिण्याकगन्धने अपने भानेजकी मृत्युका समाचार सुना। उसे बड़ा रंज हुआ। पुत्रको बुलाकर कहा--"पुत्र सुदत्त ! तुम्हारी बुआके पुत्र-शोकको शान्त करनेके लिए मुझे अवश्य जाना है और मृतक स्नान भी करना है। अतः तुम भी बोझा ढोने वालोंको लालच देकर सोनेकी ईंटें संग्रह करते रहना।" इस तरह एकान्तमें पुत्रको समझाकर पिण्याकगन्ध शीघ्र ही अपनी छोटी बहनसे मिलनेके लिए काकन्दीकी ओर चला गया।

---

१. -प्रवाधाव- अ० ज० मु०। २. मृतस्य। ३. विस्तारं पुष्णाति याः। ४. पृथु। ५. सदृशः। ६. आगच्छताम्। ७. वार्तावहो वैवधिकः, विवधो भारः पर्याहारो वा तं वहतीति वैवधिकः। ८. सन्ध्यायाम्। ९. पादधावन। १०. प्रतिदिनम्। ११. विनाशे सति। १२. इष्टकाः। १३. भागिनेयमरण। १४. वृद्धि जायमान। १५. शोकयमः। १६. मृतकस्नानं कर्तव्यम्। १७. कावटिक। १८. एकान्ते। १९. अन्याय-पराङ्मुखः।

व्यावृत्तः सुदत्तः तातोपदेशमनभिधेयमवस्यन्[1] यतो राजपरिगृहीतं तृणमपि गृहीतं काञ्चनीभवति संपद्यते च पूर्वोपार्जितस्याप्यर्थस्यापहाराय प्राणसंहाराय चेति जातमतिर्नैकामपीष्टकां समग्रहीत् ।

महालोभलोलतान्धः पिण्याकगन्धस्तस्याः पुरोऽपस्नायागतः[2] सुतमप्राक्षीत्—'वत्स, कियतीः खलु त्वमिष्टकाततीः पर्यग्रहीः ?'

स्तेययोगविनिवृत्तः सुदत्तः—'तात, नैकामपि ।'

प्रादुर्भवद्दीर्घदुर्गतिदुरितबन्धः पिण्याकगन्धः समर्थे सदाचारकृतार्थे पुण्यभाजि तुजि परमुत्तरमपश्यन्, 'यदीमौ क्रमौ परिक्रमणक्षमौ मम नाभविष्यतां तदा कथङ्कारमहं[3] मन्मनोरथवन्ध्यां काकन्द्यामगमिष्यम् । अत [4]एतावेवात्र श्रीविरामावहौ द्रोहौ' इति विचिन्त्योद्वर्तनं वर्तयन्त्याः स्ववासिन्याः करादाक्षिप्त[5]शरीरेण शिलापुत्रकेण तौ जर्जरितावजीजनत् । एतच्च [6]वैदेहकाव्यञ्जनपरिजनात्प्राचीनबर्हिनिभः[7] क्षितिरमणीकरिणीभः रत्नप्रभः श्रुत्वा वासीवक्रेण शिल्पिभिर्विधापितेष्टकातक्षणः सुवर्णत्वं निर्णीय विहितसर्वस्वापहारं सनिकारं नगरजनोच्चार्यमाणदुरपवादप्रबन्धं पिण्याकगन्धं निरवासयत्[9] । 'इन्द्रयमस्थानं हि गुणदोषयोर्महीपतयः' इति नीतिवाक्यमनुस्मृत्य मूलधनप्रदानेनान्वयागत[10]निवासनिवेदनेन च परद्रव्यादाननिवृत्तं सुदत्तं साधु समाश्वासयत् । स तथा निर्वासितः सञ्जातनरकनिषेकनिबन्धः कृतप्रका-

---

सुदत्त बुरे कामोंसे बचता था । उसे अपने पिताका उपदेश अहितकर प्रतीत हुआ । उसने विचारा कि राजाका तृण भी सोना हो जाता है और उसके लेनेसे पहलेका सञ्चित धन भी हर लिया जाता है और प्राण भी चले जाते हैं । अतः उसने एक भी ईंट नहीं ली ।

महालोभी पिण्याकगन्ध मृतक स्नान करके लौटा तो उसने पुत्रसे पूछा—'बेटा ! तुमने कितनी ईंटें ली हैं ?'

चोरीके त्यागी सुदत्तने उत्तर दिया—"पिता जी ! एक भी नहीं ।"

घोर दुर्गतिके कारण पापका बन्ध करनेवाले पिण्याकगन्धको अपने सदाचारी पुण्यशाली पुत्रकी बात सुनकर कोई उत्तर नहीं सूझा ।

तब "यदि मेरे ये दोनों पैर चलनेके लायक न होते तो मैं अपने मनोरथकी घातक काकन्दीको कैसे जाता । इसलिए ये दोनों ही लक्ष्मी समागमके शत्रु हैं ।" ऐसा सोचकर उसने उबटन पीसती हुई अपनी पत्नीके हाथसे लोढ़ा लेकर अपने पैर तोड़ डाले । राजा रत्नप्रभने उसके आदमियोंसे यह बात सुनकर शिल्पियोंसे उन ईंटोंको तुड़वाया तो वे सोनेकी निकलीं । उसने तुरन्त ही पिण्याकगन्धका सर्वस्व लुटवा लिया और उसे बेइज्जत करके देश निकाला दे दिया ।

"राजा लोग गुणवान्के लिए इन्द्र हैं और दोषीके लिए यमराज हैं ।" इस नीतिके अनुसार राजा रत्नप्रभने पराये धनको न लेनेके कारण सुदत्तको उसका मूल धन और वंशपरम्परागत निवास स्थान देकर धीरज बँधाया ।

---

१. संसारकारणं जानन् । २. मृतकस्नानं कृत्वा । ३. केन प्रकारेण । ४. पादौ । ५. गृहीत । ६. वणिक् । ७. इन्द्रसमानः । ८. कारित । ९. निर्घाटितवान् । १०. वंशागत-आवासानुमतेन ।

मलोभसम्बन्धश्चिरायोपार्जितदुरन्तदुष्कर्मस्कन्धः पिण्याकगन्धः प्रेत्य पातालमगात् ।

भवति चात्र श्लोकः—

षष्ठ्याः क्षितेस्तृतीयेऽस्मिन्लल्लके दुःखमल्लके ।
पेते पिण्याकगन्धेन धनायाविद्धचेतसा ॥४४७॥

इत्युपासकाध्ययने परिग्रहाग्रहफलफुल्लनो नाम द्वात्रिंशः कल्पः ।

[1]दिग्देशानर्थदण्डानां विरतिस्त्रितयाश्रयम् ।
गुणव्रतत्रयं सद्भिः सागारयतिषु स्मृतम् ॥४४८॥
दिक्षु[2] सर्वास्वधःप्रोर्ध्वदेशेषु निखिलेषु च ।
एतस्यां दिशि देशेऽस्मिन्नियत्येवं गतिर्मम ॥४४९॥
[3]दिग्देशनियमादेवं ततो बाह्येषु वस्तुषु ।
हिंसालोभोपभोगादिनिवृत्तेश्चित्तयन्त्रणा ॥४५०॥
रक्षन्निदं प्रयत्नेन गुणव्रतत्रयं गृही ।

देशसे निकाला जाकर पिण्याक गन्ध अत्यन्त लोभवश नरकायुका बन्ध तथा चिरकालके लिए अत्यन्त दुखदायी कर्मोंका बन्ध करनेके कारण मरकर नरकमें गया ।

इसके विषयमें एक श्लोक है जिसका भाव इस प्रकार है—

'धनका भूखा पिण्याक गंध मरकर छठे नरकके लल्लक नामके तीसरे पाथड़ेमें गया ॥४४७॥

इस प्रकार परिग्रहकी आसक्तिका फल बतलानेवाला बत्तीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

[अब गुणव्रतोंका वर्णन करते हैं—]

महापुरुषोंने दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्ड विरतिके भेदसे गृहस्थ व्रतियोंके तीन गुणव्रत बतलाये हैं ॥ ४४८॥

दिग्विरति और देशविरति व्रतोंका स्वरूप

"अमुक-अमुक दिशामें मैं अमुक-अमुक स्थान तक ही जाऊँगा" इस प्रकार जन्म पर्यन्तके लिए जो सब दिशाओंमें और ऊपर तथा नीचे जानेकी मर्यादा की जाती है उसे दिग्विरतिव्रत कहते हैं । और (दिगविरतिके भीतर कुछ समयके लिए) जो मर्यादा की जाती है कि मैं अमुक अमुक दिशामें देश तक ही जाऊँगा, उसे देशविरति व्रत कहते हैं ॥ ४४९ ॥

इन व्रतोंसे लाभ

इस प्रकार दिशाओंका और देशका नियमकर लेनेसे उससे बाहरकी वस्तुओंमें लोभ, उपभोग और हिंसा वगैरहके भाव नहीं होते हैं और उसके न होनेसे चित्त संयत होता है ॥४५०॥ जो गृहस्थ प्रयत्न करके इन तीन गुणव्रतोंका पालन करता है वह जहाँ-जहाँ जन्म

---

१. 'दिग्देशानर्थदण्डविरति····' । तत्त्वा० सू० ७-२१ । २. 'दिग्वलयं परिगणितं कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि । इति संकल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्त्यै ॥ ६८ ॥' –रत्नकरण्डश्रा० । 'ऊर्ध्वाधो दिग्विदिक्स्थानं कृत्वा यत्परिमाणतः । पुनराक्रम्यते नैव प्रथमं तद् गुणव्रतम् ॥११७॥ –वराङ्गचरित । पुरुषार्थसि० श्लोक १३७ । अमित० श्रा० ६-७६ । ३. 'अवधेर्बहिरणुपापप्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम् । पञ्चमहाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥ ७० ॥ –रत्नकरण्डश्रा० । पुरुषार्थसि० १३८ श्लो० । –अमितगति श्रा० श्लोक ६-७७ ।

आज्ञैश्वर्यं लभेतैव यत्र यत्रोपजायते ॥४५१॥

आशा[1]देशप्रमाणस्य गृहीतस्य व्यतिक्रमात् ।
देशव्रती प्रजायेत प्रायश्चित्तसमाश्रयः ॥४५२॥

शिखण्डि[2]कुक्कुटश्येनबिडालव्यालबभ्रवः ।
विषकण्ट[3]कशस्त्राग्निकषापाशकरज्जवः ॥४५३॥

पापाख्या[4]नाशुभाध्यानहिंसाक्रीडावृथाक्रियाः[5] ।
परोपतापपैशून्यशोकाक्रन्दनकारिता ॥४५४॥

वधबन्धनसंरोधहेतवोऽन्येऽपि चेदृशाः ।
भवन्त्यनर्थदण्डाख्याः संपराय[6]प्रवर्धनात् ॥४५५॥

पोषणं क्रूरसत्त्वानां हिंसोपकरणक्रियाम् ।
देशव्रती न कुर्वीत स्वकीयाचारचारुधीः ॥४५६॥

अनर्थदण्डनिर्मोक्षादवश्यं देशतो यतिः ।
सुहृत्तां[7] सर्वभूतेषु स्वामित्वं च प्रपद्यते ॥४५७॥

वञ्चनारम्भहिंसानामुपदेशात्प्रवर्तनम् ।

लेता है वहीं-वहीं उसे ऐश्वर्य और हुकूमत मिलती है ॥ ४५१ ॥

दिशा और देशके किये हुए प्रमाणका उल्लंघन करनेसे अर्थात् उससे बाहर चले जानेसे दिग्व्रती और देशव्रतीको प्रायश्चित्त लेना पड़ता है ॥ ४५२ ॥

[अब तीसरे अनर्थदण्डविरति व्रतको कहते हैं—]

अनर्थदण्डविरति व्रतका स्वरूप

मोर, मुर्गा, बाज, बिलाव, साँप, नेवला आदि हिंसक जन्तुओंका पालना, विष, काँटा, शस्त्र, आग, कोड़ा, जाल, रस्सा वगैरह हिंसाके साधनोंको दूसरोंको देना, पापका उपदेश देना, आर्त और रौद्र ध्यानका करना, हिंसामयी खेल खेलना, व्यर्थ इधर-उधर भटकना, दूसरोंको कष्ट पहुँचाना, चुगली करना, रंज करना, रोना, अन्य भी इस प्रकारके जो दूसरोंके घातमें बाँधनेमें और दूसरोंको रोक रखनेमें कारण हैं उन्हें अनर्थदण्ड कहते हैं; क्योंकि उनसे संसारकी वृद्धि होती है—बहुत समय तक संसारमें भटकना पड़ता है ॥ ४५३-४५५ ॥

अपने आचारका पालन करनेमें दक्ष देशव्रती श्रावकको हिंसक प्राणियोंका पोषण तथा हिंसाके उपकरणोंका दान नहीं करना चाहिए ॥ ४५६ ॥ ऊपर बतलाये हुए अनर्थदण्डोंको छोड़नेसे अणुव्रती श्रावक सब प्राणियोंका मित्र और स्वामी बन जाता है ॥ ४५७ ॥ उपदेशसे ठगी, आरम्भ, और हिंसाका प्रवर्तन करना, शक्तिसे अधिक बोझा लादना और दूसरोंको अधिक कष्ट देना आदि

---

१. दिशा । २. 'मण्डलबिडालकुक्कुटमयूरशुकसारिकादयो जीवाः। हितकामैर्न ग्राह्याः सर्वे पापोकारपराः ॥८२॥ –अमितगति० ६-८१ । ३. 'विषकण्टकशस्त्राग्निरज्जुकशादण्डादि हिंसोपकरणप्रदानं हिंसाप्रदानम् । –सर्वार्थसि० ७-२२ । 'दण्डपाशविडालाश्च विषशस्त्राग्निरज्जवः । परेभ्यो नैव देयास्ते स्वपराघातहेतवः । छेदं भेदवधौ बन्धगुरुभारातिरोपणम् । न कारयति योऽन्येषु तृतीयं तद्गुणव्रतम् ।' –वरांगचरित, १५, ११९-१२० । ४. 'पार्द्धिजयपराजयसंगरपरदारगमनचौर्याद्याः । न कदाचनापि चिन्त्याः पापफलं केवलं यस्मात् ।' –पुरुषार्थसिद्धि० ॥१४१॥ ५. निष्प्रयोजनं भूखननादि । ६. संसार । ७. मैत्रीम् ।

भाराधिक्याधिकक्लेशौ तृतीयगुणहानये ॥४५८॥
*इत्युपासकाध्ययने गुणव्रतत्रयसूत्रणो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमः कल्पः।
आदौ सामायिकं कर्म प्रोषधोपासनक्रिया।
सेव्यार्थनियमो दानं शिक्षाव्रतचतुष्टयम् ॥४५९॥
आप्तसेवोपदेशः स्यात्समयः समयार्थिनाम्।
नियुक्तं तत्र यत्कर्म तत्सामायिकमूचिरे ॥४६०॥
आप्तस्यासन्निधानेऽपि पुण्यायाकृतिपूजनम्।
तार्क्ष्यमुद्रा न किं कुर्याद्विषसामर्थ्यसूदनम् ॥४६१॥

कर्म अनर्थदण्डव्रतको हानि पहुँचाते हैं, अर्थात् इस प्रकारके कामोंके करनेसे अनर्थदण्डव्रतमें दोष लगता है अतः ऐसे काम अणुव्रती श्रावकको नहीं करना चाहिए ॥ ४५८ ॥

भावार्थ—मन, वचन और कायको दण्ड कहते हैं। और बिना प्रयोजनके उनकी प्रवृत्ति करनेको अनर्थदण्ड कहते हैं। तथा उसको रोकनेको अनर्थदण्डव्रत कहते हैं। अणुव्रती श्रावकको देशकी मर्यादाके अन्दर भी मनसे, वचनसे और कायसे इस प्रकारके काम नहीं करना चाहिए जो दूसरोंको कष्ट पहुँचाते हों। मनमें किसीका बुरा नहीं विचारना चाहिए। वचनसे जालसाजीका, जीवोंको कष्ट पहुँचानेवाले व्यापारका उपदेश नहीं देना चाहिए और शरीरसे ऐसी चीजें दूसरोंको नहीं देनी चाहिए जिससे दूसरोंका घात किया जा सके या दूसरोंको कष्ट पहुँचाया जा सके। तथा स्वयं भी किसीको कष्ट नही पहुँचाना चाहिए। ऐसा करनेसे मनुष्य बहुतसे व्यर्थके पापोंसे बच जाता है और सब उसे अपना मित्र और रक्षक समझने लगते हैं ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें तीन गुणव्रतोंका कथन करनेवाला तैंतीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[अब *शिक्षाव्रतोंको कहते हैं*—]

सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और दान ये चार शिक्षाव्रत हैं ॥४५९॥

सामायिक व्रतका स्वरूप

जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजा करनेका जो उपदेश है उसे समय कहते हैं और उसमें उसके इच्छुकजनोंके जो-जो काम बतलाये गये हैं उन्हें सामायिक कहते हैं ॥४६०॥

मूर्तिपूजाका विधान

जिनेन्द्र भगवान्‌के अभावमें उनकी प्रतिमाका पूजन करनेसे भी पुण्यबन्ध होता है। क्या गरुड़ मुद्रा विषकी शक्तिको दूर नहीं करती ? ॥ ४६१ ॥

---

* अत्र यशस्तिलकचम्पूकाव्यस्य सप्तम आश्वासः समाप्यते; यथा—"इति सकलतार्किकलोकचूडामणेः श्रीमन्नेमिदेवभगवतः शिष्येण सद्योनवद्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रवर्तिशिखण्डमण्डिनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये सच्चरित्रचिन्तामणिर्नाम सप्तम आश्वासः।

१. भोगोपभोगसंख्या। २. 'आ समयमुक्तिमुक्तं पञ्चाघानामशेषभावेन। सर्वत्र च सामयिकाः सामयिकं नाम शंसन्ति ॥९७॥"—रत्नकरण्ड श्रा०। 'समता सर्वभूतेषु संयमः शुभभावनाः। आर्त रौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम् ॥१२२॥—वराङ्गचरित १५ सर्ग। 'रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य। तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम् ॥१४८॥"—पुरुषार्थ०। अमितग० श्रा० ६-८६। पद्मनन्दिपञ्चविंश० पृ० १९२। ३. 'तीर्थेशासन्निधानेऽपि प्रतिमा धर्महेतवे। वैनतेयस्य मुद्राऽपि विषं हन्ति न संशयः ॥२२२॥—प्रबोध०। ४. गरुड़। ५. अपनोदनम्।

अन्तःशुद्धिं[1] बहिःशुद्धिं विदध्याद्देवतार्चने ।
आद्या दौश्चिन्त्य[2]निर्मोक्षादन्त्या[3] स्नानाद्यथाविधिः ॥४६२॥
संभोगाय विशुद्ध्यर्थं स्नानं धर्माय च स्मृतम् ।
धर्माय तद्भवेत् स्नानं यत्रामुत्रोचितो विधिः ॥४६३॥
नित्यस्नानं गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे ।
यतेस्तु दुर्जन[4]स्पर्शात्स्नानमन्यद्विगर्हितम् ॥४६४॥
वातातपादि[5]संसृष्टे भूरितोये जलाशये ।
अवगाह्याचरेत्स्नानमतोऽन्यद्गालितं भजेत् ॥४६५॥

देवपूजन करनेके लिए अन्तरङ्गशुद्धि और बहिरंगशुद्धि करनी चाहिए। चित्तसे बुरे विचारोंको दूर करनेसे अन्तरङ्गशुद्धि होती है और विधिपूर्वक स्नान करनेसे बहिरङ्गशुद्धि होती है ॥ ४६२ ॥

स्नानविधिका विधान

संभोगके लिए, विशुद्धिके लिए और धर्मके लिए स्नान करना बतलाया है। जिसमें परलोकके योग्य विधि की जाती है वह स्नान धर्मके लिए होता है ॥ ४६३ ॥

देवपूजा करनेके लिए गृहस्थको सदा स्नान करना चाहिए। और मुनिको दुर्जनसे छू जानेपर ही स्नान करना चाहिए। अन्य स्नान मुनिके लिए वर्जित है ॥ ४६४ ॥

जिस जलाशयमें खूब पानी हो और वायु, धूप वगैरह उसे खूब लगती हो उसमें घुस करके स्नान करना उचित है, किन्तु अन्य जलाशयोंका पानी छानकर ही स्नानके काममें लाना चाहिए ॥ ४६५ ॥

भावार्थ—यों तो गृहस्थको पानी छानकर ही काममें लाना चाहिए। किन्तु यदि कोई

---

१. अन्तःशुद्धिः । 'अन्तरङ्गबहिरङ्गविशुद्धिर्देवतार्चनविधौ विदधीत । आर्तरौद्रविरहात् प्रथमा स्यात् स्नानतः किल यथाविधितो ज्ञः ॥'—धर्मरत्ना० प० १०३ उ० । 'मध्यशुद्धिं बहिःशुद्धिं, विदध्यात्तदुपासने । पूर्वा स्यात् स्वान्तनैर्मल्यात्परा स्नानाद्यथाविधिः ॥ २२३ ॥—प्रबोधसार । "शौचं च द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा । मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम् ॥"—दक्ष और व्याघ्रपाद । २. आर्तरौद्रध्यान । ३. बहिःशुद्धिः । ४. चाण्डाल । ५. 'घर्मवायुकलिते बहत्यगाधवारिभरिते जलाशये । संविगाह्य तदिहाचरेदतो वस्त्रपूतमपरं समाचरेत् ॥ १४ ॥—'धर्मरत्ना०, प० १०३ । पाषाणोत्स्फुटितं तोयं प्रासुकं प्रहरद्वम् । सद्यः संतप्तवापीनां प्रासुकं जलमुच्यते ॥६३॥ देवर्षीणां प्र शौचाय स्नानाय च गृहार्थिनाम् । अप्रासुकं परं वारि महातीर्थजमप्यदः ॥६४॥—रत्नमाला । गालितैर्निर्मलै नीरैः सन्मन्त्रेण पवित्रितैः । प्रत्यहं जिनपूजार्थं स्नानं कुर्याद् यथाविधिः ॥१॥ सरितां सरसां वारि यदगाधं भवेत् क्वचित् । सुवातातपसंस्पृष्टं स्नानार्हं तदपि स्मृतम् ॥२॥ नभस्वताहृतं ग्रावघटीयन्त्रादिताडितम् । तप्तं सूर्यांशुभिर्वाप्यां मुनयः प्रासुकं विदुः ॥३॥ —धर्मसं० श्रा० पृ० २१८ । 'नदीषु देवखातेषु तडागेषु सरःसु च । स्नानं समाचरेन्नित्यं गर्तप्रस्रवणेषु च ॥२०३॥—'मनुस्मृति । 'अपोऽवगाहनं स्नानं विहितं सार्ववर्णिकम् । मन्त्रवत् प्रोक्षणं चापि द्विजातीनां विशिष्यते ॥—बौधायनधर्मसूत्र २-४-४ । 'स्नानं च सर्ववर्णानां कार्यं शौचपुरःसरम् । समन्त्रकद्विजानां स्यात् स्त्रीशूद्राणाममन्त्रकम् ॥ —स्मृत्यर्थसार पृ० २६ ।

पादजानुकटिग्रीवाशिरःपर्यन्तसंश्रयम् ।
स्नानं पञ्चविधं ज्ञेयं यथादोषं शरीरिणाम् ॥४६६॥

ब्रह्मचर्योपपन्नस्य निवृत्तारम्भकर्मणः ।
यद्वा तद्वा भवेत्स्नानमन्त्यमन्यस्य तद्द्वयम् ॥४६७॥

सर्वारम्भविजृम्भस्य ब्रह्मजिह्मस्य देहिनः ।
अविधाय बहिःशुद्धिं नाप्तोपास्त्यधिकारिता ॥४६८॥

अद्भिः शुद्धिं निराकुर्वन्मन्त्रमात्रपरायणः ।
स मन्त्रैः शुद्धिभाङ् नूनं भुक्त्वा हत्वा विहृत्य च ॥४६९॥

मृत्स्नयेष्टकया वापि भस्मना गोमयेन च ।
शौचं तावत्प्रकुर्वीत यावन्निर्मलता भवेत् ॥४७०॥

नदी वगैरहमें स्नान करना चाहे तो उसका पानी बहता हुआ होना चाहिए और उस पानीको धूप और हवा खूब लगना चाहिए। ऐसा पानी स्नानके योग्य है।

स्नान पाँच प्रकारका होता है—पैर तक, घुटनों तक, कमर तक, गर्दन तक और सिर तक। इनमें-से मनुष्योंको दोषके अनुसार स्नान करना चाहिए ॥४६६॥ जो ब्रह्मचारी है और सब प्रकारके आरम्भोंसे विरत है वह इनमें-से कोई-सा भी स्नान कर सकता है किन्तु अन्य गृहस्थोंको तो सिर या गर्दनसे ही स्नान करना चाहिए ॥४६७॥ जो सब प्रकारके आरम्भोंमें लगा रहता है और ब्रह्मचारी भी नहीं है, उसे बाह्य शुद्धि किये बिना देवोपासना करनेका अधिकार नहीं है ॥४६८॥ जो जलसे शुद्धिका निराकरण करता हुआ केवल मन्त्रपाठमें ही तत्पर रहता है, उसे भोजन करके, किसीको मारकर और विहार करके निश्चय ही मन्त्रोंके द्वारा शुद्ध हो जाना चाहिये ॥४६९॥

अतः मिट्टीसे, ईंटसे अथवा राखसे या गोबरसे तबतक सफाई करनी चाहिए जबतक निर्मलता न आ जाये ॥४७०॥

---

१. 'स्नानं तु द्विविधं प्रोक्तं गौणमुख्यप्रभेदतः। तयोस्तु वारुणं मुख्यं तत्पुनः षड्विधं भवेत्। नित्यं नैमित्तिकं काम्यं क्रियाङ्गं मलकर्षणम्। क्रिया स्नानं तथा षष्ठं षोढा स्नानं प्रकीर्तितम् ।—स्मृतिचन्द्रिका पृ० ११०। 'इष्टापूतक्रियार्थं यत्क्रियाङ्गं स्नानमुच्यते।—स्मृत्यर्थसार पृ० २७। 'अशिरस्कं भवेत् स्नानं स्नानाशक्तौ तु कर्मिणाम्। आर्द्रेण वाससा वापि मार्जनं दैहिकं विदुः ॥—अपरार्क पृ० १३५। २. ब्रह्मचर्यमन्दस्य। ३. 'अस्नातस्तु पुमान्नार्हो जप्याग्निहवनादिषु। प्रातःस्नानं तदर्थं च नित्यस्नानं प्रकीर्तितम् ।—अपरार्क पृ० १२७ में उद्धृत। स्नात्वा देवं स्पृशेन्नित्यं ब्रह्मव्रतविलोपने। स्नानाद्विना सदारस्य निष्फलो दैवतो विधिः ॥२२४॥ ब्रह्मव्रतोपपन्नस्य सर्वारम्भबहिर्मतेः। तोयस्नानं विना शुद्धिर्मन्त्रशुद्धो हि संयमी ॥२२५॥—प्रबोधसार। ४. 'असामर्थ्याच्छरीरस्य कालशक्त्याद्यपेक्षया। मन्त्रस्नानादितः सप्त केचिदिच्छन्ति सूरयः॥ मान्त्रं भौमं तथाग्नेयं वायव्यं दिव्यमेव च। वारुणं मानसं चैव सप्त स्नानान्यनुक्रमात्॥ आपो हिष्ठादिभिर्मान्त्रं मृदालम्भश्च पार्थिवम्। आग्नेयं भस्मना स्नानं वायव्यं गोरजः स्मृतम्॥ यत्तु सातपवर्षेण तद्दिव्यस्नानमुच्यते। वारुणं चावगाहस्तु मानसं विष्णुचिन्तनम्॥ —स्मृतिचन्द्रिका पृ० १३३। ५. दहनं कृत्वा (?)।

बहिर्विहृत्य संप्राप्तो नानाचम्य[1] गृहं विशेत् ।
स्थानान्तरात्समायातं सर्वं[2] प्रोक्षितमाचरेत्[3] ॥४७१॥
आप्लुतः[4] संप्लुतस्वान्तः[5] शुचिवासो विभूषितः ।
[6]मौनसंयमसम्पन्नः कुर्याद्देवार्चनाविधिम् ॥४७२॥
दन्तधावनशुद्धास्यो मुखवासोचितानन:[7] ।
असंजातान्यसंसर्गः सुधीर्देवानुपाचरेत् ॥४७३॥
होमभूतबली[8] पूर्वैरुक्तौ भक्तविशुद्धये ।
भुक्त्यादौ सलिलं सर्पिरूधस्यं[9][10] च रसायनम्[11] ॥४७४॥
एतद्विधिर्न[9] धर्माय नाधर्माय तदक्रियाः ।
दर्भपुष्पाक्षतश्रोत्रवन्दनादिविधानवत्[12] ॥४७५॥
द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः ।
लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः[13] स्यादागमाश्रयः ॥४७६॥

जब बाहरसे घूम कर आये तो बिना कुल्ला किये घरमें नहीं जाना चाहिए। दूसरी जगहसे आयी हुई सब वस्तुओंको पानी छिड़ककर ही काममें लाना चाहिए ॥४७१॥

स्नान करके, शुद्ध वस्त्र पहने, फिर शरीरको आभूषणोंसे भूषित करे और चित्तको वशमें करके मौन तथा संयमपूर्वक जिनेन्द्र देवकी पूजा करे ॥४७२॥ दातौनसे मुख शुद्ध करे और मुखपर वस्त्र लगाकर दूसरोंसे किसी तरहका सम्पर्क न रखकर जिनेन्द्र देवकी पूजा करे ॥४७३॥

पूर्व पुरुषोंने भोजनकी शुद्धिके लिए भोजन करनेसे पहले होम और भूतबलिका विधान किया है। भोजन करनेसे पहले होम पूर्वक अर्थात् प्राणियोंके उद्देश्यसे कुछ अन्न अलग निकालकर रख देना चाहिए। तथा भोजनके पहले पानी, घी और दूधके सेवनको रसायन कहा है। कुश, पुष्प, अक्षत, स्तवन, वन्दना वगैरह के विधानकी तरह उक्त विधि करनेसे न कोई धर्म होता है और न करनेसे न कोई अधर्म होता है। अर्थात्—ऊपर भोजनकी शुद्धिके लिए जो क्रिया बतलायी है उसके करनेसे धर्म नहीं होता और न करनेसे अधर्म नहीं होता है ॥४७४-४७५॥

गृहस्थोंका धर्म दो प्रकारका होता है—एक लौकिक और दूसरा पारलौकिक। इनमें-से लौकिक धर्म लोकको रीतिके अनुसार होता है और पारलौकिक धर्म आगमके अनुसार होता है ॥४७६॥

---

१. 'सुप्त्वा क्षुत्वा च भुक्त्वा च निष्ठीव्योक्त्वाऽनृतानि च । पीत्वापोऽध्येष्यमाणश्च आचमेत् प्रयतोऽपि सन् ॥ १४५ ॥—मनुस्मृति ५ अ० । 'बहिरागतो नानाचम्य गृहं प्रविशेत् ॥ १३ ॥—नीतिवाक्यामृत पृ० २५२ । 'बहिर्विहृत्य····। स्थानान्तरात् समानीते' ।—धर्मरत्ना० पृ० १०३ । २. वस्तु । ३. अभ्युक्षित्वा । ४. स्नातः । ५. संहृतचित्तः । ६. मौनसंयमसम्पन्नैर्देवोपास्तिर्विधीयताम् । दन्तधावनशुद्धास्यैर्धौतवस्त्रपवित्रितैः ॥२२६॥—प्रबोधसार । ७. वासोवृत्ताननः—सागारधर्मा० पृ० ६३ के पादटिप्पणमें पाठ है। ८. भोजनावसरे किञ्चिदग्नौ किञ्चित् प्राङ्गणेऽन्नं क्षिप्यते । 'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् । होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥ ७० ॥—मनुस्मृति, ३ अ० । ९. 'घृताधरोत्तरभुञ्जानोऽग्निं दृष्टिं च लभते ॥३४॥—नीतिवाक्यामृत, पृ० २५३ । १०. दुग्धम् । ११. मथितम् । १२. शकुनार्थं वन्द्यते (?) —'स्तोत्र वन्दनादि' पाठ सम्यक् प्रतीत होता है। क्योंकि प्रबोधसार (पृ० १९४) में लिखा है—'पुष्पादिः स्तवनादिर्वा नैव धर्मस्य साधनम्' । १३. पारलौकिकः ।

जातयोऽनादयः सर्वास्तत्क्रियापि तथाविधा।
श्रुतिः शास्त्रान्तरं वास्तु प्रमाणं कात्र नः क्षतिः ॥४७७॥
स्वजात्यैव विशुद्धानां वर्णानामिह रत्नवत्।
तत्क्रियाविनियोगाय[1] जैनागमविधिः परम् ॥४७८॥
यद्भवभ्रान्ति[2]निर्मुक्तिहेतुधीस्तत्र दुर्लभा।
संसारव्यवहारे तु स्वतःसिद्धे वृथागमः ॥४७९॥

तथा च—

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको[3] विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥४८०॥

इत्युपासकाध्ययने स्नानविधिर्नाम चतुस्त्रिंशत्तमः कल्पः।

सब जातियाँ अनादि हैं और उनकी क्रिया भी अनादि है। उसमें वेद अथवा अन्य शास्त्र प्रमाण रहो, उससे हमारी कोई हानि नहीं है ॥४७७॥

रत्नकी तरह जो वर्ण अपने जन्मसे ही विशुद्ध होते हैं उन्हें उनकी क्रियाओंमें लगानेके लिए जैनआगमोंका विधान ही उत्कृष्ट है ॥४७८॥ क्योंकि शास्त्रान्तरोंमें संसार भ्रमणसे छूटनेके कारणोंमें मनको लगानेवाले ज्ञानका पाया जाना दुर्लभ है। रहा लौकिक व्यवहार, वह तो स्वयं सिद्ध है उसको बतलानेके लिए किसी आगमकी आवश्यकता नहीं है ॥४७९॥ तथा सभी जैन-धर्मानुयायियोंको वह लौकिक व्यवहार मान्य है जिससे उनके सम्यक्त्वमें हानि न आती हो और न उनके व्रतोंमें दूषण लगता हो ॥४८०॥

भावार्थ—ऊपर ग्रन्थकारने भोजनकी शुद्धिके लिए भोजनसे पहले होम और भूतबलिका विधान किया है। हिन्दू स्मृति-ग्रन्थोंमें गृहस्थके करने लायक पाँच यज्ञोंमें-से एक भूतयज्ञ भी बतलाया है। कौवा आदि जीवोंके लिए भोजन निकालनेको भूतयज्ञ कहते हैं, क्योंकि स्मृतिमें कहा है—'भूतेभ्यो बलिहरणं भूतयज्ञः'। यह हिन्दू स्मृतियोंकी चीज ग्रन्थकारने यहाँ क्यों दी ? ऐसी शंका प्रत्येक पाठकको हो सकती है क्योंकि जैन परम्परामें इस तरहका कोई विधान नहीं है। उसका समाधान करनेके लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कोई धार्मिक विधि नहीं है। इसके करनेसे धर्म नहीं होता और न करनेसे अधर्म नहीं होता। किन्तु यह तो एक लौकिक शिष्टाचार है। गृहस्थका धर्म लौकिक भी होता है और पारलौकिक भी होता है। लौकिक धर्म लोकके रीति-रिवाज़के अनुसार होता है। उसके लिए किसी शास्त्रीय विधानकी आवश्यकता नहीं है। जैसे जातियाँ हमेशासे चली आती हैं वैसे ही उनके रीति-रिवाज़ भी हमेशासे चले आते हैं। शायद कोई कहे कि उन जातियोंका चला आता हुआ रीति-रिवाज़ तो शास्त्रसम्मत है, हिन्दू-स्मृति-ग्रन्थोंमें उनका विधान है ? तो ग्रन्थकार कहते हैं कि वह प्रमाण रहो, हमें उससे कोई हानि नहीं है; क्योंकि जो लोकाचार जैनोंके सम्यक्त्वमें हानि नहीं पहुँचाता और न उनके व्रतोंमें दूषण लाता है वह हमें मान्य है। अतः यदि कोई लोकाचार अन्य शास्त्रोंसे प्रमाणित है और जैन भी उसे मानते हैं किन्तु उसके माननेसे न उनके सम्यक्त्वमें हानि आती है और न व्रतोंमें दूषण लगता है तो उसमें कोई बुराई नहीं है। किन्तु इस लोकाचारके सिवा जो वास्तविक

---

१. निश्चयाय। २. संसारभ्रमणमोचनमतिदुर्लभम्। ३. विवाहसूतकादिः।

द्वये[1] देवसेवाधिकृताः संकल्पितासपूज्यपरिग्रहाः कृतप्रतिमापरिग्रहाश्च । संकल्पोऽपि दलफलोपलादिष्विव न समया[2]न्तरप्रतिमासु विधेयः । यतः—

शुद्धे वस्तुनि संकल्पः कन्याजन इवोचितः ।
नाकारान्तरसंक्रान्ते यथा परपरिग्रहे ॥४८१॥

तत्र प्रथमान्[3] प्रति समयसमाचारविधिमभिधास्यामः । तथा हि—

अर्हन्तनु[4]र्मध्ये दक्षिणतो गण[5]धरस्तथा पश्चात् ।
श्रुतगीः[6] साधुस्तदनु च पुरोऽपि दृगवगमवृत्तानि ॥४८२॥
भूर्जे फलके सिचये[7] शिलातले सैकते[8] क्षितौ व्योम्नि ।
हृदये चैते स्थाप्याः समयसमाचारवेदिभिर्नित्यम् ॥४८३॥
रत्नत्रयपुरस्काराः पञ्चापि परमेष्ठिनः ।
भव्यरत्नाकरानन्दं कुर्वन्तु भुवनेन्दवः ॥४८४॥

धर्म है वह तो जैन शास्त्रोंके सिवा अन्य शास्त्रोंमें नहीं पाया जाता । वह वास्तविक धर्म है, संसार-भ्रमणसे छूटनेके जो कारण हैं उनमें मनका लगना । इस धर्मका सच्चा व्याख्यान तो जैन शास्त्रोंमें ही है और वे ही इस विषयमें प्रमाण हैं । अतः भोजनके प्रारम्भमें भूतबलिका विधान कोई धार्मिक विधान नहीं है वह तो लोकाचार है । जैन घरानोंमें तवेकी पहली रोटी मन्दिरके माली को देनेकी जो प्रथा है वह शायद उसी लोकाचारका जैन रूप है ।

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें 'स्नानविधि' नामका चौतीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

देवपूजाकी विधि

देवपूजाके दो रूप हैं—एक तो पुष्प वगैरहमें जिन भगवान्‌की स्थापना करके पूजा की जाती है और दूसरे, जिन-बिम्बोंमें जिन भगवान्‌की स्थापना करके पूजा की जाती है । किन्तु जिस प्रकार पुष्प फल या पाषाणमें स्थापना की जाती है उस तरह अन्य देव हरि-हरादिककी प्रतिमामें जिन भगवान्‌की स्थापना नहीं करना चाहिए; क्योंकि जैसे शुद्ध कन्यामें ही पत्नीका संकल्प किया जाता है दूसरेसे विवाहितमें नहीं, वैसे ही शुद्ध वस्तुमें ही जिन देवकी स्थापना करना उचित है, जो अन्यरूप हो चुकी है उसमें स्थापना करना उचित नहीं है ॥४८१॥

ऊपर जो दो प्रकारके पूजक कहे हैं उनमेंसे पुष्पादिकमें जिन भगवान्‌की स्थापना करके पूजा करनेवालोंके लिए पूजाविधि बतलाते हैं—पूजाविधिके ज्ञाताओंको सदा अर्हन्त और सिद्धको मध्यमें, आचार्यको दक्षिणमें, उपाध्यायको पश्चिममें, साधुको उत्तरमें और पूर्वमें सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको क्रमसे भोजपत्रपर, लकड़ीके पटियेपर, वस्त्रपर, शिलातलपर, रेत निर्मित भूमिपर, पृथ्वीपर, आकाशमें और हृदयमें स्थापित करना चाहिए ॥४८२-४८३॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी रत्नत्रयसे भूषित और जगत्‌के लिए चन्द्रमा-के तुल्य पाँचों परमेष्ठी भव्य जीवरूपी समुद्रको आनन्दित करें ॥४८४॥

---

१. द्विप्रकाराः । २. अन्यदेवहरिहरप्रतिमाविषये जिनसंकल्पो न क्रियते । ३. संकल्पिताप्तपूज्यपरि-ग्रहान् प्रति धर्मोपदेशं दास्यामः । ४. सिद्धः । ५. आचार्यः । ६. उपाध्यायः । ७. वस्त्रे । ८. पुलिने ।

ॐ निखिलभुवनपतिविहितनिरतिशयसपर्यापरम्परस्य परानपेक्षापर्यायप्रवृत्तसमस्तार्थावलोकलोचनकेवलज्ञानसाम्राज्यलाञ्छनपञ्चमहाकल्याणाष्टकमहाप्रातिहार्यचतुस्त्रिंशदतिशयविशेषविराजितस्य षोडशार्धलक्षणसहस्राङ्कितदिव्यदेहमाहात्म्यस्य द्वादशगणप्रमुखमहामुनिमनःप्रणिधानसंनिधीयमानपरमेश्वरपरमसर्वज्ञादिनामसहस्रस्य विरहितारिरजोरहःकुहकभावस्य समवसरणसरोवतीर्णजगत्त्रयपुण्डरीकषण्डमार्तण्डमण्डलस्य दुष्पाराजवञ्जवीभावजलनिमज्जज्जन्तुजातहस्तावलम्बपरमागमस्य भक्तिभरविनतविष्टपत्रयीपालमौलिमणिप्रभाभोगनभोविजृम्भमाणचरण[नख]नक्षत्रनिकुरुम्बस्य सरस्वतीवरप्रसादचिन्तामणेर्लक्ष्मीलतानिकेतकल्पानोकहस्य कीर्तिपोतिकाप्रवर्धनकामधेनोरवीचिपरिचयखलीकारकारणाभिधानमात्रमन्त्रप्रभावस्य सौभाग्यसौरभसंपादनपारिजातप्रसवस्तबकस्य सौरूप्योत्पत्तिमणिमकरिकाघटनविकटाकारस्य रत्नत्रयपुरःसरस्य भगवतोऽर्हत्परमेष्ठिनोऽष्टतयीमिष्टिं करोमीति स्वाहा।

अपि च—

नरोरगसुराम्भोजविरोचनरुचिश्रियम्।
आरोग्याय जिनाधीशं करोम्यर्चनगोचरम् ॥४८५॥

अर्हन्तपूजा

समस्त लोकपतियोंने जिनकी लगातार परमोत्कृष्ट पूजा की है, दूसरोंकी सहायताके बिना समस्त पदार्थोंको देखनेवाले लोचनके तुल्य केवलज्ञानरूपी साम्राज्य जिनका चिह्न है, और जो पाँच महाकल्याणकों, आठ प्रातिहार्यों और चौंतीस अतिशयोंसे सुशोभित हैं, जिनका दिव्य औदारिक शरीर एक हजार आठ लक्षणोंसे युक्त है, बारह गणोंके प्रमुख महामुनि जिनके परमेश्वर परम सर्वज्ञ आदि एक हजार आठ नामोंका चिन्तन अपने मनमें करते हैं, जो ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तरायरूप घातियाकर्मोंसे रहित हैं, जो समवसरणरूपी सरोवरमें आये हुए तीन जगत्के भव्य जीवरूपी कमलोंको विकसित करनेके लिए सूर्यके समान हैं, जिनके द्वारा उपदिष्ट परमागम दुष्पार संसाररूपी समुद्रमें डूबते हुए प्राणियोंके लिए हस्तावलम्बरूप हैं, भक्तिके भारसे विनत हुए तीनों लोकोंके स्वामियोंके मुकुटोंकी मणियोंके प्रभाविस्तार रूपी आकाशमें जिनके चरणनख खिले हुए नक्षत्र-समूहकी तरह प्रतीत होते हैं, जो सरस्वतीको वरका प्रसाद देनेके लिए चिन्तामणि हैं, लक्ष्मीरूपी लताके लिए कल्पवृक्षके तुल्य हैं, कीर्तिरूपी बछियाके पोषणके लिए कामधेनु हैं, जिनके नाम मात्र मंत्रका प्रभाव नरकगतिकी संगतिको तिरस्कृत करनेवाला है। सौभाग्यरूपी सुगन्धिको देनेके लिए जो पारिजात वृक्षके पुष्पगुच्छके तुल्य हैं, तथा सौरूप्यकी उत्पत्तिरूपी मणिजड़ित पुतलीके निर्माणके लिए जो स्वर्णकारके तुल्य हैं, रत्नत्रयसे भूषित उन भगवान् अर्हन्त परमेष्ठीकी मैं आठ द्रव्यसे पूजा करता हूँ।

तथा मैं आरोग्य-प्राप्तिके लिए मनुष्य, नाग और देवरूपी कमलोंके लिए सूर्यकी शोभाको धारण करनेवाले जिनेन्द्र देवकी पूजा करता हूँ ॥४८५॥

---

१. गणमहाप्र–आ०। २. अरिर्मोहः। रजो ज्ञानदर्शनावरणद्वयम्। रहः अन्तरायः। कुहकं–इन्द्रजालम्। ३. आजवञ्जवीभावः–संसारः। ४. विस्तार एव नभः। ५. स्थान। ६. वत्सिका। ७. अवीचिर्नरकविशेषः, तस्य परिचयः संगतिः। ८. धानपात्र–मु०। ९. पुत्तलिका। १०. स्वर्णकारस्य। ११. सूर्य।

ॐ सहचरसमीचीनत्वा[1]वींत्रयविचारगोचरोचितहिताहितप्रविभागस्य अतएव परनिरपेक्षतया स्वयंभुवः सलिलान्मुक्ताफलमिव उपलादिव च काञ्चनमस्मा[2]देवात्मनः कारणविशेषोपसर्[3]पणवशादाविर्भूतमखिलमलविलयलब्धात्मस्वभावमस[4]ममसहायमक्रममवधीरितान्यसंनिधिव्यवधानमनवधिमयत्नसाध्यमवसितातिशयसीमानमात्मस्वरूपैकनिबन्धनमन्तःप्रकाशमध्यासितध्वान्तमनन्तदर्शनवैशद्यविशेषसाक्षात्कृतसकलवस्तुसर्वस्वमनवसानसुखस्रोतसमपर्यन्तवीर्यमचाक्षुषसूक्ष्मावभासमसदृशाभि[5]निवेशावगाहमलघुगुरुव्यपदेशमपगतबाधापराकारसंक्रममतिविशुद्धस्वभावतया निवृत्ताशेषशारीरद्वारतया च मनाङ्मुक्तपूर्वावस्थान्तरमरूपरसगन्धशब्दस्पर्शमशेषभुवनशिरःशेखरायमाणपदं[6] विश्वंभरमुपशान्तसकलसंसारदोषप्रसरं परमात्मानमुपेयुषो गु[7]रुणापि प्रतिपन्नगुरुभावस्य रत्नत्रयपुरःसरस्य भगवतः सिद्धपरमेष्ठिनोऽष्टतयोमिष्टिं करोमीति स्वाहा ।

अपि च—

प्रत्न[8] कर्मविनिर्मुक्तान्नूत्नकर्मविवर्जितान् ।
यत्नतः संस्तुवे सिद्धान् रत्नत्रयमहीयसः ॥४८६॥

सिद्धपूजा

जिनका हित-अहितका विवेक एक साथ रहनेवाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रके विचारके विषयके योग्य है, इसीलिए जो परनिरपेक्ष होनेके कारण स्वयंभू हैं, जैसे जलसे मोती और पाषाणसे स्वर्ण प्रकट होता है वैसे ही इसी संसारी आत्मासे विशेषकारणोंके मिलनेसे जो प्रकट हुआ है, समस्त कर्ममलके नष्ट हो जानेसे जो अपने स्वभावको प्राप्त है, सहाय रहित, क्रमरहित, अन्यकी निकटता और दूरीको तिरस्कृत कर देनेवाले, सीमारहित, अयत्नसाध्य, निरतिशय, आत्मस्वरूप ही जिसका एकमात्र कारण है, जो अन्तःप्रकाशरूप है, अनन्त दर्शनकी विशेष निर्मलताके कारण जिसने समस्त वस्तुओंके सारका साक्षात्कार कर लिया है, जो अनन्त सुखका स्रोत है, अनन्तवीर्यसे युक्त है, चक्षुके अगोचर सूक्ष्म पदार्थोंको जानता है, क्षायिक सम्यक्त्व, अवगाहनत्व और अगुरु-लघु गुणोंसे विशिष्ट है, बाधा तथा परके आकार रूप संक्रमण करनेसे रहित है, अत्यन्त विशुद्ध स्वभाव होनेसे तथा समस्त शारीरिक द्वारोंके हट जानेसे जो पूर्व अवस्थासे छुटकारा पा चुका है, जो रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्शसे रहित है, जिसके चरण समस्त लोकोंके सिरपर अर्थात् ऊपर मुकुटके तुल्य शोभायमान है, और जिसके समस्त सांसारिक दोष उपशान्त हो गये हैं, ऐसे परमात्मा पदको प्राप्त कर लेनेवाले, और परमगुरु तीर्थङ्कर भी जिन्हें गुरु मानते हैं, रत्नत्रयसे शोभित उन सिद्ध परमेष्ठीकी मैं आठ द्रव्योंसे पूजा करता हूँ ।

पुराने कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हुए और नवीन कर्मोंके आस्रवसे रहित तथा रत्नत्रयसे महान् उन सिद्धोंका मैं यत्नपूर्वक स्तवन करता हूँ ॥४८६॥

भावार्थ—ऊपर सिद्ध परमेष्ठीका स्वरूप बतलाया है । संसारी आत्मा ही स्वयं कारण मिलनेपर पहले अर्हन्त पर्यायको प्राप्त करता है और तत्पश्चात् सिद्ध पर्यायको प्राप्त करता है ।

---

१. मतिश्रुतावधिरूच । २. पूर्वसंसारिणः । ३. आगमन । ४. असमम—अ० ज० मु० । ५. अभिनिवेशः सम्यक्त्वम् । ६. स्थानम् । ७. परमतीर्थङ्करदेवेन । ८. पुरातन ।

ॐ पूज्यतमस्य उदितोदितकुलशीलगुरुपरम्परोपात्तसमस्तैतिह्यरहस्यसारस्य अध्ययनाध्यापनविनियोगविनयनियमोपनयनादिक्रियाकाण्डनिःष्णातचित्तस्य चातुर्वर्ण्यसंघप्रवर्धनधुरन्धरस्य द्विविधात्मकधर्मावबोधनविधूतैहिकव्यपेक्षासंबन्धस्य सकलवर्णाश्रमसमयसमाचारविचारोचितवचनप्रपञ्चमरीचिविदलितनिखिलजनतारविन्दिनीमिथ्यात्वमहामोहान्धकारपटलस्य ज्ञानतपःप्रभावप्रकाशितजिनशासनस्य शिष्यप्रशिष्यसंपदाशेषमिव भुवनमुद्धर्तुमुद्यतस्य भगवतो रत्नत्रयपुरःसरस्याचार्यपरमेष्ठिनोऽष्टतयीमिष्टिं करोमीति स्वाहा।

अपि च—

विचार्य सर्वमैतिह्यमाचार्यकमुपेयुषः।
आचार्यवर्यानर्चामि संचार्य हृदयाम्बुजे ॥४८७॥

ॐ श्रीमद्भगवदर्हद्वदनारविन्दविनिर्गतद्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वप्रकीर्णविस्तीर्णश्रुतपारावार-

---

चार घातिकर्म नष्ट हो जानेपर आत्मामें अनन्तदर्शन अनन्तज्ञान आदि गुण प्रकट हो जाते हैं। ये परनिरपेक्ष होते हैं, इन्द्रियादिकी सहायताके बिना केवल आत्मासे ही होते हैं तथा सदा स्थायी होते हैं। शेष चार अघातिकर्मोंके नष्ट हो जानेपर शरीर भी छूट जाता है किन्तु मुक्तावस्थामें शरीरके नहीं होनेपर भी आत्माका प्रायः कुछ न्यून वही आकार बना रहता है, जो पूर्व शरीरका आकार होता है। आत्मा स्वभावसे अमूर्तिक है अतः आत्मामें रूप रस वगैरह गुण नहीं होते क्योंकि रूपादि पुद्गलके गुण हैं। इसलिए मुक्तात्मा इन गुणोंसे शून्य होता है और आत्मिक गुणोंसे सम्पन्न होता है। सिद्ध परमेष्ठी तीर्थङ्करोंके भी गुरु होते हैं, क्योंकि तीर्थङ्कर उन्हींके स्मरणपूर्वक जिनदीक्षा धारण करते हैं, इस लोकमें अन्य कोई उनका गुरु नहीं होता।

आचार्यपूजा

जो अत्यन्त पूजनीय हैं, अति उन्नत कुल शीलवाले और गुरुपरम्परासे प्राप्त समस्त शास्त्रोंके रहस्यके ज्ञाता हैं, पढ़ना-पढ़ाना, व्याख्यान, विनय, नियम, दीक्षादान आदि क्रियाकाण्डमें जो परम प्रवीण हैं, मुनि-आर्यिका और श्रावक-श्राविकाके भेदसे चार प्रकारके संघकी वृद्धिमें धुरन्धर—अग्रेसर है, गृहस्थ और मुनिधर्मके ज्ञानके कारण जो इस लोकसम्बन्धी समस्त सम्बन्धोंसे निरपेक्ष होते हैं, जो समस्त वर्णों और आश्रमोंकी आगमिक क्रियापद्धतिके विचारसे पूर्ण वचनरूपी किरणोंके द्वारा समस्त जनतारूपी कमलिनीके महामिथ्यात्व मोहरूपी अन्धकारपटलको दूर करते हैं, अपने ज्ञान और तपके प्रभावसे जिन-शासनको प्रकाशित करते हैं, शिष्य-प्रशिष्य परम्पराके द्वारा समस्त लोकका उद्धार करनेमें तत्पर रहते हैं, रत्नत्रयसे शोभित उन भगवान् आचार्य परमेष्ठीकी मैं आठ द्रव्योंसे पूजा करता हूँ।

समस्त शास्त्रोंका विचार करके आचार्य पदको प्राप्त हुए श्रेष्ठ आचार्योंको अपने हृदय-कमलमें विराजित करके पूजा करता हूँ ॥४८७॥

उपाध्यायपूजा

जो श्रीमान् भगवान् अर्हन्त देवके मुखकमलसे निकले हुए बारह अङ्गों, चौदह पूर्वों और

---

१. उदिगोतोदित—अ० ज० मु०। आत्याचरणशुद्धम्। २. पठन-पाठन। ३. व्याख्यानम्। ४. दीक्षाव्रतारोपणादिविधिः। ५. यतिश्रावकाश्रय।

पारंगमस्य अपारसंपरा[1]यारण्यविनिर्गमानुपसर्गमार्गमार्गणनिरतविनेयजनशरण्यस्य दुरन्तै-
कान्तवादमदमषीमलिनपरवादिकरिकण्ठीरवोत्कण्ठकण्ठार[2]वायमाणप्र[3]माणनय[4]नि[5]क्षेपानुयो[6]ग-
वाग्व्यतिकरस्य श्रवणग्रहणावगा[7]हनावधारणप्रयोग[8]वाग्मित्वकवित्वगमकशक्तिविस्मापित-
विनतनरनिलिम्पाम्बरचरचक्रवर्तिसीमन्तप्रान्तपर्यस्तो[9]त्तंसकस्रक्सौरभाधिवासितपादपीठोपक-
ण्ठस्य व्रतविधाने[10]वद्यहृदयस्य भगवतो रत्नत्रयपुरःसरस्य उपाध्यायपरमेष्ठिनोऽष्टतयीमिष्टिं
करोमीति स्वाहा।

अपि च—

अपास्तैकान्तवादीन्द्रानपारागमपारगान्।
उपाध्यायानुपासेऽहमुपायाय[11] श्रुताप्तये ॥४८८॥

ॐ विदित[12]वेदितव्यस्य बाह्याभ्यन्तराचरणकरण[13]त्रयविशुद्धित्रिप[14]थगापगाप्रवाहनिर्मू-
लितमनोजकुजकुटुम्बाडम्बरस्य अमराम्बरचरनरनितम्बि[15]नीकदम्बनदप्रादुर्भूतमदनमदमकर-
न्ददुर्दिनविनोदारविन्दच[16]न्द्रायमाणोदितोदितव्रतव्राती[17]पहसितार्वाचीनचरित्रच्युत[18]विरिञ्चवि-

---

अंगबाह्योंके रूपमें विस्तीर्ण श्रुतरूपी समुद्रके पारगामी होते हैं, जो अपार संसाररूपी महावनसे निकलनेके लिए उपसर्ग-रहित मार्गकी खोजमें लगे हुए शिष्यजनोंके लिए शरणभूत हैं, दुरन्त एकान्तवादरूपी मदकी कालिमासे मलिन परवादी रूपी हाथियोंके लिए प्रमाण, नय, निक्षेप और अनुयोगसे युक्त जिनका वचनसमूह सिंहकी गर्जनाके तुल्य होता है, श्रवण (सुनना), ग्रहण, मन्थन, अवधारण (याद रखना), प्रयोग, वाग्मित्व (पाण्डित्यपूर्ण वचन बोलनेकी कला), कवित्व और गमक शक्ति (समझाने की शक्ति) के द्वारा आश्चर्ययुक्त किये गये विनत (नमस्कार करते हुए) मनुष्यों, देवों और विद्याधरोंके स्वामियोंके केशोंसे नीचे गिरी हुई मालाओंकी सुगन्धसे जिनके चरणोंके आसनका निकट भाग सुवासित है, और जो व्रतविधानमें निर्दोष हृदय हैं, उन रत्नत्रयसे भूषित भगवान् उपाध्याय परमेष्ठीकी आठ द्रव्योंसे पूजा करता हूँ।

प्रमुख एकान्त वादियोंको हरानेवाले और अपार श्रुत-समुद्रके पारगामी उपाध्याय परमेष्ठीकी मैं पुण्य और श्रुतकी प्राप्तिके लिए उपासना करता हूँ ॥ ४८८ ॥

साधुपूजा

जो कुछ जानने योग्य है उसे जिन्होंने जान लिया है; बाह्य और आभ्यन्तर आचरण पूर्वक मन, वचन, कायकी विशुद्धिरूपी गङ्गानदीके प्रवाहसे जिन्होंने कामदेवरूपी वृक्षके कुटुम्बके आडम्बरको जड़-मूलसे उखाड़ कर फेंक दिया है; देवाङ्गना, विद्याधरी और नारियोंके समूहरूप नदीमें उत्पन्न हुए काममदरूपी पुष्पमधुसे युक्त विनोदरूपी कमलके लिए चन्द्रमाके तुल्य अपने

---

१. संसाराटवी। २. शब्दायमान। ३. वस्तुयाथात्म्यप्रतिपत्तिहेतुः प्रमाणम्। ४. प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशनिरूपणप्रवणो नयः। ५. शब्दसंकल्पयोग्यतास्वरूपैर्वस्तुव्यवस्थापनहेतुर्निक्षेपः। ६. सामान्यविशेषाभ्यामशेषपदार्थावगमपक्षः अनुयोगः। ७. अवगाहनम्—विमर्शनम्। ८. प्रयोगः शास्त्रार्थख्यापनम्। ९. अधःपतित। १०. व्रतविधावन—ब०। ११. उप समीपे अयः शुभावहो विधिर्यस्य स उपायः पुण्यमित्यर्थः। पुण्यार्थं च। १२. ज्ञाततत्त्वस्य। १३. मनोवाक्काय। १४. गंगा। १५. स्त्रीसमूहह्रदोत्पन्न। १६. कमलसंकोचकारक। १७. व्रातः—समूहः। १८. ब्रह्मा।

रोचनादिवैखानसरसस्य अनेकशस्त्रिभुवनक्षोभविधायिभिर्ध्यानधैर्यावधूतविघ्नव्यूहैरनन्यजनसामान्यवृत्तिभिर्मनोगोचरातिचरैराश्चर्यप्रभावभूमिभिरनवधारितविधानैस्तैस्तैर्मूलोत्तरगुणग्रामणीभिस्तपःप्रारम्भैः सकलैहिकसुखसाम्राज्यवरप्रदानायाहितायातावधारितविस्मितोपनतवनदेवतालकालिकुलविलुप्यमानचरणसरसिरुहपरागस्य निर्वाणपथनिष्ठितात्मनो रत्नत्रयपुरःसरस्य भगवतः सर्वसाधुपरमेष्ठिनोऽष्टतयीमिष्टिं करोमीति स्वाहा ।

अपि च—

बोधापगाप्रवाहेण विध्यातानङ्गवह्नयः ।
विध्याराध्याङ्घ्रयः सन्तु साध्यबोध्याय साधवः ॥४८६॥

ॐ जिनजिनागमजिनधर्मजिनोक्तजीवादितत्त्वावधारणैर्द्वयविजृम्भितनिरतिशयाभिनिवेशाधिष्ठानासु प्रकाशितशङ्काप्राकाङ्क्ष्यावह्लादनकुमतार्तिशल्योद्धारासु प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्यस्तम्भसंभृतासु स्थितिकरणोपगूहनवात्सल्यप्रभावनोपरचितोत्सवसपर्यासु अनेकत्रिदशविशेषनिर्मापितभूमिकासु सुकृतिचेतःप्रासादपरम्परासु कृतक्रीडाविहारमपि च यन्निसर्गो-

उन्नतिशील व्रतसमूहसे जिन्होंने चारित्रसे डिगे हुए प्राचीन ब्रह्मा, विरोचन आदि ऋषियोंके तापसरसको तिरस्कृत कर दिया है; अनेक बार तीनों लोकोंको क्षोभित कर देनेवाले, ध्यानकी स्थिरतासे समस्त विघ्नोंके व्यूहको तिरस्कृत कर देनेवाले, असाधारण मनके अगोचर आश्चर्यकारक प्रभाववाले और मूलगुण तथा उत्तरगुणोंमें प्रमुख नाना प्रकारके तपोंके अभ्याससे (क्षुभित होकर) समस्त इस लोकसम्बन्धी सुखोंके साम्राज्यका वर देनेके लिए आये हुए और तिरस्कृत होनेपर आश्चर्यसे नत हुए वनदेवताओंके केशरूपी भ्रमरोंके द्वारा जिनके चरण-कमलका पराग विलुप्त कर दिया गया है; और जो मोक्षके मार्गमें संलग्न हैं, रत्नत्रयसे भूषित उन सर्व साधु परमेष्ठीकी आठ द्रव्योंसे पूजा करता हूँ ।

ज्ञानरूपी नदीके प्रवाहसे जिन्होंने कामरूपी अग्निको बुझा दिया है और जिनके चरण विधिपूर्वक पूजनीय हैं, वे साधु आत्माकी साधनाके लिए होंवे ॥४८९॥

सम्यग्दर्शनपूजा

जिन, जिनागम, जिनधर्म और जिन भगवान्‌के द्वारा कहे हुए तत्त्व ही ठीक हैं, अन्य ठीक नहीं हैं, इस प्रकारकी आस्थासे बढ़े हुए निरतिशय परिणामस्थानोंसे युक्त; शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा और मूढ दृष्टिरूपी शल्योंसे रहित; प्रशम, संवेग अनुकम्पा और आस्तिक्यरूपी स्तम्भोंसे खचित, स्थितिकरण, उपगूहन, वात्सल्य और प्रभावना सम्बन्धी उत्सवोंके समारोहसे भूषित, और देवोंके अनेक भेदोंके द्वारा जिसके कक्षोंका निर्माण हुआ है, ऐसे पुण्यात्माओंके चित्तरूपी महलोंकी पंक्तिमें जो क्रीडा-विहार करता हुआ भी निसर्गसे ही महामुनियोंके मनरूपी समुद्रसे परिचित है, समस्त भरत ऐरावत और विदेह क्षेत्रोंमें होनेवाले चक्रवर्ती चूड़ामणियों (तीर्थङ्करों) का कुल

---

१. तापसः । २. विघ्न । ३. अगम्यैः । ४. सावधान । ५. पूजाविधिना आराध्या अङ्घ्रयः चरणाः येषाम् । ६. साध्यो बोध्य आत्मा यस्य तत् साध्यबोध्यं तस्मै । ७. अयोग-अन्ययोगव्यवच्छेदो जिनदेव एव, जिन एव देव इत्यादि । ८. सर्वेषां सम्यग्दृष्टीनामभिप्रायाः परिणामाः समाना एव भवन्ति न न्यूनाधिकाः । ९. आकांक्षा विचिकित्सा मूढदृष्टि एतानि शल्यानि ।

महामुनिमनःपयोधिपरिचितं अशेषभरतैरावतविदेहवर्षधरचक्रवर्तिचूडामणिकुलदैवतं अमरेश्वरमतिदेवतावतंसकल्पवल्लीपल्लवं अम्बरचरलोकहृदयैकमण्डनं अपवर्गपुरप्रवेशागण्यपुण्यपण्यात्मसात्करणसत्यंकारं अनुल्लङ्घ्यदुरघघनघटादुर्दिनेष्वपि जन्तुषु ज्योतिर्लोकादिगतिगर्तपातनतमस्काण्डभेदनमामनन्ति मनीषिणः, तस्य संसारपादपोच्छेदप्रथमकारणस्य सकलमङ्गलविधायिनः पञ्चपरमेष्ठिपुरःसरस्य भगवतः सम्यग्दर्शनरत्नस्याष्टतयीमिष्टिं करोमीति स्वाहा।

अपि च—

मुक्तिलक्ष्मीलतामूलं युक्तिश्रीवल्लरीवनम्[2] ।
भक्तितोऽर्हामि सम्यक्त्वं भुक्तिचिन्तामणिप्रदम्[3] ॥४९०॥

ॐ यन्निखिलभुवनतार्तीयलोचनम्[4], आत्महिताहितविवेकयाथात्म्यावबोधसमासादितसमीचीनभावम्, अधिगमसम्यक्त्वरत्नोत्पत्तिस्थानम्, अखिलास्वपि दशासु चेत्रज्ञस्वभावसाम्राज्यपरमलाञ्छनम्, अपि च यस्मिन्निदानीमपि[5] नदीस्नातचेतोभिः[7] सम्यगुपाहितोपयो-

देवता है; देवेन्द्रोंकी बुद्धिदेवताको भूषित करनेके लिए कल्पलताके पल्लवके समान है, विद्याधरोंके हृदयका अद्वितीय भूषण है, मोक्षपुरीमें प्रवेश पानेके लिए जिस असंख्य पुण्यरूपी मुद्राकी आवश्यकता होती है, उसके होनेका जो प्रमाणपत्र है, जिसे शास्त्रज्ञ गण अटल महापापरूपी मेघोंकी घटासे ग्रस्त जीवोंके भी ज्योतिर्लोक आदि गतिरूपी गड्ढोंमें गिरानेवाले पापरूपी अन्धकारके पटलका भेदन करनेवाला मानते हैं, अर्थात् पापी-से-पापी जीवको भी सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जानेपर प्रथम नरकके सिवाय शेष नरकों और भवनत्रिक देव निकाय आदिमें जन्म लेना नहीं पड़ता, उस संसाररूपी वृक्षको काटनेमें प्रथम कारण, समस्त मङ्गलोंके विधाता और पञ्चपरमेष्ठीके पुरस्कर्ता भगवान् सम्यग्दर्शनकी आठों द्रव्योंसे पूजा करता हूँ।

जो मुक्ति लक्ष्मीरूपी लताका मूल है, युक्ति लक्ष्मीरूपी वेलके लिए जलके तुल्य है और जिससे भोग सामग्री प्राप्त होती है उस चिन्तामणिको देनेवाला है, उस सम्यग्दर्शनकी मैं भक्तिपूर्वक पूजा करता हूँ ॥ ४९० ॥

सम्यग्ज्ञानपूजा

जो समस्त लोकोंका तीसरा नेत्र है, या समस्त लोकोंको देखनेके लिए तीसरे नेत्रके तुल्य है (क्योंकि ज्ञानके द्वारा ही सब जगत्को जाना जा सकता है), आत्माके हित-अहितके विवेक पूर्वक ठीक-ठीक जाननेके द्वारा ही जिसे समीचीनपना प्राप्त है अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसको वैसा ही जानने मात्रसे ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं होता किन्तु आत्माके हिताहितको विवेकपूर्वक यथार्थ जाननेसे ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है; जो अधिगम सम्यग्दर्शनरूपी रत्नकी उत्पत्तिका स्थान है (क्योंकि परोपदेशपूर्वक जीवादि तत्त्वोंको जानकर जो सम्यक्त्व होता है उसे अधिगम सम्यग्दर्शन कहते हैं), सब दशाओंमें आत्मस्वभावरूपी साम्राज्यका उत्कृष्ट चिह्न है अर्थात् जीवकी प्रत्येक अवस्थामें ज्ञान ही उसका उत्तम चिह्न है उसीके द्वारा जीवको जाना जाता है; तथा आज भी सरस्वती रूपी नदीमें स्नान करनेसे जिनके चित्त निर्मल हो गये हैं ऐसे विद्वानोंके द्वारा सम्यकरूपसे अपने उपयोगको विशुद्ध कर लेनेपर उनके ज्ञानमें सूर्यकान्तमणिके दर्पणकी तरह स्वभावसे ही

१. पाप। २. जलम्। ३. भुक्तिरेव चिन्तामणिः (?)। ४. तृतीय। ५. ज्ञाने। ६. न केवलं केवलिनां तीर्थे। ७. सरस्वत्यां स्नातचित्तैर्विद्वद्भिः। ८. आरोपित। ९. ज्ञान।

गसंमार्जने द्युमणिमणिदर्पण इव साक्षाद्भवन्ति ते ते भावैकसंप्रत्ययाः स्वभावक्षेत्रसमयवि-प्रकर्षिणोऽपि भावास्तस्यात्मलाभनिबन्धनोभयहेतुविहितविचित्रपरिणतिभिर्मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलैः पञ्चतयीमवस्थामवगाहमानस्य सकलमङ्गलविधायिनः पञ्चपरमेष्ठिपुरस्सरस्य भगवतः सम्यग्ज्ञानरत्नस्याष्टतयीमिष्टिं करोमीति स्वाहा।

अपि च—

नेत्रं हिताहितालोके सूत्रं धीसौधसाधने।
पात्रं पूजाविधेः कुर्वे क्षेत्रं लक्ष्म्याः समागमे ॥४११॥

ॐ यत्सकललोकालोकावलोकनप्रतिबन्धकान्धकारविध्वंसनम्, अनवद्यविद्यामन्दाकिनीनिदानमेदिनीधरम्, अशेषसत्त्वोत्सवानन्दचन्द्रोदयम्, अखिलव्रतगुप्तिसमितिलतारामपुष्पाकरसमयम्, अनल्पफलप्रदायितपःकल्पद्रुमप्रसवभूमिमस्मयोपशमसौमनस्यवृत्तिधैर्यप्रधानैरनुष्ठीयमानमुशन्ति सद्धीधनाः परमपदप्राप्तेः प्रथममिव सोपानम्, तस्य पञ्चतयात्मनः सर्वक्रियोपशमातिशयावसानस्य सकलमङ्गलविधायिनः पञ्चपरमेष्ठिपुरःसरस्य भगवतः

सूक्ष्म परमाणु वगैरह, क्षेत्रकी अपेक्षा दूरवर्ती सुमेरु वगैरह और कालकी अपेक्षा दूरवर्ती राम, रावण आदि स्वात्माके द्वारा अनुभवनीय पदार्थ प्रत्यक्ष गोचर प्रतीत होते हैं; वह ज्ञान यद्यपि एक है किन्तु अपनी उत्पत्तिके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कारणोंसे होनेवाली विचित्र परिणतिके द्वारा मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानके भेदसे उसकी पाँच अवस्थाएँ हो गयी हैं, उस समस्त मंगलोंके कर्ता और पंचपरमेष्ठीके पुरस्कर्ता भगवान् सम्यग्ज्ञानकी आठ द्रव्योंसे पूजा करता हूँ।

जो हित और अहितको देखनेमें नेत्रके समान है, बुद्धिरूपी महलको साधनेमें सूत्रके (जिससे नापकर मकान बनाया जाता है) समान है तथा लक्ष्मीके समागमके लिए क्षेत्रके समान है, उस सम्यग्ज्ञानको मैं पूजाविधिका पात्र बनाता हूँ अर्थात् उसकी मैं पूजा करता हूँ ॥४११॥

सम्यक्चारित्रपूजा

जो समस्त लोक और अलोकके देखनेमें रुकावट डालनेवाले अज्ञानान्धकारको नष्ट कर देता है, निर्दोष विद्या (ज्ञान) रूपी गङ्गाके उद्गमके लिए हिमाचलके समान है अर्थात् जैसे हिमाचलसे गङ्गा निकलती है वैसे ही चारित्रकी आराधनासे निर्मलज्ञान प्रकट होता है; जो समस्त प्राणियोंके आनन्दके लिए चन्द्रोदयके समान है, अर्थात् जैसे चन्द्रमाका उदय होनेपर सबको आनन्द होता है वैसे ही चूँकि चारित्र सब जीवोंकी रक्षाका पक्षपाती है अतः सबके लिए आनन्ददायक है, समस्त व्रत, गुप्ति और समितिरूपी लताओंके उद्यानके लिए वसन्त ऋतुके समान है अर्थात् जैसे वसन्त ऋतुमें उद्यानोंमें लगी लताएँ पुष्पित हो जाती हैं वैसे ही चारित्रके धारण करनेपर व्रतादि भी खिल उठते हैं; जो बहुत फल देनेवाले तपरूपी कल्पवृक्षका उत्पत्ति स्थान है, गर्वरहित प्रशमभाव, मनकी सौम्यता और धीरता आदिके द्वारा पालन किये जानेवाले ऐसे चारित्रको निर्मल बुद्धिके धनी महात्मा मोक्षपदकी प्राप्तिका प्रथम सोपान (सीढ़ी) मानते हैं। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म-साम्पराय और यथाख्यात चारित्रके भेदसे

१. सूर्यकान्तमुकुरे। २. स्वात्मानुभवनीया जीवादिपदार्थाः। ३. केचन भावाः स्वभावेन दूराः, केचन क्षेत्रापेक्षया दूराः, केचन कालापेक्षया। ४. दूरतराः। ५. सम्यग्ज्ञानस्य। ६. अन्तरंगो बाह्यश्च। ७. केवलज्ञानहिमाचलम्। ८. वसन्त। ९. अगर्व। १०. सामायिकादिपञ्चप्रकारस्य। ११. मनोवाक्कायव्यापारक्षयपर्यन्तस्य।

सम्यक्चारित्ररत्नस्याष्टतयीमिष्टिं करोमीति स्वाहा।

अपि च—

धर्मे[1] योगिनरेन्द्रस्य कर्मवैरिजयार्जने।
शर्मकृत्सर्वसत्त्वानां धर्मधीर्वृत्तमाश्रये ॥४९२॥
जिनसिद्धसूरिदेशकसाधुश्रद्धानबोधवृत्तानाम्[2]।
कृत्वाष्टतयीमिष्टिं विदधामि ततः स्तवं युक्त्या ॥४९३॥

तत्त्वेषु प्रणयः परोऽस्य मनसः श्रद्धानमुक्तं जिनै-
[3]रेतद्द्वित्रिदशप्रभेदविषयं व्यक्तं चतुर्भिर्गुणैः[4]।
अष्टाङ्गं भुवनत्रयार्चितमिदं मूढैरपोढं त्रिभि-
श्चित्ते देव दधामि संसृतिलतोल्लासावसानोत्सवम् ॥४९४॥
ते कुर्वन्तु तपांसि दुर्धरधियो ज्ञानानि सञ्चिन्वतां
वित्तं वा वितरन्तु देव तदपि प्रायो न जन्मच्छिदः।
एषा येषु न विद्यते तव वचः श्रद्धावधानोद्धुरा
दुष्कर्माङ्कुरकुञ्जवज्रदहनद्योतावदाता रुचिः ॥४९५॥

पाँच भेदरूप किन्तु समस्त मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रियाका अत्यन्त शान्त हो जाना ही जिसकी चरम सीमा है उस समस्त मङ्गलोंके कर्ता और पञ्चपरमेष्ठीके पुरस्कर्ता भगवान् सम्यक्-चारित्रकी आठ द्रव्योंसे पूजन करता हूँ।

जो योगीरूपी राजाके कर्मरूपी वैरियोंको जीतनेमें धनुषके समान है तथा सब प्राणियोंको सुख देने वाला है, मैं धर्म बुद्धिसे उस चारित्रकी शरण जाता हूँ ॥४९२॥

इस प्रकार अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रकी अष्टद्रव्यसे पूजन करके मैं इनका युक्तिपूर्वक स्तवन करता हूँ ॥४९३॥

सम्यग्दर्शनकी भक्ति

[सबसे प्रथम सम्यग्दर्शनकी भक्ति इस प्रकार करे—]

जिनेन्द्र देवने तत्त्वोंमें मनकी अत्यन्त रुचिको सम्यग्दर्शन कहा है। इस सम्यग्दर्शनके दो, तीन और दस भेद बतलाये हैं। तथा प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुणके द्वारा सम्यक्त्वकी पहचान होती है। उसके निःशंकित, निःकांक्षित आदि आठ गुण हैं। वह तीन प्रकार-की मूढ़तासे रहित होता है। हे देव! संसार रूपी लताका अन्त करनेवाले और तीनों लोकोंमें पूज्य उस सम्यग्दर्शनको मैं अपने हृदयमें धारण करता हूँ ॥४९४॥

हे देव! जिनकी आपके वचनोंमें एकनिष्ठ श्रद्धापूर्ण निर्मल रुचि नहीं है, जो रुचि दुष्कर्म रूपी अंकुरोंके समूहको भस्म करनेके लिए वज्राग्निके प्रकाशकी तरह निर्मल है, वे दुर्बुद्धि कितनी ही तपस्या करें, कितना ही ज्ञानार्जन करें और कितना ही दान दें, फिर भी जन्म परम्परा का छेदन नहीं कर सकते ॥४९५॥

---

१. धर्मयोगि–अ० ज० मु० आ०। २. बोधरत्नानाम् आ० मु०। ३. नैस्तत्त–अ० ज०। निसर्गाधिगम-उपशम-क्षायिक-मिश्र, आज्ञामार्गादि। ४. उपशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य।

संसाराम्बुधिसेतुबन्धमसमप्रारम्भलक्ष्मीवन-
प्रोल्लासामृतवारिवाहमखिलत्रैलोक्यचिन्तामणिम् ।
कल्याणाम्बुजषण्डसंभवसरः सम्यक्त्वरत्नं कृती
यो धत्ते हृदि तस्य नाथ सुलभाः स्वर्गापवर्गश्रियः ॥४९६॥
[इति दर्शनभक्तिः]

अत्यल्पायतिरक्षजा[1] मतिरियं बोधोऽवधिः सावधिः
साश्चर्यः क्वचिदेव योगिनि स च स्वल्पो मनःपर्ययः ।
दुष्प्रापं पुनरद्य केवलमिदं ज्योतिः कथागोचरं
माहात्म्यं निखिलार्थगे[2] तु सुलभे किं वर्णयामः श्रुते[3] ॥४९७॥

यद्देवैः शिरसा धृतं गणधरैः कर्णावतंसीकृतं
न्यस्तं चेतसि योगिभिर्नृपवरैराघ्रातसारं पुनः ।
हस्ते दृष्टिपथे मुखे च निहितं विद्याधराधीश्वरै-
स्तत्स्याद्वादसरोरुहं मम मनोहंसस्य भूयान्मुदे ॥४९८॥

मिथ्यातमःपटलभेदनकारणाय स्वर्गापवर्गपुरमार्गनिबोधनाय ।
तत्तत्त्वभावनमनाः प्रणमामि नित्यं त्रैलोक्यमङ्गलकराय जिनागमाय ॥४९९॥
[इति ज्ञानभक्तिः]

हे नाथ ! संसार रूपी समुद्रके लिए सेतुबन्धके समान, क्रमसे उत्पन्न होने वाले रत्नत्रय रूपी वनके विकासके लिए अमृतके मेघके समान, तीनों लोकोंके लिए चिन्तामणि रत्नके समान और कल्याण रूपी कमल समूहकी उत्पत्तिके लिए तालाबके तुल्य, सम्यक्त्वरूपी रत्नको जो पुण्यात्मा हृदयमें धारण करता है उसे स्वर्ग और मोक्षरूपी लक्ष्मीकी प्राप्ति सुलभ है ॥४९६॥

सम्यग्ज्ञानकी भक्ति

इन्द्रियोंसे उत्पन्न होने वाले मतिज्ञानका विषय बहुत थोड़ा है । अवधिज्ञान भी द्रव्य क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादाको लेकर केवल रूपी पदार्थोंको ही विषय करता है । मनःपर्ययका भी विषय बहुत थोड़ा है और वह भी किसी मुनिके हो जाये तो आश्चर्य ही है । केवलज्ञान महान् है किन्तु उसकी प्राप्ति इस कालमें सुलभ नहीं है । एक श्रुतज्ञान ही ऐसा है जो समस्त पदार्थोंको विषय करता है और सुलभ भी है, उसकी हम क्या प्रशंसा करें ॥ ४९७ ॥

जिसे जिनेन्द्र देवने सिरपर धारण किया, गणधरोंने अपने कानका भूषण बनाया, मुनियों-ने अपने हृदयमें रखा, राजाओंने जिसका सार ग्रहण किया और विद्याधरोंके स्वामियोने अपने हाथमें, आँखोंके सामने और मुखमें स्थापित किया वह स्याद्वादश्रुत रूपी कमल मेरे मानसरूपी हंसकी प्रसन्नताके लिए हो ॥४९८॥

आगममें कहे हुए तत्त्वोंकी मनमें भावना करता हुआ मैं मिथ्यात्व रूपी अन्धकारके पटलको दूर करनेवाले और स्वर्ग और मोक्ष नगरका मार्ग बतलानेवाले तथा तीनों लोकोंके लिए मंगलकारक जैन आगमको सदा नमस्कार करता हूँ ॥४९९॥

---

१. स्वल्पव्यापारा । २. निखिलार्थगेषु—अजमेरप्रतौ पाठः । ३. श्रुते अ० आ० ज० मु० ।

ज्ञानं दुर्भगदेहमण्डनमिव स्यात्स्वस्य खेदावहं
धत्ते साधु न तत्फलश्रियमयं सम्यक्त्वरत्नाङ्कुरः।
कामं देव यदन्तरेण[1] विफलास्तास्तास्तपोभूमय-
स्तस्मै त्वच्चरिताय संयमदमध्यानादिधाम्ने नमः ॥५००॥
यच्चिन्तामणिरीप्सितेषु वसतिः सौरूप्यसौभाग्ययोः
श्रीपाणिग्रहकौतुकं[2] कुलबलारोग्यागमे संगमः।
यत्पूर्वैश्चरितं समाधिनिधिभिर्मोक्षाय पञ्चात्मकं
तच्चारित्रमहं नमामि विविधं स्वर्गापवर्गाप्तये ॥५०१॥
हस्ते स्वर्गसुखान्यतर्कितभवास्ताश्चक्रवर्तिश्रियो
देवाः पादतले लुठन्ति फलति द्यौः कामितं सर्वतः।
कल्याणोत्सवसम्पदः पुनरिमास्तस्यावतारालये
प्रागेवावतरन्ति यस्य चरितैर्जैनैः पवित्रं मनः ॥५०२॥
[इति चारित्रभक्तिः]

बोधोऽवधिः श्रुतमशेषनिरूपितार्थमन्तर्बहिःकरणजा सहजा मतिस्ते।
इत्थं स्वतः सकलवस्तुविवेकबुद्धेः का स्याज्जिनेन्द्र भवतः परतो व्यपेक्षा ॥५०३॥

चारित्र भक्ति

[इस प्रकार ज्ञानकी भक्ति करके फिर चारित्रकी भक्ति करे—]

जिसके विना अभागे मनुष्यके शरीरमें पहनाये गये भूषणोंकी तरह ज्ञान खेदका ही कारण होता है, तथा सम्यक्त्व रत्नरूपी वृक्ष ज्ञानरूपी फलकी शोभाको ठीक रीतिसे धारण नहीं करता, और जिसके न होनेसे बड़े-बड़े तपस्वी भ्रष्ट हो गये, हे देव ! संयम, इन्द्रियनिग्रह और ध्यान वगैरहके आवास उस तुम्हारे चारित्रको मैं नमस्कार करता हूँ ॥५००॥

जो इच्छित वस्तुओंको देनेके लिए चिन्तामणि है, सौन्दर्य और सौभाग्यका घर है, मोक्ष रूपी लक्ष्मीके पाणिग्रहणके लिए कंकणबन्धन है और कुल, बल और आरोग्यका संगमस्थान है अर्थात् तीनोंके होनेपर ही चारित्र धारण करना संभव होता है, और पूर्वकालीन योगियोंने मोक्षके लिए जिसे धारण किया था, स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्तिके लिए उस पाँच प्रकारके चारित्रको मैं नमस्कार करता हूँ ॥५०१॥

जिसका मन जैनाचारसे पवित्र है, स्वर्गके सुख उसके हाथमें हैं, चक्रवर्तीकी विभूतियाँ अकस्मात् उसे प्राप्त हो जाती हैं, देवता उसके पैरोंपर लोटते हैं, जिस दिशामें वह जाता है वही दिशा उसके मनोरथको पूर्ण करती है और जहाँ वह जन्म लेता है उसके जन्म लेनेसे पहिलेसे ही वहाँ कल्याणक उत्सव मनाये जाते हैं ॥५०२॥

अर्हन्त भक्ति

[इस प्रकार चारित्र भक्तिको करके फिर अर्हन्त भक्तिको करे]

हे जिनेन्द्र आपको जन्मसे ही अन्तरंग और बहिरंग इन्द्रियोंसे होनेवाला मतिज्ञान, समस्त कथित वस्तुओंको विषय करनेवाला श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान होता है, इस प्रकार आपको स्वतः ही सकल वस्तुओंका ज्ञान है तब परकी सहायताकी आपको आवश्यकता ही क्या है ? ॥५०३॥

---

१. चारित्रं विना। २. कंकणम्।

ध्यानावलोकविगलत्तिमिरप्रताने तां देव केवलमयीं श्रियमादधाने ।
आसीत्त्वयि त्रिभुवनं मुहुरुत्सवाय व्यापारमन्थरमिवैकपुरं महाय ॥५०४॥
छत्रं दधामि किमु चामरमुत्क्षिपामि हेमाम्बुजान्यथ जिनस्य पदेऽर्पयामि ।
इत्थं मुदामरपतिः स्वयमेव यत्र सेवापरः परमहं किमु वच्मि तत्र ॥५०५॥
त्वं सर्वदोषरहितः सुनयं वचस्ते सत्त्वानुकम्पनपरः सकलो विधिश्च ।
लोकस्तथापि यदि तुष्यति न त्वयीश कर्मास्य तन्ननु रवाविव कौशिकस्य ॥५०६॥
पुष्पं त्वदीयचरणार्चनपीठसङ्गाच्चूडामणीभवति देव जगत्त्रयस्य ।
अस्पृश्यमन्यशिरसि स्थितमप्यतस्ते को नाम साम्यमनुशास्तु रवीश्वराद्यैः[1] ॥५०७॥
मिथ्यामहान्धतमसावृतमप्रबोधमेतत्पुरा जगदभूद्भवगर्तपाति ।
तद्देव[2] दृष्टिहृदयाब्जविकासकान्तैः स्याद्वादरश्मिभिरथोद्धृतवांस्त्वमेव[3] ॥ ५०८॥
पादाम्बुजद्वयमिदं तव देव यस्य स्वच्छे मनःसरसि संनिहितं समास्ते ।
तं श्रीः स्वयं भजति तं नियतं वृणीते स्वर्गापवर्गजननी च सरस्वतीयम् ॥५०९॥

[इत्यर्हद्भक्तिः]

हे देव ! ध्यानरूपी प्रकाशके द्वारा अज्ञानरूपी अन्धकारका फैलाव दूर होनेपर जब आपने केवलज्ञानरूपी लक्ष्मीको धारण किया तो तीनों लोकोंने अपना अपना काम छोड़कर एक नगरकी तरह महान् उत्सव किया ॥५०४॥

'छत्र लगाऊँ या चमर ढोरूँ अथवा जिनदेवके चरणोंमें स्वर्णकमल अर्पित करूँ' इस प्रकार जहाँ इन्द्र स्वयं ही हर्षित होकर सेवाके लिए तत्पर हैं वहाँ मैं क्या कहूँ ॥५०५॥

हे देव ! तुम सब दोषोंसे रहित हो, तुम्हारे वचन सुनयरूप हैं—किसी वस्तुके विषयमें इतर दृष्टिकोणोंका निराकरण न करके विवक्षित दृष्टिकोणसे वस्तुका प्रतिपादन करते हैं। तथा तुम्हारे द्वारा बतलायी गयी सब विधि प्राणियोंके प्रति दयाभावसे पूर्ण है। फिर भी लोक यदि तुम-से सन्तुष्ट नहीं होते तो इसका कारण उनका कर्म है। जैसे उल्लूको सूर्यका तेज पसन्द नहीं है किन्तु इसमें सूर्यका दोष नहीं है बल्कि उल्लूके ही कर्मोंका दोष है ॥५०६॥

हे देव ! तुम्हारे चरणोंकी पूजाके लिए तुम्हारे आगे जो वेदी रहती है उसके संसर्ग मात्रसे फूल तीनों लोकोंके मस्तकका भूषण बन जाता है अर्थात् उस फूलको सब अपने सिरसे लगाते हैं। और दूसरोंके सिरपर भी रखा हुआ फूल अस्पृश्य माना जाता है। अतः अन्य सूर्य रुद्रआदि देव-ताओंसे तुम्हारी क्या समानता ? ॥५०७॥

हे देव ! पहले मिथ्यात्वरूपी गाढ़ अन्धकारसे आच्छादित होनेके कारण ज्ञानशून्य होकर यह जगत् संसाररूपी गढ़ेमें पड़ा हुआ था। नेत्र-कमल और हृदय-कमलको विकसित करनेवाली स्याद्वादरूपी किरणोंके द्वारा तुमने ही उसका उद्धार किया ॥५०८॥

हे देव ! जिसके मनरूपी स्वच्छ सरोवरमें तुम्हारे दोनों चरणकमल विराजमान हैं उसके पास लक्ष्मी स्वयं आती है तथा स्वर्ग और मोक्षको देनेवाली यह सरस्वती नियमसे उसे वरण करती है ॥५०९॥

[इस प्रकार अर्हद्भक्तिको करके सिद्ध भक्ति को करे]

१. सूर्यरुद्राद्यैः । २. नेत्रकमलं हृत्कमलं वा । ३. किरणैः आकर्षणापेक्षया रज्जुभिः ।

सम्यग्ज्ञानत्रयेण[1] प्रविदितनिखिलज्ञेयतत्त्वप्रपञ्चाः
प्रोद्धूय ध्यानवातैः सकलमघरजःप्राप्तकैवल्यरूपाः।
कृत्वा सत्त्वोपकारं त्रिभुवनपतिभिर्दत्तयात्रोत्सवा ये
ते सिद्धाः सन्तु लोकत्रयशिखरपुरीवासिनः सिद्धये वः ॥५१०॥
दानज्ञानचरित्रसंयमनयप्रारम्भगर्भं मनः
कृत्वान्तर्बहिरिन्द्रियाणि मरुतः[2] संयम्य पञ्चापि च।
पश्चाद्वीतविकल्पजालमखिलं भ्रस्यत्तमःसंततिं
ध्यानं तत्प्रविधाय ये च मुमुक्षुस्तेभ्योऽपि बद्धोऽञ्जलिः ॥५११॥
इत्थं येऽत्र समुद्रकन्दरसरःस्रोतस्विनीभूनभो-
द्वीपाद्रिद्रुमकाननादिषु धृतध्याना[3] वधानर्द्धयः।
कालेषु त्रिषु मुक्तिसंगमजुषः स्तुत्यास्त्रिभिर्विष्टपै-
स्ते रत्नत्रयमङ्गलानि ददतां भव्येषु रत्नाकराः ॥५१२॥
[इति सिद्धभक्तिः]

भौमव्यन्तरमर्त्यभास्करसुरश्रेणीविमानाश्रिताः
स्वर्ज्योतिःकुलपर्वतान्तरधरारन्ध्रप्रबन्धस्थितीः।

सिद्ध भक्ति

जिन्होंने अपनी छद्मस्थ अवस्थामें मति, श्रुत और अवधिज्ञानके द्वारा सब ज्ञेय तत्त्वोंको विस्तारसे जाना फिर ध्यानरूपी वायुके द्वारा समस्त पापरूपी धूलिको उड़ाकर केवलज्ञान प्राप्त किया; फिर इन्द्रादिकके द्वारा किये गये बड़े उत्सवके साथ सर्वत्र विहार करके जीवोंका उपकार किया; तीनों लोकोंके ऊपर विराजमान वे सिद्ध परमेष्ठी हम सबकी सिद्धिमें सहायक हों ॥५१०॥

मनको दान, ज्ञान, चारित्र, संयम आदिसे युक्त करके और अन्तरंग तथा बहिरंग इन्द्रियों और प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पाँचों वायुओंका निरोध करके फिर अज्ञानरूपी अन्धकारकी परम्पराको नष्ट करनेवाले निर्विकल्प ध्यानको करके जो मुक्त हुए उन्हें भी मैं हाथ जोड़ता हूँ ॥५११॥

भावार्थ—पहले जो तीर्थङ्कर होकर सिद्ध हुए उन्हें नमस्कार किया है। इसमें जो सामान्य जन सिद्ध हुए उन्हें नमस्कार किया है।

इस प्रकार समुद्र, गुफा, तालाब, नदी, पृथ्वी, आकाश, द्वीप, पहाड़, वृक्ष और वन वगैरहमें ध्यान लगाकर जो अतीत कालमें मुक्त हो चुके, वर्तमानमें मुक्त हुए हैं और भविष्यमें मुक्त होंगे, तीनों लोकोंके द्वारा स्तुति करनेके योग्य वे भव्यशिरोमणि हमें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूपी मङ्गलको देवें ॥५१२॥

[इस प्रकार सिद्धभक्ति समाप्त हुई।]

चैत्य भक्ति

[फिर चैत्य भक्ति करे—]

भवनवासी और व्यन्तरोंके निवासस्थानोंमें, मर्त्यलोकमें, सूर्य और देवताओंके श्रेणी विमानोंमें,

---

१. छद्मस्थावस्थायाम्। २. वातान्—प्राणापानव्यानोदानसमानान्। ३. ध्यानावधानमेव ऋद्धिः।

वन्दे तत्पुरपालमौलिविलसद्रत्नप्रदीपार्चिताः
साम्राज्याय जिनेन्द्रसिद्धगणभृत्स्वाध्यायिसाध्वाकृतीः ॥५१३॥
[इति चैत्यभक्तिः]

समवसरणवासान्[2] मुक्तिलक्ष्मीविलासान्[3]
सकलसमयनाथान्[4] वाक्यविधीसनाथान्[5]।
भवनिगलविनाशोद्योगयोगप्रकाशान्[6]
निरुपमगुणभावान् संस्तुवेऽहं क्रियावान्[8] ॥५१४॥
[इति पञ्चगुरुभक्तिः]

भवदुःखानलशान्तिर्धर्मामृतवर्षजनितजनशान्तिः[10]।
शिवशर्मास्रवशान्तिः शान्तिकरः स्ताज्जिनः शान्तिः ॥५१५॥
[इति शान्तिभक्तिः]

मनोमात्रोचितायापि यः पुण्याय न चेष्टते।
हताशस्य कथं तस्य कृतार्थाः स्युर्मनोरथाः ॥५१६॥

स्वर्गलोकमें, ज्योतिषी देवोंके विमानोंमें, कुलाचलोंपर, पाताल लोक तथा गुफाओंमें जो अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठीकी प्रतिमाएँ हैं, जिन्हें उन स्थानोंके रक्षक अपने मुकुटोंमें जड़े हुए रत्न रूपी दीपकोंसे पूजते हैं, मैं साम्राज्यके लिए उन्हें नमस्कार करता हूँ ॥५१३॥

[इस प्रकार चैत्य भक्ति समाप्त हुई।]

पञ्चगुरु भक्ति

[फिर पञ्च गुरुओंकी भक्ति करे—]

समवशरणमें विराजमान अर्हन्तोंको, मुक्तिरूपी लक्ष्मीसे आलिंगित सिद्धोंको, समस्त शास्त्रोंके पारगामी आचार्योंको, शब्दशास्त्रमें निपुण उपाध्यायोंको और संसार रूपी बन्धनका विनाश करनेके लिए सदा उद्योगशील, योगका प्रकाश करनेवाले और अनुपम गुणवाले साधुओंको क्रिया कर्ममें उद्यत मैं नमस्कार करता हूँ ॥५१४॥

[इस प्रकार पञ्चगुरुकी भक्ति करके फिर शान्ति भक्ति करे—]

शान्ति भक्ति

संसारके दुःखरूपी अग्निको शान्त करनेवाले, और धर्मामृतकी वर्षा करके जनतामें शान्ति करनेवाले तथा मोक्षसुखके विघ्नोंको शान्त—नष्ट कर देनेवाले शान्तिनाथ भगवान् शान्ति करें ॥५१५॥

जो केवल मानसिक संकल्पसे होने योग्य पुण्यबन्धके लिए भी प्रयत्न नहीं करता, उस हताश मनुष्यके मनोरथ कैसे पूर्ण हो सकते हैं ? ॥ ५१६ ॥

[फिर आचार्य भक्ति करे—]

---

१. उपाध्याय। २. अर्हतः। ३. सिद्धान्। ४. सूरीन्। ५. उपाध्यायान्। ६. शृंखला। ७. साधून्। ८. क्रियासूद्यतः। ९. विध्यापनं विध्यति। १०. शैत्यम्।

येषां तृष्णातिमिरभिदुरस्तत्त्वलोका[1]वलोकात्
पारेऽवारे [2]प्रशमजलधेः संगवार्धेः परेऽस्मिन्।
बाह्यव्यासिप्रसरविधुरश्चित्तवृत्तिप्रचार-
स्तेषामर्चाविधिषु भवताद्वारिपूरः[3] श्रिये वः ॥५१७॥
दूरारूढे प्रणिधितरणावन्तरात्माम्बरेऽस्मि-
न्नास्ते येषां हृदयकमलं मोदनिस्पन्दवृत्तिः।
तत्त्वालोकावगमगलितध्वान्त[6]बन्धस्थितीना-
मिष्टिं तेषामहमुपनये पादयोश्चन्दनेन ॥५१८॥
येषामन्तस्तदमृतरसास्वादमन्दप्रचारे
सेनाधीशे विगतनिखिलारम्भसंभोगभावः।
ग्रामोऽक्षाणामुदुषित इवाभाति योगीश्वराणां
कुर्मस्तेषां कलमसदकैः पूजनं निर्ममाणाम् ॥५१९॥
देहारामे[9]ऽप्युपरतधियः सर्वसंकल्पशान्ते-
र्येषाम्[10]र्मिस्मय[11]विरहिता ब्रह्मधामामृतासेः।
आत्मात्मीयानुगमविगमाद्वृत्तयः शुद्धबोधा-
स्तेषां पुष्पैश्चरणकमलान्यर्चयेयं शिवाय ॥५२०॥

आचार्य भक्ति

तत्त्वोंके यथार्थ प्रकाशसे तृष्णारूपी अन्धकारको दूर कर देनेवाला जिनकी चित्तवृत्तिका प्रचार बाह्य बातोंमें नहीं होता और परिग्रहरूपी समुद्रके उस पार रहता है, तथा शान्तिरूपी समुद्रके इस पार या उस पार रहता है। अर्थात् जिनकी चित्तवृत्ति परिग्रहकी भावनासे मुक्त हो चुकी है और शान्तिरूपी समुद्रमें सदा वास करती है, उन आचार्योंकी पूजा विधिमें अर्पित की गयी जलकी धारा तुम्हारा (हमारा) कल्याण करे ॥५१७॥

आत्मारूपी आकाशमें ध्यानरूपी सूर्यके अपनी उन्नत अवस्थाको पहुँचनेपर जिनका हृदयकमल हर्षसे निश्चल हो जाता है और तत्त्वोंके दर्शन तथा ज्ञानसे ज्ञानावरणादिक कर्मबन्धकी स्थिति गलने लगती है, उनके चरणोंमें चन्दन अर्पित करके मैं उनकी पूजा करता हूँ ॥५१८॥

अध्यात्मरूपी अमृत रसके पान करनेसे बाह्य बातोंमें आत्माकी गतिके मन्द पड़ जानेपर जिन योगीश्वरोंकी इन्द्रियोंका समूह समस्त आरम्भादिकको छोड़कर अन्यत्रगत प्रतीत होता है, उन मोहरहित आचार्योंकी हम अक्षतसे पूजा करते हैं ॥५१९॥

समस्त संकल्पोंके शान्त हो जानेके कारण जो शरीर रूप परिग्रहमें भी ममत्व भाव नहीं रखते, ब्रह्मधामरूपी अमृतकी प्राप्ति हो जानेके कारण जो भूख-प्यासकी पीड़ाको सहते हुए भी उसका गर्व नहीं करते, आत्मामें भी अपनेपनकी भावनाके न होनेसे जिनकी वृत्तियाँ शुद्ध ज्ञानरूप हैं, मोक्षकी प्राप्तिके लिए उनके चरण-कमलोंकी हम पुष्पसे पूजा करते हैं ॥५२०॥

---

१. समूह। २. येषां चित्तवृत्तिप्रचारः प्रशमजलधेः पारे परकूले अवारे अर्वाकूले वर्तते प्रशमसमुद्रमध्ये एव वर्तते इत्यर्थः। पुनः प्रचारः संगवार्धेः परिग्रहसमुद्रस्य परे पारे वर्तते। तस्मादुत्तीर्ण इत्यर्थः। ३. जलधारा। ४. प्रकर्षप्राप्ते सति। ५. ध्यानसूर्ये। ६. ध्वान्तस्याज्ञानस्य प्रबन्धः समूहः तस्य स्थितिः। ७. परिकल्पयामि। ८. अक्षतैः। ९. देहारम्भे–आ०। आरामं-परिग्रहः। १०. ऊर्मिः-पीड़ा क्षुत्पिपासादयः। ११. गर्व।

येषामङ्गे मलयजरसैः संगमः कर्दमैर्वा
स्त्रीविभ्वोकैः[1] पितृवनचितामस्मभिर्वा समानः।
मित्रे शत्रावपि च विषये निस्तरङ्गोऽनुषङ्ग[2]-
स्तेषां पूजाव्यतिकरविधावस्तु भूत्यै हविर्वः[3] ॥५२१॥
योगाभोगाचरणचतुरे[4] दीर्णकन्दर्पदर्पे
स्वान्ते ध्वान्तोद्धरणसविधे[5] ज्योतिरुन्मेषभाजि[6]।
संमोदेतामृतभृत इव क्षेत्रनाथोऽन्तरुच्चै-
र्येषां तेषु क्रमपरिचयात्स्याच्छ्रिये वः प्रदीपः ॥५२२॥
येषां ध्येयाशयकुवलयानन्दचन्द्रोदयानां
बोधाम्भोधिः प्रमदसलिलैर्माति नात्मावकाशे।
लब्ध्वाप्येतामखिलभुवनैश्वर्यलक्ष्मीं निरीहं
चेतस्तेषामयमर्पचितौ[7] श्रेयसे वोऽस्तु धूपः ॥५२३॥
[8]चित्ते चित्ते विशति करणेष्वन्तरात्मस्थितेषु
स्रोतस्यूते (?) बहिरखिलतो व्याप्तिशून्ये[9] च पुंसि।
येषां ज्योतिः किमपि परमानन्द[10]संदर्भगर्भं
जन्मच्छेदि प्रभवति फलैस्तेषु कुर्मः सपर्याम् ॥५२४॥
वाग्देवतावर इवायमुपासकानामागामितत्फलविधाविव पुण्यपुञ्जः।
लक्ष्मीकटाक्ष[11]मधुपागमनैकहेतुः पुष्पाञ्जलिर्भवतु तच्चरणार्चनेन ॥५२५॥

जिनके शरीरमें लगाया गया चन्दनका लेप या कीचड़, स्त्रीका विलास या श्मशानकी राख, सब समान है, तथा मित्र और शत्रु दोनोंके ही विषयमें जो सम भाव रखते हैं अर्थात् मित्रको देखकर जिनका हृदय प्रेमसे उद्वेलित नहीं होता और न शत्रुको देखकर द्वेषसे भड़क उठता है, उनकी पूजाके लिए अर्पित किया गया नैवेद्य हमारी विभूतिका कारण हो ॥५२१॥

जिनका अन्तःकरण अनेक प्रकारके योगोंका पालन करनेमें दक्ष हो चुका है, तथा कामका मद भी जाता रहा है और मोह रूपी अन्धकार नष्ट होनेके करीब है, ज्ञानरूपी ज्योति प्रगट ही होना चाहती है, अतएव जिनका अन्तरात्मा चन्द्रमाकी तरह खूब आह्लाद युक्त है, उनके चरणोंमें अर्पित किया गया दीपक हमारी लक्ष्मीका कारण हो ॥५२२॥

ध्येयसे युक्त मनरूपी कुवलय (नीलकमल और पृथ्वीमण्डल) के लिए चन्द्रोदयके समान जिन आचार्योंका ज्ञानरूपी समुद्र हर्षरूपी जलके द्वारा आत्मारूपी स्थानमें समाता नहीं है, इस समस्त लोककी ऐश्वर्य लक्ष्मीको प्राप्त करके भी जिनका चित्त निरीह है, उनकी पूजामें अर्पित की गयी धूप हमारे कल्याणके लिए हो ॥५२३॥

चित्तके चित्तमें और इन्द्रियोंके अन्तरात्मामें लीन हो जानेपर तथा इन्द्रियोंके पुंज स्वरूप पुरुषके समस्त बाह्य पदार्थोंसे निर्विकल्प हो जाने पर जिनकी परमानन्दमयी कोई एक अनिर्वचनीय ज्योति जन्म-परम्पराका छेदन करनेमें समर्थ होती है उनकी हम फलोंसे पूजा करते हैं ॥५२४॥

सरस्वती देवीके वरके समान और भविष्यमें प्राप्त होनेवाले फलके लिए पुण्य समूहके

१. विलासैः। २. आशयः। ३. नैवेद्यम्। ४. विदारित। ५. समीपे। ६. प्रादुर्भाव। ७. पूजायाम्। ८. चैतन्यरूपे। ९. बाह्यप्रपञ्चरहिते पुंसि इत्यर्थः। १०. रचना। ११. कटाक्षा एव भ्रमराः।

[इत्याचार्यभक्तिः]

इत्युपासकाध्ययने समयसमाचारविधिर्नाम पञ्चत्रिंशत्तमः कल्पः ।

इदानीं ये कृतप्रतिमापरिग्रहास्तान्प्रति स्नपनार्चनस्तवजपध्यानश्रुतदेवताराधनविधीन् षट् प्रोदाहरिष्यामः । तथा हि—

श्रीकेतनं वाग्वनितानिवासं पुण्यार्जनक्षेत्रमुपासकानाम् ।
स्वर्गापवर्गागमनैकहेतु जिनाभिषेकाश्रयमाश्रयामि ॥५२६॥

भावामृतेन मनसि प्रतिलब्धशुद्धिः पुण्यामृतेन च तनौ नितरां पवित्रः ।
श्रीमण्डपे विविधवस्तुविभूषितायां वेद्यां जिनस्य सवनं विधिवत्तनोमि ॥५२७॥

उदङ्मुखं स्वयं तिष्ठेत्प्राङ्मुखं स्थापयेज्जिनम् ।
पूजाक्षणे भवेन्नित्यं यमी वाचंयमक्रियः ॥५२८॥

प्रस्तावना पुराकर्म स्थापना संनिधापनम् ।
पूजा पूजाफलं चेति षड्विधं देवसेवनम् ॥५२९॥

यः श्रीजन्मपयोनिधिर्मनसि च ध्यायन्ति यं योगिनो
येनेदं भुवनं सनाथममरा यस्मै नमस्कुर्वते ।

समान यह पुष्पाञ्जलि आचार्यचरणोंका पूजन करनेसे श्रावकोंकी लक्ष्मीके कटाक्षरूपी भ्रमरोंके आगमनका कारण हो ॥५२५॥

[इस प्रकार आचार्य भक्ति समाप्त हुई]

[इस प्रकार उपासकाध्ययनमें पूजा विधिको बतलानेवाला पैंतीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।]

अब जो प्रतिमामें स्थापना करके पूजन करते हैं उनके लिए अभिषेक, पूजन, स्तवन, जप, ध्यान और श्रुतदेवताका आराधन इन छह विधियोंको बतलाते हैं—

अभिषेक विधि

मैं जिनभगवान्का अभिषेक करनेके लिए जिनबिम्बका सहारा लेता हूँ । जो जिनबिम्ब लक्ष्मीका घर है, सरस्वती देवीका निवास स्थान है, गृहस्थोंके पुण्य कमानेका क्षेत्र है और स्वर्ग तथा मोक्षको लानेका प्रमुख कारण है ॥५२६॥

शुभ भावरूपी जलसे मेरा मन शुद्ध है और पवित्र जलसे मेरा शरीर शुद्ध है अर्थात् मैंने शुद्ध जलसे स्नान किया है और मेरे मनमें शुभ भाव हैं । मैं श्रीमण्डपमें अनेक वस्तुओंसे विभूषित वेदीपर विधिपूर्वक जिन भगवान्का अभिषेक करता हूँ ॥५२७॥

ऐसी प्रतिज्ञा करके स्वयं उत्तर दिशाकी ओर मुँह करके खड़ा हो और जिनबिम्बका मुख पूर्व दिशाकी ओर करके उनकी स्थापना करे । तथा पूजाके समय सदा अपने मन, वचन और कायको स्थिर रखे ॥५२८॥

देवपूजनके छह प्रकार हैं—प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, सन्निधापन, पूजा और पूजाका फल ॥५२९॥

पहले प्रस्तावनाको कहते हैं—

प्रस्तावना

जो लक्ष्मीके जन्मके लिए सागरके समान है, योगीजन मनमें जिसका ध्यान करते हैं, जिसके-

---

१. जिनबिम्ब । २. पवित्रजलेन ।

यस्मात्प्रादुरभूच्छ्रुतिः सुकृतिनो यस्य प्रसादाज्जना
यस्मिन्नैष भवाश्रयो व्यतिकरस्तस्यारभे स्नापनाम् ॥५३०॥
वीतोपलेपवपुषो न मलानुषङ्गस्त्रैलोक्यपूज्यचरणस्य कुतः परोऽर्घ्यः[1]।
मोक्षामृते धृतधियस्तव नैव कामः स्नानं ततः कमुपकारमिदं करोतु[2] ॥५३१॥
तथापि स्वस्य पुण्यार्थं प्रस्तुवेऽभिषवं तव।
को नाम सूपकारार्थे फलार्थी विहितोद्यमः ॥५३२॥

[इति प्रस्तावना]

रत्नाम्बुभिः[3] कुशकृशानुभिरात्तशुद्धौ[4] भूमौ भुजङ्गमपतीनमृतैरुपास्य[5]।
कुर्मः प्रजापतिनिकेतनदिङ्मुखानि[7] दूर्वाक्षतप्रसवदर्भविदर्भितानि[8] ॥५३३॥
पाथःपूर्णान्[9]कुम्भान्कोणेषु सुपल्लवप्रसूनार्चान्।
दुग्धाब्धीनिव विदधे प्रवालमुक्तोल्वणांश्चतुरः ॥५३४॥

[इति पुराकर्म]

यस्य स्थानं त्रिभुवनशिरः शेखराग्रे निसर्गा-
त्तस्यामर्त्यक्षितिभृति[10] भवेन्नाद्भुतं स्नानपीठी[11]।

द्वारा यह लोक सनाथ है, जिसे देवतागण नमस्कार करते हैं, जिससे श्रुत (आगम)का प्रादुर्भाव हुआ है, जिसके प्रसादसे मनुष्य पुण्यशाली होते हैं, तथा जिसमें ये सांसारिक दुःख-सुखादि नहीं हैं, उस जिनेन्द्रके अभिषेकको मैं प्रारम्भ करता हूँ ॥५३०॥

हे जिनेन्द्र! शारीरिक मलसे रहित होनेके कारण आपका मैलसे कोई सम्बन्ध नहीं है, आपके चरण तीनों लोकोंके द्वारा पूज्य हैं,अतः उससे भी उत्कृष्ट पूज्य कैसे हो सकता है ? आपका मन मोक्षरूपी अमृतके पानमें निमग्न है अतः आप कामसे भी दूर हैं, अतः यह स्नान आपका क्या उपकार कर सकता है ? अर्थात् स्नान या अभिषेकके तीन प्रयोजन हो सकते हैं, शारीरिक मलको दूर करना, जलार्चनके द्वारा पूज्यताका समावेश तथा गार्हस्थिक कामादि सेवनगत दोषोंकी विशुद्धि। किन्तु जिनेन्द्र देवका परम औदारिक शरीर मलरहित होता है, वे कामादिका भी सेवन नहीं करते हैं तथा तीनों लोक उनकी पूजा करते हैं अतः जल स्नानसे उन्हें कोई प्रयोजन नहीं रहता ॥५३१॥

फिर भी मैं अपने पुण्यसंचयके लिए आपके अभिषेकको आरम्भ करता हूँ। क्योंकि ऐसा कौन फलार्थी–फलका इच्छुक है जो सम्यक् उपकारके लिए प्रयत्न न करना चाहता हो ॥५३२॥

[इस प्रकार प्रस्तावना कर्म समाप्त हुआ। आगे पुराकर्मको कहते हैं]

पुराकर्म

रत्न सहित जलसे तथा कुश और अग्निसे शुद्ध की गयी भूमिमें दुग्धसे नागेन्द्रोंको संतृप्त करके पूर्वादि दश दिशाओंको दूर्वा, अक्षत, पुष्प और कुशसे युक्त करता हूँ ॥५३३॥ वेदीके चारों कोनोंमें पल्लव और फूलोंसे सुशोभित, जलसे भरे हुए चार घटोंको स्थापित करता हूँ, जो मूँगे और मोतीसे युक्त होनेके कारण क्षीरसमुद्रकी तरह हैं ॥५३४॥

स्थापना

जिस जिनेन्द्रका निवासस्थान स्वभावसे ही तीनों लोकोंके मस्तकके ऊपर लोकके अग्र-

१. विगतांगमलस्य। २. अपि तु न किमपि। ३. रत्नसहितजलैः। कुम्भमध्ये भृंगारे वा पञ्चरत्नं क्षिप्यते। ४. दर्भाग्निप्रज्वालन। ५. गृहीत। ६. सिक्त्वा। ७. ब्रह्मस्थानपीठस्थापनप्रमुखानि। ८. गुम्फितानि। ९. जल। १०. मेरौ। ११. सिंहासनम्।

लोकानन्दामृतजलनिधेर्वारि चैतत्सुधात्वं
धत्ते यस्ते सवनसमये तत्र चित्रीयते कः ॥५३५॥

तीर्थोदकैर्मणिसुवर्णघटोपनीतैः पीठे पवित्रवपुषि[1] प्रतिकल्पितार्घे[2]।
लक्ष्मी[3]श्रुतागमनबी[4]जविदर्भ[5]गर्भे संस्थापयामि भुवनाधिपतिं जिनेन्द्रम् ॥५३६॥

[इति स्थापना]

सोऽयं जिनः सुरगिरि[6]र्ननु पीठमेतदेतानि दुग्धजलधेः सलिलानि साक्षात्।
इन्द्रस्त्वहं तव सव[7]प्रतिकर्म[8]योगात्पूर्णा ततः कथमियं न महोत्सवश्रीः ॥५३७॥

[इति संनिधापनम्]

योगे[9]ऽस्मिन्नाकनाथ ज्वलन पितृपते नैगमेय[10] प्रचेतो[11]
वायो रैदेश शेषोडु[12]पसपरिजना यूयमेत्य ग्रहाग्राः।
मन्त्रैर्भूः स्वः[13] सुधाद्यैरधिगतबलयः[14] स्वासु दिक्षूपविष्टाः
क्षेपीयः[15] क्षेमदक्षाः कुरुत जिनसवोत्साहिनां विघ्नशान्तिम् ॥५३८॥

भागमें है (क्योंकि प्रत्येक जीव स्वभावसे ऊर्ध्वगामी है अतः मुक्त होनेके पश्चात् लोकके अग्रभाग तक जाकर वहीं ठहर जाता है) अतः यदि उसका अभिषेक सुमेरुपर्वत पर हो तो उसमें आश्चर्य ही क्या है ? इसी तरह हे जिनेन्द्र ! तुम्हारे अभिषेकके समय लोगोंके आनन्दरूपी क्षीरसमुद्रका यह जल यदि अमृतपनेको प्राप्त होता है तो इसमें क्या आश्चर्य है ॥५३५॥

मणिजड़ित सोनेके घटोंसे लाये गये पवित्र जलसे जो शुद्ध किया गया है और फिर जिसे अर्घ दिया गया है तथा जिसपर 'श्री ह्रीं' लिखा हुआ है, ऐसे सिंहासनपर तीनों लोकोंके स्वामी जिनेन्द्रदेवकी मैं स्थापना करता हूँ ॥५३६॥

भावार्थ—पुराकर्मके पश्चात् स्थापना की जाती है। उसमें सिंहासनको शुद्ध जलसे धोनेके पश्चा उसपर 'श्री ह्रीं' लिखा जाता है और उसे अर्घ देकर फिर उसपर जिनविम्बको स्थापित किया जाता है।

[यही स्थापना है। अब सन्निधापनको कहते हैं—]

सन्निधापन

यह जिनबिम्ब ही साक्षात् जिनेन्द्रदेव है, यह सिंहासन सुमेरुपर्वत है, घटोंमें भरा हुआ जल साक्षात् क्षीरसमुद्रका जल है और आपके अभिषेकके लिए इन्द्रका रूप धारण करनेके कारण मैं साक्षात् इन्द्र हूँ तब इस अभिषेक महोत्सवकी शोभा पूर्ण क्यों नहीं होगी ! ॥५३७॥

पूजा

इस अभिषेक महोत्सवमें हे कुशलकर्ता इन्द्र, अग्नि, यम, नऋति, वरुण, वायु, कुबेर और ईश तथा शेष चन्द्रमा आदि आठ प्रमुख ग्रह अपने-अपने परिवारके साथ आकर और 'भूः स्वः आदि मन्त्रोंके द्वारा बलि ग्रहण करके अपनी-अपनी दिशाओंमें स्थित होकर शीघ्र ही जिन अभिषेकके लिए उत्साही पुरुषोंके विघ्नोंको शान्त करें ॥५३८॥

भावार्थ—इन्द्र, अग्नि, यम नैर्ऋति, वरुण, वायु, कुबेर और ईशको क्रमसे पूर्वादि आठ दिशाओंका पालक माना गया है। इसीसे इन्हें दिग्पाल कहते हैं। तथा सूर्य, शुक्र, मंगल, राहु,

---

१. जलैः प्रक्षालिते। २. पीठस्यापि पूर्वमर्घो दीयते। ३ श्रीं। ४. ह्रीं। ५. गुम्फित। ६. पीठमेव मेरुः। ७. अभिषेकः। ८. स्नपनविधौ। ९. यम। १०. नैर्ऋति। ११. वरुण। १२. चन्द्र। १३. भूः भुवः स्वः स्वधा—अ० ज० ब०। १४. अधिगता प्राप्ता बलिर्यैस्ते। १५. शीघ्रम्।

देहे[1] ऽस्मिन्विहितार्चने निनदति प्रारब्धगीतध्वना-
वातोद्यैः स्तुतिपाठमङ्गलरवैश्चानन्दिनि प्राङ्गणे ।
मृत्स्नागोमयभू[2]तिपिण्डहरि[3]तादर्भप्रसूनाक्षतै-
रम्भोभिश्च सचन्दनैर्जिनपतेर्नीराजनां प्रस्तुवे[4] ॥५३९॥
[5]पुण्यद्रुमश्चिरमयं नवपल्लवश्रीश्चेतः[6] सरः प्रमदमन्दसरोजगर्भम्[7] ।
वागापगा च मम दुस्तरतीरमार्गा स्नानामृतैर्जिनपतेस्त्रिजगत्प्रमोदैः ॥५४०॥
द्राक्षाखर्जूरचोचे[8]क्षुप्राचीनाम[9]लकोद्भवैः ।
राजादनाम्रपूगोत्थैः स्नापयामि जिनं रसैः ॥५४१॥
आयुः प्रजासु परमं भवतात्सदैव धर्मावबोधसुरभिश्चिरमस्तु भूपः ।
पुष्टिं विनेयजनता वितनोतु कामं हैयंग[10]वीनसवनेन जिनेश्वरस्य ॥५४२॥
येषां कर्मभुजङ्गनिर्विषविधौ बुद्धिप्रबन्धो नृणां
येषां जातिजरामृतिव्युपरमध्यानप्रपञ्चाग्रहः ।
येषामात्मविशुद्धबोधविभवालोके सतृष्णं मन-
स्ते धारोष्णपयःप्रवाहधवलं ध्यायन्तु जैनं वपुः ॥५४३॥

शनि, चन्द्र, बुध और गुरु इन आठ ग्रहोंको ज्योतिषशास्त्रमें पूर्वादि आठ दिशाओंका स्वामी माना है तथा हिन्दु पद्मपुराणमें इनको पूजनेका विधान भी है। पौराणिक मतके बढ़ते हुए प्रभाव के कारण दसवीं शताब्दीसे इन दिग्पालों और ग्रहोंको अनिष्टकारक मानकर पूजाविधिमें भी स्थान दे दिया गया।

इस आनन्दपूरित आँगनमें, जो बाजों और स्तुति पाठकोंके मांगलिक शब्दोंसे गूँज रहा है तथा जिसमें गीतोंकी ध्वनि हो रही है, मैं इस पूजित जिनविम्बमें मिट्टी, गोबर, राख, दूर्वा, कुश, फूल, अक्षत, जल तथा चन्दनसे जिनभगवान्की नीराजना (आरती) करता हूँ ॥५३९॥

जिनभगवान्के तीनों लोकोंको हर्षित करनेवाले स्नानजलसे मेरा यह पुण्यरूपी वृक्ष चिरकाल तक नये पल्लवोंकी शोभाको धारण करे, मेरे चित्तरूपी तालाबमें हर्षरूपी कमल विकसित हो और मेरी वाणीरूपी नदीके तटका मार्ग दुस्तर हो—उसे कोई पार न कर सके ॥५४०॥

मैं दाख, खजूर, नारियल, ईख, प्राचीन आमलक (आँवला नामक फल) राजादन, आम तथा सुपारीके रसोंसे जिनभगवान्का अभिषेक करता हूँ ॥५४१॥

जिनदेवके घृताभिषेकसे सदैव प्रजा दीर्घजीवी हो, राजा धर्मके ज्ञानसे सुवासित हो और भव्यजन खूब पुष्टिको प्राप्त हों ॥५४२॥

जिन मनुष्योंकी बुद्धिका विलास कर्मरूपी सर्पोंको निर्विष करनेमें संलग्न है, जिन मनुष्योंको जन्म, जरा, मरणको दूर करनेवाले ध्यानके विस्तारका आग्रह है तथा जिनका मन आत्माके विशुद्ध ज्ञानरूपी ऐश्वर्यको देखनेके लिए लालायित है, वे धारोष्ण दूधके प्रवाहसे धवल हुए जिनेन्द्रदेवके शरीरका ध्यान करें ॥५४३॥

---

१. जिनदेहे नीराजनां प्रारभे। २. भस्म। ३. दूर्वा। ४. प्रारभे। ५. भवतु इत्यध्याहार्यम्। ६. चित्तमेव तडागम्। ७. हर्ष। ८. नालिकेर। ९. प्राचीनामलकः फलविशेषः। १०. घृत।

जन्मस्नेहच्छिदपि जगतः स्नेहहेतुर्निसर्गा-
त्पुण्योपाये मृदुगुणमपि स्तब्धं[1] लब्धात्मवृत्तिः।
चेतोजाड्यं हरदपि दधि प्राप्तजाड्य[2]स्वभावं
जैनस्नानानुभवनविधौ मङ्गलं वस्तनोतु ॥५४४॥
एलालवङ्गकङ्कोलमालयागरुमिश्रितैः।
पिष्टैः कल्कैः[3] कषायैश्च[4] जिनदेहमुपास्महे ॥५४५॥
नन्द्यावर्तस्वस्तिकफलप्रसूनाक्षताम्बुकुशपूलैः।
अवतारयामि देवं जिनेश्वरं वर्धमानैश्च[5] ॥५४६॥

ॐ भक्तिभरविनतोरगनरसुरासुरेश्वरशिरः किरीटकोटिकल्पतरुपल्लवायमानचरणयुगलम्, अमृताशनाङ्गनाकरविकीर्यमाणमन्दारनमेरुपारिजातसंतानकवनप्रसूनस्यन्दमानमकरन्द-

दही जगत्‌के जन्म स्नेहका छेद करनेवाला होनेपर भी स्वभावसे ही स्नेह (घी) का कारण है, पुण्यके साधनमें कोमलता युक्त होते हुए भी स्थिर होकर ही वह आत्मलाभ करता है, अर्थात् दही कोमल होता है और स्थिर होनेपर ही वह जमता है तथा चित्तकी जड़ताको हरनेवाला होते हुए भी स्वयं जडस्वभाव या जलस्वभाव है, ऐसा दही जिन भगवान्‌की अभिषेक विधिमें आपका मंगलकारक हो ॥५४४॥ इलायची, लौंग, कङ्कोल, चन्दन और अगुरु मिले हुए चूर्णसे और पकाकर तैयार किये गये काढ़ेसे जिनदेवके शरीरकी उपासना करता हूँ ॥५४५॥ नन्द्यावर्तक, स्वस्तिक, फल, फूल, अक्षत, जल और कुशसमूहसे तथा सकोरोंसे जिनेश्वरदेवकी अवतारणा करता हूँ ॥५४६॥

भक्तिके भारसे नमस्कार करते हुए नागेन्द्र, नरेन्द्र, देवेन्द्र और असुरेन्द्रोंके सिरोंपर स्थित मुकुटोंके अग्रभागमें जिनके चरणयुगल कल्पवृक्षोंके नये पत्तोंके समान प्रतीत होते हैं, देवांगनाओंके द्वारा बरसाये गये मन्दार, नमेरु, पारिजात और सन्तानक नामक देववृक्षोंके फूलोंसे

१. सदर्पं न किन्तु कठिनं वर्तते। २. मूर्खत्वं न किन्तु सघनम्। ३. चूर्णः। ४. क्वाथैः।
५. आश्रुत्य स्नपनं विशोध्य तदिलां पीठ्यां चतुष्कुम्भयुक्-
कोणायां सकुशश्रिया जिनपतिं न्यस्यान्तमाप्येष्टदिक्।
नीराज्याम्बुरसाज्यदुग्धदधिभिः सिक्त्वा कृतोद्वर्तनम्
सिक्तं कुम्भजलैश्च गन्धसलिलैः सम्पूज्य नुत्वा स्मरेत् ॥२२॥

टीका—स्नपनमभिषेकम्, आश्रुत्य प्रतिज्ञाय, तदिलां स्नपनभूमिं विशोध्य रत्नाम्बुकुशाग्निना सन्तर्पणविधिभिः शोधयित्वा, चतुष्कुम्भयुक्कोणायाम्—चत्वारः कुम्भयुजः पूर्णकलशोपेताः कोणा यस्याः सा तस्याम्, सकुशश्रियाम्—दर्भैश्चन्दननिर्मितश्रीकाराक्षरेण च सहितायां श्रियामित्युपलक्षणं तेन ह्रींकारोऽपि लेख्यः। पीठ्याम्—स्नपनपीठस्योपरि, जिनपतिं—जिनेन्द्रं, न्यस्य स्थापयित्वा, अन्तमाप्य, इष्टदिक्—इष्टा यज्ञांशं प्रापिता दिशस्तत्स्था दिक्पाला दश इन्द्रादयो यत्र नीराजनकर्मणि तदिष्टदिक्। नीराज्य-पूजापुरस्सरं मृत्स्नागोमयभूतिपिण्डदूर्वादर्भपुष्पाक्षतसचन्दनोदकैर्नीराजनं प्रापय्य अम्बुरसाज्यदुग्धदधिभिः सिक्त्वा—अम्बूनि च रसाश्च आज्यानि च दुग्धानि च दधीनि च अम्बुरसादीनि पञ्च स्नानीयद्रवद्रव्याणि तैः क्रमेण। जिनपतिमभिषिच्य। कृतोद्वर्तनम्—एलादिचूर्णकल्ककषायैरुद्वर्त्य कृतनन्द्यावर्ताद्यवतारणम्। गन्धसलिलैः-सुरभिद्रव्यमिश्रोदकैः कुम्भजलैः—पूर्वस्थापितकलशाम्भोभिः, च सिक्तं–अभिषिक्तं सम्पूज्य नुत्वा स्मरेत् ॥—सागार धर्मामृत अ. ६। ६. शरावपुटैः।

स्वादोन्मदमिलन्मत्तालिकुलप्रलापोत्ता[1]लितनिलिम्पाले[2]सिव्यापारिगलम्, अम्बरचरकुमारहे-लास्फालितवेणुवल्ल[3]की-पणवानकमृदङ्गशङ्खकाहलत्रिविलतालझल्लरीभेरीभम्भाप्रभृत्यनवधिघ[4]न-शुषिर[5]-तता[6]वनद्ध[7]वाद्यनादनिवेदितनिखिलविष्टि(ष्ट)पाधिपोपासनावसरम्, अनेकामरविकिर-कुलकीर्णकिशलयाशोकानोकहोल्लसत्प्रसवपरागपुनरुक्तसकलदिक्पालहृदयरागप्रसरम्, अखि-लभुवनैश्वर्यलाञ्छनातपत्रत्रयशिखण्ड[10]मण्डनमणिमयूखरेखालिख्यमानम[11]खमुखरखेचरीभाल[12]-तलतिलकपत्रम्, अनवरतयक्षविक्षिप्यमाणोभयपक्षचामरपरम्परांशुजालधवलितविनेयजन-मनप्रासादचरित्रम्, अशेषप्रकाशितपदार्थातिशायिशारीरप्रभापरिवेषमुषितपरिष[13]त्सभास्तार-मतितिमिरनिकरम्, अनवधिवस्तुविस्तारात्मसात्कारासारविस्फारितसरस्वतीतरङ्गसङ्गसं-तर्पितसमस्तसत्त्वसरोजाकरम्, इभारा[14]तिपरिवृढोपवाह्यमानासनावसानलग्नरत्नकरप्रसरपल्ल-वितवियत्पादपाभोगम्, अनन्यसामान्यसमवसरणसभासीनमनुजदिविजभुज[15]ङ्गेन्द्रवृन्दवन्द्य-मानपादारविन्दयु[16]गलम्,

मङ्गाविलक्ष्मीलतिकावनस्य प्रवर्धनाव[17]र्जितवारिपूरैः ।
जिनं चतुर्भिः स्नपयामि कुम्भैर्नभःसदोधेनुपयोधराभैः ॥५४७॥

लक्ष्मीकल्पलते समुल्लसजनानन्दैः परं पल्लवै-
र्धर्मारामफलैः प्रकामसुभगस्त्वं भव्यसेव्यो भव ।

बहते हुए मकरन्द (पुष्प मधुरस) के स्वादसे मत्त हुए भौरोंके प्रलापसे जिन्होंने गीत गानमें संलग्न देवोंके गलोंको उत्सुक कर दिया है, विद्याधर कुमारोंके द्वारा क्रीड़ासे बजाये गये बाँसुरी, वीणा, ढोल, मृदंग, शंख, नगारा, खरताल, झाँझ, भेरी, नफीरी आदि वाद्योंके नाना प्रकारके शब्दोंसे जिन्होंने समस्त लोकोंके स्वामीकी उपासनाके अवसरको सूचित कर दिया है। (जिनपर लगे हुए) समस्त लोकोंके ऐश्वर्यके चिह्नरूप तीन छत्रोंके मस्तकपर लगी हुई मणिकी किरणोंकी रेखासे स्तुति करती हुई विद्याधरियोंके ललाटपर तिलककी रचना अंकित होती है अर्थात् जिनेन्द्र-देवके ऊपर लगे हुए तीन छत्रोंके मस्तकपर लगी हुए मणिकी किरणें स्तुति करती हुई विद्याधरी नारियोंके मस्तकपर तिलककी तरह प्रतीत होती हैं, दोनों ओर खड़े हुए यक्षोंके द्वारा निरन्तर ढोरे जानेवाले चामरोंकी किरणोंसे शिष्यजनोंके मनरूपी महलको जिन्होंने श्वेत कर दिया है, समस्त प्रकाशशील पदार्थोंको अतिक्रमण करनेवाली शारीरिक प्रभाके परिवेष (घेरा) से जिन्होंने समव-सरणमें उपस्थित सदस्योंकी बुद्धिके अन्धकारसमूहको दूर कर दिया है, अनन्त वस्तुओंके विस्तारको प्रत्यक्ष करने रूप महावृष्टिसे बढ़ी हुई सरस्वतीरूपी नदीकी तरंगोंके संसर्गसे जिन्होंने समस्त प्राणीरूपी कमलसमूहको सन्तुष्ट किया है, जिनके सिंहासनमें लगे हुए रत्नोंकी किरणोंके फैलावसे आकाशमें वृक्षका विस्तार पल्लवित हो गया है और अनुपम समवसरण-सभामें बैठे हुए मनुष्य, देव और नागोंके इन्द्रोंका समूह जिनके चरणयुगलकी वन्दना करता है—ऐसे जिनेन्द्र देवका मेरी भावी लक्ष्मीरूपी लताके वनको बढ़ानेवाले जलके पूरसे युक्त तथा कामधेनुके स्तनोंके तुल्य चार कलशोंसे अभिषेक करता हूँ ॥५४७॥

जिनभगवान्के तीनों लोकोंको आनन्द देनेवाले गन्धोदकके सिञ्चनसे हे लक्ष्मीरूपी

१. उत्सुकीकृत । २. गीत । ३. वीणा । ४. पटहभेद । ५. नफीरी । ६. तालादि । ७. वंशादि । ८. वीणादि । ९. मुरजादि । १०. मस्तक । ११. स्तुति । १२. ललाट । १३. समवसरणसभा । १४. सिंह । १५. भुजङ्गमेन्द्र-अ०ज० । १६.-युगम् अ० ज० । १७. उपात्त ।

बोधाधीश[1] विमुञ्च संप्रति मुहुर्दुष्कर्मघर्मक्लमं
त्रैलोक्यप्रमदाव हे जिनपतेर्गन्धोदकैः स्नापनात् ॥५४८॥
शुद्धैर्विशुद्धबोधस्य जिनेशस्योत्तरोदकैः[2] ।
करोम्यवभृथस्नानमुत्तरोत्तरसंपदे[3] ॥५४९॥
अमृतकृतकर्णिकेऽस्मिन्निजाङ्कबीजे कलादले कमले ।
संस्थाप्य पूजयेयं त्रिभुवनवरदं जिनं विधिना ॥५५०॥
पुण्योपार्जनशरणं[6] पुराणपुरुषं स्तवोचिताचरणम् ।
पुरुहूत[7]विहितसेवं पुरुदेवं पूजयामि तोयेन ॥५५१॥
मन्दमदमदनदमनं[9] मन्दरगिरिशिखरमज्जनावसरम् ।
कन्दमुमे[10]लतिकायाश्चन्दनचर्चार्चितं जिनं कुर्वे ॥५५२॥
अवमं[11] तरुगहनदहनं निकामसुखसंभवामृतस्थानम् ।
आगमदीपालोकं कलमभवैस्तन्दुलैर्भजामि जिनम् ॥५५३॥
स्मररस[12]विमुक्तसूक्ति विज्ञानसमुद्रमुद्रिताशेषम् ।
श्रीमानसकलहंसं कुसुमशरैरर्चयामि जिननाथम् ॥५५४॥

कल्पलता ! तुम मनुष्योंके आनन्दरूपी पल्लवोंसे उल्लासको प्राप्त होवो । हे धर्मरूपी उद्यान ! तुम फलोंसे अत्यन्त सुन्दर होकर भव्यजीवोंके सेवनीय बनो । और हे ज्ञानवान् आत्मा ! तुम अब दुष्कर्मरूपी घामके सन्तापको छोड़ो, अर्थात् बुरे कर्म करना छोड़ दो । और बुरे कर्मोंके फलसे मुक्त हो जाओ ॥५४८॥

अधिकाधिक सम्पत्तिके लिए विशुद्ध ज्ञानी जिनेन्द्र भगवान्का तालाब वगैरहसे लाये गये शुद्ध जलसे मैं अन्तिम स्नान कराता हूँ ॥५४९॥

इस सोलह पांखुड़ीके कमलपर तीनों लोकोंको मनवांछित वर देनेवाले जिनेन्द्र भगवान् को विधिपूर्वक स्थापित करके पूजना चाहिए ॥५५०॥ [इस श्लोकके पूर्वार्धके पदोंका अर्थ स्पष्ट नहीं हो सका है । टिप्पणके अनुसार उस कमलकी कर्णिका पवर्गसे निर्मित होती है और उसके मध्यमें अपना नाम स्थापित किया जाता है]

जो पुण्यके कमानेके लिए आश्रयभूत हैं, पुराण पुरुष हैं, जिनका आचरण स्तुतिके योग्य है, और इन्द्रने जिनकी सेवा की थी, उन प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथकी मैं जलसे पूजा करता हूँ ॥५५१॥ जो अत्यधिक मदशाली कामका दमन करनेवाले हैं, सुमेरु पर्वतके शिखरपर जिनका अभिषेक हुआ है तथा जो यशरूपी बेलकी जड़ है उन जिनदेवकी चन्दनसे पूजा करता हूँ ॥५५२॥ दोषरूपी वृक्षोंके जङ्गलको जलानेवाले, उत्तम सुखकी उत्पत्तिके लिए मोक्षके समान तथा आगमरूपी दीपकके प्रकाशक जिनेन्द्रदेवकी सुगन्धित तन्दुलोंसे पूजन करता हूँ ॥५५३॥ जिनकी सूक्तियाँ शृङ्गार रससे रहित हैं, जिन्होंने अपने ज्ञानरूपी समुद्रसे सबको आच्छादित किया है और जो लक्ष्मीरूपी मानसरोवरके राजहंस हैं, उन जिनेन्द्रदेवकी पुष्पोंसे पूजा करता हूँ ॥५५४॥ अनन्त-

१. हे आत्मन् । २. श्रेष्ठजलैः । ३. यज्ञान्तस्नानम् । ४. पवर्णः । ५. षोडश । पकारेण कर्णिका क्रियते, तन्मध्ये स्वकीयं नाम निक्षिप्यते, षोडशदलेषु अकारादयः स्वराः लिख्यन्ते । ६. गृहं । ७. इन्द्र । ८. आदिभगवन्तम् । ९. प्रचुरदर्पसहितकामदमनम् । १०. कीर्ति । ११. दोष । १२. रागादिविमुक्ता सूक्ति अर्चनं; यस्य स तम् ।

अर्हन्तममितनीतिं निरञ्जनं मिहिरमाधिदावाग्नेः[1]।
आराधयामि हविषा मुक्तिस्त्रीरमितमानसमनङ्गम् ॥५५५॥
भक्त्यानतामराशयकमलवनारालतिमिरमार्तण्डम् ।
जिनमुपचरामि दीपैः सकलसुखारामकामदमकामम् ॥५५६॥
अनुपमकेवलवपुषं सकलकलाविलयवर्तिरूपस्थम्[2] ।
योगावगम्यनिलयं यजामहे निखिलगं[3] जिनं धूपैः ॥५५७॥
स्वर्गापवर्गसंगतिविधायिनं व्यस्तजातिमृतिदोषम् ।
व्योमचरामरपतिभिः स्मृतं फलैर्जिनपतिमुपासे ॥५५८॥
अम्भश्चन्दनतन्दुलोद्गमहविर्दीपैः[4] सधूपैः फलै-
र्चित्वा त्रिजगद्गुरुं जिनपतिं स्नानोत्सवानन्तरम् ।
तं स्तौमि प्रजपामि चेतसि दधे कुर्वे श्रुताराधनं
त्रैलोक्यप्रभवं च तन्महमहं कालत्रये श्रद्दधे ॥५५९॥
[5]यज्ञैर्मुदावभृथभाग्भिरुपास्य[6] देवं पुष्पाञ्जलिप्रकरपूरितपादपीठम् ।
श्वेतातपत्रचमरीरुहदर्पणाद्यैराराधयामि पुनरेनमिनं जिनानाम् ॥५६०॥

[इति पूजा]

ज्ञानशाली, निर्विकार, दुराशारूपी दावाग्नि (जङ्गलकी आग) के लिए मेघके समान, निराकार तथा जिनका मन मुक्तिरूपी स्त्रीमें लीन है, उन अर्हन्त देवकी नैवेद्यसे पूजा करता हूँ ॥५५५॥

भक्तिसे विनम्र हुए देवोंके चित्तरूपी कमलवनका घोर अन्धकार दूर करनेके लिए जो सूर्यके समान हैं, और समस्त सुखोंके लिए उद्यानरूप तथा मनोरथको पूर्ण करनेवाले हैं उन कामरहित जिनेन्द्रदेवकी दीपोंसे पूजा करता हूँ ॥५५६॥

अनुपम केवलज्ञान ही जिनका शरीर है, समस्त भाव कर्मोंका विनाश हो जानेपर जो रूप रहता है उसी रूपमें जो स्थित हैं, जिनके स्थानको योगके द्वारा जाना जा सकता है और जो केवलज्ञानके द्वारा सर्वत्र व्यापक है, उन जिनदेवकी मैं धूपसे पूजा करता हूँ ॥५५७॥

जो स्वर्ग और मोक्षका दाता है, जन्म-मरणरूपी दोषोंसे रहित है, और विद्याधरों तथा देवोंके स्वामी जिनको स्मरण करते हैं, उन जिनेन्द्रदेवकी फलोंसे पूजा करता हूँ ॥५५८॥

अभिषेक समारोहके पश्चात् तीनों लोकोंके गुरु जिनेन्द्रदेवकी जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फलोंसे पूजा करके मैं उनका स्तवन करता हूँ, उनका नाम जपता हूँ, उन्हें चित्तमें धारण करता हूँ, शास्त्रकी आराधना करता हूँ तथा तीनों लोकोंसे उत्पन्न हुए उनके (ज्ञानरूपी) तेजकी मैं तीनों कालोंमें श्रद्धा करता हूँ ॥५५९॥

भावार्थ—अभिषेकके पश्चात् अष्टद्रव्यसे जिनेन्द्रदेवका पूजन करना चाहिए। तथा पूजनके पश्चात् उनका स्तवन, उनके नामका जप, ध्यान वगैरह तथा शास्त्र स्वाध्याय करना चाहिए।

पुष्पाञ्जलिके समूहसे जिनका पादपीठ—चरणोंके पासका स्थान—भरा हुआ है उन जिनेन्द्रदेवकी अभिषेकपूर्वक पूजासे सहर्ष उपासना करके मैं पुनः उनकी श्वेतछत्र, चमर, दर्पण आदि

१. मेघः । २. कला भावकर्माणि, तासां विलये विनाशे सति सकल कलाविलये वर्तते यत् रूपं तत्सकलकलाविलयवर्तिरूपं तत्र तिष्ठतीति तत्स्थं केवलज्ञानरूपमित्यर्थः । ३. केवलज्ञानापेक्षया सर्वव्यापकम् । ४. पुष्पम् । ५. पूजाभिः । ६. अभिषेक ।

भक्तिर्नित्यं जिनचरणयोः सर्वसत्त्वेषु मैत्री
सर्वातिथ्ये मम विभवधीर्बुद्धिरध्यात्मतत्त्वे।
सद्विद्येषु प्रणयपरता चित्तवृत्तिः परार्थे
भूयादेतद्भवति भगवन्धाम्न यावत्त्वदीयम् ॥५६१॥

प्रातर्विधिस्तव पदाम्बुजपूजनेन मध्याह्नसन्निधिरयं मुनिमाननेन।
सायन्तनोऽपि समयो मम देव यायान्नित्यं त्वदाचरणकीर्तनकामितेन ॥५६२॥

धर्मेषु[1] धर्मनिरतात्मसु धर्महेतौ[2] धर्मादवाप्तमहिमास्तु नृपो[3]ऽनुकूलः।
नित्यं जिनेन्द्रचरणार्चनपुण्यधन्याः कामं प्रजाश्च परमां श्रियमाप्नुवन्तु ॥५६३॥

[इति पूजाफलम्]

आलस्याद्वपुषो हृषीकहरणैर्व्याक्षेपतो वात्मन-
श्चापल्यान्मनसो मतेर्जडतया मान्द्येन वाक्सौष्ठवे।
यः कश्चित्तव संस्तवेषु समभूदेष प्रमादः स मे
मिथ्या स्तान्ननु देवताः प्रणयिनां तुष्यन्ति भक्त्या यतः ॥५६४॥

देवपूजामनिर्माय मुनीननुपचर्य च।
यो भुञ्जीत गृहस्थः सन् स भुञ्जीत परं तमः[4] ॥५६५॥

इत्युपासकाध्ययने स्नपनार्चनविधिर्नाम षट्त्रिंशः कल्पः।

मांगलिक द्रव्योंसे आराधना करता हूँ ॥५६०॥

[इस प्रकार पूजा समाप्त हुई। आगे पूजाका फल बतलाते हैं—]

पूजाफल

हे भगवन्! जबतक इस चित्तमें आपका निवास है तबतक सदा जिनभगवान्के चरणोंमें मेरी भक्ति रहे, सब प्राणियोंमें मेरा मैत्रीभाव रहे, मेरी ऐश्वर्यरत मति सबका आतिथ्य सत्कार करनेमें संलग्न हो, मेरी बुद्धि अध्यात्म तत्त्वमें लीन रहे, ज्ञानीजनोंसे मेरा स्नेह भाव रहे और मेरी चित्तवृत्ति सदा परोपकारमें लगी रहे ॥५६१॥

हे देव! प्रातःकालीन विधि आपके चरण-कमलोंकी पूजासे सम्पन्न हो, मध्याह्न कालका समागम मुनियोंके आतिथ्यसत्कारमें बीते; तथा सायंकालका भी समय आपके चारित्रके कथन और कामनामें व्यतीत हो ॥५६२॥ धर्मके प्रभावसे राज्यपदको प्राप्त हुआ राजा धर्मके विषयमें, धार्मिकोंके विषयमें और धर्मके हेतु चैत्यालय आदिके विषयमें सदा अनुकूल रहे–उनका अहित न करके संरक्षण करे। तथा प्रतिदिन जिनेन्द्रदेवके चरणोंकी पूजासे प्राप्त हुए पुण्यसे धन्य हुई जनता यथेच्छ उत्कृष्ट लक्ष्मीको प्राप्त करे ॥५६३॥

शरीरके आलस्यसे या इन्द्रियोंके इधर-उधर लग जानेसे अथवा आत्माकी अन्यमनस्कतासे अथवा मनकी चपलतासे अथवा बुद्धिकी जड़तासे अथवा वाणीमें सौष्ठव (शुद्ध स्पष्ट उच्चारण) की कमीके कारण आपके स्तवनमें मुझसे जो कुछ प्रमाद हुआ है, वह मिथ्या हो। क्योंकि देवता तो अपने प्रेमियोंकी भक्तिसे सन्तुष्ट होते हैं ॥५६४॥ जो गृहस्थ होते हुए भी देवपूजा किये बिना तथा मुनियोंकी सेवा किये बिना भोजन करता है, वह महापापको खाता है ॥५६५॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें अभिषेक, पूजन विधि नामका छत्तीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ॥ ३६ ॥

---

१. धार्मिकेषु। २. चैत्यालय-मुनि-शास्त्र-संघेषु। ३. नृपः अनुकूलो हितो भवतु। ४. पापम्।

नमदमरमौलिमण्डलविलग्नरत्नांशुनिकरगगनेऽस्मिन् ।
अरुणायतेऽङ्घ्रियुगलं यस्य स जीयाज्जिनो देवः ॥५६६॥

सुरपतियुवतिश्रवसाममरतरुस्मेरमञ्जरीरुचिरम् ।
चरणनखकिरणजालं यस्य स जयताज्जिनो जगति ॥५६७॥

वर्णः—

दिविजकुञ्ज[2]रमौलिमन्दारमकरन्दस्य[3]न्दकरविसरसारधूसरपदाम्बुज वैदग्धी-परमपद प्राप्तवादजय विजितमनसिज,

मात्रा—

यस्त्वाममितगुणं जिन कश्चित्स्वावधिबोधः स्तौति विपश्चित् ।
ननमसौ ननु काञ्चनशैलं तुलयति हस्तेनाचिरकालम् ॥५६८॥
स्तोत्रे यत्र महामुनिपक्षाः सकलैतिह्याम्बुधिविधिदक्षाः ।
मुमुचुश्चिन्तामनवधिबोधास्तत्र कथं ननु माद्दग्वेधाः ॥५६९॥
तदपि वदेयं किमपि जिन त्वयि यद्यपि शक्तिर्नास्ति तथा मयि ।
यदियं भक्तिर्मां मौनस्थं देव[5] न कामं कुरुते स्वस्थम् ॥५७०॥

चतुष्पदी—

सुरपतिविरचितसंस्तव दलिताखिलभव परमधामलब्धोदय ।
कस्तव जन्तुर्गुणगणमघहरचरण प्रवितनुतां हतनतभय ॥५७१॥

[पूजनके पश्चात् जिन भगवान्की स्तुति करना चाहिए । अतः स्तुति करते हैं—]

स्तुति

नमस्कार करते हुए देवोंके मुकुटोंके समूहमें लगे हुए रत्नोंकी किरणोंके समूहरूपी इस आकाशमें जिनके चरणयुगल सन्ध्याकी लालीकी तरह प्रतीत होते हैं वे जिनदेव जयवन्त हों ॥५६६॥ जिनके चरणोंके नखोंकी कान्तिका समूह देवांगनाओंके कानोंमें धारण की गयी कल्पवृक्षकी पुष्पित लताके संस्पर्शसे सुन्दर प्रतीत होता है, वे जिन भगवान् जगत्में जयवन्त हों ॥५६७॥

देवेन्द्रोंके मुकुटोंमें लगे हुए मन्दार पुष्पके परागसे जिनके चरणकमल पाण्डुर हो गये हैं, जो पाण्डित्यके सर्वोत्कृष्ट स्थान हैं, जिन्होंने वादमें जयलाभ किया है, ऐसे कामजेता हे जिनेन्द्र देव !

जो अल्पज्ञानी विद्वान् तुम्हारे अपरिमित गुणोंका स्तवन करता है, वह निश्चय ही जल्दीमें हाथसे सुमेरु पर्वतको तोलनेका प्रयत्न करता है ॥५६८॥ समस्त शास्त्ररूपी समुद्रकी विधिमें चतुर, असीम ज्ञानधारी महामुनि भी जिसका स्तवन करनेमें समर्थ नहीं हो सके, मेरे समान अल्पज्ञानी उसका स्तवन कैसे कर सकते हैं ॥५६९॥ हे जिन! यद्यपि मेरेमें आपका स्तवन करनेकी शक्ति नहीं है, तथापि कुछ कहता हूँ । क्योंकि मेरे मौन रहनेपर आपकी यह भक्ति मुझे स्वस्थ नहीं रहने देती ॥५७०॥

इन्द्रने जिसका स्तवन किया, जिसने समस्त संसार-परिभ्रमणको नष्ट कर दिया, मोक्षके साथ ही जिसने आत्मिक गुणोंको प्राप्त किया, जिसके चरण पापके नाशक हैं, और जिसने विनत मनुष्यके भयको नष्ट कर दिया है ऐसे हे जिनेन्द्रदेव ! कौन प्राणी आपके गुणसमूहका विस्तारसे कथन कर सकता है ॥५७१॥

---

१. कर्णानाम् । २. प्रधान । ३. स्यन्दकारी विसरः प्रसारः । मन्दारपुष्पाणां समूह-प्रसारसारेण धूसरः ईषत्पाण्डुकृतः । ४. शीघ्रम् । ५. देव न मं—अ. ज. ।

जय निखिलनिलिम्पालापकल्प[1] जगतीस्तुतकीर्तिकलत्रतल्प[2] ।
जय परमधर्म[3]हर्म्यावतार लोकत्रितयोद्धरणैकसार ॥५७२॥
जय लक्ष्मीकरकमलार्चिताङ्ग सारस्वतरसनटनाटयरङ्ग ।
जय बोध[4]मध्यसिद्धाखिलार्थ मुक्तिश्रीरमणीरतिकृतार्थ ॥५७३॥
नमदमरमौलिमन्दरतटान्तराजत्पदनखनक्षत्रकान्त ।
विबुधस्त्रीनेत्राम्बुजविबोध मरकध्वजधनुरुत्सवनिरोध ॥५७४॥
बोधत्रयविदितविधेय[5]तन्त्र का नामापेक्षा तव परत्र ।
दधतः प्रबोधमसुभृज्जनस्य गुरुरस्ति कोऽपि किमिहारुणस्य[6] ॥५७५॥
निजबीज[7]बलान्मलिनापि महति धीः शुद्धिं परमामभव भजति ।
युक्तेः कनकाश्मा भवति हेम किं कोऽपि तत्र विवदेत नाम ॥५७६॥

हे समस्त देवोंकी स्तुतिके ग्रन्थरूप, और हे समस्त पृथिवीके द्वारा स्तुत कीर्तिरूपी स्त्रीके विश्रामके लिए शय्यारूप ! आपकी जय हो । हे परम धर्मरूपी महलके अवतार और हे तीनों लोकोंका उद्धार करनेमें समर्थ ! आपकी जय हो ॥५७२॥

जिनका अङ्ग लक्ष्मीके कर-कमलोंसे पूजित है, जो सारस्वत रसरूपी नटके लिए रंगमंचके तुल्य हैं, जिनके केवलज्ञानमें समस्त पदार्थ प्रतिभासित है तथा जो मुक्तिश्रीरूपी स्त्रीके साथ रमण करके कृतार्थ हो चुके हैं ऐसे हे जिनेन्द्र ! आपकी जय हो ॥५७३॥

नमस्कार करते हुए देवोंके मुकुटरूपी सुमेरुके प्रान्तभागमें जिनके पद नख चन्द्रमाकी भाँति शोभित होते हैं, जो देवांगनाओंके नेत्ररूपी कमलोंको विकसित करते हैं और जो कामदेवके धनुषके उत्सवको रोकते हैं। ऐसे काम-विजेता हे जिनेन्द्र देव ! आप जयवन्त हों ॥५७४॥

हे जिन ! आपने मति, श्रुत और अवधिज्ञानके द्वारा जानने योग्य वस्तुओंको जान लिया है। इस लिए आपको किसी गुरुकी आवश्यकता नहीं हुई । ठीक ही है प्राणियोंको जगानेवाले सूर्यका भी क्या कोई गुरु है ? हे भवरहित ! महापुरुषोंकी मलिन बुद्धि भी अपने ज्ञान ध्यान आदिके बलसे अत्यन्त शुद्ध हो जाती है । उपायसे स्वर्णपाषाण स्वर्णरूप हो जाता है इसमें क्या किसीको विवाद है ? ॥५७५-५७६॥

भावार्थ—आशय यह है कि तीर्थङ्कर जन्मसे ही तीन ज्ञानके धारी होते हैं, अतः अपने ज्ञानबलसे ही वे जानने योग्य वस्तुओंको जान लेते हैं, उन्हें किसी गुरुसे शिक्षा लेनेकी आवश्यकता नहीं होती। बादको दीक्षा लेकर और तपस्या करके वे चार घातिया कर्मोंका नाश करके पूर्णज्ञानी हो जाते हैं । अतः जैसे खनिसे सोना अशुद्ध ही निकलता है किन्तु उपाय करनेसे मलको दूर करके वही सोना शुद्ध हो जाता है, वैसे ही संसारी आत्मा अशुद्ध होते हुए भी तपस्याके द्वारा शुद्ध हो जाता है और शुद्ध होते ही उसके ज्ञानादिक गुण पूर्ण विकसित हो जाते हैं और तब वह सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन जाता है ।

[किन्तु मीमांसक किसी पुरुषका सर्वज्ञ होना स्वीकार नहीं करता । उसका कहना है कि मनुष्यकी बुद्धिमें कुछ विशेषता मानी जा सकती है किन्तु उसका यह मतलब नहीं है कि वह अतीत और अनागतको भी जान सके, उसे उत्तर देते हुए कहते हैं—]

---

१. स्तुतिग्रन्थ । २. शय्या । ३. धर्मस्य प्रासादप्रायः । ४. केवलज्ञान । ५. परिच्छेद्यवस्तु । ६. सूर्यस्य । ७. ज्ञानध्यानादि ।

परिमाणमिवातिशयेन वियति मतिरुच्चैर्नरि गुरुतामुपैति।
तद्भिन्नवेदिनिन्दा[1] द्विजस्य विभ्राम्यति चित्ते देव[2] कस्य ॥५७७॥
कपिलो[3] यदि वाञ्छति वित्ति[4]मचि[5]ति सुरगुरुगीगुम्फे[6]ष्वेष[7] पतति।
चैतन्यं बाह्यग्राह्यरहितमुपयोगि[8] कस्य वद[9] तत्र[10] विदित[11] ॥५७८॥
भूपवनवना[12]नलतत्त्वकेषु धिषणो[13] निगृ[14]णाति विभोगमेषु[15]।
न पुनर्विदि[16] [17]तद्विपरीतधर्मधाम्नि ब्रवीति तत्तस्य[18] कर्म ॥५७९॥

जैसे परिमाणका अतिशय आकाशमें पाया जाता है वैसे ही बुद्धिका अत्यन्त विकास मनुष्यमें होता है। इसलिए मीमांसकने जो सर्वज्ञकी आलोचना की है वह हे देव! किसीके भी चित्तमें नहीं उतरती ॥५७७॥

भावार्थ—जिसमें उतार-चढ़ाव पाया जाता है उसका उतार-चढ़ाव कहीं अपनी अन्तिम सीमाको अवश्य पहुँचता है। जैसे परिमाण (माप)में उतार-चढ़ाव देखा जाता है अतः उसका अन्तिम उतार परमाणुमें पाया जाता है और अन्तिम चढ़ाव आकाशमें; क्योंकि परमाणुसे छोटी और आकाशसे बड़ी कोई वस्तु नहीं है। वैसे ही ज्ञान भी घटता-बढ़ता है किसीमें कम ज्ञान पाया जाता है और किसीमें अधिक। अतः किसी मनुष्यमें ज्ञानका भी अन्तिम विकास अवश्य होना चाहिए और जिसमें उसका अन्तिम विकास होता है वही सर्वज्ञ है।

यदि सांख्य अचेतन प्रकृतिमें ज्ञान मानता है तो यह तो चार्वाकके वचनोंका ही प्रतिपादन हुआ; क्योंकि चार्वाक पञ्चभूतसे आत्मा और ज्ञानकी उत्पत्ति मानता है। और यदि चैतन्य बाह्य वस्तुओंको नहीं जानता तो हे विश्वप्रसिद्ध देव! आप बतलावें कि वह कैसे किसीके लिए उपयोगी हो सकता है? ॥५७८॥

भावार्थ—सांख्य आत्मा मानता है और उसको चैतन्य स्वरूप भी स्वीकार करता है किन्तु चैतन्यको ज्ञान-दर्शनरूप नहीं मानता। उसके मतसे ज्ञान जड़ प्रकृतिका धर्म है। इसीसे मुक्तावस्थामें चैतन्यके रहनेपर भी वह ज्ञानका अस्तित्व नहीं मानता। इसी बातको लेकर ऊपर ग्रन्थकारने सांख्यमतकी आलोचना की है।

चार्वाकगुरु बृहस्पति पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु तत्त्वसे ज्ञान बतलाता है किन्तु उनसे विरुद्ध धर्मवाले आत्मामें ज्ञान नहीं बतलाता। यह उस चार्वाकका महत्पाप है ॥५७९॥

भावार्थ—चार्वाक आत्मा नहीं मानता। उसका मत है कि पृथिवी जल आदि भूतोंके मिलनेसे एक शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिसे लोग आत्मा कहते हैं और शरीरके नष्ट होनेपर उसके साथ ही वह शक्ति भी नष्ट हो जाती है। किन्तु पञ्चभूत और आत्माका स्वभाव बिलकुल अलग है। ऐसा नियम है कि जो जिससे उत्पन्न होता है उसके गुण उसमें पाये जाते हैं, मगर पञ्चभूतोंका एक भी गुण आत्मामें नहीं पाया जाता और जो गुण आत्मामें पाये जाते हैं उनकी गन्ध भी पञ्चभूतोंमें नहीं मिलती है। फिर भी ज्ञानको आत्माका गुण नहीं मानता और उसे पञ्चभूतका कार्य बतलाता है। यह उसका कथन ठीक नहीं है।

---

१. जिनविषये निन्दा। २. देवस्य अ०। ३. सांख्यः। ४. ज्ञानम्। ५. अचेतने प्रधाने। ६. चार्वाकवचनेषु चतुर्भूतस्थानेषु। ७. कपिलः। ८. कार्यकारकम्। ९. त्वं वद। १०. चैतन्ये। ११. हे विख्यात। १२. जल। १३. चार्वाकगुरुर्बृहस्पतिः। १४. कथयति। १५. विभेदनं ज्ञानम्। १६. आत्मनि ज्ञानं न कथयति। १७. तस्मात् अचेतनात् विपरीतधर्मशालिनि। १८. चार्वाकस्य पापं वर्तते।

विज्ञानप्रमुखाः सन्ति विमुक्ति[1] न गुणाः किल यस्य नयोऽत्र वाचि।
तस्यैव पुमानपि[2] नैव तत्र दाहाद्दहनः[3] क इहापरोऽत्र ॥५८०॥
धरणीधरधरणिप्रभृति सृजति ननु निपगृहादि[4] गिरिशः[5] करोति।
चित्रं तथापि यत्तद्वचांसि लोकेषु भवन्ति महायशांसि ॥५८१॥
पुरुषत्रयमबलासक्तमूर्ति तस्मात्परस्तु गतकार्यकीर्तिः।
एवं सति नाथ कथं हि सूत्रमाभाति हिताहितविषयमत्र ॥५८२॥
सोऽहं[9] योऽभूवं बालवयसि निश्चिन्वन्क्षणिकमतं जहासि।
संतानोऽप्यत्र न वासनापि यद्यन्वयभावस्तेन नापि ॥५८३॥
चित्तं[10] न विचारकमक्षजनितमखिलं सविकल्पं स्वांशपतितम्।
उदितानि[11] वस्तु नैव स्पृशन्ति शाक्याः कथमात्महितान्युशन्ति[12] ॥५८४॥

जिस सांख्यका यह सिद्धान्त है कि मुक्त आत्मामें ज्ञानादिक गुण नहीं हैं उसके मतमें आत्मा भी नहीं ठहरता; क्योंकि जैसे बिना उष्ण गुणके अग्नि नहीं रह सकती वैसे ही ज्ञानादिक गुणोंके बिना आत्मा भी नहीं रह सकता ॥५८०॥

[*इस प्रकार सांख्य मतकी आलोचना करके ईश्वरकी आलोचना करते हैं—*]

महेश्वर पृथ्वी, पहाड़ वगैरहको तो बनाता है किन्तु मकान, घट वगैरहको नहीं बनाता। आश्चर्य है फिर भी उसके वचन लोकमें प्रसिद्ध हो रहे हैं ॥५८१॥

भावार्थ—आशय यह है कि यदि ईश्वर पृथ्वी, पहाड़ वगैरहको बना सकता है तो घट, पट वगैरहको भी बना सकता है फिर उसके लिए कुम्हार और जुलाहे वगैरहकी जरूरत नहीं होनी चाहिए। जैसे उसने मनुष्योंके लिए पृथ्वी वगैरहकी सृष्टि की वैसे ही वह इन चीजोंको क्यों नहीं बना देता। इससे मालूम होता है कि जगत्का कोई रचयिता नहीं है, आश्चर्य है कि फिर भी मनुष्य उसकी बातको माने जाते हैं।

ब्रह्मा, विष्णु और महेश तो तिलोत्तमा, लक्ष्मी और गौरीमें आसक्त हैं तथा जो परम शिव है वह कायरहित है। हे नाथ! ऐसी स्थितिमें उनसे हित और अहितको बतलानेवाले सूत्रोंका उद्गम कैसे हो सकता है ॥५८२॥

[*इस प्रकार वैदिक मतकी आलोचना करके बौद्ध मतकी आलोचना करते हैं—*]

जो मैं बचपनमें था वही मैं हूँ ऐसा निश्चय करनेसे क्षणिक मत नहीं ठहरता। यदि कहा जाये कि सन्तान या वासनासे ऐसी प्रतीति होती है कि मैं वही हूँ तो न तो सन्तान ही बनती है और न वासना ही सिद्ध होती है। यदि ऐसा मानते हो कि पूर्व क्षणका उत्तर क्षणमें अन्वय पाया जाता है तो आत्माको ही क्यों नहीं मान लेते। तथा इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला निर्विकल्प

---

१. मुक्तजीवे विज्ञानादयो गुणा न वर्तन्ते। २. जीवोऽपि नास्ति तस्मिन् मते। ३. उष्णत्वं विना यथाऽग्निर्नास्ति तथा विज्ञानादिगुणान् विना आत्माऽपि नास्ति। ४. गिरिप्रभृति यदि वस्तु सृजति तर्हि घटादयोऽपि सृजति। ५. घट। ६. शिवः। ७. परः परम एव शिवः। ८. कायरहितः। ९. 'सोऽहम्' इति मन्यसे चेत्तर्हि त्वं क्षणिकमतं जहासि। यो जीवः प्रथमसमये विध्वंसं प्राप्तः तस्माज्जीवादन्यो जीवो नोत्पद्यते एवंविधः सन्ताननिषेधोऽस्ति तव मते। यथा सन्तानो नास्ति तथा वासनाऽपि नास्ति। तर्हि कथमुच्यते वासनाया ज्ञानमुत्पद्यते। १०. ज्ञानम्। 'तच्च निर्विकल्पकमिव सविकल्पमपि न विचारकम्, पूर्वापरपरामर्शशून्यत्वादभिलापसंसर्गरहितत्वात्।'—अष्टसह० पृ० ७४। ११. बौद्धोक्तानि। १२. वदन्ति।

अद्वैतं तत्त्वं वदति कोऽपि सुधियां धियमातनुते न सोऽपि ।
यत्पक्षहेतुदृष्टान्तवचनसंस्थाः कुतोऽत्र शिवशर्मसद्म ॥५८५॥
हेतावनेकधर्मप्रवृत्तिराख्याति जिनेश्वरतत्त्वसिद्धिम् ।
अन्यत्पुनरखिलमतिव्यतीतमुञ्चाति सर्वमुरुनयनिकेत ॥५८६॥

ज्ञान तो विचारक नहीं है और जो सविकल्प ज्ञान है वह निर्विकल्पके द्वारा गृहीत वस्तुमें ही प्रवृत्ति करता है। तथा वचन वस्तुको नहीं कहते। ऐसी स्थितिमें बौद्ध मतानुयायी कैसे आत्म-हितका कथन करते हैं ॥५८३-५८४॥

भावार्थ—बौद्ध क्षणिकवादी हैं। उनके मतसे प्रत्येक वस्तु क्षण-क्षणमें नष्ट होती है। किन्तु वस्तुके प्रथम क्षणके नाश हो जानेपर दूसरा क्षण और दूसरे क्षणके नष्ट हो जानेपर तीसरा क्षण उत्पन्न होता रहता है और इस तरहसे क्षणसन्तान चलती रहती है, ऐसा वे मानते हैं। किन्तु यदि वस्तुके पूर्व क्षण और उत्तर क्षणमें एकत्व नहीं माना जाता है तो वह सन्तान बन नहीं सकती और यदि एकत्व माना जाता है तो वस्तु स्थायी सिद्ध हो जाती है। उसी एकत्वके कारण बड़े होनेपर भी हमें बचपनकी बातोंकी स्मृति रहती है और हममें-से प्रत्येक यह अनुभव करता है कि जो मैं बच्चा था वही मैं अब युवा या वृद्ध हूँ। यह तो हुई बौद्धके क्षणिकवादकी आलोचना। बौद्ध ज्ञानको निर्विकल्पक मानता है और उसे ही वस्तुग्राही कहता है। तथा निर्विकल्पकके बाद जो सविकल्पक ज्ञान होता है उसे अवस्तुग्राही कहता है। निर्विकल्पकका विषय क्षणिक निरंश वस्तु है जो बौद्धकी दृष्टिसे वास्तविक है और सविकल्पक स्थिर स्थूलाकार वस्तुको ग्रहण करता है जो उसकी दृष्टिसे अवास्तविक है। चूँकि शब्द भी स्थिर स्थूलाकार वस्तुको ही कहता है, निरंश वस्तुको वह कह ही नहीं सकता। अतः बौद्ध शब्दको भी अवस्तुग्राही मानता है, इसी लिए बौद्धमतमें शब्दको प्रमाण नहीं माना गया। ऐसी स्थितिमें जब निर्विकल्पक और सविकल्पक अविचारक हैं और शब्द वस्तुग्राही नहीं है तब बौद्ध मतमें हिताहितका विचार और उपदेश कैसे सम्भव हो सकता है?

[अब अद्वैतवादकी आलोचना करते हैं—]

हे शिव सुखके मन्दिर! जो अद्वैत तत्त्वका कथन करता है वह भी बुद्धिमानोंके विचारोंको प्रभावित नहीं करता; क्योंकि अद्वैतवादमें पक्ष, हेतु और दृष्टान्त वगैरह कैसे बन सकते हैं? अद्वैतकी सिद्धिके लिए हेतुको मान लेनेसे उसके साथमें हेतुके पक्षधर्मत्व सपक्ष-सत्त्व आदि[1] अनेक धर्म मानने पड़ते हैं और उनके माननेसे जिनेश्वरके द्वारा कहे गये द्वैत तत्त्वकी ही सिद्धि होती है—अद्वैतकी नहीं। अतः हे अनेकान्त नयके प्रणेता[2]! तुम्हारे द्वारा कहे गये तत्त्वोंके सिवा शेष सब बुद्धिसे परे प्रतीत होता है, वह बुद्धिको नहीं लगता ॥५८५-५८६॥

---

१. पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वादि। 'हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद्द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः। हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ॥ २६ ॥—आप्तमीमांसा। २. हे अनेकान्तनयनिकेत।

मनुजत्वपूर्वनयनायकस्य[1] भवतो भवतोऽपि गुणोत्तमस्य।
ये द्वेषकलुषधिषणा भवन्ति ते अब्जं मौक्तिकमपि रहन्ति[2] ॥५८७॥
माप्तेषु[3] बहुत्वं यः सहेत पर्यायैर्विभूतिष्वपि महेत[4]।
नूनं द्रुहिणादिषु दैवतेषु कं[5] तस्य स्फुटति तथाविधेषु[6] ॥५८८॥
दीक्षासु[7] तपसि वचसि त्वयि[8] नयदिहैक्यं सकलगुणैरहीन[9]।
तस्मादवैमि[10] जगतां त्वमेव नाथोऽसि बुधोचितपादसेव ॥५८९॥
देव त्वयि कोऽपि तथापि विमुखचित्तो यदि विदलितमदनविशिख[11]।
निन्द्यः स एव घूके दिवापि विहं[12] शीनमुपालभते न कोऽपि ॥५९०॥
निष्किञ्चनोऽपि जगते न कानि जिन दिशसि[13] निकामं कामितानि।
नैवात्र चित्रमथवा समस्ति वृष्टिः किमु खादिह नो[14] चकास्ति ॥५९१॥

भावार्थ—अद्वैतवादी केवल एक ब्रह्म तत्त्व ही मानते हैं किन्तु बिना द्वैतके अद्वैतकी सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि अद्वैतकी सिद्धि बिना प्रमाणके तो हो नहीं सकती और प्रमाण माननेसे अनुमान वगैरह प्रमाण मानने पड़ेंगे। तथा बिना पक्ष हेतु और दृष्टान्तके अनुमान नहीं होता और इन सबके माननेसे अद्वैत नहीं ठहरता।

हे देव! आप गुणोंसे श्रेष्ठ हैं, फिर भी चूँकि आप अनेकान्त नयके नायक होनेसे पूर्व मनुष्य थे इसलिए जिनलोगोंकी मति द्वेषसे कलुषित है वे मोतीको इसलिए छोड़ देते हैं चूँकि वह जड़ या जलसे पैदा हुआ है ॥५८७॥ हे पूज्य! जिन्हें अनुक्रमसे होनेवाले बहुत आप्तोंकी मान्यता सह्य नहीं है निश्चय ही अवतार रूप ब्रह्मादि देवताओंके सामने वे अपना सिर फोड़ते हैं। अर्थात् अनेक देवताओंको जब वे नहीं मानते और फिर भी ब्रह्मादिक देवताओंको सिर नवाते हैं अतः उनका उन्हें सिर नवाना सिर फोड़ना ही जैसा है ॥५८८॥

हे सकलगुणशाली! आपके चारित्रमें, तपमें और वचनमें एकरूपता पायी जाती है अर्थात् जैसा आप कहते हैं वैसा ही आचरण भी करते हैं। इस लिए हे देवताओंसे पूजित चरण! आप ही तीनों लोकोंके स्वामी हैं, ऐसा मैं मानता हूँ ॥ ५८९ ॥

कामके बाणोंको चूर्ण कर डालनेवाले हे देव! फिर भी यदि कोई तुमसे विमुख रहता है तो वही निन्दाका पात्र है, क्योंकि दिनके समय उल्लूके अन्धे हो जानेपर कोई भी सूर्यको दोष नहीं देता ॥ ५९० ॥

हे जिन! आपके पास कुछ भी नहीं है फिर भी आप जगत्की किन इच्छित वस्तुओंको नहीं देते? अर्थात् सभीको इच्छित वस्तु देते हैं। किन्तु इसमें कोई अचरजकी बात नहीं है, क्योंकि आकाशके पास कुछ भी नहीं है फिर भी क्या आकाशसे वर्षा होती नहीं देखी जाती ॥ ५९१ ॥

---

१. अयं जिनः पूर्वं नरः। २. 'तस्यात्मजस्तस्य पितेति देव त्वां येऽवगायन्ति कुलं प्रकाश्य। तेऽद्यापि नन्वाश्मनमित्यवश्यं पाणौ कृतं हेम पुनस्त्यजन्ति ॥२३॥'—विषापहार। हरन्ति आ.। त्यजन्ति। ३. अनुक्रमेणोत्पन्नेषु। ४. हे पूजाप्राप्त। ५. मस्तकम्। ६. बहुषु हरिहरादिषु। ७. चारित्रेषु। ८. त्वयि विषये निश्चयेन चारित्रादीनामैक्यं वर्तते। ९. परिपूर्ण। १०. अहं जानामि। ११. हे चूर्णीकृत मदनबाण। १२. घूके अन्धे सति इनं सूर्यं न कोऽपि निन्दति। १३. अपि तु सर्वाणि वाञ्छितवस्तूनि त्वं ददासि। १४. किं न भवति। 'तुङ्गात् फलं यत्तदकिंचनाच्च प्राप्यं समृद्धान्न धनेश्वरादेः। निरम्भसोऽप्युच्चतमादिवाद्रेर्नैकापि निर्याति धुनी पयोधेः ॥ १९ ॥—विषापहार।

पद्धतिका—

इति तदमृतनाथ[1] स्मरशरमाथ[2] त्रिभुवनपतिमतिकेतन।
मम दिश जगदीश प्रशमनिवेश त्वत्पदनुतिहृदयं जिन ॥५९२॥

घत्ता—

अमरतरुणीनेत्रानन्दे महोत्सवचन्द्रमाः
स्मरमदमयध्वान्तध्वंसे[3] मतः[4] परमोऽर्यमा[5]।
अदयहृदयः कर्मारातौ नते[6] च कृपात्मवा-
निति विसदृश[7]व्यापारस्त्वं तथापि भवान्महान् ॥५९३॥

अनन्तगुणसंनिधौ[8] नियतबोध[9]संपन्निधौ
श्रुताब्धिबुधसंस्तुते परिमितोक्तवृत्तस्थिते।
जिनेश्वर सतीदृशे त्वयि मयि स्फुटं तादृशे
कथं सदृशनिश्चयं तदिदमस्तु वस्तुद्वयम् ॥५९४॥

[10]तदलमतुल[11] त्वादृग्वाणीपथस्तवनोचिते
त्वयि गुणगणापात्रैः[12] स्तोत्रैर्जडस्य हि मादृशः।
प्रणतिविषये व्यापारेऽस्मिन्पुनः सुलभे जनः
कथमयमवागास्तां[13] स्वामिन्नतोऽस्तु नमोऽस्तु ते ॥५९५॥

इसलिए हे मोक्षपति ! हे कामके नाशक ! हे तीनों लोकोंके स्वामियोंकी बुद्धिके धाम ! हे शान्तिके आगार ! हे जगत्के स्वामी जिनेन्द्रदेव ! मुझे अपने चरणोंमें नमस्कार भाव रखने वाला हृदय प्रदान करें अर्थात् मेरा हृदय सदा आपके चरणोंमें लीन रहे ॥ ५९२ ॥

हे जिनदेव ! देवांगनाओंके नेत्रोंको आनन्दित करनेके लिए आप आनन्ददायक चन्द्रमा हैं और कामके मदरूपी अन्धकारको नष्ट करनेके लिए उत्कृष्ट सूर्य हैं। कर्मरूपी शत्रुके लिए आपके हृदयमें थोड़ी भी दया नहीं है किन्तु जो आपको नमस्कार करता है उस पर आप कृपालु हैं। इस प्रकार विपरीत आचरण करनेपर भी आप महान् हैं ॥ ५९३ ॥

आप अनन्त गुण युक्त हैं और मैं थोड़ेसे परिमित ज्ञानका स्वामी हूँ। श्रुतके समुद्र विद्वानोंने आपका स्तवन किया है और मेरे पास परिमित शब्द हैं और परिमित छन्द हैं। हे जिनेश ! आपमें और मुझमें इतने स्पष्ट अन्तरके होते हुए हम दोनों समान कैसे हो सकते हैं। इस लिए मैं और आप दोनों दो वस्तु हैं ॥ ५९४ ॥ अतः हे अनुपम ! जब आप उस प्रकारके विद्वानोंके द्वारा स्तवन करनेके योग्य हैं, तो मुझ मूर्खका उन स्तवनोंसे, जो तुम्हारे गुण-समूहको छूते भी नहीं, आपका स्तवन करना व्यर्थ है। किन्तु स्तवन करना कठिन होते हुए भी आपको नमस्कार करना तो सरल है उसमें मैं मूक कैसे रह सकता हूँ। अतः हे स्वामिन् ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥ ५९५ ॥

---

१. मोक्ष। २. कामविध्वंसक। ३. काममदमयो योऽसौ अन्धकारः तस्य विनाशे। ४. कथितः। ५. सूर्यः। ६. नम्रे नरे। ७. विपरीत। ८. त्वयि। ९. मयि। १०. स्तोत्रैर्मादृशो जडस्य। ११. भवत्सदृशवाणीमार्गयोग्ये। १२. अस्थानभूतैः स्तोत्रैरलम्। १३. मौनवान् कथं तिष्ठतु अयं मल्लक्षणः।

अगन्नेत्रं पात्रं निखिलविषयज्ञानमहसां[1]
महान्तं त्वां सन्तं [2]सकलनयनीतिस्मृतगुणम् ।
महोदारं सारं विनतहृदयानन्दविषये
ततो याचे नो चेद्भवसि भगवन्नर्थिविमुखः ॥५९६॥

मनुजदिविजलक्ष्मीलोचनालोकलीला-[3]
श्चिरमिह [4]चरितार्थास्त्वत्प्रसादात्प्रजाताः ।
हृदयमिदमिदानीं स्वामिसेवोत्सुकत्वात्
[5]सहवसतिसनाथं [6]छात्रमित्रे विधेहि ॥५९७॥

इत्युपासकाध्ययने स्तवनविधिर्नाम सप्तत्रिंशत्तमः कल्पः ।

[7]सर्वाक्षर[8]नामाक्षर[9]मुख्याक्षराद्यै[10]कवर्णविन्यासात् ।
[11]निगिरन्ति जपं केचिदहं तु [12]सिद्धक्रमैरेव ॥५९८॥

पातालमर्त्यखेचरसुरेषु सिद्धक्रमस्य मन्त्रस्य ।
[13]अधिगानात्संसिद्धेः [14]समवाये देवयात्रायाम्[15] ॥५९९॥

हे भगवन् ! आप जगत्के नेत्र हैं, समस्त पदार्थोंके ज्ञानरूपी तेजके स्थान हैं, महान् हैं, समस्त शास्त्रोंमें आपके गुणोंका स्मरण किया गया है, विनत मनुष्योंके हृदयोंको आनन्द देनेके विषयमें आप महान् उदार हैं अतः मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ । आशा है आप याचकसे विमुख नहीं होंगे अर्थात् मेरी प्रार्थना पूरी करेंगे ॥ ५९६ ॥

भगवन् ! आपके प्रसादसे मानवीय और दैवीय लक्ष्मीके नेत्रोंके द्वारा मेरे देखे जानेकी शोभा तो बहुत काल हुआ तभी चरितार्थ हो चुकी है । अब तो मेरा हृदय आपकी सेवाके लिए उत्सुक है इसलिए अब मेरे हृदयको अपने निवाससे सनाथ करो—मेरे हृदयमें बसो ॥५९७ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें स्तवन विधि नामक सैंतीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

[अब जप करनेकी विधि बतलाते हैं—]

जप विधि

कोई 'णमो अरहंताणं' आदि पूरे नमस्कार मन्त्रसे जाप करना बतलाते हैं । कोई अरहन्त सिद्ध आदि पंच परमेष्ठीके नामाक्षरोंसे जप करना बतलाते हैं । कोई पंच परमेष्ठीके वाचक 'अ सि आ उ सा' इन मुख्य अक्षरोंसे जप करना बतलाते हैं । कोई 'ओं' अथवा 'अ' आदि एक अक्षरसे जप करना बतलाते हैं, किन्तु मैं (ग्रन्थकार) तो अनादि सिद्ध पञ्चनमस्कार मन्त्रसे ही जप करना बतलाता हूँ ॥५९८॥

पाताल लोकमें अर्थात् भवनवासी और व्यन्तर देवोंमें, मनुष्योंमें, विद्याधरोंमें, वैमानिक देवोंमें, जनसमाजमें और देवयात्रामें सिद्धिदायक होनेसे पञ्चनमस्कारमन्त्रका सर्वत्र अति आदर है ॥५९९॥

---

१. तेजसां पात्रं स्थानम् । २. समस्तसिद्धान्तचिन्तितगुणम् । ३. शोभाः । ४. सत्यार्थाः ५. सह निवाससहितं मदीयं हृदयं कुरु । ६. छात्रा एव मित्राणि यस्य । ७. 'णमो अरहंताणं' इत्यादि पञ्चत्रिंशत् । ८. अरहंत सिद्ध इत्यादि । ९. अ सि आ उ सा । १०. ॐ अथवा अ । ११. कथयन्ति । १२. अनादिसंसिद्ध-पञ्चत्रिंशदक्षरैः । १३. अधिकप्रतिपत्तेः—आदरात् । अविगानात्' इत्यपि पाठः । अविगानात्—अविप्रतिपत्तेः । १४. समाजे—संघमेलापके । १५. तीर्थंकरपूजायाम् ।

पुष्पैः पर्वभिरम्बुजबीजस्वर्णार्क[1,2]कान्तरत्नैर्वा ।
निष्कम्पिताक्षवलयः पर्यङ्कस्थो जपं कुर्यात् ॥६००॥
अङ्गुष्ठे मोक्षार्थी तर्जन्यां (न्या) साधु बहिरिदं नयतु ।
इतरास्वङ्गुलिषु पुनर्बहिरन्तश्चैहिकापेक्षी ॥६०१॥
वचसा वा मनसा वा कार्यो जाप्यः समाहितस्वान्तैः[3] ।
शतगुणमाद्ये पुण्यं सहस्रसंख्यं द्वितीये तु ॥६०२॥
नियमितकरणग्रामः स्थानासनमानसप्रचारज्ञः ।
पवनप्रयोगनिपुणः सम्यक्सिद्धो भवेदशेषज्ञः ॥६०३॥

पर्यङ्क आसनसे बैठकर, इन्द्रियोंको निश्चल करके पुष्पोंसे या अँगुलीके पर्वोंसे या कमलगट्टोंसे या सोने अथवा सूर्यकान्त मणिके दानोंसे अथवा रत्नोंसे नमस्कारमन्त्रका जप करना चाहिए ॥६००॥

मोक्षके अभिलाषी जपकर्ताको अँगूठेपर मालाको रखकर अंगूठेके पासवाली तर्जनी अंगुलीके द्वारा सम्यक् रीतिसे बाहरकी ओर जप करना चाहिए। और इस लोकसम्बन्धी किसी शुभ कामनाकी पूर्तिके अभिलाषीको शेष अंगुलियोंके द्वारा बाहर या अन्दरकी ओर जप करना चाहिए ॥६०१॥

मनको स्थिर करके वचनसे या केवल मनसे जप करना चाहिए। बोल-बोलकर जप करनेसे सौगुना पुण्य होता है, किन्तु मन-ही-मनमें जप करनेसे हजारगुना पुण्य होता है ॥६०२॥

जो अपनी इन्द्रियोंको वशमें कर लेता है और स्थान, आसन व मनके संचारको जानता है तथा श्वासोच्छ्वासके प्रयोगमें सिद्धहस्त होता है, वह सर्वज्ञ होकर सिद्ध पद प्राप्त करता है ॥६०३॥

भावार्थ—आशय यह है कि जपके लिए इन्द्रियोंको वशमें करना आवश्यक है, उसके बिना जपमें मन नहीं लग सकता और बिना मन लगाये जप हो भी नहीं सकता। क्योंकि यदि मुँहसे मन्त्र बोलते रहने और हाथोंसे गुरिया सरकाते रहनेपर भी मन कहीं और भटकता है तो वह जाप बेकार है। ऊपर जो मनसे और वचनसे जाप करना बतलाया है उसका यह मतलब नहीं है कि वचनसे किये जानेवाले जापमें मनको छुट्टी रहती है। मन तो हर हालतमें उसीमें लगा रहना चाहिए। किन्तु मनसे किये जानेवाले जापमें वचनका उच्चारण नहीं किया जाता और मन-ही-मनमें जप किया जाता है। अतः प्रत्येक प्रकारके जपके लिए इन्द्रियोंपर काबू होना आवश्यक है। दूसरे, स्थान कैसा होना चाहिए, आसन किस प्रकार लगाना चाहिए, मन्त्रोंमें मनका संचार किस प्रकार करना चाहिए—ये सब बातें भी जप करनवालेको ज्ञात होनी चाहिए। तथा जप करते समय श्वासकी गति कैसी होनी चाहिए, कितने समयमें श्वास लेना चाहिए और

---

१. कमलगट्टा। २. सूर्यकान्त। ३. सव्याहितस्वान्तैः अ. आ. ज. मु.। 'विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः। उपांशुः स्याच्छतगुणैः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥—मनुस्मृतिः २-८५। 'वाचाप्युपांशु व्युत्सर्गे कार्यो जप्यः स वाचिकः। पुण्यं शतगुणं चैत्तः सहस्रगुणमावहेत् ॥ २४ ॥—अनगारधर्मा० अ. ९।

इममेव मन्त्रमन्ते पञ्चत्रिंशत्प्रकारवर्णस्थम् ।
मुनयो जपन्ति विधिवत्परमपदावाप्तये नित्यम् ॥६०४॥
मन्त्राणामखिलानामयमेकः कार्यकृद्भवेत्सिद्धः ।
[1]अस्यैकदेशकार्यं[2] परे तु कुर्युर्न ते सर्वे ॥६०५॥
कुर्यात्करयोर्न्यासं कनिष्ठिकान्तः[3] प्रकारयुगलेन ।
तदनु हृदाननमस्तककवचाकविधिर्विधातव्यः ॥६०६॥
संपूर्णमतिस्पष्टं सनादमानन्दसुन्दरं जपतः ।
सर्वसमीहितसिद्धिर्निःसंशयमस्य जायेत ॥६०७॥

कब छोड़ना चाहिए, इस क्रियाका अच्छा अभ्यास होना चाहिए। जो इन सब बातोंका अभ्यासी होकर जप करता है वह सच्चा ध्यानी बन कर मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

मुनि भी मोक्षकी प्राप्तिके लिए इसी पैंतीस अक्षरोंके नमस्कारमन्त्रको सदा विधिपूर्वक जपते हैं ॥६०४॥ यह अकेला ही सब मन्त्रोंका काम करता है किन्तु अन्य सब मन्त्र मिलकर भी इसका एक भाग भी काम नहीं करते ॥६०५॥

[जप प्रारम्भ करनेसे पूर्व सकलीकरण विधान]

दोनो हाथोंकी अँगुलियोंपर अँगूठेसे लेकर कनिष्ठिका अंगुलीतक दो प्रकारसे मन्त्रका न्यास करना चाहिए। उसके पश्चात् हृदय, मुख और मस्तकका सकलीकरण विधि करना चाहिए ॥६०६॥

भावार्थ—'ॐ ह्रां णमो अरहंताणं ह्रां अंगुष्ठाभ्यां नमः, यह मन्त्र पढ़कर दोनों अंगूठोंको पानीमें डुबोकर शुद्ध करे। 'ॐ ह्रीं णमो सिद्धाणं ह्रीं तर्जनीभ्यां नमः' इस मन्त्रको पढ़कर दोनों तर्जनी अँगुलियोंको शुद्ध करे। 'ॐ ह्रूं णमो आइरियाणं ह्रूं मध्यमाभ्यां नमः' इस मन्त्रको पढ़कर दोनों बीचकी अंगुलियोंको शुद्ध करे। 'ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाणं ह्रौं अनामिकाभ्यां नमः' इस मन्त्रको पढ़कर दोनों अनामिका अँगुलियोंको शुद्ध करे। 'ॐ ह्रः णमो लोए सव्वसाहूणं, ह्रः कनिष्ठिकाभ्यां नमः' इस मन्त्रको पढ़कर दोनों कनिष्ठिका अँगुलियोंको शुद्ध करे। फिर 'ॐ ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः' इस मन्त्रको पढ़ दोनों हथेलियोंको दोनों तरफसे शुद्ध करे। 'ॐ ह्रां णमो अरहंताणं ह्रां मम शीर्षं रक्ष रक्ष स्वाहा' इस मन्त्रको पढ़कर मस्तकपर पुष्प डाले। 'ॐ ह्री णमो सिद्धाणं ह्रीं मम वदनं रक्ष रक्ष स्वाहा' इस मन्त्रको पढ़कर अपने मुखपर पुष्प डाले। 'ॐ ह्रूं 'णमो आइरियाणं ह्रूं हृदयं रक्ष रक्ष स्वाहा' इस मन्त्रको पढ़कर छातीपर पुष्प डाले। 'ॐ ह्रौं णमो उवज्झायाणं ह्रौं मम नाभिं रक्ष रक्ष स्वाहा' इस मंत्रको पढ़कर नाभिका स्पर्श करे। 'ॐ ह्रः णमो लोए सव्वसाहूणं ह्रः मम पादौ रक्ष रक्ष स्वाहा' इस मंत्रको पढ़कर पैरोंपर पुष्प डाले। इस तरह यह सकलीकरण क्रिया मन्त्र जपनेसे पूर्व करना चाहिए।

[नमस्कार मन्त्रके जपका फल तथा माहात्म्य]

जो आनन्दपूर्वक प्राणवायुके साथ सम्पूर्णमन्त्रका अत्यन्त स्पष्ट जप करता है उसके सब मनोरथ पूर्ण होते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥६०७॥

---

१. मन्त्रस्य। २. 'णमो अरहंताणं' एतावन्मात्रेण। ३. 'कनिष्ठिकातः—अ. ज.।

मन्त्रोऽयमेव सेव्यः परत्र मन्त्रे फलोपलम्भेऽपि ।
यद्यप्यग्रे विटपी फलति तथाप्यस्य सिच्यते मूलम् ॥६०८॥
अत्रामुत्र च नियतं कामितफलसिद्धये परो मन्त्रः ।
नाभूदस्ति भविष्यति गुरुपञ्चकवाचकान्मन्त्रात् ॥६०९॥
अभिलषितकामधेनौ दुरितद्रुमपावके हि मन्त्रेऽस्मिन् ।
दृष्टादृष्टफले सति परत्र मन्त्रे कथं सजतु ॥६१०॥
इत्थं मनो मनसि बाह्यमबाह्यवृत्ति कृत्वा हृषीकनगरं मरुतो नियम्य ।
सम्यग्जपं विदधतः सुधियः प्रयत्नाल्लोकत्रयेऽस्य कृतिनः किमसाध्यमस्ति ॥६११॥

इत्युपासकाध्ययने जपविधिर्नामाष्टत्रिंशत्तमः कल्पः ।

आदिध्यासुः[1] परंज्योतिरीप्सुः[2] स्तद्धाम शाश्वतम् ।
इमं ध्यानविधिं यत्नादभ्यस्यतु समाहितः ॥६१२॥
तत्त्वचिन्तामृताम्भोधौ दृढमग्नतया मनः ।
बहिर्व्यासौ जडं कृत्वा द्वयमासनमाचरेत् ॥६१३॥
सूक्ष्मप्राणयमायामः[3] सन्नसर्वाङ्गसंचरः[4] ।
[5]ग्रावोत्कीर्ण इवासीत ध्यानानन्दसुधां लिहन् ॥६१४॥

अन्य मन्त्रोंसे फल प्राप्ति होनेपर भी इसी नमस्कारमन्त्रकी आराधना करनी चाहिए। क्योंकि यद्यपि वृक्षके ऊपरके भागमें फल लगते हैं फिर भी उसकी जड़ ही सींची जाती है। अर्थात् यह मन्त्र सब मन्त्रोंका मूल है इसलिए इसीकी आराधना करनी चाहिए ॥६०८॥

पंच परमेष्ठीके वाचक इस णमोकार मन्त्रके सिवा इस लोक और परलोकमें इच्छित फलको नियमसे देनेवाला दूसरा मन्त्र न था, न है और न होगा ॥६०९॥ जब यह मन्त्र इच्छित वस्तुके लिए कामधेनु और पापरूपी वृक्षके लिए आगके समान है तथा दृष्ट और अदृष्ट फलको देता है तो अन्य मन्त्रोंमें क्यों लगा जाये। अर्थात् इसी एक मन्त्रका जप करना उचित है ॥६१०॥

इस प्रकार मनको मनमें और इन्द्रियोंके समूहको आभ्यन्तरकी ओर करके तथा श्वासोच्छ्वासका नियमन करके जो बुद्धिमान् प्रयत्नपूर्वक सम्यग् जप करता है उस कर्मठ व्यक्तिके लिए तीनों लोकोंमें कुछ भी असाध्य नहीं है ॥६११॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें जपविधि नामका अड़तीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[*अब ध्यानकी विधि बतलाते हैं*]

ध्यानविधि

जो अर्हन्त भगवान्का ध्यान करनेका इच्छुक है और उस स्थायी मोक्ष स्थानको प्राप्त करना चाहता है, उसे सावधान होकर प्रयत्नपूर्वक आगे बतलायी गयी ध्यानकी विधिका अभ्यास करना चाहिए ॥६१२॥ तत्त्वचिन्तारूपी अमृतके समुद्रमें मनको ऐसा डुबा दो कि वह बाह्य बातोंमें एकदम जड़ हो जाये और फिर पद्मासन या खड्गासन लगाओ ॥६१३॥

ध्यानरूपी आनन्दामृतका पान करते समय श्वासवायुको बहुत धीमेसे अन्दरकी ओर ले जाना चाहिए और बहुत धीमेसे बाहर निकालना चाहिए। तथा समस्त अंगोंका हलन-चलन एकदम बन्द होना चाहिए। उस समय ध्यानी पुरुष ऐसा मालूम हो मानो कोई पत्थरकी

---

१. आध्यातुमिच्छुः। २. वाञ्छन्। ३. सूक्ष्म उच्छ्वासनिश्वासः, तस्य यमः प्रवेशः आयामो निर्गमः। ४. सन्नः निश्चलः। ५. पाषाणघटितः।

यदेन्द्रियाणि पञ्चापि स्वात्मस्थानि समासते।
तदा ज्योतिः स्फुरत्यन्तेश्चित्ते[1] चित्ते[2] निमज्जति ॥६१५॥
चित्तस्यैकाग्रता[3] ध्यानं ध्यातात्मा तत्फलप्रभुः।
ध्येयमात्मागमज्योतिस्तद्विधिर्देहयातना[4] ॥६१६॥
तैरश्चमामरं मार्त्यं नाभसं भौममङ्गजम्।
[6]सहतु समधीः सर्वमन्तरायं [7]द्वयातिगः ॥६१७॥
[8]नाक्षमित्वमविघ्नाय न [9]क्लीबत्वममृत्यवे।
तस्मादक्लिश्यमानात्मा परं ब्रह्मैव चिन्तयेत् ॥६१८॥
[10]यत्रायमिन्द्रियग्रामो [11]व्यासक्तस्तेनाग्रविप्लवम्।
नाश्नुवीत तमुद्देशं भजेताध्यात्मसिद्धये ॥६१९॥

मूर्ति है ॥६१४॥ जब पाँचों इन्द्रियाँ बाह्य व्यापारको छोड़कर आत्मस्थ हो जाती हैं और चित्त अन्तरात्मामें लीन हो जाता है तब अन्तरात्मामें ज्योतिका उदय होता है ॥६१५॥

ध्यान आदिका स्वरूप

चित्तकी एकाग्रताको ध्यान कहते हैं। आत्मा ध्याता यानी ध्यान करनेवाला है। वही ध्यानके फलका स्वामी है। आत्मा और श्रुतज्ञान ध्येय हैं, ध्यानमें उन्हींका चिन्तन किया जाता है और शरीर तथा इन्द्रियोंपर काबू रखना ध्यानका उपाय है ॥६१६॥

ध्यान करते समय यदि कोई पशुकृत उपसर्ग उपस्थित हो जैसे सुकुमाल मुनिपर शृगालीने किया था, या देवकृत उपसर्ग उपस्थित हो, जैसे भगवान् पार्श्वनाथके ऊपर कमठके जीव व्यन्तरने किया था, या मनुष्यकृत उपसर्ग उपस्थित हो जैसे पाण्डवोंपर उनके शत्रुओंने किया था, या आकाशसे अचानक बिजली, पानी और ओला बरसने लगे, या जमीन चुभने लगे अथवा शरीरम ही कोई पीड़ा उत्पन्न हो जाये तो ध्यानी पुरुषको राग-द्वेष न करके सब प्रकारकी बाधाओंको शान्तिपूर्वक सहना चाहिए ॥६१७॥ ऐसे समय असहनशीलता दिखानेसे विघ्न दूर नहीं हो सकता और न कायरता दिखलानेसे जीवन ही बच सकता है। अतः किसी प्रकारका दुःख न मानकर परमात्माका ही ध्यान करना चाहिए ॥६१८॥

ध्यानके योग्य स्थान कैसा होना चाहिए

जहाँपर इन्द्रियोंको अन्य पदार्थमें आसक्तिरूपी चोरके द्वारा कोई बाधा प्राप्त न हो अर्थात् इन्द्रियाँ इधर-उधर न भटक कर अपनेमें ही आसक्त रहें, आत्माकी सिद्धिके लिए ऐसे ही स्थानपर ध्यान करना चाहिए ॥ ६१९ ॥

---

१. अन्तरात्मनि। २. मनसि। ३. 'गुप्तेन्द्रियमना ध्याता ध्येयं वस्तु यथास्थितम्। एकाग्रचिन्तनं ध्यानं निर्जरासंवरौ फलम् ॥ ३८ ॥'–तत्त्वानुशासन।–४. त्मा जगज्ज्योति–आ.। ५. करणग्रामनियंत्रणा। ६. सहत अ. ज.। ७. रोषतोषाभ्यां रहितः। ८. असमर्थत्वम्। ९. कातरत्वम्। १०. स्थाने। 'देशः कालश्च सोऽन्वेष्य सा चावस्थानुगम्यताम्। यदा यत्र यथाध्यानमपविघ्नं प्रसिद्ध्यति ॥ ३९ ॥'–तत्त्वानुशासन। ११. व्यासक्त एव स्तेनः चौरस्तस्य विघ्नं न प्राप्नोति।

फल्गुजन्माप्ययं देहो यदलाबुफलायते ।
संसारसागरोत्तारे [1]रक्ष्यस्तस्मात्प्रयत्नतः ॥६२०॥
नरेऽधीरे वृथा [2]वर्म क्षेत्रेऽसस्ये[3] वृतिर्वृथा ।
यथा तथा वृथा सर्वो ध्यानशून्यस्य तद्विधिः ॥६२१॥
बहिरन्तस्तमोवातैरस्पन्दं[4] दीपवन्मनः ।
यत्तत्त्वालोकनोल्लासि तत्स्याद्ध्यानं सबीजकम् ॥६२२॥
निर्विचारावतारासु चेतःस्रोतःप्रवृत्तिषु ।
आत्मन्येव [5]स्फुरन्नात्मा भवेद्ध्यानमबीजकम्[6] ॥६२३॥

[शायद कोई यह सोचे कि यह शरीर तो अपना नहीं है और नष्ट होनेवाला है । इस लिए इसे जल्दी नष्ट कर डालना चाहिए, तो उसके लिए कहते हैं—]

यद्यपि इस शरीरका जन्म निरर्थक है फिर भी संसाररूपी समुद्रसे पार उतरनेके लिए यह तुम्बीकी तरह सहायक है । इसलिए प्रयत्नपूर्वक इसकी रक्षा करनी चाहिए ॥ ६२० ॥

भावार्थ—यद्यपि तुम्बीका जन्म निरर्थक होता है, वह खाने आदिके योग्य नहीं होती फिर भी नदी वगैरहको पार करनेमें वह सहायक होती है, इसीलिए लोग उसे नष्ट न करके पास रखते हैं । वैसे ही शरीर भी व्यर्थ है वह न होता तो आत्माको बारम्बार जन्म-मरणका दुःख क्यों उठाना पड़ता । फिर भी शरीरके बिना धर्म साधन नहीं हो सकता । ध्यानके लिए तो सुदृढ़ संहननवाले शरीरकी आवश्यकता होती है । अतः उसे यूँ ही नष्ट नहीं कर डालना चाहिए, किन्तु उसकी रक्षा करनी चाहिए, परन्तु यदि वह रक्षा करनेपर भी न बच सकता हो तो उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए । सारांश यह है कि धर्म सेवनके लिए शरीरको स्वस्थ बनाये रखना जरूरी है किन्तु धर्म खोकर शरीरको बनाये रखना मूर्खता है ।

जैसे कायर मनुष्यको कवच पहनाना व्यर्थ है और बिना धान्यके खेतमें बाड़ लगाना व्यर्थ है, वैसे ही जो मनुष्य ध्यान नहीं करता उसके लिए ध्यानकी सब विधि व्यर्थ है ॥ ६२१ ॥

[ध्यान दो प्रकारका होता है–एक सबीज ध्यान और दूसरा अबीज ध्यान । दोनोंका स्वरूप बतलाते हैं—]

सबीज ध्यान और अबीज ध्यानका स्वरूप

जैसे वायुरहित स्थानमें दीपककी लौ निश्चल रहती है वैसे ही जिस ध्यानमें मन अन्तरंग और बहिरंग चंचलतासे रहित होकर तत्त्वोंके चिन्तनमें लीन रहता है उसे सबीज ध्यान कहते हैं और मनमें किसी विचारके न होते हुए जब आत्मा आत्मामें ही लीन होता है उसे निर्बीज ध्यान कहते हैं ॥ ६२२-६२३ ॥

भावार्थ—कर्मोंके क्षय होनेसे ही मोक्ष होता है । और कर्मोंका क्षय ध्यानसे होता है अतः जो मुमुक्षु हैं उन्हें ध्यानका अभ्यास अवश्य करना चाहिए । ध्यान करनेके लिए मोहका त्याग आवश्यक है; क्योंकि जिसका मन स्त्री पुत्र और धनादिमें आसक्त है वह आत्माका ध्यान कैसे कर सकता है । इसलिए जो कामभोगसे विरक्त होकर और शरीरसे भी ममता छोड़कर

---

१. 'न धर्मसाधनमिति स्थास्नु नाश्यं वपुर्बुधैः । न च केनापि नो रक्ष्यमिति शोच्यं विनश्वरम् ॥ ५ ॥–सागारधर्मामृत अ. ८ । २. कवच । ३. धान्यरहिते । ४. निश्चलम् । ५. चमत्कुर्वन् । ६. एकत्ववितर्कावीचाराख्यं शुक्लध्यानम् ।

निर्ममत्ववाला हो जाता है वही पुरुष ध्याता हो सकता है। ध्यान शुभ भी होता है और अशुभ भी होता है। वस्तुके यथार्थ स्वरूपका चिन्तन करना शुभ ध्यान है और मोहके वशीभूत होकर वस्तुके अयथार्थ स्वरूपका चिन्तन करना अशुभ ध्यान है। शुभ ध्यानसे स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है और अशुभ ध्यानसे नरकादिकमें जन्म लेना पड़ता है। एक तीसरा ध्यान भी है जिसे शुद्ध ध्यान कहते हैं। रागादिके क्षीण हो जानेसे जब अन्तरात्मा निर्मल हो जाता है तब जो अपने स्वरूपकी उपलब्धि होती है वह शुद्ध ध्यान है। इस शुद्ध ध्यानसे ही स्वाभाविक केवलज्ञानलक्ष्मीकी प्राप्ति होती है। सारांश यह कि जीवके परिणाम तीन प्रकारके होते हैं–अशुभ, शुभ और शुद्ध। अतः अशुभसे अशुभ, शुभसे शुभ और शुद्धसे शुद्ध ध्यान होता है। आर्त और रौद्र ध्यान अशुभ होते हैं, अतः उन्हें नहीं करना चाहिए। धर्मध्यान शुभ है और शुक्ल ध्यान शुद्ध है। ये दो ही ध्यान करनेके योग्य हैं। इनमें पहले धर्म ध्यान ही किया जाता है। उसके लिए ध्यान करनेवालेको उत्तम स्थान चुनना चाहिए; क्योंकि अच्छे और बुरे स्थानका भी मनपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जहाँ दुष्ट लोग उपद्रव कर सकते हों, स्त्रियाँ विचरण करती हों वहाँ ध्यान नहीं करना चाहिए। तथा जहाँ तृण, काँटे, बाँबी, कंकड़, खुरदरे पत्थर, कीचड़, हाड़, रुधिर आदि हो वहाँ भी ध्यान नहीं करना चाहिए। सारांश यह है कि जहाँ किसी बाह्य निमित्तसे मनमें क्षोभ उत्पन्न हो सकता है वहाँ ध्यान नहीं हो सकता। इस लिए ध्यान करनेवालेको ऐसे स्थान त्याग देने चाहिए। सिद्धिक्षेत्र, तीर्थङ्करोंके कल्याणकोंसे पवित्र तीर्थस्थान, मन्दिर, वन, पर्वत, नदीका किनारा, गुफा आदि स्थान जहाँ किसी तरहका कोलाहल न हो, समस्त ऋतुओंमें सुखदायक हों, रमणीक हों, उपद्रवरहित हों, वर्षा, घाम, शीत और वायुके प्रबल झकोरोंसे रहित हों, ध्यान करनेके योग्य होते हैं। ऐसे शान्त स्थानोंमें काष्ठके तख्तेपर, शिलापर या भूमिपर अथवा बालूमें आसन लगाना चाहिए। पर्यंक आसन, अर्द्धपर्यङ्कासन, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन और कायोत्सर्ग ये ध्यानके योग्य आसन माने गये हैं। इस समय चूँकि जीवोंके शरीर उतने दृढ़ और शक्तिशाली नहीं होते, इसलिए पर्यंकासन और कायोत्सर्ग ये दो आसन ही उत्तम माने जाते हैं। स्थान और आसन ध्यानकी सिद्धिमें कारण हैं। इनमें-से यदि एक भी ठीक न हो तो मन स्थिर नहीं हो पाता। ध्यानीको चाहिए कि वह चित्तको प्रसन्न करनेवाले किसी रमणीक स्थानमें जाकर पर्यंकासनसे ध्यान लगाके पालथी लगाकर दोनों हाथोंको खिले हुए कमलके समान करके अपनी गोदमें रखे। दोनों नेत्रोंको निश्चल, सौम्य और प्रसन्न बनाकर नाकके अग्र भागमें ठहरावे। भौंहें विकाररहित हों और दोनों होठ न तो बहुत खुले हों और न बहुत मिले हों। शरीर सीधा और लम्बा हो मानो दीवारपर कोई चित्राम बना है। ध्यानकी सिद्धि और मनकी एकाग्रताके लिए प्राणायाम भी आवश्यक माना जाता है। प्राणायाम वायुकी साधनाको कहते हैं। शरीरमें जो वायु होती है वह मुख नाक वगैरहके द्वारा आती जाती है। इसके कारण भी मन चंचल रहता है। जब वह वशमें हो जाती है तब मन भी वशमें हो जाता है। किन्तु जैनशास्त्रोंमें प्राणायामको चित्तशुद्धिका प्रबल साधन नहीं माना गया है; क्योंकि उसको हठपूर्वक करनेसे मन स्थिर होनेके बदले व्याकुल हो उठता है। अतः मोक्षार्थीके लिए प्राणायाम उपयुक्त नहीं है। किन्तु ध्यानके समय श्वासोच्छ्वासका मन्द होना आवश्यक है, जिससे उसके कारण ध्यानमें विघ्न न पड़ सके। अतः ध्यान करनेके लिए इन्द्रियों

चित्तेऽनन्तप्रभावेऽस्मिन्प्रकृत्या [1]रसवच्चले।
तत्तेजसि [2] स्थिरे सिद्धे न किं सिद्धं जगत्त्रये ॥६२४॥

को वशमें करके और राग-द्वेषको दूर करके अपने मनको ध्यानके दस स्थानोंमेंसे किसी एक स्थान पर लगाना चाहिए। नेत्र, कान, नाकका अग्र भाग, सिर, मुख, नाभि, मस्तक, हृदय, तालु और दोनों भौंहोंका बीच—ये दस स्थान मनको स्थिर करनेके योग्य हैं। इनमें-से किसी एक स्थान पर मनको स्थिर करके ध्येयका चिन्तन करनेसे ध्यान स्थिर होता है। ध्यान करनेसे पहले ध्यानी को यह विचारना चाहिए कि देखो, कितने खेदकी बात है कि मैं अनन्त गुणोंका भण्डार होते हुए भी संसाररूपी वनमें कर्मरूपी शत्रुओंसे ठगाया गया। यह सब मेरा ही दोष है। मैंने ही तो इन शत्रुओंको पाल रखा है। यदि मैं रागादिक बन्धनोंमें बँधकर विपरीत आचरण न करता तो कर्मरूपी शत्रु प्रबल ही क्यों होते? ख़ैर, अब मेरा रागरूपी ज्वर उतर चला है और मैं मोह नींदसे जाग गया हूँ। अतः अब ध्यानरूपी तलवारकी धारसे कर्म-शत्रुओंको मारे डालता हूँ। यदि मैं अज्ञानको दूर करके अपनी आत्माका दर्शन करूँ तो कर्म-शत्रुओंको क्षणभरमें जलाकर राख कर दूँ तथा प्रबल ध्यानरूपी कुठारसे पापरूपी वृक्षोंको जड़मूलसे ऐसा काटूँ कि फिर इनमें फल ही न आ सके। किन्तु मैं मोहसे ऐसा अन्धा बना रहा कि मैंने अपनेको नहीं पहचाना। मेरा आत्मा परमात्मा है परंज्योतिरूप है, जगत्में सबसे महान् है। मुझमें और परमात्मामें केवल इतना ही अन्तर है कि परमात्मामें अनन्तचतुष्टयरूप गुण व्यक्त हो चुके हैं और मेरेमें वे गुण शक्तिरूपसे विद्यमान हैं। अतः मैं उस परमात्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिए अपनी आत्माको जानना चाहता हूँ। न मैं नारकी हूँ, न तिर्यञ्च हूँ, न मनुष्य हूँ, और न देव हूँ। ये सब कर्मजन्य अवस्थाएँ हैं। मैं तो सिद्धस्वरूप हूँ। अतः अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्तवीर्यका स्वामी होनेपर भी क्या मैं कर्मरूपी विषवृक्षोंको उखाड़ कर नहीं फेंक सकता? आज मैं अपनी शक्तिको पहचान गया हूँ और अब बाह्य पदार्थोंकी चाहको दूर करके आनन्दमन्दिरमें प्रवेश करता हूँ। फिर मैं कभी भी अपने स्वरूपसे नहीं डिगूँगा। ऐसा विचारकर दृढ़ निश्चयपूर्वक ध्यान करना चाहिए। जिसका ध्यान किया जाता है उसे ध्येय कहते हैं। ध्येय दो प्रकारके होते हैं—चेतन और अचेतन। चेतन तो जीव है और अचेतन शेष पाँच द्रव्य हैं। चेतन ध्येय भी दो हैं—एक तो देहसहित अरिहन्त भगवान् हैं और दूसरे देहरहित सिद्ध भगवान् हैं। धर्मध्यानमें इन्हीं जीवाजीवादिक द्रव्योंका ध्यान किया जाता है। जो मोक्षार्थी हैं वे तो और सब कुछ छोड़कर परमात्माका ही ध्यान करते हैं। वे उसमें अपना मन लगाकर उसके गुणोंको चिन्तन करते-करते अपनेको उसमें एक रूप करके तल्लीन हो जाते हैं। 'यह परमात्माका स्वरूप ग्रहण करनेके योग्य है और मैं इसका ग्रहण करनेवाला हूँ, ऐसा द्वैत भाव तब नहीं रहता। उस समय ध्यानी मुनि अन्य सब विकल्पोंको छोड़कर उस परमात्मस्वरूपमें ऐसा लीन हो जाता है कि ध्याता और ध्यानका विकल्प भी न रहकर ध्येय रूपसे एकता हो जाती है। इस प्रकारके निश्चल ध्यानको सबीज ध्यान कहते हैं। इससे ही आत्मा परमात्मा बनता है। और जब शुद्धोपयोगी होकर मुनि अपनी शुद्ध आत्माका ध्यान करता है तो उस ध्यानको निर्बीज ध्यान कहते हैं।

यह चित्त अनन्त प्रभावशाली है किन्तु स्वभावसे ही पारेकी तरह चंचल है। जैसे आक

१. पारदवत्। २. अग्नौ ज्ञाने च।

निर्मनस्के[1] मनोहंसे पुंहंसे सर्वतः स्थिरे ।
बोधहंसोऽखिलालोक्यसरोहंसः प्रजायते ॥६२५॥
यद्यप्यस्मिन्मनःक्षेत्रे क्रियां तां तां [2]समाचरन् ।
कंचिद्वेदयते[3] भावं तथाप्यत्र न विभ्रमेत्[4] ॥६२६॥
[5]विपक्षे क्लेशराशीनां यस्मान्नैष विधिर्मतः ।
तस्मान्न विस्मयेतास्मिन् परंब्रह्म समाश्रितः ॥६२७॥
प्रभावैश्वर्यविज्ञानदेवतासंगमादयः ।
योगोन्मेषाद्भवन्तोऽपि नामी तत्त्वविदां मुदे ॥६२८॥
भूमौ जन्मेति रत्नानां यथा सर्वत्र नोद्भवः ।

के द्वारा पारा सिद्ध हो जाता है उसी तरह यदि यह आत्मज्ञानमें स्थिर होकर सिद्ध हो जाये तो इसके सिद्ध होनेसे तीनों लोकोंमें ऐसी कौन-सी वस्तु है जो सिद्ध यानी प्राप्त न हो ॥६२४–६२५॥

भावार्थ—पारा स्वभावसे ही चंचल होता है, किन्तु यदि आगमें आँच देकर विधिपूर्वक उसे सिद्ध कर लिया जाये तो उसके सिद्ध होनेसे अनेक रससिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। वैसे ही चञ्चल मन यदि आत्मस्वरूपमें स्थिर हो जाये तो फिर ऐसी कौन-सी सिद्धि है जो प्राप्त नहीं हो सकती। अतः मनको स्थिर करना आवश्यक है।

यदि यह मनरूपी हंस अपना व्यापार छोड़ दे और आत्मारूपी हंस सर्वथा स्थिर हो जाये तो ज्ञानरूपी हंस इस समस्त ज्ञेयरूपी सरोवरका हंस बन जाये अर्थात् मन निश्चल होनेके साथ यदि आत्मा, आत्मामें सर्वथा स्थिर हो जाये तो विश्वको जाननेवाला केवलज्ञान प्रकट होता है ॥६२५॥

यद्यपि इस मनरूपी क्षेत्रमें अनेक क्रियाओंको करता हुआ मुनि किसी पदार्थको जान लेता है, फिर भी उसमें धोखा नहीं खाना चाहिए। क्योंकि विपक्षमें नाना क्लेशोंके रहते हुए ऐसा करना उचित नहीं है। अतः परब्रह्म परमात्मस्वरूपका आश्रय लेनेवालेको इस विषयमें अचरज नहीं करना चाहिए ॥६२६–६२७॥

भावार्थ—आशय यह है कि मनोनिग्रह करनेसे यदि कोई छोटी-मोटी ऋद्धि या ज्ञान प्राप्त हो जाये तो मोक्षार्थी ध्यानीको उसीमें नहीं रम जाना चाहिए क्योंकि उसका उद्देश्य इससे बहुत ऊँचा है। वह तो संसारके दुःखोंका समूल नाश करके परमात्मपदकी प्राप्तिके लिए योगी बना है, अतः उसे प्राप्त किये बिना उसे विश्राम नहीं लेना चाहिए और मामूली लौकिक ऋद्धि-सिद्धिके चक्करमें नहीं पड़ जाना चाहिए। क्योंकि उसके प्राप्त हो जानेपर भी अनन्त क्लेश राशिसे छुटकारा नहीं हो सकता। यही आगे स्पष्ट करते हैं—

ध्यानका प्रादुर्भाव होनेसे प्रभाव, ऐश्वर्य, विशिष्ट ज्ञान और देवताका दर्शन आदिकी प्राप्ति होनेपर भी तत्त्वज्ञानी इनसे प्रसन्न नहीं होते ॥६२८॥

ध्यानकी दुर्लभता

जैसे भूमिसे रत्नोंकी उत्पत्ति होनेपर भी सब जगह रत्न पैदा नहीं होता, वैसे ही

---

१ मनोव्यापाररहिते । 'निर्व्यापारे मनोहंसे पुंहंसे सर्वथा स्थिरे । बोधहंसः प्रवर्तेत विश्वत्रयसरोवरे ॥१८६॥'–प्रबोधसार । २. मुनिः । ३. जानाति । ४. हेयमुपादेयतया उपादेयं हेयतया न पश्येत् । ५. 'मोहादि शत्रुसैन्यानां यस्मान्नैव विधिर्मतः । तस्मान्न विस्मयेतास्मिन् परं ब्रह्मसमाश्रितः ॥ १८७ ॥'–प्रबोधसार ।

तथात्मजमिति ध्यानं सर्वत्राङ्गिनि नोद्भवेत् ॥६२९॥
तस्य कालं वदन्त्यन्तर्मुहूर्तं मुनयः परम् ।
अपरस्पन्दमानं हि तत्परं[1] दुर्धरं मनः ॥६३०॥

तत्कालमपि तद्ध्यानं स्फुरदेकाग्रमात्मनि ।
उच्चैः कर्मोच्चयं भिन्द्याद्वज्रं शैलमिव क्षणात् ॥६३१॥

[2]कल्पैरप्यम्बुधिः शक्यश्चुलुकैर्नोच्चुलुम्पितुम् ।
[3]कल्पान्तभूः पुनर्वातस्तं[4] मुहुः शोषमानयेत् ॥६३२॥

[5]रूपे मरुति[6] चित्ते च [7]तथान्यत्र यथा विशन् ।
लभेत कामितं तद्वदात्मना परमात्मनि ॥६३३॥

[8]वैराग्यं [9]ज्ञानसंपत्तिरसङ्गः[10] स्थिरचित्तता ।
[11]ऊर्मिस्मयसहत्वं च पञ्च योगस्य हेतवः ॥६३४॥
[12]आधिव्या[13]धिविप[14]र्यासप्रमादा[15]लस्य[16]विभ्रमाः[17] ।

ध्यानके आत्मासे जन्य होनेपर भी सभी प्राणियोंकी आत्माओंमें ध्यान उत्पन्न नहीं होता। अर्थात् जैसे रत्न विशिष्ट भूमिमें ही उपजते हैं वैसे ही किन्हीं विशिष्ट आत्माओंमें ही ध्यान करनेकी शक्ति प्रकट होती है। हरेक ध्यान नहीं कर सकता ॥६२९॥ मुनिजन उस ध्यानका काल अन्तर्मुहूर्त बतलाते हैं उतने काल तक मन निश्चल रहता है इससे अधिक समय तक मनको स्थिर रखना अत्यन्त कठिन है ॥६३०॥ किन्तु आत्मामें इतने समयके लिए भी होनेवाला निश्चल ध्यान महान् कर्मसमूहका उसी प्रकार भेदन करता है जैसे वज्र क्षण भरमें पहाड़को चूर्ण कर डालता है ॥६३१॥ ठीक ही है सैकड़ों कल्पकालों तक चुल्लुओंके द्वारा समुद्रके जलको सींचनेपर भी समुद्र खाली नहीं होता किन्तु प्रलयकालीन वायु उसे शीघ्र ही सुखा डालती है ॥६३२॥

जैसे किसी मूर्तिमें या देवतामें या चित्तमें या अन्य किसी बाह्य वस्तुमें मनको लगानेसे इष्ट वस्तुकी प्राप्ति होती है वैसे ही आत्माके द्वारा परमात्मामें मनको लगानेसे परमात्मपदकी प्राप्ति होती है ॥६३३॥

वैराग्य, ज्ञान सम्पदा, निष्परिग्रहता, चित्तकी स्थिरता तथा भूख-प्यास, शोक-मोह, जन्म-मृत्युको तथा मदको सहन करना ये पाँच बातें ध्यानमें कारण हैं ॥६३४॥ मानसिक पीड़ा, शारीरिक रोग अतत्त्वको तत्त्व मानना, तत्त्वको समझनेमें अनादर करना, तत्त्वको प्राप्त करके भी उसपर

---

१. अन्तर्मुहूर्तकालात्परम् । २. युगान्तरैः । ३. प्रलयकालोत्पन्न । ४. समुद्रम् । ५. कामतत्त्वादौ । ६. परकायप्रवेशादौ । ७. अन्यत्र बाह्ये वस्तुनि यथा वाञ्छितं भवति । ८. विषये वैतृष्ण्यम् । ९. ज्ञानं बन्धमोक्षोपायविवेकः । १०. बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहत्यागः । ११. 'शोकमोहौ जरामृत्यू क्षुत्पिपासे षडूर्मयः ।'–श्री भागवतटीका । तपस्वाध्यायध्यानकर्मणि मनसोऽविचलितत्वम् । शारीरमानसागन्तुकपरीषहोद्रेकविजयित्वम् । 'निर्वेदोदयसम्पत्तिः स्वान्तस्थैर्यं रहःस्थितिः । विविधोर्मिसहत्वं तु साधूनां ध्यानहेतवः ॥१९१॥' –प्रबोधसार । 'संगत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणम् । मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मने ॥ ७५ ॥' –तत्त्वानुशासन । १२. दौर्मनस्यम् । १३. दोषवैषम्यम् । १४. अतत्त्वे तत्त्वाभिनिवेशो विपर्यासः । १५. तत्त्वावगमानादरः प्रमादः । १६. लब्धस्यापि तत्त्वस्याननुष्ठानमालस्यम् । १७. तत्त्वातत्त्वयोः समा बुद्धिर्विभ्रमः ।

[1]अलाभः [2]सङ्गितास्थैर्यमेते[3] [4]तस्यान्तरायकाः ॥६३५॥
यः कण्टकैस्तुदत्यङ्गं यश्च लिम्पति चन्दनैः ।
रोषतोषाविषिक्[4]तात्मा तयोरासीत लोष्ठवत् ॥६३६॥

आचरण न करना, तत्त्व और अतत्त्वको समान मानना, अज्ञानवश तत्त्वकी प्राप्ति न होना, योगके कारणोंमें मनको न लगाना, ये सब ध्यानके अन्तराय हैं ॥६३५॥

भावार्थ—ध्यान मनकी एकाग्रताके होनेसे होता है। और मन एकाग्र तभी हो सकता है या अपनी ओर तभी लग सकता है जब संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्ति हो, स्व और परके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो, पासमें थोड़ा-सा भी परिग्रह न हो, अन्यथा परिग्रहमें फँसे रहनेसे मन आत्मोन्मुख नहीं हो सकता, और चित्त भी स्थिर नहीं रह सकता। तथा भूख-प्यास वगैरहका कष्ट सहन करनेकी भी क्षमता होना जरूरी है, नहीं तो थोड़ा-सा भी कष्ट होनेसे मनके अस्थिर हो उठनेपर ध्यान कैसे हो सकता है ? इसी तरह यदि मनमें अहङ्कार उत्पन्न हो गया तब भी मन आत्मोन्मुख नहीं हो सकता। इसलिए ऊपर ध्यानके लिए पाँच बातें आवश्यक बतलाई हैं। और कुछ बातें ध्यानकी बाधक बतलायी हैं। यदि मनमें या शरीरमें कोई पीड़ा हुई तो ध्यान करना कठिन होता है इसी तरह प्रमादी और आलसी मनुष्य भी ध्यान नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसे मनुष्य प्रायः आरामतलब होते हैं और आरामतलब आदमी शरीरको कष्ट नहीं दे सकता। जो सन्देह और विपरीत ज्ञानसे ग्रस्त हैं, जिन्हें यही निश्चय नहीं है कि आत्मा परमात्मा बन सकता है या ध्यान परमात्मपदका कारण है वे योगी बनकर भी योगकी साधना नहीं कर सकते, क्योंकि उनके चित्तमें यह सन्देह बराबर काँटेकी तरह कसकता रहता है कि न जाने इससे कुछ होगा या नहीं, यह सब बेकार न हो आदि। जो किसी लौकिक वाञ्छासे ध्यान करते हैं यदि उनकी वह वाञ्छा पूरी न हुई तो उनका मन ध्यानसे विचलित हो जाता है, और जो परिग्रही और अस्थिर चित्त हैं उनका मन भी एकाग्र नहीं हो सकता। इसलिए ये सब बातें ध्यानमें विघ्न करनेवाली हैं।

जो शरीरको काँटोंसे छेदे और जो शरीरपर चन्दनका लेप करे उन मनुष्योंपर रोष और प्रसन्नता न करके ध्यानी पुरुषको लोष्ठके समान होना चाहिए। अर्थात् जैसे लोढ़ेपर इन बातोंका कोई प्रभाव नहीं होता वैसे ध्यानीपर भी इन बातोंका कोई प्रभाव नहीं होना चाहिए और उसे दोनोंमें समबुद्धि रखनी चाहिए ॥६३६॥

आगेके श्लोक ६३७-६३९ में तान्त्रिक साधनाके अंगोंका उल्लेख करते हुए ग्रन्थकारने उनका निषेध किया है। तान्त्रिकोंका कहना है कि इनके करनेसे मृत्युपर भी विजय प्राप्त हो जाती है। ग्रन्थकार इसे मूढ़बुद्धि पुरुषोंकी अपनेको और दूसरोंको ठगनेवाली नीति बतलाते हैं। इन तान्त्रिक अंगोंका विवेचन हमें ज्ञात नहीं हो सका, इस लिए हमने इन श्लोकोंका अर्थ भी लिखा नहीं है फिर भी कुछ प्रकाश डाला जाता है—

---

१. स्वपरयोरज्ञानादाभ्यन्तरतत्त्वाप्राप्तिः अलाभः। तत्त्वज्ञाने सुख-दुःखसाधनोत्कर्षामर्षाभिनिवेशः संगिता। २. योगहेतुषु मनसो'''अस्थैर्यम्। ३. योगस्य। 'स्वान्तास्थैर्यं विपर्यासं प्रमादालस्यविभ्रमाः। रौद्रार्तधियथास्थानमेते प्रत्यूहदायिनः ॥ १९२ ॥'—प्रबोधसार। ४. असंयुक्ताशयः।

ज्योतिर्बिन्दुः कलानादः कुण्डलीवायुसंचरः ।
मुद्रामण्डलध्येयानि निर्बीजीकरणादिकम् ॥६३७॥
नाभौ नेत्रे ललाटे च ब्रह्मग्रन्थौ च तालुनि ।
अग्निमध्ये रवौ[1] चन्द्रे[2] लूतातन्तौ हृदम्बुजे ॥६३८॥
मृत्युञ्जयं वदन्त्येषु[3] तत्तत्त्वं किल मुक्तये ।
अहो मूढधियामेष नयः स्वपरवञ्चनः ॥६३९॥

परमात्माको सब ज्योतियोंका ज्योतिस्वरूप जानकर उनके ज्योतिर्मय रूपकी कल्पना करके ध्यानका अभ्यास करनेकी व्यवस्था हठयोगमें है। तन्त्रमतमें शिव, शक्ति और बिन्दु ये तीन रत्न माने गये हैं। शुद्ध जगत्का उपादान बिन्दु है। बिन्दुका ही दूसरा नाम महामाया है। बिन्दु क्षुब्ध होकर जिस प्रकार एक ओर शुद्ध देह, इन्द्रिय, भोग और भुवनके रूपमें परिणत होता है उसी प्रकार यही शब्दकी भी उत्पत्ति करता है। शब्द सूक्ष्म नाद, अक्षर-बिन्दु और वर्ण भेदसे तीन प्रकारका है। निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति तथा शान्त्यतीत, ये कलाएँ बिन्दु-की ही पृथक्-पृथक् अवस्था हैं। शान्त्यतीत रूप या परबिन्दु समस्त कलाओंकी कारणावस्था या लयावस्था है। लययोगके ध्यानका नाम बिन्दुध्यान है। तान्त्रिक मतमें षट्चक्रोंका अभ्यास हुए बिना आत्मज्ञान नहीं होता। इडा और पिंगला नामक दो नाड़ियोंके मध्यमें जो सुषुम्ना नाड़ी है उसकी छह ग्रन्थियोंमें पद्मके आकारके छह चक्र संलग्न हैं। गुह्यस्थानमें, लिंगमूलमें, नाभिदेशमें, हृदयमें, कण्ठमें और दोनों भ्रूके बीचमें—इन छह स्थानोंमें छह चक्र विद्यमान हैं। ये छह चक्र सुषुम्ना नामकी छह ग्रन्थियोंके रूपमें प्रसिद्ध हैं। इन छह ग्रन्थियोंका भेदन करके जीवात्माका परमात्माके साथ संयोग किया जाता है। मनुष्य शरीरमें तीन लाख पचास हजार नाड़ियाँ हैं। उन सबमें सुषुम्ना नाड़ी प्रधान है। अन्य समस्त नाड़ियाँ इसी सुषुम्ना नाड़ीके आश्रयसे रहती हैं। इस सुषुम्ना नाड़ीके मध्यगत चित्रानाड़ीके मध्य सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर ब्रह्मरन्ध्र है। कुण्ड-लिनी शक्ति इसी ब्रह्मरन्ध्रके द्वारा मूलाधारसे सहस्रारमें गमन करती है। इसीसे इस ब्रह्म रन्ध्रको दिव्यमार्ग कहते हैं। इडा नाडी वाम भागमें स्थित होकर सुषुम्ना नाड़ीको प्रत्येक चक्रमें घेरती हुई दक्षिण नासापुटसे और पिंगला नाड़ी दक्षिण भागमें स्थित होकर सुषुम्ना नाड़ीको प्रत्येक चक्रमें परिवेष्टित करके बायें नासापुटसे आज्ञाचक्रमें मिलती है। इडा और पिंगलाके बीच-बीचमें सुषुम्ना नाड़ीके छह स्थानोंमें छह शक्तियाँ और छह पद्म निहित हैं। कुण्डलिनीने कुण्डलित होकर सुषुम्ना नाडीके समस्त अंशको घेर रखा है। तथा अपने मुखमें अपनी पूँछको डालकर साढे तीन घेरे दिये हुए स्वयंभू लिंगको वेष्ठन करके ब्रह्मद्वारका अवरोध कर सुषुम्नाके मार्गमें स्थित है। यह कुण्डलिनी सर्पका-सा आकार धारण करके जहाँ निद्रा ले रही है, उसी स्थानको मूलाधार चक्र कहते हैं। मूलाधार चक्रके ऊपर लिंगमूलमें षड्दल विशिष्ट स्वाधिष्ठान नामक चक्र है। स्वाधि-ष्ठान चक्रके ऊपर नाभिमूलमें मणिपूर नामक दशदलपद्म है। जो योगी इस चक्रमें ध्यान करते हैं

---

१. दक्षिणनाड्यां। २. वामनाड्याम्। 'अङ्गे वामविभागे चन्द्रक्षेत्रं वदन्ति तत्त्वविदः। पृष्ठौ च दक्षि-णाङ्गे रवेस्तदाहुराचार्याः ॥७०॥–ज्ञानार्णव पृ. २९७.। ३. यदा मरणवेला वर्तते तदा निर्बीजीकरणं क्रियते। तेन कर्मणा मृत्यौ वञ्चिते सति पश्चात् कदापि मरणं न स्यादित्यर्थः।

कर्माण्यपि यदीमानि साध्यान्येवंविधैर्नयैः ।
अलं तपोजपाप्तेष्टि[1]दानाध्ययनकर्मभिः ॥६४०॥
योऽविचारितरम्येषु क्षणं देहार्तिहारिषु ।
इन्द्रियार्थेषु बद्धात्मा सोऽपि योगी किलोच्यते ॥६४१॥
यस्येन्द्रियार्थतृष्णापि जर्जरीकुरुते मनः ।
[2]तन्निरोधभुवो धाम्नः स [3]ईप्सीत कथं नरः ॥६४२॥
आत्मज्ञः संचितं दोषं [4]यातनायोगकर्मभिः[5] ।
कालेन [6]क्षपयन्नेति योगी रोगी च [7]कल्पताम् ॥६४३॥
[8]लाभेऽलाभे वने वासे मित्रेऽमित्रे प्रियेऽप्रिये ।
सुखे दुःखे समानात्मा भवेत्तद्ध्यानधीः सदा ॥६४४॥
परे ब्रह्मण्यनूचानो[9] धृतिमैत्रीदयान्वितः ।
अन्यत्र[10] सूनृताद्वाक्यान्नित्यं वाचंयमी[11] भवेत् ॥६४५॥

उनकी कामनासिद्धि, दुःखनिवृत्ति और रोगशान्ति होती है, इसके द्वारा वे परदेहमें भी प्रवेश कर सकते हैं और अनायास ही कालको भी जीतनेमें समर्थ होते हैं। यह तन्त्रसाधकोंका मत है। इसी मतका निरूपण तथा निषेध ग्रन्थकारने श्लोक नम्बर ६३७-६३९ में किया है।

यदि इस प्रकारके प्रपंचोंसे ये काम हो सकते हैं तो जप-तप, देवपूजा, दान और शास्त्रपठन, आदि कर्म व्यर्थ ही हैं ॥६४०॥ कैसी विचित्र बात है कि जो बिना विचारे सुन्दर प्रतीत होनेवाले और क्षण भरके लिए शारीरिक पीड़ाको हरनेवाले इन्द्रियोंके विषयोंमें फँसा हुआ है वह भी योगी कहा जाता है ॥६४१॥ इन्द्रियोंके विषयोंकी लालसा जिसके मनको सताती रहती है वह मनुष्य इन्द्रियोंके निरोधसे प्राप्त होनेवाले मोक्ष धामकी इच्छा ही कैसे कर सकता है ॥६४२॥

भावार्थ—जो साधु संन्यासी प्राणायाम वगैरहकी साधनाके द्वारा अपने शरीरको पुष्ट बना लेते हैं और इन्द्रियोंका निग्रह न करके विषयासक्त देखे जाते हैं उन्हें भी लोग योगी मानते हैं, किन्तु वे योगी नहीं हैं। योगी वही है जो इन्द्रियासक्त नहीं है।

रोगी भी अपनेको जानता है। योगी भी अपनी आत्माको जानता है। रोगी अपने शरीर-में संचित हुए दोषको समयसे उपवास आदिके कष्ट तथा औषधादिके द्वारा क्षय कर देता है और नीरोग हो जाता है। योगी भी अपनी आत्मामें संचित हुए दोषको परीषहसहन तथा ध्यानादिक-के द्वारा समयसे क्षय कर देता है और मुक्तावस्थाको प्राप्त कर लेता है ॥६४३॥

जो ध्यान करना चाहता है उसे सदा हानि और लाभमें, वन और घरमें, मित्र और शत्रुमें, प्रिय और अप्रियमें तथा सुख और दुःखमें समभाव रखना चाहिए ॥६४४॥ तथा परम आत्मतत्त्वका पूर्णज्ञाता होनेके साथ-साथ धैर्य, मित्रता और दयासे युक्त होना चाहिए। और उसे सदा सत्य वचन ही बोलना चाहिए, अथवा मौनपूर्वक रहना चाहिए। एक पुस्तकमें 'सूत्रित'

---

१. जिनपूजा। २. इन्द्रिय। ३. कथं प्राप्तुमिच्छति। ४. तीव्रवेदना। ५. योग औषधप्रयोग; ध्यानं च। ६. क्षयं कुर्वन्। ७. नीरोगताम्। ८.'लाभा-लाभे सुखे दुःखे शत्रौ मित्रे प्रियेऽप्रिये। मानापमानयो-स्तुल्यो मृत्युजीवितयोरपि ॥२६॥–अमित० श्राव०, परि० १५.। ९. प्रियाप्रियवस्तूपनिपाते चित्तस्याविकृतिः धृतिः। सर्वसत्त्वानभिद्रोहबुद्धिः मैत्री। आत्मवत् परस्यापि हितापादनवृत्तिर्दया। १०. बिना। ११. सत्यं वदेत् अथवा मौनी स्यात्।

संयोगे विप्रलम्भे[1] च निदाने परिदेवने[2] ।
हिंसायामनृते स्तेये भोगरक्षासु तत्परे ॥६४६॥
जन्तोरनन्तसंसारभ्रमैनोरथवर्त्मनी[3] ।
[4]आर्तरौद्रे त्यजेद्ध्याने दुरन्तफलदायिनी ॥६४७॥

पाठ है उसके अनुसार ध्यानी पुरुषको शास्त्रानुकूल वचनोंके सिवा अन्यत्र अपने वचनको वशमें रखना चाहिए। अर्थात् उसे शास्त्रानुकूल वचन व्यवहार करना चाहिए ॥६४५॥

भावार्थ—प्रिय और अप्रिय वस्तुकी प्राप्ति होनेपर चित्तमें राग-द्वेषका नहीं होना धैर्य है। सब प्राणियोंमें द्वेषभावका न रखना मैत्री है। और अपनी तरह दूसरोंका भी हित करनेमें तत्पर रहना दया है। ध्यानीको सदा इन भावोंसे युक्त होना चाहिए।

आर्त और रौद्रध्यानका स्वरूप तथा उनको त्यागनेका उपदेश

संयोग, वियोग, निदान, वेदना, हिंसा, झूठ, चोरी और भोगोंकी रक्षामें तत्परतासे होनेवाले आर्त और रौद्रध्यान बुरे फलोंको देनेवाले हैं और जीवको अनन्त संसारमें भ्रमण करानेवाले पापरूपी रथके मार्ग हैं। इनको त्याग देना चाहिए ॥ ६४६–६४७ ॥

भावार्थ—पहले ध्यानके तीन भेद बतलाकर आर्तध्यान और रौद्रध्यानको अशुभ ध्यान बतला आये हैं। यहाँ उन दोनों ध्यानोंका ही स्वरूप बतलाया है। आर्तध्यान चार प्रकारका होता है—एक, अनिष्ट वस्तुका संयोग हो जानेपर उससे छुटकारा पानेके लिए जो रात-दिन अनेक प्रकारके उपायोंका चिन्तन करना है उसे अनिष्टसंयोग नामका आर्तध्यान करते हैं। जैसे किसीको कुरूपा कुलटा पत्नी मिल गयी या कर्कशा पत्नी मिल गयी तो कैसे यह मरे या कैसे इससे पिण्ड छूटे इस प्रकारका निरन्तर चिन्तन करते रहना प्रथम आर्तध्यान है। यदि किसी अप्रिय वस्तुका संयोग हो जाये तो उससे बचनेके लिए रात-दिनका कलपना छोड़कर ऐसा प्रयत्नकरना चाहिए कि वह अपने अनुकूल हो जाये। दूसरा, इष्टवस्तुका वियोग हो जानेपर उसकी प्राप्तिके लिए जो रात-दिन चिन्तन करते रहना है उसे इष्टवियोग नामका आर्तध्यान कहते हैं। तीसरा, आगामी भोगोंकी प्राप्तिके लिए सतत चिन्ता करना निदान नामका आर्तध्यान है। चौथे, शरीरमें कोई पीड़ा हो जानेपर उसके दूर करनेके लिए जो रात-दिन चिन्तन करता है उसे वेदना नामका आर्तध्यान कहते हैं। आशय यह है कि किसी भी प्रकारकी मानसिक वेदनासे पीड़ित होकर जो बुरे संकल्प-विकल्प किये जाते हैं वह सब आर्तध्यान हैं। दूसरा अशुभ ध्यान रौद्रध्यान है। इसके भी चार प्रकार हैं—पहला, दूसरोंको सतानेमें, उनकी जान लेनेमें आनन्द मानना हिंसानन्दी नामका रौद्रध्यान है। दूसरा, झूठ बोलनेमें आनन्द मानना मृषानन्दी नामका रौद्रध्यान है। तीसरा, चोरी करनेमें आनन्द अनुभव करना, चौर्यानन्दी नामका रौद्रध्यान है। चौथा, विषय-भोगकी सामग्रीका

---

१. वियोगे। २. वेदनायाम्। ३. भ्रमणे पापरथमार्गभूते। ४. 'आर्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥ ३० ॥ विपरीतं मनोज्ञस्य ॥ ३१ ॥ वेदनायाश्च ॥ ३२ ॥ निदानं च ॥ ३३ ॥ तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥ ३४ ॥ हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः ॥ ३५ ॥—तत्त्वार्थसूत्र अ. ९। ज्ञानार्णव पृ० २५६-२७१।

बोध्यागमकपाटे ते मुक्तिमार्गार्गले परे।
सोपाने श्वभ्रलोकस्य तत्त्वेक्षावृतिपक्ष्मणी ॥६४८॥
लेशतोऽपि मनो यावदेते समधितिष्ठतः।
एष जन्मतरुस्तावदुच्चैः समधिरोहति ॥६४९॥
ज्वलन्नञ्जनमाधत्ते प्रदीपो न रविः पुनः।
तथाशयविशेषेण ध्यानमारभते फलम् ॥६५०॥
[1]प्रमाणनयनिक्षेपैः सानुयोगैर्विशुद्धधीः।
मतिं तनोति तत्त्वेषु धर्मध्यानपरायणः ॥६५१॥
[2]अरहस्ये यथा लोके [3]सती काञ्चनकर्मणी[4]।
अरहस्यं[5] तथेच्छन्ति सुधियः परमागमम् ॥६५२॥
[6]यः स्खलत्यल्पबोधानां विचारेष्वपि मादृशाम्।

संचय करनेमें आनन्द मानना विषयानन्दी नामका रौद्रध्यान है। ये दोनों ही प्रकारके ध्यान नहीं करने चाहिए। क्योंकि—

ये दोनों अशुभ ध्यान ज्ञानकी प्राप्तिको रोकनेके लिए किवाड़के तुल्य हैं, मुक्तिके मार्गको बन्द करनेके लिए सांकलके तुल्य हैं, नरकलोकमें उतरनेके लिए सीढ़ीके तुल्य हैं और तत्त्वदृष्टिको ढाँकनेके लिए पलकोंके समान हैं ॥ ६४८ ॥ जब तक मनमें ये दोनों अशुभ ध्यान लेशमात्र भी रहते हैं तब तक यह जन्मरूपी वृक्ष बराबर ऊँचा होता जाता है। अर्थात् इन दोनों ध्यानोंके रहते हुए जन्म-मरणरूपी संसारचक्रका अन्त नहीं हो सकता बल्कि वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है ॥ ६४९ ॥

जैसे दीपक भी जलता है और सूर्य भी जलता है। किन्तु दीपकके जलनेसे काजल बनता है, सूर्यसे नहीं। वैसे ही ध्यान भी ध्यान करनेवालेके अच्छे या बुरे भावोंके अनुसार ही अच्छा या बुरा फल देता है ॥ ६५० ॥

धर्मध्यान

[*अब धर्मध्यानका वर्णन करते हैं—*]

जो निर्मल बुद्धि मनुष्य धर्मध्यान करता है वह प्रमाण, नय, निक्षेप और अनुयोगद्वारोंके साथ तत्त्वोंका चिन्तन करनेमें मनको लगाता है ॥ ६५१ ॥

[*धर्मध्यानके चार भेद हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय, लोक या संस्थानविचय और विपाकविचय। इनमेंसे प्रत्येकका स्वरूप बतलाते हैं—*]

आज्ञाविचयका स्वरूप

जैसे संसारमें सोनेमें दो काम खुले रूपमें होते हैं—एक, उसे कसौटीपर कसा जाता है—दूसरे, उसे छैनीसे काटकर देखा जाता है। इन दो कामोंसे सोनेकी पहचान भलीभाँति हो जाती है। वैसे ही बुद्धिमान् मनुष्य परमागमको भी गूढ़तारहित ही पसन्द करते हैं। आशय यह है कि सोने-की तरह परमागम भी ऐसा होना चाहिए जिसे सत्यकी कसौटीपर कसा जा सके। ऐसा परमागम

---

१. 'प्रमाणनयनिक्षेपैर्निर्णीतं तत्त्वमञ्जसा। स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतं चिदचिल्लक्षणं स्मरेत् ॥८॥' ज्ञानार्णव पृ० ३३८। २. अगूढे। ३. विद्यमाने भवतः। ४. सुवर्णस्य द्वे कर्मणी कषच्छेदलक्षणे। ५. प्रकटार्थम्। ६. परकीय आगमः। 'निःशेषनयनिक्षेपनिकषग्रावसन्निभम्। स्याद्वादपविनिर्घातभग्नान्यमतभूधरम् ॥ १७ ॥'—ज्ञानार्णव पृ. ३३९।

स संसारार्णवे मज्जज्जन्त्वालम्बः कथं भवेत् ॥६५३॥

(इत्याज्ञा)

अहो [1]मिथ्यातमः पुंसां युक्तिद्योतैः (ते) स्फुरत्यपि ।
यदन्धयति चेतांसि रत्नत्रयपरिग्रहे ॥६५४॥
आशास्महे तदेतेषां दिनं यत्रास्तकल्मषाः ।
इदमेते प्रपश्यन्ति तत्त्वं दुःखनिबर्हणम् ॥६५५॥

(इत्यपायः)

ही श्रेष्ठ समझा जाता है और उसमें जो कुछ कहा गया है वह ठीक माना जाता है। किन्तु जो आगम हमारे सरीखे अल्पज्ञानियोंके विचारोंकी कसौटीपर भी खरा नहीं उतरता, वह संसाररूपी समुद्रमें डूबते हुए जीवोंका सहारा कैसे हो सकता है ॥ ६५२—६५३ ॥

भावार्थ—धर्मयुक्त ध्यानको धर्मध्यान कहते हैं। उस ध्यानके कई एक बाधक कारण हैं। कभी-कभी तो ध्यानी आत्माके स्वरूपको ठीक-ठीक जानता हुआ भी मोहके उदयसे या अभ्यास न होनेसे आत्मस्वरूपमें अपनेको स्थिर नहीं कर पाता। कभी अज्ञानके वशीभूत होनेके कारण ध्यानीका मन प्रयत्न करनेपर भी अपनेमें स्थिर नहीं हो पाता। इन बाधक कारणोंको दूर करनेके लिए यह आवश्यक है कि वस्तुका यथार्थ स्वरूप जाना जाये। जिससे मोह और अज्ञानका पर्दा हटकर आत्मा परमात्म स्वरूपमें स्थिर हो सके। असलमें दृश्यवस्तुके सम्बन्धसे अदृश्य वस्तुका ध्यान करना बतलाया गया है। किन्तु परमात्मा तो अर्हन्त और सिद्ध परमेष्ठी हैं। अल्पज्ञानीके लिए वे अदृश्य हैं। अपना स्वरूप यद्यपि उनके समान बतलाया है किन्तु वह शक्तिरूप है, व्यक्तिरूप नहीं है इसलिए छद्मस्थके लिए वह भी अगोचर है। छद्मस्थ तो अपने क्षायोपशमिक ज्ञानका उपयोग कर सकता है। अतः क्षायोपशमिक ज्ञानके द्वारा सर्वज्ञ भगवान्के द्वारा प्रतिपादित परमागमसे परमात्माके स्वरूपका निश्चय करके परमात्माका ध्यान करना चाहिए। इसीसे परमात्म-पदकी प्राप्ति होती है। जिस ध्यानमें जैन सिद्धान्तमें प्रतिपादित वस्तुस्वरूपका चिन्तन सर्वज्ञ भगवानको प्रमाण मानकर—उनकी आज्ञाको ही प्रधान करके किया जाता है, उसे आज्ञाविचय धर्मध्यान कहते हैं। चूँकि छद्मस्थका क्षापोपशमिक ज्ञान सर्वज्ञप्रतिपादित वस्तुस्वरूपका निर्णय स्वयं जानकर तो कर नहीं सकता। अतः वह 'जिनेन्द्र भगवान् वीतराग हैं अतः वह अन्यथा नहीं कह सकते' यह मानकर ही परमागममें प्रतिपादित वस्तुस्वरूपका ध्यान करता है। चूँकि इस ध्यानमें आज्ञाकी प्रधानता रहती है इस लिए उसे आज्ञाविचय कहते हैं।

अपायविचयका स्वरूप

आश्चर्य है कि युक्तिरूपी प्रकाशके फैले रहते भी मिथ्यात्वरूपी अन्धकार रत्नत्रयको ग्रहण करनेमें मनुष्योंके चित्तोंको अन्धा बनाता है। हम उस दिनकी आशा करते हैं जब ये मनुष्य पापोंको दूर करके दुःखोंसे छुड़ानेवाले तत्त्वको देख सकेंगे ॥ ६५४-६५५ ॥

---

१. जात्यन्धवन्मिथ्यादृष्टयः सर्वज्ञप्रणीतमार्गाद् विमुखा मोक्षार्थिनः सम्यङ्मार्गापरिज्ञानात्सुदूरमेवापयन्तीति सन्मार्गापायचिन्तनमपायविचयः। अथवा मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेभ्यः कथं नाम इमे प्राणिनोऽपेयुरिति स्मृतिसमन्वाहारोऽपायविचयः—सर्वार्थसिद्धि ९-३६। ज्ञानार्णव ३४वाँ प्रकरण।

[1]अकृत्रिमो विचित्रात्मा मध्ये च त्रसराजिमान्।
मरुत्त्रयीवृतो लोकः प्रान्ते [2]तद्धामनिष्ठितः ॥६५६॥

(इति लोकः)

[3]रेणुवज्जन्तवस्तत्र तिर्यगूर्ध्वमधोऽपि च।

भावार्थ—प्रकाशके रहते हुए अन्धकार नहीं ठहरता किन्तु युक्तिरूपी प्रकाशके रहते हुए भी मिथ्यात्वरूपी अन्धकार ठहरा हुआ है, यह आश्चर्यकी बात है। परमागममें अनेक युक्तियों-से यह प्रमाणित किया गया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही दुःखोंसे छूटनेका मार्ग है; किन्तु मनुष्योंके चित्तमें जो मिथ्यात्वरूपी अन्धकार छाया हुआ है उसके कारण वे रत्नत्रयको स्वीकार नहीं कर पाते और इसीसे उनका दुःखोंसे छुटकारा नहीं होता। हम उस दिनकी प्रतीक्षामें हैं जब इनका यह मिथ्यात्वरूपी अन्धकार दूर होगा और वे रत्नत्रयको अंगी-कार करेंगे। इस प्रकार सन्मार्गसे भ्रष्ट हुए मनुष्योंका उद्धार करनेके बारेमें जो चिन्तन किया जाता है उसे अपायविचय धर्मध्यान कहते हैं।

लोकविचयका स्वरूप

यह लोक अकृत्रिम है—इसे किसीने बनाया नहीं है। तथा इसका स्वरूप भी विचित्र है—कोई मनुष्य दोनों पैर फैलाकर और दोनों हाथ दोनों कूल्होंपर रखकर खड़ा हो तो उसका जैसा आकार होता है वैसा ही आकार इस लोकका है। उसके बीचमें चौदह राजू लम्बी और एक राजू चौड़ी त्रसनाली है। त्रसजीव उसी त्रसनालीमें रहते हैं। यह लोक चारों ओरसे तीन वात-वलयोंसे घिरा हुआ है। उन वातवलयोंका नाम घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय है। वलय कड़ेको कहते हैं। जैसे कड़ा हाथ या पैरको चारों ओरसे घेर लेता है वैसे ही ये तीन वायु भी लोकको चारों ओरसे घेरे हुए हैं। इसलिए उन्हें वातवलय कहते हैं। तथा लोकके ऊपर उसके अग्रभागमें सिद्ध स्थान है, जहाँ मुक्त हुए जीव सदा निवास करते हैं। इस प्रकार लोकके स्वरूपका चिन्तन करनेको लोकविचय या संस्थानविचय धर्मध्यान कहते हैं ॥ ६५६ ॥

भावार्थ—लोकके स्वरूपका चिन्तन उसके आकारका चिन्तन किये बिना नहीं हो सकता, इसलिए उसे संस्थानविचयके नामसे भी पुकारा जाता है। शास्त्रान्तरोंमें यही नाम पाया जाता है। किन्तु यहाँ लोकविचय नाम दिया है, सो दोनोंमें केवल नामका अन्तर है वास्तविक अन्तर नहीं है। लोकका स्वरूप संक्षेपमें ऊपर बतलाया ही है। जो विशेषरूपसे जानना चाहें उन्हें त्रिलोकसार या त्रिलोक प्रज्ञप्तिसे जान लेना चाहिए।

विपाकविचयका स्वरूप

उस लोकके ऊपर नीचे और मध्यमें सर्वत्र अपने कर्मरूपी वायुसे प्रेरित होकर धूलिके

---

१. 'लोकसंस्थानस्वभावविचयाय स्मृतिसमन्वाहारः संस्थानविचयः। —सर्वार्थसिद्धि। ज्ञानार्णव ३६ वाँ प्रकरण। २. 'ततोऽग्रे शाश्वतं धाम जन्मजातकविच्युतम्। ज्ञानिनां यदधिष्ठानं क्षीणनिःशेषकर्मणाम् ॥१८२॥' —ज्ञानार्णव। ३. 'कर्मणां ज्ञानावरणादीनां द्रव्यक्षेत्रकालभवभावप्रत्ययफलानुभवनं प्रति प्रणिधानं विपाक-विचयः'।—सर्वार्थसि० ९,३६। ज्ञानार्णव ३५वाँ प्रकरण।

अनारतं भ्रमन्त्येते निजकर्मानिलेरिताः ॥६५७॥

(इति विपाकः)

इति चिन्तयतो धर्म्यं यतात्मेन्द्रियचेतसः ।
तमांसि [1]द्रवमायान्ति [2]द्वादशात्मोदयादिव ॥६५८॥

[3]भेदं [4]विवर्जिताभेदमभेदं[5] भेदवर्जितम्[6] ।
ध्यायन्सूक्ष्मक्रियाशुद्धो[7] निष्क्रियं[8] योगमाचरेत् ॥६५९॥

विलीनाशयसम्बन्धः शान्तमारुतसंचयः ।
देहातीतः परंधाम कैवल्यं प्रतिपद्यते ॥६६०॥

समान जीव सदा भ्रमण करते रहते हैं । इस प्रकार कर्मोंके विपाक यानी उदयका चिन्तन करनेको विपाकविचय धर्मध्यान कहते हैं ॥ ६५७ ॥

भावार्थ—जैसे वायुके झोंकेसे धूलके कण उड़ते फिरते हैं वैसे ही अपने-अपने अच्छे या बुरे कर्मोंके प्रभावसे जीव भी तीनों लोकोंमें सदा भ्रमण करते रहते हैं । अपने-अपने उपार्जन किये हुए कर्मके फलका जो उदय होता है उसे विपाक कहते हैं । वह विपाक प्रतिक्षण होता रहता है और अनेक रूप होता है । उसका विचार करना विपाकविचय धर्मध्यान कहा जाता है ।

धर्मध्यानका फल

इस प्रकार अपनी इन्द्रियोंको और चित्तको संयत करके जो धर्मध्यान करता है उसका अज्ञान ऐसा विनष्ट होता है जैसे सूर्यके उदयसे अन्धकार नष्ट होता है ॥६५८ ॥

शुक्लध्यानका स्वरूप

[धर्मध्यानके बाद शुक्लध्यान होता है । अतः शुक्लध्यानका स्वरूप बतलाते हैं—]

अभेदरहित भेद अर्थात् पृथक्त्ववितर्क और भेदरहित अभेद अर्थात् एकत्ववितर्क शुक्लध्यानको करके जीव सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक ध्यानको करता है और फिर क्रिया-निवृत्ति नामक चौथे शुक्लध्यानको करता है ॥ इसके करते ही आत्मासे समस्त कर्मोंका सम्बन्ध छूट जाता है । श्वासोच्छ्वास रुक जाता है और अशरीरी आत्मा परंधाम—मोक्षको प्राप्त करता है ॥ ६५९–६६० ॥

भावार्थ—जो ध्यान क्रियारहित इन्द्रियातीत और अन्तर्मुख होता है उसे शुक्लध्यान कहते हैं । कषायरूपी मलके क्षय होनेसे अथवा उपशम होनेसे आत्माके परिणाम निर्मल हो जाते हैं और उन परिणामोंके होते हुए ही यह ध्यान होता है, इस लिए आत्माके शुचि गुणके सम्बन्धसे इसे शुक्लध्यान कहते हैं । उसके चार भेद हैं—पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति और क्रिया निवृत्ति । इनमें-से पहलेके दो शुक्लध्यान उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणीवाले जीवोंके होते हैं और शेष दो शुक्लध्यान केवलज्ञानियोंके होते हैं । पहला शुक्ल-

---

१. विनाशम् । २. सूर्य । ३. पृथक्त्वम् । ४. एकत्वरहितम् । ५. एकत्वम् । ६. पृथक्त्वरहितम् । अनेन एकत्ववितर्कवीचाराख्यं शुक्लध्यानमुक्तम् । ७. अनेन सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिशुक्लध्यानमुक्तम् । ८. सकलयोगक्रियारहितं, अनेन समुच्छिन्नक्रियानिवर्तिध्यानमुक्तम् ।

प्रक्षीणोभयकर्माणं जन्मदोषैर्विवर्जितम् ।
लब्धात्मगुणमात्मानं मोक्षमाहुर्मनीषिणः ॥६६१॥
मार्गसूत्रमनुप्रेक्षाः [समतत्त्वं जिनेश्वरम् ।

ध्यान वितर्क वीचार और पृथक्त्वसहित होता है। इसमें पृथक-पृथक् रूपसे श्रुतज्ञान और योग बदलता रहता है। इसलिए इसे पृथक्त्ववितर्क वीचार कहते हैं। पृथक्त्व अनेकपनेको कहते हैं। वितर्क श्रुतज्ञानको कहते हैं और वीचार ध्येय, वचन और योगके संक्रमणको कहते हैं। जिस शुक्लध्यानमें ये तीनों बातें होती हैं उसे पहला शुक्लध्यान जानना चाहिए। दूसरा शुक्लध्यान वितर्कसहित वीचाररहित अतएव एकत्वविशिष्ट होता है। इस ध्यानमें ध्यानी मुनि एक द्रव्य अथवा एक पर्यायको एक योगसे चिन्तन करता है। इसमें अर्थ, वचन और योगका संक्रमण नहीं होता। इस लिए इसे एकत्व वितर्क कहते हैं। इस ध्यानसे घातिकर्म शीघ्रही नष्ट हो जाते हैं और ध्यानी मुनि सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बन जाता है। उसके बाद आयु जब अन्तर्मुहूर्त प्रमाण शेष रहती है तब तीसरा शुक्लध्यान होता है। इसे करनेके लिए पहले केवली बादर काययोगमें स्थिर होकर बादर वचनयोग और बादर मनोयोगको सूक्ष्म करते हैं। फिर काययोगको छोड़कर वचनयोग और मनोयोगमें स्थिति करके बादर काययोगको सूक्ष्म करते हैं। पश्चात् सूक्ष्म काययोगमें स्थिति करके वचनयोग और मनोयोगका निग्रह करते हैं। तब सूक्ष्मक्रिय नामक ध्यानको करते हैं। इसके बाद अयोगकेवली गुणस्थानमें योगका अभाव हो जानेसे आस्रवका निरोध हो जाता है। उस समय वे अयोगी भगवान् समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यानको ध्याते हैं। इस ध्यानमें श्वासोच्छ्वासका संचार और समस्तयोग तथा आत्माके प्रदेशोंका हलन-चलन आदि क्रियाएँ नष्ट हो जाती हैं। इसलिए इसे समुच्छिन्नक्रिय या क्रियानिवृत्ति शुक्लध्यान कहते हैं। इसके प्रकट होनेपर अयोगकेवली गुणस्थानके उपान्त्य समयमें कर्मोंकी ७२ प्रकृतियाँ नष्ट हो जाती हैं। अन्त समयमें बाकी बची १३ प्रकृतियाँ भी नष्ट हो जाती हैं और योगी सिद्धपरमेष्ठी बन जाता है।

मोक्षका स्वरूप

[शुक्लध्यानसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, अतः मोक्षका स्वरूप बतलाते हैं—]

जिसके द्रव्यकर्म और भावकर्म नष्ट हो गये हैं, अतएव जो जन्म, जरा, मृत्यु आदि दोषोंसे रहित है तथा अपने गुणोंको प्राप्त कर चुका है उस आत्माको बुद्धिमान् मनुष्य मोक्ष कहते हैं।।६६१॥

भावार्थ—मोक्ष आत्माकी ही एक अवस्थाका नाम है। जो आत्मा कर्मोंके बन्धनसे छूट चुका है वही मोक्ष है। मोक्ष शब्दका अर्थ छूटना होता है। जब आत्मा कर्मोंसे छूट जाता है तो उसके सब दोष हट जाते हैं; क्योंकि वे दोष कर्मोंके कारण ही उत्पन्न होते हैं। जब कारण नहीं रहा तो कार्य भी नहीं रहा। तथा दोषोंके कारण ही आत्माके स्वाभाविक गुण मलिन पड़ जाते हैं और उनमें विकार पैदा हो जाता है। दोषोंके चले जानेसे आत्माके सब स्वाभाविक गुण चमक उठते हैं, जैसे सोनेमें-से मैलके निकल जानेपर सोना चमक उठता है। अतः कर्मोंसे मुक्त आत्माका नाम ही मोक्ष है।

किसका ध्यान करना चाहिए ?

शास्त्रद्रष्टा ध्यानी पुरुषको 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस सूत्रका बारह

ध्यायेदागमचक्षुष्मान्प्रसंख्यानपरायणः[1] ॥६६२॥
[2]जाने तत्त्वं यथैतिह्यं श्रद्दधे तदनन्यधीः[3] ।
मुञ्चेऽहं सर्वमारम्भमात्मन्यात्मानमादधे ॥६६३॥
आत्मायं बोधिसंपत्तेरात्मन्यात्मानमात्मना ।
यदा [4]सूते तदात्मानं लभते परमात्मना ॥६६४॥
ध्यातात्मा ध्येयमात्मैव ध्यानमात्मा फलं तथा ।
आत्मा रत्नत्रयात्मोक्तो यथायुक्तिपरिग्रहः ॥६६५॥
सुखामृतसुधासूतिस्तद्र[5]वेरुदयाचलः ।
परं ब्रह्माहमत्रा[6]से तमःपाशवशीकृतः ॥६६६॥
यदा चकास्ति मे चेतस्तद्ध्यानोदयगोचरम् ।
तदाहं जगतां चक्षुः स्यामादित्य इवातमाः ॥६६७॥
आदौ मध्वमधु प्रान्ते सर्वमिन्द्रियजं सुखम् ।
प्रातःस्नायिषु हेमन्ते तोयमुष्णमिवाङ्गिषु ॥६६८॥
यो दुरामयदुर्दर्शो बद्धग्रासो यमोऽङ्गिनि ।
स्वभावसुभगे तस्य स्पृहा केन निवार्यते ॥६६९॥

अनुप्रेक्षाओंका, सात तत्त्वोंका और जिनेन्द्र भगवान्‌का ध्यान करना चाहिए ॥ ६६२ ॥

ध्यानीको क्या विचार करना चाहिए

मैं आगमानुसार तत्त्वोंको जानता हूँ और एकाग्र मन होकर उनका श्रद्धान करता हूँ। तथा समस्त आरम्भको छोड़ता हूँ और अपनेमें अपनेको लगाता हूँ ॥ ६६३ ॥ जब यह ज्ञानरूप सम्पत्तिका स्वामी आत्मा आत्मासे आत्मामें आत्माको ध्यान करता है तब आत्माको परमात्मरूपसे पाता है ॥ ६६४ ॥ आत्मा ध्यान करनेवाला है, आत्मा ही ध्येय है, आत्मा ही ध्यान है और रत्नत्रयमयी आत्मा ही ध्यानका फल है। अर्थात् ध्याता ध्यान, ध्येय और उसका फल ये सब आत्मस्वरूप ही पड़ते हैं। युक्तिके अनुसार उसको ग्रहण करना चाहिए ॥ ६६५ ॥

मैं सुखरूपी अमृतके लिए चन्द्रमा हूँ। तथा सुखरूपी सूर्यके लिए उदयाचल हूँ। अर्थात् सुख आत्माकी ही वस्तु है, उसीसे वह उत्पन्न होता है। मैं परब्रह्म स्वरूप हूँ किन्तु अज्ञानान्धकाररूपी जालमें फँसकर इस शरीरमें ठहरा हुआ हूँ ॥ ६६६ ॥ जब मेरे चित्तमें उस ध्यानका उदय होगा तब मैं अन्धकाररहित सूर्यके समान संसारका द्रष्टा हो जाऊँगा ॥६६७॥

जितना भी इन्द्रियजन्य सुख है, वह प्रारम्भमें मीठा प्रतीत होता है किन्तु अन्तमें कटुक ही लगता है। जैसे जो लोग शीतऋतुमें प्रातःस्नान करते हैं उन्हें पानी उष्ण प्रतीत होता है ॥ ६६८ ॥

जो यमराज रोगसे ग्रस्त और देखनेमें असुन्दर प्राणीको खानेके लिए तैयार रहता है, स्वभावसे ही सुन्दर मनुष्यमें उसकी रुचिको कौन हटा सकता है ? अर्थात् वह सुन्दर मनुष्यको छोड़ नहीं देता है किन्तु उसे भी खा जाता है ॥ ६६९ ॥

---

१. ध्यानतत्परः । २. अहम् । ३. एकाग्रचित्तः । ४. जनयति ध्यायति वा । ५. सुखसूर्यस्य । ६. देहे तिष्ठामि ।

जन्मयौवनसंयोगसुखानि यदि देहिनाम् ।
निर्विपक्षाणि को नाम सुधीः संसारमुत्सृजेत् ॥६७०॥

अनुयाचेत नायूंषि नापि मृत्युमुपाहरेत् ।
भृतो भृत्य इवासीत कालावधिमविस्मरन् ॥६७१॥

महाभागोऽहमद्यास्मि यत्तत्त्वरुचितेजसा ।
सुविशुद्धान्तरात्मासे तमःपारे प्रतिष्ठितः ॥६७२॥

तन्नास्ति यदहं लोके सुखं दुःखं च नासवान् ।
स्वप्नेऽपि न मया प्राप्तो जैनागमसुधारसः ॥६७३॥

सम्यगेतत्सुधाम्भोधेर्बिन्दुमप्यालिहन्मुहुः ।
जन्तुर्न जातु जायेत जन्मज्वलनभाजनः ॥६७४॥

देवं देवसभासीनं पञ्चकल्याणनायकम् ।
चतुस्त्रिंशद्[1]गुणोपेतं प्रातिहार्योपशोभितम् ॥६७५॥

निरञ्जनं [2]जिनाधीशं परमं रमयाश्रितम् ।
अच्युतं च्युतदोषौघमभवं भवभृद्गुरुम् ॥६७६॥

यदि प्राणियोंके जन्म, यौवन, संयोग और सुखके विपक्षी मृत्यु, बुढ़ापा, वियोग और दुःख न होते तो कौन बुद्धिमान् संसारको छोड़ता ? ॥ ६७० ॥ अतः न तो आयुकी याचना करना चाहिए कि मैं और अधिक दिनों तक जीता रहूँ, और न मृत्युको बुलाना चाहिए कि मैं जल्दी मर जाऊँ । किन्तु अपने जीवनकी अवधिको न भूलकर वेतनपानेवाले नौकरकी तरह रहना चाहिए ॥ ६७१ ॥ आज मैं बड़ा भाग्यशाली हूँ; क्योंकि तत्त्वरुचिरूपी तेजसे मेरा अन्तरात्मा सुविशुद्ध हो गया है और मैं मिथ्यात्वरूपी अन्धकारको पार कर चुका हूँ ॥ ६७२ ॥ संसारमें ऐसा कोई सुख और दुःख नहीं है जो मैंने नहीं भोगा । किन्तु जैनागमरूपी अमृतका पान मैंने स्वप्नमें भी नहीं किया ॥ ६७३ ॥ इस अमृतके सागरकी एक बूँदको भी जो चख लेता है वह प्राणी फिर कभी भी जन्मरूपी अग्निका पात्र नहीं बनता अर्थात् जैनशास्त्रोंका थोड़ा-सा भी स्वाद जिसे लग जाता है वह उनका आलोडन करके उस शाश्वत सुखको प्राप्त कर लेता है और फिर उसे संसारमें भ्रमण करना नहीं पड़ता ।

[अब अर्हन्तदेवका ध्यान करनेकी प्रेरणा करते हैं—]

समवसरणमें विराजमान, पाँच कल्याणकोंके नायक, चौंतीस अतिशयोंसे युक्त, आठ प्राति-हार्योंसे सुशोभित, घातियाकर्मरूपी मलसे रहित, उत्कृष्ट अन्तरंग और बहिरंग लक्ष्मीसे वेष्टित, जिनश्रेष्ठ, आत्मस्वरूपसे कभी च्युत न होनेवाले, दोषसमूहसे रहित, संसारातीत किन्तु संसारी प्राणियोंके गुरु, स्वयं सबके द्वारा स्तुति करनेके योग्य किन्तु जिनके लिए कोई भी स्तुति-योग्य

---

१. 'चतुस्त्रिंशन्महाश्चर्यैः प्रातिहार्यैश्च भूषितम् । मुनितिर्यङ्नरस्वर्गिसभाभिः सन्निषेवितम् ॥१२५॥ जन्माभिषेकप्रमुखप्राप्तपूजातिशायिनम् । केवलज्ञाननिर्णीतवस्तुतत्त्वोपदेशिनम् ॥ १२६ ॥'—तत्त्वानुशासन । ज्ञानार्णव २९वाँ प्रकरण। चतुस्त्रिंशद्गुणोपेतम्—निःस्वेदत्वादयो दश सहजाः । गव्यूतिशतचतुष्टयं सुभिक्षादयो घातिक्षयजा दश, अर्धमागधीभाषादयो देवोपनीताश्चतुर्दश । २. जनाधी—अ. ज. ।

सर्वसंस्तुत्यमस्तुत्यं[1] सर्वेश्वरमनीश्वरम्[2] ।
सर्वाराध्यमनाराध्यं सर्वाश्रयमनाश्रयम् ॥६७७॥
प्रभवं सर्वविद्यानां सर्वलोकपितामहम् ।
सर्वसत्त्वहितारम्भं गतसर्वमसर्वगम्[3,4] ॥६७८॥
नम्रामरकिरीटांशुपरिवेषनभस्तले ।
भवत्पादद्वयद्योतिनखनक्षत्रमण्डलम् ॥६७९॥
स्तूयमानमनूचानैर्ब्रह्मोद्यैर्ब्रह्मकामिभिः[5,6] ।
अध्यात्मागमवेधोभिर्योगिमुख्यैर्महर्द्धिभिः[7] ॥६८०॥
नीरूपं रूपिताशेषमशब्दं शब्दनिष्ठितम्[8] ।
अस्पर्शं योगसंस्पर्शमरसं सरसागमम्[9] ॥६८१॥
गुणैः सुरभितात्मानमगन्धगुणसंगमम् ।
व्यतीतेन्द्रियसंबन्धमिन्द्रियार्थावभासकम् ॥६८२॥
भुवमानन्दसस्यानामम्भस्तृष्णानलार्चिषाम् ।
पवनं दोषरेणूनामग्निमेनोवनीरुहाम् ॥६८३॥
यजमानं[10] सदर्थानां व्योमालेपादिसंपदाम् ।
भानुं भव्यारविन्दानां चन्द्रं मोक्षामृतश्रियाम् ॥६८४॥

नहीं, स्वयं सबके स्वामी किन्तु जिनका स्वामी कोई नहीं, सबके आराध्य किन्तु जिनका कोई आराध्य नहीं, सबके आश्रय किन्तु जिनका कोई आश्रय नहीं, समस्त विद्याओंके उत्पत्तिस्थान, सब लोकोंके पितामह, सब प्राणियोंके हितू, सबके ज्ञाता, स्वशरीर प्रमाण, नमस्कार करते हुए देवोंके मुकुटोंके किरण जालरूपी आकाशमें जिनके दोनों चरणोंके प्रकाशमान नख नक्षत्रमण्डलके समान प्रतीत होते हैं, ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मको पानेके इच्छुक अध्यात्म शास्त्रके रचयिता ऋद्धिधारी ऋषिगण जिनकी स्तुति करते हैं, उन रूपरहित किन्तु सबका निरूपण करनेवाले, स्वयं शब्दरूप न होते हुए भी शब्द यानी आगमके द्वारा कहे जानेवाले, स्पर्शगुणसे रहित किन्तु ध्यानके द्वारा स्पृष्ट, रस गुणसे रहित किन्तु सरस उपदेशके दाता, गन्ध गुणसे रहित किन्तु गुणोंकी सुगन्धसे विशिष्ट, इन्द्रियोंके सम्बन्धसे रहित किन्तु इन्द्रियोंके विषयोंके प्रकाशक, आनन्दरूपी धान्यकी उत्पत्तिके लिए पृथ्वीकी तृष्णारूपी अग्निकी लपटोंको शान्त करनेके लिए पानी, दोषरूपी धूलिको हटानेके लिए वायु, पापरूपी वृक्षोंको जलानेके लिए अग्नि, आकाशकी तरह निर्लिप्त रहना आदि उत्तमोत्तम सम्पत्तियोंके दाता, भव्यरूपी कमलोंके विकासके लिए सूर्य, मोक्षरूपी अमृतके लिए चन्द्रमा, अलौकिक गुणशाली, समस्त गुणोंके भाजन, सब मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले, कामविकार-को दूर करनेवाले, नैयायिक मतमें निर्वाणका स्वरूप आकाशकी तरह माना गया है क्योंकि मुक्त अवस्थामें आत्माके विशेष गुणोंका उच्छेद हो जाता है। सांख्य मतमें निर्वाणका स्वरूप सोये हुए

---

१. न विद्यते स्तुत्यो यस्य। २. न विद्यते ईश्वरः स्वामी यस्य। ३. ज्ञातं सर्वं येन। ४. न सर्वं गच्छतीति शरीरप्रमाणमित्यर्थः। ५. श्रूयमान-अ. ज.। ६. ब्रह्मविद्भिः। ७. आगमकर्तृभिः। ८. आगमेन निष्ठा यस्य। ९. ध्यान। १०. दातारं उत्तमार्थानाम्।

अतावकगुणं[1] सर्वं त्वं सर्वगुणभाजनः ।
त्वं सृष्टिः सर्वकामानां[2] कामसृष्टिनिमीलनः[3] ॥६८५॥

खसुप्तदीपनिर्वाणेऽप्राकृते[4] वा त्वयि स्फुटम् ।
खसुप्तदीपनिर्वाणं प्राकृतं स्याज्जगत्त्रयम् ॥६८६॥

त्रयीमार्गं[6] त्रयीरूपं[7] त्रयीमुक्तं[8] [9]त्रयीपतिम् ।
त्रयीव्याप्तं[10] त्रयीतत्त्वं[11] त्रयीचूडामणिस्थितम् ॥६८७॥

जगतां कौमुदीचन्द्रं कामकल्पावनीरुहम् ।
गुणचिन्तामणिक्षेत्रं कल्याणागमनाकरम् ॥६८८॥

प्रणि[12]धानप्रदीपेषु साक्षादिव चकासतम् ।
ध्यायेज्जगत्त्रयार्चार्हमर्हन्तं सर्वतो[13]मुखम् ॥६८९॥

आहुस्तस्मात्परं ब्रह्म तस्मादैन्द्रं पदं करे ।
इमास्तस्मादयत्नाप्या[14]श्चक्राङ्का क्षितिपश्रियः ॥६९०॥

यं यमध्यात्ममार्गेषु भावमस्मयमत्सराः ।
तत्पदाय वधत्यन्तः स स तत्रैव लीयते ॥६९१॥

मनुष्यकी तरह मानागया है क्योंकि मुक्तावस्थामें ज्ञान नहीं रहता, बौद्ध मतमें दीपकके निर्वाणकी तरह आत्माका निर्वाण माना गया है किन्तु अर्हन्त भगवान्में तीनों प्रकारके निर्वाण अपने प्राकृत स्वरूपमें विद्यमान हैं। राग-द्वेष और मोहसे रहित होनेके कारण वे प्रायः आकाशकी तरह शून्य है, ध्यानमें लीन होनेके कारण सुप्त हैं और दीपकी तरह केवलज्ञानके द्वारा समस्त पदार्थोंके प्रकाशक हैं, रत्नत्रय जिनका मार्ग है, सत्ता, सुख और चैतन्यसे विशिष्ट होनेके कारण जो त्रयीरूप हैं, राग-द्वेष और मोहसे मुक्त हैं, स्वर्गलोक, मर्त्यलोक और पाताललोकके स्वामी हैं, तीनों लोकोंको जान लेनेके कारण तीनों लोकोंमें व्याप्त हैं, अथवा सदा रहनेसे तीनों कालोंमें व्याप्त हैं, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त हैं, तीनों लोकोंके शिखरपर विराजमान हैं तथा जगत्के लिए पूर्णिमासीके चन्द्रमा हैं, इच्छित वस्तुके लिए कल्पवृक्ष हैं, गुणरूपी चिन्तामणिके स्थान, कल्याणकी प्राप्तिके लिए खनि, तीनों लोकोंसे पूजनीय और ध्यानरूपी दीपकोंके प्रकाशमें साक्षात् चमकनेवाले अर्हन्त भगवान्का ध्यान करना चाहिए ॥ ६७४—६८९ ॥

उन अर्हन्तका ध्यान करनेसे परब्रह्मकी प्राप्ति होती है, उनका ध्यान करनेसे इन्द्रपद तो हाथमें ही समझना चाहिए। तथा चक्रवर्तीकी विभूति भी बिना प्रयत्नके प्राप्त हो जाती है ॥ ६९० ॥ मान और ईर्षासे रहित पुरुष अध्यात्म-मार्गमें अपने अन्तःकरणमें अर्हन्तपदकी

---

१. यत्तु वस्तु तत्सर्वं तावकगुणं त्वत्स्वरूपं न। २. वाञ्छितवस्तूनाम्। ३. संकोचनः। ४. अलौकिके। ५. खनिर्वाणं वैशेषिकाणां ज्ञानाद्यभावाभ्युपगमात्। सुप्तनिर्वाणं सांख्यानां चित्तमात्राभ्युपगमात्। दीपनिर्वाणं बौद्धानां निरन्वयविनाशाभ्युपगमात्। ६. रत्नत्रयं मार्गो यस्य। ७. रत्नत्रयरूपम्। अथवा सत्ता सुखचैतन्यरूपम्। ८. रागद्वेषमोहरहितम् अथवा जातिजरामरणमुक्तम्। ९. जगत्त्रयपतिम्। १०. कालत्रयव्याप्तम्। ११. उत्पादव्ययध्रौव्यमेवं तत्त्वं यस्य। १२. ध्यान। १३. सर्वतो सुखम्–अ. ज.। १४. प्राप्याः। "प्राहुस्तस्मात्परं ब्रह्म तस्मादैन्द्रपदोद्रयः। तस्मादपि लभ्यन्ते शर्मदाः सर्वसम्पदः ॥२०५॥"—प्रबोधसार।

अनुपायानिलोद्भ्रान्तं पुंस्तरूणां मनोदलम् ।
तद्भूमावेव भज्येत लीयमानं चिरादपि ॥६९२॥
ज्योतिरेकं परं वेषः[1] करीषाश्मसमित्समः[2] ।
तत्प्राप्त्युपायदिङ्मूढा[3] भ्रमन्ति भवकानने ॥६९३॥
परापरपरं देवमेवं चिन्तयतो यतेः ।
भवन्त्यतीन्द्रियास्ते ते भावा लोकोत्तरश्रियः ॥६९४॥
व्योम च्छायानरोत्सङ्गि[4] यथामूर्तमपि स्वयम् ।
योगयोगात्तथात्माऽयं भवेत्प्रत्यक्षवीक्षणः ॥६९५॥

प्राप्तिके लिए जो-जो भाव रखते हैं वह-वह भाव उसीमें लीन हो जाता है ॥ ६९१ ॥ पुरुषरूपी वृक्षोंका मनरूपी पत्ता मोक्षके लिए जो उपायरूप नहीं है ऐसे मिथ्यादर्शन आदि रूप वायुसे सदा चंचल बना रहता है। किन्तु अर्हन्तरूपी भूमिमें पहुँचकर वह मनरूपी पत्ता टूटकर उसीमें चिरकालके लिए लीन हो जाता है ॥ ६९२ ॥

भावार्थ—पुरुष एक वृक्ष है और मन उसका पत्ता है। जैसे वायुसे पत्ता सदा हिलता रहता है वैसे ही नाना प्रकारके संसारिक बन्धोंमें फँसे रहनेके कारण मनुष्यका मन भी सदा चंचल बना रहता है। किन्तु जब मनुष्य मोक्षके उपायमें लगकर अपने मनको स्थिर करनेका प्रयत्न करता है और अर्हन्तका ध्यान करता है तो उसका मन उसीमें लीन होकर उसे अर्हन्त बना देता है और तब मनरूपी पत्ता टूटकर गिर पड़ता है क्योंकि अर्हन्त अवस्थामें भाव मन नहीं रहता।

जैसे आग एक है किन्तु कण्डा, पत्थर और लकड़ीके रूपमें वह विभिन्न आकार धारण कर लेती है। वैसे ही आत्मा एक है किन्तु स्त्री, नपुंसक और पुरुषके वेषमें वह तीन रूप प्रतीत होती है। उस आग या आत्माकी प्राप्तिके उपायोंसे अनजान मनुष्य संसाररूपी जंगलमें भटकते फिरते हैं। आशय यह है कि जैसे कण्डेसे आगका प्रकट होना कठिन है वैसे ही स्त्री-शरीरमें आत्माका विकास होना कठिन है। जैसे पत्थरसे आग जल्दी प्रकट हो जाती है वैसे ही पुरुष-शरीरमें आत्मा-का विकास जल्द हो जाता है। और जैसे लकड़ीसे आगका प्रकट होना अतिकठिन है वसे ही नपुंसक-शरीरमें आत्माका विकास अतिकठिन है ॥६९३॥

इस प्रकार जो मुनि पर और अपरसे भी श्रेष्ठ श्री अर्हन्तदेवका ध्यान करता है उसके बड़े उच्च अलौकिक भाव होते हैं जिन्हें हम इन्द्रियोंसे नहीं जान सकते ॥ ६९४ ॥

जैसे आकाश स्वयं अमूर्तिक है फिर भी पुरुषकी छायाके संसर्गसे शून्य आकाशमें भी पुरुषका दर्शन होता है वैसे ही यद्यपि आत्मा अमूर्तिक है फिर भी ध्यानके सम्बन्धसे उसका प्रत्यक्ष दर्शन हो जाता है ॥ ६९५ ॥

---

१. पृथक् वेषः ब.। आकारः पृथक् स्त्रीपुन्नपुंसकभेदात्। २. गोमयेऽग्निः शीघ्रं प्रकटो न स्यात्तथा स्त्रीषु आत्मा पारम्पर्येण प्रकटो भवति। पाषाणेऽग्निः शीघ्रं प्रकटः स्यात्तद्वत् पुंस्यात्मा। समिधिविषये शीघ्रं न स्यात्तद्वन्नपुंसके। ३. आत्मनः अग्नेश्च। ४. कश्चित् निमित्ती पुरुषः स्वशरीरछायालोकनं करोति। छायालोकनाभ्यासवशात् आकाशे शून्येऽपि नरो दृश्यते, तथा ध्यानाभ्यासात् आत्मा दृश्यते इत्यर्थः। 'निरभ्रं गगनं देवि यदा भवति निर्मलम्। तदा छायामुखो भूत्वा निश्चलं प्रयतो धिया। स्वच्छायाकण्ठमालोक्य स्वगुरू-क्तक्रमेण वै। सम्मुखं गगनं पश्येन्निर्मेषस्तथैकधीः ॥ शुद्धस्फटिकसङ्काशः पुरुषस्तत्र दृश्यते।"—योगप्रदीपिकायां उमामहेश्वरसंवादे छायापुरुषलक्षणं नाम पञ्चमः पटलः।

न ते गुणा न तज्ज्ञानं न सा दृष्टिर्न तत्सुखम् ।
यद्योगद्योतने न स्यादात्मन्यस्ततमश्चये ॥६९६॥
देवं जगत्त्रयीनेत्रं व्यन्तराद्याश्च देवताः ।
समं पूजाविधानेषु पश्यन् दूरं[1] व्रजेदधः ॥६९७॥
ताः शासनाधिरक्षार्थं कल्पिताः परमागमे ।

भावार्थ—छायानरका दृष्टान्त ग्रन्थकारने अन्य मतकी अपेक्षासे दिया जान पड़ता है। योगप्रदीपिकाके अन्तर्गत उमामहेश्वर (शिव-पार्वती) संवादमें छायापुरुष लक्षण नामका पाँचवाँ पटल है। उसमें पार्वती शिवजीसे प्रश्न करती हैं कि भगवन्! पापी मनुष्योंके पापसे मुक्त होनेका क्या उपाय है और कैसे मनुष्य अपनी मृत्युके कालका ज्ञान कर सकता है? प्रायः मनुष्यों-की आयु अल्प होती है और योगाभ्यास तो अनेक वर्ष साध्य है, उसके करनेमें मनुष्य असमर्थ होते हैं। तब शिवजी बोले—यह बात बहुत गोपनीय है। पापी और भक्तिहीनको इसे नहीं बत-लाना चाहिए। जो भक्त और सेवक हों उन्हें ही बतलाना चाहिए। शुद्ध मनसे आकाशमें अपने छायापुरुषको देखना चाहिए। उसके देखनेसे पापराशि नष्ट हो जाती है, और छह मासतक उसे देखनेसे कालका ज्ञान भी हो जाता है। तब पार्वतीने पुनः प्रश्न किया कि मनुष्यकी छाया तो जमीनपर पड़ती है उसे आकाशमें कैसे देखा जा सकता है? और उसके देखनेसे कालका ज्ञान कैसे होता है? तब शिवजीने कहा—देवि! जब आकाश स्वच्छ हो, उसमें बादल वगैरह न हों, तब मनुष्य अपनी छायाकी ओर मुख करके निश्चल खड़ा हो और अपने गुरुके द्वारा बतलायी गयी रीतिके अनुसार अपनी छायाको देखकर एकाग्रमनसे सामने आकाशको टकटकी लगाकर देखे। तो उसे वहाँ शुद्ध स्फटिकके तुल्य पुरुष दिखलायी देगा। यदि न दिखायी दे तो पुनः वैसा ही करे। बारम्बार ऐसा करनेसे निश्चय ही उसका दर्शन होता है। इसी कथनको दृष्टान्तके रूपमें उपस्थित करते हुए ग्रन्थकारने कहा है कि जैसे योगाभ्याससे आकाशमें छायापुरुषका साक्षात्कार हो सकता है उसी तरह अभ्याससे आत्माका भी साक्षात्कार हो सकता है।

न ऐसे कोई गुण हैं, न कोई ज्ञान है, न ऐसी कोई दृष्टि है और न ऐसा कोई सुख है जो अज्ञान आदि रूप अन्धकारके समूहका नाश हो जानेपर ध्यानसे प्रकाशित आत्मामें न होता हो। अर्थात् ध्यानके द्वारा आत्मामें अज्ञानरूप अन्धकारके नष्ट हो जानेपर ज्ञानादि सभी गुण प्रकाशित हो जाते हैं॥ ६९६॥

शासन-देवताकी कल्पना

[कुछ व्यन्तरादिक देवता जिनशासनके रक्षक माने जाते हैं। कुछ लोग उनकी भी पूजा करते हैं। उसके विषयमें ग्रन्थकार बतलाते हैं—]

जो श्रावक तीनों लोकोंके द्रष्टा जिनेन्द्र देवको और व्यन्तरादिक देवताओंको पूजाविधान-में समान रूपसे मानता है अर्थात् दोनोंको समान रूपसे पूजा करता है वह नरकगामी होता है॥ ६९७॥ परमागममें जिनशासनकी रक्षाके लिए उन शासन-देवताओंकी कल्पना की गयी है

---

१. अतिशयेन अधोगामी स्यात्। तेन कारणेन अन्यदेवता जिनसदृशा न माननीयाः, किन्तु जिनाद् हीना ज्ञातव्या इत्यर्थः।

अतो यज्ञांशदानेन माननीयाः [2]सुदृष्टिभिः ॥६९८॥
तच्छासनैकभक्तीनां सुदृशां सुव्रतात्मनाम् ।
स्वयमेव प्रसीदन्ति ताः पुंसां सपुरन्दराः ॥६९९॥
[3]तद्धामबद्धकक्षाणां रत्नत्रयमहीयसाम् ।
उभे कामदुघे स्यातां द्यावाभूमी मनोरथैः ॥७००॥

अतः पूजाका एक अंश देकर सम्यग्दृष्टियोंको उनका सम्मान करना चाहिए ॥ ६९८ ॥ जो व्रती सम्यग्दृष्टि जिनशासनमें अचल भक्ति रखते हैं उनपर वे व्यन्तरादिक देवता और उनके इन्द्र स्वयं ही प्रसन्न होते हैं ॥ ६९९ ॥ जो रत्नत्रयके धारक मोक्षधामकी प्राप्तिके लिए कमर कस चुके हैं, भूमि और आकाश दोनों ही उनके मनोरथोंको पूर्ण करते हैं ॥ ७०० ॥

भावार्थ—जिनशासनकी रक्षाके लिए शासन-देवताओंकी कल्पना की गयी है और इसलिए प्रतिष्ठापाठोंमें पूजाविधानके समय उनका भी सत्कार करना बतलाया है। किन्तु कुछ नासमझ लोग उनको ही सब कुछ समझ बैठते हैं और उनकी ही आराधना करने लग जाते हैं। जैसे आजकल अनेक स्थानोंमें पद्मावती देवीकी बड़ी मान्यता देखी जाती है। उनकी मूर्तिके मुकुटपर भगवान् पार्श्वनाथकी मूर्ति विराजमान रहती है; क्योंकि उनके ही णमोकार मन्त्रके दानसे नाग-नागनी मरकर धरणेन्द्र-पद्मावती हुए थे। और जब भगवान् पार्श्वनाथके ऊपर कमठके जीव व्यन्तरने उपसर्ग किया तो दोनोंने पूर्व भवके उपकारको स्मरण करके भगवान्का उपसर्ग दूर किया था। अतः पद्मावतीकी मूर्तिके सामने भी कुछ लोग अष्ट द्रव्यसे पूजा करते हुए देखे जाते हैं। उनके आगे दीपक जलाते हैं, पद्मावती स्तोत्र पढ़ते हैं 'भुज चारसे फल चार दो पद्मावती माता'। उन नासमझ लोगोंको लक्ष्य करके ही ग्रन्थकारने बतलाया है कि जो इन देवी-देवताओंकी पूजा जिनेन्द्र भगवान्की तरह करते हैं उनका कल्याण नहीं हो सकता। यह तो वैसा ही है जैसा कोई किसी महाराजाके चपरासीकी ही महाराजाकी तरह आवभगत करने लगे। दूसरे, पद्मावती आदि देवता तो जिनशासनके भक्त हैं और जिनशासनके भक्त वे इसलिए हैं कि उसकी आराधना करनेसे ही आज उन्हें वह पद प्राप्त हुआ है। अतः जो कोई जिनशासनका भक्त संकटग्रस्त होता है, धर्म-प्रेमवश वे उसकी सहायता करते हैं। वे अपनी स्तुतिसे प्रसन्न नहीं होते किन्तु अपने आराध्यकी आराधनासे स्वयं प्रसन्न होते हैं। अतः जो व्रती सम्यग्दृष्टि हैं वे उन देवताओंकी आराधना नहीं करते। इसीलिए पं० आशाधरजीने अपने सागारधर्मामृतकी टीकामें लिखा है कि पहली प्रतिमाका धारक श्रावक आपत्ति आनेपर भी उसको दूर करनेके लिए कभी भी शासन-देवताओंकी आराधना नहीं करता, हाँ, पाक्षिक श्रावक भले ही ऐसा कर ले। अतः जो लोग केवल मोक्षकी अभिलाषा रखकर धर्माचरण करते हैं, उन्हें मोक्ष तो यथासमय प्राप्त होता ही है, किन्तु लौकिक वस्तुओंकी प्राप्ति भी

---

१. न तु जिनवत् स्नपनादिना। २. 'आपदाकुलितोऽपि दर्शनिकस्तन्निवृत्त्यर्थं शासनदेवतादीन् कदाचिदपि न भजते। पाक्षिकस्तु भजत्यपीत्येवमर्थमेकग्रहणम्'।—सागारधर्मामृत टीका अ. ३-७,८ श्लो.। 'तत्र क्षुधाद्यष्टादशदोषरहितमनन्तज्ञानाद्यनन्तगुणसहितं वीतरागसर्वज्ञदेवतास्वरूपमजानन् ख्यातिपूजालाभरूपलावण्यसौभाग्यपुत्रकलत्रराज्यादिविभूतिनिमित्तं रागद्वेषोपहतार्तरौद्रपरिणतक्षेत्रपालचण्डिकादिमिथ्यादेवानां यदाराधनं करोति जीवस्तद्देवतामूढत्वं भण्यते।'—द्रव्यसंग्रह टीका, गाथा ४१। ३. मोक्ष।

कुर्यात्तपो जपेन्मन्त्रान्नमस्येद्वाऽपि देवताः ।
सस्पृहं यदि तच्चेतो रिक्तः सोऽमुत्र चेह च ॥७०१॥
ध्यायेद्वा वाङ्मयं ज्योतिर्गुरुपञ्चकवाचकम् ।
एतद्धि सर्वविद्यानामधिष्ठानमनश्वरम् ॥७०२॥
ध्यायन् विन्यस्य देहेऽस्मिन्निदं मन्दिरमुद्रया[1] ।
सर्वनामादिवर्णार्हं[2] वर्णाद्यन्तं[3] सबीजकम्[4] ॥७०३॥
तपःश्रुतविहीनोऽपि तद्ध्यानाविद्धमानसः ।
न जातु तमसां स्रष्टा तत्तत्त्वरुचिदीप्तधीः ॥७०४॥
अधीत्य सर्वशास्त्राणि विधाय च तपः परम् ।
इमं मन्त्रं स्मरन्त्यन्ते मुनयोऽनन्यचेतसः ॥७०५॥

अनायास हो जाती है । अतः विपत्तिमें पड़कर भी रागी, द्वेषी देवताओंकी आराधना नहीं करनी चाहिए ।

निष्काम होकर धर्माचरण करना चाहिए

तप करो, मन्त्रोंका जाप करो अथवा देवोंको नमस्कार करो, किन्तु यदि चित्तमें सांसारिक वस्तुओंकी चाह है कि हमें यह मिल जाये तो वह इस लोकमें भी खाली हाथ रहता है और परलोकमें भी खाली हाथ रहता है ॥ ७०१ ॥

भावार्थ—वैसे तो इच्छा मात्र ही बुरी है क्योंकि वह मोहकी पर्याय है । किन्तु सांसारिक भोगोंकी चाह तो एकदम ही बुरी है; क्योंकि वह मनुष्यको पथभ्रष्ट कर देती है । यदि चाह पूरी न हुई तो आराधक उस मार्गको व्यर्थ समझकर छोड़ देता है और यदि पूरी हो गयी तो विषय-भोगमें मग्न होकर प्राणी स्वयं पथभ्रष्ट हो जाता है । अतः धर्म जिस चीजको त्याज्य बतलाता है धर्म करके उसीकी चाहना करना नासमझी है । फिर चाह करनेसे कोई चीज मिल ही जाये इसकी क्या गारण्टी है ? क्योंकि चाह करनेपर भी किसी वस्तुका मिलना अपने लाभान्तराय कर्मके क्षयोपशमपर निर्भर है । यदि क्षयोपशम हुआ तो बिना चाहके भी वस्तु मिल जाती है और यदि क्षयोपशम न हुआ तो लाख चाह करनेपर भी कुछ नहीं मिलता । अतः जप तप या देवपूजा निस्पृह होकर ही करना चाहिए ।

अथवा पञ्च परमेष्ठीके वाचक मंत्रका ध्यान करना चाहिए; क्योंकि यह मंत्र सब विद्याओंका अविनाशी स्थान है ॥ ७०२ ॥ जिसमें पञ्च नमस्कार मंत्रके पाँचों पदोंके प्रथम अक्षर सन्निविष्ट हैं ऐसे 'अर्हं' इस मन्त्रको इस शरीरमें स्थापित करके मन्दिर मुद्राके द्वारा ध्यान करनेवाला मनुष्य तप और श्रुतसे रहित होनेपर भी कभी अज्ञानका जनक नहीं होता; क्योंकि उसकी बुद्धि उस तत्त्वमें रुचि होनेसे सदा प्रकाशित रहती है ॥ ७०३-७०४ ॥ सब शास्त्रोंका अध्ययन करके तथा उत्कृष्ट तपस्या करके मुनिजन अन्त समय मन लगाकर इसी मन्त्रका ध्यान करते हैं:॥ ७०५ ॥

---

१. मस्तकोपरि हस्तद्वयेन शिखराकारकुड्मलः क्रियते स एव मन्दिरः । २. पञ्चपदप्रथमाक्षरेण योग्यम् । अर्हन्-शब्दस्य अर्ह इति गृह्यते । अशरीर अर, अर्य अर, अध्यापक अ, मुनि म् । पश्चात् रूपे रूपं प्रविष्टमिति वचनात् अकाररकाराश्च लुप्यन्ते । तदनन्तरं अर्ह इत्यत्र उच्चारणार्थम् अकारः क्षिप्यते । मोऽनुस्वार व्यञ्जने अर्हं इति तत्त्वं निष्पन्नम् । ३. अर्हम् । ४. साक्षरं ध्यानमिदम् । 'अकारादि हकारान्तं रेफमध्यं सबिन्दुकम् । तदेव परमं तत्त्वं यो जानाति स तत्त्ववित् ॥'—ज्ञानार्णव पृ. २९१ पर उद्धृत ।

मन्त्रोऽयं स्मृतिधाराभिर्भिश्चं यस्याभिवर्षति ।
तस्य सर्वे प्रशाम्यन्ति क्षुद्रोपद्रवपांसवः ॥७०६॥
अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितो दुःस्थितोऽपि वा ।
भवत्येतत्स्मृतिर्जन्तुरास्पदं सर्वसंपदाम् ॥७०७॥

यह मन्त्र जिसके चित्तमें स्मृतिरूपी धाराओंके द्वारा बरसता है अर्थात् जो बारम्बर अपने चित्तमें इस मन्त्रका स्मरण करता है, उसके छोटे-मोटे सब उपद्रवरूपी धूल शान्त हो जाती है ॥ ७०६ ॥ अपवित्र या पवित्र, ठीक तरहसे स्थित या दुःस्थित जो प्राणी इस मन्त्रका स्मरण करता है उसे सब सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं ॥ ७०७ ॥

भावार्थ—जपमें और ध्यानमें अन्तर है। मन्त्रका जप तो स्वाध्यायमें गर्भित है, किन्तु ध्यान उससे भिन्न है। यद्यपि जप भी ध्यानकी ओर ले जानेवाला है। मोक्षके जो कारण बतलाये गये हैं उनमें भी ध्यान ही प्रधान है। अतः शास्त्रकारोंने मुमुक्षुके लिए ध्यानाभ्यासपर विशेष जोर दिया है। मनके एकाग्र करनेका नाम ध्यान है। मनकी एकाग्रता सांसारिक इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, हिंसा, चोरी आदि कामोंमें भो देखी जाती है। ऐसी एकाग्रता दुर्ध्यान कहलाती है। अतः ध्यानके चार भेदोंमें-से आर्त और रौद्रध्यानको संसारका कारण कहा है और धर्म तथा शुक्लध्यानको मोक्षका कारण कहा है। इनमें-से शुक्लध्यान तो आज-कल होना संभव नहीं है क्योंकि शुक्लध्यान आठवें आदि गुणस्थानवर्ती मुनियोंके ही होता है और आज-कल सातवें गुणस्थानसे आगे होना संभव नहीं है क्योंकि न तो आज-कल वैसा संहनन होना संभव है और उतना ज्ञान ही होना संभव है। केवल धर्मध्यान ही आजकल हो सकता है। और उसीका विशेष वर्णन उपासकाध्ययनमें, ज्ञानार्णवमें तथा तत्त्वानुशासन आदि ग्रन्थोंमें पाया जाता है। धर्मध्यानके लिए भी अभ्यासकी आवश्यकता है।

ध्यानका स्थान बहुत शान्त और एकान्त होना चाहिए, जहाँ किसी प्रकारका विघ्न उपस्थित होनेकी आशंका न हो। ऐसे स्थानमें जमीनपर या शिला वगैरहपर सुखासनसे बैठकर या कायोत्सर्ग मुद्रामें खड़े होकर, अपनी दृष्टिको नाकके अग्रभागपर स्थित करके, और शरीरको सीधा सरल रूपसे निश्चल करके, मन्द-मन्द श्वासोच्छ्वासपूर्वक अपने मनको ध्येयमें एकाग्र करना चाहिए और अन्तरंगकी विशुद्धिके लिए स्वरूप या पररूपका चिन्तन करना चाहिए। ध्यान भी निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो प्रकारका है। स्वरूपके ध्यानको निश्चय और पररूपके ध्यानको व्यवहार कहते हैं। व्यवहार निश्चयका साधक है अतः पहले व्यवहार ध्यानका ही अभ्यास करना आवश्यक है। पहले जो आज्ञाविचय, अपायविचय, संस्थानविचय और विपाकविचय नामके धर्मध्यान बतलाये हैं उनका चिन्तन करना चाहिए। उनके सिवा भी नाम, स्थापना, द्रव्य और भावके भेदसे ध्येय (ध्यान करनेके योग्य) के चार भेद कहे हैं। अपने हृदयमें चार पांखुडीका कमल कल्पित करके और उसकी कर्णिका तथा चारों पत्रोंपर क्रमसे पंचपरमेष्ठीके वाचक अ सि आ उ सा मन्त्रका ध्यान करना या इसी प्रकारके अन्य मन्त्रोंका ध्यान करना यह नामध्येय है। जिनेन्द्र बिम्बका ध्यान करना स्थापना ध्येय है। यथार्थमें तो पाँचों परमेष्ठीका ध्यान करनेके योग्य है। अर्हन्त आदिका जैसा स्वरूप शास्त्रोंमें बतलाया है वैसा ही अपने मनमें

उक्तं लोकोत्तरं ध्यानं किञ्चिल्लौकिकमुच्यते।
प्रकीर्णकप्रपञ्चेन[1] दृष्टाऽदृष्टफलाश्रयम् ॥७०८॥
पञ्चमूर्तिमयं बीजं[2] नासिकाग्रे विचिन्तयन्।
निधाय संगमे[3] चेतो दिव्यज्ञानमवाप्नुयात् ॥७०९॥
यत्र यत्र हृषीकेऽस्मिन्निदं[4] धीताचलं मनः।
तत्र तत्र लभेतायं बाह्यग्राह्याश्रयं सुखम् ॥७१०॥
स्थूलं सूक्ष्मं द्विधा ध्यानं तत्त्वबीजसमाश्रयम्।
आद्येन लभते कामं द्वितीयेन परं पदम् ॥७११॥
[6]पद्ममुत्थापयेत्पूर्वं नाडीं संचालयेत्ततः।
मरुच्चतुष्टयं पश्चात्प्रचारयतु चेतसि ॥७१२॥

चिन्तन करना चाहिए। ऐसा करनेसे यदि मन स्थिर हो तो ध्येय अर्हन्त आदिके न होते हुए भी ध्याताको ऐसा प्रतिभास होता है मानो वह साक्षात् अर्हन्तका दर्शन कर रहा है। ऐसा करते-करते ध्याता स्वयं तद्रूप होकर एक दिन वास्तवमें अर्हन्त बन जाता है।

लौकिक ध्यानका वर्णन

अलौकिक ध्यानका वर्णन हो चुका। अब उसकी चूलिकाके रूपमें दृष्ट और अदृष्ट फलके दाता लौकिक ध्यानका कुछ वर्णन करते हैं ॥ ७०८ ॥

नाकके अग्र भागमें दृष्टिको स्थिर करके और मनको भौंहोंके बीचमें स्थापित करके जो पंचपरमेष्ठीके वाचक 'ओं' मन्त्रका ध्यान करता है वह दिव्य ज्ञानको प्राप्त करता है ॥ ७०९ ॥ जिस-जिस इन्द्रियमें यह मनको स्थिर करता है, इसे उस-उस इन्द्रियमें बाह्य पदार्थोंके आश्रयसे होनेवाला सुख प्राप्त होता है ॥७१०॥ ध्यानके दो भेद हैं—एक स्थूलध्यान, दूसरा सूक्ष्मध्यान। स्थूलध्यान किसी तत्त्वका साहाय्य लेकर होता है और सूक्ष्मध्यान बीजपदका साहाय्य लेकर होता है। स्थूलध्यानसे इच्छित वस्तुकी प्राप्ति होती है और सूक्ष्मध्यानसे उत्तम पद मोक्ष प्राप्त होता है ॥ ७११ ॥

लौकिक ध्यानकी विधि

पहले नाभिमें स्थित कमलका उत्थापन करे। फिर नाडीका संचालन करे। फिर जो पृथ्वी, अग्नि, वायु और जल ये चार वायुमण्डल स्थित हैं उनको आत्मामें प्रचारित करे ॥ ७१२ ॥

भावार्थ—योग अथवा ध्यानके आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। ध्यानकी सिद्धि और अन्तरात्माकी स्थिरताके लिए प्राणायामको भी प्रशंसनीय बतलाया है। प्राणायामके तीन भेद हैं—पूरक, कुम्भक और रेचक। नासिकाके द्वारा वायुको

---

१. चूलिकाव्याख्यया। २. ॐकारम्। ३. भ्रूमध्ये। ४. स्पर्शनादौ। ५. आरोपयेत्। ६. नाभौ स्वभावेन स्थितं कमलं चालयेत्। पश्चान्नालाकारेण नाडीं नालिकां संचालयेत्। नाड्या मरुतः हृदयं प्रति प्रापयेत्। पश्चात् मरुच्चतुष्टयं पृथ्वी-अप्-तेजो-वायुमण्डलानि नासिकामध्ये सूक्ष्मानि स्थितानि सन्ति तानि चेतसि आत्मविषये प्रचारयतु योजयतु।

दीपहस्तो यथा कश्चित्किंचिदालोक्य तं त्यजेत् ।
ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य पश्चात्तं ज्ञानमुत्सृजेत् ॥७१३॥

सर्वपापास्रवे क्षीणे ध्याने भवति भावना ।
पापोपहतबुद्धीनां ध्यानवार्ताऽपि दुर्लभा ॥७१४॥

दधिभावगतं क्षीरं न पुनः क्षीरतां व्रजेत् ।
तत्त्वज्ञानविशुद्धात्मा पुनः पापैर्न लिप्यते ॥७१५॥

मन्दं मन्दं क्षिपेद्वायुं मन्दं मन्दं विनिक्षिपेत् ।
न क्वचिद्धार्यते वायुर्न च शीघ्रं प्रमुच्यते ॥७१६॥

अन्दरकी ओर ले जाकर शरीरमें पूरनेको पूरक कहते हैं । उस पूरक वायुको स्थिर करके नाभि-कमलमें घड़ेकी तरह भरकर रोके रखनेका नाम कुम्भक है । और फिर उस वायुको यत्नपूर्वक धीरे-धीरे बाहर निकालनेको रेचक कहते हैं । इसके अभ्याससे मन स्थिर होता है । मनमें संकल्प-विकल्प नहीं उठते, और कषायोंके साथ विषयोंकी चाह भी घट जाती है । प्राणायामके अभ्यासी योगीको चार पवनमण्डलोंको भी जानना आवश्यक है । ये चारों पवनमण्डल नासिकाके छिद्रमें स्थित हैं । इनका ज्ञान सरल नहीं है । प्राणायामके महान् अभ्याससे ही इन चार पवनमण्डलोंका अनुभव हो सकता है । ये चार पवनमण्डल हैं—पार्थिव, वारुण, मारुत और आग्नेय । इनका स्वरूप ज्ञानार्णवके २९वें प्रकरणमें वर्णित है । वहाँसे जाना जा सकता है । इन पवनमण्डलोंकी साधना-के द्वारा लौकिक शुभाशुभ जाना जा सकता है । यह ऊपर कहा ही है कि लौकिक ध्यानका वर्णन करते हैं सो यह सब वशीकरण, स्तम्भन, उच्चारण आदि लौकिक क्रियाओंके लिए उपयोगी हैं ।

जैसे कोई आदमी दीपक हाथमें लेकर और उसके द्वारा आवश्यक पदार्थको देखकर उस दीपकको छोड़ देता है वैसे ही ज्ञानके द्वारा ज्ञेय पदार्थको जानकर पीछे उस ज्ञानको छोड़ देना चाहिए ॥७१३॥

समस्त पापकर्मोंका आस्रव रुक जानेपर ही मनुष्यको ध्यान करनेकी भावना होती है । जिनकी बुद्धि पापकर्ममें लिप्त है उनके लिए तो ध्यानकी चर्चा भी दुर्लभ है । अर्थात् पापी मनुष्य ध्यान करना तो दूर रहा, ध्यानका नाम भी नहीं ले पाते ॥ ७१४ ॥ तथा जैसे जो दूध दहीरूप हो जाता है वह फिर दूधरूप नहीं हो सकता, वैसे ही जिसका आत्मा तत्त्वज्ञानसे विशुद्ध हो जाता है वह फिर पापोंसे लिप्त नहीं होता ॥ ७१५ ॥

भावार्थ—आशय यह है कि पापकर्मोंको छोड़कर ही मनुष्य सम्यग् ध्यानका पात्र होता है । और ध्यानके द्वारा विशुद्ध आत्माकी प्रतीति हो जानेपर फिर वह पापपंकमें नहीं फँसता ।

ध्यान करते समय वायुको धीरे-धीरे छोड़ना चाहिए और धीरे-धीरे ग्रहण करना चाहिए । न वायुको हठपूर्वक रोकना ही चाहिए और न जल्दी निकालना ही चाहिए । अर्थात् श्वासोच्छ्वासकी गति बहुत मन्द होनी चाहिए ॥ ७१६ ॥

रूपं स्पर्शं रसं गन्धं शब्दं चैव विदूरतः ।
आसन्नमिव गृह्णन्ति विचित्रा योगिनां गतिः ॥७१७॥
दग्धे[2] बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः ॥७१८॥

योगका माहात्म्य

योगियोंकी गति बड़ी विचित्र होती है। वे दूरवर्ती रूप, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्दको ऐसे जान लेते हैं मानो वह समीप ही है ॥ ७१७ ॥

भावार्थ—योगकी शक्ति अद्भुत है। इसीसे योगियोंको अनेक प्रकारकी ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। उनका क्षयोपशम प्रबल हो जाता है और उसके कारण वे अन्य प्राणियोंकी शक्तिसे बाहरके पदार्थोंको भी जान लेते हैं। आजकल जड़ शक्तिसे प्रभावित जनसमूह आध्यात्मिक शक्तिको भुला बैठा है और वह शास्त्रोंमें वर्णित ऋद्धियोंको कपोल-कल्पना मानता है। किन्तु वह यह नहीं समझता कि जो मनुष्य जड़ शक्तिके आविष्कार और उसके नियन्त्रणमें पटु है वह स्वयं कितना शक्तिशाली है ? यदि वह अपनी उस शक्तिको केन्द्रित कर सके तो वह क्या नहीं कर सकता। योग या ध्यान आत्मिक शक्तिको केन्द्रित और विकसित करनेका साधन है। जो योगी बाह्य प्रवृत्तियोंसे प्रेरित होकर योगकी साधना करते हैं, उनमें भी अनेक चमत्कारिक बातें पायी जाती हैं। १४वीं शतीमें इब्नबतूता नामका एक विदेशी मुसलमान यात्री भारत भ्रमणके लिए आया था। उसने अपने यात्राविवरणमें अनेक भारतीय योगियोंके आखों देखे चमत्कारिक प्रयोगोंका उल्लेख किया है और लिखा है कि मैं उनके आश्चर्यजनक कामोंको देखकर भयसे मूच्छित हो गया। अतः जब बाह्य साधनासे इस प्रकारके चमत्कारिक प्रयोग सम्भव हैं तब यह मानना पड़ता है कि आध्यात्मिक साधनासे क्या नहीं किया जा सकता। अतः योगमें अद्भुत शक्ति है और वह आत्माको परमात्मा बना सकता है।

जैसे बीजके जलकर राख हो जानेपर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता वैसे ही कर्मरूपी बीजके जलकर राख हो जानेपर संसाररूपी अंकुर नहीं उगता ॥ ७१८ ॥

भावार्थ—बीजसे अंकुर पैदा होता है और वह अंकुर बढ़कर नव वृक्षका रूप लेता है तो उससे बीज पैदा होता है। इस तरह बीजसे अंकुर और अंकुरसे बीज पैदा होता चला आता है और उसकी सन्तान अनादि है। किन्तु यदि बीजको जलाकर राख कर दिया जाये तो फिर वह बीज उग नहीं सकता और इस तरह अनादिकालसे चली आयी बीज-अंकुरकी परम्परा नष्ट हो जाती है। उसी तरह कर्मसे संसार और संसारसे कर्मकी सन्तान भी अनादिकालसे चली आती है। किन्तु कर्मरूपी बीजके नष्ट हो जानेपर संसाररूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता और इस तरह कर्म और संसारकी अनादि सन्तानका मूलोच्छेद हो जाता है।

---

१. 'संस्पर्शनं संश्रवणं च दूरादास्वादनाघ्राणविलोकनानि। दिव्यान्मतिज्ञानबलाद् वहन्तः स्वस्तिक्रियासु परमर्षयो नः।'—संस्कृतदेवशास्त्रगुरुपूजा। २. उमास्वातिरचित तत्त्वार्थभाष्यके अन्तमें, तत्त्वार्थवार्तिककी अन्तिम कारिकाओंमें, जयधवलाके अन्तमें और तत्त्वार्थसार (मोक्षतत्त्व ७ श्लो.) में यह श्लोक पाया जाता है।

[1]नाभौ चेतसि नासाग्रे दृष्टौ भाले च मूर्धनि ।
विहारयेन्मनो हंसं सदा कायसरोवरे ॥७१९॥
[2]यायाद्व्योम्नि जले तिष्ठेन्निषीदेदनलार्चिषि ।
मनोम[3]रुत्प्रयोगेण शस्त्रैरपि न बाध्यते ॥७२०॥
जीवः शिवः शिवो जीवः किं भेदोऽस्त्यत्र कश्चन ।
पाशबद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्तः शिवः पुनः ॥७२१॥
साकारं नश्वरं सर्वमनाकारं न दृश्यते ।
पक्षद्वयविनिर्मुक्तं कथं ध्यायन्ति योगिनः ॥७२२॥
अत्यन्तं मलिनो देहः पुमानत्यन्तनिर्मलः ।
देहादेनं पृथक्कृत्वा तस्मान्नित्यं विचिन्तयेत् ॥७२३॥
तोयमध्ये यथा तैलं पृथग्भावेन तिष्ठति ।
तथा शरीरमध्येऽस्मिन्पुमानास्ते पृथक्तया ॥७२४॥

कायरूपी सरोवरके नाभिदेशमें, चित्तमें, नाकके अग्रभागमें, दृष्टिमें, मस्तकमें अथवा शिरोदेशमें मनरूपी हंसका विहार सदा कराना चाहिए। अर्थात् ये सब ध्यान लगानेके स्थान हैं, इनमेंसे किसी भी एक स्थानपर मनको स्थिर करके ध्यान करना चाहिए ॥ ७१९ ॥ जो मन और वायुको साध लेता है वह आकाशमें विहार कर सकता है, जलमें स्थिर रह सकता है और आगकी लपटोंमें बैठ सकता है। अधिक क्या ? शस्त्र भी उसका कुछ बिगाड़ नहीं कर सकते ॥ ७२० ॥ जीव शिव अर्थात् परमात्मा है और परमात्मा जीव है। इन दोनोंमें क्या कुछ भी भेद है ? जो कर्मरूपी बन्धनसे बँधा हुआ है वह जीव है और जो उससे मुक्त हो गया वह परमात्मा है अर्थात् आत्मा और परमात्मामें शुद्धता और अशुद्धताका अन्तर है, अन्य कुछ भी अन्तर नहीं है। शुद्ध आत्माको ही परमात्मा कहते हैं ॥ ७२१ ॥

आत्मध्यानके विषयमें प्रश्न और उत्तर

जो साकार है वह विनाशी है और जो निराकार है वह दिखायी नहीं देता। किन्तु आत्मा तो न साकार है और न निराकार है, उसका योगीजन कैसे ध्यान करते हैं ? ॥७२२॥

शरीर अत्यन्त गन्दा है किन्तु आत्मा अत्यन्त निर्मल है। अतः शरीरसे आत्माको जुदा करके सदा उसका ध्यान करना चाहिए ॥ ७२३ ॥

शरीर और आत्माकी भिन्नतामें उदाहरण

जैसे पानीके बीचमें रहकर भी तेल पानीसे जुदा रहता है, वैसे ही इस शरीरमें रहकर भी

---

१. 'नेत्रद्वन्द्वे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे, वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रूयुगान्ते । ध्यानस्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यत्र देहे, तेष्वेकस्मिन् विगतविषयं चित्तमालम्बनीयम् ॥१३॥'—ज्ञानार्णव पृ. ३०६ । 'तन्नाभौ हृदये वक्त्रे ललाटे मस्तके स्थितम् । गुरुप्रसादतो बुद्ध्वा चिन्तनीयं कुशेशयम् ॥३४॥' —अमित० श्राव.० १५ परि. । २. गच्छेत् । ३. प्राणायामादिना ।

दध्नः सर्पिरिवात्मायमुपायेन शरीरतः ।
पृथक्क्रियेत तत्त्वज्ञैश्चिरं संसर्गवानपि ॥७२५॥
पुष्पामोदौ तरुच्छाये यद्वत्सकलनिष्कले ।
तद्वत्तौ देहदेहस्थौ यद्वा लपनबिम्बवत् ॥७२६॥

आत्मा उससे अलग ही रहता है ॥ ७२४ ॥ जैसे घी और दहीका सम्बन्ध पुराना है फिर भी जानकार लोग उपायके द्वारा दहीसे घीको अलग कर लेते हैं वैसे ही इस आत्माका शरीरके साथ यद्यपि बहुत पुराना सम्बन्ध है, फिर भी तत्त्वके ज्ञाता पुरुष उपायके द्वारा आत्माको शरीरसे अलग कर लेते हैं ॥ ७२५ ॥ अथवा जैसे पुष्प साकार है किन्तु उसकी गन्ध निराकार है, या वृक्ष साकार है किन्तु उसकी छाया निराकार है अथवा मुख साकार है किन्तु उसका प्रतिविम्ब निराकार है वैसे ही शरीर और शरीरमें स्थित आत्माको जानना चाहिए ॥ ७२६ ॥

भावार्थ—प्रश्नकर्ताका कहना है कि जो साकार होता है वह विनाशी होता है जैसे घट पट वगैरह, और जो निराकार होता है वह दिखायी नहीं देता जैसे आकाश। किन्तु आत्मा न तो साकार है क्योंकि वह नित्य है और न निराकार है; क्योंकि वह प्रत्यक्ष गम्य है। ऐसी अवस्थामें योगीजन उसका ध्यान कैसे करते हैं ? इस प्रश्नका समाधान अनेक दृष्टान्तोंके द्वारा ग्रन्थकारने किया है। उनका कहना है कि संसार दशामें आत्मा शरीरके बिना नहीं रहता। किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि शरीर और आत्मा दोनों एक हैं। जैसे पानीमें पड़ा हुआ तेल पानीमें रहकर भी उससे अलग है, वैसे ही शरीरमें रहकर भी आत्मा उससे अलग है। इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि आत्मा तो शरीरसे अलग प्रतीत नहीं होता। शरीरमें कष्ट होनेपर आत्माको भी कष्टका अनुभव होता है फिर दोनोंका सम्बन्ध भी अनादि है। इस प्रश्नको मनमें रखकर ग्रन्थकारका कहना है कि देखो, दही और घीका सम्बन्ध अनादि है; फिर भी जानकार लोग दहीको मथकर उसमें-से घीको अलग कर लेते हैं। किन्तु आत्मा और शरीर तो दही और घीकी तरह एकमेक नहीं है, तब यदि तत्त्वद्रष्टा पुरुष शरीरसे आत्माको पृथक् कर लें तो इसमें कौन-सी अनोखी बात है ? इस तरह शरीरसे भिन्न आत्माको मानकर भी प्रश्नकर्ताका यह प्रश्न खड़ा ही रहता है कि जो न साकार है और न निराकार, उसका ध्यान कैसे किया जाता है। उसके समाधानके लिए ग्रन्थकारने आत्माकी साकारता अथवा निराकारताका उपपादन करनेके लिए तीन दृष्टान्त दिये हैं। पुष्प और उसकी गन्ध, वृक्ष और उसकी छाया तथा मुख और उसका प्रतिविम्ब। जैसे पुष्प, वृक्ष और मुख साकार हैं वैसे ही शरीर भी साकार है। तथा जैसे पुष्पकी गन्ध, वृक्षकी छाया और मुखका प्रतिविम्ब निराकार है वैसे ही आत्मा भी निराकार है। यदि देखा जाये तो गन्ध, छाया और प्रतिविम्ब भी साकार हैं, किन्तु पुष्प, वृक्ष और मुखकी तुलनामें तो वे निराकार ही ठहरते हैं। वैसे ही एक दृष्टिसे तो आत्मा भी साकार है, क्योंकि आत्माको शरीराकार माना गया है। किन्तु शरीरकी तुलनामें तो वह निराकार ही ठहरता है। अतः जैसे पुष्पकी गन्ध पुष्परूप होनेसे, वृक्षकी छाया वृक्षाकार होनेसे और मुखका प्रतिविम्ब मुखकी आकृतिको धारण करनेसे साकार है और स्वतः निराकार है वैसे ही आत्मा शरीर प्रमाण होनेके कारण साकार है और शरीरकी तरह उसमें अवयव

---

१. पुष्पं साकारं, परिमलो निराकारः ।

एकस्तम्भं[1] नवद्वारं[2] पञ्चपञ्चजनाश्रितम्[3] ।
अनेककक्षमेवेदं[4] शरीरं योगिनां गृहम् ॥७२७॥
ध्यानामृतान्नतृप्तस्य क्षान्तियोषिद्रतस्य[5] च ।
अत्रैव रमते चित्तं योगिनो योगवान्धवे ॥७२८॥
रज्जुभिः कृष्यमाणः स्याद्यथा पारिप्लवो[6] हयः ।
कृष्टस्तथेन्द्रियैरात्मा ध्याने लीयेत न क्षणम् ॥७२९॥
रक्षां[7] संहरणं सृष्टिं गोमुद्रा[8]मृतवर्षणम् ।
विधाय चिन्तयेदाप्तमाप्तरूपधरः स्वयम् ॥७३०॥

नहीं हैं इसलिए निराकार है । अतः साकार होते हुए भी शरीरकी तरह अवयवविशिष्ट न होनेसे वह नष्ट नहीं होता और सर्वथा निराकार न होनेसे अदृश्य भी नहीं ठहरता ।

यह शरीर ही योगियोंका घर है । यह घर एक आयुरूपी स्तम्भपर ठहरा हुआ है । इसमें नौ द्वार हैं—दोनों आँखोंके दो छिद्र, दोनों कानोंके दो छिद्र, नाकके दो छिद्र, मुखका एक छिद्र, और मल-मूत्र त्यागके दो छिद्र । पाँचों इन्द्रियरूपी मनुष्य इसमें वास करते हैं और यह अनेक कोठरियोंसे युक्त है ॥ ७२७ ॥ चूँकि यह शरीर योगका सहायक है इसलिए जो योगी ध्यानरूपी अन्न-जलसे सन्तुष्ट रहते हैं और क्षमारूपी स्त्रीमें आसक्त होते हैं उनका मन इसीमें रमता है, इससे बाहर नहीं जाता ॥ ७२८ ॥

भावार्थ—बिना शरीरकी दृढ़ताके योगाभ्यास नहीं हो सकता । इसलिए शरीर योगका मित्र है । अतः योगी पुरुष अपने मनको उससे बाहर भटकने नहीं देते, उसीके नाभि आदि प्रदेशोंमें मनको स्थिर करके ध्यानमें लीन रहते हैं; किन्तु जो शरीरके मोहमें पड़कर उसीकी पुष्टिमें आसक्त हो जाते हैं वे योगका साधन नहीं कर सकते ।

जैसे रासके खींचनेसे घोड़ा चंचल हो जाता है वैसे ही इन्द्रियोंके द्वारा आकृष्ट आत्मा क्षणभर भी ध्यानमें लीन नहीं हो सकता । अतः ध्यानी पुरुषको इन्द्रियोंको वशमें रखना चाहिए, स्वयं उनके वशमें नहीं होना चाहिए ॥ ७२९ ॥

रक्षा, संहार, सृष्टि, गोमुद्रा और अमृतवृष्टिको करके स्वयं आप्त स्वरूपधारी मनुष्यको आप्तके स्वरूपका ध्यान करना चाहिए ॥ ७३० ॥

विशेषार्थ—धर्मध्यानके संस्थानविचय नामक भेदके भी चार अवान्तर भेद हैं—पिण्डस्थ पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत । पिण्डस्थध्यानमें पाँच धारणाएँ होती हैं—पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी और तत्त्वरूपवती । पार्थिव धारणाका स्वरूप इस प्रकार है—प्रथम ही योगी निःशब्द, तरंगरहित क्षीरसमुद्रका ध्यान करता है । उसके मध्यमें एक सुनहरे रंगके सहस्रदल कमलका ध्यान करता है । फिर उस कमलके मध्यमें मेरुके समान एक कर्णिकाका ध्यान करता

---

१. आयुषा धृतम् । २. छिद्रम् । ३. पञ्चेन्द्रियाणि एव पञ्चजनाः मनुष्यास्तैराश्रितम् । ४. नाभिकमलब्रह्मरन्ध्रादिभेदेन । ५. आसक्तस्य । 'ध्यानामृतान्नतृप्तानां मैत्रीरामामुपेयुषाम् । तत्रैव रमते स्वान्तं तत्त्वविद्यारसार्थिनाम्' ॥—प्रबोधसार ॥२१९॥ ६. चञ्चलः । ७. सकलीकरणे यथापूर्वं शरीररक्षा क्रियते पश्चादग्नितत्त्वे दहनलक्षणं संहरणं चन्द्राद् वरुणमण्डलात् अमृतवर्षेण सृष्टिम् । ८. सुरभिमुद्रा ।

धूमवन्[1]निर्वमेत्पापं [2]गुरुबीजेन तादृशा ।
गृह्णीयादमृतं तेन [3]तद्वर्णेन मुहुर्मुहुः ॥७३१॥
[4]संन्यस्ताभ्यामधोङ्घ्रिभ्यामूर्वोरुपरि युक्तितः ।

है और फिर उस कर्णिकाके ऊपर स्थित सिंहासनपर अपनेको बैठा हुआ विचारता है। यह पार्थिवी धारणा है। अब आग्नेयी धारणाको कहते हैं—फिर वह योगी अपने नाभिमण्डलमें सोलह पत्रोंके एक कमलका चिन्तन करता है। फिर उन सोलह पत्रोंपर अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः। इन सोलह अक्षरोंका ध्यान करता है और कमलकी कर्णिकापर 'र्हं' का ध्यान करता है फिर 'र्हं' की रेफसे निकलती हुई धूमकी शिखाका चिन्तन करता है। फिर उसमें-से निकलते हुए स्फुलिंगोंका चिन्तन करता है। फिर उसमें-से निकलती हुई ज्वालाकी लपटोंका और उन लपटोंके द्वारा हृदयस्थित कमलको जलता हुआ चिन्तन करता है। उस कमलके जल चुकनेके पश्चात् शरीरके बाहर बड़वानलकी तरह जलती हुई अग्निका चिन्तन करता है। यह प्रज्वलित अग्नि उस नाभिस्थ कमलको और शरीरको भस्म करके जलानेके लिए कुछ शेष न रहनेसे स्वयं शान्त हो जाती है ऐसा चिन्तन करता है। अब मारुती धारणाको कहते हैं—फिर योगी आकाशको पूरकर विचरते हुए महावेगशाली और महाबलवान वायुमण्डलका चिन्तन करता है। उसके बाद ऐसा चिन्तन करता है कि उस महावायुने शरीरादिकके सब भस्मको उड़ा दिया है। आगे वारुणी धारणाको कहते हैं—फिर वह योगी बिजली गर्जन आदि सहित मेघोंके समूहसे भरे हुए आकाशका चिन्तन करता है। फिर उनको बरसते हुए चिन्तन करता है। फिर उस जलके प्रवाहसे शरीरादिकी भस्मको बहता हुआ चिन्तन करता है। अब तत्त्वरूपवती धारणाको कहते हैं—फिर वह योगी पूर्ण चन्द्रमाके समान निर्मल सर्वज्ञ आत्माका चिन्तन करता है। फिर वह ऐसा चिन्तन करता है कि वह आत्मा सिंहासनपर विराजमान है, दिव्य अतिशयोंसे सहित है और देव-दानव उसकी पूजा कर रहे हैं। फिर वह उसे आठ कर्मोंसे रहित पुरुषाकार चिन्तन करता है। यह तत्त्व-रूपवती धारणा है। इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यानका अभ्यासी योगी शीघ्र ही मोक्ष सुखको प्राप्त कर लेता है। उक्त श्लोकके द्वारा ग्रन्थकारने इन्ही धारणाओंका कथन किया है।

उस प्रकारके बीजाक्षर 'र्हं' से धूमकी तरह पापको नष्ट करना चाहिए। अर्थात् आग्नेयी धारणामें र्हं की रेफसे निकलती हुई धूमशिखाका चिन्तन करनेसे धूमकी तरह पापका क्षय होता है। तथा उस अमृत वर्ण पकारसे बारम्बार अमृतको ग्रहण करना चाहिए ॥७३१॥ [इसका भाव अस्पष्ट नहीं हो सका है।]

ध्यानके आसनोंका स्वरूप

जिसमें दोनों पैर दोनों घुटनोंसे नीचे दोनों पिण्डलियोंपर रखकर बैठा जाता है उसे पद्मा-

---

१. निर्वर्तेत् आ.। २. हुंकारेण ! ह्रंकारेण (?)। ३. अमृतवर्णेन पकारेण। ४. सक्थ्योरधःपादौ तदा पद्मासनम्। सक्थ्योरुपरि तदा वीरासनम्। घूंटा उपरि घूंटा तदा सुखासनम। 'जङ्घाया जङ्घया श्लेषो समभागे प्रकीर्तितम्। पद्मासनं सुखाधायि सुसाध्यं सकलैर्जनैः ॥ ४५ ॥ बुधैरुपर्यधोभागे जङ्घयोरुभयोरपि। समस्तयोः कृते ज्ञेयं पर्यङ्कासनमासनम् ॥४६॥ ऊर्वोरुपरि निक्षेपे पादयोर्विहिते सति। वीरासनं चिरं कर्तुं शक्यं धीरैर्न कातरैः ॥ ४७ ॥—अमित० श्रा०, ८ प०। 'पद्मासनं स्थितौ पादौ जङ्घाभ्यामुत्तराधरे। ते पर्यङ्कासनं न्यस्तावूर्वो वीरासनं क्रमौ ॥८३॥' —अनगारधर्मामृत ८ अ.।

भवेच्च समगुल्फाभ्यां पदयोस्सुखासनम् ॥७३२॥

तत्र सुखासनस्येदं लक्षणम्—

गुल्फोत्तानकराङ्गुष्ठरेखारोमालिनासिकाः ।
समदृष्टिः समाः कुर्यान्नातिस्तब्धो न वामनः ॥७३३॥
ता[1]लत्रिभागमध्याङ्घ्रिः स्थिरशीर्षशिरो[2]धरः ।
समनिष्पन्दपार्ष्ण्यग्रजानुभ्रूहस्तलोचनः ॥७३४॥
न खात्कृतिर्न [3]कण्डूतिर्नौष्ठभक्तिर्न [4]कम्पितिः ।
न पर्वगणितिः कार्या नोक्तिरन्दोलितिः स्मितिः ॥७३५॥
न कुर्याद्दूरदृक्पातं नैव [5]केकरवीक्षणम् ।
न स्पन्दं पक्ष्ममालानां तिष्ठेन्नासाग्रदर्शनः ॥७३६॥
विक्षेपाक्षेपसंमोहदुरीहारहिते हृदि ।
लब्धतत्त्वे करस्थोऽयमशेषो ध्यानजो विधिः ॥७३७॥

इत्युपासकाध्ययने ध्यानविधिर्नामैकोनचत्वारिंशः कल्पः ।

सन कहते हैं । जिसमें दोनों पैर दोनों घुटनोंके ऊपरके हिस्सेपर रखकर बैठा जाता है अर्थात् बायीं ऊरूके ऊपर बाँया पैर और दायीं ऊरूके ऊपर दाँया पैर रखा जाता है उसे वीरासन कहते हैं । और जिसमें पैरोंकी गाँठे बराबरमें रहती हैं उसे सुखासन कहते हैं ॥ ७३२ ॥

भावार्थ—उत्तर भारतमें बैठी हुई जिनविम्बोंमें जो आसन पाया जाता है वही पद्मासन है; क्योंकि उसमें दोनों पैर घुटनोंसे नीचे पिंडलियोंके ऊपर रहते हैं । यदि दोनों पैर दोनों घुटनोंसे ऊपरके भागपर रखे हों तो उसे वीरासन समझना चाहिए । वीरासनसे पद्मासन सरल है क्योंकि जांघोंके ऊपर पैर होनेसे खिंचाव कम पड़ता है । और पद्मासनसे भी सरल सुखासन है क्योंकि उसमें पैरके ऊपर पैर रहता है । इसलिए खिंचाव बिलकुल नहीं पड़ता । इसीसे इसका नाम सुखासन रखा गया है । गृहस्थोंको ध्यान करते समय इसी सुखासनसे बैठना चाहिए । इसीसे आगे सुखासनका स्वरूप बतलाते हैं ।

पैरोंकी गाठोंपर बायीं हथेलीके ऊपर दायीं हथेलीको सीधा रखे । अगूठोंकी रेखा, नाभिसे निकलकर ऊपरको जानेवाली रोमावली और नाक एक सींधमें हों । दृष्टि सम हो । शरीर न एकदम तना हुआ हो और न एकदम झुका हुआ हो । खड्गासन अवस्थामें दोनों चरणोंके बीचमें चार अंगुलका अन्तर होना चाहिए । सिर और गर्दन स्थिर हों । एड़ी, घुटने, भ्रुकुटि, हाथ और आँखें समान रूपसे निश्चल हों । न खांसे, न खुजाये । न ओठ चलाये, न काँपे, न हाथके पर्वोंपर गिनें, न बोले, न हिले-डुले, न मुसकराये, न दृष्टिको दूर तक ले जाये और न कटाक्षसे ही देखे । आँखके पलकोंको न मारे और नाकके अग्रभागमें अपनी दृष्टिको स्थिर रखे । हृदयमें चंचलता, तिरस्कार, मोह और दुर्भावनाके न होनेपर तथा तत्त्वज्ञानके होनेपर यह समस्त ध्यानकी विधि करमें स्थित अर्थात् सुलभ है ॥ ७३३—७३७ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें ध्यान विधि नामक उनतालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

---

१. वितस्तेस्तृतीयभागश्चतुरङ्गुलः । २. ग्रीवा । ३. खर्जनम् । ४. कम्पनम् । ५. कटाक्ष ।

यस्यां पदद्वयमलंकृतियुग्मयोग्यं लोकत्रयाम्बुजसरः प्रविहारहारि।
तां वाग्विलासवसतिं सलिलेन देवीं सेवे कविप्रुतरुमण्डनकल्पवल्लीम् ॥७३८॥
(इति तोयम्)

यामन्तरेण सकलार्थसमर्थनोऽपि बोधोऽवकेशितरुवन्न फलार्थिसेव्यः।
सोऽत्यल्पवेद्यपि यथानुगतस्त्रिलोक्याऽऽसेव्यः सुरद्रुरिव तं प्रयजेय गन्धैः ॥७३९॥
(इति गन्धम्)

या स्वल्पवस्तुरचनापि मितप्रवृत्तिः संस्कारतो भवति तद्विपरीतलक्ष्मीः।
स्वर्वल्लरीवनलतेव सुधानुबन्धात्तामद्भुतस्थितिमहं सदकैः श्रयामि ॥७४०॥
(इत्यक्षतम्)

[अब अष्टद्रव्यसे शास्त्रका पूजन कहते हैं—]

जिसके सुबन्त और तिङन्तरूप अथवा शब्द और धातुरूप दोनों पद (चरण) शब्दालंकार और अर्थालंकारके योग्य हैं, तथा तीनों लोकरूपी कमलसरोवरमें विचरण करनेसे मनोहर हैं उस कविरूपी कल्पवृक्षोंको शोभित करनेके लिए कल्पलताके तुल्य सरस्वती देवीको मैं जलसे पूजता हूँ ॥७३८॥

भावार्थ—जिनवाणी सरस्वती देवी है, उसके दो चरण हैं—एक शब्दरूप और एक धातुरूप, उन दोनोंके मेलसे ही तो वाणीकी रचना होती है जैसे–'मुनि जाते हैं।' यहाँ 'मुनि' शब्दरूप पद है और 'जाते हैं' धातुरूप पद हैं। ये दोनों पद दो अलंकारों (आभूषणों) से युक्त होते हैं। उनमें-से एकका नाम शब्दालंकार है और दूसरेका नाम अर्थालंकार है। तथा सरस्वती कवियोंका भूषण होती है।

जिसके बिना समस्त पदार्थोंका समर्थन करनेवाला भी ज्ञान फलहीन वृक्षकी तरह फलार्थी पुरुषोंके द्वारा सेवनीय नहीं होता, और जिसका अनुसरण करनेवाला अत्यन्त अल्पज्ञानी भी मनुष्य कल्पवृक्षकी तरह तीनों लोकोंसे पूजित होता है, उस जिनवाणीको मैं गन्धसे पूजता हूँ ॥७३९॥

भावार्थ—जिनवाणी स्व और परका ज्ञान कराकर जीवोंको हितमें लगाती है और अहितसे बचाती है। अतः हिताहितके विवेकसे रहित बहुत ज्ञान भी मोक्षाभिलाषियोंके लिए बेकार है। और हिताहितके विवेकसे युक्त अल्पज्ञान भी पूजनीय है; क्योंकि उसीके द्वारा जीव सिद्ध-बुद्ध बनकर त्रिलोकपूजित होता है।

जिस जिनवाणीके संस्कारवश अल्प अर्थवाली और अल्प शब्दवाली रचना भी महान् अर्थशाली और महाशब्दवाली हो जाती है, जैसे अमृतके सिञ्चनसे वनकी लता भी कल्पलता हो जाती है। उस अद्भुत स्थितिवाली जिनवाणीको मैं अक्षतसे पूजता हूँ ॥७४०॥

---

१ शब्दालङ्कार–अर्थालङ्कार। २. कविरेव कल्पतरुस्तस्यालङ्करणे। ३. वन्ध्यवृक्षवत्। ४. नरः। ५. वाण्या। ६. सुरद्रुम इव। ७. अल्पार्थाऽपि। ८. अल्पशब्दसहिताऽपि। ९. अभ्यासवशात्। १०. अमितावहा।

[1]यद्बीजमल्पमपि सज्जनधीधरित्र्यां लब्धप्रवृद्धिविविधप्रसवप्रबन्धैः ।
[2]सस्यैरपूर्वरसवृत्तिभिरेव रोहत्याश्चर्यगोचरविधिं[3] प्रसवैर्यजे ताम् ॥७४१॥
(इति पुष्पम्)

यास्पष्टताधिकविधिः[4] [5]परतन्त्रनीतिः प्रायः कला[6]परिणतापि मनः प्रसूते ।
स्पष्टं स्वतन्त्रमुपशान्तकलं च नृणां चित्रा हि वस्तुगतिरर्चविधैर्यजे[7] ताम् ॥७४२॥
(इति चरुम्)

एकं[8] पदं बहुपदापि ददासि तुष्टा [9]वर्णात्मिकापि च करोषि न [10]वर्णभाजम् ।
सेवे तथापि भवतीमथवा जनोऽर्थी दोषं न पश्यति तदस्तु तवैष दीपः ॥७४३॥
(इति दीपम्)

चक्षुः परं करण[11]कन्दरदूरितेऽर्थे मोहान्धकारविधुतौ परमः प्रकाशः ।
तद्धामगामिपथवीक्षणरत्नदीपस्त्वं सेव्यसे तदिह देवि जनेन धूपैः ॥७४४॥
(इति धूपम्)

जिस जिनवाणीका छोटा-सा भी बीज सज्जनकी बुद्धिरूपी भूमिमें अनेक प्रकारके असीम वृद्धिंगत प्रबन्धोंके द्वारा और अपूर्व रससे युक्त फलोंके साथ उगता है, तथा जिसकी विधि आश्चर्यका विषय है उस जिनवाणीको मैं फूलोंसे पूजता हूँ ॥७४१॥

जो शब्दरूप होनेसे नेत्रका विषय नहीं है अतएव अति अस्पष्ट है, तथा जो कण्ठ तालु आदि स्थानोंसे उत्पन्न होनेके कारण परतन्त्र है और मूर्तिसहित है—साकार है, उस वाणीको मनुष्योंका मन स्पष्ट स्वतन्त्र और शरीररहित प्रकट करता है। आशय यह है कि जिनवाणी श्रुत ज्ञानरूप है और श्रुतज्ञान अस्पष्ट होता है तथा श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमके अधीन होनेसे परतन्त्र भी होता है। किन्तु केवलज्ञान होने पर वही वाणी स्पष्ट, स्वतन्त्र और निराकार रूपमें अवतरित होती है। सच है वस्तुओंकी गति बड़ी विचित्र है उस वाणीको मैं चरुसे पूजता हूँ॥७४२॥

हे जिनवाणी माता ! आप बहुत पदवाली होनेपर भी सन्तुष्ट होनेपर एक पद देती है, वर्णात्मक होनेपर भी वर्ण प्रदान नहीं करतीं, इस तरह आप बहुत कृपण हैं, फिर भी मैं आपकी सेवा करता हूँ; क्योंकि अर्थी मनुष्य दोष नहीं देखता। यह विरोधाभास अलंकार है। इसका परिहार इस तरह है। द्वादशांग रूप जिनवाणीके पदोंकी संख्या एक सौ बारह करोड़ तेरासी लाख अट्ठावन हजार पाँच है। अतः वह बहुपदा है। और उसके द्वारा एक पद—अद्वितीय मोक्ष प्राप्त होता है। तथा वह जिनवाणी अक्षरात्मक है मगर आत्माको ब्राह्मणादि वर्गोंसे मुक्त कर देती है। अतः मैं उसे दीप अर्पित करता हूँ ॥७४३॥

हे देवि सरस्वती ! गुफाके समान इन इन्द्रियोंसे दूरवर्ती पदार्थको देखनेके लिए आप चक्षुके समान हैं, अर्थात् जो पदार्थ इन्द्रियोंके अगोचर हैं उन्हें जिनवाणीके प्रसादसे जाना जा सकता है, और मोहरूपी अन्धकारको नष्ट करनेके लिए आप परम प्रकाशके तुल्य हैं। तथा मोक्ष महलको जानेवाले मार्गको दिखानेके लिए आप रत्नमयी दीपक हैं। इसलिए लोग धूपसे आपका पूजन करते हैं ॥७४४॥

---

१. यस्याः बीजम्। २. फलैः। ३. आश्चर्येण गोचरा गम्या विधिर्यस्याः सा ताम्। ४. शब्दरूपत्वान्नेत्राणामगम्या तथापि मनः आत्मा स्पष्टं प्रसूते प्रकटीकरोति। ५. अष्टस्थानापेक्षया। ६. मूर्तिसहिताऽपि। ७. चरुप्रकारैः। ८. अद्वितीयं मोक्षम्। ९. अक्षरस्वरूपा। १०. विप्रादि। ११. करणान्येव कन्दराणि गुफाः तेषां कन्दराणां दूरे पदार्थे त्वं सरस्वती चक्षुः।

चिन्तामणित्रिदिवधेनुसुरद्रुमाद्याः पुंसां मनोरथपथप्रथितप्रभावाः ।
भावा भवन्ति नियतं तव देवि सम्यक्सेवाविधेस्त्विदमस्तु मुदे फलं ते ॥७४५॥

(इति फलम्)

कलधौतकमलमौक्तिकदुकूलमणिजालचामरप्रायैः ।
आराधयामि देवीं सरस्वतीं सकलमङ्गलैर्भावैः ॥७४६॥

स्याद्वादभूधरभवा मुनिमाननीया देवैरनन्यशरणैः समुपासनीया ।
स्वान्ताश्रिताखिलकलङ्कहरप्रवाहा वागापगास्तु मम बोधगजावगाहा ॥७४७॥

[1]मूर्धाभिषिक्तोऽभिषवाज्जिनानामर्च्योऽर्चनात्संस्तवनात् स्तवार्हः ।
[2]जपी जपाद्ध्यानविधेरबाध्यः[3] श्रुताश्रितश्रीः श्रुतसेवनाच्च ॥७४८॥

दृष्टस्त्वं जिन सेवितोऽसि नितरां [4]भावैरनन्याश्रयैः
[5]स्निग्धस्त्वं न तथापि यत्समविधि[6]र्भक्ते विरक्तेऽपि च ।
भक्त्येतः पुनरेतदीश भवति प्रेमप्रकृष्टं ततः
किं भाषे परमत्र यामि भवतो भूयात्पुनर्दर्शनम् ॥७४९॥

इत्युपासकाध्ययने श्रुताराधनविधिर्नाम चत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

हे देवि ! आपकी विधिपूर्वक सेवा करनेसे मनुष्योंके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले चिन्तामणि रत्न, कामधेनु और कल्पवृक्ष आदि पदार्थ नियमसे प्राप्त होते हैं अतः यह फल आपकी प्रसन्नताके लिए हो ॥७४५॥

मैं स्वर्णकमल, मोती, रेशमी वस्त्र, मणियोंका समूह और चमर वगैरह मांगलिक पदार्थोंसे सरस्वती देवीकी आराधना करता हूँ ॥७४६॥

स्याद्वादरूपी पर्वतसे उत्पन्न होनेवाली, मुनियोंके द्वारा आदरणीय, अन्यकी शरणमें न जानेवाले देवोंके द्वारा सम्यक् रूपसे उपासनीय और जिसका प्रवाह अन्तःकरणके समस्त दोषोंको हरनेवाला है, ऐसी वाणीरूपी नदी मेरे ज्ञानरूपी हाथीके अवगाहनके लिए हो, अर्थात् मैं ज्ञान द्वारा उस जिनवाणीका अवगाहन करूँ–उसमें डुबकी लगाऊँ ॥७४७॥

जिनभगवान्का अभिषेक करनेसे मनुष्य मस्तकाभिषेकका पात्र होता है, पूजा करनेसे पूजनीय होता है, स्तवन करनेसे स्तवनीय (स्तवन किये जानेके योग्य) होता है, जपसे जप किये जानेके योग्य होता है, ध्यान करनेसे बाधाओंसे रहित होता है और श्रुतकी सेवा (स्वाध्यायादि) करनेसे महान् शास्त्रज्ञ होता है ॥७४८॥

हे जिनेन्द्र ! मैंने तुम्हारा दर्शन किया और जिनका अन्य आश्रय नहीं है ऐसे भावोंसे तुम्हारी अतिशय सेवा (पूजा) की । यद्यपि प्रभु राग-द्वेषसे रहित होनेके कारण निस्नेह (स्नेहरहित) हो, तथापि भक्तमें और विरक्तमें तुम्हारा समभाव है अर्थात् जो तुम्हारी सेवा करता है उससे तुम्हें राग नहीं है और जो तुम्हारी सेवा नहीं करता, उससे द्वेष नहीं है। फिर भी मेरा यह चित्त हे स्वामिन् ! आपके प्रति प्रेमसे भरा है। अधिक क्या कहूँ अब मैं जाता हूँ। मुझे आपका पुनः दर्शन प्राप्त हो ॥७४९॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें श्रुताराधनविधि नामक चालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

---

१. राजा भवति । २. जप्यः स्यात् । ३. बाधारहितः । ४. पदार्थैः अष्टप्रकारपूजनैः । ५. त्वं वीतरागद्वेषत्वान्निःस्नेहः । ६. समता युक्तः मध्यस्थः ।

पर्वाणि [1]प्रोषधान्याहुर्मासे चत्वारि तानि च ।
पूजाक्रियाव्रताधिक्याद्धर्मकर्मात्र बृंहयेत् ॥७५०॥
रसत्यागैकभक्तै[2]कस्थानोपवसनक्रियाः ।
यथाशक्तिर्विधेयाः स्युः पर्वसन्धौ च पर्वणि॥७५१॥
त[3]न्नैरन्तर्यसान्तर्यतिथितीर्थ[4]र्क्ष[5]पूर्वकः ।
उपवासविधिश्चि[5]त्रश्चिन्त्यः श्रुतसमाश्रयः ॥७५२॥

[इस प्रकार शिक्षाव्रतके चार भेदोंमें-से प्रथम भेद सामायिकका स्वरूप बतलाकर अब ग्रन्थकार दूसरे प्रोषधोपवास व्रतका स्वरूप बतलाते हैं]

प्रोषधोपवास व्रतका स्वरूप

प्रोषध पर्वको कहते हैं। वे पर्व प्रत्येक मासमें चार होते हैं। इन पर्वोंमें विशेष पूजा, विशेष क्रिया और विशेष व्रतोंका आचरण करके धर्म-कर्मको बढ़ाना चाहिए ॥ ७५० ॥ पर्व तथा पर्वके सन्धि दिनोंमें रसोंका त्याग, एकाशन, एकान्त स्थलमें निवास, उपवास आदि क्रियाएँ यथाशक्ति करनी चाहिए ॥ ७५१ ॥ लगातार या बीचमें अन्तराल देकरके तिथि तीर्थङ्करोंके कल्याणक तथा नक्षत्र वगैरहका विचार करके आगमानुसार अनेक प्रकारके उपवासकी विधिको विचार लेना चाहिए। अर्थात् रसत्याग, एकभक्त, उपवास आदि कोई तो सदा करते हैं, कोई अमुक तिथिको करते है, कोई तीर्थङ्करोंके कल्याणकके दिन करते हैं, इस प्रकार अनेक प्रकारके उपवासकी विधिका आगमानुसार विचार कर लेना चाहिए ॥ ७५२ ॥

भावार्थ—प्रोषध पर्वको कहते हैं। प्रत्येक मासमें दो अष्टमी और दो चतुर्दशी इस तरह चार पर्व होते हैं। उनमें उपवास करनेको प्रोषधोपवास कहते हैं। नौमी और अमावस्या या पूर्णमासी पर्वके सन्धि दिन कहलाते हैं। उनमें भी यथाशक्ति एकाशन वगैरह किया जाता है। यथार्थमें प्रोषधोपवासकी विधि पर्वके पहले दिनसे ही प्रारम्भ हो जाती है। सप्तमी या त्रयोदशीको मध्याह्नका भोजन करके ही उपवासकी प्रतिज्ञा ले ली जाती है और समस्त गार्हस्थिक कार्योंसे निवृत्त होकर गृहस्थ एकान्त स्थानमें चला जाता है तथा सोलह पहर तक यानी दो पहर सप्तमी या त्रयोदशीके चार पहर रातके, चार पहर अष्टमी या चतुर्दशीके, चार पहर उसकी रातके और दो पहर नौमी या पन्द्रसके इस तरह सोलह पहर तकका समय धर्मध्यानपूर्वक बिताकर एकबार

---

१. 'चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः । स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति ॥१०९॥—' रत्नकरंडश्रा० । 'प्रोषधशब्दः पर्वपर्यायवाची''''प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः' ।—सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक ७–२१ । 'मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्धे । उपवासं गृह्णीयान्ममत्वमपहाय देहादौ ॥१५२॥' पुरुषार्थसिद्ध्युपाय । 'हेत्वोरात्मस्वभावस्य पूरणात् पर्व गीयते । पूजा क्रियाव्रताधिक्यधर्मकर्माऽत्र बृंहयेत् ॥—धर्मरत्नाकर पृ० ११३ । 'स प्रोषधोपवासो यच्चतुष्पर्व्यां यथागमम् । साम्यसंस्कारदार्ढ्याय चतुर्भुक्त्युज्झनं सदा ॥—सागारधर्मामृत ४–३४ । 'सिद्धान्तसम्मतं पर्व प्रोषधं तं विदुर्बुधाः । तत्र तत्रोपवासादिर्विधेयो विधिवद्विधिः ॥ १ ॥—प्रबोधसार ३ अध्याय । 'प्रोषधः पर्ववाचीह चतुर्द्धाहारवर्जनम् । तत्प्रोषधोपवासाख्यं व्रतं साम्यस्य सिद्धये ॥६०॥''—धर्मसंग्रह श्राव०, पृ० १६९ । २. अष्टम्याम् । 'सपर्या नियमं दानं शीलव्रतप्रभावनाम् । व्रतविद्यातपोवृत्तश्रुतादीन् तत्र बृंहयेत् ॥२॥—प्रबोधसार पृ० १८१ । २. 'स्थाने वने श्मशाने वा देवस्थानाद्रिभूमिषु । धर्मध्यानाय संवासः प्रोषधस्योपवासिनाम् ॥४॥—प्रबोधसार, पृ० १८२ । ३. तन्नैरन्तर्यतिथि—अ० ज० मु० । ४. नक्षत्र । ५. नाना प्रकारः ।

[1]स्नानगन्धाङ्गसंस्कारभूषायोषाविषक्तधीः ।
[2]निरस्तसर्वसावद्यक्रियः संयमतत्परः ॥७५३॥
देवागारे गिरौ वापि गृहे वा गहनेऽपि वा ।
उपोषितो भवेन्नित्यं धर्मध्यानपरायणः ॥७५४॥

भोजन करता है। तब वह प्रोषधोपवास कहा जाता है। जो प्रोषधोपवास नहीं कर सकते, वे अनुपवास कर सकते हैं। अनुपवासमें एक बार केवल जल लिया जाता है। और जो उपवास भी नहीं कर सकते वे एक बार हलका सात्त्विक आहार ले सकते हैं। इसे एकाशन कहते हैं। एकाशन-का मतलब है एक बार भोजन। इसी तरह तिथि, नक्षत्र वगैरहका विचार करके आगममें बतलाये गये अन्य उपवास भी यथाशक्ति श्रावकको करने चाहिए।

[*आगे उपवासकी विधि बतलाते हैं—*]

उपवास करनेवाला गृहस्थ स्नान, इत्र-फुलेल, शरीरकी सजावट, आभूषण और स्त्रीसे मनको हटाकर तथा समस्त सावद्य क्रियाओंसे विरक्त होकर संयममें तत्पर हो और देवालयमें, पहाड़पर या घरमें अथवा किसी दुर्गम एकान्त स्थानमें जाकर धर्मध्यानपूर्वक अपना समय बितावे ॥७५३-७५४॥

भावार्थ—उपवासके दिन स्नानका भी निषेध किया गया है। इसपर प्रायः कुछ भाई यह आपत्ति करते हुए देखे जाते हैं कि बिना स्नान किये पूजा कैसे की जा सकती है। ऐसी आपत्ति करनेवाले उपवासका महत्त्व नहीं समझते। उपवासका महत्त्व पूजनसे भी अधिक है। पूजन द्रव्यका आलम्बन लेकर मन, वचन और कायकी एकाग्रताके लिए किया जाता है। उससे सामायिक ऊँचा है; क्योंकि सामायिकमें द्रव्यादिक परवस्तुका आलम्बन न लेकर अमुक समय तक मन, वचन और कायको एकाग्र किया जाता है, किन्तु उपवास सामायिकसे भी ऊँचा है, क्योंकि उसमें समस्त सावद्य कार्योंको छोड़कर उपवासके समय तक मन, वचन और कायकी एकाग्रता रखी जाती है। केवल पेटको ही भूखे रखनेका नाम उपवास नहीं है; किन्तु जिसमें पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंसे निवृत्त होकर उपवासी रहती हैं वही सच्चा उपवास है। अतः उपवासके दिन गृहस्थको भावपूजा करनी चाहिए; किन्तु चूँकि अधिकतर गृहस्थ लोग इतनी ऊँची परिणतिके नहीं होते, जो इस प्रकारका आदर्श उपवास कर सकें, अतः वे स्नान करके प्रासुक द्रव्यसे पूजा कर सकते हैं।

---

१. "पञ्चानां पापानामलङ्क्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम्। स्नानाञ्जननस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्यात् ॥१०७॥ धर्मामृतं सतृष्णः श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्वाऽन्यान्। ज्ञानध्यानपरो वा भवतूपवसन्नतन्द्रालुः ॥१०८॥" रत्नकरण्डश्रा०। "स्वशरीरसंस्कारकारणस्नानगन्धमाल्याभरणादिविरहितः शुभावकाशे साधुनिवासे चैत्या-लये स्वप्रोषधोपवासगृहे वा धर्मकथाचिन्तनावहितान्तःकरणः सन्नुपवसेत् निरारम्भः श्रावकः।"—सर्वार्थ-सिद्धि ७-२१। "मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्धे। उपवासं गृह्णीयान् ममत्वमपहाय देहादौ ॥१५२॥ श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय। सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ॥१५३॥ धर्मध्यानाशक्तो वासरमतिवाह्य विहितसान्ध्यविधिः। शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत् स्वाध्यायजितनिद्रः ॥१५४॥ प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम्। निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकद्रव्यैः ॥१५५॥ उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीयरात्रिं च। अतिवाहयेत् प्रयत्नादर्धं च तृतीयदिवसस्य ॥१५६॥ इति यः षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्यः। तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति॥१५७॥"—पुरुषार्थसि०। "ताम्बूलगन्धमाल्यस्नानाभ्यङ्गादिसर्वसंस्कारम्। ब्रह्मव्रतगतचित्तैः स्थातव्यमुपोषितैस्त्यक्त्वा ॥८९॥"—अमित० श्राव०, परि० ६। २. निवृत्तिसर्व—अ० ज० मू०।

पुंसः कृतोपवासस्य बह्वारम्भरतात्मनः ।
कायक्लेशः प्रजायेत गजस्नानसमक्रियः ॥७५५॥

[1]अनवेक्षाप्रतिलेखनदुष्कर्मारम्भदुर्मनस्काराः ।
[2]आवश्यकविरतियुताश्चतुर्थमेते[3] विनिघ्नन्ति ॥७५६॥

विशुद्धयेदान्तरात्मायं कायक्लेशविधिं विना ।
किमग्नेरन्यदस्तीह काञ्चनाश्मविशुद्धये ॥७५७॥

हस्ते चिन्तामणिस्तस्य दुःखद्रुमदवानलः ।
पवित्रं यस्य चारित्रैश्चित्तं [4]सुकृतजन्मनः ॥७५८॥

इत्युपासकाध्ययने प्रोषधोपवासविधिर्नामैकचत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

जो पुरुष उपवास करके भी अनेक प्रकारके आरम्भोंमें फँसा रहता है, उसका उपवास केवल कायक्लेशका ही कारण होता है और उसकी क्रिया हाथीके स्नानकी तरह व्यर्थ है ॥७५५॥

भावार्थ—हाथी स्नान करनेके बाद सूँडमें धूल भर-भरकर अपने ऊपर डाल लेता है अतः उसका स्नान व्यर्थ होता है। उसी तरह जो उपवास करके भी गार्हस्थिक धन्धोंमें फँसा रहता है उसका उपवास केवल शरीरको कष्ट देता है, आत्माका उससे कुछ भी लाभ नहीं होता।

बिना देखे और बिना साफ किये किसी भी पापकार्यसे युक्त आरम्भको करना, बुरे विचार लाना और सामायिक, वन्दना, प्रतिक्रमण आदि षट्कर्मोंको न करना, ये काम प्रोषधोपवासव्रतके घातक हैं। अतः उपवासके दिन इस प्रकारकी असावधानी नहीं करनी चाहिए ॥७५६॥

[यह कहा जा सकता है कि उपवास करनेसे शरीरको कष्ट होता है और शरीरको कष्ट देनेसे आत्माका कुछ लाभ नहीं है। अतः उपवास नहीं करना चाहिए। इस प्रकारकी आपत्ति करनेवालों-को ग्रन्थकार उत्तर देते हैं—]

शरीरको कष्ट दिये बिना शरीरमें रहनेवाली आत्मा विशुद्ध नहीं हो सकती। सुवर्ण पाषाणको शुद्ध करके उसमें-से सोना निकालनेके लिए क्या अग्निके सिवा दूसरा कोई उपाय है? अग्निमें तपानेसे ही सोना शुद्ध होता है, वैसे ही शरीरको कष्ट देनेसे आत्मा विशुद्ध होती है ॥७५७॥

जिस पुण्यात्मा पुरुषका चित्त चारित्रसे पवित्र है, चिन्तामणिरत्न उसके हाथमें है, जो दुःखरूपी वृक्षको जलानेके लिए अग्निके समान है। चारित्र ही वह चिन्तामणि रत्न है जो दुःखों-को नष्ट करनेवाला है ॥७५८॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें प्रोषधोपवासविधि नामक एकतालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

---

१. "अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥३४॥"—तत्त्वार्थसूत्र ७–३४। "ग्रहणविसर्गास्तरणान्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे। यत्प्रोषधोपवासे व्यतिलङ्घनपञ्चकं तदिदम् ॥११०॥" रत्नकरण्डश्रा०। "अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं संस्तरस्तथोत्सर्गः। स्मृत्यनुपस्थापनमनादरश्च पञ्चोपवासस्य ॥१९३॥"—पुरुषार्थसि०। २. षडावश्यकरहिताः। ३. उपवासम्। ४. सुकृतजन्मनः।—धर्मरत्नाकर पृ० ११४॥ सुकृतिज—अ० ज० मु०।

यः [1]सकृत्सेव्यते भावः स भोगो भोजनादिकः ।
भूषादिः परिभोगः स्यात्पौनःपुन्येन सेवनात् ॥७५९॥
परिमाणं तयोः कुर्याच्चित्तव्याप्तिनिवृत्तये ।
प्राप्ते योग्ये च सर्वस्मिन्निच्छया नियमं भजेत् ॥७६०॥
यम[2]श्च नियमश्चेति द्वौ त्याज्ये वस्तुनि स्मृतौ ।
यावज्जीवं यमो ज्ञेयः सावधिर्नियमः स्मृतः ॥७६१॥
प[3]लाण्डुकेतकीनिम्बसुमनःसूरणादिकम् ।
त्यजेदाजन्म तद्रूपबहुप्राणिसमाश्रयम् ॥७६२॥
दुष्पक्वस्य निषिद्धस्य जन्तुसंबन्धमिश्रयोः ।

भोगपरिभोगपरिमाणव्रत

[*अब भोगपरिभोगपरिमाणव्रतको कहते हैं—*]

जो पदार्थ एक बार ही भोगा जाता है जैसे भोजन वगैरह, उसे भोग कहते हैं। और जो बार-बार भोगा जाता है जैसे भूषण वगैरह, उसे परिभोग या उपभोग कहते हैं ॥७५९॥ चित्तके फैलावको रोकनेके लिए भोग और उपभोगका परिमाण कर लेना चाहिए। और जो कुछ प्राप्त है और प्राप्त होनेके साथ-ही-साथ जो सेवन करनेके योग्य है उसमें भी अपनी इच्छानुसार नियम कर लेना चाहिए ॥७६०॥ भोगपरिभोगका परिमाण दो प्रकारसे किया जाता है—एक यमरूपसे, दूसरे नियम रूपसे। जीवन पर्यन्त त्याग करनेको यम कहते हैं और कुछ समयके लिए त्याग करनेको नियम कहते हैं ॥७६१॥ प्याज आदि जमीकन्द, केतकी और नीमके फूल तथा सूरण वगैरह तो जीवन पर्यन्त छोड़ देने चाहिए; क्योंकि इनमें उसी प्रकारके बहुत जीवोंका वास होता है ॥७६२॥ जो भोजन कच्चा है या जल गया है, जिसका खाना निषिद्ध है, जो जन्तुओंसे

१. "भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः। उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिपाञ्चेन्द्रियो विषयः ॥८३॥"—रत्नकरण्ड श्रा०। "उपभोगोऽशनपानगन्धमाल्यादिः। परिभोगः आच्छादनप्रावरणालङ्कार-शयनाशनगृहयानवाहनादिः तयोः परिमाणमुपभोगपरिभोगपरिमाणम्।"—सर्वार्थसि० ७–२१। २. "नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारात्। नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते ॥ ८७ ॥"—रत्नकरण्डश्रा०। ३. "त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये। मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः ॥ ८४ ॥ अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि। नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम् ॥८५॥ यदनिष्टं तद् व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्।" रत्नकरण्ड श्रा०। "मधु मांसं मद्यञ्च सदा परिहर्तव्यं त्रसघातान्निवृत्तचेतसा। केतक्यर्जुनपुष्पादीनि शृङ्गवेरमूलकादीनि बहुजन्तुयोनिस्थानान्यनन्तकायव्यपदेशार्हाणि परिहर्तव्यानि बहुघाताल्पफलत्वात्। यानवाहनाभरणादिष्वेतावदेवेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तनं कर्तव्यं कालनियमेन यावज्जीवं वा यथाशक्ति।"—सर्वार्थसिद्धि ७–२१। "भोगपरिसंख्यानं पञ्चविधं त्रसघात-प्रमाद-बहुवधानिष्टानुपसेव्यविषयभेदात् ॥२७॥"—तत्त्वार्थवार्तिक पृ० ५५०। पुरुषार्थसि०, १६२–१६६ श्लो०। "नालीसूरणकालिन्दद्रोणपुष्पादि वर्जयेत्। आजन्म तद्भुजां ह्यल्पं फलं घातश्च भूयसाम् ॥१६॥....आमगोरससंपृक्तं द्विदलं प्रायशोऽनवम्। वर्षास्वदलितं चात्र पत्रशाकं च नाहरेत् ॥१८॥—सागारधर्मा० ५ अ०। ४. 'सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः।"—तत्त्वार्थसूत्र ७-३५। "आहारो हि सचित्तः सचित्तमिश्रः सचित्तसम्बन्धः। दुःपक्वोऽभिषवोऽपि च पञ्चामी षष्ठशीलस्य ॥१९३॥"—पुरुषार्थसि०। "सहचित्तं संबद्धं मिश्रं दुःपक्वमभिषवाहारः। भोगोपभोगविरतेरतिचाराः पंच परिवर्ज्याः॥१३॥"—अमित० श्रा० ७-१३।

अवीक्षितस्य च प्राशस्तत्संख्याक्षतिकारणम् ॥७६३॥

इत्थं[1] नियतवृत्तिः स्यादनिच्छोऽप्याश्रयः श्रियाम् ।
नरो नरेषु देवेषु मुक्तिश्रीसविधागमः ॥७६४॥

इत्युपासकाध्ययने भोगपरिभोगपरिमाणविधिर्नाम द्विचत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

छू गया है या जिसमें जन्तु जा पड़े हैं, तथा जिसे हमने देखा नहीं है ऐसे भोजनको खाना भोगपरिभोगपरिमाणव्रतकी क्षतिका कारण होता है ॥७६३॥

भावार्थ—भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें भोग्य और उपभोग्य वस्तुओंका यावज्जीवन या कुछ समयके लिए परिमाण किया जाता है। परिग्रहपरिमाणव्रतमें तो सम्पत्तिका ही परिमाण किया जाता है, किन्तु इसमें उन वस्तुओंका परिमाण किया जाता है जिन्हें मनुष्य प्रतिदिन अपने सेवनमें लाता है। इनका परिमाण कर लेनेसे मनुष्यकी चित्तवृत्ति एक सीमामें बद्ध हो जाती है और फिर वह ज्यादा इधर-उधर नहीं भटकती। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि नयी वस्तुको देखते ही मन चंचल हो उठता है। और तब हमें आवश्यकता न होनेपर भी नयी वस्तुओंका संग्रह करना पड़ता है। इससे एकके पास अनावश्यक संग्रह होता है और दूसरे जिन्हें उसकी आवश्यकता है वे उसके बिना कष्ट भोगते रहते हैं। किन्तु परिमाण कर लेनेसे एक ओर हम अनावश्यक वस्तुओंके संचयके भारसे बच जाते हैं दूसरी ओर दूसरे लोग उनसे अपना काम चलाते हैं। अतः खान-पान, विषय-भोग, सवारी, कपड़ा आदि सभी वस्तुओंकी एक मर्यादा कर लेनी चाहिए। इससे तृष्णा शान्त होती है और तृष्णा शान्त होनेसे मनुष्यको शान्ति मिलती है। शान्ति मिलनेसे उसके परिणाम निर्मल होते हैं। परिमाण करते समय ऐसी वस्तुएँ जो अखाद्य हैं या सेवन करनेके योग्य नहीं हैं, बिलकुल त्याग देनी चाहिए। जिनके सेवनसे स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता उन्हें भी छोड़ देना चाहिए और खान-पान ऐसा होना चाहिए जिससे शरीर और इन्द्रियाँ सभी स्वस्थ रहें और कामभोग आदि विकारोंको बल न मिल सके। यदि ऐसी वस्तुओंका सेवन किया गया जो रोगकारक हैं या विकारकारक हैं तो भोगोपभोगपरिमाणव्रतकी मर्यादा सुरक्षित नहीं रह सकेगी; क्योंकि यदि हम रोगी हो गये तो हमारे व्रत, नियम सब रखे रह जायेंगे और हम अपना प्रतिदिनका भी धर्मसाधन न कर सकेंगे। अतः खान-पान, रहन-सहन सब सादा होना चाहिए।

इस प्रकार जो भोगोपभोगका परिमाण करता है वह मनुष्य और देवपर्यायमें जन्म लेकर बिना चाहे ही लक्ष्मीका स्वामी बनता है और मुक्ति भी उसे मिल जाती है ॥७६४॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें भोगोपभोगपरिमाण नामक बयालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

---

१. "स्यादित्थं नियता वृत्तिर्यस्य सर्वेषु वस्तुषु। स सर्वासां श्रियामीशः सर्वविश्वेषु वर्तताम् ॥१२॥"
—प्रबोधसार पृ. १८६।

यथाविधि[1] यथादेशं यथाद्रव्यं यथागमम् ।
यथापात्रं यथाकालं दानं देयं गृहाश्रमैः ॥७६५॥
आत्मनः श्रेयसेऽन्येषां रत्नत्रयसमुन्नये ।
स्वपरानुग्रहायेत्थं[2] यत्स्यात्तद्दानमिष्यते ॥७६६॥
दातृपात्रविधिद्रव्यविशेषात्तद्विशिष्यते[3] ।
यथा घनाघनोद्गीर्णं तोयं भूमिसमाश्रयम् ॥७६७॥
दातानुरागसंपन्नः पात्रं रत्नत्रयोचितम् ।
सत्कारः स्याद्विधिर्द्रव्यं तपःस्वाध्यायसाधकम् ॥७६८॥

दानका स्वरूप

[अब दानका वर्णन करते हैं—]

गृहस्थोंको विधि, देश, द्रव्य, आगम, पात्र और कालके अनुसार दान देना चाहिए ॥७६५॥ जिससे अपना भी कल्याण हो और अन्य मुनियोंके रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी उन्नति हो, इस तरह जो अपने और दूसरोंके उपकारके लिए दिया जाता है उसे ही दान कहते हैं ॥७६६॥

जैसे मेघोंसे बरसा हुआ पानी भूमिको पाकर विशिष्ट फलदायी हो जाता है वैसे ही दाता, पात्र, विधि और द्रव्यकी विशेषतासे दानमें भी विशेषता आ जाती है ॥७६७॥

दाता आदिका स्वरूप

जो प्रेमपूर्वक दे वह दाता है, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे भूषित है वह पात्र है । आदरपूर्वक देनेका नाम विधि है और जो तप और स्वाध्यायमें सहायक हो वही द्रव्य है ॥ ७६८ ॥

भावार्थ—सारांश यह है कि यदि देनेवाला योग्य पात्रको प्रेमसे आदरपूर्वक ऐसी वस्तु दे जो उसके आत्मकल्याणके मार्गमें सहायक हो वह दान उत्तम दान है । और जिस किसीको जो कुछ भी निरादरपूर्वक दे डालना दान नहीं है । जिसका मन दान देते हुए दुःखी होता है या जो नाम आदिके लोभसे दान देता है वह दाता नहीं है । जो स्व-परकल्याणमें रत नहीं है वह पात्र नहीं है । और न निरादरपूर्वक देना देना है । तथा ऐसा भोजन, जो घी तथा स्वादकी दृष्टिसे बहुमूल्य होते हुए भी साधुके ज्ञान, ध्यानका साधक नहीं है, वह साधुओंके योग्य द्रव्य नहीं है ।

---

१. "पात्रागमविधिद्रव्यदेशकालानतिक्रमात् । दानं देयं गृहस्थेन तपश्चर्यं च शक्तितः ॥४८॥"—सागारधर्मामृत २ अ० । "यथाद्रव्यं यथादेशं यथापात्रं यथापथम् । यथाविधानसम्पत्त्या दानं देयं तदर्थिनाम् ॥१३॥" —प्रबोधसार पृ० १८७ । २. "अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥"—तत्त्वार्थसूत्र ७-३८ । ३. "विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥"—तत्त्वार्थसूत्र ७-३९ । "पात्रदातृविधिद्रव्यविशेषैस्तद्विशिष्यते । यथाम्बु तोयदैर्वान्तं स्थाने स्थाने विशिष्यते ॥१५॥"—प्रबोधसार पृ० १८८ ।

परलोकधिया कश्चित्कश्चिदैहिकचेतसा ।
औचित्यमनसा कश्चित्सतां वित्तव्ययस्त्रिधा ॥७६९॥

परलोकैहिकौचित्येष्वस्ति येषां न धीः समा ।
धर्मः कार्यं यशश्चेति तेषामेतत् त्रयं कुतः ॥७७०॥

अभयाहारभैषज्यश्रुतभेदाच्चतुर्विधम्[1] ।
दानं मनीषिभिः प्रोक्तं भक्तिशक्तिसमाश्रयम् ॥७७१॥

सौरूप्यमभयादाहुराहाराद्भोगवान् भवेत्[2] ।
आरोग्यमौषधाज्ज्ञेयं श्रुतात्स्याच्छ्रुतकेवली ॥७७२॥

सज्जन पुरुष तीन प्रकारसे अपने धनको खर्च करते हैं : कोई परलोककी बुद्धिसे कि परलोकमें हमें सुख प्राप्त होगा, धन खरचते हैं । कोई इस लोकके लिए धन खरचते हैं और कोई उचित समझकर धन खरचते हैं । किन्तु जिन्हें न परलोकका ध्यान है, न इहलोकका ध्यान है और न औचित्यका ही ध्यान है वे न धर्म कर सकते हैं, न अपने लौकिक कार्य कर सकते हैं और न यश ही कमा सकते हैं ॥ ७६९–७७० ॥

भावार्थ—इस लोककी बुद्धिसे धन खरचनेसे लौकिक काम विवाह-शादी, रोजगारमें सफलता, लोकसम्मान आदि कार्य होते हैं । तथा परलोककी बुद्धिसे या उचित समझकर दान देनेसे धर्म और यश होता है । जैसे मुनियोंको दान देना आदि, बाढ़पीड़ितोंको या दुर्भिक्ष-पीड़ितोंको मदद देना, शिक्षा-औषधालयकी आवश्यकता समझकर दान देना आदि । जो इन तीनोंमें धन नहीं खरचते, न उनके लौकिक कार्य सफल होते हैं और न पारलौकिक । तथा उन्हें यश भी नहीं मिलता ।

दानके भेद

बुद्धिमान् पुरुषोंने चार प्रकारका दान बतलाया है—अभयदान, आहारदान, औषधदान और शास्त्रदान । ये चारों दान अपनी शक्ति और श्रद्धाके अनुसार देने चाहिए ॥ ७७१ ॥

चारों दानोंका फल

अभयदानसे सुन्दर रूप मिलता है । आहार दानसे भोग मिलते हैं । औषधदानसे आरोग्य प्राप्त होता है और शास्त्रदानसे श्रुतकेवली होता है ॥७७२॥

---

१. "आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन । वैयावृत्यं ब्रुवते चतुरात्मत्वेन चतुरस्राः ॥११७॥"—रत्नकरण्ड श्रा० । "त्यागो दानम् । तत्त्रिविधं आहारदानमभयदानं ज्ञानदानं चेति ।"—सर्वार्थसि० ६–२४ । "आहारोसहसत्थाभयभेओ जं चउविहं दाणं । तं वुच्चइ दायव्वं णिद्दिट्ठमुवासयज्झयणे ॥२३३॥"—वसुनन्दि श्राव० । "अभयान्नौषधज्ञानभेदतस्तच्चतुर्विधम् । दानं निगद्यते सद्भिः प्राणिनामुपकारकम् ॥८३॥"—अमित० श्राव०,९ परि० । "निर्भयाहारयोर्दानमौषधश्रुतयोरपि । सदा मनीषिभिर्देयं शुद्धधर्मप्रवर्तनम् ॥१७॥"—प्रबोधसार पृ० १९० । २. "*अभीतितोऽनुत्तमरूपवत्त्वमाहारतो भोगविभूतिमत्त्वम् । भैषज्यतो रोगनिराकुलत्वं श्रुतादवश्यं श्रुतके वलित्वम्* ॥"—धर्मरत्नाकर पृ० १२३ । "सौरूप्यमभयात् प्राहुराहारात् सर्वसुस्थता । श्रुतात् श्रुतमतामीशो निर्व्याधित्वं तथौषधात् ॥१८॥"—प्रबोधसार पृ० १९० ।

अभयं सर्वसत्त्वानामादौ दद्यात्सुधीः सदा ।
तद्धीने हि वृथा सर्वः परलोकोचितो विधिः ॥७७३॥
दानमन्यद्भवेन्मा वा नरश्चेदभयप्रदः ।
सर्वेषामेव दानानां यतस्तद्दानमुत्तमम् ॥७७४॥
तेनाधीतं श्रुतं सर्वं तेन तप्तं तपः परम् ।
तेन कृत्स्नं कृतं दानं यः स्यादभयदानवान् ॥७७५॥
नवोपचारसंपन्नः समेतः सप्तभिर्गुणैः ।
अन्नैश्चतुर्विधैः[2] शुद्धैः साधूनां कल्पयेत्स्थितिम् ॥७७६॥
प्रतिग्रहो[3]च्चासनपादपूजाप्रणामवाक्कायमनः प्रसादाः ।

अभयदानकी श्रेष्ठता

सबसे प्रथम सब प्राणियोंको अभयदान देना चाहिए। क्योंकि जो अभयदान नहीं दे सकता उस मनुष्यकी समस्त पारलौकिक क्रियाएँ व्यर्थ हैं ॥७७३॥ और कोई दान दो या न दो, किन्तु अभयदान जरूर देना चाहिए; क्योंकि सब दानोंमें अभयदान श्रेष्ठ है ॥७७४॥ जो अभयदान देता है, वह सब शास्त्रोंका ज्ञाता है, परम तपस्वी है और सब दानोंका कर्ता है ॥७७५॥

भावार्थ—प्राणीमात्रका भय दूर करके उनके जीवनकी रक्षा करना अभयदान है। जो इस दानको करता है वह सब दानोंको करता है; क्योंकि जीवनकी रक्षा सब चाहते हैं। सबको अपना-अपना जीवन प्रिय है। यदि जीवनपर ही संकट हो तो आहारदान या औषधदान या शास्त्रदान किस कामका। जो मनुष्य अपनेसे दूसरोंकी रक्षा नहीं कर सकता अर्थात् जो अहिंसा धर्मका पालन नहीं करता वह यदि परलोकके लिए धर्मकर्म करे भी तो वह सब व्यर्थ है। क्योंकि धर्मका मूल जीवरक्षा है। यदि मूल ही नहीं तो धर्म कहाँसे हो सकता है। अतः प्राणिमात्रको यथाशक्ति जीवनदान देना ही सर्वोत्तम दान है।

[*अब आहारदानको कहते हैं—*]

सात गुणोंसे युक्त दाताको नवधा भक्तिपूर्वक साधुजनोंको अन्न, पान, खाद्य, लेह्यके भेदसे चार प्रकारका शुद्ध आहार देना चाहिए ॥७७६॥

[*अब नवधा भक्ति बतलाते हैं—*]

गृहस्थको मुनियोंकी नवधा भक्ति करनी चाहिए। सबसे पहले अपने द्वारपर मुनिको

---

१. "धर्मार्थकाममोक्षाणां जीवितव्ये यतः स्थितिः। तद्दानतस्ततो दत्तास्ते सर्वे सन्ति देहिनाम् ॥८४॥ देवैरुक्तो वृणीष्वैकं त्रैलोक्यप्राणितव्ययोः। त्रैलोक्यं वृणुते कोऽपि न परित्यज्य जीवितम् ॥८५॥ त्रैलोक्यं न यतो मूल्यं जीवितव्यस्य जायते। तद्रक्षता ततो दत्तं प्राणिनां किं न कांक्षितम्। नाभीतिदानतो दानं समस्ताधारकारणम्। महीयो निर्मलं नित्यं गगनादिव विद्यते ॥८७॥"—अमित० श्रा०, ९ परि०। "जं कीरइ परिरक्खा णिच्चं मरणभयभीरुजीवाणं। तं जाण अभयदाणं सिहामणिं सव्वदाणाणं ॥ २३८ ॥"—वसुनन्दिश्रा०। २. अन्नपानखाद्यलेह्यभेदैः। "नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन। अपसूनारम्भाणामार्याणामिष्यते दानम् ॥११३॥"—रत्नकरण्ड०। ३. "प्रतिग्रह उच्चदेशस्थापनं पादप्रक्षालनम् अर्चनं प्रणमनमित्येवमादिक्रियाविशेषाणां क्रमो विधिः।"—तत्त्वार्थवार्तिक, पृ० ५५९। "प्रतिग्रहणमत्युच्चैःस्थानेऽस्य विनिवेशनम्। पादप्रधावनञ्चार्चा नतिः शुद्धिश्च सा त्रयी ॥८६॥ विशुद्धिश्चाशनस्येति नवपुण्यानि दानिनाम्।"—महापुराण।

विधाविशुद्धिश्च नवोपचाराः कार्या मुनीनां गृहसंश्रितेन ॥७७७॥
श्रद्धा[2] तुष्टिर्भक्तिर्विज्ञानमलुब्धता क्षमा शक्तिः।
यत्रैते सप्त गुणास्तं दातारं प्रशंसन्ति ॥७७८॥

आते देखकर उन्हें आदरपूर्वक ग्रहण करना चाहिए कि स्वामी ! ठहरिए, ठहरिए, ठहरिए। यदि वे ठहर जायें तो घरमें ले जाकर उन्हें ऊँचे आसनपर बैठाना चाहिए। फिर उनके चरणोंकी पूजा करनी चाहिए। फिर उन्हें प्रणाम करना चाहिए। फिर उनसे निवेदन करना चाहिए कि मेरा मन शुद्ध है, वचन शुद्ध है, काय शुद्ध है और अन्न, जल शुद्ध है। ये नवधा भक्ति हैं ॥७७७॥

भावार्थ—आजकल कुछ लोग इस नवधा भक्तिको व्यर्थ बतलाते हैं। किन्तु यह व्यर्थ नहीं है। इससे एक तो साधुको सद्गृहस्थकी पहचान हो जाती है। वे जान जाते हैं कि यह गृहस्थ कैसा है। इसके यहाँ जो भोजन बना है वह उसने विधिपूर्वक बनाया है या नहीं। इसके मनमें देते हुए कुछ संक्लेश तो नहीं हो रहा है ? आदि। दूसरे, लेनेवालेसे देनेवालेका पद ऊँचा समझा जाता है। अतः यदि नवधा भक्ति न करायी जाये तो गृहस्थ अपनेको ऊँचा मानने लगे और साधुको नीचा मानने लगे। और ऐसा माननेसे धर्मकी साक्षात् मूर्ति साधुजनोंके प्रति अवज्ञाका भाव आ जानेसे धर्मके प्रति भी श्रद्धा उठ जाये, अतः मैं जो कुछ देता हूँ वह अपनी श्रद्धाबुद्धिसे देता हूँ और मुझसे लेकर भी यही बड़े और पूज्य हैं। इत्यादि भावको बनाये रखनेके लिए नवधा भक्तिपूर्वक ही आहारदानकी विधि बतलायी गयी है।

[अब दाताके सात गुण बतलाते हैं—]

जिस दातामें श्रद्धा, सन्तोष, भक्ति, विज्ञान, अलोभीपना, क्षमा और शक्ति ये सात गुण पाये जाते हैं वह दाता प्रशंसाके योग्य होता है ॥७७८॥

भावार्थ—पात्रदानको अच्छा समझना श्रद्धा है। देते हुए प्रसन्नताका होना सन्तोष है। पात्रके गुणोंमें अनुरागका होना भक्ति है। कैसा द्रव्य देना चाहिए इत्यादि बातोंका ज्ञान होना विज्ञान है। दान देकर किसी सांसारिक फलकी इच्छा न करना अलोभीपना है। क्रोधके कारण

---

२० पर्व। "उक्तं हि—प्रतिग्रहोच्चस्थाने च पादक्षालनमर्चनम्। प्रणामो योगशुद्धिश्च भिक्षाशुद्धिश्च ते नव।" –चारित्रसार पृ० १४। "संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामञ्च। वाक्कायमनःशुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः ॥१६८॥"—पुरुषार्थसि०। "पडिगहमुच्चट्ठाणं पादोदयमच्चणं च पणमं च। मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धो य दाणविही ॥२२५॥" वसुनन्दि श्रा०। प्रतिग्रहोच्चासनपादपूजाप्रणामवाक्कायमनःप्रसादाः। विधाय शुद्धिश्च नवोपचाराः कार्या यतीनां गृहमेधिनेति धर्मरत्नाकर। पृ० १६२।

१. आहार। २. "प्रतिग्रहीतरि अनसूयात्यागेऽविषादः दित्सतो ददतो दत्तवतश्च प्रीतियोगः कुशलाभिसन्धिता दृष्टफलानपेक्षिता निरुपरोधत्वमनिदानत्वमित्येवमादिः दातृविशेषोऽवसेयः।"—तत्त्वार्थवार्तिक पृ० ५५९। "श्रद्धा शक्तिश्च भक्तिश्च विज्ञानञ्चाप्यलुब्धता। क्षमा त्यागश्च सप्तैते प्रोक्ता दानपतेर्गुणाः ॥८२॥" महापुराण, २० पर्व। "एहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वम्। अविषादित्वमुदित्वे निरहङ्कारित्वमिति हि दातृगुणाः ॥१६९॥"—पुरुषार्थसि०। "उक्तं हि—श्रद्धा शक्तिरलुब्धत्वं भक्तिर्ज्ञानं दया क्षमा। इति श्रद्धादयः सप्त गुणाः स्युर्गृहमेधिनाम्।"—चारित्रसार पृ० १४। "सद्धा भत्ती तुट्ठी विण्णाण मलुद्धया खमा सत्ती। जत्थेदे सत्तगुणा तं दायारं पसंसंति ॥२२४॥—वसुनन्दिश्रा०। अमितगतिश्रा० ९–३।

तत्र विज्ञानस्येदं लक्षणम्—

विवर्णं विरसं विद्धमसात्म्यं प्रसृतं च यत् ।
मुनिभ्योऽन्नं न तद्देयं यच्च भुक्तं गदावहम् ॥७७९॥
उच्छिष्टं नीचलोकार्हमन्योद्दिष्टं विगर्हितम् ।
न देयं दुर्जनस्पृष्टं देवयक्षादिकल्पितम् ॥७८०॥
ग्रामान्तरात्समानीतं मन्त्रानीतमुपायनम् ।
न देयमापणक्रीतं विरुद्धं वाऽयथर्तुकम् ॥७८१॥
दधिसर्पिःपयोभक्ष्यप्रायं पर्युषितं मतम् ।
गन्धवर्णरसभ्रष्टमन्यत्सर्वं विनिन्दितम् ॥७८२॥
बालग्लानतपःक्षीणवृद्धव्याधिसमन्वितान् ।
मुनीनुपचरेन्नित्यं यथा ते स्युस्तपःक्षमाः ॥७८३॥
शाठ्यं गर्वमवज्ञानं पारिप्लवमसंयमम् ।
वाक्पारुष्यं विशेषेण वर्जयेद्भोजनक्षणे ॥७८४॥

मिलनेपर भी क्रोध न करना क्षमा है। और पासमें थोड़ा धन होते हुए भी दानमें विशेष अभिरुचि होना शक्ति है। दाताके ये सात गुण बतलाये हैं।

[इन गुणोंमें-से विज्ञानगुणका स्वरूप ग्रन्थकार स्वयं बतलाते हैं—]

दाताके विज्ञानगुणका स्वरूप

जो भोजन विरूप हो, चलितरस हो, फेंका हुआ हो, साधुकी प्रकृतिके विरुद्ध हो, जल गया हो, तथा जो खानेसे रोग पैदा करे, वह भोजन मुनिको नहीं देना चाहिए ॥७७९॥ जो उच्छिष्ट हो—खानेसे बच गया हो, नीच लोगोंके खाने योग्य हो, दूसरोंके लिए बनाया हो, निन्दनीय हो, दुर्जनसे छू गया हो या किसी देवता अथवा यक्षके उद्देश्यसे रखा हो, वह भोजन मुनिको नहीं देना चाहिए ॥७८०॥ जो दूसरे गाँवसे लाया गया हो, या मन्त्रके द्वारा लाया गया हो, या भेंटमें आया हो या बाजारसे खरीदा हो या ऋतुके प्रतिकूल हो, वह भोजन मुनिको नहीं देना चाहिए ॥७८१॥ दही, घी, दूध वगैरह जो बासी भी खानेके योग्य है (?) किन्तु जिसका रूप, गन्ध और स्वाद बदल गया हो वह मुनिको देनेके योग्य नहीं है ॥७८२॥

अवस्थामें छोटे, रोगसे दुर्बल, तपसे दुर्बल, बूढ़े और कोढ़ आदि व्याधियोंसे पीड़ित मुनियोंकी सदा सेवा करनी चाहिए, जिससे वे तप करनेमें समर्थ हो सकें ॥७८३॥ भोजनके समय कपट, घमण्ड, निरादर, चंचलता, असंयम और कठोर वचनोंको विशेष रूपसे छोड़ना चाहिए अर्थात् वैसे तो इनको सदा ही छोड़ना चाहिए, किन्तु भोजनके समय तो खास तौरसे छोड़ देना चाहिए; क्योंकि इन सबका मनपर अच्छा असर नहीं पड़ता और मन खराब होनेसे भोजनका भी परिपाक ठीक नहीं होता ॥७८४॥

---

१. अतिजीर्णम् । २. रोगकारि । ३. प्राभृतम् । ४. बासी । ५. अभीष्टं दातुम् । ६. रुजाविक्लिष्टशरीरः । ७. कपटत्वम् । ८. निरादरः । ९. चञ्चलत्वम् ।

अभक्तानां कदर्याणामव्रतानां च सद्मसु ।
न भुञ्जीत तथा साधुर्दैन्यकारुण्यकारिणाम् ॥७८५॥
नाहरन्ति महासत्त्वाश्चित्तेनाप्यनुकम्पिताः ।
किं तु ते दैन्यकारुण्यसंकल्पोज्झितवृत्तयः ॥७८६॥
धर्मेषु स्वामिसेवायां सुतोत्पत्तौ च कः सुधीः ।
अन्यत्र कार्यदैवाभ्यां प्रतिहस्तं समादिशेत् ॥७८७॥
आत्मवित्तपरित्यागात्परैर्धर्मविधायने ।
निःसंदेहमवाप्नोति परभोगाय तत्फलम् ॥७८८॥
भोज्यं भोजनशक्तिश्च रतिशक्तिर्वरस्त्रियः ।
विभवो दानशक्तिश्च स्वयं धर्मकृतेः फलम् ॥७८९॥

जो भक्तिपूर्वक दान नहीं देते, या अत्यन्त कृपण हैं अथवा अव्रती हैं या दीनता और करुणा उत्पन्न करते हैं अर्थात् अपनी दीनता प्रकट करते हैं, या करुणा बुद्धिसे दान देते हैं, उनके घरपर साधुको आहार नहीं लेना चाहिये ॥ ७८५ ॥

वे साधु बड़े सत्त्वशाली होते हैं, चित्तसे भी बड़े दयालु होते हैं, उनकी वृत्ति दीनता और करुणाजनक संकल्पोंसे रहित होती है । अतः वे दीनों और दयापात्रोंके घरपर आहार नहीं करते ॥७८६॥

[जो लोग स्वयं दान न देकर दूसरोंसे दान दिलाते हैं उनके बारेमें ग्रन्थकार कहते हैं—]

जो काम दूसरोंसे कराने लायक है, या जो भाग्यवश हो जाता है उनको छोड़कर धर्मके कार्य, स्वामीकी सेवा और सन्तानोत्पत्तिको कौन समझदार मनुष्य दूसरेके हाथ सौंपता है ? ॥ ७८७ ॥ जो अपना धन देकर दूसरोंके द्वारा धर्म कराता है वह उसका फल दूसरोंके भोगके लिए ही उपार्जित करता है इसमें सन्देह नहीं है ॥ ७८८ ॥ खाद्य पदार्थ, भोजन करनेकी शक्ति, रमण करनेकी शक्ति, सुन्दर स्त्रियाँ, सम्पत्ति और दान करनेकी शक्ति, ये चीजें स्वयं धर्म करनेसे ही प्राप्त होती हैं ॥ ७८९ ॥

भावार्थ—बहुतसे आरामतलब धनी लोग स्वयं धर्म न करके दूसरोंसे धार्मिक कृत्य कराते हैं । भगवान्‌की पूजाके लिए पुजारी रख लेते हैं । पैसा देकर दूसरोंसे विधान वगैरह कराते हैं । कोई साधु वगैरह आते हैं तो अपने नौकरोंको द्वारपर खड़ा कर देते हैं और उनसे ही आहार भी दिलाते हैं । और यह समझते हैं कि चूँकि इसमें हमारा द्रव्य खर्च होता है इसलिए इसका फल हमें ही मिलेगा । ऐसा समझनेवाले भ्रममें हैं । फल द्रव्य खरचनेसे नहीं मिलता किन्तु भावोंसे मिलता है । जो अपना द्रव्य खरचकर आप ही दानादिक देते हैं उसका फल भी वे स्वयं ही

---

१. लुब्धानाम् "आत्मानं धर्मकृत्यञ्च पुत्रदारांश्च पीडयन् । यो लोभात् सञ्चिनोत्यर्थं स कदर्य इति स्मृतः ॥" इति स्मृतिः । "असम्मताभक्तकदर्यमर्त्यकारुण्यदैन्यातिशयान्वितानाम् । एषां निवासेषु हि साधुवर्गः परानुकम्पाहितधीर्न भुङ्क्ते ॥३९॥ उक्तं च—नाहरन्ति महासत्त्वाश्चित्ते नाप्यनुकम्पिताः । किन्तु ते दैन्यकारुण्यसंकल्पोज्झितवृत्तयः ॥"—धर्मरत्नाकर पृ० १२४ । २. किं नु–अ० ज० । ३—ल्पोचितवृ–अ० ज० मु० । वृत्तयः सन्तः किं आहरन्ति ? अपि तु न । ४. प्रेषण । ५. यत्किमपि इष्टमनिष्टं च दैवः करोति तत्र स्वहस्ते किमपि कर्तुं शक्नोति अतस्तत्र स्वहस्तनियमो नास्ति । ६. निजधनेन परहस्तेन धर्मं कारयति ।

शिल्पिकारु[1]कवाक्[2]पण्य[3]संभलीपतितादिषु ।
देहस्थितिं न कुर्वीत [4]लिङ्गिलिङ्गोपजीविषु ॥७९०॥
दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चत्वारश्च विधोचिताः[5] ।
मनोवाक्कायधर्माय मताः सर्वेऽपि जन्तवः ॥७९१॥
पुष्पादिर्दशनादिर्वा न स्वयं धर्म एष हि ।
क्षित्यादिरिव धान्यस्य किं तु भावस्य[9] कारणम् ॥७९२॥

भोगते हैं। किन्तु जो अपना धन खरचकर दूसरोंसे दानादिक दिलाते हैं उसका फल भी दूसरे ही भोगते हैं। ऐसा देखा जाता है कि बहुतसे मनुष्योंके पास खूब धन होता है मगर वे न उसे खा सकते हैं और न दूसरोंको दे सकते हैं। सुन्दर स्त्री होती है मगर शरीरमें भोग शक्ति नहीं होती है। ये सब दूसरोंसे धर्म करानेका ही फल है। खानेको भी हो और हजम करनेकी शक्ति भी हो, सुन्दर स्त्री हो और रमण करनेकी शक्ति भी हो, खूब धन हो और दान देनेकी शक्ति भी हो, ये बातें तो स्वयं धर्म करनेसे ही प्राप्त होती हैं। अतः धर्मके कार्य स्वयं ही करने चाहिए।

मुनियोंके आहार लेनेके अयोग्य घर

नाई, धोबी, कुम्हार, लुहार, सुनार, गायक, भाट, दुराचारिणी स्त्री, नीच लोगोंके घरमें तथा जो मुनियोंके उपकरण बेचकर उनसे आजीविका करते हैं उनके घरमें मुनिको आहार नहीं करना चाहिए ॥ ७९० ॥

जिन-दीक्षा तथा आहारदानके योग्य वर्ण

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन वर्ण ही जिनदीक्षाके योग्य हैं किन्तु आहार दान देनेके योग्य चारों ही वर्ण हैं; क्योंकि सभी प्राणियोंको मानसिक, वाचनिक और कायिक धर्मका पालन करनेकी अनुमति है ॥ ७९१ ॥

पुष्प वगैरह और भोजन वगैरह स्वयं धर्म नहीं है, किन्तु जैसे पृथ्वी वगैरह धान्यकी उत्पत्तिमें कारण हैं वैसे ही ये चीजें शुभ भावोंके होनेमें कारण हैं ॥ ७९२ ॥

भावार्थ—पूजामें जो पुष्प वगैरह चढ़ाये जाते हैं और मुनिको जो आहार दिया जाता है सो ये पुष्प वगैरह द्रव्य या भोजन स्वयं धर्म नहीं है। किन्तु इनके निमित्तसे जो शुभ भाव होते हैं वे धर्मके कारण हैं क्योंकि उनसे शुभ कर्मका बन्ध होता है।

---

१. "तेषां शुश्रूषणाच्छूद्रास्ते द्विधा कार्यकारवः। कारवो रजकाद्याः स्युः ततोऽन्ये स्युरकारवः ॥१८५॥ कारवोऽपि मता द्वेधा स्पृश्यास्पृश्यविकल्पतः। तत्रास्पृश्याः प्रजाबाह्याः स्पृश्याः स्युः कर्तकादयः ॥१८६॥"—महापुराण, १६ पर्व। २. वन्दिजन। ३. कुट्टिनी। ४. जातिबाह्य। ५. यतीनामुपकरणजीवितं गृहे आहारो न कर्तव्यः। "गायकस्य तलारस्य नीचकर्मोपजीविनः। मालिकस्य विलिङ्गस्य वेश्यायास्तैलिकस्य च ॥३८॥ दीनस्य सूतिकायाश्च छिपकस्य विशेषतः। मद्यविक्रयिणो मद्यपानसंसर्गिणश्च न ॥३९॥ क्रियते भोजनं गेहे यतिना भोक्तुमिच्छुना। एवमादिकमप्यन्यच्चिन्तनीयं स्वचेतसा ॥४०॥"—नीतिसार। १२. वर्णाः। ६. शूद्रजैनानामपि विधा-आहार उचितो योग्यः दीयते इत्यर्थः। ७. चाण्डालादयोऽपि मनोवाक्कायैः कृत्वा पुण्यमुपार्जयन्ति दोषो नास्ति। ८. —दिरासनादिर्वा आ०। "पुष्पादिः स्तवनादिर्वा नैव धर्मस्य साधनम्। भावो हि धर्महेतुः स्यात्तदत्र प्रयतो भवेत् ॥३१॥"—प्रबोधसार पृ० १९५। ९. परिणामनिर्मलतायाः।

युक्तं हि श्रद्धया साधु सकृदेव मनो नृणाम् ।
परां शुद्धिमवाप्नोति लोहं विद्धं रसैरिव ॥७९३॥
तपोदानार्चनाहीनं मनः सदपि देहिनाम् ।
तत्फलप्राप्तये न स्यात्कुशूलस्थितबीजवत् ॥७९४॥
आवेशि[1]काश्रितज्ञातिदीनात्मसु यथाक्रमम् ।
यथौचित्यं यथाकालं यज्ञ[2]पञ्चकमाचरेत् ॥७९५॥
[3]काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके ।
एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नराः ॥७९६॥
यथा पूज्यं जिनेन्द्राणां रूपं लेपादिनिर्मितम् ।
तथा पूर्वमुनिच्छाया पूज्याः संप्रति संयताः ॥७९७॥
त[4]दुत्तमं भवेत्पात्रं यत्र रत्नत्रयं नरे ।
देशव्रती भवेन्मध्यमन्यथासंयतः सुदृक् ॥७९८॥

मनुष्योंका मन यदि एक बार भी सच्ची श्रद्धासे युक्त हो तो वह उत्कृष्ट विशुद्धिको प्राप्त होता है। जैसे पारदके योगसे लोहा अत्यन्त शुद्ध हो जाता है ॥ ७९३ ॥ और प्राणियोंके मन होते हुए भी यदि वह मन तप, दान और पूजामें रत न हो तो जैसे खत्तीमें पड़ा हुआ बीज धान्यको उत्पन्न नहीं कर सकता। वैसे ही वह मन भी उत्कृष्ट विशुद्धिको प्राप्त नहीं कर सकता। अतः यदि मन है तो उसे शुभ कार्योंमें लगाना चाहिए ॥ ७९४ ॥

अपने घरपर आये हुए अतिथिको, अपने आश्रितको, सजातीयको और दीन मनुष्योंको समयके अनुसार यथायोग्य पाँच दान क्रमशः देने चाहिए ॥ ७९५ ॥

कलिकालमें जिनरूपधारियोंके दर्शन दुर्लभ हैं

यह बड़ा आश्चर्य है कि इस कलिकालमें जब मनुष्योंका मन चंचल रहता है और शरीर अन्नका कीड़ा बना रहता है, आज भी जिनरूपके धारक मनुष्य पाये जाते हैं ॥ ७९६ ॥ जैसे पाषाण वगैरहमें अंकित जिनेन्द्र भगवान्की प्रतिकृति पूजने योग्य है, लोग उसकी पूजा करते हैं, वैसे ही आजकलके मुनियोंको भी पूर्वकालके मुनियोंकी प्रतिकृति मानकर पूजना चाहिए ॥७९७॥

पात्रके तीन भेद

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे विभूषित मुनि उत्तम पात्र हैं। अणुव्रती

---

१. अतिथिः । २. दानपञ्चकम् । "ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा । नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥२१॥"—मनुस्मृति, अ० ४ । "आवेशिकज्ञातिषु संस्थितेषु दानानुकम्पेषु यथायथं तु । देशोचितं कालबलानुरूपं दद्याच्च किंचित् स्वयमेव बुद्ध्वा ॥"—धर्मरत्नाकर पृ० १२६ । ३. "काले कलौ संततचञ्चले च चित्ते सदाहारमये च काये । चित्रं यदद्यापि जिनेन्द्ररूपधरा नरा दृष्टिपथं प्रयान्ति ॥६२॥ अतो यथा केवलनायकानां लेपादिक्लृप्तं प्रतिबिम्बमर्च्यम् । तथैव पूर्वप्रतिबिम्बवाहाः सम्प्रत्युपार्च्या यतयः सुधीभिः ॥६३॥"—धर्मरत्नाकर पत्र १२६ । "वन्द्यं यथार्हतां रूपं शिलालेपादिनिर्मितम् । तथा पूर्वर्षिरूपस्था वन्द्याः संप्रति संयताः ॥३४॥"—प्रबोधसार पृ० १९७ । "विन्यस्यैदंयुगीनेषु प्रतिमासु जिनानिव । भक्त्या पूर्वमुनीनर्चेत् कुतः श्रेयोऽतिचर्चिनाम् ॥६४॥" सागारधर्मा० २ अ० । ४. 'पात्रं रागादिभिर्दोषैः अस्पृष्टो गुणवान् भवेत् । तच्च त्रेधा जघन्यादिभेदैर्भेदमुपेयिवत् ॥१३९॥ जघन्यं शीलवान् मिथ्यादृष्टिश्च पुरुषो भवेत् । सद्दृष्टिर्मध्यमं पात्रं

यत्र रत्नत्रयं[1] नास्ति तदपात्रं विदुर्बुधाः ।
उप्तं तत्र वृथा सर्वमूषरायां क्षिताविव ॥७९९॥
पात्रे दत्तं भवेदन्नं पुण्याय गृहमेधिनाम् ।
शुक्तावेव हि मेघानां जलं मुक्ताफलं भवेत् ॥८००॥
मिथ्यात्वग्रस्तचित्तेषु[2] चारित्राभासभागिषु ।
दोषायैव भवेद्दानं पयःपानमिवाहिषु ॥८०१॥
कारुण्यादथवौचित्यात्तेषां किञ्चिद्दिशन्नपि ।
दिशेदुद्धृतमेवान्नं[3] गृहे भुक्तिं न कारयेत् ॥८०२॥
सत्कारादिविधावेषां[4] दर्शनं दूषितं भवेत् ।
यथा विशुद्धमप्यम्बु विषभाजनसंगमात् ॥८०३॥
शाक्यनास्तिकयागज्ञजटिलाजीवकादिभिः[5] ।
सहावासं सहालापं तत्सेवां च विवर्जयेत् ॥८०४॥

श्रावक मध्यमपात्र है और असंयत सम्यग्दृष्टि जघन्यपात्र है ॥७९८॥ जिस मनुष्यमें न सम्यग्दर्शन है, न सम्यग्ज्ञान है और न सम्यक्चारित्र है उसे विद्वज्जन अपात्र समझते हैं। जैसे ऊसर भूमिमें कुछ भी बोना व्यर्थ होता है वैसे ही अपात्रको दान देना भी व्यर्थ है ॥७९९॥ पात्रको आहार दान देनेसे गृहस्थोंको पुण्य फल प्राप्त होता है; क्योंकि मेघका पानी सीपमें ही जानेसे मोती बनता है, अन्यत्र नहीं ॥८००॥ जिनका चित्त मिथ्यात्वमें फँसा है और जो मिथ्या चारित्रको पालते हैं, उनको दान देना बुराईका ही कारण होता है, जैसे साँपको दूध पिलानेसे वह जहर ही उगलता है ॥८०१॥ ऐसे लोगोंको दयाभावसे अथवा उचित समझकर यदि कुछ दिया भी जाये तो भोजनसे जो अवशिष्ट रहे वही देना चाहिए। किन्तु घरपर नहीं जिमाना चाहिए ॥८०२॥ जैसे विषैले बरतनके सम्बन्धसे विशुद्ध जल भी दूषित हो जाता है वैसे ही इन मिथ्यादृष्टि साधुवेषियोंका आदर-सत्कार करनेसे श्रद्धान दूषित हो जाता है ॥८०३॥ अतः बौद्ध, नास्तिक, याज्ञिक, जटाधारी तपस्वी और आजीवक आदि सम्प्रदायके साधुओंके साथ निवास, बातचीत और उनकी

निःशीलव्रतभावनः ॥१४०॥ सद्दृष्टिः शीलसम्पन्नः पात्रमुत्तममिष्यते । कुदृष्टिर्यो विशीलश्च नैव पात्रमसौ मतः ॥१४१॥ कुमानुषत्वमाप्नोति जन्तुर्ददपात्रके । अशोधितमिवालाम्बु तद्धि दानं प्रदूषयेत् ॥१४२॥ आमपात्रे यथाक्षिप्तं मङ्क्षु क्षीरादि नश्यति । अपात्रेऽपि तथा दत्तं तद्धि स्वं तच्च नाशयेत् ॥१४३॥"—महापुराण, २० पर्व। "पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम् । अविरत सम्यग्दृष्टिर्विरताविरतश्च सकलविरतश्च ॥१७१॥"—पुरुषार्थसि०। अमितगतिश्रावकाचार परि० १०।

१. "काले ददाति योऽपात्रे वितीर्णं तस्य नश्यति । निक्षिप्तमूषिरे बीजं किं कदाचिदवाप्यते ॥३६॥" —अमि० श्रा०, ९ परि०। "जस्स ण तओ ण चरणं ण चावि जस्सत्थि वरगुणो कोई। तं जाणेह अपत्तं अफलं दाणं कयं तस्स ॥५३१॥ ऊसरखित्ते बीयं सुक्खे रुक्खे य णीरअहिसेओ। जह तह दाणमवत्ते दिण्णं खु णिरत्थयं होई ॥५३२॥"—भावसंग्रह। २. "मिथ्यात्ववासितमनस्सु तथा चरित्राभासप्रचारिषु कुदर्शिनिषु प्रदानम्। प्रायो ह्यनर्थजननप्रतिघातिहेतुः क्षीरप्रदानमिव विद्धयनिलाशनेषु ॥६६॥"—धर्मरत्ना० प० १२६। ३. स्वभोजनानन्तरमुद्धृतं अधिकं स्थितं तदेव न तु पूर्वं समीचीनम्। ४. कुदृशाम्। ५. "पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकाञ्छठान्। हैतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥३०॥"—मनुस्मृति अ० ४।

अज्ञाततत्त्वचेतोभिर्दुराग्रहमलीमसैः ।
युद्धमेव भवेद्गोष्ठ्यां दण्डादण्डि कचाकचि ॥८०५॥
भयलोभोपरोधाद्यैः[1] कुलिङ्गिषु निषेवणे[2] ।
अवश्यं दर्शनं म्लायेन्नीचैराचरणे सति ॥८०६॥
बुद्धिपौरुषयुक्तेषु दैवायत्तविभूतिषु ।
नृषु कुत्सितसेवायां दैन्यमेवातिरिच्यते ॥८०७॥

सेवा वगैरह नहीं करना चाहिए ॥८०४॥ तत्त्वोंसे अनजान और दुराग्रही मनुष्योंके साथ बातचीत करनेसे लड़ाई ही होती है जिसमें डण्डा-डण्डी और जूतम बाजार तककी नौबत आ सकती है ॥ ८०५ ॥ जो स्त्री-पुरुष किसी अनिष्टके भयसे या पुत्र वगैरहके लालचसे या दूसरोंके आग्रहसे कुलिङ्गी साधुओंकी सेवा करते हैं, उनका श्रद्धान नीच आचरण करनेसे अवश्य मलिन होता है ॥८०६॥ सभी मनुष्य बुद्धिशाली हैं और यथायोग्य पौरुष-उद्योग भी करते हैं किन्तु सम्पत्तिका मिलना तो भाग्यके अधीन है। फिर भी यदि मनुष्य बुरे मनुष्योंकी सेवा करता है तो यह तो दीनताका अतिरेक है ॥८०७॥

भावार्थ—जो स्वयं सन्मार्गमें लगे हुए हैं और दूसरोंको सन्मार्गमें लगाते हैं या सन्मार्ग-पर सच्ची आस्था रखते हैं वे पात्र कहलाते हैं। उन्हें श्रद्धा और भक्तिपूर्वक दान देना चाहिए। किन्तु जो साधुका तो वेष धारण किये हैं किन्तु सच्चे साधुका एक भी चिह्न जिनमें नहीं है ऐसे गंजेड़ी, भंगेड़ी, जटाजूटधारी, भिखमंगे साधु पात्र नहीं हैं किन्तु अपात्र हैं। उन्हें साधु समझकर दान देना मूर्खता है। ऐसे लोगोंको यदि कुछ दिया जा सकता है तो पात्र-बुद्धिसे नहीं, किन्तु दया-बुद्धिसे। और दया-बुद्धिसे या आवश्यकता समझकर भी जो दिया जाये वह इसी रूपमें दिया जाना चाहिए कि हम एक भूखे मनुष्यकी या दुःखी मनुष्यकी मदद कर रहे हैं, न कि इस रूपमें, जिससे ऐसा लगे कि हम किसी साधुकी अभ्यर्थना कर रहे हैं; क्योंकि ऐसा करनेसे अपनी सन्तानपर या दूसरोंपर गलत प्रभाव पड़नेका भय नहीं रहता, और इससे उन साधु-वेषियोंको दूसरोंपर रंग जमानेका मौका नहीं मिलता। ऐसा देखा गया है कि साधुका वेष बनाकर घर-घर भीख माँगनेवाले मनुष्योंकी कमजोरीका लाभ उठाकर कभी-कभी उन्हें खूब ठगते हैं। उदाहरणके लिए घरमें कोई बीमार हुआ तो भय दिखाकर अपनी भभूत वगैरहके द्वारा घरवालोंपर रंग जमा लेते हैं। कभी सोना, चाँदी दूना करनेका लोभ दिखाकर गहरा हाथ मार देते हैं। पहले मनुष्य लोभमें आकर फँस जाता है और पीछे पछताता है। इसीलिए ग्रन्थ-कारने भय, लोभ और दूसरोंके कहनेसे भी इन प्रपंची साधुओंकी सेवा करनेका कड़ा निषेध किया है। मनुष्योंको यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिए कि जो कुछ मनुष्यको मिलता है वह उसके पूर्व जन्ममें किये हुए या इस जन्ममें किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका फल है। अपने शुभाशुभ कर्मोंके सिवा कोई किसीको न कुछ दे सकता है और न उसका कोई कुछ भला या बुरा कर सकता है। इसलिए उसे यह भाव अपने मनसे निकाल ही देना चाहिए, कोई दूसरा कुछ दे सकता है।

---

१. आग्रह। २. सेवायां सत्यां। "भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम्। प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥३०॥"—रत्नकरंडश्रा०।

समयी[1] साधकः[2] साधुः सूरिः समयदीपकः ।
तत्पुनः पञ्चधा पात्रमामनन्ति मनीषिणः ॥८०८॥
गृहस्थो वा यतिर्वापि जैनं समयमास्थितः ।
यथाकालमनुप्राप्तः पूजनीयः सुदृष्टिभिः ॥८०९॥
ज्योतिर्मन्त्रनिमित्तज्ञः सुप्रज्ञः [3]कार्यकर्मसु ।
मान्यः समयिभिः सम्यक्परोक्षार्थसमर्थधीः ॥८१०॥
दीक्षायात्राप्रतिष्ठाद्याः क्रियास्तद्विरहे कुतः ।
तदर्थं परपृच्छायां कथं च समयोन्नतिः ॥८११॥

जो ऐसा दृढ़ विश्वास करके प्रयत्नशील रहेगा वह कभी किसीके चक्करमें नहीं फँसेगा। अतः दीनताको दूर करके सदा सच्चे निःस्पृही दिगम्बर गुरुओंकी ही सेवा-भक्ति करनी चाहिये। क्योंकि वे किसीसे कुछ माँगते नहीं हैं और न देनेवालेसे प्रसन्न होते हैं और न न देनेवालेपर क्रोध करते हैं। वे भोजनके लिए नहीं जीते किन्तु जीनेके लिए भोजन करते हैं। और उनका जीना जीनेके लिए नहीं है किन्तु स्व और परके कल्याणके लिए है।

[*अब दूसरी तरहसे पात्रके पाँच भेद और उनका स्वरूप बतलाते हैं—*]

बुद्धिमान् पुरुष समयी, साधक, साधु, आचार्य और धर्मके प्रभावकके भेदसे पात्रके पाँच भेद मानते हैं ॥८०८॥ गृहस्थ हो या साधु, जो जैन धर्मका अनुयायी है उसे समयी या साधर्मी कहते हैं। ये साधर्मी पात्र यथाकाल प्राप्त होनेपर सम्यग्दृष्टि भाइयोंको उनका आदर-सत्कार करना चाहिए ॥८०९॥ जिनकी बुद्धि परोक्ष अर्थको भली प्रकारसे जाननेमें समर्थ है उन ज्योतिषशास्त्र, मन्त्रशास्त्र और निमित्तशास्त्रके ज्ञाताओंका तथा कार्यक्रम अर्थात् प्रतिष्ठा आदिके ज्ञाताका साधर्मी भाइयोंको सम्मान करना चाहिए ॥८१०॥

भावार्थ—प्रति अ. आ. और ज. में 'कायकर्मसु' पाठ है। और टिप्पणमें उसका अर्थ शारीरिक चिकित्सा करनेवाला वैद्य दिया है और प्रबोधसारमें भी वैद्य ही अर्थ लिया है। किन्तु धर्मरत्नाकरमें और सागारधर्मामृतमें उद्धृत श्लोकमें 'कायकर्मसु' पाठ है। हमें यही पाठ ठीक प्रतीत होता है क्योंकि आगेके श्लोकमें कहा है कि उसके अभावमें दीक्षा, यात्रा, प्रतिष्ठा आदि क्रिया कैसे हो सकती हैं। इन क्रियाओंको तो वही करा सकता है जो क्रियाकाण्डमें कुशल हो। अतः यही पाठ समुचित प्रतीत होता है।

यदि वह न हो तो जिनदीक्षा, तीर्थयात्रा और जिन बिम्बप्रतिष्ठा वगैरह क्रियाएँ कैसे हो सकती हैं; क्योंकि इनमें मुहूर्त देखनेके लिए ज्योतिषविद्या और क्रियाकर्म करानेके लिए प्रतिष्ठा-शास्त्रके ज्ञाताकी आवश्यकता होती है। शायद कहा जाये कि दूसरे लोगोंमें जो ज्योतिषी या मन्त्रशास्त्री हैं उनसे काम चला लिया जायेगा। किन्तु इस तरह दूसरोंसे पूछनेसे अपने धर्मकी उन्नति कैसे हो सकती है ॥ ८११ ॥

---

१. "समयिकसाधकसमयद्योतकनैष्ठिकगणाधिपान् धिनुयात्। दानादिना यथोत्तरगुणरागात् सद्गृही नित्यम् ॥५१॥"—सागारधर्मा०, अ० २। २ सावकः अ० ज०। श्रावकः मु०। ३. कायकर्मसु—अ०, आ०, ज०। वैद्यः।

मूलोत्तरगुणश्लाघ्यैस्तपोभिर्निष्ठितस्थितिः ।
साधुः साधु भवेत्पूज्यः पुण्योपार्जितपण्डितैः ॥८१२॥
ज्ञानकाण्डे क्रियाकाण्डे चातुर्वर्ण्यपुरःसरः ।
सूरिर्देव इवाराध्यः संसाराब्धितरण्डकः ॥८१३॥
लोकवित्त्वकवित्वाद्यैर्वादवाग्मित्वकौशलैः ।
मार्गप्रभावनोद्युक्ताः सन्तः पूज्या विशेषतः ॥८१४॥
[1]मान्यं ज्ञानं तपोहीनं ज्ञानहीनं तपोऽर्हितम् ।
द्वयं यत्र स देवः स्याद् द्विहीनो गणपूरणः ॥८१५॥
अर्हद्रूपे नमोऽस्तु स्याद्विरतौ विनयक्रिया ।
अन्योन्यं क्षुल्लके चाहमिच्छाकारवचः सदा ॥८१६॥

भावार्थ—अपने धर्मकी उन्नति तो तभी हो सकती है जब अपनेमें भी सब आवश्यक बातोंके जाननेवाले हों। तथा अपने मुहूर्तविचारमें भी दूसरोंसे अन्तर है और प्रतिष्ठा आदि विधि तो बिलकुल ही अलग है। अतः जैन ज्योतिष और जैन मन्त्रशास्त्रके और प्रतिष्ठाशास्त्रके वेत्ताओंका भी सम्मान करना चाहिए, जिससे वे बने रहें और हमारे धर्मकी क्रियाएँ शुद्ध विधिपूर्वक चालू रहें।

मूलगुण और उत्तरगुणोंसे युक्त तपस्वी महात्माको साधु कहते हैं। जो पुण्यको कमानेमें चतुर हैं उन्हें साधुकी भक्तिभावसे पूजा करनी चाहिए ॥ ८१२ ॥

जो ज्ञानकाण्ड और क्रियाकाण्डमें चतुर्विध संघके मुखिया होते हैं तथा संसाररूपी समुद्रसे पार उतारनेमें समर्थ हैं उन्हें आचार्य कहते हैं। उनकी देवके समान आराधना करनी चाहिए ॥ ८१३ ॥

जो लोकज्ञता तथा कवित्व आदिके द्वारा और शास्त्रार्थ तथा वक्तृत्वशक्तिके कौशल-द्वारा जैन धर्मकी प्रभावना करनेमें सदा संलग्न रहते हैं उन सज्जन पुरुषोंका विशेषरूपसे समादर करना चाहिए ॥ ८१४ ॥

भावार्थ—जैन धर्मकी प्रभावना करनेके लिए लोक चतुर व्यक्ति, सुयोग्य कवि, शास्त्रार्थी विद्वान् और कुशल वक्ता भी आवश्यक हैं। अतः उनका भी समादर होना आवश्यक है।

तपसे हीन ज्ञान भी समादरके योग्य है। और ज्ञानसे हीन तप भी पूजनीय है। किन्तु जिसमें ज्ञान और तप दोनों हैं वह देवता है और जिसमें दोनों नहीं हैं वह केवल संघका स्थान भरनेवाला है ॥ ८१५ ॥

अभिवादनकी विधि

जिन-मुद्राके धारक साधुओंको 'नमोऽस्तु' कहकर अभिवादन करना चाहिए। त्यागियों-की विनय करना चाहिए। और क्षुल्लक त्यागी परस्परमें एक दूसरेका सदा 'इच्छामि' कहकर

---

१. "ज्ञानं तपोहीनमपि प्रपूज्यं ज्ञानं प्रहीणं सुतपोऽपि पूज्यम्। यत्र द्वयं देववदेष पूज्यो द्वयेन हीनो गणपूरणः स्यात् ॥६८॥"—धर्मरत्ना० प० १२७। "मान्यो बोधस्तपोहीनो बोधहीनो तपोऽर्हितम्। द्वयं यत्र स देवः स्यात् द्विहीनो व्रतवेषभृत् ॥४६॥"—प्रबोधसार पृ० २०२।

अनुवीचीवचो भाष्यं सदा पूज्यादिसंनिधौ ।
यथेष्टं हसनालापान् वर्जयेद्गुरुसंनिधौ ॥८१७॥
भुक्तिमात्रप्रदाने हि का परीक्षा तपस्विनाम् ।
ते सन्तः सन्त्वसन्तो वा गृही दानेन शुद्ध्यति ॥८१८॥
सर्वारम्भप्रवृत्तानां गृहस्थानां धनव्ययः ।
बहुधास्ति ततोऽत्यर्थं न कर्तव्या विचारणा ॥८१९॥
यथा यथा विशिष्यन्ते तपोज्ञानादिभिर्गुणैः ।
तथा तथाधिकं पूज्या मुनयो गृहमेधिभिः ॥८२०॥
दैवाल्लब्धं धनं धन्यैर्वप्तव्यं समयाश्रिते ।
एको मुनिर्भवेल्लभ्यो न लभ्यो वा यथागमम् ॥८२१॥
उच्चावचजनप्रायः समयोऽयं जिनेशिनाम् ।
नैकस्मिन्पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालयः ॥८२२॥
ते नामस्थापनाद्रव्यभावन्यासैश्चतुर्विधाः ।
भवन्ति मुनयः सर्वे दानमानादिकर्मसु ॥८२३॥
उत्तरोत्तरभावेन विधिस्तेषु विशिष्यते ।
पुण्यार्जने गृहस्थानां जिनप्रतिकृतिष्विव ॥८२४॥

अभिवादन करते हैं। पूज्य पुरुषोंके सामने सदा शास्त्रानुकूल वचन बोलना चाहिए। तथा गुरुजनों के समीपमें स्वच्छन्दतापूर्वक हँसी-मजाक नहीं करना चाहिए ॥ ८१६—८१७ ॥

केवल आहारदानके लिए साधुओंकी परीक्षा नहीं करनी चाहिए। चाहे वे सज्जन हों या दुर्जन हों। गृहस्थ तो दान देनेसे शुद्ध होता है ॥ ८१८ ॥ गृहस्थ लोग अनेक आरम्भोंमें फँसे रहते हैं और उनका धन भी अनेक प्रकारसे खर्च होता है। इससे तपस्वियोंको आहारदान देनेमें ज्यादा सोच-विचार नहीं करना चाहिए ॥ ८१९ ॥ मुनिजन जैसे-जैसे तप, ज्ञान आदि गुणोंसे विशिष्ट हों वैसे-वैसे गृहस्थोंको उनका अधिक समादर करना चाहिए ॥ ८२० ॥ धन भाग्यसे मिलता है, अतः भाग्यशाली पुरुषोंको आगमानुकूल कोई मुनि मिले या न मिले, किन्तु उन्हें अपना धन जैन धर्मानुयायिओंमें अवश्य खर्च करना चाहिए ॥ ८२१ ॥ जिन भगवान्का यह धर्म अनेक प्रकारके मनुष्योंसे भरा है। जैसे मकान एक खम्मेपर नहीं ठहर सकता वैसे ही यह धर्म भी एक पुरुषके आश्रयसे नहीं ठहर सकता ॥ ८२२ ॥

मुनियोंके चार भेद

नाम, स्थापना, द्रव्य और भावनिक्षेपकी अपेक्षासे मुनि चार प्रकारके होते हैं और वे सभी दान, सम्मानके योग्य हैं ॥ ८२३ ॥ किन्तु गृहस्थोंके पुण्य उपार्जनकी दृष्टिसे जिनबिम्बोंकी तरह उन चार प्रकारके मुनियोंमें उत्तरोत्तर रूपसे विशिष्ट विधि होती जाती है ॥ ८२४ ॥

१. "भुक्तिमात्रप्रदाने तु····शूद्रो दानेन शुद्ध्यति"—सागारधर्मामृत अ० २–६४ श्लोकका टिप्पण। "अनेकधारम्भविजृम्भितानां वित्तव्ययो हर्म्यवतामगण्यः। तद्भुक्तिमात्रां हतये (?) न योग्या विचारणा लिङ्गिषु तीर्थहन्त्री ॥७०॥"—धर्मरत्ना०, प० १२७। २. "दैवायत्तं धनलवभवं प्राप्य भूतिं गृहस्थाः वप्तव्यासौ जिनपसमयाध्यासितप्राणिभूमौ। साधुः शुद्धव्रतगुणगणः सूत्रमार्गानुसारी नैको लक्षे क्षपितकलिलो लभ्यते वा न वेति ॥७१॥"—धर्मरत्ना० प० १२७। ३. –र्जनगृह–अ०, ज०, मु०। ४. जिनप्रतिमावत्।।

अतद्‌गुणेषु[1] भावेषु व्यवहारप्रसिद्धये ।
यत्संज्ञाकर्म तन्नाम नरेच्छावशवर्तनात् ॥८२५॥
साकारे[2] वा निराकारे काष्ठादौ यन्निवेशनम् ।
सोऽयमित्यवधानेन स्थापना सा निगद्यते ॥८२६॥
आगामि[3]गुणयोग्योऽर्थो द्रव्यन्यासस्य गोचरः ।
तत्काल[4]पर्ययाक्रान्तं वस्तु भावो विधीयते[5] ॥८२७॥

भावार्थ—ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारके समयमें मुनियोंमें शिथिलाचार अधिक बढ़ गया था, जिसके कारण गृहस्थ लोग उन्हें आहार देते हुए भी झिझकते थे और परीक्षा करके ही आहार देते थे। इसीलिए ग्रन्थकारको यह लिखना पड़ा कि भोजन देनेमें मुनियोंकी क्या परीक्षा करते हो, गृहस्थ तो दान देनेसे शुद्ध होता है आदि। उन्होंने चार निक्षेपोंकी अपेक्षासे मुनियोंके चार भेद करके नामके मुनियोंको भी दान सम्मानके योग्य बतलाया है। ये सब उन्होंने साधर्मी प्रेमवश ही लिखा प्रतीत होता है। इसमें तो सन्देह नहीं कि ग्रन्थकारकी दृष्टि उदार है और वह यह खूब समझते हैं कि धार्मिक संस्थाकी स्थिति कैसे रह सकती है। इसीसे वे लिखते हैं कि जिन भगवान्‌का धर्म एक आदमीके ऊपर निर्भर नहीं रह सकता। इसमें तो तरह-तरहके आदमी भरे हैं और उन सबका ही ध्यान रखना जरूरी है। उसके बिना वह चल नहीं सकता। अतः गृहस्थोंको भोजन तो सभीको देना चाहिए किन्तु जैसे-जैसे जिसमें गुण अधिक हों वैसे-वैसे उसका विशिष्ट समादर करना चाहिए। जो नामसे मुनि हैं वा स्थापनासे मुनि हैं उनसे द्रव्यमुनि उत्तम हैं और द्रव्यमुनिसे भावमुनि उत्तम हैं। अतः नामसे मुनि और स्थापनासे मुनिकी अपेक्षा द्रव्यमुनि और भावमुनिका विशिष्ट समादर करना चाहिए। 'सब धान बाईस पसेरी'की कहावत नहीं चरितार्थ करना चाहिए।

[अब क्रमशः चारों निक्षेपोंका स्वरूप बतलाते हैं—]

नामनिक्षेप

नामसे व्यक्त होनेवाले गुणसे हीन पदार्थोंमें लोक-व्यवहार चलानेके लिए मनुष्य अपनी इच्छानुसार जो नाम रख लेते हैं उसे नामनिक्षेप कहते हैं ॥८२५॥

स्थापनानिक्षेप

तदाकार या अतदाकार लकड़ी वगैरहमें 'यह अमुक है' इस प्रकारके अभिप्रायसे जो स्थापना की जाती है उसे स्थापनानिक्षेप कहते हैं ॥८२६॥

द्रव्य और भावनिक्षेप

जो पदार्थ भविष्यमें अमुक गुणोंसे विशिष्ट होगा उसे अभी ही से उस नामसे पुकारना द्रव्यनिक्षेप है। और जो वस्तु जिस समय जिस पर्यायसे विशिष्ट है उसे उस समय उसी रूप

---

१. "अतद्‌गुणे वस्तुनि सव्यवहारार्थं पुरुषाकारान्नियुज्यमानं संज्ञाकर्म नाम।"—सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक, श्लोकवार्तिक १-५। २. "काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु सोऽयमिति स्थाप्यमाना स्थापना।"—सर्वार्थसि०, तत्त्वार्थवार्तिक १-५। ३. "अनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यम्। अतद्भवं वा।"।—तत्त्वार्थवार्तिक १-५। ४. "वर्तमानतत्पर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः।"—सर्वार्थसि०, तत्त्वार्थवार्तिक १-५। ५. 'वोऽभिधीयते' इति पाठः प्रतिभाति।

यदात्मवर्णनप्रायं क्षणिकाहार्यविभ्रमम् ।
परप्रत्ययसंभूतं[1] दानं तद्राजसं[2] मतम् ॥८२८॥
पात्रापात्रसमावेक्ष्यमसत्कारमसंस्तुतम् ।
दासभृत्यकृतोद्योगं दानं तामसमूचिरे[3] ॥८२९॥

कहना भावनिक्षेप है ॥८२७॥

भावार्थ—लोकमें प्रत्येक वस्तुका चार रूपसे व्यवहार पाया जाता है। वे चार रूप हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। जैसे मुनिको ले लीजिए। 'मुनि' पदका व्यवहार चार रूपसे देखा जाता है। अनेक लोग अपने लड़कोंका नाम मुनि रख लेते हैं। वे लड़के गुणोंसे मुनि नहीं हैं किन्तु नामसे मुनि हैं। मुनियोंकी मूर्तियाँ स्थापनासे मुनि हैं उनमें मुनियोंकी स्थापना की गयी है। नाम और स्थापनामें यह अन्तर है कि यद्यपि स्थापना होती तो नामपूर्वक ही है किन्तु जिस व्यक्तिकी स्थापना की गयी हो उसके पदके अनुसार उसका आदर वगैरह भी किया जाता है, परन्तु नाममें यह बात नहीं है। जिस बच्चेका नाम मुनि है उसका मुनिकी तरह कोई समादर नहीं करता किन्तु मुनिकी मूर्तिको सब कोई पूजते हैं। और जो व्यक्ति भविष्यमें मुनि होनेवाला है और उसके लिए प्रयत्नशील है वह द्रव्यकी अपेक्षा मुनि है। उसमें मुनिपना द्रव्यरूपसे है भाव रूपसे नहीं है। किन्तु जो बाह्य और अन्तरसे मुनिपदका धारी है वह भावसे मुनि है। इस प्रकार मुनिके चाररूप लोकमें पाये जाते हैं इनमें-से नामरूपको छोड़कर शेष तीन रूप मान्य हैं; क्योंकि उनमें किसी-न-किसी रूपमें मुनिपदकी बुद्धि या उसकी योग्यता पायी जाती है। वर्तमानके जिन मुनियोंमें मुनिपदके अनुकूल आचरण नहीं पाया जाता, ग्रन्थकारने उनमें भी पूर्व मुनियोंकी स्थापना करके उनका समादर करनेका विधान किया है।

[अब प्रकारान्तरसे दानके तीन भेद बतलाते हैं—]

राजस दान

जो दान अपनी ख्यातिकी भावनासे कभी-कभी किसीको तब दिया जाता है जब दूसरे दाताको वैसे दानसे मिलनेवाले फलको देख लिया जाता है, उस दानको राजस दान कहते हैं। अर्थात् उसे स्वयं तो दानपर विश्वास नहीं होता किन्तु किसीको दानसे मिलनेवाला फल देखकर कि इसने यह दिया था तो उससे इसे अमुक-अमुक लाभ हुआ, दान देता है। ऐसा दान रजोगुण प्रधान होनेसे राजस कहा जाता है ॥८२८॥

तामस दान

पात्र और अपात्रको समानरूपसे मानकर या पात्रको अपात्रके समान मानकर बिना किसी आदर-सम्मान और स्तुतिके, नौकर-चाकरोंके उद्योगपूर्वक जो दान दिया जाता है उस

---

१. स्वचित्ते दानस्य विश्वासो नास्ति परन्तु कस्यचिद्दानस्य फलं दृष्ट्वा अनेन ईदृशं प्राप्तं पश्चात् ददाति । २. "निजस्तवनलालसैरलससादरैः सान्तरं यशोलवसमाकुलैः कलितलोकसम्प्रत्ययम् । सगर्वमविभाविताततिथिगुणं च यद्दीयते विहाय्यितमितीरितं मतिमतां मतं राजसम् ॥७९॥"—धर्मरत्न० प० १२७ । ३. "पात्राविचारणाविरहितं दूरादपास्तादरं, भार्यासूनुनियोगिभिर्विरचितं चित्तादिशुद्धिच्युतम् । मात्सर्योपहृतं विवेकविकलं यत्किञ्चनार्हेऽपि च, एतत्तामसमामनन्ति मुनयो दानं गतप्रार्चनम् ॥८०॥"—धर्मरत्ना०, प० १२७ ।

अतिथेयं [1] स्वयं यत्र यत्र पात्रनिरीक्षणम् ।
गुणाः श्रद्धादयो यत्र दानं तत्सा[2]त्त्विकं विदुः ॥८३०॥
उत्तमं सात्त्विकं दानं मध्यमं राजसं भवेत् ।
दानानामेव सर्वेषां जघन्यं तामसं पुनः ॥८३१॥
यद्दत्तं[3] तदमुत्र स्यादित्यसत्यपरं वचः ।
गावः पयः प्रयच्छन्ति किं न तोयतृणाशनाः ॥८३२॥
मुनिभ्यः शाकपिण्डोऽपि भक्त्या काले प्रकल्पितः ।
भवेदगण्यपुण्यार्थं भक्तिश्चिन्तामणिर्यतः ॥८३३॥
अभिमानस्य रक्षार्थं विनयायागमस्य च ।
भोजनादिविधानेषु मौनमूचुर्मुनीश्वराः ॥८३४॥
लौल्यत्यागात्तपोवृद्धिरभिमानस्य [4] रक्षणम् ।
ततश्च समवाप्नोति मनःसिद्धिं जगत्त्रये ॥८३५॥

दानको तामस दान कहते हैं ॥८२९॥

सात्त्विक दान

जिस दानमें स्वयं पात्रको देखकर स्वयं उसका अतिथि-सत्कार किया जाता है तथा जो श्रद्धा वगैरहके साथ दिया जाता है उस दानको सात्त्विक दान कहते हैं ॥८३०॥

इन तीनों दानोंमें-से सात्त्विक दान उत्तम है, राजस दान मध्यम है और तामस दान सब दानोंमें निकृष्ट है ॥८३१॥

जो दिया जाता है परलोकमें वही मिलता है, ऐसा कहना झूठ है । क्या पानी और घास खानेवाली गायें दूध नहीं देती हैं ? अतः मुनियोंको समयपर भक्तिपूर्वक दिया गया शाक-पात भी अपरिमित पुण्यका कारण होता है; क्योंकि भक्ति ही चिन्तामणि है ॥८३२-८३३॥

भावार्थ—सारांश यह है दानकी कीमत दिये जानेवाले द्रव्यकी कीमतसे नहीं आँकी जाती, किन्तु दाताकी श्रद्धा और भक्तिसे आँकी जाती है । बिना भक्तिके दिया गया खीरका भोजन भी व्यर्थ है और भक्तिपूर्वक दिया गया शाक-पात भी बहुफलदायी है ।

[अब भोजनके समय मौनका विधान करते हैं—]

जिनेन्द्र भगवान्ने अभिमानकी रक्षाके लिए और श्रुतकी विनयके लिए भोजन वगैरहके समय मौन करना बतलाया है । भोजनकी लिप्साके त्यागनेसे तपकी वृद्धि होती है और अभिमान-

---

१. "अतिथेयं हितं यत्र"—सागारधर्मामृत, अ० ५-४७ की टीकामें उद्धृत । २. "यत्रातिथेयं स्वयमेव साक्षात् ज्ञानादयो यत्र गुणाः प्रकाशाः । पात्राद्यवेक्षापरता च यत्र तत्सात्त्विकं दानमुदाहरन्ति ॥७८॥"—धर्मरत्ना० पृ० १२७ । ३. "दत्तं परत्रैव फलत्यवश्यं नैकान्तिकं हन्त वचो यतोभिः (?) । गावः प्रयच्छन्ति न किं पयांसि तृणानि तोयान्यपि संप्रभुज्य ॥८२॥ ये भक्तिसारविनताः किल शाकपिण्डं संकल्पयन्ति समयानुगुणं मुनिभ्यः । तेऽगण्यपुण्य-गुणसन्ततिसन्निवासाश्चिन्तामणिर्निगदिताऽविचलाद् विभक्तेः ॥८३॥"—धर्मरत्ना० पृ० १२८ । ४. रक्षणं अ०, ज०, मु० ।

श्रुतस्य [1]प्रश्रयाच्छ्रेयः समृद्धेः स्यात्समाश्रयः ।
ततो मनुजलोकस्य प्रसीदति सरस्वती ॥८३६॥
शारीरमानसागन्तुव्याधिसंबाधसंभवे ।
साधुः संयमिनां कार्यः प्रतीकारो गृहाश्रितैः ॥८३७॥

तत्र [2]दोषधातुमलविकृतिजनिताः शारीराः, दौर्मनस्यदुःस्वप्नसाध्वसा[3]दिसंपादिता मानसाः, शीतवाताभिघातादिकृता आगन्तवः ।

मुनीनां व्याधियुक्तानामुपेक्षायामुपासकैः ।
असमाधिर्भवेत्तेषां स्वस्य चाधर्मकर्मता ॥८३८॥

की रक्षा होता है और उनके होनेसे मन वशमें होता है । श्रुतकी विनय करनेसे कल्याण होता है, सम्पत्ति मिलती है और उससे मनुष्यपर सरस्वती प्रसन्न होती है ॥ ८३४–८३६ ॥

भावार्थ—भोजनके समय मौन करनेसे जूठे मुँह वाणीका उच्चारण नहीं करना पड़ता । यह वाणीकी विनय है । इसके करनेसे वाणीपर असाधारण अधिकार प्राप्त होता है । जो लोग दिन-भर बक-झक करते हैं उनके वचनकी कीमत जाती रहती है । दूसरा लाभ यह है कि माँगना नहीं पड़ता । माँगनेसे स्वाभिमानका घात होता है और न माँगनेसे उसकी रक्षा होती है । तथा अपनी इच्छाको रोकना पड़ता है और इच्छाका रोकना तप है अतः मौनसे तपकी वृद्धि होती है और मन वशमें होता है, अतः मौनपूर्वक भोजन करना चाहिए ।

रोगी-मुनियोंकी परिचर्याका विधान

मुनिजनोंको शारीरिक, मानसिक या कोई आगन्तुक रोगादिककी बाधा होनेपर गृहस्थोंको उसका प्रतीकार करना चाहिए ॥८३७॥ वात, पित्त, कफ, रुधिरादि धातु और मलके विकारसे जो रोग होते हैं उन्हें शारीरिक कहते हैं । मनके दूषित होनेसे, बुरे स्वप्नोंसे या भय आदिके कारणसे जो रोग होते हैं वे मानसिक हैं, ठण्ड वायु वगैरहके लग जानेसे जो आकस्मिक बाधा हो जाती है उसे आगन्तुक कहते हैं । इन बाधाओंको दूर करनेका प्रयत्न गृहस्थोंको करना चाहिए; क्योंकि रोगग्रस्त मुनियोंकी उपेक्षा करनेसे मुनियोंकी समाधि नहीं बनती और गृहस्थोंका धर्म-कर्म नहीं बनता ॥८३८॥

भावार्थ—आशय यह है कि मुनियोंको किसी तरहकी बाधा होनेपर यदि गृहस्थ उसका निवारण न करें तो व्याधिग्रस्त होनेके कारण मुनिजन ठीक रीतिसे आत्मसाधना नहीं कर सकते और चूँकि गृहस्थ अपने कर्तव्यपालनमें प्रमाद करते हैं अतः वे भी अपने धर्म-कर्मसे च्युत कहे जायेंगे या हो जायेंगे; क्योंकि धर्म तो मुनिजनोंके ही आश्रयसे चलता है । अतः गृहस्थोंको रुग्ण साधुओंकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ।

---

१. "प्रश्रयाधिकतया श्रुतस्य वै श्रेयसां च विभवस्य भाजनम् । संभवन्ति मनुजाः प्रसन्नतामेत्यतो भवभवे सरस्वती ॥८६॥"—धर्मरत्ना०, प० १२८ । अमित० श्राव० १२ परि० १०१–११६ श्लो० । "अभिमानावने गृद्धिरोधात् वर्धयते तपः । मौनं तनोति श्रेयश्च श्रुतप्रश्रयतायनात् ॥३५॥"—सागारधर्मा० अ० ४ । २. वातपित्तश्लेष्म । ३.– साध्वि– आ० । "शरीराः ज्वरकुष्टाद्याः क्रोधाद्या मानसाः स्मृताः । आगन्तवोऽभिघातोत्थाः सहजाः क्षुत्तृषादयः ॥८८॥"—धर्मरत्ना०, प० १२८ ।

सौमनस्यं सदा चर्यं व्याख्यातृषु पठत्सु च ।
आवास[1]पुस्तकाहारसौकर्यादिविधानकैः ॥८३९॥
अङ्ग[2]पूर्वप्रकीर्णोक्तं सूक्तं केवलिभाषितम् ।
नश्येन्निर्मूलतः सर्वं श्रुतस्कन्धधरात्यये ॥८४०॥
प्रश्रयोत्साहनानन्दस्वाध्यायोचितवस्तुभिः ।
श्रुतवृद्धान्मुनीन्कुर्वञ्जायते श्रुतपारगः ॥८४१॥
श्रुता[3]त्तत्त्वपरिज्ञानं श्रुतात्समयवर्धनम् ।

श्रुतकी रक्षाके लिए श्रुतधरोंकी रक्षा आवश्यक है

जो जिनशास्त्रोंका व्याख्यान करते हैं या उनको पढ़ते हैं उन्हें, रहनेको निवास-स्थान, पुस्तक और भोजन आदिकी सुविधा देकर गृहस्थोंको सदा अपनी सदाशयताका परिचय देते रहना चाहिए ॥८३९॥ क्योंकि श्रुतके व्याख्याता और पाठक श्रुतसमूहके धारक हैं—उनके नष्ट हो जानेसे केवली भगवान्‌के द्वारा उपदिष्ट ग्यारह अंग और चौदह पूर्व रूप समस्त श्रुतज्ञान जड़से नष्ट हो जायेगा ॥८४०॥ जो आश्रय देकर, उत्साह बढ़ाकर, आराम देकर तथा स्वाध्यायके योग्य शास्त्र आदि वस्तुओंको देकर मुनियोंको शास्त्रमें निपुण बनानेका प्रयत्न करते हैं वे स्वयं श्रुतके पारगामी हो जाते हैं ॥८४१॥

भावार्थ—वास्तवमें जैनधर्म तभीतक कायम है जबतक जैनशास्त्रोंके ज्ञाता जन मौजूद हैं और लोगोंमें जैनशास्त्रोंका पठन-पाठन चालू है। क्योंकि यदि लोगोंमें-से शास्त्रज्ञान लुप्त हो गया तो वे अपने धर्म-कर्मको भी भूल बैठेंगे और धर्म-कर्मके भूल बैठनेसे वे केवल नामके जैनी रह जायेंगे और कुछ समय बाद यह भी भूल जायेंगे कि हम जैनी हैं। अतः इस बातका प्रयत्न अपने भरसक करना चाहिए कि जैनशास्त्रोंका पठन-पाठन चालू रहे। और उसके लिए उन लोगोंको बराबर साहाय्य देते रहना चाहिए जो अपना जीवन इस काममें लगाये हुए हैं। पहले समयमें तो मुनिसंघ होते थे और गृहस्थ लोग भी अपने बच्चोंको पढ़नेके लिए संघमें भेज देते थे। किन्तु अब तो विरले ही मुनि दृष्टिगोचर होते हैं और जो होते हैं उनमें भी ज्ञानका विकास बहुत कम पाया जाता है। अतः जो गृहस्थ लोग इस काममें अपने जीवनको लगाकर श्रुतकी रक्षा करते हैं, स्वयं श्रुताभ्यास करते हैं और दूसरोंको कराते हैं या जो विद्यार्थी विद्यालयों या पाठशालाओंमें पढ़ते हैं उन सबको यथायोग्य साहाय्य देते रहना चाहिए और जो संस्थाएँ इसीलिए खुली हुई हैं कि जैनशास्त्रोंका पठन पाठन चालू रहे उनकी रक्षा और प्रचार हो, उन्हें भी भरपूर मदद देते रहना चाहिए।

श्रुत या शास्त्रका महत्त्व

श्रुत या शास्त्रसे ही तत्त्वोंका ज्ञान होता है और शास्त्रसे ही जिन-शासनकी वृद्धि होती

---

१. "आवासपुस्तकादीनां सौकर्यादिविधानतः ॥९०॥"—धर्मरत्ना०, प० १२८। सौकार्या– अ० ज० मु०। २. "अङ्गपूर्वरचितप्रकीर्णकं वीतरागमुखपद्मनिर्गतम्। नश्यतीह सकलं सुदुर्लभं सन्ति न श्रुतधरा यदर्षयः ॥ ९१ ॥ तत्प्रश्रयोत्साहनयोग्यदानानन्दप्रमोदादिमहाक्रियाभिः। कुर्वन् मुनीनागमविद्धचित्तान् स्वयं नरः स्याच्छ्रुतपारगामी ॥९२॥"—धर्मरत्ना० प० १२८। ३. "श्रुतेन तत्त्वं पुरुषैः प्रबुध्यते, श्रुतेन वृद्धिः समयस्य जायते। श्रुतप्रभावं परिवर्णयेज्जिनः श्रुतं विना सर्वमिदं विनश्यति ॥९३॥"—धर्मरत्ना०, प० १२९।

श्रेयोऽर्थिनां श्रुताभावे सर्वमेतत्तमस्यते ॥८४२॥
असि[1]धारणवद्बाह्ये क्लेशे हि सुलभा नराः।
यथार्थ[8]ज्ञानसंपन्नाः शौण्डीरा इव दुर्लभाः ॥८४३॥
ज्ञानभावनया हीने कायक्लेशिनि केवलम्।
कर्मवाहीकवत्किञ्चिद्व्येति[2] किञ्चिदुदेति[3] च ॥८४४॥
सृणि[4]वज्ज्ञानमेवास्य वशायाशयदन्तिनः।
[5]तदृते च बहिः क्लेशः क्लेश एव परं भवेत् ॥८४५॥
बहिस्तपः स्वतोऽभ्येति[6] ज्ञानं भावयतः सतः।
[7]क्षेत्रज्ञे यन्निमग्नेऽत्र[8] कुतः स्युरपराः[9] क्रियाः ॥८४६॥
यदज्ञानी[10] युगैः कर्म बहुभिः क्षपयेन्न वा।
तज्ज्ञानी योगसंपन्नः क्षपयेत्क्षणतो ध्रुवम् ॥८४७॥
ज्ञानी पटुस्तदैव स्याद्बहिः क्लेष्टु[11] र्व्रतेऽखिले[12]।
ज्ञातुर्ज्ञानलवेऽप्यस्य[13] न पटुत्वं युगैरपि ॥८४८॥

है। यदि शास्त्र न हों तो अपने कल्याणके इच्छुक जनोंको सर्वत्र अन्धकार ही दिखलायी दे ॥८४२॥ जैसे तलवार वगैरह बाँधनेका कष्ट उठानेवाले मनुष्य तो सरलतासे मिल जाते हैं, किन्तु सच्चे शूरवीरोंका मिलना दुर्लभ है। वैसे ही बाह्य कष्ट उठानेवाले मनुष्य सुलभ हैं किन्तु सच्चे ज्ञानी दुर्लभ हैं ॥८४३॥ जो मनुष्य ज्ञानकी भावनासे शून्य है और केवल शरीरको कष्ट देता है, बोझ ढोनेवाले मनुष्यकी तरह उसका एक कष्ट जाता है तो दूसरा आ जाता है और इस तरह वह केवल कायक्लेश ही उठाता रहता है ॥८४४॥

सच्चे ज्ञानकी महत्ता

मनुष्यके मनरूपी हाथीको वशमें करनेके लिए ज्ञान ही अंकुशके तुल्य है अर्थात् जैसे अंकुश हाथीको रोकता है वैसे ही ज्ञान मनुष्यके मनको बुरी तरफ जानेसे रोकता है। उस ज्ञानके बिना जो शारीरिक कष्ट उठाया जाता है वह कष्ट केवल कष्ट ही के लिए है, उससे कुछ भी लाभ नहीं होता ॥८४५॥ जो ज्ञानकी भावना करता है उसे बाह्य तप स्वयं प्राप्त हो जाता है। क्योंकि जब आत्मा ज्ञानमें लीन हो जाता है तो अन्य क्रियाएँ कैसे हो सकती हैं ?॥८४६॥ अज्ञानी जिस कर्मको बहुतसे युगोंमें भी नहीं नष्ट कर पाता, ध्यानसे युक्त ज्ञानी पुरुष उस कर्मको निश्चयसे क्षण-भरमें ही नष्ट कर देता है ॥८४७॥ समस्त बाह्य व्रतोंमें क्लेश उठानेवाले अज्ञानी यतिसे ज्ञानी पुरुष तत्काल कुशल हो जाता है, किन्तु बाह्य व्रतोंको करनेवाला अज्ञानी,

१. "शास्त्राणि यद्वद्द्षतो वराकाः क्लेशे हि बाह्ये सुलभा मनुष्याः। सुदुर्लभाः सन्ति सुडीरवच्च यथार्थविज्ञानधनाः जगत्याम् ॥९४॥"—धर्मरत्ना०, प० १२९। २. विनश्यति। ३. उदयमायाति। ४. अंकुशवत्। ५. ज्ञानं विना। ६. आगच्छति। ७. आत्मनि। ८. ज्ञाने। ९. बाह्याः। "बाह्यं तपो प्रार्थितमेति पुंसो ज्ञानं स्वयं भावयतः सदैव। क्षेत्रज्ञरत्नाकरसन्निमग्ने बाह्याः क्रियाः सन्तु कुतः समस्ताः ॥९६॥"—धर्मरत्ना० पत्र १२९। १०. "जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं। त णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥"—प्रवचनसार ३-३८। अंतोमुहुत्तेण। भगवती आराधना गा० १०८। "प्रसिद्धं च—यदज्ञानी क्षपेत्कर्म बह्वीभिर्भवकोटिभिः। तज्ज्ञानवांस्त्रिभिर्गुप्तः क्षपयेदन्तमुहूर्ततः ॥९७॥"—धर्मरत्नाकर, प० १२९। ११. क्लेशं कुर्वतः। क्लेष्टे व्रतेऽखिले, आ०। १२. सम्पूर्ण चारित्रे सति पटुः परिपूर्णज्ञानी भवेत्। न तु ज्ञानलवलेशमात्रेण केवली स्यादिति भावः। १३.- लवे यस्मान्न अ०, ज०, मु०।

शब्दैतिह्यैर्न गीः शुद्धा यस्य शुद्धा न धीर्नयैः।
स परप्रत्ययात्क्लिश्यन्भवेदन्धसमः पुमान् ॥८४९॥

युग बीत जानेपर भी ज्ञानके एक अंशमें भी कुशल नहीं होता ॥८४८॥

भावार्थ—ज्ञानका फल आत्मकल्याण है और ऐसा ज्ञान वीतराग हितोपदेशी गुरुओंके द्वारा उपदिष्ट शास्त्रोंसे ही प्राप्त हो सकता है। यों तो संसारमें पुस्तकोंकी कमी नहीं है, किन्तु उनसे बाह्य बातोंका तो विस्तारसे ज्ञान होता है परन्तु मैं कौन हूँ, मेरा क्या स्वरूप है आदि बातोंका कुछ भी ज्ञान नहीं होता। और सब कुछ जानकर भी जिससे अपना ज्ञान नहीं होता वह अपने किस कामका। अतः शास्त्रोंके द्वारा आत्मस्वरूपका ज्ञान पहले करना चाहिए। बहुत-से लोग अपनेको तो जानते नहीं और रात-दिन बाह्य क्रियाकाण्डका कष्ट उठाते रहते हैं। ऐसे आत्मज्ञान-विमुख लोगोंका बाह्य क्रियाकाण्ड केवल क्लेशका कारण है। उससे वह कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते। क्योंकि सच्चे ज्ञानके होनेपर बाह्य आचारमें तो जीवकी प्रवृत्ति स्वयं हो जाती है किन्तु बाह्य आचारमें लगे-लगे सच्चे ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि जब जीवको यथार्थज्ञान हो जाता है तो उसकी प्रवृत्ति बाह्यमुखी न रहकर स्वयं अन्तर्मुखी हो जाती है और प्रवृत्तिका अन्तर्मुख हो जाना ही तो तप है। किन्तु प्रवृत्तिके बहिर्मुख रहनेसे यथार्थज्ञान नहीं हो पाता है। और यथार्थज्ञानका ही सच्चा महत्त्व है जैसा कि ऊपर बतलाया है। अतः यथार्थज्ञानकी प्राप्ति करनी चाहिए।

जिसकी वाणी व्याकरणके द्वारा शुद्ध नहीं हुई और बुद्धि नयोंके द्वारा शुद्ध नहीं हुई वह मनुष्य दूसरोंके विश्वासके अनुसार चलनेसे कष्ट उठाता हुआ अन्धेके समान आचरण करता है ॥८४९॥

भावार्थ—आशय यह है कि शास्त्रकी शुद्धि या कथनकी शुद्धि केवल शब्दप्रयोग वगैरहकी शुद्धतापर निर्भर नहीं है किन्तु वक्ताकी नयज्ञतापर निर्भर है। कौन बात कहाँ किस दृष्टिसे कही गयी है या कहनी चाहिए, इस बातमें जो निपुण है वही यथार्थ वक्ता है और उसके द्वारा जो कुछ कहा जाता है वह शुद्ध होता है। किन्तु इस बातको न समझकर जो केवल शब्दशुद्धिके बाह्य साधन व्याकरणादिकके प्रयोगमें ही साधुत्व समझते हैं और उसीमें लगे रहते हैं उनका वचन-व्यवहार शुद्ध नहीं कहा जा सकता। जैसे जैन-शास्त्रोंमें संसारभावनाका स्वरूप बतलाते हुए यह कहा है कि इस संसारमें कुछ भी नित्य नहीं है सब जलके बुलबुलेकी तरह क्षणिक है। जो केवल शब्दशास्त्री है और यह नहीं समझता कि यहाँ यह कथन किस अपेक्षासे कहा गया है वह तो यही समझेगा कि जैन धर्म वस्तुको क्षणिक मानता है और इसलिए वह क्षणिकवादी है तथा ऐसा ही वह दूसरोंको समझायेगा। किन्तु नयप्रयोगका जानकार ऐसी गलती नहीं कर सकता, वह बराबर यह समझ जायेगा कि वैराग्य उत्पन्न करानेके लिए पर्यायदृष्टिसे ऐसा कथन किया गया है। द्रव्यदृष्टिसे तो सभी नित्य है। अतः शुद्ध शब्द प्रयोगके लिए वक्ताको अपनी बुद्धि नयज्ञान-से भी शुद्ध करनी चाहिए।

---

१. व्याकरणैः। "शब्दानुशासनसमभ्यसनान्न यस्य नैतिह्यतोऽपि धिषणा न तथा नयेभ्यः। संप्राप-शुद्धिमसमां स परप्रतीतेः क्लिश्यन् पुमान् भवति नेत्रविहीनतुल्यः ॥९९॥"—धर्मर० प०, १२९।

स्वरूपं रचना शुद्धिर्भूषार्थश्च समासतः ।
प्रत्येकमागमस्यैतद्द्वैविध्यं प्रतिपद्यते ॥८५०॥

तत्र स्वरूपं च द्विविधम्—अक्षरम्, अनक्षरं च । रचना द्विविधा—गद्यम्, पद्यं च । शुद्धिर्द्विविधा—प्रमादप्रयोगविरहः, अर्थव्यञ्जनविकलतापरिहारश्च । भूषा द्विविधा—वागलंकारः, अर्थालंकारश्च । अर्थो द्विविधः—चेतनोऽचेतनश्च[1] जातिर्व्यक्तिश्चेति[2] वा ।

सार्धं सचित्तनिक्षिप्तवृत्ताभ्यां दानहानये ।
अन्योपदेशमात्सर्यकालातिक्रमणक्रियाः[3] ॥८५१॥
नतेर्गोत्रं[4] श्रियो दानादुपास्तेः सर्वसेव्यताम् ।
भक्तेः कीर्तिमवाप्नोति स्वयं दाता यतीन्भजन् ॥८५२॥

इत्युपासकाध्ययने दानविधिर्नाम त्रिचत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

प्रत्येक शास्त्रमें संक्षेपसे इतनी बातें होती हैं— स्वरूप, रचना, शुद्धि, अलंकार और वर्णित विषय । ये प्रत्येक दो-दो प्रकारके होते हैं ॥ ८५० ॥ स्वरूप दो प्रकारका होता है—अक्षररूप और अनक्षररूप । रचना दो प्रकारकी होती है गद्यरूप और पद्यरूप । शुद्धि दो प्रकारकी होती है—एक तो प्रमादसे कोई प्रयोग न किया गया हो, दूसरे न उसमें कोई अर्थ छूटा हो और न कोई शब्द छूटा हो । अलंकार दो तरहके होते हैं—एक शब्दालंकार और दूसरा अर्थालंकार । वर्णित विषय दो प्रकारका होता है चेतन और अचेतन या जाति और व्यक्ति ।

मुनिदानके अतिचार

सचित्त पत्ते वगैरहमें आहारको रखना, सचित्त पत्ते वगैरहसे आहारको ढाँकना, यह दाता है और यह आहार भी इसीका है इस प्रकार कहकर दान देना, दान देते हुए भी आदरपूर्वक न देना या अन्य दाताओंसे ईर्ष्या करना और साधुओंके भिक्षाके समयको टालकर उससे पहले या उसके बादमें भोजन करना ये पाँच बातें मुनिदान व्रतमें दोष लगानेवाली हैं । अतः श्रावकको इन्हें नहीं करना चाहिए ॥ ८५१ ॥ जो दाता स्वयं यतियोंको दान देता है उसे मुनिको नमस्कार करनेसे उच्च गोत्र मिलता है, दान देनेसे लक्ष्मी मिलती है, उनकी उपासना करनेसे सब लोग उसकी सेवा करते हैं, और उनकी भक्ति करनेसे संसारमें यश होता है ॥ ८५२ ॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें 'दानविधि' नामका तैतालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

---

१. यत्र जीवानां व्याख्या क्रियते सोऽर्थश्चेतनः । यत्र पर्वतादीनां व्याख्या सोऽर्थोऽचेतनः । २. जातिर्लिङ्गम् । व्यक्तिरेकवचनद्विवचनबहुवचनम् । ३. "सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥"—तत्त्वार्थसूत्र ७-३६ । "हरितपिधाननिधाने ह्यनादरास्मरणमत्सरत्वानि । वैयावृत्यस्यैते व्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते ॥१२१॥"—रत्नकरण्डश्रा० । "परदातृव्यपदेशः सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च । कालस्यातिक्रमणं मात्सर्यं चेत्यतिथिदाने ॥१९४॥"—पुरुषार्थसि० । अमित० श्रा० ७-१४ । ४. "उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात् पूजा । भक्तेः सुन्दररूपं स्तवनात् कीर्तिस्तपोनिधिषु ॥११५॥"—रत्नकरण्डश्रा० ।

मूलव्रतं व्रतान्यर्चापर्वकर्माकृषिक्रियाः ।
दिवा नवविधं ब्रह्म सचित्तस्य विवर्जनम् ॥८५३॥
परिग्रहपरित्यागो भुक्तिमात्रानुमान्यता ।
तद्धानौ च वदन्त्येतान्येकादश यथाक्रमम् ॥८५४॥

ग्यारह प्रतिमाएँ

[अब श्रावककी ग्यारह प्रतिमाएँ बतलाते हैं—]

सम्यग्दर्शनके साथ अष्टमूलगुणका निरतिचार पालन करना पहली प्रतिमा है। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंको निरतिचार पालन करना दूसरी व्रत प्रतिमा है। नियमसे तीनों सन्ध्याओंको विधिपूर्वक सामायिक करना तीसरी सामायिक प्रतिमा है। [ग्रन्थकारने उसके लिए अर्चा शब्दका प्रयोग किया है जिसका अर्थ पूजा होता है। उन्होंने सामायिकमें पूजन-पर विशेष जोर दिया है। इसीसे अर्चा शब्दका प्रयोग किया जान पड़ता है।] प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशीको नियमसे उपवास करना चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमा है। खेती आदिका न करना पाँचवीं प्रतिमा है। दिनमें ब्रह्मचर्यका पालन करना छठी दिवामैथुनत्याग प्रतिमा है। मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे स्त्रीसेवनका त्याग सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। सचित्त वस्तुके खानेका त्याग करना आठवीं सचित्तत्याग प्रतिमा है। समस्त परिग्रहका त्याग देना नौवीं परिग्रह-त्याग प्रतिमा है। किसी आरम्भ उद्योग या विवाहादि कार्यमें अनुमति न देकर केवल भोजन मात्रमें अनुमति देना दसवीं आरम्भत्याग प्रतिमा है और अपने भोजनमें भी किसी प्रकारकी अनुमति नहीं देना ग्यारहवीं प्रतिमा है ये क्रमसे ११ प्रतिमाएँ हैं ॥८५३-८५४ ॥

भावार्थ—ये श्रावकके ग्यारह दर्जे हैं, जिनपर श्रावक क्रमवार आगे-आगे बढ़ता है। सबसे प्रथम सम्यग्दर्शन और आठमूल गुणोंका होना आवश्यक है। उसके बाद बारह व्रत पालने चाहिए। फिर तीनों सन्ध्याओंको सामायिक करनी चाहिए। उसके बाद पर्वके दिन नियमसे उप-वास करना चाहिए। यहाँ यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि सामायिक और प्रोषधोपवास व्रत व्रतप्रतिमामें भी किये जाते हैं किन्तु वहाँ वे अभ्यासरूपमें होते हैं और तीसरी तथा चौथी प्रतिमामें अवश्य करने होते हैं। चार प्रतिमाओंमें पूर्ण अभ्यस्त हो जानेके बाद गृहस्थ ब्रह्मचर्यकी ओर अपना विशेष लक्ष देता है और उसके लिए सबसे पहले वह सचित्त फल वगैरहका भक्षण करना छोड़ देता है। हरे साग-सब्जी, पके फल वगैरहको सचित्त कहते हैं। उनके खानेसे इन्द्रिय-मद अधिक होता है जो ब्रह्मचर्यका घातक है। अतः उन्हें सुखाकर या आगमें पकाकर या चाकूसे

१. "दंसण वय सामाइय पोसह सच्चित्त राइ भत्ती य। बंभारम्भपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदेदे ॥" —चारित्तपाहुड २१, प्रा० पञ्चसंग्रह १-१३६। बारस अणुवेक्खा ६९। गो० जीवकाण्ड ४७६। वसुनन्दिश्रा० ४। "सद्दर्शनं व्रतोद्योतं समतां प्रोषधव्रतम्। सचित्तसेवाविरतिमह्नः स्त्रीसंगवर्जनम् ॥ १५९ ॥ ब्रह्मचर्यमथारम्भपरिग्रहपरिच्युतिम्। तत्रानुमननत्यागं स्वोद्दिष्टपरिवर्जनम् ॥१६०॥ स्थानानि गृहिणां प्राहुः एकादशगणाधिपाः।"—महापुराण १० पर्व। "दर्शनिकोऽथ व्रतिकः सामयिकी प्रोषधोपवासी च। सचित्तदिवामैथुनविरतो गृहिणोऽणुयमिषु हीनाः षट् ॥ २ ॥ अब्रह्मारम्भपरिग्रहविरता वर्णिनस्त्रयो मध्याः। अनुमतिविरतोद्दिष्टविरतावुभौ भिक्षुकौ प्रकृष्टौ च ॥ ३ ॥"—सागारधर्मा० अ० ३।

अध्यधिव्रतमारोहेत्पूर्वपूर्वव्रतस्थितः[1] ।
सर्वत्रापि[2] समाः प्रोक्ता ज्ञानदर्शनभावनाः ॥८५५॥
षडत्र गृहिणो ज्ञेयास्त्रयः स्युर्ब्रह्मचारिणः ।
भिक्षुकौ द्वौ तु निर्दिष्टौ ततः स्यात्सर्वतो यतिः ॥८५६॥

काटकर और उसमें नमक वगैरह मिलाकर पहले उन्हें अचित्त कर लेता है तब खाता है। ऐसा करनेसे उनका इन्द्रियमदकारक अंश, जिसे विटामिन या पोषकतत्त्व कहते हैं, नष्ट हो जाता है। फिर उसके खानेसे जीवन शक्ति तो उनसे मिलती है किन्तु मादकता नहीं आने पाती और तब वह भोजन विकारी नहीं होता। इस तरह ब्रह्मचर्यके उपयुक्त आहारका अभ्यस्त होनेपर वह पहले दिनमें ब्रह्मचर्य पालन करनेका नियम लेता है और जब उसमें पक्का हो जाता है तो रात्रिमें भी ब्रह्मचारी रहनेकी प्रतिज्ञा ले लेता है। ब्रह्मचर्य ले लेनेके बाद सन्तानोत्पत्ति रुक जाती है, इसलिए नयी सन्तानका उत्तरदायित्व नहीं रहता। जब पहली सन्तान समझदार हो जाती है और घरका कार्य-व्यवहार सम्हाल लेती है तो गृहस्थ अपना कार्य-रोजगार अपने लड़कोंपर छोड़कर स्वयं उधरसे छुट्टी ले लेता है। जब लड़के अच्छी तरह रोजगार सम्हाल लेते हैं और अपने काममें चतुर प्रमाणित हो जाते हैं तो गृहस्थ अपनी कुल सम्पत्ति उनको सौंप कर निर्द्वन्द्व हो जाता है। मगर उन्हें सलाह-मशविरा देता रहता है। जब देख लेता है कि अब लड़के बिना मेरी सलाहके भी सब काम करनेमें समर्थ हो गये हैं तो फिर उन्हें सलाह देना भी बन्द कर देता है। इस तरह अपने कौटुम्बिक उत्तरदायित्वसे मुक्त होकर अब गृहस्थ आत्मसाधनामें अपना विशेष ध्यान लगाता है और उसके लिए वह सब घरवालोंसे पूछ-ताछकर घर छोड़ देता है और साधुजनोंके सत्संगमें रहकर साधुओंकी ही तरह भिक्षावृत्तिसे भोजन करने लगता है। उसके बाद यदि वह शक्ति देखता है तो साधु बन जाता है। इस तरह इस क्रमिक त्यागसे प्रत्येक गृहस्थका इहलौकिक और पारलौकिक जीवन सुख और शान्तिसे समृद्ध होता है। ग्रन्थकारने पाँचवीं सचित्त त्याग-प्रतिमाके स्थानमें आठवीं आरम्भत्याग-प्रतिमाको गिनाया है और उसके स्थानमें पाँचवींको। ऐसा व्यतिक्रम अन्य किसी भी श्रावकाचारमें नहीं पाया जाता और न क्रमिक त्यागकी दृष्टिसे ही ठीक जँचता है। इसीसे हमने उक्त दोनों श्लोकोंका अर्थ परम्पराके अनुसार ही लिखा है।

प्रतिमा धारणका क्रम तथा उनके धारकोंकी संज्ञाएँ

जब गृहस्थ पहले-पहलेकी प्रतिमामें पक्का हो जाये तब आगे-आगेकी प्रतिमा ले। 'आगेको दौड़ पीछेको छोड़' वाली कहावत चरितार्थ न करे। तथा सभी व्रतोंमें सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन भावनाका होना जरूरी है। उसके बिना त्याग त्याग नहीं है॥ ८५५॥ इन ग्यारह प्रतिमाओंमें-से पहलेकी छह प्रतिमाके धारक गृहस्थ कहे जाते हैं। सातवीं, आठवीं और नौवीं प्रतिमाके धारक ब्रह्मचारी कहे जाते हैं तथा अन्तिम दो प्रतिमावाले भिक्षु कहे जाते हैं और उन सबसे ऊपर मुनि या साधु होता है॥ ८५६॥

---

१. अवधि—अ० ज० मु०। दर्शनप्रतिमापूर्वकं व्रतप्रतिमामारोपयेत् इत्यर्थः। २. प्रथमप्रतिमादिषु क्रमेण रत्नत्रयभावनाः सदृशाः।

तत्तद्गुणप्रधानत्वाद्यतयोऽनेकधा स्मृताः ।
निरुक्तिं युक्तितस्तेषां वदतो मन्निबोधत ॥८५७॥
जित्वेन्द्रियाणि सर्वाणि यो वेत्त्यात्मानमात्मना ।
गृहस्थो वानप्रस्थो वा स जितेन्द्रिय उच्यते ॥८५८॥
मानमायामदामर्षक्षपणात्क्षपणः स्मृतः ।
यो न श्रान्तो भवेद्भ्रान्तेस्तं विदुः श्रमणं बुधाः ॥८५९॥
यो हताशः प्रशान्ताशस्तमाशाम्बरमूचिरे ।
यः सर्वसङ्गसंत्यक्तः स नग्नः परिकीर्तितः ॥८६०॥
रेषणात्क्लेशराशीनामृषिमाहुर्मनीषिणः[1] ।
मान्यत्वादात्मविद्यानां महद्भिः कीर्त्यते मुनिः ॥८६१॥
यः पापपाशनाशाय यतते स यतिर्भवेत् ।
योऽनीहो देहगेहेऽपि सोऽनगारः सतां मतः ॥८६२॥
आत्माशुद्धिकरैर्यस्य न संगः कर्मदुर्जनैः ।
स पुमाञ्छुचिराख्यातो नाम्बुसंप्लुतमस्तकः ॥८६३॥
धर्मकर्मफलेऽनीहो निवृत्तोऽधर्मकर्मणः ।

मुनियोंके विविध नामोंका अर्थ

उन-उन गुणोंकी प्रधानताके कारण मुनि अनेक प्रकारके बतलाये हैं। अब उनके उन नामोंकी युक्तिपूर्वक निरुक्ति बतलाते हैं, उसे मुझसे सुनिए ॥८५७॥ जो सब इन्द्रियोंको जीतकर अपनेसे अपनेको जानता है वह गृहस्थ हो या वानप्रस्थ, उसे जितेन्द्रिय कहते हैं ॥८५८॥ मान, माया, मस्ती और क्रोधका नाश कर देनेसे क्षपण कहते हैं और जगह-जगह विहार करता हुआ वह थकता नहीं है इसलिए उसे श्रमण कहते हैं ॥ ८५९ ॥ उसने अपनी लालसाओंको नष्ट कर दिया है अथवा उसकी लालसाएँ शान्त हो गयी हैं इसलिए उसे आशाम्बर कहते हैं और वह अन्तरंग तथा बहिरंग सब परिग्रहोंसे रहित है इसलिए उसे नग्न कहते हैं ॥ ८६० ॥

क्लेशसमूहको रोकनेके कारण विद्वान् लोग उसे ऋषि कहते हैं। और आत्मविद्यामें मान्य होनेके कारण महात्मा लोग उसे मुनि कहते हैं ॥ ८६१ ॥ चूँकि वह पापरूपी बन्धनके नाश करनेका यत्न करता है इसलिए उसे यति कहते हैं और शरीररूपी घरमें भी उसकी रुचि नहीं है, इसलिए उसे अनगार कहते हैं ॥ ८६२ ॥ जो आत्माको मलिन करनेवाले कर्मरूपी दुर्जनोंसे सम्बन्ध नहीं रखता, वही मनुष्य शुचि या शुद्ध है, सिरसे पानी डालनेवाला नहीं। अर्थात् जो पानीसे शरीरको मलमलकर धोता है वह पवित्र नहीं है किन्तु जिसकी आत्मा निर्मल है वही पवित्र है। अर्थात् यद्यपि मुनि स्नान नहीं करते किन्तु उनकी आत्मा निर्मल है इसलिए उन्हें पवित्र या शुचि कहते हैं ॥ ८६३ ॥

जो धर्माचरणके फलमें इच्छा नहीं रखता तथा अधर्माचरणका त्यागी है और केवल आत्मा ही जिसका परिवार या सम्पत्ति है उसे निर्मम कहते हैं। अर्थात् मुनि अधार्मिक काम नहीं

---

१. संवरणात् ।

तं निर्ममसुशन्तीह केवलात्मपरिच्छदम् ॥८६४॥
यः कर्मद्वितयातीतस्तं मुमुक्षुं प्रचक्षते।
पाशैर्लोहस्य हेम्नो वा यो बद्धो बद्ध एव सः ॥८६५॥
निर्ममो निरहंकारो निर्मानमदमत्सरः।
निन्दायां संस्तवे चैव समधीः शंसितव्रतः ॥८६६॥
योऽवगम्य यथाम्नायं[1] तत्त्वं तत्त्वैकभावनः।
वाचंयमः स विज्ञेयो न मौनी पशुवन्नरः ॥८६७॥
श्रुते व्रते प्रसंख्याने[2] संयमे नियमे यमे।
यस्योच्चैः सर्वदा चेतः सोऽनूचानः[3] प्रकीर्तितः ॥८६८॥
योऽक्षस्तेनेष्व[4]विश्वस्तः शाश्वते पथि निष्ठितः।
समस्तसत्त्वविश्वास्यः सोऽनाश्वानिह गीयते ॥८६९॥

करते, केवल धार्मिक काम करते हैं। किन्तु उन्हें भी किसी लौकिक फलकी इच्छासे नहीं करते, अपना कर्तव्य समझकर करते हैं। और उनके पास अपनी आत्माके सिवा और कुछ रहता नहीं है, शरीर है किन्तु उससे भी उन्हें कोई ममता नहीं रहती, इसीलिए उन्हें 'निर्मम' कहते हैं ॥ ८६४ ॥ जो पुण्य और पाप दोनोंसे रहित है उसे मुमुक्षु कहते हैं। क्योंकि बन्धन लोहेके हों या सोनेके हों, जो उनसे बँधा है वह तो बद्ध ही है। अर्थात् पुण्यकर्म सोनेके बन्धन हैं और पापकर्म लोहेके बन्धन हैं। दोनों ही जीवको संसारमें बाँधकर रखते हैं। अतः जो पाप-कर्मको छोड़कर पुण्यकर्ममें लगा है वह भी कर्मबन्ध करता है, किन्तु जो पुण्य और पाप दोनोंको छोड़कर शुद्धोपयोगमें संलीन है वही मुमुक्षु है ॥ ८६५ ॥

जो ममतारहित है, अहंकाररहित है, मान, मस्ती और डाहसे रहित है तथा निन्दा और स्तुतिमें समान बुद्धि रखता हैं [वैदिक धर्ममें यह भी साधुकी एक संज्ञा है] ॥ ८६६ ॥

जो आम्नायके अनुसार तत्त्वको जानकर उसीका एकमात्र ध्यान करता है उसे मौनी जानना चाहिए। जो पशुकी तरह केवल बोलता नहीं है वह मौनी नहीं है ॥ ८६७ ॥

जिसका मन श्रुतमें, व्रतमें, ध्यानमें, संयममें तथा यम और नियममें संलग्न रहता है उसे अनूचान कहते हैं। अर्थात् वैदिक धर्ममें साङ्ग वेदके पूर्ण विद्वान्‌को अनूचान कहते हैं। किन्तु ग्रन्थकारका कहना है कि जो श्रुत, व्रत नियमादिकमें रत है वही अनूचान है। और इसलिए जैन-मुनि ही 'अनूचान' कहे जा सकते हैं ॥ ८६८ ॥

जो इन्द्रियरूपी चोरोंका विश्वास नहीं करता तथा स्थायी मार्गपर दृढ़ रहता है और सब प्राणी जिसका विश्वास करते हैं अर्थात् जो किसीको भी कष्ट नहीं पहुँचाता उसे अनाश्वान् कहते हैं। अर्थात् वैदिक धर्ममें जो भोजन न करे उसे अनाश्वान् कहा जाता है। किन्तु ग्रन्थकार कहते हैं कि जिसमें उक्त बातें हों उसीको अनाश्वान् कहना चाहिए ॥ ८६९ ॥

---

१. यथान्यायं अ०, ज०। २. ध्याने। ३. "अनूचानो विनीते स्यात् सांगवेदविचक्षणे"—इति मेदिनी। ४. इन्द्रियचौरेषु।

तत्त्वे पुमान्मनः पुंसि मनस्यक्षकदम्बकम् ।
यस्य युक्तं स योगी स्यान्न परेच्छादुरीहितः ॥८७०॥
कामः क्रोधो मदो माया लोभश्चेत्यग्निपञ्चकम् ।
येनेदं साधितं स स्यात्कृती पञ्चाग्निसाधकः ॥८७१॥
ज्ञानं ब्रह्म दया ब्रह्म ब्रह्म कामविनिग्रहः ।
सम्यगत्र वसन्नात्मा ब्रह्मचारी भवेन्नरः ॥८७२॥
क्षान्तियोषिति यो सक्तः सम्यग्ज्ञानातिथिप्रियः ।
स गृहस्थो भवेन्नूनं मनोदैवतसाधकः ॥८७३॥
ग्राम्यमर्थं बहिश्चान्तर्यः परित्यज्य संयमी ।
वानप्रस्थः स विज्ञेयो न वनस्थः कुटुम्बवान् ॥८७४॥
संसाराग्निशिखाच्छेदो येन ज्ञानासिना कृतः ।
तं शिखाच्छेदिनं प्राहुर्न तु मुण्डितमस्तकम् ॥८७५॥
कर्मात्मनोर्विवेक्ता यः क्षीरनीरसमानयोः ।

जिसका आत्मा तत्त्वमें लीन है, मन आत्मामें लीन है और इन्द्रियाँ मनमें लीन हैं उसे योगी कहते हैं। अर्थात् जिसकी इन्द्रियाँ मनमें, मन आत्मामें और आत्मा तत्त्वमें लीन है वह योगी है। जो दूसरी वस्तुओंकी चाहरूपी दुष्ट संकल्पसे युक्त है वह योगी नहीं है ॥ ८७० ॥

काम, क्रोध, मद, माया और लोभ ये पाँच अग्नियाँ हैं। जो इन पाँचों अग्नियोंको अपने वशमें कर लेता है उसे पञ्चाग्निका साधक कहते हैं। अर्थात् वैदिक साहित्यमें पाँच अग्नियोंकी उपासना करनेवालेको पञ्चाग्निसाधक कहते हैं। किन्तु ग्रन्थकारका कहना है कि सच्ची अग्नि तो काम, क्रोधादिक हैं जो रात-दिन आत्माको जलाती हैं। उन्हींका साधक पञ्चाग्निका साधक है। बाह्य अग्नियोंकी उपासनावाला नहीं ॥ ८७१ ॥

ज्ञानको ब्रह्म कहते हैं। दयाको ब्रह्म कहते हैं। कामको वशमें करनेको ब्रह्म कहते हैं। जो आत्मा अच्छी रीतिसे ज्ञानकी आराधना करता है या दयाका पालन करता है अथवा कामको जीत लेता है वही ब्रह्मचारी है ॥ ८७२ ॥

जो क्षमारूपी स्त्रीमें आसक्त है, सम्यग्ज्ञानरूपी अतिथिका प्यारा है और मनरूपी देवताकी साधना करता है वही सच्चा गृहस्थ है। अर्थात् जो क्षमाशील है, ज्ञानी है और मनोजयी है वही वास्तवमें गृहस्थ है ॥ ८७३ ॥

जो अन्दरसे और बाहरसे अश्लील बातोंको छोड़कर संयम धारण करता है उसे वानप्रस्थ जानना चाहिए। जो कुटुम्बको लेकर जंगलमें जा बसता है वह वानप्रस्थ नहीं है ॥८७४॥

जिसने ज्ञानरूपी तलवारके द्वारा संसाररूपी अग्निकी शिखा यानी लपटोंको काट डाला उसे शिखाछेदी कहते हैं, सिर घुटानेवालेको नहीं ॥ ८७५ ॥

संसार अवस्थामें कर्म और आत्मा दूध और पानीकी तरह मिले हुए हैं। जो दूध और

---

१. "उदरे गार्हपत्याग्निमध्यदेशे तु दक्षिणः। आस्य आहवनोऽग्निश्च सत्यः पर्वा च मूर्धनि। यः पञ्चाग्नीनिमान् वेद आहिताग्निः स उच्यते।"—गरुडपुराण। २. चरन्नात्मा इत्यपि पाठः।

भवेत्परमहंसोऽसौ नाग्निवत्सर्वभक्षकः ॥८७६॥
ज्ञानैर्मनो वपुर्वृ[1]त्तैर्नियमैरिन्द्रियाणि च ।
नित्यं यस्य प्रदीप्तानि स तपस्वी न वेषवान् ॥८७७॥
पञ्चेन्द्रियप्रवृत्त्याख्यास्तिथयः पञ्च कीर्तिताः ।
संसा[2]राश्रयहेतुत्वात्ताभिर्मुक्तोऽतिथिर्भवेत् ॥८७८॥
अद्रोहः सर्वसत्त्वेषु यज्ञो यस्य दिने दिने ।
स पुमान्दीक्षि[3]तात्मा स्यान्नत्वजादि[4]यमाशयः ॥८७९॥
दुष्कर्मदुर्जनास्पर्शी सर्वसत्त्वहिताशयः ।
स श्रोत्रियो भवेत्सत्यं न तु यो बाह्यशौचवान् ॥८८०॥
अध्यात्माग्नौ दयामन्त्रैः सम्यक्कर्मसमिच्चयम् ।
यो जुहोति स हो[5]ता स्यान्न बाह्याग्निसमेधकः ॥८८१॥

पानीकी तरह कर्म और आत्माको जुदा-जुदा कर देता है वही परमहंस साधु है। जो आगकी तरह सर्वभक्षी है, जो मिल जाये वही खा लेता है वह परमहंस नहीं है ॥ ८७६ ॥ जिसका मन ज्ञानसे, शरीर चारित्रसे और इन्द्रियाँ नियमोंसे सदा प्रदीप्त रहती हैं वही तपस्वी है, जिसने कोरा वेष बना रखा है वह तपस्वी नहीं है ॥ ८७७ ॥

पाँचों इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयमें लगना ही पाँच तिथियाँ हैं। चूँकि इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयमें प्रवृत्ति करना संसारका कारण है। अतः जो उनसे मुक्त हो गया उसे अतिथि कहते हैं ॥ ८७८ ॥

भावार्थ—भोजनके लिए आनेवाले साधु अतिथि कहे जाते हैं। अतिथि शब्दका एक अर्थ यह भी होता है कि जिसके आनेकी कोई तिथि (मिति) निश्चित नहीं है वह अतिथि है। साधु आहारके लिए किस दिन आ जायेंगे यह पहलेसे निश्चित तो होता नहीं तथा साधुओंके अष्टमी आदिका विचार भी नहीं होता। अतः वे अतिथि कहलाते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि अतिथि शब्दका यह अर्थ तो लौकिक है। वास्तवमें तो पाँचों इन्द्रियाँ ही द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी रूप पाँच तिथियाँ हैं और जो उनसे मुक्त हो गया, जिसने पाँचों इन्द्रियोंको अपने वशमें कर लिया वही वास्तवमें अतिथि है।

जो प्रतिदिन समस्त प्राणियोंमें मैत्रीरूपी यज्ञका आचरण करता है वह मनुष्य दीक्षित कहलाता है। जो बकरे वगैरहका बलिदान करता है वह दीक्षित नहीं है ॥ ८७९ ॥

जो बुरे कामोंको नहीं करता और न बुरे मनुष्योंकी संगति ही करता है तथा सब प्राणियोंका हित चाहता है वह वास्तवमें श्रोत्रिय है, जो केवल बाह्य शुद्धि पालता है वह श्रोत्रिय नहीं है ॥ ८८० ॥ जो आत्मारूपी अग्निमें दयारूपी मन्त्रोंके द्वारा कर्मरूपी काष्ठ-समूहसे हवन करता है वह होता है; जो बाह्य अग्निमें हवन करता है वह होता नहीं है ॥ ८८१ ॥ जो

---

१. प्रवृत्ता–अ०, ज०, मु०। २. संसारे श्रेय–अ०, ज०, मु०। ३. "स सोमवति दीक्षितः" इत्यमरः। ४. छागादीनां घातकः। ५. होमकर्ता।

भावपुष्पैर्यजेद्देवं व्रतपुष्पैर्वपुर्गृहम् ।
क्षमापुष्पैर्मनो वह्निं यः स यष्टा सतां मतः ॥८८२॥
षोडशानामुदारात्मा यः प्रभुर्भावनर्त्विजाम् ।
सोऽध्वर्युरिह बोद्धव्यः शिवशर्माध्वरोद्धुरः ॥८८३॥[1]
विवेकं वेदयेदुच्चैर्यः शरीरशरीरिणोः ।
स प्रीत्यै विदुषां वेदो नाखिलक्षयकारणम् ॥८८४॥
जातिर्जरा मृतिः पुंसां त्रयी संसृतिकारणम् ।
एषा त्रयी यतस्त्रय्याः क्षीयते सा त्रयी मता ॥८८५॥
अहिंसः सद्व्रतो ज्ञानी निरीहो निष्परिग्रहः ।

भावरूपी पुष्पोंसे देवताकी पूजा करता है, व्रतरूपी पुष्पोंसे शरीररूपी घरकी पूजा करता है और क्षमारूपी पुष्पोंसे मनरूपी अग्निकी पूजा करता है उसे सज्जन पुरुष यष्टा अर्थात् यज्ञ करनेवाला कहते हैं। जो महात्मा सोलह कारण भावनारूपी यज्ञ करानेवाले ऋत्विजोंका स्वामी है, मोक्ष-सुखरूपी यज्ञके उद्धारक उस पुरुषको अध्वर्यु जानना चाहिए ॥८८२-८८३॥

भावार्थ—दीक्षित, श्रोत्रिय, होता, यष्टा, अध्वर्यु ये सब वैदिक यज्ञसे सम्बन्ध रखते हैं। वेदोंमें मन्त्रोंके द्वारा जो हवन किया जाता है उसे यज्ञ कहते हैं। पुराने युगमें वैदिक यज्ञोंका बड़ा चलन था और उनमें बकरे वगैरहका बलिदान किया जाता था तथा उनके अनेक भेद थे। जो सोमयज्ञ करता था उसे दीक्षित कहते थे। इस यज्ञमें सोमरस पिया जाता था तथा बलिदान होता था। जो वेदका ज्ञाता होता था उसे श्रोत्रिय कहते थे। यह बाह्य शुद्धिका बड़ा ध्यान रखता था। जो होम करता था उसे होता कहते थे। जो यज्ञका प्रधान होता था सबको अपने-अपने कामकी आज्ञा देता था उसे यष्टा या यजमान कहते थे। जो यजुर्वेदका ज्ञाता होता था उसे अध्वर्यु कहते थे। ये सब क्रियाकाण्डी होते थे। वैदिक क्रियाकाण्डमें बाह्य आचरण ही सब कुछ है। अतः ग्रन्थकारने आत्म-यज्ञको ही सच्चा यज्ञ बतलाकर जो उसीको करता है उसे ही दीक्षित आदि नामोंसे पुकारनेके लिए कहा है।

जो आत्मा और शरीरके भेदको जोरदार शब्दोंमें बतलाता है वही सच्चा वेद है और विद्वान् लोग उससे ही प्रेम करते हैं। किन्तु जो सब पशुओंके विनाशका कारण है वह वेद नहीं है ॥ ८८४ ॥

जन्म, बुढ़ापा और मृत्यु ये तीनों संसारके कारण हैं। इस त्रयी अर्थात् तीनोंका जिस त्रयीसे नाश हो वही त्रयी है। आशय यह है कि ऋक्वेद, सामवेद और यजुर्वेदको त्रयी कहते हैं। किन्तु ग्रन्थकारका कहना है जो संसारके कारण जीवन, मृत्यु और बुढ़ापेको नष्ट कर दे, जिससे संसारमें न जन्म लेना पड़े और न मृत्युका दुःख उठाना पड़े वही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही सच्ची त्रयी है ॥ ८८५ ॥

जो अहिंसक है, समीचीन व्रतोंका पालन करता है, ज्ञानी है, सांसारिक चाहसे दूर है और

---

१. षोडशा भावना एव ऋत्विजः, तेषां मध्येऽध्वर्युः यजुर्वेदज्ञाता मुख्यः।

यः स्यात्स ब्राह्मणः सत्यं न तु[1] जातिमदान्धलः ॥८८६॥
सा जातिः परलोकाय यस्याः सद्धर्मसंभवः ।
न हि सस्याय जायेत शुद्धा भूर्बीजवर्जिता ॥८८७॥
स शैवो यः शिवज्ञात्मा स बौद्धो योऽन्तरात्मभृत् ।
स सांख्यो यः प्रसंख्यावान्स द्विजो यो न जन्मवान् ॥८८८॥
ज्ञानहीनो दुराचारो निर्दयो लोलुपाशयः ।
दानयोग्यः कथं स स्याद्धयक्षात्ता[2]नुमतक्रियः ॥८८९॥
अनुमान्या[3] समुद्देश्या[4] त्रिशुद्धा भ्रामरी तथा ।
भिक्षा चतुर्विधा ज्ञेया यतिद्वयसमाश्रया ॥८९०॥

इत्युपासकाध्ययने यतिनामनिर्वचनश्चतुश्चत्वारिंशः कल्पः ।

काम, क्रोध, मोह आदि तथा जमीन–जायदाद, धन आदि अन्तरंग और बहिरंग परिग्रहसे रहित है वही सच्चा ब्राह्मण है। जो जातिके मदसे अन्धा है, अपनेको सबसे ऊँचा और दूसरोंको नीच समझता है वह ब्राह्मण नहीं है ॥ ८८६ ॥

वही जाति परलोकके लिए उपयोगी है जिससे सच्चे धर्मका जन्म होता है, जमीन शुद्ध भी हो किन्तु यदि उसमें बीज न डाला गया हो तो अनाज पैदा नहीं हो सकता। अर्थात् ब्राह्मण जाति शुद्ध भी हो किन्तु उसमें यदि समीचीन धर्मके पालनकी परिपाटी न हो तो वह शुद्ध जाति भी व्यर्थ है ॥ ८८७ ॥

जो शिव अर्थात् अपने कल्याणरूप मुक्तिको जानता है वही सच्चा शैव—शिवका अनुयायी है। जो अपनी अन्तरात्माका पोषक है वही वास्तवमें बौद्ध है। जो आत्मध्यानी है वही सांख्य है और जिसे फिर संसारमें जन्म नहीं लेना है वही द्विज अर्थात् ब्राह्मण है ॥ ८८८ ॥

जो अज्ञानी है, दुराचारी है, निर्दय है, विषयोंका लोलुपी है तथा इन्द्रियोंका दास है वह दानका पात्र कैसे हो सकता है ? अर्थात् ऐसे आदमीको कभी भी दान नहीं देना चाहिए ॥ ८८९ ॥

भिक्षाके भेद

देशविरत और सर्वविरतकी अपेक्षासे भिक्षा चार प्रकारकी होती है– अनुमान्या, समुद्देश्या, त्रिशुद्धा और भ्रामरी ॥ ८९० ॥

भावार्थ—मुनिसम्बन्धी भिक्षाके लिए तो भ्रामरी शब्द शास्त्रोंमें अति प्रसिद्ध है। किन्तु श्रावकसम्बन्धी भिक्षाके इन भेदोंका उल्लेख अन्यत्र हमारे देखनेमें नहीं आया। टिप्पणकारने अनुमान्या भिक्षाको दस प्रतिमापर्यन्त बतलाया है और आमन्त्रणपूर्वक भोजनको समुद्देश्य बतलाते हुए छठी प्रतिमापर्यन्त बतलाया है। छठी प्रतिमापर्यन्त गृही संज्ञा है। छठीके पश्चात् नवीं प्रतिमा पर्यन्त ब्रह्मचारी संज्ञा है और भिक्षुक संज्ञा केवल अन्तिम दो प्रतिमाधारियोंकी है। दसवीं प्रतिमाका धारी घर छोड़कर बाहर रहने लगता है और आमन्त्रणदाताके घर भोजन करता है। अतः

---

१. न जातु अ०, ज०। २. पञ्चेन्द्रियवशः। ३. दशप्रतिमापर्यन्तम्। ४. आमन्त्रणपूर्विका षट्प्रतिमापर्यन्तम्।

तरुदलमिव परिपक्वं स्नेहविहीनं प्रदीपमिव देहम् ।
स्वयमेव विनाशोन्मुखमवबुध्य करोतु विधिमन्त्यम् ॥८९१॥
[1]गहनं न शरीरस्य हि विसर्जनं किं तु गहनमिह वृत्तम् ।
तन्न स्थास्नु[2] विनाश्यं न नश्वरं शोच्यमिदमाहुः[3] ॥८९२॥
प्रतिदिवसं विजहद्बलमुज्झद्भुक्तिं त्यजत्प्रतीकारम् ।
वपुरेव नृणां निगिरति[4] चरमचरित्रोदयं समयम् ॥८९३॥
सविधा[5] पापकृतेरिव [यापकृतिरिव] जनिताखिलकायकम्पनातङ्का ।

वह उद्दिष्ट भोजन करता है क्योंकि दाता उसके उद्देश्यसे भोजन तैयार करता है। इसलिए उसकी भिक्षा समुद्देश्या होनी चाहिए। वह अनुमति-त्यागी होता है अतः भोजनके विषयमें किसी प्रकारकी अनुमति नहीं दे सकता। किन्तु नौवीं प्रतिमा तकके धारी भोजनके विषयमें अनुमति दे सकते हैं, अतः उनकी भिक्षा अनुमान्या होनी चाहिए। ग्रन्थकारने भिक्षाके भेदोंका जो क्रम रखा है उससे भी यही ध्वनित होता है कि प्रारम्भिक प्रतिमावाले अनुमान्या भिक्षा करते हैं, दसवीं प्रतिमावाले समुद्देश्या और अन्तिम प्रतिमावाले त्रिशुद्धा भिक्षा करते हैं, तथा साधु भ्रामरी-भिक्षा करते हैं। हमारी दृष्टिसे तो छठी प्रतिमा तकके लिए भिक्षा भोजनका व्यवहार ही उचित नहीं है। वे तो गृही होते हैं।

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें, मुनिके नामोंकी व्युत्पत्ति बतलानेवाला चौवालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[*अब समाधिमरणकी विधि बतलाते हैं—*]

वृक्षके पके हुए पत्तेकी तरह या तेलरहित दीपककी तरह शरीरको स्वयं ही विनाशोन्मुख जानकर अन्तिम विधि (समाधिमरण) करना चाहिए ॥ ८९१ ॥ किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि शरीरको त्याग देना कठिन नहीं है किन्तु उसमें संयमका धारण करना कठिन है। अतः यदि शरीर ठहरने योग्य हो तो उसे नष्ट नहीं कर डालना चाहिए और यदि वह नष्ट होता हो तो उसका रंज नहीं करना चाहिए ॥ ८९२ ॥

[*यह कहा जा सकता है कि यह हमें कैसे मालूम हो कि समाधिमरणका समय आ गया है? इसका उत्तर ग्रन्थकार स्वयं देते हैं—*]

जब शरीरकी शक्ति प्रतिदिन घटने लगे, खाना-पीना छूट जाये और कोई उपाय कारगर न हो तो स्वयं शरीर ही मनुष्योंको यह बतला देता है कि अब समाधिमरण करनेका समय आ गया है ॥ ८९३ ॥

जब सन्निकटवर्ती अपकारकी तरह समस्त शरीरमें कँपकँपी पैदा करनेवाला बुढ़ापा

१. "गहनं न तनोर्हानिं पुंसः किन्त्वत्र संयमः। योगानुवृत्तेर्व्यावृत्य तदात्माऽऽत्मनि युज्यताम्" ॥२४॥ —सागारधर्मा० ८ अ०। २. "न धर्मसाधनमिति स्थास्नु नाश्यं वपुर्बुधैः। न च केनाऽपि नो रक्ष्यमिति शोच्यं विनश्वरम्" ॥५॥— सागारधर्मा०, अ०, ८। ३. 'शोच्यमित्याहु.'—सागारधर्मामृत टीका ८-५ में उद्धृत। ४. निगदति—सागा० टी० ८-१२ मे उद्धृत। ५. समीपवर्तिनी अपकृतिरिव या सविधा—धर्मरत्ना० प० १३२।

यमदूतीव जरा यदि समागता जीवितेषु कस्तर्षः[1] ॥८९४॥
कर्णान्तकेशपाशग्रहणविधेर्बोधितोऽपि यदि जरया।
स्वस्य हितैषी न भवति तं किं मृत्युर्न संग्रसते ॥८९५॥
उपवासादिभिरङ्गे[2] कषायदोषे च बोधिभावनया।
कृतसल्लेखनकर्मा प्रायाय यतेत गणमध्ये ॥८९६॥
यमनियमस्वाध्यायास्तपांसि देवार्चनाविधिर्दानम्[3]।
एतत्सर्वं निष्फलमवसाने चेन्मनो मलिनम् ॥८९७॥
द्वादशवर्षाणि नृपः शिक्षितशस्त्रो रणेषु यदि मुह्येत्।
किं स्यात्तस्यास्त्रविधेर्यथा[4] तथान्ते यतेः पुराचरितम् ॥८९८॥

यमके दूतकी तरह आकर खड़ा हो गया तो फिर जीनेकी क्या लालसा ? ॥ ८९४ ॥

बुढ़ापेके द्वारा कानके समीपके बालोंको पकड़कर समझाये जानेपर भी अर्थात् बुढ़ापेके चिह्नस्वरूप कानके पासके बालोंके सफेद हो जानेपर भी जो अपने हितमें नहीं लगता है क्या उसे मौत नहीं खाती ? ॥ ८९५ ॥

भावार्थ—आशय यह है कि बुढ़ापा आ जानेपर जीवनमें कोई ऐसा रस नहीं रहता जिसके लिए मनुष्य जीनेकी इच्छा करे। अतः बुढ़ापा आनेपर आत्म-कल्याणमें लगना ही हितकर है; क्योंकि उसके बाद मौतके मुँहमें जाना सुनिश्चित है।

समाधिमरणकी विधि

जो समाधिमरण करना चाहता है, उसे उपवास वगैरहके द्वारा शरीरको और ज्ञानभावनाके द्वारा कषायोंको कृश करके किसी मुनिसंघमें चला जाना चाहिए ॥ ८९६ ॥

भावार्थ—समाधिमरणको सल्लेखना व्रत कहते हैं। सल्लेखनाका अर्थ है योग्य रीतिसे शरीर और कषायोंका कृश करना। यदि शरीर मलसे भरा हो और मनमें कुटुम्बवालोंका मोह समाया हो तो समाधिमरण हो नहीं सकता। अतः शरीर और आत्मा दोनोंको शुद्ध करके समाधिमरण करना चाहिए और उनके लिए घरवालोंके फन्देसे निकलकर त्यागी जनोंमें चले जाना चाहिए।

यदि मरते समय मन मैला रहा तो जीवन-भरका यम, नियम, स्वाध्याय, तप, देवपूजा और दान निष्फल है ॥ ८९७ ॥ जैसे एक राजाने बारह वर्ष तक शस्त्र चलाना सीखा। किन्तु जब युद्धका अवसर आया तो वह शस्त्र नहीं चला सका। उस राजाकी शस्त्रशिक्षा किस कामकी, वैसे ही जो व्रती जीवन-भर धर्माचरण करता रहा, किन्तु जब अन्त समय आया तो मोहमें पड़ गया। उस व्रतीका पूर्वाचरण किस कामका ॥ ८९८ ॥

---

१. का तृष्णा। २. "उपवासादिभिः कायं कषायं च श्रुतामृतैः। संलिख्य गणिमध्ये स्यात् समाधिमरणोद्यमी ॥"—सागारधर्मा० ८-१५। ३. –चर्नादिवि–धर्मरत्ना० पृ० १३३। ४. किं तस्य शस्त्रविधिना–धर्मरत्ना० पृ० १३३। "नृपस्येव यतेर्धर्मो चिरमभ्यस्तिनोऽस्त्रवत्। युधीव स्खलितो मृत्यौ स्वार्थभ्रंशोऽयशः कटु ॥१७॥"—सागारधर्मा० अ० ८।

स्नेहं विहाय[1] बन्धुषु मोहं विभवेषु कलुषतामहिते।
गणिनि च निवेद्य निखिलं दुरीहितं तदनु भजतु विधिमुचितम् ॥८९९॥
अशनं[2] क्रमेण हेयं स्निग्धं पानं ततः खरं चैव।
तदनु च सर्वनिवृत्तिं कुर्याद्गुरुपञ्चकस्मृतौ निरतः ॥९००॥
कदलीघातवदायुः[3] कृतिनां सकृदेव विरतिमुपयाति।
तत्र पुनर्नैष[4] विधिर्यद्दैवे क्रमविधिर्नास्ति ॥९०१॥
सूरौ प्रवचनकुशले[5] साधुजने यत्नकर्मणि प्रवणे।
चित्ते च समाधिरते किमिहासाध्यं [6]यतेरस्ति ॥९०२॥

कुटुम्बियोंसे स्नेह, सम्पत्तिसे मोह और जिन्होंने अपना बुरा किया है उनके प्रति कलुषपनेको छोड़कर आचार्यसे अपने सब अपराधोंको कह दे, और उसके बाद समाधिमरणके योग्य विधिका पालन करे ॥ ८९९ ॥

धीरे-धीरे भोजनको छोड़ दे और दूध, मठा वगैरह रख ले। फिर उन्हें भी छोड़कर गर्म जल रख ले। उसके बाद पञ्च नमस्कार मन्त्रके स्मरणमें लीन होकर सब कुछ छोड़ दे ॥ ९०० ॥ यदि किसी पुण्यशाली पुरुषकी आयु कटे हुए केलेकी तरह एक साथ ही समाप्त होती हो तो वहाँ समाधिमरणकी यह विधि नहीं है, क्योंकि दैववश अचानक मरण उपस्थित होनेपर क्रमिक विधि नहीं बन सकती ॥ ९०१ ॥

यदि समाधिमरण करानेवाले आचार्य आगममें कुशल हों और साधुसंघ प्रयत्न करनेमें कुशल हो तथा समाधिमरण करनेवालेका मन ध्यानमें लगा रहे तो फिर कुछ भी असाध्य नहीं है ॥ ९०२ ॥

भावार्थ—समाधिमरणके इच्छुक मनुष्यको किसी पवित्र तीर्थ-स्थानपर चले जाना चाहिए, यदि ऐसा करना शक्य न हो तो जिनालय या मुनिसंघ वगैरहमें चले जाना चाहिए। यदि तीर्थक्षेत्रके लिए कोई घरसे चले और रास्तेमें ही उसका मरण हो जाये तो उसका मरण समाधिमरण ही कहा जाता है क्योंकि समाधिमरणकी भावना भी फलदायक है। जानेसे पहले सबसे अपने अपराधोंकी क्षमा माँगे और जिसने अपना अपराध किया हो उसे क्षमा कर दे। फिर समाधिमरणके योग्य स्थानपर पहुँचकर आचार्यके सामने अपने सब दोष निवेदन कर दे और

---

१. "स्नेहं विहाय······विधिमन्त्यम्।" –धर्मरत्नाकर प० १३३। विधाय अ०, ज०, मु०। "स्नेहं वैरं सङ्गं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः। स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत् प्रियैर्वचनैः ॥१२४॥ आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम्। आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायी निश्शेषम् ॥१२५॥"—रत्नकरण्ड श्रा०। २. "आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्धयेत् पानम्। स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत् क्रमशः ॥१२७॥ खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या। पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत् सर्वयत्नेन ॥१२८॥" —रत्नकर०। ३. –वदायुषि अ०, ज०, मु०। "भृशापवर्तकवशात् कदलीघातवत् सकृत्। विरमत्यायुषि प्रायमविचारं समाचरेत् ॥११॥"—सागारधर्मा०, अ० ८। ४. –नैव–धर्मरत्ना० प० १३३। ५. "समाधिसाधनचणे गणेशे च गणे च न। दुर्दैवेनापि सुकरः प्रत्यूहो भावितात्मनः ॥२६॥"—सागारधर्मामृत ८ अ०। ६. –ध्यं समस्तीति–धर्मरत्ना० प० १३३।

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागः सुखानुबन्धविधिः।
एते सनिदाना स्युः सल्लेखनहानये पञ्च ॥९०३॥
आराध्य रत्नत्रयमित्थमर्थी समर्पितात्मा गणिने यथावत्।
समाधिभावेन कृतात्मकार्यः कृती जगन्मान्यपदप्रभुः स्यात् ॥९०४॥

इत्युपासकाध्ययने सल्लेखनाविधिर्नाम पञ्चचत्वारिंशः कल्पः ॥४५॥

अथ प्रकीर्णकम्

विप्रकीर्णार्थवाक्यानामुक्तिरुक्तं प्रकीर्णकम्।
उक्तानुक्तामृतस्यन्दबिन्दुस्वादनकोविदैः ॥९०५॥

आचार्य जो प्रायश्चित्त बतलायें उसे करके समाधिमरण करनेके लिए पूरब या उत्तरको सिर करके शान्तिके साथ चटाईपर विराजमान हो जाये। और यदि वह महाव्रत धारण करनेकी प्रार्थना करे तो आचार्य उसे समस्त परिग्रहका त्याग कराकर महाव्रत धारण करा दे। इसके बाद वह नग्न होकर महाव्रत अङ्गीकार करके महाव्रतकी भावना भाये और जो महाव्रत धारण न कर सकता हो तो वह बिना ही महाव्रत अङ्गीकार किये महाव्रतकी भावना भाये। संघमें जो श्रेष्ठ मुनि हों उन्हें उसकी सेवामें देकर आचार्य उसे सम्बोधते रहें। पहले उससे यह मालूम करें कि तुम्हारी कुछ खानेकी इच्छा है क्या! यदि वह कुछ खाना चाहे तो उसे खिला दें, जिससे उसका मन किसी खाद्यमें उलझा न रहे। और यदि वह उसीमें आसक्त हो तो उसे समझाकर उसका मन उधरसे हटाये। इस तरह उससे भोजनका त्याग कराकर दुग्ध वगैरह देते रहें। फिर धीरे-धीरे भोजन भी छुड़ाकर गर्म जल देते रहें। उसके बाद जब आचार्य आज्ञा दें, तो वह जीवन-भरके लिए सब प्रकारका आहार छोड़ दे। यदि उसे कोई ऐसा रोग हो जिसके कारण उसे बार-बार प्यास लगती हो तो पानी रख सकता है और जब मृत्यु निकट मालूम दे तब उसे छोड़ सकता है।

समाधिमरणके अतीचार

जीनेकी इच्छा करना, मरनेकी इच्छा करना, मित्रोंको याद करना, पहले भोगे हुए भोगोंका स्मरण करना और आगामी भोगोंकी इच्छा करना, ये पाँच बातें समाधिमरणव्रतमें दोष लगानेवाली हैं ॥९०३॥ इस प्रकार आचार्यके ऊपर विधिवत् अपना भार सौंपकर तथा रत्नत्रयकी आराधना करके जो समाधिमरण करता है वह संसारमें पूजनीय पदका स्वामी होता है ॥९०४॥

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें सल्लेखनाविधि नामक पैंतालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ।

[अब कुछ फुटकर बातें बतलाते हैं।]

उक्त—जिन्हें कह चुके और अनुक्त—जिन्हें नहीं कहा, उन सब विषयरूपी अमृतसे टपकनेवाली बूँदोंका स्वाद लेनेमें चतुर पण्डितजनोंने फुटकर बातोंका कथन करनेको प्रकीर्णक कहा है ॥ ९०५ ॥

---

१. यदि स्तोकं कालं जीव्यते तदा भव्यमिति जीविताशंसा। यदि शीघ्रं म्रियते तदा भव्यमिति मरणाशंसा। आशंसा वाञ्छा। "जीवितमरणाशंसा मित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥" तत्त्वार्थसूत्र ७-३७। "जीवितमरणाशंसे भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः। सल्लेखनातीचाराः पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः ॥१२९॥"—रत्नकरंडश्रा०। "जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागः सुखानुबन्धश्च। सनिदानः पञ्चैते भवन्ति सल्लेखनाकाले ॥१९५॥"—पुरुषार्थसि०। अमित०श्राव० ७-१५ सागारधर्मा० ८।४५।

अदुर्जनत्वं विनयो विवेकः परीक्षणं तत्त्वविनिश्चयश्च ।
एते गुणाः पञ्च भवन्ति यस्य स आत्मवान्धर्मकथापरः स्यात् ॥९०६॥
असूयकत्वं शठताऽविचारो दुराग्रहः सूक्तविमानना च ।
पुंसाममी पञ्च भवन्ति दोषास्तत्त्वावबोधप्रतिबन्धनाय ॥९०७॥
पुंसो यथा संशयिताशयस्य दृष्टा न काचित्सफला प्रवृत्तिः ।
धर्मस्वरूपेऽपि[1] विमूढबुद्धेस्तथा न काचित्सफला प्रवृत्तिः ॥९०८॥
[2]जातिपूजाकुलज्ञानरूपसंपत्तपोबले ।
उशन्त्यहंयुतोद्रेकं मदमस्मयमानसाः ॥९०९॥
यो मदात्समयस्थानामवह्लादेन मोदते ।
स नूनं धर्महा यस्मान्न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥९१०॥
देवसेवा [3]गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ॥९११॥

धर्मकथा करनेका अधिकारी

सज्जनता, विनय, समझदारी, हिताहितकी परीक्षा और तत्त्वोंका निश्चय जिसमें ये पाँच गुण होते हैं वही विशिष्ट आत्मा, धर्म कथा, धार्मिक चर्चा या धर्मोपदेशका अधिकारी है ॥९०६॥

तत्त्वको समझनेमें प्रतिबन्धक बातें

किसीके गुणोंमें दोष लगाना, ठगना, विचारहीनता, हठीपना और अच्छी बातका निरादर करना, मनुष्योंके ये पाँच दोष तत्त्वको समझनेमें रुकावट डालते हैं। अर्थात् जिसमें ये दोष होते हैं वह तत्त्वको समझनेका प्रयत्न नहीं करता और अपनी ही हाँके जाता है ॥ ९०७ ॥

जैसे प्रत्येक बातको सन्देहकी दृष्टिसे देखनेवाला संशयालु मनुष्य किसी भी काममें सफल होता नहीं देखा जाता, वैसे ही जो मनुष्य धर्मके स्वरूपके विषयमें भी मूढबुद्धि है उसकी कोई प्रवृत्ति सफल नहीं होती ॥ ९०८ ॥

मदोंका निषेध

गर्वसे रहित गणधरादिक देव, जाति, प्रतिष्ठा, कुल, ज्ञान, रूप, सम्पत्ति, तप और बलका सहारा लेकर अहंकार करनेको मद या घमंड कहते हैं। अर्थात् लोकमें इन आठ बातोंको लेकर लोग घमंड करते देखे जाते हैं॥९०९॥ जो मनुष्य घमण्डमें आकर अपने साधर्मी भाइयोंका अपमान करके प्रसन्न होता है वह निश्चयसे धर्मघातक है; क्योंकि धार्मिकोंके बिना धर्म नहीं है ॥९१०॥

गृहस्थके छह कर्म

देवपूजा, गुरुकी सेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये गृहस्थोंके छह दैनिक कर्म हैं। प्रत्येक गृहस्थको प्रतिदिन ये छह काम अवश्य करने चाहिए ॥ ९११ ॥

---

१. "धर्मस्वरूपेऽपि तथाविधस्य कीदृक् कथं क्वासु कदा प्रवृत्तिः।"—धर्मरत्ना० प० १३९ । २. "ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः । अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥२५॥ स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः । सोऽत्येति धर्ममात्मीयं न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥२६॥"—रत्नकरण्डश्रा० । ३ अयं श्लोकः पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकायामपि विद्यते ।

स्नपनं पूजनं स्तोत्रं जपो ध्यानं श्रुतस्तवः ।
षोढा क्रियोदिता सद्भिर्देवसेवासु गेहिनाम् ॥९१२॥

आचार्योपासनं श्रद्धा शास्त्रार्थस्य[1] विवेचनम् ।
तत्क्रियाणामनुष्ठानं श्रेयःप्राप्तिकरो गणः ॥९१३॥

शुचिर्विनयसंपन्नस्तनु[2]चापलवर्जितः ।
अष्ट[3]दोषविनिर्मुक्तमधीतां गुरुसंनिधौ ॥९१४॥

अनुयोगगुणस्थानमार्गणास्थानकर्मसु ।
अध्यात्मतत्त्वविद्यायाः पाठः स्वाध्याय उच्यते ॥९१५॥

देवपूजाकी विधि

सुज्ञ जनोंने गृहस्थोंके लिए देवपूजाके विषयमें छह क्रियाएँ बतलायी हैं—पहले अभिषेक, फिर पूजन, फिर भगवान्‌के गुणोंका स्तवन, फिर पञ्च नमस्कार मन्त्र वगैरहका जाप, फिर ध्यान और अन्तमें जिनवाणीका स्तवन। इसी क्रमसे जिनेन्द्र देवकी आराधना करनी चाहिए ॥ ९१२ ॥

कल्याणकी प्राप्तिके साधन

आचार्यकी उपासना, देवशास्त्र गुरुकी श्रद्धा, शास्त्रके अर्थका विवेचन, उसमें बतलायी गयी क्रियाओंका आचरण ये सब कल्याणकी प्राप्ति करनेवाले हैं ॥९१३॥

अपने कल्याणके इच्छुक शिष्यसमुदायको पवित्र होकर तथा शारीरिक चपलताको छोड़कर विनयपूर्वक गुरुके समीपमें आठ दोषोंसे रहित अध्ययन करना चाहिए ॥ ९१४ ॥

भावार्थ—आचार्य परमेष्ठी या उपाध्याय परमेष्ठी गुरु कहलाते हैं। उनसे विनयपूर्वक अध्ययन, शास्त्रचर्चा, उनकी आज्ञाका पालन आदि करना चाहिए। ज्ञानाराधनके आठ दोष होते हैं—स्वाध्यायके समयका ध्यान न रखना पहला दोष है। शुद्ध उच्चारण न करना, अक्षरादिको छोड़ जाना दूसरा दोष है। शास्त्रका अर्थ ठीक न करना तीसरा दोष है। न उच्चारण ठीक करना और न अर्थ ठीक करना चौथा दोष है। जिनसे पढ़ा है या विचारा है उनका नाम छिपाना पाँचवाँ दोष है। जो पढ़ा है उसको अवधारण न करना छठा दोष है। विनयपूर्वक अध्ययन न करना सातवाँ दोष है। और गुरुका आदर न करना आठवाँ दोष है। इन आठ दोषोंको टालकर गुरुसे अध्ययन करना चाहिए।

स्वाध्यायका स्वरूप

चारों अनुयोगोंके शास्त्र तथा गुणस्थान और मार्गणास्थानका और अध्यात्म तत्त्वरूप विद्याका पढ़ना स्वाध्याय है ॥ ९१५ ॥

---

१. श्रुताराधनम् । २. शरीर । ३. अकाल १, अविनय २, अनवग्रह ३, अबहुमान ४, निह्नव ५, अव्यंजन ६, अर्थविकल ७, अर्थव्यञ्जनविकल ८, इत्यष्टौ दोषाः ।

गृही यतः स्वसिद्धान्तं साधु बुध्येत धर्मधीः ।
प्रथमः सोऽनुयोगः स्यात्पुराणचरिताश्रयः[1] ॥९१६॥
अधोमध्योर्ध्वलोकेषु चतुर्गतिविचारणम् ।
शास्त्रं[2] करणमित्याहुरनुयोगपरीक्षणम् ॥९१७॥
ममेदं स्यादनुष्ठानं तस्यायं रक्षणक्रमः ।
इत्थमात्मचरित्रार्थोऽनुयोगश्चरणाश्रितः[3] ॥९१८॥
जीवाजीवपरिज्ञानं धर्माधर्मावबोधनम् ।
बन्धमोक्षज्ञता चेति फलं द्रव्यानुयोगतः[4] ॥९१९॥
जीवस्थान[5]गुणस्थान[6]मार्गणा[7]स्थानगो विधिः ।

प्रथमानुयोगका स्वरूप

धर्मात्मा गृहस्थ जिससे अपने सिद्धान्तोंको अच्छी तरह समझ सकता है वह प्रथमानुयोग है। उसमें त्रेसठ शलाकापुरुषोंका वृतान्त या प्रसिद्ध पुरुषोंका चरित्र पाया जाता है ॥ ९१६ ॥

करणानुयोगका स्वरूप

अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकमें चारों गतियोंका विचार जिसमें किया गया हो उसको करणानुयोग कहते हैं। यह करणानुयोग अन्य अनुयोगोंकी परीक्षा करनेकी कसौटी है। अर्थात् इसीपरसे अन्य सबके प्रामाण्यकी परीक्षा की जाती है ॥ ९१७ ॥

चरणानुयोगका स्वरूप

यह मेरा अनुष्ठान–कर्तव्यकर्म है और उसके पालनका यह क्रम है। इस प्रकार आत्माके चरित्रका वर्णन जिसमें किया गया हो उसे चरणानुयोग कहते हैं ॥ ९१८ ॥

द्रव्यानुयोगका स्वरूप

द्रव्यानुयोगसे जीव और अजीव द्रव्यका ज्ञान होता है, धर्म और अधर्म द्रव्यका ज्ञान होता है तथा बन्ध और मोक्षका ज्ञान होता है ॥ ९१९ ॥

जीवसमास, गुणस्थान और मार्गणा प्रत्येक चौदह-चौदह प्रकारके होते हैं। इनका स्वरूप

---

१. "पुराणचरितादिकः"— धर्मरत्ना० प० १४० । "प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम् । बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः ॥४३॥"—रत्नकरंडश्रा० । २. "लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च । आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च ॥४४॥"–रत्नकरंड० । ३. "इत्थमात्मा चरित्रार्थेऽनुयोगश्चरणाभिधः ।"—धर्मरत्ना० प० १४० । "गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम् । चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥४५॥"—रत्नकरंड० । ४."जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च । द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥४६॥"—रत्नकरंड० । ५. "बायरसुहुमेगिंदिय बिति चउरिंदिय असण्णी सण्णी य । पज्जतापज्जत्ता एवं ते चोद्दसा होंति ॥३४॥—प्रा० पंचसंग्रहः । ६. 'मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य । विरदो पमत्तइयरो अपुव्व अणियट्टि सुहुमो य ॥४॥ उवसंत खीणमोहो सयोगिकेवलिजिणो अजोगी य । चोद्दस गुणठाणाणि य कमेण सिद्धा य णायव्वा ॥५॥—प्रा० पंचसंग्रहः । ७. 'गइ इंदियं च काए जोए वेए कसास णाणे य । संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे" ॥५७॥—प्रा० पञ्चसंग्रह ।

चतुर्दशविधो बोध्यः स प्रत्येकं यथागमम् ॥९२०॥
आदितः[1] पञ्च तिर्यक्षु चत्वारि श्वभ्रिनाकिनोः।
गुणस्थानानि मन्यन्ते नृषु चैव चतुर्दश ॥९२१॥

आगमोंसे जानना चाहिए। तिर्यञ्चोंमें पहलेके पाँच गुणस्थान होते हैं। देव और नारकियोंमें पहलेके चार गुणस्थान होते हैं और मनुष्योंमें चौदहों गुणस्थान होते हैं ॥ ९२०-९२१ ॥

भावार्थ—साधारण तौरपर तो जो कुछ मनोयोगपूर्वक पढ़ा जाता है वह स्वाध्याय है किन्तु वस्तुतः जो स्व यानी आत्माके लिए पढ़ा जाता है वही स्वाध्याय है। इसीलिए अध्यात्मविद्याके ग्रन्थोंका अध्ययन करनेको स्वाध्याय बतलाया है। आत्मा क्या है, उसका वास्तविक स्वरूप क्या है, यह संसार कैसे होता है, मुक्ति कैसे होती है, आत्माके गुण कौन हैं आदि बातोंका जानना ही सच्चा ज्ञान है। अपनेको न जानकर यदि सबको जान भी लिया तो उससे क्या ? सब शास्त्र चार विभागोंमें बँटे हुए हैं। उन विभागोंको अनुयोग कहते हैं। जिन शास्त्रोंमें महापुरुषोंका जीवन-वृत्तान्त तथा कथानकोंके द्वारा पुण्य और पापका फल बतलाया गया हो वे सब प्रथमानुयोगमें आ जाते हैं। जिनमें लोकका स्वरूप चारों गतियोंका वर्णन वगैरह हो वे करणानुयोगमें आ जाते हैं। जिनमें आचारका वर्णन हो ये चरणानुयोगमें आ जाते हैं और जिनमें जीव अजीव आदि द्रव्योंका या सात तत्त्वोंका वर्णन हो वे सब द्रव्यानुयोगमें आ जाते हैं। इनमें-से सबसे पहले गृहस्थको प्रथमानुयोगके शास्त्रोंका स्वाध्याय करना चाहिए। उनसे रोचकता भी बनी रहती है और सब सिद्धान्तोंका ज्ञान भी सुगम रीतिसे हो जाता है। उसके बाद फिर अन्य अनुयोगोंके शास्त्रोंका स्वाध्याय करना चाहिए। और जब सिद्धान्तोंका अच्छा ज्ञान हो जाये तो गोम्मटसार आदि ग्रन्थोंसे गुणस्थान, मार्गणास्थान तथा जीवस्थानका अनुगम करना चाहिए। सारांश यह कि प्रत्येक गृहस्थको स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। जैन सिद्धान्तमें संसारके सब जीवोंका लेखा-जोखा रखनेके लिए जीव समास, गुणस्थान और मार्गणाओंका वर्णन विस्तारसे मिलता है। इनमें-से प्रत्येकके चौदह-चौदह भेद हैं। एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्मके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रियअसंज्ञी और पञ्चेन्द्रियसंज्ञी जीव बादर ही होते हैं, ये सातों पर्याप्तक और अपर्याप्तकके भेदसे चौदह होते हैं। जिन जीवोंके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है उन्हें एकेन्द्रिय कहते हैं, जैसे—पृथ्वीकायिक, जलकायिक आदि जीव। जिनके स्पर्शन और रसना दो इन्द्रियाँ होती हैं उन्हें दो इन्द्रिय जीव कहते हैं जैसे—लट। जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण तीन इन्द्रियाँ होती हैं उन जीवोंको त्रीन्द्रिय कहते हैं, जैसे चिऊँटी। जिन जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु चार इन्द्रियाँ होती हैं, उनको चतुरिन्द्रिय कहते हैं, जैसे मक्खी। और जिनके उक्त इन्द्रियोंके साथ कान भी होते हैं, उन्हें पञ्चेन्द्रिय कहते हैं जैसे मनुष्य। जिन पञ्चेन्द्रियोंके मन भी होता है, उन्हें संज्ञी पञ्चेन्द्रिय कहते हैं और जिनके मन नहीं होता है उन्हें असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय कहते हैं। इनमें सब संसारी जीव गर्भित हो जाते हैं, इसलिए उन्हें जीवसमास कहते हैं। इसी तरह गुण

१. "सुरणारएसु चत्तारि होंति तिरिएसु जाण पंचेव। मणुयगईए वि तहा चोद्दस गुणणामधेयाणि ॥५७॥"—प्रा० पञ्चसंग्रह १।

अनिगूहितवीर्यस्य कायक्लेशस्तपः[१] स्मृतम् ।
तच्च मार्गाविरोधेन गुणाय गदितं जिनैः ॥६२२॥

अथवा—

अन्तर्बहिर्मलप्लोषादात्मनः शुद्धिकारणम् ।
शारीरं मानसं कर्म तपः प्राहुस्तपोधनाः ॥६२३॥
कषायेन्द्रियदण्डानां विजयो व्रतपालनम् ।

स्थान भी चौदह हैं। सब कर्मोंमें मोहनीय कर्म प्रबल है। इसीके कारण आत्माके स्वाभाविक गुण विकृत हो रहे हैं। गुणस्थानोंकी रचना जीवोंके मोहके हीन और अधिक होनेके आधारपर की गयी है। मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्त-संयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिबादरसाम्पराय, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली ये चौदह गुणस्थान हैं। संसारके सब जीव अपने-अपने आध्यात्मिक विकासकी कमी-बेशीके कारण इन चौदह गुणस्थानोंमें बँटे हुए हैं। इनमें-से प्रारम्भके चार गुणस्थान तो नारकी, तिर्यञ्च मनुष्य और देव सभीके होते हैं। पाचवाँ गुणस्थान केवल समझदार पशु-पक्षियों और मनुष्योंके ही होता है। आगेके सब गुणस्थान संयमी मनुष्योंके ही होते हैं। चौदहवें गुणस्थानसे जीव सिद्धि या मुक्ति प्राप्त करता है। गति, इन्द्रिय, काय, योग वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार ये चौदह मार्गणाएँ हैं। इनके द्वारा भी संसारी जीवोंको जाना जाता है। जीवस्थान, गुणस्थान और मार्गणास्थानोंका कथन गोमट्टसार जीवकाण्ड तथा धवला टीकाके प्रथम भागसे जानना चाहिए ।

तपका स्वरूप

अपनी शक्तिको न छिपाकर जो कायक्लेश किया जाता है, शारीरिक कष्ट उठाया जाता है उसे तप कहते हैं। किन्तु वह तप जैनमार्गके अविरुद्ध यानी अनुकूल होनेसे ही लाभदायक हो सकता है। अथवा अन्तरङ्ग और बाह्य मलके संतापसे आत्माको शुद्ध करनेके लिए जो शारीरिक और मानसिक कर्म किये जाते हैं उसे तपस्वीजन तप कहते हैं ॥ ९२२–९२३ ॥

भावार्थ—उपवास करना, भूखसे कम खाना, रस आदि छोड़ना ये सब ऐसे तप हैं जिन्हें गृहस्थ पाल सकता है। इनसे मनका भी नियमन होता है और शरीरको कष्ट भी होता है। शरीरको कष्ट देनेका प्रयोजन इतना ही है कि मनुष्य कष्टसहिष्णु बना रहे और कभी अचानक कष्ट आ पड़नेपर एकदम घबरा न उठे। किन्तु मनको वशमें किये बिना शरीरको ही कष्ट देना व्यर्थ है।

संयमका स्वरूप

आत्माका कल्याण चाहनेवालोंके द्वारा जो कषायोंका निग्रह, इन्द्रियोंका जय, मन, वचन

१. "अनिगूहितवीर्यस्य मार्गाविरोधिकायक्लेशस्तपः।"—सर्वार्थसिद्धि ६-२४।

संयमः[1] संयतैः प्रोक्तः श्रेयः श्रयितुमिच्छताम् ॥९२४॥

अस्यायमर्थः—कषन्ति संतापयन्ति दुर्गतिसंगसंपादनेनात्मानमिति कषायाः[2] क्रोधादयः। अथवा यथा विशुद्धस्य वस्तुनो नैयग्रोधादयः कषायाः कालुष्यकारिणः, तथा निर्मलस्यात्मनो मलिनत्वहेतुत्वात्कषाया इव कषायाः। तत्र स्वपरापराधाभ्यामात्मेतरयोरपायोऽपायानुष्ठानमशुभपरिणामजननं वा क्रोधः। विद्याविज्ञानैश्वर्यादिभिः पूज्यपूजाव्यतिक्रमहेतुरहंकारो युक्तिदर्शनेऽपि दुराग्रहापरित्यागो वा मानः। मनोवाक्कायक्रियाणामयाथातथ्यात्परवञ्चनाभिप्रायेण प्रवृत्तिः ख्यातिपूजालाभाद्यभिनिवेशेन वा माया। चेतनाचेतनेषु वस्तुषु चित्तस्य महान्ममेदं भावस्तदभिवृद्धिविनाशयोर्महान्सन्तोषो[3] असन्तोषो वा लोभः।

सम्यक्त्वं घ्नन्त्यनन्तानुबन्धिनस्ते कषायकाः।

और कायकी प्रवृत्तिका त्याग तथा व्रतोंका पालन किया जाता है उसे संयमी पुरुष संयम कहते हैं ॥ ९२४ ॥

इसका खुलासा इस प्रकार है—

जो आत्माको दुर्गतियोंमें ले जाकर कष्ट दें उन्हें कषाय कहते हैं। अथवा जैसे वटवृक्ष वगैरहका कसैला रस साफ़ वस्तुको भी काला कर देता है वैसे ही जो निर्मल आत्माको मलिन करनेमें कारण हो उसे कसैले रसके समान होनेसे कषाय कहते हैं। वे कषाय चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ।

अपनी या दूसरोंकी गलतीसे अपना या दूसरोंका अनिष्ट होना या अनिष्ट करना अथवा बुरे भावोंका उत्पन्न होना क्रोध है। विद्या, ज्ञान या ऐश्वर्य वगैरहके घमंडमें आकर पूज्य पुरुषोंका आदर-सत्कार नहीं करना अथवा युक्ति देनेपर भी अपने दुराग्रहको नहीं छोड़ना मान है। दूसरोंको ठगनेके अभिप्रायसे अथवा ख्याति, आदर-सत्कार या धनलाभ वगैरहके अभिप्रायसे मन, वचन और कायकी मिथ्याप्रवृत्ति करना अर्थात् सोचना कुछ, कहना कुछ और करना कुछ, इसे माया कहते हैं। चेतन स्त्री-पुत्रादिकमें और अचेतन जमीन-जायदाद वगैरहमें 'यह मेरे हैं' इस प्रकारकी जो अत्यन्त आसक्ति होती है अथवा इन वस्तुओंकी वृद्धि होनेपर जो महान् संतोष या इनकी हानि होनेपर जो महान् असन्तोष होता है वह लोभ है।

इस प्रकार ये चार कषाय हैं। इन चारोंमें-से प्रत्येककी चार-चार अवस्थाएँ होती हैं—अनन्तानुबन्धि क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ। इनमें से जो

---

१. "वय-समिदि-कसायाणं दंडाणं इंदियाण पंचण्हं। धारणपालणणिग्गहचायजओ संजमो भणिओ ॥१२७॥"—प्रा० पञ्चसंग्रह १। २. "क्रोधादिपरिणामः कषति हिनस्त्यात्मानं कुगतिप्रापणादिति कषायः।........अथवा यथा कषायो नैयग्रोधादिः श्लेषहेतुस्तथा क्रोधादिरप्यात्मनः कर्मश्लेषहेतुत्वात् कषाय इव कषाय इत्युच्यते।"—तत्त्वार्थवार्तिक पृ० ५०८। ३. "तदभिवृद्ध्याशयो वा महानसंतोषः क्षोभो वा लोभः"—धर्मर० पृ० १४१। ४. "कषायाः क्रोधमानमायालोभाः। तेषां चतस्रोऽवस्थाः अनन्तानुबन्धिनोऽप्रत्याख्यानावरणाः प्रत्याख्यानावरणाः संज्वलनाश्चेति। अनन्तसंसारकारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्तं तदनुबन्धिनोऽनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाः। यदुदयाद्देशविरतिं संयमासंयमाख्यामल्पामपि कर्तुं न शक्नोति, ते देशप्रत्याख्यानमावृण्वन्तोऽप्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः। यदुदयाद्विरतिं कृत्स्नां संयमाख्यां न शक्नोति कर्तुं ते कृत्स्नं प्रत्याख्यान-

अप्रत्याख्यानरूपाश्च देशव्रतविघातिनः ॥९२५॥
प्रत्याख्यानस्वभावाः स्युः संयमस्य विनायकाः[1] ।
चारित्रे तु यथाख्याते कुर्युः संज्वलनाः क्षतिम् ॥९२६॥
पाषाणभूरजोवारिलेखाप्रख्यत्वभाग्भवन्[2] ।
क्रोधो यथाक्रमं गत्यै श्वभ्रतिर्यङ्नृनाकिनाम् ॥९२७॥
शिलास्तम्भास्थिसार्द्रध्मवेत्रवृत्तिर्द्वितीयकः[3] ।

कषाय सम्यग्दर्शनको घातती हैं अर्थात् सम्यग्दर्शनको नहीं होने देतीं उन्हें अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं। जो कषाय सम्यग्दर्शनको तो नहीं घाततीं किन्तु देशव्रतको घातती हैं उन्हें अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं ॥ ९२५ ॥ जो कषाय न तो सम्यग्दर्शनको रोकती हैं और न देशचारित्रको रोकती हैं किन्तु संयमको रोकती हैं, उन्हें प्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं। और जो कषाय केवल यथाख्यात चारित्रको नहीं होने देतीं उन्हें संज्वलनकषाय कहते हैं ॥ ९२६ ॥

चारों क्रोध आदि कषायोंमें-से प्रत्येकके शक्तिकी अपेक्षासे भी चार-चार भेद होते हैं। पत्थरकी लकीरके समान क्रोध, पृथिवीकी लकीरके समान क्रोध, धूलिकी लकीरके समान क्रोध और जलकी लकीरके समान क्रोध। जैसे पत्थरकी लकीरका मिटना दुष्कर है वैसे ही जो क्रोध बहुत समय बीत जानेपर भी बना रहता है वह उत्कृष्ट शक्तिवाला होता है और ऐसा क्रोध जीवको नरक गतिमें ले जाता है। जैसे पृथ्वीकी लकीर बहुत समय बाद मिटती है वैसे ही जो क्रोध बहुत समय बीत जानेपर मिटे वह अनुत्कृष्ट शक्तिवाला क्रोध है ऐसा क्रोध जीवको पशुगतिमें ले जाता है। जैसे धूलमें की गयी लकीर कुछ समयके बाद मिटती है वैसे ही जो क्रोध कुछ समयके बाद मिट जाये वह अजघन्य शक्तिवाला क्रोध है। ऐसा क्रोध जीवको मनुष्य गतिमें उत्पन्न करता है। जैसे पानीमें की गयी लकीर तुरन्त ही मिट जाती है वैसे ही जो क्रोध तुरन्त ही शान्त हो जाये वह जघन्य शक्तिवाला क्रोध है। ऐसा क्रोध जीवको देवगतिमें उत्पन्न करानेमें निमित्त होता है ॥ ९२७ ॥

मान कषायके भी शक्तिकी अपेक्षा चार भेद हैं—पत्थरके स्तम्भके समान, हड्डीके समान, गीली लकड़ीके समान और बेतके समान। जैसे पत्थरका स्तम्भ कभी नमता नहीं है वैसे ही जो मान जीवको कभी विनयी नहीं होने देता वह उत्कृष्ट शक्तिवाला मान है, ऐसा मान जीवको नरक-गतिमें जानेका निमित्त होता है। जैसे हड्डी बहुत काल बीते बिना नमने योग्य नहीं होती वैसे ही जो बहुत काल बीते बिना जीवको विनयी नहीं होने देता वह अनुत्कृष्ट शक्तिवाला मान है। ऐसा

मावृण्वन्तः प्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः। समेकीभावे वर्तते। संयमेन सहावस्थानादेकीभूय ज्वलन्ति संयमो वा ज्वलत्येषु सत्स्वपीति संज्वलनाः क्रोधमानमायालोभाः।"—सर्वार्थसिद्धि ८-१०। "सम्मत्त देससंजम-संसुद्धीघाइकसाइं पढमाइं। तेसिं तु भवे नासे सङ्घाईं चउहं उप्पत्ति ॥११०॥"—प्रा० पंचसंग्रह १।

१. विनाशकाः—धर्मरत्ना० पृ० १४१। २ "सिलभेय पुढविभेया धूलीराई य उदयराइसमा। णिर-तिरि-णर देवत्तं उविंति जीवा हु कोहवसा ॥१११॥"—प्रा० पञ्चसंग्रह १। ३. "सेलसमो अट्ठिसमो दारुसमो तह य जाणवेत्तसमो। णिर-तिरि-णर-देवत्तं उविंतो जीवा हु माणवसा ॥११२॥"—पं० सं० १।

अधः पशुनरस्वर्गगतिसंगतिकारणम् ॥९२८॥
[1]वेणुमूलैरजाशृङ्गैर्गोमूत्रैश्[2]चामरैः समा ।
माया तथैव जायेत चतुर्गतिवितीर्णये ॥९२९॥
[3]क्रिमिनीलीवपुर्लेपहरिद्रारागसंन्निभः ।
लोभः कस्य न संजातस्तद्वत्संसारकारणम् ॥९३०॥

मान जीवको पशुगतिमें उत्पन्न होनेका निमित्त होता है। जैसे गीली लकड़ी थोड़े कालमें ही नमने योग्य हो जाती है वैसे ही जो थोड़े समयमें ही शान्त हो जाता है वह अजघन्य शक्तिवाला मान है। ऐसा मान जीवको मनुष्यगतिमें उत्पन्न कराता है। जैसे बेत जल्दी ही नम जाता है वैसे ही जो जल्दी ही शान्त हो जाये वह जघन्य शक्तिवाला मान है ऐसा मान जीवको देवगतिमें उत्पन्न कराता है ॥ ९२८ ॥

इसी प्रकार बाँसकी जड़, बकरीके सींग, गोमूत्र और चामरोंके समान माया क्रमशः चारों गतियोंमें उत्पन्न करानेमें निमित्त होती है। अर्थात् जैसे बाँसकी जड़में बहुत-सी शाखा-प्रशाखा होती है वैसे ही जिसमें इतने छल-छिद्र हों कि उनका कोई हिसाब ही न हो, उसे उत्कृष्ट शक्तिवाली माया कहते हैं। जैसे बकरीके सींग टेढ़े होते हैं उस ढंगका टेढ़ापन जिसके व्यवहारमें हो वह अनुत्कृष्ट शक्तिवाली माया है। जैसे बैल कुछ मोड़ा देकर मूतता है उतना टेढ़ापन जिसमें हो वह अजघन्य शक्तिवाली माया है और जैसे चामर ढोरते समय थोड़ा मोड़ा खा जाते हैं किन्तु तुरन्त ही सीधे हो जाते हैं वैसे ही जिसमें बहुत कम टेढ़ापन हो जो जल्द ही निकल जाये वह जघन्य शक्तिवाली माया है। चारों प्रकारकी माया क्रमसे जीवको चारों गतिमें उत्पन्न करानेमें कारण है ॥ ९२९ ॥

किरमिचके रंग, नीलके रंग, शरीरके मल और हल्दीके रंगके समान लोभ शेष कषायोंकी तरह किस जीवके संसार-भ्रमणका कारण नहीं होता। जैसे किरमिचका रंग पक्का होता है वैसे ही जो खूब गहरा और पक्का हो वह तो उत्कृष्ट शक्तिवाला लोभ है। जैसे नीलका रंग किरमिचसे कम पक्का होता है मगर होता वह भी गहरा ही है वैसे ही जो कम पक्का और गहरा राग होता है वह अनुत्कृष्ट शक्तिवाला लोभ है। जैसे शरीरका मल हलका गहरा होता है वैसे ही जो हलका गहरा राग होता है वह अजघन्य शक्तिवाला लोभ है। तथा जैसे हल्दीका रंग हलका होता है और जल्दी ही उड़ जाता है वैसे ही जो बहुत हलका राग होता है वह जघन्य शक्तिवाला लोभ है। ये चारों प्रकारके लोभ जीवको क्रमशः चारों गतियोंमें उत्पन्न करानेमें निमित्त होते हैं ॥ ९३० ॥

---

१. "वंसीमूलं मेसस्स सिगं गोमुत्तियं च खोरुप्पम् । णिरि-तिरि-णर-देवत्तं उविंति जीवा हु मायवसा ॥११३॥"—पञ्चसं० १ । २. –र्गोमूत्र्या—धर्मर० प० १४१ । ३. "किमिराय चक्कमल कद्दमोय तह चेय जाण हारिद्दं । णिर-तिरि-णरदेवत्तं उविंति जीवा हु लोहवसा ॥११४॥"—पंचसं० १ ।

किञ्च—

यथौषधक्रिया रिक्ता रोगिणोऽपथ्यसेविनः ।
क्रोधनस्य तथा रिक्ताः समाधिश्रुतसंयमाः ॥९३१॥

मानदावाग्निदग्धेषु मदोषरकषायिषु ।
नृद्रुमेषु प्ररोहन्ति न सच्छायोचिताङ्कुराः ॥९३२॥

यावन्मायानिशालेशोऽप्यात्माम्बुषु कृतास्पदः ।
न प्रबोधश्रियं तावद्धत्ते चित्ताम्बुजाकरः ॥९३३॥

लोभकीकसचिह्नानि चेतःस्रोतांसि दूरतः ।
गुणाध्वन्यास्त्यजन्तीह चण्डालसरसीमिव ॥९३४॥

तस्मान्मनोनिकेतेऽस्मिन्निदं शल्यचतुष्टयम् ।
यतेतोद्धर्तुमात्मज्ञः क्षेमाय शमकीलकैः ॥९३५॥

षट्स्वर्थेषु विसर्पन्ति स्वभावादिन्द्रियाणि षट् ।
तत्स्वरूपपरिज्ञानात्प्रत्यावर्तेत सर्वदा ॥९३६॥

जैसे अपथ्य सेवन करनेवाले रोगीका दवा सेवन व्यर्थ है वैसे ही क्रोधी मनुष्यका ध्यान, शास्त्राभ्यास तथा संयम सब व्यर्थ हैं ॥ ९३१ ॥

मानरूपी वनकी आगसे जले हुए और मदरूपी खारी मिट्टीसे सने हुए मनुष्यरूपी वृक्षोंमें अच्छी छाया देनेवाले नये अंकुर नहीं उगते। अर्थात् जैसे वनकी आगसे जले हुए और खारी मिट्टीसे सने हुए वृक्षमें नये अंकुर पैदा नहीं होते वैसे जो मनुष्य घमंडी और अहंकारी है उनमें भी सद्गुण प्रकट नहीं हो सकता ॥ ९३२ ॥

मायाकी बुराई

जैसे थोड़ी-सी भी रातके रहते हुए जलाशयमें कमल नहीं खिलते वैसे ही आत्मामें थोड़ी-सी भी मायाके रहते हुए चित्त बोधको प्राप्त नहीं होता। अर्थात् मायाचारीके हृदयमें ज्ञानका प्रवेश नहीं होता ॥९३३॥

लोभकी बुराई

जैसे गुणी पथिक चाण्डालोंके तालाबको दूरसे ही छोड़ देते हैं क्योंकि उसके सोतोंमें हड्डियाँ पड़ी होती हैं वैसे ही जिसके चित्तमें लोभका वास होता है उसे गुण दूरसे ही छोड़ देते हैं। अर्थात् लोभी मनुष्यके सभी गुण नष्ट हो जाते हैं ॥९३४॥

अतः आत्मदर्शी मनुष्यको अपने कल्याणके लिए संयमरूपी कीलके द्वारा अपने मनरूपी मन्दिरसे इन चारों शल्योंको निकालनेका प्रयत्न करना चाहिए ॥९३५॥ छहों इन्द्रियाँ स्वभावसे ही अपने-अपने विषयोंमें प्रवृत्त होती हैं। अतः उन विषयोंके स्वरूपको जानकर सदा उन इन्द्रियोंको

---

१. क्षारः । २. कमलसमूहः । ३. अस्थि । ४. पथिकाः ।

आपाते सुन्दरारम्भैर्विपाके विरसक्रियैः ।
विषैर्वा विषयैर्ग्रस्ते कुतः कुशलमात्मनि ॥९३७॥

दुश्चिन्तनं दुरालापं दुर्व्यापारं च नाचरेत् ।
व्रती व्रतविशुद्ध्यर्थं मनोवाक्कायसंश्रयम् ॥९३८॥

अभङ्गानतिचाराभ्यां गृहीतेषु व्रतेषु यत् ।
रक्षणं क्रियते शश्वत्तद्भवेद् व्रतपालनम् ॥९३९॥
वैराग्यभावना नित्यं नित्यं तत्त्वविचिन्तनम् ।
नित्यं यत्नश्च कर्तव्यो यमेषु नियमेषु च ॥९४०॥

तत्र दृष्टानुश्राविकविषयवितृष्णस्य मनोवशीकारसंज्ञा वैराग्यम् । प्रत्यक्षानुमानागमानुभूतविषयाऽसंप्रमोषस्वभावा स्मृतिस्तत्त्वविचिन्तनम् । बाह्याभ्यन्तरशौचतपःस्वाध्यायप्रणिधाना नियमाः । अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा नियमाः ।

इत्युपासकाध्ययने प्रकीर्णकविधिर्नाम षट्चत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

उनके विषयोंमें फँसनेसे बचाना चाहिए ॥९३६॥ ये विषय विषके समान हैं । जब प्राप्त होते हैं तो अच्छे मालूम होते हैं किन्तु जब वे अपना फल देते हैं तो अत्यन्त विपरीत हो जाते हैं । जो आत्मा इन विषयोंके चक्करमें फँसा हुआ है उसकी कुशल कैसे हो सकती है ? ॥९३७॥

व्रती पुरुषको अपने व्रतोंको शुद्ध रखनेके लिए मनमें बुरे विचार नहीं लाना चाहिए । वचनसे बुरी बात नहीं कहनी चाहिए और शरीरसे बुरी चेष्टा नहीं करनी चाहिए । जो व्रत ग्रहण किये हों उनमें न तो अतिचार लगने दे और न व्रतको खण्डित होने दे । इस प्रकार जो व्रतोंकी रक्षा की जाती है इसे ही व्रतोंका पालन करना कहा जाता है ॥९३८-९३९॥

भावार्थ—जब व्रतका ध्यान रखते हुए उसका एकदेश खण्डित हो जाता है उसे अतिचार कहते हैं । और व्रतका कतई ध्यान न रखकर उसे तोड़ डालना भंग कहलाता है । जो व्रत लो उसे खूब सोच-समझकर लो, जो कुछ सोचना-विचारना हो वह व्रत लेनेसे पहले ही सोच-विचार लो । और जब व्रतको ले लो तो उसे पूरे प्रयत्नके साथ पालो, न तो उसमें कोई दोष लगने दो और न व्रतको छोड़नेकी कोशिश करो । यदि कभी अज्ञान या प्रमादसे व्रत खण्डित हो जाये तो यह सोचकर कि अब तो यह टूट ही गया उसे छोड़ मत बैठो बल्कि प्रयत्नपूर्वक उसे फिर धारण करो । ऐसी सावधानता रखनेसे ही व्रतोंका पालन हो सकता है ।

अतः सदा वैराग्यको भाना चाहिए । सदा तत्त्वोंका चिन्तन करते रहना चाहिए और सदा यम और नियमोंमें प्रयत्न करते रहना चाहिए ॥ ९४० ॥

देखे हुए और सुने हुए विषयोंकी तृष्णाको छोड़कर मनको वशमें करनेको वैराग्य कहते हैं । प्रत्यक्षसे, अनुमानसे और आगमसे जाने हुए पदार्थोंका जो भ्रान्तिरहित स्मरण है उसे तत्त्व-चिन्तन कहते हैं । बाह्य और आभ्यन्तर शौच तथा सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ध्यानको यम कहते हैं और अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहको नियम कहते हैं ।

इस प्रकार उपासकाध्ययनमें विविध विधियोंको बतलानेवाला छियालीसवाँ कल्प समाप्त हुआ ।

इत्येष गृहिणां धर्मः प्रोक्तः क्षितिपतीश्वरः।
यतीनां तु श्रुतात् ज्ञेयो मूलोत्तरगुणाश्रयः ॥९४१॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

इस प्रकार हे राजन्! यह गृहस्थोंका धर्म कहा। यतियोंका धर्म-उनके मूल गुण और उत्तरगुण-आगमसे जानना चाहिए ॥ ९४१ ॥

श्री:

पं० जिनदासविरचिता

उपासकाध्ययनटीका

जितदोषं नतदेवं दातारं सकलभव्यजीवेभ्यः।
मुक्तिसुखानां वन्दे वीरजिनं सकलसद्गुणोपेतम् ॥१॥
श्रीसोमदेवविरचितमुपासकाध्ययनमस्ति हितकथकम्।
गृहिणामुपासकानां जिनदासेनास्य तन्यते टीका ॥२॥

[पृष्ठ १] **धर्मादिति**—किलेति निश्चये। हे भगवन् पूज्य, एष जन्तुः एष प्राणी। किल निश्चयेन। धर्मात्सुखी भवति। जगति लोके। स च धर्मः पुनः किंरूपः किंलक्षणः। किंभेदः किंप्रकारः। किमुपायः कैः उपायैः उत्पद्येत। किंफलश्च जायेत—अस्य धर्मस्य आराधनात् इहलोकसुखं परलोकसुखं वा जायेत उत्पद्येत ॥१॥ **यस्मादिति**—यस्मात् सम्यक्त्वज्ञानचारित्रत्रयात्। पुंसां नराणाम्। निःश्रेयसफलाश्रयः। अतिशयेन प्रशस्यं निःश्रेयसं मोक्षः तदेव फलं तस्य आश्रयः आधारः। अभ्युदयाधारो विना तस्मात् स न लभ्यते। इन्द्रपदतीर्थंकरपदादिजं सांसारिकसुखं विशिष्टम् अविशिष्टं च अभ्युदय उच्यते। विदितांम्नायाः ज्ञातागमाः। धर्मसूरयः धर्माचार्याः। तं धर्म वदन्ति ॥२॥ **स इति**—स गृहस्थेतरगोचरः गृहस्थयतिविषयो धर्मः। प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मा प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च ते आत्मा स्वरूपं यस्य सः। स धर्मः प्रवृत्तिस्वरूपः निवृत्तिस्वरूपश्च अस्ति। मुक्तिहेतौ मोक्षप्राप्तिकारणे रत्नत्रये तत्परता प्रवृत्तिः। भवकारणात् संसारहेतोः मिथ्यात्वादेः निवृत्तिः त्यागः। इति धर्मस्य द्विविधस्यापि स्वरूपम् ॥३॥ **सम्यक्त्वेति**—सम्यग्दर्शनम्, सम्यग्ज्ञानम्, सम्यक्चारित्रं च एतत्त्रयं मोक्षस्य सकलकर्मणाम् अत्यन्तक्षयस्य कारणं भवति। मिथ्यात्वम् अविरतिः कषायाः योगाश्च मिथ्यात्वादिचतुष्टयम् उच्यते। एतच्चतुष्कं संसारस्य चतुर्गतिपरिवर्तनरूपस्य भवस्य हेतुरूपं मीमांस्यं विमर्शनीयं विचारणीयम् इति ॥४॥ **सम्यक्त्वमिति**—युक्तियुक्तेषु प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धेषु, नयसिद्धेषु च। वस्तुषु जीवादिनवपदार्थेषु भावना दृढं श्रद्धानं सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनम् आहुः। युक्तमेतत् लक्षणम्। '**तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्**' [तत्त्वार्थसू० १।१] इति उमास्वामिवचनात्। मोहसंदेहविभ्रान्तिवर्जितं मोहः इदं किंचित् स्यात् इति पदार्थानवबोधः। इदं रजतं स्याद्‍उत शुक्तिशकलम् इति चलन्ती प्रतीतिः संदेहः संशयः। विभ्रान्तिः विभ्रमः विपर्ययः शुक्तिकाशकले रजतज्ञानम्। एतत् त्रयम् अज्ञानम् उच्यते सत्यपदार्थानवबोधनात्। एभिः त्रिभिः अज्ञानैः वर्जितं यत् ज्ञानं तत् सम्यग्ज्ञानम् उच्यते ॥५॥ **कर्मादानेति**—कर्मादाने ज्ञानावरणादिकर्मणाम् आदाने ग्रहणे। निमित्तायाः हेतुभूतायाः वाचः मनसः च क्रियायाः प्रवृत्तेः शमः निरोधः, उपशान्तिः नाशो वा। चारु उत्तमं चारित्रम् ऊचिरे बभाषिरे। के चारित्रोचितचातुर्याः चारित्रे चारित्रधारणे उचितं योग्यं चातुर्यं येषां ते गणधरदेवादयः। एतत् चारित्रं त्रियोगरहिते अयोगिकेवलिनि यथाख्यातसंज्ञकं लभ्यते ॥६॥

[पृष्ठ २] **सम्यक्त्वेति**—सम्यक्त्वे ज्ञाने चारित्रे च विपर्ययपरं विपरीतभावयुक्तं मनः। सर्ववेदिनः सर्वज्ञाः भाषन्ते ब्रुवते। त्रिषु सम्यक्त्वादिषु। अतत्त्वे तत्त्वम् इति भावना सम्यक्त्वे मिथ्यात्वम्। मोहसंदेहविभ्रान्तिः ज्ञाने मिथ्यात्वम्। अहिंसादेः विपरीतम् आचरणं चारित्रे मिथ्यात्वम्। इति मिथ्यात्वं त्रिप्रकारम् ॥७॥ **अत्रेति**—परवादिनां प्रवृत्तयः बहुवृत्तयः नानाविधाः सन्ति। कथंभूतानाम्। **दुरागमेति**—दुरागमो मिथ्याम्नायस्तस्य वासना संस्कारः सैव विलासिनी मोहयन्ती नारी तया वासितं विह्वलं चेतो मनो येषां तेषाम्। पुनः कथंभूतानाम्। **प्रवर्तितेति**—प्रवर्तितानि प्रचारितानि प्राकृतलोका अज्ञजना एव अनोकहा वृक्षास्तेषाम् उन्मूलने उत्पाटने

समया दुर्मतानि एव स्रोतांसि जलप्रवाहाः यैस्तेषाम् । पुनः कथंभूतानाम्-सदाचारेति-सदाचाराः अहिंसानुवर्तिनः दानतपोग्रतादयः न तु अश्वमेधादिकाः । तेषाम् आचरणस्य या चातुरी निपुणता तस्याः विदूरवर्तिनः अतिदूरगामिनः तेषां मुक्तेः उपाये मोक्षाप्तिसाधने मोक्षस्वरूपे च बहुवृत्तयः अनेकरूपाः खलु प्रवृत्तयः । तथा हि—सकलेति—सकलः कलाभिः शरीरावयवैः सहितः आप्तः सकलाप्तः । सैद्धान्तवैशेषिकैः कैश्चनाप्तः ईश्वरः सशरीरः कैश्चन अशरीरश्च मन्यते । ईदृशात् ईश्वरात् प्राप्तानि यानि मन्त्रतन्त्राणि तैः उपेतायाः दीक्षायाः मोक्षो भवतीति । दीक्षालक्षणाच्छ्रद्धानुसरणात् मोक्षप्राप्तिः इति सैद्धान्तवैशेषिका मन्यन्ते । द्रव्यमिति—साधर्म्यं सादृश्यम् । वैधर्म्यं विसदृशता । सदृशविसदृशधर्मसहित-द्रव्यादिपदार्थावबोधकशास्त्रज्ञानमात्रात् ज्ञानात् मोक्षो भवति । त्रिकालेति—प्रातः मध्याह्ने सायं च शरीरे भस्मलेपनम् । इज्या शिवलिङ्गपूजनम् । गडुकप्रदानं शिवलिङ्गस्य पुरतः जलपात्रस्थापनम् । शिवलिङ्गं परितः प्रदक्षिणीकरणम् । आत्मविडम्बनादिक्रियाकाण्डमात्राधिष्ठानं पञ्चाग्नितपश्चरणादिक्रियासमूहाश्रयात् कार्यात् मोक्षः इति पाशुपतमतावलम्बिनो निगदन्ति । पय इति—पयः पेयं मदिरा न पेया इति विचारम् अकृत्वा उभयत्र निःशङ्का प्रवृत्तिः करणीया । मांसम् अभक्ष्यम् अन्नं भक्ष्यम् इति विमर्शम् अकृत्वा उभययोः असंशया प्रवृत्तिः । आदिशब्देन गम्यागम्यादिकं ग्राह्यम् । एतेषु कृतेषु पापं भवेत्पुण्यं वेति अविमृश्य प्रवृत्तिं कुर्वतो मुक्तिर्भवतीति कुलाचार्यका जल्पन्ति ।। तथा च त्रिकमतोक्तिः—मदिरेति—मदिरायाः आमोदेन अत्यन्तसमाकर्षिणा गन्धेन वासितमुखः, तरसस्य मांसस्य भक्षणेन सरसहृदयः मुदितमनाः, वामपार्श्वस्थापितस्त्रीशक्तिः, शक्तिमुद्रायाः योनिमुद्रायाः आसनस्य च धारकः । स्वयमिति—स्वयं पार्वतीपरमेश्वर इव आचरन्, कृष्णया मदिरया शर्वाणीश्वरं पार्वत्या धवं महादेवम् आराधयेत् उपासीत । सांख्या एवं वदन्ति—अहं पुरुषः इदं शरीरादिकं प्रकृतेः उद्भूतम् । न तन्मे स्वरूपम् इति विवेकज्ञानात् पुरुषः प्रकृतेः पृथग्जायते । तदा तस्य मोक्षो भवति इति । नैरात्म्यादीति—नैरात्म्यस्य भावनायाः रागद्वेषौ विनश्यतः ततश्च मोक्षो भवतीति सौगतानां मतम् ।

[पृष्ठ ३] अङ्गाराञ्जनादिवदिति—अङ्गारवत् अथवा अञ्जनवत् स्वभावादेव कालुष्यस्य कोपादिमालिन्यस्य उत्कर्षात् प्रवृत्तस्य चित्तस्य न कुतश्चिद्विशुद्धिः कुतश्चित्तपोध्यानादेः चित्तनैर्मल्यं न जायते इति जैमिनीया वदन्ति । सति धर्मिणीति—सति विद्यमाने धर्मिणि चैतन्यवदात्मनि धर्माः ज्ञानसुखादयः चिन्त्यन्ते विमृश्यन्ते । ततः परलोकिनः जीवस्य अभावात् परलोकस्य स्वर्गनरकादेः तत्कारणस्य पुण्यपापादेः अभावे कस्यासौ मोक्षः । इति समवाप्त लब्धं समस्तानां नास्तिकानाम् अधिकम् आधिपत्यं स्वामित्वं यैस्ते बार्हस्पत्याः बृहस्पतेः शिष्याश्चार्वाकाः एवं वदन्ति। परमब्रह्मेति—परमब्रह्मणो दर्शने अनुभवे जाते सति अशेषभेददर्शिन्या अविद्याया विनाशो जायते ततश्च मोक्षो लभ्यते इति वेदान्तवादिनो वदन्ति । शाक्यविशेषाः पश्यतोहराः दृश्यमानं विश्वम् अपलपन्तः प्रकाशितशून्यैकान्ततिमिराः प्रकटीकृतशून्यैकान्ततमसः शाक्यविशेषा बौद्धविशेषाः एवं वदन्ति—नैवेति—अन्तस्तत्त्वम् आत्माख्यं नास्त्येव । बहिस्तत्त्वं घटादिकम् अञ्जसा परमार्थतः नैवास्ति न विद्यते एव । उभावपि चेतनाचेतनौ पदार्थौ विचारविषयौ न भवतः यतः ततः शून्यता सर्वं शून्यं शून्यम् इति वादः श्रेयान् ।

काणादाः योगा एवं वदन्ति 'ज्ञानसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराणां नवसंख्यावसराणां नवसंख्यायुक्तानाम् आत्मगुणानां जीवगुणानाम् अत्यन्तविनाशः मुक्तिः' इति । पुनस्तैरेव उक्तम्—बहिरिति—देहाद् बहिः जीवस्य यद्रूपं ज्ञायते तदेव कणभोजिना मुनिना वैशेषिकदर्शनस्य प्रणेत्रा मुक्तस्य नवगुणरहितस्य जीवस्य अचेतनघटादितुल्यस्य उक्तमिति ।।९।।

[पृष्ठ ४] ताथागता बौद्धाः एवं मुक्तेः स्वरूपम् आचक्षते । 'निरास्रवचित्तोत्पत्तिलक्षणो मोक्षः' रागद्वेषरहितता निरास्रवता तया अन्वितस्य चित्तस्य उत्पादो मोक्षः । तदुक्तम्—दिशमिति—यथा प्रदीपः तैलक्षयात् केवलं शान्तिम् अभावम् एव याति । स कांचन दिशं, विदिशं, पृथ्वीं, नभो वा नैव याति तथा जीवः क्लेशक्षयात् मुक्तः शान्तिम् अभावं प्रतिपद्यते ।। १०-११ ।। कापिला एवं वर्णयन्ति मुक्तिम्—'बुद्धिमनो-

ऽहंकारविरहादखिलेन्द्रियोपशमावहात्तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं मुक्तिः' इति। बुद्ध्यादीनाम् इन्द्रियाणां च प्रशमे जाते द्रष्टुः आत्मनः स्वरूपे अवस्थानं स्थितिः मुक्तिः। तथा ब्रह्माद्वैतवादिनः यथा घटविघटने घटस्य कुम्भस्य विघटने नाशे घटाकाशं घटरहितं भूत्वा निजस्वरूपे तिष्ठति, केवलम् आकाशमयम् एव जायते तथा देहोच्छेदात् देहस्य शरीरस्य आत्यन्तिकविनाशात् सर्वः प्राणी जीवः परे ब्रह्मणि परपुरुषे लीयते इति वदन्ति। अज्ञातेति—अज्ञातः परमार्थो यैः तेषां यथार्थवस्तुस्वरूपानभिज्ञानां मिथ्यादृष्टीनां ये दुर्णयाः उपरि प्रदर्शिताः तेभ्यो अन्येऽपि बहवः सन्ति ते सर्वे न गणयितुं शक्यन्ते। यथा अज्ञातगजस्वरूपाणां जन्मना अन्धानां दुर्णयाः सर्वे गणयितुं न शक्या भवन्ति ॥१२॥ प्राय इति—यथा कृत्तघ्राणस्य नरस्य निर्मलदर्पणदर्शनं कोपाय भवति, तथा परमार्थपथप्रतिपादनं दुराग्रहं बिभ्रति नरे बहुशः कोपहेतुर्भवति ॥१३॥

[पृष्ठ ५] दृष्टान्तेति—निदर्शनानि बहूनि भवन्ति। तैः बुद्धिर्जनानां वशीक्रियते धूर्तैः। ते इमां महीं पृथ्वीं (आधारे आधेयोपचारात्) विवेकरहितां किं न कुर्वन्ति। अपि तु कुर्वन्त्येव ॥१४॥ दुराग्रहेति—यथा तोयदः तोयं जलं ददाति इति तोयदः मेघः स श्यामाश्मशकलेषु मार्दवं मृदुत्वं नोत्पादयति तथा दुराग्रहग्रहग्रस्ते विपरीताग्रहपिशाचाविष्टे पुंसि नरे विद्वान् किं करोतु। तत्र पुरुषे परमार्थपदार्थप्रतिपादनं तेन विदुषा क्रियमाणं विफलं भवति ॥१५॥ ईर्ते इति—अत्र अस्मिन्विषये। यदेव वस्तु युक्तिम् ईर्ते गच्छति तदेव सत् परमार्थरूपम्। यतः भानुदीप्तिवत् सूर्यप्रकाश इव। तस्याः युक्तेः क्वचित्पक्षपातो न भवति। सूर्यप्रकाशो हीनानि उत्तमानि च वस्तूनि प्रकाशयति विना पक्षपातम्। तथा युक्त्या सदसत्त्वं वस्तुनः सिद्धयतीति ज्ञेयम् ॥१६॥ श्रद्धेति—केवला श्रद्धा श्रेयोऽर्थिनां मुमुक्षूणां श्रेयःसंश्रयाय मोक्षदानाय हेतुर्न भवति। बुभुक्षितवशात् भोक्तुम् इच्छुकस्य नरस्य इच्छया उदुम्बरफले पाकः उत्पद्येत किम्। इच्छा यदि सफला स्यात् जगत् अदरिद्रं भवेत् अतः इच्छा मोक्षदाने न क्षमा ॥१७॥ मन्त्रोऽपि न मोक्षकारणम् इति निगदति—पात्रेति—यथा पात्रे नरे नार्यां वा पिशाचः प्रविशति तथा यदि मन्त्रात् आत्मनो रागादिदोषनाशो दृश्येत को नाम कृती विद्वान् संयमैः तपोव्रतादिभिः आत्मानं क्लिश्येत पीडयेत् ॥१८॥ दीक्षापि न मुक्तिकारणम्—दीक्षेति—यस्मिन्क्षणे दीक्षा गृहीता तत्क्षणात्पूर्वं ये भवसंभवाः संसारोद्भूताः दोषाः ते दीक्षायाः पश्चात् अपि दृश्यन्ते। अतः सा मोक्षहेतुर्न भवति ॥१९॥ ज्ञानात् मोक्षः इत्यपि वचनम् अनुचितम्—

[पृष्ठ ६] ज्ञानादिति—ज्ञानात् वस्तूनां बोधो भवति परं तेषां प्राप्तिः तस्मान्न भवति। वस्तुनः यत् कार्यं जायते तस्य प्राप्तिः ज्ञानान्न भवति। यदि ज्ञानादेव कार्यलाभोऽपि भवेत् तर्हि दृष्टमेव पयः जलं दर्शनसमकालं तर्षापकर्षयोगि तृष्णाविनाशकं स्यात्। अतः ज्ञानादेव मोक्षो न भवति इति ज्ञेयम् ॥२०॥ ज्ञानेन विना क्रियापि न कार्यकारिणी। ज्ञानहीने इति—ज्ञानहीने बोधशून्ये। पुंसि पुरुषे। विद्यमाना क्रिया फलं न आरभते। सा निष्फला भवति। दृष्टान्तम् आह—नष्टदृष्टिभिः नष्टे दृष्टी लोचने येषां ते नष्टदृष्टयः अन्धाः तैः तरोः वृक्षस्य छायेव फलश्रीः लभ्या किम्। छायां तु अन्धाः प्राप्नुयुः परं वृक्षे फलशोभा तैः न द्रष्टुं शक्या ॥ २१ ॥ ज्ञानक्रियाश्रद्धाभ्य एव फलोत्पत्तिरिति प्रतिपादयति—ज्ञानमिति—पङ्गौ पादहीने नरि ज्ञानं पदार्थावगमः व्यर्थं विफलम्। अन्धे क्रिया गमनं विफला ज्ञानाभावात्। निःश्रद्धे श्रद्धाहीने। द्वयं ज्ञानं क्रिया च अर्थकृत् अर्थं प्रयोजनं करोति इति अर्थकृत् न भवति इत्यर्थः। ततः ज्ञानक्रियाश्रद्धात्रयं तत्पदकारणं मुक्तिपददानहेतुः भवति। नैकैकं न द्वे द्वे प्रत्युत त्रयं मिलित्वा एव अर्थकृद् भवति। उक्तं च—हतमिति—क्रियाशून्यं ज्ञानं न फलप्रापकम्। अज्ञानिनो मूर्खस्य क्रिया च अर्थलाभहेतुः न भवति। कथम्। धावन् अपि पलायमानोऽपि अन्धः नष्टः अग्निदग्धः अभवत्। पश्यन् अपि च पङ्गुकः अग्निम् अवलोकमानोऽपि पादहीनः नरः तेन अग्निना दग्धः ॥२३॥ भक्ष्याभक्ष्यादिषु निःशङ्कां प्रवृत्तिं कुर्वाणस्य मोक्षः इति कौलवचनम् अपि दूषयति—निःशङ्केति—निःशङ्काम् अकुतोभीतिं प्रवृत्तिं कुर्वाणस्य नरस्य। यदि मोक्षसमीक्षणं मोक्षस्य अवलोकनं मुक्तिप्राप्तिः स्यात् तर्हि पूर्वं टङ्कसूनाकृतां टङ्कः खड्गः तस्मात् सूनां हिंसां कुर्वन्ति इति टङ्कसूनाकृतः जीवघातकाः तेषाम्। पूर्वं प्रथमं मुक्तिः स्यात्। यतः तत्र निःशङ्कात्मप्रवृत्तेः दर्शनात्। ठकसूनाकृताम् इति पाठे तु ठकाः खारपटिकाः ते तु निःशङ्कं सधनगर्भिण्यादीनां वधं कुर्वन्ति अतः तेषां

प्रथमं मोक्षो भवेत्। पश्चात् तदनन्तरम्। असौ मुक्तिः। कौलेषु कौलमतानुयायिषु भवेत्। हिंसादिना मोक्षो न लभ्यते इत्यर्थः ॥२४॥ सांख्यमतं दूषयति। अव्यक्तेति—नित्यं नित्यव्यापिस्वभावयोः नित्यं सततम्। नित्ययोः व्यापिस्वभावयोः अव्यक्तनरयोः प्रकृतिपुरुषयोः। विवेकेन प्रकृतेः पुरुषो भिन्नः इति ज्ञानं विवेकः तेन। ख्याति मुक्तिम्। सांख्यमुख्याः कपिलादयः। कथं प्रचक्षते ब्रुवन्ति। 'अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं कूटस्थनित्यम्' इति नित्यस्य लक्षणम्। कूटस्थनित्ये अर्थक्रिया न भवति। क्रमयौगपद्येनापि परिणामो न जायते। अतः पूर्वस्वरूपत्यागोऽन्यस्वरूपप्राप्तिश्च तयोर्न भवति। अतः तयोर्मुक्तिकल्पना व्यर्था ॥ २५ ॥

[पृष्ठ ७] नैरात्म्यादिभावनातो मुक्तिरिति मतं निराकुरुते। सर्वमिति—सर्वं वस्तु जीवादिकम्। भावनया शुभाशुभया तत्स्वरूपस्य पुनः पुनश्चेतसि चिन्तनेन। स्फुटं व्यक्तम्। भासेत ज्ञायेत। तावन्मात्रेण स्पष्टावलोकनेनैव। यदि मुक्तत्वे मोक्षप्राप्तौ। विप्रलम्भिनां वञ्चकानाम्, विरहिणां वा मुक्तिः स्यात् ॥२६॥ उक्तं च—पिहिते इति—कारागारे बन्धनालये। पिहिते कपाटनिरुद्धे सति। सूचीमुखाग्रनिर्भेदे सूचीमुखाग्रेण व्यधनीवदनाग्रेण निर्भेदे निर्गतो भेदो यस्य एवंविधे तमसि विद्यमाने। मयि च निमीलितनयने मयि च चौरे जारे वा पिहितलोचने सति। तथापि कान्ताननं व्यक्तम् कान्ताया रमण्याः मुखं व्यक्तं विशदतयाहम् अवलोकयामीत्यर्थः॥२७॥ अङ्गाराञ्जनवच्चित्तशुद्धिर्न भवतीति अयुक्तम्—स्वभावेति—यत्र यस्मिन् वस्तुनि। स्वभावान्तरसंभूतिः अन्यः स्वभावः स्वभावान्तरम्। पूर्वस्वभावत्यागः उत्तरस्वभावप्राप्तियोग्यता। सा यत्र अस्ति तत्र मलक्षयो भवति कर्तुं शक्यः। केभ्यः स भवेत्। स्वहेतुभ्यः स्वकारणतः। मणिमुक्ताफलेष्विव रत्नमौक्तिकेषु यथा मलनिर्मुक्तिर्जायते। तदहर्ज इति पद्यं व्याख्यायते—तच्च अहः तदहः तदहनि तद्दिने जायते स्मेति तदहर्जः तद्दिनजातबालकः तस्य स्तनहा स्तनपानाभिलाषः तस्मात् हेतोः अयम् आत्मा सनातनः नित्यः वर्तते। यदि क्षणिक आत्मा स्यात्तर्हि जातबालको जननक्षणे एव विनष्टोऽपरस्तत्स्थाने स्थितस्तस्य स्तनाभिलाषो जातः, एवं यदि कल्पना क्रियते तदा कृतनाशाकृताभ्यागमदोषौ भवेताम्। अतस्तद्दिनज-बालकस्तनाभिलाषतो हेतोः अभिलाषसंस्कारो न मध्यस्तनः स प्राक्तन एवेति अभ्युह्यताम्। अस्माद्धेतोश्च आत्मनः सनातनत्वं सिद्ध्यति। रक्षोदृष्टेः रक्षसो दर्शनात्—मानवो मृत्वा रक्षो जातः तस्य दर्शनात् आत्मा नित्यो मन्तव्यः। भवस्मृतेः—पूर्वभवे अहं देव आसम्, अधुना अहं मानवो जात इत्यादि पूर्वभवस्य स्मरणात् सनातनत्वमात्मनः। भूतानन्वयनात्—चैतन्याख्यो गुणो भूतेषु पृथिव्यादिषु नोपलभ्यते स जीव एव विद्यते। तस्य भूतेषु अनुगमनम् अन्वयः स न दृश्यते। भूताननुगमनात् जीवः प्रकृतिज्ञः प्रकृति स्वभावं घटपटादीनां जानातीति प्रकृतिज्ञः आत्मा स च सनातनः अनादिनिधनः ज्ञेयः ॥२९॥ एवं परलोकि-नोऽभावात् परलोकाभावे कस्यासौ मोक्षः इति चार्वाकमतं प्रतिविहितम्॥ वेदान्तिनाम् अभेदवादो निरस्यते—

[पृष्ठ ८] भेदोऽयमिति—मानवर्तिभिः प्रत्यक्षानुमानादिप्रमाणसिद्धैः। जन्ममृत्युसुखप्रायैः पुनरुत्प-त्तिर्जन्म। प्राणापानादिक्रियाविशेषव्युच्छेदो मृत्युः मरणम्। प्रीतिरूपपरिणामः सुखम्। इत्यादि परिवर्तैः पर्यायैः अवस्थाभिः। जगतः त्रिलोकस्य। वैचित्र्यं नानाविधत्वम् कुतः स्यात्। यदि अयं भेदः अविद्या गोयेत मायेति कथ्येत। अतो जगतो वैचित्र्याद्भेदः सत्य एव ॥३०॥ शून्यवादिनां मतनिरसनम्। शून्यमिति—अहं वादी शून्यं तत्त्वं प्रमाणतः प्रत्यक्षादिभ्यः साधयामि इति आस्थायां प्रतिज्ञाया तेन (वादिना) कृताया सर्वशून्यता विरुध्येत। वादिनः साध्यसाधनादीना च विद्यमानत्वात् अशून्यवाद एव सिध्येत्। कथं वादी शून्यवादं साधयेत्। वस्तुनि निजस्वरूपे अन्यवस्तुनः अभावो यदि तर्हि तदपेक्षया शून्यत्वं न केनापि अवमन्येत। सर्वे भावाः परस्वभावेन रहितत्वाच्छून्या इत्यभ्युपगमः निर्दोष एव ॥३१॥ नवानां गुणानां नाशान्मुक्तिरिति काणादमतमुच्छिनत्ति—बोधो वेति—मुक्तो मोक्षे। आत्मनः भवोद्भवः ससारे जायमानः बोधः ज्ञानम्। इन्द्रिय-ज्ञानम्। संसारोद्भवो वा आनन्दः इन्द्रियविषयसुखं वा। यदि नास्ति तर्हि अस्माकमपि जैनानाम् अपि सिद्ध-साध्यतया न काचिद्धानिः। वयमपि जैनाः मुक्तौ इन्द्रियज्ञानसुखे न स्तः इति मन्यामहे। एतदभिमतौ नास्माकं काचित् हानिः अवलोक्यते ॥३२॥

[पृष्ठ ९] न्यक्षेति—न्यक्षवीक्षाविनिर्मोक्षे निर्गतानि अक्षाणि यस्याः सा अथवा निर्गता अक्षेभ्यो या सा न्यक्षा अतीन्द्रिया सा चासौ वीक्षा विशिष्टा ईक्षा वीक्षा। इन्द्रियवीक्षाया भिन्ना अतीन्द्रियज्ञप्तिरित्यर्थः। तस्याः विनिर्मोक्षे तस्माद्रहिते मोक्षे यदि मते तर्हि किं मोक्षिलक्षणम्। मोक्षः अस्य अस्तीति मोक्षी तस्य लक्षणं किं स्यात्। न किमपि। यतः ज्ञानम् आत्मलक्षणं तस्य सर्वथा उच्छेदे मोक्षिणः आत्मनो लक्षणं नश्येत्। यथा अग्नौ उष्णत्वात् अन्यत् इतरत् लक्ष्यलक्षणं विचक्षणैः विद्वद्भिः न लक्ष्यं लक्षयितुं न योग्यम्। औष्ण्यमेव अग्नेर्लक्षणं तदभावे अग्नेः अभावः। तथा चैतन्यम् एव आत्मनः लक्षणम्। तदभावे अभावः आत्मनः स्यात् ॥३३॥ किं चेति—किं च, सदा शिवेश्वरादयः संसारिणः मुक्ता वा। संसारित्वे कथमाप्तता। संसारिषु दोषा रागादयः सन्ति। तेषां सद्भावे सर्वज्ञता न स्यात्। विना सार्वज्ञ्यं मोक्षमार्गप्रणीतेः असंभवात्। मुक्तत्वे 'क्लेशकर्मविपाकाशयैः अपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' इति पतञ्जलिजल्पितम्। क्लेशदायकानां कर्मणाम् अज्ञानादीनां विपाकः उदयस्तस्मात् जातैः आशयैः रागद्वेषपरिणामैः अपरामृष्टः रहितः पुरुषविशेषः ईश्वरः, तत्र निरतिशयं तारतम्यरहितं सर्वज्ञबीजम् इति पतञ्जलिभाषितम्। ऐश्वर्येत्यादि—ऐश्वर्यम् अप्रतिहतम् अणिमामहिमादिरूपम् अष्टविधं केनापि अप्रतिरुद्धम्। सहजो विरागः स्वाभाविकी विषयविरक्तिः। निसर्गजनिता तृप्तिः स्वभावाज्जातः संतोषः। इन्द्रियेषु वशिता जितेन्द्रियत्वमिति भावः। आत्यन्तिकं सुखम् अन्तं विनाशम् अतिक्रान्तम् अत्यन्तं विनाशरहित तत्र भवम् आत्यन्तिकं सुखम् अविनाशिसुखम्। वैषयिकसुखव्यतिरिक्तमात्मानन्दजं सुखम्। अनावरणा आवरणरहिता शक्तिः अप्रतिहतवीर्यम्। तथा सर्वविषयं ज्ञानं सूक्ष्मान्तरितदूरार्थेषु प्रत्यक्षं ज्ञानम्। हे भगवन्, त्वयि एव विद्यते। इत्येतदाप्तलक्षणं रागादिभिः उपद्रुते रुद्रे आप्तत्वप्रक्लृप्तौ विरुध्यते ॥३४॥ अनेकेति—अनेकजन्मसंतुतेः अनेकानि च तानि जन्मानि च अनेकजन्मानि तेषां संततिः परंपरा तस्याः अनेकजन्मसंततेः। अस्य पुंसः संसारे चतुर्गतिषु भ्रमतः अनन्तानि जन्मानि व्यतीतानि। तथापि यावदद्य अक्षयः क्षयरहितः असौ जीवः अस्ति यदि। मुक्त्यवस्थाया कुतो हेतुतः कस्मात्कारणात् क्षीयेत क्षयः तस्य जीवस्य स्यात्। पुंसः अनादिनिधनत्वात् तस्य मुक्त्यवस्थायां नाशाभिमननं मलक्षयात् सुवर्णनाशाभिमननवत् अयुक्तं प्रतिभाति ॥३५॥

[पृष्ठ १०] कापिला द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं मुक्तिरिति मन्यन्ते तदभिमतं दूषयति—बाह्ये ग्राह्ये इति—मलापायात् वातपित्तकफादीनां वैषम्याभावात् बाह्ये ग्राह्ये बाह्ये वस्तुनि यथा सत्यस्वप्नो भवति तथा मलापायात् कर्ममलविनाशात् बाह्ये ग्राह्ये इव द्रष्टुः आत्मनः स्वरूपे अवस्थानं भवति। परं द्रष्टुः स्वरूपे एव अवस्थानं अनुभवो भवति न बाह्ये इति कथनम् अमानकं प्रमाणरहितम्। चैतन्यं खलु स्वपरावभासकम्। मलापगमे तु सकलं वस्तुजातम् अन्तर्बाह्यं तद्वेत्त्येव प्रतिबन्धकापायात् ॥३६॥ न चायमिति—न चायं सत्यस्वप्नः अप्रसिद्धः, स्वप्नाध्यायेऽपीव सुप्रसिद्धत्वात्। तथा हि—यस्त्विति—रात्र्यन्ते निशायाः चरमे यामे यो नरः नृपं राजानम्। कुञ्जरं गजम्। हयं अश्वम्। सुवर्णं बलीवर्दं धेनुं महीं च पश्यति तस्य कुटुम्बं वर्धते ॥३७॥ यत्रेति—यत्र यस्मिन् मुक्तात्मनि नेत्रादिकं नेत्रादिकानि इन्द्रियाणि न सन्ति तत्र मुक्तात्मनि मतिः ज्ञानं नास्ति इति सांख्ये वदति सति सूरिभिरुच्यते तन्न, यतः अन्धोऽपि स्वप्नं वीक्षते पश्यति। नेत्राभ्यां विनापि अन्धो यथा स्वप्ने पश्यति तथा इन्द्रियाभावेऽपि अशरीरः मुक्तात्मा सचराचरं जगत् जानाति पश्यति च ॥३८॥ पुरुषत्वात् पाण्यादिमत्त्वात् नरः सर्वज्ञो न भवतीति मीमांसकमतं निरस्यति—जिमिन्यादेः इति—जिमिन्यादेः पुरुषत्वेऽपि यदि तस्य मतिः ज्ञानं प्रकृष्येत प्रकर्षं यायात् तर्हि तस्या मतेः क्वचिन्नरि मानवे सर्वक्लेशकर्मरहिते महात्मनि प्रकर्षः पराकाष्ठापि स्यात्। यथा परिमाणं परमाणुम् आरभ्य खे विश्राम्यति। आकाशे परिमाणस्य प्रकर्षः समाप्तिं याति ॥३९॥

[पृष्ठ ११] तुच्छाभाव इति—कस्यापि वस्तुनः तुच्छाभावः सर्वथा अभावः विनाशः न। हानिः न। दीपः सर्वथा नश्यति इत्यपि न युक्तम्। दीपे वायुना प्रशान्तिमिते तस्य सर्वथा नाशो जातः इति वचनं न युक्तम्। दीपस्तदा तमसा अन्वयी तमःस्वरूपं याति दीपः। धरादिषु पृथिव्यप्पवनादिषु धियः बुद्धेः हानौ सत्यां विश्लेषो भवति इति सिद्धसाध्यता भवेत्। यावत्कालं धरादयः जीवेन शरीररूपेण गृहीतास्तावत्कालं

तेषु धियः सन्ति परं यदा जीवेन धरादिरूपं शरीरं त्यज्यते तदा ते धरादयः बुद्धया विश्लिष्यन्ते तदा बुद्धेः हानिः तारतम्येन भवन्ती अचेतनेषु धरादिषु तस्याः हानेः पराकाष्ठा भवति तदा सिद्धसाध्यता भवेत्। जैनैः अचेतनेषु धरादिषु बुद्धेः अभावः मन्यते ॥४०॥ **तदावृतिहतौ इति**—यथा तपनस्य सूर्यस्य दीधितिः प्रकाशः तदावृतिहतौ प्रकाशावरणस्य मेघादेः हतौ विनाशे सर्वं वस्तु प्रकाशयति तथा शेमुषी बुद्धिः तदावृतिहतौ तस्याः आवृतेः ज्ञानावरणकर्मणः विघाते सति सा बुद्धिः यत् वस्तु चराचरं कथं न सर्वं प्रकाशयति। अपि तु निखिलं वस्तुजातं सा प्रकाशयति एव ॥४१॥ ब्रह्माद्वैतवादिनो मुक्तितत्त्वं निराकुर्वन्ति—**ब्रह्मेति**—यदि ब्रह्म परमपुरुषः एकम् अभेदरूपं विद्यते तर्हि तत् ब्रह्म कुतः कस्मात् कारणात् प्रमाणात् निस्तरङ्गं विवर्तरहितं न सिद्धयति। यदि विवर्तरहितं स्यात् एकं तत् सिद्धयेत्। यथा घटाकाशम् आकाशे लीयते तथा इदं जगत् तत्र परब्रह्मणि लीयताम् अपृथग्रूपेण वर्तताम्। परं तथा अपृथग्रूपं न दृश्यते ॥४२॥ अथ मतम् **एक एवेति**—देहे देहे प्रतिशरीरम् एक एव हि भूतात्मा परमपुरुषः व्यवस्थितः विद्यते। परं जलचन्द्र इव एकधापि अनेकधा नानारूपेण दृश्यते ॥४३॥

[पृष्ठ १२] तदयुक्तम्। **एकः खे इति**—जनैः खे आकाशे इन्दुः चन्द्रः एकः वेद्यते ज्ञायते। अन्यत्र जलादौ अनेकधा वेद्यते तथा ब्रह्म भेदेभ्यो अन्यत् अभेदरूपं कुत्रापि न वेद्यते न ज्ञायते ॥४४॥ अलम् अतिविस्तरेण। **आनन्द इति**—आनन्दः अनन्तं सुखम्। ज्ञानं क्षायिकं केवलज्ञानम्। ऐश्वर्यम् सकलगुणानाम् आत्यन्तिकी निर्मलता। वीर्यम् अनन्तशक्तिः। परमसूक्ष्मता अमूर्तत्वम्। एतत् आनन्दादिपञ्चकम् आत्यन्तिकम् अन्तम् अतिक्रान्तम् अविनाशि। यत्र विद्यते स मोक्षः परिकीर्तितः कथितः ॥ ४४ ॥ एतत् आनन्दादिपञ्चकम् आत्यन्तिकं अन्तमतिक्रान्तमविनाशि यत्र विद्यते स मोक्षः परिकीर्तितः कथितः ॥४५॥ **ज्वालेति**—ज्वाला अग्निशिखा, उरुबूकबीजादेः एरण्डबीजादेः आदिशब्देन व्यपगतलेपालाब्वादीनां ग्रहणम्। एतेषां यथा स्वभावादूर्ध्वगतिः। नियता यथा निश्चिता—तथा मुक्तस्यापि आत्मनः स्वभावादूर्ध्वगतिर्दृष्टा ॥ ४६ ॥ **तथाप्यत्रेति**—कर्मक्षये जातेऽप्यत्र तदावासे मुक्तजीवस्यात्रैवावस्थाने निवासे अभिमते चेत् पुण्यपापात्मनां पुण्योपेतात्मनां पापोपेतात्मनां च स्वर्गश्वभ्रागमो न स्यात् स्वर्गे देवलोके श्वभ्रे नरके च आगमो गमनं मा भवतु अत्रैव तेषां वसतिर्भवतु। तथा च ते तवालोकान्तरेण अन्यो लोको लोकान्तरं स्वर्गादिकं तेन अलं स्यात् तद्वार्तया न किमपि प्रयोजनम् ॥४७॥

इत्युपासकाध्ययने समस्तसमयसिद्धान्तावबोधनो नाम प्रथमः कल्पः।

२. आप्तस्वरूपमीमांसनो द्वितीयः कल्पः।

[पृष्ठ १२-१३] अहो धर्माराधनैकमते वसुमतीपते धर्माराधने एका केवला मतिर्बुद्धिर्यस्य तत्संबोधनं हे धर्माराधनपरायणबुद्धे वसुमतीपते भूपते, हि निश्चयेन सम्यक्त्वं नाम नराणा पुरुषाणां संज्ञिपञ्चेन्द्रियजीवानां महती अनन्यसाधारणा पुरुषदेवता सामर्थ्यदेवतास्ति। अस्याः पौरुषं व्यनक्ति यद्यस्मात्कारणात् सकृत् एकदा एकमेव असहायमेव। यथोक्तगुणमेव यथागमं तस्य गुणाः प्रोक्तास्तथैव प्रगुणतया तथैव गुणसहितत्वेन संजातं लब्धात्मलाभं, अशेषकल्मषकलुषधिषणतया सकलपापपरिणामैः मलिनबुद्धित्वात्। नरकतिर्यङ्मनुष्यगतिषु न भवति संभूतिहेतुः न जायते जनने कारणम्। पुण्यदायुषामपि मनुष्याणां पुंष्ट्वं व्रजदायुर्येषां तेषामपि नराणां येषां नृसुरनारकतिर्यगायुर्बन्धो जातस्तेषामपि नराणामित्यर्थः। येषां नरकायुर्बन्धो जातस्ते सम्यग्दृष्टयः षट्सु तलपातालेषु प्रथमां नरकभूमिं विहाय अन्यासु षट्सु नारकभूमिषु न जायन्ते। तत्सम्यक्त्वं तत्र संभूतिहेतुर्जन्मकारणं न भवति। अष्टविधेषु व्यन्तरेषु किनरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचेषु न संभूतिहेतुः। दशविधेषु भवनवासिषु असुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमारेषु न संभूतिहेतुः। पञ्चविधेषु ज्योतिष्केषु 'सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्चेति' सूत्रोक्तेषु न संभूतिहेतुः। त्रिविधासु स्त्रीषु नृतिर्यग्देवस्त्रीषु, विकलकरणेषु द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेषु विकलत्रयजीवेषु असंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु

च, पृथ्वीजलाग्निवायुकायिकेषु वनस्पतिषु च न भवति जन्मकारणम्। (इदं सम्यक्त्वं) सावधि समर्यादं विदधाति करोति आजवंजवीभावं संसारभावम्। नियमेन संपादयति कंचित्कालं (जीवस्य संसारसुखम्) साधुत्वसंपादनसारः साधुगुणानां भावः साधुत्वं तस्य संपादनमेव सारो यस्मिन्स संस्कारः यथा जीवेषु जन्मान्तरेऽपि अन्यजन्मन्यपि आत्मनः स्वस्य अनुवृत्तिम् अनुयायित्वं न जहाति। तथा चारित्रे चार्वी निर्दोषां अनुवृत्तिम् अनुगमनम् उपलभ्य लब्ध्वा जन्मान्तरेऽपि न जहाति न त्यजति सम्यक्त्वम्। सिद्धः मन्त्राराधनादिभिर्लब्धश्चिन्तामणिर्यथा सम्यक्त्वं असीमम् अतिमर्यादं कामितानि स्वयाचितानि फलति ददाति। व्रतानि अहिंसादीनि पुनर्यथा ओषध्यः व्रीह्यादयः फलपाकावसानानि फलपाकान्तानि फलं दत्वा नश्यन्ति, पाथेयवन्नियतवृत्तीनि च पथि हितं पाथेयं तदिव पाथेयवत् संबलवत् मार्गे क्षुत्परिहारार्थं यदशितव्यमन्नं तद्वत्। नियतवृत्तीनि कंचित्कालं सुखजनकानि। यथा सिद्धरसवेधसंबन्धात् सिद्धपारदव्यधसंपर्कात्। उषर्बुधसंनिधानमात्रजन्मनि अग्निसांनिध्येनैव जन्म उत्पत्तिर्यस्य तस्मिन् जाम्बूनद इव सुवर्णे यथा परिश्रम आयासो न समाश्रयणीयो नावलम्बनीयः। तथा अत्र सम्यक्त्वे पदार्थयाथात्म्यसमवगमात् जीवादिनवपदार्थानां यत्स्वरूपम् आगमे प्रोक्तं तथा तस्यावगमाज्ज्ञानात्। मनोमननमात्रतन्त्रे मनसा मननं चिन्तनम् एव मनोमननमात्रं तस्य तन्त्रे आधीने केवलं मनःश्रद्धानाधीने सम्यग्दर्शने। न श्रुतश्रवणपरिश्रमः आगमाकर्णनायासः आश्रयणीयः अवलम्ब्यः। एतत्सम्यक्त्वप्राप्तये शरीरं नायासयितव्यं शरीरखेदं विनापि सम्यक्त्वमुत्पद्यते इति भावः। न देशान्तरं गन्तव्यम्। देशान्तरे केनापि तत्सम्यक्त्वं वस्तु न हि स्थापितं यत् तत्र गत्वा तदानीयेत। न कालक्षेपकुक्षिः अपेक्षितव्यः न कालयापनापेक्षा कर्तव्या। तस्मात् प्रासादस्य राजगृहस्य अधिष्ठानमिव गर्तपूरणमिव। रूपसंपदः सौन्दर्यसंपत्तेः कारणं सुभगत्वं यथा। भोगायतनस्य शरीरस्य उपचारः स्थानगमनादिकं तस्य कारणं प्राणितं श्वासोच्छ्वासः। विजयप्राप्तेः कारणं यथा मूलबलं मुख्यं सैन्यम्। आभिजात्यस्य कुलीनत्वस्य विनीतत्वं विनयः शास्त्रसंस्कारो वा। नयानुष्ठानमिव राज्यस्थितेः राज्यस्थिरतायाः नयस्य सामाद्युपायचतुष्टयस्य अनुष्ठानम् आचरणं यथा। अखिलस्यापि परलोकोदाहरणस्य सकलस्यापि परलोकप्राप्तेरुदाहरणं निदर्शनमिव गरीयांसः महापुरुषाः ननु निश्चयेन सम्यक्त्वमेव प्रथमं कारणं गृणन्ति कथयन्ति। तस्य चेदं लक्षणम्। **आप्तेति**—आप्तः सर्वज्ञः, आगमः सर्वज्ञस्यार्हतो मुखान्निर्गतः दिव्यध्वनिराचारादिद्वादशाङ्गरूप उपदेशः। पदार्थाः जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षपापपुण्यात्मकाः। एतेषां कारणद्वयात् श्रद्धानं सम्यक्त्वम्। अन्तरङ्गं कारणं दर्शनमोहस्य उपशमः, क्षयः क्षयोपशमो वा। तस्मिन् प्राप्ते सति यद्बाह्योपदेशाद्विना प्रादुर्भवति तन्नैसर्गिकसम्यग्दर्शनम्। यच्च परोपदेशपूर्वकम् आप्तागमपदार्थश्रद्धानं जायते तदधिगमजम्। आसन्नभव्यता[1], कर्महानिः,[2] [3]संज्ञित्वम्, शुद्धिः—विशुद्धपरिणामः एते सम्यग्दर्शनप्राप्तेरन्तरङ्गहेतवः। सम्यग्गुरूपदेशः, जातिस्मरणं, जिनप्रतिमादर्शनादिः एते बाह्यहेतवः। एतान् हेतूनासाद्य जीवे सम्यक्त्वं जायते। तच्च मूढाद्यपोढं देव-लोक-गुरुमूढताभी रहितम् निःशङ्किताद्यष्टाङ्गोपेतम्, प्रशमादिभाक् च। प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणम्। प्रशमा गतीति प्रशमादिभाक्। प्रशमादीनां लक्षणानि ग्रन्थकारोऽग्रे वक्ष्यति ॥४८॥ आप्तलक्षणम्—

[१५] **सर्वज्ञेति**—आप्तमतोचिताः अर्हन्मतप्रतिपादने उचिताः योग्या विद्वांस आप्तं सर्वज्ञं त्रिकालगोचरानन्तपर्यायपरिनिष्ठितं जगत् सर्वशब्देनोच्यते तत् जानातीति सर्वज्ञस्तम्। सर्वलोकेशं, सर्वे च ते लोकाश्च सर्वलोकाः ऊर्ध्वा-ऽधो-मध्यलोकास्तेषामीशस्तम्। सर्वदोषविवर्जितं सर्वे च ते क्षुत्पिपासादयोऽष्टादश दोषास्तैर्विवर्जितः विशेषेण वर्जितो रहितः ते दोषाः कदाचनापि तं यथा न स्पृशन्ति तथा स तै रहितस्तम्। सर्वसत्त्व-

---

१. आसन्नभव्यता भव्यो रत्नत्रयाविर्भावयोग्यो जीवः आसन्नः कतिपयभवप्राप्यनिर्वाणपदः। आसन्नश्चासौ भव्यश्च आसन्नभव्यस्तस्य भाव आसन्नभव्यता। २. कर्महानिः मिथ्यात्वादीनां सम्यक्त्वप्रतिबन्धककर्मणां यथासंभवमुपशमः क्षयोपशमः क्षयो वा। ३. संज्ञित्वम्—संज्ञा-शिक्षाक्रियालापोपदेशग्राहित्वम्। संज्ञा अस्य अस्तीति संज्ञी संज्ञिनो भावः संज्ञित्वम्। सा० ध०, अ० १, श्लो० ६।

हितम् दुष्कर्मविपाकवशाज्ञानायोनिषु सीदन्तीति सत्त्वा जीवास्तेभ्यो हितः मोक्षमार्गदर्शक इत्यर्थः ॥ चतुर्विशेषण-निर्दिष्ट आप्तो भवतीत्यर्थः ॥४९॥ आप्तेन सर्वज्ञेनैव भवितव्यमिति कथयति । **ज्ञानवानिति**—अज्ञेन उपदेशस्य करणे विप्रलम्भनं वञ्चनं प्रतारणं स्यादिति शङ्कां कुर्वद्भिः विद्वद्भिः कश्चित् नरो ज्ञानवान् मृग्यते अन्विष्यते । ज्ञानं तु सर्वेषां जीवानां विद्यते, प्रशस्तं तु नास्ति अतो यस्य प्रशस्तं विरोधादिदोषरहितं विद्यते ज्ञानं सोऽत्र ज्ञानवान् कथ्यते । तेन ज्ञानवता उक्तं तदुक्तं शास्त्रम् आगमः तस्य प्रतिपत्तये सर्वज्ञवचनाङ्गीकारार्थम् । अन्यथा मूर्खवचनप्रमाणकरणे विप्रलम्भ उपालम्भो भवति ॥५०॥ सर्वलोकेशत्वं विवृणोति—**यः इति**—यः आप्तस्तत्त्वोपदेशनात् जीवादिसप्ततत्त्वोपदेशं कृत्वा । दुःखवार्धेः दुःखसमुद्रात् । जगत् लोकम् उद्धरति उत्तारयति । प्रह्वीभूतजगत्त्रयः नम्रीभूतलोकत्रितयः । सः सर्वलोकेशः कथं न । स एव लोकाधिपः परमार्थतो भवति ॥५१॥ आप्तस्य दोषरहितत्वं त्रिभिः पद्यैः निगद्यते। **क्षुत्पिपासेति**—क्षुत् क्षुधा, पिपासा जलं पातुम् इच्छा तृषा । भयं भीतिः । द्वेषो वैरम् । चिन्तनं चिन्ता । मूढतागमः मूर्खत्वम् । रागः प्रीतिः । जरा वृद्धत्वम् । रुजा रोगः । मृत्युः मरणम् । क्रोधः कोपः । खेदः श्रमः । मदो गर्वः । रतिः आसक्तिः । विस्मयः आश्चर्यम् । जननं जन्म । निद्रा स्वापः । विषादः विषण्णता । एते अष्टादश दोषाः ध्रुवाः नित्यं सन्ति । केषाम् । त्रिजगत्सर्वभूतानां त्रिलोके सकलजन्तूनां संसारिणाम् । इमे साधारणा दोषाः सर्वसंसारिषु संभूतत्वात् । परमेभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः सर्वथा रहितः । सोऽयमाप्तो निरञ्जनः निर्गतानि अञ्जनानि दूषणानि यस्मात्स निरञ्जनोऽष्टादशदोषरहितः । स एव दोषरहितः । केवलज्ञानलोचनः केवलज्ञानं चराचर-पदार्थनिवहं प्रत्यक्षं कुर्वत् ज्ञानमेव लोचनं चक्षुर्यस्य सः आप्तः सूक्तीनां पूर्वापरविरोधादिदोषरहितानां वाचां हेतुरुत्पत्तिकारणमस्ति ॥ ५२–५४ ॥ किमनृतभाषणकारणम् । उच्यते—**रागाद्वेति**—रागाद्वा प्रीति-कारणात् वा, द्वेषाद्वा, मोहाद्वा अज्ञानाद्वा अनृतम् असत्यं वाक्यमुच्यते । यस्य तु एते रागद्वेषमोहादयो दोषाः न सन्ति तस्यानृतकारणम् असत्यभाषणं कारणं नास्ति ॥५५॥ जगत्पतित्वं व्यनक्ति—

[१६] **उच्चावचेति**—उदक् उत्कृष्टा अवाक् अपकृष्टा प्रसूतिर्जनिः उत्पत्तिर्येषां तेषां सत्त्वानां प्राणिनां सदृशाकृतिः समानभाव बिभ्राणः ये उत्कृष्टकुलोद्भवाः ये चापकृष्टवंश्यास्तेषां प्राणिनां रागद्वेषरहितः, आदर्श इव दर्पणो यथा यो भाति दृश्यते स एव जगतां पतिः स्वामी ज्ञेयः ॥५६॥ सतामनुमतस्याप्तस्य स्वरूपं निर्दिशति—**यस्येति**—यस्य आत्मनि शुद्धजीवतत्त्वे । श्रुते आगमे तत्त्वे जीवाजीवादिसप्ततत्त्वस्वरूपे । चरित्रे सामा-यिकादिपञ्चविधे चारित्रे । मुक्तिकारणे सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपे । एकवाक्यतया एकादृशार्थप्रतिपादकत्वेन वृत्तिः प्रवृत्तिरस्ति । स सतां गणधरादीनां आप्तः अनुमतः प्रशस्यः । उपर्युक्तेषु भावेषु यस्य वचनपङ्क्तिः पूर्वापरविरोधदोषरहिता विद्यते स आप्तः ज्ञेयः ॥५७॥ **अत्यक्षेऽपि इति**—अक्षाणि इन्द्रियाणि अतिक्रान्तः अत्यक्षः तस्मिन् अत्यक्षे अतीन्द्रियज्ञानगम्येऽपि पुंसि पुरुषे सर्वज्ञे इत्यर्थः । आगमात् आप्तवचनेन विशिष्टत्वं हरिहरादिभ्यो विशिष्टत्वं प्रतीयते ज्ञायते । हरिहरादीनां रागादिदोषयुक्तत्वमग्रे वक्ष्यते । यथा ध्वनेः शब्दं श्रुत्वा पक्षिणाम् उद्यानमध्यवृत्तीनां उपवनमध्ये वृत्तिः स्थितिर्येषां ते उद्यानमध्यवृत्तयस्तेषाम् । उपवने स्थिता-नां नगौकसां नगे ओकांसि येषां तेषां पक्षिणामित्यर्थः । 'नगौकोवाजिविकिरविविष्किरपतत्त्रयः' इत्यमरः । विशिष्टत्वं प्रतीयते ज्ञायते । यथा अयं मयूररवोऽयं सारसरव इति तथा आगमात् हरिहरादेरपि जिनपतेर्विशिष्ट-त्वं प्रतीयते ॥ ५८ ॥ **स्वगुणैरिति**—जनो लोकः स्वगुणैः सत्यवक्तृत्वादिभिः श्लाघ्यतां स्तुतिभाजनतां याति गच्छति । तथा जनो लोकः स्वदोषैर्निन्द्यवचनादिदोषैर्दूष्यतां दोषदुष्टत्वावस्था याति गच्छति तत्र सुजने दुर्जने च कलधौतायसोरिव सुवर्णलोहधात्वोरिव रोषतोषौ द्वेषरागौ वृथा ॥५९॥ **द्रुहिणेति**—द्रुहिणो ब्रह्मा, अधो-क्षजो विष्णुः, ईशानः महादेवः, शाक्यो बुद्धः, सूरपुरःसराः सूरः सूर्यः ते पुरःसराः येषां ते देवाः । यदि रागा-द्यधिष्ठानं रागादिदोषाणां भाजनं सन्ति । कथं तत्र आप्तता भवेत् । सर्वज्ञत्वं, मोक्षमार्गप्रणेतृत्वं, कर्मपर्वतभे-दकत्वं च कथं भवेत् । ॥६०॥ **रागादीति**—अमीषु हरिहरादिषु रागादिदोषोत्पत्तिस्तदागमात् तत्प्रणीत-शास्त्रादेव तच्चरितपुराणादिकात् ज्ञातव्या । यतः अविद्यमानस्य परदोषस्य गृहीतौ ग्रहणे पातकं महत् बृहत् भवेत् । अवर्णवादेन दर्शनमोहनीयकर्मबन्धो जायते ॥६१॥ **अजेति**—अजः न जायते इति अजः ब्रह्मा

तिलोत्तमायाम् आसक्तः। श्रीपतिर्विष्णुः श्रीरतः लक्ष्म्यां लम्पटः। शंभुः अर्धनारीश्वरः अर्धाङ्गे या नारी तस्या ईश्वरः पतिः। स्मृतः तत्कृतादागमादेव। तथापि किलेत्यरुचौ आप्तता एषां प्रणिगद्यते ॥६२॥ वसुदेवेति—यस्य हरेर्विष्णोः पिता जनकः वसुदेवः। देवकी सवित्री माता। स्वयं च राजधर्मस्थः नृपतिधर्मस्थितः। तथापि स देवः आप्तश्चित्रम् आश्चर्यम् ॥६३॥

[पृष्ठ १७] त्रैलोक्यमिति—यस्य जठरे उदरे त्रैलोक्यं वर्तते। यश्च सर्वत्र व्याप्य विद्यते वर्तते। तथापि तस्य क्वचित् मथुरायाम् उत्पत्तिः वने च विपत्तिर्मरणं स्तो भवतः इति चिन्त्यतां भवद्भिः। लोकत्रयम् अभिव्याप्य तिष्ठतस्तस्य जन्ममरणे युक्त्या नैव घटेते इत्यर्थः ॥६४॥ कपर्दी—एष कपर्दी कपर्दो जटाजूटः स यस्यास्तीति कपर्दी शंकरः दोषवान्। सदाशिवो निःशरीरः देहरहितः। दोषवत्त्वात्तत्र कपर्दिनि प्रामाण्यानुपपत्तेः। तत्र कथम् आगमागमः आगमस्य आगमः उत्पत्तिः। यो रागादिदोषवान् शिवः संसारी स तावत् अप्रमाणम्। तत्कृत आगमोऽपि न प्रमाणम्। यस्तु सदाशिवः स आगमं कर्तुमशक्तः जिह्वाकण्ठाद्युपकरणाभावात्। यथा अहस्तः कुलालः कुम्भकरणे ॥६५॥ परस्परेति—ईश्वरः सदाशिवः पञ्चभिर्मुखैः परस्परविरुद्धार्थम् अन्योन्यविरुद्धाभिप्रायं शास्त्रम् आगमं शास्ति उपदिशति भक्तान्। तत्र तेषु अभिप्रायेषु कतमार्थविनिश्चयः कतमस्य अभिप्रायस्य संवादित्व ज्ञातव्यम् ॥६६॥ सदाशिवेति—यदि युगे युगे कृतत्रेताद्वापरयुगादिषु। सदाशिवकला ईश्वरस्यांशो यदि रुद्रे आयाति आगच्छति तत्र कथं स्वरूपभेदः स्यात् सुवर्णस्य या कला अंशः तस्याम् अंशिनः सुवर्णात् भेदो न दृश्यते। तथैव अंशिनः सदाशिवात् अंशरूपे रुद्रे भेदो न भवेत् सदाशिववत्। तथा च रुद्रेणापि अशरीरेण भूयेत। सदाशिवो विरागः रुद्रः सराग इति भेदो न भवेत् कारणसदृशं कार्यं भवतीति ॥६७॥

[पृष्ठ १८] भैक्षेति—भिक्षाणां समूहो भैक्षम्, नर्तनम्, नग्नत्वं, दैत्यानां नगरत्रयविनाशित्वम्, ब्रह्मणो मस्तककर्तनम्, तथा हस्ते कपालधारणम् एताः क्रीडाः किल ईश्वरे विद्यन्ते इति। तथापि तत्राप्तत्वाभिमननमद्भुतं प्रतिभाति ॥६८॥

[पृष्ठ १९] सिद्धान्तेति—शैवदर्शनं विचित्रं विस्मयावहम्। कथं विस्मयावहम् सिद्धान्ते आगमे तत्त्वं च आप्तस्वरूपम् अन्यत् भिन्नं प्रतिपादितम्। प्रमाणे न्यायशास्त्रे च अन्यत् प्रतिपादितम्। काव्ये अन्यत्। ईहिते लौकिके च अन्यत् पृथक् प्रतिपादितम्। अतः परस्परविसंवादाद्विचित्रं तज्ज्ञातव्यम् ॥६९॥ एकान्त इति—तत्त्वपरिग्रहे वस्तुस्वरूपपरामर्शसमये एकान्तः इदं तत्त्वं भेदरूपमेवाभेदरूपमेव वेत्यादिककल्पनम् एकान्तः। स च वस्तुनिर्णये वृथा भवति। शपथश्च विश्वासश्च वृथा। यया युक्त्या अनुमानादिप्रमाणेन तत्त्वसिद्धिर्निर्दोषा स्यात्तथैव तेन च वस्तुस्वरूपं संवादि ज्ञातव्यम्। तत्र एकान्तः शपथश्च वृथा तत्त्वज्ञानप्रतिघातित्वात्। सन्तः विद्वांस आर्हताः परप्रत्ययमात्रतः अनार्हतोक्तयुक्त्या एवं तत्त्वं न होच्छन्ति न मन्यन्ते तद्युक्त्या वस्तुनिर्णयाभावात् सर्वथा एकान्तपरिग्रहात् ॥७०॥ दाहेति—दाहः अग्नौ सुवर्णस्य निक्षेपः, छेदः सुवर्णशलाकायां सुवर्णपट्टिकायां वा रन्ध्रजननं तथा तदंशकर्तनं वा। कषोपले तद्घर्षणं वा एभिरुपायैः सुवर्णस्य शुद्धौ प्रतीतायां तस्मिन् का शपथक्रिया विश्वासजननोपायस्य नावश्यकता। यद्येभिरुपायैः परीक्षिते सति हेम्नि अशुद्धावुपलब्धायां विश्वासजननोपायो व्यर्थ एव ॥७१॥ यद्दृष्टमिति—यत्तत्त्वं दृष्टं प्रत्यक्षं भजेत् तस्मात् तस्य संवादो जायेत, यत् अनुमानं च भजेत् तेनापि तस्य निर्णयो भवेत्। यच्च लौकिकीं प्रतीतिं च अवलम्बेत। लोकविश्वासेनापि अविरोधं भजेत्। विदः ज्ञातारः पण्डितास्तत्तत्त्वमाहुर्ब्रुवन्ति स्म। तदेव रहोवर्जितं प्रच्छन्नतया रहितम्। सर्वेषां विदुषां पुरतो निःशङ्कतया प्रतिपादयितुमुचितमिति भावः। कुहकवर्जितं च कपटरहितं च ॥७२॥

[पृष्ठ २०-२१] निर्बीजतेवेति—यथा अग्नेः स्पर्शमासाद्य बीजं निर्बीजं भवति। अङ्कुरोत्पादनशक्तिविकलं जायते तथा तन्त्रेण यदि प्राणिनो मुक्तिः भवेत् तर्हि मोक्षाभिलाषवति नरि अग्निस्पर्शो विधेयः। येन सोऽपि नरः बीजवत् विपत्युत्पत्तिभ्यां विमुक्तो भवेत् ॥७३॥ विषसामर्थ्येति—इह मन्त्रात् विषसामर्थ्यक्षयवत्कर्मणः क्षयश्चेत् तर्हि तन्मन्त्रमान्यस्य स मन्त्रो मान्यो यस्य स तन्मन्त्रमान्यस्तस्य नरस्य भवोद्भवाः सांसारिका रागादयो दोषा न स्युर्न भवेयुः। मन्त्राद्विषक्षयो भवति न कर्मक्षयः स तदुपायो नैव ॥७४॥ ग्रहगोत्रेति—

ग्रहाणां रव्यादिनवग्रहवंशे गतोऽपि भूतोऽपि पूषा सूर्यः पूज्यः अर्चनीयो न चन्द्रमाः अत्र का युक्तिः। सूर्यो यदि जनानां पूज्यस्तर्हि चन्द्रः कथं न। अविचारिततत्त्वस्य अविमृष्टवस्तुस्वरूपस्य जन्तोः वृत्तिः प्राणिनः प्रवृत्तिः निरङ्कुशा अविचारितरमणीया भवति ॥७५॥ **द्वैताद्वैतेति**—शंकरानुकृतागमः शंकरेण अनुकृतः अनुसृतः आगमः यस्य सः शंकरानुकृतागमः शाक्यः बुद्धः। तस्य आगमो द्वैताद्वैताश्रयः। बौद्धमतं द्वैतमप्याश्रयते यतः तन्मते संयमः तपांसि इन्द्रियविनिग्रहश्च समुपदिष्टः। ततः आस्रवनिरोधः, वासनाक्षयश्च जायते इति कथनमस्ति तत्र। तथा विज्ञानाद्वैतप्रतिपादकोऽप्यस्ति तदागमः। तथा सर्वत्र प्रवृत्तिनिरङ्कुशत्वम् अद्वैतम्। तदपि शाक्ये संभवति यतः स तरसासवसक्तधीः तरसे मांसे, आसवे मदिरायाम् आसक्ता लुब्धा धीः बुद्धिः यस्य एवंभूतः कथं मनीषिभिः बुधैः मान्यः ॥७६॥ अधुना जैनमतं प्रतिचिकीर्षवः एवं वदन्ति—**अथैवमिति**—अथैवं वयं प्रत्यवतिष्ठासवः भवन्मतस्य प्रतिविधानं कर्तुमिच्छामः। भवतां जैनानां मते किल निश्चयेन मनुजः सन् न आप्तः न सर्वज्ञो भवति। तस्य च आप्तता अतीव दुर्घटा। युक्त्या नैव सिद्धिम् अञ्चति। संजातजनवद्वा आधुनिकमनुष्यो यथा सर्वज्ञो न भवति। तथा तस्य अभिलषिततत्त्वावबोधो न स्वतो भवति तथा दर्शनाभावात्। गुरुं विना तत्त्वज्ञानं न भवतीत्यर्थः। परश्चेत् कोऽसौ परः। तीर्थकरोऽन्यो वा। तीर्थकरश्चेत् तत्राप्ययं पर्यनुयोगः। अर्थात् तीर्थकरस्यापि स्वतोऽभिलषिततत्त्वावबोधो न स्यात् परश्चेत् कोऽसौ पर इति पुनः पुनः पर्यनुयोगे अनवस्था। सोऽपि तीर्थकरो यदि मनुष्यः सोऽपि स्वतः सर्वज्ञो न भवति। तस्मात् तद्भावम् आप्तसद्भावं च वाञ्छद्भिः तद्भावम् अभिलषिततत्त्वावबोधं सर्वज्ञसद्भावं च इच्छद्भिः सदाशिवः शिवापतिः शंकरो वा तस्य मनुष्यस्य तत्त्वोपदेशकः प्रतिश्रोतव्यः प्रतिज्ञातव्यः। तदाह पतञ्जलिः "स पूर्वेषामपि गुरुः कालेन अनवच्छेदात्।" स सदाशिवः पूर्वेषाम् अपि चिरन्तनानाम् अपि महर्षीणां गुरुः कालेन अवच्छिन्नत्वाभावात्। अमुकस्मिन्काले सः अभवत्, ततः पूर्वं स नासीत् इति कालेन मर्यादीकृतः तथा हि—**अदृष्टविग्रहादिति**—अदृष्टविग्रहात् न दृष्टो विग्रहः कायो यस्य स अदृष्टविग्रहः तस्मात् देहरहितादित्यर्थः। शान्तात् सकलकर्मरहितात् पापपुण्यरहितात् इत्यर्थः। परमकारणात् सकलजगतोऽसाधारणहेतुभूतात् शिवात् परमदुर्लभं नादरूपं ध्वनिरूपं शास्त्रं समुत्पन्नम् ॥७७॥ **तथाप्तेनैकेनेति**—तथा आप्तेन एकेन भवितव्यम्। एक एव आप्तः सर्वज्ञो भवति। नहि आप्तानाम् इतरप्राणिवद्गणः समस्ति। संसारिप्राणिनां यथा गणः वृन्दं भवति तथा आप्तानां सर्वज्ञानां गणो न भवति। संभवे वा चतुर्विंशतिरिति नियमः कौतस्कुतः कुतः कुतो भवः कौतस्कुतः। इति ईश्वरवादिनो ब्रुवते। तत्खलु वन्ध्यास्तनंधयधैर्यव्यावर्णनम्। वन्ध्यासुतधीरतावर्णनमिव फल्गु विफलम्। उदीर्णमोहार्णवविलयनं च परेषाम्। उत्थितमोहसागरे विलयनं विलीनीभवनम् एव परेषाम् ईश्वरवादिनां ज्ञातव्यम्। यतः—**वक्तेति**—विकरणः अनादित एव कर्मबन्धनरहितः अत एव सदाशिवः। विगतानि करणानि स्पर्शनादीनि इन्द्रियाणि यस्य सः अशरीरः सदाशिवो वक्ता नैव मुखाद्यवयवाभावात्। कथमेतादृक्षात्सदाशिवात् आगम उत्पद्येत। विकरणात्सदाशिवात्परः स शंभुः रागवान् रागद्वेषाद्युपहतस्तस्मिन् सदोषे शंभौ सार्वज्ञं नास्ति। ततस्तस्मादागमोत्पत्तिर्दुर्घटा अन्यथा रथ्यापुरुषादपि सा स्यात्। सदाशिवात् शंभोः च अपरं तृतीयम् अभूत्। द्वाभ्यां मिलित्वा तृतीयं शास्त्रं विरचितं चेत् तत् कस्य हेतोः अजायत। आगमरचनाकारणभूतया शक्त्या शिव आगमं रचयति चेत् सा शक्तिः ततः शिवात्परा भिन्ना तया स शिवः कथं तद्वान् भवेत् असंबन्धात्। तेन तस्याः संबन्धोऽपि न जाघटीति नैव घटते। अतो भवतां वैशेषिकाणां शास्त्रं निरालम्बनं निराश्रयम्। आप्तप्रणीतं न भवतीति भावः ॥७८॥

[पृष्ठ २२–२३] **संबन्ध इति**—संबन्धो हि सदाशिवस्य शक्त्या सह न भवति। संबन्धो भिन्नस्य द्रव्यस्य भवति। न शक्तिर्द्रव्यम्। नवसु द्रव्येषु शक्तेः अनिर्देशाद् शक्तेः अद्रव्यत्वात्। "द्रव्ययोरेव संयोगः" इति योगसिद्धान्तः। समवायलक्षणोऽपि न संबन्धः शक्तेः पृथक् सिद्धत्वात्। शक्तिर्गुणरूपापि नास्ति। गुणानां द्रव्येण संबन्धः अयुतसिद्धोऽभिमतः। तथा च वैशेषिकमतेतिह्यम्—"अयुतसिद्धानां गुणगुण्यादीनां समवायः संबन्धः" परं शक्त्या सह द्विधापि संबन्धो नास्ति इति सदाशिवो वक्ता न भवति। विकरणत्वाच्च तस्मिन् वक्तृत्वं न विद्यते। रागवान् पार्वतीपतिस्तु सर्वज्ञो नैव भवितुमर्हति रथ्यापुरुषवत्। जिनानां सर्वज्ञत्वं मनुष्यत्वेऽ-

पि न परतः प्राप्तं यतोऽनवस्था स्यात् । ते तु ज्ञानत्रयेणैव सह जन्म लभन्ते । एतदेव व्यनक्ति—तत्त्वभावनयेति—यस्य जिनस्य जन्मान्तरसमुत्थया । प्राक् तृतीयजन्मनः समुत्था यस्याः सा एवंरूपया तत्त्वभावनया, जीवादितत्त्वभावनया दर्शनविशुद्ध्यादिषोडशभावनान्तर्गतया अभीक्ष्णज्ञानोपयोगाख्यया तत्त्वभावनया उद्भूतं परं ज्ञानत्रयम् अन्यजनसुदुर्लभं हिताहितविवेकाय भवति । तेन हिते रत्नत्रयरूपे मोक्षमार्गे प्रवृत्तिर्भवति । अहिताच्च भववर्धनकारणान्मिथ्यात्वादेर्निवृत्तिर्भवति ॥ ७९ ॥ जिने ज्ञानत्रयसद्भावात् न तस्य परापेक्षतेति निगदति । दृष्टादृष्टमिति—असौ जिनः दृष्टम् अदृष्टम् अर्थं पदार्थम् अवैति ज्ञानत्रयेण मत्या, श्रुतेन, अवधिना च जानाति । अवधेः अवधिज्ञानमालम्ब्य जिनः रूपवन्तम् अर्थम् एव जानाति । अथ देशावधिज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षात् जिनो रूपवन्तं द्रव्यक्षेत्रकालभावमर्यादीभूतम् अतीन्द्रियं पदार्थनिवहं जानाति । श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षात् श्रुतेः आचाराङ्गादिद्वादशाङ्गज्ञानं यत् श्रुतिसमाश्रेयं श्रुतिः आगमस्तया समाश्रेयम् अवलम्बनीयम् । एवंरूपं तस्य जिनस्य ज्ञानं भवति ततः क्वासौ परम् अपेक्षतां क्व कस्मिन्विषये । असौ जिनः अन्यं ज्ञानिनम् अवलम्बते ॥८०॥ न चैतदसार्वत्रिकम्—एतज्ज्ञानं सर्वत्र नोपलभ्यते इति न, अन्यथा कथमेतद्वचो वक्ष्यमाणं संगच्छेत । वाराणस्यां स्वत एव संजातषट्पदार्थावसायप्रसरे कणचरे संजातः षट्पदार्थानां द्रव्यगुणकर्मसामान्यसमवायविशेषाणाम् अवसायप्रसरः ज्ञानसमूहो यस्य एवंरूपे कणचरमहर्षौ कणादऋषौ अक्षपादे उलूकसायुज्यसरस्य महेश्वरस्य उलूकावतारेण सायुज्यम् ऐक्यं सरतीति सरः तस्य सरस्य गच्छतः उलूकावतारवतः महेश्वरस्य इदं वचनं स्तुतिवचनं कथं संगच्छेत् युक्तियुक्तं भवेत् । किं तद्वचनम् । उच्यते । अह्नेति—महेश्वरः कणचरर्षिमेवमुवाच—हे विद्वन्, त्वयि दिवौकसां दिवं स्वर्ग आकाशो वा ओको गृहं येषां ते दिवौकसः तेषां स्वर्गिणां देवानामित्यर्थः । दिव्यं नरपश्वादिदुर्लभम् अत एव अद्भुतं विस्मयजनकं अह्नातुला नामेदं जगत्तोलने परिज्ञाने तुलाप्रायं ज्ञानं त्वयि प्रादुर्भूतम् इह वाराणस्याम् । तत् तस्मात् कारणात् हे वत्स, तत् ज्ञानं विप्रेभ्यः द्विजेभ्यः वितरस्व देहि । उपाये इति—उपाये सति उपेयस्य लब्धव्यस्य पदार्थस्य प्राप्तेः का प्रतिबन्धिता प्राप्तिप्रतिरोधः कथं स्यात् । यन्त्रात् यन्त्रसाहाय्यात् । पातालस्थं जलं करस्थं क्रियते, हस्तेन ग्रहीतुं शक्यते यतः ॥८१॥ अश्मेति—अश्मा पाषाणः । हेम सुवर्णं भवति । तद्धेतुप्राप्तेः सुवर्णभवनकारणप्राप्तेः । एवं मुक्तावह्निमणिष्वपि योज्यम् । तद्यथा—जलं मुक्ता मौक्तिकं संजायते तादृक्कारणलब्धेः । स्वात्या शुक्तिपुटे पतितं मेघजलं मौक्तिकं संपद्यते इति विदितमेव । द्रुमो वृक्षो वह्निर्भवति शाखानां घर्षणात् अग्नेरुद्भूतिरवलोक्यते । क्षितिर्भूमिर्मणिः रत्नं जायते । तत्तद्धेतुतया तत्तत्कारणतालब्धेः । भावाः पदार्थाः । अद्भुतसंपदः विस्मयजनकसंपद्युक्ताः भवन्तीति भावः । इति पद्यद्वयेन मनुष्योऽपि तत्त्वभावनया सर्वज्ञः आप्तो भवत्येवेति ज्ञातव्यम् ॥ ८२ ॥ सर्गेति—सर्ग उत्पत्तिः । अवस्थितिः अवस्थानं ध्रुवत्वम् । संहारः प्रलयः । उत्पादव्ययध्रौव्यमित्यर्थः । तथा ग्रीष्म उष्णकालः । वर्षा पर्जन्यकालः । तुषारो हिमकालः । एतेषां षण्णां यथा अनाद्यन्तभावः आदिभावः अन्तभावश्च नास्ति । अनादिकालम् एतेषां प्रवृत्तिरस्ति । तथैव आप्तश्रुतसमाश्रयः अनाद्यन्तभावः श्रुतसमाश्रयात् आप्तो जायते । आप्तश्च श्रुतम् उत्पादयति । एवम् आप्तश्रुतयोर्जन्यजनकभावोऽनादिनिधनोऽस्ति । अतः आप्तः न परम् आश्रयित्वा ज्ञानं लभते येनानवस्थादूषणं स्यात् ॥ ८३ ॥ आप्तानां बहुत्वं न दोषायेति प्रतिपादयति—नियतमिति—बहुत्वम्, चतुर्विंशतिः जिनेश्वराः इति जिनसंख्याया बहुत्वं नियतं नियमितं न चेत् एते पञ्चदश तिथयः, नव ग्रहाः, चतुरुदधयः, षट् कुलाचलाः इत्यादयः पदार्थाः बहवोऽपि नियतसंख्याः कथम् ॥ ८४ ॥

[पृष्ठ २४-२५] अनयवेति—अनयैव दिशा उपर्युक्तप्रकारेणैव सांख्यशाक्यादिशासनं कपिलसौगतचार्वाकादिदर्शनं चिन्त्यम् विचारणीयम् । तेषां तत्तदागमानाम् आप्तानां च नानात्वस्य बहुत्वस्य अविशेषत्वात् ॥८५॥ जैनेति—एकं जैनमतं मुक्त्वा सर्वाभ्युपगमागमाः द्वैताद्वैतसमाश्रयौ मार्गौ समाश्रिताः इत्यन्वयः । सांख्यशाक्यादिदर्शनेषु कानिचिद् द्वैतं कानिचिद् अद्वैतम् अवलम्बन्ते । तथा तेषु दर्शनेषु कानिचित्तत्त्वानि सर्वलोकाभिमतानि सन्ति । अतः सर्वे सर्वाभ्युपगमागमाः इति उक्तम् ॥८६॥ वामेति—शंभोः आगमः शैवागमः । शाक्यस्य सुगतस्य आगमः सिद्धान्तः । द्विजस्य याज्ञिकस्य वेदान्तिनश्च आगमः द्विजागमः । एतेषां त्रयाणाम् आगमाः वामदक्षिणमार्गयोः तिष्ठन्ति । वाममार्गः मन्त्रतन्त्रप्रधानः । तथा क्रियाकाण्डप्रतिपादकश्च । न तथा

दक्षिणमार्गः शैवमतं वाममार्गप्रधानम् । याज्ञिकागमोऽपि पश्वादियज्ञप्रवर्तकः । अतः कर्मगतः । वेदान्तिनामागमः ज्ञानगतः ब्रह्माद्वैतप्रतिपादकः । शाक्यागमोऽपि वाममार्गस्थः मन्त्रतन्त्रप्रधानत्वात् । सुगतः खलु तरसासवसक्तधीरासीत् । महायानसंप्रदायाद्वाममार्गो जातः ॥८७॥ यच्चैतत्—श्रुतिमिति—इह शंभ्वादिदर्शनेषु वेदं श्रुतिम् आहुः । वेदः श्रुतिरिति नामद्वयं शंभ्वादीनामागमानाम् । स्मृतिस्तु धर्मशास्त्रमिति कथ्यते । श्रुतिस्मृती सर्वार्थेषु यज्ञादिषु अमीमांस्ये अविचारणीये । ताभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यां हि यस्मात् धर्मो निर्बभौ नितरां शुशुभे । श्रुतौ स्मृतौ च यत्प्रतिपादितं तत्सर्वं प्रमाणमेवेति मन्तव्यम् ॥८८॥ ते त्विति—यः द्विजः हेतोः शास्त्राद्वागमात् ते श्रुतिस्मृती अवमन्येत तिरस्कुर्वीत, स साधुभिः बहिः कार्यो यतो वेदनिन्दको नास्तिको भवति ॥८९॥ तदपि न साधु तदपि वचनं साधु सुन्दरं न । यतः यस्मात्कारणात् । समस्तेति—समस्तयुक्तिनिर्मुक्तः प्रत्यक्षादिप्रमाणरहितः केवलागमलोचनः केवलं श्रुतिस्मृतिनेत्रः यदि केवलेनागमेनैव तत्त्वमिच्छन् स वादी इह कस्य जयावहो भवेत् । न कस्यापि । युक्ति हेतुवादं त्यजन् वादी केवलेन आगमेन तत्त्वसिद्धिं न कर्तुं शक्नोति । युक्तिं विना केवलम् आगमादेव तत्त्वसिद्धिं इच्छन् वादी जयं न लभते प्रत्युत पराभवपदं याति ॥९०॥ सन्त इति—सन्तो विद्वांसो गुणेषु तुष्यन्ति यन्मतं गुणवत्प्रमाणसिद्धं तत्रैव तुष्यन्ति, न अविचारेषु प्रमाणेन सिद्धिमनधिगतेषु वस्तुषु न तुष्यन्ति । यतो निर्गुणो ग्रावा अश्मा पादेन क्षिप्यते दूरमस्यते । परं रत्नं मणिः मौलौ किरीटे निधीयते स्थाप्यते ॥९१॥ श्रेष्ठ इति—गृहस्थः गुणैः अहिंसादिभिरणुव्रतैः श्रेष्ठः पूज्यः स्यात् । ततः गृहस्थादपि श्रेष्ठतरः पूज्यतरो यतिर्भवेत् महाव्रतधारकत्वात् । यतेः श्रेष्ठतरो देवः, यतेः मुनेरपि पूज्यतरः देवः जिनपतिः । रत्नत्रयस्य परमप्रकर्षं गतत्वात् । देवादधिकं परं श्रेष्ठं लोके किमपि न ॥९२॥ गेहिनेति—गेहिना गृहस्थेन समवृत्तस्य समानाचरणस्य । यतः तपस्विनोऽप्यधरस्थितेः मुनेः सदृशं चरित्रं यस्य नैव भवति एवंविधस्य देवस्य यदि देवत्वं न देवो दुर्लभो भवेत् । यदि देवोऽपि गृहस्थसदृशः स्यात्तर्हि सर्वेऽपि जना देवा भवेयुर्येन देवानां दुर्लभता न स्यात् ॥९३॥

इत्युपासकाध्ययने आप्तस्वरूपमीमांसनो नाम द्वितीयः कल्पः ।

३. आगमपदार्थपरीक्षणो नाम तृतीयः कल्पः ।

[पृष्ठ २५-२६] देवमिति—आदौ प्रथमं देवं परीक्षेत, क आप्तो भवितुमर्हति इति विचारः कार्यः । पश्चात्तद्वचनक्रमं देवस्वरूपविचारानन्तरं तस्य वचनक्रमम् आगमस्य क्रमो विचारणीयः । ततस्तद्विचारेण आगमे निर्णीते तस्य अनुष्ठानम् एतदागमप्रोक्ताचरणं परीक्षेत । एतत्प्रोक्तम् आचरणं पापानुबन्धि पुण्यानुबन्धि वेति परीक्षणीयम् । तत्पश्चात् तत्र बुधः मतिं कुर्यात् । तत्स्वीकारपरां मतिं बुद्धिं विदध्यात् ॥९४॥ येऽविचार्येति—ये नराः देवम् अविचार्य देवमपरीक्ष्य तद्वाचि रुचिं कुर्वते तत्प्रोक्ते वेदाद्यागमे रुचिं श्रद्धानं कुर्वते विदधति तेऽन्धा विचारशून्यमतयस्तत्स्कन्धविन्यस्तहस्तास्तत्स्कन्धे देवभुजे स्थापितहस्ताः कृतश्रद्धानाः सद्गतिं वाञ्छन्ति ततो मोक्षमभिलषन्ति । यथा अन्धस्कन्धे हस्तं स्थापयन्तोऽन्धाः सद्गतिं वाञ्छन्तो न तां लभन्ते तथा देवस्वरूपमविमृशन्तो नराः तदागमं श्रद्दधतः सद्गतिं सतीं शोभनां कर्मक्षयजां मुक्तिगतिं न प्राप्नुवन्ति ॥ ९५ ॥ पित्रोः शुद्धौ इति—जननीजनकयोः कुलशुद्धौ विद्यमानायां यथाऽपत्ये पुत्रे पुत्र्यां वा विशुद्धिरिह दृश्यते । तथाप्तस्य विशुद्धत्वे अष्टादशदोषराहित्ये, मुक्तिमार्गनेतृत्वे, कर्मभेदकत्वे एतद्रूपे विशुद्धत्वे सति तन्मुखनिर्गतागमस्यापि शुद्धता भवति ॥ ९६ ॥ वाग्विशुद्धेति—विशुद्धापि वाक् जिनमुखोत्पन्नमपि श्रुतं पात्रदोषतः दर्शनमोहाक्रान्तपुरुषचित्तस्था यदि भवेत् तर्हि सा दुष्टा भवेत् अहितकरं भवेत् । किंवत् वृष्टिवत् मेघोद्गीर्णजलधारा यथा पात्रदोषतः विषवृक्षवनराजीं प्राप्य दुष्टा प्राणिप्राणहरणपट्वी भवति । परं तीर्थसश्रयं पवित्रजलाशयाश्रितं तदेव जलं वन्द्यं भवति तथा तदेव जिनवचनम् अदुष्टपुरुषचित्ताश्रितं वन्द्यं भवेत् ॥ ९७ ॥ दृष्टेऽर्थे इति— दृष्टे प्रत्यक्षप्रमाणग्रहणयोग्ये अर्थे जीवादिवस्तुनि अध्यक्षतः प्रत्यक्षेण वचसः प्रमाणता प्रामाण्यं भवति । दृष्टार्थप्रतिपादकस्य वचसः प्रामाण्यम् अध्यक्षात्प्रमाणाज्जायते अनुमेये अनुमानग्रहणयोग्ये अर्थे वचसः प्रमाणत अनुमानतः साधनात् साध्यविज्ञानेन प्रमाणता ज्ञातव्या । तथा परोक्षे अस्मदादिप्रत्यक्षलैङ्गिक-

ग्रहणामोग्येऽर्थे अतीन्द्रियविषये वचसः पूर्वापराविरोधेन प्रमाणता प्रामाण्यं भवति ॥ ९८ ॥ आगमाभासस्याप्रमाणतां वदति—**पूर्वापरेति**—स आगमः किं प्रमाणं भवति । अपि तु न भवति । कीदृशः आगमः न प्रमाणम् उच्यते यः पूर्वापरविरोधेन दोषेण युक्तः स नागमः प्रमाणम् । यस्तु युक्त्या प्रत्यक्षादिप्रमाणेन बाध्यते सोऽप्रमाणमागमः । एवंविध आगमो मत्तोन्मत्तवचःप्रख्यः मत्तः सुराधत्तूरादिप्राशनात् । कामादिविकारादुन्मत्तस्तस्य वचसा प्रख्यस्तुल्यः स न प्रमाणं भवति ॥ ९९ ॥ आगमस्य निरुक्तिं कथयन्ति सूरिपादाः—**हेयोपादेयेति**—चतुर्वर्गसमाश्रयात् धर्मार्थकाममोक्षाः चतुःपुरुषार्थवर्गः तस्य समाश्रयणात् अवलम्बनात् । हेयोपादेयरूपेण जीवादिसप्तपदार्थेषु जीवः, संवरः, निर्जरा मोक्षश्चेति ग्राह्या उपादेयाः पदार्थाः मुक्तिकारणत्वात् । अजीवः, आस्रवो बन्धश्च हेयार्थाः संसारकारणत्वात् । एतान् भूतभाविभवत्कालगतान् हेयोपादेयार्थान् गमयञ्ज्ञापयन्नागमः स्मृतः प्रतिपादितो ज्ञातव्यः ॥ १०० ॥ **आत्मानात्मेति**—तत्त्ववेदिभिः तत्त्वं विदन्तीति तत्त्ववेदिनः विद्वांसस्तैः आगमस्य पदार्था एवं निगद्यन्ते भाष्यन्ते—आत्मानात्मस्थितिः आत्मा च अनात्मा च तयोः स्थितिः जीवाजीवयोः स्थितिर्यत्र स लोकः लोक्यन्ते जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकाला यत्र स लोकः, बन्धश्च मोक्षश्च बन्धमोक्षौ सहेतुकौ कारणसहितौ बन्धस्य कारणानि मिथ्यात्वादीनि मोक्षस्य कारणानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि एते पदार्था निगद्यन्ते कथ्यन्ते ॥ १०१ ॥

[पृष्ठ २७-३५] **उत्पत्तिस्थितिरिति**—उत्पत्तिरुत्पादो जननं स्थितिर्ध्रौव्यम्, विनाशः संहारो एतैः साराः बलवन्तः सर्वे पदार्थाः स्वभावत एव । यथा तोयधेः समुद्रस्य तरङ्गाः कल्लोलाः तद्द्वयाश्रिताः भवन्ति तथैते पदार्था नयद्वयाश्रिताः द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयौ आश्रित्य वर्तन्ते । तत्र वस्तुनि ध्रौव्यं द्रव्यार्थिकनयाश्रितम्, उत्पत्तिव्ययौ च पर्यायार्थिकनयाश्रितौ ॥ १०२ ॥ **क्षयाक्षयैकपक्षत्वे इति**—क्षयश्च अक्षयश्च क्षयाक्षयौ । एकपक्षत्वशब्दः क्षयेण अक्षयेण च क्रमशो योज्यः । तेन क्षयैकपक्षत्वम्, अक्षयैकपक्षत्वम् इति भवति । क्षयैकपक्षत्वे अङ्गीक्रियमाणे वस्तु सर्वथा विनाशि एव स्यात् ततश्च बन्धक्षयस्य आगमः प्राप्तिः भवेत्, मोक्षक्षयस्य आगमः प्राप्तिर्भवेत् । ततो बन्धो मोक्षश्च नैव सिद्ध्यतः । वस्तु उत्पद्य पश्चात् अनन्तरसमय एव विपद्येत तर्हि तस्य वस्तुनः न केनापि संयोगो भवेत् । सर्वथा विनाशशीलस्य आत्मनः कर्मबन्धो न भवेत् । सर्वथा वस्तु अक्षयि एव यदि तर्हि परिणामित्वाभावात् मोक्षक्षयागमः भवेत् । बद्ध आत्मा बन्धनपर्यायपरिणत एव सर्वदा भवेत् । तस्य मुक्तिः कदापि न स्यात् । अतः तात्त्विकैकत्वसद्भावो भवेत् यदि स्वभावान्तरहानिः स्यात् । सर्वथा एकरूपता वस्तुनः स्याद्यदि तत्र स्वभावान्तरप्रादुर्भावः कदापि न भवेत् । यः आत्मा क्रुद्धः स क्रोधे गते प्रसक्तिभाक् दृश्यते । अतः वस्तुनि तात्त्विकैकत्वसद्भावे अङ्गीक्रियमाणे स्वभावान्तरदर्शनं न स्यात् । कथंचित् जीवादिवस्तु पर्यायापेक्षया क्षयि । द्रव्यापेक्षया तत् अक्षयि मन्यताम् । एवं वस्तुस्वरूपाभिमनने स्वभावान्तरहान्याख्यो दोषः न संसक्तो भवेत् ॥ १०३ ॥ आत्मनः स्वरूपं निगदति—**ज्ञातेति**—पुमान् आत्मा ज्ञाता द्रष्टा च अत एव ज्ञानदर्शनलक्षण आत्मा गीयते । महान् आत्मा केवलसमुद्घातापेक्षया लोकव्यापको भवति अतः महान् । सूक्ष्मः स्पर्शादिगुणरहितत्वात् अमूर्तः सूक्ष्मः उच्यते । कृतिभुक्त्योः स्वयं प्रभुः "स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते ।" अतः स्वयं प्रभुत्वात् स कर्ता भोक्ता च भवति । ईश्वरप्रेरितो न गच्छति स्वर्गं श्वभ्रं वा । भोगायतनमात्रोऽयं शरीरं भोगायतनम् । शुभाशुभकर्मोदयप्राप्तयोः सुखदुःखयोः शरीरम् आयतनं गृहम् अस्ति । तत् तद्भोगे साधनं संपद्यते । आत्मा यच्छरीरं लभते तत्प्रमाणो भूत्वा आमृति तिष्ठति । यदा च स कर्मक्षयं करोति तदा स्वभावादेव स ऊर्ध्वं गच्छति अतः स ऊर्ध्वगः पुमानिति कथ्यते ॥ १०४ ॥ **ज्ञानदर्शनेति**—ज्ञानदर्शनशून्यस्य आत्मनः अचेतनात् भेदोऽन्यता न स्यात् । तथा च अयं जीवः इमौ घटपटौ इति भेदो न भवेत् । ज्ञानमात्रस्य जीवस्य न एकधीः । स एव अहम् इति प्रत्यभिज्ञानात् आत्मा ज्ञानी न ज्ञानमात्रं तस्य स्वरूपम् । ज्ञानमात्रस्य जीवत्वे मन्यमाने सा एकधीः नश्येत् । केवलं ज्ञानसामान्यं स्यात् । विशेषधर्माभावात् । इदं चित्रज्ञानम्, इदं पटज्ञानम्, इदं मित्रज्ञानम् इति नानात्वं ज्ञानानां न स्यात् । विशेषधर्मेणैव भेदा ज्ञानेषु भवन्ति ॥१०५॥ जीवकर्मणोः अन्योन्यसंबन्धं निगदति—**प्रेर्यते इति**—नौनाविकसमानयोः एतयोः जीवकर्मणोः अन्यो न प्रेरकः । यथा नौः नाविकेन प्रेर्यते स च तया प्रेर्यते तथा जीवेन कर्म प्रेर्यते तेन च जीवः प्रेरितो भवति ॥१०६॥ मन्त्र-

वदिति—यथा मन्त्रः नियतोऽपि परिमिताक्षरोऽपि स्वभावतः अचिन्त्यशक्तिको भवति तथा अयम् आत्मा नियतः शरीरप्रमाणोऽपि स्वभावतः अचिन्त्यशक्तिको वेदितव्यः। अतः स्वशरीरात् अन्यत्र नानुभूयते न च वर्तते। शरीरप्रमाणत्वात् स व्यापको न भवति ॥१०७॥ जीवद्वैविध्यं निगदन्त्याचार्याः—**त्रसस्थावरेति**—त्रसस्थावरभेदेन केचित् जीवाः चतुर्गतिसमाश्रयाः नारकतिर्यङ्नरदेवगतीः अवलम्ब्य संसारे स्थिता दृश्यन्ते। तथा अन्ये च केचित् पञ्चमीं गतिं मोक्षगतिम् आश्रिताः मुक्ता भवन्ति कर्मक्षयं कृत्वा इति द्वैविध्यं जीवानाम्। संसारिणो जीवाः त्रसस्थावरभेदेन द्विविधाः। परं मुक्ता जीवाः कर्मणः अभावेन भेदरहिता ज्ञेयाः ॥१०८॥ **धर्माधर्माविति**—धर्मः, अधर्मः, नभः, कालः पुद्गलश्चेति पञ्च पदार्था अजीवशब्देन वर्ण्यन्ते। एते विविधपर्यायाः एते नानावस्थायुता भवन्ति ॥१०९॥ **गतिस्थितीति**—धर्मद्रव्यं जीवपुद्गलयोर्गतिपरिणतिकारणम्। अधर्मद्रव्यं तयोरेव स्थितिपरिणतिकारणम्। नभ आकाशं द्रव्यम् अप्रतीघातकारणं जीवपुद्गलयोः प्रतीघातं प्रतिरोधं न करोति तत्तयोरवगाहं ददाति। कालः जीवपुद्गलयोः वर्तनाक्रियापरिणामपरत्वापरत्वपरिणतिनिबन्धनं भवति। एवं सर्ववस्तूनां लक्षणं प्रोक्तम्। रूपाद्यात्मा च पुद्गलः "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः" इति पुद्गलस्य लक्षणम् ॥११०॥ बन्धस्य लक्षणम्—**अन्योन्येति**—अन्योन्यानुप्रवेशेन जीवप्रदेशेषु कर्मप्रदेशाः प्रविशन्ति। कर्मप्रदेशेषु च जीवप्रदेशाः प्रविशन्ति, एवं कर्मात्मनोर्बन्धो भवति। स बन्धोऽनादिः सान्तश्च भवति कालिकास्वर्णयोरिव खनौ उत्पन्नं सुवर्णं कालिकासहितमेवास्ति तत्र आदौ सुवर्णम्, कालिका तदनन्तरम् इति कालभेदो नास्ति परं ततः उपायैः सुवर्णात्कालिकापनयः क्रियते येन तयोः सावसानता भवति तथादौ शुद्ध आत्मा ततस्तस्य प्रदेशेषु कर्मप्रदेशानां सश्लेषो जात इति न, अनयोः संश्लेषस्यानादिता वर्तते। परं रत्नत्रयं प्रकृष्यते यदा तदा जीवकर्मणोरत्यन्तं विश्लेषो भवति येन जीवः शुद्धः संपद्यते ॥१११॥ बन्धस्य चातुर्विध्यम्—**प्रकृतीति**—सर्वेषामेव देहिनां संसारिजीवानां प्रकृतिबन्धः, स्थितिबन्धः, अनुभागबन्धः, प्रदेशबन्धः इति भेदात् चतुर्धा बन्धो भिद्यते, चतुःप्रकारो भवतीत्यर्थः। ज्ञानावरणादिकर्मणा ज्ञानादिप्रतिहननं स्वभावः प्रकृतिबन्धः। तत्स्वभावादप्रच्युतिः स्थितिबन्धः। ज्ञानावगमनादिस्वभावादप्रच्युतिः स्थितिबन्धः। तद्रसविशेषोऽनुभवः, कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धानां परमाणुपरिच्छेदेनावधारणं प्रदेशबन्धः ॥११२॥ मोक्षलक्षणम्—**आत्मेति**—जीवस्य अन्तर्मलक्षयात् जीवस्य रागादिरूपपरिणतीनाम् अन्तर्मलरूपाणां क्षयाद्विश्लेषात् या निर्मलता अनन्तशुद्धस्वाभाविकचैतन्यसुखादिपरिणतेः प्रकर्षतमता तस्याः आत्मलाभं मोक्षं विदुः जानन्ति। जीवस्य अभावो मोक्षो न, नापि अचैतन्यं चेतनारहितत्वं मोक्षः, न च चैतन्यम् अनर्थकम् अर्थो घटादिः तज्ज्ञानविरहितं चैतन्यं कदापि न तिष्ठति। मुक्तात्मनां ज्ञाने प्रतिसमयम् अनन्तपदार्थमालिका फलतीति ज्ञेयम् ॥११३॥ बन्धमोक्षयोः कारणानि—**बन्धस्येति**—मिथ्यात्वासंयमादिकं बन्धस्य कारणं प्रोक्तम्। आप्तागमपदार्थानाम् अश्रद्धानं मिथ्यात्वम्। इन्द्रियसंयमप्राणिसंयमयोरभावः असंयमः। आदिशब्देन कषायादिकं गृह्यते। एतत्कर्मबन्धस्य कारणं निदानं प्रोक्तम्। रत्नत्रयं तु मोक्षस्य मुक्तेः कारणं प्रोक्तं कथितम् ॥११४॥ मिथ्यात्वभेदाः प्रतिपाद्यन्ते—**आप्तेति**—आप्तागमपदार्थानाम् अर्हत्सिद्धान्तजीवादिनवपदार्थानाम् अश्रद्धानरूपम् एकं मिथ्यात्वम्, विपर्ययरूपं द्वितीयम्, संशयरूपं तृतीयम्। इति मलिनात्मनां गाढदर्शनमोहोदयवतां त्रिधा मिथ्यात्वं प्रोक्तम्। अथवा—**एकान्तेति**—एकान्तसंशयाज्ञानम्-एकान्तमिथ्यात्वम्, संशयमिथ्यात्वम् अज्ञानमिथ्यात्वं च, तथा व्यत्यासविनयाश्रयं व्यत्यासो विपर्यय आश्रय आधारो यस्य विपर्ययाश्रयोत्पन्नं विपरीतमिथ्यात्वम्। विनयाश्रयं विनयाधारं, विनयमिथ्यात्वमित्यर्थः। मिथ्यात्वमेतत् भवपक्षाविपक्षत्वात् संसारपक्षस्य अविपक्षत्वात् अनुकूलत्वात् पञ्चधा पञ्चप्रकारं स्मृतम् ॥११५-११६॥ असंयमं विशदयति—**अव्रतित्वमिति**—हिंसादीनि पापानि न सेवेऽहमित्यभिसंधिकृतो नियमो व्रतम्। तदस्यास्तीति व्रती तस्य भावो व्रतित्वम्, न व्रतित्वमव्रतित्वम्। हिंसादिभ्योऽविरमणमव्रतित्वमित्यर्थः। प्रमादित्वं पुण्यकर्मसु अनादरः प्रमादः सोऽस्ति यस्य स प्रमादी तस्य भावः प्रमादित्वम्। तच्च पञ्चसमितित्रिगुप्तिशुद्ध्यष्टकोत्तमक्षमादिविषयभेदात् अनेकविधम्। निर्दयत्वम्—प्राणिदुःखं दृष्ट्वा मनसोऽनार्द्रतारूपं क्रूरता इति भावः। अतृप्तता इष्टविषयेषु लब्धेष्वपि मनसोऽसंतोषो गृध्नुता। इन्द्रियेच्छानुवर्तित्वम्-इन्द्रियाणां येषु येषु विषयेषु स्पृहा जायते तदानुकूल्येन वर्तनम्। सन्तः ज्ञानिनः असंयमं असंयमलक्षणं प्राहुः वदन्ति स्म ॥११७॥ कषायभेदान् ब्रुवन्ति—**कषाया इति**—

कषन्ति हिंसन्ति आत्मानं दुर्गतिं प्रापयन्ति इति कषायाः। ते क्रोधाद्याः क्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः पुनस्तेषामपि एकैकस्य चातुर्विध्यमेवम् अनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाः। अप्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः। प्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः। संज्वलनाश्च क्रोधमानमायालोभाः। एते प्राणिनां जीवानां संसारसिन्धुसंपातहेतवः-भवसागरप्रवेशे हेतवो मताः ॥११८॥ **मनोवाक्कायेति**—शुभाशुभविभेदतः मनोवाक्कायकर्माणि शुभं मनःकर्म शुभा मनोभावना, शुभं वाक्कर्म, शुभा वचनप्रवृत्तिः, शुभं कायकर्म, शुभा शरीरचेष्टा, अशुभं मनःकर्म, अशुभा मनोभावना, अशुभा वचनप्रवृत्तिः, अशुभा शरीरचेष्टा एताः शुभाशुभमनोवाक्कायानां प्रवृत्तयः आत्मनि जीवे पुण्यपापानां क्रमशो बन्धहेतुत्वं प्रतिपद्यन्ते ॥११९॥ लोकस्वरूपं प्रोच्यते—**निराधार इति**—निराधारः शेषकच्छपाद्याधाररहितः। निरालम्बः आकाशे सर्वतोऽनन्ते क्वापि न संलग्नः, पवमानसमाश्रयः पवमानाः घनवाताम्बुवाततनुवातानाम् आधारेण तिष्ठन्, नभोमध्यस्थितः आकाशमध्ये स्थितः। सृष्टिसंहारवर्जितः उत्पत्तिव्ययरहितः ॥१२०॥ अथ मतम्—**नैवेति**—जगत् क्वापि न लग्नम्। जगत् लोकोऽयं क्वापि कस्मिन् अपि न लग्नम् न संश्लिष्टम्। कथंभूतम्। भूभृदम्भोधिनिर्भरं भूः भूमिः, भूभ्राः पर्वताः, अम्भोधिः समुद्रः तैः। निर्भरं भृतम्। धातारश्च धारकाः, के। मत्स्यकूर्माहिपोत्रिणः मत्स्यो मत्स्यावतारधारी विष्णुः, कूर्मः कच्छपः, अहिः शेषः, पोत्री वराहः न युज्यन्ते अनवस्थापत्तेः ॥१२१॥ **एवमिति**—एवमालोच्य इत्थं विचार्य। लोकस्य जगतः। कथंभूतस्य निरालम्बस्य आश्रयविहीनस्य। धारणे जैनैः पवनः वायुविशेषः कल्प्यते समर्थ्यते। इत्येतन्महत्साहसम् ॥१२२॥ **यो हीति**—हि यस्मात्कारणात्, यो वायुः अत्र अस्मिल्लोके प्रत्यक्षीभूते। लोष्टकाष्ठादिधारणे लोष्टं मृत्तिकाखण्डम्, काष्ठं दारु, आदिशब्देन घटपटादयः तेषां धारणे न शक्तो न समर्थः। स त्रैलोक्यस्य जगत्त्रयस्य कथं धारणावसरक्षमः धारणावसरे धारणकार्ये क्षमः समर्थः स्यात् ॥१२३॥ तदसत्—उपर्युक्तमाक्षेपं प्रतिविदधाति—**ये इति**—ये मेघाः पानीयैर्जलैः। सचराचरं चराः जङ्गमाः पदार्थाः। अचराः स्थिराः पदार्थाः धराधराधरादयः। तैः सहितं सचराचरं विष्टपं जगत् प्लावयन्ति पूरयन्ति। ते वातसामर्थ्यात् वायुशक्तेः। व्योम्न्याकाशे। किं न समासते किं न तिष्ठन्ति। अपि तु तिष्ठन्त्येव ॥१२४॥ आप्तागमपदार्थेषु अर्हति जिने, आगमे तदुक्तसिद्धान्ते, जीवादिनवपदार्थेषु च अपरं दोषम् अपश्यन्तोऽन्यमतीया **अमज्जनेत्यादि**दोषचतुष्टयं ब्रुवते—अमज्जनम् अस्नानम्, अनाचामः अदन्तधावनम्, नग्नत्वम्, स्थितिभोजिता उद्भीभूय भोजनं मुनेः एतद्दोषचतुष्टयं मिथ्यादृशो वदन्ति ॥१२५॥ अत्र समाधिः एतद्दोषचतुष्टयस्य निरसनम्—यथा—**ब्रह्मचर्येति**—ब्रह्मचर्योपपन्नानां मैथुनम् अब्रह्म तत्त्यागो ब्रह्मचर्यम्, तदुपपन्नं स्वीकृतं यैस्ते ब्रह्मचर्योपपन्नास्तेषाम्। पुनः कथंभूतानाम्। अध्यात्माचारचेतसाम् आत्मानम् अधिकृत्य ये आचाराः जपध्यानतपांसि तेषु चेतो मनो येषां ते अध्यात्माचारचेतसः तेषाम्। मुनीनां स्नानम् अप्राप्तं स्नानस्यावश्यकता न। तु परंतु स्पर्शे अयोग्यजनस्पर्शे। अस्य स्नानस्य विधिर्मतः मान्यः ॥१२६॥ **संगे इति**—कापालिकात्रेयीचाण्डालशबरादिभिः कपालेन नृकपालेन चरति अभ्यवहारादिकं भोजनपानादिकं करोतीति कापालिकः वर्णसंकरजातिविशेषः। आत्रेयी पुष्पवती स्त्री। चाण्डालः ब्राह्मण्यां वृषलेन शूद्रेण जातः। शबरो म्लेच्छजातिः, "भेदाः किरातशबरपुलिन्दा म्लेच्छजातयः" इति, आदिशब्देन शुनकगर्दभनापितस्पर्शे। वमने, विष्टोपरि पादपतने, शरीरोपरि काकविण्मोचने इत्यादिस्नानोत्पत्तौ सत्यां दण्डवदुपविश्यते श्रावकादिकश्छात्रादिको वा जलं नामयति। सर्वाङ्गप्रक्षालनं क्रियते, स्वयं हस्तमर्दनेनाङ्गमलं न दूरीक्रियते। स्नाने सति उपवासो गृह्यते। पञ्चनमस्कारं शतमष्टोत्तरं वा कायोत्सर्गेण जप्यते एवं शुद्धिर्भवति ॥१२७॥ व्रतिकस्त्रीणां कथं शुद्धिर्भवति। **एकान्तरमिति**—ऋतौ रजस्वलावस्थायाम्। व्रतगताः स्त्रियः आर्यिकाः क्षुल्लिकाः श्राविकादयश्च। एकान्तरम् एकदिवसम् उपोषितम्, त्रिरात्रं वा त्रिदिनोपवासं वा कृत्वा। चतुर्थके दिने स्नात्वा स्नानं कृत्वा। असंदेहं निरारेकं निश्चयेन। शुद्धयन्ति रजोदोषदूरा भवन्तीत्यर्थः ॥१२८॥ **यदेवेति**—यदेव आगमेन शुद्धं भवतीति निगदितं तदेव शोध्यम्। केन। अद्भिर्जलेन। हि यतः अङ्गुलौ करशाखायां सर्पदष्टायां न हि नासा नासिका निकृत्यते छिद्यते ॥१२९॥ **निष्पन्दादिविधौ**—निष्पन्दादिविधौ मुखाल्लालाकफादिनिर्गमने सति मुखे यदि चेत् अपूतत्वम् अपवित्रत्वम् इष्यते मन्यते तर्हि वक्त्रापवित्रत्वे मुखस्य अशुचित्वे शौचं

पूतत्वं कुतः नारभ्यते आगमे मुखशुद्धिरुदाहृता न तु गुदशुद्धिः तस्य सर्वदा अपवित्रत्वात् । मुखशुद्धिर्जलेन भवति । गुदशुद्धिस्तेनापि न भवति ॥१३०॥ विकारे इति—विकृतौ विदुषां मतिमतां द्वेषः । परम् अविकारानुवर्तने निर्विकारानुवर्तने रागद्वेषादिभावरहितस्य नग्नत्वस्य अनुवर्तने अनुसरणे द्वेषो न । मतिमन्तः रागद्वेषादिविषये विधौ कार्ये द्वेषं कुर्वन्ति । परम् अविकारकार्यकरणे तद्विषये वा द्वेषं न कुर्वन्ति । तस्मात्कारणान्नग्नत्वं मुनीनां निसर्गोत्थं स्वाभाविकम् । रागद्वेषविप्लुतं कामविकारेण विकृतं वा नास्ति । अतस्तत्र को नाम द्वेषकल्मषः द्वेषेण कल्मषः अशुभपरिणतिः का नाम कर्तव्या । विवेकं कृत्वा नग्नत्वे द्वेषस्त्याज्यः ॥१३१॥ वस्त्रधारणे दोषाः—नैष्किंचन्यमिति—यदि ते संयमिनो मुनयो वल्कलाजिनवाससां तरुत्वङ्निर्मितवस्त्रं वल्कलमुच्यते । अजिनं हरिणव्याघ्रादीनां चर्म । कार्पासवस्त्रं वासः एतेषां संगाय ग्रहणाय यदि ईहन्ते स्पृहयन्ति तर्हि नैष्किंचन्यं निष्परिग्रहत्वम् अहिंसा च संयमिनां कुतो भवेत् । न कस्मादपि हेतोः । रागद्वेषाद्युत्पत्तिः संगाज्जायते यतः ॥१३२॥ स्थितिभोजितां वर्णयति—नेति—स्थितेः उद्भीभूत्वा भुक्तिः भोजनं न स्वर्गाय । पुनः अस्थितेर्भुक्तिः उपविश्य भोजनं न श्वभ्राय नरकप्राप्तिहेतुर्न । किंतु अस्मिन्संयमिजने सा स्थितिभोजिता प्रतिज्ञार्थम् इष्यते । उपविष्टः सन् भाजनेन अन्यहस्तेन वा न भुञ्जेऽहमिति प्रतिज्ञार्थं च ॥१३३॥ पाणिपात्रमिति—यावत्कालम् एतत्पाणिपात्रं पाणी हस्तावेव पात्रं भाजनं मिलति तयोः पाण्योः संयोजनं भवति । यावत्कालं स्थितिभोजने शक्तिः सामर्थ्यम् अस्ति तावत्कालं भुञ्जे भोजनं कुर्वे । अन्यथा यदा पाण्योः संयोजनं न भवेत्, पादयोः शक्तिश्च उद्भाहारग्रहणे नश्येत् तदाहारं रहामि त्यजामि ॥१३४॥ केशलोचवर्णनम्—अदैन्येति—अदैन्यम् अयाचनम् । असंगः निर्ग्रन्थता । वैराग्यं संसारशरीरभोगेभ्यः विरक्तिः । परीषहो दुःखसहनम् एतदर्थं यतीशानां मुनीन्द्राणाम् । केशोत्पाटनसद्विधिः श्मश्रुमूर्धजानां केशाना हस्तेन उत्पाटनसद्विधिः अपनयनविधिः कृतः ॥१३५॥

इत्युपासकाध्ययन आगमपदार्थपरीक्षणो नाम तृतीयः कल्पः ।

४. मूढतोन्मथनो नाम चतुर्थः कल्पः ।

[पृष्ठ ३६] सूर्यार्घ इति—सूर्याय अर्घ्यदानम् । मिथ्यादृष्टयः खलु सूर्योऽयं नारायण इति मत्वार्घ्यं ददति । तद्बुध्या अर्घं ददतः सम्यक्त्वनाशः स्यात् । ग्रहणस्नानम्—ग्रहणं सूर्यचन्द्रमसोरुपरागः, संक्रान्तौ द्रविणव्ययः सूर्यस्य राश्यन्तरसंक्रमणम्, पुण्यार्थत्वेन मिथ्यादृष्टिभिःसमर्थितायां संक्रान्तौ द्रव्यदानम् । सम्यग्दर्शनघातकम् । संध्यासेवा संध्यासमये विष्ण्वादिदेवतानां तर्पणम् । अग्निसत्कारः अग्नौ देवतात्वं संकल्प्य तत्पूजनं लोकमूढता गेहार्चनं गेहपूजनं देहार्चनं देहपूजनम् ॥१३६॥ नदीति–नदीनदसमुद्रेषु धर्मचेतसा मज्जनम् अत्र स्नाने कृते पुण्यं लभ्यते परलोके च सुखी जीवो भवति इति कल्पनया स्नानम् । तरुस्तूपाग्रभक्तानां वन्दनं तरोरश्वत्थस्य वन्दनम्, स्तूपाग्रस्य सिकताश्मनाम् उच्चयाग्रस्य वन्दनम् । भक्तानाम् अन्नानां वन्दनम् । भृगुसंश्रयःपर्वतात्पतनस्थानं भृगुः तस्य संश्रयोऽवलम्बनम् । भृगोरधोदर्यादिषु पतित्वा मरणं पुण्यायेति मत्वा तथाकरणम् ॥१३७॥ गोपृष्ठेति–गोपृष्ठान्तनमस्कारः गोः धेनोः पृष्ठस्य अन्तस्य योनेश्च नमस्कारो वन्दन तन्मूत्रस्य निषेवणं पानम् । रत्नवाहनभूयक्षशस्त्रशैलादिसेवनं रत्नानां वाहनानाम् अश्वादीनां भूमेः यक्षाणां शास्त्राणां पर्वतादीनां च सेवनम् ॥१३८॥ समयेति—जिनदर्शनं मुक्त्वा नैयायिकवैशेषिकबौद्धादिदर्शनानि समयान्तराणि पाखण्डाः रक्तपटकापालिकादयः, वेद—ऋग्वेदादयः, लोक—पञ्चपाण्डवानामेका योषित्, कुन्ती पञ्चभर्तृका विष्णुश्च सारथिः इत्यादिलोकसंश्रयमूढत्वम् । समयसंश्रितं मूढत्वम्, पाखण्डसंश्रितं मूढत्वम्, वेदसंश्रितमूढत्वम् । इत्याद्यनेकधा मूढत्वं ज्ञेयम् । समयादिकेषु ये आचारा विवेकरहिताः प्रतिपादितास्तेषां समाचरणेन विमूढानाम् अविवेकिनाम् ॥१३९॥ देवमूढत्वं प्रतिपाद्यते–वरार्थमिति—पुत्रसंपदादिप्राप्त्यर्थं याचना वरः तस्मै इति वरार्थम् । लोकवार्तार्थं कृष्यादिषड्जीवनकर्माणि लोकवार्ता तस्यै लोकवार्तार्थम् । उपरोधार्थं मित्रसंबन्धिजनाग्रहार्थम्, अमीषां कुदेवानाम् उपासनं सेवनं सम्यग्दर्शनहानये कारणं स्यात् ॥१४०॥ क्लेशायैवेति—अमीषु उपर्युक्तेषु

समयादिषु या क्रिया पूजादिका क्रियते सा क्लेशायैव संसारभ्रमणायैव स्यात्—फलावाप्तिकारणं न स्यात्। सम्यक्त्वादिफलावाप्तिहेतुर्न भवेत्। केषां मुग्धबोधानां मूर्खाणाम् अज्ञानिनामित्यर्थः। कथम्। ऊषरे क्षारमृद्विशिष्टे क्षेत्रे कृषिकर्मवत् बीजवपनकार्यवत् निष्फलं स्यात् ॥१४१॥ जिनादिषु भक्तिः सफला भवति—वस्तुनीति—प्रकृतत्वात् जिनादिष्वेव भक्तिः। भाक्तिके भक्तिः पूज्ये गुणानुरागः सा प्रयोजनं यस्य स भाक्तिकस्तस्मिन् भाक्तिके शुभारम्भाय पुण्यप्राप्तये भवेत्। रत्नाय रत्नप्राप्तिहेतवे अरत्नेन रत्नस्वरूपरहितेन पाषाणेन रत्नाय रत्नमिदं भवति इति कुतो भावः भूतये वैभवाय नहि भवति। 'नह्यरत्नेषु' इत्यपि पाठः रत्नस्वरूपरहितेषु पाषाणेषु रत्नानि इमानि इति कुतो भावः भूतये वैभवाय नहि भवति इति अभिप्रायो गृहीतव्यः ॥१४२॥

[पृष्ठ ३७] मिथ्यात्वं त्याज्यमिति कथयति—अदेवे इति—अदेवे आप्तत्वरहिते हरिहरादिषु देवताबुद्धि सर्वज्ञोऽयमिति भावम्। अव्रते व्रतभावनाम्, मिथ्यात्वयुक्ते तप आदौ व्रतभावनां व्रतपरिणामम्। अतत्त्वे एकान्तनित्यादिषु तत्त्वविज्ञानं तत्त्वकल्पनं मिथ्यात्वं तत् उत्सृजेत् त्यजेत् ॥१४३॥ तथापि इति—तथापि यदि कोऽपि नरः सर्वथा मूढत्वम् अदेवादिषु देवतादिभावं न त्यजेत् तर्हि असौ मिश्रत्वेन अर्हदादिषु अदेवादिषु च भक्तिं कुर्वाणोऽसौ मिश्रत्वेन अनुमान्यः अनुमत्यर्हः। यतः सर्वनाशः सुन्दरः न। कालान्तरेण स जैनो भवेत् इति मत्वा स आदरणीयः ॥१४४॥ न स्वत इति—जन्तवः स्वतः न प्रेर्याः आप्तादिश्रद्धाने न प्रवर्तितव्याः तथा प्रवर्तने कृते ते जिनागमे दुरीहाः स्युः दुर्भावनायुक्ता भवेयुः। स्वत एव आप्तादिश्रद्धाने प्रवृत्तानां तद्योग्यानुग्रहो मतः आप्तादिश्रद्धानादिषु अनुग्रहः उपकारः कर्तव्यः ॥१४५॥

इत्युपासकाध्ययने मूढतोन्मथनो नाम चतुर्थः कल्पः।

५. जमदग्नितपःप्रत्यवसादनो नाम पञ्चमः कल्पः।

[पृष्ठ ३७] शङ्केति—शङ्का जिनोक्तम् इदं धर्मादितत्त्वं स्यादन्यद्वा वैशेषिकाद्युक्तं धर्मादितत्त्वं स्यादिति चञ्चलं श्रद्धानं शङ्का। मदीयतपोमाहात्म्यान्ममेन्द्रपदं संसारसौख्यं वा भवतु इति इच्छा काङ्क्षा। कोपादिवशात् रत्नत्रयसाधने शरीरादौ जुगुप्सा विनिन्दा। अन्यश्लाघा—सर्वथा क्षणिकादितत्त्ववादिनो मिथ्यादृष्टयोऽन्ये तेषां श्लाघा प्रशंसा अन्यश्लाघा एते दोषा मनसा गिरा वचसा भवन्ति तदा सम्यक्त्वविनाशकारणं भवन्ति ॥१४६॥

[पृष्ठ ३८] तत्र शङ्कादोषस्य विशदं स्वरूपं प्ररूपयति—अहमिति—अहमेकः असहायः, जगत्त्रये मे मम कश्चित् त्राता रक्षको नास्ति। इति एवंरूपां व्याधीनां रोगाणां व्रजः समूहः तेन उत्क्रान्तिः आक्रमणं तस्या जायमानां भीतिं भयं शङ्कां प्रचक्षते ब्रुवते—अथवा शङ्काया अपरं लक्षणम्—एतदिति—एतत्तत्त्वं जिनोक्तं धर्मादितत्त्वं वा इदं तत्त्वं वैशेषिकाद्युक्तं तत्त्वम्, एतद्व्रतं जिनोक्तं तपोव्रतादिकं वा इदं व्रतं मिथ्यादृष्टयुक्तं पञ्चाग्नितपोव्रतादिकं वा, एष जिनो देवः, हरिहरादिको वा देवः इति परां शङ्कां विदुः ॥१४७–१४८॥ इत्थं शङ्कितचित्तस्य—इत्थं संशयितमनसः जनस्य दर्शनविशुद्धता न स्यात्। दर्शनं निर्मलं निर्दोषं न भवेत्। चित्ते शङ्किते ईप्सितावाप्तिर्न स्यात्। अभिलषितप्राप्तिर्न भवेत्। यथा उभयवेतने पुरुषे अभिलषितलाभो न भवति। स्वामिद्वयेनापि त्वया आवयोः सेवा न सुष्ठु कृता इति दोषारोपणं क्रियते तस्मात् उभयलाभादपि स वञ्चितो भवति सेवकः। अथवा पाठान्तरम् 'उभयवेदने' नपुंसकवेदे उभयाभिलाषा भवति परंतु उभययोरपि वाञ्छितयोः अर्थयोः प्राप्तिर्न भवति। स्त्रियं पुरुषं वा भोक्तुं न क्षमो भवति नपुंसकः। तथा शङ्कितचित्तस्य नुरपि सम्यग्दर्शननिर्मलता न जायते ॥१४९॥ निःशङ्कितधियो जनस्य स्वरूपमाह—एष एव भवेद्देवः—अर्हन्नेव देवो भवेत्। तदुक्तमेवानेकान्तरूपं जीवादिकं तत्त्वम्, एतत्तदेव व्रतम् अहिंसादिकं मुक्त्यै मोक्षाय भवेत् इति निश्चयं कुर्वाणो नरोऽशङ्कधीः निःशङ्कितबुद्धिः स्यात् ॥१५०॥ तत्त्वे इति—जीवादितत्त्वस्वरूपे ज्ञाते सति। रिपौ अरौ दृष्टे सति। पात्रे वा मुन्यादिके आगते सति यस्य चित्तं दोलायते संशययुक्तं स्यात्

स नरः इहलोके परलोके च रिक्त एव भवति। संशयादिदं न लभ्यते परं च विनश्यति। अतः संशयो न कर्तव्यः ॥१५१॥

[पृष्ठ ३९-४१] श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—आकर्ण्यतामत्र निःशङ्किताङ्गे संशये च कथा— इहैवेति—अनेकानि आश्चर्याणि कुतूहलोत्पादकानि वृत्तानि समीपानि यस्य तस्मिन् जम्बूद्वीपे। जनपदाभिधानास्पदे जनपदनामके जनपदे देशे इत्यर्थः। भूमितिलकनामनगराधिपतेः नरपालनामनृपस्य श्रेष्ठी सुनन्दनामास्ति। कथंभूतस्य नृपस्य। गुणमालामहादेवीरतिकुसुमशरस्य सा महादेवी एव रतिः कामजाया तस्याः कुसुमशरस्य मदनस्य। अस्य श्रेष्ठिनः पत्नी सुनन्दा नामास्ति। कथंभूता सा जनितेति—जनितः उत्पादितः निखिलपरिजनानां हृदयेषु आनन्दो यया सा। अनयोः दम्पत्योः, धन्वन्तरिर्नाम सूनुः। कथंभूतः। धनबन्ध्वादिभ्रातृषट्कजन्मानन्तरम् अनुजः अनु पश्चात् जातस्तेभ्यः सर्वेभ्यः कनिष्ठः इति भावः। पुनः कथंभूतः सः। सकलेति—सकलानि सर्वाणि कूटानि असत्यभाषणानि कपटानि दम्भाः, तद्युक्तानि च यानि चेष्टितानि कृत्यानि तत्करणे हरिरिवेति कृष्ण इवेति। तथा नरपालनामनृपस्य पुरोहितः सोमशर्माऽग्निलाभार्यया सह सुखेनास्थात्। तयोर्दम्पत्योः विश्वानुलोमो नाम विश्वरूपादिपुत्रेभ्योऽनवरजः ज्येष्ठः सकलसदाचारविरुद्धः सुतः आसीत्। सुनन्दश्रेष्ठिनः कनिष्ठस्तनयो धन्वन्तरिर्विश्वानुलोमश्च पुरोहितपुत्रः उभावपि सहधूलिकेलिकरणात्, समानस्वभावगुणदोषवत्त्वात्, दुग्धजलवदाचरितसुहृद्भावौ, द्यूतसुरापानपरस्त्रीसेवनचौरिकाद्यसभ्यजनोचितकार्येषु। तत्पर्यायेषु तत्सदृशेषु च कार्येषु प्रवर्तने मुख्यभावं गतौ सन्तौ तेन अवनीपतिना अवन्याः पृथ्व्याः पतिरवनीपतिः नरपालनामा राजा तेन सनिकारं धिक्कारं कृत्वा निर्वासितौ स्वदेशान्निर्घाटितौ। कुरुजाङ्गलदेशेषु वीरमतिमहादेवीवरेण वीरनरेश्वरनाम्ना भूभुजाधिष्ठितम् अध्युषितम्, यमदण्डतलवालेन कोट्टपालेन संश्रितं सकलभवसारसीमन्तिनीभिः ललनाभिर्मनोहरं चेतोलुण्टाकम्, हस्तिनागपुरं प्राप्य तत्र तौ धन्वन्तरिविश्वानुलोमौ अवसियतौ। कदाचित्तौ नित्यमण्डितं नाम चैत्यालयम् आसादयामासतुः प्रापतुरित्यर्थः। कस्मिन् समये संध्यासमये। कथंभूते। अस्तेति—अस्तगिरिशिखरभूषणभूतसूर्योष्णतासमूहे संध्यासमयं मद एव सखी तया कलुषितगण्डस्थलकोटिनिलीननिभृतस्थितभृङ्गसमूहलिह्यमानवदनवस्त्रविस्तारचनाविस्तारयुक्तात्, नीलगिरिगजात् स्वैरं संमुखं निवृत्य परावृत्य आगच्छन्तौ श्रीधर्माचार्येण उच्चैरुच्यमानधर्मश्रवणाय उचितं योग्यं नित्यमण्डितं नाम चैत्यालयं जिनमन्दिरम् आसादयामासतुः प्रापतुः। तत्रेति—तत्र जिनमन्दिरे धन्वन्तरिं वक्ष्यमाणमुक्त्वा विश्वानुलोमः सुष्वाप। किमुक्तं तेन। उच्यते—"धन्वन्तरे, चेत् सुरामांसरोचकभक्ष्यद्रव्यप्रभृतीनि भवसुखानि निरर्गलमनुभवितुम् आस्वादितुमिच्छसि तदा वा अयम् अम्बराम्बरावृतवपुषाम् अम्बरम् आकाशं तदेव अम्बरं वास तेन आवृतं पिहितं वपुः शरीरं येषां तेषां जैनाचार्याणां धर्मो न श्रोतव्यः नाकर्णनीयः" इत्यभिधायोक्त्वा पिधाय च आच्छाद्य च कर्णयुगम्, अतिनिर्भरम् अतिशयेन गाढं प्रमीलावलम्बिलोचनायामः निद्रालस्याश्रितनेत्रदैर्घ्यः विश्वानुलोमः सुष्वाप निदद्रौ। किं तदाऽऽचार्यवचनं यच्छ्रुत्वा धन्वन्तरिरुवाच तत्कथ्यते—"प्राणिना हि नियमेन किमपि स्वल्पमपि व्रतम्, अचलितात्मतया दृढस्वभावेन उपात्तं गृहीतम् तदर्के उत्तरकाले लप्स्यमाने निश्चयेन स्वःश्रेयसि शिवे निमित्तं निदानं स्यात्।" इति प्रसंगवशादागतम् उदितं भाषणं श्रुत्वा नमस्कृत्य च, एवं तर्हि यदि भगवन्, पूज्य, अयमपि जनः कस्यापि व्रतस्य प्रदानेन वितरणेन अनुगृह्यतामुपक्रियताम् इत्यवोचत् अब्रवीत्। तदनु धन्वन्तरिणा कृतविज्ञप्तेः अनन्तरं सूरेः आचार्यात् "खलतिविलोकनात् त्वया अत्तव्यम्" खलतेः खल्वाटस्य नष्टमस्तककेशस्य नरस्य विलोकनात् दर्शनात् त्वया अत्तव्यम् अन्नं भक्षणीयम् इति दत्तव्रतग्रहणेन कुलालात् कुम्भकारात् लब्धनिधानः प्राप्तधनकुम्भः। पयःपूराविष्टपिष्टकशकटपरित्यागात् दुग्धपूरभृतपिष्टकभक्ष्ययुक्तस्य शकटस्य स धन्वन्तरिः त्यागं कृतवान् यतस्तत्र पिष्टकभक्ष्ये उरगः सर्पो निजं गरलं विषम् उद्गीर्य वमित्वा गत आसीत् तेन स अजनितमरणसंगम आसीत्। अज्ञातवृक्षत्यागेन उल्लङ्घितकिम्पाकफलभक्षणापत्तिः। पुनः अविमृश्य किमपि कार्यं नाचरणीयम् इति गृहीतव्रतविधिः। एकदा निशायां नगरनायकनिलये नगरस्य नायकः नृपस्तस्य निलये प्रासादे नटनृत्यनिरीक्षणात्कृतकालक्षेपणः नटानां नृत्यस्य निरीक्षणेनावलोकनेन कृतकालव्ययः, स्वावासं निजगृहम् अनुसृत्य शनैः विघटितकपाटपुट-

संधिबन्धः उद्घाटितारस्युगसंधिबन्धनः, स्वकीयया निजया सविध्या मात्रा सह विहितगाढावष्टम्भनम् दत्तदृढालिङ्गनाम् आत्मकलत्रं निजां भार्यां जातनिद्रातन्त्रं समागतस्वापायत्ताम् अवलोक्य, उपपतिशङ्कया जारसंशयेन मुहुरुत्खातखड्गो, पुनःपुनः कोषाद्बहिर्निष्कासितासिः, भगवता श्रीधर्माचार्येण उपपादितं दत्तं व्रतं नियमम् अनुसस्मार स्मरणमार्गम् आनीतवान् । शुश्राव च आकर्णयामास च दैवात् तदैव "मनागतः परतः सर, ईषत् अतः स्थानात् परतः पुरतः सर । खरं तीक्ष्णं मे शरीरसंबाधः देहपीडा", इति गृहिणीगिरम् पत्नीवचनम् । ततश्च "यदीदं व्रतमहमद्य नाग्रहीषं नागृह्णाम् (अविचार्य पुनः किमपि कार्यं मया क्रियेत) तर्हि इमां जननीम् इदं च प्रियकलत्रं प्रियां जायाम् असंदेहं विशस्य हत्वा इहलोके दुरपवादरजसां जननिन्दापांसूनाम् अमुत्र परलोके च दुरन्तैनसां नारकादिदुःखानां दातृणां पापानां च भागी भवेयम् ।" इति जातनिर्वेदः उद्भूतवैराग्यभावः, सर्वमपि ज्ञातिलोकं बान्धवजनं यथायथं यथोचितं मनोरथोत्सेकं तदीयेच्छापूरणात् सर्वम् अवस्थाप्य "यत्रैव देशे दुःखदनिन्दापीडितं चेतो मनस्तत्रैव देशे अवलम्ब्यमानं व्रतं दीक्षा वा न भवति निरपवादं निर्दोषं गर्हारहितं वा" इति प्रकाशितोपदेशस्य प्रकटीकृतधर्मज्ञानस्य तस्य भगवतो निदेशात् आदेशमनुसृत्य धरणीभूषणभूधरोपकण्ठे धरणीभूषणनामगिरिसमीपे तपस्यतो वरधर्माचार्याद्दीक्षामादाय इति वितर्काभ्यर्णो बभूव । कथंभूताद्वरधर्माचार्यात् कान्तारदेवताविहितसपर्यात् वनदेवताकृतपूजनात् । कीदृशीं दीक्षाम् आदाय । सुरसुन्दरीकटाक्षविपक्षाम् अमरललनापाङ्गसपत्नदीक्षां निर्ग्रन्थलिङ्गं धृत्वा विदितवेदितव्यसंप्रदायः ज्ञातज्ञेयागमः सन्नम्बरे आकाशे स्तम्बाडम्बरितोपात्तपलाशिमालायां स्तम्बकान्तियुतधृतपलाशिमालायां स्तम्बकान्तिधृतसपर्णवृक्षपङ्क्तियुक्ते पर्वततटे आतापनयोगस्थितः ग्रीष्मकाले रविकरतप्तशिलातले ध्यानसंधारणम् आतापनयोगः, तेन स्थितः, अनवरतप्रवर्धमानाध्यात्मध्यानावन्ध्यबोध्यनिरतः, सततं वर्धमानात्मविषयध्यानामोघज्ञेयनिरतः स धन्वन्तरिः "किमयं कर्कूरोत्कीर्णः, किं वा अस्मादेव पर्वतान्निरूढः" इति वितर्काभ्यर्णो बभूव । किमयं धन्वन्तरिर्मुनिः कर्कूरोत्कीर्णः पर्वतोत्कीर्णः किं वा अस्मादेव गिरेः निरूढः निश्चयेन रूढः अङ्कुरितः इति वितर्काभ्यर्णः इत्यूहसमीपवर्ती अभवत् ।

[पृष्ठ ४२] सूरिवरोऽधुना विश्वानुलोमस्य वृत्तं कथयति—कथंभूतः सः । संजातेति—संजातः उत्पन्नः सुहृदि मित्रे समालोकनकामः दर्शनाभिलाषो यस्य सः विश्वानुलोमोऽपि तदिति—तस्य धन्वन्तरेः परिजनात् ज्ञातिवर्गात् परिज्ञातोऽवगतः एतद्धन्वन्तरेः प्रव्रजनस्य जिनदीक्षाया व्यतिकरः उदन्तो येन, मित्रेति—"मित्रमेव मित्रधेयं तस्य सख्युः धन्वन्तरेर्या गतिर्भाविनी स्थितिः सा ममापि" इति प्रतिज्ञाप्रवरः कृतप्रतिज्ञ इत्यर्थः तत्र धरणीधरगिरौ आगत्य जैनेति—जिनो देवता यस्य स जैनः स चासौ जनश्च जैनजनः तस्य समयस्थितिं सदाचारम् अनवबुध्यमानो अजानन् "हंहो मनोहरवयस्य चिरान्मिलितोऽसि बहुना कालेन दृष्टोऽसि। किमिति न मे गाढाम् अङ्कपालीं दृढमाश्लेषं ददासि । किमिति न कामं विपुलं भाषसे । किमिति आदरेण वार्ताम् उदन्तं न आपृच्छसे" इत्यादि बहुसप्रश्रयं नम्रतया आभाष्य निजव्रताचरणतत्परचित्ते निरागसि निरपराधे निष्पापे वा धन्वन्तरिमुनीश्वरे प्ररुष्य क्रोधं कृत्वा सविधाशिवतातिः समीपासुखविस्तारः, प्रादुर्भवदप्रीतिः प्रकटीभूतरोषः, रमणीयधरणीधरसंनिधनिर्मितपर्णशालस्य, सहस्रजटनामधेयस्य जटिनः परिव्राजकस्य निकटे शतजटनामधेयः परिव्राजकोऽभवत् ।

[पृष्ठ ४३] धन्वन्तरिणा कृतोपदेशो विफलोऽभूत्—धन्वन्तरिरपि—आतापनयोगान्ते तस्य संबोधनाय जिनधर्मोपदेशदानाय समन्ते निकटे समुपसद्य गत्वाऽवददेवम्—"मत्प्रणयपान्थविश्रामारामविश्वानुलोम मत्प्रणयः मदीयः स्नेहः स एव पान्थः पथिकस्तस्य विश्रामाय मार्गश्रमापनोदाय, आराम इव उद्यानमिव, जिनधर्मस्थितिं जिनधर्माचारम् अजानन् किमित्यकाण्डे किमर्थमनवसरे चण्डभावम् अत्यन्तकोपम् आदाय धृत्वा दुराचारप्रधानः पञ्चाग्नितप आदिके जीवहिंसाबहुले मिथ्याचारे तत्परः समभूरजायथाः । तदेहि ततः आगच्छ विहायेमं दुःपथकथासनाथं कुमार्गाचारयुक्तं शमथावसथमनोरथं शम एव शमथः तस्य आवसथो गृहं तस्य मनोरथम् इमं विहाय त्यक्त्वा सहैव युगपदेव तपस्यावः" इति बहुशः अनेकधा कृतप्रयत्नप्रकाशोऽपि स धन्वन्तरिमुनिः प्रतिबोधयितुं तं विश्वानुलोमं नाशक्नोत् । कथंभूतं विश्वानुलोमम् । दुःशिक्षावशात् दुःखदमिथ्योपदेशवशात् तम् ओतुपोतरुतभीतपतङ्गपाकमिव ओतुर्मार्जारस्तस्य पोतः शिशुस्तस्य रुतं शब्दस्तच्छ्रवणाद् भीत-

श्चासौ पतङ्गस्य पक्षिण: पाक: अर्भकस्तमिव, मुधामौनमूकतोत्तरङ्गितचित्तोत्सेकं मुधामौनं विफलमौनं तेन मूकता अभाषणं तेन उत्तरङ्गितनानासंकल्पयुक्तं चित्तं तेन उत्सेको गर्वो यस्य तम्। तितउपात्र इति—यथा तितउपात्रे इव चालिनीभाजने यथा तन्मनोऽमत्रे तस्य विश्वानुलोमस्य मनोऽमत्रे चित्तभाजने अप्राप्तसदुपदेशपयोऽवस्थान: यथा चालिन्यां पयोऽवस्थानं जलस्य स्थितिर्न भवति ततस्तत्कृत्स्नम् निर्गलति तथा तस्य चित्तभाजने उपदेशपयसो अनवस्थिते: तम् उपदेष्टुमक्षमो धन्वन्तरि: गुरुचरणमूलम् अनुशील्य सेवित्वा कालेन समाधिमरणयोग्ये वार्द्धक्यसमये, प्रवचनोचितं भगवत्याराधनाद्यागमयोग्यं चरमाचरणाधिकृतम् अन्तिमाचरणं सल्लेखनाभिख्यं तेन अधिकृतं कायकषायौ संलिख्य क्रियमाणं समाधिमरणविधिं विधाय कृत्वा, विबुधेति—विबुधा देवास्तेषामङ्गनाजनस्तेन उच्चार्यमाणा पठ्यमाना चासौ मङ्गलपरम्परा "स्वस्त्यस्तु जीव जय नन्देति" आशीर्वचो घोषणं तया अनल्पे प्रचुरे अच्युतकल्पे तन्नामके षोडशस्वर्गे। समस्तेति—समस्ता: सकलाश्च ते सुरास्तेषां समाज: समूहस्तेन स्तूयमानं यन्महातपस्तस्मिन् परायणा तत्परा प्रतिभा मतिर्यस्य स्वपूर्वजन्मन्याचरितस्य तपसो विमर्शं कुर्वती प्रतिभा यस्येति अमितप्रभो नाम देवोऽभवत्। विश्वानुलोमोऽपि पुरोपार्जितेति—पूर्वजन्मनि बद्धस्य जीवितस्यायुषोऽवसाने चरमदशायां विपद्य मृत्वा, उत्पद्य च जनित्वा च व्यन्तरेषु द्वितीयनिकायदेवेषु गजानीकमध्ये हस्तिरूपधारिसैनिकमध्ये विजयनामधेयस्य देवस्य विद्युत्प्रभाभिधो वाहनदेवो बभूव। अमितप्रभविद्युत्प्रभयोरन्योन्यं संलाप:—पुनरेकदा पुरन्दरपुर:सरेण पुरन्दर इन्द्र: स अग्रसर: अग्रणीर्यस्य तेन दिविजवृन्देन दिवि स्वर्गे जायन्त इति दिविजास्तेषां वृन्दं समूहस्तेन देवसमूहेन सह नन्दीश्वरद्वीपात्तत्र चैत्यालयाश्रयां जिनबिम्बमन्दिराधिष्ठानाम् अष्टाह्नपर्वक्रियाम् अष्टदिनसंबन्धिनीम् उत्सवक्रियां जिनाभिषेकपूजादिक्रियां निर्वर्त्यागच्छन्, प्रवर्तयित्वा पुन: स्वर्गं प्रत्यागच्छन् असौ अमितप्रभो देवस्तं विद्युत्प्रभं देवं गजानीकम् अवेक्ष्य आह्लादमानमानस: प्रयुज्यावधिम् अवधिज्ञानेन ज्ञात्वेत्यर्थ:। अवबुद्ध: ज्ञात: पूर्ववृत्तान्त: पूर्वजन्मोदन्त: स: धन्वन्तरिचर: देव: इत्यभाषत—विद्युत्प्रभ, किं स्मरसि जन्मान्तरोदन्तं किं ज्ञायते पूर्वभवभवा प्रवृत्ति: त्वया। अमितप्रभ, बाढं स्मरामि भृशम् अत्यर्थं स्मरामि। किंतु सकलत्रचरित्राधिष्ठानात् कलत्रेण पत्न्या सह चरित्रं तपस्तस्य अधिष्ठानात् अवलम्बनात् ममैवंविध: कर्मविपाकानुरोध: कर्मोदयाद्भवप्राप्ति:। तव तु ब्रह्मचर्यवशात्कायक्लेशादीदृश:। ब्रह्मचर्यमाश्रित्य कृतात् कायक्लेशात् तपस: महती दैवी संपदिति भाव:। ये च मदीये समये सिद्धान्ताचारे प्रवृत्तिं कुर्वाणा जमदग्नि-मतङ्ग-पिङ्गल-कपिञ्जलादय: महर्षयस्ते तपोविशेषादिहागत्य भवतोऽपि अभ्यधिका महान्तो भविष्यन्ति। ततो न विस्मेतव्यम् न गर्व: करणीय:।

[पृष्ठ ४४-४५] अमितप्रभ:—विद्युत्प्रभ, संप्रत्यपि अधुनापि न मुञ्चसि न त्यजसि दुराग्रहम्। तदेहि तर्ह्यागच्छ। तव मम च लोकस्य परीक्षावहे चित्तं मन:परीक्षणं कुर्वहे। इति विहितविवादौ कृतमिथ:प्रतिज्ञौ। तौ द्वावपि देवौ करहाटदेशस्य पश्चिमदिग्भागमाश्रित्य काश्यपीतलं भूमितलम् अवतेरतु: नभसो भूतलम् अवतीर्णाविति भाव:। तत्रेति—दण्डकावने। कथंभूते। वनेचरेति—वने चरन्तीति वनेचरा: शबरा: तेषां सैन्यस्य सौजन्यं युद्धं सुजन्यम् एव सौजन्यं तेन अशून्यं सहितं तस्मिन्। तन्निकटदण्डकावने तस्य करहाटदेशस्य निकटे समीपस्थिते दण्डकावने। बदरिकाश्रमे बदरिकाश्रमनामधेये मुनीनां वासस्थाने जमदग्निम् अवलोक्य। कथंभूतम्। बहुलकालेति—अनेकवर्षशतसमयं यावत् कृतं कृच्छ्रं कठिनं तीव्रं तपो येन तम्। पुन: कथंभूतम्। चन्द्रेति—चन्द्रश्चन्द्रमाश्चण्डरुचि: सूर्यश्चण्डास्तीव्रा: रुचय: किरणा यस्येति सूर्याचन्द्रमसौ तयोर्मरीचय: किरणास्तेषां पानं तत्किरणसेवनमित्यर्थ:, तत्र परायणं मानसं मनो यस्य तम्। पुन: कथंभूतम्। ऊर्ध्वबाहुम् ऊर्ध्वीकृतकरम्। पुन: कथंभूतम्—एकेति—एकपादेन अवस्थानं स्थिति: तस्य आग्रहे राहुमिव, पुन: कथंभूतम्, अनल्पेति—अनल्पाश्च ते उल्लसन्त: सत्पल्लवाश्च किसलयानि तैर्युक्ता: अविरला: घना: या: वल्लय: गुल्माश्च अप्रकाण्डवृक्षा:, वल्मीका: वामलूरा: तै: अवरुद्धं व्याप्तं वपु: शरीरं यस्य, अतिप्रवृद्धेति—अतिप्रकर्षेण प्रवृद्धा या वृद्धता जरठभाव: सैव सुधा प्रासादधवलीकरणचूर्णं तेन धवलितं शुभ्रितं च तत् शिरो मस्तकम्, श्मश्रुकूर्चम्, जटाजालं जटासमूहश्च तेषां त्विषा कान्त्या युक्तम्, कश्यपस्य ऋषे: शिष्यं जमदग्निम्

अवलोक्य वीक्ष्य (तौ देवौ पक्षिद्वयवेषेण जमदग्निकूर्चे निविष्टौ इति कथा) पत्त्रेति—पत्त्ररथयोः पक्षिणोर्मिथुनं युगलं तस्य कथा वार्ता तस्या उचितः योग्यः आश्लेषः संबन्धः यत्र तं वेषं रूपं विरचय्य तदिति तस्य कूर्चे श्मश्रुणि कुलायकुटीरकोटरे नीडगृहरन्ध्रे निविष्टौ प्रविष्टौ (अन्योन्यं संलापं कुरुतः) कान्ते, प्रिये, काञ्चनेति—काञ्चनाचलो मेरुः, तस्य चमूसदृशी या मेखला शैलनितम्बस्तस्याम्, अशेषेति—सकलपक्षिचक्रपतेः वैनतेयस्य गरुडस्य, वातराजसुतया मदनकन्दलीति नामधेयं बिभ्रत्या समं महान् विवाहोत्सवो वर्तते। तत्र मयाऽवश्यं गन्तव्यम्, त्वं तु सखि प्रिये समासन्नप्रसवसमया अद्य श्वो वा प्रसविष्यसि डिम्भान् अतः न शक्यसे नेतुम्। कालस्य वेलायाः क्षेपो व्ययः यथा न स्यात्तथा अविलम्बम् अहं पुनस्तद्विवाहोत्सवानन्तरम् अकालक्षेपं शीघ्रमेवागमिष्यामि, यथा चाहं तत्र चिरं दीर्घकालं नावस्थास्ये न वसामि तथा मातुः पितुश्चोपरि महान्तः शपथाः (मयोच्यन्ते इति भावः) किं च बहुनोक्तेन, यद्यहमन्यथाऽसत्यं वदामि "तदास्य पापकर्मणस्तपस्विनो दुरितभागी पातकभाजनं स्याम्" इत्यालापं चक्रतुः। तं च जमदग्निः कर्णकटुमालापं भाषणम् आकर्ण्य श्रुत्वा प्रवृद्धक्रोधः इद्धकोपः कराभ्यां तत्कदर्थनार्थं तयोः पीडार्थं कूर्चं श्मश्रु मलितवान् मर्दितवान्। अमरचरौ भूतपूर्वसुरौ तौ विकिरौ अपि विहगावपि उड्डीय उत्पत्य तदग्रविटपिनि जमदग्निपुरतःस्थितवृक्षे संनिविश्य उपविश्य पुनरपि तं तापसं तपस्विनम् अवलोहलालापौ कृतनिन्दाभाषणौ व्यक्तस्वरौ वा निकामम् अत्यर्थम् उपजहसतुः उपहासं निन्यतुः। "तापसो जमदग्निः साध्वसं भयं विस्मयोऽद्भुतं तौ प्रति उपसृतं गतं मानसं यस्य स एवं विमर्शं चकार।" नैतौ खलु पक्षिणौ भवतः, किंतु रूपान्तरौ कृतवेषपरिवर्तनौ उमामहेश्वराविव पार्वतीपरमेश्वराविव कौचिद्देवविशेषौ तदुपगम्य तत्समीपं गत्वा प्रणम्य च पृच्छामि तावत् प्रथमं स्वस्य पापकर्महेतुम्। (वक्ष्यमाणोऽनुयोगस्तेन कृतः) अहो इति—मत्पूर्वपुण्येति मम पूर्वं पुण्यं मत्पूर्वपुण्यं तेन संपादितं लम्भितम् अवलोकनं दर्शनं यस्य, द्विजेषु पक्षिषु उत्तमाः द्विजोत्तमाः दिव्याश्च ते द्विजोत्तमाः दिव्यद्विजोत्तमास्तेषाम् अन्वयो वंशः स एव संभवसदनम् उत्पत्तिगृहं यस्य एतादृशं यत् पतङ्गयोः पक्षिणोर्मिथुनयुगलं तत्संबोधनम् "कथयतां भवन्तौ महानुभावौ कथमहं पापकर्मा इति।" पतत्रिणौ पक्षिणौ, आकर्णय—अपुत्रस्येति—यस्य पुत्रो नास्ति योऽविद्यमानपुत्रः पुरुषः तस्य गतिर्नास्ति पुनर्मनुष्यो न जायते। स्वर्गस्तु तस्य नैव। ततः पुत्रमुखं दृष्ट्वा पश्चाद्भिक्षुकश्चतुर्थाश्रमी भवति ॥१५२॥ अधीत्येति—यथाशास्त्रं वेदान् पठित्वा पुत्रांश्च युक्तितो ब्राह्मणेन ब्राह्मण्याम्, क्षत्रियेण क्षत्रियायाम्, वैश्येन वैश्यायां जनयित्वा धर्मपत्न्यां योग्यकाले समागमं कृत्वा यज्ञैः इष्ट्वा देवान् पूजयित्वा ततः यथाकालं चतुर्थे वयसि नरः प्रव्रजितो भवेत्। गृहं त्यक्त्वा वने दीक्षां गृहीत्वा वसेत् ॥१५३॥ इति स्मृतिकारकीर्तितं वृत्तम् अप्रमाणीकृत्य तद्विरुद्धाचरणेन त्वं तपस्यसि। कथं तर्हि मे शुभाः परलोकाः स्वर्गादयः। उत्तरमाह-परिणयनकरणादौरसपुत्रोत्पादनेन उद्वाह्य धर्मपत्न्याम् औरसपुत्रम् उत्पादयेत्। किमत्र दुष्करम् इत्यभिधाय मातुलस्येति मातुर्भ्राता तु मातुलः तस्य विजयामहादेव्याः भर्तुः इन्द्रनगरवैभवधारकस्य काशिराजस्य भूपालस्य भवनभाग्भूत्वा प्रासादं गत्वा, तद्दुहितरं तत्सुतां रेणुकां परिणीय विवाह्य, अविरलेति—अविरलाः सान्द्राः कलापाः गुच्छा उलपाः प्रतानिन्यः ताभिः युक्तेन पुलिनेन असराले वक्रे मन्दाकिनीकूले गङ्गातटे, महान्तम् आश्रमस्थानं संपाद्य परशुरामपिताभवत्। भवति चात्र श्लोकः।

[पृष्ठ ४६] अन्त इति—अन्तस्तत्त्वविहीनस्य अज्ञातात्मतत्त्वस्वरूपस्य अज्ञानिनः व्रतपालनपरिश्रमः वृथा विफलो भवति। केन हेतुना व्रतानां पालनं क्रियते तं हेतुमज्ञात्वा व्रताचरणं निष्फलं भवति। स्वभावभीरोः प्रकृत्यैव भयवतः नरस्य आयुधग्रहः शस्त्रग्रहणं वृथा विफलो भवति। स शौर्याय न स्यात् ॥१५४॥

इत्युपासकाध्ययने जमदग्नितपःप्रत्यवसादनो नाम पञ्चमः कल्पः।

६. प्रतिज्ञानिर्वाहसाहसो नाम षष्ठः कल्पः।

[पृष्ठ ४६-४८] पुनस्ताविति—पुनस्तौ त्रिदशौ देवौ मगधदेशेषु कुशाग्रनगरोपान्तापातिनि, कुशाग्रनगरं राजगृहनगरं तस्य उपान्ते समीपे आपातः अस्तित्वं यस्य तस्मिन् पितृवने श्मशाने कृष्णचतुर्दशीरात्रौ,

निशाप्रतिमाशयवशं सकलायां रात्रौ प्रतिमावज्जिनबिम्बवत् आशयः शरीरममतात्यागाभिप्रायः तस्य वशम् अधीनं रात्रिप्रतिमायोगधारिणम् एकाकिनम् अद्वितीयं जिनदत्ताभिधम् उपासकं श्रावकं विलोक्य साक्षेपं सनिन्दम् "अरे दुराचारस्य आचरणं तत्र मतिर्यस्य तत्संबोधनम्, निराकृते निर्गता आकृतिः शृङ्गारवेषो यस्मात्तस्य संबोधनम्, अज्ञातं परमात्मनः पदं येन तत्संबोधनम्, मनुष्यापसद मनुष्येषु अपसीदति निकृष्टं गच्छतीति मनुष्यापसदः तत्संबोधनं हे नराधम, शीघ्रमिमाम् ऊर्ध्वशोषम् ऊर्ध्वं शुष्यतीति ऊर्ध्वशोषो यथा स्यात्तथा शुष्ककीलकसदृशीं प्रतिमां कायोत्सर्गेणावस्थानं त्यक्त्वा पलायस्व न श्रेयस्करं हितकरं तवात्र श्मशाने अवसरं क्षणं पश्याव:। यस्मादावां हि एतस्याः अस्याः परेतपुरस्य श्मशानस्य भूयस्याः प्रभूतायाः भूमेः पिशाचपरमेश्वरौ स्वः। तस्मात्कारणात् अत्र श्मशाने कालसर्पावलोकनं कृत्वा प्रस्थानेन अवस्थानेन अलम् अस्मात् स्थानादन्यत्र गम्यताम् इति भावः। मा हीति—अतुच्छा विपुलाश्च ताः स्वच्छन्दकेलयः यथा मनोभिलषितक्रीडास्तासां कुतूहलानि कौतुकानि तान्येव बहुलानि अन्तःकरणे मनसि प्रसवानि पुष्पाणि ययोः तयोः आवयोः अन्तरायं मा कार्षीः मा कुरु। इत्युक्तमपि प्रकामप्रणिधानोद्युक्तमवेक्ष्य प्रकामम् अतिशयेन प्रणिधानं ध्यानैकाग्रता तस्मिन् उद्युक्तं तत्परम् अवेक्ष्य (तौ देवौ तस्योपसर्गं प्रत्यूहप्रबन्धैः चक्रतुः) न्यक्षतः सर्वासु दिक्षु। कीनाशेति-कीनाशो यमस्तस्य कासराः महिषास्तेषां निकायः समूहस्तस्य कायाः शरीराणि तद्वत् आकारो येषां ते घोरा भयानकाश्च ते घना मेघास्तेषां घस्मरो भक्षकः भयङ्कर इत्यर्थः। आडम्बरः एकत्रसंनिवेशः तस्य प्रथमं प्रारम्भम् आवहन्ति इति तैः प्रारम्भावहैः। पुनः कथंभूतैः। प्रचण्डेति—तडितः दण्डा इवेति तडिद्दण्डाः प्रचण्डाश्च ते तडिद्दण्डाः भीषणविद्युद्यष्टयः तेषां संघट्टः अन्योन्यसंघर्षणं तस्मात् उच्छलन्त उद्भवन्तश्च ते शब्दाश्च तेषां संदोहः समूहस्तस्माद् दुस्सहैः। निःसीमेति—निःसीमः मर्यादाम् अतिक्रामंश्चासौ समीरश्च वातः तस्य असराला महान्तश्च ते सूत्कारशब्दास्तैः सहासारः मेघानां सततं धारापातस्तेन धवलैः शुभ्रैः। पुनः कथंभूतैः। प्रत्यूहप्रबन्धैः, करालेति—करालाः क्रूराश्च ते वेताला व्यन्तरदेवविशेषास्तेषां कुलं समूहस्तस्य काहलाः वाद्यविशेषास्तेषां कोलाहलाः शब्दास्तैरनुकूलास्तैः अन्यसामान्यैः इतरसदृशैः अन्यैश्च प्रत्यूहप्रबन्धैः विघ्नपरम्पराभिः। कथंभूतैः। परिगृहीतेति—परिगृहीतः अवलम्बितो गृहदाहः गृहस्य आसमन्तात् दाहः अग्निप्रज्वलनम्, बान्धवानां धनानां च विध्वंसानुबन्धस्तैः विनाशप्रबन्धैः विघ्नसमूहैः, सबहुमानैः प्रभूतादरसहितैः तैस्तैर्वरप्रदानैः मनोभिलषितवस्तुदानैश्च। विहितविघ्नौ अपि कृतान्तरायौ कियत्कालं विहितविघ्नौ। निःशेषामप्युषां रात्रेरन्तं यावत्, अध्यात्मेति—आत्मानम् अधिकृत्य वर्तते इति अध्यात्म स चासौ समाधिश्च अध्यात्मसमाधिः अध्यात्मस्वरूपैकाग्रता तस्य निरोधस्तस्मिन् निघ्नौ अधीनौ। कथंभूतं जिनदत्तश्रेष्ठिनं देवौ चालयितुं न शेकतुः। तमिति—एकाग्रभावस्य अभ्यासेन आत्मसात्कृतं निजाधीनं कृतम् अन्तःकरणस्य मनसः, बहिःकरणानां स्पर्शनादीनां च ईहितम् अभिप्रायो येन तम्, शर्मेति—शर्म सुखं तदेव हर्म्यं प्रासादः तस्य निर्माणे रचनायां क्षमा ये कार्मणपरमाणवः तेषां प्रबन्धनात् धर्मध्यानात् प्रबन्धनं यस्माद् भवति तस्मात् धर्मध्यानात्। (प्रभातसमये देवाभ्यां जिनदत्ताय विद्या दत्तेति वर्णयति) संजाते च प्रभातसमये सूर्योदयसमये। कथंभूते। खरेति—खरास्तीक्ष्णाः किरणाः रश्मयो यस्य स खरकिरणः सूर्यस्तस्य विरोकाः करास्तेषां निकरः समूहस्तस्मान्निराकृतः अन्धकारस्य उदयः येन तस्मिन्, समुपहृतोपसर्गवर्गौ समुपहृतः अपाकृतः उपसर्गाणाम् उपद्रवाणां वर्गः समूहः याभ्यां तौ पुनः कथंभूतौ, प्रकाशं प्रकटं प्रसन्नः सर्गः स्वभावो ययोस्तौ। तैस्तैर्महाभागोचितैः महाभाग्यवतां योग्यैः प्रणयोदितैः प्रेमभाषणैः, तं जिनदत्तम् आश्लाघ्य प्रशस्य, तस्मै विहायोपविहाराय आकाशे विहरणाय, पञ्चत्रिंशद्वर्णां पञ्चत्रिंशदक्षरसहितां विद्यां वितेरतुर्ददतुः। इयं हि यस्मात्कारणात् तव अस्मदनुग्रहात् अस्मन्मनःप्रसादात् अम्बरविहाराय नभोगमनाय असंसाधितापि विधिपूर्वकं विनापि साधिता तव भविष्यति। परं परेषां तु अस्माद्विधेः एतस्मादुपायात् (वक्ष्यमाणात्) लभ्येत। (जिनदत्तोऽपि तां विद्यां प्रतिपद्य वरसेनाय प्रादादिति दर्शयति) कथंभूतो जिनदत्तः। कुलेति—कुलं जनपदः जनपदविभाजकाः शैलाः कुलशैला उच्यन्ते। तेषां कुलशैलानां शिखण्डानीव मयूरशिखा इव मण्डनभूतानि भूषणभूतानि जिनायतनानि तेषाम् अवलोकने कुतूहलितः कुतूहलं संजातमस्मिन् इति आश्चर्यभूतः आशयोऽभिप्रायो यस्य। पुनः

कथंभूतः समाचरितेति—समाचरितः विहितः अमरानुवर्तनसमयः देवप्रतिपादितसंकेतो येन सः, पुनः कथंभूतः। तां विद्यां प्रतिपद्य अङ्गीकृत्य, हृदयेति—हृदये दर्शनस्य उत्सवाय समानीताः निखिलाः सकलाः अचलाः अकृत्रिमाः चैत्यालयाः येन स जिनदत्तः, तेषाम अवलोकनस्य प्रेक्षणस्य कौतुकं यस्य तस्मै धरसेनाय, परमेति-परमः उत्कृष्टः निर्दोषः स चासावाप्तश्च तस्य उपासने पटवे निपुणाय पुष्पबटवे तां प्रादात् ददौ। (अमितप्रभः विद्युत्प्रभं वदति) विद्युत्प्रभ, अयं जिनदत्तः अतीव अर्हदभिमतवस्तुपरिणतचित्तः, अर्हतो जिनेन्द्रभगवतः अभिमतानि मान्यानि यानि वस्तूनि तेषु परिणतचित्तः दृढम् अभिनिविष्टमनाः स्वभावादेव च स्थिरमतिः निश्चलबुद्धिः अशेषोपसर्गसहनप्रकृतिश्च सकलचतुर्विधोपसर्गसहनस्वभावश्च। ततस्मात्कारणात् अत्र जिनदत्ते महदपि अकृतम् अकृत्यं कुलिशे वज्रे घुणकोटचेष्टितमिव काष्ठकृमिव्यापार इव न भवति समर्थम्। अतोऽन्यमेव कंचन अभिनवजिनोपासनायतनचैतन्यम् अभिनवा नूतना या जिनोपासना जिनभक्तिः तस्या आयतनं गृहं चैतन्यं यस्य एतादृशं कंचन जनं निकषावः आवां परीक्षावहे। अन्यं कंचन परीक्षावहे इति विमृश्योच्चलिताभ्यां ताभ्यां पद्मरथो नाम राजा दृष्ट उपसृष्टश्चेति कविर्वर्णयति। कथंभूतः नृपः। मगधमण्डलमण्डनसनाथः मगधदेशभूषणः प्रभुत्वविशिष्टश्च मिथिलापुरीनाथः पद्मरथो नाम नरपतिः (स च सुधर्माचार्यात् साणुव्रतं सम्यग्दर्शनं बभारेति वर्णयति) कथंभूतादाचार्यात्। निजेति—निजमिथिलानगरसमीपपर्वते वृत्तो निसर्गरचितो देहः शरीरं यस्याः तस्यां कालाभिधायां गुहायां निवासे प्रोतं चित्तं यस्य तस्मात्। पुनः कथंभूतात्। दीप्तं तपो यस्य दीप्ततपऋद्धिधारिणः, पुनः कथंभूतात्? निःशेषेति—निःशेषाः सकलास्ते च ते अनिमिषा देवास्तेषां परिषत् सभा तया निपेव्यमाणम् आद्रियमाणम् आचरणचातुर्यं यस्य स तस्मात् सुधर्माचार्यात्, तदङ्गेति—तस्य सुधर्माचार्यस्य अङ्गानां हस्तपादमुखाद्यवयवानाम् अद्भुतप्रभायाः विस्मयकारिण्याः कान्तेः प्रभावस्य माहात्म्यस्य दर्शनेन उपशान्ताभिप्रायः संजातभक्तिपराशयः, अणुव्रताधारं सम्यग्दर्शनम् आदाय गृहीत्वा तस्मिन्नेव दिने सुधर्माचार्योपदेशात् निश्चितेति—निश्चितः अर्हत्परमेश्वरशरीरस्य निरतिशयः तारतम्यरहितः प्रकाशमहिमा कान्तिमाहात्म्यं येन सः, कृतनियमः धृतव्रतप्रतिज्ञः वासुपूज्यभगवन्तं तन्नामकं द्वादशं जिनं वसुपूज्यनृपतिसुतं भगवन्तं पूज्यं केवलज्ञानिनम्, कथंभूतम्? सकलेति—सकलाश्च ते भुवनपतयः इन्द्रधरणेन्द्रचक्रवर्तिनः तैः स्तूयमानाः ईड्यमानाश्च ते गुणगणाः क्षायिकसम्यग्दृष्ट्यादिनवकेवललब्धयस्तेषाम् उदन्तः प्रवृत्तिर्यस्य तम् उपासितुं यष्टुं पूजयितुं प्रतिष्ठमानःप्रयाणं कुर्वन्, प्रमदेति—प्रमदो मोदस्तेन युक्तो नादः प्रमदनादः आनन्दजनकनादेन सुन्दराणां दुन्दुभीनाम् आनकानां रवैः शब्दैः आकारिता आहूता निरवशेषाः निःशेषाः परिजनाः बन्धुभृत्यादयो येन सः, समासजत् इति समासजन्तो संबन्धम् आयान्ती समस्तविष्टपे निखिलभुवने इति समस्तविष्टपविशिष्टदृष्टचेष्टः विशिष्टा अनन्यजनसाधारणा दृष्टा चेष्टा प्रवृत्तिर्यस्य सः। स च दृष्टः कदाचिदपि कस्मिंश्चित्समये क्षुद्रोपद्रवात् क्षुद्रबाधायाः विप्रलब्धः वञ्चितः, रहितः। (अतो देवाभ्यां महोपद्रवैरुपद्रोतुं प्रारब्धः।) पुरेति-पुरप्लोषो अग्निना नगरदाहः, अन्तःपुरविध्वंसः अन्तःपुरे निशान्ते स्थितानां राजस्त्रीणां विध्वंसः मृत्यादिना नाशः, वरूथिन्याः सेनायाः मथनं वधबन्धनादिकम्, प्रसभस्तीव्रः स चासौ प्रभञ्जनश्च वायुस्तेन ऊर्जितः प्रबलश्चासौ पर्जन्यः जलवृष्टिः, परुषाः कठोराः वर्षोपलाः करकाः आसारः जलधारासंपातः, आदीनां वसतिर्निवासो यासु ताभिः, दुर्दमाः दुःखेन दमो वशीकरणं येषां ते च ते शार्दूला व्याघ्रास्तेषाम् उत्तराकृतयः ताभिः विकृतिभिः उत्तरविक्रियाभिरित्यर्थः। उपद्रोतुं पीडयितुं प्रारब्धो नृपः। तथापि अविचलितं निर्भयं चेतो मनो यस्य तम् अवसाय ज्ञात्वा, सनरवरं सनृपं कुञ्जरं करिणं मायामयप्रतिघे, मायामयः प्रतिघः क्रोधो विघ्नं वा यस्मिन्, अस्ताघे अस्तं नष्टम् अघं गाधं यस्मात् तस्मिन्, व्याप्ता निरुद्धाः अखिलाः दिशः आरामा उपवनानि, तेषां संगमो यस्मिन्, एतादृशे कर्दमे पङ्के निमज्जयद्भ्यां निमज्जनं कारयद्भ्यां ताभ्यां देवाभ्याम्। नभ इति—सुरा देवाः असुरा भवनत्रिकवासिनो देवाश्च तैः कृताः ये उपसर्गा उपद्रवास्तेषां संगस्य संबन्धस्य सूदनं विनाशस्तस्य अभिधानमात्रं शब्दमात्रं स एव मन्त्रः तस्य माहात्म्यं प्रभावस्तस्य साम्राज्यं यस्य तस्मै "श्रीवासुपूज्याय नमः" इति एवं तत्र कर्दमे निमज्जतः बुडतः भूभृतो भुवं बिभर्ति इति भूभृत् तस्य नृपस्य वचनम् आकर्ण्य। तदिति—तस्य नृपस्य धैर्योत्कर्षात् उन्मिषंश्चासौ तोषश्च प्रादुर्भवदानन्दः मनीषा च बुद्धिस्तयोः

प्रसरः ययोः ताभ्यां देवाभ्याम्। पुनः कथंभूताभ्याम् ? लघ्विति—लघु झटिति परिमुषितः विनाशितः अशेषाः सकलाः विघ्नाः तेषां व्यतिकरः प्रसंगः याभ्याम्। पुनः कथंभूताभ्याम्। आचरितेति—कृतादराभ्याम्। (देवाभ्यां वक्ष्यमाणं वचनम् उक्त्वा ततः प्रास्थायि) अहो राजन् नूतनस्य सम्यग्दर्शनमणेः अच्छच निर्मल-सदनमार्ग पद्मरथ, नैतदाश्चर्यम् अत्र यद्यस्मात्कारणात् संशाः प्रतिज्ञा सत्त्वं धैर्यं ताभ्यां युक्तेषु असदृशेषु अनुपमेषु भवादृशेषु अखिलैरपि लोकैः क्रियमाणाः न प्रभवन्ति क्षमा न भवन्ति प्रसभप्रसवाः तीव्रोत्पत्तयः क्षुद्रो-पद्रवाः। यतः। एकापीति—इयम् एकापि जिनभक्तिः कृतिनः कृतं प्रशस्तं कर्म अस्यास्तीति कृती तस्य कृतिनः निपुणस्य पण्डितस्य, दुर्गतिं निवारयितुं समर्था, पुण्यानि च पूरयितुं संचेतुं समर्था कुशला। मुक्तिश्रियं च दातुं समर्था दक्षा ॥१५५॥

[पृष्ठ ४९] इति निगोर्य उक्त्वा, जिनमताराधनाधीने भवद्वंशे सर्वरोगापनोदं कुर्वन्नयं हारः, सकलशत्रुसंततिं च्छेत्तुं योग्यं चैतदातोद्यं वाद्यं च प्रेषणं सेवां करिष्यतीति कृतसंकथाभ्यां कृतसंभाषणाभ्यां ताभ्याम् अभीष्टस्थानं प्रास्थायि अगम्यत। त्रिदशेश्वरेति—त्रिदशानां तृतीया यौवनाख्या दशा येषां ते त्रिदशा देवाः तेषाम् ईश्वरः त्रिदशेश्वरः तस्य वदनान्मुखात् जृम्भमाणा वर्द्धमाना गुणानां संकथा स्तुतिर्यस्य स पद्मरथोऽपि तत्तीर्थकृतो वासुपूज्यस्य गणधरपदाधिकारी भूत्वा कृत्वा चात्मानम् अनूनं पूर्णं च तद्रत्नत्रयं सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि तत्तन्त्रं तदधीनं मोक्षामृतपात्रम् अजायत। भवति चात्र श्लोकः—उररीकृतेति—उररीकृते स्वीकारिते च ते निर्वाहसाहसे तयोर्विषये उचितं चेतः येषाम् ते उररीकृतनिर्वाहसाहसोचितचेतसः तेषाम्। प्रारब्धस्यान्तगमनं निर्वाहः, धैर्येण यत् क्रियते कार्यं तत्साहसमिति। निर्वाहसाहसगुणधारिणाम् इहपरलोकौ कामदुघौ इष्टदानदक्षौ स्याताम्। कीर्तिश्च कामधुग् भवति। तेषां नराणां जगत्त्रयमेतत् अल्पं प्रतिभाति। "कीर्तेश्चाल्यं जगत्त्रयम्" इत्यपि पाठः। कीर्तेः एतत् जगत्त्रयं चाल्यं चालयितुं योग्यं भवति इति भावः।

इत्युपासकाध्ययने जिनदत्तस्य पद्मरथपृथ्वीनाथस्य च प्रतिज्ञानिर्वाहसाहसो नाम षष्ठः कल्पः।

७. निःशङ्कितत्तत्त्वप्रकाशनो नाम सप्तमः कल्पः।

[पृष्ठ ४९] इतश्च संगमितसकलोपकरणसेनः संगमिता एकत्रीकृता सकलानाम् उपकरणानां साधनानां सेना समूहो येन सः धरसेनोऽपि, अतुच्छेति—अतुच्छा विपुला भूरुहच्छाया वृक्षानातपः तेन अवन्ध्ये सफले आनन्दप्रदे पर्वदिवसेति चतुर्दशीरात्रिमध्ये सर्वतः सर्वदिग्भ्यः। यातुधानेति—यातुधाना रक्षांसि तेषां धावनं प्रवर्धते यासु तासु श्मशानभूमिषु। प्रवर्तितेति—प्रवर्तितं संपादितं तदाराधनोचितमण्डलं येन, न्यक्षासु सर्वासु दिक्षु दिशासु, निक्षिप्तरक्षाबलः स्थापितरक्षामण्डलः अवगणः एककः, कृतसकलीकरणः कृत-दिग्बन्धनाङ्गशुद्ध्यादिकार्यः भागधेयोविधानसमये बल्यर्पणसमये वटविटपाग्रे वटवृक्षशाखाग्रे पतिंवरेति—पतिंवरा कन्या तया निजकरेण कर्तितानि यानि सूत्राणि तन्तवः तेषां सहस्रं तेन संपादितं रचितम्। पुनः कथंभूतं सिक्यम्। आत्मेति—आत्मासनं निजोपवेशनं तेन समानं सदृशं यत् अन्तरालं मध्ये स्थानं तत्र उचितं योग्यम् सिक्यं निबध्य, अन्तरिति—अन्तः मनसि यो जल्पः पठनं तेन संकल्पितानि विमृशितानि मन्त्रवाक्यानि येन सः, पुनः कथंभूतो धरसेनः। प्रबन्धनात् सिक्यादधस्तात् ऊर्ध्वेति—ऊर्ध्वमुखानि उपरि वदनानि कृत्वा विन्यस्तानि स्थापितानि निशितानि तीक्ष्णानि अशेषशस्त्राणि सकलप्रहरणानि येन सः। पुनः कथंभूतः। बहिरिति—बहिर्मण्डलाद्बाह्ये निवेशिताः स्थापिता अष्टविधाः इष्टिसिद्धयः पूजासिद्धयो येन सः, अमुना प्रकारेण स धरसेनः यथाशास्त्रं मन्त्रशास्त्रमनुसृत्य तद्विद्याराधनसमृद्धिः सा चासौ विद्या च तद्विद्या आकाशविहारविद्या तस्या आराधने समृद्धबुद्धिः परिपूर्णमतिर्बभूव। सन्नद्धो जज्ञे इति भावः। अत्रान्तरे एत-स्मिन् प्रस्तावे कथान्तरं वर्तते। तद्यथा—

[पृष्ठ ५०–५२] अञ्जनसुन्दर्याञ्जनचौरः किलैवमुक्तः—निष्कारणेति निष्कारणं विना हेतुं कलिं करोतीति कलिकारिणी कलहं कुर्वन्ती या अञ्जनसुन्दरी नाम वेश्या तया स अञ्जनचोर एवं भाषितः।

कस्मिन्समये भाषितः । निशीथेति—निशीथो अर्धरात्रः तस्य पथवर्ति मार्गवर्ति वीक्षणं यत्र तस्मिन् क्षपाक्षणे निशासमये । अञ्जनचोरः कस्य सुतः । विश्रियते—मध्यदेशे प्रसिद्धविजयपुरस्वामिनः, कथंभूतस्य । सुन्दरीमहादेव्या विलासी पतिः तस्य, स्वकीयेति–स्वकीयो निजः स चासौ प्रतापो विक्रमः स एव बहुलवाहनोऽग्निः तस्मिन् आहुतीकृता प्रक्षिप्ता अरातीनां शत्रूणां समितिः समूहो येन तस्य, अरिमन्थमहीपतेः ललितो नाम सुतः पुत्रः, पुनः कथंभूतः । समस्तेति—सकलद्यूतादिव्यसनसप्तकलम्पटत्वात् दायादाः सपिण्डाः ते च ते क्रव्यादा राक्षसास्तैः संपादितः साम्राज्यपदे अपायो यस्य सः । परम् उपायं परां गतिम् अवीक्षमाणः । अदृश्येति–अदृश्यो येन अक्तेन नरो भवति तदञ्जनम् अदृश्याञ्जनमुच्यते तेन अदृश्याञ्जनेन आवर्जिता लब्धा ऊर्जिता बलवती उन्नतिं प्राप्ता प्रज्ञा मतिर्यस्य सः । प्रतीतेति—प्रसिद्धाञ्जनचोरापरनामा किलैवम् अञ्जनसुन्दर्या भाषितः—कुशाग्रपुरेति—कुशाग्रपुरं राजगृहं तस्य परमेश्वरस्य स्वामिनो या अग्रमहिषी प्रधानराज्ञी स्ताविषी नाम तस्याः सौभाग्यरत्नाकरं नाम कण्ठालङ्कारं ग्रीवाभूषणं यदि चेत् आनीय मह्यं प्रयच्छसि तदा त्वं मे कान्तः प्रियः, अन्यथा नो चेत् प्रणयान्तः प्रीतिविनाशः स्यादिति । सोऽपि कियद्गहनमेतत् । न किमपि कठिनम् इत्युदाहृत्य उक्त्वा प्रियतमाया वल्लभतमाया मनोरथम् अभिलाषम् अन्वर्थकं सफलं चिकीर्षुः कर्तुमिच्छुः । निजेति—निजा चासौ छाया प्रतिबिम्बं तस्या अदृश्यताकरणं शीलं यस्य तत्कज्जलं बहुलं यत्र तथावस्थितं लोचनयोर्नेत्रयोर्युगलं युगं विधाय कृत्वा, प्रयाय च गत्वा च तन्महीश्वरगृहम् तन्नृपतिप्रासादम् । गृहीतेति—मुषिततद्भूषणः । तत्प्रभेति—तत्कान्तिप्रसरणेन अवगतपदसंचारः, शब्दैः शस्त्रैश्च उत्तालं वाचालम् आननं कराश्च येषां तैः तलवरस्य कोट्टपालस्य अनुचरैः किङ्करैः अभियुक्तो अभिद्रुतः । निस्तरीतुं तान् वञ्चयित्वा गन्तुम् अक्षमः, परित्यज्य तद्रत्नाभरणम् इतस्ततो नगरबाह्ये प्रदेशे विहरन्, प्रदीपेति—प्रदीपकान्तिवशात् अधःस्थापितास्त्ररचनाभीतेः पुनः पुनः उत्तरणावतरणे आवहतीति तादृशा देहेन खिन्नं धरसेनं वीक्ष्य, गत्वा च तं देशम् एवं निर्दिदेश अकथयत् । अहो प्रलयेति—कल्पान्तकालतमोव्याप्तायाम् अस्यां वेलायां समयेऽस्मिन् महासाहसिकवृषन् महासाहसं कुर्वत्सु वृषन् प्रधान, दुष्कर्मकारिन्, कठिनकार्यकारिन्, को नाम भवान् । धरसेनः—कल्याणमित्र महाभाग्ययुक्तं वृत्तं चारित्रं यस्य तस्य जिनदत्तस्य विदितः पुष्पबटुरिति नियोगस्य संबन्धो यत्र, पूजासमये पुष्पानयनकार्ये नियुक्तिसंबन्धो यस्य सोऽहम् एतदुपदेशात् आकाशविहारव्यवहारे निषद्या प्रवृत्तिर्यस्याः तां विद्यां साधयितुमिच्छन् अत्र अयासिषम्—अहम् आगतः । अञ्जनचौरः—कथमियं साध्यते । धरसेनः—कथयामि । पूजोपचारनिषेक्ये शिक्ये पूजोपचारस्य गन्धाक्षतादेः निषेकस्य क्षेपणस्य योग्ये अस्मिन् शिक्ये निःशङ्कं निर्भयम् उपविश्य इमां विद्याम् अकुण्ठकण्ठम् अविरामं कण्ठेन पठन्, एकैकं शरप्रवेकं सिक्यकदर्भग्रथितसूत्रं स्वच्छधीः निर्मलमतिः छिन्द्यात् । अवसाने गगनगमनेन युज्यते । यद्येवम् अपसर अपसर एतत्कार्यात् विरम विरम । त्वं हि तलोन्मुखेति—तले भूमितले उपरि अग्राणि कृत्वा विन्यस्ततीक्ष्णशस्त्रावलोकनजातभीतबुद्धिः न खलु विद्यां साधयितुं समर्थो भवसि । यतो यज्ञोपवीतदर्शनेन धनसंपादनकृतार्थः धनार्जनकार्ये त्वं समर्थः । तस्मात् कारणात् भाषस्व मे यथार्थोपायमनोरमां विद्याम् । साधयामि एनाम् । ततस्तेनेति—आत्महिताय अरोचमाणेन पुष्पबटुना सम्यग् उपायैः सह दत्तविद्यः सम्यग्ज्ञातज्ञातव्यः, संपत्त्या सम्यग्ज्ञानेन, निकटमुक्तिगृहः अञ्जनचोरः (एवं निश्चितवान्) स्वप्नेऽपि अन्यप्रतारणाचारपरावृत्तमनाः जिनदत्तः, स खलु महताम् अपि महान्, आदरणीयानामपि आदरणीयः, स्वीकृतश्रावकव्रतपालनतत्परः, प्राणिमात्रस्यापि नान्यथा चिन्तयति, किं पुनः विहितप्रीतेः पुत्रसाधारणतया पालितस्य धरसेनस्य अस्य अन्यथा चिन्तयेत् । इति निश्चित्य उपविश्य च सोत्कण्ठं सिक्ये । निःशङ्केति—निःसंशयमतिः स्वकीयेति—निजसाहसोद्योगप्रमोदितसुरासुरसमूहः युगपदेव तद्दर्भसूत्रसमूहं छिनत्ति स्म, आससादेति—संप्राप च नभश्चरपदम् । पुनर्यत्र जिनदत्तस्तत्र मे गतिर्भूयादिति कृताभिलाषः, काञ्चनाचलेति—सुवर्णपर्वततटनिवासिनि सौमनसवनशालिनि जिनगृहे जिनदत्तस्य धर्मश्रवणकृतः गुरुदेवाभिधस्य भगवतः पूज्यस्य सन्निधौ तपो गृहीत्वा अञ्जनचौरो मुक्तो बभूव । कथंभूतः सः । विज्ञातसकलाप्तोपदेशस्वरूपः ऐतिह्यं नाम आप्तोपदेशः जिनागमः । हिमवदिति—हिमवत्पर्वतशिखरे प्रादुर्भूतकेवलबोधः । कैलासेति—कैलासकेसरवनगतः मुक्तिरमासमागमासक्तभोगगृहं बभूव । भवति चात्र श्लोकः—क्षत्रपुत्रेति—

अक्षविक्षिप्तः इन्द्रियविषयलम्पटः, शिक्षितेति—अधीतादृश्यकज्जलविद्यः, क्षत्रपुत्रः राजपुत्रः निशङ्कः निर्भयः संदेहरहितदृढसम्यग्दर्शनः अञ्जनचोरः अन्तरिक्षगतिं नभोगमनं प्राप ॥ १५७ ॥

इत्युपासकाध्ययने निःशङ्कितत्त्वप्रकाशनो नाम सप्तमः कल्पः ॥७॥

८. निष्काङ्क्षिततत्त्वावेक्षणो नामाऽष्टमः कल्पः ।

[पृष्ठ ५२-५४] (निष्कांक्षिताङ्गलक्षणम्) स्यामिति—यदि सम्यग्दर्शनस्य माहात्म्यं प्रभावो विद्येत तर्हि अहं देवः स्यां भवेयम् । यक्षः स्यां भवेयं वा वसुमत्याः पृथ्व्याः पतिर्नृपो भवेयम् इतीच्छां वर्जयेत् ॥१५८॥ उदश्विता तक्रेण माणिक्यं यथा भवजैः सांसारिकैः सुखैः सम्यक्त्वस्य विक्रयं कुर्वाणः नरः केवलं स्वस्य वञ्चकः प्रतारकः भवेत् ॥१५९॥ यस्य चित्ते मनसि चिन्तामणिः, यस्य हस्ते सुरद्रुमः कल्पतरुः । यस्य धने कामधेनुस्तस्य कः याचनाक्रमः । सम्यक्त्वं खलु चिन्तामणिः, कल्पतरुकामधेनुसमं विद्यते अतः विनापि प्रार्थनां सर्वं सम्यग्दृष्टिर्लभते इति ज्ञात्वा तेन इच्छा त्याज्येति तात्पर्यम् ॥१६०॥ उचिते स्थानके धर्मलक्षणे यस्य मनोवृत्तिः अनाकुला भवजसुखेषु च निःस्पृहा विद्यते तस्य सा स्थानके स्थितेति उच्यते अनाकुलं सम्यग्दृष्टिजनं प्रति समुद्रं नद्य इव श्रियः स्वयमायान्ति॥१६१॥तदिति—मिथ्यादर्शनोदयान्मनस्युद्भूताम् । इह परलोके च समुद्भूतां त्रिविधाम् आकाङ्क्षां देवयक्षराजोद्भवाम् । सम्यग्दर्शननिर्मलतायै परित्यजेत् ॥१६२॥ श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—अत्र निष्कांक्षिताङ्गे उपाख्यानं सम्यग्दृष्टिकथा आकर्ण्यताम् । अङ्गमण्डलेषु अङ्गाख्यदेशेषु, चम्पायां पुरि नगर्यां कथंभूतायाम् । समस्तेति—समस्ताश्च ते सपत्नाः शत्रवस्तेषां समरो युद्धं तस्य समारम्भे प्रारम्भे जाते सति निष्प्रकम्पायां वेपथुरहितायाम् निर्भयायाम्, वस्विति—वसुवर्धन इति उचितम् अन्वर्थं नाम यस्य तस्य वसुधापतेः वसु धनं रत्नादिनिधानं तद्दधातीति वसुधा तस्याः पतिर्वसुधापतिर्नृपस्तस्य, पुनः कथंभूतस्य । लक्ष्मीति—लक्ष्मीमतिमहाराज्ञी नामधेया तस्याः दयितस्य वल्लभस्य, प्रियदत्तनामा श्रेष्ठी आसीत् । कथंभूतः । निरवशेषेति—निरवशेषाः सकलाः ते च वैदेहका वैश्याः तेषु वरिष्ठः श्रेष्ठः, (स अङ्गवतीनाम्ना पत्न्या सह जिनालयं यियासुः अनङ्गमतिमेवम् अपृच्छत् ।) अङ्गवतीनाम्ना पत्न्या सह कथंभूतया । गृहेति—गृहलक्ष्म्याः सपत्नी तया, पुनः कथंभूतया । सकलेति—समस्तस्त्रीगुणगृहभूतया, अह्नाय शीघ्रम् । प्राह्णे पूर्वाह्णे । अष्टाह्नीति—अष्टानाम् अह्नां समाहारः अष्टाह्नी तस्याम् क्रियाणां पूजाभिषेकधर्मोपदेशादिकानां करणाय। अभ्रेति—अभ्राणि कषन्ति इति अभ्रङ्कषाणि मेघस्पर्शीनि तानि च तानि कूटानि च शिखराणि तेषां कोटयोऽग्राणि तेषु घटिताः स्थापिता याः पताकाः क्षुद्रध्वजाः, तासां पटानां वस्त्राणां प्रतानाञ्चला विस्तृता अञ्चलाः वस्त्रान्तास्तेषां जालाः समूहाः तैः स्खलितं प्रतिहतं निलिम्पानां देवानां विमानवलयं येन तत् सहस्रकूटचैत्यालयं यियासुः गन्तुमिच्छुकः । स्वकीयसुतावयस्यां निजपुत्रीसखीम् अनङ्गमतिम् एवम् अपृच्छत् अब्रवीत् । वत्सेति, अभिनवेति च बाले अभिनवानि नूतनानि विवाहभूषणानि तैः सुभगौ सुन्दरौ हस्तौ यस्यास्तत्संबोधनम्, क्वास्ते कुत्र तिष्ठति । समुल्लिखितेति—समुल्लिखितं प्रोज्झितं लाञ्छनं यस्मात् स चासौ इन्दुश्चन्द्रस्तद्वदिव सुन्दरं मुखं यस्याः सा प्रियसखी वल्लभाली तव अतीव केलिशीलप्रकृतिः क्रीडापरायणा प्रकृतिः स्वभावो यस्याः सा अनन्तमतिः । अनङ्गमतिः—तात, वणिगिति—वणिक्षु वैश्येषु वृन्दारको मुख्यस्तस्य दारिका कन्या तया उद्गीयमानम् उच्चैरुच्यमानं मङ्गलं यदर्थं सा, कृत्रिमपुत्रकरूपो वरस्तस्य व्याजेन निमित्तेन । आत्मेति—आत्मनः स्वस्य परिणयस्य विवाहस्य आचरणं विधानं तस्य परिणामेनाभिप्रायेण पेशला सुन्दरा । पञ्जरेति—पञ्जरेषु आस्थिताः अध्युषिता ये शुकास्सारिकाश्च तेषां वदनशब्दा एव वाद्यानि तैः सुन्दरे मनोहरे वासावासपरिसरे निवासगृहप्राङ्गणे समास्ते तिष्ठति । समाहूयतामितः, यथादिशति तातः । प्रियदत्तश्रेष्ठी—वृद्धभावात् परिहासो नर्म तद्विषयकः आलापः भाषणं तत्र परमेष्ठी चतुरः, समागतां सुतामवलोक्य पुत्रि, तव हृदये सम्प्रत्येव अधुनैव मन्मथपथाः काममार्गाः, परिणयनमनोरथाः विवाहाभिलाषाः । कथंभूते हृदये । निसर्गेति—निसर्गेण प्रकृत्या विलासः वल्लभावलोकनम् तस्य रसेन शृङ्गारेण

उत्तरङ्गा उच्छलन्तः ये अपाङ्गाः कटाक्षाः तैः अपहसितं च तदमृतं तस्य सरणिर्मार्गस्तस्य विषयस्तस्मिन्, सदा पाञ्चालिका कृत्रिमपुत्रिका तया सह केलिः क्रीडा तस्यां किल रतं हृदयं तस्मिन् । तद्गृह्यतां तावत् सकलव्रतेषु ऐश्वर्येण प्रभावेण वर्यं । श्रेष्ठं ब्रह्मचर्यम् । अत्र अस्मिन् व्रते, भगवान् पूज्यः । अशेषेति-सकलागमप्रकाशनाभिप्रायभूरिः धर्मकीर्तिसूरिः । अनन्तमतिः—तात नितान्तं सर्वथा गृहीतवत्यस्मि एतद्ब्रह्मचर्यव्रतम् । न केवलमत्र विषये मे भगवानेव साक्षी, किंतु भवान् अम्बा च माता च । अन्यदा तु–उद्भिन्ने इति—स्तनकुड्मले कुचकोशे उद्भिन्ने सति उन्मीलिते सति, विलासालसे हास्ये स्फुटरसे विलासेन अलसे सुन्दरे हास्ये स्फुटरसे प्रीत्युत्पादके सति, वचःप्रक्रमे वचनस्य प्रक्रमे प्रारम्भे किंचित् ईषत् कम्पितं वेपितं तदेव कैतवं निमित्तं यत्र तदधरदलं प्रायो यत्र, नेत्राश्रिते विभ्रमे कटाक्षसंचारे, कन्दर्पस्य मदनस्य अभिभवकारकं यदस्त्रं तस्य वृत्तिः स्वभावस्तद्वच्चतुरे कुशले । मध्यस्य यौवनस्य गौरवगुणं महत्त्वगुणं प्रादायेव गृहीत्वेव नितम्बे श्रोण्यां वृद्धे सति पीवरायां जातायाम् ॥१६३॥

[पृष्ठ ५५-५७] कथंभूते वसन्तसमयावसरे समायाते । मुहुरिति—मुहुर्वारं वारं उत्पथे उन्मार्गे यत् प्रयाणं गमनं येन स चासौ मन्मथः स्मरस्तेन उन्माथो विभ्रमस्तेन मन्थरं चञ्चलं समस्तसत्त्वानां प्राणिनां स्वान्तं हृदयं यत्र । सद्यः प्रसूतेति—सद्यः प्रसूताः नूतनोत्पन्ना ये सहकाराङ्कुराः आम्रमञ्जर्यः तेषां कवलनेन भक्षणेन कषायकण्ठा यासां ताः कोकिलकामिन्यस्तासां कुहारावाः कुहकुहेति ध्वनयः तैः असरालितः प्रसारितः मनसि जायते इति मनोजः मदनस्तस्य विजयो यत्र । मलयाचलेति—मलयाचलस्य मेखला तटः तत्र निलीनानि प्रविष्टानि यानि किन्नरमिथुनानि किन्नरदेवदेवीयुगलानि तेषां मोहनं संभोगस्तस्मादुद्भूतः आमोदः अतिनिर्हारी गन्धस्तेन मेदुरः परिपूर्णः परि आसमन्ततः सरन् गच्छन् यः समीरस्तस्य समुन्नय उन्नतिर्यत्र। विकसदिति—विकसन्तः प्रस्फुटन्तः कोशाः कलिकाः येषां तानि कुरबकप्रसवानि अरुणानि पुष्पाणि तेषां परिमलस्य पाने लुब्धा या मधुकर्यः भ्रमर्यस्तासां निकरो वृन्दं तस्य झङ्कारो गुञ्जारवस्तस्य सारप्रसर उत्तमं प्रसरणं यत्र, तस्मिन् वसन्तसमयप्रसंगे प्राप्ते, ('आन्दोलनक्रीडायै उपवनं गतां तामनन्तमतिं कुण्डलमण्डितो नभश्चरपतिर्दृष्टवान्' इति वर्णयति कविः) कथंभूता सानन्तमतिः । प्रसरदिति—प्रसरन् प्रादुर्भवन् स्मरविकारो यस्यां सा । पुनः कथंभूता । स्मरेति—स्मरेण मन्मथेन स्खलन्ती मतिर्गतिश्च यस्याः सा अनन्तमतिः सह सहचरीसमूहेन सह वयस्याजनेन मदनोत्सवदिवसे दोलेति—दोलया आन्दोलनं वारं वारं इतश्चेतश्चलनं तत्र लालसं सोत्कं मानसं यस्याः सा । पुनः कथंभूता सा । स्वकीयेति—स्वकीयं निजं च तत् रूपं तस्यातिशयः उत्कर्षः स एव संपत् तया तिरस्कृतः सकलानां भवनस्थितानाम् अङ्गनानां नारीणाम् अङ्गविलासो यया सा। कथंभूतेन कुण्डलमण्डितेन दृष्टा सा । सुकेशीति–सुकेश्यभिधया प्रियतमया भार्यया अनुगतेन, पुनः कथंभूतेन । कृतेति—कृतं विहितं कामचारप्रचारे यथेष्टसंचारे चेतो मनो येन तेन, पुनः कथंभूतेन पूर्वापरेति—पूर्वापरौ पूर्वपश्चिमौ च तौ अकूपारौ च समुद्रौ तत्र या पालिन्द्रीसुन्दरी पालिन्द्री वेला एव सुन्दरी स्त्री तया सहितम् उत्सङ्गं तटं तया सनाथं धरतीति तस्य । विजयेति—विजयार्धश्चासौ अवनीं पृथ्वीं धरतीति विजयार्धावनीधरस्तस्य । विद्येति—विद्याः प्रज्ञप्त्यादिविद्याः धरन्तीति विद्याधराः नभश्चरास्तेषां विनोदरूपाः पादपा वृक्षास्तेषाम् उत्पादे उत्पत्तौ क्षोणिः भूमिस्तस्यां दक्षिणश्रेण्यां दक्षिणपङ्क्तौ, किन्नरेति—किन्नरगीतनामनगरस्य पुरस्य इन्द्रेण स्वामिना कुण्डलमण्डितनाम्ना अम्बरचरेण अम्बरे आकाशे चरतीति अम्बरचरस्तेन विद्याधरेण नभोविहारिणा निचायिता दृष्टा । शृङ्गारेति—नूनं सत्यम्, आत्मभुवा विधिना इयं बाला जगत्त्रयवशीकरणाय लोकत्रयं स्ववशे विधातुं प्रयत्नात् सृष्टा निर्मितेति । कानादाय निर्मितेति व्याचष्टे—शृङ्गारेति—शृङ्गारस्य सारम्, अमृतद्युतिं सुधाजलम्, इन्दुकान्तिं चन्द्रप्रभाम्, इन्दीवरद्युतिं नीलकमलस्य कान्तिम्, सर्वान् अनङ्गशरान् मदनस्य कुसुमबाणान् आदाय गृहीत्वा ॥१६४॥ इति विचिन्त्याभिलषिता च । ततस्ताम् अपजिहीर्षुधिषणेन अपहरणकरणेच्छामतिना, मुहुर्निवृत्य पुनः परावृत्य । निर्वर्तितेति—निर्वर्तितः कृतः निजे निलये गृहे सुकेश्या निजपत्न्याः निवेशः स्थितिर्येन, प्रत्यागत्य पुनरागम्य अपहृत्य ताम् अनन्तमतिं हृत्वा च, पुनर्नभश्चरपुरं प्रत्यनुसरता प्रत्यनुगच्छता गगनमार्गात् आकाशपथात् । प्रतीति—प्रतिनिवृत्ता परावृत्य आगता कुपिता च सा सुकेशी

निजभार्या तस्या वर्णनात् । शङ्कितोशयेन शङ्कितः भीतः अभिप्रायः यस्य तेन । तत्कायेति—तस्याः अनन्तमत्याः काये शरीरे संक्रमिता प्रवेशिता अवलोकिनी च पर्णलघुविद्या च तयोर्द्वयेन युगलेन शङ्खपुरस्य अभ्यर्णं समीपं भजतीति अभ्यर्णभाक् तस्मिन्, भीमवननामनि कानने वने मुक्ता त्यक्ता । तत्र च मृगयेति—मृगया आखेटं तस्य प्रध्वंसनमभिलषणं तदर्थं समागतेन भीमनाम्ना किरातराजेन अवलोकिता, कथंभूतेन । किरातेति—किरातानां भिल्लानां राजा किरातराजः तस्य लक्ष्मीस्तस्य सीम्ना मर्यादाभूतेन अवलोकिता नीता च पल्लिं शबरग्रामम् । उपान्तेति—उपान्ते समीपे प्रकीर्णानाम् इतस्ततः विकीर्णानाम् इङ्गुदीफलानां तापसतरुफलानां छल्लयस्त्वचो यत्र ताम् । एतदिति—एतस्या अनन्तमते रूपदर्शनेन दीप्तौ प्रज्वलितौ मदमदनौ यस्य स तेन । स्वतः परतश्च तैस्तैरुपायैः निजसंभोगसहायैः प्रार्थितापि याचितापि अनुत्पन्नकामा हठाद् बलात्कारेण कृतः कठोरः कामोपक्रमो येन । तदिति—तस्याः परिगृहीतानां स्वीकृतानां व्रतानां स्थैर्यं स्थिरत्वं तस्मात् आश्चर्यिता विस्मिताश्च ताः कान्तारदेवताः वनदेवतास्ताभिः कृतात्प्रातिहार्यात् माहात्म्यात् पर्याप्तः सकलः पक्वणः शबरालयस्तस्य प्लोषेण ज्वलनेन । मृत्युरिति—मृत्युर्मरणं हेतुर्यस्य मृत्युहेतुकः स चासौ आतङ्कश्च रोगः स एव पावकोऽग्निस्तेन पच्यमानं विक्लिद्यमानं शरीरं देहो यस्य तेन किरातराजेन, 'मातः, क्षमस्व एकमिममपराधम् ।' इत्यभिधाय इत्युक्त्वा, वनेचरेति—वनेचराणां शबराणाम् उपचारः प्रेम तेनोपचीयमाना सहचरीचित्तानां सखीमनसाम् उत्कण्ठा यत्र तस्य शङ्खपुरस्य पर्यन्तः सीमारूपः पर्वतः तस्य उपकण्ठे समीपे परिहृता त्यक्ता । तदिति—तस्य समीपे समावासितोऽध्युषितः स चासौ सार्थो वणिक्समूहस्तस्य अनीकेन सैनिकेन वणिजां पतिर्वणिक्पतिर्वणिक्स्वामी, तस्य पाकेन पुत्रेण पुष्पकनाम्ना अवलोकिता दृष्टा सती, तेन स्वीकृता च । तेन तेन चार्थेन धनादिना स्वस्य वशम् आनेतुम् असमर्थेन कोशलदेशस्य मध्ये वर्तमानायाम् अयोध्यायां पुरि व्यालिकाभिधानकामपल्लवकन्दल्याः शम्फल्याः समर्पिता । व्यालिका नाम मदनकिसलयानाम् अङ्कुररूपायाः शम्फल्याः कुट्टिन्याः दत्ता । तयापि मदनः कामः मदो दर्पस्तयोः संपादने आवसथाभिः गृहवदाश्रयरूपाभिः कथाभिः क्षोभयितुमशक्याः तद्राजधानीविनिवेशस्य सा चासौ राजधानी च तद्राजधानी सैव विनिवेशो यस्य तस्य सिंहमहीशस्य उपायनीकृता प्राभृतीकृता । तेनाप्यलब्धतन्मनःप्रवेशेन तेन सिंहमहीशेन अपि अलब्धः अप्राप्तः तस्या मनसि प्रवेशो येन तेन । विलक्षितेति—विशेषेण लक्षितः आक्षिप्तः गृहीतः दुरभिसंधिः दुष्टोऽभिप्रायो येन, तत्कन्येति—सा चासौ कन्या च तत्कन्या तस्याः पुण्यप्रभावेण प्रेरिताः पुरदेवतास्ताभिः आपादितः अन्तःपुरस्य पुरीपरिजनस्य च अपकारविधिर्यस्य तेन, साधु संबोध्य उपदिश्य नियमेति—इदं हिंसादिकं पापम् अहं न सेविष्ये इति अभिप्रायो नियमः तस्मिन् समाहितम् एकाग्रभावं नीतं यद्धृदयं तस्य चेष्टा यस्याः सा अनन्तमतिः तेन सिंहमहीशेन विसृष्टा त्यक्ता । (सा अनन्तमतिश्चैत्यालयं गत्वा तत्र न्यवसत् ।) सुदेवीनामधेयायाः जनकस्य स्वसुः पत्युश्च जिनेन्द्रदत्तस्य उदवसितसमीपवर्तिनं गृहस्य संनिधौ स्थितं विरतिचैत्यालयं विरतयः आर्यिकाः यत्र निवसन्ति तच्चैत्यालयं जिनमन्दिरम् अवाप्य, कथंभूतस्य जिनेन्द्रदत्तस्य । गृहीतेति—गृहीतं नाम, वृत्तं च चारित्रं येन तथाभूतस्य अर्हद्दत्तस्य पितुः । तत्र विरतिचैत्यालये निवसन्ती वासं कुर्वती । यमेति—हिंसादेर्यावज्जीवस्त्यागो यमः परिमितकालस्त्यागो नियमः उपवासश्च चतुर्विधाहारत्यागः ते पूर्वं येभ्यस्तैर्विधिभिः करणीयैराचरणैः । क्षपितेति क्षपिता विनाशं प्रापिता इन्द्रियाणां मनसश्च वृत्तिः स्वभावो यया सा, भवन्ती मान्या सती विरतिरत्नत्रयमभजत् इति संबन्धः । तस्मादङ्गदेशनगराच्चम्पातः जिनेन्द्रदत्तं निजभगिनीपतिम् । कथंभूतम् । चिरेति—चिरं विरहः दीर्घकालवियोगस्तेन उत्तालः उत्कण्ठितस्तं श्यालं विलोकितुमागतेन प्रियदत्तश्रेष्ठिना । वीक्ष्य, विषयेति—विषयाणां पञ्चेन्द्रियार्थानाम् अभिलाषः स्पृहा तस्य मोषः परिहारस्तस्मात् परुषाः रूक्षाः कचाः केशा यस्याः सा । विहितेति—विहिता कृता बह्वी शुक् येन तेन प्रियदत्तश्रेष्ठिना, पुनः प्रत्याय्य प्रतीतिं निश्चयं समुत्पाद्य, तस्मै जिनेन्द्रदत्तासुताय अर्हद्दत्ताय दातुम् उपक्रान्ता प्रारब्धा (अनन्तमतिः पितरमेवम् उवाच आर्यिकादीक्षां चाभजत्) 'तात, तं भदन्तं पूज्यं भगवन्तं ज्ञानिनं धर्मकीर्तिसूरिं त्वां मातरं च प्रमाणीकृत्य साक्षीकृत्य कृतेति—कृतः निरवधि आजन्म चतुर्थव्रतस्य ब्रह्मचर्यस्य परिग्रहो यया सा । ततः कथमहम् इदानीं संप्रति विवाहविषये परिकल्पनीया दातुं योग्या इति निगीर्य उक्त्वा, कमलश्रीसकाशे तन्नामधेयाया विरत्याः

समीपे, विरतीति—विरतीनाम् आर्यिकाणां विशेषस्तस्य वशं तेन परिपाल्यमानं रत्नत्रयकोशं सद्दृष्ट्यादित्रयनिधिम् अभजत् सेवते स्म। भवति चात्र श्लोकः—हासादिति—पितुर्जनकस्य हासात् नर्मभाषणात् चतुर्थेऽस्मिन् व्रते स्थिता अनन्तमतिः, निष्काङ्क्षा विषयाभिलाषाया दूरं गता त्यक्तविषयेच्छा, तपः कृत्वा द्वादशं कल्पम् अच्युतं स्वर्गम् आविशत् प्रवेशं कृतवती ॥१६५॥

इत्युपासकाध्ययने निष्काङ्क्षितत्वावेक्षणो नामाष्टमः कल्पः ॥८॥

९. निर्विचिकित्सासमुत्साहनो नाम नवमः कल्पः।

[पृष्ठ ५७] (निर्विचिकित्साङ्गस्य वर्णनम्) तप इति—जिनेन्द्राणाम् इदं तीव्रं तपः संवादमन्दिरं न सम्यक् वादः संवादः प्रशंसा तस्य मन्दिरं गृहम् न सत्यताया गृहं न समीचीनफलप्रदं न। अदः अपवादि च स्यात् अपवादो निन्दा तेन युक्तं स्यात्। इत्येवं चेतोऽभिप्रायः विचिकित्सना जुगुप्सालक्षणं भवति ॥१६६॥

[पृष्ठ ५८-५९] स्वस्येति—यो नरः श्रुताशयम् आगमस्याभिप्रायं निबोधितुं न शक्तः स स्वस्यैव आत्मन एव दोषः। शीलं सदाचारं व्रतपरिरक्षणात्मकम् आश्रयितुं ग्रहीतुं न शक्तः, तदर्थं शीलार्थम् आचरणप्रयोजनं ज्ञातुम् असमर्थो वा ॥१६७॥ स्वत इति—स्वतः प्रकृत्यैव शुद्धमपि निर्मलमपि व्योमाकाशं यन्नरो मलीमसं कृष्णं वीक्षते पश्यति नासौ अस्य नभसो दोषः किंतु स दोषश्चक्षुराश्रयः नेत्राश्रित एव ज्ञेयः ॥१६८॥ दर्शनादिति—देहस्य रोगादिसंजातमालिन्यादिदोषाणां दर्शनात् यः तत्त्वाय आत्मनो रत्नत्रयस्वरूपाय जुगुप्सते निन्दति तत्र दोषानापादयति स नरः लोहे कालिकायाः कृष्णत्वस्य दर्शनात् नूनं सत्यम्, काञ्चनं सुवर्णं न मुञ्चति ॥१६९॥ स्वस्येति—आत्मनः अन्यस्य च परजनस्य च अयं कायः शरीरं बहिश्छायामनोहरः बाह्यस्य चर्मणः कान्त्या मनो हरति। अन्तःशरीरस्य मध्ये स्थितानां पदार्थानां रक्तादीनां विचारे कृते औदुम्बरफलसदृशः उदुम्बरतरुफलसमानः स्यात्। उदुम्बरफलानि जन्तुसहितत्वात् जन्तुफलानि इति अन्वर्थनाम लभन्ते ॥१७०॥ ऐतिह्येति—तत्तस्मात् ऐतिह्ये आप्तोपदेशे श्रुते, देहे च याथात्म्यं यथार्थत्वं पश्यताम् अवलोकमानानां सतां चित्तवृत्तिः मनोऽभिप्रायः उद्वेगाय जुगुप्सायै कथं नाम प्रवर्तताम् भवतु। यस्य स्वरूपं यादृग् वर्तते तत्र कृतापि जुगुप्सा तत्स्वरूपपरिवृत्तये न क्षमा भवति अतो देहस्य जुगुप्सा न कार्येति भावः ॥ १७१ ॥ सौधर्मेन्द्रो निर्विचिकित्साङ्गस्य कथां कथयति श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—मतिश्रुतेति—मतिश्रुतावधिज्ञानान्येव मार्गत्रयं तेन प्रवृत्तया मतिमन्दाकिन्या ज्ञानगङ्गया सान्द्रः निबिडः सौधर्मेन्द्रः किल। सकलेति—सर्वसुरैः सेव्यमानायां सभायाम् अवसरसमये प्रसंगमुद्दिश्योचिते काले गीर्वाणानां देवानाम् अनुग्रहाय तानुपकर्तुं सम्यक्त्वमणिगुणान् वर्णयन् इदानीं इन्द्रकच्छदेशेषु मायापुरीत्यन्यनामावसरस्य। मायापुरीति—अन्याभिधां दधानस्य रौरुकपुरस्य प्रभोः स्वामिनः उद्दायनात् भूपतेः पुनः कथंभूतात्। प्रभावती महादेव्याः क्रीडायतनात्, अपरः कोऽपि सद्दर्शनमेव शरीरं देहः तस्य गदचिकित्सायां रोगपरीक्षायाम् अन्यः कोऽपि क्षान्तिमतिप्रसरः क्षमाज्ञानयुक्तप्रसारः। मोक्षेति—मोक्ष एव लक्ष्मीः मुक्तिरमा तस्याः कटाक्षा नेत्रापाङ्गास्तेषामवेक्षा अव समन्तात् ईक्षा अवलोकनं तस्य अक्षूणपात्रम् अखण्डभाजनं तस्मिन्, मर्त्यक्षेत्रे नरलोके नास्ति, इत्येतच्च वासवसंज्ञायाः नाम्नः ईशः स्वामी त्रिदशः वासवनामा देवः पुरन्दरस्य इन्द्रस्य उदितं भाषणं तत् असहमाना सोढुमक्षमा प्रज्ञा मतिर्यस्य सः, तत्र नगरे मायापुरे। कथंभूते। महामुनिसमूहप्रचारेण प्रवरे श्रेष्ठे, अवतीर्य स्वर्गादागत्य (कुष्ठादिपीडितमुनिवेषम् आदाय नृपतिगृहमविशत्) कथंभूतं मुनिवेषम् आदाय प्राविशद्राजगृहमिति विव्रियतेऽमुना। सर्वाङ्गेति—सर्वाङ्गान्यधिकृत्य प्रतितिष्ठतीति प्रतिष्ठं तच्च तत्कुष्ठं च तस्य कोष्ठकं संग्रहागारम्। पुनः कथंभूतम्। निष्ठ्यूतेति—निष्ठ्यूतं खात्कृत्य बहिर्वान्तो यो द्रवः कफः तस्य उद्रेकः आधिक्यं तेन उपद्रुतः पीडितो देहो यस्य तम्। पुनः कथंभूतम्। अखिलेति— अखिलाश्च ते देहिनः प्राणिनस्तेषां संदोहः समूहस्तस्य उद्वेजनानि जुगुप्सोत्पादकानि यानि श्रवणेक्षणघ्राणगरणानि कर्णनेत्रनासिकाकण्ठास्तेभ्यो विनिर्गलन् स्रवन् अनर्गलः अप्रतिबद्धः सततं प्रवर्तमानः दुर्गन्धः पूतिः पूयप्रवाहः दूषितरुधिरस्रावः

स च मूर्धस्फुटितस्फोटाश्च मस्तकोद्भवपिटकाश्च तत्र या स्फुटचेष्टा हस्तनखादिभिः खर्जनं तस्मिन् अनिष्टा आरोग्यविघातका या मक्षिकास्ताभिराक्षिप्तम् आवृतम् अशेषं शरीरं यस्य । पुनः कथंभूतम् । **अभ्यन्तरेति**—अभ्यन्तरं शरीरस्य अन्तः इति अभ्यन्तरम् अभ्यन्तरादेव उद्भूतः श्वयथुः शोथः तेन जातो यः कोथः दुर्गन्धभावस्ततश्च उत्तरङ्गाश्च वलीयुताश्च ताः त्वचश्चर्माणि तासाम् अन्तराले प्रलीनानि अखिलानि यानि नखानि नासीरं नासिका च तम् । पुनः कथंभूतम् । **अविच्छिन्नेति**—अविच्छिन्ना संततं प्रवर्तमाना उन्मूर्च्छन्ती उद्भवन्ती अतुच्छा महती सर्वाङ्गव्यापिनी या कच्छूः कण्डूरोगः तया च्छन्ना ये सृक्का अवयवप्रान्तास्त एव सारिण्यो निर्गमद्वाराणि ताभ्यः सरन्निर्गच्छन् सततं लालास्रावो दुरभिरसविशेषो यस्मात् तम् । पुनः कथंभूतम् । **अनवरतेति**—अनवरतं सततं यत् स्रोतः सृतम् अशुचिजलपरिणतविष्ठानिर्गमस्तस्माज्जातो योऽतीसारः प्रवाहिकारोगविशेषः तस्मात्संभूता या बीभत्सा भयानका भावना आकृतिर्यस्य तम् । पुनः कथंभूतम् । **अनेकश इति**—अनेकशो बहुवारं विशिखा रथ्या तस्या शिखा अग्रं तत्र उत्पातः पतनं तेन नियतः निश्चितः आश्रितः संचितः यो अशुचिराशिः पूतिगन्धिपदार्थोत्करः तद्वत् दुर्दर्शं जुगुप्साजनकत्वात् द्रष्टुम् अक्षमं वपुः शरीरं यस्य तम् । एतादृशम् ऋषिवेषं मुनिरूपम् आदाय गृहीत्वा अदनाय आहारार्थम् अवन्याः पृथ्व्याः पतिः य उद्दायननृपः तस्य भवनं गृहम् अभजत् आश्रयत् गतवान् । **भूपतिरपि सप्तेति**—सप्ततलानि भूमयो आरब्धा निर्मिता यस्य स चासौ सौधः प्रासादस्तस्य मध्यम् अध्यासीनः तिष्ठन् आकण्ठम् आगलं भोजयामासेति संबन्धः । कथंभूतम् ऋषिं भोजयामासेति निरूप्यते—तम् असाध्या ये व्याधयो रोगाः तैर्विधुरा पीडिता धिषणा बुद्धिस्तस्या अधीनम् । विश्राणस्य आहारस्य अध्येषणा याचना तस्यै निजनिलयं निजगृहम् आलीयमानम् आगच्छन्तम् अवलोक्य सौत्सुक्यं सादरम् आलोक्य दृष्ट्वा स्वीकृत्य च तम् ऋषिवेषं देवम् उदानीय बाहुना उत्थाप्य आनयत् । कथंभूतं तमानयत् स इति विवियते । **कृत्रिमेति**—कृत्रिमश्चासौ आतङ्कश्च रोगः स एव पावकोऽग्निः तेन परवशं पीडितम् आस्वनितं चित्तं यस्य तम् । मुहुर्मुहुः पुनः पुनः महीतले निपतन्तम् । कथंभूत उद्दायनः । **अन्विति**—अनुद्विग्नम् अजुगुप्साभावं गतं मनः चरित्रं च यस्य स नृपः । मुनिवेषं देवम् उदानीय भोजयामास । पुनः कथंभूतम् । **प्रकामेति**—प्रकामम् अतिशयेन दुर्जयं च तत् खर्जनं कण्डूयनं तस्य अर्जनं पुनः पुनः कण्डूयनं तेन जर्जरितं गात्रं शरीरं यस्य तमृषिवेषम् । **काश्मीरेति**—काश्मीरस्य कुङ्कुमस्य पङ्कः लेपः तेन पिञ्जरेण पीतेन भुजपञ्जरेण उदानीय उत्थाप्य आनीय च अशनवेश्मोदरं रसवतीगृहमध्यं स्वयमेव समाचरितोपचारः कृतपूजनः उद्दायनः । **तदिति**—तस्य अभिलाषा इच्छा तस्या उन्मेषः प्रादुर्भावः तत्र सारभूतैः आहारैः उपशान्ता सौहित्यं प्राप्ता अशनायाया बुभुक्षायाः उत्कण्ठा यथा स्यात्तथा आकण्ठम् आगलं भोजयामास आहारं कारयामासेत्यर्थः ।

[पृष्ठ ६०] **मायामुनिरिति**—(मायामुनिर्भुक्तेरनन्तरं अवमीत्) पुनरपि तस्य उद्दायनस्य मनः जिज्ञासमानं मानसं यस्य सः प्रसभं वेगात् **अति**—अतिगम्भीरा चासौ गलगुहा च सैव कुहरं विवरं तस्मात् उज्जिहानः बहिरागच्छन् यः घोरो भयङ्करः घोषः शब्दः तस्य अभिघातस्तेन घनम् अतिशयेन घूर्णितं कम्पितम् अपघनं शरीरं यथा स्यात्तथा अप्रतिघम् अप्रतिबद्धम् अवमीत् वान्तिं चकार । **भूमिपतिरपि**—आः खेदोद्गारे कष्टं जातम् । यद्यस्मात्कारणात् मन्दभाग्यस्य मम गृहे गृहीताहारोपयोगस्य भुक्तभोजनस्य अस्य मनसः खेद एव पादपो वृक्षस्तस्य वितर्दिरिव वेदिकेव छर्दिः वमनं समभूत् । इति एवं प्रकारेण । **उपक्रुष्टेति**—उपक्रुष्टं निन्दितं अनिष्टम् अहितकृत् चेष्टितं चरितं तस्य वर्त्म मार्गस्वरूपम् आत्मानं विनिन्दन् गर्हमाणः । **मायेति**—मायामयाः विक्रिया सामर्थ्येन निर्मितास्ता मक्षिकास्तासां मण्डलितेन समूहेन कृता कपोले गण्डे रेखा यत्र तस्मात् **तदिति**—तस्य एतस्य मायामुनेर्मुखात् असराला विपुला या लाला तया क्लिन्नम् आर्द्रम् अन्नम् । **इन्दिरेति**—इन्दिरा लक्ष्मीस्तस्या अरविन्दं निवासकमलं तस्य उदरम् अन्तःप्रदेशस्तस्य यत्सौन्दर्यं तस्य निकटेन तत्सदृशेनेत्यर्थः । अञ्जलिपुटेन प्रसृतिपुटेन आदायादाय गृहीत्वा गृहीत्वा मेदिन्यां भूमौ उदसृजत् अमुञ्चत् । **पुनश्चेति**—उद्गीर्णः वान्तः उदीर्णः प्रकटीभूतः दुर्वर्णः जुगुप्स्यकान्तियुक्तः कूराणाम् अन्नानां निकरः समूहः तस्मिन् । **भर्मीति**—भर्मिः माया तया युक्ता या भ्रमिः पित्तप्रकोपेन यः मस्तकभ्रमः तस्य निर्भरः आधिक्यम् अतिशयो

वा तस्य आरम्भः तेन पतितं शरीरं यस्य, तं मायामुनिम् । सप्रयत्नेति—सप्रयत्नौ च तौ करौ हस्तौ तयोः स्थाम्नः बलस्य सीमा मर्यादा यथा स्यात्तथा तं मायामुनिं समुत्थाप्य । जलेति—जलात् जनितः क्षालनस्य प्रसङ्गो यस्य तम् । पुनः कथंभूतम् । उत्तरीयेति—उत्तरीयं देहस्योपरि उत्तरभागे धार्यमाणं वस्त्रम् उत्तरीयं तच्च तत् दुकूलं पट्टवस्त्रं तस्य अञ्चलं प्रान्तभागः तेन विलुप्तः निराकृतः सलिलस्य जलस्य संगः स्पर्शो यस्य तम्, अङ्गसंवाहनेन शरीरविमर्दनेन, अनुकम्पनस्य दयायाः विधानं प्रदर्शनं येषु तादृग्वचनानां रचनेन दयावचनानां उच्चारणेन साधु समाश्वासयत् आश्वासं सन्तोषमजनयत् । (मायामुनिरात्मरूपं प्रकटीकृत्य स्तुत्वा चोद्दायनं स्वर्गं जगाम) कथंभूतो मायामुनिः । प्रमोदेति—प्रमोद एव हर्ष एव अमृतं सुधा तेन अमन्दं परिपूर्णं यद्धृदयं तदेव आलवालवलयं अम्भसो धारणार्थं यद्वेष्टनं तस्य वलयं तत्र उल्लसन्ती विकसन्ती या प्रीतिः सा एव लता तदर्थम् अवनिरिव भूमिरिव स सुरचरः भूतपूर्वः सुरः स मुनिः यथैवायम् उद्दायनभूपो वर्णितः तथैवायं मया निर्वर्णित इति कथयति । कुत्र वर्णितः । परिषदि सभायाम्, कथंभूतायां त्रिदिवोत्पादि त्रिदिवे स्वर्गे उत्पादो यस्याः सा तस्याम् पुनः कथंभूतायाम् । सद्दर्शनेति—सद्दर्शनस्य सम्यक्त्वगुणस्य श्रवणाय उत्कण्ठितं हृद् मनो यस्याः तस्यां परिषदि, (इन्द्रेण यथायमुपवर्णितस्तथायं मया निर्वर्णितः) कथंभूतेन इन्द्रेण । विबुधप्रधानेन विबुधेषु देवेषु प्रधानेन श्रेष्ठेन पुनः कथंभूतेन गुणेति—गुणानां सम्यक्त्वादीनां ग्रहणं तत्र रुचिः प्रदर्शनं तस्य आग्रहोऽभिनिवेशः तत्र निधानेन निधिस्वरूपेण । प्राज्येति—प्राज्यं समृद्धं यत् राज्यं तदेव समज्या सभा तत्र अर्जुन इव सर्जिता उत्पादिता जगत्त्रय्यां त्रिलोक्यां निजनामधेयस्य स्वनाम्नः स्वकीर्तेः प्रसिद्धिः प्रख्यातिर्येन सः पुनः कथंभूतः । यथोक्तेति—यथोक्तम् आगमे यथा प्रतिपादितं सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनस्वरूपं तथा तस्य अधिग-मात् प्राप्तेः, अवधेया जीवादिपदार्थेषु समाहितुं योग्या बुद्धिर्यस्य स उद्दायनो नृपः यथा उपवर्णितः व्यावर्णितः स्तुतो वा तथैव मया (वासवनामधेयेन देवेन) निर्वर्णितः परीक्षितः, इति विचिन्त्य प्रकटितेति—(आविष्कृतनिजरूपाडम्बरः, तम् उद्दायनम् अवनीश्वरं नृपं संभाव्य संमान्य स्वर्गं जगामेति संबन्धं कथयति कविः) कैः संभाव्य अमरेति—अमराणां तरवः कल्पवृक्षाः तेषां प्रसूनानि पुष्पाणि तेषां वर्षा वृष्टिः, आनन्ददुन्दुभीनां प्रमोदभेरीणां नादो ध्वनिः तस्य उपघातेन मिश्रणेन शुचिभिः निर्मलैः । साधुकारेति—साधुकारः साधुकृतं साधुकृतमिति उच्चारणं साधुकारः, तस्मिन् परः साधुकारपरः स चासौ व्याहारो भाषणं तस्यावसरो वेला तेन शुचिभिः सुन्दरैः उदारैः महद्भिः उपचारैः पूजनैः आदरैः संभाव्य, पुनः कैः संभाव्येति उच्यते—अनिमिषेति—अनिमिषा देवास्तेषां विषयो देशः स्वर्गः तत्र संभूष्णवः भवनशीलास्तैः । मन इति—चित्तेप्सितप्राप्तौ विष्णुभिः जित्वरैः समर्थैः क्षमैरिति यावत्, तैस्तैः पठितमात्रेण विधेयैः साध्यैः विद्योपदेशगर्भैः विद्योपदेशो गर्भे येषां तैः मन्त्रैः तथा वस्त्रसंदर्भैश्च वसनानां संदर्भैः रचनाभिश्च संभाव्य संपूज्य सुरसेव्यं देशमाविवेश स्वर्गं जगामेत्यभिप्रायः ।

[पृष्ठ ६१] भवति चात्र श्लोकः—बालेति—बालवयसो यतीन्, वृद्धयतीन् गदेन रोगेण ग्लानान् पीडितान्, मुनीन् औद्दायनो नृपः स्वयं प्रेरणया विना स्वकर्तव्यमेतदिति बुद्धया भजन् सेवमानः निर्विचिकित्सात्मा जुगुप्सां मनागपि अकुर्वाणः पुरन्दरात् इन्द्रात् स्तुतिं प्रशंसां प्रापत् लेभे ॥१७२॥

इत्युपासकाध्ययने निर्विचिकित्सासमुत्साहनो नाम नवमः कल्पः ॥९॥

१०. अमूढदृष्टिगुणोपाख्यानं नाम दशमः कल्पः ।

[पृष्ठ ६१] अन्तरिति—आत्मनि दुरन्तो दुःखदायकः संचारो भवभ्रमणं यस्मात् बहिरिति—बाह्यस्वरूपे सुन्दरं शोभावहम्, एतत्कुदृष्टीनां बौद्धनैयायिकादीनां मतं किंपाकसंनिभम् कुत्सितः पाकः परिणामो यस्य तस्य विषफलस्य संनिभं तुल्यम् मतं न श्रद्दध्यात् न विश्वस्यात् ॥१७३॥ श्रुतीति—श्रुत्याम्नायः वैदिक-मतम् । शाक्याम्नायः सौगतमतम् । शिवाम्नायः शिवमतम् । क्षौद्रं मधु, मांसं प्रतीतम् । आसवो मदिरा एते आधारा अधिष्ठानानि येषां ते । वैदिका मधु ग्राह्यं वदन्ति । सौगता मांसभक्षणमामनन्ति । शैवाम्नाये मद्यपान-

मगर्हणीयम् । अत्र वैदिकशिवाम्नाये मलमोक्षाय विधिः यज्ञे मोक्षप्राप्तौ च यो विधिः क्रियते तत्र उक्तानां मद्यादीनां प्रयोगो विद्यते इति ॥१७४॥ धर्मिभस्मेति—धर्मिः मायापरबन्धनम्, भस्मलेपनम् । जटाजूटधारणम् योगपट्टो वस्त्रविशेषधारणम् । कटासनं दर्भासनम् । मेखला दर्भकटिसूत्रम् । प्रोक्षणं भूमिशुद्धयर्थं जलदुग्धादि-सिञ्चनम् । मुद्रा शङ्खमुद्रामुक्ताशुक्तिमुद्रादिकं हस्ताङ्गुलीनाम् आकारविशेषः । बृसी कुशादिमयासनम् चट्टकः । दण्डः पालाशवैणवादिकाष्ठविशेषः । आषाढो व्रतिना दण्डः । करण्डकः वंशादिरचितः समुद्गकः ॥१७५॥ शौचम् अङ्गावयवानां पवित्रीकरणम्, मज्जनं नद्यादिषु स्नानम्, आचामः आचमनम्, पितॄणां पूजनं श्राद्धेन संत-र्पणम्, अनलार्चनम् अग्निपूजनम्, इयं प्रक्रिया एतानि कर्माणि अन्तस्तत्त्वविहीनानाम् आत्मानात्मविचारशून्यानां विराजन्ते शोभन्ते ॥१७६॥ को देव इति—आप्तः को भवितुमर्हति, किमिदं ज्ञानम्, येन परमात्मबोधो भवति तज्ज्ञानम्, किं वा कुटुम्बपोषणोपयोगिबोधो ज्ञानम्, किं तत्त्वम् एकान्तवस्तुस्वरूपम् उतानेकान्तवस्तुस्वरूपं तत्त्वम् । को बन्धः कर्मात्मनोरन्योन्यं दृढाश्लेषो बन्धः उत रज्ज्वादिना बन्धनम्, कश्च मोक्षः कारागारान्मुक्तिरुत कर्मजीवयोरत्यन्तविश्लेषो मुक्तिः इत्यादि विचारस्तत्र न विद्यते । मिथ्यादृष्टिमतानि एकान्तप्रतिपादकान्य-तस्तत्र बन्धमुक्त्यादीनामसंभवः स च प्राक्प्रतिपादितः ॥१७७॥ आप्तेति—आप्तस्य आगमस्य च अविशुद्धत्वे सदोषत्वे आप्तो यदि रागादिदूषितः स्यात्, आगमश्च यदि पूर्वापरविरोधादिदोषयुक्तो यज्ञादिविधानानां च प्रतिपादकः स्यात्तर्हि तत्र विशुद्धत्वं न संभवेत् । तथा देहिषु प्राणिषु क्रिया शुद्धापि आचारविशुद्धिरपि अभि-जातफलप्राप्त्यै उत्तमवीतरागसुखप्राप्त्यै न भवति । यथा विजातिषु व्यभिचारादिदोषदूषितेषु मानवेषु सद्गोत्र-भूषितपुत्रादिफलप्राप्तिर्न भवति ॥१७८॥

[पृष्ठ ६२] तत्संस्तवेति—तेषां कुदृष्टीनां संस्तवं मिथ्याज्ञानचारित्रगुणोद्भावनं वचसा न कुर्वीत । तत्प्रशंसां वा, भूताभूतगुणोद्भावनं मनसा न कुर्वीत । तथा विपश्चित् विबुधः तेषां ज्ञानविज्ञानयोः मन्त्रवादादि-विषये ज्ञाने विज्ञाने च निर्बीजकरणादि शुक्रस्य नेत्रादौ निःकाशनम् । एकान्ततत्त्वज्ञाने कलादिज्ञाने च न विभ्रमेत् विभ्रमं विस्मयभ्रान्तिं च न गच्छेत् ॥१७९॥ (अमूढताङ्गे रेवतीराज्ञी-कथा) श्रूयतामत्रोपाख्यानम्-(देशयतिश्चन्द्रप्रभः उत्तरमथुरां गन्तुकामः श्रीमुनिगुप्तमपृच्छत्) कथंभूतेषु पाण्ड्यमण्डलेषु । मुक्ताफलेति—मुक्ताफलानि मौक्तिकानि तेषां मञ्जरी पङ्क्तिः तया विराजितानि शोभितानि विलासिनीनां कर्णकुण्डलानि येषु तेषु पाण्ड्यमण्डलेषु पाण्ड्यदेशेषु इत्यर्थः । दक्षिणमथुरायां कथंभूतायाम् । पौरेति—पुरे भवाः पौरा नागरिकाः तेषां पुण्याचाराः देवपूजादिषट्कर्माणि । तैः विदूरितानि विनाशितानि विधुराणि कष्टानि यया सा तस्याम् । (श्रीमुनिगुप्तनामव्याहारं भदन्तं चन्द्रप्रभो देशयतिरपृच्छत्) कथंभूतम् भदन्तं भन्दते इति भदन्तः भदि कल्याणे पूजितः तम्, भगवन्तं महाज्ञानिनम्, तमेव विवृणोति—अशेषेति—अशेषं च तत् श्रुतं द्वादशाङ्गश्रुतज्ञानं तदेव पारावारः समुद्रः तं गच्छतीति तम्, अवधिबोधः अवधीति—अव दधातीति अवधिः स चासौ बोधश्च अधस्ताद्बहुतरविषयाणां ग्रहणादवधिरुच्यते, तृतीयमतीन्द्रियज्ञानं रूपि-विषयकम् । स एव अम्बुधिः समुद्रः तस्य मध्ये साधितः सकलभुवनभागः येन तम् । अष्टाङ्गेति—अष्टौ अङ्गानि यस्य तत् अष्टाङ्गं कानि तानि चेदुच्यन्ते—अन्तरिक्ष-भौम-अङ्ग-स्वर-व्यञ्जन-लक्षण-छिन्न-स्वप्ननामानि) तच्च तन्महानिमित्तं शास्त्रं तस्य संपत्त्या समधिका प्रकर्षं प्राप्ता या धिषणा बुद्धि-स्तस्या अधिकरणम् अधिष्ठानम् । अखिलेति—अखिलाः सकलाः श्रमणा यतयः तेषां संघः स एव सिंहस्तेन उपास्यमानौ पूज्यमानौ चरणौ यस्य सः तम्, अत्याश्चर्येति—अत्याश्चर्येण युक्तं तत्तपश्चरणं तस्य गोचरो विषयीभूतः स चासौ आचारस्तस्य चातुरी नैपुण्यं तया चमत्कृतं विस्मयभावं नीतं चित्तं येषां ते च ते खेचरा विद्याधराः तेषाम् ईश्वराः स्वामिनः तैर्विरचिता कृता या चरणयोः अर्चना पूजा तस्या उपचारः सेवा यस्य तं चन्द्रप्रभो देशयतिरपृच्छत् । अधुना चन्द्रप्रभदेशयतेः संबन्धः प्रदर्श्यते—कथंभूतस्य विजयार्धमेदिनीध्रस्य । गगनेति—गगने आकाशे गमनं येषां ते गगनगमनाः विद्याधरास्तेषाम् अङ्गनाः ललनाः तासाम् अपाङ्गाः नेत्रान्ताः कटाक्षाः तेषाम् अमृतसारणी सुधाकुल्या तस्याः संबन्धेन धीध्रस्य शुक्लतां प्राप्तस्य, विजयार्धपर्वतस्य दक्षिणश्रेणौ । रतिकेलीति—रतिकेलिः संभोगक्रीडा तत्समये यो विलासः रामानयनवदनभ्रूप्रभृतीनां यः

कश्चिदुत्पद्यते विशेषः स विलासः तत्प्रसंगे विगलिता निलिम्पललनानां देवस्त्रीणां मेखलानां काञ्चीनां मणयो रत्नानि यत्र तस्यां दक्षिणश्रेणी मेघकूटपट्टनाधिपत्योपान्तः मेघकूटनगरस्य आधिपत्यं स्वामित्वम् उपान्त्ये समीपे यस्य सः, सोमश्रिनी नामधेया कान्ता यस्य सः। संसारसुखेभ्यः पराङ्मुखा प्रतिभा बुद्धिर्यस्य स चन्द्रप्रभः खगेशः चन्द्रशेखराय पुत्राय निजैश्वर्यं वितीर्य दत्त्वा पर्यवसितेति—पर्यवसितेन निश्चयेनाधिगतक्षुल्लकव्रतिरूपः सकला चासौ अम्बरचरविद्या आकाशगामिनी विद्या तस्याः परिग्रहः स्वीकृतिः समीपे यस्य, सप्रश्रयं सविनयं अभिवन्द्य प्रणम्य अनवद्येति—अनवद्या निर्दोषा मुक्तिदातृत्वात् या विद्या अध्यात्मज्ञानं तया महन् श्रेष्ठ, भगवन् अहम् उत्तरमथुरायां जिनमन्दिराणि वन्दितुकामोऽस्मि। कथंभूतायाम् उत्तरमथुरायाम्। पौराङ्गनेति—नागरस्त्रीणां शृङ्गारयुक्ता उत्तरङ्गा तरङ्गवत् उन्नतिं प्राप्ता ये अपाङ्गाः नेत्रान्तास्तैः पुनरुक्ताः स्मरशराः मदनबाणा यत्र तस्याम् उत्तरमथुरायाम्। जिनेन्द्रमन्दिराणि वन्दते स्तौति अभिवादयते इति वन्दारु वन्दनशीलं तच्च तद्धृदयं च तस्य दोहदः इच्छा वर्तते यस्य स अहं वर्ते। अतस्तन्नगरीगमनाय भगवतानुज्ञातोऽस्मि। किं च कस्य तस्यां पुरि कथयितव्यम् इति। अपृच्छत्।

[पृष्ठ ६३] मुनिसत्तमः—प्रियतम यथा ते मनोरथस्तथा अभिमतपथः इष्टमार्गः समस्तु भवतु। संदेष्टव्यं पुनस्तत्रैतावदेव कथितव्यं पुनस्तत्र इदमेव, यदुत तत्पुरीपुरन्दरस्य उत्तरमथुरापुर्याः इन्द्रस्य स्वामिन इत्यर्थः, वरुणधरणीश्वरस्य वरुणभूमिपतेः शचीदृशः इन्द्राणीतुल्यायाः सुदृशः सुदृष्टेः सम्यग्दर्शनधारिण्याः, जिनपतेः चरणयोः चित्तेन मनसा य उपचारः सेवा तस्य पदव्याः मार्गभूतायाः महादेव्याः रेवतीतिनामधेयायाः मदीया आशीः आशीर्वादो वाच्यः वक्तव्यः। तथा आवश्यकविशेषवशचित्तवतः आवश्यकानि सामायिकादीनि तेषां विशेषे वश्यं चित्तम् अस्ति यस्य तस्य सुव्रतभगवतः वन्दना च वाच्या। देशयतिवरः—किम् अपरस्तत्र भगवन् जैनो जनो नास्ति। भगवान्—देशव्रतिन्, अलं विकल्पेन विचारणेन पर्याप्तम्। तत्र गतस्य भविष्यति समस्ताप्यार्हतेतरशरीरिसपक्षासमक्षा स्थितिः। ये जिनानुयायिनो ये चान्ये जनाः तेषां स्थितिः अस्तित्वं तत्रास्ति न वेति सर्वमेव तव गतस्य व्यक्तीभविष्यति। ये जैना जना ये च तत्सदृशाः तेषां अस्तित्वं समक्षं प्रत्यक्षं भवति। खचरविद्याबीजमल्लकः क्षुल्लको यथादिशति दिव्यज्ञानसंगवान् भगवान्। नभश्चरविद्याबीजवपने मृत्पात्रसदृशः क्षुल्लको देशयतिरब्रवीदेवं भगवान् खलु दिव्यज्ञानस्य अतीन्द्रियज्ञानस्य संगेन युक्तः। अतः यदादिशति तत्र भवान् तत्सर्वं सत्यमेव। इति निगीर्य एवं भाषित्वा। गगनचर्यया आकाशगमनेन अवतीर्य उत्तरमथुरायां परोक्षेय परोक्षां कुर्वीय तावत्प्रथमम् एकादशाङ्गनिधानम् आचाराद्येकादशाङ्गानां निधीभूतस्य भव्यसेनमुनेः। तदनु भव्यसेनपरीक्षणात्पश्चात् सम्यक्त्वरत्नवतीं सम्यग्दर्शनमणिभूषितां रेवतीं परीक्षेय इति कृतकुतूहलः (क्षुल्लकः बटुवेषेण भव्यसेनस्य मुनेराश्रममगच्छत्।) कथंभूतं कपटबटुवेषम् आश्लिष्य तदाश्रममगच्छत्। कलमेति—शालिविशेषशस्यमञ्जरीणाम् अग्रसदृशकेशमनोहरविपुलचूडम्। उत्तप्तेति—अग्नितप्तसुवर्णकान्तिमनोज्ञदेहगौरतामनुसृत्य कमलमधुरजोवत् कपिशलोचनम्, अतिस्पष्टेति—अतिविशदविस्तराक्षरवर्णनाय उदीर्णमुखं मुखं व्यादाय ब्रुवन्तमिति भावः। एकादशवर्षजातकुमारसदृशम् अत्याश्चर्यविषयभूतम्, कपटेन विद्यासामर्थ्येन कुमारवेषं गृहीत्वा भव्यसेनस्य उटवसितम् आश्रमम् अयासीत् प्राविशत्। वेषमुनिः वेषेण द्रव्यलिङ्गेन मुनिः भव्यसेनः तम् ईक्षणकमनीयं नेत्रप्रियतामावहन्तं द्विजेति—विप्रतनयसमानं तम् आलोक्य किलैवं स्नेहाधिक्यं स्नेहातिशयेन अलोलपत् अब्रवीत्। "हंहो बटो हे कुमार निखिलेति—निखिलाः सकलाश्च ते द्विजाः विप्रास्तेषां वंशस्तस्मात् अव्यतिरिक्तम् अभिन्नं च तत् सुकृतं पुण्यं तेन कृतं यत्कल्याणं हितं तत्प्रकृतितया तत्स्वभावतया। समस्तेति—समस्ताश्च ते लोकाश्च सकलजनाश्च तेषां लोचनानि नेत्राणि तेषाम् आनन्दस्य प्रमोदस्य उत्पादने निर्मापणे पटुश्चतुरः तत्संबोधनं हे बटो इति। कुतः खलु समागतोऽसि। वटुराह—

[पृष्ठ ६४] अभिनवेति—अभिनवा नूतनाश्च ते जनाश्च तेषां मनसाम् आह्लादनानि तानि वचनानि तान्येवागदा औषधानि तेषां प्रयोगे चरकभट्टारक इव तत्संबोधनम्। सकलेति—सकलकलानां विलासगृहरूपा ये विद्वज्जनास्तैः पवित्रात्पाटलिपुत्रात् तन्नामधेयात् नगरात्। किमर्थं समागतोऽसि। अध्ययनार्थम्। काधिजिगांसेति—क्व कस्मिन्विषये अधिजिगांसा ज्ञातुमिच्छा तस्या अधिकरणम् आधारभूतं भवतः अन्तःकरणं

मन: असित उच्यताम् । वाङ्मलेति—वाचां मल: वाङ्मलः अशुद्धवचनप्रयोगः तस्य क्षालनं करोतीति क्षालनकरं तस्य प्रकरणं तस्मिन् व्याकरणे । यद्येवमिति—मदन्तिके मत्समीपे । स्वाध्यायध्याने एव सर्वस्वं सम्पूर्ण धनं यस्य तत्संबोधनम् हे स्वाध्यायध्यानसर्वस्व । समास्व सम्यक्-विनयेन तिष्ठ । परवादीति—परवादिगर्वविनाशिनीनां वाचां प्रक्रमः आरम्भ एव असिः खड्गः यस्य तत्संबोधनम् । हे भगवन्, साधु तिष्ठामि भवतः सन्निधौ । तदनु तदनन्तरम् । अतीतेति—अवसानं यातेषु कियत्सु समयविभागेषु । बटो इति—बटो मार्तण्डः भालप्रदेशं बाधते । तद्गृहाण इमं कमण्डलुम् । पर्यटाव आगच्छावः । बटुः यथाज्ञापयति भगवान् । पुनरिति—पुनः पुरबाह्यप्रदेशे निर्गते याते सत्यसंयते वेषमुनौ । स कपटबटुरिति—स बटुवेषी विक्रिया-दर्शितधान्याङ्कुरवृन्दव्याप्ताम् अवनिं भूमिम् अकार्षीत् अकरोत् । तद्दर्शनादिति—तदवलोकनात् द्रव्यलिङ्गी-मुनिः ईषत्कालं व्यलम्बिष्ट विलम्ब्य अतिष्ठत् । भगवन् इति—भगवन् किमिति अनवसरे अस्थाने च विलम्बः क्रियते । बटो, आगमे किल एते धान्याङ्कुराः स्थावराः एकेन्द्रियाः प्राणिनः पठ्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते । भगवन्-श्वासादिष्विति—अमीषां धान्याङ्कुराणां प्राणः दशसु प्राणेषु मध्ये कियतिथगुणः कतितमः प्राणः । केवलमिति—यथा मणिमयाङ्कुराः पृथ्वीविकाराः अचेतनास्तथेमे धान्याङ्कुराः अचेतनाः भूमिविकाराः ।

[पृष्ठ ६५] वेषमुनिः—साध्वयमभिदधाति । शोभनमयं बटुर्ब्रवीति । इति विचिन्त्य विहृत्य च विहारं कृत्वा च निःशङ्कं संशयं मनसि अधृत्वा निष्पादितनीहारः निष्पादितः विहितः नीहारः शौचविधिर्येन । तथा विरहितव्याहारः विरहितस्त्यक्तो व्याहारः भाषणविधिर्येन स भव्यसेनः करेण किमपि अभिनयन् संज्ञां कुर्वन् अनेन बटुना एवं उक्तः "भगवन्, किमिदं मौनेनाभिनीयते । जिनरूपाजीवः जिनरूपेण नग्नताधारणेन आजीवतीति उदरपोषणं करोतीति जिनरूपाजीवः । सः 'अभिमानस्य रक्षार्थं प्रतीक्षार्थं श्रुतस्य च । ध्वनन्ति मुनयो मौनम् अदनादिषु कर्मसु ॥१८०॥ अभिमानस्य अयाचनायाः रक्षणहेतोः, श्रुतस्य प्रतीक्षार्थं विनयार्थम् आदरार्थम् अदनादिकर्मसु भोजने, स्नाने, सामायिकादिकषट्कर्मसु, हदने, मूत्रणे इत्यादिकार्येषु मुनयो मौनम् अभाषणं ध्वनन्ति ब्रुवन्ति । इति मौनफलम् अविकल्प्य असंकल्प्य जातजल्पः कृतभाषणः, द्विजात्मज, विप्रबटो, समन्विष्य संशोध्य समानीयताम् आवायत्कायो गोमयो यस्मिन् जीवोत्पत्तिर्नास्ति स गोमयः शुष्कः भसितपटलं भस्मसमूहः, इष्टकाशकलम् अग्निपक्वमृत्तिकाखण्डो वा । भगवन्, अखिललोक-शौचोचितप्रवृत्तिकायां सकलजनैः शुद्धये क्रियते उचिता प्रवृत्तिः यस्यां तस्यां मृतिकायां को दोषः ? बटो, प्रवचनलोचननिचायिकाः प्रवचनलोचनेन आगमनयनेन निचीयन्ते अवलोक्यन्ते इति प्रवचन-लोचननिचायिकाः तत्कायिकाः पृथ्वी एव कायः शरीरं येषां ते जीवाः किल तत्र सन्ति । भगवन्, ज्ञानदर्शनो-पयोगलक्षणो जीवगुणः, न च तेषु तद्गुणद्वयम् उपलभ्यते । मृत्तिकायां ज्ञानं दर्शनं च न विद्यते इति भावः । यद्येवं यदि तत्र जीवगुणो नोपलभ्यते तर्हि आनीयतां मृत्सा कृत्स्ना सकला प्रशस्ता मृत्तिका असुमत्सेव्या प्राणिभिः सेवनीया बटुस्तथाचर्य—बटुस्तथा कृत्वा कुण्डिकां कमण्डलुमर्पयति । मुधामुनिर्जलविकलां कमण्डलुं करेण आकलय्य ज्ञात्वा, बटो, रिक्तोऽयं कमण्डलुः । भगवन्, इदमुदकं अचिरवल्ले अचिरं नूतनं वल्लं संवरणं यस्य तस्मिन् तल्ले तडागे समास्ते विद्यते । बटो, पटापूतपानीयादाने पटेन वस्त्रेण अपूतम् अगालितं तच्च तत्पानीयं जलं तस्यादाने ग्रहणे महदादीनवं महादोषः यतस्तत्र जन्तवः सन्ति । तदसत्यम् इह स्वच्छतया निर्मलतया विहायसीव आकाश इव पयसि जले तदनवलोकनात् जन्तूनामदर्शनात् । इति वचनात् बटुभाषणात्, बहिस्तन्त्र-संयमिनि बाह्यतन्त्रेण बाह्यप्रवृत्त्या संयमिनि यतौ तत्त्वाभिनिवेशवशिकाशयवेश्मनि तत्त्वानां जीवादीनाम् अभिनि-वेशः यथार्थश्रद्धा तत्र वशिको वन्ध्यः आशयोऽभिप्रायस्तस्य वेश्म इव तस्मिन्मुधामुनौ तद्देशम् उद्दिश्य अवलम्ब्य आश्रितशौचे कृतपावित्र्ये खचरेण विद्याधरेण चिन्तितम् । अत एव भगवान् अतीन्द्रियपदार्थप्रकाशनशेमुषीम् अतीन्द्रियाः पदार्थाः पापपुण्यानि, अणवः इत्यादीनां प्रकाशने प्ररूपणे शेमुषीं बुद्धिं प्राप्तः ।

[पृष्ठ ६६] श्रीमुनिगुप्तः अस्य किमपि वाचिकं संदेशं न प्राहिणोत् न प्रेषयति स्म । यस्मात् अस्मिन् भव्यसेने प्रदीपवर्तिवदनमिव प्रदीपस्य दशामुखमिव अन्तस्तत्त्वसर्गे अन्तस्तत्त्वम् अध्यात्मतत्त्वं तस्य सर्गे उत्पत्तौ निसर्गमलीमसं स्वभावमलिनं मानसं च बहिःप्रकाशने सरसं प्रीतियुक्तं च । भवति चात्र श्लोकः—

जले तैलमिवेति—रसवत् पारद इव यथा पारदः धातुषु लोहादिषु वेधाय भवति लोहादिकं स्वस्पर्शेन अन्तः प्रविश्य वा सुवर्णीकरोति तथा यत्र ऐतिह्यं श्रुतज्ञानम् अध्यात्मज्ञानं रसवत् अन्तः प्रविश्य मुन्यादिकं रत्नत्रयवन्तं न करोति तत्र स अन्तर्बोधः जले तैलमिव वृथा तत्र केवलं बहिर्द्युतिरेव ।

इत्युपासकाध्ययने भवसेनदुर्विलसनो नाम दशमः कल्पः ॥१०॥

११. अमूढताप्रौढिपरिवृढो नामैकादशः कल्पः

परीक्षितस्तावत्प्रसभाविर्भविष्यद्भवसेनो भवसेनः । प्रसभं हठात् आविर्भविष्यन्ती प्रकटं भविश्री भवस्य संसारस्य सेना यस्य सः भवसेनः परीक्षितस्तावत् । इदानीम् अधुना **भगवदिति**—भगवतः श्रीमुनिगुप्तस्य आशीर्वाद एव पादपो वृक्षस्तस्य उरसादाय वसुमतिमिव भूमिमिव रेवतीं राज्ञीं परीक्षे, इति आक्षिप्तं विमृष्टम् अन्तःकरणे मनसि येन स विद्याधरः ब्रह्मण आकारं गृहीत्वा सकलं पुरं क्षोभयामास । कस्यां दिशि पुरस्य नगरस्य पुरन्दरदिशि इन्द्रदिगायाम् । कथंभूतं ब्रह्मण आकारम् । **हंसेति**—हंसानाम् अंसाः भुजशिरांसि तेषाम् उपरि उत्तंसः भूषणभूतश्चासौ आवासः विमानं तस्य वेदिका वितर्दिः तस्याः अन्तराले मध्ये या कमलकर्णिका कमलकोषः तस्याः उपरि आस्तीर्णम् प्रसारितं यन्मृगाजिनं हरिणचर्म तदेव पर्यङ्कपर्यायः मञ्चकतुल्यता यस्य तम् । पुनः कथंभूतम् **अमरेति**—अमरसरसि देवतडागे संजातानि यानि सरोजानि कमलानि तेषां सूत्राणि तैः वर्तितं विहितं यदुपवीतं यज्ञसूत्रं तेन पूतः कायः शरीरं यस्य तम् । पुनः कथंभूतम् ? **अमृतेति**—अमृतमयाः करा यस्य स अमृतकरश्चन्द्रः तस्य कुरङ्गकुले हरिणवंशे जातो यः कृष्णसारो मृगविशेषः तस्य कृत्तिश्चर्म तेन कृतः विहितः उत्तरासंगस्य वामस्कन्धे धार्यमाणस्य वस्त्रस्य संनिवेशो रचना येन तम् पुनः कथंभूतम् । **अनवरतेति**—अनवरतं सततम् यो होमस्यारम्भः तस्मात् संभूतं यद्भसितं भस्म तेन विहिता ये पाण्डवः शुभ्राः पुण्ड्रकास्तिलकाः तेन उत्कटो उद्दीप्तः निटिलदेशो ललाटदेशो यस्य तम् । पुनः कथंभूतम् । **अम्बरेति**—अम्बरे आकाशे चरन्ति विहरन्ति ये ते अम्बरचरा देवाः तेषां तरङ्गिणी नदी तस्या जलं तेन क्षालितानि धौतानि यानि कल्पकुजानाम् कल्पतरूणाम् वल्कलानि त्वचस्तैर्वलितानि यानि उत्तरीयाणि ऊर्ध्वदेहाच्छादकानि वस्त्राणि तेषां प्रतानं जालं तेन परिवेष्टितं जटावलयं जटामण्डलं येन स तम् । पुनः कथंभूतम् । **अमृतेति**—अमृतम् अन्धः अन्नं येषां ते अमृतान्धसः देवाः तेषां सिन्धुर्नदी गङ्गा तस्या रोधसि तटे संजाता ये कुतपाङ्कुराः कुशतृणाङ्कुराः, अक्षमाला जपमाला, कमण्डलुः, योगमुद्रा च एभिश्चतुर्भिः अङ्कितम् चिह्नितम् करचतुष्टयं हस्तचतुष्कम् यस्य तम् । पुनः कथंभूतम् । **उपासनेति**—उपासनार्थं समायाताः समागता ये मतङ्ग-भृगु-भर्ग-भरत-गौतम-गर्ग-पिङ्गल-पुलह-पुलोम-पुलस्ति-पराशर-मरीचि-विरोचना एव चञ्चरीकानीकं भृङ्गसमूहः तेन आस्वाद्यमानो लिह्यमानो यत् वदनारविन्दस्य मुखकमलस्य कन्दरात् विनिर्गलन्तः बहिरागच्छन्तो ये वेदास्त एव मकरन्दसंदोहो यस्य तम् । पुनः कथभूतम् ।

[**पृष्ठ ६७**] **उभयेति**—उभययोः पार्श्वयोः अवस्थिता मूर्तिं तनुं धृत्वा समागताः निखिलाः कला इव या विलासिन्यः तासां समाजेन समूहेन संचार्यमाणो वीज्यमानश्चामराणां प्रवाहः यत्र तम् । पुनः कथंभूतम् । **उदारेति**—उदारो महान् नादो रवो यस्य स चासौ नारदो मुनिस्तेन मन्यमानः स्वीक्रियमाणः प्रतीहारव्यवहारः द्वारपालनकर्म यस्य तम् । अम्भोजोद्भवाकारम् अम्भोजं कमलं तत् उद्भवः उत्पत्तिस्थानं यस्य ब्रह्मणः आकारं स्वरूपम् आसाद्य प्राप्य स विद्याधरः समस्तमपि नगरं क्षोभयामास क्षुब्धम् अकरोत् । सापि रेवती कथंभूता । **जिनेश्वरेति**—जिनेश्वरस्य चरणयोः पादयोः प्रणयः प्रीतिः स एव मण्डपः तस्य मण्डनं भूषणस्वरूपा माधवीलतेव, वरुणधरणीश्वरवरुणनामधेयस्य धरण्याः पृथ्व्या ईश्वरस्य पत्युर्महादेवी नृपतेः वरुणराजस्य पुरोहितात् तम् उदन्तं ब्रह्मणो वार्ताम् आकर्ण्य, त्रिषष्टिशलाकासु उत्तमेषु पुरुषेषु मध्ये ब्रह्मा नाम न कोऽपि श्रूयते । तथा—**आत्मनीति**—ब्रह्मेति गीः शब्दः आत्मनि जीवे, मोक्षे सकलकर्मविश्लेषणलक्षणे, ज्ञाने, वृत्ते, चारित्रे, भरतचक्रवर्तिन आद्यस्य पितरि वृषभनाथे, प्रगीता प्रवृत्ता । अत एतान्मुक्त्वा न चान्यो ब्रह्मा विद्यते । ॥१८२॥ इति च अनुस्मृत्य विमर्शं कृत्वा अविस्मयबुद्धिः गर्वरहितमतिः अतिष्ठत् (पुनः दक्षिण-

दिशि चन्द्रप्रभः क्षुल्लकः विष्णुरूपं बभारेति) पुनः कीनाशदिशि कीनाशो यमः तस्य दिक् दक्षिणाशा तस्याम्, अधोक्षजवेषं विष्णुवेषं कथंभूतम्। पवनाशनेति—पवनाशनानां सर्पाणाम् ईश्वरः शेषः सर्पराजस्तस्य शरीरं तदेव शयनं शय्या तत् आश्रितम् अवलम्बितम् अपघनं शरीरं (विष्णोः) यस्य तम्। इतस्ततः प्रकामम् अतिशयेन प्रसरन्ती चासौ तदङ्गस्य शेषाङ्गस्य उत्तरङ्गा उन्नतलहरीवत् या कान्तिः प्रभा तस्याः प्रकाशस्तेन परिकल्पितम् अमृताम्बुधेः सुधासागरस्य संनिधानं समीपभावो येन तम्। पुनः कथंभूतमधोक्षजम्। उल्लेखेति—उल्लेखेन घर्षणेन उल्लसन्तः शोभमाना ये फणामणीनां मरीचयः किरणाः तेषां निचयः समूहः स एव सिचयः वस्त्रं तेन आचरितो विहितो निरालम्बे अम्बरे आकाशे वितानभावः उल्लोचभावो येन तम्। अमर्त्येति—अमर्त्या देवास्तेषाम् उद्यानं वनं नन्दनवनमित्यर्थः, तत्र यानि प्रसूनानि पुष्पाणि मञ्जरीजाल च अभिनवनिर्गता आयता सुकुमारा सकुसुमा अकुसुमा च मञ्जरी कथ्यते मञ्जरीणां जालं तेन जालेन जटिला प्रताना विस्तीर्णा या वनमाला "आजानुलम्बिनी माला सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वला। मध्ये स्थूलकदम्बाढ्या वनमालेति कीर्तिता" तस्या निर्गतमकरन्देन मधुना मण्डितः कौस्तुभस्य रत्नविशेषस्य प्रभावो यस्य तम्। पुनः कथंभूतम्। असितेति—असितानि कृष्णकान्तीनि सितानि धवलद्युतीनि यानि रत्नानि तन्निर्मितकुण्डलयोर्द्योतेन संपादितौ शोभमानौ च तौ पक्षौ पार्श्वौ तौ एव विभावितौ यौ पक्षौ शुक्लकृष्णपक्षाविव वा ताभ्याम् आक्षेपो ग्रहणं यस्य तम्। पुनः कथंभूतम्। अनेकेति—अनेकानि च तानि माणिक्यानि च पद्मरागरत्नानि तेषाम् आधिक्यं विपुलता तेन आघटितो रचितश्चासौ किरीटश्च तस्य कोटयो अग्राणि तेषु विन्यस्ताः स्थापिता अस्तोका विपुलाः स्तवका गुच्छरूपाः पारिजातप्रसवाः पारिजातकुसुमानि तेषां परिमलस्य सुरभिगन्धस्य जनमनोहरस्य पानपरिचयेन चटुला लुब्धाः चञ्चला वा चञ्चरीका भ्रमरास्तेषां चयैः समूहैः रच्यमानोऽपरोऽन्यो इन्दीवराणां नीलकमलानां शेखराः शिखाविन्यस्तमालास्तेषां कलापो वृन्दं यस्य तम्। पुनः कथभूतम् गम्भीरेति—गम्भीरा निम्ना या नाभी तुन्दकूपी सा एव नद तस्मान्निर्गतो य उन्नालो दीर्घनालस्तस्य यत् नलिनं कमलं तदेव निलयं गृहं तत्र निलीनः स्थितो योऽसौ हिरण्यगर्भः ब्रह्मा तेन संभाष्यमाणानाम् उच्यमानानां नाम्नां सहस्रेण कलो मनोहरस्तम्। पुनः कथंभूतम्। आखण्डल इन्द्रः जलधिसुता क्षीरोदतनया लक्ष्मीश्च ताभ्यां संवाह्यमानौ सेव्यमानौ क्रमौ चरणौ कमले इव यस्य तम्। पुनः कथंभूतम्।

[पृष्ठ ६८] अन इति—अनश्चरणं शकटचक्रम्, सुदर्शनचक्रमित्यर्थः, शङ्खः पाञ्चजन्यः, शार्ङ्गं चापः, नन्दकः खड्गः तैः संकीर्णाः व्यापृताः करा यस्य तम्। पुनः कथंभूतम्। असुरेति—असुराणां दैत्यानां वृन्दं समूहः तस्य बन्दीकृता कारागारनिक्षिप्ता याः सुन्दर्य अङ्गनाः ताभिः संपाद्यमानाः क्रियमाणाश्चामरैर्ये उपचारास्तेषां व्यतिकरो मिश्रणं यस्य तम्। पुनः कथंभूतं तम्। अरुणेति—अरुणस्य सूर्यसारथेः अनुजो लघुभ्राता गरुडः तेन विनीयमानाः शिक्ष्यमाणाः सेवागताः आदरकरणार्थं समागताः सुरा देवाः तेषां समाजो यस्य तम्। तथाभूतम् अधोक्षजवेषं विशिष्य विष्णुवेषं गृहीत्वेत्यर्थः। स विद्याधरचरः दीक्षाग्रहणात् पूर्वं विद्याधरत्वं दधानः विद्याधरचरः भूतपूर्वे चरट् विधानात्। समस्तमपि नगरं क्षोभयामास। सापि जिनसमयस्य जिनागमस्य रहस्यस्य गूढतत्त्वस्य अवमायो निश्चयस्तस्मिन् सरस्वतीवेति सरस्वती रेवती कर्णपरम्परया किंवदन्तीं वार्ताम् उपश्रुत्य 'सन्ति खलु अर्धचक्रवर्तिनो नवनारायणा नवकौमोदक्यास्तन्नामधेयाया गदायाः स्वामिनः। ते तु सम्प्रति न विद्यन्ते। अयं पुनः अपर एव कश्चिदिन्द्रजालिकः इन्द्राणाम् इन्द्रियाणां जालिकः आवारकः मायाकर्म कुर्वाणः कोऽपि लोकानां विप्रलम्भनाय वञ्चनार्थम् अवतीर्णः। इति निर्णीय विनिश्चित्य अविचलितचित्ता दृढचित्ता समासीत् समभवत्। पुनः पाशभृद्दिशि पाशं बिभर्तीति पाशभृत् वरुणः तस्य दिशि पश्चिमदिशि स पश्चिमदिक्पालोऽस्ति। शिशिरेति—शिशिरः शीतलः स चासौ गिरिश्च शिशिरगिरिः हिमगिरिरिति भावः तस्य शिखरं तद्वदाकारो यस्य कायस्य स चासौ शाक्वरः बलीवर्दः तम् आश्रितः शरीरस्य (महादेवस्य देहस्य) आभोगः विस्तारो यस्य तम्। पुनः कथंभूतं महादेवम्। अन्वगिति—अन्वग्भूता अनु पश्चात् अञ्चति सरति इति अन्वग्भूता महादेवाङ्कोपरि निवासित्वादन्वग्भूता चासौ नगनन्दना हिमालयपुत्री पार्वती, तस्याः निबरीशः पीवरः स चासौ स्तनः कुचः तेन तुङ्गिमउन्नतः स्तिमितः स्तब्धः पृष्ठभागो यस्य तम्। पुनः कथंभूतम्।

अनिमिषेति—अनिमिषाः देवाः तेषां वनं नन्दनं तत्र विसर्पिणः प्रसरन्तः ते च ते कर्पूरोद्भिदानां कर्पूरवृक्षाणां गर्भेतः सम्भवानां परागाः रजांसि तैः पाण्डुरितः शुभ्रीकृतः पिण्डस्य देहस्य परिकरोऽवयवसमूहो यस्य तम् । पुनः कथंभूतं तम् । **अचिरेति**–अचिरा सूक्ष्मा या गोरोचना गोपित्तमणिः तस्या भङ्गः मर्दनं तस्माज्जातो यः रागः कान्तिः तद्वत् पिङ्गलं पिशङ्गं तत् अम्बकम् नेत्रं तदेव भालसरसो ललाटसरोवरस्य स्वर्णसरोजाकरं हेमकमलवृन्दं यस्य तम् । पुनः कथंभूतं तम् । **अबालेति**—अबालानि महान्ति तानि कपालानि नृकरोटयः तेषां दलकलापाः दलसमूहाः त एव आलवालवलयानि तत्र विलसन्तः मौलयः शिरांसि तेषां मूलानां व्यतिकरो मिश्रणं यस्य तम् । पुनः कथंभूतं तम् । **अतिविकटेति**—अतिविकटानाम् अतिविस्तीर्णानां जटानाम् अन्योन्य-संलग्नकेशानां जूटाः समूहास्तेषां कोटरेषु गर्तासु पर्यटन्ती प्रवहन्ती चासौ गगनाटनतटिनी गगनाटना देवास्तेषां तटिनी गङ्गानदीत्यर्थः, तस्याः तरङ्गा वीचयः त एव करा हस्तास्तेषां केलिः क्रीडा तस्यां कुतूहलितः आश्चर्यविषयीभूतः बालप्रालेयाकरः बालचन्द्रो यस्य तम् । पुनः कथंभूतं तम् । **आभरणेति**—आभरणानि भूषणानि तेषां भङ्गी रचना तया संदर्भिता ग्रथिता ये अनर्भका अशिशवः महान्त इत्यर्थः भुजङ्गाः सर्पाः तेषां भोगाः शरीराणि तेषु संगतानि खचितानि च तानि माणिक्यानि च पद्मरागरत्नानि तेषां विरोकानि तेजांसि तेषां निकरः समूहः तस्य अतिशयस्तेन शाराणि शबलानि च तानि शार्दूलाजिनानि व्याघ्रचर्माणि तैर्विराजमानः शोभमानस्तम् । पुनः कथंभूतं तम् । **उड्डमरेति**—उड्डमरं श्रेष्ठं यत् डमरुकं वाद्यविशेषः (महादेवस्य नर्तनसमये तेन वाद्यमानो वाद्यविशेषः) अजकावं नाम धनुः, कृपाणम् असिः, परशुः परश्वधः, त्रिशूलखट्वाङ्गौ अस्त्रविशेषौ, एते आदौ येषां तेषां संगः संयोगः तेन संकटा व्याप्ताः ये सकोटाः हस्ताः तेषां कोटिविस्तारः अग्रविस्तारः यस्य तम् । पुनः कथम्भूतं तम् । **स्तम्बेरमेति**—स्तम्बेरमो हस्ती तन्नामकोऽसुरः गजासुर इति तस्य वर्मणस्तनुत्रात् द्रवत् गलत् यद्रुधिर रक्तं तेन दुर्दिनीकृतं वृष्टिप्लुतं नर्तावनीप्रतानं नृत्यभूमिपरिसरो यत्र तम् । अनलोद्भव-निकुम्भ-कुम्भोदर-हेरम्ब-भिङ्गिरिट्यादयो ये पारिषदः परिषदि साधवः पारिषद्याः सभासदः प्रमथादयः तेषां परिषत् सभा तया परिकल्प्यमानम् बलिविधानं उपहारविधिः यस्य तम् । पुनः कथंभूतम्—**अहिर्बुध्नेति**—अहिर्बुध्नस्य शिवस्य अवसरो अवतरणं तस्य निधानं स्थानम् आकारम् अनुकृत्य स विद्याधरः समस्तमपि नगरं क्षोभयामास ।

[पृष्ठ ६९] सापि स्याद्वादसरस्वती एव सुरभिर्धेनुः तस्याः संभावने आदरकरणे बल्लवीव गोपीव वरुणमहोशमहादेवी वरुणनृपालस्य कृताभिषेका राज्ञी इमां जनश्रुति लोकोक्ति कुतश्चित् पश्चिमप्रतोली-सृतात् पश्चिमरथ्याया निर्गतात् विपश्चितः विदुषः निश्चित्य निर्णीय 'निशम्यन्ते श्रूयन्ते खलु प्रवचने तपः-प्रत्यवायवार्ताभद्रा तपोविघ्नस्य वार्तया अभद्रा अकल्याणयुक्ताः रुद्रा एकादश ते पुनः संप्रति स्वकीयाशुभ-कर्मणां विपाकात् उदयात् कालिन्दीसोदरोदरगर्तवर्तिनः कालिन्दी यमुना तस्याः सोदरो यमः तस्य उदरं जठरं तदेव गर्तम् अवटः बिलं तद्विर्वतिनः संजाताः। तस्मात् अयम् अपर एव कश्चित् अन्य एव नरेन्द्रविद्याविनो-दाविदग्धहृदयमर्दी इन्द्रजालिकविद्याचातुर्येण अविदग्धा मुग्धास्तेषां हृदयव्यामोहकः कपर्दी महादेवः इति च प्रपद्य ज्ञात्वा निःसंदिग्धबोधा निरारेकज्ञाना समासिष्ट सम्यक्तया स्वगृह एवोपविष्टाः। पुनः स्वापतेयेश-दिशि स्वापतेयं धनं तस्य ईशः स्वामी कुबेरः तस्य दिशि दिशायाम् उत्तरस्यां दिशायामित्यर्थः। विश्वम्भरात-लादूर्ध्वं समवसरणं विश्वम्भराया भूमेस्तलादूर्ध्वम् उपरि अयोमुखासनदशसहस्रार्धविकृष्टम्, अयः लोहं मुखे अग्रे येषां ते अयोमुखा बाणाः तेषाम् आसनानि धनूंषि तेषां दशसहस्रं तस्य अर्धं पञ्चसहस्रं धनूंषि तावतान्तरेण दूरनभसि स्थितम्, एकेन्द्रनीलशिलावर्तुलाधिष्ठानोत्कृष्टम् एका अखण्डा चासौ इन्द्रनीलमणिशिला तया निर्मितम् यत् वर्तुलं वृत्तम् अधिष्ठानम् आधारः तेन उत्कृष्टम् उत्तमम्, पुनः कथंभूतम्। अखिलागतिगर्तोत्तरण-मार्गैरिव अखिलाश्च ता गतयः देवमानवतिर्यङ्नारकाश्चतस्रो गतयस्ता एव गर्तास्ताभ्य उत्तरणमार्गैरिव उत्थानमार्गैरिव सोपानसर्गैः आरोहणरचनाभिः चतुर्दिशम् चतुर्षु दिक्षु यथा स्यात्तथा उपाहितावतारं गृहीता-वतारम्, पुनः कथंभूतम्। **अनर्थेति**—अनर्था विघ्नाः तन्नाशका द्रुघणा इव परशव इव ये मणयः रत्नानि तैः श्लाघ्याः प्रशस्या ये उन्नता नवप्राकारास्तेषामन्तः आचरिता निर्मिता स्पष्टा अष्टविधा अष्टप्रकारा

वसुन्धरा भूमयो यत्र पुनः कथंभूतम् । **अनवधीति**—अनवधि अमर्यादरूपा निर्माणं रचना येषां तानि माणिक्यानि तैः सूत्रिता खचिता या त्रिमेखला कटनीत्रयं तस्य अलंकाररूपा ये कण्ठीरवाः सिंहाः तैर्युक्तं यत्पीठमासनम् तत्र प्रतिष्ठा उपवेशनं यस्य स चासौ परमेष्ठी च तद्वत्प्रतिमा आकृतिर्यस्य तत् पुनः कथंभूतम् । **अशेषत इति**—अशेषतोऽभितः समासीना या द्वादशसभाः तासाम् अन्तराले मध्ये विलसन्ति शोभमाना निलिम्पानां देवानाम् आनका वाद्यानि, अशोकानोकहः अशोकवृक्षः प्रमुखानि मुख्यानि प्रातिहार्याणि सुर-पुष्पवृष्टिदिव्यध्वनिचामरादीनि अष्टौ तैः शोभितम् । पुनः कथंभूतम् । **ईषदिति**—ईषत् स्तोकं उन्मिषन्ति स्फुटन्ति विकसन्ति यानि अनिमिषाणां देवानाम् उद्यानस्य नन्दनवनस्य प्रसूनानि पुष्पाणि तेषाम् उपहारः अर्चनम् तस्य हरिचन्दनस्य तन्नामककल्पवृक्षस्य आमोदोऽतिनिर्हारी गन्धः तेन सनाथा युक्ता या गन्धकुटी तदाख्या सभा तया समेतं युक्तम् । पुनः कथंभूतम् । **अनेकेति**—अनेके मानस्तम्भाः जिनेन्द्रदर्शनार्थं समागतभव्यजनमानहरणे समर्था ये रत्नस्तम्भास्ते मानस्तम्भा उच्यन्ते, तडागाः सरांसि,तोरणानि वन्दनमालाः, स्तूपाः ध्वजा, धूपनिपा धूपघटाः निधानानि नवनिधयस्तैर्निर्भरं भरितम् । पुनः कथंभूतम् । **उरगेति**—उरगा नागदेवाः नरा मनुष्याः, अनिमिषा देवाः तेषाम् नायकाः स्वामिनः तेषां अनीकानि सैन्यानि तैः आनीतः विहितः स चासौ महामहोत्सवस्तस्य प्रसरो यत्र तत् । **अमित इति**—भवसेनः प्रभृतिः आदौ येषां ते भवसेनप्रभृतयः ते च ते आर्हताभासाश्च जैनाभासाश्च तैः प्रभाविता यात्रा प्रभुदर्शनार्थं गमनं तस्य अधिकरणम् आधारः तथाभूतं समवसरणं विस्तार्य स विद्याधरः समस्तमपि नगरं क्षोभयामास ।

[पृष्ठ ७०]—सापि जिनममत्रोपदेशरसैरावती जिनशास्त्रोपदेशजला ऐरावतनदीव रेवतीराज्ञी इमं वृत्तान्तोपक्रमं जनोदन्तस्य उद्भूतिं कुतोऽपि जैनाभासजनमतेर्ज्ञात्वा, 'सिद्धान्ते खलु चतुर्विंशतिरेव तीर्थंकराः ते चाधुना सिद्धवध्वाः सिद्धकामिन्याः सौधस्य प्रासादस्य मध्ये विहारः क्रीडा येषां ते तस्मात् एष अपरः एव कोऽपि मायाचारी तस्य जिनेन्द्रस्य रूपधारी । इति चावधार्य विनिश्चित्य अविपर्यस्तमतिः यथार्थमार्गे प्रवर्तित-बुद्धिः परि सर्वतः आत्मधामन्येव स्वगृहे एव आत्मरूपे गृहे वा प्रवर्तितम् आचरितम् धर्मकर्मणां चक्रं वृन्दं यत्र तस्मिन् सुखेन आसांचक्रे उवास । (पुनः स क्षुल्लकः मुनिवेषं धृत्वा रेवतीं परीक्ष्यामूढतावतीं निश्चित्य तामभ्य-नन्दयत्) पुनः स बहुकूटकपटमतिः बहुकूटा बहुस्थिरा कपटे मतिर्यस्य स दर्शयतिस्ताभिः विविधस्वभावाभिः आकृतिभिः ब्रह्माहरिहरजिनाकृतिभिः तदास्वनितं तस्या रेवत्या आस्वनितं मनः अक्षुभितं निश्चलम् अवगत्य ज्ञात्वा उपात्तो गृहीतः मासोपवासिनो मुनेर्वेषो येन स क्षुल्लकः, **क्रियेति**—लोकानाम् आचरणं दृष्ट्वा अनुमातुं योग्यः सकलेन्द्रियप्रवृत्तिर्येन तथाभूतः क्षुल्लकः गोचराय आहारार्थं तदालयं रेवत्या गृहं प्रविष्टः तया स्वयमेव यथाविधि प्रतिग्रहादिनवविधीन् कृत्वा अनतिक्रम्य प्रतिपन्नचेष्टः कृतादरक्रियः तथापि विद्याबलात् कथंभू-तात् । अनलनाशः अग्निपाचनशक्तिस्तम्भनम्, वमनादिप्रकारः ताभ्यां प्रबलात् **कृतेति**—कृतम् अनेकं नानाविधं मानसस्य उद्वेजनकारकं पीडाकरं वैयात्यम् औद्धत्यं येन स रेवत्याः क्वचिद् कस्मिन्नपि कार्ये मनोमौर्ख्यम् अवीक्षमाणः, रेवतीमेवमवदत् । 'अम्ब मातः, **सर्वाम्बरचरेति**—सर्वे च ते अम्बरचरा विद्याधराः तेषां चित्तानाम् अलंकारभूतं भूषणभूतं यत्सम्यक्त्वरत्नं तस्य आकरभूमे हे रेवति मातः, दक्षिणमथु-रायां प्रसिद्धाश्रमपदः सर्वगुणरत्ननिर्माणकारणविदूरपर्वतरत्नभूमिः, श्रीमुनिगुप्तमुनिः, मदर्पितरचनैः वचनैः मम अर्पिता रचना येषां तथाभूतैः वचनैः पुनः कथंभूतैः । **परिमुषितेति**—परिमुषितानि विनाशितानि अशेषाणि कल्मषाणि पापानि यैस्तैः सवनैरिव जिनाभिषेकैरिव, पुनः कथंभूतैः ? **अखिलेति**—अखिलाश्च ते कल्पाः सकलभूषणानि तेषां परम्परा संमूहस्तस्याः विरोचनभूतैः किरणैरिव भवतीं पूज्यां रेवतीम् अभिनन्दयति धर्मवृद्ध्याशिषा सत्करोतीति भावः । रेवती कथंभूता, **भक्तिरसेति**—भक्तिरसवशेन उल्लसद् विकसत् च तल्लपनं मुखं तस्य रागः कान्तिस्तेनाभिरामं यथा स्यात्तथा ससंभ्रमं सादरं च सप्तप्रचारोपसदैः सप्त च ते प्रचाराः सप्तप्रचाराः सप्तगमनानि सप्तचरणन्यासाः तानि उपसीदन्ति इति सप्तप्रचारोपसदानि तैः पदैः पदनिक्षेपैः तां दिशमाश्रित्य श्रीमुनिगुप्तमुन्यधिष्ठितदिशमवलम्ब्य श्रुतविधानेन आगमोक्त-विधिना विहितप्रणामा कृतवन्दना प्रमोदमानाः आह्लादं प्राप्नुवन्तः मनःपरिणामाश्चेतोवृत्तयो यस्याः

सा तदर्पितानि क्षुल्लकमुखेन श्रीमुनिगुप्तमुनिना दत्तानि आशीर्वचनान्यापादिता ग्राहितवती । भवति चात्र श्लोकः—एषा रेवती कादम्बतार्क्ष्यगो-सिंहपीठाधिपतिषु कादम्बाः हंसाः, तार्क्ष्यो गरुडः, गौः बलीवर्दः, सिंहः प्रतीतः तैर्युक्तानां पीठानाम् आसनानाम् अधिपतयः स्वामिनः क्रमेण ब्रह्माहरिहरजिनेन्द्राः तेषु आगतेष्वपि एषा रेवती मूढतावती मौढ्ययुक्ता नाभूत् न भवति स्म ॥१७३॥

इत्युपासकाध्ययने अमूढतापरिवृढो नामैकादशः कल्पः ॥११॥

१२. धर्मोपबृंहणाह्वणो नाम द्वादशः कल्पः

[पृ० ७१] उपगूहेति—धार्मिकजनदोषझम्पनम् उपगूहः, दर्शनात् चरणाद्वा चलतां प्रत्यवस्थापनं तत्र स्थितीकारः उपगूहश्च स्थितीकारश्च उपगूहस्थितीकारौ । यथाशक्ति अज्ञानतिमिरम् अपसार्य जिनशासनमाहात्म्यप्रकटनं यथाशक्ति प्रभावनम् । वात्सल्यं च साधर्मिकान् प्रति निष्कपटं यथायोग्यमादरकरणम् । एते गुणाः सम्यक्त्ववैभववृद्धयै भवन्ति ॥१७४॥ तत्र—क्षान्त्येति—क्षान्त्या क्षमया क्रोधाभावेन, सत्येन प्राणिहितवचसा, शौचेन लोभाभावेन, मार्दवेन विनयेन मदाभावेन, आर्जवेन च अकपटभावेन, तपोभिः संयमैः दानैश्च समयबृंहणं शासनवृद्धिं कुर्यात् ॥१७५॥ सवित्रीवेति—माता यथा तनूजानां पुत्राणाम् अपराधं निगूहेत् आच्छादयेत् तथा सधर्मसु समानधर्मवत्सु गृहिषु मुनिषु वा दैवात् प्रमादाचरणात् सम्पन्नं प्राप्तं अपराधं दोषं गुणसंपदा निगूहेत् आच्छादयेत् ॥१७६॥ अशक्तस्येति—अशक्तस्य असमर्थस्य अपराधेन दोषेण धर्मः मलिनः दूषितः भवेत् किम् । भेके मण्डूके मृते सति पयोधिः समुद्रः पूतिगन्धितां दुर्गन्धितां न हि याति न गच्छतीति । यस्तु जनः जातं दोषं न गूहति, यस्तु धर्मम् न बृंहयेत् न वर्धयेत् तत्र जिनागमबहिःस्थिते जिनशास्त्रबहिर्भूते जने । सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनं दुष्करं दुर्लभम् ॥१७७॥

[पृ० ७२] (उपगूहनाङ्गकथा) श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—अत्र सम्यग्दर्शनस्य उपगूहनाङ्गे उपाख्यानं पूर्वमहापुरुषस्य प्रथितस्य चरितं श्रूयताम्—सुराष्ट्रदेशेषु पाटलिपुत्रे कथंभूते । मृगेक्षणेति—मृगस्येव ईक्षणे नयने यासां ता मृगेक्षणा हरिणनेत्रा युवतयः तासां पक्ष्मभिः सहितानि पक्ष्मलानि तानि च तानि मूलानि अग्राणि येषां तानि च अवलोकितानि कटाक्षाः तैः अपहसितं तिरस्कृतम् अनङ्गास्त्राणां मदनबाणानां तन्त्रम् कार्यम् कामिपुरुषमनोवेधनम् यत्र [यशोध्वजस्य भूभुजः सुवीरो नामसूनुः पुत्रः वीरपुरिषदमवादीदिति संबन्धः] कथंभूतस्य यशोध्वजस्य राज्ञः । सुसीमेति—सुसीमाख्या या कामिनी राज्ञी तस्याः मकरध्वजस्य इव मदनस्येव सुवीरः पुत्रोऽभूत् । कथंभूतः सः । पराक्रमेति—पराक्रमेण निजशौर्येण अक्रमेण युगपत् आक्रान्ताः वशीकृताः सकलाः प्रवीराः महाभटा येन सः पुनः कथंभूतः नृपसूनुः । अनासादितेति—विद्याभिः वृद्धाः विद्यावृद्धाः अनासादितः अलब्धं विद्यावृद्धसंयोगात् समयत्वम् आगमाध्ययनं तस्मात् अप्राप्तविद्यावृद्धजनसमागमशास्त्रत्वात्, विटेति—विटाः कामुकाः विदूषकाः पीठमर्दाः वैहासिकाः तैः दूषित-मलिनचित्तत्वात्, प्रायेण बहुशः परेति—परेषां द्रविणं धनम् दाराः स्त्रियश्च तस्य तासां चादानं ग्रहणम् तत्र उदारा महती क्रिया यस्य तथाभूतः स यशोध्वजसूनुः सुवीरः क्रीडार्थं क्रीडावने गतः । कितवेति—कितवा वञ्चकाः किराताः म्लेच्छाः पश्यतोहराः पश्यन्तं जनम् अनादृत्य हरन्तीति पश्यतोहराश्चौराः ते च ते वीराः भटास्तेषां परिषदम् सभाम् एवम् अवादीत् [यदवादीत् तदुच्यते]—अहो जनाः, विक्रमेति—विक्रमः शौर्यम् स एव एकः मुख्यो रसः अस्ति येषां ते विक्रमैकरसिकाः शौर्यैककार्यकारिणः, तेषु महासाहसिकेषु अतीव बलात्कारेण धनहरणादिकार्यकारिणः तेषु भवत्सु मध्ये किं कोऽपि मम प्रार्थनेति—मम प्रार्थनाया याञ्चायाः अतिथिरूपायाः मनोरथस्य सारथिः मम याचनाभिलाषपूरणप्रवीण इत्यर्थः किं कोऽपि अस्ति । यः खलु पूर्वदेशस्य वेशः वेश्याजनसमाश्रयः तेन अवाप्तं कीर्तनं येन तस्मिन् तामलिप्तिनगरे पुण्येति—पुण्यं सुकृतम्, पुरुषकारः प्रयत्नस्ताभ्याम्, आत्मेति—आत्मसात्कृतः स्वायत्तीकृतः रत्नाकरः मणिसमूहः रत्नखनिर्वा येन तस्य जिनेन्द्रभक्तनाम्ना अवतारो यस्य वणिक्पतेः वैश्यस्वामिनः, जिनसद्मनि जिनगृहे कथंभूते । सप्ततलेति—

सप्ततलानि भूमयो यस्य स चासौ अगारः गृहं तस्य अग्रिमा सप्तमा या भूमिः सप्तमं यत्तलं तां भजतीति भाक् तस्मिन् भामिनि, (अगारे गत्वा यः वैडूर्यमणि आनयति, स पारितोषिकं लभेत) तत्र स्थितं वैडूर्यमणि आनयति, कथम्भूतं । छत्रेति—छत्राणां त्रयं छत्रत्रयं तस्य शिखण्डं शिखाग्रं तस्य मण्डनीभूतम् अलंकाररूपम् अद्भुतम् विस्मयावहम् अद्भुतश्चासौ उद्योतश्च प्रकाशः तेन सनीडं सहितं वैडूर्यमणिम् इन्द्र-नीलमणिम्, आनयति तदानेतुः तम् आनयतः पुनः अभिलाषविषयस्य स्वेप्सितवस्तुनः निषेकः दानं तदेव पारि-तोषिकम् परितोषस्य संतोषस्य मूल्यमिव। तत्र च सदर्पः साहङ्कारः सूर्यो नाम समस्तमलिम्लुचानाम् सकल-चोराणाम् अग्रेसरः पुरोगामी वीरः किलैवम् अलापीत् अब्रवीत् । 'देव कियद्गहनमेतत् यतः योऽहं देवप्रासादात् प्रभोः प्रसादमुपलभ्य वियदवसाने नभसः अवसाने अन्ते इतोऽतिदूरे विरचितामरावतीपुरपरमेश्वरस्य नभसोऽन्ते निर्मितामरावतीनगरस्वामिनः पुरन्दरस्य इन्द्रस्यापि चूडालङ्कारनूतनं शिखाभूषणनवं मणिम्, पातालस्य अधोभुवनस्य मूले निलीनभोगवतीनगरस्य स्थितभोगवतीपुरस्य उरगेश्वरस्यापि उरगाणां नागदेवानाम् ईश्वरस्य स्वामिनः फणगुम्फनाधिक्यं फणानां स्फटानां गुम्फनाधिक्यं ग्रथनात् आधिक्यं यस्य, फणानामुपरि अधिकतया भासमानं माणिक्यं शोणरत्नम् आहरामि तस्य मे मनुष्यमात्रपरित्राणं मनुजैरेव रक्ष्यमाणधरण्याः मणिं रत्नम् । कथंभूतं लोचनेति—लोचनयोः गोचरं विषयं अगारविहारं अगारे गृहे विहारो यस्य गृहे वर्तमानं तं वैडूर्यमणिं अपहरतश्चोरयतः कियन्मात्रं महासाहसम् एतत्साहसं लीलयाहं करिष्यामीति भावः सूर्यचोरस्य । इति शौर्यं गर्जित्वा प्रघुष्य निर्गत्यागत्य च गौडमण्डलं गौडदेशम् । अपरमुपायं अपश्यन् मणिमोषाय रत्नाप-हरणाय, गृहीतक्षुल्लकवेषश्चान्द्रायणव्रताचरणक्रमैः पक्षपारणाकरणैः पक्षोपवासानन्तरं पारणाचरणैः, मासोप-वासप्रारम्भैः अपरैरपि अन्यैरपि तपःसंरम्भैः तपसां उद्यमैः क्षोभिताः नगाः पर्वताः नगराणि पुराणि, ग्रामाः प्राकारपरिखादिरहिताः हट्टादिशून्या वसतयः ग्रामाः, तेषु निवासशीला ये ग्रामणीगणाः अग्रेसरजनास्ते येन क्षोभं नीताः स सूर्यचोरः क्रमेण जिनेन्द्रभक्तभावस्य आधारस्थानमभवत् । जिनेन्द्रभक्तः श्रेष्ठी तद्गुणेष्वनु-रक्तमतिरभवत् ।

[पृष्ठ ७३-७४] एकान्तभक्तिसक्तः एकान्ता चासौ भक्तिस्तस्यां सक्तः अविचलभक्तियुक्त इति भावः, स जिनेन्द्रभक्तः तं मायेति—मायया कपटेन आत्मसात्कृतः स्वायत्तीकृतः प्रियतमाकारः क्षुल्लकवेषो येन एवंभूतं तम् अपरमार्थाचारम् अपरमार्थोऽसत्यो मायापरिप्लुतः आचारो यस्य तम् अजानन्, तं चोरं श्रेष्ठी एवमवदत्—आर्यवर्य आर्येषु व्रतिषु वर्यः श्रेष्ठः तत्सम्बोधनं हे आर्यवर्य, अवश्यम् अनेकेति—अनेकानि च तानि अनर्घ्याणि अमूल्यानि रत्नानि तैः रचितो जिनदेहानां संदोहः समूहो यत्र एवंविधे अस्मद्देवगृहे त्वया तावत्कालम् आसितव्यम् उषितव्यं निवासः कार्यः यावत्कालम् अहं बहिश्च अन्येषु देशेषु यात्रां विधाय समायामि, इत्थं याचतः याचनां कुर्वतः श्रीजिनभक्तस्य स क्षुल्लक एवम् अवदत् अप्रकटकूटकपटक्रम अप्रकटः अज्ञातः कूटः दाहकः कपटक्रमः येन तत्सम्बोधनं हे अप्रकटकूटकपटक्रम प्रियतम श्रेष्ठिन्, मैवं भाषिष्ठाः मैवं वादीः । यस्मात्कारणात् अङ्गनाजनसंकीर्णेषु स्त्रीजनव्याप्तेषु द्रविणोदीर्णेषु द्रविणं धनम् उदीर्णं प्रकटं दृश्यते येषु धनसमृद्धेषु देशेषु विहितौकसां कृतवसतीनाम् उषितानां इति भावः प्रायेण अमलिनमनसामपि बहुशः स्वच्छमतीनामपि निर्मोहानामपीत्यर्थः, सुलभोदाहाराः सुलभजल्पाः खलु खललोकावज्ञाः। श्रेष्ठी-देश-यतीश, न सत्यमेतत्, अपरिज्ञातपरलोकव्यवहारस्य, स्वर्गनरकादिः परलोकः तत्प्राप्तिः सदाचारेण असदा-चारेण च क्रमशो भवतीति व्यवहाराभिज्ञस्य, अवशेन्द्रियव्यापारस्य अजितेन्द्रियस्य इन्द्रियव्यापारा यत्र नयन्ति तत्र तदधीनो भूत्वा गच्छतः पुरुषस्य बहिः संगे बाह्यपरिग्रहे कनककामिन्यादौ स्वान्तं मनो विकृतताम् नाम विकारं प्राप्नोतु नाम न पुनर्यथार्थदृशां परमार्थावलोकिनाम् अनन्यसामान्यसंयमस्पृशाम् अनितर-साधारणसंयमं पालयताम्, भवादृशां युष्मादृशां पूज्यानां मुनिवर्याणाम् । इति बह्वाग्रहं देवगृहपरिग्रहाय देवगृहे भवान्निवसत्विति तम् अयथार्थं मुनिं कपटिनं मुनिवेषं संप्रार्थ्य प्रार्थयित्वा, कलत्रपुत्रमित्रबान्धवेषु पत्नीतनयसुहृज्ज्ञातिषु अकृतविश्वासः अविहितविस्रम्भः, मनःपरिजनदिनशकुनपवनानुकूलतया नगरबाहिरिकायां पुरबाह्यप्रदेशे प्रस्थानम् अकार्षीत् प्रस्थानं प्रयाणम् अकरोत् । मायामुनिस्तस्मिन्नेव अवसरे तस्मिन्नेव

क्षणे तदगारं तद्गृहम् आकुलपरिवारं स्वस्वकार्यकरणतत्परपरिजनम् अवबुध्य ज्ञात्वा अवशिष्टायां रात्रौ विहितमणिचौर्यः तन्मरीचिप्रचारात् तद्रत्नकिरणप्रसरणात्, आरक्षकैः तलवरैः अनुवृतशरीरः तीव्रेण जवेन अनुगतदेहः, पलायितुमशक्तः तस्यैव धर्महर्म्यनिर्माणपरमेष्ठिनः धर्म एव हर्म्यं गृहं तस्य निर्माणे रचनायां परमेष्ठिनः ब्रह्मणः इव वर्तमानस्य श्रेष्ठिनः प्रस्थानावासनिवेशम् आविवेश प्रयाणगृहप्रवेशम् अकरोत् । श्रेष्ठ्यपि दुरालापबहुलात् गालिप्रदानादि-दुर्भाषणप्रचुरात् तत्तलवरादिकलकलात्, द्रागविद्राणनिद्रः शीघ्रम् अपगतस्वापः, तदैव मृषामुनिमुद्रम् अवसाय धृतमायायतिरूपं निश्चित्य, स्वभावतः शुद्धाप्तागमपदार्थ-समाचारनयस्य निर्दोषपरमजिनशासनजीवादिवस्तुसार्थसम्यगाचारनयव्यवहारस्य निःशेषान्यदर्शनव्यतिरिक्ता-न्वयस्य सकलान्यमतभिन्नसम्प्रदायस्य जिनशासनस्य, अविदितपरमार्थजनापेक्षया अज्ञातयथार्थलोका-पेक्षया दुरपवादो जिनमतनिन्दा माभूत् मा जायताम् इति विचिन्त्य समस्तमपि आरक्षकलोकम् एवमभणीत्— सकलमपि तलवरवृन्दम् इत्थमभाषत । अहो दुर्वर्णीका अहो दुर्वाचाटाः, किमित्येनं संयमिनम् अभल्लेन अभद्रभाषणेन संभावयन्ति तिरस्कुर्वन्ति भवन्तः । यतः एष खलु महातपस्विनामपि महातपस्वी, परमनिःस्पृहा-णामपि परमनिःस्पृहः, प्रकृत्यैव स्वभावत एव महापुरुषः मायामोहरहितचित्तवृत्तिः, अस्मदभिमतेन अस्माकं संमतिं लब्ध्वा मणिमेनम् आनयन् कथं नाम तेन भावेन मायामोहादिदिग्धचित्तेन संभावनीयः संकल्प्यः । तस्मात् प्रतूर्णं शीघ्रम् अभ्यर्णीभूय समीपं गत्वा प्रसन्नवपुषः प्रशान्तशरीराः प्रणमद्देहाः भवन्तः सदाचारकैर-वार्जनज्योतिषं सम्यगाचारकुमुदविकसने चन्द्रम् एनं क्षमयत, स्तुत प्रशंसत, नमस्यत नमत, वरिवस्यत च पूजयत च । भवति चात्र श्लोकः—भक्तवाक्परः भक्त इति—वाक्शब्दः परः अग्रे यस्य स जिनेन्द्रः जिनेन्द्रभक्तश्रेष्ठी इत्यर्थः । मायासंयमनोत्सूर्पे कपटसहितसंयमस्य वृद्धिं कुर्वाणे सूर्ये सूर्पचौरे रत्नापहारिणि वैडूर्यमणेश्चौर्यं कुर्वाणे, दोषम् अपवादम् अयं चौर इति निन्दां निषूदयामास निरस्तां चक्रे ॥१८९॥

इत्युपासकाध्ययने धर्मोपबृंहणार्हणो नाम द्वादशः कल्पः ॥१२॥

१३. वारिषेणकुमारप्रव्रज्याव्रजनो नाम त्रयोदशः कल्पः

परीषहेति—परीषहात् क्षुदादिद्वाविंशतिपरीषहेषु एकस्मात्कस्मादपि परीषहात् पीडायाः उद्विग्नं भीतम्, व्रतात् अहिंसादिमहाव्रतपालनाच्च उद्विग्नं खिन्नम्, अजातागमसंगमम् आगमस्य जिनशास्त्रस्य संगमो-ऽध्ययनम् अजातः आगमसंगमो यस्य स अनधीतजिनागमः एवंरूपं समयस्थितं कथंभूतं भ्रश्यदात्मानं भ्रश्यन् जिनधर्मत्यागं कुर्वन् आत्मा यस्य तं समयी धार्मिकः स्थापयेत् ॥१९०॥

[पृष्ठ ७५] तपस इति—तपसः प्रत्यवस्यन्तं भ्रश्यन्तं संयतं संयमिनं यः समयी न रक्षति । नूनं सत्यमेव स समयस्थितिलङ्घनात् जिनमतस्थितेः लंघनात् । सद्दर्शनबाह्यः सम्यग्दर्शनाद्बाह्यः मिथ्यात्विजनतुल्यः ज्ञेयः ॥१९१॥ नवैरिति—नवैः सन्दिग्धनिर्वाहैः सन्दिग्धः संशययुक्तः निर्वाहः जिनधर्मप्रतिपालनं येषां ते सन्दिग्धनिर्वाहास्तैः जनैः गणवर्धनं नवैः जनैः गणवर्धनं स्वसङ्घजनसंख्यावृद्धिं कुर्यात् । एकदोषकृते एकस्मिन्दोषे जाते सति प्राप्ततत्त्वः ज्ञाततत्त्वार्थो नरः कथं त्याज्यः । दोषे जातेऽपि तस्य उपगूहनं कार्यमिति भावः ॥१९२॥ यस्मात् समयकार्यार्थः शासनसाध्यार्थः नानापञ्चजनाश्रयः बहुजनसन्दोहाधारः अतः उपदिश्य यो यस्मिन् कार्ये धर्मप्रभावनादिकार्ये योग्यः तं जनं तत्र योजयेत् ॥१९३॥ उपेक्षायामिति—सधर्मणो जनस्य उपेक्षायां कृतायां स समयी तत्त्वात् जिनशासनात् अधिकं दूरं गच्छेत् तं त्यजेत् तथा तद्विनाशं कर्तुमिच्छेत् । एवम् अनिष्टमाचरतस्तस्य संसारो दीर्घो भवेत् समयश्च जिनशासनं हीयते क्षीणो भवति ॥१९४॥

[पृष्ठ ७६] (स्थितिकरणे वारिषेणस्य कथा) श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—अत्र स्थितिकरणगुणे कथां शृण्वन्तु । वारिषेणराजसूनोः कथा—मगधाभिधेषु देशेषु राजगृहेति अपरनाम्नः अन्याभिधाया अवसरः प्रसंगो यस्य एवंभूते पञ्चशैलपुरे चेलिनी महादेव्याः प्रणयं स्नेहं क्रीणातीति क्रेणिकः तस्य श्रेणिकस्य कथंभूतस्य । गोत्राकलत्रस्य गोत्रा पृथ्वी एव कलत्रं भार्या यस्य 'गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी' इत्यमरः ।

पृथ्वीभार्यस्य, पुत्रः सकलवैरिपुराभिषेणः समस्तशत्रुनगराणि प्रतिसेनया सहितोऽभिषेणो अभिद्रवः 'यस्य स वारिषेणो नाम। स किल कुमारकाल एव संसारसुखसमागमविमुखमानसः परमवैराग्योद्गूर्णः परमं वैराग्यं संसारभीतिजातविरक्तिभावः उद्गीर्णः प्रकटीभूतो यस्य, पुनः कथंभूतो वारिषेणः। पूर्णनिर्णयरसः पूर्णः अध्यात्मविषये निर्णयरसः निश्चयरसो यस्य, पुनः कथंभूतः। श्रावकधर्मस्याराधनेन धन्या समृद्धा या धिषणा बुद्धिस्तया, गुरूपासनसंबीणतया च गुरूणां निर्ग्रन्थाचार्याणाम् उपासनासु पूजासु संबीणतया तत्परतया च सम्यगवसितोपासकाध्ययनविधिः सम्यक्तया अवसितः निश्चितः उपासकाध्ययनानां श्रावकाचरणविषयभूतानाम् अध्ययनानां ज्ञानपाठानां विधिर्येन सः, पुनः कथंभूतः आश्चर्यशौर्यनिधिः विस्मयावहपराक्रमाणां निधानम्, स वारिषेण एकदा प्रेतभूमिषु प्रेतानां शवानां भूमिषु भूतवासरविभावर्यां कृष्णचतुर्दशीनिशायां रात्रिप्रतिमास्थितो बभूव। रात्रिप्रतिमायोगेन श्मशाने अध्यात्मध्यानरतोऽभवत्। अत्रावसरे अस्मिन्प्रसंगे क्षपायाः निशायाः परिणतः आभोगः गाढान्धकारत्वादिर्यत्र खलु निशाया मध्यभागे मगधसुन्दरीनामया पण्याङ्गनया पण्या पणेन मूल्येन लभ्या या अङ्गना स्त्री पण्याङ्गना तया वेश्ययेत्यर्थः। आत्मनि स्वस्मिन् विषये अतीवासक्तचित्तवृत्तिप्रसरो अतीव सुतराम् आसक्ता लम्पटा या चित्तवृत्तिः मनोवृत्तिः तस्याः प्रसरो यस्य एवंभूतो मृगवेगनामा वीरः शयनतलम् आपन्नः आगतः सन् एवमुक्तः—राजश्रेष्ठिनो धनदत्तनामनिष्ठस्य कीर्तिमतीनामायाः प्रियतमायाः स्तनमण्डलोदारम् अलङ्कारसारं हारमिदानीमेव आनीय यदि विश्राणयसि तदा त्वं मे रतिरामः अन्यथा प्रणयविराम इति। प्रियतमायाः अत्यन्तवल्लभायाः, स्तनमण्डलयोः कुचमण्डलयोः उदारं शोभामापादयन्तम्, अलङ्कारेषु भूषणेषु सारं श्रेष्ठं विश्राणयसि ददासि, त्वं मे रतिरामः रतौ रतिसुखे रमयतीति रामः अन्यथा प्रणयविरामः प्रणयस्य प्रेम्णः विरामः अवसानम् इति। सोऽपि अवशानङ्गवेगो मृगवेगः न वशो अधीनः अनङ्गवेगः कामस्य तीव्रता यस्य, कामवेगम् असहमानः इति भावः। तद्वचनादेव तस्याः मगधसुन्दर्या भाषणादेव तदायतनात् तस्या गृहात् निःसृत्य निर्गत्य, धनदत्तस्यागारं धनदत्तश्रेष्ठिनो हर्म्यम् अभिसृत्य आगत्य च निजकलाबलात् स्वकलाचातुर्यात् आचरितहारापहारः आचरितो विहितं हारस्य अपहारः मोषणं येन, तद्दिति—तस्य हारस्य किरणानां रश्मीनां निकरः समूहः तेन निश्चितश्चरणयोश्चारः यैः सः तलारानुचरैः आरक्षकपुरुषैः अनुसृतः अनुगतः मृगायितुं मृग इव आचरितुम् असमर्थः पलायितुं अक्षमः व्युत्सर्गावेगं व्युत्सर्गस्य शरीरममत्वत्यागस्य आवेगम् उत्कटतां उपेयुषः जग्मुषः तस्य वारिषेणस्य पुरतः हारम् अपहाय त्यक्त्वा तिरोदधे अन्तर्हितोऽभवत्।

[पृष्ठ ७७] तदनुचराः तलवरसेवकाः तत्प्रकाशविशेषवशात् तस्य हारस्य कान्तिविशेषवशात् "वारिषेणोऽयं ननु राजकुमारः पलायितुम् अक्षमः पित्रोः चेलनाश्रेणिकयोः श्रावकत्वात् उपासकत्वात् इमां जिनेश्वरबिम्बसदृशीम् आकृतिं स्वीकृत्य पुरोऽग्रतः स्थापितहारः ममास सम्यक् आस स्थितः इत्येवमस्य विचारं कृत्वा प्रविश्य च विश्वंभराधीशवेश्मनिवेशं विश्वंभरायाः पृथिव्याः अधीशः स्वामी श्रेणिकनृपः तस्य वेश्मनः गृहस्य निवेशम् अन्तःस्थानं एतत्पितुः एतस्य वारिषेणस्य पितुः श्रेणिकस्य प्रतिपादितवृत्तान्ताः कथितप्रवृत्तयः—दण्ड इति—दण्डो हि अपराधिशासनोपायः स केवलः एक एव इमं लोकम् इहलोकम्, परं च परलोकं च स्वर्गादिकं रक्षति इहलोके प्रजासु विनियुक्तो राज्ञा दण्डोपायोऽनीतेस्तां रक्षति ततश्च प्रजानाम् अनीते रक्षणात् स्वर्गप्राप्तिर्जायते इति भावः। राज्ञा नृपेण शत्रौ पुत्रे च यथादोषं दोषम् अनतिक्रम्य धृतः यस्य यादृग्दोषः तादृगेव तस्य शासनं क्रियेत चेत् राज्ञा स दण्डः उभयोः समं धृत इति भवति। तथा समदण्डो राजा उभयलोकरक्षको भवतीति भावः ॥१९५॥ इति वचनात्, न हि महीभुजां गुणदोषाभ्याम् अन्यत्र मित्रामित्रव्यवस्थितिः राज्ञां गुणदोषौ मुक्त्वा मित्रशत्रुव्यवस्था न भवति। यत्र गुणाः सन्ति स एव नरो मित्रं यत्र च दोषाः स शत्रुरिति व्यवस्था राजकृता भवति। तत् तस्मात् अस्य वारिषेणस्य रत्नहारापहारोपहतचरित्रस्य रत्नहारस्य अपहारो मोषणं तेन उपहतं नष्टं चरित्रं सदाचारप्रवृत्तिर्यस्य पुत्रशत्रोः पुत्ररूपेण शत्रोः न प्राणप्रयाणादपरश्चण्डो दण्डः समस्ति। अस्य प्राणघात एव समुचितं शासनं विद्यते इति न्यायनिष्ठुरतायाः आवेशो यस्मिन् तथाभूतात्पितुरादेशात् आज्ञायाः आगत्य तं सदाचारमहान्तं सदाचारेण समीचीनेन आचारेण श्रावकव्रतादि-

पालनेन महास्त्रं पूर्ण्यं प्रहरन्तः ते तलवरानुचराः देवताभिः कृतानि प्रातिहार्याणि श्रेणिकभूपाय न्यवेदयन्। शरविसरान् बाणसमूहान्, प्रसूनशेखरतां पुष्परचितशिखामालात्वम्, भ्रमिलमण्डलानि चक्रमण्डलानि कर्णकुण्डलताम्, कृपाणनिकरान् खड्गसमूहान् मौक्तिकहारत्वम् एवम् अपराण्यपि अन्यान्यपि अस्त्राणि भूषणताम् अलङ्कारताम् अनुसरन्ति भजन्ते। निबुध्य ज्ञात्वा तद्ध्यानेति–तस्य वारिषेणस्य ध्यानधैर्येण ध्यानस्य स्थैर्येण प्रवृद्धानन्दतया स्वयमेव पुरदेवतानां करैः विकीर्यमाणामरतरुप्रसवोपहारं नगरदेवीनां हस्तैः प्रवृष्यमाणसुरवृक्षपुष्पबलिर्यत्र तम्। अम्बरेति–अम्बरे नभसि चरन्तीति अम्बरचरा आकाशगामिनस्ते च ते कुमारा देवविशेषाः तैः आस्फाल्यमानाश्च वाद्यमानाश्च ते आनकाश्च दुन्दुभयः तेषां निकरः समूहो यत्र तम्। अनिमिषेति—अनिमिषा देवाः तेषां निकायः समूहः तेन कीर्त्यमानाश्च प्रशस्यमानाश्च ताः स्तुतयस्तासां व्यतिकरो मिश्रणं यत्र, तम् इतस्ततो महामहोत्सवावतारं च निचाय्य अवलोक्य, सत्वरम् अतिभीतिविस्मितान्तःकरणाः अतिशयभयेन विस्मितानि आश्चर्यं प्राप्तानि अन्तःकरणानि मनांसि येषां ते तलवरानुचराः श्रेणिकधरणीश्वरायेदं निवेदयामासुः।

[पृ० ७७] नरवरः सोत्तालं सत्वरं तत्रागतः सन् कुमारेति–कुमारस्याचारः कुमारस्य सत्प्रवर्तनं तस्माज्जातो योऽनुरागः स्नेहः तस्य रसेन उत्कटतया उत्सारितमृतिभीतिसंगात् उत्सारितो निराकृतः मृतिभीतिसंगः, मरणभयसम्पर्को येन तस्मात् मृगवेगात् वीरात् अवगतो ज्ञातः आमूलं मूलमारभ्य आदित इति भावः वृत्तान्तः प्रवृत्तिः येन स श्रेणिकः तं कुमारं साधुं क्षमयामास। क्षमाम् अयाचतेति भावः। नृपनन्दनोऽपि श्रेणिकपुत्रो वारिषेणोऽपि प्रतिज्ञातसमयावसाने इयन्तं कालं रात्रिप्रतिमायोगं बिभर्मीति प्रतिज्ञातस्य समयस्य कालस्य अवसाने अन्ते, (वारिषेणः सुरदेवस्यान्तिके तपो जग्राह) एवं विचार्य दीक्षा जग्राह। कं विचारं कृत्वा। 'प्राणिनां सुलभसम्पाताः खलु संसारे व्यसनविनिपाताः' खलु अस्मिन् संसारे व्यसननिपाताः संकटानाम् आघाताः सुलभागमाः जीवानाम्। 'तदलमत्र कालकवलनावलम्बेन विलम्बेन' तस्मात् अत्र भवे विलम्बेन कालयापनेन अलं कालयापनं मया न क्रियते। यतः तत्कालयापनं कालकवलनालम्बनं कालस्य यमस्य कवलनाय भक्षणाय अवलम्बनम् अधिकरणं भवेत्। 'एषोऽहमिदानीम् अवाप्तयथार्थमनीषोन्मेषः तावदात्महितस्योपस्करिष्ये'' । एषो अहं (वारिषेणः) इदानीमधुना अवाप्तायाः लब्धायाः यथार्थमनीषायाः परमार्थभूतायाः मनीषायाः मतेः उन्मेषः उदयो जन्म येन स तथाभूतोऽहम् अभवम्। अधुना मम यथार्थात्मस्वरूपग्राहिण्या बुद्धेर्जन्म जातमिति भावः। तावत् प्रथमम् आत्महितस्य उपस्करिष्ये आत्महिते पुनः पुनर्यत्नं करिष्ये इति भावः। इति निश्चयमुपश्लिष्य इति निश्चयं कृत्वा। आभाष्य च पितरं जनकस्य श्रेणिकस्य अनुमतिं लब्ध्वा च, बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहाग्रहम् आपिष्य आसमन्तात् पिष्ट्वा परित्यज्येत्यर्थः, आचार्यस्य सुरदेवस्य अन्तिके समीपे तपो जग्राह। भवति चात्र श्लोकः—विशुद्धमनसामिति—निर्मलचित्तानाम् परिच्छेदपरात्मनां परिच्छेदे यथार्थात्मस्वरूपनिर्णये तत्पराणां सदाचारखिलैः समीचीनाचारैः खिलाः अप्रहताः रहिता इत्यर्थः। 'द्वे खिलाप्रहते समे' इत्यमरः। तैः खलैर्दुर्जनैः कृता विघ्नाः किं कुर्वन्ति कां हानिं जनयितुं प्रभवन्ति। न कामपि ॥१९६॥

इत्युपासकाध्ययने वारिषेणकुमारप्रव्रज्याव्रजनो नाम त्रयोदशः कल्पः ॥१३॥

१४. स्थितिकारकीर्तनो नाम चतुर्दशः कल्पः

[पृष्ठ ७८-७९] पुनः 'इष्टं धर्मे नियोजयेत्' इष्टं प्रियं जनं मित्रं बन्धुं वा धर्मे संसारदुःखतः सत्वान् उत्तमे सुखे धरति इत्येवं स्वरूपवति धर्मे नियोजयेत् स्थापयेत् तथा आतुरस्य व्याधितस्य अगदंकारोपयोग इव गदो रोगः करोतीति कारः अगदं नीरोगं करोतीति अगदंकारः औषधं तस्य उपयोग इव प्राशनम् अनिच्छतोऽपि जन्तोः कुशलैः हितकार्मैश्चतुरैः क्रियमाणः आयत्याम् उत्तरकाले श्रेयसे हितायावश्यं भवति तथा धर्मम् अनिच्छतोऽपि जन्तोर्धर्मसंबन्धः क्रियमाणः आयत्याम् उत्तरभवे अवश्यं निःश्रेयसाय मोक्षाय

भवति इति जातमतिः इत्युत्पन्नबुद्धिः (वारिषेणमुनिः स्वसुहृदं पुष्पदन्तं सुरदेवपार्श्वे दीक्षां ग्राहयामास) तपःपरिग्रहेऽपि तपसः स्वीकारेऽपि, सहपांसुक्रीडितत्वात्, पुष्पदन्तेन अयस्येन सह बाल्ये आत्मनः धूलिक्रीडाकरणात्, चिरपरिचयरूढप्रणयत्वाच्च दीर्घकालपर्यन्तं परिचयः अन्योन्यस्वभावपरिज्ञानं तेन रूढप्रणयत्वाच्च संजातदृढस्नेहत्वात् । आत्मनः प्रियसुहृदं स्वस्य प्रियं मित्रम्, कस्य नन्दनं शाण्डिल्यायनस्य शाण्डिल्यस्य अपत्यं शाण्डिल्यायनः तस्य नन्दनं पुत्रं कथंभूतस्य शाण्डिल्यायनस्य **पुष्पवतीति**—पुष्पवती भट्टिन्याः पुष्पवत्याख्याया ब्राह्मण्याः भर्तुः अमात्यस्य नन्दनं पुत्रं हस्तेन अवलम्ब्य, कथंभूतम् अमात्यनन्दनम् **अभिनवेति**—अभिनवो नूतनः स चासौ विवाहश्च तस्मिन् कृतकरसूत्रबन्धनं पुष्पदन्ताभिधानम् एतदायतनानुगमनेन एतस्यायतनं गृहं तत् अनुसृत्य गमनेन, स्वामिपुत्रत्वात् स्वामिनः श्रेणिकनृपस्य पुत्रत्वात्, प्रतिपन्नमहामुनिरूपत्वाच्च स्वीकृतमहाव्रतियतिरूपत्वात्, आचरिताभ्युत्थानम् आचरितं विहितम् अभ्युत्थानं गौरवेण आसनादुत्थाय पूज्यं प्रति गत्वा तं स्वीकार्य आसने स्थापनादिकरणं येन तं पुष्पदन्तं हस्तेन गृहीत्वा, पुनः अस्मात् अस्मात्प्रदेशात् मां व्यावर्तयिष्यत्ययं भगवान् अधुना स्वगृहं याहीति वदिष्यति पूज्योऽयमिति तेन सह अनुसरन्तम् अनुयान्तम् गुरूपान्तं गुरोर्दीक्षाचार्यस्य समीपम् अवाप्तवन्तम् आगतवन्तं (तं दर्शयित्वा गुरोः दीक्षादाने सूचनां करोति स्म ।] "भदन्त, हे पूज्य एष खलु महानुभावतालतालम्बतरुः महासज्जनता एव लता तस्या आधारभूतो वृक्ष इव, स्वभावेनैव भवभीरुः संसारादुद्विग्नः भोगानुभवने स्रक्कान्ताद्युपभोग्यपदार्थानुभवे विरक्तचित्तः, सर्वे च ते संयताः जैनमुनयः तेषां वृत्तं महाव्रतादिकं तस्य याचनार्थं भगवतः पूज्यस्य भवतः पादमूलं चरणसमीपम् आयातः आगतः ।" इति सूचयित्वा भगवतोऽभ्यर्णे भगवतो दीक्षाचार्यस्य समीपे कामकरिकदालिकाबर्हभारमिव कामो मदनः स एव करी गजस्तस्य कदलिका ध्वजः तस्य बर्हभारः परिवारसमूहमिव मूर्धजनिकरं मूर्धनि मस्तके जायन्ते इति मूर्धजाः शिरोरुहाः तेषां निकरं समूहम् अपनाय्य लोचं कारयित्वा दीक्षां ग्राहयामास अजीग्रहत् । सोऽपि पुष्पदन्तः तदुपरोधाक्षेपात् तस्य वारिषेणमुनेः उपरोधाक्षेपात् आग्रहवशात् दीक्षामादाय, हृदयस्य मनसः अविदितवेदितव्यात् अविदितम् अज्ञातं च तद्वेदितव्यं जीवादितत्त्वरूपं ज्ञेयं यस्य मनसः, अनङ्गग्रहग्रसितत्वाच्च कामपिशाचेन ग्रसितत्वाच्च पीडितत्वाच्च । (स वारिषेणर्षिणा रक्ष्यमाणोऽपि कान्तां ध्यायन् द्वादशसमा अनैषीत् ।) पञ्जरपात्रः पतत्त्रीव पञ्ज्यते रुध्यते पक्ष्यादिर्यत्र तत्पञ्जरं पक्ष्यादिबन्धनगृहम् । तदेव पात्रम् आधेयधारणवस्तु तत्र पतत्त्रीव पक्षीव, यथा पक्षी पञ्जरे रुद्ध्वा रक्ष्यते यथा पृदाकुः सर्पः स मन्त्रशक्तिकीलितप्रतापो रक्ष्यते मन्त्रशक्त्या मन्त्रसामर्थ्येन कीलितः स्तम्भितः प्रतापः विक्रमो यस्य । गाढबन्धनालानितो गाढबन्धनेन दृढबन्धनेनन आलानितः स्तम्भे बद्धः व्यालशुण्डाल इव क्रूरगज इव चाहर्निशं रात्रिन्दिवं वारिषेणर्षिणा रक्ष्यमाणः स निजकान्तां ध्यायति स्मैवम् । **अलकेति**—स्मेरबिम्बाधरायाः ईषद्धसनयुतो बिम्बफलसमानो रक्तोऽधरो यस्याः सा तस्याः प्रियायास्तन्मुखं पुरत इव समास्ते । कथंभूतं मुखम्, अलकवलयरम्यम् अलकाश्चूर्णकुन्तलाः ललाटसमीपस्थाः केशा अलकाः प्रोच्यन्ते, तेषां वलयेन मण्डलेन मे मम प्रियाया वदनं रम्यं सुन्दरं प्रतिभाति । पुनः कथंभूतं भ्रूलतानर्तकान्तं भ्रुवौ लते इव भ्रूलते तयोः नर्तः नर्तनं तेन कान्तं सुन्दरम् । पुनः कथंभूतं नवनयनविलासं नवो नूतनः नयनयोर्नेत्रयोर्विलासः शृङ्गारजो भावः यत्र तत् । पुनः कथंभूतं चारुगण्डस्थलं च चारुणी गण्डस्थले यस्य तत् पुनः कथंभूतं मधुरवचनगर्भं मधुराणि वचनानि गर्भे यस्य तत् ॥१९७॥ **कर्णावतंसेति**—ये भूपा राजानः प्रणयिनीषु प्रेमवतीषु कान्तासु कर्णयोः श्रोत्रयोः अवतंसौ भूषणे तन्वन्ति रचयन्ति, मुखमण्डनकं च कपोलयोरङ्गवल्लीं च रचयन्ति । रागात् प्रेम्णः वक्षोजयोः स्तनयोः पत्रवल्लीलेखनम्, जघने कटौ आभरणानि रशनादिकं च रचयन्ति, पादेषु अलक्तकरसेन च यावकरसेन च चर्चनानि लेपनानि कुर्वन्ति त एव धन्या भाग्यवन्तः ॥१९८॥

[पृष्ठ ८०] लीलेति—प्रियस्यानुकृतिर्लीला, प्रियागमने स्त्रियो योऽङ्गे विशेषो जायते स विलासः आभ्यां विलसन्ती शोभमाने नयने एव उत्पले नीलकमले यस्याः सा तस्याः पुनः कथंभूता सा । **स्फारेति**—स्फारः महान् यः स्मरः कामः तस्मात्तरलितश्चञ्चलः अधरपल्लवः ओष्ठकिसलयं यस्याः सा तस्याः, पुनः कथंभूता । **उत्तुङ्गेति**—उत्तुङ्गौ उन्नतौ पीवरौ पुष्टौ च तौ पयोधरौ स्तनौ तयोर्मण्डलं यस्याः सा तस्याः । मया

सह तस्याः कदा संगमः स्यात् ननु वितर्के ॥१९९॥ किं च—चित्रेति—कानने उत्कण्ठितः वेषमुनिः इत्थं दिनानि गमयति। दिनगमनव्यापारान् वर्णयति—चित्रालेखनकर्मभिः निजमनसि निखातायाः इव प्रियाया वस्त्रे चित्रलेखनकार्यैः, मनसिजेति—मनसिजो मदनः तस्य व्यापाराः मधुरप्रवृत्तयः तेषां साराणां स्मरणैः, गाढेति—सन्ततं मनसा दृढभावनया अप्रस्थितायाः प्रियतमायाः पादयोः असकृत् मूर्ध्ना प्रणामकरणक्रमैः स्वप्न इति सहवासवियोगविषये स्नेहदुःखागमैः वेषमुनिः दिनानि कानने समुत्कण्ठितः यापयति स्म ॥२००॥ इति निर्बन्धेन अनवरतं ध्यायन् चिन्तयन् द्वादशवर्षाणि समानैषीत् यापयति स्म। शूरदेवभट्टारकोऽप्याभ्यां सह तेषु विषयेषु शूरदेवाचार्योऽपि वारिषेणपुष्पदन्तमुनियुगलेन सह तेषु तेषु विषयेषु विविधदेशेषु तीर्थकृताम् ऋषभादिवर्धमानान्तानां चतुर्विंशतेर्जिनवराणां पञ्चकल्याणैर्मङ्गलानि मङ्गं पुण्यं लान्तीति यच्छन्ति भक्तेभ्य इति मंगलानि मं पापं गालयन्तीति वा मंगलानि पुण्योत्पादीनि पापविनाशीनि च स्थानानि जन्मादिनिर्वाणपर्यन्तानि स्थानानि तीर्थभूमीर्वन्दित्वा पुनर्विहारवशात्तत्रैव जिनायतनोत्तंसितोपान्तशैलचूले पञ्चशैलपुरे जिनानाम् आयतनानि गृहाणि तैः उत्तंसिता भूषिता उपान्ता समीपस्था शैलस्य पर्वतसंबन्धिनी चूला शिखरं यस्य तस्मिन् पञ्चशैलपुरे राजगृहे, समागत्य आत्मनः (शूरदेवमुनेः) वारिषेणऋषेश्च तद्दिवसे पर्युपासितोपवासत्वात् स्वीकृतचतुर्विधाहारत्यागात्, तं पुष्पदन्तम् एकाकिनम् एव प्रत्यवसानाय आहाराय आदिदेश आज्ञां ददाविति भावः। 'भक्षित-चर्वित-लीढ-प्रत्यवसित-गिलित-खादितरसातम्' इत्यमरः। तदर्थम् आदिष्टेन तेन च चिन्तितम्। 'चिरात् कालात् खल्वेकस्मादपमृत्योर्जीवन्नुद्धरितोऽस्मि। दीर्घः कालोऽतीतः खलु अद्य एकस्मादपमरणात् जीवन् उत्तीर्णोऽभवम् (संप्रति हि मेऽन्यूनानि विपुलानि पुण्यानि अवेक्ष्य दृष्ट्वा दीक्षां मुमुक्षुणा दीक्षां त्यक्तुम् इच्छा यस्य तथाभूतेन तेन मङ्क्षु शीघ्रं पाशपरिक्षेपक्षरितेनेव, पाशस्य जालस्य परि सर्वतः क्षेपः आवरणं तस्मात् क्षरितेन च्युतेन पक्षिणा विहगेन इव पलायितुम् आरब्धम्। वारिषेणः तथाप्रस्थानात् कृतोदर्कं वितर्क्य ज्ञातोत्तरफलं यथा स्यात्तथा तस्य शीघ्रं गमनमवलोक्य दीक्षाया अनेन जलाञ्जलिर्दत्तेति ऊहं कृत्वा 'अवश्यमयं जिनरूपं जिहासुरिव सौत्सुक्यं विक्रमते जिनरूपं जिनदीक्षां जिहासुरिव त्यक्तुमिच्छन्निव उत्कण्ठितः विक्रमते अश्ववद्वेगेन याति। 'तदेष कषायमुष्यमाणधिषणः समयप्रतिपालनाधिकरणैर्न भवत्युपेक्षणीयः' तस्मात् एष पुष्पदन्तमुनिः कषायैः क्रोधादिभिः मुष्यमाणा अपह्रियमाणा धिषणा बुद्धिः यस्य सः समयस्य जिनशासनप्रतिपालने रक्षणे अधिकरणैः आधारभूतैः जिनशासनरक्षणभारवाहिभिः न भवत्युपेक्षणीयः न त्याज्यः इति अद्धा यथार्थम् अञ्जसा अनुध्याय विचिन्त्य तमनुरुध्य तं पुष्पदन्तम् अनुसृत्य एतत्स्थापनाय जनकनिकेतं पितुः श्रेणिकभूपस्य निकेतं गृहं जगाम। चेलिनी महादेवी पुत्रं मित्रेण सत्रं सह उपढौकमानम् आगच्छन्तम् अवेक्ष्य तदभिप्रायपरीक्षार्थं सरागं वीतरागं चासनमयच्छत्। वारिषेणस्तेन समं चरमोपचारं चरमः अन्तिमः उपचारः शमः अस्मिन् तत् चरमोपचारं वीतरागोपशमयुक्तं विष्टरं सिंहासनम् अलंकृत्य भूषयित्वा अम्ब, समाहूयतां समस्ता अपि आत्मीयाः स्नुषाः।

[पृष्ठ ८१] (तदनु वारिषेणजायाः श्वश्र्वा आज्ञया तत्रागताः) कथंभूतास्ताः वनदेवता इव यथा वनदेवताः प्रसूनोत्तंसोत्तरङ्गितकुन्तलारामाः भवन्ति। पुष्पभूषितोत्तराङ्कितकुन्तलैः केशैः आसमन्तात् रामा रमणीया भवन्ति। तथा ता वध्वोऽपि कल्पलताः इव मणिभूषणरमणीयाङ्गनिर्गमाः यथा कल्पलताः कल्पवल्लयः रत्नालङ्कारमनोहरावयवोत्पत्तयः तथा वध्वोऽपि। प्रावृष इव समुन्नद्धपयोधराविद्धमध्यभागाः यथा वर्षाः समुन्नतजलधरावृतनभोमध्यभागास्तथा समुन्नतस्तनावर्जितावलग्नभागाः। सकलजगल्लावण्यलवलिपिलिखिता इव समस्तलोकसौन्दर्यांशरूपलिपिना लिखिता इव सुभगभोगायतनाभोगाः सुभगानि रमणीयानि तानि तानि भोगायतनानि शरीराणि तेषाम् आभोगः विस्तारो यासां ताः। पुनः कथंभूताः। कङ्केलिकाननक्षितय इव पादपल्लवोल्लासितविहारविषयाः अशोकवनभूमयो यथा पादा मूलानि तानारभ्य पल्लवैः किसलयैः उल्लासिताः शोभिताः विहारविषयाः उद्यानप्रान्ता याभिस्ताः तथा इमा वध्वोऽपि पादपल्लवाः चरणकिसलयाः तैः उल्लसिताः शोभिताः विहारविषयाः लीलाप्रदेशा याभिस्ताः। कमलिन्य इव मणिमञ्जीरमणितोन्मदमरालमण्डलस्खलितचलनजलेशयाः यथा कमलिन्यः कमललता रत्नजडितनूपुररवमिव शब्दं कुर्वाणा उन्मदा उन्मत्ता

ये मराला हंसाः तेषाम् मण्डलं समूहः तस्य स्खलितानि यानि प्रमादेन चलनानि पादाः त एव जलेशयानि कमलानि तथा मणिमञ्जीराणि रत्ननूपुराणि तेषां मणितं शब्दः पुनः कथंभूताः । स्वकीयरूपसंपत्तिरस्कृतत्रिभुवनरामणीयकाः, स्वसौन्दर्यसम्पदा अवगणितत्रिलोकललनासौन्दर्याः सलीलं अहमहमिकोत्सुकाः अहम् अग्रे गच्छामि अहम् अग्रे गच्छामीति भावेनोत्कण्ठिताः ता वध्वः समागत्य सर्वतः परिवव्रुः परिरुरुधुः पुण्यदेवता इव ताः सुवासिन्यः । पुष्पदन्तभार्या सुदत्याप्याकारिता अम्ब, मद्भ्रातृजाया सुदती अपि आकार्यताम् । हे मातः मद्भ्रातृजाया (पुष्पदन्तभार्या) मम भ्रातुः पुष्पदन्तस्य भार्या सुदती नामधेयापि आकार्यताम् आहूयताम् । ततः संध्येव धातुरक्ताम्बरचराटोपा यथा संध्या रक्ताम्बरं लोहितवर्णाकाशं तत्र चरतीति रक्ताम्बरचरः स आटोपः आडम्बरो यस्याः तथा सा सुदती अपि धातुर्गैरिकं तेन रक्तं यत् अम्बरं वस्त्रं तेन चरतीति चरा तस्या आटोपेन युक्ता, तपसः श्रीरिव विलुप्तकुन्तलकलापा, यथा तपसः श्रीः शोभा विलुप्ताः कुन्तलानां केशानां कलापाः समूहा यत्र लोचेन भूषिता भाति तथा इयं सुदत्यपि विलुप्तकुन्तलकलापासीत् । भव्यजनमतिरिव विभ्रमभ्रंशिदर्शना, भव्यजनानां मतिर्बुद्धिः विभ्रमस्य विपरीतज्ञानस्य भ्रंशो नाशो यस्मिन् तादृग्दर्शनोपेता विपरीतज्ञानरहितदर्शनेन सम्यक्त्वेन युक्ता भवति तथा इयं सुदत्यपि भ्रमरहितदर्शना निर्मलसम्यक्त्वोपेता अथ च विभ्रमरहितनेत्रा कटाक्षक्षेपरहितनेत्रेत्यर्थः । हिमोन्मथिता कमलिनीव क्षामच्छायापघना हिमेन नीहारेण उन्मथिता पीडिता कमलिनी कमललता यथा क्षामच्छायापघना कृशकान्तिशरीरा भवति तथा सुदत्यपि क्षामच्छाया क्षीणकान्तिर्देहाभवत् । शरदिव दीनपयोधरभरा यथा शरदृतुस्थितिः दीना विरला ये पयोधरा मेघास्तेषां भारः समूहो यस्याम्, तथा सुदत्यपि दीनः कृशः पयोधरयोः स्तनयोः भारो यस्याः सा । खट्वाङ्गकरङ्काकृतिरिव यथा खट्वायाः मञ्चकस्य अङ्गानि अवयवाः तद्रूपा ये करङ्का अष्टौ चरणादयः तेषाम् आकृतिरिव प्रकटकीकसनिकरा इय सुदती प्रकटा कीकसानाम् अस्थ्नां निकरो यस्याः सा । सकलसंसारसुखव्यावृत्तिनीतिर्मूर्तिमती वैराग्यस्थितिरिव विवेश । सकलसंसारसुखेभ्यः व्यावृत्तिः पराङ्मुखता तस्याः मूर्तिमती सदेहा वैराग्यस्थितिरिव विवेश तत्र श्रेणिकनृपप्रासादे आजगाम । **पुष्पदन्तेति**—पुष्पदन्तस्य मुनेः हृदयम् एव कन्दलं अङ्कुरः तस्य उल्लासे विकसने वसुमतीव पृथ्वीव सा सुदती (पुष्पदन्तस्य जायाचरी) तां वारिषेणोऽवधार्य विमृश्य (अवदत्) मित्र, सेयं तव प्रणयिनी सेयं तव वल्लभा यन्निमित्तम् अद्यापि न संपद्यसे मनोमुनिरिति । यस्या निमित्तेन अद्यापि द्वादशवर्षाण्यतीतानि मुनित्वे तथापि मनसा मुनिरिति भावयतिर्न जातस्त्वमिति । एताश्चैवंविधकायास्तव भ्रातृजायाः एताः पुरतो दृश्यमानाः तव भ्रातृजायाः ते भ्रातुः वारिषेणस्य पत्न्यः एवंविधकायाः उक्तवर्णना अनिन्द्यलावण्यशरीराः । तथैते च वयं तव समक्षोदयं समाचरिताभिजातजनोचितचरिताः । तव समक्षोदयं तव प्रत्यक्षे एव उदय (श्चारित्रस्य) यथा स्यात्तथा वयं समाचरितं निर्दोषं पालितं अभिजातजनोचितं कुलीनपुरुषयोग्यं चरितं वृत्तं यैस्ते । (मम भार्या अतीव रमणीयास्तथापि ताः परित्यज्याहं सम्यागाचरितमुनिचारित्रोऽभवम् । त्वं तु असुन्दरां जायामपि मनसा देवाङ्गनासदृशीं मत्वा हीनचारित्रोऽभवः । इति तर्जनवचनैः निर्भर्त्सितः पुष्पदन्तः ।

[पृ० ८२] **स्नानानुलेपनेति**—अङ्गनानां वपुः शरीरम् आधेयभावसुभगं आधेयभावैः संसृज्यमानचन्दनमृगमदपङ्कादिभिः सुभगं दृश्यते । केन विधिना आधेयभावसुभगम् स्नानादिविधिना—स्नानं सुगन्धितैलेन देहं संमर्द्य सुगन्धिजलेनाभ्यङ्गस्नानम् अनुलेपनं चन्दनादिपङ्केन देहलेपनं कौशेयादिवस्त्रधारणम्, ग्रैवेयकादिभूषणधारणम्, पुष्पमालादिभिः कण्ठाद्यवयवानां शोभामुत्पादनम्, ताम्बूलवाससेवनम् इत्यादिविधिना नारीदेहः सुन्दरः प्रतिभाति । तु परम् अस्य देहस्य नैसर्गिकी स्वाभाविकी स्थितिः स्वाभाविकं रूपं किमिव किम् उपमानमासाद्य वर्णनीयं भवेत् ॥२०१॥ इत्यसंशयम् आशय्य ज्ञात्वा विचिन्त्य वा स्त्रैणेषु स्त्रीसंबन्धिषु सुखकारणेषु विचिकित्सासज्जां जुगुप्सायुक्तां लज्जाम् अभिनीय सम्प्राप्य, हंहो इति सम्बोधनार्थकम् अव्ययं 'भो' इत्यर्थे ज्ञेयम् । **निकामेति**—निकामम् अतिशयेन निरुद्धः विनाशितः मकरध्वजस्य मदनस्य उद्भव उत्सवो येन तत्सम्बोधनम् । विधुराणां दुःखार्तानां बान्धव, साहाय्यकारिन् । **संसारेति**—संसारसुखमेव सरोजं कमलं तस्य उत्साराय विनाशाय नीहारायमाणौ हिमतुल्यौ चरणौ पादौ यस्य तस्य संबोधनम्, हे

वारिषेण, पर्याप्तम् अवावस्थानेन, अन्नालम् उपवेशनेन। प्रकामम् अतिशयेन शकलितं खण्डितं कुसुमास्त्रस्य मदनस्य रहस्यं गूढस्वरूपं येन तत्सम्बोधनम्, हे वयस्य हे सखे, इदानीमधुना, यथार्थनिर्वेदावनिः यथार्थः वस्तुभूतः निर्वेदः विरक्तिभावः तस्य अवनिः स्थानम् अहं मनोमुनिरस्मीति मनसा मुनिः भावेन मुनिरस्मि इति च अवधाय विज्ञाय, विशुद्धहृदयौ तौ द्वावपि चेलिनीमहादेवीम् अभिनन्द्य, उपसद्य च गुरुपादोपशल्यं गुरुचरणसमीपम् उपसद्य स्थित्वा च निःशल्याशयौ मायामिथ्यात्वनिदानशल्यरहिताभिप्रायौ साधु तपश्चक्रतुः। भवति चात्र श्लोकः—सुदतीति—कृतत्राणः कृतं त्राणं रक्षणं येन स वारिषेणः सुदतीसंगमासक्तं। तपस्विनं पुष्पदन्तं संयमे स्थापयामास ॥२०२॥

इत्युपासकाध्ययने स्थितिकारकीर्तनो नाम चतुर्दशः कल्पः ॥१४॥

१५. वज्रकुमारस्य विद्याधरसमागमो नाम पञ्चदशः कल्पः

[पृष्ठ ८२] चैत्यैरिति—चैत्यैः जिनबिम्बैः, चैत्यालयैः जिनमन्दिरैः विविधात्मकैः ज्ञानैः व्याकरण-काव्यन्यायधर्मशास्त्राणां ज्ञानैः, विविधात्मकैः तपोभिः अनशनादिद्वादशविधैस्तपोभिः, पूजामहाध्वजाद्यैश्च नित्यपूजा, अष्टाह्निकपूजा, इन्द्रमहपूजा महामहपूजादिभिः मार्गप्रभावनां कुर्यात् जिनधर्मं प्रभावयेत् ॥२०३॥

[पृष्ठ ८३] ज्ञाने, तपसि, पूजायाम्। केषां यतीनां यः असूयति मत्सरं करोति मुनीनां ज्ञानम्, तपः उपासनां च दृष्ट्वा यो दुर्धीः असूयति तेषां गुणेभ्यः द्रुह्यति नूनं सत्यमेव तस्यापि स्वर्गापवर्गभूलक्ष्मीः सुरेन्द्रलक्ष्मीः तथा अपवर्गभूलक्ष्मीः मोक्षभूमिलक्ष्मीः असूयति मत्सरं करोति उभे ते लक्ष्म्यौ तस्मान्नराद् दूरं तिष्ठतः इति भावः ॥२०४॥ समर्थ इति—यो धार्मिको नरः चित्तेन धैर्यादिना ज्ञानेन वा, वित्तेन धनधान्यवस्त्रादिदानेन इह अस्मिन्देशे समर्थः सन्नपि अशासनभासकः शासनस्य जिनधर्मस्य भासकः प्रभावनाकारको न स्यात् स चित्तवित्ताभ्यां समर्थः सन्नपि अमुत्र परलोके न भासकः भासको न भवति। तस्य स्वर्गादिलक्ष्मीर्वशा न भवतीति भावः ॥ २०५ ॥ तद्दानेति—तस्मात् दानैश्चतुर्विधैः, ज्ञानैः आध्यात्मिकैरागमजैश्च विज्ञानैः, चतुःषष्टिकलानां ज्ञानैः, महामहमहोत्सवैः महामहादिपूजाविशेषैः धनिकैः राजभिश्च क्रियमाणैः ऐहिकापेक्ष-योज्झितः अहं देवः स्यामहं वसुमतीपतिः स्यामिति इहलोकसंबन्धिधनाद्यभिलाषया मुक्तः धार्मिकः दर्शनोद्योतनं कुर्यात् दर्शनस्य प्रकाशनप्रभावनां कुर्यात् ॥२०६॥

[पृष्ठ ८४-८५] श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—अत्र प्रभावनागुणे आख्यानं प्रसिद्धा कथा श्रूयताम् आकर्ण्यताम् वज्रकुमारस्य कथां शृण्वन्तु जना इति भावः। पञ्चालदेशेषु श्रीमदिति—श्रियानन्तचतुष्टयलक्ष्म्या युक्तस्य पार्श्वनाथपरमेश्वरस्य यशःप्रकाशनपात्रे अहिच्छत्रनामनगरे चन्द्राननाख्या या अङ्गना नारी सा एव रतिः तस्याः कुसुमचापस्य मदनस्य द्विषन्तपस्य तन्नामधेयस्य भूपतेः सोमदत्तो नाम पुरोहितोऽभूत्। कथंभूतः सः उदितोदित-कुलशीलः प्रति पुरुषम् अधिकाधिकतया प्राप्तोदये उन्नतिं प्राप्ते कुलशीले वंशसदाचारौ यस्य सः षडङ्गे वेदे शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-ज्योतिष-च्छन्दांसि वेदस्य षडङ्गानि तदात्मके वेदे दैवे दैवविषये, निमित्ते अष्टांग-निमित्ते, दण्डनीत्यां च अभिविनीतमतिः कुशलधीः। दैवीनां देवताप्रकोपजातानाम्, मानुषीणां मनुष्यैर-रिभिरुत्पादितानाम् आपदां प्रतिकर्ता निवारकः, यज्ञदत्ताभट्टिनीभर्ता तन्नामधेयाया ब्राह्मण्या भर्ता पतिः, सोमदत्तो नाम पुरोहितोऽभूत्। एकदा तु सा किल यज्ञदत्ता अन्तर्वत्नी अन्तः गर्भमध्यस्थम् अपत्यं विद्यतेऽस्या इति गर्भिणीत्यर्थः, सती माकन्दमञ्जरीकर्णपूरेषु माकन्द आम्रतरुः तस्य मञ्जर्याः कर्णपूरेषु तन्नामकालङ्कारेषु तत्परिणतफलाहारेषु च समासादितदोहला लब्धेच्छावती अभूत्। व्यतिक्रान्तरसालवल्लरीफलकालतया व्यतीताम्रमञ्जरीफलसमयत्वात्, कामितम् अभिलषितं अनाप्तवती अलभमाना, शिफासु व्यथमाना प्रतानिनीव शिफासु मूलेषु पीडायुक्ता वल्लीव तनुतानवं देहकार्श्यं उपेयुषी जग्मुषी तेन पुरोहितेन ज्ञातिजनेन बन्धुगणेन च प्रबन्धेन आग्रहेण पृष्टा हृदयेष्टं मनोऽभिलाषम् अभाषिष्ट अब्रूत। भट्टस्तन्निशम्य श्रुत्वा "कथम् एतन्मनोरथम् अयथार्थपथम् अस्मन्मनोमथं अवार्यप्रार्थनं कथं करिष्यामि" एतन्मनोरथं अस्या यज्ञदत्तायाः

मनोरथं अयथार्थबन्धं पूरयितुं अशक्यापायम् अस्माकं मनो दुन्वत् अभ्यर्थ्या सफला प्रार्थनस्य स्पृहायाः कथा यस्मिन् सः तं कथं करिष्यामि । अस्या दोहदपूर्तिः अकाले उद्भूतत्वात् कथं मया कर्तुं शक्येति भावः । इत्याकुलमनाः परिच्छदच्छात्रतन्त्रानुपदः परिच्छदः परिवाररूपः स चासौ छात्रः शिष्यः स एव तन्त्रं अर्थसाधकः तम् अनुसृत्य पदानि यस्य सः । पुनः कथंभूतः सातपत्रपदत्राणः, आतपत्रं छत्रं पदत्राणे उपानहौ तेषां समाहारः आतपत्रपदत्राणं तेन सहितः सातपत्रपदत्राणः, पुनः कथंभूतः । तदिति-तासां माकन्दमञ्जरीणां तत्फलानां च गवेषणे अन्वेषणे या धिषणा बुद्धिः तस्यां परायणः सन् इतस्ततः व्रजन् गच्छन् जलेति—जलवाहिनी नाम नद्यास्तटसमीपे निविष्टं स्थितं प्रतननं विस्तारो यस्य तस्मिन् महति कालिदासकानने (सुमित्रेण मुनिना अध्यासितमूलतलश्चूतवृक्षः सोमदत्तेन विलोकितः प्रथमं तावत् सुमित्रं मुनिं वर्णयति कविः) कथंभूतेन सुमित्रेण । परमेति—परमतपश्चरणाचरणेन शुचि पवित्रं शरीरं यस्य तेन । पुनः कथंभूतेन । निःशेषेति—निःशेषम् अखिलं तच्च तच्छ्रुतं द्वादशांगम् श्रुतज्ञानं तस्य श्रवणेन । गुरुमुखात् प्रसृतः प्रकटीभूतः मनस्कारो निश्चयो यस्य तेन । पुनः कथंभूतेन । समस्तेति—समस्तानि सकलानि तत्त्वानि जीवाजीवादीनि सप्त तेषां निरूपणं यस्मिन् स चासौ स्वाध्यायस्तस्य ध्वनिः स एव सिद्धौषधिः तस्याः सविधतया सामीप्येन साधितः वशीकृतः वनदेवतानां निकरः समूहो येन । मूर्तिमतेव शरीरवतेव धर्मेण, पुनः कथंभूतेन । विनेयेति—विनेयाः विनेतुं शिक्षितुं योग्याः विनेयाः उपासकाः त एव दैर्घिकेयानि दीर्घिकायां जातानि दैर्घिकेयानि कमलानि तेषां मित्रेण सूर्येण उपासककमलसूर्येणेत्यर्थः । सुमित्रेण मुनिना 'सुमित्र' नामवता यतिना अलंकृतालवालवलयम् अलंकृतं शोभितं आलवालवलयं वृक्षमूले जलधारणार्थं यन्मृद्वेष्टनं तस्य वलयं मण्डलं यस्य तम् एकं चूतम् आम्रतरुम् अवलोक्य दृष्ट्वा, कथंभूतम् । एतद् ब्रह्मवर्चसमाहात्म्यात् ब्रह्मणः ब्रह्मचर्यपूर्वकतपसो वर्चसं तेजस्तन्माहात्म्यात् आमूलचूलं वृक्षतलमारभ्याग्रावधियावत् उल्लसल्लवलीफलगुलुच्छस्फीतम् उल्लसन्ती विकसन्ती या लवली लताविशेषस्तस्याः फलानां गुलुच्छानि गुच्छाः तद्वत् स्फीतं समृद्धं आम्रफलगुच्छसमृद्धं विलोक्य, च्छेकच्छात्रहस्ते च्छेको विदग्धः चतुरः स चासौ छात्रश्च शिष्यस्तस्य हस्ते कलत्रस्य भार्यायाः पिकप्रियप्रसवफलप्रतोलीं पिकानां कोकिलानां प्रियाः पिकप्रियाः प्रसवाः पुष्पाणि यस्य स आम्रतरुः तस्य फलानि तेषां प्रतोली गुच्छं प्रहृत्य आदाय, ततो भगवतः पूज्यस्य सुमित्रमुनेः धर्मश्रवणावसरप्रयत्नात् कथंभूतात्प्रयत्नात् । अवधीति—अवधिः अवधिज्ञानं स एव पयोधिः समुद्रः तस्य मध्ये संनिधीयमानाः निधिरूपेण भासमानाः सकलाश्च ते कलापाः समूहाः तैर्युक्तानि रत्नानि सम्यग्दर्शनादीनि यत्र तस्मात् धर्मश्रवणावसरप्रयत्नात् धर्माकर्णनसमयप्रयत्नात् (जातजातिस्मरणः सोमदत्तो मुनिर्बभूव) भवान्तरं पूर्वजन्म आकर्ण्य । कथंभूतम् धर्मश्रवणसमये प्रसंगात् समायातं प्राप्तम्, पुनः कथंभूतं । सहस्रारकल्पे द्वादशस्वर्गे सूर्यविमानसंभूतं सूर्याख्यविमाने जातं सूर्यचराभिधानानुगतं सूर्यचरदेव इति नामानुसृतम् अत्यल्पविभवपरिप्लुतम् अतिस्तोकसंपद्युतम् आत्मगोचरं स्वविषयं भवान्तरं जन्मान्तरं श्रुत्वा उदीर्णजातिस्मरभावः उद्भूतपूर्वभवस्मरणः स्वप्नसमासादितसाम्राज्यसमानसारात् संसाराद्विरज्य स्वप्ने समासादितं लब्धं यत्साम्राज्यं तेन समानः सारः बलं यस्य तस्मात् संसाराद्विरज्य विरक्तो भूत्वा, मनोजविजयप्राज्यां मनोजो मदनः तस्य विजयः तेन प्राज्याम् उत्कृष्टां प्रव्रज्यां जिनदीक्षाम् आसद्य संप्राप्य, प्रबुद्धसिद्धान्तहृदयः ज्ञातसिद्धान्तरहस्यः मगधविषये सोपारपुरस्य पर्यन्ते समीपे धाम निवासो यस्य तस्मिन् नाभिगिरिनाम्नि महीधरे पर्वते सम्यग्योगो निर्दोषः योगो मनोवाक्कायैकाग्र्यं यस्मिन् तथाभूतो च आतापनयोगः ग्रीष्मर्तौ रविकरसंतप्तशिलायां कायोत्सर्गेण स्थित्वा आत्मचिन्तनं तं धरतीति सम्यग्योगातापनयोगधरो बभूव । तदनु सोमदत्तस्य दीक्षाग्रहणदिनमारभ्य तद्वियोगातङ्कोद्वृत्तचित्ता तस्य सोमदत्तस्य वियोगो विरहः स एव आतङ्को रोगो ज्वरो वा तस्मात् उद्वृत्तम् अनवस्थितं चित्तं यस्याः सा, यज्ञदत्ता तदन्तेवासिभ्यः तस्य सोमदत्तस्य अन्तेवासिभ्यः शिष्येभ्यः आत्मखेदकरं सोमदत्तव्रतव्यतिकरं सोमदत्तस्य व्रतग्रहणस्य व्यतिकरं वार्ताम् अनुभूय श्रुत्वा, प्रसूय च समये स्तनन्धयं बालकम्, पुनस्तमादाय गृहीत्वा प्रयाय च गत्वा च तं भूमिभृतं पर्वतं नाभिगिरिम्, [यज्ञदत्ता तं मुनिं वचनैर्निर्भर्त्स्य तस्य पुरो देशे शिलातले बालकं मुक्त्वा गृहं जगाम] 'अहो कूटकपट कूटयति दम्भीकरोति कपटं यस्य तत्संबोधनं हे कूटकपट, कपिकट कपिवत् मर्कटवत् कटौ कपोलौ यस्य तत्संबोधनं हेक विकट इति,

मन्मन इति—मम मनः मन्मनः तदेव वनम् अरण्यं तस्य दाहे दहने दावपावकः, दावोऽरण्यं तस्य पावकः अग्नि-रिव तत्संबोधनम्, निःस्निग्ध दुर्विदग्ध महाप्रीते दुर्विदग्ध खलचतुर, यदि चेत् इमं पुरोऽवस्थितं शिलकारप्रतिच्छन्दं नवकमलम् अवच्छिद्य त्यक्त्वा, स्वच्छया निर्मलया इच्छया आगच्छ, नो चेत् गृहाण स्वीकुरु एनम् इमम् आत्मनो नन्दनं पुत्रम्। इति व्याहृत्य भाषित्वा अस्य ऊर्ध्वज्ञोः उत्थितकायोत्सर्गस्य भगवतः पुरतः शिलाग्रे बालकम् उत्सृज्य मुक्त्वा विजहार निजं निवासम्। अगमत् स्वकीयमावासम्। भगवानपि तेन सुतेन युक्तेन दूषवः शिलायाः प्लोषोत्कर्षकलुषत्वात् प्लोषस्य दाहस्य उत्कर्षः तीव्रता तेन कलुषत्वं श्यामीभूतता तस्मात्, विदूरीकृत-चरणवर्गः आसनीकृतपदयुगः सोपसर्गः सोपद्रवः तथैव पूर्ववदेव अवतस्थौ तिष्ठति स्म।

[पृष्ठ ८६] अत्रान्तरे अस्मिन् प्रसंगे (त्रिशङ्कुर्नाम खगपतिः भास्करदेवाय राज्यं दत्त्वा संयमी अजायत) कथंभूतः स त्रिशङ्कुर्नृपः। विजयार्धोत्तरश्रेण्याममरावतीनगरीपतिः। कथंभूतस्य विजयार्धपर्वतस्य। सहेति—सहचरैः सखीजनैः, अनुचरैः दास्यादिभिः सह संचरन्त्यस्ताः खेचर्यः विद्याधराङ्गनास्तासां चरणानां पादानाम् अलक्तकेन यावकेन रक्तानि लोहितानि रन्ध्राणि यस्य, तथाभूतस्य विजयार्ध इति तटीध्रः पर्वतः तस्य विजयार्धतटीध्रस्य, उत्तरश्रेण्याम्, कथंभूतायाम्। दयितेति—दयितात् पत्युः अविदूरा समीपवर्तिनी या विद्याधरी खचराङ्गना तस्या विनोदेन नर्मभाषणेन विहारेण च परिमण्डिता सुगन्धीभूता कान्तारधरणी वनभूमिः यस्याः तस्याम् उत्तरश्रेण्याम् अमरावतीनगरीपरमेश्वरः सुमङ्गलाभिधाना या अबला ललना तस्या वरः भर्ता। कथंभूतः त्रिशङ्कुर्नृपः। प्रकामेति—प्रकामं यथेप्सितं विख्याता राज्याच्च्याविताश्च ते अरातयः शत्रवश्च तेषां कान्ताः सुन्दर्यः तासाम् आशयचित्तं तत्र यः शोकजनने शङ्कुरिव शल्य इव त्रिशङ्कुर्नाम नृपतिः। समरेति—समरावसरे युद्धसमये अभिसरन्तोऽभिद्रवन्तः ये सपत्नाः शत्रवस्तेषां संतानो वंशस्तस्य अवसानं विनाशः तत्करणे साराः बलीयांसः ये शिलीमुखा बाणाः यस्य, तथाभूतः स नृपः राज्यसुखम् अनुभूय, जिनागमादवगतसंसारशरीरभोगवैराग्यस्थितिः यतिः सम्बुभूषुः, भूगोचरसंचाराय भूमिविषये संचारो भ्रमणं यस्य तस्मै हेमपुरेश्वराय हेमपुराधीशाय कथंभूताय। समस्तेति—समस्ताः सकलाश्च ते महीशाः राजानः तैः मान्यं शासनं यस्य तस्मै बलवाहननामधेयाय नृपाय सुदेवीं सुताम्, ज्येष्ठाय पुत्राय च भास्करदेवाय च राज्यं प्रदाय वितीर्य सुप्रभसूरिसमीपे संयमी यतिरजायत। ततो गतेषु कतिपयेषु चिद्दिवसेषु विहितः कृतः राज्याप-हारो यस्य। केन राज्यापहारः कृतः पुरंदरदेवेन कथंभूतेन। समुत्साहितः धनादिदानेन उन्नतिं नीतः आत्मीयानां स्वसंबन्धिनां वीराणां समूहो येन तेन, पुनः कथंभूतेन। स्वदोरिति—निजभुजयोर्दर्पेण विधा सामर्थ्ययुतसैन्यवृन्देन, दुर्विनीताः दुःशिक्षिताः खलास्तेषु वरिष्ठेन ज्येष्ठेन लघिष्ठेन भ्राता पुरंदरदेवेन विहितराज्यापहारः परिजनेन समं स भास्करदेवः तत्र बलवाहनपुरे अमरावतीपुरे शिबिरं स्वसैन्यं संस्थाप्य मणिमालया राज्ञ्या सह तं सोमदत्तं भगवन्तम् उपासितुं पूजयितुम् आगतः। तत्पादमूले स्थलकमलमिव तं बालकमवलोक्य 'अहो महदाश्चर्यं महदद्भुतम्, यतः कथमिदम् अरत्नाकरमपि रत्नं रत्नाकरे समुद्रे अजातमपि रत्नमिव, अजलाशयमपि कुशेशयं जलाशये तडागे अजातमपि कुशेशयमिव कमलमिव, अनिन्धनमपि तेजः-पुञ्जम् इन्धनरहितमपि तेजःपुञ्जम् अङ्गकान्तिसहितम्, अचण्डकरमपि उग्रत्विषं न चण्डाः तीक्ष्णाः कराः किरणा यस्य तथाभूतमपि उग्रत्विषं तीव्रकान्तिम्। अनिलामातुलमपि कमनीयम् (?) न इलामातुलः अनिलामातुलः इलामातुलश्चन्द्रः इला चन्द्रस्य स्नुषा। चन्द्रस्तस्या मातुलः इलामातुलश्चन्द्रः स वज्रकुमारोऽचन्द्रोऽपि चन्द्रवत् कमनीयः इति भावः। अपि च कथमयं बालपल्लव इव पाणिस्पर्शेनापि म्लायमानलावण्यः बालकिसलय इव करस्पर्शेनापि म्लायमानं कान्तिहीनं लावण्यं सौन्दर्यं यस्य तथाभूतः। कठोरोष्मणि तीव्रातपतप्ते पाषाणे वज्र-रचित इव रिरंसमानमानसः क्रीडमानमनाः, मातुरुत्संगगत इव सुखेनास्ते जनन्या अङ्कगत इव आमोदेन वर्तते इति। एवं कृतमतिविहितविमर्शः स भास्करदेवः "प्रियतमे वल्लभे कामम् अतिशयेन स्तनंधयधृतमनोरथायाः स्तनं धयति पिबतीति स्तनंधयो बालः तस्मिन्धृतो मनोरथोऽभिलाषो यया सा तस्यास्तव अयं भगवतः सोम-दत्तमुनेः प्रसादात् कृपायाः सकाशात् लब्धः सर्वलक्षणोपपन्नः सकलसामुद्रिकशुभलक्षणलक्षितः वज्रकुमारो नाम

अस्माकम् इति अस्मदीयः स चासौ वंशश्च तस्य विशालतां विस्तृतिं विदधातीति विशालताविधायि तच्च तत्पात्रं च अस्मदीयान्वयस्य प्रसिद्धिविधाने पात्रं योग्योऽस्तीति अभिप्रायोक्त्वा, विधाय च यथावत्तस्य भगवतः पर्युपासनम्, पूजनम्, पुनरत एव अस्मादेव सोमदत्तगुरोः महतः माहात्म्यवतः अधिगतं लब्धं च एतदपत्यं बालोऽयमिति वृत्तान्तः येन स नभश्चरपतिः भावपुरं निजभगिनीपतिनगरम् अनुससार ययाविति भावः।

[पृष्ठ ८७] भवति चात्र श्लोकः—अन्तःसारेति—अन्तः आत्मनि सारो बलम् उपसर्गसहनसामर्थ्यं येषु तानि अन्तःसाराणि तादृशि शरीराणि येषां ते अन्तःसारशरीराः तेषु महापुरुषेषु। अहितेहितम् अहितानाम् अरीणाम् ईहितं चेष्टितम् उपसर्गादिकं दुष्कृत्यं हितायैव भवति। महापुरुषाणां गुणप्रादुर्भावकारणं भवति। अग्निसंयोगः तदश्मनि स्वर्णपाषाणे स्वर्णत्वाय हेमप्रादुर्भूत्यै किं न स्यात्। अपि तु स्यादेव ॥२०७॥

इत्युपासकाध्ययने वज्रकुमारस्य विद्याधरसमागमो नाम पञ्चदशः कल्पः ॥१५॥

१६. वज्रकुमारस्य तपोग्रहणो नाम षोडशः कल्पः

[पृष्ठ ८७-८८] वज्रकुमारो यौवनेनालंचक्रे इति संबन्धः। कथंभूतः सः। पुनरिति—पुनः बालभावात् शैशवात् शोणा ताम्रा छाया कान्तिः यस्य कायस्येति, क इव कङ्केल्लिपल्लव इव अशोकतरुकिसलय इव, धातकीति—पुष्पिताभिनवतरुपुष्पगुच्छ इव, अरुणमणिभिः पद्मरागमणिभिः निर्मितः कन्दुक इव गेन्दुक इव बन्धूनां संबन्धिजनानाम्। पुनः कथंभूतः। आनन्दितेति—आनन्दितम्, निरीक्षितम् इतस्ततो वीक्षां कुर्वत्, अमृतपोषम् अमृतं जलम्, दुग्धं घृतं च तत्पानं कुर्वाणम्, मन्थरं मन्दं मन्दं वलितं कुर्वाणं मुखं यस्य, सखेलं क्रीडया हस्तपरम्परया संचार्यमाणः नीयमानः, क्रमेण उत्तानशयः उन्मुखशयनम्, दरहसितम् ईषत्स्मितम्, जानुभ्यां चंक्रमणं रिङ्खनम् ऊरुजङ्घयोर्मध्यभागाभ्याम्, गद्गदालापः अस्पष्टभाषणम्, स्पष्टक्रिया च अस्खलितगमनभाषणादिकं च एतदर्भकस्थाम् अवस्थां दशाम् अनुभूय, स वज्रकुमारः यौवनेनालंचक्रे। क इव केन। यथा मरुमार्गः म्रियते पिपासया यस्मिन्मरुः स चासौ मार्गः निर्जलः पन्थाः छायावता पादपेन अलंक्रियते, छायापादपो यथा छायाप्रधानस्तरुर्यथा जलाशयेन शोभते, स च जलाशयो यथा कमलाकरेण कमलवनेन, स च कलहंसनिवहेन मरालविहगवृन्देन, कलहंसनिवहो यथा रामासमागमेन, स च रामासमागमः युवतिजनसंगः स्मरलीलायितेन मदनक्रीडनेन, तरुणीजनो युवतिसमूहः तस्य मन एव मृगो हरिणस्तस्य प्रमदवनेनेव आनन्ददेन उपवनेनेव यौवनेन तारुण्येन स वज्रकुमारः अलंचक्रे शुशुभे। (तदनु वज्रकुमारः मामस्य दुहितरम् इन्दुमतीं परिणीय मायाविनम् अजगरं पवनवेगां पीडयन्तं वित्रासयामास इति संबन्धोऽत्र ज्ञेयः) तदनु यौवनप्राप्त्यनन्तरं कथंभूतो वज्रकुमारः। बाढमिति—बाढम् अतिशयेन प्ररूढम् उद्भूतं तच्च तत् प्रौढं प्रवृद्धं यौवनं तारुण्यं तस्य अवतारसारो आगमनसामर्थ्यं यस्मिन् सः पुनः कथंभूतः। पितुर्मातुश्च वंशयोः निवेशः निवासो यासां तथाभूताभिः अनवद्याभिः निर्दोषाभिः विद्याभिः प्रबलितप्रतापगुप्तः प्रकृष्टसामर्थ्यविक्रमेण गुप्तः रक्षितः, ततश्च। प्राप्तेति—प्राप्तं लब्धं खचरलोकात् नभोगाभिजनात् आधिपत्यं श्रेष्ठत्वं येन सः, (मामस्य कन्यां पर्यणयत्) किं नामधेयस्य मामस्य। सुवाक्येति—पुवाक्यमूर्ति इति नाम्नः धामस्य गृहभूतस्य मामस्य जननीभ्रातुः। कथंभूतां दुहितरं पर्यणयत्। मदनेति—मदनस्य कामस्य यो मदः उद्रेकः तेन पण्यं स्तव्यं यत्तारुण्यं तस्य लावण्यमेव अरण्यं तत्र वनदेवतावतारस्य वसुमतीव भूमिरिव ताम् इन्दुमतीं दुहितरं सुतां परिणीय विवाह्य, मणिकुण्डलादयः पुरःसराः अग्रगा येषु तैः नभश्चरकुमारैः खचरपुत्रैः अनुगतः विजयार्धमहीधरम् अध्यास्तेति संबन्धः। कथंभूतं विजयार्धम्। पूर्वापरेति—पूर्वश्च अपरश्चामू पूर्वापरौ तौ च तौ अवारपारौ समुद्रौ पूर्वापरावारपारौ तयोस्तरङ्गा वीचयः तैः दन्तुरा उन्नता व्याप्ता वा कन्दराः गुहाः ताः धरतीति धरः तं पुनः कथंभूतम्। क्रीडेति—क्रीडायाः रसः प्रीतिः तस्या वर्धनेन उत्कुरम् उत्कटम्। विजयार्धमहीधरम् अध्यास्य उपविश्य, तस्य विजयार्धस्य नानास्थानानि निध्यायन् मायाशयु (वित्रासयामासेति संबन्धं दर्शयति।) विहायश्चरीति—विहायः आकाशं तत्र चरो गमनं यासां ताः

विद्याधरवर्यः विद्याधरस्त्रियः ताभिः परिमलनेन मर्दनेन म्लानानि म्लानि प्राप्तानि मृणालानि बिसानि कमलनालानि जलजानि च यत्र, पुनः कथंभूतं स्थानम् । अशोकेति—अशोकतरोः पल्लवानां शय्यासु दयितेन पत्या आसाद्य प्राप्य यद्विद्याधरीसुरतं तस्य परिमलेन सुगन्धेन बहुलं विपुलम् इदं लताकुञ्जस्थानम् इति निध्यायन्, पुनश्च कन्दुकेति—कन्दुकविनोदः गेन्दुकक्रीडा तस्मिन् परिणतास्तत्परा या अम्बरचर्यः खगाः तासां चरणालक्तकेन पादलिप्तयावकेन अङ्कितं चिह्नितम् अदः स्थानम् । तमालमूलानाम् आवलयं मण्डलं यत्र तथाभूतमिदम् । इदं रमणीयम् मन्मनोहरमदः, अदश्च सुन्दरम् अटवीप्रलटं मेखलाधरतटस्थानं मनोहरम् । इति निध्यायन् पश्यन् चिन्तयन् वा । समेति—समाचरितः विहितः स्वैरविहारो येन, पुनः प्राप्तो हिमवद्गिरेः प्राग्भारः अग्रभागो येन सः । वज्रकुमारः मायाजगरेण निगीर्णां विद्याधरकन्यां पवनवेगां संरक्षितवान् । [कस्य विद्याधरपतेरियं पवनवेगेति वर्ण्यते] खेचरीति—खेचरीलोचनानां चन्द्रवदाह्लादकस्य चन्द्रपुरेति नगरस्येन्द्रः स्वामी, यश्च अङ्गवती युवत्याः प्रीतेर्धाम गृहं तस्य गरुडवेगनाम्नः विद्याधरपतेः अतिशयरूपस्य पात्रीं भाजनभूतां प्रियपुत्रीं पवनवेगां नाम असंगां सख्यादिपरिवाररहिताम् । प्रालेयेति—प्रालेयं हिमं तेन उपलक्षितः अचलः पर्वतः हिमाभिधः शैलः तस्य मेखलायां नितम्बे यत्खलतिकं नाम वनं तस्य लतालये निलीनाङ्गां निलीनं स्थितम् अङ्गं यस्याः सा ताम् । पुनः कथंभूतां तां बहुरूपिणी इति नाम्नः निषद्या स्थापना यस्यां सा ताम् अनवद्यां निर्दोषां विद्यामाराधयन्तीम्, अनयैव विघ्ननिघ्नया विघ्नं कुर्वत्या जातं अजगररूपं यस्यां तथाभूतया विद्यया निगीर्णवदनां निगीर्णं गिलितं वदनं मुखं यस्यास्ताम् उपलक्ष्य दृष्ट्वा परोपकारचतुरः तार्क्ष्यविद्यया गरुडविद्यया एतस्याः लपनं मुखं तेन आविलं भृतं तालु यस्य तं मायाशयालुं मायाजगरं वित्रासयामास पीडयामास । पवनवेगा तत्प्रत्यूहाभोगापगमानन्तरमेव तस्य मायाजगरस्य प्रत्यूहो विघ्नस्तस्याभोगो विस्तारः तस्य अपगमो विनाशस्तस्य अनन्तरमेव विघ्ननाशक्षण एव विद्यायाः सिद्धिं प्रपद्य प्राप्य 'अवश्यं इह जन्मनि अयमेव मे कृतप्राणत्राणावेशः कृतः विहितः प्राणत्राणस्य असुरक्षणस्य आवेशः प्रयत्नो येन स वज्रकुमार एव प्राणेशः प्राणनाथः' इति चेतसि अभिनिविश्य निश्चयं कृत्वा पुनः अस्यैव नीहारमहीधरस्य नीहारो हिमं तस्य महीधरः पर्वतः हिमाचलः तस्य नितान्तम् अतिशयेन तोरिणीपर्यन्ते नद्यास्तटे सूर्यप्रतिमाम् आतापनयोगं श्रितवतः धृतवतः भगवतः पूज्यस्य । तप इति—तपोमाहात्म्येन कृतसकलप्राणिव्यसननाशस्य संयतस्य संयमिनो मुनेः पादपीठोपकण्ठे चरणासनसमीपे पठतः तव सेत्स्यति सिद्धिं यास्यति इत्युपदेशवशेन अभिनवमाराय अभिनवो नूतनः स चासौ मारो मदनः तस्मै वज्रकुमाराय गगनेति–गगने गमनं येषां तेषां विद्याधराणां या अङ्गनाः स्त्रियः तासां विद्याधरस्त्रीणां जीवितभूताम् अभिमतेति–अभिमतः अभिलषितः स चासौ अर्थश्च तस्य साधने पर्याप्तिः पूर्णता यस्यास्तां प्रज्ञप्तिं विद्यां वितीर्य दत्त्वा, निजनगर्यां पर्यटन् वज्रकुमारः तथैव तत्सूरिसमक्षं फेनमालिनीनदीतटे विद्यां प्रसाध्य असाध्यसाधनेन प्रवृद्धविक्रमः अक्रमेति—अक्रमेण अन्याय्येन विक्रमेण शौर्येण बल्यीभूतदेवं पुरंदरदेवं पितृव्यं पितुर्भ्रातरम् अव्याजम् अनिमित्तम् उच्छिद्य सद्यस्तत्क्षण एव तां विजयोत्सवपरम्परावतीम् अमरावतीं पुरं नगरीम् आत्मपितरं स्वतातम् अखिलगगनचरैः विहितपादसेवं भास्करदेवं स्थापयित्वा वश्येन्द्रियः स्वयंवरनिमित्तेन कृताभिलषितवल्लभसमागमाम्, मदनसमागमसंजातशृङ्गारसुन्दरां पवनवेगाम् अन्याश्च खेचरपतिकन्याः परिणीय भाग्यवतां धुर्यः नभोगामिनः संकल्पमात्रलब्धैस्तैस्तैः अलब्धपूर्वविलासैः समयं गमयामास ।

[पृष्ठ ८६] अन्यदा पुनः इष्टा अभिप्रेता सुहृदादयस्तेषाम् प्रज्ञया तथा दुष्टा मत्सरिणः ये ज्ञातयं गोत्रिणो जनाः तेषां अवज्ञया अवहेलनेन आत्मनः स्वस्य परैधित्वं परेण एधित्वं वर्द्धनं पोषणं च अवबुध्य ज्ञात्वा निजान्वयनिश्चये स्ववंशनिर्णये सति शारीरेषु उच्चारेषु स्नानान्नपानादिव्यवहारेषु प्रवृत्तिरन्यथा निवृत्तिः इति विहितप्रतिज्ञः । ताभ्यां मातापितृभ्यां महेति—महान्तश्च ते मुनयः महामुनयः सप्तर्षयः तेषां माहात्म्ययुक्तः प्रभावसंपन्नः यो मन्त्रः तेन विभासिताः भये प्रापिताः दुष्टा ईतयः रोगादिबाधाः ता एव निशाचरा राक्षसा यत्र तथाभूतायां मथुरायां तपस्यतः सोमदत्तस्य भगवतः सनीडे समीपे नीतः । तदङ्गमुद्राप्रायं मुनिशरीराकृतितुल्यम् आत्मकायं स्वदेहम् अवसाय निश्चित्य संजातानन्दनिकायः उद्भूतप्रमोदवृन्दः तौ

उभौ अपि उपनेतारौ मुनिसमीपं प्रापकौ मातापितरौ सादरं सस्नेहम् उक्तियुक्तिभ्यां प्रतिबोध्य उपदिश्य अव-धीरितोभयग्रन्थस्तस्यबाह्याभ्यन्तरग्रन्थः, निर्ग्रन्थः चारणर्द्धिबुद्धिः समपादि चारणर्द्धिधारकः समजायत । भवति चात्रार्या—कामविदूरे कामात् मदनात् विदूरे विशेषेण दूरे रहिते नरे जाते सति, नरे कामेभ्यः सकलपरिग्रहाभिलाषाभ्यो वा दूरे जाते सति, श्रीकल्पः लक्ष्मीसदृशः सुन्दरः कान्तालोकः स्त्रीणां समूहः तृण-कल्पः तृणवदुपेक्षणीयः त्यक्तुं योग्यो भवति । चित्रः संचितः मित्रगणः चितालोकः शवलोकवत् जायते । स्वजनः बन्धुवर्गः पुण्यजनश्च राक्षसजनो जायते ॥२०८॥

इत्युपासकाध्ययने वज्रकुमारस्य तपोग्रहणो नाम षोडशः कल्पः ॥ १६ ॥

१७. बुद्धदास्याः पूतिकवाहनवरणो नाम सप्तदशः कल्पः

[पृष्ठ ८९-९०] पुनश्च एतस्यामेव किल मथुरायाम्, कथंभूतायां **महामहोत्सवेति**—महामहोत्सवे भक्त्या मुकुटबद्धैः क्रियमाणा या जिनपूजा सा महामहोत्सव उच्यते तस्मिन् उत्साहितानां नराणां आतोद्यानां वाद्यानां नादा ध्वनयः तैः मेदुराः प्रतिध्वनियुक्ता ये प्रासादास्ते एव कन्दरा यस्याः तस्याम्, गोचराय आहाराय चारणर्द्धियुगलं तद्ऋद्धिसहितं मुनिद्वयं नगरमार्गे संगतगतिसर्गं संगतो गतेः गमनस्य सर्गो निश्चयो यस्य तत्, एकस्मिन्नेव समये समानगत्या आहाराय निर्गतमित्यर्थः । तत्र मथुरायां द्वित्रिपरिवत्सर एव द्वौ वा त्रयो वा परि अधिका हीना वा वत्सरा यस्मिन् तथाभूते अवस्थावसरे बालिकामेकां चिल्लचिकिनलोचनसनाथां चिल्लेन नेत्रमलेन चिकिने क्लिन्ने च ते लोचने नयने ताभ्यां सनाथां सहिताम् अनाथां पितृभ्यां रहिताम् आपणाङ्गण-चारिणीम् आपणानाम् अङ्गणं तत्र चारिणीं भ्रमन्तीं पण्यवीथिकायां भ्रमणं कुर्वतीम् स्खलद्गमनविहारिणीं स्खलता गमनेन विहरन्तीम् निरीक्ष्य विलोक्य प्रतीक्ष्य विमर्शं कृत्वा । पश्चाच्चरः पृष्ठतो गच्छन् सुनन्दना-भिधानगोचरः सुनन्दन इति नामविषयो यस्य स भगवान् पूज्यो मुनिः एवमवदत् । 'अहो दुरालोकः खलु प्राणिनां कर्मविपाकः, यदस्यामेव दशायां प्रभवति ।' अहो प्राणिनां जीवानां खलु कर्मविपाकः कृतकर्मणः पापस्य पुण्यस्य वा फलानुभवः दुरालोकः, महता कष्टेन आलोको दर्शनं ज्ञानं यस्य तत् । यत् अस्यामेव दशायां शैशवावस्थायां प्रभवति स्वफलम् आस्वादयति । इति । पुरश्चारी भगवान् अभिनन्दननामधारी—अग्रे गच्छन् भगवान् पूज्यः अभिनन्दननामा मुनिः—तपःकल्पद्रुमोत्पादनन्दन सुनन्दनमुने मैवं वादीः—तपः एव कल्प-वृक्षस्तस्य उत्पादे उद्भावने नन्दनवनमिव, सुनन्दनमुने मैवं वादीः मा एवं ब्रवीः । यद्यपीयं गर्भसम्भूता सती राजश्रेष्ठिपदप्रवृत्तं समुद्रदत्तं पितरम् अकाण्ड एव दशमीं दशाम् आनीय इदमवस्थान्तरम् अनुभवन्ती तिष्ठति । गर्भे समायाता सती राजश्रेष्ठिपदम् अधिष्ठितं समुद्रदत्तं जनकम् अनवसर एव दशमीं दशां मरणावस्थां नीत्वा इदं दुःखदं दशान्तरम् अनुभवन्ती तिष्ठति । जातमात्रतद्वियोगदुःखोपसदां धनदां मातरम् जननसमय एव तस्य पत्युर्विरहदुःखप्राप्तां धनदाख्यां जननीम् अनवसर एव मरणावस्थां नीत्वा इदं दशान्तरम् अनुभवन्ती तिष्ठति । प्रवर्धमाना च बन्धुजनम् अनवसर एव मृत्युमनयत् इति पूर्वोक्तः संबन्धोऽत्र ज्ञेयः । तथाप्यनया प्रौढयौवनया प्रौढं विशालं लोभनीयं यौवनं तारुण्यं यस्याः, सा तया । अस्य मथुरानाथस्य औविलादेवीविनोदावसथस्य औविलादेव्याः कृताभिषेकाया महिष्या विनोदावसथस्य क्रीडागृहभूतस्य पूतिकवाहनस्य महीनस्य पृथ्वीपतेः अग्रमहिष्या प्रधानराज्ञ्या भवितव्यम् । इत्यवोचत् । एतच्च तत्रैव प्रस्तावे पिण्डपाताय तत्रैव मथुरानगर्यां प्रस्तावे अवसरे समये पिण्डपाताय आहारग्रहणाय भिक्षार्थं हिण्डमानः भ्रमन् शाक्यभिक्षुः बुद्धसाधुः उपश्रुत्य आकर्ण्य 'नान्यथा मुनिभाषितम्' न भवेत् यतिवचनम् अनृतम् इति निर्विकल्पं निःसंशयं संकल्प्य विमृश्य । स्वीकृत्य चैनाम् अर्भकां बालिकाम् । आहितविहारवसतिकाम् आहिता स्थापिता विहारवसतिकायां बौद्धमठस्थाने या ताम् बौद्धमठे तां संस्थाप्येति भावः, **अभिलषितेति**—अभिलषितानाम् अभिप्रेतानाम् अनुहारः आनयनं येषां तैः आहारैः अवीवृधत् तां बालिकां समवर्धयत् पोषयति स्म । परिजनपरिहासापेक्षेण गोत्रेण नाम्ना बुद्धदासीति आजुहाव व्याजहार । (ततः गतेषु केषुचिद्वर्षेषु यौवने प्राप्ते तां राजा अपश्यत् इति वर्णयति) कथंभूते यौवने । भ्रमर-केलि-भ्रमरको नाम नृत्यविशेषः तस्य भङ्गः पद्धतिः तस्य अभिनयप्रदर्शने भरते नाट्याचार्ये । पुनः कथंभूते ।

भ्रूविभ्रमेति—भ्रुवोर्विभ्रमो विलासः उत्क्षेपणादिकं तस्य आरम्भे विधाने उपाध्यायस्थानिनि शिक्षागुरुतुल्ये। लोचनेति—लोचनयोर्नयनयोर्विचारो भ्रमणं तस्य चातुर्ये आचार्य इव तस्मिन्। चतुरोक्तिः—चतुराणां वचनानाम् उक्तौ या चातुरी पटुता तस्याः प्रचारे प्रसारे गुरुरिव गुरुतुल्ये। बिम्बाधरेति—बिम्बवत् तुण्डिकाफलवत् रक्तौ तावधरौ तयोर्विकारस्य सौन्दर्ये कादम्बर्यां मदिरायाः योगे संबन्धे इव। निम्नोन्नतेति—निम्नानि जघनादीनि उन्नतानि स्तनादीनि तेषां प्रदेशानां प्रकाशने व्यक्तीकरणे शिल्पिनि सूत्रधारे। मनसिजेति—मनसिजो मदनः स एव गजः करी तस्य मदस्य उद्दीपने पिण्डिराहारः तेन पिण्डिते पुष्टे। शृङ्गारेति—शृङ्गारस्य या गर्भगतिः अन्तरात्मनि गतिः तस्या रहस्यस्य गूढस्वरूपस्य उपदेशके, समस्तेति—समस्तं च तद्भुवनं च तस्य मनश्चित्तं तस्य मोहने सिद्धौषधे प्रतिदिनं प्रादुर्भावस्य सामीप्यं प्राप्ते सति यौवने। सा रूपसंपन्महीयसी रूपसंपदा सौन्दर्यविभवेन महीयसी प्रवृद्धा गुर्वी बुद्धदासी सोत्तालं सोत्कण्ठम् उत्तुङ्गः उन्नतः समङ्गः प्रासादः तस्य शृङ्गं शिखरं तस्य उत्संगो मध्यभागस्तं संगता। भ्रमणिकया भ्रमणहेतुना कृतं विहारस्य मठस्य उपान्ते समीपे गमनं येन तं पूतिकवाहनं राजानं सा अदर्शत् अपश्यत्। राजा च तामपश्यत्। राजा—अलकेति—इह हि बुद्धदासीकायायां सरिति नद्यां मम मतिः अलकाश्चूर्णकुन्तलाः कुटिलकेशाः तेषां वलयं मण्डलं तदेव आवर्तो जलभ्रमः तस्मिन् भ्रान्ता भ्रमणखिन्ना। विलोचनेति—विलोचने नेत्रे एव वीचिकास्तरङ्गाः तेषां प्रसरात् विधुरा पीडिता। स्तनद्वयसैकते कुचयुगलमेव सैकतं पुलिनं तस्मिन्। त्रिवलिवलने श्रान्ता त्रयाणां वलीनां समाहारस्त्रिवली तस्यां वलनेन भ्रमणेन श्रान्ता क्लान्ता पुनः नाभौ निमज्जनात् बुडनात् अपि श्रान्ता एवं मम मतिः प्रायेण मन्दोद्योगा शिथिलप्रयत्ना भवति खिन्ना भवतीति भावः वर्तते।

[पृष्ठ ९१] इति राजा विचिन्त्य, चेतोभुवः मदनस्य विजृम्भप्रारम्भं बुद्धिप्रक्रमं निवार्य निरुध्य च, किमियं विहितविवाहोपचारा कृतपरिणयविधिः अथवा अद्यापि पतिंवरा वरीतुं योग्येति भिक्षूनापृच्छ्य, तत्र द्वितीयपक्षे यदि पतिंवरा तर्हि अस्मत्पक्षे अस्माकम् अधीना कर्तव्या। तया सह विवाहम् अहं करोमीति। समर्पितोऽभिलाषो यस्य तथाभूतम् आप्तपुरुषं विश्वस्तं नरं प्रेष्य प्रहित्य। रणरणकजडान्तःकरणः उत्कण्ठाजडचित्तः शरणमगात् गृहमगच्छत्। 'शरणं गृहरक्षित्रो'रित्यमरः। आप्तपुरुषोऽपि विश्वस्तनरोऽपि। अग्रमहिषीपदपणबन्धेन प्रधानराज्ञीपदप्रदानस्य व्यवहारं विनिश्चित्य साध्यसिद्धिं विधाय स्वामिनं राजानं तत्समागमिनं तया समागमवन्तम् अकरोत्। भवति चात्रार्या—पुण्यं वेति—जन्तुना प्राणिना यत्काले यस्मिन्काले पुरा यत् पुण्यं वा पापं वा आचरितं तत्समये तस्य पुण्यस्य पापस्य उदयकाले समागते सति तस्य जीवस्य सुखं च दुःखं च योजयति। तं जीवं तत्पुण्यं वा पापं वा सुखिनं दुःखिनं च करोति ॥२१०॥

इत्युपासकाध्ययने बुद्धदास्याः पूतिकवाहनवरणो नाम सप्तदशः कल्पः ॥१७॥

१८. प्रभावनविभावनो नामाष्टादशः कल्पः

[पृष्ठ ९१-९२] अथ समायाते इति—भव्यजनानन्दस्य संपादकानि कर्माणि पूजाभिषेकादीनि यत्र तथाभूते नन्दीश्वरपर्वणि समायाते सति। तया प्रतिप्रणयप्रेयस्या प्रतिविरुद्धा या प्रणयप्रेयसी पूतिवाहनस्य राज्ञः प्रीतियुक्ता वल्लभा बुद्धदासी तया प्रतिचातुर्मास्यम् ओर्विलादेव्याः स्यन्दननिर्गमेन रथयात्रया भगवतः सकलभुवनोद्धरणस्थितेः सकलजगदुद्धारं कुर्वतः जिनपतेर्महामहोत्सवम् उच्छेत्तुं विनाशयितुम् अभिलषन्त्या, शुद्धोदनतनयस्य शुद्धोदननृपपुत्रस्य सुगतस्य इष्टपथं पूजार्थम् अष्टाह्ना अष्टदिनपर्यन्तं सकलपरिवारानुगतम् एतदुचितम् एतस्या रथयात्राया उचितं योग्यम् उपकरणजातं रथ-छत्र-चामरादिकम् अवनिपतिः राजा पूतिकवाहनः याचितः प्रार्थितः, स तथैव प्रत्यपद्यत अङ्गीकरोत्। उर्विलादेव्यपि सुभगभावात् पतिप्रियत्वात् सपत्नीप्रभवं सपत्न्याः प्रभवः उत्पत्तिर्यस्य तत् दौर्जन्यं दुष्टत्वम् अनन्यसामान्यम् असाधारणम् अप्रतीकारम् अनुपायं आकलय्य ज्ञात्वा सोमदत्ताचार्यम् उपसद्य प्राप्य 'भदन्त, यदि एतस्मिन् द्वित्रिदिनभाविनि द्वित्रिदिवसानन्तरं भविष्यति अष्टदिनोत्सवे पूर्वक्रमेण जिनपूजार्थं मथुरायां मदीयो रथो भ्रमिष्यति तदा मे देहस्थितिहेतुषु अन्नजलादिषु

पदार्थेषु साभिलाषं मनः इच्छायुक्तं मनः अन्यथा निरभिलाषं निरिच्छम्' इति प्रतिजिज्ञासमाना प्रतिज्ञां कर्तुम् इच्छन्ती तेन सोमदत्तेन भगवता पूज्येन मुनिना तन्मनोरथसमर्थनार्थं तच्चित्तेच्छासफलीकरणाय अवलोकितवक्त्रेण दृष्टमुखेन वज्रकुमारेण साधुना साधु संबोधिता आश्वासिता। 'मातः, सम्यग्दृशां सद्दर्शनवतीनाम् एणीदृशां हरिणनयनानां स्त्रीणाम् अवाप्तप्रथमकथे अवाप्ता लब्धा प्रथमकथा आद्यवर्णनं यया तत्संबोधनम्, हे मातः, अलम् अलम् आवेगेन खेदेन पूर्यतां मा स्म खेदिनो भूरित्यर्थः। यतः न खलु मयि समयसविध्याः जैनजनमातुः चिन्तावहे पुत्रके सति, अर्हतां जिनेश्वराणाम् अर्हणायाः पूजायाः प्रत्यवायः विघ्नः न खलु नैव भवेदित्यर्थः। तत् तस्मात् पूर्वस्थित्या यथापूर्वम् आत्मस्थाने स्वप्रासादे स्थातव्यम्। चिन्ता न कर्तव्येति। इति हृद्यं मनोहरम्, अनवद्यं निर्दोषम्, अमृषोद्यं न मृषा असत्यं तत् च तत् उद्यं वचनं सत्यं भाषणमिति भावः; निगद्य उक्त्वा द्युगति— द्युगत्या आकाशगमनेन विद्याधरपुरम् आसाद्य प्राप्य गत्वा। महामुनितया, बान्धवधिषणतया च भ्रातृभावेन च, भास्करदेवो मुख्यो यस्मिन् तेन निखिलेन अम्बरचरचक्रेण विद्याधरसमूहेन क्रमशः कृताभ्युत्थानादिक्रियः सप्रश्रयं सविनयम् कृता अभ्युत्थानं ससंभ्रमम् आसनात् उत्थानम् अञ्जलिपुटं कृत्वा शिरसि संस्थापनम्, आदिक्रियाः यस्य, स वज्रकुमारमुनिः आगमनस्य आयतनम् आधारं पृष्टः स्पष्टम् आचष्ट अब्रूत। [विद्याधरसमूहैः सह वज्रकुमारो मुनिः औविलाया रथं नगरे संचार्य महतीं प्रभावनां चकार] कथंभूतैर्विहायोविहारैः विहायः आकाशं तत्र विहारः अस्ति येषां ते विहायोविहारास्तैः विद्याधरैरित्यर्थः। तानेव सविशेषं वर्णयति कविः— तदनन्तरम् आनकाः पटहाः, दुन्दुभयः 'दुं दुम्' इति अव्यक्तशब्दं कुर्वाणा वाद्यविशेषाः तेषां नादाः रवाः, उत्तालानि उत्कटानि च तानि क्ष्वेलितानि सिंहनादाः, तैः मुखराणि वाचालानि मुखमण्डलानि येषां ते तैः। पुनः कथंभूतैः सामयिकेति—समयः संकेतः अस्ति येषां ते सामयिकाः अयम् अलंकारो गजस्य अयं अश्वस्य, अयं बलीवर्दस्य इत्यादि संकेतयुताः सामयिकालंकारा उच्यन्ते। तेषु सारैः उत्तमैः अलंकारैः सज्जिता ये गजवाजयः विमानानि च तेषां गमनेन प्रचलन्ति कम्पमानानि कर्णकुण्डलानि येषां ते तैः, अनेकेति—अनेके बहवः अनणुमणयः महारत्नानि तैः निर्मिताः किंकिण्यः क्षुद्रघण्टिकाः तासां जालैः जटिलानि ग्रथितानि च यानि दुकूलानि क्षौमवस्त्राणि तैः कल्पिता ये पालिध्वजा महाध्वजास्तेषां राजिः पङ्क्तिः तया विराजितानि शोभितानि भुजपञ्जराणि येषां तैः, पुनः कथंभूतैः। करीति—करी गजः, मकरः नक्रः, सिंहः, शार्दूलः व्याघ्रः, शरभः अष्टापदः, कुम्भीरः जलचरविशेषः, शफरः मत्स्यः, शकुन्तानां पक्षिणाम् ईश्वरः गरुड इति, एतेषां पुरःसरा मुख्या आकारा येषां ताश्च ताः पताकाः क्षुद्रध्वजाः तासां संतानाः समूहाः तैः स्तिमिताः स्तब्धाः करा येषां ते, तैः, मानस्तम्भेति—मानस्तम्भः, स्तूपः तोरणम्, मणिवितानं रत्नजटितं चन्द्रोपकः, दर्पणः, सितातपत्रं श्वेतच्छत्रम्, चामराः, विरोचनः सूर्यः, चन्द्रः भद्रकुम्भः मंगलकुम्भः एतैः पदार्थैः संभृताः शयाः हस्ता येषां तैः। करेषु एतान् पदार्थान् गृहीत्वाऽऽयातैः इति भाव.। पुनः कथंभूतैः। अतुच्छेति—अतुच्छो महान् स चासौ देवच्छन्दश्च हारविशेषः शतयष्टिकः तेन आच्छन्नः सर्वतो भूषितः स चासौ कर्णीरथः पुरुषस्कन्धनीयमानरथः, स्यन्दनः चक्रयुक्तयुद्धप्रयोजनवान् रथविशेषः। द्विपः करी, तुरगः अश्वः, नरा मनुष्यास्तैर्निकीर्णानि व्याप्तानि च तानि सैन्यानि तैः, इति। पुनः कथंभूतैः। जयघण्टया सहिताश्च ते पटुपटहाः महाभेर्यः करटा वाद्यविशेषाः मृदङ्गाः, शङ्खाः, काहलाः, त्रिविलाः, तालाः, झल्लर्यः भेर्यः भम्भाश्च एते आदौ येषां तानि वाद्यानि अनुगतानि यानि गीतानि तैः संगताश्च याः अङ्गनास्तासाम् आभोगः विस्तारः तेन सुभगः सुन्दरः संचारो येषां ते तैः। पुनः कथंभूतैः। कुब्जाः गडुलाः उन्नतपृष्ठाश्च, वामनाः ह्रस्वाः, किराताः घोटकरक्षकाः, कितवाः वञ्चकाः, नटाः नृपादिवेषधारिणः, नर्तका नृत्यशिक्षकाः, बन्दिनः वैतालिकाः, वाग्जीवनाः स्तुतिपाठकाः, तेषां विनोदेन आनन्दितः दिविजानां मनस्कारः यैस्ते तैः, पुनः कथंभूतैः। सखेलेति—सखेलाः क्रीडया सहिताः ये खेचरा विद्याधरास्तेषां सहचर्यः भार्याः ताभिः हस्तेषु विन्यस्ताः गृहीताः ते च ते स्वस्तिकाश्च, प्रदीपाश्च, धूपानां निपाः घटाश्च, प्रभृतीनि विचित्राणि अर्चनानां पूजनानाम् उपकरणानि साधनानि तेषां रमणीयः प्रसारो येषां तैः। पुनः कथंभूतैः। पिष्टातकेति—पिष्टातकः वस्त्रसुगन्धीकरणचूर्णं पटवासाय वस्त्रसुगन्धीकरणानि प्रसूनानि पुष्पाणि तेषाम् उपहारः बलिः तेन अभिरामाः

रमण्यः ललनास्तासां निकरो येषु तैः। पुनः कथंभूतैः। अपरैश्च तैस्तैः विधृतपूजापर्यायपरिवारैर्विहायोविहारैः विधृतः संधारितः पूजापर्यायाणां नित्यमहादिपूजानां परिवारो यैस्ते विहायोविहाराः नभश्चरजनाः तैः सह तं वज्रकुमारं तं भगवन्तम् अम्बरात् आकाशात् अवतरन्तम् उत्प्रेक्ष्य दृष्ट्वा भिक्षुदीक्षापटीयसी भिक्षूणां बौद्धसाधूनां दीक्षादाने पूजने पटीयसी चतुरा खलु बुद्धदासी पुण्यभूयसी पुण्यं भूयः प्रचुरं यस्याः सा प्रचुरपुण्यवतीति भावः। यस्याः सुगतसपर्यासमये बुद्धपूजावेलायां समायातं समागतं सकलमेतत्सुरसैन्यम्। इति धृतधिषणे धृता धिषणा मतिर्येन तस्मिन् पौरजनान्तःकरणे नागरिकमनसि सति, स भगवान्गगनगमनानीकैः साकं गगने नभसि गमनं येषां तानि अनीकानि सैन्यानि नभश्चराणां सैन्यैरित्यर्थः। ऐविलानिलये निलीय ऐविलाया महादेव्याः प्रसादे निलीय उषित्वा सावष्टम्भं सगर्वम् अष्टाह्नि नन्दीश्वरपर्वणि मथुरायां चक्रचरणं चक्राणि चरणा यस्य तं परिभ्रमय्य अर्हत्प्रतिबिम्बाङ्कितं जिनप्रतिमासनाथम् एकं स्तूपं तत्रातिष्ठिपत् स्थापितवान्। अत एवाद्यापि तत्तीर्थं देवनिर्मिताख्यया पप्रथे प्रसिद्धम् अभवत्। बुद्धदासी दासीवासीद्भग्नमनोरथा। किङ्करीव बुद्धदासी भग्नमनोरथा नष्टमनोऽभिलाषा बभूव। भवति चात्र श्लोकः—पूतिकस्य महीभुजः नृपस्य ऐविलाया महादेव्याः स्यन्दनं रथं वज्रकुमारको मुनिर्भ्रामयामास॥ २११॥

इत्युपासकाध्ययने प्रभावनविभावनो नामाष्टादशः कल्पः॥ १८॥

१९. बलिनिर्वासनो नामैकोनविंशः कल्पः

[पृष्ठ ९३-९४] अर्थित्वम् इति—अर्थित्वं प्रयोजनवत्त्वम्। भक्तिसंपत्तिः गुणानुरागसंपत्। प्रयुक्तिः जीवादितत्त्वेषु आत्मनो योजनं श्रद्धानम् इति भावः। सत्क्रिया सम्मानः। सधर्मणां सुविधेयता दासत्वम्। सधर्मसु समानधर्मिषु जनेषु सौचित्यकृतिः दानप्रियवचनाभ्यां तेषां संतोषोत्पादनम्। वत्सलता मता वात्सल्यगुणोऽभिहितः॥२१२॥ स्वाध्याये इति—स्वाध्याये अध्यात्मादिविद्याविषये। संयमे प्राणिसंयमे इन्द्रियसंयमे च। सङ्घे श्रावकश्राविकार्यिकामुनिषु। गुरौ दीक्षाचार्ये शिक्षाचार्ये च। सब्रह्मचारिणि सहाध्यायिनि। यथौचित्यं दानमानाभ्यां यथा संतोषोत्पादनं भवेत्तथा। विनयम् आदरं प्राहुः ब्रुवन्ति स्म। के कृतात्मानः कृतः ज्ञातः आत्मा जीवस्वरूपं यैः ते॥२१३॥ आधीति—आधिर्मानसी व्यथा। व्याधयो ज्वरादयो रोगाः तैः निरुद्धस्य पीडितस्य निरवद्येन कर्मणा पापरहितेन वैयावृत्त्येन औषधवचनादिना सौचित्यकरणं संतोषोत्पादनम्, वैयावृत्त्यं शुश्रूषा प्रोक्तम्। किमर्थम्। विमुक्तये कर्मराहित्याय अनन्तचतुष्टयप्राप्तये॥२१४॥ जिने इति—दुर्जयकर्मठकर्मारातीन् जयतीति जिनः, अर्हन् तस्मिन् वीतरागसर्वज्ञे। जिनागमे अर्हत्प्रोक्ते द्वादशाङ्गप्रवचने। सूरौ आचार्ये। तपःश्रुतपरायणे तपःपरायणे साधौ, श्रुतपरायणे उपाध्याये। सद्भावशुद्धिसंपन्नः अनुरागः निष्कपटमनःशुद्ध्या तेषां गुणेषु अनुरागः प्रीतिः भक्तिरुच्यते॥२१५॥ चातुर्वर्ण्यस्येति—चातुर्वर्ण्यस्य सङ्घस्य मुनि-ऋषि-यति-अनगारेति चतुर्भेदात्मकसङ्घस्य। यथायोग्यं तत्तद्गुणानतिवृत्त्या। प्रमोदवान् हृष्टेन मनसा वात्सल्यं प्रीतिं न कुर्यात् स समयी सधर्मा कथं स्यात्॥२१६॥ तद्व्रतैरिति—तद्व्रतैः तत् तस्मात्कारणात् अहिंसादिभिः व्रतैः। विद्यया सम्यग्ज्ञानेन शास्त्रादिपाठनेन। वित्तैः धनैः। श्रीमदाश्रयैः, श्रीमतां धनिनाम् आश्रयैः आधारैः। शारीरैश्च शरीरसेवया च हस्तपादादिमर्दनेन मलमूत्राद्यपनयनेन च त्रिविधातङ्कसंप्राप्तान् आधिव्याधिवार्धक्यादिबाधाभिः क्लिष्टान् शारीरमानसागन्तुकाभिः पीडाभिर्दुःखितान् संयतान् मुनीन् उपकुर्वन्तु॥२१७॥

[पृष्ठ ९५] श्रूयतामत्रोपाख्यानम्—अस्मिन् वात्सल्यगुणे उपाख्यानं कथा श्रूयताम्। [जयवर्मनामा नृपः शुक्रादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रिभिः सह सर्वजनानन्दनं वनं गत्वा अकम्पनाचार्यमभिवन्द्य धर्मकथां शुश्रावेति कथासंक्षेपः] अवन्तिविषयेषु अवन्तिदेशेषु। सुधेति—सुधा अमृतमेव अन्धः अन्नं येषां ते सुधान्धसः देवाः, तेषां सौधाः विमानानि तानि स्पर्द्धन्ते शालाः गृहाणि यत्र तस्यां विशालायां पुरि उज्जयिनीनगरे। जयवर्मनामा काश्यपीश्वरः काश्यप्याः पृथिव्याः ईश्वरः अधिपतिः। कथंभूतः। प्रभावतीमहादेवीश्रितशर्मसीमा प्रभावती नाम महाराज्ञी तां श्रिता शर्मणः सुखस्य सीमा मर्यादा यस्य। [चतुर्भिर्मन्त्रिभिः सह राज्यं पालयन् प्रजाः अन्वशात्]

शाक्येति—शाक्यः सुगतस्तस्य वाक्यम् उपदेशः तदेव वारिधिः समुद्रः तस्मिन् क्रान्तिः प्रवेशः यस्य तथाभूतेन नक्रेणेव शुक्रेण । चार्वाकलोकानां नास्तिकानां दिवस्पतिना इन्द्रेण बृहस्पतिना मन्त्रिणा । रुद्रस्य महादेवस्य मुद्रा चिह्नं तेन अनुद्रिक्तो अनष्टो विवेको यस्य तेन प्रह्लादकेन मन्त्रिणा, अनुगतेन अनुसृतेन । वेदविद्याबलिना सचिवेन चिन्त्यमानराज्यस्थितिः चिन्त्यमाना विचार्यमाणा राज्यस्थितिः राज्यपालनं यस्य । एकदा एकस्मिन् समये, **समस्तेति**—सकलशास्त्राभ्यास एव वर्षः वृष्टिः तेन विस्फारिता प्रवृद्धिं गता सरस्वती शारदा एव नदी तस्यास्तरङ्गाः वीचयः नानाश्रुतज्ञानविषयाः तेषां परम्परा तस्यां प्लावनेन स्नानेन पवित्रिताः पूता ये विनेयजनाः शिष्यास्तेषां मनांस्येव नलिनानि कमलानि तेषां निकुरुम्ब समूहो येन तस्य । पुनः कथंभूतस्य । **परमेति**—परमाणि निर्दोषाणि तानि तपश्चरणानि तेषां गणः समूहः तस्य ग्रहणे अजिह्मं जहाति परित्यजति सारल्यमिति जिह्मं न जिह्मम् अजिह्मं तच्च तद्‌ब्रह्म च स एव स्तम्बः भुवनत्रयं यस्य, निष्कपटं यथा स्यात्तथा कृतेन तपसा संप्राप्तात्मस्वरूपस्य, महामुनिसप्तशतीवर्यस्य महामुनीनां सप्तशती तस्यां वर्यस्य श्रेष्ठस्य, भगवतोऽकम्पनाचार्यस्य महर्द्धिजुषः महर्द्धीः जुषते सेवते धारयते इति महर्द्धिजुट् तस्य महर्द्धिजुषः महर्द्धीः धारयतः । सर्वजनानन्दनं नाम नगरोपवनम् अधितस्थुषः कृतनिवासस्य, तस्य चरणार्चनोपचाराय पादपूजनविषये राजमार्गेषु महोत्सवस्य उत्साहः आनन्दः तस्य उत्सेकः अभिमानो यस्य स चासौ परिजनः परिवारः यस्य तथाभूतं पौरजनं नागरिकलोकम्, अभ्रंलिहगेहाग्रभागावसरे अभ्रं मेघं लेढि इति अभ्रंलिहं तत् गेहम् अभ्रंलिहगेहं मेघस्पर्शिगृहमित्यर्थः तस्य अग्रभागः तस्य अवसरः प्रदेशः तत्र । दिग्विलोकानन्दमन्दिरे दिशां विलोकनस्य आनन्दो यत्र तथाभूते मन्दिरे स्थितः जयवर्मनृपः समवलोक्य, 'कोऽयमकाण्डे प्रचण्डः पौराणामुद्यावोद्योगे नियोगः' 'कोऽयम् अनवसरे प्रचण्डः महान् पौराणां नगरनिवासिनाम् उद्यावः उत्सवः तस्मिन् उद्योगः प्रवृत्तिः तस्मिन् नियोगः निश्चयः' इति वितर्कयन् [नृपः वनपालेन आगत्य ससंघः अकम्पनसूरिः समायातः इति अकथ्यत] सकलसमयसंभविप्रसूनस्तिमितहस्तपल्लवान्तराद्वनपालात् सकलसमयाः सकलर्तवः तेषु संभवीनि च तानि प्रसूनानि पुष्पाणि तैः स्तिमितौ पूर्णौ हस्तौ तावेव पल्लवान्तरालं यस्य तस्मात् वनपालात् 'देव, भवद्दर्शनोत्सुकवनदेवतालोचने तवावलोकनोत्कण्ठितानि वनदेवतानयनानि यत्र तथाभूते । भगवत्तपःप्रभावप्रवृत्तसमस्तर्त्तून्मादितमेदिनीनन्दने भगवतो मुनेस्तपसां माहात्म्यादुद्भूतसकलर्त्तून्मादितपृथिवीनन्दने । निजलक्ष्मीविलक्ष्मीकृतगन्धमादने स्वस्य लक्ष्म्या शोभया विलक्ष्मीकृतो निःश्रीकृतो गन्धमादनो येन तस्मिन् पुरोपवने नगरोद्याने । सद्‌गुणश्रीसंपादितसमूहेन सद्‌गुणानां सम्यक्त्वादिगुणानां श्रिया लक्ष्म्या संपादितः लब्धः सम्यक् ऊहः येन तथाभूतेन महता मुनिसमूहेन अकम्पनसूरिः समायातः । कथंभूतः । **सर्वसत्त्वेति**—सर्वे च ते सत्त्वा आत्मानः तेषाम् आनन्दस्य प्रदाने उदाराभिधा महोपदेशः सा एव सुधा अमृतं तस्याः प्रबन्धेन अवधीरितं तिरस्कृतम् अमृतमरीचिमण्डलम् अमृतमया मरीचयः किरणा यस्य स अमृतमरीचिरिन्दुः तस्य मण्डलं बिम्बं येन । **निखिलेति**—सकलदिक्पालमुकुटरत्ननायकदर्पणीभवच्चरणनखमण्डलः, **पुण्येति**—पुण्यान्येव द्विपाः गजाः तेषा यूथं समूहः तस्य बन्धनवारिः बन्धनरज्जुः अकम्पनसूरिः समायातः । तदुपासनाय चास्य तस्य सूरेः उपासनाय पूजनाय च अस्य उज्जयिनीजनस्य महामहावहः महांश्चासौ महः महोत्सवः तम् आवहति इति महामहावहः चित्तोत्साहः । इत्याकर्ण्य प्रतूर्णं शीघ्रम् एतत्पादवन्दनोद्यतहृदयः एतस्य अकम्पनसूरेः पादयोर्वन्दने उद्यतं हृदयं यस्य स नृपः तत्र गमनाय मिथ्यात्वप्रबलतालताश्रयकलिं तं बलिम् अपृच्छत् । मिथ्यात्वस्य प्रबलता प्राचुर्यं स एव लता तस्याः आश्रयकलिम् आधारभूतं बिभीतकवृक्षं बलिम् अपृच्छत् पृष्टवान् ।

[पृष्ठ ६६] सद्धर्मधुरोद्धरणगलिर्बलिः, देव—सद्धर्मः अहिंसाधर्मस्तस्य धूर्युगं तस्या उद्धरणं निराकरणं तत्र गलिः शक्तोऽप्यधूर्वहो बलीवर्दः । बलिः एवमवदत् । देव—नेति—न वेदादपरम् अन्यत्तत्त्वम् । न श्राद्धादपरो विधिः अन्यत् धर्मकार्यं न विद्यते । यज्ञात् प्राणिहिंसनात्मकात् अपरः अन्यः धर्मो न विद्यते । तथा द्विजाद् ब्राह्मणादपरोऽन्यः यतिर्न विद्यते ॥२१८॥ सन्मार्गसर्गोच्छेदकः प्रह्लादकः—रत्नत्रयात्मको मोक्षमार्ग एव सन्मार्गः तस्य सर्ग उत्पत्तिः तस्य उच्छेदकः प्रह्लादकः एवम् अवदत्—**अद्वैतेति**—अद्वैतात् न परं तत्त्वम् । अद्वैतम् एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म इत्येवं तत्त्वम् । परं द्वैतादिकं मायारूपत्वात् तत्त्वं न भवति ।

न देव: शंकरात्परः अन्यः। शिवेन प्रणीतं शैवं तच्च तच्छास्त्रं च शैवशास्त्रं तस्मात्परम् अन्यत् भुक्तिमुक्तिप्रदं वचः नास्ति। शिवशास्त्रादेव भोगादिकं लब्ध्वा अवसाने मुक्तिं च लभते जीवः ॥२१९॥ तथा नास्तिक्याधिक्यवाचस्पती नास्तिक्यं नास्ति जीवः न परलोकवार्ता, न पापं पुण्यं च इत्यादि-मानसिको विमर्शः नास्तिक्यम् तस्याधिक्ये वाचस्पती इव देवगुरू इव शुक्रबृहस्पती अपि राज्ञे जयवर्मणे स्वप्रज्ञां स्वबुद्धिं विज्ञापयामासतुः प्रकटयांचक्रतुः। मनागन्तःक्षुभितमतिः क्षितिपतिः ईषत् चित्ते कोपकलु-षितबुद्धिः भूपतिः—अहो दुर्जनतालतालम्बनकुजद्विजाः दुर्जनता खलता सा एव लता वल्ली तस्या आलम्बने आधारदाने कुजा वृक्षा इव द्विजाः हे ब्राह्मणाः। किं ममैव पुरतो भवतां भारती वाणी प्रवर्तते प्रगल्भते मत्ता भवति समर्था भवति। किं वा बुधप्रवेकस्य लोकस्यापि। बुधेषु विद्वत्सु प्रवेकः श्रेष्ठः महाविद्वान् तस्यापि महाविदुषोऽपि लोकस्यापि पुरतः भवतां वाणी प्रगल्भते। सन्नीतिवसुमतीविदारणहलिर्बलिः—सती प्रशस्ता नीतिः सदाचारः सा एव वसुमती भूमिः तस्या विदारणे हल इव लाङ्गल इव बलिर्मन्त्री अभाषत—इलापाल, इलां पृथ्वीं पालयतीति इलापालस्तत्संबोधनं हे इलापाल, यदि तव अस्मन्मनीषोत्कर्षविषये सेर्ष्यं मनः अस्माकं मनीषा मतिः तस्याः प्रकर्षविषये तव चित्तं यदि असूयापरं विद्यते। तदास्ताम् तावदभ्यस्तशास्त्रप्रवीणप्रज्ञः परं प्राज्ञः, अभ्यस्तानि वाचनापृच्छनाम्नायानुप्रेक्षादिभिः मलितानि यानि शास्त्राणि तेषु प्रवीणा प्रज्ञा यस्य स प्राज्ञः परं तावदास्ताम्, किं तु सर्वज्ञस्यापि वादिनः पुरस्ताद्वादे परिगृहीतविद्यानवद्या एव, अभ्यस्तविद्यासु अनवद्या एव पराजयदोषरहिता एव भवेम। स्थिरप्रकृतिः क्षोणीपतिः स्थिरा धैर्यवती प्रकृतिः स्वभावनि-र्मितिर्यस्य क्षोण्याः भूमेः पतिः स्वामी जयवर्मनृपः 'यद्येवं शूराणां कातराणां च रणे व्यक्तिर्भविष्यति।' इत्याद्यभिधाय आनन्ददुन्दुभिरवोपार्जितपरिजनपूजोपकरणो आनन्दपटहध्वनिना आनायितपरिच्छदजनपूजा-द्रव्यसाधनः विजयशेखरं नाम करिणं गजम् आरुह्य, अन्तःपुरानुगमग्राह्यः अन्तःपुरस्त्रीणाम् अनुगमः अनुयानं तेन ग्राह्य अङ्गीकार्यः सन्। अतिवाह्य नगरमार्गम् उल्लङ्घ्य। उपगतारामसीमसंसर्गः संप्राप्तोपवनमर्यादा-संबन्धः। ततः करिणः गजात् अवरुह्य अवतीर्य गृहीतार्यवेषपरिकरः राजवेषं परित्यज्य स्वीकृतविनीतजन-वेषव्यतिकरः, कतिपयाप्तपरिवारपुरःसरः कतिचनविश्वस्तपरिच्छदाग्रगतः। तं व्रतविद्यानवद्यं भगवन्तं व्रतानि अहिंसादीनि पञ्चमहाव्रतानि, विद्याश्च मतिश्रुतावधिज्ञानानि तैः अनवद्यः निर्दोषः परिपूर्ण इत्यर्थः तम्। भगवन्तं यथावत् अष्टाङ्गसहितं नमस्कारं कृत्वा, समाचरितनीचासनपरिग्रहः समाचरितो विहितः नीचासनस्य परिग्रहः स्वीकारो येन, गुरोः पुरतः शिष्येण विनयेन उपवेष्टव्यम्, उच्चस्थाने गुरौ तिष्ठति शिष्येण नीचैः स्थाने स्थातव्यम् इति नियमात्, सविनयाग्रहं विनयाग्रहेण सहितो भूत्वा स्वर्गापवर्गस्वरूपनिरू-पणपरायणः सद्धर्मसनाथां कथां प्रथयामास। स्वर्गमोक्षयोः स्वरूपस्य निरूपणे परायणः तत्परः समीचीनहिंसा-धर्मोपेतां कथाम् आख्यातवान्।

[पृष्ठ ९७-९८] सत्कर्मवंशप्रभिदलिर्बलिः—सन्ति च तानि कर्माणि अहिंसासत्याचौर्यादीनि तान्येव वंशो वेणुः तं प्रभिनत्ति इति प्रभित् स चासौ अलिर्भ्रमरः स इव बलिरवदत्—स्वामिन, कोऽयं स्वर्गापवर्गा-स्तित्वसङ्ग्रहे देवस्य दुराग्रहः। आचार्य, देवस्य नृपस्य स्वर्गमोक्षयोः अस्तित्वकल्पनायां कोऽयं दुरभिनिवेशः। अयं विफलाग्रहोऽस्ति। यतो द्वादशवर्षा स्त्री, षोडशवर्षः पुरुषः तयोरन्योऽन्यम् अनन्यसामान्यस्नेहरसोत्सेक-प्रादुर्भूतिः प्रीतिः। तयोः उक्तवयसोर्नारीपुरुषयोः अन्यजनासाधारणस्नेहप्रकर्षोत्पत्तिः प्रीतिरुच्यते। सा एव प्रत्यक्षसमधिसर्गः स्वर्गः न पुनः न अदृष्टः कोऽपीष्टः स्वर्गः समस्ति। सा प्रीतिरेव प्रत्यक्षेण सम्यक् निश्चयो यस्य स स्वर्गो ज्ञातव्यः, न पुनः अदृष्टः केनापि मतः स्वर्गः विद्यते। गुणभूरिः सूरिः—सकले प्रमाणबले बले, किं प्रत्यक्षताधिकरणम् एकमेव प्रमाणं समस्ति। सह कलिना वर्तते इति सकलिस्तत् संबोधनं हे सकले, अखिले प्रमाण-समूहे विद्यमानेऽपि हे बलिमन्त्रिन्, प्रत्यक्षताश्रयं किमेकमेव प्रमाणं विद्यते। नास्तिकेन्द्रमनोरथरथमातलिर्बलिः—अखिलश्रुतधरोद्धारादिपुरुषविदुष, एकमेव। नास्तिक एव इन्द्रः तस्य मनोरथः मनोऽभिलाषः नास्ति परलोकः, नास्ति पुण्यं पापं चेत्यादिरूपः स एव रथः तस्य मातलिः तन्नामा शक्रसारथिः तद्रूपः बलिरवदत् 'अखिलं श्रुतं सकलम् आगमज्ञानमेव धरा पृथ्वी तस्या उद्धारे आदिपुरुषविदुष प्रथमपुरुषः विद्वान् तत्संबोधनम्।

भगवान्—कथं तर्हि भवतः पित्रोर्विवाहाद्यस्तित्वतन्त्रम् । यदि त्वम् एकमेव प्रमाणं मन्यसे तर्हि तव पित्रोः मातुः पितुश्च विवाहादेः अस्तित्वे च तन्त्रं कारणं किं नु स्यात् । कथं वा तवादृश्यानां वंश्यानाम् अवस्थितिः । तव ये पूर्वजाः ये तु अधुना न दृश्यन्ते ते पुरा आसन् इति कथं निर्णयः स्यात् । स्वयमप्रत्यक्षप्रमेयत्वादाप्तपुरुषोपदेशाश्रितौ स्वपक्षपरिक्षतिः परमतोत्सवकृतिश्च । हे बले, तव पूर्वजादयः अप्रत्यक्षप्रमेयाः प्रत्यक्षेण प्रमेयाः ज्ञेया नैव भवन्ति । ततः आप्तपुरुषोपदेशाश्रयः कर्तव्यः स्यात् । ये विश्वस्ताः पुरुषास्तेषां पूर्वजादिवार्ताकथने प्रामाण्यम् अङ्गीकर्तव्यं स्यात् । ततश्च स्वपक्षस्य हानिर्भवेत् परस्य च आस्तिकानां मतोत्सवविधानं भवेत् । बलिभट्टो भट्ट इव इतस्ततटमितो मदोत्कटः करटीति संकटकप्रघटकमापतितः । बलिमन्त्री भट्ट इव वेदज्ञ इव, पण्डित इव इतस्तटं गिरि-भित्तिरितो मदोत्कटः दानोदकेन क्लिन्नगण्डस्थलो गजः इति संकटप्रघटकं दुःखप्रकर्षमायातः । परं सभाजनकरम् उत्तरं आनन्दप्रदमुत्तरम् अपश्यन् अश्लीलं ग्राम्यम् असभ्यसर्गं खलजनोचितं निरर्गलमार्गम् उच्छृंखलपथं किमपि भाषणं तं भगवन्तं प्रत्युवाच । क्षितिपतिः जयवर्मनृपः अतीवमन्दाक्षविक्षिप्तवीक्षणो अतिशयेन लज्जानम्रलोचनः मुमुक्षुसमक्षम् आत्मानं कर्मबन्धनान्मोक्तुम् इच्छावतां प्रत्यक्षम् आसन्नाशिवताशनिसंघट्टं समीपीभूताकल्याणवज्रपातं बलिभट्ट प्रतिष्ठाभङ्गभयात् किमप्यनभिलप्य किमपि अनुक्त्वा । भगवन्, संपन्नतत्त्वसंबन्धस्य लब्धतत्त्वसंपर्कस्य, निजस्खलितप्रवृत्तचित्तमहामोहान्धस्य स्वापराधसन्निविष्टमनस्त्वान्महामोहान्धस्य सद्धर्मध्वंसहेतोः जिनधर्मविनाशकारणस्य जन्तोः प्राणिनः निसर्गस्थैर्यमेरुषु गुणगुरुषु प्रकृत्यैव धीरतायां मेरुतुल्येषु, गुणैर्महापुरुषतां प्राप्तेषु सत्पुरुषेषु न खलु दुरपवादकरणात्परं दोषारोपकरणादन्यत् अवसाने परिणामे प्रहरणमस्ति शस्त्रं भवति । इति वचनपुरःसरं कथान्तरम् अनुबध्य अन्या कथा कथान्तरम् अन्यविषयिणीं कथाम् अनुबध्य प्रसंगेन संचाल्य साधु निष्कपटं समाराध्य भक्त्या संपूज्य प्रशान्तिहैमवतीप्रभवगिरिम् अकम्पनसूरिं प्रकर्षेण या शान्तिः स्वस्वरूपचिन्तनाज्जातः परमाह्लादः सा एव हैमवती हिमवतः प्रभवति प्रकाशते प्रथमं दृश्यते इति हैमवती गङ्गानदी तस्याः प्रभवगिरिं हिमवन्तमिव अकम्पनसूरिम् विनेयजनसंभावनौचित्यज्ञया तदनुज्ञया विनेयजनाः शिष्याः तेषां संभावना आदरः तस्याः औचित्यं योग्यता तज्जानातीति तया शिष्यादरयोग्यतां विदन्त्या तदनुज्ञया सूरिसम्मत्या आत्मसदनं स्वहर्म्यम् आसाद्य, अपरेद्युः अन्यस्मिन् दिवसे अपरदोषमिषेण अन्यापराधनिमित्तेन सनिकारकरणं निकारो धिक्कारः तस्य करणं विधानं तेन सहितं सनिकारकरणम् अनुजैः शुक्रप्रह्लादबृहस्पतिभिः सह कर्मस्कन्धबन्धबाद्धलिम्[1] बलिं निजदेशान्निर्वासयामास स्वमण्डलान्निर्घाटयामास । भवतश्चात्र श्लोकौ—सन्नेति—यदि चित्तं मलीमसम् अशुभविमर्शदूषितं स्यात् तर्हि स सन् सज्जनो असन्नसज्जनः समावेव न तयोः किमप्यन्तरम् । पूर्वः सज्जनः अक्षान्तेः पराभ्युदयासहनात् क्षयं विनाशं याति । परश्च अशुभचेष्टितात् परः दुर्जनः अशुभकार्यकरणात् क्षयं लभते ॥२२०॥ स्वमेवेति—सज्जनं द्विषन् दुर्जनः स्वमेव आत्मानमेव हन्तुं ईहेत इच्छेत् । यः एकातुलां तुलायाः एकं पार्श्वम् आरोहेत् । असौ अधः न व्रजेत् किम् । अवश्यमधः व्रजेदेव ॥२२१॥

इत्युपासकाध्ययने बलिनिर्वासनो नामैकोनविंशः कल्पः ॥१९॥

२०. वात्सल्यरचनो नाम विंशः कल्पः

[पृष्ठ ९८-९९] बलिमन्त्री लघुभिर्भ्रातृभिः सह हस्तिनापुरे पद्मराजानमाश्रयत् । बलिद्विजः सानुजः सकलजनसमक्षं सर्वजनप्रत्यक्षम् असूक्ष्मसूक्ष्मणपूर्वकम् असूक्ष्मं महान् सूक्ष्मणं पराभवः तत्पूर्वकं निर्वासितः निर्घाटितः सन् मुनिविषयरोषोन्मेषकलुषितः अकम्पनसूरिमुद्दिश्य यो रोषस्तस्य उन्मेषः उदयः तेन कलुषितः संतप्तचित्तः भूत्वा । कुरुजाङ्गलमण्डलेषु तद्विलासिनीति—तेषां कुरुजाङ्गलानां तन्नामकदेशानाम् विलासिन्यः ललनाः तासां जलकेलयः नीरक्रीडाः ताभिः विगलितं कालेयकं कुङ्कुमं सुगन्धिद्रव्यपङ्कं तेन पाटलाः श्वेतरक्ताः ये कल्लोलास्तरङ्गाः तान् धरति वहतीति धरा सा चासौ सुरसरित् गङ्गानदी सा एव सीमन्तिनी कामिनी तया

---

1. बाद्धलिर्गजागमाचार्यः इति, टिप्पण्याम् ।

चुम्बितः संश्लिष्टः पर्यन्तप्रसर आसमन्तप्रवेशो यस्य तस्मिन् हस्तिनापुरे । साम्राज्यलक्ष्मीमिव लक्ष्मीमतीं महादेवीम् अवहाय कृताभिषेकां लक्ष्मीमतीं महिषीं त्यक्त्वा । सरस्वतीरसावगाहसागरस्य सरस्वत्याः वाचां देव्याः रसः आस्वाद्यमानः प्रीतिविशेषः तस्य अवगाहे स्थानदाने सागरस्य समुद्रस्येव श्रुतसागरस्य भगवतः अभ्यर्णे समीपे पितृविनयविष्णुना पितुर्जनकस्य संबन्धिनं विनयं वेवेष्टि व्याप्नोतीति विष्णुः तेन विष्णुना निजजनके विनयातिशयं धारयता, विष्णुना तन्नामधारकेण लघुभूतं जन्म यस्य तेन तथाभूतेन सूनुना पुत्रेण सार्धं सह प्रवर्धितदीक्षापद्मस्य प्रवर्धितं विकासं नीतं दीक्षा एव पद्मं कमलं येन तस्य महापद्ममहीपतेः महापद्मेति नामवतो भूपतेः पद्मनामानिलयं तनयम् अशिश्रयत् आश्रयदित्यर्थः बलिर्मन्त्री निजानुजैः सह पद्मनामानं राजानम् आश्रयदित्यर्थः । पद्मोऽपि चारसञ्चारात् चाराणां गूढपुरुषाणां सञ्चारात् भ्रमणात् विदितवंशविद्याप्रभावाय ज्ञातान्वयज्ञानमाहात्म्याय तस्मै बलिसचिवाय सर्वाधिकारिकं स्थानमदात् । सर्वे अधिकारिणः यस्मिन् वशा भवन्ति तत् महास्थानम् अयच्छत् । बलिः—देव, गृहीतोऽयं स्वीकृतोऽयम् अनन्यसामान्यसंभावनाह्लादः प्रसादः इतरजनासाधारणादरप्रमोदः प्रसादः । किं तु कर्णेजपवृत्तीनां कर्णे लगित्वा परापकारजपनरूपा वृत्तिर्येषां ते कर्णेजपवृत्तयः परापकारोक्तिस्वभावानां खलानामित्यर्थः । पुनः कथंभूतानां **लञ्चलुञ्चेति**—लञ्चस्य उत्कोचस्य लुञ्चनं ग्रहणं तस्य उचिता योग्या चेतसः मनसः प्रवृत्तिर्येषां तेषां पुरुषाणां प्रायेण नियोगिपदम् अधिकारिपदं हृदयास्पदं तेषां हृदयानुरूपं न प्रतिभाति । परं शौर्येण ऊर्जितम् उन्नतं चित्तं यस्य, उदारं दानशीलं चित्तं यस्य तस्य च इदं नियोगिपदं नोचितम् अपि तु उचितमेव तत् तस्मात् असाध्यसाधनेन यत्कार्यं साधयितुं दुःशकं तस्य साधनेन साधनभूतेन ननु अयं जनः निदेशदानेन आज्ञाप्रदानेन अनुगृहीतव्यः उपकार्य इत्यर्थः । पद्मः—सत्यमिदम् । किं तु स्वामिसमीहितसुमनःसंवीणेषु स्वामिनो नृपस्य समीहितम् इष्टं कार्यं तस्मिन् सुमनसा संवीणेषु तत्परेषु भवद्विधेषु भवादृशेषु सचिवेषु सहायकमन्त्रिषु विद्यमानेषु किं नामासाध्यम् अस्ति । अन्यदा तु अन्यस्मिन्काले तु कुम्भपुराधिकृतमूर्तिः कुम्भपुरनामनगरे अधिकृतमूर्तिः स्वामित्वेन अधिष्ठिता मूर्तिः देहो यस्य कुम्भपुरस्य यो राजा अस्ति स तथाभूतः सिंहकीर्तिर्नाम नृपतिः । अनेकयोधनेषु नानायुद्धेषु लब्धम् आप्तं यशःप्रसाधनं कीर्तिभूषणं येन । सन्नद्धं युद्धोद्यतं सारसाधनं बलवत्सैन्यं यस्य । हस्तिनागपुरावस्कन्दप्रदानाय हस्तिनागनगराक्रमणप्रदानाय आगच्छन् एतन्नगरच्छन्नावसर्पनिवेदितागमनः अस्य नृपस्य कुम्भपुरे छन्नाः गूढतयावस्थिता ये अवसर्पाः चारास्तैर्निवेदितम् आगमनं यस्य, स बलिसचिवः पद्मनिदेशात् पद्मनृपादेशमनुरुध्य अभ्यमित्रीणप्रयाणपरायणेन विद्विषन्तं प्रति जेतुं गमनं यत्तदभ्यमित्रीणप्रयाणमुच्यते तस्मिन् परायणेन तत्परेण कूटं वञ्चनापूर्णं प्रकामं कदनम् अतिशयेन रोषेण कदनं युद्धं तस्मिन् कोविदा निपुणा धिषणा बुद्धिः यस्य तेन बलिना सचिवेन । अध्वमध्ये मार्गम् अवरुध्य युध्यमानः, नामनिर्गमविधानैः स्वकीयनामविरुदावलीसहितैः प्रधानैः युद्धसिद्धान्तोपान्तैः सामन्तैश्च नम्रीभूय ततो निर्गमोपायवद्भिः मुख्यैः युद्धस्य समरस्य सिद्धान्तानाम् उपान्तं समीपं गतैः सामन्तैः स्वविषयानन्तरराजभिः सं संलग्नोऽन्तः एकदेशो यस्याः सा समन्ता स्वविषयानन्तरा भूमिः तस्या अधिपतयः सामन्ताः । तैश्च सार्धं प्रबध्य तस्मै हृदयशल्योन्मूलनप्रमदमतये क्षितिपतये प्राभृतीकृतः । हृदयस्य मनसः शल्यस्य पीडायाः उन्मूलनात् निःशेषतया नाशात् प्रमदयुक्ता सानन्दा मतिर्यस्य तस्मै क्षितिपतये भूमिपतये पद्मनृपाय प्राभृतीकृतः उपायनीकृतः । क्षितिपतिः—**शस्त्रशास्त्रेति**—शस्त्राणि च शास्त्राणि च तेषां विद्यानाम् अधिकरणम् आश्रयरूपं व्याकरणं तस्य व्याकर्ता पतञ्जलिरिव तत्संबोधनं हे बले, निखिलेऽपि बले सकलेऽपि सैन्ये चिरकालमनेकशः कृतकृष्णवदनच्छायस्यास्य कृता कृष्णा श्यामा वदनच्छाया मुखकान्तिर्येन तस्य अस्य द्विषतः शत्रोः विजयात् नितान्तम् अत्यन्तं तुष्टोऽस्मि प्रीतोऽस्मि । तद्याच्यतां मनोऽभिलाषवरो वरः, तस्मात्कारणात् यं वरं ते मनोऽभिलष्यति स याच्यतां व्रियताम् । बलिः—यदाहं याचे तदायं प्रसादीकर्तव्यः । इत्युदारम् उदीर्य निःस्पृहतां प्रदर्शयन्निव उदीर्य उक्त्वा, पुनश्चतुरङ्गबलप्रबलः चत्वारि अङ्गानि हस्त्यश्वरथपादातरूपाणि यस्य तेन बलेन सैन्येन प्रबलः महाशक्तिमान् बलिः प्रतिकूलभूपालविनयाय प्रतिकूलाः विरुद्धा ये भूपाला राजानः तेषां विनयाय आनुकूल्योत्पादनाय । पद्मम् अवनीपतिम् अवन्याः पतिं पृथ्वीशम् आदेशम् आज्ञां याचित्वा गृहीत्वा सत्वरं शीघ्रम् **अशेषेति**—अशेषाः सकलाः ताश्च ता आशा दिशः तासु वशाः निजाधीनाः कृताः निवेशाः स्थानानि ग्राम-

नगरादीनि येन तेन अनीकेन सैन्येन सूत्रितं व्याप्तं सकलं महीतलं येन तथाभूतः स बलिर्मन्त्री दिग्विजयार्थम् उच्चचाल प्रतस्थे ।

[पृष्ठ १००-१०१] अत्रान्तरे अस्मिन्प्रस्तावे । विहारवशात् भगवान् अकम्पनाचार्यः तेन महता मुनिनिकायेन साधुसमूहेन सार्धं हास्तिनपुरम् अनुसृत्य, उत्तरदिग्विलासिन्यवतंसकुसुमतरौ हेमगिरौ उत्तरा चासौ दिक् सैव विलासिनी स्त्री तस्याः अवतंसरूपाणि भूषणरूपाणि यानि कुसुमानि तैर्युतास्तरवो यत्र तस्मिन्हेमगिरौ । महावगाहायां महान् अवगाहो विस्तारेण अवकाशदानं यस्यां तथाभूतायां गुहायां चातुर्मासीनिमित्तं स्थितिं बबन्ध । चतुर्णां मासानां समाहारः चातुर्मासी तस्या निमित्तेन तत्र स्थितिं बबन्ध निवासं तेने (बलिरपि हेमगिरिगुहायां ससंघम् अकम्पनसूरिमवलोक्य तं पीडयितुम् अग्निहोत्रमारेभे) बलिरपि निखिलेति—निखिलाश्च ते जलधयश्च समुद्राः तेषां रोधांसि तटानि तेषां सविधे समीपे यानि वनानि तेषु विनोदितानि वीरवधूनां हृदयानि येन सः । दिग्विजयं विधाय आगतस्तं भगवन्तम् अवबुध्य प्रत्यभिज्ञाय, चिरकालव्यवधानेऽपि दीर्घकालान्तरितेऽपि अलर्कविषनिषेक इव उन्मत्तः श्वा अलर्क उच्यते तस्य विषम्, अलर्कविषम् तस्य निषेकः क्षरणं दीर्घकालेनापि उन्मत्तश्वविषं जनं नितरां व्यथयति तथा जातप्रकोपोत्कर्षः स बलिस्तदपराधविधानाय पूर्वापराधशुद्धये वैरप्रतिनिर्यातनाय धराधीश्वरं पद्मं नृपं प्राग्दत्तवरनिमित्तेन समाशाखार्धं समा वत्सरः तस्य शाखा षण्मासकालः तस्य अर्धम् यस्मिस्तत् । त्रिमासावधिकमिति भावः । किं तत् राज्यम्, कथंभूतम् आत्मैकशासनप्राज्यम् आत्मना एकेनैव शास्यते परिपाल्यते इति आत्मैकशासनं तस्मात् प्राज्यं प्रचुरम् । अन्तःपुरप्रचारैश्वर्यमात्रसधात: पद्मतोऽभ्यर्थ्य । भूभुजां स्त्र्यगारमन्तःपुरं तत्र प्रचारः सञ्चारः तद्योग्यमेवैश्वर्यं वैभवं यत्र तत् च तत्सद्म यस्य तस्मात् पद्मतः पद्मनृपात् अभ्यर्थ्य वरोपलिप्सां कृत्वा मखमिषेण यज्ञव्याजेन मुनिसैन्याजन्योत्कर्षं चिकीर्षुः मुनीनां सैन्यं सङ्घः तेन सह आ समन्तात् जन्योत्कर्षं युद्धोत्कर्षं चिकीर्षुः मुनिसमूहं नितरां पीडयितुमित्यर्थः । मदनद्रव्याधिकरणैः उपकरणैः अग्निहोत्रमारेभे । मदनद्रव्यं धुस्तूरकः अधिकरणं खदिरो वा अधिकरणम् आधारो येषु तैः उपकरणैः साधनैः अग्निहोत्रं यज्ञम् आरेभे चकार । (मिथिलापुरे जिष्णुसूरेः शिष्यो भ्राजिष्णुर्नाम नभसि कम्पमानं श्रवणनक्षत्रं वीक्ष्य क्वचिन्महामुनीनाम् उपसर्गो वर्तते इति जज्ञौ) अत्रावसरे अस्मिन्प्रसङ्गे निजनिवासेन निजेनाश्रमेण पवित्रीकृते मिथिलापुरे जिष्णुसूरेः जिष्णुनामधेयस्याचार्यस्य अन्तेवासी शिष्यः भ्राजिष्णुर्नाम तमीमध्यसमये तस्या निशायाः मध्यः समयः वेला तस्याम् निशामध्यवेलायाम् । बहिर्विहितविहारः आश्रमाद्बाह्यप्रदेशे कृतगमनः समीरस्य वायोर्मार्गे पथि नभसीत्यर्थः । नक्षत्रवीथीं ताराणां पङ्क्तिम् । लोचनालोकनसनाथां लोचनयोर्नेत्रयोरालोकनेन वीक्षणेन सनाथां युक्तां विदधानः । नेत्राभ्यां नक्षत्रवृन्दं वीक्षमाणः । चमूरुसञ्चारचकितगात्रं चमूरोर्मृगविशेषस्य सञ्चारः आगमनं तेन चकितं भीतं गात्रं शरीरं यस्य कुरङ्गकलत्रमिव हरिणभार्येव तरलतारकाश्रयणं चञ्चलकनीनिकाधारं पक्षे चञ्चलोडूनाम् आधारं श्रवणं तन्नामकं नक्षत्रम् । अन्तरिक्षे नभसि अवेक्ष्य लक्ष्यं बध्वा किलैवमुच्चैरवोचत् । "अहो न जाने क्वचिन्महामुनीनां महानुपसर्गो वर्तते ।" एतच्च श्रमणशरणगणी श्रमणानां श्राम्यन्ति बाह्यम् अभ्यन्तरं च तपश्चरन्तीति श्रमणाः साधवस्तेषां शरणं रक्षकः स चासौ गणी आचार्यः जिष्णुसूरिः समाकर्ण्य प्रयुक्तावधिबोधः उपयुक्तावधिज्ञानः । तन्नगरगिरिगुहायाम् अकम्पनाचार्यस्य बलिदुर्विलसितमवधार्य बलिना कृतं दुर्विलसितं दुष्टविधानं निश्चित्य, गगनगमनप्रभावम् आकाशगमने प्रभावो माहात्म्यं यस्य तं पुष्पकदेवं देशव्रतसेवं देशव्रतधारिणं क्षुल्लकम् आकार्य आमन्त्र्य हंहो पुष्पकदेव, तव विक्रियर्द्धेर्वैधुर्यान्न तदुपसर्गविसर्गे सामर्थ्यमस्ति । तव विक्रियर्द्धेरभावात् ससंघाकम्पनसूरिण उपद्रवमोचने न क्षमतास्ति । ततस्तथाविधर्द्धिवृद्धिरोचिष्णवे विष्णवे उपसर्गमोचनसमर्थर्द्धिवृद्ध्या रोचिष्णवे भ्राजिष्णवे शोभमानाय तामदृष्टविशिष्टताभिवर्त्मस्थिताम् अपि अविदुषे अदृष्टविशिष्टता शुभदैवविशेषः तस्य अभिवर्त्मनि अभिमार्गे स्थितां शुभदैवविशेषेण प्राप्तामपि अविदुषे अजानते । निवेद्य कथयित्वा तदुपसर्गापवर्गायतस्योपसर्गविनाशाय । अस्मत्सर्गात् अस्माकमादेशात् । नियोजयितव्यः प्रयोजयितुं योग्यः ।" पुष्पकदेवः त्रिदशोचितचरणसेवस्य त्रिदशा देवास्तैः उचिता कर्तुं योग्या चरणसेवा यस्य तस्य महर्षेः भाषिताद्वचनात् तं देशमासाद्य विष्णुमुनये तथाविधर्द्धिवृत्तिं तादृशीं विक्रियर्द्धिप्रवृत्तिम्, गुरुनिदेशवृत्तिं च गुरोर्निदेश आज्ञा तस्य वृत्तिं प्रवृत्तिं च प्रतिपादयामास

कथयामास । विष्णुमुनिः प्रदीप इव स्फाटिकभित्तिमध्यलब्धप्रसरेण किरणनिकरेण यथा प्रदीपः स्वच्छमणिरचितकुड्यमध्यादाप्तप्रचारेण रश्मिसमूहेनेव, कथंभूतेन करेण । उच्यते, वारिधिवज्रवेदिकानिर्भेदनेन मानुषोत्तरगिरिपर्यन्तसंवेदनेन सागरस्य वज्रतटस्फेटनं कुर्वता करेण हस्तेन, पुनः कथंभूतेन मानुषोत्तरो नाम गिरिः पुष्करद्वीपस्य बहुमध्यभागे वलयाकारो वर्तते तस्य पर्यन्तं यावत् संवेदनम् अनुभवो यस्य तेन । पुनः कथंभूतेन करेण मनुष्यक्षेत्रसूत्रपातविडम्बनकरेण करेण मनुष्यक्षेत्रस्य यो मानदण्डस्तस्य विडम्बनकरेण अनुकरणं कुर्वता करेण ऊर्णनाभ इव तन्तुनिकाये काये स्ववशाश्रयया व्याससमासक्रियया च तामवगम्य । यथा ऊर्णनाभस्तन्तुवायनामा कीटविशेषः स तन्तुसमूहे व्यासो विस्तारः समासः संक्षेपः तयोः क्रियया निजवशाधारया स्वशक्ति जानाति तथा स्ववशाश्रयया निजाधीनाधारया विस्तारसंक्षेपक्रियया स्वकाये स्वशरीरे च तामवगम्य ज्ञात्वा । उपगम्य च हास्तिनपुरं गत्वा च हस्तिनागपुरम् । 'न खल्वनिवेद्य निखिलवर्णिवर्णाश्रमपालाय मध्यमलोकपालाय आमर्षप्रवृत्ततन्त्रेण हुङ्कारमात्रेणापि कम्पितजगत्त्रया प्रसंख्यानवनविध्वंसदावे तपःप्रभावे दुर्जनविनयनार्थमभिनिविशन्ते यतीशाः' न खलु अनिवेद्य अकथयित्वा । कस्मै । निखिलेति—निखिलाश्च ते वर्णिनः ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः तेषां वर्णाः आचारविशेषाः आश्रमाश्च ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ्य-वानप्रस्थता भिक्षुकत्वं चेति चत्वारश्चाश्रमाः तान् पालयतीति तस्मै । मध्यमलोकपालाय मध्यमो लोकः नृलोकः तं पालयतीति तस्मै नृपतये । आमर्षप्रवृत्ततन्त्रेण आमर्षः क्रोधस्तेन प्रवृत्तं तन्त्रं कार्यं यस्य तेन हुङ्कारमात्रेणापि कम्पितजगत्त्रयाः प्रसंख्यानं ध्यानं तदेव वनं तस्य ध्वंसो नाशस्तस्मै दावोऽग्निः तत्सदृश इति भावः तस्मिन् तपःप्रभावे सत्यपि दुर्जनविनयनार्थं दुर्जनान् सन्मार्गेऽवतारयितुं यतीशा मुनीश्वराः न अभिनिविशन्ते न प्रयतन्ते । मुनयो महाप्रभावास्तथापि भूपालमनिवेद्य स्वतपःप्रभावं न दर्शयन्ति इति भावः । इति च परामृश्य मनसि विमर्श कृत्वा, प्रविश्य च पुरैव प्रथममेव चिरपरिचितकञ्चुकिसूचितप्रचारः अन्तःपुरं दीर्घकालमारभ्य विज्ञातसौविदल्लानुज्ञातप्रवेशः । प्रविश्य च अन्तःपुरम्, पद्ममहीपते, राजधानीषु अरण्यानीषु वा 'महारण्यं अरण्यानी' इति महावनेषु इत्यर्थः । तपस्यतः संयतलोकस्य मुनिजनस्य । न खलु नरेश्वरान्नृपात् परोऽन्यः प्रायेण बहुशः गोपायिता रक्षिताऽस्ति । तत्कथं नाम तृणमात्रेऽपि अनपराधमतीनां तृणमात्रस्यापि हिंसाम् अकुर्वतां यतीनाम् आत्मनि अशुभलोकनिषेकसर्गम् अशुभो लोकः नरकतिर्यग्गतिषु जन्म तस्य निषेकः प्राप्तिः तस्य सर्गः प्रादुर्भावः यस्माद्भवेत् तम् उपसर्गं सहसा अविचारेण कथं करोषीति भावः इति उक्तं । भगवन् सत्यमेवैतत् । किं तु कतिचिद्दिनानि बलिरत्र राजा नाहम् ।' इति प्रत्युक्तियुक्तिस्थितं प्रतिवचनयुक्तौ स्थितं पद्मनृपतिम् अवमत्य अवज्ञाय । छलेन निमित्तेन खलु परेषु प्रायेण बहुशः अन्येषु तपःप्रभवर्द्धिलीलाः तपोजाताः ऋद्धीनां लीलाः फलोल्लासनशीलाः फलप्रकटनस्वभावाः, इति वा अवगत्य विज्ञाय । शालाजिरसम्पुटकोटरावकाशप्रदीपप्रकाश इव संजातवामनाकृतिः । शालाजिरस्य वर्धमानस्य शरावस्य वा 'शालाजिरो वर्धमानः शरावः स्मर्यते बुधैः' इति हलायुधः । सम्पुटस्य च कोटरे मध्यभागे अवकाशोऽवगाहो यस्य तथाभूतस्य प्रदीपस्य प्रकाश इव संजातवामनाकृतिः प्रकटीकृतह्रस्वनराकारः । सप्ततन्तुवसुमतीमनुसृत्य सप्तभिरग्निजिह्वाभिस्तन्यते विस्तार्यते इति सप्ततन्तुर्यज्ञः तस्य वसुमतीं भूमिम् अनुसृत्य अनुगम्य । मधुरध्वनितृतीयेन सवनेन मधुरध्वनिना सह तृतीयेन सवनेन उदात्तेन स्वरेण प्राध्ययनम् उच्चैरध्ययनं वेदस्य व्यधात् अकरोत् ।

[पृष्ठ १०२-१०३] बलिरिति—बलिः मेघशब्दसुन्दरं वाक्प्रसरं वचनप्रवाहं सिन्धुर इव गज इव निभृतकर्णः वशीभूतश्रोत्रः निर्वर्ण्य दृष्ट्वा कोऽयं खलु वेदवाचि विरिञ्च इव उच्चारचतुरः वेदवचने ब्रह्म इव उच्चारणकुशलः, इति कुतूहलितहृदयः कुतुकितमनाः, सत्रनिलयान्निर्गत्य सतः सज्जनान् त्रायते इति सत्रं यज्ञः तस्य निलयाद् गृहात् निर्गत्य । वयसि च निश्चिताश्चर्यसौन्दर्यं द्विजवर्यम् एनमवादीत् । वयसि तारुण्ये विज्ञाताद्भुतसौन्दर्यम् एनं विप्रश्रेष्ठम् अवादीत् अब्रवीत् । 'भट्ट, किमिष्टं वस्तु, चेतसि निधाय प्राधीषे' हे विद्वन्, कम् ईप्सितं पदार्थं धनादिकं हृदये संकल्प्य प्राधीषे उच्चैर्वेदवचनानि ब्रूषे । 'बले दायादविलुप्तालयत्वात् तदर्थं पादत्रयप्रमाणकलमवनितलम् । हे बलिमन्त्रिन्, सनाभिह्रतगृहत्वात् चरणत्रयमानसुन्दरं भूमितलं चेतसि निधायाहं वेदवचनानि प्रोच्चैर्ब्रुवे । द्विजोत्तम ब्राह्मणश्रेष्ठ मया ते निकामं यथेप्सितं दत्तम् । यद्येवं बहुमान-

यजमान, विधीयतामुदकधारोत्तरप्रवृत्तिर्वृत्तिः। चेदेवं ब्रवीषि, महादरपात्र यजमान, उदकधारया हस्ते जलधारापातादनन्तरं प्रवृत्तिर्यस्या एतादृशी वृत्तिः संकल्पितदानं विधीयताम् क्रियताम्। बलिः प्रबलां महतीम् आलूं कमण्डलुम् आदाय गृहीत्वा। 'द्विजाचार्य, प्रसार्यतां हस्तः इत्युक्तवति, शुक्रः संक्रन्दनमिव कुलिशनिकेतनम्, यथा संक्रन्दनः इन्द्रः कुलिशनिकेतनम्, कुलिशं वज्रम्, निकेतनं ध्वजो यस्य एवंभूतो वर्तते। तथा, हस्तोऽपि कुलिशनिकेतनः कुलिशं वज्रं निकेतति निवसति अस्मिन्निति कुलिशनिकेतनस्तम्। पुनः कथंभूतं हस्तम्। प्रासादमिव कलशाह्लादम, प्रासादो यथा कलशेन ह्लादते तथा हस्तोऽपि कलशेन कुम्भाकाररेखाभिर्ह्लादते। जलाश्रयमिव मत्स्याश्रयम्, यथा जलाशयः मत्स्यानाम् आश्रयः आधारभूतः तथा हस्तोऽपि मत्स्याकाररेखाभिर्युतः, सरिन्नाथमिव शङ्खसनाथम्, सरिन्नाथः समुद्रः स शङ्खैः भृतस्तिष्ठति तथा हस्तोऽपि शङ्खचिह्नेन शोभते। विरहिणीवासरगणनकुड्यप्रदेशमिव ऊर्ध्वरेखावकाशम्, यथा विरहिणी स्ववल्लभवियोगदिनगणनाय कुड्यप्रदेशे भित्तौ ऊर्ध्वरेखा रचयति तथायं हस्तोऽपि ऊर्ध्वरेखाणाम् अवकाशेन शोभते। नारायणमिव चक्रलक्षणम् यथा नारायणः कृष्णः चक्रलक्षणेन सुदर्शनचक्रेण लक्ष्यते तथा हस्तोऽयं चक्राभिधेन सामुद्रिकचिह्नेन विराजते। यज्ञोपकरणमिव यवाधिकरणम्, यथा यवाः यज्ञोपकरणं साधनमभिधीयते यज्ञे यवा अग्नौ हूयन्ते तथा हस्तोऽपि अङ्गुष्ठमध्ये यवाकाररेखायुतो भवति। जलयानपात्रमिव निश्छिद्रतामत्रम्, जलयानपात्रं नौका तद्यथा नीरन्ध्रतापात्रं भवति तथा हस्तोऽपि निश्छिद्राङ्गुलियुतो भाति। स्तम्बेरमकरमिव दीर्घाङ्गुलिप्रसरम् यथा स्तम्बेरमो गजः तस्य करः शुण्डा स करो यथा दीर्घो भवति तथा हस्तोऽपि दीर्घाणां पञ्चाङ्गुलीनां प्रसरेण शोभते। वंशकिसलयमिव आनुपूर्व्या प्रवृत्तपर्वसञ्चयम्, यथा वंशस्य वेणोः किसलयं पल्लवः आनुपूर्व्यं पूर्वम् अग्रम् अनुसर्यति आनुपूर्व्यं तेन प्रवृत्तः पर्वणां वेणुग्रन्थीनां सञ्चयो यस्मिन् वेणौ यत्र यत्र ग्रन्थयो वर्तन्ते ताभ्यः किसलयोत्पत्तिर्भवति तथा अत्र हस्तकिसलयमपि अङ्गुलिग्रन्थिसहितं भवति। कमलकोशमिव अरुणप्रकाशनिवेशम्। यथा कमलस्य कोशः कर्णिका अरुणप्रकाशस्य निवेशेन पाटलायाः कान्त्याः निवेशेन स्थितया शोभते तथा हस्तोऽपि ताम्रया कान्त्या कमलकोश इव विराजते। विद्रुमभङ्गाभोगमिव स्निग्धपाटलनखराग्रं विद्रुमाणां भङ्गो रचना तस्या आभोगः विस्तारः स यथा स्निग्धस्ताम्रश्च भवति तथा स्निग्धानि मसृणानि पाटलानि ताम्राणि नखराग्राणि यस्य एतादृशो वामन-विप्रस्य हस्तः शोभते, पुनः कथंभूतं हस्तं लक्ष्मीलताविर्भावोदयं लक्ष्मीः श्रीरेव लता वल्ली तस्याः आविर्भावस्य उत्पत्तेः उदयो उन्नतिर्यत्र। एतादृशं हस्तं शुक्र उपलक्ष्य दृष्ट्वा। खलु अयम् एवंविधपाणितलसंबन्धो गोधः पुरुषः परेषाम् अन्येषां याचिता। अन्येभ्यः पुरः याचनार्थं हस्तं न प्रसारयेत् किं तु अयम् इतरैर्याच्यो भवेत् इति वचनवक्रं वक्रोक्त्या ब्रुवन्तं शुक्रम् अवगणय्य बलिः स्वकीयां दत्तिं दानं पादत्रयप्रमाणाया भूमेः उदकधारोत्तरां जलधाराया हस्तेऽर्पणानन्तरम् अकार्षीत् अकरोत्। तदनु स विष्णुमुनिः विरोचनविरोकनिकर इव विरोचनः सूर्यः तस्य विरोकाः किरणाः तेषां निकरः समूह इव अक्रमेण ऊर्ध्वम् अधश्च अनवधिवृद्धिपरः अनवधिः न अवधिर्मर्यादा यस्यां सा चासौ वृद्धि तस्यां परः अमर्यादोपचयतत्परः, सर्वतश्च उभयतः प्रवृत्तापगाप्रवाह इव प्रसृतनदी जलविस्तार इव तिरः आसमन्ततः प्रसरत् वृद्धिं प्राप्नुवद्देहो यस्य स विष्णुमुनिः एकं कायधरं कायं शरीरं धरतीति कायधरः पाद इति भावः एकं पादम् अकूपारवज्रवेदिकायाम् अकूपारो लवणसमुद्रः तस्य वज्रमय्यां वेदिकायां निधाय स्थापयित्वा परं च क्रमम् अन्यं पादं चरणं चक्रवालपर्वतशिखरे। पुनस्तृतीयस्य चरणस्य मेदिनीं भूमिम् अलभमानः तपनरथस्खलनसेतुना सुरसरित्तुरीयस्रोतोहेतुना इत्यादिविशेषणानि तृतीयपादस्यावगन्तव्यानि। कथंभूतेन पादेन सूर्यस्यन्दनभ्रंशे सेतुना आलिना सूर्यरथमार्ग-प्रतिबन्धकेनेत्यर्थः। पुनः कथंभूतेन पादेन सुरेति—सुराणां सरिद् गङ्गानदी तस्याः तुरीयश्चतुर्थः स्रोतः प्रवाहः तस्य हेतुना तदुत्पादकेनेव गङ्गा विष्णुपदोद्भूतेति पौराणिकी कथा। संपादितेति—संपादितः उत्पादितः दिविजसुन्दरीणां देवाङ्गनानां चरणमार्गस्य निश्रेण्याः विभ्रमः संशयो येन। पुनः कथंभूतेन पादेन। समाचरितेति—समाचरितः उत्पादितः खेचरीणां नभोगाङ्गनानां चेतःसंभ्रमो मनःसंशयो येन। पुनः कथंभूतेन भूगोलगौरवपरिच्छेदे तुलादण्डविडम्बनेन भूगोलस्य गौरवं गुरुता तस्याः परिच्छेदे माने तुलादण्डविडम्बनेन मानदण्डम्

अनुकुर्वता चरणेन पादेन । क्षोभितान्तरिक्षचरपुरकक्षः क्षोभिताः क्षोभं प्रापिताः अन्तरिक्षचराणां नभोगानां पुरकक्षाः नगरविभागा येन । किन्नरामरखचरचारणादिवृन्दैः किन्नरामराः व्यन्तरदेवविशेषः । खचराः नभोगा विद्याधराः । चारणादयो देवविशेषाः तेषां वृन्दैः समूहैः, वन्द्यपादारविन्दः प्रणम्यमानचरणकमलः । संयतजनोपकारसारस्वकीयर्द्धिवृद्धिपरितोषितमनीषैः व्यन्तरानिमिषैः संयतजनो निर्ग्रन्थमुनिगणः तेषु उपकारे सारभूता समर्था या स्वकीया ऋद्धिवृद्धिः वैक्रियिकशरीरर्द्धिवृद्धिः, तया परितोषिता आह्लादं नीता मनीषा बुद्धिर्येषां तैः । व्यन्तरानिमिषैः व्यन्तरसुरैः । अकारणखलतास्थलि निर्हेतुकदुष्टतायाः स्थानभूतं बलिं सबान्धवं शुक्रबृहस्पतिप्रह्लादसहितम् अबन्धयत् । प्रावेशयच्च सदेहं रसातलगेहम् । भवति चात्र श्लोकः—वत्सलः संयतजनस्नेहलः महापद्मसुतो महापद्मनृपतनयः विष्णुः हास्तिननगरे बलिमन्त्रिविहितं विघ्नं शमयामास निषूदयाञ्चकार ॥ २२२ ॥

इत्युपासकाध्ययने वात्सल्यवर्णनो नाम विंशतितमः कल्पः ॥ २० ॥

२१. रत्नत्रयस्वरूपनिरूपणो नामैकविंशतितमः कल्पः

[पृष्ठ १०४-१०५] एवं सम्यग्दर्शनस्याष्टाङ्गानां स्वरूपं तत्कथाश्च सूरिवरेण कथिताः । अधुना सम्यग्दर्शनोत्पत्तिकारणानि तद्भेदाश्च निगद्यन्ते सूरिणा निसर्ग इति—तदाप्तौ सम्यग्दृष्टेः आप्तौ प्राप्तौ । निसर्गः इति—एकं कारणम् । अधिगमो वा तत्प्राप्तौ कारणम् । इति कारणयुगलं तत्प्राप्तेर्भवति । यदा अल्पप्रयासात् पुरुषश्चतुर्गतिजः संज्ञी पञ्चेन्द्रियो जीवः सम्यक्त्वभाग् भवति तदा तस्य तत्सम्यक्त्वं निसर्गात् जातमिति । यदा च अनल्पप्रयासतः सम्यक्त्वं लभ्यते तेन तदा तस्य तत् अधिगमजं ज्ञेयम् ॥ २२३ ॥ उक्तं च—आसन्नभव्यतेति—रत्नत्रयाविर्भावयोग्यो जीवो भव्यः, कतिपयभवप्राप्यनिर्वाणपदः आसन्नः । आसन्नश्चासौ भव्यश्चासन्नभव्यस्तस्य भाव आसन्नभव्यता । कर्महानिः मिथ्यात्वादीनां सम्यक्त्वप्रतिबन्धककर्मणां यथा सम्भवमुपशमः, क्षयोपशमः क्षयो वा । संज्ञित्वं शिक्षाक्रियालापोपदेशग्राहित्वम् । संज्ञा अस्यास्तीति संज्ञी संज्ञिनो भावः संज्ञित्वम् । शुद्धपरिणामाः एते अन्तरङ्गहेतवः सम्यक्त्वस्य । बाह्योऽपि उपदेशकादिश्च सम्यगुपदेशको गुर्वादिः । आदिशब्देन जातिस्मरणजिनप्रतिमादर्शनादिकानि गृह्यन्ते । एतान् हेतूनवाप्य जीवः सम्यग्दृष्टिर्भवति ॥ २२४ ॥ एतदुक्तं भवति—अस्यैवं विवरणं भवति—कस्यचिदासन्नभव्यस्य तन्निदानेति—सम्यक्त्वप्राप्तियोग्यद्रव्यक्षेत्रकालभावभवसंपदासेव्यस्य सनाथस्य । विधूतेति—सम्यक्त्वप्रतिबन्धकमिथ्यात्वतिमिराद्दूरनिर्गतस्य । आम्नितेति—गृहीत शिक्षाक्रियालापचतुरेन्द्रियान्तःकरणसंबन्धस्य । नवं मृत्तिकादिभाण्डं लशुनादिदुर्वासनागन्धरहितं भवति तथा मिथ्यात्ववासनासंभूतपाषण्डिजनगन्धरहितस्य शीघ्रमेव यथावस्थितपदार्थस्वरूपज्ञानकारणयुगलात्, स्फाटिकरत्नरचितदर्पणसदृशस्य । पूर्वभवश्रवणात् संजातजातिस्मरणेन वा । वेदनानुभवनेन वा । धर्मश्रवणेन वा । जिनप्रतिमादर्शनेन वा । महामहोत्सवावलोकनेन वा । महर्द्धिप्राप्तमुनीश्वरनिहालनेन वा । नरेषु देवेषु वा सम्यग्दर्शनप्रभाववैभवदर्शनेन वा । अन्येन केनचिद्धेतुना, विचारवनेषु मनोविहारेणापि खेदम् अप्राप्नुवन्, यदा जीवादिवस्तुषु याथात्म्यं ज्ञात्वा श्रद्धानं भवति तदा प्रयोक्ता आयासं कष्टं नानुभवति । यथा शुष्काः शालयः अनायासेन लूयन्ते स्वयमेव, शिक्ष्यन्ते चतुरमतयः स्वयमेव, इत्यादिवत्तन्निसर्गात्सम्यक्त्वं जातमिति प्रोच्यते । यदा तु अव्युत्पन्नता, संशयः विपर्ययश्च ज्ञाने उद्भवन्ति, तदा अधिमुक्तियुक्तिसूक्तिसंबन्धसविधस्य मुक्तौ मुक्तिविषये मुक्तिम् अधिकृत्य वा अधिमुक्ति तस्मिन् जीवस्य कर्माष्टकरहितशुद्धस्वरूपे युक्तियुक्ताः सूक्तीः श्रुत्वा, तच्छ्रवणात् जातसम्यग्ज्ञानसंबन्धस्य प्रमाणनयनिक्षेपानुयोगोपयोगावगाह्येषु सकलजीवादिषु वस्तुषु ऊहापोहरूपेण परीक्षणात्, अतिक्लेशं प्राप्य निःशेषदुराशयविनाशात्, सकलमिथ्याज्ञानविनाशात्, सम्यग्ज्ञानसूर्यकरैः तत्त्वेषु रुचिः श्रद्धानं संजायते, तदा विधातुरायासहेतुत्वात् कार्यकारिणः संक्लेशकारणत्वात् मया निर्मापितोऽयं हारः सूत्रानुसारेण, मयेदम्, संपादितम् आभूषणं रत्नरचनाश्रयम् इत्यादिवत् तदा अधिगमात्प्रादुर्भूतं सम्यग्दर्शनम् इत्युच्यते । उक्तं च अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिति—अतर्कितोपस्थितम् अनुकूलं प्रतिकूलं वा दैवकृतम् । तत्र

बुद्धिपूर्वापेक्षापायात् तत्र पुरुषकारस्य प्रयत्नस्य अप्राधान्यात्। तद्विपरीतं पौरुषापादितं तत्र दैवस्य गुणभावात् पौरुषस्य प्रधानभावात्। अधिगमजसम्यग्दर्शनं पौरुषात् भवति। निसर्गजसम्यग्दर्शनं दैवाज्जायते इत्यर्थः ॥ २२५ ॥

[पृ० १०६-१०६] सम्यक्त्वभेदानाहुः सूरयः—द्विविधमिति—आत्महितमतयः आत्महिते मतिर्येषां ते आत्महितमतयः सम्यग्ज्ञानिनः। सम्यक्त्वं द्विविधम् आहुः, निसर्गजमधिगमजं चेति। त्रिविधम्—औपशमितकम्, क्षायोपशमिकम्, क्षायिकं चेति। दशविधं च तत् पुरस्ताद्वक्ष्यते—तत्त्वश्रद्धानविधिः सम्यक्त्वम्। सर्वत्र च जीवादिषु समवृत्तिः रागद्वेषाभावः उपेक्षावृत्तिः ॥२२६॥ पुनरपि सम्यक्त्वस्य द्वैविध्यमन्येन प्रकारेण निगदति—सरागेति—सरागः आत्मा विषयो यस्य तत् सरागसम्यक्त्वं स्मृतम्। वीतराग आत्मा विषयो यस्य तत् वीतरागसम्यक्त्वं मतम्। सरागसम्यक्त्वं प्रशमादिगुणं प्रशमादयो गुणा यस्य तत् प्रशम-संवेग-अनुकम्पा-आस्तिक्यगुणचतुष्टययुतम्! तत् पूर्वं प्रथमं कथ्यते। आत्मविशुद्धिमात्रत्वं द्वितीयं वीतरागसम्यक्त्वं भवति। तत्तु उपशान्तकषायादिगुणस्थानवर्ति भवति तत्र हि चारित्रमोहस्य सहकारिणोऽपायान्न प्रशमाद्यभिव्यक्तिः स्यात्केवलं स्वसंवेदनेनैव तद्वेद्येत ॥२२७॥ यथा हि पुरुषस्य पुरुषशक्तिरियम् अतीन्द्रियापि अङ्गनाजनाङ्गस-भोगेन अपत्योत्पादनेन च। विपदि धैर्यविलम्बनेन वा। प्रारब्धवस्तुनिर्वहणेन वा। यत्कार्यम् आरब्धं तस्यान्त-गमनेन वा निश्चेतुं शक्यते, तथा आत्मस्वभावतया अतिसूक्ष्मयत्नमपि सम्यक्त्वरत्नं प्रसमसंवेगानुकम्पास्तिक्यैरेव वाक्यैराकलयितुं शक्यम्। नरस्य पौरुषं यथा नेत्रादिभिर्द्रष्टुं नालं तथापि नारीसंभोगादिकार्यैः निश्चेयं भवति तथा सम्यक्त्वमिदम् आत्मस्वभावत्वात् अतीन्द्रियमपि प्रशमादिभिरेव ज्ञातुं सुशकं भवति।

[पृष्ठ ११०-१११] १. प्रशमलक्षणम्—यद्रागादिष्विति—रागद्वेषादिदोषेषु मनोवृत्तेः निबर्हणं निवर्तनं तेभ्यः दूरतः स्थापनम् प्राज्ञाः तं प्रशमं ब्रुवन्ति। एनं प्रशमं विना सकलव्रताना पालनम् अशक्यम्। अत एनेन सर्वव्रतानि भूष्यन्ते ॥२२७॥ २. संवेगलक्षणम्—शारीरेति—शारीरदुःखं ज्वरादिकम्। मानसं दुःखम् अपमानादिकम्। आगन्तुकं च दुःखं विद्युदादिना जायते। एतद्दुःखत्रयं वेदनाशब्देनात्र ज्ञेयम्। एतासां वेदनानां प्रभवात् उत्पादकात् भवति संसारात् भीतिः संवेगः कथ्यते। अयं च भवः संसारः स्वप्नेन इन्द्रजालेन च संकल्पः सदृशो वर्तते ॥२२९॥ ३. अनुकम्पालक्षणम्—सत्त्वे इति—सर्वस्मिन् सत्त्वे प्राणिनि चित्तस्य दयार्द्रत्वं दयालवः कृपावन्तो नराः धर्मस्य परमं मूलं वृक्षस्य मूलमिव अनु-कम्पां करुणाम् दयाम् कृपां च प्रचक्षते आख्यान्ति ॥२३०॥ ४. आस्तिक्यमाह—आप्ते इति—सर्वज्ञे भगवति जिने। श्रुते द्वादशाङ्गेषु। व्रते अहिंसादिषु। यस्य चित्तं मनः अस्तित्वपरिचितं भवति तत् आस्तिक्यम्। उक्तिः वचनं युक्तिः प्रमाणनयात्मिका ते धरतीति उक्तियुक्तिधरः तस्मिन्नरे उक्तम्। अथवा मोक्षसंयोगधरे मुक्ति-गामिनि नरे आस्तिक्यम् उक्तम् ॥२३१॥ ५. निर्दयस्य संसारदीर्घता—रागेति—रागद्वेषवति, नित्यं निर्व्रते सततम् अहिंसादिव्रतरहिते। निर्दयात्मनि निर्दय आत्मा यस्य तादृशे निष्कृपे नास्तिकनीतियुक्ते नरे संसारो दीर्घ-सारः स्यात् दीर्घभ्रमणरूपः भवेत्। नास्तिको निर्दयश्च नरः दीर्घकालं संसारे परिभ्रमेत् इति भावः ॥२३२॥

[पृष्ठ ११२-११५] ६. सम्यक्त्वस्य उत्पत्तिः प्रकाराश्च—अनन्तानुबन्धिचतुष्टयस्य, सम्यक्त्वप्रकृतेः सम्यङ्मिथ्यात्वस्य, मिथ्यात्वस्य च समूलात्क्षयात् जीवादिवस्तुनि यच्छ्रद्धानं भवति तत्क्षायिकं सम्यक्त्वम्। एतासां सप्तप्रकृतीनां शान्तेः उपशमात् औपशमिकम्। एतासु सप्तसु सम्यक्त्वस्य उदयेन अन्यासाम् उपशमनेन क्षयेण च जायमानं श्रद्धानं क्षायोपशमिकं ज्ञेयम्, एतत्त्रिविधं सम्यक्त्वं सर्वत्र गतिषु नारकतिर्यङ्नरदेवगतिषु संज्ञि-पञ्चेन्द्रियजन्तुषु बोध्यं ज्ञेयम् ॥ २३३ ॥ दशविधं सम्यक्त्वम्—आज्ञेति—अस्यायमर्थः ॥ २३४ ॥ १. आज्ञासम्यक्त्वम्—भगवता अर्हता सर्वज्ञेन रचितागमे जीवादिपदार्थवर्णने यथार्थम् अनुज्ञायाः आदेशस्य स्वीकरणात् जायमाना संज्ञा सम्यग्ज्ञानम् आज्ञासम्यक्त्वम्। २. मार्गसम्यक्त्वम्—रत्नत्रयं मोक्षमार्गः तस्य विचारात् सम्यग्दर्शनस्य विमर्शात् सर्ग उत्पत्तिर्यस्य तन्मार्गसम्यक्त्वम्। ३. उपदेशसम्यक्त्वम्—तीर्थंकर-चक्र-वर्ति-नारायण-प्रतिनारायण-बलभद्राः पुराणपुरुषास्त्रिषष्टिः, तेषां, चरितानां श्रवणाज्जायमानः अभिनिवेशः श्रद्धाविशेषः उपदेशसम्यक्त्वम्। ४. सूत्रसम्यक्त्वम्—यतिजनानां महाव्रतादिचारित्रनिरूपणभाजनप्रायं सूत्र-

श्रद्धानं सूत्रसम्यक्त्वम् । बीजसम्यक्त्वम्–सकलसमयाः सकलसंकेताः तेषां दला विभागाः समूहाः तेषां सूचनाया व्याजं निमित्तं यस्य तत् बीजसम्यक्त्वम् । संक्षेपसम्यक्त्वम्–आप्तश्रुतव्रतपदार्थानां संक्षेपेण आलापो वर्णनं तच्छ्रुत्वा आक्षेपः रुचिग्रहणं श्रद्धानम् । विस्तारसम्यक्त्वम्–द्वादशाङ्गानाम् आचारादीनाम् चतुर्दशपूर्वाणाम् उत्पादादीनाम्, प्रकीर्णकानां सामायिकादीनाम्, अङ्गबाह्यानां विस्तीर्णश्रुतानाम् अर्थस्य समर्थनं श्रुत्वा प्रस्तारः हृदि रुचेः विस्तारो जायते । अर्थसम्यक्त्वम्–प्रवचनविषये आगमविषये स्वप्रत्ययसमर्थः स्वप्रत्ययः अर्थानुभवः तद्वितरणसमर्थः जीवादिरर्थः तच्छ्रद्धानम् अर्थसम्यक्त्वम् । अवगाढसम्यक्त्वम्–द्वादशाङ्गागमः, चतुर्दशपूर्वागमः, चतुर्दशप्रकीर्णकागमः एते त्रय आगमत्रयं कथ्यन्ते । एतेषां निःशेषतया साकल्येन अन्यतमदेशेन वा अवगाहनं कृत्वा आलीढम् उत्पन्नं यच्छ्रद्धानं तदवगाढम् । परमावगाढसम्यक्त्वम्–अवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानिमहापुरुषाणां प्रत्ययेन उपदेशेन जातं सम्यक्त्वं परमावगाढम् इति सम्यग्दृष्टिर्दशविधा ज्ञेया । अधुना गृहस्थमुन्योर्भेदाः प्रतिपाद्यन्ते–**गृहस्थ इति**—सम्यक्त्वस्य आधारभूतो गृहस्थो वा यतिरपि वा । पूर्वः गृहस्थः एकादशविधः—मूलव्रती (दर्शनिकः), व्रतिकः, अर्चा (सामयिकी), पर्वकर्मा, (प्रोषधोपवासी), अकृषिक्रियाः (आरम्भत्यागी), दिवाब्रह्मा (दिवाब्रह्मचारी), नवविधब्रह्मा (ब्रह्मचारी), सचित्तत्यागी, परिग्रहपरित्यागी, भुक्तिमात्रानुमान्यता भुक्तिमात्रे चतुर्विधाहारे अनुमान्यता संमतिदानम् । अन्यत्र आरम्भादिषु अनुज्ञाया अदानम् (अनुमतित्यागी), उद्दिष्टाहारत्यागी । यतिश्च चतुर्विधः—मुनिः, ऋषिः, जिनयतिः, अनगारश्चेति येषां धर्मः चरमः मुनिधर्म इत्यर्थः ॥२३५॥ **मायेति**—माया वञ्चना, निकृतिः, निदानं विषयभोगाकाङ्क्षा, मिथ्यात्वम् अतत्त्वश्रद्धानम् एतानि त्रीणि शारीरमानसबाधाहेतुत्वात् कर्मोदयविकारः शल्यमित्युपचर्यन्ते । एतच्छल्यत्रयम् आर्जवम् अवञ्चकत्वम् अकाङ्क्षणाभावः निःस्पृहत्वम्, तत्त्वभावनं च जीवादितत्त्वेषु परमार्थरूपा श्रद्धा । एतैरेव कीलकैः शङ्कुभिः कृत्वा उपर्युक्तं शल्यत्रयम् उद्धरेत् हृदयादपसारयेत् ॥२३६॥

[पृष्ठ ११६-११७] **दृष्टिहीन इति**—यथा दृष्टिहीनः नेत्रान्धः पुमान् ईप्सितं स्वेष्टं स्थानं न एति न प्राप्नोति तथा दृष्टिहीनः पुमान् सम्यक्त्वरहितो नरः ईप्सितं स्वाभिलषितं कर्मक्षयादिकं न एति न प्राप्नोति ॥२३७॥ **सम्यक्त्वमिति**—अङ्गहीनं निःशङ्कादिगुणरहितं सम्यग्दर्शनम् अङ्गहीनं दण्डकोशस्वामिसुहृदादिसप्ताङ्गरहितं राज्यमिव प्राज्यभूतये विपुलवैभवप्राप्तये न भवति ततः सम्यग्दर्शनस्याङ्गानां निःशङ्कितादीनाम् अष्टानां संगत्याम् एकीभूतायाम् अङ्गी जीवः निःसंगं निरपेक्षम् अष्टाङ्गपूर्णसम्यक्त्वोपेतं चारित्रं वाञ्छतु भव्यः ईहताम् ॥२३८॥ **विद्येति**—विद्या सम्यग्ज्ञानम्, विभूतिः ऐश्वर्यम्, रूपाद्याः सौन्दर्यम्, सज्जातिः सत्कुलादिकं सम्यग्दर्शनहीने अङ्गिनि जीवे कुतः भवन्ति बीजव्यपाये बीजाभावे सस्यसंपत्तिः धान्यानां निष्पत्तिर्न हि भवति ॥२३९॥ यस्य नरस्य दर्शनं निर्दोषं तस्य चक्रिश्रीः त्रिखण्डाधिपतेः षट्खण्डाधिपतेश्च राज्यविभूतिः, संश्रयोत्कण्ठा तम् अवलम्बितुमभिलष्यति । नाकिश्रीः नाकिनां स्वर्गिणां श्रीर्लक्ष्मीः तं द्रष्टुमुत्सुकीभवति । तस्य मुक्तिश्रीः निर्वाणलक्ष्मीः सकलकर्मक्षयरूपा अनन्तज्ञानाद्यनन्तगुणरूपा च दूरे नैव ॥२४०॥ **मूढत्रयमिति**—दृग्दोषाः दृशः सम्यग्दृष्टेः दोषाः दूषणानि मलाः पञ्चविंशतिः तान् कथयति—मूढत्रयं लोकदेवपाषण्डिमूढतास्तिस्रः, मदाः गर्वा अष्टौ ज्ञान-पूजा-कुल-जाति-बल-ऋद्धि-तपो-वपूंषि अष्टौ आश्रित्य मानवहनम् अष्टौ मदाः । तथा अनायतनानि षट्-सम्यग्दर्शनस्य आश्रयभूतानि निवासतुल्यानि आयतनानि यानि न भवन्ति तानि अनायतनानि, तानि चैवम्–मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि त्रीणि, त्रयश्च तद्वन्तः पुरुषा इति षडनायतनानि । अथवा असर्वज्ञः, असर्वज्ञायतनम्, असर्वज्ञज्ञानम्, असर्वज्ञज्ञानसमवेतः पुरुषः, असर्वज्ञानुष्ठानम्, असर्वज्ञज्ञानानुष्ठानसमवेतपुरुषश्चेति । अष्टौ शङ्कादयश्च शङ्का काङ्क्षा विचिकित्सा मूढदृष्टिता अनुपगूहनम् अस्थितीकरणम् अवात्सल्यम् अप्रभावना चेति सम्यग्दर्शनस्य पञ्चविंशतिर्दोषाः ॥२४१॥ **निश्चयोचितेति**—सुदृष्टिः सम्यग्दृष्टिः तत्त्वकोविदः तत्त्वानां जीवाजीवादिसप्तपदार्थानां कोविदः ज्ञाता । निश्चयोचितचारित्रः निश्चयः आत्मनः शुद्धस्वरूपं तत्प्राप्तये उचितं योग्यं चारित्रम् आत्मनि स्थितिरूपं तद्यस्यास्ति स निश्चयोचितचारित्रः भवति । सम्यग्दृष्टिर्जनः सम्यग्ज्ञानं चारित्रं च लभते इत्यर्थः । स सम्यग्दृष्टिः अव्रतस्थोऽपि मुक्तिस्थो भवति । परं व्रतस्थोऽपि अदर्शनः मिथ्यादृष्टिः मुक्तिस्थः न

भवति। मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानानि मुक्तये न भवन्ति ॥२४२॥ **बहिःक्रियेति**—बाह्या क्रिया बाह्यज्ञानचारित्रादिकम्, बहिःकर्म केवलं रत्नत्रयसमृद्धेः सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानां समृद्धेः उन्नतेः केवलं कारणं निमित्तं शरीरेण क्रियमाणं गमनादिकं देवपूजनादिकं च भवेत् घटोत्पत्तौ मृदादेः कुलालादिवत्। परम् आत्मा स्वयं रत्नत्रयसमृद्धिं कृत्वा रत्नत्रयात्मको भवति। रत्नत्रयम् आत्मानं मुक्त्वा अन्यद्रव्ये न वर्तते। अतः स एव रत्नत्रितयपरिणतावुपादानम्। तत्त्रिकमय आत्मा मोक्षस्य कारणं भवति ॥२४३॥ रत्नत्रयस्वरूपमाह—**विशुद्धेति**—भूतार्थनयवादिनां निश्चयनयवादिनाम्। वस्तुनः अनर्थान्तरत्वेन कर्तृकर्मकरणादीनाम् अभेदेन प्रतिपादनं कुर्वाणो नयो भूतार्थनयः तस्य वादिनः भूतार्थनयवादिनः तेषाम्। विशुद्धवस्तुधीः दृष्टिः विशुद्धं ज्ञानादिभ्योऽभिन्नं वस्तु आत्मा इति धीः बुद्धिः सा एव दृष्टिः दर्शनम्। अभिन्नो ममात्मा ज्ञानादिभिः इति श्रद्धा दर्शनम्। साकारगोचरो बोधः। आकारः अर्थविकल्पः। अयं घटः अयं पटः इत्यादिवस्तुभेदः आकारः वस्तुनो वर्णसंस्थानादयोऽपि। आकारेण सहितः साकारः पदार्थः स गोचरो विषयो यस्य स गुणः बोध उच्यते। अप्रसंगः तयोः अप्रसंगः वृत्तम्। तयोः सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानयोः अप्रसंगः रागद्वेषमोहादिभिः अप्रसक्तत्वं रहितत्वं वृत्त चारित्रम् इति निश्चयनयेन रत्नत्रयलक्षणम् उक्तम् ॥२४४॥

[पृष्ठ ११८-१२२] **अक्षात् इति**—यत् यस्मात् आत्मनि मोक्षं प्राप्ते सति अक्षात् षडिन्द्रियात् ज्ञानं न भवति मोहात् जीवे मोहनीयकर्मणः रुचिर्न किं तु आत्मरुचेरेव रुचिर्भवति। देहाच्छरीरात् चारित्रं न किं तु आत्मन्येकलोलीभावश्चारित्रम्। अथवा अक्षात् इन्द्रियषट्कात् घटपटादेर्ज्ञानं नास्ति। मोहात् अदेवे देवताबुद्धिः, अगुरौ गुरुकल्पना, अतत्त्वे तत्त्वधीः मोहः दुरभिनिवेशः तस्मात् रुचिः यथार्थतत्त्वश्रद्धा नास्ति। यत् देहात् वृत्तं चारित्रं च नास्ति तस्मात् निश्चयनयेन शिवीभूते शुद्धस्वरूपधारिणि अस्मिन्नात्मनि तज्ज्ञानं रुचिः वृत्तं च विद्यते यतः तत् आत्मैव तत्त्रयं ज्ञेयः ॥२४५॥ **नात्मेति**—आत्मा कर्म न, ज्ञानावरणादिरूपं न, कर्म आत्मरूपं न, यत् यस्मात् तयोर्महदन्तरं स्वरूपवैलक्षण्यम्। तत् तस्मात् आत्मा आत्मैव, सत्ता, आत्मा केवलं व्योमेव आकाशमिव कर्मरहितः आत्मा निर्लेपं व्योमेव, कर्मरहितत्वात् शुद्धत्वात् आत्मा सत्तेव महासत्तेव ॥२४६॥ **क्लेशायेति**—आत्मनि जीवे स्वयं विशुद्धे सति तन्निर्मलीकरणाय क्रियमाणं तपश्चरणादिकं कर्म क्लेशाय कारणं स्यात्। किंचित् अम्बु जलं स्वतः स्वभावेन उष्णं न किं तु वह्निसंश्रयं अग्निसांनिध्येन तत् उष्णं भवति ॥२४७॥ कर्मण आत्मनश्च कर्तृत्वं स्वस्वविषय एवेति दर्शयति—**आत्मेति**—आत्मा स्वपर्याये ज्ञानदर्शनादिगुणानाम् अवस्थानिवहे कर्ता भवति तथा कर्म च स्वपर्यये कर्तृ ज्ञानावरणादिपर्याये, परं मिथः अन्योन्यम् अनयोः कर्तृत्वम् उपचारात्, अपरत्र कर्मणः आत्मनि, आत्मनश्च कर्मणि ज्ञेयम्। जातु उपचारं विमुच्य अन्योऽन्ययोः कर्तृत्वं नास्ति। आत्मनः पर्याये कर्म निमित्तकारणम्, कर्मणः पर्यायपरिणतौ आत्मा निमित्तं परम् उभे अपि आत्मकर्मणी स्वस्वपर्याये उपादानकारणं भवत इति ज्ञेयम् ॥२४८॥ **स्वत इति**—इदं षड्द्रव्यमयं जगत् सचराचरं विद्यते तत्र जीवपुद्गलौ चरौ शेषं द्रव्यचतुष्कम् अचरम् सर्वं जगत् स्वभावेषु सक्रियम्। क्रिया द्विविधा—परिस्पन्दात्मिका अपरिस्पन्दात्मिका च। उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानः पर्यायो द्रव्यस्य देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रिया सा क्रिया जीवपुद्गलयोर्वर्तते तयोरेकस्मात् स्थानादन्यत्र गमनावलोकनात्। अपरा क्रिया अपरिस्पन्दात्मिका वर्तते। द्रव्यस्य पर्यायो धर्मान्तरनिवृत्तिधर्मान्तरोपजननरूपः अपरिस्पन्दात्मकः परिणामाभिधानो यथा जीवस्य क्रोधादिः। पुद्गलस्य वर्णादिः। धर्माधर्माकाशानाम् अगुरुलघुगुणवृद्धिहानिकृतः। यथा सरिणि मत्स्ये वाः जलं गतेर्निमित्तं भवति मत्स्यः स्वयं गच्छति जलं तद्गतेः बलाधाननिमित्तं भवति। तथा सर्वं सचराचरं स्वतः स्वभावेषु सक्रियं भवति परम् अन्यद्द्रव्यं तत्क्रियायां निमित्तं भवति ॥२४९॥ जीवस्य हिंसकत्वं निगदति प्राणिनः स्वकर्मतः जीवन्तु जीवनं प्राणधारणं कुर्वन्तु म्रियन्तां वा मरणं वा प्राप्नुवन्तु। परं स्वं विशुद्धं निर्मलं मनः हिंसन् रागद्वेषवशीभूतं कुर्वन् जन्तुः हिंसकः पापभाग् भवेत्। यदा मनो रागद्वेषवशं जायते तदा मलिनं पापयुक्तं संपद्यते ॥२५०॥ कीदृश आत्मा हिंसकोऽपि न हिंसक इत्यनुयुक्ते उत्तरं ददाति—**शुद्धमार्गेति**—शुद्धमार्गे गुप्तिसमितिधर्मादिषु मतः उद्योगः प्रवृत्तिर्यस्य स शुद्धमार्गमतोद्योगः, शुद्धचेतोवचोवपुः शुद्धं चेतो मनः, वचो वाणी, वपुः शरीरं यस्य यो मनसा वचसा शरीरेण च आत्मस्वरूपे स्थिरो भवति। परपदार्थेषु त्रिविधेन मनोवचोवपुषा रागद्वेषवशो न भवतीत्यर्थः।

शुद्धान्तरात्मनि शुद्धे निजे अन्तरात्मनि स्वस्वरूपे संपन्नः प्रवृत्तिं कुर्वन् आत्मा हिंसकोऽपि न हिंसकः। अयत्नाचारस्य नरस्य निश्चिता हिंसा प्रयतस्य समितस्य हिंसामात्रेण बन्धो नास्ति हिंसाध्यवसायरहितत्वात्, निष्प्रमादप्रवृत्तिकत्वात् ॥२५१॥ मनःसंकल्पात् पापं वा पुण्यं वा जायते। पुण्यायेति—स्वस्मिन् स्वजीवे, अन्यत्र अन्यस्मिन् जीवे नीतं कृतं दुःखं पुण्याय भवेत्। तत्कथमिति चेदुच्यते—यदि स्वस्य हिताय व्रत-तप आदिकं क्रियमाणं दुःखरूपं सदपि दयादिसद्भावनारूपत्वात् पुण्यायैव भवेत्। अन्यत्र वा शिष्यादिषु प्रतिपाद्यमानं व्रततप आदिकं तैर्वा कार्यमाणं दुःखरूपं सदपि पुण्याय भवेत् तथा स्वजीवे अन्यत्र वा शिष्यादिजीवे नीतं कृतं सुखं पापाय भवेत्। यथा विषयेषु स्वस्य निरतत्वात् सुखं भवेत् तथापि तत्र कृता रतिस्तीव्ररागभावात् पापबन्धाय भवेत्। यद्यपि संप्रति कृता प्रवृत्तिः सुखाय जातेति प्रतिभाति तथापि आयत्याम् अध्यवसानानां मलिनत्वात् पापायैव सा प्रवृत्तिर्भवेत्। अतः चित्तस्य चेष्टितं प्रवृत्तिः अचिन्त्यम् अतर्कगोचरम् ॥२५२॥ सुखेति—सुखस्य विधानम् अकुर्वन्, दुःखस्यापि विधानम् अकुर्वन् नरः पापसमाश्रयो भवेत् पापेन लिप्येत। संक्लेशपरिणामत्वात् नरः अन्यं सुखिनं दुःखिनं वा कुर्वन् पापभाजनं भवेत्, पेटीमध्ये मञ्जूषायां विनिक्षिप्तं स्थापितं वासः वस्त्रं मलिनं न स्यात् किम्। बहिःस्थितं वस्त्रं रजसा मलिनं भवति परं मञ्जूषायां तन्मलिनं किं न स्यात् क्रोधादिकषायावेशात् सुखम् अददानो दुःखं वा पापभागेव भवति मानवः ॥२५३॥

[पृष्ठ १२३-१२४] अध्यवसानानां त्रित्वं प्रतिपादयति—बहिरिति—बाह्येन देहादिना हिंसापरोपकारादि-शुद्धाशुद्धकार्यकरणेऽक्षमोऽपि हृदि मनसि हृद्येव मनसि संस्थिते परं पापं तीव्रतमं पापम्, विशुद्धतमं पुण्यं परमं पदम् अनन्तगुणचतुष्टयात्मकं मोक्षपदं च भवेत् जीवस्य। मनसि तीव्रसंक्लेशपरिणामसंतप्ते जीवस्य तीव्रतमपापबन्धो भवति। परोपकारादिविमर्शैः सम्यग्दर्शनादिगुणप्रापकैः परं पुण्यं भवति। तथा नितरां रागद्वेषरहितेषु शुद्धोपयोगेषु सलीने हृदि सकलकर्मक्षयो भवति ततश्च परमं पदं मोक्षो भवति। जीवस्य अशुभध्यानेन पापं स्यात्, शुभेन पुण्यम् परमशुक्लेन परं पदं चित्तमेव स्यात् ॥२५४॥ प्रकुर्वाण इति—तास्ताः क्रियाः प्रकुर्वाणः अनशनादितपांसि, सामायिकादीनि षडावश्यककर्माणि कुर्वाणः नरः केवलं क्लेशभाजनः संसार-क्लेशानां पात्रं स्यात् उचितमेवैतत्तस्य यतो यश्चित्तप्रचारज्ञः न, यः धर्मध्याने जीवादितत्त्वचिन्तने मनः न प्रचारयति, कस्मादयमवलम्ब्य जीवादितत्त्वस्वरूपे मनसः प्रचारः कर्तव्यः, तत्र का युक्तिरिति यो न जानाति तस्य मोक्षपदलाभः कुतो भवेत् ॥२५५॥ सम्यग्ज्ञानस्य स्वरूपम्—यदिति—यत् यथावस्थं यस्य या या यथार्थाः अवस्थाः सन्ति तास्ता अनतिक्रम्य अञ्जसा अविसंवादित्वेन वस्तुसर्वस्वम् वस्तुनः सर्वस्वं सर्वधनं गुणपर्यायादिरूपं सर्वधर्मान् वा जानाति तत्सम्यग्ज्ञानम् उच्यते तत् नृणां नराणां तृतीयं लोचनं नयनं ज्ञेयम् ॥२५६॥ यष्टिवदिति—जनुषान्धस्य जन्मान्धस्य नुः यष्टिवत् यष्टिरिव दण्ड इव प्रवृत्तिविनिवृत्त्यङ्गं यथा यष्टिः तस्यान्धस्य प्रवृत्तौ गमने अङ्गं कारणं भवति, विनिवृत्त्यङ्गं च मार्गं निम्नोन्नतं ज्ञापयित्वा ततो निवृत्तौ अङ्गं कारणं जायते तथा तत्सम्यग्ज्ञानं सुकृतचेतसः पुण्यवन्मनसो नरस्य हिताहितविवेचनात् हितं सुखं तत्साधनं रत्नत्रयम्, अहितं दुःखं तत्साधनं मिथ्यात्वादिकं तयोर्विवेचनात् संशयादिदोषाभावप्रकारेण प्रतिपादनात् ॥२५७॥ मतिरिति—मतिः इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् अवग्रहादिज्ञानम् सा दृष्टेऽर्थे जागर्ति इन्द्रियानिन्द्रियपरिच्छेदनयोग्ये वस्तुनि जागर्ति प्रकटीभवति। आगमः दृष्टे अदृष्टे च वस्तुनि सूक्ष्मान्तरितदूरार्थेऽदृष्टे वस्तुन्यागमः जागर्ति। यदि मनः जैनदर्शने निर्मत्सरं द्वेषरहितं स्यात्तस्य दुर्लभं तत्त्वं न। स्याद्वादाद्वस्तुयाथात्म्यं ज्ञायते सम्यग्दृष्टिनेति भावः ॥२५८॥ यदि आगमेन मत्या च अर्थे जीवादिवस्तुसंदोहे दर्शितेऽपि प्रतिपादितेऽपि जन्तोः मतिः संतमसा अज्ञानबहुला स्यात् तर्हि तस्य नरस्य ज्ञानं वृथा स्यात्। यथा रविरिणोः घूकस्य आलोकः दिनकरप्रकाशः व्यर्थः स्यात् ॥२५९॥ ज्ञातुरिति—यत् अबाधेऽपि वस्तुनि बाधारहितेऽपि पदार्थे कथंचिन्नित्यानित्यात्मके कथंचिद्भेदाभेदात्मके वस्तुन्यपि मतिः बुद्धिः विपर्ययं सर्वथा नित्यात्मकं सर्वथा अनित्यात्मकं सर्वथैकान्तस्वरूपं वस्तु इति विपरीतावस्थां धत्ते तत्र ज्ञातुः आत्मनः प्रमातुरेव स दोषः यतः स मिथ्यात्वतमसावृतः यथा इन्दौ चन्द्रे मन्दचक्षुषः तिमिरोपहतनयनस्य मतिः बुद्धिः विपर्ययं धत्ते नभसि सा चन्द्रद्वयं पश्यति वा चन्द्रं नीलं कृष्णादिकं वा पश्यति ॥२६०॥

[पृ० १२५-१२८] ज्ञानभेदान् कथयति—**ज्ञानमेकमिति**—ज्ञायते अनेन वस्तुतत्त्वमिति ज्ञानम् इति लक्षणात् ज्ञानम् एकम्। पुनः तद्द्वेधा प्रत्यक्षपरोक्षभेदात्। पुनः पञ्चधा अपि मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानमिति तद्भवेत्। केवलज्ञानात् अन्यत्र केवलज्ञानं विना तत्प्रत्येकं मतिमारभ्य मनःपर्ययान्तम् अनेकधा भवति। अनेकभेदभिन्नं भवति। केवलज्ञानं तु सर्वद्रव्यपर्यायविषयत्वादेकमेव ॥२६१॥ चारित्रलक्षणम्—**अधर्मेति**—अधर्मकर्माणि हिंसा, अनृतम्, स्तेयम्, मैथुनसेवा, ममत्वम् एतेभ्यः पञ्चपापेभ्यः अधर्मकर्मभ्यः निर्मुक्तिः रहितत्वं चारित्रलक्षणम्, तथा धर्मकर्मविनिर्मितिः धर्मकर्मणां संसारदुःखतः उद्धृत्य उत्तमसुखे धारयतां कर्मणां निर्मितिः आचरणम् अहिंसापालनम्, सत्यभाषणम्, चुरात्यागः, ब्रह्मचर्यम्, ममत्वत्याग, एतदाचरणं चारित्रम् तच्च सागारानगारयतिमंश्रयं गृहस्थैर्मुनिभिश्च चार्यमाणम् ॥२६२॥ **देशत इति**—यस्य नरस्य स्वर्गापवर्गयोः स्वर्गमोक्षयोः अन्यतरयोग्यता नास्ति स्वर्गगमनपात्रता मुक्तिगमनपात्रता वा नास्ति स नरः देशतः व्रतम् अणुव्रतस्वरूपं सर्वतो वा व्रतं महाव्रतस्वरूपं न लभते ॥२६३॥ **देशत इति**—चारुचारित्रविचारोचितचेतसां चारु सुन्दरं निर्दोषं तच्च तच्चारित्रं तस्य विचारे विमर्शे उचितं योग्यं मनो येषां तेषां निर्दोषचारित्रपालनेन स्वहितं कर्तुमिच्छतां जनानां गृहस्थानां मुनीनां च। प्रथमं चारित्रं देशतः स्यात् अणुव्रतरूपं तद्गृहस्थानां भवति। द्वितीयकं महाव्रतरूपं चारित्रं स्यात्तच्च मुनीनां स्यात्। हिंसादिभ्यो देशतो विरतिरूपम् अणुव्रतम्। तेभ्यश्च सर्वतो विरतिरूपं महाव्रतं भवति। गृहस्थानां देशचारित्रम्, मुनीनां च सर्वचारित्रमिति ॥२६४॥ **तुण्डेति**—सम्यक्त्वविधुरे नरे सम्यग्दृष्टिरहिते मनुष्ये शास्त्रं तुण्डकण्डूहरं मुखखर्जुविनाशकम् एव भवति। ततस्तस्य स्वात्मानुभवो न भवतीति भावः। तु ज्ञानहीने चारित्रं दुर्भगाभरणोपमं दुर्दुष्टं भगं भाग्यं यस्याः सा तस्याः आभरणधारणोपमम्। यस्या उपरि पतिस्नेहो नास्ति तस्या आभरणधारण यथा विफलं भवति तथा ज्ञानहीनस्य चारित्रधारणं विफलं भवति ॥२६५॥ सम्यक्त्वादीनां प्रत्येकं फलमभिलपति—**सम्यक्त्वात् सुगतिः** स्वर्गगतिरुक्ता। ज्ञानात् इहलोके कीर्तिः उदाहृता कथिता। वृत्तात्पूजाम् अवाप्नोति चारित्रधारणात् पूजां लोकादरं लभते। त्रयाच्च एकलोलीभावं प्राप्ताद्रत्नत्रयाच्छिवं मोक्षं लभते जीवः॥२६६॥ सम्यक्त्वादीनां लक्षणानि—**रुचिरिति**—तत्त्वेषु जीवादिषु रुचिः प्रीतिः सम्यक्त्वम्। तत्त्वनिरूपण स्याद्वादेन जीवादितत्त्वकथनं ज्ञानम्। सर्वक्रियोज्झितं सकलकायवाङ्मनोयोगरहिताम् आत्मनि स्थितिम् उदासीनरूपां परम् उत्तमं वृत्तं प्राहुः ब्रुवन्ति ॥२६७॥ आत्मपारदसिद्धेरुपायः—**वृत्तमिति**—वृत्तं चारित्रम् अग्निः अग्नितुल्यम्, धीः सम्यग्ज्ञानम् उपायः साध्यसाधने हेतुः, च सम्यक्त्वम्, रसौषधिः पारदसिद्धिकरणे विशिष्टवनस्पतिरूपम् पारदौषधम्, तल्लाभात् तेषां त्रयाणां प्राप्तेः आत्मा एव पारदः सूतः स साधु समीचीनरूपेण सिद्धः प्राप्यः लभ्यः भवेत् ॥२६८॥ सम्यक्त्वादीनाम् आश्रयादीन् वर्णयति—**सम्यक्त्वस्येति**—चित्तं मनः सम्यक्त्वस्य आश्रयः आधारः। मतिसंपदः ज्ञानसंपत्तेः आश्रयः अभ्यासस्तस्माद् ज्ञानं वर्धते इति। चारित्रस्य आधारः शरीरं देहः स्यात्। दानादिकर्मणः दानम् आदौ यस्य कर्मणः देवपूजादेः तस्य वित्तं धनम् आधारः स्यात् ॥२६९॥

[1] इत्युपासकाध्ययने रत्नत्रयस्वरूपनिरूपणो नाम एकविंशतितमः कल्पः ॥२१॥

२२. मद्यप्रवृत्तिदोषदर्शनो नाम द्वाविंशः कल्पः

[पृष्ठ १२८-१२९] **पुनरिति**—यथा गुणमणिकटक, गुणा एव मणयो रत्नानि तेषां कङ्कणभूत हे मारिदत्त नृप। यथा माणिक्यस्य पद्मरागमणेः यत् वेकटकर्म अग्निशोधनलेखनादिकर्म तत्तस्य उपबृंहकं गुणवर्धकं भवति। यथा प्रासादस्य महाहर्म्यस्य सुधाविधानं सुधया चूर्णेन विविधरङ्गाणां लेपनेन क्रियमाणं कर्म-

---

१. अत्र यशस्तिलकचम्पूकाव्यस्य षष्ठ आश्वासः समाप्यते, यथा—इति सकलतार्किकलोकचूडामणेः श्रीमन्नेमिदेवभगवतः शिष्येण सद्योनवद्यपद्यगद्यविद्याधरचक्रवर्तिशिखण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्न्यपवर्गमहोदयो नाम षष्ठ आश्वासः ॥६॥

प्रासादस्य उपबृंहकं शोभासंवर्धकं भवति । यथा पुरुषकारानुष्ठानं पौरुषशक्तिकर्तव्यम् उद्यमविधानं दैवसंपदः पूर्वोपार्जितपुण्यस्य उपबृंहकं पोषणकरं भवति । यथा नीतिमार्गस्य सदाचारस्य पराक्रमावलम्बनम् उपबृंहकं समृद्धिकरं भवति । सेव्यत्वस्य आराध्यस्य पूज्यस्य विशेषवेदित्वं विशेषेण विवेकविमर्शादिसहितं वेदित्वं विद्वत्त्वम् उपबृंहकम् उन्नतिकरं वर्तते । तथा हि यस्मात् व्रतं खलु सम्यक्त्वरत्नस्य उपबृंहकं गुणोत्कर्षविधायकं भवति । तच्च व्रतं देशयतीनां द्विविधं मूलोत्तरगुणाश्रयात् मूलगुणावलम्बनात् उत्तरगुणावलम्बनाच्च । तत्र—**मद्येति**—सहोदुम्बरपञ्चकाः उदुम्बराणां पञ्चकम् उदुम्बरपञ्चकम् उदुम्बरपञ्चकेन सह वर्तमानाः सहोदुम्बरपञ्चकाः पिप्पलफलानि, उदुम्बरफलानि, प्लक्षफलानि, वटफलानि, फल्गुफलानि 'अञ्जीर' इत्याख्यानि इति पञ्चफलैः सह मद्यमांसमधुत्यागाः एते अष्टौ मूलगुणाः गृहस्थानाम् उक्ताः । क्व । श्रुते जिनागमे । मूलगुणाः उत्तरगुणप्ररोहणनिमित्तत्वात् संयमार्थिभिः प्रागनुष्ठेयत्वात् मूलगुणाः ते चाष्टौ श्लोकेऽस्मिन्प्रदर्शिताः ॥२७०॥ **सर्वदोषेति**—मद्य तु सर्वदोषोदयः सर्वेषां हिंसासत्यस्तेयमैथुनादिदोषाणामपराधानाम् उदय उत्पत्तिर्भवति । कथंभूतान्मद्यात् महामोहकृतः महामोहं करोतीति महामोहकृत् तस्मान्महामोहकृतः । अहिते हितबुद्धिर्हिते चाहितभावना मोहात् जायते । स च मोहो मद्यादुद्भवति अतः सर्वेषां पातकानाम् अग्रणीत्वेन स्थितं मद्यम ॥२७१॥ मद्यात्संसारपरिभ्रमणम्—हिताहितयोर्यदा मोहो अज्ञानं देहिषु प्राणिषु जायते तदा ते देहिनो जीवाः संसार एव कान्तारं वनं तत्र परिभ्रमणम् अटनं तस्य कारणं निदानं किं पातकं न कुर्युः । मद्यात्सर्वपापानि जायन्ते इति भावः ॥२७२॥ मद्येन यादवाः नष्टाः, नष्टा द्यूतेन पाण्डवाः, इति अस्मिन् लोके सर्वत्र सर्वदेशेषु कथानकं प्रसिद्धमस्ति ॥२७३॥ **समुत्पद्येति**—इह मद्ये देहिनः जीवाः अनेकशः बहुकृत्वः । समुत्पद्य जनित्वा विपद्य मृत्वा च कालेन देहिनां मनोमोहाय मद्यीभवन्ति । मृतोत्पन्नजीवानां कलेवराणि मद्यरसतया परिणमन्ते ॥२७४॥

[पृष्ठ १३०-१३१] **मद्यैकेति**—मद्यैकबिन्दुसंपन्नाः मद्यस्य एकस्मिन् बिन्दौ संपन्ना उत्पन्नाः प्राणिनो जीवा बिन्दोर्निर्गत्य बहिः प्रचरन्ति भ्रमन्ति चेत् समस्तमपि विष्टपं जगत् पूरयेयुः व्याप्नुयुः न संदेहं तत्र संशयो नास्ति ॥२७५॥ मद्यस्य त्याज्यताकारणानि—**मनोमोहस्येति**—मद्यं सद्भिः सज्जनैः सदा त्याज्यं मनोमोहस्य हेतुत्वात् । दुर्गतेर्दुर्भवान्तरे निदानत्वाच्च कारणत्वाच्च । तन्मद्यम् इहलोके, अमुत्र परलोके च दोषकृत् दोषोत्पादकमस्ति ॥२७६॥ श्रूयतामत्र मद्यप्रवृत्तिदोषस्य उपाख्यानम्—**तदुर्वीश्वरेति**—स चासौ उर्वीश्वरश्च पृथ्वीपतिश्च तदुर्वीश्वरः, तस्य अखर्वः महान् स चासौ गर्वश्च स एव और्वानलो वडवानलः तस्मिन् आहुतीभूताः देवोद्देशेनाग्नौ यथा मन्त्रोच्चारणं कृत्वा हविर्निक्षिप्यते तथा आहुतिवत् निक्षिप्ता ये अहिताः शत्रवस्तेषामन्वया वंशास्त एव नक्रा यादांसि यत्र तस्मात्, एकचक्रात्पुरात् एकपान्नाम परिव्राजको परित्यज्य विषयान् व्रजतीति परिव्राजकः कश्चित् साधुः, जाह्नव्या गङ्गाया जलेषु मज्जनाय स्नानाय व्रजन् गच्छन् मातङ्गैः उपबध्य किल एवमुक्तः । क्व एवमुक्तः । विन्ध्याटवीविषये विन्ध्यारण्यदेशे कथंभूते **निजच्छायेति**—निजा चासौ छाया प्रतिबिम्बं सा एव अपरद्विपः अन्यः करी तस्य आशङ्का संशयस्तस्मात् अतिक्रुद्धा ये मदान्धगन्धसिन्धुराः मदेन दानजलेन अन्धाः विवेकरहिता ये गन्धसिन्धुराः उन्मत्तद्विपाः येषां गन्धं समाघ्राय अन्ये द्विपाः समदाः भवन्ति, तेषां उद्धुरा दीर्घा ये विषाणा दन्तास्तैर्विदार्यमाणं मेदिन्याः पृथिव्या हृदयं मध्यप्रदेशो यत्र तस्मिन्, विन्ध्याटवीविषये । महतो मातङ्गसमूहस्य मध्ये निपतितः चाण्डालवृन्दस्य मध्ये आपतितः पुनः कथंभूतस्य **प्ररूढेति**—प्ररूढं च तत् प्रादुर्भूतं च तत् प्रौढम् उत्कटं यौवनं तारुण्यं तदेव आसवो मदिरा तस्य आस्वादो रसानुभवः पुनरुक्तं च कादम्बरीपानं मदिराप्राशनं तस्मात् प्रसूतः प्रादुर्भूतः स चासौ असरालः उत्कटो यो विलासः तेन ग्रहिलाभिः उन्मत्ताभिः महिलाभिः नारीभिः सह पलोपदंशवश्यकश्यं पलं मांसं तस्य उपदंशभूतं रुच्युत्पादकं व्यंजनभूतं यदावश्यकं कश्यं मद्यं तत् आसेवमानस्य भजमानस्य महतो मातङ्गसमूहस्य मध्ये निपतितःसन् सीधुसंबन्धविधुरसंगैः सीधुर्मदिरा तस्याः संबन्धेन पानेन विधुरो विह्वलः संगं आसक्तिर्येषां तथाभूतैः मातङ्गैश्चाण्डालैः उपबध्य निरुध्य असौ एकपान्नामा परिव्राजकः किल एवमुक्तः—त्वया मद्यमांसमहिलासु मध्ये अन्यतमसमागमः कर्तव्यः अन्यथा जीवन्न पश्यसि मन्दाकिनीम् । मन्दकिनीं गङ्गानदीम् । सोऽपि परिव्राजको एवं भाषितः मनसि एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण

ब्यमृशत् । तिलसर्षपप्रमितस्यापि हि पिशितस्य तिलप्रमाणस्य सर्षपप्रमाणस्य तन्तुभः प्रमाणस्यापि मांसस्य प्राशने भक्षणे स्मृतिषु महाव्रतविपत्तयः श्रूयन्ते । स्मृतिग्रन्थेषु महाव्रतस्य अहिंसाव्रतस्य विपत्तयः दोषाः प्रतिपाद्यन्ते । मातङ्गीसंगे च मृतिनिकेतनं मरणचिह्नं प्रायश्चेतनम् । देहान्ताख्यं प्रायश्चित्तम् । य एवंविधां सुरां पिबति न तेन सुरा पीता भवति इति निखिलमखशिखामणौ सकलयज्ञेषु चूडामणिरिव श्रेष्ठे सौत्रामणिनामयज्ञे मदिरास्वादाभिसंधिरनुमतविधिरस्ति । मद्यप्राशनस्य अभिलाषा चेत् तत्पानं विधेयम् इति आगमस्य वेदस्य अनुमतिरस्ति । यैश्च पिष्टोदकगुडधातकीप्रायैः गोधूमादिकं चूर्णं पिष्टम्, उदकं जलम्, गुडः इक्षुपाकः धातकीसीधुपुष्पीप्रभृतिभिः वस्तुकायैः वस्तूनां कायैः अवयवैः सुरा मद्यं संधीयते निर्मीयते । तान्यपि वस्तूनि विशुद्धान्येव शुचिन्येव इति चिरं दीर्घकालं विचार्य अनार्यविद्याविधानः अनार्या अक्षरम्लेच्छास्तेषां विद्या वेदः तस्य विधानम् अनुसरणं यस्य सः विहितमदिराभक्षणः तन्माहात्म्यात् मदिरामदप्रभावात् । आविर्भूतमनोमहामोहः प्रकटीभूतचित्तमहामोहभावः कौपीनं पुरुषलिङ्गाच्छादनवसनम् अपहाय त्यक्त्वा हारहूरव्यवहारातिलङ्घितमातङ्गिकागीतानुगतकरतालिकाविडम्बनावसरो हारहूराव्यवहारेति द्राक्षासंजातमद्यविशेषस्य व्यवहारेण पानेन अतिलङ्घिता मदमत्ताः या मातङ्गिकाः चाण्डाल्यस्तासां गीतानुगता गानमनुगता याः करतालिकाः हस्ततालिकाः तासां विडम्बनस्य अनुकरणस्य अवसरो यस्य स एकपाद्द्विजः पिशाचाविष्टदेह इव आनीतानेकविकारः प्रकटीकृतकाममदादिभावः । पुनः बुभुक्षेति—बुभुक्षा क्षुत् सा एव आशुशुक्षणिः अग्निः तेन क्षीणं कुक्षिकुहरमेव कुहरं बिलं यस्य सः तरसमपि मांसमपि भक्षितवान् खादितवान् । व्यक्तीभवदनल्पोत्कटकामविकारः मातङ्गीं कामितवान् बुभुजे । भवति चात्र श्लोकः हेतुशुद्धेरिति—हेतुशुद्धेः यस्य कारणानि शुद्धानि तद्वस्तु भक्षणार्हम् इति श्रुतेर्वेदस्य वाक्यात् पीतमद्यः कृतमद्यपानः एकपात् ब्राह्मणः मूढमानसो भूत्वा मांसमातङ्गिकासंभोगम् अकरोत् ॥२७७॥

इत्युपासकाध्ययने मद्यप्रवृत्तिदोषदर्शनो नाम द्वाविंशः कल्पः ॥२२॥

२३. मद्यनिवृत्तिगुणनिदानो नाम त्रयोविंशतितमः कल्पः

[पृष्ठ १३१-१३३] श्रूयतां मद्यनिवृत्तिगुणस्योपाख्यानम्—अशेषेति—अशेषाश्च ताः स्याद्वादव्याकरणादिविद्याः तेषां वैशारद्यं नैपुण्यं तस्य मदेन मत्ताः सगर्वा ये मनीषिणः विद्वांसः त एव मत्तालयः क्षीबभ्रमराः तेषां कुलं वृन्दं तस्य केल्यै क्रीडायै कमलनाभिः कर्णिकेव तस्यां मध्यकोशसदृशायां वलभ्यां पुरि । खात्रचारित्रशीलः करवालः, खातं खननं तस्य चरित्रं कार्यं खननकार्यं तत् शीलं यस्य धनार्थं जनधनस्थानखननस्वभावः चौरकर्म कुर्वाणः करवालो नाम चौरः । कपाटोद्घाटनपटुः बटुः पिहिताररोद्घाटननिपुणः बटुनामस्तेनः महानिद्रासपादनकुशलः धूर्तिलः दीर्घस्वापोत्पादनचतुरो धूर्तिलाभिधश्चौरः । परगोपायितद्रविणदेशविशारदः शारदः, धनिकैर्गोपायितं भूमिभित्त्यादिषु निह्नुतं यद्द्रविणं धनं तस्य देशः प्रदेशस्तस्य ज्ञाने विशारदः चतुरस्रः विशारदो नाम दस्युः । खरपटागमविलासः कृकिलासः 'सधनः हन्तव्यः । गर्भिणी हन्तव्या' इति प्रतिपादके खरपटागमे विलासश्चातुर्यं यस्य स कृकिलासो नाम मोषकः । एते पञ्च मलिम्लुचाः पाटच्चराः स्तेनाः प्रतिपन्नपरस्परप्रीतिप्रपञ्चाः स्वीकृतान्योन्यस्नेहविस्ताराः । स्वव्यवसायसाहसाभ्यां निजोद्योगबलात्काराभ्याम् ईश्वरशरीरार्धवासिनी महादेवदेहार्धवसनशीलां भवानीमपि पार्वतीमपि, मुकुन्दहृदयाश्रयश्रियं श्रियमपि मुकुन्दः कृष्णस्तस्य हृदयं मनः वक्षःस्थलम् स एवाश्रय आधारः ममेति बुद्धियुक्ता श्रियं लक्ष्मीम् अपि, कात्यायनीलोचनासंजनं कात्यायनी पार्वती तस्या लोचनयोर्नेत्रयोः संजनं लेपनं यस्य तदञ्जनमपि कज्जलमपि हर्तुं समर्थाः । पश्यतोहराणामपि पश्यतो जनाननादृत्य धनं हरन्तीति पश्यतोहराश्चौराः तेषामपि पश्यतोहराश्चौराः तान् चौरानपि चुराकौशल्येन वञ्चयन्तः । कृतान्तदूतानामपि यमदूतानामपि यमदूताः । कदाचित् एकस्यां निशि रात्रौ चेलक्नोपं वर्षति देवे वस्त्रार्द्रता यथा स्यात्तथा वृष्टिं कुर्वति पर्जन्ये । कज्जलपटलकालकायप्रतिष्ठासु सकलासु काष्ठासु कज्जलानां पटलः समूहः तद्वत्कालस्य यमस्य यः कायः शरीरं तद्वत् प्रतिष्ठा स्थितिर्यासां तासु, सकलासु

काष्ठासु दिशासु विहितपुरसारापहाराः विहितं कृतं पुरसारस्य पुरजनधनस्यापहारो हरणं यैस्ते चौराः पुरबाहिरिकोपवने पुरस्य नगरस्य बाहिरिके उपवने उद्याने धनं विभजन्तः धनविभागं कुर्वन्तः, तवेदं ममेदम् इति विवदमानाः कलहं कुर्वन्तः, कन्दलं युद्धम् अपहाय त्यक्त्वा समानायितमैरेयाः आनायितमद्याः पानगोष्ठीं पानाय गोष्ठी तां पानगोष्ठीं संभूय मद्यपानम् अनुतिष्ठन्तः कुर्वन्तः, पूर्वाहितकलहकोपोन्मेष-कलुषधिषणाः पूर्वाहितः मद्यपानात्पूर्वम् आहितः कृतश्चासौ कलहः विवादः तस्य कोपस्य उन्मेषः उदयः तेन कलुषा मलिना धिषणा बुद्धिः येषां ते पञ्चचौराः यष्ट्यायष्टि, दण्डादण्डि, मुष्टामुष्टि, मुष्टिभिर्मुष्टिभिश्च युद्धं विधाय सर्वेऽपि मम्रुः पञ्चत्वं जग्मुः अन्यत्र विना धूर्तिलात्। धूर्तिलो जीवितः, चत्वारश्चौराः मृता इत्यर्थः। स किल धूर्तिलः यथादर्शनसंभवं यथा येन प्रकारेण दर्शनस्य मुन्यवलोकनस्य संभव उत्पत्तिः स्यात्तथा महामुनिविलोकनात् तस्मिन्नहनि दिने एकं व्रतं गृह्णाति, तत्र च दिने तद्दर्शनात् मुनिदर्शनात् आसवव्रतं मदिरात्यागव्रतम् अग्रहीत् गृहीतवान्। तदनु धूर्तिलः समानशीलेषु सदृशस्वभावेषु कश्यवश्यं मदिरादीनां विनाशश्यामात्मसमक्षम् उपयुज्य मरणावस्थां दृष्ट्वा, असुखबीजात् दुःखकारणात् आजवंजवात् संसाराद् विरज्य विरक्तो भूत्वा, मनोजकुजजटाजालनिवेशमिव केशपाशम् उत्पाट्य मनोजो मदनः स एव कुजो वृक्षः तस्य जटानां प्ररोहाणां जालनिवेशमिव समूहरचनेव केशपाशम् उत्खाय चिराय दीर्घकालम् अपरत्र परलोके अहितजैत्राय कर्मारिजयाय समीहांचक्रे प्रयत्नम् अकरोत्। भवति चात्र श्लोकः—धूर्तिलः एकस्मिन्नेव दिवसे मद्यत्यागात् अनापदं मृत्युरूपसंकटाभावम् आपत्। एतद्दोषात् मदिराप्राशनदोषात्सहायेषु मित्रेषु मृतेषु सत्सु ॥२७८॥

इत्युपासकाध्ययने मद्यनिवृत्तिगुणनिदानो नाम त्रयोविंशतितमः कल्पः ॥२३॥

२४. मांसाभिलाषमात्रफलप्रलपनो नाम चतुर्विंशतितमः कल्पः

[पृष्ठ १३३-१३४] सन्तो मांसभक्षणं त्यजन्ति—**स्वभावेति**—प्रकृत्यैव मांसम् अशुचि अपवित्रं दुर्गन्धं च। अन्यापायदुरास्पदम् अन्येषां पशुपक्षिणाम् अपायात् घातात् दुरास्पदं दुःखस्थानम्। अथवा दुरास्पदे सूनाकार-गृहे लभ्यम्। तथा विपाके अवसाने दुर्गतिप्रदं तिर्यङ्नरकगतिदायकम्। सन्तः सज्जनाः कथम् अदन्ति अपि तु नैव ते भक्षयन्ति ॥२७९॥ **कर्मेति**—प्राणी अकृत्यम् अपि कर्म, कर्तुम् अयोग्यम् अकृत्यं कर्म कार्यं करोतु यदि आत्मनः हन्यमानविधिर्न स्यात्। चेत् स्वस्य केनापि हन्यमानविधिः मारणकार्यं न क्रियेत। यथा पशुर्हतस्तथा चेत् स पशुस्तं हिंसकं न हन्यात्। अथवा अन्यथा अन्येन प्रकारेण जीवमारणं विना जीवनम् उदरपोषणं न स्यात्। अन्नफलाद्यभावे मांसभक्षणं करोतु परम् अन्नफलाभावः कदापि न भवति अतः मांसभक्षणं न करोतु जनः ॥२८०॥ **धर्मादिति**—धर्मात् संसारदुःखनिवारकात् शर्मभुजां सुखं भुञ्जानानां धर्मे किं नु विद्वेषकारणं धर्मे द्वेषो नोचित एव। **प्रार्थितेति**—अभिलषितपदार्थदायिनम् अमरपादपं कल्पवृक्षं कः द्वेष्टु। को द्वेषं कुर्यात् ॥२८१॥ **अल्पात्क्लेशात् इति**—अल्पक्लेशात् स्वल्पदुःखात्। सुधीः विबुधः। स्वस्य आत्मनः। सुष्ठु सुखं न्याय्यं शर्म चेत् वाञ्छति अभिलष्यति। आत्मनः प्रतिकूलानि स्वस्य विरुद्धानि यानि कर्माणि यथा स्वस्य दुःखप्रदानि तानि परेषां न समाचरेत् ॥२८२॥ यः जनः परानुपघातेन अन्येषां घातम् अकृत्वा सुख-सेवापरायणः सुखभोगतत्परो भवेत्। स सुखं भुञ्जानोऽपि जन्मान्तरसुखाश्रयः स्यात्। अन्यजन्मलभ्यशर्मा-धारो भवेत् ॥२८३॥ यः पुमान् नरः तदात्वसुखासंगात् तदाभवं तदात्वं तच्च सुखं तस्य आसंगात् तात्कालिकसुखेष्वासक्तेः धर्मकर्मणि देवपूजादिके कार्ये न मुह्येत् संशयं न कुर्यात् स पुमान् ननु वितर्के अस्मिन् लोके उदर्के उत्तरभवे दुःखवर्जितः भवति ॥२८४॥ **स इति**—यः धर्मे अर्थे कामे च अन्यसमाश्रयः त्रिषु एकस्यापि आश्रयं न करोति सः प्राणी परं भूभारः, स जीवन्नपि मृतश्च सः ॥२८५॥

[पृष्ठ १३५] **स इति**—यः धर्मात्पुण्यात्फलं स्त्रीधनादिभवं सुखम् अश्नन्नपि अनुभवन्नपि धर्मे मन्दधीः मन्दादरो भवति स मूर्खः। स जडः। स अज्ञः, स पशोरपि पशुर्भवति ॥२८६॥ **स विद्वानिति**—यः स्वतः अन्यस्मादपि वा अधर्माय पापाय पापं कर्तुं न समीहते न प्रयतते। स विद्वान्, स महाप्राज्ञः, स महाबुद्धिमान्,

स धीमान्, स च पण्डितः ।।२८७।। तस्मात्स्वस्येति—तस्मात् स्वस्यात्मनः हितम् अभिलषन्तः, च मुहुः पुनः पुनः अहितम् असुखं भुञ्जन्तः । अन्यमांसैः पशुपक्ष्यादिमांसैः स्वमांसस्य वृद्धिविधायिनः कथं स्युः ।।२८८।। यद्दितिति—इह यो जनः । परत्र अन्यप्राणिनि । सुखं वा दुःखम् एव वा करोति । वृद्धये दत्तं धनवत् तत् सुखं वा दुःखं वा स्वस्य अधिकम् एव जायते । उत्तमर्णो यथा स्वी धनम् अधमर्णाय वृद्धये ददाति ततश्च तद्धनं पूर्वतोऽप्यधिकं वर्धते तथा परस्मिन् जने यः सुखं वा दुःखं वा करोति तत् परस्मिन् जन्मनि पूर्वजन्मतोऽपि अधिकं तेन लभ्यते ।।२८९।। मद्यमांसमधुप्रायमिति—मद्यपानं मांसभक्षणम्, मध्वशनं च एतत्कर्म चेत् धर्माय पुण्याय मतम् । अपरः अधर्मः कः । अपरं पापं किं भवेत् । किं वा दुर्गतिदायकं वा अपरं किं कर्म स्यात् ।।२९०।। स धर्म इति—यत्र अधर्मः पापं मिथ्यात्वादिकं हिंसादिकं वा नास्ति स धर्मः यत्र असुखं नरकादिदुःखं नास्ति तत् सुखम् । यत्र अज्ञानं नास्ति तज्ज्ञानम् । यत्र पुनः आगतिः संसारे आगमनं नास्ति सा गतिः ।।२९१।। स्वकीयमिति—यथा स्वकीयं जीवितं सर्वस्य प्राणिनः प्रियम् इष्टं भवति तद्वत् एतत् परस्यापि जीवितं प्रियं भवति । ततो हिंसां परित्यजेत् ।।२९२।।

[पृष्ठ १३६] मांसादिषु इति—मांसम् अदन्तीति मांसादिनः मांसभक्षकाः तेषु दया नास्ति । मद्यपायिषु मद्यं पिबन्तीति मद्यपायिनः सुरापानशीलास्तेषु सत्यं न वर्तते । मधूदुम्बरसेवेषु मधुनः क्षौद्रस्य उदुम्बराणां च पञ्चफलयाः भक्षणं कुर्वाणेषु मर्त्येषु अनृशंस्यम् अक्रूरता दयालुता न वर्तते ।।२९३।। मधुसेवनं सन्तो न कुर्वन्ति—मक्षिकेति—मक्षिकाणां क्षुद्राणां गर्भात् संभूतानि यानि बालाण्डानि तेषां यदा मर्दनं क्रियते तदा मधुन उत्पत्तिर्भवति । तच्च कललाकृति, मधु रजोवीर्यमिश्रणात् ताम्रवर्णो यो द्रवपदार्थः स्त्रिया उदरे जायते स कललमुच्यते तद्वद्धासमानं मधु सन्तः दयार्द्रहृदयाः पुरुषाः कथं सेवन्ते भक्षयन्ति ।।२९४।। उद्भ्रान्तेति—उद्भ्रान्ताश्चलवलिताः अर्भकाः मक्षिकाबालकाः गर्भे मध्ये यस्य तस्मिन् मधुच्छत्रे मधुगोलके अण्डजाण्डकखण्डवत् पक्षिबालकसमूहवत् । मधु माधुर्यं कुतः । यतस्तत् मधुच्छत्रं व्याधलुब्धकजीवितं व्याधा मृगवधाजीवा लुब्धकाः शबराः तेषां जीवितं भक्ष्य वर्तते । मधु नीचलोकानां भक्ष्यं जीवनिचितम् अतस्तदुत्तमानां न भक्ष्यम् ।।२९५।। पञ्चोदुम्बरेषु जीवानां दर्शनात्तेषां त्याज्यत्वमाह—अश्वत्थेति—अश्वत्थफलानि पिप्पलफलानि । उदुम्बरफलानि जन्तुफलानि । प्लक्षफलानि पर्कटीफलानि । न्यग्रोधफलानि बटफलानि । आदिशब्देन फल्गुफलानि 'अंजीर' इति देशभाषायाम् । इत्यादि फलेष्वपि प्रत्यक्षाः स्थूलाः प्राणिनो जीवा दृश्यन्ते । सूक्ष्माश्च सन्ति परं ते आगमविषयाः अतः तेषां भक्षणं पापप्रदत्वात्त्याज्यम् ।।२९६।। मद्यादीति—ये मद्यमांसमधुभक्षिणः सन्ति तद्गेहेषु अन्नं पानं च नाचरेत् । अन्नं न भक्षणीयं जलं च न पेयम् । तेषाम् अमत्राणि भाजनानि आदिशब्देन तेषां स्त्रीवस्त्रादिसंपर्कं च कदाचिदपि न कुर्याद् व्रतिकः ।।२९७।।

[पृष्ठ १३७-१३९] अव्रतिनां संगात् लोके वाच्यता भवति—कुर्वन्निति—भोजनादिषु भोजनजलपानादिकार्येषु अव्रतिभिः सह संसर्गं संबन्धं कुर्वन् अत्र अस्मिन् लोके वाच्यतां निन्दां प्राप्नोति । परत्र परलोके च इह च सत्फलं न लभते तेन नरेण सत्फलं स्वर्गलोकसुखं न लभ्यते ।।२९८।। दृतीति—दृतिप्रायेषु चर्मपुटकादिचर्मभाजनेषु पानीयं जलं व्रतस्थो जनः वर्जयेत् । कुतपादिषु चर्मनिर्मितात्पस्नेहभाजनेषु स्नेहं तैलं घृतं परित्यजेत् अव्रतोचिताः अव्रतिजनयोग्याः स्त्रियः मद्यमांससेविन्यः व्रतिभिः नित्यं परिहार्याः त्याज्याः ।।२९९।। जीवेति—मयः उष्ट्रः, मेषः अजः, तौ आदौ येषां ते मयमेषादयः तत्कायवत् तच्छरीरवत् यथा तच्छरीरं मांसं तथा मुद्गमाषादिकमपि जीवयोगस्य समानतया मांसम् इति इतरे जगुः ब्रुवन्ति स्म ।। ३००।। तदयुक्तम् । तदाह—मांसमिति—मांसं प्राणिशरीरं स्यात्परं जीवशरीरं मांसं भवेन्न वा । यथा निम्बो वृक्षो भवति परं वृक्षस्तु निम्बो भवेन्न वा ।।३०१।। किं च—द्विजाण्डजेति—द्विजनिहन्तॄणां ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यानां घातं कुर्वताम् अण्डजाः पक्षिणः तेषामपि घातं कुर्वतां पापं विशिष्यते विशिष्टं वर्धते । तथा जीवयोगाविशेषेऽपि तथा फलपलाशिनां पापं विशिष्यते । फलेष्वपि जीवाः सन्ति मांसेऽपि जीवाः सन्ति परं फलेषु एकेन्द्रिया एव जीवाः सन्ति मांसे तु द्वीन्द्रियानारभ्य पञ्चेन्द्रियपर्यन्तं जीवराशयः सदैव सन्ति अतः फलाशिनां स्तोकं पापं स्यात्परं पलाशिनां महापापबन्धो भवेत् ।।३०२।। स्त्रीत्वेति—स्त्रीत्वसामान्यं दारेषु वर्तते, पेयत्वसामान्यं वारिणि

वर्तते एवं वदन् एष वादी मद्यमातृसमागमी ईहताम् इच्छतु। यथा स्त्रीत्वं पत्न्यां विद्यते तथैव जनन्यामपि अतो भार्यासमागममिव जननीसमागमोऽपि वादिनेष्येत। यथा जले पेयत्वसामान्यं वर्तते तथा मद्येऽपि वर्तते अतो जलवन्मदिरापि पीयतां वादिना परं तेन मदिरा त्यज्यते जलं पीयते। स्त्री सेव्यते माता वन्द्यते अतः पेयत्वं स्त्रीत्वं च सर्वत्र समानं नैव भवेत् ॥३०३॥ **शुद्धेति**—शुद्धं दुग्धं न गोमांसम्। एकस्या एव गोर्दुग्धं शुद्धं सेव्यं भवति परं तस्या मांसम् अशुद्धत्वात् सेव्यं नैव भवति। एतादृशं पदार्थस्वभाववैचित्र्यं वर्तते। आहेयम् अहेः सर्पस्य इदम् आहेयं सर्पसंबन्धि सर्पमस्तके स्थितं रत्नं विषम् अपहरति। परं तद्दन्तस्थितं विषं विपदे मरणाय स्यात् ॥३०४॥

[पृष्ठ १३९] अथवा—**हेयमिति**—कारणे समे सत्यपि मांसं त्याज्यं पयः दुग्धं पेयम्। धेन्ववयवत्वसाम्येऽपि मांसं हेयं न दुग्धम्। विषतरोः पत्रम् आयुषे जीवनकारणं भवति परं तन्मूलं मृतये मरणाय स्यात्। विषतर्ववयवसमत्वेऽपि पत्रं भक्ष्यं भवति न मूलमिति ॥३०५॥ अपि च-**शरीरेति**—शरीरावयवत्वेऽपि मांसे दोषः तद्भक्षणं निन्द्यम्, न सर्पिषि घृते न दोषोऽतस्तद्भक्षणीयम्। द्विजातिषु जिह्वायां मद्यं दोषाय भवति। पादे मद्यं द्विजातिषु ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्येषु न दोषाय भवति ॥३०६॥ **विधिरिति**—संप्रोक्षणं यज्ञादिश्चेद् विधिः शुद्धयै भवति तर्हि द्विजैः सर्वं भुज्यताम् तत्र मांसादिकं हेयम्, ओदनादिकं भोज्यम् इत्याग्रहो न विधेयः। केवलं वस्तु शुद्धयै चेत् अन्नादिकम्, यत्र अन्नादिकं शुद्धं लभ्येत तत्र तद्ग्राह्यमिति मन्यते चेत् श्वपचालये मातङ्गगृहे भुज्यताम्। अतः केवलं विधिना अन्नादेः दातुः पात्रस्य च शुद्धिर्भवतीति न मन्तव्यम्। यदि अन्नं शुद्धयै भवेत् तर्हि तेनान्नेन दाता पात्रमपि शुद्धं भवेत्। ततश्च तच्छुद्धं यत्र कुत्रापि मातङ्गगृहेऽपि लभ्येत तद्ग्रहणे दोषो न स्यात्। अतः केवलया अन्नशुद्धया भाव्यमिति न। तर्हि केषां शुद्धया विधिशुद्धिः स्यादिति प्रश्ने आह—॥३०७॥ **तद्द्रव्येति**—तस्मात् द्रव्यदातृपात्राणां विशुद्धौ द्रव्यशुद्धौ सत्यां, दातृशुद्धौ सत्यां, पात्रशुद्धौ च सत्यां विधिशुद्धता भवति। द्रव्यादीनाम् अशुद्धौ केवलं विधिशुद्धया पर्याप्तं स्यात् इति न मन्तव्यम्। केवलं द्रव्यशुद्धयापि पर्याप्तता न संभवति, केवलं दातृशुद्धयापि सा न भवति अतः द्रव्यदातृपात्रशुद्धया सहिता विधिशुद्धता विशुद्धं फलं जनयतीति ज्ञेयम्। अशुद्धोऽपि दाता शुद्धो भवेदिति चेदुच्यते—यत्संस्कारशतेनापि नाजातिर्द्विजतां व्रजेत्। संस्कारशतेनापि द्विजान्मुक्त्वा अन्यो अजातिः शूद्रो जनः द्विजतां न व्रजेत्। गर्भजन्म सत्कुले जन्म दीक्षायोग्ये कुले जन्म यस्य तस्यैव संस्कारजन्म भवति स एव संस्कारजन्मना द्विजतां गच्छति। संस्कारहीनो द्विजः जात्या द्विजो भवति। स नामधारको द्विजो ज्ञेयः। यस्य सत्कुले जन्म न स संस्कारशतेनापि अजातिरेव नामधारकाद् द्विजादपि स हीन एव। किरणाकुलोऽपि काचः असंस्कृतमणेरपि समानतां न याति कथं संस्कृतमणेः समतां स बिभृयात् ॥३०८॥ **तच्छाक्येति**—तस्मात् शाक्यानां बौद्धानां सांख्यानां पंचविंशतितत्त्ववादिनां कापिलानाम्, चार्वाकाणां बृहस्पतिशिष्याणां नास्तिकानाम्, वेदवादिनां मीमांसकानाम्, वैद्यानाम्, कपर्दिनां कापालिकानां मतं विहाय श्रेयोर्थिभिः मुक्तिकामैः सदा मांसं हातव्यम् आजन्म मांसत्यागो विधेयः ॥३०९॥ **यस्तु इति**—यो जनः लौल्येन जिह्वालाम्पट्येन मांसाशी मांसम् अश्नाति भक्षयति, तेन मांसभक्षणेन तथा यज्ञे प्राणिवधेन धर्मो वर्धते इति च मन्यते स द्विपातकः ज्ञेयः। हिंसां धर्मं मन्यमानः मांसं च भुञ्जानः देवान् मांसं प्रीणयतीति मिथ्या संकल्पयन् द्विपातको भवति। यथा मात्रा सत्रं परदाराक्रियाकारी नरः मातृगमनपातकं परस्त्रीसेवनपातकं च कुरुते ॥३१०॥

[पृष्ठ १४०–१४२] श्रूयतामत्र मांसाशनाभिध्यानमात्रस्यापि पातकस्य फलम्—मांसभक्षणसंकल्पमात्रस्यापि पापस्य फलं दृष्टान्तद्वारेण कथयति सूरिः सुदत्ताचार्यः तच्छ्रूयतामाकर्ण्यताम्—**श्रीमदिति**—श्रीः अस्यास्तीति श्रीमान् स चासौ पुष्पदन्तः श्रीमत्पुष्पदन्तः नवमो जिनपतिः स एव भदन्तः भव्यजनकल्याणविधायी ऋषिः तस्य अवतारे जन्मसमये अवतीर्णः स्वर्गात्समागतो यस्त्रिदिवपतिः स्वर्गनाथः सौधर्मेन्द्रः तेन संपादितो विहितो विधापितश्च य उत्साव उत्सवः तस्य या इन्दिरा लक्ष्मीस्तस्यै आसन्दो आसनभूता या काकन्दीपुरी तस्यां चार्वाकवंशोद्भवः सौरसेनो नाम भूपतिः कुलधर्मानुरोधबुद्धया निजवंशधर्मानुसरणमत्या, गृहीतपिशितव्रतः अङ्गीकृतमांसत्यागः। पुनर्वेदवैद्याद्वैतमोहितमतिः श्रुतिविपर्यासितमतिः वैद्यविपर्यासितप्रज्ञः अद्वैतमतपरावर्तितमतिश्च, संजातजाङ्गलजिघित्सानुमतिः उत्पन्नमांसबुभुक्षानुसृतबुद्धिः। अङ्गीकृतवस्तुनिर्वहणात् जनापवादाज्जुगुप्समानः।

स्वीकृतप्रतिज्ञावसानगमनात् जननिन्दनात् च भीतिमतिः, मनोविश्रान्तिहेतुना मनःसमाधानकारणेन कर्मप्रियेति नाम एव केतुः ध्वजः यस्य तेन बल्लवेन पाचकेन रहसि एकान्ते बिलस्थलजलान्तरालचरतरसमानाययन्नपि बिलचराः मूषकादयः, स्थलचराः अजादयः, जलचराः मत्स्यादयः, अन्तरालचराः शुकादयः तेषां तरसं पाचकेन अनाययन् अपि, अनेकराजकार्यपर्याकुलमानसतया नानाविधराजकीयविधानव्यापृतचित्ततया मांसभक्षणवेलां नावाप न प्राप्नोत् । कर्मप्रियोऽपि तथा अनुदिनम् अहरहः पृथ्वीश्वरनिदेशमनुतिष्ठन् महीपतेरादेशम् आचरन्, एकदा पृदाकुपाकोपद्रुतः पृदाकुः सर्पः तस्य पाकः शिशुः तेन उपद्रुतः पीडितः तेन दष्टः इति भावः, प्रेत्य मृत्वा स्वयंभूरमणाभिधानमुद्रे समुद्रे स्वयंभूरमणेति अभिधानं नाम तदेव मुद्रा चिह्नं यस्य तस्मिन् समुद्रे सागरे महादेवबलः महादेववत् बलं यस्य स तिमिङ्गिलगिलः तिमिङ्गिलो नाम महान् मत्स्यः तमपि गिलति इति तिमिङ्गिलगिलः जज्ञे । भूपालोऽपि चिरकालेन कथाशेषतामाश्रित्य कथा एव शेषा यस्य स कथाशेषस्ताम् आश्रित्य मृत्वेत्यर्थः । पिशितेति—पिशितस्य मांसस्य अशनं भक्षणं तस्याशयोऽभिध्यानम् इच्छा तस्य अनुबन्धात् संस्कारात् । तत्रैव सिन्धौ तस्यैव महामीनस्य कर्णबिले तन्मलाशनशीलः तस्य कर्णस्य यो मलः तस्याशनं भक्षणं शीलं स्वभावो यस्य । शालिसिक्थकलकलेवरः शाल्याः सिक्थं तण्डुलः तत्प्रमाणं कलं मनोहरं कलेवरं शरीरं यस्य तथाभूतः शफरः मत्स्योऽभवत् । तदनु तदनन्तरम् एव शालिसिक्थो मीनः पर्याप्तोभयकरणः पूर्णलब्धद्रव्यभावेन्द्रियः । वदनं मुखं व्यादाय उद्घाट्य निद्रायतः निद्राणस्य स्वपतः, गलगुहावगाहे गलः कण्ठः स एव गुहा गह्वरं तस्य अवगाहे विस्तारे वेलानदीप्रवाह इव समुद्रकूले संप्राप्तसरिदोघ इव अनेकं जलचरानीकं नानाविधमत्स्यादिजलजन्तुसमूहः प्रविश्य तथैव निष्क्रामन् निर्गच्छन् निरीक्ष्य (तन्दुलमत्स्य. मनसि विमृशति) पापकर्मा पापम् अन्तरायाख्यं कर्म यस्य सः, अत एव निर्भग्याणां दुर्दैववतां च अग्रणीधर्मा अग्रेसरधर्मं बिभ्राणः, खल्वेष झषः मत्स्यः, यद्वक्त्रसंपातनचेतांस्यपि यस्मात् वक्त्रे वदने संपातनम् उत्पतनं तत्र चेतांसि येषां तथाभूतानि यादांसि जलजन्तून् अशितुं भक्षयितुं न शक्नोति समर्थो न भवति । मम पुनर्यदि हृदयेप्सितप्रभावान्मनोऽभिलषितसामर्थ्यात् दैवात् एतावन्मात्रं गात्रम् एतच्छरीरप्रमाणं शरीरं स्यात् तदा समस्तमपि समुद्रं विद्रुतसकलसत्त्वसंचारमुद्रं विद्रुता नष्टा सकलसत्त्वानां सर्वप्राणिनां संचारस्य भ्रमणस्य मुद्रा चिह्नं यस्य तं विदधामि । यदि मे महामत्स्यदेहतुल्यो देहो भविष्यति तदा सकलाञ्जलचरान् भक्षयित्वा समुद्रं जलशेषं करिष्यामि । इति अभिध्यानान्मनःसंकल्पनात् अल्पकायकलः शकुलः अल्पकायम् अल्पशरीरं कलति धारयति इति अल्पकायकलः शकुलः मत्स्यः निखिलनक्रचक्रचाराच्च महादेहाधीनो निखिलाः सकलास्ते नक्राः मकराः तेषां चक्रं समूहः तस्य चारो भक्षणं तस्मात् महादेहवान् स मीनः कालेन विपद्य मृत्वा उत्पद्य च जनित्वा च उत्तमनः त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमायुः निलये निरये त्रयस्त्रिंशत्समुद्रतुल्यदीर्घकालजीवनस्य गृहे नरके सप्तमे भवप्रत्ययायत्ताविर्भूतज्ञानविशेषौ भवो जन्म स प्रत्ययो हेतुः तस्य आयत्तः अधीनः आविर्भूतः प्रकटीभूतः ज्ञानविशेषो ययोस्तौ अनिमिषचरौ भूतपूर्वमत्स्यौ नारकपर्यायधरौ किल एवं वक्ष्यमाणम् आलापम् अन्योन्यसंबोधनपूर्वकं भाषणं चक्रतुः । अहो क्षुद्रमत्स्य, तथा निर्मितकर्मणः दुष्कर्मणः निर्मितम् उत्पादितं क्रूरतया जलचरजीवभक्षणात्मकं कर्म कार्यं येन सः तस्य मम दुष्कर्मणः पापकर्मणो नारकायुष उदयात् मम अत्रागतिः आगमनम् उचितैव योग्या एव । तव तु मत्कर्णबिले मलोपजीवनस्य कर्णमलेन उपजीवनम् उदरनिर्वाहो यस्य कथमत्रागमनमभूत् सर्वथा मांसाहाररहितस्य प्राणिवधरहितस्य च तवात्रागमनं शक्यं नेति (महामत्स्येनोक्ते तन्दुलमत्स्यो वदति) हे महामत्स्य, चेष्टितादपि दुरन्तदुःखसंबन्धनिबन्धनादशुभध्यानात् । शारीरिकाज्जीववधविरहितव्यापारादहं विमुक्तोऽस्मि । परं तु दुष्टः अन्तो यस्य स्यात् तथाभूतदुःखसंबन्धस्य निबन्धनात् कारणात् अशुभध्यानात् ममात्रागमनमभूत् । भवति चात्र श्लोकः—क्षुद्रमत्स्येति—स्वयंभूरमणसमुद्रे महामत्स्यस्य कर्णस्थः एकः क्षुद्रमत्स्यः किल स्मृतिदोषात् अशुभध्यानात् अधो गतः सप्तमनरके त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमायुषा जन्म अलभत ॥३११॥

इत्युपासकाध्ययने मांसाभिलाषमात्रफलप्रलपनो नाम चतुर्विंशतितमः कल्पः ॥२४॥

२५. मांसनिवृत्तिफलाख्यानो नाम पञ्चविंशतितमः कल्पः

[पृ० १४२-१४३] श्रूयतामत्र मांसनिवृत्तिफलस्योपाख्यानम्—चण्डमातङ्गस्य कथा—अवन्तिमण्डलेति—अवन्तयश्च ते मण्डलाश्च अवन्तिमण्डलास्त एव नलिनं कमं तस्मिन्नभिनिवासे सरसी रसयुक्ता या एकानसीनाम पुरी तस्याः पुरबाहिरिकायां तस्याः पुरो बाह्यप्रदेशे । देविलेति–देविला चासौ महिला पत्नी देविलाख्या पत्नी तस्या विलासा एव विशिखा बाणास्तेषां वृत्त्या संबन्धेन कोदण्डस्य धनुःसदृशस्य चण्डनाम्नो मातङ्गस्य एकस्यां दिशि । निवेशितेति–निवेशितं स्थापितं पिशितं मांसम् उपदंशश्च तद्वाचकभक्ष्यद्रव्यं च येन तस्य । अपरस्यां दिशि । विन्यस्तेति–विन्यस्तः स्थापितः सुरया मदिरया संभृतः पूर्णः कलशो येन तस्य । पुनः कथंभूतस्य चण्डमातङ्गस्य पलोपदंशोदारां सुरां मांसभक्षणे रुच्युत्पादककराम् उदारां विपुलां सुरां पायं पायं पीत्वा पीत्वा तदुभयान्तराले तयोरुभययोः अन्तराले मध्ये चर्मनिर्माणतन्त्रां चर्मणा निर्माणं रचना तदेव तन्त्रं हेतुर्यस्यां तां वरत्रां वर्ध्रीं वर्तयतः रचयतः चण्डमातङ्गस्य । वियदिति–वियति आकाशे विहारो भ्रमणं तदर्थम् उड्डीनः उत्पतनं कुर्वाणः अण्डजडिम्भः पक्षिशिशुः तस्य तुण्डेन मुखेन यत्खण्डनं तस्मात् । विनिष्यन्दि स्रवत् यद्विषधरविषं सर्पविषं तस्य दोषस्यावसरो यत्र तथाभूता सुराभवत् । सर्पविषबिन्दोः पतनात्सविषा मदिरा जातेति भावः । अत्रैवावसरे अस्मिन्नेव प्रस्तावे तत्समीपवर्त्मगोचरे चण्डमातङ्गनिवासस्य समीपमेव मार्गे धर्मेति–धर्मश्रवणम्, जन्मान्तरादिप्रकटनम् इत्याद्युपाययुक्ताभिः कथाभिः विनेयजनाः शिष्यास्तेषामुपकाराय कृतेति–कृतः उत्पन्ना कामचारः इच्छा तेन प्रचारो भ्रमणं यस्य, पुनः कथंभूतम् ऋषियुगलम् । मूर्तिमदिति—मूर्तिमत् सदेहं स्वर्गमोक्षमार्गयुग्ममिव अम्बरात् आकाशात् अवतरत् अधः आगच्छत् ऋषियुग्मम् अवलोक्य संजातकुतूहलः उत्पन्नविस्मयः । तं देशं मुनिप्रदेशम् अनुसृत्य नगरे मुनिवरावलोकनात् श्रावकलोकं व्रतानि समाददानं गृह्णन्तम् अनुस्मृत्य ज्ञात्वा । समाचरितप्रणामः विहितवन्दनः । सुनन्दमुनेः अग्रेसरगमनम् अभिनन्दनं भगवन्तम् आत्मोचितं व्रतमयाचत । भगवान् । उपकारायेति–पर्जन्य इव यथा मेघवृष्टिः सर्वस्य उपकाराय तथा धार्मिकः सर्वस्य उपकाराय हितोपदेशेषु प्रवर्तते । यथा मेघवृष्टेः स्थानास्थानचिन्ता नास्ति तथा हितोक्तिषु अपि धार्मिकस्य सा न भवति ॥३१२॥ इत्यवगम्य ज्ञात्वा सम्यगिति–सम्यक् सम्यग्दर्शनयुक्तं यदवधिज्ञानं तस्योपयोगात् अवगतः ज्ञातः एतस्य चण्डमातङ्गस्य आसन्नपरासुतायोगः आसन्नः समीपः परासुतायाः मरणस्य योगः संबन्धः येन स भगवाञ्चारणर्षिः तं मातङ्गमेवम् अवोचत् । 'अहो मातङ्ग, तदुभयान्तरालसज्जां रज्जूं भिन्नदिशोः स्थितयोः पिशितसुराकुम्भयोरन्तराले मध्ये सज्जां स्थितां रज्जूं वरत्रां सृजतः निर्मिमाणस्य तन्मध्ये तव तन्निवृत्तिव्रतम् तयोः पलसुरयोस्त्यागस्य व्रतम्' इति मातङ्गस्तथा प्रतिपद्य स्वीकृत्य तम् अवकाशं तत्स्थानम् उपसद्य प्राप्य पिशितं प्राश्य भक्षयित्वा यावदहम् इदं स्थानकं नायामि यावत् कालम् अहम् एतत्स्थानं प्रदेशं नायामि नागच्छामि तावन्मेऽस्य पिशितस्य निवृत्तिस्त्यागः । इत्यभिधाय समासादितमदिरास्थानः लब्धसुराकलशप्रदेशः प्रतिपन्नपानः पीतसुरः । तदुग्रतरगरभरात् तस्य विषधरस्य उग्रतरं तीव्रतरं यत् गरं विषं तस्य भरात्प्रभावात् लघूल्लङ्घितमतिप्रसरः लघु शीघ्रम् उल्लंघितः विनष्टः मतिप्रसरः चेतनाविलासः यस्य । विषवेगान्मूर्च्छितस्येत्यर्थः तन्निवृत्तिं मद्यमांसयोः निवृत्तिं त्यागम् अलभमानचित्तोऽपि अप्राप्तमानसोऽपि प्रेत्य मृत्वा तावन्मात्रव्रतमाहात्म्येन स्तोककालं यावद्गृहीतव्रतप्रभावेन यक्षकुले यक्षमुख्यत्वं प्रतिपेदे प्राप । भवति चात्र श्लोकः—चण्डेति—अवन्तिषु देशेषु चण्डो मातङ्गः अत्यल्पकालभाविन्याः अतिस्तोकसमयसंजातायाः पिशितस्य निवृत्तितः मांसस्य त्यागात् यक्षमुख्यतां प्राप यक्षाणां व्यन्तरदेवविशेषाणाम् अग्रणीर्महर्द्धिकोऽभवत् ॥३१३॥

इत्युपासकाध्ययने मांसनिवृत्तिफलाख्यानो नाम पञ्चविंशतितमः कल्पः ।२५॥

२६. अहिंसाफलावलोकनो नाम षड्विंशः कल्पः

[पृ० १४३-१४९] अथ के ते उत्तरगुणाः–उत्तरे मूलगुणानन्तरं सेव्यत्वादुत्कृष्टत्वाच्च ते च ते गुणाश्च **उत्तरगुणाः के ते** इति प्रश्ने उत्तरमाह—**अणुव्रतानीति**—पञ्चैव अणुव्रतानि, त्रिप्रकारं त्रिविधं गुणव्रतम्। चत्वारि शिक्षाव्रतानि एवं द्वादश उत्तरे गुणाः स्युः। गुणार्थम् अणुव्रतानाम् उपकारार्थं व्रतं गुणव्रतं दिग्विरत्यादीनाम् *अणुव्रतानुबृंहणार्थत्वात्*। शिक्षाव्रतम्—शिक्षायै अभ्यासाय व्रतं देशावकाशिकादीनां प्रतिदिवसाभ्यसनीयत्वात्। अतएव गुणव्रतादस्य भेदः। गुणव्रतं हि प्रायो यावज्जीविकमाहुः। अथवा शिक्षा विद्योपादानं शिक्षाप्रधानं व्रतं शिक्षाव्रतम्; देशावकाशिकादेर्विशिष्टश्रुतज्ञानभावनापरिणतत्वेनैव निर्वाह्यत्वात् ॥३१४॥ तत्र—**हिंसास्तेयेति**—हिंसायाः प्राणिवधस्य देशतः स्थूलत्वेन त्रसजीववधस्य विनिग्रहो विरतिस्त्याग इति, प्रथमम् अणुव्रतम्। स्तेयस्य देशतो विनिग्रहः, अनृतस्य देशतो विनिग्रहः, अब्रह्मणो देशतो विनिग्रहः तथा परिग्रहाणां देशतो विनिग्रहः एतानि पञ्चाणुव्रतानि प्रचक्षते ख्यान्ति ॥३१५॥ व्रतस्य लक्षणम्—**संकल्पेति**—सेव्ये स्वदारताम्बूलादौ, संकल्पपूर्वकः इदं इयदेतावन्तं कालं न सेविष्ये इति मनसा अध्यवसायं कृत्वा नियमः प्रतिज्ञा व्रतं स्यात् अथवा अहम् इदम् इयत् एतावन्तं कालं सेविष्याम्येवेति संकल्पेन नियमः प्रतिज्ञा व्रतं स्यात्। अथवा सत्कर्मसंभवा प्रवृत्तिर्व्रतं स्यात्। किं विशिष्टा संकल्पपूर्विका शुभकर्मणि पात्रदानादिके संभवो यस्याः सा। अथवा असत्कर्मसंभवा निवृत्तिर्व्रतं स्यात् हिंसादिकम् असत्कर्म तस्मान्निवृत्तिः विरतिः संकल्पपूर्विका एवं व्रतस्य स्वरूपम् ॥३१६॥ हिंसादिभ्यो विपत्तिर्दुर्गतो अत्र परत्रेति चोच्यते—**हिंसायामिति**—हिंसायाम्, अनृते असत्यभाषणे, चौर्यां स्तेये, अब्रह्मणि मैथुने, परिग्रहे ममत्वे अत्रैव विपत्तिर्दृष्टा वधबन्धपरिक्लेशादिरूपा। परत्र परलोके नरकादौ दुर्गतिर्लभ्यते ॥३१७॥ हिंसाहिंसयोः स्वरूपमाह—**यदिति**—यस्मात् प्रमादयोगेन कषायावेशेन अनवधानतया इन्द्रियाणां प्रचारमनवधार्य वा। प्राणिषु प्राणहापनम् इन्द्रियादयो दशप्राणाः तेषां यथासंभवं व्यपरोपणं वियोगकरणं हिंसेत्यभिधीयते। तेषां प्राणानां रक्षणम् अहिंसा सा सतां मुनीनां मान्या ॥३१८॥ **विकथेति**—स्त्रीकथादयश्चतस्रः। अक्षाणि इन्द्रियाणि पञ्च। कषायाश्चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः। निद्रा प्रणयश्च। एषाम् अभ्यासे पुनः पुनरावर्तने रतो जन्तुः प्रमत्तः परिकीर्तितः प्रतिपादितः ॥३१९॥ अहिंसाव्रतमाह—**देवतेति**—देवतायै, अतिथये, पितृभ्यः, मन्त्राय, औषधाय, भयाय च सर्वान् जीवान् न हिंस्यात् न घातयेत्। अहिंसा नाम तद्व्रतं भवेत् ॥३२०॥ **गृहकार्याणीति**—सर्वाणि गृहकार्याणि पेषणादिकानि पञ्च दृष्टिपूतानि दृष्ट्या सम्यङ्निरीक्षितानि कारयेत्। सर्वाणि द्रवद्रव्याणि जलघृततैलादीनि पटपूतानि वस्त्रगालितानि योजयेत् पानादिकार्येषु ॥३२१॥ **आसनमिति**—आसनं पीठम्, शयनं शय्या, मार्गं पन्थानम्, अन्नम् ओदनादिकम् अन्यच्च यत् वस्तु तत् अदृष्टं दृष्ट्या अवीक्षितं न सेवेत नोपयुञ्ज्यात्। यथाकालं भजन्नपि यस्मिन्काले यदासनादिकं सेव्यते तत् दृष्ट्या सम्यग्वीक्ष्य भजेत् तथा च हिंसादोषस्पर्शो न भवेत् विपदादिकप्राप्तिर्वा न भवेत् ॥३२२॥ **दर्शनेति**—भोजनान्तरायान् विवृणोति—**दर्शनेत्यादि**—दर्शनत्यक्तभोजिता, स्पर्शत्यक्तभोजिता, संकल्पत्यक्तभोजिता, संसर्गत्यक्तभोजिता, हिंसनाक्रन्दनप्रायाः प्राशप्रत्यूहकारकाः आर्द्रचर्मास्थिसुरामांसासृक्पूयानां दर्शनात् व्रतिकेन अशनं दृष्ट्वा स्पृष्ट्वा च तात्कालिकाहारस्त्यक्तव्यः। इयं दर्शनत्यक्तभोजिता। स्पर्शत्यक्तभोजिता चैवम्—रजस्वला स्त्री, शुष्के चर्मास्थिनी, शुनकमार्जारश्वपचादिकं स्पृष्ट्वा आहारस्त्यक्तव्यः। संकल्पत्यक्तभोजिता—इदं भुज्यमान वस्तु, मांसं सादृश्यात्, इदं रुधिरम्, इदमस्थि, अयं सर्प इत्यादिरूपेण मनसा भोज्यवस्तुनि विकल्प्यमाने अशनं त्यजेत्। संसर्गत्यक्तभोजिता—द्वित्रिचतुरिन्द्रियप्राणिभिः अन्ने संसृष्टैः भोज्यद्रव्यात्पृथक् कर्तुमशक्यैः जीवद्भिः मृतैर्वा बहुभिस्त्रिचतुरादिभिः युक्तम् अशनं त्यजेत्। तथा हिंसनाक्रन्दनप्रायाः अतिकर्कशस्वरम् अस्य मस्तकं कृन्धि इत्यादिरूपम् आक्रन्दनिःस्वनं हाहेत्याद्यार्तस्वस्वभावं विड्वरप्रायनिःस्वनम् परचक्रागमनानलप्रदीपनादिविषयम् आकर्ण्य भोजनं त्यजेत्। प्रायः *शब्देन नियमितं प्रत्याख्यातं वस्तु भुक्त्वा अशनं त्यक्तव्यम्*। एवं प्राशप्रत्यूहकारकाः भोजनान्तरायकारका ज्ञातव्याः ॥३२३॥ **अतिप्रसंगेति**—सद्भिः गणधरादिदेवैः अन्तरायाः भुक्तेर्वर्जनहेतवः स्मृताः कथिताः। किमर्थं स्मृताः अतिप्रसंगहानाय अतिप्रसंगस्य विहितातिक्रमेण उपर्युपरि प्रवृत्तिः तस्य हानाय त्यागाय। तपः

इच्छानिरोधः तस्य परिवृद्धये समन्तादुपचयाय। व्रतबीजवृतिक्रियाः बीजस्येव व्रतानाम् आवेष्टकक्रियाः रक्षोपायाः येषु ते अन्तरायाः सन्ति ॥३२४॥ **अहिंसाव्रतेति**—अहिंसाव्रतस्य पालनार्थम्। मूलव्रतानाम् अष्टमूलगुणानां विशुद्धये अतिचाररहितत्वाय निशायां भुक्तिं भोजनं वर्जयेत् परिहरेत्। यतः सा इहामुत्र दुःखदायिनी भवति ॥३२५॥ **आश्रितेष्विति**—सर्वेषु आश्रितेषु मनुष्येषु पक्षिषु पशुषु च अनन्यस्वामिकेषु। यथावद्विहितस्थितिः यस्य येन अन्नादिना शरीरपोषणं स्यात् तेन तस्य तथा करणीयम्। एवम् आश्रितानां भरणं विधाय शारीरे अवसरे आहारग्रहणसमये स्वयं गृहाश्रमी गृहस्थः समीहेत यत्नं कुर्यात् ॥३२६॥ **संधानमिति**—यत्र रसकायिका जीवा अनन्तशो जायन्ते तत्संधानकम्। पानकं दधिगुडचातुर्जातकादिद्रव्योद्भवम्। धान्यं शाल्यादिकम्। पुष्पं कुसुमम्। मूलं वृक्षवल्ल्यादेः पादाः, दलं पत्रम्। यद् यद् जीवयोनि जीवस्य यदुत्पत्तिस्थानं तत् न संग्राह्यम्। यच्च जीवैरुपद्रुतं कीटकैः उपद्रुतं छिद्रितं तत् न संग्राह्यम् ॥३२७॥ **अमिश्रमिति**—अन्येन अन्नादिना मिश्रणम् अकृतमपि कालाश्रयेण वर्षाकालाद्यवलम्बनेन उत्सर्गे ग्राह्यमपि किंचिद्वस्तु जीवयोनित्वात् जीवैरुपद्रुतत्वाद्वा जिनागमे त्याज्यं भवति। किंचिद्वस्तु शीतोष्णादिदेशाश्रयेण, किंचिद्वस्तु जीर्णादि पुष्पितादिदशाश्रयेण प्रागुत्सर्गे सदपि जिनागमे त्याज्यं भवति। किंचिद्वस्तु मिश्रमपि कालदेशदशा अवलम्ब्य अग्राह्यं भवति ॥३२८॥ **यदन्त इति**—यस्य अन्तः मध्ये सुषिरं छिद्रं प्रायः बहुशः वर्तते तन्नालीनलादि कमलनालं नलादि देवनालवेत्रादिकं मृदु वेण्वादिकं हेयं त्याज्यम्, तत्सुषिरे त्रसजीवानाम् आगन्तुकानां संभवात्। तथा अनन्तकायिकप्रायम् अनन्तजीवानां शरीरं यद्भवति तदनन्तकायिकं प्रायः बहुशः अनन्तकायिकतुल्यं च यद्बहुजीवनिचितं त्रसजीवसंकीर्णं च भवति तद्वल्लीकन्दादिकं त्यजेत्। या वल्ली कोमला विद्यते, तस्याः किसलयवृन्तादिकं कोमलम् अनन्तकायिकं च भवति अतस्तत् व्रतिभिर्हेयम्। कन्दादिकं च पलाण्डुसूरणादिकं च बहुतराणां तदाश्रितजीवानाम् आश्रयस्थानत्वात् त्याज्यम्। अन्यथा तद्भक्षयतां जिह्वेन्द्रियप्रीणनमात्रं फलमल्पं भवति बहुजीवानां घातश्च भवति ॥३२९॥ **द्विदलमिति**—द्विदलं मुद्गमाषादिधान्यं द्विदलं द्वे दले विभागौ यस्य पृथक्तया पेषणादिना जाते तद्द्विदलं मुद्गमाषादिकं सखण्डं प्राश्यं भक्षणीयम् तत्र सखण्डत्वात् अङ्कुरशक्त्यभावः। अनवलो गतं द्विदलम् अकृतद्विदलभावं द्विदलं जीर्णं प्रायेण प्राश्यम् यदि अदृष्टजन्तुसम्मूर्च्छनं विद्येत। जन्तुसम्मूर्च्छने तद्धेयम्। सिम्बयः भल्लराजमाषप्रमुखफलिकाः सकलाः त्याज्या न भक्षणीयाः। कदा न भक्षणीयाः। याः सकलाश्च साधिता स्युः अकृतद्विधाभावा एव यदि अग्निना पाचिताः स्युस्तर्हि तासां भक्षणं पापप्रदं स्यात्, अखण्डत्वात् तद्गतत्रसजीवानाम् अग्निसंयोगेन मृतिं प्राप्तत्वात् ॥३३०॥ दयालुतायाः यत्राभावस्तद्वर्णनम्—**तत्रेति**—यत्र बह्वारम्भपरिग्रहस्तत्राहिंसा कुतः। प्राणिपीडाहेतुर्व्यापार आरम्भः। ममेदं बुद्धिलक्षणः परिग्रहः। बहव आरम्भपरिग्रहा यस्य तस्मिन्नरे अहिंसा कुतो भवेत्। तत्र कोमलपरिणामाभावात् लोभाकुलत्वात् च दयाभावो न भवति। वञ्चके परप्रतारणशीले नरे कुशीले परललनालम्पटे च दयालुता नास्ति ॥३३१॥ कस्य जीवस्य असद्वेद्यं कर्म बध्यते। **शोकेति**—स्वपरयोः शोकसंतापसंक्रन्दपरिदेवनदुःखधीः भवञ्जन्तुः असद्वेद्याय जायते। अन्यस्मिञ्जने स्वस्मिंश्च शोकाद्युत्पादिका यस्य बुद्धिर्भवति स जन्तुः प्राणी असद्वेद्याय असत् अशुभं दुःखदायकं वेद्यं वेदनीयाख्यं कर्म असद्वेद्यं तस्मै हेतुर्जायते भवति। शोकादीनां[1] व्याख्या: क्रमशः—अनुग्राहकसंबन्धविच्छेदे वैक्लव्यविशेषः शोकः। परिवादादिनिमित्तादाविलान्तःकरणस्य तीव्रानुशयः संतापः। परितापजाताश्रुपातप्रचुरविलापादिव्यक्तक्रन्दनं संक्रन्दनम्। संक्लेशपरिणामावलम्बनं गुणस्मरणानुकीर्तनपूर्वकं स्वपरानुग्रहाभिलाषविषयमनुकम्पाप्रचुरं रोदनं परिदेवनम् ॥३३२॥ चारित्रमोहास्रवं निगदति—**कषायेति**—यस्य भावः कषायोदयतीव्रात्मा उपजायते असौ जीवः चारित्रमोहस्य समाश्रयो जायेत। यस्य जीवस्य भावः क्रोधादिकषायाणाम् उदयात्तीव्र उत्कटः भवति स चारित्रमोहकर्मणः समाश्रयः अवलम्बनं भवति। ततश्च स जीवः व्रतादिपालने समर्थो न भवति। तस्मिन् हिंसादिपापसंभवो भवति ॥३३३॥

---

१. सर्वार्थसिद्धौ 'दुःखशोकादि' सूत्रस्य टीकायां व्याख्या इमाः द्रष्टव्याः।

[पृष्ठ १५०-१५५] अहिंसादिगुणलाभाय मैत्र्यादिभावनाभ्यासः कार्यः—**मैत्रीति**—मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि यथाक्रमं। सत्त्वे गुणाधिके क्लिष्टे निर्गुणेऽपि च भावयेत्। मैत्र्यादीनां सत्त्वादीनां च क्रमशो वैशद्यं स्वयं ग्रन्थकारः पृथक्तया कथयति ॥३३४॥ **कायेनेति**—कायेन शरीरेण मनसा वाचा च परे अन्यस्मिन् सर्वस्मिन् देहिनि प्राणिनि अदुःखजननी दुःखं कस्यापि माभूत् इति मनोवृत्तिः मैत्रीविदां मैत्रीं विदन्ति जानन्ति इति मैत्रीविदः तेषां मैत्री मता परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री संमता ॥३३५॥ **तपोगुणेति**—तपसा अधिके गुणैः सम्यग्दर्शनादिभिश्च अधिके गरीयसि पुंसि साधर्मिके जने। प्रश्रयाश्रयनिर्भरः प्रश्रयः विस्रम्भो विनयो वा तस्य आश्रय आधारः तेन निर्भरः पूर्णः जायमानः मनोरागः मनोभक्तिः प्रमोदः। वदनप्रसादादिभिरभिव्यज्यमानान्तर्भक्तिरागः प्रमोदः इति विदुषां मतः विबुधानां मतः संमतः ॥३३६॥ **दीनेति**—असद्वेद्योदयापादितक्लेशाः क्लिश्यमानाः दीनाः तेषां दीनानाम् अभ्युद्धरणे दारिद्र्यरोगादिपीडापनयने या बुद्धिः संकल्पः तत्कारुण्यम्। माध्यस्थ्यस्य लक्षणमेवम्–निर्गुणात्मनि तत्त्वार्थश्रवणग्रहणाभ्यामसंपादितगुणो निर्गुणात्मा तस्मिन् अविनेये हर्षामर्षोज्झिता वृत्तिर्माध्यस्थ्यं रागद्वेषरहितो मनःस्वभावः उपेक्षाभावः माध्यस्थ्यमुच्यते ॥३३७॥ **इत्थमिति**—एवं मैत्र्यादिभावनोपेतस्य प्रयतमानस्य ईर्यादिसमितितत्परस्य गृहस्थस्यापि देहिनः स्वर्गः करस्थो जायते। अस्य गृहस्थस्य च तत्पदं मुक्तिपदं दूरे नास्ति स्तोकभवैर्लभ्यत एव तत् ॥३३८॥ दयावति नरे पापाभावः—**पुण्यमिति**—पुण्यं तेजःस्वरूपम्, पापं दुष्कृतं तमोमयम् अन्धकारमयम् प्राहुर्ब्रुवन्ति विद्वांसः। तत्पापं दयादीधितिमालिनि दयारूपा दीधितिमाला किरणमाला यस्य स दयादीधितिमाली तस्मिन् दयादीधितिमालिनि कृपारश्मिमति पुरुषसूर्ये तत्पाप किं तिष्ठेत् अपि तु तत्र पापं नैव तिष्ठेत् ॥३३९॥ **सेति**—यस्यां क्रियायां हिंसा नैवास्ति सा क्रिया कापि इहलोके नास्ति परम् अत्र क्रियायां मुख्यानुषङ्गिकौ भावौ विशिष्येते। यदा इमं प्राणिनं हिनस्मीति संकल्पो यत्र क्रियाया वर्तते सा क्रियैव हिंसामयी जायते। यदा च क्रिया भवति परं तया साकं हिंसासंकल्पः न विद्यते तत्र गौणो भावो हिंसायाः भवति अत एव स भावः आनुषङ्गिको ज्ञेयः ॥३४०॥ हिंसकाहिंसकयोः स्वरूपम्—**अघ्नन्नपि इति**—कश्चन जनः अघ्नन्नपि प्राणिमारणम् अकुर्वाणोऽपि अभिध्यानविशेषेण हिंसासंकल्पेनैव पापी भवेत्। निघ्नन्नपि पापभाक् न प्राणिपीडां कुर्वाणोऽपि पापवान् न भवति। कथम्। प्राणिहिंसायाः असंकल्पनात्। यथा धीवरः सततहिंसाध्यवसायवान् भवति अतः स अघ्नन्नपि पापी स्यात्। कर्षकस्य भूमिकर्षणसमये जीवहिंसनम् अनिवार्यं तथापि जीवहिंसासंकल्पेन स भूमिकर्षणे न प्रवर्तते अतः स पापभाक् न भवति। कर्षकस्य अभिध्यानविशेषः जीवमारणसंकल्परहितो भवति। धीवरस्य च अभिध्यानविशेषे तद्वधसंकल्पः सर्वदा विद्यते अतः अघ्नन्नपि पापी भवत्येव ॥३४१॥ अभिध्यानविशेषं द्वितीयेन निर्देशेन व्यनक्ति—**कस्यचिदिति**—दारान्मातरमन्तरा एकपार्श्वे दारास्तिष्ठन्ति द्वितीयपार्श्वे माता तिष्ठति तयोर्मध्ये संनिविष्टस्य उपविष्टस्य तस्य वपुःस्पर्शाविशेषेऽपि उभयोर्जननीभार्ययोरङ्गस्पर्शे समानेऽपि शेमुषी तु विशिष्यते बुद्धिविशेषो भवत्येव पृथक्त्वेन, इयं माता, भार्येयमिति च भिन्नविषया बुद्धिर्युगपदुत्पद्यते ॥३४२॥ तदुक्तम्—**परिणाममेवेति**—कुशलाः पण्डिताः खलु पुण्यपापयोः परिणाममेव अभिध्यानमेव कारणं ब्रुवन्ति। तस्मात्पुण्योपचयः शुभपरिणामेभ्यः सुकृतसंचयः सुविधेयः कार्यः। तथा पापापचयः पापानां दुरितानाम् अपचयः हानिर्विनाशः सुविधेयः करणीयः ॥३४३॥ **वपुषः इति**—वपुषः शरीरस्य। वचसः भाषणस्य वा शुभाधारा अशुभाधारा या क्रिया भवति सा कियत्स्वेव वस्तुषु स्थूलपदार्थेषु क्रमेणैव भवेत्। युगपत् नैव भवेत्। सूक्ष्मवस्तुषु तथा गुणेषु वचसः प्रवृत्तिः शरीरस्य च नैव भवति। अतः आभ्यां पृथक् विशेषतां मनो बिभर्ति। यां काचन शुभाम् अशुभां वा प्रवृत्तिं वपुर्वचसी कुरुतस्तां मनः अवलम्ब्यैवेति ज्ञेयम्। विना चित्तं ते तां कर्तुं न क्षमे अतः अत्र मनोविषयक्रियासु नरः प्रयतः सावधानो भवेत्। मनसो या क्रिया भवति सा लोकत्रितयादपि महत्तरा जायते। तथा एकस्मिन्क्षणे जायते। अतः मनःक्रियासु विवेकेन भाव्यमन्यथा महान् पापबन्धः स्यात् ॥३४४॥ **क्रियान्यत्रेति**—कियत्स्वेव वस्तुषु दानपूजादिषु शुभेषु हिंसादिष्वशुभेषु या कायिकी वचःसंबन्धिनी वा क्रिया भवति सा क्रमेणैव भवति परं। मनसो या क्रिया भवति स लोकत्रितयादपि महत्तरा जायते तथा एकस्मिन् क्षणे जायते। अतः मनःक्रियासु विवेकेन भाव्यमन्यथा महान् पापबन्धः स्यात् ॥३४५॥

एकस्मिन्निति—उत्साहशालिनां पुंसां मनसः एकस्मिन् कोणे अनायासेन चतुर्दशभवनानि संमान्ति। उत्साहेन शोभमानानाम् उद्यमिनां नराणां मनसः एकस्मिन् विभागे अनायासेन विना परिश्रमं चतुर्दशभुवनानि संमान्ति। अर्थात् मनसः तादृशी शक्तिरस्ति यया चतुर्दशभुवनान्यपि ज्ञायन्ते। अथवा चतुर्दशभुवनानां स्वरूपं दर्पणतले यथा पुरतः स्थितः सकलोऽपि वस्तुनिवहो दृश्यते तथा प्रतिभाति। अतः लोकोक्तिरियं सत्येति ज्ञातव्या ॥३४६॥ तृणादीनामपि हिंसनं यावता निजं प्रयोजनं सिद्ध्येत्तावदेव कुर्यात् इति कथयति—**भूपेति**—भुवः भूमेः पयसो जलस्य पवनस्य वायोः अग्नेश्च तथा तृणादीनाम् आदिशब्देन वल्लीगुल्मतर्वादीनां हिंसनं तावदेव कुर्यात् यावता स्वस्य कार्यं स्यात् कोऽसौ कुर्यात् अयं गृहस्थः। कथम् अजन्तु यत् यत्र स्थाने त्रसा न सन्ति तस्मात्स्थानाद् गृहीतव्यं जलतृणादिकमिति भावः ॥३४७॥ **ग्रामेति**—ग्रामस्वामिस्वकार्येषु ग्रामकार्यं सकलजनानां यत् कार्यं तस्मिन् राज्ञा नियुक्तः गृहस्थः यथालोकं लोकस्यानतिक्रमेण लोकानुसारेण कुर्यात् एवं स्वामिकार्यं निजप्रभुणा आदिष्टम्, स्वकार्यं च लोकानुसारेण कुर्याद्वा यो य आलोक आप्तोपदेशप्रकाशस्तेन तेन तत्तत्कार्यमाचरेत् इति ग्राह्यम्, यतः अत्रास्मिञ्जगति गुणदोषविभागे लोक एव गुरुर्ज्ञातव्यः ॥३४८॥ **दर्पेणेति**—दर्पेण इन्द्रियमदेन प्रमादाद्वा कषायावेशवशतया वा। द्वीन्द्रियादिविराधने द्वीन्द्रियादिप्राणिविनाशने यथादोषं दोषमनतिक्रम्य यथागमम् आगमं प्रायश्चित्तशास्त्रम् अनुसृत्य प्रायश्चित्तविधिं कुर्यात् ॥३४९॥ प्रायश्चित्तनिरुक्तिमाह—**प्राय इति**—लोकः प्राय इत्युच्यते प्राय इति शब्दो लोकस्य वाचकः। तस्य लोकस्य चित्तं मनः उच्यते। एतस्य मनसः शुद्धिकरं कर्म तपः अनशनादिकं प्रायश्चित्तं प्रचक्षते आख्यान्ति। योऽपराधी जनः प्रायश्चित्तं करोति तस्य मनसस्तत्करणाच्छुद्धिर्जायते अन्ये च ये सधर्माणः सन्ति तेषामपि मनसः संतोषोत्पादनं भवति, प्रायश्चित्तं गृह्णतो जनस्य पुनरकार्ये प्रवृत्तिर्न भवति। जिनाज्ञा च प्रतिपालिता भवति ॥३५०॥ प्राज्ञाः प्रायश्चित्तस्य दातारः—**द्वादशेति**—आचारादिद्वादशाङ्गश्रुतधारकोऽपि एकः गुरुः कृच्छ्रं प्रायश्चित्तं दातुं नार्हति तस्माद्बहुश्रुतज्ञाः विद्वांसः प्रायश्चित्तप्रदाने अधिकारिणो मताः। एको विद्वान् देशकालादिसकलावस्थानां विमर्शं कर्तुं न प्रभवति अतः विशिष्टप्रायश्चित्तदाने आचार्यो बहूनां विदुषामभिप्रायस्य सम्यगालोचनं कृत्वा प्रायश्चित्तं दातुं समर्थो भवति ॥३५१॥ येन साधनेन दुष्कृतं कृतं तेनैव तस्य विनाशः कार्य इत्याह—**मनसेति**—मनसा चित्तेन, कर्मणा हस्तपादादिना शरीरेण, वाचा च परुषया दुरभिप्राययुतया यद्दुष्कृतमघम् उपार्जितं संचितं तत् तेनैव मनसा कर्मणा वाचा विशुद्धाभिप्रायतया तद्दुष्कृतं तत्पापं तथैव विहापयेत् विनाशयेत् ॥३५२॥ योगस्वरूपं निगदति—**आत्मदेशेति**—आत्मनः प्रदेशानां परिस्पन्दः कम्पनं योगः इति स योगविदां योगमार्गणास्वरूपस्य ज्ञातॄणां मतः अभिमतः। स च मनोवाक्कायतः जायते मनसा आत्मप्रदेशानां कम्पने जातो योगः मनोयोगसंज्ञां लभते। वचसात्मप्रदेशकम्पनं वचोयोगः, कायेन जीवप्रदेशचञ्चलता भवति तदा काययोगो जायते। इति त्रियोगाः पुण्यपापास्रवाश्रयाः पुण्यास्रवकारणत्वात् शुभयोगत्रितयम्। पापास्रवकारणत्वादशुभयोगत्रितयमुच्यते ॥३५३॥ अशुभयोगत्रितयं क्रमशो दर्शयति—**हिंसनाब्रह्मचौर्येति**—हिंसनं प्राणिवधः अब्रह्म मैथुनसेवनम्, चौर्यादिकं च काये शरीरे कर्म अशुभं विदुः। अशुभं पापोत्पादकम्। असत्यम् असभ्यं सभ्यजनायोग्यम्, पारुष्यं कर्कशम्, इत्यादि वचनविषयं कर्म अशुभवाग्योगयुक्तं ज्ञायताम् ॥३५४॥ **मदेर्ष्येति**—मदो गर्वः, ईर्ष्या द्वेषः, असूया परगुणासहनम् आदिशब्देन रागादयो विकाराः एतत्सर्वं मनोव्यापाराश्रितम् अशुभमनोयोगसंज्ञमुच्यते। एतद्विपर्ययात् हिंसनादेर्विपर्ययात् असत्यासभ्यादेर्विपर्ययात् मदेर्ष्यासूयनादेर्विपर्ययात् शुभं कायवाङ्मनोगतं कर्म ज्ञेयम् ॥३५५॥ तत्पुनः पापम् एतेषु हिरण्यादिदानेषु दत्तेषु न शाम्यतीति कथयति—**हिरण्येति**—हिरण्यं सुवर्णं पशुर्धेन्वादिकं भूमिः सस्योत्पत्तिक्षेत्रम् कन्या प्रसिद्धा शय्या तल्पम् अन्नम् ओदनादिकम्, वासांसि वस्त्राणि, एतेषां वस्तूनां दानैः अन्यैश्च पदार्थैर्न पापम् उपशाम्यति। पापनाशने एतानि दानानि नोपायः। यथा लङ्घनेन आहारत्यागेन ओषधग्रहणेन साध्यानाम् उपशान्तिं व्रजतां रोगाणां बाह्यो विधिः हस्तपादमर्दनादिकम् अकिंचित्करम् रोगहरणेऽक्षमम्। तथा पापेऽपि दानादिकं मन्यताम्, तेन पापापायो न भवति ॥३५६–३५७॥ **निहत्येति**—मनोवाग्देहदण्डनैः मनोनिग्रहं कृत्वा, भाषानिग्रहं विधाय, देहनिग्रहं च कृत्वा सकलं पापं निहत्य विनाश्य, ततः दानपूजादिकं कर्म व्रतिकः करोतु ॥३५८॥ प्रत्याख्यानं विधाय

निद्रादिकं विधेयम्—**आप्रवृत्तेरिति**—पुनः भोगादिषु आप्रवृत्तेः प्रवृत्तिर्यदा भवेत्तावत्कालं मे सर्वस्य भोगोपभोगादेः निवृत्तिस्त्यागोऽस्ति इति कृतक्रियः कृतप्रतिज्ञः सन्, , गुरुनामानि पञ्चपरमेष्ठिमन्त्रं स्मरन् निद्रादिकं विधिं कुर्यात् ॥३५९॥ प्रत्याख्यानस्य महाफलं निवेदयति—**दैवादिति**—दैवात् विधेः आयुर्विरामे सति आयुषि समाप्तिं गते सति। यद्भोगोपभोगप्रत्याख्यानं निद्रायाः पूर्वं विहितं तस्य महत्फलं तेन प्रत्याख्यानवताऽवाप्यते। अतः व्रती नरः भोगशून्यं भोगरहितम् अव्रतं कालं व्रतरहितं कालं न आवहेत्, न नयेत्, न यापयेत्। प्रतिदिनं व्रतिना प्रत्याख्यानं कृत्वैव सुप्यताम् इति भावः ॥३६०॥ जीवदयायाः फलं चिन्तामणेरिवेति प्रतिपादयति—**एकेति**—एकत्र एका जीवदया। एकस्मिन्पार्श्वे एका जीवदया। परत्र अन्यस्मिन् पार्श्वे सकलाः सत्याचौर्यादिकाः क्रियाः। पूर्वत्र पूर्वस्या जीवदयायां परं फलं चिन्तामणेरिव यथा चिन्तामणेः यदिष्यते तत्फलम् इच्छासममेवाप्यते, परत्र सत्याचौर्यादिकानां क्रियाणां फलं कृषेरिव अद्य भूमिं कृष्ट्वा धान्यमुप्यते परं तत्फलं त्रिचतुर्भिर्मासैरवाप्यते। अतो जीवदयैवान्यक्रियाभ्यः श्रेष्ठेति विद्भिर्विज्ञेयम् ॥३६१॥ अहिंसाव्रतमाहात्म्यं व्यनक्ति—**आयुष्मानिति**—एकस्मादेव अहिंसाव्रतप्रभावात् नरः आयुष्मान् दीर्घायुः, कीर्तिमान् प्रथितयशाः सुभगः सौभाग्यवान् श्रीमान् लक्ष्मीसंपन्नः सुरूपः सुन्दराङ्गो जायते ॥३६२॥

[पृष्ठ १५५] श्रूयतामत्राहिंसाफलस्योपाख्यानम्—अवन्तिदेशेषु **सकललोकेति**—सकलजनचित्तहराः आगमाः वृक्षाः येषु, ते आरामाः उपवनानि यत्र तस्मिन् शिरीषग्रामे, मृगसेनाभिधानो मत्स्यबन्धः धीवरः। **स्कन्धेति**—निजांसावलम्बितबडिशपाशादिसाधनः। **पृथुरोमेति**—पृथुरोमाणो मत्स्याः तेषाम् आनयनाय उपनीतं कृतं विहारणं गमनं येन सः। **कल्लोलेति**—कल्लोलजलैस्तरङ्गनीरैः प्लावितानि आर्द्रितानि उल्लङ्घितानि कूलस्थानि तटवर्तीनि शालेयमालवप्राणि, शालिधान्ययुतोच्चक्षेत्राणि यया सा ताम्। सिप्रां सरितं नदीम् अनुसरन् अनुगच्छन्। स मृगसेनो धीवरः यशोधर्माचार्यं निचाय्य अवलोक्येति संबन्धः। कथंभूतं तम्। **अशेषेति**—सकलसाधुपरिषदि सभायां वर्यं श्रेष्ठम्। पुनः कथंभूतम्। **अखिलेति**—सकलमहाभाग्यवद्भूभृत्कृतपूजम्, पुनः कथंभूतम्। **मिथ्येति**—मिथ्यात्वरहिता धर्मचर्या धर्मानुष्ठानं यस्य सः तं यशोधर्माचार्यं निचाय्य विलोक्य। **समासन्नेति**-समासन्नं समीपस्थं यत्सुकृतं पुण्यं तेन आसाद्यं प्राप्यं हृदयं यस्य तस्य भावस्तस्मात्। **दूरादेवेति**—दूरादेव परिहृतपापोपार्जनसाधनसमूहः, ससंभ्रमम् आदरेण। **संपादितेति**—संपादितः कृतः दीर्घप्रणामः येन कृतसाष्टाङ्गनमस्कारः। **प्रकामेति**—प्रकामं प्रतिक्षणम् अतिशयेन प्रगलत् विनश्यत् एनः पापं यस्य सः, समाहितमनाः सावधानचित्तः, [स धीवरः आचार्यं प्रति गत्वा व्रतमयाचत]। **साधु इति**—साधूनां मुनीनां समाजे सत्तम श्रेष्ठ, सकलमहामुनिजनपूजितम, दैवात् शुभविधेः उपपन्नं प्राप्तं यत्पुण्यं तेन गृह्यभावः स्वपक्षभावः यस्य, एवंभूतोऽयं जनः कस्यचिद्व्रतस्य प्रदानेन अनुगृह्यताम् इत्यभाषत।

[पृष्ठ १५६-१५९] भगवान्—ननु वितर्के, **शकुलीति**—शकुलयो मत्स्याः तेषां विनाशे मारणे निःसूकाशयः क्रूराभिप्रायस्तेन वशस्य, पयःपतङ्गो बकः तस्यैव, व्रतग्रहणोपदेशे कथं प्रवीणम् अन्तःकरणमभूत्। अस्ति हि लोके प्रवादः हि यस्मात् जगति किंवदन्ती प्रचलति। "न खलु प्रायेण बहुशः, प्राणिनां प्रकृतेः स्वभावस्य विकृतिः विकारः आयत्यां भाविनि काले शुभम् अशुभं वा विना भवति।" भाविनि काले यस्य शुभं भवेत् तस्य क्रूरोऽपि स्वभावः परिवर्तते स मृदुर्भवति। तथा भाविनि काले यस्य अशुभं भवेत् तस्य मृद्वी प्रकृतिरपि क्रूरा भवेत्। एवं विमर्शं कृत्वा उपयुक्तावधिः सम्यग्ज्ञातसमीपेतदायुरवधिर्भगवान् तमेवमवदत्। "अहो शुभाशयायतन शुभपरिणाममन्दिर। अद्यतनाहनि अद्यतनदिवसे प्रथमदिवसे इति भावः। यः तव आदावेव प्रथमत एव आनाये जाले मीनः समापतितः स त्वया न प्रमापयितव्यः न हिंस्यः इति। यावच्च यावत्परिणामम् आत्मप्रवृत्तिविषयं स्वजीविकानिर्वाहपर्यन्तम् आमिषं मांसं प्राप्नोषि तावता मांसेन तव तन्निवृत्तिर्मत्स्यमारणत्यागः। अयं पुनः पञ्चत्रिंशदक्षरपवित्रः मन्त्रः सर्वदा सुस्थितेन दुःस्थितेन च त्वया ध्यातव्यः इति। मृगसेनः—यथादिशति बहुमानस्तथास्तु। इत्यभिनिविश्य इति मनसि तद्वचनमङ्गीकृत्य। तां शैवलिनीं सिप्रां नदीम् अनुगत्य, कृतजालक्षेपणः। अकालक्षेपं कालविलम्बनम् अकृत्वा शीघ्रमिति भावः, अतनुकरणम् अतनूनि महान्ति कारणानि नेत्रादीनि इन्द्रियाणि यस्य स अतनुकरणः महान् तं वैसारिणं मत्स्यम्,

आसाद्य । स्मृतव्रतः आद्यो मत्स्यो न हन्तव्यः इति गृहीतव्रतस्य स्मरणं मृगसेनस्याजायत । तस्य मत्स्यस्य श्रवसि कर्णे चिह्लाय चीरचीरिं वस्त्रखण्डं वस्त्रस्य दशां निबध्य तम् अत्यजत् । पुनः अपरावकाशे अन्यस्थाने । तीरिणीप्रदेशे नद्याः प्रदेशे । तथैव अदूरतरशर्मा समीपतरसुखः, समाचरितकर्मा कृतजालक्षेपणः । तमेव अचक्षीणं मत्स्यम् अक्षीणायुषम् अनष्टजीवितम् अवाप्य लब्ध्वापि अमुञ्चत् । तस्मात् एतस्मिन् अनणिष्ठे अलघिष्ठे पाठीनवरिष्ठे पाठीनेषु मत्स्येषु वरिष्ठे महिष्ठे, पञ्चवारं जाले लग्ने पतिते विपदमग्ने संकटेन अमग्ने अस्पृष्टे मुच्यमाने त्यज्यमाने सति, गभस्तिमाली सूर्यः अस्तमस्तकमस्तकमध्यास्त अस्ताचलशिखरमध्यारोहत । कथंभूतः सूर्यः । घनघुसृणेति—घनं विपुलं यत् घुसृणं काश्मीरजम्, तस्य रसेन अरुणिता लोहितवर्णा याः वरुणपुरस्य पुरन्ध्रयः सुचरिताः स्त्रियः तासां कपोलाः गण्डाः तेषां कान्तिरिव कान्तिस्तया शालते शोभते इति । तदनु तदनन्तरम् । गृहीतव्रतस्यापरित्यागात् ह्लादमानज्ञानं मृगसेनम् अधार्मिकलोकात् व्यतिरिक्तम् अन्यम् । रिक्तम् अप्राप्तमीनम् आयान्तं परिच्छिद्य ज्ञात्वा । अतुच्छो महान् कोपः क्रोधः अपरिहार्यस्त्यक्तुमशक्यो यस्याः तथाभूता तद्भार्या मृगसेनस्य जाया घण्टाख्या । यमघण्टेव किमपि कर्णकटु श्रोत्रपरुषं क्वणन्ती ब्रुवाणा । कुटीरान्तः श्रितशरीरा उटजस्यान्तः मध्ये आश्रितं शरीरं देहो यस्याः मृगसेनं निरुद्धान्तःप्रवेशं कृत्वा स्वयम् उटजे स्थितेति भावः । निर्विवरं निश्छिद्रम् अररं कपाटं निरुध्य अस्थात् अतिष्ठत् । मृगसेनोऽपि तया प्रतिरुद्धसदनप्रवेशः तन्मन्त्रस्मरणसक्तचित्तः पञ्चत्रिंशदक्षरपवित्रस्य णमोकारमन्त्रस्य स्मरणे चिन्तने निरतहृदयः, पुराणतरतरुभित्तं जीर्णतरद्रुमस्य शकलम् उच्छीर्षे विधाय सान्द्रं निबिडं निद्रायन् स्वपन्, एतत्तरुभित्ताभ्यन्तरविनिःसृतेन उच्छीर्षीकृतस्य द्रुमखण्डस्य अन्तश्छिद्राद् बहिरागतेन सरीसृपसुतेन भुजगतनयेन दष्टः । कष्टम् अवस्थान्तरं मरणदशाम् आविष्टः प्राप्तः । व्युष्टसमये प्रभातकाले घण्टया दृष्टः । पुनरनेन सार्धं सह उषर्बुधमध्यानुमोचितेति—उषर्बुधोऽग्निः तस्य मध्ये पतिशरीरानन्तरम् अनुमोचितः त्याजितः स्वनिश्चयेन स्वदेहो यया । आत्मनि विहितबहुनिन्दया स्वस्मिन् कृतबहुगर्हणया । शोचितश्च शोकविषयं नीतः । ततः "सा यदेवास्य व्रतं तदेव ममापि । जन्मान्तरे अपि चायमेव मे पतिः भूयात्" इत्यावेदितनिदाना इति प्रकटीकृतभाविपतिस्नेहा । समित्समिद्धमहसि समिद्भिः काष्ठैः समिद्धं प्रवृद्धं महस्तेजः यस्य तस्मिन्, द्रविणोदसि अग्नौ हव्यसमस्नेहम्, हव्येन देवेभ्यो दीयमानं द्रव्यं हव्यं घृतं तेन समः स्नेहो यस्मिन् तं देहं घृतवत्स्निग्धं सा जुहाव अजुहोत् अग्निसात् चकार । अथ विलासिनीति—विलासिनीनां शृङ्गाररसप्रियाणां स्त्रीणां विलोचनान्येव नेत्राण्येव उत्पलानि कमलानि तैः पुनरुक्ता वन्दनमाला तोरणमाला यस्याम् । विशालायां पुरि उज्जयिन्यां नगर्याम् । विश्वगुणामहादेवीश्वरो विश्वगुणानाम्न्या महादेव्याः पतिः विश्वंभरो विश्वं बिभर्ति इति विश्वंभरो जगत्पालकः विश्वंभरो नाम नृपतिः । धनश्रीपतिः धनश्रियाः पतिः, दुहितुः कन्यायाः सुबन्धोः पिता च सुबन्धुनाम्न्याः कन्यायाः पितेत्यर्थः । गुणपालो नाम श्रेष्ठी । तस्य किल गुणपालस्य मनोरथपान्थप्रीतिप्रपापालिकायाम् एतस्यां कुलपालिकायाम्, गुणपालस्य मनोरथा एव पान्थाः पथिकाः तेषां प्रीतेः प्रपा पानीयशालिका तस्याः पालिकायां रक्षिकायाम् । एतस्यां कुलपालिकायां कुलीनपत्न्याम्, अनेन मृगसेनेन समापन्नसत्त्वायां समापन्नः प्राप्तः सत्त्वो जीवो यस्यां सा एवंभूतायां गर्भिण्यां जातायाम् इत्यर्थः । असौ वसुधापतिः वसुधायाः भूमेः पतिः राजा विश्वंभरः विटकथासंसृष्टतया विटा जाराः तेषां कथाः ताभिः संसृष्टतया संसर्गं प्राप्तत्वात् प्रतिपन्नपाञ्चजनीनभावः पञ्चभिर्भूतैर्जन्यतेऽसौ पञ्चजनः पञ्चजनाय हितो भावः पाञ्चजनीनभावः प्रतिपन्नः स्वीकृतः पाञ्चजनीनभावः नास्तिकत्वभावः येन सः नास्तिको भूत्वा पञ्चेन्द्रियविषयासक्तिं गतः भाण्डादिरतो वा नर्मभर्मनाम्नो नर्मसचिवस्य परिहासे कुशलस्य नर्मभर्मनाम्नो मन्त्रिणः सुताय नर्मधर्मणे गुणपालश्रेष्ठिनम् अखिलकलाकलापालंकृतरूपसमन्वितां सुतामयाचत । अखिलाश्च ताः कला नृत्यगायनादिविद्याः तासां कलापः समूहः तेन अलंकृतं च तद्रूपं सौन्दर्यं तेन समन्वितां युक्तां सुताम् अयाचत । [श्रेष्ठी गुणपालः दुहित्रा सुबन्धुना सह कौशाम्बीदेशमयात्] श्रेष्ठी दुष्प्रज्ञेन राज्ञा दुष्टा प्रज्ञा बुद्धिर्यस्य तेन राज्ञा याचितः प्रार्थितः यदि नर्मसचिवसुताय सुतां वितरामि तदावश्यं कुलक्रमव्यतिक्रमो दुरपवादोपक्रमश्च निजवंशपरम्पराचारोल्लङ्घनं भवेत्, दुष्टोऽपवादो निन्दा च तस्याः उपक्रमः प्रारम्भः स्यात् । अथ स्वामिशासनं नृपस्याज्ञाम् अतिक्रम्य उल्लङ्घ्यात्रैवासे तिष्ठामि, तदा सर्वस्वापहारः सर्वस्वस्य धनदारादेः अपहारो लुण्ठनं

स्यात्। प्राणसंहारश्च प्राणानां दशानां विनाशः भवेत्। इति निश्चित्य प्रियसुहृदः वल्लभमित्रस्य श्रीदत्तस्य वणिक्पतेः वैश्यस्वामिनः निकेतने गृहे। समणिमेखलकलत्रं मणिमयरशनायुतं कलत्रं श्रोणिर्यस्य तथाभूतं कलत्रं भार्याम् अवस्थाप्य, स्वापतेयसारं स्वापतेयेषु धनेषु सारं मणिकनकमौक्तिकादिकं दुहितरं च सुतां च आत्मसात्कृत्वा स्वायत्तं कृत्वा, सुलभकेलिवनवनाशयनिवेशं कौशाम्बीदेशम् अयासीत्। सुलभा केलिः क्रीडा यत्र तानि वनानि उद्यानानि वनाशया जलाशयाश्च तडागादयः तेषां निवेशो रचना यत्र तं कौशाम्बीदेशम् अयासीत्। अत्रान्तरे श्रीमद्दरिद्रमन्दिरनिर्विशेषम् आचरितपर्यटनौ अस्मिन्समये श्रीमतां धनिनां दरिद्राणां च मन्दिरेषु गृहेषु निर्विशेषं समतां मत्वा कृतविहारौ उभयेषां गृहेषु विहितगमनौ शिवगुप्त-मुनिगुप्तनामानौ मुनी श्रीदत्तप्रतिवेशनिवासिनोपासकेन यथाविधिविहितप्रतिग्रहौ कृतोपचारविग्रहौ च तामङ्गनाश्रयां धनश्रियम् अपश्यताम्। श्रीदत्तश्रेष्ठिनो गृहस्य समीपे निवासिना वसता उपासकेन श्रावकेण आगमोक्तप्रतिग्रहादिनवविधानैः कृतसत्कारौ कृतो य उपचारः सेवा वैयावृत्यं तेन युक्तौ विग्रहौ देहौ ययोस्तौ मुनी आजिरगतां धनश्रियम् ऐक्षेताम्। तत्र मुनिगुप्तभगवान्किल, धनश्रियं निध्याय वीक्ष्य कोऽपि पापी कुक्षावस्या अवतीर्णोऽत इयं दुःखार्ता जातेति अभाषत। कथंभूतां धनश्रियम्। केवलखलिस्नानपरुषाम् तैलविरहिततिलकिट्टेन केवलेन कृतस्नानत्वात् परुषां रूक्षाङ्गाम्, उद्गमनीयसंगताङ्गाभोगत्विषम् उद्गमनीयं धौतवस्त्रद्वयं तेन संगता एकत्वमापन्ना अङ्गानाम् आभोगा सुविस्तरा त्विट् कान्तिर्यस्यास्ताम्। अवैधव्येति—अवैधव्यचिह्नं जीवत्पतिकालक्षणं दवरकमात्रं मङ्गलसूत्रं तदेव जुषते सेवते इति ताम्। पुनः कथंभूताम्। आप्तेति—आप्तो विश्वस्तो जनः कान्तः पतिः, अपत्यं कन्या सुतश्च, परिजनः किंकरगणः एषां विरहेण वियोगेन देहसादः शरीरकृशता यस्याः ताम्। गर्भगौरवखेदां गर्भभारक्लान्ताम् च, शिशिराजस्रवास्रवशवर्तिनीं (?) शिशिराणि शीतानि अजस्राश्रूणि सततगलन्नेत्रजलानि तेषां वशवर्तिनी। स्थलकमलिनीमिव मलिनच्छविं मलिनकान्तिम्, उदवसितपरिसरे उदवसितस्य गृहस्य परिसरे पर्यन्तभुवि परगृहे वासो निवासस्तेन विशीर्यमाणा म्लायमाना मुखस्य श्रीः शोभा यस्यास्तां धनश्रियं निध्याय विलोक्य 'अहो महीयसां खलु एनसाम् आवासः महीयसां महताम् एनसां पापानाम् आवासः गृहं खलु कोऽपि अस्याः कुक्षौ उदरे महापुरुषोऽवतीर्णः आगतो भवेत्। येन अवतीर्णमात्रेणापि प्रविष्टमात्रेणापि दुष्पुत्रेणेव कुसुतेनेव दीना इयदावेशां दशाम् अशिश्रियत् इयान् आवेशो यस्यास्ताम् एवंस्वरूपाम् अवस्थाम् अवालम्बत इत्यभाषत (मुनिगुप्तो मुनिः) मुनिवृषा शिवगुप्तः—मैवं भाषिष्टाः मुनिषु वृषेव इन्द्र इवेति मुनिवृषा शिवगुप्तः मैवं वोचः। यतो यद्यपीयं श्रेष्ठिनी कानिचिद्दिनानि एवंभूता सती पराधिष्ठाने परस्य अन्यस्य अधिष्ठाने गृहे तिष्ठति, तथाप्येतन्नन्दनेन एतस्याः पुत्रेण सकलवणिक्पतिना सर्ववैश्यस्वामिना राजश्रेष्ठिना निरवधिशेवधीश्वरेण निःसीमनिधीनाम् ईश्वरेण स्वामिना विश्वंभरसुतावरेण च विश्वंभराख्यनृपसुताया वरेण पत्या भवितव्यम् इत्यवोचत्। एतच्च स्वकीयमन्दिरालिन्दगतः निजगृहबहिर्द्वारप्रकोष्ठं यातः श्रीदत्तः निशम्य श्रुत्वा 'न खलु प्रायेण असत्यमिदम् उक्तं भवति महर्षेः' इत्यवधार्य इति विनिश्चित्य सूचीमुखसर्पवत् दुरीहितदत्तचेतोवृत्तिः आसीत्। सूचीवत् तीक्ष्णं मुखं यस्य स चासौ सर्पश्च स इव, दुरीहितं दुष्कार्यं तत्र दत्ता चेतोवृत्तिः मनोव्यापारो येन स तथाभूत आसीत् अजायत। धनश्रीश्च परिप्राप्तप्रसवदिवसा सती सुतमसूत परिप्राप्ता प्रसवदिवसं प्रसूतिदिनं यया एवंभूता सती पुत्रम् अजनयत्। श्रीदत्तः—चित्रभानुरिव अग्निरिव। अयं खलु बालिशः बालकः। आश्रयाशः आश्रयम् आधारवस्तु अश्नाति इति आश्रयाशः मम विनाशकरो भवेत्। तत् तस्मात् कारणात् असंजातस्नेहायामेव अनुत्पन्नप्रीतौ एव अस्य मातरि सत्याम् अस्य उपांशुदण्डः एकान्ते निगूढतया दण्डः श्रेयान् हितकृद् भवेत्। इति परामृश्य इति विचार्य। प्रसूतिदुःखेन अतुच्छमूर्च्छापाश्रयां दीर्घसंमोहात् काष्ठवन्निष्पन्दीभूतदेहां धनश्रियम् आकलय्य ज्ञात्वा, निजपरिजनजरतीमुखेन निजपरिकरजनानां जरतीनां वृद्धस्त्रीणां च वदनेन प्रमीत एवायं तनयः मृत एवायं सुतो जातः इति प्रसिद्धिं विधाय, आकार्य आहूय च एकं श्वपचं मातङ्गं कथंभूतम् आचरितोपचारप्रपञ्चम् आचरितः विहितः उपचारस्य आदरस्य प्रपञ्चः विस्तारो यस्य तम्। जिह्मब्राह्मीरहस्यनिकेतः कृतापायसंकेतः जिह्मा कपटयुक्ता सा चासौ ब्राह्मी भाषा तस्या रहस्यस्य निगूढताया निकेतः गृहभूतः, कृतः अपायस्य विनाशस्य संकेतो येन तथाभूतः श्रीदत्तः तं स्तन्यपं स्तनाज्जातं स्तन्यं दुग्धं तत्पिबतीति स्तन्यपः तं दुग्धपं बालम् एतस्मै

चाण्डालाय समर्पयामास । सोऽपि जनंगमः चाण्डालः स्वर्भानुप्रभेण करेण राहुसमेन कृष्णवर्णेन हस्तेन राम-रश्मिमिव रामाः मनोज्ञाः रश्मयः किरणा यस्य तम् इव चन्द्रमिव तं स्तनंधयम् उपरुध्य गृहीत्वा । निःशला-कावकाशं निर्जनप्रदेशं देशं स्थानमाश्रित्य । पुण्यपरमाणुपुञ्जमिव पुण्यानां परमाणूनां पुञ्जमिव शुभदेहवन्तम् एनं बालं दृष्ट्वा । संजातकरुणारसप्रसरप्रसन्नमुखः संजातः उत्पन्नश्चासौ करुणारसः दयारसः तस्य प्रसरः प्रवाहः तेन प्रसन्नवदनः, सुखेन विनिधाय स्वकीयं गृहमटीकत अगच्छत् । पुनरस्यैव अवरभवभगिनीपतिः अशेषापणिकपणपरमेष्ठी इन्द्रदत्तश्रेष्ठी अवरभवा लघीयसी सा चासौ भगिनी तस्याः पतिः । अशेषाश्च ते आपणिकाः पण्यानां क्रयविक्रयादियोग्यानां वस्तूनां व्यवहारकारिणः, तेषां पणो व्यवहारस्तस्मिन् परमेष्ठी चतुरः इन्द्रदत्तश्रेष्ठी, विक्रयाडम्बरितशण्डमण्डलाधीनं विक्रयणक्रियया डम्बरिताः शोभिताः ये शण्डा वृषभाः तेषां मण्डलं समूहः तस्य अधीनम् आयत्तम्, पेठोपकण्ठगोष्ठीनं पेठस्य (?) उपकण्ठं समीपं गोष्ठीनं भूतपूर्वकं गोष्ठं गोष्ठीनम् अनुसृतः गतः, वत्सीयविषयसनीडक्रीडागतगोपालबालकलपनपरस्परालापात् वत्सेभ्यो हितः वत्सीयः स चासौ विषयः वत्सहितो निवासप्रदेशः तस्य सनीडं समीपं क्रीडार्थम् आगता ये गोपाल-बालकाः बल्लवानां शिशवः, तेषां लपनानि मुखानि तेषां परस्परालापात् अन्योन्यसंभाषणात् । वत्सतरतानक-संतानपरिवृतं वत्सतराः दम्याः तानकाः सद्योजाताः गोशिशवः, तेषां संतानः समूहः तेन परिवृतम् । **अनेकेति**—अनेके बहवः ते च ते चन्द्रकान्तोपलाः चन्द्रकान्तमणयः तेषाम् अन्तराले मध्ये निलीनं स्थितम् । **अरुणेति**—पद्मरागरत्ननिधिमिव तं जातं बालम् उपलभ्य दृष्ट्वा स्वयम् अवीक्षितपुत्रमुखत्वात् तद्बुद्ध्या 'मदीयस्तनयोऽयमिति मत्या' साधु अनुरुध्य सम्यक् विज्ञप्य 'स्तनंधयावधानधृतबोधे राधे स्तनंधयः शिशुः तस्य अवधानं 'कदा मे पुत्रो भविष्यतीति अवधानं चिन्ता तस्यां धृतो बोधो ज्ञानं यया तत्संबोधनम्, राधा इति । इन्द्रदत्तस्य जायाया नाम तत्संबोधनं हे राधे इति । तवायं गूढगर्भसंभवः तनूद्भवः, तन्वाः शरीरात् उद्भवः उत्पत्तिर्यस्य इति प्रवर्द्धिता प्रसिद्धिर्येन सः श्रेष्ठी महान्तम् अपत्योत्पत्तिमहोत्सवम् अकार्षीत् अकरोत् ।

[पृष्ठ १६०-१६४] [श्रीदत्तः भगिन्या सह तं बालं गृहमानीय पुनः तं मातङ्गाधीनं मारणायाकरोत् । सोऽपि वृक्षाकुले नदीतटनिकटे त्यक्त्वा ततो निजगृहम् अगमत् ।] श्रीदत्तः श्रवणपरंपरया कर्णपरंपरया तमेनं वृत्तान्तं वार्ताम् उपलभ्य श्रुत्वा, **शिशिवति**—शिशोः स्तनंधयस्य विनाशस्याशयेन अभिप्रायेण, कीनाश इव यम इव तन्निवेशम् आश्रित्य इन्द्रदत्तश्रेष्ठिनः गृहं गत्वा 'इन्द्रदत्त, अयं महाभागधेयो महाभाग्यः भागिनेयः भगिन्याः पुत्रः स्वस्रीयः ममैव तावद्धाम्नि गृहे वर्धतां वृद्धिं यातु' इत्यभिधाय उक्त्वैवम् सभगिनीकं भगिनीसहितं तोकं पुत्रम् आत्मावासं निजगृहम् आनीय, पुरावत् पूर्वमिव क्रूरप्रज्ञः निर्दयमतिः संज्ञपनार्थं मारणार्थम्, अन्तावसा-यिने चाण्डालाय प्रायच्छत् समर्पयामास । सोऽपि दिवाकीर्तिश्चाण्डालः उपात्तपुत्रभाण्डः गृहीतपुत्रपात्रः, सत्वरम् उपह्वरानुसारी निर्जनप्रदेशमनुगच्छन् । **समीरेति**—समीरस्य वायोर्वशात् गलितं विनष्टं घना मेघा एव अम्बराणि वस्त्राणि तेषाम् आवरणम् आच्छादनं यस्य, हरिणकिरणमिव हरिणाः मनोहराः किरणाः करा यस्य तमिव चन्द्रमिव ईक्षणरमणीयं नेत्राह्लादकम्, गुणपालतनयमालोक्य सदयहृदयः प्रबलविटपिसंकटे प्रबला दृढाः सारवन्तः ये विटपिनः वृक्षाः तैः संकटे व्याप्ते सरित्तटनिकटे नदीतीरसमीपे परित्यज्य अश्वल्लीत् आशु अगमत् । [गोविन्दो नाम गोपालस्तं गृहीत्वा स्वभार्यायै सुनन्दायै समर्पितवान्] तत्राप्यसौ पुरोपार्जितपुण्यप्रभावात् पूर्वजन्मार्जितपुण्यमाहात्म्यात्, धेनुभिः उपरुद्धसविधभागः, कथंभूताभिः धेनुभिः । उपमातृभिरिव धात्रीभिरिव एतद्वीक्षणात् अस्य बालकस्यावलोकनात् क्षरत्क्षीरस्तनाभिः निर्गलद्दुग्धकुचाभिः । **आनन्देति**—आनन्देन उदीरिता उच्चारिता निर्भराः विपुला हंभेति ध्वनयो याभिः धेनुभिः पुनः कथंभूताभिः । प्रचाराय तृणभक्षणाय आगताभिः, कुण्डोध्नीभिः कुण्डमिव ऊधांसि यासां ताभिः, व्रजलोकधेनुभिः गोपाललोकगोभिः उपरुद्धसविधभागो व्याप्तसमीपदेशः अपदान्तरं पदं स्थानम् अन्यत्पदं पदान्तरं स्थानान्तरमिति, न पदान्तरम् अपदान्तरं तदेव स्थान-मागतेन तद्रक्षणदक्षेण तस्य बालकस्य रक्षणे दक्षेण चतुरेण गोपालजनेन (सूर्यास्तसमये विलोकितः) कथंभूते सूर्ये । **अस्तेति**—अस्तोऽस्ताचलः तस्य अवतंस इव भूषणवत् भासः किरणाः यस्य तस्मिन्, पुनः कथंभूते । **अशोकेति**—अशोकपुष्पगुलुञ्छमनोज्ञे सरोजसुहृदि सरोजानां दिनविकासिकमलानां सुहृदि मित्रे सति विलोकितः दृष्टः ।

कथितश्च कस्मै। गोविन्दनामधेयाय गोपालाय, कथंभूताय सकलगोपज्येष्ठाय सर्वबल्लवजनेभ्यो ज्येष्ठाय वयसा अधिकाय बल्लवकुलवरिष्ठाय व्रजवंशश्रेष्ठाय, निजमुखेन तिरस्कृतकमलाय, गोविन्दाय। सोऽपि तनयप्रीत्या आनन्दमहत्या च आनीय उत्पादितमनोमोदायाः सुनन्दायाः समर्पितवान्। कृतम् अस्य इन्दिरा-मन्दिरस्य लक्ष्मीगेहस्य धनकीर्तिरिति नाम गोविन्देन। ततोऽसौ क्रमेण परित्यक्तशैशवदशः कमलेश इव परित्यक्ता मुक्ता शैशवदशा बाल्यावस्था येन सः कमलेश इव हरिरिव। युवजनेति—युवजनास्तरुणास्तेषां मनः पण्येन मनोग्रहणे यत्पण्यं क्रयाणम् अर्थप्रायं तारुण्यं तेन उत्फुल्लानि विकासं प्राप्तानि यानि बल्लवीनां गोपाङ्गनानां लोचनानि एव अलिकुलानि भृङ्गसमूहाः तैः अवलेह्यं स्वाद्यं लावण्यमेव मकरन्दः यस्य। पुनः कथंभूतम्। अमन्देति—अमन्दः महान् स चासौ आनन्दः तस्य कामः इच्छा तां ददातीति। अतिकान्तरूपायतनम् अतिमनोहरसौन्दर्यगेहम् यौवनम् आसादितः प्राप्तः। पुनरपि प्राज्यम् उत्तमं यत् आज्यं घृतं तस्य वणिज्या व्यवहारः तस्य उपार्जनं लाभः तदर्थं सज्जम् आगमनं यस्य तेन श्रीदत्तेन दृष्टः। पृष्टश्च गोविन्दः तस्य अवाप्तिप्रपञ्चः प्राप्तिविस्तरः [श्रीदत्तः मत्पत्रं दर्शयन्तं त्वं विषेण मुशलेन वा जहि इति निजपुत्राय पत्रं लिखितवान्] श्रीदत्तः—गोविन्द, मदीये सदने किमपि महत्कार्यम् आत्मजस्य तनयस्य निवेद्यं कथनीयमस्ति। तदयं प्रज्ञुः प्रकर्षवेगवती जानुनी यस्य स प्रज्ञुरयं धनकीर्तिः इमं लेखं ग्राहयित्वा सत्वरं प्रहेतव्यः प्रेषणीयः। गोविन्दः—श्रेष्ठिन्, एवमस्तु। लेखं चैवमलिखत् 'अहो विदित-समस्तपोतवकल ज्ञातसकलतुलामानपरिमाणकल, महाबल, एष खलु अस्मद्वंशविनाशवैश्वानरः अस्माकं वंशस्य कुलस्य विनाशाय वैश्वानरः अग्निरिवास्ति। अवश्यं विष्यो विषेण वध्यः, मुशल्यो मुशलेन वध्यो वा विधातव्यः इति धनकीर्तिस्तथा तातवणिक्पतिभ्याम् आदिष्टः सावष्टम्भम् अवष्टम्भ आधारः तेन सहितं सावष्टम्भं मुद्रा-सहितं गलालंकारसखं लेखं कृत्वा दवरकेन लेखपत्रं निबध्य तद्गले स बद्धवानित्यर्थः। गलबद्धभूषणेन सहेदं लेख-पत्रमपि तेन गले बद्धम्। गत्वा च जन्मान्तरोपकाराधीनमीनावतारसरस्याम् एकानस्याम् अन्यज्जन्म जन्मान्तरं पूर्वजन्मेत्यर्थः। तस्मिन्कृतो य उपकारः तस्याधीनमीनस्य अवतारः उत्पत्तिः प्रवेशो वा यस्यां तथाभूतायाम् एकानस्याम् उज्जयिन्याम्। पूर्वजन्मनि यो मत्स्यो मृगसेनेन अहिंसाव्रतरक्षार्थं जालाज्जले मुक्तः स मृत्वा उज्जयिन्यां वेश्याऽजायत। तत्प्रवेशपदिरपर्यन्तवर्तिनि वने तस्यां प्रवेशः तत्प्रवेशः तत्र यत्पदिरं महासरः तस्य पदिर-पर्यन्त (?) वर्तिनि वने उद्याने वर्त्मश्रमापनयनाय वर्त्मनः मार्गस्य श्रमहरणाय पिकप्रियालवालपरिसरे पिकानां कोकिलानां प्रियः आम्रतरुस्तस्य आलवालस्य समन्ततोऽम्भसो धारणार्थं यद्वृक्षमूले वेष्टनं क्रियते तदालवालमुच्यते तस्य परिसरे समीपप्रदेशे निःसंज्ञम् अवबोधरहितं गाढम् अस्वाप्सीत् अनिद्रात्। [तत्रोद्याने अनङ्गसेना गणिकागता सा गाढनिद्रं तं विज्ञाय तस्य गलाल्लेखम् आदायावाचयत्। तल्लेखस्य परिवर्तनं कृत्वा तत्र लेखे धनकीर्तये मदीया कन्या मदागमनमनपेक्ष्य दातव्येति लिलेख] अत्रावसरे अस्मिन् प्रस्तावे, विहितपुष्पावचयविनोदा कृतकुसुमोपचयकेलिः। सपरिच्छदा सपरिवारा। निखिलविद्याविदग्धा सकलगाननर्तनादिकलाचतुरा। पूर्वभवो-पकारस्निग्धा पूर्वजन्मकृतोपकृत्या स्नेहला। संजीवनौषधिसमाना संजीवनी नामौषधिर्यस्या उपयोगे मृतवद्दशो नरो जीवति तया सदृशी अनङ्गसेना नाम गणिका तस्यैव सहकारतरोः आम्रवृक्षस्य तलम् उपढौक्य गत्वा, विलोक्य च निष्पन्दलोचना निश्चलनेत्रा चिराय दीर्घसमयं तम् अनङ्गम् इव मदनमिव, मुक्तकुसुमास्त्रतन्त्रं मुक्तं त्यक्तं कुसुमास्त्राणां पुष्पबाणानां तन्त्रं धनुरादिपरिच्छदो येन, लोकान्तरमित्रम् अन्यो लोकः स्वर्गलोकं विना मध्यलोकः तस्य मित्रम् अशेषलक्षणेति सामुद्रिकोक्तसकलशुभलक्षणैर्युक्तदेहं धनकीर्तिम्, पुनरायुः-श्री-सरस्वती समागमं प्रतिपादयता रेखात्रितयेनेव प्रकाशं वितर्कितम् ऊहितं कर्कोटानां नागाकारभूषणानां त्रितयेन बन्धुरः सुन्दरः मध्यप्रदेशः यस्य तस्मात् कण्ठदेशात् आदाय अपायप्रतिपादनाक्षरालेखं लेखम् अवाचयत्। अपायो मृत्युः तस्य प्रतिपादनं कुर्वताम् अक्षराणां पदवाक्यस्वरूपाणाम् आलेखो लेखनं यत्र तथाभूतं लेखम् अवाचयत् पठति स्म। [अनङ्गसेनया संमृज्य मृत्युलेखं श्रेष्ठिपुत्री श्रीमती धनकीर्तये दातव्येति लिलिखे] तं वाणिजकापसदं खलं वैश्यं हृदयेन विकुर्वती जुगुप्समाना लोचनाञ्जनकरण्डादुपात्तेन लोचनार्थम् अञ्जनं कज्जलं लोचनाञ्जनं तस्य करण्डात् संपुटात्, उपात्तेन गृहीतेन वनवल्लीपल्लवनिर्यासरसद्रुतेन उपवनलताकिसलयानां मर्दनात् निर्गत-क्षीररसेन द्रवभावमापन्नेन कज्जलेन, अर्जुनशलाकया अर्जुनाख्यतृणस्य शलाकया लेखन्या, तत्रैव परिम्लिष्ट-

पुरातनसूत्रे परिम्लिष्टानि परिमृष्टानि विनाशितानि पुरातनसूत्राणि पूर्वतनानि वाक्यानि यत्र तथाभूते पत्रे लेखान्तरम् अन्यं लेखं लिलेख । तथाहि—"यदि श्रेष्ठिनो माम् अवधेयवचनम् अवधेयानि ग्राह्याणि प्रमाणभूतानि वचनानि यस्य तथाभूतं यदि मां मन्यते, महाबलश्च यदि माम् अनुल्लङ्घनीयवाक्प्रसरं पितरं गणयति, वाचां प्रसरः वाक्प्रसरः अनुल्लङ्घनीयो वाक्प्रसरो यस्य आदेयभाषणस्तं यदि मां पितरं जनकं महाबलो मन्यते, तदा अस्मै निकामं नितरां सप्तपुरुषपर्यन्तपरीक्षितान्वयसंपत्तये धनकीर्तये सप्तपुरुषावसानं यावत् अवलोकितवंशशुद्धये अस्मै धनकीर्तये कूपदप्रक्रमेण जामातृदेयं वस्तु कूपमुच्यते । हिरण्यकन्यादायी कूपदः कथ्यते । हिरण्यकन्यादानक्रमेण द्विजदेवसमक्षम् अविचारापेक्षं विचारस्य अपेक्षाम् अकृत्वा श्रीमतिर्दातव्या इति । ततो यथाम्नातविशिखम् इमं लेखम् आमुच्य यथा आम्नाता प्रोक्ता विशिखा इकार-उकारादिमात्राचिह्नानि यत्र तथाभूतम् इमं लेखम् आमुच्य गले निबध्य समाचरितगमनायां विहितस्वस्थानगतौ अनङ्गसेनायां सत्यां धनकीर्तिश्चिरेण विद्राणसान्द्रनिद्रोद्रेकः विद्राणः विनष्टः सान्द्रः निबिडः अवबोधरहितः निद्रोद्रेकः स्वापस्य अतिशयो यस्य, सोत्सेकं सगर्वम् उत्थाय प्रयाय च गत्वा च श्रीदत्तनिकेतनं श्रीदत्तगृहम्, जननीसमन्विताय महाबलाय प्रदर्शितलेखः श्रीमतिसखः श्रीमतिः सखा यस्य स श्रीमतिजानिः अजायत [श्रीदत्तो धनकीर्तिं मारणार्थं कात्यायनीमन्दिरं प्राहिणोत्, परं तच्छ्यालः तं गृहं प्रेष्य स्वयं देवीमन्दिरम् अव्रजत् तत्र च स श्यालः मारकैर्मारितः ।] श्रीदत्तो वार्ताम् इमाम् आकर्ण्य प्रतूर्णं शीघ्रं प्रत्यावर्त्य प्रतिनिवृत्य निधाय स्थापयित्वा च तद्वधाय तन्मारणाय राजधानीबाहिरिकायां चण्डिकायतने चण्डिकानामदेव्या मन्दिरे कृतसंकेतसंनद्धवपुषं मारणसंकेते संनद्धं वपुः यस्य तं नरं कच्चराचरणपिशाचीं मलिनाचारो जीववधः तत्र पिशाचीं पिशाचवदाचरणशीलां देवद्रीचीं देवमञ्चति देवद्रयङ् पुरुषः, देवपूजिका स्त्री देवद्रीची तां च तद्वधाय स्थापयित्वा, परिप्राप्तोदवसितः परिप्राप्तः उदवसितं निजगृहं रहसि धनकीर्तिं मुहुराहूय बहुकूटकपटमतिः कूटो राशिः बहुराशियुक्तकपटेषु मतिर्यस्य स श्रीदत्तः एवम् आबभाषे अब्रवीत् । वत्स, मदीये कुले किलैवम् आचारः, पट्टनरयामिनीमुखे कृष्णचतुर्दशीरात्रिप्रारम्भे कात्यायनीदेव्याः प्रमुखे प्राङ्गणे चण्डिकादेवीमन्दिरे इति भावः, प्रतिपन्नाभिनवकङ्कणबन्धेन प्रतिपन्नोऽङ्गीकृतः अभिनवो नूतनः कङ्कणबन्धः विवाहमङ्गलसूत्रबन्धो येन । स्तनंधयागोधेन स्तनंधया बाला तस्याः गोधेन पतिना । महारजनरसरक्तांशुकसमाश्रयः स्वयमेव माषमयमोरमौकुलिर्बलिरुपहर्तव्यः । महारजनानि कुसुम्भपुष्पाणि तेषां रसेन रक्तं रागयुक्तं यदंशुकं वस्त्रं तस्य समाश्रयः अवलम्बनं यस्य लोहितवस्त्रेणाच्छादित इत्यर्थः । स्वयमेव वरेणैव माषपिष्टविनिर्मितमोरमौकुलिः मोरः मयूरः काकः बलिः उपहाररूपेण उपहर्तव्यः समर्पणीयः । धनकीर्तिः—तात तात, यथा तातादेशः भवतः पूज्यस्य आदेशस्तथा तम् अनुरुन्धे । इति निगीर्य उक्त्वा, गृहीतकुलदेवतादेयहन्तकारोपकरणः गृहीतानि स्वीकृतानि कुलदेवतायै निजान्वयरक्षिकायै देवतायै देयाः हन्तकारास्तण्डुला उपकरणानि च येन स धनकीर्तिः, तेन श्यालेन पत्नीभ्रात्रा महाबलेन पुरप्रदेशान्निःसरन्नवलोकितश्च समालापितश्च भाषितश्च । हंहो धनकीर्ते, प्रवर्धमानान्धकारावन्ध्यायाम् अस्यां वेलायाम् अवगणः क्वोच्चलितोऽसि । प्रवर्धमानः वृद्धि गच्छंश्चासौ अन्धकारः तेन अवन्ध्यायां युवतायाम्, अस्यां वेलायाम् अस्मिन्नवसरे, अवगणः एकक एव गणेन परिवारेण रहितः अवगणः क्व उच्चलितोऽसि । क्व गन्तुमुद्यतोऽसि । महाबल, मातुलनिदेशान्नमसितनिवेदनाय दुर्गालये । श्वशुराज्ञायाः उपयाचितस्य निवेदनं कर्तुं देयवस्तुनिवेदनाय चण्डिकामन्दिरं यामि । यद्येवं नगरजनासंस्तुतस्त्वं निवासं प्रति निवर्तस्व । यदि गन्तुमिच्छसि, मागच्छ, यतः स चण्डिकामन्दिरमार्गः नगरजनान् प्रति असंस्तुतः अस्मिन् समये तेन मार्गेण गन्तुं नोचितम् । त्वं निवासं स्वगृहं प्रति निवर्तस्व याहि । अहम् एतदुपयाचितम् ऐशान्याः स्पर्शयितुं प्रगच्छामि इष्टसिद्ध्यै देयद्रव्यम् ऐशान्याः कात्यायन्याः अर्पयितुं प्रगच्छामि यद्यत्र तातो रोषिष्यति तद्रोषमहमपनेष्यामि । ततो धनकीर्तिर्मन्दिरमगात्, महाबलश्च कृतान्तोदरकन्दरम् कृतान्तस्य यमस्य उदरकन्दरं कुक्षिगह्वरम् । महाबलस्तत्रत्यैः मारणार्थं नियुक्तैः पुरुषैर्मारितश्च । [श्रीदत्तभार्या विशाखा धनकीर्तिमारणोपायं रचयति परं सोऽपि विफल एव भवति । विषमोदकं भक्षयित्वा उभावपि श्रेष्ठिश्रेष्ठिन्यौ म्रियेते ।] श्रीदत्तः सुतमरणशोकातङ्कोपान्तः प्रकाशिताशेषवृत्तान्तः पुत्रमृत्युजातदुःखज्वरसमीपागतान्तकः, निवेदितसकलोदन्तः, "सकलनिकाय्यकार्यानुष्ठानपरमेष्ठिनि, मन्मनोह्लादचन्द्रलेखे

विशाखे, समस्तगृहकार्याचरणचतुरे, मदीयचित्तानन्ददाने चन्द्रलेखासदृशे विशाखे, कथमयं वधेयः ममान्वयापायहेतुः प्रयुक्तोपायविलोपनकेतुः प्रवासयितव्यः। कथमयं वैधेयः गृहकर्मा मूर्खः मम वंशविनाशहेतुः प्रयुक्तोपायविनाशे केतुतुल्यः हन्तव्यः। विशाखा—श्रेष्ठिन्, मेलभावात् सर्वमनुपपन्नं त्वया चेष्टितम्। श्रेष्ठिन्, मेलभावात् मूर्खत्वात् वृद्धत्वात् चञ्चलत्वाद्वा। सर्वम् अनुपपन्नं अयुक्तिकं कार्यं त्वया कृतम्। अतः कुरुण्डतः दारुपुत्तलकान् मार्जाराद्वा भीतः कुक्कुटपोत इव ताम्रचूडशिशुरिव तूष्णीं मौनेन आस्स्व उपविश। भविष्यति भवतोऽशेषं मनीषितम्। यदिष्टं ते पूर्णं भविष्यति इत्याभाष्य उक्त्वा, अपरेद्युः अन्यस्मिन्दिवसे दयितजीवितव्यतोदकेषु मोदकेषु विषं संचार्य, दयितस्य वल्लभस्य जीवितव्यं जीवनं तस्य तोदकेषु दुःखदायिषु मोदकेषु लड्डुकेषु विषं संचार्य मेलयित्वा, सुते श्रीमते, य एते कुन्दकुमुदकान्तयो मोदकास्ते स्वकीयाय कान्ताय देयाः कुन्दपुष्पवत् श्वेतकमलवत् च सितद्युतयो लड्डुकाः निजाय कान्ताय स्वामिने देयाः, श्यावश्यामाकश्यामलरुचयश्च जनकाय, धूसरारुणवर्णतृणधान्यविशेषवद्धूसरकान्तयो मोदकाः पित्रे देयाः। इति समर्पितसमया अवगमितसंकेता समासन्नमरणसमया समीपागतमृतिवेला सरिति नद्यां सवनाय स्नानं कर्तुम् अनुससार अन्वगच्छत्। श्रीमतिः यच्चोक्ष(?) भक्ष्यं तत्प्रतीक्ष्याय, ताताय वितरितव्यम्। चोक्षं भक्षं सुन्दरः शुचिर्मोदकः स प्रतीक्ष्याय पूज्याय ताताय पित्रे देयः इत्यवगत्य विज्ञाय अविज्ञातसवित्रीचित्तकौटिल्या अबुद्धमातृमनःकपटभावा, निःशल्यहृदया सरलमानसा तान्मोदकान् एतयोः जनकपत्योः विपर्ययेण अबीवृधत् पर्यवेषयत्। ये धूसरवर्णा मोदकास्ते निजपतये, चन्द्रकान्तास्ते पित्रे तया पर्यवेष्यन्त। विशाखा—पतिशून्यं मरणं प्राप्तत्वात् पतिरहितम्, अरण्यसामान्यं वनसदृशम् अगारं गृहम् आप्य आगत्य परिदेव्य च शोकं विधाय च दीर्घसमयम्। पुनः पुत्रि, किमन्यथा भवति महामुनिभाषितम्। केवलं तव वापेन मया च थेर्यात्मीयान्वयविलोपाय कृत्योत्थापनमाचरितम्। तव वापेन पित्रा थेर्या स्थविरया जरत्या मया च आत्मीयान्वयो निजवंशः तस्य विलोपाय विनाशाय कृत्या नाम क्रूरदेवताया उत्थापनम् आचरितम्। सा जागरूका कृतेति भावः। तदलमत्र बहुप्रलापेन। कल्पद्रुमेण कल्पलतेव त्वमनेन दैवदेयदेहरक्षाविधानेन धवेन सार्धम् आकल्पम् इन्द्रियैश्वर्यसुखमनुभव इति संभाविताशीर्वादा तमेकं मोदकमास्वाद्य पत्युः पथि प्रतस्थे। कल्पद्रुणा कल्पवल्लीव त्वमनेन विधिना देयस्य देहस्य शरीरस्य रक्षणविधानेन धवेन पत्या सह आकल्पं कल्पान्तकालं यावत् इन्द्रियसुखम् ऐश्वर्यसुखं च अनुभव इति समर्पिताशीः तमेकं लड्डुकं भक्षयित्वा पत्युः पथि मार्गे प्रतस्थे जगाम मृतेति भावः। [विश्वंभरेण राज्ञा स्वकन्या धनकीर्तये दत्ता, गुणपालोऽपि धनकीर्तेः पिता कौशाम्बीदेशात्पद्मावतीपुरम् (उज्जयिनीं) आगत्य पुत्रेण सार्धं समतिष्ठत।] **एवं विहितेति**—एवं पूर्वोक्तप्रकारेण कृतपापाभिप्रायाधीनतया प्राप्तासोमसुतशोकदशे तस्मिन् भार्यापितरि तन्मातरि च दशमीस्थे मृते सति स पुरातनसुकृतप्रभावात्। **उल्लंघितेति**—अतिक्रान्तभयानकप्राणविनाशकपञ्चसंकटः, प्रतिदिवसं वर्धिष्यमाणश्रीः एकदा तेन विश्वंभरेण राज्ञावलोकितः, तदङ्गसौन्दर्ये उत्पन्नविपुलाश्चर्येण तनूजया स्वसुतया सह उभयेन विशाम् आधिपत्यपदेन वैश्यानाम् आधिपत्यपदेन श्रेष्ठिपदेन, तथा विशां मनुजानाम् आधिपत्यपदेन स्वामित्वपदव्या योजितश्च गुणपालः किंवदन्तीपरंपरया जनश्रुत्या परंपरया अस्य कल्याणपरंपराम् आकर्ण्य कौशाम्बीदेशात्पद्मावतीपुरमागत्य अनेन आश्चर्ययुक्तविभवसहितेन अनुजातेन लघीयसा पुत्रेण सह संजग्मे समगच्छत।

[पृष्ठ १६४-१६६] **अथान्यदा सकलेति**—कलत्रं पत्नी, पुत्रः मित्रं च तन्त्रं सैन्यं च तेन सहितेन धनकीर्तिना, दर्शनायागतया अनङ्गसेनया च अनुसरणतत्परः गुणपालश्रेष्ठी मतिश्रुतावधिमनःपर्ययगोचरसभ्राजम्, सकलसंयतजनवृन्दराजं श्रीयशोध्वजनामपात्रं भगवन्तम् अभिवन्द्य स बहुविनयेन वक्ष्यमाणम् अपृच्छत्—भगवन्, किं नाम जन्मान्तरे धर्ममूर्तिना धर्मस्य पूजादानादिसुकृतस्य मूर्तिना शरीरेण धनकीर्तिना सुकृतं पुण्यमुपार्जितम्। येन बालकालेऽपि तानि तानि दैवैकशरणप्रतीकाराणि दैवम् एव एकं मुख्यं शरणं रक्षकं तेन प्रतीकारः संकटविनाशोपायो येषां तानि व्यसनानि संकटानि व्यतिक्रान्तः उल्लङ्घितवान्। येन सुकृतेन अस्मिन् जगति व्यतिरिक्तम् अधिकं रसायां पृथिव्याम् अनुपलभ्यमानं यद्रूपं लावण्यं तेन संपन्नः अभूत्। येन अदभ्रः विपुलः अभ्रियः आकाशसंबन्धी विभावसुः विद्युदग्निः तस्य प्रभासंभारः कान्तिसमूहः इव देवानाम् अपि अप्रतिहतमहः अनिराकृतकान्तिः समजनि। येन चापरेषामपि अन्येषाम् अपि तेषां तेषां महापुरुषकक्षाव-

ग्रहाणां महानरपार्श्वाश्रितानां गुणानां समवायः संचयः अभवत् । तथाहि—स्थानं वदान्यतायाः दातृत्वस्य, समाश्रयः, निकेतनम् अवदानकर्मणः प्रशस्तकर्मणः, गृहम्, क्षेत्रं मैत्रेयिकायाः मैत्रीभावस्य निवासः, स्वप्नेऽपि न स्वजनस्य अजनि अजायत मनोमन्तुः मनसाप्यपराधः । कन्तुरिव च मदन इव च कामिनीलोकस्य नारीजनस्य । तदस्य भदन्त महामुने, प्रापणिकपरिषत्प्रवणस्य प्रापणिकाः क्रयविक्रयकारिणो वैश्याः तेषां परिषत् संघः तस्मिन् प्रवणस्य चतुरस्य । निःशेषेति—सकलागमचतुरचित्तस्य निसर्गादेव । निखिलेति—सकलपरिच्छदाभाषणतत्परस्य । विनेयेति—विनेतुं शिक्षितुं योग्याः विनेयाः भव्याः श्राद्धजनाः तेषां मनःकुमुदमोदिकथावतारे अमृतमूर्तेः चन्द्रस्य सुकीर्तेः शोभनयशसः पुरोपार्जितं पूर्वजन्मलब्धं सुकृतं पुण्यं कथयितुमर्हसि । भगवान्—श्रेष्ठिन् श्रूयताम् । तत्संबन्धसक्तं धनकीर्तिश्रेष्ठिनः प्राग्जन्मसंबन्धसहितं पूर्वोक्तं वृत्तान्तम् अचकथत् कथयति स्म । या चास्य पूर्वभवनिकटा पूर्वजन्मना समीपस्था घण्टाभिधेया वधूटी पत्नी आसीत्, सा पूर्वजन्मकृताभिलाषा दमूनसि अग्नौ प्रवेशादियं संप्रति अधुना श्रीमतिः संजाता, यश्च मीनः स कालक्रमेण व्यतिक्रम्य उल्लङ्घ्य पूर्वं प्राक्तनं पर्यायपर्व अवस्थाग्रन्थिम् इयं अनङ्गसेना अजनि अजायत । अतोऽस्य महाभागस्य एकदिवसाहिंसाफलं एतद्विजृम्भते परिवर्धते । धनकीर्तिः एतद्वचत्रपवित्रश्रोत्रवर्त्मा एतस्य वचत्रेण वाक्येन पूतकर्णमार्गः, तथा श्रीमतिः अनङ्गसेना च पुराभवभवं प्राग्जन्मभवं भवं जन्म संभाल्य श्रुत्वा, उन्मूल्य च तमःसंतानतरुनिवेशमिव तमसाम् अज्ञानानां संतानं समूहः स एव तरुः वृक्षः तस्य निवेशमिव रचनामिव केशपाशं तस्यैव दोषज्ञस्य अन्तिके दोषान् रागद्वेषमोहादीन् जानातीति दोषज्ञः तस्य मुनेः यशोध्वजस्य अन्तिके समीपे, यथायोग्यताविकल्पं योग्यतायाः विकल्पं भेदम् अनुसृत्य, जिनमार्गोचितेन जिनकथितचारित्रोपाययोग्याचरणेन चिराय दीर्घकालम् आराध्य रत्नत्रयम्, विधाय च विधिवत् आगमम् । अनुसृत्यै निरजन्यमनोवर्तनं प्रायोपवेशनम् । अजन्यम् उपसर्गः विघ्नः निर्गतम् अजन्यात् मनोवर्तनं यस्मिन् तथाभूतं निर्विघ्नं भावः प्रायोपवेशनमिति मासादिकमवधि कृत्वा चतुराहारत्यागं विधाय । तदनु धनकीर्तिः सर्वार्थसिद्धिसाधनकीर्तिर्बभूव । सर्वार्थसिद्धिनामकस्य पञ्चमानुत्तरस्य साधने कीर्तिर्यस्य तथा बभूव । समाधिमरणेन धनकीर्तिमुनिः सर्वार्थसिद्धिं जगामेति भावः । श्रीमतिरनङ्गसेना च कल्पान्तरसंयोज्यं षोडशस्वर्गेषु केनचिदन्यतमेन कल्पान्तरेण स्वर्गान्तरेण संयोज्यं देवसायुज्यं देवपदसंयोगम् अभजत् । भवति चात्र श्लोकः सर्वार्थः[1] । पञ्चकृत्वः इति—किलेत्यागमे । आगमे इति कथितमिति भावः । पुरा एकस्य मत्स्यस्य पञ्चकृत्वः पञ्चवारम् अहिंसनात् पञ्चवारम् अभयदानात् धनकीर्तिः पञ्चापदः पञ्च संकटानि अतीत्य उल्लंघ्य, श्रियः पतिः राजलक्ष्म्याः पतिः स्वामी अभवत् ॥३६३॥

इत्युपासकाध्ययने अहिंसाफलावलोकनो नाम षड्विंशः कल्पः ॥२६॥

२७. स्तेयफलप्रलपनो नाम सप्तविंशः कल्पः ।

[पृष्ठ १६६] अदत्तस्येति—अदत्तस्य वित्तस्वामिना यत्र समर्पितं तस्य परस्वस्य परकीयधनस्य ग्रहणं स्तेयं चौर्यम् उच्यते । परं सर्वभोग्यात् सकलैः जनैः स्थिरैः आगन्तुभिश्च भोक्तुं योग्यात् तोयतृणादितः भावात् जलतृणादितः पदार्थात् अन्यत्र तत् स्तेयम् उच्यते । जलतृणादीनां सर्वभोग्यत्वात् न तद्ग्रहणं चौर्यम् । तत्र स्वस्वामिकत्वाभावात् ॥३६४॥ ज्ञातीनामिति—ज्ञातीनां दायादानाम् अत्यये मरणे तैः अदत्तमपि धनं ग्राह्यम् इति संमतम् । तु अन्यथा जीवतां ज्ञातीनां निवेशेन दुरभिप्रायेण राजवर्चसा धनं गृह्यते चेत् व्रतक्षतिः अचौर्यव्रतनाशः स्यात् । जीवतां ज्ञातीनां निदेशेन इदं त्वं गृहाणेति दत्तं चेत् चौर्यं न भवति ॥३६५॥ संक्लेशेति—संक्लेशाभिनिवेशेन रागाद्यावेशेन आर्तरौद्राभिप्रायेण वा यत्र स्वपराश्रिते राथि धने प्रवृत्तिः स्यात्

---

१. 'ब' प्रतौ सर्वार्थः इति नास्ति 'क' प्रतौ च नास्ति सर्वार्थः ।

तत् स्तेयं स्यात् । तद्वस्तु स्वयं गृहीतम् अथवा अन्यजनाश्रयं क्रियते तत्स्तेयं स्यात् । तद्वस्तु स्वयं न गृह्णीयात् अन्यजने च न दद्यात् । तत्सर्वं राशि विज्ञेयम्, स्वान्यजनाश्रये रायि प्रवृत्तिर्जायते तत्सर्वं स्तेयं विज्ञेयम् । स्वस्य रायि धने पराश्रिते रायि धने वा कथं स्तेयं भवति । संक्लेशाभिनिवेशेन प्रवर्तनात् ॥३६६॥ रिक्थमिति—निधिनिधानोत्थं रिक्थं नदीगुहाविवराकरादिस्थितं रिक्थं धनं राज्ञः विना अन्यस्य पुरुषस्य न युज्यते । राजा एव तद्धनस्य स्वामी । अत उक्तम् इह अस्वामिकस्य स्वस्य धनस्य मेदिनीपतिः राजा दायादः साधारणः स्वामी । निधिः यो व्ययीकृतः क्षयं न याति स निधिः । यद् व्ययीकृतं सन् क्षयं याति तन्निधानम् ॥३६७॥

[पृष्ठ १६७] आत्मार्जितमिति—स्वेन अर्जितं उद्यमादिना लब्धमपि द्वापराय संशयाय स्यात् इदं मम धनमस्ति न वेति यदा संशय उत्पद्येत तदा तद्ग्रहणे दाने वा अन्यथा भवेत् स्तेयं स्यात् । अतः व्रती निजान्वयं विमुच्य अन्यस्य धनं परिहरेत् ॥३६८॥ मन्दिरे इति—मन्दिरे गृहे पदिरे मार्गे (?) नीरे, कान्तारे वने, धरणीधरे पर्वते तत् अन्यदीयम् अन्येषाम् इदम् अन्यसंबन्धि स्वापतेयं द्रव्यं व्रताश्रयैः अचौर्यव्रतं बिभ्रद्भिः न आदेयं न ग्राह्यम् ॥३६९॥ पौतवेति—पौतवन्यूनाधिक्ये पौतवं परिमाणं तत्र न्यूनता न्यूनेन परिमाणेन अन्यस्मै ददाति, अधिकेन आत्मने गृह्णाति । स्तेनकर्म चौर्यकर्मप्रयोगः चोरयतः स्वयम् अन्येन वा त्वं चोरयेति चोरणक्रियायां प्रेरणम्, ततो ग्रहः चोरेण चौर्यं कृत्वा आनीतस्य धनादिकवस्तुनो ग्रहणम् । विग्रहे यत्र द्वयो राज्ञोर्विरोधोऽस्ति तत्र अल्पमूल्येन महार्घाणि द्रव्याणि प्राप्यन्ते इति मत्वा तत्र गत्वा तथा ग्रहणं विग्रहे अर्थस्य संग्रहः उच्यते, एते दोषा अतीचारा अस्तेयस्य निवर्तकाः अचौर्यव्रतस्य निवर्तका न्यूनत्वकारका अतीचारा भवन्ति ॥३७०॥ रत्नेति—येषु व्रतिकेषु अस्तेयं व्रतं निर्मलं निरतीचारं वर्तते । तेषाम् अचिन्तिताः मनसा असंकल्पिताः रत्नाम्बरविभूतयः मणिजडितवस्त्रवैभवानि भवन्ति । तेषां रत्नानि[1] भवन्ति, रत्नानि अङ्गानि अवयवा येषां तानि गृहादीनि भवन्ति तथा च रत्नस्त्री स्त्रीरत्नं विद्याधरक्षेत्रे समुत्पन्नम् उत्तमकुले जातं तेषां भवति ॥३७१॥ परप्रमोषेति—परेषां प्रमोषः परप्रमोषः परस्य प्रमोषे चौर्ये जाते सति मनस्तोषेण कृष्णधियां मलिनमतीनाम्, तृष्णाकृष्णधियां तृष्णया कृष्णा धीः येषां तेषां नृणाम् अत्रैव अस्मिन्नेव लोके दोषसंभूतिः राजपञ्चजनादिभ्यः दण्डादिप्राप्तिः । परत्रैव च परलोके च दुर्गतिः नरकतिर्यग्गत्योः कुलहीने च जन्म जायते ॥३७२॥

[पृष्ठ १६७-१६८] श्रूयतामत्र स्तेयफलस्योपाख्यानम्—प्रयागदेशेषु निवासविलासवारलाप्रलापवाचालितविलासिनीनूपुरे इति—निवासा हर्म्याणि तत्र विलासवारलाः क्रीडां कुर्वन्त्यो याः वारलाः हंस्यः तासां प्रलापाः मधुरस्वराः तैः सह वाचालितानि मुखरितानि विलासिनीनां नूपुराणि यत्र तथाभूते सिंहपुरे सिंहसेनो नाम नृपतिः आसीत् । कथंभूतः । समस्तेति—समस्ताश्च ते समुद्राश्च समस्तसमुद्राः तैः मुद्रिता चिह्निता सा चासौ मेदिनी च पृथ्वी तस्याः प्रसाधने वशीकरणे सेना यस्य सः, पराक्रमेण सिंह इव सिंहसेनो नाम नृपतिः । तस्य रामदत्ता नामाग्रमहिषी । कथंभूता सा । निखिलेति—निखिलं च तद्भुवनं जगत् तस्य जनैः स्तवनोचितं वृत्तं सदाचारो यस्याः सा । सुतौ चानयोः सिंहचन्द्रपूर्णचन्द्रौ नाम । कथंभूतौ तौ । [2]आश्चर्येति—आश्चर्योत्पादकलावण्येन परितोषिताः आह्लादिताः अनिमिषाणां देवानाम् इन्द्रा याभ्यां तौ । अस्य नृपस्य श्रीभूतिः पुरोहितः । कथंभूतः । निःशेषेति—निःशेषाणि निखिलानि तानि शास्त्राणि तेषु विशारदा चतुरा मतिर्यस्य सः पुरोहितः सूनृताधिकधिषणतया सत्यघोषापरनामधेयः सत्यं प्रियं च यद्भाषणं तत्सूनृतं तेनाधिका चासौ धिषणा बुद्धिस्तया सत्यघोषापरनामधेयः । धर्मपत्नी चास्य पतिहितैकचित्ता पतिहिते एकं मुख्यं चित्तं मनो यस्याः सा श्रीदत्ता नामाभूत् । स किल श्रीभूतिः विश्वासो विस्रम्भः रसः प्रेम ताभ्यां निर्विघ्नतया निरन्तरतया, परोपकारनिघ्नतया च परोपकारकरणवशतया च । वणिजां

---

१. वैडूर्यपद्मरागादिमणयः रत्नानि, सुवर्णरजतादिकं रत्नाङ्गम्, उत्तमाः स्त्रियः रत्नस्त्रियः । उत्तमानि वस्त्राणि रत्नाम्बराणि भाष्यन्ते ।

२. ब-क-पुस्तकयोः आश्चर्यसौदर्यौदार्येति पाठः ।

प्रशान्तशुल्कभाटकभागहारव्यवहारम् अचीकरत् । वणिजां वैश्यानां प्रशान्तशुल्कं घट्टादिदेयद्रव्यम्, भाटकं गृहादिस्वामिने निवासार्थं व्यवहारार्थं वा देयद्रव्यं भाटकम्, भागहारव्यवहारम् उत्तमर्णाधमर्णयोः यो धनदानादिव्यवहारो भवति तत्रोत्तमर्णेन यत् अंशव्यवहारेण अधमर्णतः धनग्रहणं क्रियते स भागव्यवहारः उच्यते । एवंविधं व्यवहारं स पुरोहितोऽकरोत् । किं कृत्वा स व्यवहारमकरोत् । पेण्ठास्थानं क्रयाणपत्तनं पीठस्थानं (?) विनिर्माय । कथंभूतं तत् । विभक्तेति—विभक्ताः पृथक्पृथक् स्थिता ये अनेके अपवरकाः अन्तर्गृहाणि तेषां या रचना तया शालिनीभिः शोभमानाभिः महाभाण्डवाहिनीभिः महावणिङ्मूलधनधारिणीभिः, गोशालोपशल्याभिः गवां शाला गोशाला तस्याः उपशल्याभिः समीपस्थिताभिः कुल्याभिः पटशालाभिः समन्वितम् । पुनः कथंभूतम् । अतिसुलभेति—अतिसुलभानां जलानां यवसानां तृणानाम् इन्धनानां काष्ठानां च प्रचारो यत्र तत् । पुनः कथंभूतं तत् । भाण्डनारम्भेति—भाण्डनं कलहः तस्यारम्भे उद्भटाः शूराः ये भरीरा योधास्तेषां पेटकपक्षः समूहपक्षः तेन रक्षासारं कृतरक्षणत्वात् सारभूतम् पुनः कथंभूतम् । गोरुतेति—गोः धेनोः रुतं ध्वनिः यावद्दूरं श्रूयते तावत्प्रमाणं यद्वप्रं सस्यक्षेत्रम्, प्राकारः सालः, प्रतोलिः रथ्या, परिखा खातिका इत्यादिभिः मूत्रितं कृत त्राणं रक्षणं यस्य तत् । पुनः कथंभूतम् । प्रपेति—पानीयशाला । सत्रम् अन्नदानशाला । सभा व्यवहारनिर्णयपरिषत् । एभिः सनाथाः युक्ताः याः वीथयः गृहपङ्क्तयः तासां निवेशनं रचना यत्र तत् पण्यपुटभेदनं विक्रेयद्रव्यपरिपूर्णं पुटभेदनं नगरम् । पुनः कथंभूतम् । विदूरितेति—विदूरितं निवारितं कितवाः द्यूतक्रीडारताः । विटाः षिङ्गाः । विदूषकाः चाटुबटुकाः । पीठमर्दाः नर्मभाषणकारिणः । एतेषाम् अवस्थानं यत्र तत् तथाभूतं पेण्ठास्थानं विनिर्माय विरच्य नानादिग्देशगमनकारिणां वणिजां वैश्यानां प्रशान्तशुल्कभाटकभागहारव्यवहारमचीकरत् पुरोहितः श्रीभूतिरिति संबन्धोऽत्र ज्ञेयः । [अस्मिन्प्रस्तावे भद्रमित्रो नाम वणिक् श्रीभूतेर्हस्ते तत्पत्नीसमक्षं सप्तरत्नानि दत्वा सुवर्णद्वीपम् अगच्छत्] अत्रान्तरे अस्मिन् प्रसंगे भद्रमित्रः सुवर्णद्वीपम् अनुससारेति संबन्धः । स कस्य सूनुरिति विवृणोति कविः—पद्मिनीखेटेति—पद्मिनीखेटपट्टने विनिविष्टः संनिवेशविशिष्टो य आवासः मन्दिरम् आलयः तस्मिन् तन्त्रस्य तदधीनस्य तत्र निवसत इत्यर्थः । सुमित्रस्य वणिक्पतेः सूनुः भद्रमित्रः । कथंभूतस्य सुमित्रस्य । सुदत्तेति—सुदत्ता कलत्रं सुदत्ता भार्या तस्याः चरित्रेण सदाचारेण पवित्रितं गोत्रं यस्य, तस्य वणिक्पतेः (सुमित्रस्य) सूनुः । कथंभूतः । निजेति—निजा ये सनाभयः अन्वयजाः जनाः त एव अम्भोजानि कमलानि तेषां विकासने भानुरिव सूनुः । कथंभूतः । समानेति—समानं धनं चारित्रं येषां तैः वणिक्पुत्रैः वैश्यसुतैः सत्रं सह बहित्रयात्रायां नौकागमने यियासुः यातुमिच्छुः यियासुः जिगमिषुः । इति विचार्य सुवर्णद्वीपमनुससार । किं विचार्य । पादेति—यत् उद्यमात् धनं लभ्यते तस्य चत्वारो विभागाः कर्तव्याः । तत्र आयात् जाताद्धनलाभात्, पादं चतुर्थांशं निधिं कुर्यात् मूलधनत्वेन रक्षेत् पादं वित्ताय कल्पयेत् चतुर्थांशं वित्ताय उद्यमे भाण्डमिति योजयेत् । चतुर्थांशं धर्मे च उपभोगे च योजयेत् अवशिष्टं पादं भर्तव्यपोषणे कुटुम्बभरणार्थे तद्विनियोगं कुर्यात् ॥३७३॥ इति श्लोकार्थम् अवधार्य, अतिचिरम् उपनिधिन्यासयोग्यम् आवासं विचार्य च दीर्घकालं रत्नादिनिधिस्थापनयोग्यम् आवासः स्थानं किं स्यात् कुत्र स्यात् इति विमृश्य, उदिताचारसेव्यः उदितः विज्ञैः कथितः आचारः व्यवहारः सेव्यो यस्य । अवधारितेतिकर्तव्यः निश्चितकार्यपद्धतिः, सन् स भद्रमित्रः । अखिलेति—अखिलाः सकलाः ते च ते जनाश्च तेषां श्लाघ्यः प्रशस्यः यो विश्वासः विस्रम्भः तस्य प्रसूतिः उत्पत्तिः यस्मात् । तथाभूतस्य श्रीभूतेः हस्ते तत्पत्नीसमक्षम् अनर्घकक्षम् अनर्घाः उत्तमाः कक्षाः पार्श्वभागा यस्य तत्, अनुगताप्तकम्, आप्तेभ्यो अनुगतं हितकारिभ्यः पूर्वजेभ्यः अनुयातं रत्नसप्तकं निधाय स्थापयित्वा । विधाय च जलयात्रासमर्थं जलयात्रासंपादकम् अर्थं धनम् । एकवर्णप्रजाप्रलापम् एकवर्णा एव प्रजा वर्तते इति प्रलापः किंवदन्ती यत्र तथाभूतं सुवर्णद्वीपम् अनुससार ।

[पृष्ठ १६९-१७०] पुनरिति—पुनः अगण्यपण्यविनिमयेन असंख्यक्रयविक्रयवस्तूनां प्रतिदानेन, तत्रत्यं सुवर्णद्वीपसंबन्धि अचिन्त्यम् असंकल्प्यम् आत्माभिमतवस्तुस्कन्धं स्वेष्टपदार्थसमूहम् आदाय गृहीत्वा, प्रत्यावर्तमानस्य स्वदेशं प्रतिनिवर्तमानस्य व्याघुटितस्य अदूरसागरावसानस्य अदूरं समीपं सागरस्य समुद्रस्य

अवसानं तटं यस्य समुद्रतटस्य समीपं गतवतः। अकाण्डेति—अकाण्डे अनवसरे प्रचण्डं घोरं बलं सामर्थ्यं यस्य तथाभूतात् अनिलात् वायोः परिवर्तितपोतस्य भ्रामितनौकस्य, यद्भविष्यतया भाग्यधीनतया दैवावलम्बनपरतया आयुषः शेषत्वात् तस्यैकस्य प्रमादफलकावलम्बनोद्यतस्य प्रमादेन अनवधानतया फलकस्य आश्रयार्थम् उद्युक्तस्य, कण्ठप्रदेशप्राप्तजीवितस्य कण्ठगतप्राणस्येत्यर्थः, कथं कथमपि क्षणदायाः निशायाः क्षपणचरमयामक्षणे व्ययीकृतावसानप्रहरसमये अब्धिरोधोपलब्धिरभवत् समुद्रतटप्राप्तिरभवत्। [महता कष्टेन भद्रमित्र आगत्य श्रीभूतिं मणिसप्तकमयाचत] ततस्तदनन्तरम्, सुखैधितशरीरत्वात् सुखेन वर्धितदेहत्वात्। अपारेति—अपारश्चासौ अकूपारः समुद्रः तस्य क्षारवारि लवणजलं तस्य वशेन वशिकः अधीनः आशयः चित्तं यस्य शून्यचित्तस्येत्यर्थः। चिराय दीर्घकालानन्तरम् अपचितमूर्च्छोदयः अपचितो नष्टः मूर्च्छोदयो यस्य, स भद्रमित्रः श्रीभूतिं मणिसप्तकमयाचत। कदा मणिसप्तकमसौ अयाचत। विश्वकर्मणि सूर्ये लोचनगोचरे नेत्रविषये जाते सति, कथंभूते विश्वकर्मणि। करप्रचारेति—करा रश्मयः तेषां प्रचारः तेन चूर्णिताः चक्रवाका एव चिन्तामणयः येन सः तस्मिन्। पुनः कथंभूते। प्रागचलेति—प्रागचलः पूर्वाचलः तस्य चूलिकाः शिखराणि तेषां चक्रवालं समूहः तस्य चूडामणिरिव तस्मिन्। पुनः कथंभूते। कमलिनीति—कमलिनीनां कमललतानां कुलं समूहः तस्य विकासेन आहितम् उत्पादितं हंसवासितानां हंसस्त्रीणां शर्म येन तस्मिन्। पुनः कथंभूते विश्वकर्मणि। दरदिति—दरन्ति विकसन्ति च तानि नलिनानि कमलानि तेषाम् अन्तरालो मध्यप्रदेशस्तद्वद् रुचिरे मनोहरे आरक्तवर्णे विश्वकर्मणि नेत्रविषये जाते सति। कथंभूतः भद्रमित्रः बान्धवमरणात्, द्रविणमंद्रवणात् द्रव्यविनाशनात्, अतीवार्तमनस्तया अतीवदुःखितचित्तत्वात्। छातच्छायकायः छाता क्षीणा छाया कान्तिः कायश्च यस्य सः क्षीणकान्तिशरीरः। पटच्चरचेलेति—पटच्चरं जीर्णं तच्च तच्चेलं वस्त्रं तस्य चीरी खण्डं तया निचिता आच्छादिता अङ्गशकटिः देहानो यस्य सः। कर्पटिः मलिनवस्त्रखण्डयुक्तः कटिमात्रवस्त्रः। परेति—परेषां पस्त्यानि गृहाणि तेषाम् उपास्तिः तत्र याचनार्थं गमनं तेन निरस्ता नष्टा अभिमानावनिः गर्वभूमिर्यस्य, अवर्तनिः उपजीविकारहितः, सन् क्रमेण सिंहपुरं नगरम् आगत्य। गीर्मात्रेति—गीः वाणी सा एव गीर्मात्रं तेन अवसेयः ज्ञेयः पूर्वपर्यायो यस्य पूर्वा दशा यस्य स भद्रमित्रः। महेति—महामोहः महालोभः स एव रसः तेन उत्सारिता नाशिता प्रीतिः स्नेहो यस्य तं श्रीभूतिम् अभिज्ञानानि चिह्नानि अधिकानि वाक्येषु यस्य स भद्रमित्रः मणिसप्तकमयाचत। परेति—परेषा प्रतारणाय अभ्यस्ता पुनः पुनराम्नाता श्रुतिर्गीतिर्येन सः श्रीभूतिः—सुप्रयुक्तेनेति श्लोकाभिप्रायं परामृश्य सुप्रयुक्तेनेति—सुष्ठु पूर्वापरालोचनं कृत्वा विहितेन दम्भेन कपटेन स्वयंभूर्ब्रह्मदेवोऽपि वञ्च्यते प्रतार्यते। संवृतिः दम्भः यदि परमा पूर्णः स्यात् अन्यत्र अन्यजनविषये का नाम आलोचना को नाम परामर्शः। अन्यजनस्तु दम्भेन वञ्च्यते एव ॥३७४॥ इति परामृश्य विचार्य। महाघङ्घाघ्रातचेताः महाघङ्घो महोपहासः महातृष्णा च तेन आघ्रातं स्पृष्टं चेतो मनो यस्य सः। तम् आयातशुचम्, संप्राप्तशोकम्, अवोचत् अवदत्। "अहो दुर्दुरूट किराट गुरूपदेशम् अमन्यमान वैश्य दुराग्रहिन्नित्यर्थः। किमिह खलु त्वं केनचित्पिशाचेन छलितः पीडितः किमु मनोमहामोहावहानुरोधेन मनसः महामोहः अतीवधनविषयिणी तृष्णा तम् आवहति जनयति इति स चासौ अनुरोधः आग्रहः तेन, मोहनौषधेन अतिलङ्घितः चित्तव्यामोहं कुर्वता अगदेन परवशीभूतः, किं वा कितवव्यवहारेषु कितवाः द्यूतक्रीडारतास्तैः सह व्यवहारेषु कृतासु द्यूतक्रीडासु हारितसमस्तचित्तवृत्तिः विनाशितसकलधनः, उत अथवा अहो परचित्तवञ्चनपिशाचिकया परेषां मनःप्रतारणे पिशाचीसदृशया कयाचिद्भुञ्जिकया कयाचिद्वेश्यया जनितदुष्प्रवृत्तिः उत्पादितदुर्व्यवहारः। अर्थात् तया प्रतार्य भवतो धनं सकलं गृहीत्वा भवानधनो कृतः। आहोस्वित् फलवतः पादपस्येव फलभरितस्य वृक्षस्येव श्रीमतः धनिकस्य क्रियमाणोऽभियोगः उपद्रवः न खलु किमपि फलम् असंपाद्य अनुत्पाद्य विश्राम्यतीति विरमतीति मनसि संप्रधार्य केनचिद् दुर्मेधसा कुधिया विप्रलब्धबुद्धिः प्रतारितमतिः त्वं जात इति मन्येऽहम्। येन एवं त्वम् अतिविरुद्धम् अभिधत्से ब्रवीषि। क्वाहम्, क्व भवान्, क्व मणयः, कश्चावयोः संबन्धः। तत्कूटकपटचेष्टिताकर पट्टनपाटच्चर तस्मात् कूटम् अनृतं कपटं माया च ताभ्यां युक्तानां चेष्टितानाम् आचाराणाम् आकर खनिरूप पट्टनपाटच्चर नगरचौर। अणकपणिक कुत्सित वैश्य। सकलेति—सकले मण्डले देशे प्रतीतं प्रसिद्धं प्रत्ययिकं सर्वैः अनुभूतं शीलं

सत्प्रवृत्तिः यस्य एतादृशं माम् अतिवेलम् एव वेलां मर्यादाम् अतिक्रम्यैव अकाण्डे अनवसरे चण्डकर्मन् पर्यनुयुञ्जानः प्रश्नान् कुर्वन्, कथं न लज्जसे। पुनश्चैनम् अर्थप्रार्थनपथमनोरथविशालम् अर्थानां सप्तमणीनां प्रार्थनं याचना तस्य पथि मार्गे यो मनोरथस्तेन विशालं शब्दालं ग्रहिलवत् शब्दान् ब्रुवन्तं भद्रमित्रं पालिन्दमन्दिरं राजगृहम् अनुचरैः निजकिंकरैः आनाय्य नीत्वा अनार्यमतिः अनार्या पापयुक्ता मतिर्यस्य स श्रीभूतिः, तं भद्रमित्रं पृथिवीनाथेनापि राज्ञापि निराकारयत् निरघाटयत्। उत्तेजितराजहृदयः उत्तेजितं क्रोधक्षोभं नीतं राज्ञो हृदयं येन स श्रीभूतिः कैः उदितैः वचनैः। तान्येव वर्णयति—'देव, अयं वणिक् निष्कारणम् अस्माकं दुरपवादमृदङ्गवत् दुरपवादो निन्दा अयशश्च तयोर्घोषणं कुर्वाणो मृदङ्ग इव मुखरमुखः वाचालवदनः नाथरहितवृषभवत् सुखेन आसितुं आरोहणं कर्तुं न ददाति। अनस्तितस्नानक इव सुखेन असितुं न ददाति।' इत्यादिभिः उदितैर्भाषणैः अवाप्तप्रसरतया लब्धावकाशत्वात् उत्तेजितराजहृदयः। तथैव स्ववत् राज्ञापि निरघाटयत्।

[पृष्ठ १७१-१७२] भद्रमित्रः—चित्रमेतत्, ननु यन्मामपि परविप्रलम्भाय कुलक्रमायाताखिलकमलानिलयम् अनन्यसामान्यसाहसालयम् एष मोषधिषणानिधिः अपर इव अपायजलनिधिः नगरमध्येऽपि मोषितुमभिलषति। आश्चर्यमेतत्, ननु यत् यस्मात् मामपि परविप्रलम्भाय अन्यप्रतारणाय। कुलेति—वंशपरम्परायातसकललक्ष्मीगृहम् अनन्यसदृशसाहसगृहम्। एष मोषधिषणानिधिः एष सत्यघोषः मोषः स्तेयं तत्र या धिषणा बुद्धिः तस्या निधिर्निधानम् अपर इव अपायजलनिधिः अन्य इव अपायो विनाशः तस्य जलनिधिः समुद्रः। स एष श्रीभूतिः नगरमध्येऽपि मोषितुं स्तेनितुं चोरितुम् अभिलषति इच्छति। इति जातामर्षोत्कर्षः जातः उत्पन्नः अमर्षस्य क्रोधस्य उत्कर्षः तीव्रता यस्य स भद्रमित्रः तं न्यासार्पणे न्यासस्य निक्षिप्तस्य धनादेः अर्पणे तत्स्वामिने दाने अतिचिक्कणचित्तम् अतिकठिनमनसं निश्चित्य। स्वाध्यायिपरिषदि स्वाध्यायिनाम् अध्ययनशीलानां मठवासिनाम् परिषदि सभायां महापरिषदि च महान्तः राजपुरुषाः मान्यनागरिका वा धर्माधिकारिणः तेषां परिषदि सभायां च तस्य अन्यायस्य विश्वसितद्रोहस्य विन्यासेन स्थापनेन साध्यसिद्धिं मणिसप्तकप्राप्तिम् अनवबुध्य अनधीनधीः न परवशबुद्धिः अशङ्कमुकमतिः निःसंशयबुद्धिः महादेवीधामनेमनिवेशं महादेव्याः रामदत्तायाः धाम प्रासादः तस्य नेमे समीपे निवेशः स्थितिर्यस्य तम् अम्लिकानोकहशिखादेशम् अम्लिकानोकहः तिन्त्रिणीतरुस्तस्य शिखादेशम् अग्रप्रदेशम् आरुह्य आपद्गृह्यः आपद्भिः संकटैर्गृह्यः विवशः संकटपीडितः, कुररीविरहावसरः क्रौञ्चीवियोगसमयं प्राप्तः कुरर इव तमस्विनीप्रथमपश्चिमयामसमये तमस्विन्याः तस्याः आद्यन्त्यप्रहरवेलायां "सुहृच्चराहूतिः श्रीभूतिः भूतपूर्वः सुहृत् मुहृच्चरः भूतपूर्वमित्रम् इति आहूतिः आख्या यस्येति श्रीभूतिः एवंविधकरण्डविन्यस्तम् एवंविधसमुद्गकस्थापितम् इयत्संस्थानसदनम्, इयदाकारसहितम्, एतद्वर्णम् अदःसंख्यास्पर्णं च मदीयं मणिगणम् उपनिधिनिधेयं न्यासरूपेण रक्षणाय दत्तम्, न प्रतिददातीति। अत्र च अस्यैव धर्मरमणी धर्मपत्नी साक्षिणी च यदि यद्दत्तयैतदन्यथा मनागपि भवति चेत् एतद्वचनं असंबद्धप्रलापतया सर्वेषां ऋतूनां परिवर्तस्य निर्गमनस्य अर्धं यावत् षण्मासान् यावदिति भावः। मिथ्या भवति ईषदपि तदा मे चित्रवधो विधातव्यः" इति दीर्घघोषघूर्णितमूर्धमध्यम् ऊर्ध्वबाहुः दीर्घस्तारो घोषः स्वरः तेन घूर्णितः कम्पितः स चासौ मूर्धा तस्य मध्यो यथा स्यात्तथा। ऊर्ध्वे कृतौ बाहू हस्तौ येन सः ऊर्ध्वभुजः, सर्वर्तुपरिवर्तार्धं पूत्कुर्वन् आक्रोशं कुर्वन् एकदा रामदत्तया निर्वर्णितः अवलोकितः इति संबन्धो द्रष्टव्यः। कथंभूतया रामदत्तया कौमुदीमहोत्सवसमयं चन्द्रज्योत्स्नायां शुक्लाष्टमीमारभ्य पौर्णिमातिथिं यावत् रात्रौ नारीनरैः विहारनृत्यगायनादिक्रीडा क्रियते तस्याः कौमुदीमहोत्सवेति नाम, तत्समयम् अवलोकमानया। तत्समयं विवृणोति नगराङ्गनाजनस्य चन्द्रामृतपात्रयन्त्रधारागृहावगाहगौरितजगत्त्रयं चन्द्रस्य अमृतं सुधा तत्पात्रमिव यानि यन्त्रधारागृहाणि तेषु अवगाहेन प्रवेशेन गौरितजगत्त्रयं धवलितत्रिभुवनम्। पुनः कथंभूतया रामदत्तया। तमङ्गेति—प्रासादोपरितनभूम्यग्रे समासीनया उपविष्टया, निपुणिकेति—निपुणिकानाम्न्या उपसविन्त्र्या धात्र्या समेतया सहितया, अनाथेति—अनाथाः अनाश्रयाः ते च ते लोकास्तेषां लोचनानि नयनान्येव चकोरपक्षिणः तेषां कौमुदीकल्पं ज्योत्स्नासदृशं वृत्तम् आचरणं यस्याः सा तया। करुणेति—करुणा दया

तस्या रसः तस्य प्रचारे प्रवृत्तौ पदव्या मार्गभूतया, महादेव्या आकर्णितानुक्रोशाभिनिवेशात् श्रुताक्रोशात् करुणाभिप्रायात् निर्वर्णितश्च उपलक्षितः। तदनु तदनन्तरम्, अस्मन्मनःसंधात्रि धात्रि, न खल्वेष मनुष्यः पिशाचपरिप्लुतः अस्माकं मनः अस्मन्मनः तत् सं सम्यक् दधाति धारयति संतोषयतीति संधात्री तत्संबोधनम्, हे धात्रि हे उपमातः, एष नरः खलु न पिशाचेन परिप्लुत आविष्टः नाप्युन्मत्ताचरितः मदिरादिपानेन विक्षिप्त-वृत्तिमनस्कत्वात् निरर्गलाचरणः न। यतस्तं दिवसम् आद्यं कृत्वा सकलमपि परिवत्सरदलं यस्मिन्दिनेऽयं नरः चिञ्चिणीवृक्षमारुह्य श्रीभूतिना मदीयरत्नसप्तकं गृहीतम् इति वचो वक्तुमारम्भं कृतवान् तम् आद्यं दिवसम् अवधि कृत्वा सकलमपि वर्षस्य दलं षण्मासान् यावत् एकवाक्यव्याहारपाठाकुण्ठकठोरकण्ठनालः एकमेव वाक्यं भाषणं तस्य व्याहार उच्चारणं तस्य पाठेन अकुण्ठः अस्खलितः कठोरः कण्ठस्य ग्रीवायाः नालः नलिका यस्य सः। तद्विचारयेयं तत्तस्मात् विचारयेयं विमर्शं कुर्याम्, अचिरकालं दीर्घकालं यावत्। शारेति—शाराः द्यूतक्रीडापाशाः तेषु विशारदं चतुरं हृदयं मन एव अम्बुजं कमलं यस्य एतत्क्रीडाव्याजेन मन्त्रेः सचिवस्य पुरोहितस्य अन्तःकरणं चित्तं विचारयेयं परीक्षेयम्। अम्बिके मातः त्वयापि द्यूतदेवनावसरे द्यूतक्रीडासमये। यद्यहम् एनम् अनेककुचराचारनिचितचित्तं नानाविधाकुत्सिताचारभृतमनसम् अतिबहु-कुकुटिचेष्टितम्, अतिशयनानाविषमायाचारम्। बकोटवृत्तं बकोटो बकः तस्येव वृत्तम् आचरणं यस्य एनम् उदन्तजातं वार्तासमूहं पृच्छामि। यद्यच्च अस्य कटकोर्मिकांशुकादिकं जयामि, कटकौ हस्तभूषणे, ऊर्मिका अंगुलीयकम्, अंशुकादिकं वस्त्रादिकं जयामि द्यूतक्रीडनेन तत्तदेव अभिज्ञानीकृत्य चिह्नीकृत्य मृगीमुखव्याघ्री-समाचारकुट्टिनी श्रीदत्ता भट्टिनी मृग्या हरिण्या इव मुखं व्याघ्र्या इव समाचारः तेन कुट्टिनी दुष्टा श्रीदत्ता भट्टिनी अस्ति। तिन्तिणीतरुभाजो अम्लिकावृक्षाश्रितस्य वणिजः वैश्यस्य विषमरुचिमरीचिसंख्यासंपन्नानि रत्नानि याचयितव्या विषमा खरास्तीक्ष्णा रुचिः कान्तिर्यस्य स अग्निः तस्य मरीचयः सप्तज्वालाः तत्संख्यासंपन्नानि सप्तसंख्यायुतानि रत्नानि याचयितव्या। इति निपुणिकायाः कृतसंगीतिः कृतसंकेता। श्वस्त्येऽहनि अद्यदिनादनन्तरदिने आगामिदिने सदैव मदीयहृदयानन्ददुन्दुभे दुन्दुभे ममेदं मदीयं तच्च तद्हृदयं मनः तस्य आनन्ददुन्दुभे मोदानकतुल्यदुन्दुभे हे पाशक, त्वयापि भगवत्या पूज्यया साधु सम्यक् विजृम्भितव्यम्, मत्कार्ये साहाय्यं दातव्यमिति, यद्यस्य चिञ्चापुरुषस्य चिञ्चातरुमाश्रितस्य नरस्य सत्यता अस्ति चेत्। इत्यध्येष्य इति सत्कारं कृत्वा तत्कर्मणि द्यूतकर्मणि नियोज्य, तथैवाचरिताचरणा तथैव यथा मनसि संकल्पः कृतः तमनुसृत्य कृतकार्या, शतशः तत्तदभिज्ञानज्ञापनानुबन्धतन्त्रात्तत्कलत्रान्मर्णानुपप्रणीय राज्ञः समर्पयामास। तत्तच्चिह्नावबोधकसंबन्धवशीकृतायाः श्रीभूतिपुरोहितभार्यायाः सकाशात् मणीन् सप्तरत्नानि उपप्रणीय लब्ध्वा राज्ञः सिंहसेनस्य समर्पयामास ददौ। [राज्ञा स्वमणिराशौ तानि संमिश्य भद्रमित्र आकारितः एतेषु यानि तव रत्नानि तानि गृहाणेत्युक्तः स्वीयानेव मणीन् सोऽगृह्णात्, तुष्टो राजा तं शशलाघे] राज्ञा सिंहसेनेन अद्भुतांशौ अद्भुता आश्चर्योत्पादका अंशाः किरणा यस्य तस्मिन् स्वकीयरत्नराशौ। नैजमणिवृन्दे तानि सप्तरत्नानि संकीर्य मेलयित्वा। आकार्य चैनम् आमन्त्रलक्ष्मीलताविलासनन्दनं वैदेहकनन्दनम् अचिरादेव समीपागतश्रीवल्लीविलासनन्दनवनं वैश्यपुत्रम् 'अहो वणिक्तनय यान्यत्र रत्ननिचये मणिसमूहे तव रत्नानि सन्ति तानि त्वं विचिन्त्य गृहाण' इत्यभाणीत् अवोचत्। भद्रमित्र —चिररात्राय दीर्घकालेन ननु वितर्के दिष्टया सुदैवेन वर्धेऽहम् इति मनस्यभिनिविश्य। विमृश्य 'यथादिशति विशांपतिः भूपतिः।' इत्युपादिश्य इति उक्त्वा विमृश्य च तस्यां माणिक्यपुञ्जौ रत्नराशौ निजान्येव मनागिवलम्बितपरिचयानि, ईषत्कालमवलम्ब्य विज्ञातस्वरूपाणि रत्नानि समग्रहीत्।

[पृष्ठ १७२-१७४] ततः स नरवरः सपरिवारः प्रकामम् अतिशयेन विस्मितमतिः "वणिक्पते, त्वमेवात्र अन्वर्थतः अर्थम् अनुसृत्य सत्यघोषः, त्वमेव च परमनिस्पृहमनीषः परमा निस्पृहा नितरां निर्लोभा मनीषा मतिर्यस्य, यस्य तव चेतसि वचसि च न मनागपि ईषदपि अन्यथाभावो धनलाम्पट्यादिकं समस्ति।" इति प्रतीतिभिः प्रत्ययैः पारितोषिकप्रदानपुरःसरप्रकृतिभिः परितोषजनकधनप्रदानमुख्यस्वभावैः तत्तदौ-पयिकोपचितिवसतिभिश्च तत्तस्मात्तदाकाले उचितजाताभिः आदरवतीभिः उचितभिः। तमखिलब्रह्मस्तम्ब-स्तिभी(?) विजृम्भमाणगुणगणस्तोत्रम् सकलब्रह्माण्डहृदयैः वर्धमानगुणसमूहस्तोत्रं भद्रमित्रं कथङ्कारं न

श्लाघयामास न प्रशंसां चक्रे अर्थात् अनेकधा राजा तं तुष्टुवे । [श्रीभूतिः दण्डत्रयेण दण्डितः मृत्वा शयुः अजायत] पुनः अदूराशिवतातिम् अदूरा समीपा अशिवतातिः असुखविस्तारो यस्य तं श्रीभूतिं पुरोहितं निखिलेति—सकलजनवदनान्येव आलवालमूलं तत्र कौलीनताला निन्दा एव लता अयशोवल्ली तस्याः अवलम्बवृक्षं न्युब्जाननम् अधःकृतवदनम्, निसर्गेण प्रकृत्या हरिणीसमच्छायमपि सुवर्णप्रतिमासमकान्तिमपि महासाहसानुष्ठानात् सूमीसमानकायं सूम्या लोहप्रतिमया समानः कायः शरीरं यस्य तम् । अनल्पेति—अनल्पं विपुलं वैलक्ष्यं खेदः तेन स्फुटत् द्विधाभावं गतम् आस्वनितं मनो यस्य तम् । अतीव भयेति—अतिशयभयात् आविर्भूतः प्रकटीभूतः उत्पथवेपथुः कुमार्गाचरणात् यः शरीरकम्पः तेन तिमितं प्रस्विन्नम्, बह्वाक्षेपं बहवः आक्षेपाः अपराधाः यस्य तं श्रीभूतिम् । [सिंहसेनः प्रभुः परुषाक्षरैः वाक्यैः तीव्रं तर्जयति] आः-सोमपायिनाम् अपाङ्क्तेय वैधेय यज्ञे सोमलतारसपानं कुर्वतां द्विजानां पंक्तेर्बहिर्भूत, वैधेय मूर्ख, युक्तायुक्तशून्यत्वात् । विश्वासघातपातकप्रसवश्रोत्रिय, यो जनो विश्रब्धः तस्य घातो नाशः तदेव पातकं तस्य प्रसवस्थान, श्रीभूतिना बहूनां विश्वासघातः कृतः अतः स विश्वसितवञ्चको जातः । श्रोत्रियकितव श्रोत्रियधूर्त । दुराचारप्रवर्तितनूतनरत्नापहार दुराचारेण प्रवर्तितः निष्पादितः नूत्नाना नवानां रत्नानाम् अपहारः चौर्यं येन तत्संबोधनम् । कुशिकपांसन कुशिको नाम नृपः स तु विश्वामित्रस्य पितामहः तस्य कुलं वंशः तत्पांसयति नाशयतीति पांसनः तत्संबोधनम् । बकानुष्ठानसदन यथा बकः एकेन पादेन उद्ध्रीभूय नेत्रे नासाग्रे विधाय मत्स्यं गिलति तथा साधुत्वं प्रदर्श्य तत्सदृशं प्रवर्तमानस्य कार्यमपि बकानुष्ठानमुच्यते तस्य सदनम् आवासभूतः तत्संबोधनम् । साधुजनमनः शकुनिबन्धनाय अतनुतन्त्रीजालमिव तवेदं यज्ञोपवीतम् । हे श्रीभूते तवेदं यज्ञोपवीतं साधुजनानां मनः एव शकुनिः शुकादिपक्षी तस्य बन्धनाय अतनूनां विपुलानां तन्त्रीणां तन्तूनां जालमिव पाश इव वर्तते । असदाचारावधिक असदाचारो दुराचारः तस्य अवधिर्मर्यादाभूतः तस्य संबोधनम् हे वेदवैवधिक वेदभारवाहक सद्धर्मधामश्यामलताविधानाय विश्वभुजः समेधन, सद्धर्मोऽहिंसासत्यादिरूपः स एव धाम गृहं तस्य श्यामलताविधानाय श्यामलतोत्पादनाय विश्वभुजः विश्वं सकलं वस्तु भुङ्क्ते इति विश्वभुक् अग्निः तस्य समेधन वृद्धिविधायिन्, अकृत्यचैत्यवात्यामात्य(?) अकृत्यं विश्वसितवञ्चनादिकम् अकार्यमेव चैत्यं गृहम् तत्संबोधनम् । अकार्यधारभूत इति भावः । वात्यामात्य निकृष्टमन्त्रिन्, जरायमदूतिकोपपतिक जरा एव यमस्य दूतिका तस्याः उपपत्तौ आदरे परायणः तत्संबोधनम्, दुर्गतिक दुःखदा गतिर्यस्य तत्संबोधनम्, किमात्मनः अङ्गच्छविं न पश्यसीति संबन्धः न पश्यसि, चर्मितरुत्वचमिव चर्मितरुर्भूर्जवृक्षः तस्य त्वचमिव वल्कलमिव अतिप्रवृद्धविश्रः अतिशयेन प्रवृद्धा विश्रा जरा यस्य, वात्योन्माथशिथिलितां प्रभातप्रदीपिकामिव वातानां समूहो वात्या तस्या उन्माथः तीव्रत्वं तेन शिथिलावस्थां नीतां प्रभातप्रदीपिकामिव उषःकालीनप्रदीपिका यथा तत्सदृशीमिव, अस्तासन्नजीवितरविम् अङ्गच्छविम् अस्तपर्वतसमीपं गच्छन्तं रविमिव अस्तः मृत्युः आसन्नः समीपो यस्य स चासौ जीवितरविः तम् अङ्गच्छविम् अङ्गकान्तिं न पश्यसि, येन अद्यापि वयोर्धसि यौवने वयसि वर्तमान इव चेष्टसे । तदिदानीं तस्मादधुना यदि चेत् घनाभिघातघोरतेजसि विश्ववेदसि निक्षिप्यसे घनानाम् अयोघनानाम् अभिघातः प्रहारः तेन घोरं तेजः प्रज्वलनं यस्य तस्मिन् विश्ववेदसि अग्नौ प्रक्षिप्यसे तदा चिरोपचितदुराचारग्रहस्य दीर्घकालसंचितदुर्निवारमोहस्य स तव अचिरदुःखदायिपरिग्रहानुग्रहः अनुग्रह इव शीघ्रकष्टदायकधनादिपरिग्रहस्य अनुग्रहः अनुग्रह इव, पिशाचवत् पीडाकर इव । ततो द्विजापसद द्विजेषु विप्रेषु आसीदति अपकृष्टत्वं प्राप्नोति यः तत्संबोधनं हे द्विजापसद, हे द्विजनीच, कदाचित्त्वया इदम् अतिदुर्गन्धगोर्वरोद्गवितमध्याशयं शालाजिरत्रयम् अशितव्यम् । इदम् अतिदुर्गन्धगोमयेन उद्गवितः भृतः मध्याशयो मध्यप्रदेशो यस्य तच्छालाजिरत्रयं तत्सरावत्रितयम् अशितव्यं भक्षितव्यम् । नो चेत् गोमयभक्षणं न क्रियेत चेत् असरालबलोत्फुल्लगल्लानां मल्लानां त्रयस्त्रिंशदपहस्तप्रहृतानि सहितव्यानि । असरालं विपुलं च तद्बलं च तेन उत्फुल्लाः पीवराः गल्लाः कपोला येषां तथाभूतानां मल्लानां बाहुयोधिनां त्रयस्त्रिंशदपहस्तप्रहृतानि त्र्युत्तरत्रयस्त्रिंशा हस्तमुष्ट्याघाताः सोढव्या ध्रुवम् । अन्यथा तव सर्वस्वापहारः सर्वस्वस्य धनादेरपहरणं क्रियेत । प्राणाशा प्रणाशावकाशविभूतिः श्रीभूतिः जीविताभिलाषायाः प्रणाशस्य मृत्योः अवकाशदाने विभूतिरिति मन्यमानः श्रीभूतिः आद्यनयं दण्डद्वयं क्रमेण अतितिक्षमाणः असहमानः । पर्याप्त-

समस्तद्रविणः पर्याप्तं गृहीतं सकलद्रविणं धनं यस्य सः। क्रिमिकिर्मीरपरिषत्परिकल्पितमार्ष्टिकृतकलश-कपालमालावासिकसृष्टिः कृमयः कीटाः तैः किर्मीरः कर्बुरितवर्णः स चासौ परिषत्कर्दमः तेन परिकल्पिता या मार्ष्टिः अङ्गलेपनं यस्य तथा च कलशानां मृद्घटानां या कपालमाला खर्परपंक्तिः, वासिकः कुठारश्च तेषां सृष्टिः रचना यत्र, उच्छिष्टसरावस्रक्परिष्कृतः भुक्त्वा क्षिप्ता उच्छिष्टास्ते च ते सरावाश्च तेषां स्रजा मालया परिष्कृतः अलंकृतः। पुरात् नगरात् अबालबालेयकम् अबालं तरुणं बालेयकं गर्दभम् आरोह्य चटापयित्वा, सनिकारं सधिक्कारं निष्कासितः निःसारितः। पापविपाकोपपन्नाप्रतिष्ठाकुट्टः पापस्य विपाकेन उदयेन उपपन्ना प्राप्ता या अप्रतिष्ठा अकीर्तिस्तया कुट्टः मर्दितः, दुष्परिणामकनिष्ठः अशुभाध्यवसायैः कनिष्ठः हीनतमतां गतः, शुभाशयाः पुण्यसंकल्पाः तदेव अरण्यं तस्य विनाशाय महः तेजो यस्य तथाभूते हिरण्यरेतसि अग्नौ अतिरौद्रसर्गात् अतिशयरूपं यद्रौद्रं रौद्रध्यानं तस्य सर्ग उत्पत्तिर्यस्मात् तथाभूतात् तनुसर्गात् देहत्यागात्। आहेयेऽन्ववाये सर्पसंबन्धिनि अन्ववाये कुले प्रादुर्भूय उत्पद्य चिराय दीर्घकालम् अपराध्य च प्राणिषु बहून् जीवान् हिंसित्वा भक्षयित्वा च, जातजीवितावधिः जाता जीवितस्यावधिर्मर्यादा यस्य समाप्त-जीवितमर्यादः अधः प्रधाननिधिः अधः नरकेषु प्रधानः मुख्यः निधिः बभूव। भवति चात्र श्लोकः—**श्रीभूति-रिति**—श्रीभूतिः पुरोहितः स्तेयदोषेण चौर्यापराधेन पत्युः सिंहसेनराजात् पराभवं धिक्कारं प्राप्य लब्ध्वा रोहिताश्च प्रवेशेन अग्नौ प्रवेशं कृत्वा दंशेरः सन् अहिः भवन् अधो गतः नरके उत्पन्नः ॥३७५॥

इत्युपासकाध्ययने स्तेयफलप्रलपनो नाम सप्तविंशतितमः कल्पः ॥२७॥

२८. सुलसायाः सगरसंगमो नामाष्टाविंशः कल्पः

[पृष्ठ १७४-१७७] किं वचनं वाच्यं किं च वर्जयेत्। **अत्युक्तीति**—अत्युक्तिम् अतिशयेन उक्तिः अत्युक्तिः यथा यद् वस्तुस्वरूपं विद्यते ततोऽप्याधिक्येन कथनम् अत्युक्तिः। अन्यदोषोक्तिः अन्यस्य दोषाणाम् उक्तिर्वर्णनम् अन्यदोषोक्तिः। सा च अन्यनिन्दा भवत्विति हेतोः क्रियमाणा असत्यवचनतां प्राप्नोति परस्या-हितचिन्तनात्। असभ्योक्ति च असभ्या निन्द्याः शिष्टजनर्बहिर्भूता नरास्तेषामुक्ति गालिवचनादिकं च वर्जयेत् त्यजेत्। कीदृशं वचनं वाच्यमित्यनुयुक्ते वदति—नित्यम् अभिजातं हितं मितं वचनं भाषेत। सदा अभिजातं कुलीनजनोचितम्, हितं प्राणिनां हितकारकम्, मितम् अल्पं वचनं भाषेत। एवंविधे भाषणे सत्यवचःपालनं भवेत् ॥३७६॥ **तत् सत्यमपीति**—यत्परविपत्तये अन्यस्य प्राणिनः विपत्तये पीडायै जीवितनाशाय वा स्यात्तत्सत्यमपि वचनं नो वाच्यं न ब्रूयात्, येन वा वचनेन स्वस्य आत्मनः दुरास्पदाः दुरुत्तरा व्यापदः संकटानि तदपि सत्यं नो वाच्यम् ॥३७७॥ **प्रियशील इति**—प्रियंवदः प्रियं वदतीति प्रियंवदः येन प्राणिना तोषो जायेत न दुःखम् तादृग्भाषणं वदन् जनः प्रियंवद उच्यते। स जनः प्रियशीलः प्रियं कर्तुं शीलं स्वभावो यस्य, तथा प्रियाचारः प्रियः सर्वजनप्रीत्युत्पादकः आचारः सत्प्रवृत्तिर्यस्य। प्रियकारी प्रियं सकलजनहितकृत् कार्यं करोतीति प्रियकारी प्रियस्य करणात्। स जनः आनृशंसधीः नृशंसा निर्दया धीः बुद्धिः न नृशंसा धीर्बुद्धिर्यस्य स अनृशंसधीः आसमन्तात् अनृशंसधीः यस्य सः आनृशंसधीः परा-द्रोहबुद्धिः। नित्यं परहिते रतः भवति सत्यवादिनि नरे एवंविधा गुणा वसन्ति ॥३७८॥ अवर्णवादेन दर्शन-मोहास्रवो भवति—**केवलीति**—निरावरणज्ञानाः केवलिनः, तदुपदिष्टं बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तगणधरानुस्मृतं ग्रन्थरचनं श्रुतम्। रत्नत्रयोपेतश्रमणगणः संघः, एतेषु अवर्णवादवान् असद्भूतदोषोद्भावनम् अवर्णवादः स अस्ति यस्य स अवर्णवादवान् जन्तुर्दर्शनमोहवान् भवेत् दर्शनमोहस्यास्रवयुक्तो भवेत्। देवधर्मतपःसु च देवेषु चतुर्णिकायेषु, धर्मः अहिंसालक्षणः अर्हदागमदेशितो धर्मः। अर्हदुपदिष्टद्वादशविधेषु तपःसु च असद्भूतदोषोद्-भावनम् अवर्णवादः तं यः करोति स दर्शनमोहास्रववान् भवेत्। [1]कवलाभ्यवहारजीविनः केवलिनः इत्येव-

---

१. सर्वार्थसिद्धौ केवलिश्रुतसंघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य इति सूत्रस्य टीकायाम् एतत् अवर्ण-वादवर्णनं विद्यते [पृष्ठ २१५-२१६]।

मादिवचनं केवलिष्ववर्णवादः। मांसभक्षणाद्यभिधानं श्रुतावर्णवादः। शूद्रत्वाशुचित्वाद्याविर्भावना संघावर्णवादः। सुरामांसोपसेवाद्याघोषणं देवावर्णवादः। अनशनादितपश्चरणं केवलम् आत्मक्लेशहेतुः न ततः सुखलाभः कश्चित् इति तपसोऽवर्णवादः ॥३७९॥ **मोक्षमार्गेति**—यः मोक्षमार्गं रत्नत्रयरूपं स्वयं जानन् विदन् अर्थिने प्रार्थनायां कृतायाम् 'उपदिश मम मोक्षमार्गमिति' अहं तं ज्ञातुमिच्छामीति प्रार्थनां कुर्वते मदापह्नवमात्सर्यैः तस्य तं न भाषते न ब्रूते स आवरणद्वयी ज्ञानदर्शनावरणद्वयास्रववान् जायते। न मत्समानो ज्ञानी कश्चित् इति स्वस्योत्कर्षतावहनं मदः। कुतश्चित्कारणान्नास्ति, न वेद्मि इत्यादि ज्ञानस्य दर्शनस्य च व्यपलपनं निह्नवः। कुतश्चित्कारणाद्भावितमपि मोक्षमार्गज्ञानं दानार्हमपि यतो न दीयते तन्मात्सर्यम्। इति मदापह्नवमात्सर्याणां लक्षणानि ॥३८०॥ सत्याणुव्रतस्य दोषाः—**मन्त्रभेद इति**—मन्त्रभेदः, परीवादः, पैशुन्यम्, कूटलेखनम्, मुधा साक्षिपदोक्तिश्च एते सत्यस्य विघातकाः सन्ति। मन्त्रभेदः—अर्थप्रकरणाङ्गविकारभ्रूनिक्षेपणादिभिः पराकूतमुपलभ्य तदाविष्करणम् असूयादिभिः। परीवादः मिथ्योपदेशः अभ्युदयनिःश्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषेषु अन्यस्यान्यथा प्रवर्तनम्। पैशुन्यं परस्परभेदशीलत्वम्, अप्रकाशेन अनुचितं कथयित्वा अन्योन्यस्नेहदूषकत्वम्। कूटलेखनम्—अन्येन अनुक्तम् अननुष्ठितं च यत्किंचिदेव तेनोक्तमनुष्ठितं चेति वञ्चनानिमित्तं लेखनं कूटलेखनम्। मुधा साक्षिपदोक्तिः अहं तत्र साक्षी आसम्। इति व्यवहारनिर्णये मुधा असत्यं भाषणम् एते सत्याणुव्रतस्य विघातका नाशकाः सन्ति ॥३८१॥ **परस्त्रीति**—परस्त्रीसंश्रयां कथां बुधो न कथयेत् अमुकस्य स्त्रीसौन्दर्यादिगुणैरुपेता चतुरा च वर्तते इत्यादिकथनम्। राजविद्विष्टसंश्रयां कथाम् अस्माकं राज्ञः प्रतिपक्षी हीनबलोऽधिकबलो वेति राजविरुद्धं कथनम्। लोकविद्विष्टसंश्रयां कथां लोकेषु विद्विष्टानां शत्रूणां संबन्धिनीं कथां लोकविरुद्धां न कथयेत्। अनायकसमारम्भां कथानायकं विना यस्य कस्यापि कथनं यद्वा तद्वासंबद्धं कपोलकल्पितं प्रलपनं न कुर्याद् बुधः। अभिजातं, हितं मितं वदेदित्यर्थः ॥३८२॥ **असत्यमिति**—अस्यैदंपर्यम्। असत्यमपि किंचित्सत्यमेव यथान्धांसि रन्धयति, वयति वासांसि इति। अन्धोयोग्यतण्डुलादिषु अन्ध.शब्दप्रयोगादसत्यत्वम्। लोके तथा व्यवहारात् सत्यगं असत्यमेतत्। सत्यमपि असत्यं किंचित् यथा अर्धमासतमे दिवसे तवेदं देयमित्यास्थाय मासतमे संवत्सरतमे वा दिवसे ददातीति अत्र दानाव्यभिचारात्सत्यत्वम्। प्रतिपन्नकालव्यभिचाराच्चासत्यत्वम्। सत्यसत्यं किंचिद्वस्तु यद्देशकालाकारप्रमाणं प्रतिपन्नं तत्र तथैव अविसंवादः। यद्वस्तु यद्देशं यस्मिन् देशे तिष्ठति तथा तद्देशस्थस्य वर्णनम्। तद्वस्तुपरिमाणम्, तद्वर्णः तदाकारश्च सर्वं यथार्थं वर्ण्यते तत् वचः सत्यसत्यम्। तथैव तदविसंवादिस्वरूपकथनम्। असत्यासत्यं किंचित्स्वस्यासत्संगिरते कल्ये दास्यामीति। यद्वस्तु स्वस्य संबन्धि न भवति तत् तुभ्यं कल्ये प्रातः वितरिष्यामि इत्यादि प्रतिज्ञया कथनम् असत्यासत्यं नालपेत् ॥३८३॥ **तुरीयमिति**—लोकयात्रात्रये स्थितः लोकव्यवहाराविसंवादित्वात् सत्यसत्यादिवाक्त्रये स्थितः पुरुषः व्रती तुरीयं चतुर्थम् असत्यासत्यं भाषणं नित्यं वर्जयेत् न ब्रूयादित्यर्थः। या गुर्वादिप्रसादिनी या यद्वचः गुर्वादेः मातापित्रुपाध्यायादेः प्रसन्नतां जनयति सा गीः तद्वचः मिथ्यापि असत्यापि न मिथ्येति मन्यताम्। यतस्तत्र स्वस्य गुर्वादेश्चाहिताभावात् ॥३८४॥ **न स्तुयादिति**—आत्मना स्वेन आत्मानं स्वं न स्तुयात् न प्रशंसेत्। न परम् अन्यं जनं परिवादयेत् न निन्देत् सतः विद्यमानान् अन्यगुणान् अन्येषां गुणान् न हिंस्यात् न नाशयेत् गुणेषु दोषारोपणं हिंसा तां न कुर्यात्। असतः अविद्यमानान् स्वस्य गुणान् न वर्णयेत् ॥३८५॥ **तथेति**—स्वस्याविद्यमानान् गुणांस्तुवन् अन्यगुणान् विनाशयंश्च पुमान्नरः नीचैर्गोत्रोचितः नीचगोत्रे जननयोग्यो भवेत्। गर्हितेषु कुलेषु जन्म लभेतेत्यर्थः। परं विपरीतकृतेः अन्येषां गुणानां वर्णनात् स्वस्य सतोऽपि उत्कृष्टान् गुणान् वर्णयन् कृती विद्वान् उच्चैर्गोत्रं लोकपूजितं कुलम् अवाप्नोति लभते ॥३८६॥ **यत्परस्येति**—परस्य अन्यस्य यत् प्रियं प्रीत्युत्पादकं कार्यमुपकारादिकं कुर्यात् तत् आत्मनः स्वस्य हि यस्मात् प्रियं भवेत् अतः अयं लोकः जनः पराप्रियपरायणः किमिति। परस्य अप्रियकरणे अनुपकृतिकरणे किमिति प्रवृत्तो भवति। तेन तथा करणे प्रवृत्तेन न भवितव्यम् ॥३८७॥ **यथा यथेति**—यथायथा एतच्चेतः मनः परेषु अन्यजीवेषु तमः वितनुते पापं विस्तारयति। तथा तथा आत्मनाडीषु आत्मनः निजस्य नाडीषु तच्चेतः तमोधाराः पापोदकधाराः निषिञ्चति। अशुभपरिणामैः आत्मनालीसु आत्मनः प्रदेशनलिकासु तमोधाराः पापधाराः प्रविशन्ति ॥३८८॥

दोषतोयैरिति—शरीरिणां प्राणिनां चित्तवासांसि मनोवस्त्राणि दोषतोयैः रागादिदोषजलैः संगन्तृणि संगमं गतवन्ति गुरूणि भारयुक्तानि भवन्ति। परं शरीरिणां जीवानां चित्तवासांसि मनोवस्त्राणि गुणग्रीष्मैः अहिंसा-सत्याचौर्यादिगुणा एव ग्रीष्मर्तवः तैः संगन्तृणि संगं गच्छन्ति दोषजलापनयात् लघूनि भाररहितानि भवन्ति। अत एव दोषांस्त्यक्त्वा गुणान् व्रतिका गृह्णीरन् ॥३८९॥ सत्यवागिति—सत्यवाक् सत्यं वचनं ब्रुवाणो व्रती सत्यस्य सामर्थ्यात्प्रभावात् वचःसिद्धिं समश्नुते प्राप्नोति। तया स निग्रहानुग्रहं कर्तुं प्रभुर्भवति। अस्य वचःसिद्धिं प्राप्तस्य व्रतिकस्य वाणी यत्र यत्र उपजायते प्रवर्तते तत्र तत्र जनानां मान्या भवेत् ॥३९०॥ तर्षेति—कैः मृषाभाषामनीषित इत्याह तर्षेत्यादि। मृषाभाषामनीषितः मृषाभाषायाम् असत्यभाषायां मनीषा बुद्धिरस्यास्तीति मृषाभाषामनीषितः। असत्यवचनेषु प्रेरितमतिर्नरः तर्षेण धनादेः अभिलाषया, ईर्ष्यया परोत्कर्षासहिष्णुतया, अमर्षेण क्रोधेन, हर्षेण। कं दुःखं प्राप्नोति। जिह्वाच्छेदं दुःखम् अवाप्नोति परत्र च परलोके च गतिक्षतिं सुगतिविनाशं प्राप्नोति लभते तिर्यग्गतिं नरकगतिं वा लभते ॥३९१॥

[पृष्ठ १७७-१७८] श्रूयतामत्र असत्यफलस्योपाख्यानम्—जाङ्गलदेशेषु हस्तिनागनामावनीश्वर-कुञ्जरजनिजातावतारे हस्तिनागपुरे जाङ्गलेति नाम्ना प्रथितेषु देशेषु हस्तिनागनामा अवन्याः भूमेः ईश्वरेषु नृपेषु कुञ्जर इव गज इव तस्य जन्या जन्मना जातावतारे जातः अवतारो यस्य तस्मिन् हस्तिनागपुरे [हस्तिनागनाम्ना नृपेण विरचितत्वात् नगरस्यापि नाम हस्तिनागपुरमिति जातम्।] अयोधनो नाम नृपतिस्तत्र बभूव। कथंभूतः सः। प्रचण्डेति—प्रचण्डौ विक्रमशालिनौ तौ च तौ दोर्दण्डौ बाहुदण्डौ तयोर्मण्डली तस्या मण्डनं भूषणं स च मण्डलाग्रः खड्गः तेन मण्डनं कलहः कण्डूः खर्जनम् अस्ति येषां ते कण्डूलाः मण्डनकण्डूलास्ते च ते अरातयः शत्रवः तेषां खण्डिता च या मण्डनकण्डूलारातिकीर्तिलता तस्या निबन्धनं हेतुः अयोधनो नाम भूपतिरभूत्। तस्य च अतिथिर्नाम महादेवी कृताभिषेका। या अनवरतेति—अनवरतं सततं वसुविश्राणनं धनदानं तेन प्रीणिताः संतोषं नीता अतिथयो यया सा। अनयोः अयोधनातिथ्योः सुता सुलसा नाम सकलाश्च ताः कलाः नृत्यादयः तासाम् अवलोकनम् अर्जनं तस्मिन् अनलसा आलस्यरहिता सुलसा नाम। सा किल तया महादेव्या गर्भगतापि तया महादेव्या अतिथिना किल गर्भगतापि सा ज्ञातेयेन ज्ञातित्वेन एकोदरशालिनः एकस्मिन्नेव उदरे जातत्वात् शालिनः शोभमानस्य, रम्यकदेशनिवेशेति—रम्यकदेशे निवेशेन रचनया उपेतं सहितं यत्पोदनपुरं तत्र निवेशिनः तदधीशस्य। निर्विपक्षेति—निर्गता विपक्षाः शत्रवो यस्याः सा लक्ष्मीः रमा तया लक्षितस्य। अक्षूणमङ्गलस्य अविनष्टमङ्गलस्य अविनष्टपुण्यस्य पिङ्गलस्य सूनवे मधुपिङ्गलाय सुलसा परिणीता बभूव। कथंभूताय सूनवे गुणा एव गीर्वाणाचलो मेरुस्तस्य रत्नसानवे मणि प्रस्थाय पर्वतभागसमायेति भावः, पुनः कथंभूताय। दुर्वार इति—दुर्वाराः दुर्जेयाः ते वैरिणः तेषां वक्षः-स्थलानि उरोभूमयः तेषाम् उद्दशनं विदारणं तदेव अवदानं प्रशस्तं कर्म तस्य उद्योगः प्रवृत्तिः तस्मै लाङ्गलाय हलसदृशाय मधुपिङ्गलाय तन्नामधेयाय सूनवे परिणीता दानयोग्येति संकल्पवती बभूव। भूभुजा च महोदयेन राज्ञा अयोधनेन महान् उदयः समुन्नतिः आधिपत्यं वा यस्य तथाभूतेन तेन, पुनः कथंभूतेन। विदितेति—विदितं ज्ञातं महादेव्याः अतिथेः हृदयं संकल्पो येन तेनापि विगणय्य विचारं कृत्वा, कथंभूतं विचारं कृत्वेति विव्रियते—"यस्य कस्यचिन्महाभागस्य महादैवशालिनः पुरुषस्य भाग्यैः भोग्यतया संभोगयोग्यतया इदं स्त्रैणं स्त्रीरूपं द्रविणं धनं तस्यैतद् भूयात् भवतात्। अत्र सर्वेषामपि वपुष्मतां वपुः शरीरम् अस्ति येषां ते वपुष्मन्तः जीवाः तेषां दैवमेव शरणम् अवलम्बनम् अस्ति। कथंभूतं तत्। अचिन्तितेति—अचिन्तितानि मनसा असंकल्पितानि यानि सुखानि दुःखानि च तेषाम् आगमः प्राप्तिः तेन अनुमेयः प्रभावः सामर्थ्यं यस्य तत् दैवमेव शरणम्।" इति विगणय्य स्वयंवरार्थं स्वयं स्वेच्छया पतिरनया सुलसया व्रियतामिति हेतोः भीम-भीष्म-भरत-भाग-संग-सगर-सुबन्धु-मधुपिङ्गलादीनामवनिपतीनां भूपतीनाम् उपदानकूलं उप-दानानुकूलं मूलं प्रस्थापयांबभूवे उपदानं कन्याप्रदानं तस्य अनुकूलम् उचितं मूलं दूतैः संदेशं प्राहिणोति स्म। अत्रान्तरे मगधेति—मगधदेशानधिकृत्य प्रसिद्धिर्यस्याः तस्याम् अयोध्यायां नरवरः भूपतिः सगरो नाम। स किल किलेति वार्तायाम्। लास्येति—लास्यं नृत्यम् आदिशब्देन गानवादनादिकं तस्य विलासः शोभा तस्य कौशलं चातुर्यं तस्य रसः प्रीतिर्यस्या तस्याः सुलसायाः कर्णपरम्परया वार्तया

श्रुतेति—श्रुतः आकर्णितः सौरूप्यातिशयः लावण्यप्रकर्षः येन, सः पुनः कथंभूतः । मनागिति—मनाक् ईषत् उपरमन् अल्पीभावं व्रजन् तारुण्योदयः यौवनप्रकर्षः लावण्योदयः सौरूप्योन्नतिश्च यस्य सः, प्रयोगेण प्रयोगम् उपायं कृत्वा, तां सुलसाम्, आत्मसाच्चिकीर्षुः निजवशां कर्तुमिच्छुकः [सगरः मन्दोदरीं नाम धात्रीं विश्वभूतिं नाम पुरोहितम् अयोधननृपालयं प्रति प्राहिणोत्] कथंभूतां मन्दोदरीं प्राहिणोत् । तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यं त्रयं तौर्यत्रिकं तूर्यं मुरजादि तत्र भवं तौर्यम् । तौर्योपलक्षितं त्रिकम् इति विग्रहः । तस्य सूत्रं तस्मिन् भरतमुनिशास्त्रे इति, प्रतिकर्मविकल्पेषु प्रत्यङ्गं कर्म प्रतिकर्म शरीरस्य प्रत्यवयवप्रसाधनार्थं वेशादिकरणं प्रतिकर्मोच्यते तस्य विकल्पाः स्नानस्रक्चन्दनपङ्कादयः तेषु, संभोगसिद्धान्ते कामशास्त्रे, विप्रश्नविद्यायां विविधाः प्रश्नाः हानिलाभनष्टमुष्टादिविषयाः तेषां विद्या ज्ञानं तस्याम्, स्त्रीपुरुषलक्षणेषु समुद्रर्षिप्रोक्तेषु, [1]कथाख्यायिकाख्यानप्रवह्लिकासु कथा-प्रबन्धस्य अभिधेयस्य कल्पना स्वयं रचना, आख्यायिका-उपलब्धार्था स्वयम् अनुभूतार्थप्रतिपादनम् । आख्यानं सदृष्टान्तं कथाकथनम् । प्रवह्लिकासु अभिप्रायसूचनकथासु यथा संदेहः स्यात् तादृशगुप्ताभिधानासु, तासु तासु कलासु च परमसंवीणतालताधरित्रीम् उत्तमचातुर्यवल्लीभूमिं मन्दोदरीं नाम धात्रीम् उपमातरम् । ज्योतिषेति—ज्योतिषशकुनादिशास्त्रेषु निशिता तीक्ष्णा मतिर्बुद्धिः तस्याः प्रसूतिः उत्पत्तिर्यस्मिन् तं विश्वभूतिं च बहुमानेन अत्यादरेण संभावितम् आह्लादितं मनो यस्य तं पुरोधसं पुरोहितं तत्र पुरि नगरे हस्तिनापुरे प्राहिणोत् । [मन्दोदरी विश्वभूतिश्च सुलसां सगरे प्रीतियुक्तां मधुपिङ्गले च विप्रीतिम् अकारयताम्] कथंभूता मन्दोदरी । विशिकेति—विशिका वशीकरणं तस्याः आशयः अभिप्रायः स एव शार्दूलो व्याघ्रः तस्य दरीव मन्दोदरी तां पुरमुपगम्य । परेति—परेषां जनानां प्रतारणे वञ्चने प्रगल्भा प्रौढा मनीषा मतिर्यस्याः, कृतेति—अर्धवृद्धा कषायवसना विधवा 'कात्यायिनी' त्युच्यते कृतः विहितः कात्यायिनीवेषो यया सा मन्दोदरी । तादृच तादृच कलाः तत्तत्कलाः तासाम् अवलोकनं वीक्षणं तस्माज्जातं कुतूहलं यस्य सः तम् अयोधनधरापालम् । निजनाथेति—निजो नाथः स्वामी सगरो नृपः तस्य अर्थसिद्धिः प्रयोजनसफलता तस्यां परवती अधीना रञ्जितवती सती अयोधनं नृपम् अनुरक्तं विश्वसितं कुर्वाणा शुद्धान्तोपाध्याया भूत्वा शुद्धान्तम् अन्तःपुरं तत्र उपाध्याया अध्यापिका भूत्वा सुलसां सगरं ग्राहयामास । तथा बकोटवृत्तिवेधाः बकप्रकृतिषु जनेषु वेधाः ब्रह्मा महाकपटपटुरित्यर्थः । स पुरोधाश्च तैस्तैरादेशैः ज्योतिश्शास्त्रफलैः तस्य नृपस्य सुयोधनस्य महादेव्याश्च अतिथेः वशीकृतचित्तवृत्तिः वशीकृता निजाधीना विहिता मनोवृत्तिर्येन सः । स्वयं विहितरचनैः आत्मना कृतैः श्लोकैः मधुपिङ्गले विप्रीतिं विरक्ततां कारयति स्म । तेन विहितरचने पद्ये कुण्टे इति—मन्दे आलस्यवति नरे वायुना उन्नतहृदये उन्नतपृष्ठे च पुरुषे षष्टिदोषाः सन्ति । एकाक्षे अशीतिः । बधिरे शतम् । वामने च ह्रस्वे नरि शतं विंशं विंशत्यधिकं शतं दोषाः सन्ति तु पिङ्गे पिङ्गले नरे दोषाः असंख्यया तत्र दोषाणां गणनाकरणं न शक्यम् ॥३९२॥ मुखस्येति—मुखस्य अर्धं शरीरं स्यात् मुखस्य शोभा पूर्णा शरीरस्य तु ततोऽल्पा अर्धा । मुखं घ्राणार्धम् उच्यते यदि घ्राणं न स्यात् तर्हि विगतनासिकं मुखं न शोभते । घ्राणं नेत्रार्धं घ्राणे नासायां विद्यमानेऽपि नेत्रयोरभावे घ्राणं न शोभते । अतः शरीरमुखघ्राणेषु नयने परे उत्तमे ज्ञेये ॥३९३॥ इत्यादिवर्णनैः विश्वभूतिः सुलसाया मनसि अप्रेम उदपादयत् [ततः सुलसा स्वयंवरमण्डपे सगरराजानं वृणुते स्म] ततः चाम्पेयमञ्जरीसौरभं चम्पकपुष्पमञ्जरीसौगन्ध्यमेव दुग्धं तस्य पाने लुब्धाः लोभिष्ठाः स्तनंधया इव पुष्पंधया भ्रमराः तद्वत् । यथा पयःपाने लुब्धाः स्तनंधया भवन्ति तथा तेषु स्वयंवराह्वानशृङ्गारिताहंकारेषु स्वयंवराह्वाने समागते शृङ्गारोऽस्ति यस्य शृङ्गारितः अहंकारो यैस्ते शृङ्गारिताहंकाराः सगर्वाः इत्यर्थः । सगर्वेषु राजसु मिलितेषु मन्दोदरीवशमानसा मन्दोदर्यधीनमनाः सा सुलसा श्रुतिमनोहरं श्रुत्या शब्देन मनो हरति इति शब्दचेतोहरं सगरम् अवृणोत् वृणोति स्म । कथम्, यथा निम्नधरोपगा आपगा सागरं निम्नधरा नीचभूमिः ताम् उपगच्छतीति निम्नधरोपगा निम्नभूमिवाहिनी आपगा वाहिनी नदी सागरं गच्छति

---

१. कथादीनाम् इदमपि लक्षणम्—कथा चित्रार्थगा ज्ञेया ख्यातार्थाख्यायिका मता । दृष्टान्तस्योक्तिराख्यानं प्रवह्लीका प्रहेलिका ॥

तथा सा सगरं वृणुते स्म । भवति चात्र श्लोकः—अल्पैरिति—समर्थैः अल्पैरपि सहायैः साहाय्यं वितरद्भिः कार्यकारिभिः पुरुषैः नृपः विजयी भवति । कुन्तस्य शस्त्रविशेषस्य अन्तः अग्रं कार्याय शत्रुविनाशाय भवति । परम् अस्य कुन्तस्य दण्डस्तस्य परिच्छदः सहायो भवति । तथा सगरस्य नृपस्य धात्रीपुरोहितौ द्वावेव तत्कार्याय समर्थौ जाताविति भावोऽत्र विज्ञेयः ।।१९४।।

इत्युपासकाध्ययने सुलसायाः सगरसंगमो नामाष्टाविंशः कल्पः ॥२८॥

२९. वसो रसातलसादनो नामैकोनत्रिंशः कल्पः

[पृष्ठ १७९-१८१] [जातवैराग्यः मधुपिङ्गलः गृहीतदीक्षः विहरन् सगरद्वारमागात्, तत्र शिवभूतिविश्वभूतिशिष्यः उत्तमलक्षणोपेतं तमवलोक्य दह्यतामेतत्सामुद्रिकशास्त्रमित्युवाच । श्रुत्वा तद्गिरं विश्वभूतिः सकलं पूर्वेतिहासं तस्याकथयत् । सर्वमेतद्व्यतिकरं श्रुत्वा मधुपिङ्गलो मुनिः क्रुद्धो जज्ञे । कालेनोत्पद्य कालासुरनामासुरो जातः ।] प्ररूढनिर्वेदकन्दलः उत्पन्नभववैराग्याङ्कुरः मधुपिङ्गलः, "धिगिदं भोगायतनं शरीरम् । अभोगायतनं सुलसाभोगरहितत्वात् अभोगास्पदम् । यत् यस्मात् एकदेशदोषात् एकदेशः शरीरैकभागः नेत्रे तत्र दोषात् इमाम् उचितसमागमाम् अपि उचितः न्याय्यः समागमः संभोगो यस्यास्ताम् अपि मामतनूद्भवां मामस्य पुत्रीम् अहं नालप्सि न लब्धवान् ।" इति मत्वा विमुक्तेति त्यक्त-भवमोहः स्वीकृतदीक्षः, क्रमेण तांस्तान् ग्रामारामनिवेशादीन् ग्रामवनादिरचनाविशेषान् निरनुकः अकामः । जङ्घारिक इव प्रशस्ताभ्यां वेगवतीभ्यां जङ्घाभ्यां इयर्ति गच्छतीति जङ्घारिक इव जाङ्घिकपुरुषवत् लोचनोत्सवतां नयन् नयनानन्दतां नयन् तत्रत्यजनानां नयनयोर्मोदं वितरन्, अशनाया बुद्धया भोजन-कामेनेति भावः, अयोध्यामागत्य अनेकेति—अनेकैरुपवासैः अनाहारैः चतुर्विधाहारत्यागैः पराधीनचित्त-सामर्थ्यः, तीव्रोदन्यतया तीव्रतृष्णया अतिक्लान्तशरीरः । वाष्पोह इव जलं पातुमिच्छंश्चातक इव क्लमथुव्य-पोहाय ग्लानिनाशाय सगरागारद्वारमन्दिरे सगरनृपस्य द्वारगृहे मनाग् ईषत्कालं व्यलम्बत तस्थौ । तत्र च पुरेति-[पुरा यदा सा सुलसा अतिथिदेव्या गर्भे आसीत् तदा मयेयं मधुपिङ्गलाय देयेति मनःसंकल्पमकरोत्सा । परं तस्याः सुलसायाः परिणयस्य प्रदानस्यापायः विश्वभूतिना अक्रियत ।] पुरा स्वयंवरकाले प्रयुक्ता योजिता परिणयापायस्य प्रदानविनाशस्य नीतिर्येन स विश्वभूतिः प्रगल्भमतये प्रगल्भा प्रौढा मतिर्बुद्धिर्यस्य तस्मै शिव-भूतये रुचिष्याय प्रियाय शिष्याय, रहितेति-रहिता रहस्यस्य गोपनीयस्य मुद्रा प्रतीतिर्यत्र, तत्सामुद्रकं समुद्रेण-र्षिणा प्रोक्तं देहचिह्नवृन्दम् अशेषविदुषविचक्षणः सकलबुधनिपुणः व्याचक्षाणो विवृण्वानः बभूव । परेति—परामर्शः पूर्वापरालोचनज्ञानं तस्य वशः असंशीतिः संशयरहितः स शिवभूतिः तं व्यक्तलक्षणपेशलं व्यक्तानि सकलानि च तानि लक्षणानि शुभदेहचिह्नानि पद्मवज्रादीनि तैः पेशलः सुन्दरः तं मधुपिङ्गलम् अवलोक्य 'उपाध्याय, घनेति—घनं विपुलं तच्च घृतं तस्य आहुतिभिर्वृद्धिर्यस्यास्तीति वृद्धिमत् तच्च तद्धाम च तेजः तेन शालते इति धामशालिनि, ज्वालामालिनि ज्वालानां शिखानां माला यस्य तस्मिन् अग्नौ, दह्यताम् एतस्य ऐतिह्यस्य पारम्पर्योपदेशस्य स्वाध्यायः अध्ययनं पठनम्,' यत् यस्मात् एवमिति—एवंविधशरीरोऽपि अयं मुनिः ईदृगवस्थायाः एतादृग्दशायाः कीर्तिवर्णनं यस्य । अतः एतल्लक्षणशास्त्रं विफलम् इति शिवभूतेर्भाषणं श्रुत्वा विश्वभूतिर्वक्ष्यमाणं उवाच 'कथंभूतो विश्वभूतिः । सदेति—सदाचारस्य निगृहीतिर्विनाशो यस्मात् स विश्वभूतिः (वदति) अपर्याप्तेति—न परि सर्वतः आप्ता पूर्वापरसंगतिर्ज्ञानं येन तत्संबोधनम् हे शिवभूते, मा गाः खेदम्, यदेष नृपवरस्य सगरस्य निदेशादेशात् निदेशात् कृतात् आदेशात् आज्ञायाः, अस्मदुपदेशात् च अनन्येति—अन्यत्र उपलभ्यमानं सामान्यं लावण्यम् अन्यसामान्यलावण्यं न उपलभ्यमानं सामान्यं लावण्यम् अनन्यसामान्यलावण्यम्, तस्य निवासो यस्यां सा तां सुलसाम् अलभमानः तपस्वी दीनः तपस्वी अभूत् मुनिरजायत । एतच्च आसन्ना समीपा अरिष्टानां मरणलक्षणानां ततिः पङ्क्तिर्यस्य तस्य विश्वभूतेः वचनम् एकायनमनाः एकस्मिन्मुख्ये अयनं गमनं मनसो यस्य स एकायनमनाः एकाग्रसावधानो वा ।

मधुपिङ्गलो यतिः निशम्य श्रुत्वा प्रवृद्धक्रोधानलः समिद्धरोषाग्निः कालेन कतिपयैर्दिवसैः विपद्य मृत्वा उत्पद्य जनित्वा चासुरेषु कालासुरनामा भवप्रत्ययमाहात्म्यात् भवः जन्म प्रत्ययः कारणं तस्य माहात्म्यात् प्रभावात् उपजातावधिः उत्पन्नावधिज्ञानस्य संनिधिः समीपता यस्य, स कालासुरः तपस्याप्रपञ्चं तपोविस्तारम्, अन्वयोदञ्चं च असुरकुले उदञ्चम् उत्पत्तिं च आत्मनो निजस्य विनिश्चित्य, यत् इदानीमेव अधुनैव महापराधनगरं महापराधानां नगरमाश्रयं सगरं नृपम् अकारणं हेतुं विना प्रकाशिता प्रकटिता दोषजातिः येन तं विश्वभूतिं च चूर्णपेषं पिनष्मि गोधूमचूर्णवद्दलनं करोमि। तदानयोः सगरविश्वभूत्योः सुकृतभूयिष्ठत्वात् पुण्यवैपुल्यात् प्रेत्यापि परलोकेऽपि सुरश्रेष्ठत्वावाप्तिः देवज्येष्ठत्वलाभः न साध्वपराधः स्यात्। ततो यथा इह अनयोर्बहुविडम्बनावरोधो वधः बह्व्यः विपुलाः विडम्बनाः क्लेशाः तासाम् अवरोधः संबन्धः यथा भवेत्, परत्र च परलोके नरकादौ दुःखपरम्परानुरोधः दुःखसमूहसंबन्धो यथा भवति तथा विधेयं कार्यम्। न च एकस्य बृहस्पतेः सुरगुरोरपि अतिचतुरस्यापि कार्यसिद्धिरस्ति। इति अभिप्रायेण **आत्मेति**—निजविक्रियासामर्थ्यप्रकटीकरणे साहाय्यं प्रयच्छन्तम् अतिथिमिव, वैरनिर्यातनं शत्रुप्रतिकारः तस्य मनोरथः संकल्पः स एव रथः तस्य सारथिं रथचालकमिव कंचन नरम् अन्वेषणमतिः अनुसंधानबुद्धिः आसीत्।

[पृष्ठ १८१-१८३] [यस्य साहाय्यमासाद्य कालासुरः सगरं विश्वभूतिं च मृतिं निन्ये तस्य पर्वतस्य पूर्वचरितं वर्ण्यते] अथ मधुपिङ्गलस्य कालासुरावस्थाप्राप्तिवर्णनानन्तरं पर्वतस्य कालासुरसाहायकस्य कथा कथ्यते—**कामेति**—कामस्य कोदण्डो धनुः तस्य कारणानि च तानि कान्ताराणि वनानि तैरिव इक्षुवणानाम् अवतारैः उत्पत्तिभिः विराजितमण्डलायाम् अलंकृतो मण्डलो आसमन्ताद्वृत्तभूप्रदेशो यस्याः तस्यां इहालायां तन्नामके देशे स्वस्तिमती नाम पुरी अस्ति। तस्याम् अभिचन्द्रापरनाम वसुविश्वावसुर्नाम नृपतिः अस्ति। तस्य सकलगुणरत्नप्रसूतिः वसुमतीनाम अग्रमहिषी प्रधानराज्ञी। अनयोः सूनुः पुत्रः **समस्तेति**—सकलशत्रुतरुदहने विभावसुः अग्निरिव वसुर्नाम। पुरोहितश्च **निश्चितेति**—ज्ञातसकलागमरहस्यसमूहः क्षीरकदम्बो नाम। कुटुम्बिनी—अस्य कुटुम्बविशिष्टा भार्या सती पतिव्रता व्रतानाम् अहिंसादीनाम् उपास्तौ भक्तिपालने तत्परा स्वस्तिमती नाम। जन्युः पुत्रः पुनरनयोः क्षीरकदम्बस्वस्तिमत्योः [अनेकनमसितानि पूजनानि तेषां पर्वतः समूहः तेन प्राप्तो लब्धः पर्वतो नाम। स किल सदाचरणभूरिः सदाचरणेषु अहिंसादिषु इज्यादिषट्कर्मसु भूरिः ब्रह्मेव क्षीरकदम्बसूरिः एकदा सुवर्णगिरिर्नाम तन्नामा पर्वतः तस्य गुहायाः अङ्गणशिलायाम्, यस्यां शिष्यमताविव स्वाध्यायसंपादनवत् विशालायां विस्तृतायां तस्मै मुदा आनन्देन गतस्मयाय विनष्टगर्वाय यथाविधि विधिमनतिक्रम्य समाधिगासवे सम्यक् आधिम् एकाग्रतां गच्छन्ति असवः प्राणाः यस्य तस्मै वसवे, **प्रगलितेति**—प्रगलितः विनष्टः पितुः पाण्डित्यस्य गर्व एव पर्वतो यस्मात् तस्मै पर्वताय, गिरिकूटपत्तनं वसतिर्निवासस्थानं यस्य तस्य विश्वनाम्नः विश्वंभरापतेः विश्वंभरा पृथ्वी तस्याः पत्युः स्वामिनः पुरोहितस्य कथंभूतस्य। **विहितेति**—अनवद्या निर्दोषा सा चासौ विद्या च अनवद्यविद्या तयोपेत आचार्यः अनवद्यविद्याचार्यः विहिता कृता अनवद्यविद्याचार्यस्य चरणसेवा येन तथाभूतस्य विश्वदेवस्य नन्दनाय पुत्राय नारदाभिधानाय च **निखिलभुवनेति**—सकलजगद्व्यवहारस्य तन्त्रं कारणम्, आगमसूत्रम्, अतिमधुरस्वरनिमित्तेन उपदिशन् (क्षीरकदम्बसूरिः) अम्बरादाकाशात् अवतरद्भ्यां भूमितलम् आगच्छद्भ्याम्, सूर्यचन्द्राभ्यामिव अमितगत्यनन्तगतिभ्यां ऋषिभ्याम् ईक्षांचक्रे अवलोकयामासे। [अमितगतिभगवतोक्तं चतुर्षु एषु द्वाभ्यामूर्ध्वगतिर्लभ्येति' श्रुत्वा पर्वतनारदौ परीक्षितौ क्षीरकदम्बेन। पर्वतस्याधोगमनं नारदस्य चोर्ध्वगमनं निश्चित्य क्षीरकदम्बो मुनिर्जज्ञे। आयुरन्ते सल्लेखनां विधाय देवो बभूव] तत्र समासन्नसुगतिः समासन्ना निकटीभूता सुगतिर्यस्य स भगवाननन्तगतिः किलैवम् अभाषत—भगवन्, अत एव खलु विदुष्याः शिष्याः वेत्तुम् अध्येतुं योग्या विदुष्याः शिष्याः, यदेवम् अनवद्यं निर्दोषं ब्रह्मोद्यविद्यं ब्रह्मणा अर्हता जिनदेवेन उद्या प्रतिपादिता विद्या जीवादिसप्ततत्त्वज्ञानं यत्र तदेतच्छास्त्रं ग्रन्थः। शब्दपदवाक्यानि अर्थः तदभिप्रायः। तयोः प्रयोगः सनिदर्शनं प्रतिपादनम्। तस्य भङ्ग्यः प्रकाराः। तेषु यथार्थप्रतिपादनेन विधूतोपाध्यायात् उपाध्यायात् विधूतः उपाध्यायो बृहस्पतिः येन तस्मादुपाध्यायात् गुरोः, एकसर्गधियः एकनिश्चयमतयः, अधीयते पठन्ति। **प्रयुक्तेति**—प्रयुक्ता उपयोगदशाम् आनीता अवधिज्ञानस्थितिर्येन स अमितगतिर्भगवान्—"मुनिवृषन् यतिश्रेष्ठ, सत्यमेवैतत्।

किंतु एतेषु चतुर्षु मध्ये द्वाभ्याम् असितगौरवोपेतपदार्थवत् कृष्णभारयुक्तवस्तुवत्, अधःप्रबोधोचितमतिभ्याम् अधोगतिप्रापणयोग्यकुज्ञानयुतबुद्धिभ्याम् इदम् अतिपवित्रमपि सूत्रम् आगमः विपर्यासितव्यम् विपरीताभिधेयं कर्तव्यम् ।" एतच्च प्रवचनम् आगमः तदेव लोचनं नेत्रं तेन आलोकितः वीक्षितः ज्ञातः ब्रह्मस्तम्बो जगत्स्तम्बः चराचरद्रव्याणां सर्वगुणपर्याया येन सः क्षीरकदम्बः, संश्रुत्य आकर्ण्य "नूनमस्मिन् महामुनिवाक्ये-ऽर्थात् सप्तरुचिरग्निः तस्य मरीचयो ज्वालाः ताः यथा ऊर्ध्वं गच्छन्ति तथा चतुर्षु नरेषु द्वाभ्याम् ऊर्ध्वगाभ्यां सुरलोकं गच्छद्भ्यां भवितव्यमिति प्रतीयते ज्ञायते । तत्राहं तावत् एकदेशयतिपूतात्मानम् एकदेशयतिः उपासकः स चासौ पूतात्मा पवित्रात्मा तम् अधरधामसंनिधानम् अधरं च तद्धाम च स्थानं तत्र संनिधानं सामीप्यं न संवयेयम् अधोगतिस्थानं नरकं तत्र अहम् आत्मानं न प्रध्नीयाम् । अर्थात् अहं श्रावकधर्मधारकत्वादधोगतिं न यास्यामीति भावः । [अहं वसुं च नोर्ध्वं यियासुं संवयेयम्] यतः नरकान्तं राज्यम् । नरकः नरकप्राप्तिः अन्तः अवसानं फलं यस्य एतादृशं राज्यम् । बन्धनान्तो नियोगः नियोगः पापकार्ये प्रेरणा स बन्धनान्तो बन्धनं पापबन्धः अन्तोऽवसानं फलं यस्य एवंविधो भवति पापकार्ये प्रेरणया पापं बध्यते इत्यर्थः । मरणान्तः स्त्रीषु विश्वासः नारीषु विश्वासेन बहवो निधनं याताः, विपदन्ता खलेषु मैत्री दुष्टेषु सख्यम् आचरितं विपत्फलं जनयति । इति वचनात् इति वृद्धोक्तेः, **इन्दिरेति**—इन्दिरा लक्ष्मीः तस्या मदो गर्वः । मदिरामदः सुरापानाज्जातं विवेकविकलत्वम्, एताभ्यां द्वाभ्यां मलिनप्रचारे मलिनं पापं तस्मिन् प्रचारः प्रवृत्तिः यस्माद्भवति तथाभूते राज्यभरे प्रसरदसुं प्रकर्षेण सरन्त; असवः प्राणा यस्य तथाभूतं वसुं च नोर्ध्वं यियासुम् ऊर्ध्वं सुरलोकं यियासुं जिगमिषुं न संवयेयम् न जानामि । तन्नारदपर्वतौ परीक्षाधिकृतौ परीक्षायाम् अधिकृतौ नियुक्तौ तौ मया परीक्ष्यौ इति निश्चित्य समिधमयं पिष्टनिर्वृत्तम् ऊर्णायुद्वयं छागयुगलं निर्माय विरच्य प्रदाय च ताभ्याम् "अहो द्वाभ्यामपि भवद्भ्याम् इदं उरणयुगलं छागद्वन्द्वं यत्र न कोऽप्यवलोकते न पश्यति तत्र विनाश्य हत्वा प्राशितव्यं भक्षितव्यम्" इत्यादिदेश । तावपि तदादेशेन तदाज्ञया हव्यवाहनवाहनद्वितयं हव्यं समिदादिद्रव्यं वहतीति हव्यवाहनः अग्निः तस्य वाहनो छागो तयोर्द्वितयं युगलं प्रत्येकम् आदाय गृहीत्वा यथायथम् आत्मशक्त्यनतिक्रमेण अयासिष्टाम् अगच्छताम् । तत्र सत्सख्यातिखर्वः पर्वतः सद्भिः सज्जनैः सख्यं मैत्र्यं सत्सख्यं तस्मिन् अतिखर्वः अतिवामनः सज्जनमित्रतादूर इति भावः । पर्वतः पस्त्यपाश्चात्यकुम्बाम् उपसद्य पस्त्यस्य गृहस्य पाश्चात्यां परभागे वर्तमानां कुम्बां तटभित्तिम् उपसद्य आश्रित्य अह्रस्वः उन्नतः पर्वतः तम् उरभ्रं छागं भटित्रं संपाद्य अग्निपक्वं विधाय तस्य उत्रं मांसम् उदरानलपात्रम् उदराग्निभाजनम् अकार्षीत् अकरोत् । शुभाशयविशारदो नारदस्तु पुण्यविचारचतुर. नारदः 'यत्र न कोऽप्यालोकते' इति उपाध्यायोक्तं गुरुवचनं ध्यायन् मनसा विमृशन्, 'को नामात्र पुरे, कान्तारे, वा सद्रुघणद्रुभिः वृक्षैः सहितः सद्रुः स चासौ घनः सान्द्रः सद्रुघणः वृक्षनिबिडः प्रदेशः (?) अत्र पुरे नगरे कान्तारे वने वा को नाम सद्रुघणः न आत्मेक्षणस्य आत्मनयनस्य आत्मानयनभूतो यस्य सः तस्य अवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानिनः, **व्यन्तरगणेति**—व्यन्तरामरसमूहस्य, महामुनिजनानाम् अन्तःकरणस्य कः पदार्थः अधिकरणं विषयो न भवेत् । इति विचिन्त्य तथैव तं वृष्णि छागम् उपाध्यायाय समर्पयामास ददौ । उपाध्यायः नारदमपि ऊर्ध्वगं सुरलोकगतियोग्यम् अवबुध्य । संसारतरुस्तम्बमिव कचनिकरम्बं केशसमूहम् उत्पाट्य लोचं विधाय । स्वर्गलक्ष्मीसपक्षां सुररमासखीं दीक्षाम् आदाय गृहीत्वा । निखिलागमसमीक्षां सकलजिनसिद्धान्तानां सम्यक् ईक्षणं यस्याः भवति तां शिक्षां पठनम् अनुश्रित्य चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघसंतोषणं गणपोषणम् आत्मसात्कृत्य । मुनि-ऋषि-यति-अनगारभेदः चातुर्वर्ण्यसाधुसमूहः तस्य मनःप्रसादसंपादनं गणपोषणं निजाधीनं कृत्वा, आचार्यपदं धृत्वेत्यर्थः । एकत्वादिभावनापुरस्कारम् आत्मसंस्कारं विधाय, तपोभावनैकत्वभावनाश्रुतभावनासत्वभावनाधृतिभावनानाम् अभ्यासं विधाय कायकषायकर्शनां सल्लेखनाम् अनुष्ठाय कायः शरीरं कषायाश्च क्रोधादयः तेषां यथाक्रमं कर्शनम् अल्पीकरणं विधाय **निःशेषेति**—सकलमूलगुणादिदोषाणाम् आलोचनां कृत्वा अङ्गविसर्गसमर्थम् देहत्यागक्षमम् उत्तमार्थं यावज्जीवं चतुर्विधाहारत्यागं प्रतिपद्य अङ्गीकृत्य सुरसुखकृतार्थो बभूव देवसुखं लब्ध्वा कृतप्रयोजनो जज्ञे [एकदा पर्वतनारदयोरजैर्यष्टव्यमिति प्रवचनवाक्यमधिकृत्य वादोऽजनि, तत्र वसुरध्यक्षो जातः] पूर्वमेव तदादेशात् क्षीरकदम्बगुरोः आज्ञामनुसृत्य, आत्म-

देशोपदेशः आत्मनः स्वस्य देशं गत्वा कृतोपदेशः सकलसिद्धान्तकोविदः नारदः सद्गुणभूरेः सद्गुणप्राप्तेः भूरिः ब्रह्मा देवतुल्यः तस्य क्षीरकदम्बसूरेः प्रव्रज्याचरणं स्वर्गारोहणं चावगत्य 'गुरुवद्गुरुपुत्रं च पश्येत्' इति कृतसूक्तस्मरणपर्याप्तितदाराधनोपकरणः इति सूक्तेः स्मरणात् गृहीतगुर्वाराधनसाहित्यः तद्विरहदुःखदुर्मनसं निजपतिवियोगदुःखव्याकुलचित्ताम् उपाध्यायभार्याम् जननीं निजमातृतुल्यां सहपांसुक्रीडितं सहधूलिक्रीडितं निजमित्रं पर्वतं च द्रष्टुम् आगतः। अपरेद्युः अन्यस्मिन्दिने तं पर्वतम् 'अजैर्यष्टव्यम्' इति वाक्यम् अजैः अजात्मजैः छागैः यष्टव्यम्, हव्यकव्यार्थौ विधिर्विधातव्यः। देवेभ्यो दीयमानम् अन्नं हव्यम्। पितृभ्यो दीयमानमन्नं कव्यम् अग्निमुखेन देवेभ्योऽन्नं दीयते, विप्रमुखेन पितृभ्योऽन्नमिति। इति श्रद्धामात्रावभासिभ्योऽन्तेवासिभ्यो व्याहरन्तमुपश्रुत्य केवलं श्रद्धामात्रेण अवभासो येषां ते श्रद्धामात्रावभासिनः तेभ्यः गुरुकथितं श्रद्धया श्रोतव्यम् इति मत्या तदभिप्रायं शृण्वद्भ्यः विद्यार्थिभ्यः व्याहरन्तं प्रतिपादयन्तम् उपश्रुत्य श्रुत्वा बृहस्पतिप्रज्ञः सुरगुरुतुल्यमतिः (नारदः) "पर्वत, मैवं व्याख्यः एवं विवरणं मा कुरु। किं तु 'न जायन्ते इत्यजाः वर्षत्रयवृत्तयो व्रीहयस्तैर्यष्टव्यम् व्रीहयो धान्यमात्रं त्रैवार्षिकैर्धान्यैर्यष्टव्यं शान्तिकपौष्टिकार्था क्रिया कार्या इति परार्येव आचार्यादिदं वाक्यम् एवम् अश्रौष्व परारि एव गततृतीयवर्षे एव आचार्यमुखादिदं वचनम् अशृण्व।' पक्वसजूस्तथैवाचिन्तयाव गतवत्सरे सहमिलित्वा आचार्यवचनाभिप्रायानुसारेण चिन्तनं चावां अकुर्वहि। तत्कथमैषम एव तव मतिः द्वापरवसतिः समजनि इति बहुविस्मयं मे मनः। तत्कथं केन कारणेन ऐषम एव अस्मिन्नेव वत्सरे तव मतिः द्वापरवसतिः संशयस्थानम् अजायत इति मम चित्तम् अतीवाश्चर्ययुक्तम्" आचार्यकनिकेत पर्वत, यद्येवमद्यश्वीनेऽप्यथा(र्था) भिधाने भवान् अपरवानपि विपर्यस्यति तदा पराधीने मादृग्विधीने मादृशां विधिस्तस्य इने ईश्वरे को नाम संप्रत्ययः। आचार्यकगृह आचार्यसदृशेति भावः चेदेवम् अद्य श्वो वा भवम् अद्यश्वीनं तस्मिन् अद्यश्वीने सद्य एव प्रतिपादिते अर्थाभिधाने शब्दानां वाच्यार्थप्रतिपादने भवान् अपरवान् अपि स्वाधीनोऽपि विपर्यस्यति, यथागमं न कथयसीत्यर्थः, तदा पराधीने मादृशे को नाम जनस्य संप्रत्ययः संवादः सम्यक् प्रतीतिः स्यात्।

[पृष्ठ १८४] पर्वतः—नारद, नेदमस्तुंकारम् इदं वचनं न स्वीकारार्हम् इति मे कथनम्। यदस्य शब्दस्य मन्निरुक्तः मया निरुक्त्या कृत एव अर्थः अतिसूक्तः अतिप्रशस्ततया उक्तः इति अर्थात् मया योऽर्थः निरुक्त्या प्रोक्तः स भवता ग्राह्यः इति न ममाग्रहः। परं यदि चायमन्यथा स्यात्तदा चेत् अयं मन्निरुक्तोऽर्थः अन्यथा स्यात् विपरीततां गच्छेत् तदा रसवाहिनीखण्डनमेव दण्डः रसान् अम्लमधुरतुवरादिकान् वहति जानातीति रसवाहिनी जिह्वा तस्याः खण्डनं कर्तनमेव दण्डः दमनम्। नारदः—पर्वत, को नु खल्वत्र विवदमानयोनिकषभूमिः। को विद्वान् विवदमानयोः विवादं कुर्वाणयोः खलु अत्र अजशब्दार्थविवादे निकषभूमिः यथार्थनिर्णयदानाधारः, यथा निकषपट्टे सुवर्णस्य परीक्षा भवति तथा सभाध्यक्षे निरपेक्षे सति सत्तत्त्वनिर्णयो भवति। पर्वतः—नारद, वसुः सभाध्यक्षः। ततो निर्णयो भवेत्। कर्हि तर्हि तं समयानुसर्तव्यम्। कदा तर्हि तं समया तस्य समीपम् अनुयातव्यम्। इदानीम् एव नात्रोद्धारः अधुनैव न विलम्बः। इत्यभिधाय तौ द्वावपि वसुं निकषा वसोः समीपं प्रास्थिषाताम् अयाताम्। ऐक्षिषातां च अपश्यतां च। तथोपस्थितौ तेन गुरुनिर्विशेषमाचरितसंमानौ तथागतौ तेन वसुना गुरुसमानं कृतसत्कारौ, यथावत् कृतकशिपुविधानौ दत्तान्नवस्त्रविधानौ, विहिताचितोचितकाञ्चनदानौ विहितं दत्तम् आचितः भारः विंशतिशतानि उचितं योग्यतामनुसृत्य काञ्चनस्य सुवर्णस्य दानं ययोस्तौ समागमनकारणम् आपृष्टौ अनुयुक्तौ, स्वाभिप्रायं निजागमनस्य हेतुं वादनिर्णयम् अभाषिषाताम् अकथयताम्। वसुः—यथाहतुस्तत्रभवन्तौ पूज्यौ यथा ब्रूतः तथा प्रातः एव प्रभातकाले एव अनुतिष्ठेय कुर्यामहम्। [पर्वतमाता स्वस्तिमती वसुं प्रति गत्वा पर्वतानुकूलं न्यायदानं कुर्वित्युवाच तथास्त्विति प्रतिपन्नं तेन] अत्रान्तरे वसुलक्ष्मीक्षयक्षपेव क्षपायां किल उपाध्याया अस्मिन् प्रसंगे वसुनृपस्य राजलक्ष्मीविनाशरात्रिरिव रात्रौ किल उपाध्याया, नारदपक्षानुमतं क्षीरकदम्बाचार्यकृतं तद्वाक्यव्याख्यानं स्मरन्ती स्वस्तिमती पर्वतपरिभवापायबुद्धया वसुमनुसृत्य नारदपक्षाभिप्रायानुकूलं क्षीरकदम्बसूरिविहितम् 'अजैर्यष्टव्यम्' इति वाक्यविवरणं चिन्तयन्ती

१. आचार्यस्य कर्तव्यं विद्यार्थिपाठनं तदाचार्यकमुच्यते। तस्य निकेतं गृहम्।

स्वस्तिमती पर्वतपरिभवापाधबुद्ध्या वसुमनुसृत्य पर्वतेन नारदस्य परिभवः पराभवः आपाद्यः कारितव्य इति मत्वा वसुमनुगम्य वत्स वसो यः पूर्वमुपाध्यायादन्तर्धानापराधलक्षणावसरो वरस्त्वयादायि स मे संप्रति समर्पयितव्यः इत्युवाच। वत्स वसो बालक वसो, यः पुरा गुरोः अन्तर्हितागोलक्षणप्रसंगे वरस्त्वया दत्तः स मे अधुना देयः इत्यब्रवीत्। सत्यप्रतिपालनासुर्वसुः—सत्यस्य संरक्षणाय असवः प्राणा यस्य स वसुः किमम्ब, किं मातः संदेहस्तत्र। यद्येवं यथा सहाध्यायी पर्वतो वदति, यदि संदेहो नास्ति तर्हि यथा सहपाठ्यः पर्वतो ब्रवीति तथा त्वया साक्षिणा भवितव्यम्। वसुस्तथा स्वयमाचार्यान्या अभिहितः। 'यदि साक्षी भवामि तदावश्यं निरये पतामि, अथ न भवामि तदा सत्यात् प्रचलामि' इति उभयाशयशार्दूलविद्रुतमनोमृगः चिरं विचिन्त्य उभयाभिप्रायव्याघ्रानुयातचित्तहरिणः दीर्घं विमृश्य—

[पृष्ठ १८५–१८६] न व्रतमिति—अस्थिग्रहणं कपालग्रहणं चर्मधारणं व्रतं न, शाकेति—शाकं पत्रादि, पयो जलम्, मूलं कन्दादि, भैक्षचर्या भिक्षाणां समूहो भैक्षं तेन चर्या जीवननिर्वाहः इति व्रतं न भवति। किं तु अङ्गीकृतवस्तुनिर्वहणम्, स्वीकृतकार्यस्य अन्ते गमनम् एतद् उन्नतधियाम् उन्नता उदारा धीर्मतिर्येषां ते उन्नतधियः तेषां महामतीनां व्रतं भवति ॥३९५॥ इति च विमृश्य विचिन्त्य निरयनिदानदक्षं नरककारणचतुरं चरमपक्षम् अन्त्यपक्षम् एव पक्षम् आक्षेप्सीत् अगृह्णात्। [पर्वतपक्ष एव सत्य इति वदन् वसुः ससिंहासनः पातालतलं गतः मृत्वा निरयं जगाम] तदनु मुमुदिषमाणारविन्देति—आह्लादं जिगमिषन्ति च तानि अरविन्दानि कमलानि तेषां हृदयं मध्यप्रदेशः कर्णिका तत्र विनिद्राः निद्रारहिता उत्साहवन्तः ये इन्दिन्दिरा भ्रमराः तेषां चरणानां पादानां प्रचारात् उदञ्चन् ऊर्ध्वं गच्छन् उत्पतन् स चासौ मकरन्दः स एव सिन्दूरं नागसंभवं तेन युक्तं यत् नीरदेवतानां सीमन्तस्य अन्तरालं यत्र तस्मिन् प्रभातकाले, [अधुना सदसो वर्णनम्] सेवेति—सेवार्थं समागता ये समस्ताः सकलाः सामन्ता राजानः तेषाम् उपास्तिः उपासना नमस्कारादिकरणं तस्मिन् समये पर्यस्तानि स्खलितानि तानि च उत्तंसकुसुमानि भूषणभूतपुष्पाणि तान्येव उपहारः उपायनं तेन महोयः तस्मिन् सदसि सभायाम्। मृगयेति—मृगया आखेटकं पापर्द्धिः तस्य व्यसनं तस्य व्याजेन निमित्तेन शरव्यीकृते शरेण वेध्ये कृते सति कुरङ्गपोते हरिणशिशौ, अपराद्धेति—अपराद्धेषुः लक्ष्यात् च्युतसायकः वसुः प्रत्यावृत्य प्रतिनिवृत्य आसादितः लब्धः स्पर्शमात्रावशेषेण यः आकाशस्फटिकः तेन घटितं रचितं विलसनं शोभा यस्य तथाभूतं सिंहासनम् उपगत्य "सत्यशौचादिमाहात्म्यात् सत्यस्य निर्लोभस्य आदिशब्देन अहिंसादेर्माहात्म्यात् प्रभावात् अहं विहायसि आकाशे गतः स्थितः जगद्व्यवहारं लोकप्रवृत्तिं निहालयामि निश्चयेन पश्यामि" इति आत्मानम् उत्कुर्वाणः गर्वोन्नतं विदधानः विवादसमये तेन विनतवरदेन नारदेन विनतेभ्यो नम्रशिष्येभ्यः वरदेन वाञ्छितफलं ददता नारदेन "अहो मृषोद्योद्भिदविभावसो वसो, मृषा असत्यम् उद्यं प्रतिपाद्यं तदेव उद्भिदं भूमिम् उद्भिनत्ति इति उद्भिदं वृक्षवल्ल्यादिकं तस्य विभावसुः अग्निः तत्संबोधनं हे वसो, अद्यापि न किंचिन्नङ्क्ष्यति न किमपि हीनं भवेत् न कापि हानिर्भवेत् 'तत्सत्यं ब्रूहि' इत्यनेकशः कृतोपदेशः। काश्यपीतलं यियासुर्वसुः—काश्यप्याः पृथिव्याः तलं अधोभागं यियासुः जिगमिषुः वसुः (अब्रवीत्) 'नारद, यथैवाह पर्वतस्तथैव सत्यम्।' इत्यसमीक्ष्यम् अविचार्य साक्ष्यं साक्षिकर्म वदन्, देव अद्यापि यथार्थं यथासत्यं विद्यते तथा वद ब्रूहि, इत्यालापवदुले इति आलापेन संभाषणेन वदुले वक्तरि, समन्यु मन्युना शोकेन सहितं समन्यु तन्मानसं यासां ताः समन्युमानसाः ताश्च ता विलासिन्यः राजस्त्रियः तासां स्खलितोक्तयः सगद्गदानि वचनानि ताभिर्लोहले अव्यक्तवाग्युक्ते, विषादेति—विषादेन खेदेन आसादि व्यथितं हृदयं यासां ताः प्रजाः तासां प्रजल्पः उच्चैर्भाषणं तदेव काहलावाद्यविशेषो यत्र, स्फुटदिति—स्फुटत् भज्यमानं च तद् ब्रह्माण्डखण्डं तस्य ध्वनिः भूकम्पजातरवः तस्य कुतूहलं यत्र तथाभूते, समुच्छलति उत्थिते सति, परिच्छदकोलाहले परिवारजनकलकले जाते सति। (वसुः पातालमूलं जगाहे) असत्येति—असत्यश्चासौ धर्मः असत्यधर्मः यज्ञे प्राणिवधः तस्य कर्मप्रवर्तनं क्रियाप्रवृत्तिः तेन कुपिताः क्रुद्धाश्च ताः पुरदेवताः नगरदेव्यः तासां वशेन दुर्विलसनं दुःखं यस्य स ससिंहासनः सिंहासनेन सहितः, क्षणमात्रमपि अनासादितः अलब्धः सुखकालो यत्र तथाभूतं पातालमूलं जगाहे प्रविवेश। अत एव अद्यापि प्रथमं आहुतिवेलायाम् अग्नौ आहुतिनिक्षेपणसमये प्रथमं प्रजा जल्पन्ति वदन्ति, 'उत्तिष्ठ वसो स्वर्गं गच्छ' इति। भवति चात्र श्लोकः—

अस्थाने इति—अस्थाने अकृत्ये बद्धकक्षाणां कृतप्रयत्नानां नराणां द्वयं सुलभम् । किं तत् । परत्र परलोके दीर्घा दुर्गतिः दुःखदा तिर्यङ्नरकगतिः, अत्र च शाश्वती सदातनी दुष्कीर्तिः ॥३९६॥

इत्युपासकाध्ययने वसो रसातलासादनो नामैकोनत्रिंशः कल्पः ॥२९॥

३०. असत्यफलसूचनो नाम त्रिंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ १८६-१८९] [वसोः पातालतलगमनान्निर्वेदं प्राप्तो नारदो मुनिदीक्षां गृहीत्वा शुक्लध्यानेन केवलमुत्पाद्य सिद्धोऽभवत्] नारदस्तमेव निर्वेदम् असत्यपापफलं वीक्ष्य संसाराद्वैराग्यम् उररीकृत्य स्वीकृत्य । कुन्तलकलापं कचवृन्दम् उन्मूल्य उत्पाटच, कथंभूतं कचकलापम् । नतभ्रू इति—नते वक्रे भ्रुवौ यासां ताः नतभ्रुवः ललनाः तासां विभ्रमाः शृंगारभावजक्रियाविशेषाः त एव भ्रमराः षट्पादाः तेषां कुलं समूहः तस्य निलया गृहाणि इव तानि नीलोत्पलानि नीलकमलानि तेषां स्तूपमिव राशिमिव । जातरूपं निर्ग्रन्थतां नग्नताम् आस्थाय प्रतिज्ञाय, कथंभूतं तत् । परमनिष्किंचनतारूपं परमा लोकोत्तरा निष्किंचनता नास्ति किंचन धनधान्यादि परिग्रहोऽस्येति निष्किंचनः तस्य भावो निष्किंचनता सैव निरूपं निश्चयेन स्वरूपं लक्षणं यस्य तत् । संयमोपकरणं मयूरपिच्छिका प्राणिदयाकरम् आकलय्य गृहीत्वा । कथंभूतं तत् । सकलेति—समस्तजीवानाम् अभयदानसुधावृष्टेः अधिकरणम् आश्रयभूतं भाजनम् । उदकपरिचारिकां कमण्डलूम् आदृत्य स्वीकृत्य कथंभूतां ताम् । मुक्ति इति—मुक्तिलक्ष्म्याः समागमः संबन्धः तस्य संचारिकामिव दूतीमिव । स्वाध्यायं स्वस्मै आत्मने संवरनिर्जराहेतुत्वात् हितः उपकारकः अध्यायः अध्ययनम् स्वाध्यायस्तम् । कथंभूतम् । शिवेति—शिवश्रीः मुक्तिलक्ष्मीः तस्याः वशीकरणस्य आयत्तीकरणस्य अध्यायमिव अनुबध्य स्वीकृत्य । इन्द्रियारामम् उपरम्य इन्द्रिया इन्द्रियाणां विषयाः स्पर्शरसादयः त एव आरामः उपवनं तम् उपरम्य विनाश्य । कथंभूतं तम् । मनोमर्कटेति—मन एव मर्कटः वानरः तस्य क्रीडास्तासां प्रकामा अभिलाषा यत्र तम् । ध्यानदहनम् उद्दीप्य शुक्लध्यानाग्निं प्रदीपयित्वा । कथंभूतम् । अन्तरेति—अन्तरात्मा अहं ज्ञानदर्शनलक्षणः, शरीरादयः कर्मसंयोगजास्ते न मम स्वरूपम् इति मत्वा तेषु रागद्वेषाभ्याम् अवशः आत्मा अन्तरात्मा स एव हेमाश्म सुवर्णपाषाणः, तस्य समस्तमलानां दहनं दाहकं यथा सुवर्णे किट्टकालिकादिकं मलम् अग्निर्दहति तथा शुक्लध्यानाग्निः ज्ञानावरणादिकर्माणि तेषां विकारांश्च रागाज्ञानादिमलान् निरस्यति । श्रीनारदो मुनिः शुक्लध्यानेन संजातकेवलः तत्पदाप्तिपेशलो बभूव तत्पदं परमात्मपदं सिद्धपदं तस्य आप्तिर्लाभस्तेन पेशलो मनोरमो बभूव । [वसुनृपे मृते सति प्रजाजनेन निर्घाटितः पर्वतः वनगहने प्रविष्टः कालासुरेण दृष्टः पर्वतस्तु तथा सर्वेति—सकलसभासद्भिः समाजेन च उदीरितः उच्चारितः उद्घोषः महान् यः दुरपवादः धिक्कारः स एव रजः पांसुः यस्य सः, तस्मिन् वसौ कथाशेषतेजसि कथैव शेषं तेजः यस्य तथाभूते सति, पुनः कथंभूते वसौ मिथ्येति—मिथ्या असत्यः स चासौ साक्षिपक्षः प्रत्यक्षद्रष्टृपक्षः तस्मिन् विचक्षणं चतुरं वक्षः यस्य तस्मिन् । पुनः कथंभूते दुराचारेति—दुराचरणम् असत्यभाषणं तस्य ईक्षणम् अवलोकनं तेन क्षुभितः कुपितः स चासौ सहस्राक्ष इन्द्रः तस्य अनुचराः किंकराः यक्षादयः तैः ईक्षितं जीवितस्य महः तेजो यस्य सः तथाभूते वसौ कथाशेषतेजसि जाते सति । अल्लस्वल्लीणतया ल्लीणः लज्जितः अल्लस्वः महान् स चासौ ल्लीणः तस्य भावस्तया अतीव लज्जिततयेति भावः, पौरापचिकीर्षया च पौरेषु नागरिकेषु अपकारकरणेच्छया च, निरन्तरेति—निरन्तराः निबिडाः उदञ्चन्तः ऊर्ध्वाग्राः रोमाञ्चाः केशाः तेषां निकायः समूहो यस्य स पर्वतः शललेति—शललस्य श्वाविधः याः शलाकाः छत्रादीनाम् अयःशलाकावत् ताभिः निकीर्णः व्याप्तः कायः देहो यस्य स इव, निजागणेयदुरीहिताध्मातोदरचर्मपुटः निजानि स्वकीयानि अगणेयानि गणयितुं संख्यातुम् अशक्यानि यानि दुरीहितानि दुष्टसंकल्पाः दुरभिप्रायाः तैः आध्मातौ स्फोतौ विवृद्धौ उदरचर्मणोः पुटौ पार्श्वौ यस्य, स्फुटन्निव स्फोटं गच्छन्निव स पर्वतः कालासुरेण दृष्टः । पुनः कथंभूतः जनैः नगरान्निष्कासितः । कीदृशैर्जनैः निष्कासितः तैः नृपतिविनाशवशामर्षिभिः नृपतेः वसोः विनाशः तस्य वशात् आमर्षः क्रोधो येषां तैः, पुनः कथंभूतैः ।

संभूय संहृत्य। उपदिष्टेति—उपदेशप्राप्तलोष्टानां मृत्खण्डानां वर्षणं कुर्वद्भिः, अतुच्छेति—अतुच्छानि महान्ति यानि पिच्छोलानि त्वचः, दलानि च फलशकलानि च तेषाम् आस्फालनानां ताडनानां प्रकर्षं कुर्वाणैः, प्रतिघातेन उच्छलन्ति उत्पतन्ति च तानि शकलानि कषाश्च तेषां प्रहारेषु तर्षः अभिलाषो येषां तैः पुनः कथंभूतैः नगरनिवासहर्षिभिः नगरे पुरे निवासेन हर्षः येषां ते नगरनिवासहर्षिणः तैः, जनैः अगणितापकारं न गणिताः अपकाराः यथा भवेयुः तथा अगणितापकारं स रासभरोहणावतारः रासभो गर्दभः तस्योपरि रोहणं चटनं तेन अवतारः प्रवेशो यस्य। पुनः कथंभूतः पर्वतः, महान् (यथा नाम तथा गुणः, तथाकृतिर्वा) कण्ठप्रदेशे गलप्रदेशे प्राप्ताः प्राणा यस्य, पुरुपूत्कृतोल्बणक्वाणः पुरु महत् पूत्कृतं पूत्करणम् आक्रोशः तस्य उल्बणः उत्कटः क्वाणः ध्वनिर्यस्य। सकलपुरवीथिषु सकलनगरगृहपङ्क्तिषु विश्वरघुष्टानुयातः विश्वराः सारमेयाः तेषां घुष्टं भषणं तत् अनुगतः निष्कासितः नगराद्वाह्यदेशं सधिक्कारं प्रेषितः। पुनः कथंभूतः पर्वतः। श्वपचेति—श्वपचो मातङ्गः तस्य श्मशानोपयुक्तं यदंशुकं तेन पिहितं मेहनं पुंश्चिह्नं यस्य सः पुनः कथंभूतः विपरीतेति—क्षुरः केशापनयनशस्त्रम् तस्य धारा तैक्ष्ण्यं विपरीतं यथा स्यात् तथा क्षुरधारया आचरितं कृतं मार्गाकृत्या मुण्डनं यस्य सः, प्रकाशितेति—प्रकटतया बद्धं शिखायां श्रीफलानां बिल्वफलानां जालं यस्य सः। पुनः कथंभूतः गलेति—कण्ठनालाश्रितशालाजिरततिः गलनालावलम्बितशरावपङ्क्तिः। प्रथीयसि महति, वनगहनरहसि अरण्यसान्द्रैकान्ते प्रवेशं कृतवान्। पुनः कथंभूतः। स कालासुरेण दृष्टः। तुच्छेति—तुच्छम् अल्पम् उदकं यस्यां तथाभूता चासौ द्वीपिनी द्वीपोऽस्त्यस्याम् इति द्वीपिनी द्वीपयुक्ता सा चासौ तटिनी नदी तस्याः तटनिकटे उपविष्टः स्थितः स पर्वतः तेन कालासुरेण दृष्टः [कालासुरस्तं यद्वभाषे तदेव कविर्दर्शयति] प्रत्यवमृष्टेति—प्रत्यवमृष्टा सम्यक्तया ज्ञाता हृदश्चेष्टा येन तथाभूतेन कालासुरेण निभृतं निर्जनम् इति वक्ष्यमाणप्रकारेण वितर्क्य भाषितः पर्वतः। किं वितर्कितं तेन। 'अहं तावत् वैकारिकर्द्धिं प्रचिकाशयिषुशक्तिः अहं तावत् प्रथमं विक्रियाजन्यामृद्धिं प्रकटयितुं शक्तिर्यस्य तथाभूतः' अहं निजर्द्धिसामर्थ्येन पशवो यज्ञे हुताः विमानमारुह्य स्वर्गं यान्तीति दर्शयितुं समर्थः। एष पर्वतोऽपि स्वस्य मतस्य प्रतिष्ठापनं कर्तुमिच्छुर्या मतिः तस्यां प्रकर्षेण प्रसक्तिर्यस्य तथाभूतोऽस्ति। अतः निष्प्रतिघः निर्विघ्नः खलु मे कार्योल्लाघः कार्ये उल्लाघः हर्षः। इति निभृतं वितर्क्य पर्याप्तेति—परि समन्तात् आप्तः लब्धः परिव्राजकसाधुवेषः येन, मायामयी सकपटा मनीषा बुद्धिर्यस्य तथाभूतेन तेन भाषितश्च तथा हि—पर्वत, केन खलु समासन्नं समीपीभूतं कीनाशः यमः तस्य केल्याः क्रीडाया नर्म परीहासः यस्य तथाभूतेन तेन दुष्कर्मणा अशुभकार्येण विनिर्मापितः कारितः निर्वरः निष्ठुरः उत्कृष्टः निर्वरः अतितीव्र इति भावः स चासौ अपकारः अपकृतिः। येन त्वयि अपकारः कृतस्तस्य ध्रुवं संनिहितो मृत्युरिति मन्ये। पर्वतः—तात, को भवान्। पर्वतः—भवत्पितुः खलु प्रियसुहृद् अहं प्रियमित्रमहं सहाध्यायी सहपाठी शाण्डिल्य इति नाम्ना अभिधीयेऽहम्। यदा हि वत्स भवान् समभवत् अजायत, तदाहं तीर्थयात्रायामगाम्। इदानीं चागाम् आगच्छम्। अतो न भवान्मां सम्यगवधारयति न निश्चिनोति। तत्कथय कारणमस्य व्यतिकरस्य अस्या दशायाः किं नु निदानं तद् वद। पर्वतः—मदिति—मम प्राणितं जीवितं तस्य परित्राणे रक्षणे सघन् गृहभूत भगवन्, समाकर्णय शृणु। मम पितरि नाकलोकम् इते सति, अहं नारदेन विवदमानः एतादृशीम् अवस्थामगमम्। कथंभूते पितरि। समस्तेति—समस्ताः सकलाः आगमाः षड्दर्शनानि त एव रत्नानि तानि संनिदधाति समीपे धारयतीति संनिधाता तस्मिन्। पुनः कथंभूते तस्मिन्। सुकृतेति—सुकृतानि पुण्यानि तान्येव मणयः तान् सम्यक् आहरति आनयति इति समाहर्ता तस्मिन्। पुनः कथंभूते तस्मिन्। निजेति—निजरूपम् शुद्धम् आत्मरूपं तत् अनु अनुसृत्य यातरि गमनं कुर्वाणे यथा शुद्धात्मलाभः स्यात् तथा प्रवृत्तिं कुर्वाणे, समिते सम्यक् इतं गमनं प्रवृत्तिर्यस्य तथाभूते पितरि नाकलोकं स्वर्गलोके इते गते सति। स्वातन्त्र्यात् स्वच्छन्दभावात् एकदा अहं 'अजैर्यष्टव्यम्' इति वाक्यार्थं परिवर्तितवान्। कथंभूतोऽहम्। प्रदीप्तेति—प्रदीप्तः प्रज्वलितः निकामम् अतिशयेन कामोद्गमः कामस्य मदनस्य उद्भवः यस्य तथाभूतः। पुनः कथंभूतः। संपन्नेति—संपन्नः संप्राप्तः पण्याङ्गनाजनस्य वेश्यालोकस्य समागमः संभोगो यस्य तथाभूतः। पुनः कथंभूतः। कृतेति—कृतः पिशितस्य मांसस्य, कापिशायनस्य मद्यस्य सुरायाश्च आस्वादो भक्षणं पानं च येन तथाभूतः।

पुनः कथंभूतोऽहम्। पापेति—पापकर्मणां प्राणिवधादीनां कार्याणां प्रसादः कृपा यस्मिन् तथाभूतोऽहम्, चेतन् जानन्नपि आर्योरदिष्टम् आर्यैः आचार्यपरंपरागतविबुधैः उपदिष्टं प्रतिपादितं विशिष्टम् अहिंसाधर्मपोषकत्वात्, व्याख्यानं विवरणमहं दुरात्मा इति आख्यानं नाम यस्य तथाभूतः, स्वव्यसनविवृद्धये वेश्यासेवनादि व्यसनपोषणाय, धर्मबुद्धया साधुमध्ये 'अजैर्यष्टव्यम्' इतीदं वाक्यं वचनम् अशेषकल्मषनिषेव्यः अशेषाणि सकलानि कल्मषाणि पापानि निषेव्यानि सेव्यानि यस्य तथाभूतोऽहम् अन्यथोपन्यस्यमानो विपरीतार्थोपस्थापकरूपेण प्रतिपादयन् नारदेन आपादितवचनस्खलनः आपादितं प्रदर्शितं वचनस्खलनम् अन्यथाप्ररूपणं यस्य तथाभूतः सन् एतावद्विपत्तिस्थाम् इयत्संकटदशाम् अवापं प्राप्तोऽहम्। [पर्वतस्य कार्ये साहाय्यं तन्वानः कालासुरः ब्रह्मवेषं स्वीचकार] कालासुरः—पर्वत, मा शोच, शोकं मा कुरु। मुञ्च त्वम् अशेषं सकलं धिषणायाः बुद्धेः कलुषं मालिन्यम्। अङ्ग, हे पर्वत, साधु संबोधय आत्मानम्। स्वम् एव सुष्ठु उपदिश। खिन्नो माभूरित्यर्थः। किं तत् आत्मसंबोधनम्। 'न खलु निरीहस्य निश्चेष्टस्य निरुद्यमस्य नरस्यास्ति काचिन्मनीषितावाप्तिः अभिलषितप्राप्तिः। तदलं हन्त हृदयदाहानुगेनावेगेन। तस्मात् हन्त खेदे, मनःसंतापं कुर्वता आवेगेन खेदेन अलं मनःसंतापकरं खेदं मा कुरु इत्यर्थः। हंहो पुत्र पर्वत, यथा स्वकीयसंकेताङ्कं स्वाभिप्रायव्यञ्जकलक्षणानि यथा स्युस्तथा ब्राह्मादि ब्राह्मगोसवाश्वमेधसौत्रामणिवाजपेयराजसूयपुण्डरीकप्रभृतीनाम् सप्ततन्तूनां यज्ञानां प्रतिपादकानि वाक्यानि रचयित्वा मध्ये मध्ये वेदवचनेषु निवेशय प्रवेशय। वत्स, भूः पातालम्, भुवर् मध्यलोकः, स्वर् स्वर्गलोकः एषां त्रय्याः विपर्यासनं वैपरीत्यापादनं तत्र समर्थं मन्त्राणां माहात्म्यं प्रभावो यस्य तथाभूते मयि सति, त्वयि च, तरसेति—तरसं मांसम्, आसवो मदिरा, सवित्री माता एतेषु वस्तुषु प्रवृत्तिः एतत्सेवनं तत्र हेतुः श्रुतिर्वेदः तस्याः गीतिः गानं तस्यां सम्यग् अभ्यस्तं सात्म्यं तन्मयता येन तथाभूते त्वयि, किं नु नाम इहासाध्यम्। इत्युत्साह्य स्वकीयाभिप्रायद्योतकवाक्यानां वेदे निवेशनकार्ये प्रवर्त्य। स्वयं विद्यानाम् अवष्टम्भेन बलेन सृष्टाभिः उत्पादिताभिः अष्टाभिरपि ईतिभिः उपद्रवैः उपद्रूयमाणजनपदहृदयं पीड्यमानदेशमध्यम् अयोध्याविषयम् आगत्य तत्र नगरबाहिरिकायां पुरबाह्यप्रदेशे स देवः कालासुरः चतुराननश्चतुर्मुखो ब्रह्मा अजायत। अध्वर्युः पर्वत आसीत्। अध्वरं यज्ञं यौति संपादयतीति अध्वर्युः होमकारी ऋत्विक् अभवत्। मायामयसृष्टयः मायया निर्वृत्ता मायामयी तद्रूपा सृष्टिः उत्पत्तिर्येषां ते मायामयसृष्टयः पिङ्गलमनु-मतङ्ग-मरीचि-गौतमादयश्च ऋत्विजः ऋतौ यजन्तीति ऋत्विजः पुरोहिताः अजनिषत अजायन्त। तत्र श्रुतिधृतिः श्रुतीः वेदान् धरतीति श्रुतिधृतिः ब्रह्मा चतुर्भिः वदनैः मुखैः उपदिशति। पर्वतस्तु—यज्ञार्थमिति—स्वयंभुवा स्वयं भवतीति स्वयंभूर्ब्रह्मा तेन स्वयमेव पशवः अजादयः यज्ञार्थं होमार्थं सृष्टाः उत्पादिताः। यज्ञः सर्वेषां जनानां भूत्यै वैभवाय भवति तस्मात् यज्ञे कृतः पशुवधः अवधः अहिंसा भवति॥३९७॥ 'ब्रह्मणे ब्राह्मणम् आलभेत। ब्रह्मणे ब्रह्मदेवाय ब्राह्मणं विप्रम् आलभेत हिंस्यात्। इन्द्राय क्षत्रियम् इन्द्रदेवाय क्षत्रियं राजन्यम् आलभेत हिंस्यात्। आलभेत इत्यस्य उत्तरत्र सर्वत्र संबन्धः। मरुद्भ्यो वैश्यं वायुभ्यो वैश्यम् आलभेत। तमसे शूद्रं राहवे शूद्रम् आलभेत। उत्तमसे तस्करम् आलभेत उत्तमोदेवाय चौरम्। आत्मने क्लीबं नपुंसकम्। कामाय पुंश्चलं व्यभिचारिणम्। अतिक्रुष्टाय मागधं राजाग्रस्तुतिकारिणम्। गीताय सूतं सारथिम्। आदित्याय सूर्याय स्त्रियं गर्भिणीम्। सौत्रामणौ सौत्रामणियज्ञे यः एवंविधां सुरां पिबति न तेन सुरा पीता भवति। सुराश्च तिस्र एव श्रुतौ संमताः वेदे संमताः मान्याः। पैष्टी, गौडी, माग्धी चेति। पैष्टी विविधधान्यविकारजा मदिरा। गौडी गुडादिविकारजा सुरा। मागधी च सुरा। गोसवे गोमेधे यज्ञे ब्राह्मणो गोसवेन गोमेधेन इष्ट्वा पूजयित्वा संवत्सरान्ते मातरमप्यभिलषति, उपेहि मातरम्, उपेहि स्वसारम्।

[पृष्ठ १८९-१९१] षट्शतानि इति—अश्वमेधस्य यज्ञस्य मध्यमे अहनि दिवसे पशूनां षट्शतानि नियुज्यन्ते आलभ्यन्ते। वचनात् त्रिभिः पशुभिः ऊनानि रहितानि। अर्थात् सप्तनवत्यधिकानि पञ्चशतानि

---

१. अग्नीध्राद्या धनैर्वार्या ऋत्विजो याजकाश्च। आदिशब्दात् पोतृप्रशास्तृब्राह्मण्यच्छन्दस्य छायाकग्रावस्तुब्रह्ममैत्रावरुणप्रतिस्थातृप्रतिहन्तृनेतृनेष्टृसुब्रह्मण्या इत्थं सदस्याः सप्तदशर्त्विजः।

पशूनाम् अश्वमेधस्य यज्ञस्य मध्यमेऽहनि नियुज्यन्ते ॥ ३९८ ॥ महोक्षो वेति—श्रोत्रियाय वेदाध्येतृब्राह्मणाय महोक्षः महाबलीवर्दः, महाजो महांश्छागः विशस्यते हिंस्यते दिव्याय ॥ ३९९ ॥ गोसवे इति—गोसवे गोमेधयज्ञे सुरभिं गां हन्यात् हिंस्यात्। राजसूये यज्ञे तु भूभुजं राजानं हन्यात्। अश्वमेधे हयम् अश्वं हन्यात्। पौण्डरीके च दन्तिनं गजं हन्यात् ॥ ४०० ॥ औषध्यः—औषध्यः वनस्पतयः, पशवः छागादयः, वृक्षाः तरवः पलाशोदुम्बरपिप्पलादयः, तिर्यञ्चः कूर्मादयः, पक्षिणः हंससारसादयः, नराः मनुष्याः, एते यज्ञार्थं निधनं मरणं प्राप्ताः उच्छ्रिताम् उन्नतां गतिं देवादिगतिं प्राप्नुवन्ति यान्ति ॥ ४०१ ॥ मानवमिति—मनोरिदं मानवं मनुवचनम्, व्यासवासिष्ठं व्यासस्येदं व्यासम्, वसिष्ठस्येदं वासिष्ठम्, व्यासवचनं वसिष्ठवचनं च वेदसंयुतं वेदोक्तमेव भवति। यो नरः अप्रमाणं ब्रूयाद्वदेत् स ब्रह्मघातको भवेत् ब्राह्मणघातस्य पातकं तस्य भवेदित्यर्थः ॥ ४०२ ॥ पुराणमिति—पुराणं रामायणभारतादिकम्। मानवो धर्मः मनुप्रणीतं स्मृतिशास्त्रम्, साङ्गो वेदः शिक्षा-कल्प-व्याकरण-च्छन्दो-ज्योतिष-निरुक्तलक्षणैः षडङ्गैः सहितः वेदः चिकित्सितम् आयुर्वेदम्। एतानि चत्वारि शास्त्राणि आज्ञासिद्धानि। एतेषां वचनमेव मन्यते। हेतुभिर्न हन्तव्यानि। हेतुवादेन न निराकरणीयानि ॥ ४०३ ॥ इति मनु-मरीचि-मतङ्गप्रभृतयश्च सवषट्कारं वषट्कारपूर्वकम् अजाः छागाः, द्विजाः पक्षिणः, गजाः हस्तिनः वाजिनः अश्वाः प्रभृतौ आदौ येषां ते तान् देहिनो मन्वादय ऋषयो जुह्वति यज्ञकुण्डे मन्त्रोच्चारणपूर्वकं पातयन्ति। तदेवं श्रुतिर्वेदः शस्त्रम् अस्यादिकं प्रहरणम्, वणिज्या उद्यमः क्रयविक्रयादिकम्, जित्या हलाद्युपकरणम्, एतैः उपजीविनां ब्राह्मण-क्षत्रिय-विट्-शूद्राणाम् ईताः (ईतीः) पीडाः पर्वतो व्यपोहति निराकरोति। कालासुरः पुनः आलभ्यमानान् हिंस्यमानान् प्राणिनः अजद्विजगजादीन् साक्षाद्विमानानि आरूढान् स्वर्गे देवलोके शाम्बर्या मायया पर्यटतः विहरमाणान् दर्शयति। मनुप्रमुखाश्च मुनयः प्रभावयन्ति मन्त्रप्रभावं दर्शयन्ति। मायया प्रकटितस्वर्गालयप्रदेशादिलोभे उत्पन्ने सकलप्रजाजनक्षोभे च स सगरः प्रत्यासन्नं समीपं नरकनगरं यस्य, श्वभ्रं नरकः तस्य विभ्रमस्य उचिता योग्या स्थितिर्यस्य स विश्वभूतिश्च तदुपदेशात् पर्वतकालासुराद्युपदेशात् तांस्तान् प्राणिनोऽजादीन् हत्वा प्सात्वा भक्षयित्वा च दुर्दुःखदः अन्तोऽवसानं यस्य तद्दुरितं पातकं तेन युक्तं चित्तं मनः चेतः ज्ञानं ययोस्तौ सगरविश्वभूती मखमिषात् यज्ञव्याजेन कालासुरेण स्मारितं ज्ञापितं पूर्वभवागः पूर्वजन्मापराधः ययोस्तौ वीतिहोत्रोऽग्निः तस्मिन्नाहुतिरूपेण विहितं कृतं विचित्रं नानाविधं वधरहः प्राणघातगुह्यं ययोस्तौ विश्विम्भाया धरित्र्या भूमेः द्राघीयः दीर्घं दुःखदवथुः पीडासंतापः तेन मन्थरं मन्दं तलं नरकतलम् इति भावः अगाताम् अगच्छताम्। पर्वतोऽपि सप्तमनरके जन्म लेभे। कथंभूतः सः अग्नायीपतिविजये अग्नेः स्त्री अग्नायी अग्नेर्भार्या तस्याः पतिः अग्निः तस्य विजये, जठरधनंजये उदराग्नौ च हव्यकव्यकर्मभिः पितृदेवकर्मभिः कृतसकलप्राणिघातः। पुनः कथंभूतः। कालासुरेति—कालासुरस्य तिरोधानम् अन्तर्धानं तेन विधुरविधिसारः दुःखपीडासारो यस्य। तद्विरहेति—तस्य कालासुरस्य विरहः वियोगः स एव आतङ्कशोचिः रोगाग्निर्यस्य क्लेशकृश्यच्छरीरः दुःखेन कृशदेहः, कालेन जीनं जीर्णं जीवितम् आयुः प्रचारः श्वासोच्छ्वासादिकं गमनादिकं च यस्य सः पर्वतः सप्तमरसावसरः सप्तमरसा सप्तमं नरकम् अवसरः तस्य स्थानम्। समपादि अभवत्। भवति चात्र श्लोकः—

मृषोद्यादीनवोद्योगात्—मृषोद्यम् असत्यवचनं तदेव आदीनवो दोषः तस्य उद्योगात् पर्वतेन समं वसुः ज्वलदातङ्कपावकं ज्वलन् दीप्यन् आतङ्क एव पावको अग्निर्यत्र तथाभूतं जगतीमूलं जगत्या मूलं नरकभूमिं जगाम अगच्छत् ॥ ४०४ ॥

इत्युपासकाध्ययने असत्यफलसूचनो नाम त्रिंशत्तमः कल्पः ॥ ३० ॥

३१. अब्रह्मफलसाधारणो नामैकत्रिंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ १९१-१९२] वधू इति—वधूः पत्नी वित्तस्त्री वेश्या अवधृता उभे मुक्त्वा सर्वत्र अन्यस्मिन् तज्जने स्त्रीजने कन्यादिषु तेषु माता, स्वसा भगिनी, तनूजेति कन्येति या मतिः संकल्पः गृहाश्रमे गृहस्थधर्मे

ब्रह्म ब्रह्मचर्यं वेदितव्यम् ॥४०५॥ धर्मेति—धर्माचरणस्य भूमिः पुण्यभूमिः आर्यदेशः चैत्यालयादिकं वा तत्र मनुष्यः नियतस्मरः विजितमदनो भवेत् । धर्मभूमौ धर्मस्य स्थाने मातृस्वसृतनूजादिषु मनुष्यः जितमदनो भवेत् । यत् यस्मात् जात्यैव स्वजात्या एव परिणीतया सह संभोगः कार्यः, पराः वधूवेश्ये मुक्त्वा पराः ताभ्याम् अन्याः जातिबन्धुलिङ्गिस्त्रियः जातिस्त्रियः या स्वीया जातिः तत्स्त्रियः, बन्धुस्त्रियः सुहृदां स्त्रियः, स्यालादिसंबन्धिनां स्त्रियः, लिङ्गिस्त्रियः व्रतिन्यः स्त्रियः आर्यिकादयश्च । ताः त्यजेत् ॥४०६॥ रक्ष्यमाणे इति—यत्र यस्मिन् व्रते रक्ष्यमाणे अहिंसादयो गुणाः अहिंसा-सत्य-अचौर्य-परिग्रहप्रमाणत्वादयो गुणाः बृंहन्ति वृद्धिमुपयान्ति । ब्रह्मविद्या-विशारदाः अध्यात्मज्ञाननिपुणाः तद्ब्रह्म उदाहरन्ति नियतस्मरं नाम व्रतं वदन्ति ॥४०७॥ मदनेति—मदनोद्दीपनैः मदनस्य उद्दीपनानि कामवृद्धिविधायीनि यानि वृत्तानि वर्तनानि कुत्सिताचाराः तैः आत्मनि मदं न आचरेत् दर्पं नोत्पादयेत् । मदनोद्दीपनै रसैर्वृष्यादिरसैः स्वस्मिन् दर्पं न जनयेत् । मदनोद्दीपनैः शृङ्गार-प्रचुरैः काव्यादिभिः दर्पं न उत्पादयेत् ॥४०८॥ हव्यैरिति—यथा हुतप्रीतिः हूयन्ते इति हुतानि घृतादीनि तेषु प्रीतिः यस्य सः हुतप्रीतिः अग्निः, स हव्यैरिव हव्यैर्यथा देवदत्तद्रव्यैर्घृतादिभिः तोषं तृप्तिं न एति । नीरधिः समुद्रः पाथोभिरिव जलैर्यथा तोषं नैति तथा भवसंभवैः भूजन्मनि संभव उत्पत्तिर्येषां तैर्भोगैः स्त्रीस्रक्चन्दनादिभिः एष पुमान् पुरुषः तृप्तिं संतोषं न एति ॥४०९॥ विषवदिति—यथा विषम् आपाते तत्काले मधुरागमं भवति मधुरस्वादं भवति । अन्ते अवसाने विपत्तिः मृत्युः फलं ददाति तथा विषयाः कामिन्यादयः तत्काले मधुराः प्रियाः भवन्ति अवसाने विपत्तिफलप्रदाः आपत्फलदायिनो भवन्ति । तत् इह विषयेषु सतां सज्जनानां को ग्रहः कः अभिनिवेशः ॥४१०॥ बहिरिति—बाह्यतः तास्ताः आलिङ्गनचुम्बनादिकाः क्रियाः कुर्वन् संकल्पजल्प-वान् नरः अहम् एवं तां नारीमाश्लिष्यामि एवं तस्या मुखं चुम्बिष्यामि इति संकल्पं कुर्वंस्तथैव अन्तर्जल्पं कुर्वाणः नरः भावाप्तावेव भावः समानरतिरिति । तस्याप्तावेव प्राप्तौ सत्यामेव स निर्वाति संतोषं याति । परं तत्र विषयसेवने परस्त्रीसेवायाम् अधिकः क्लेशः समुत्पद्यते । अथवा भावाप्तौ एव समरसरसरङ्गोद्गमे सत्येव निर्वाति सुखं लभते । अन्यथा भीत्यादिविकारे सति मनःप्रसत्त्यभावे सुखं न लभते । प्रत्युत परस्त्र्यादिसेवने क्लेश एव अधिको भवेत् । अतः परस्त्रियं वर्जयेत् ॥४११॥ निकाममिति—निकामं नितराम् । कामकामा-त्मा कामे मैथुनसुखे काम इच्छा यस्य स आत्मा जीवः । तस्य मैथुनस्य अनारतसेवने सति । तस्य अनन्तवीर्य-पर्यायः तृतीया प्रकृतिः भवेत् नपुंसकभावो भवेत् ॥४१२॥ सर्वेति—हितकामिनां हिताभिलाषिणाम् । फलाय धर्मफलप्राप्तये । सर्वा क्रिया अनुलोमा अनुकूला भवेत् । धर्मसेवने अनुकूला दानतपःपूजादिका क्रिया स्वर्गा-पवर्गफलप्राप्तौ हेतुः भवेत् । परम् अर्थकामौ वर्जयित्वा विश्वसितवञ्चनस्वामिद्रोहपरस्त्रीसेवनादिकाननुकूल-क्रियाणां करणेनार्थकामपुरुषार्थफलं न लभ्यते । न्यायोपात्तधनादिकात् स्वस्त्रीसंतोषादिकादेव अर्थकामफलं लभ्यते ॥४१३॥ क्षमेति—कामः मैथुनसेवनं क्षयामयसमः क्षयनामक आमयसमः रोगतुल्यः अयं कामः । सर्वे च ते दोषाः सर्वदोषाः तेषाम् उदये उत्पत्तौ द्युतिः कान्तिः । कामाकुले नरे रागादिदोषाणाम् उत्पत्तिर्भवतीति भावः । तत्र मर्त्यानाम् मनुष्याणाम् उत्सूत्रे कामे उच्छृङ्खले सति कुतः श्रेयःसमागमः, कुतः मोक्षप्राप्तिः भवेत् ॥४१४॥ देहेति—देहस्य संस्कारः दन्तनखकेशादिशृङ्गारः शरीरसंस्कारः । द्रविणसमुपार्जनं क्रयविक्र-यादिभिः धनवृद्धिः तथा द्रविणवृत्तयः द्रविणेन धनेन वृत्तिः उपजीवनम् । जितकामे जितः कामो येन तस्मिन्नरे जितेन्द्रिये उपर्युक्ताः सर्वाः क्रिया वृथा । तत्कामः सर्वदोषान् भजति ॥४१५॥

[पृष्ठ १९३-१९४] स्वाध्यायेति—यावत् यावत्कालं चित्तेन्धने चित्तमेव मन एव इन्धनं दारु तस्मिन् कामाशुशुक्षणिः इन्द्धे दीप्तो भवति । तावत् तावत्कालं स्वाध्यायः धर्मग्रन्थानां पठनम्, पृच्छनादिकं च, ध्यानं मन एकाग्रं विधाय अर्हदादिषु तद्गुणेषु च विहितं चिन्तनम् । धर्मः अहिंसादिसदाचारः आदिशब्देन तपःसंयमादिकम् । एताः क्रियाः कुतः ॥ ४१६ ॥ ऐदंपर्यमिति—अतः एतस्मात्कारणात्, मुक्त्वा अत्यधिकं कामसेवनं मुक्त्वा, भोगान् आहारवद्व्रजेत् अत्यासक्त्या अन्ने सेविते धर्मार्थकाया नश्यन्ति । तथा स्त्र्यादि-भोगाः अत्यासक्त्या सेविताः धर्मम् अर्थम् कायं च नाशयन्ति अतः भोगान् अन्नवद्व्रजेत् । देहदाहस्य शान्तये, अभिध्यानं सततं भोगानाम् अनुचिन्तनं तस्य विहानये नाशाय ॥ ४१७ ॥ स्वस्त्रीसंतोषव्रतदोषान् वर्णयति—परस्त्रीति—परस्त्री परस्य स्त्री परस्त्री तया संगमः संभोगः, स्वस्त्रीसंतोषं व्रतं नाशयति । अनङ्गक्रीडा-

अङ्गं लिङ्गं योनिश्च तयोरन्यत्र मुखादिप्रदेशे क्रीडा । अन्योपयमक्रिया—कन्यादानम् उपयमक्रिया । अन्यस्य स्वापत्यव्यतिरिक्तस्य कन्याफलकिप्सया स्नेहसंबन्धादिना वा उपयमक्रिया । तीव्रता परित्यक्तान्यव्यापारस्य पुनः पुनः स्वस्त्रीसेवनम् । रतिकैतव्यं रतिक्रियायां कैतव्यं कपटं विटत्वम्, एतानि तद्व्रतं ब्रह्मचर्यव्रतं हन्युः दुष्येयुः ॥ ४१८ ॥ मद्यमिति—मद्यं मदिरा, द्यूतं पणः, उपद्रव्यं मांसमधु-माक्षिक-धत्तूरादि वस्तु । तौर्यत्रिकं नाट्यम् गानं वादित्रं च, अलंक्रिया: लिगलेपादिप्रयोगः, आभूषणानि च, मदो दर्पः, व्यभिचारिणः पुरुषा विटाः, वृथाटया प्रयोजनं विना विचरणम् इति दशधा अनङ्गजः कामजः गणः ॥ ४१९ ॥ कोपजो गणः—हिंसनम्, साहसम् अविचारेण बलेन कार्यकरणम्, द्रोहः स्वामिमित्रादिद्वेषः । पुरोभागी खलः तस्य भावः पौरोभाग्यं दुर्जनत्वम् । अर्थदूषणे अर्थलाभे दूषणम् अन्तरायविधानम् । ईर्ष्या स्पर्धा पराभ्युदयासहनम् । वाग्दण्डः क्रोधावेशेन निन्द्यभाषणं वाग्दण्डः, पारुष्यं परुषभाषणं मर्मदाहकत्वम् अनेकदोषदुष्टोऽसीति । इति कोपजः अष्टधा गणः प्रोक्तः । ब्रह्मव्रतवता एते दोषाः त्याज्याः ॥ ४२० ॥ ऐश्वर्येत्यादि—ऐश्वर्यं वैभवम् । औदार्यं दातृत्वगुणः । शौण्डीर्यम् अप्रतिहतमानता, अन्येन अपरिभवः । धैर्यं निर्भयता, सौन्दर्यं रूपवत्त्वम् । वीर्यता सामर्थ्यम् अद्भुतसंचारान् च आकाशगामित्वादिचारणर्द्धिभेदान् एतान् गुणान् चतुर्थव्रतपूतधीः चतुर्थव्रतं ब्रह्मचर्यं तेन पूता धीः पवित्रा मतिर्यस्य सः नरः लभेत प्राप्नुयात् ॥ ४२१ ॥ अब्रह्मचारिणो दोषाः—अनङ्गेति—अनङ्गो मदनः स एव अनलः अग्निः तेन संलीढे संस्पृष्टे, परस्त्रीरतिचेतसि परस्त्रिया सह संभोगसुखे चेतो मनो यस्य तथाभूते नरे अत्र इहलोके सद्यस्का विपदः तत्काले एव विपदः पीडा लिङ्गच्छेदादिकाः । परत्र च दुरास्पदाः परलोके च दुःखस्थानानि यासु ताः विपदः जायन्ते ॥ ४२२ ॥

[पृष्ठ १६४] श्रूयतामत्राब्रह्मफलस्योपाख्यानम्—काशिदेशेषु सुरसुन्दरीसपत्नेति—सुरसुन्दर्यो देवाङ्गनाः तासां सपत्नः रूपगुणे ताभिः स्पर्द्धां कुर्वन् यः पौराङ्गनाजनः नगरनारीगणः तस्य विनोदा एव अरविन्दानि कमलानि तेषां सरसीव तथाभूतायां वाराणस्यां धर्षणो नाम नृपतिः । कथंभूतः सः । संपादितेति—संपादितं कृतं समस्तारातीनां सकलद्विषतां संतानस्य वंशस्य प्रकर्षेण कर्षणं सपत्नदेशकोषाणां च हरणं येन तथाभूतः । अस्य सुमञ्जरी नाम अग्रमहादेवी पट्टमहाराज्ञी आसीत् । कथंभूता सा । अतिचिरेति—अतिदीर्घकालात् प्ररूढः वृद्धिं गतः प्रणयः स्नेहः स एव सहकारः आम्रतरुस्तस्य मञ्जरीव पुष्पपंक्तिरिव । धर्षणनृपतेः उग्रसेनो नाम सचिवः, कथंभूतः सः । पञ्चतन्त्रादीनि यानि शास्त्राणि तेषामध्ययनात् विस्तृतं वचनं यस्य तथाभूतः । अस्य सचिवस्य सुभद्रा नाम पत्नी, कथंभूता सा । पतिहितैकमनोमुद्रा स्वभर्तृकल्याणे एव एका मनोमुद्रा मनोव्यापारो यस्याः सा । दुर्विलासरसे रङ्गः प्रीतिर्यस्य तथाभूतः कडारपिङ्गो नाम अनयोः सूनुः पुत्रः । धर्षणनृपस्य पुष्यो नाम पुरोहितः । कथंभूतः सः । अनवद्येति—अनवद्या पापरहिता या विद्या आगमज्ञानं तेन प्रकाशिताः अध्यापिताः अशेषशिष्या येन स तथाभूतः । अस्य पद्मा नाम धर्मपत्नी । कथंभूता सा । सौरूप्येति—सुरूपस्य भावः सौरूप्यं सौन्दर्यं तस्य अतिशयः प्रकर्षः तेन अपहसिता उपहासं नीता तिरस्कृता पद्मा लक्ष्मीर्यया सा । [कडारपिङ्गेन पद्मा एकदा अवलोकिता] । स कडारपिङ्गः कथंभूतः । समस्तेति—समस्ताश्च ते अभिजातजनाः सद्वंशजजनाः तेभ्यो ये बाह्या व्यवहारा असदाचाराःताननुगच्छति इति सकडारपिङ्गः कडारस्तृणवह्निः तद्वत् पिङ्गः सकडारपिङ्गः । स्वापतेयेति—स्वापतेयं धनम्, तारुण्यम् यौवनम्, मदः इन्द्रियदर्पः एभ्यः मन्दं मानबलं ज्ञानसामर्थ्यं यत्र तथाभूताच्चापलात् दुरालपनभण्डेन दुर्भाषणे भण्डेन चतुरेण अश्लीलभाषणनिपुणेन खिङ्गषण्डेन विटसमूहेन सह, नतभ्रू इति—नते भ्रुवौ यासां ता नतभ्रुवः तासां विभ्रमाः शृङ्गारभावजक्रियाविशेषाः तैः अभ्यर्थ्यमानाः भुजङ्गा जाराः एव अतिथयः यासु तासु वीथिषु मार्गेषु संचरमाणः विहरन् तामेकदा पद्माम् अवलोक्य दृष्ट्वा, कीदृशीं ताम् । प्रासादेति—प्रासादतलं हर्म्यस्योपरितनभूमिम् उपसीदति इति उपसदा तां हर्म्यस्योर्ध्वभूमौ तिष्ठन्तीम् । अरालेति—अरालानि वक्राणि पक्ष्माणि नेत्रलोमानि ययोः ते च ते ईक्षणे नयने ताभ्याम् आक्षिप्ता तिरस्कृता पद्मा यया तादृशीं तां पद्माम् अवलोक्य । एषेति—एषा इयं प्रत्यक्षीभूता नारी इन्द्रियाणि एव द्रुमाः तरवः तेषां समुल्लसने विकासने अम्बुवृष्टिः जलवृष्टिः । एषा मन एव

मृगः हरिणः तस्य विनोदस्य विहारभूमिः संचारस्थानम् । एषा स्मरः कामः एव द्विरदः गजः तस्य बन्धने वारिवृत्तिः बन्धनरज्जुः । एषा किं खेचरी विद्याधरी, किम् अमरी सुरी, वा किम् इयं रतिः मदनभार्या ॥४२३॥

[पृष्ठ १९५-१९७] इति च विचिन्त्य मकरेति—मकरः मत्स्यः केतौ ध्वजे यस्य स मदनः तस्य वशे व्यापारनिधिः प्रवृत्तिनिधानं यस्य, प्रवृत्तेति—प्रवृत्तः प्रादुर्भूतः दुरभिसंधिः दुष्टो मनोविचारो यस्य, पुरुषेति—पुरुषप्रयोगेण दूतसंप्रेषणादिना अभिमतस्य इष्टस्य सिद्धिं प्राप्तिम् अनवबुद्धयमानः अजानन्, तडिल्लतां नाम धात्रीम्, कथंभूताम् । पराशयेति—पराभिप्राय एव शैलः पर्वतः तस्य विदारणे विदलने तडिल्लतामिव विद्युल्लतामिव । अषट्क्षीणे शरणे न षट् अक्षीणि नेत्राणि यत्र तथाभूते शरणे गृहे तृतीयाद्यगोचरे गृहे विजने गृहे इत्यर्थः । सुनयेति—सुनयानां विज्ञप्त्यादिव्यवहाराणाम् आयतनादिभिः स्थानादिभिः पादपतनादिभिः चरणवन्दनादिकैः प्रश्रयैः विनयैः । कथंभूतैः असदाशयाश्रयैः दुरभिप्रायावलम्बनैः अवन्ध्यसाध्यं सफलसाध्यम् उपरुध्य ज्ञात्वा । स्वकीयेति—निजाभिप्रायगहनवर्धनभूमिम् अकरोत् विदधे । तदुपरोधात् तस्य उपरोधात् आग्रहात् तथाविधविधिविधात्री वशीकरणकार्यविधायिनी तत्कार्यविधायिनी—धात्री (स्वगतम्) परपरिग्रहः परस्य अन्यस्य परिग्रहः कलत्रम् । अन्यतरानुरागग्रहश्च अन्यतरस्य अनुरागः स्नेहस्तस्य ग्रहणं चेति दुर्घटः दुःसंधानः प्रतिभासः अनुभवो यस्य तादृक् खलु अयं कार्योपन्यासः । अथवा सुघटः एव सुसंधान एव अयं कार्यघटः । इयं कार्यरचना सुसंधानैव । यतः यस्मात् तप्तातप्तप्लवयसोरयसोरिव अग्नितप्तानग्नितप्तयोः प्लवयसोः चक्रलोहनेम्योरिव विरुद्धयोश्चेतसोः मनसोः सांगत्याय अनुकूलीकरणाय खलु पण्डितैः दौत्यं दूतत्वं करणीयम् । अन्यथा सरसतरसोः रससहितयोः वेगवतोः द्रवस्वभावयोः जलयोरिव सरसतरसोः प्रेमवतोः वेगवतोश्च अन्योन्यं प्रति उत्सुकयोः द्रवस्वभावयोः काठिन्यरहितयोः चित्तयोः एकीकरणे किं नु नाम प्रतिभाविजृम्भितम् । का नाम नवनवोन्मेषशालिन्या बुद्धेः स्फूर्तिः । प्रतिकूलस्वभावयोर्मनसोरेकीकरणे यद्दौत्यं क्रियते तदेव दौत्यं प्रशस्यमित्यर्थः । किं च । सा दूतिकेति—या बुधानां विदुषाम् अभिमतकार्यविधौ इष्टकर्मकरणे चातुर्यवर्यवचनोचितचित्तवृत्तिः चातुर्येण बुद्धिकौशल्येन वर्यं श्रेष्ठं यद्वचनं तस्य उचिता योग्या चित्तवृत्तिः मनोवृत्तिः यस्याः सा दूतिका स्वामिसंदेशप्रापिका ज्ञेया । या दूतिका किं करोति । चुम्बकोपलकलेव चुम्बति लोहमाकर्षति स चासौ उपलश्च चुम्बकोपलः अयस्कान्तः तस्य कला अंशः यथा अन्तःशल्यं लोहमयं बहिः करोति । तथा अपरस्य अन्यस्य नरस्य चेतोनिरूढं मनसि स्थितं शल्यं वैरादिकं बहिः करोति ततो निष्कासयति । एतादृशी एव दूतिका प्रशस्येति भावः ॥४२४॥ तदलं विलम्बेन अस्मिन् कार्ये कालक्षेपो न कर्तव्य इति भावः । यथा परिपक्वफलं व्यतिक्रान्तकालं सरसत्वाधिष्ठानं न भवति । तत् उचितकालातिक्रमेण गन्धवर्णरसभ्रष्टं भवति । तथात्र कार्ये विलम्बे जाते सति अस्य कार्यस्य सरसत्वं च नश्येत् । किं त्वस्य साहसावलम्बनधर्मणः कर्मणः साहसाश्रयसाध्यस्य कार्यस्य दैवात् सिद्धौ सत्याम्, परेङ्गिताकारसर्वज्ञैः प्राज्ञैः अन्यमनःस्थिताभिप्रायचेष्टानां विद्भिः विबुधैः, कथमपि महता कष्टेन, बहुजनावकाशे कृते सति बहुजनानां मनसि अवकाशे परिचये कृते सति स्नेहे आदरे वा समुत्पादिते सति शरीरी साहसकर्मणः कर्ता नरः पुरश्चारी भवति अग्रणीः जायते । साहसकार्यस्य असिद्धौ सत्यां शरीरी तत्कार्यस्य विधाता दुरपवादपरागावसरः जननिन्दाधूलिपातस्थानं व्यसनगोचरश्च भवति विपद्विषयश्च जायते । तत् ध्वनयेयं कथयामि या इयं पद्मा इदं कार्यं च अवसेयं ज्ञातुं योग्यम् । इयं पद्मा किंस्वभावा कीदृश्यस्या मनोवृत्तिरिति ज्ञातव्यम् । इदं च कार्यम् अद्वितीयापत्यप्रसवाय अद्वितीयं न द्वितीयम् अद्वितीयम् एकं तच्च तदपत्यं पुत्रः तस्यैव प्रसव उत्पत्तिर्यस्य तथाभूताय सचिवाय अवसेयं ज्ञातव्यम् । तदुदाहरन्ति—"न च अनिवेद्य भर्तुः किंचिदारम्भं कुर्यात् अन्यत्रापत्प्रतीकारेभ्यः" स्वामिनः अनिवेद्य अकथयित्वा न च किंचित् आरम्भम् कार्यं कुर्यात् स्वामिनं पृष्ट्वा कार्यं कुर्यात् इति भावः । परम् आपत्प्रतीकारेभ्य अन्यत्र विपत्तिनिराकरणसमये स्वामी न प्रष्टव्यः अपृष्ट्वा एव स्वामिनं तदुपद्रवकारिणीम् आपदं परिहरेत् इति । (प्रकाशम्) प्राणप्रियैकापत्य अमात्य, प्राणवत् प्रियं वल्लभम् एकम् अपत्यं यस्य तथाभूत हे अमात्य सचिव, ईदृश इव सामान्यजन इव भवादृशोऽपि जनः जातस्य पुत्रस्य जीविते अमृतस्य निषेकाय सेचनाय अचिरत्नं यत्नं तात्कालिकं प्रयत्नं विधातुं योग्यो भवान् भवति । अमात्यः—समस्तमनोरथसमर्थनकथास्मार्ये आर्ये, समस्तानां सकलानां मनोरथानाम्

अभिलाषाणां समर्थनकथा फलदानकथा तस्यां स्मार्ये स्मरणयोग्ये आर्ये पूज्ये, तज्जीवितामृतनिषेकाय तस्य मदपत्यस्य जीवितार्थम् अमृतनिषेकाय सुधासेचनाय मज्जीवितोचितविवेकाय च मदीयं जीवितं मत्प्राणाः तस्य उचितो योग्यो यो विवेकः तस्मै तत्र भवती पूज्या त्वमेव प्रभवति समर्था भवति। धात्री—अथ किम्। अभ्युपगतं भवद्वचः। तथापि अबलेति—अबलाजनानां नारीजनानां मनसो अतिरिक्ता अधिका या प्रतिभा सा अस्ति यस्य स प्रतिभावान् तेन प्रतिभावता। हे अमात्य, नारीजनप्रतिभाया अपि भवतः प्रतिभा अधिका अस्ति अतो भवतापि अस्मिन् कर्मणि प्रयत्नः करणीयः इत्यभिधाय धृतकात्यायनीप्रतिकर्मा धृतकात्यायनीवेषा या अर्धवृद्धा काषायवसना अथवा च सा दूती कात्यायनीत्युच्यते। करतलेति—हस्ततलधृतस्फटिकमणिरिव विज्ञातसकलस्त्रीस्वभावा तैस्तैः अन्यमनोहरणमन्त्रैः वचनैः, नयनमनोमोदजनकपदार्थैश्च। अतिदीर्घकालं विहितादरा, परिप्राप्तेति—परिप्राप्तः लब्धः प्रणयस्य प्रीत्या प्रार्थनस्य प्रसरावतारः अवतारोद्भवः यया सा तथाभूता सा दूती एकदा मुदा आनन्देन, रहसि विजने तां पुष्यपुरोहितभार्याम् उद्दिश्य इमं वक्ष्यमाणम् प्रस्तुतेति—प्रसंगप्राप्तकार्यरचनायाः अनुकूलमर्यादोपेतं श्लोकं पद्यम् उदाहार्षीत् उक्तवती—स्त्रीषु इति—अत्र जगति स्त्रीषु नारीषु गङ्गेव जाह्नव्येव धन्या पुण्यवती, या परभोगोपगापि परेषां समीपं भोगदानाय उपगच्छन्त्यपि शंभुना शिवेन मूर्ध्नि मस्तके मणिमालेव रत्नस्रगिव सोल्लासं सानन्दं ध्रियते स्थाप्यते ॥४२५॥ भट्टिनी—(स्वगतम्) इत्वरीति—परपुरुषानेति गच्छति इत्येवं शीला इत्वरी कुलटा पुंश्चली स चासौ जनश्च इत्वरीजनः तस्याचरणम् असत्प्रवृत्तिः तदेव हर्म्यं धनिनां वासः तस्य निर्माणाय प्रथमसूत्रपात इव प्रथमत एव भूमिमापनार्थं सूत्राङ्कनमिव अयं वाक्यप्रस्ताव उपलक्ष्यते। तथा चाह या इयं तावत् आकूतपरिपाकम् स्वाभिप्रायस्य परिपाकं निश्च्योतं सारम्। (प्रकाशं) आर्ये, किमस्य सुभाषितस्य ऐदंपर्यं तात्पर्यम्। धात्री—परमसौभाग्यभागिनि भट्टिनि, उत्तमसौभाग्यवति, भट्टिनि, भर्तृ स्वामित्वम् अस्याः अस्तीति भट्टिनी तत्संबोधनं हे भट्टिनि, हे ब्राह्मण-भार्ये, जानासि एवास्य सुभाषितस्य कैम्पर्यम् तात्पर्यम्। यदि न वज्रघटितहृदयासि चेद्वज्रेण निर्मितचित्ता न भवसि। भट्टिनी—(स्वगतम्) सत्यं वज्रघटितहृदयाहम्। यदि चेत् भवत्प्रयुक्तोपघातघुणजर्जरितकाया न भविष्यामि। भवत्या प्रयुक्तः यः उपघातः अपकारः स एव घुणः कीटकः तेन जर्जरितः कायः उत्कीर्णः देहो यस्याः तथाभूताहं न भविष्यामि। आर्ये, हृदयेऽभिनिविष्टम् अर्थं मनसि निश्चयेन प्रविष्टम् अर्थम् अभिप्रायं श्रोतुमिच्छामि। धात्री—वत्से, कथयामि किं तु चित्तं द्वयोरिति—ज्ञानम् अभिमानः चित्तोन्नतिः तदुभयम् एव घनं तेन धन्या धीः बुद्धिः यस्य तेन नरेण। द्वयोः पुरतः अग्रतः एव चित्तं निजाभिप्रायः निवेदनीयं कथनीयम्। कौ तौ द्वौ नरौ ययोः पुरतः चित्तं निवेद्यते इत्याह—यः प्रार्थितम् इति—यः नरः अभियुज्यमानः संबध्य-मानः प्रार्थितं मित्रस्य याचनादिकं न रहयति न स्फोटयति 'यो वा जनो निजस्य मनसः अनुकूलः भवति, सोऽपि रहस्यं न भिनत्ति। अतः इमौ द्वौ एव नरौ रहस्यकथनयोग्यौ निश्चेयौ ॥४२६॥ भट्टिनी—(स्वगतम्) अहो नभःप्रकृतिम् अपि इयं नभसः आकाशस्य स्वभावम् अपि नैर्मल्यमपि पङ्कैः कर्दमैः उपलेप्तुं क्षिप्तुम् इच्छति आकाशवन्निर्मलस्वभावां मां पतिव्रताम् इयं धात्री असतीजनदोषकर्दमैः क्षिप्तुमिच्छति। इति स्वगतं पश्चा व्यमृशत्। (प्रकाशम्) आर्ये, उभयत्रापि समर्थाहम्, अहं रहस्यभेदिका न भवामि। त्वन्मनसोऽनुकूला च भवामि। चित्तं द्वयोरिति न मदुपज्ञम् न ममाद्यज्ञानम्। न भवदुपक्रमं वा न भवत्या प्रथमं कार्यम् प्रारब्धमिति। न हि मदीय उपाधिर्न च भवदीय उद्यमः किं तु पुरैव ईदृशी गतिरस्ति। धात्री—(स्वगतम्) अनुगुणेयं खलु कार्यपरिणतिः इयं खलु निश्चयेन कार्यपरिणतिः कर्मणः परिणमनम् अनुगुणा मदभिप्रायानुकूला भवति। यदि चेत् निकट-तटतन्त्रस्य समीपतीरप्राप्तस्य बहित्रपात्रस्येव नौकाशरीरस्येव दुर्वातालीसंनिपातो न भवेत्। दुष्टो वातः दुर्वातः तस्य आली पङ्क्तिः दुर्वातालो तस्याः संनिपातः वेगेन आगमनं न भवेत्। मम कार्यं तु अधुना सम्यक् अनुकूल-प्रायमेव जाने इति धात्री वदति यदि कोऽपि नान्तरायोऽत्र स्यात्। (प्रकाशम्) अत एव भद्रे, वदन्ति पुराणविदः।

[पृष्ठ १९८] विधुरिति—गुरोः बृहस्पतेः कलत्रेण भार्यया सह विधुश्चन्द्रः समगंस्त मैथुनं चकार। गोतमस्य ऋषेः भार्ययाहल्यया सह अमरेश्वरः इन्द्रः। शन्तनोर्नृपस्य च भार्यया गङ्गया सह दुश्चर्मा शंकरः पुरा किल समगंस्त संभोगं चकार ॥४२७॥ भट्टिनी—आर्ये, एवमेव सत्यमेतत्। यतः। स्त्रीणामिति—स्त्रीणां

वपु: शरीरं बन्धुभिः स्वजनैः अग्निसाक्षिकम् अग्निं साक्षीकृत्य परत्र अन्यस्मिन् पुरुषे विक्रीतम् अर्पितम् । परम् इदं मानसं न विक्रीतम्,न दत्तमिति भावः । ननु यत्र विश्रम्भगर्भा निर्वृतिः प्रणयपूर्वा निर्वृतिः संतोषः आह्लादः भवति स एव कृती पुण्यवान् धन्यः तस्य मानसस्य अधिपतिः स्वामी मतः ॥४२८॥ धात्री—पुत्रि, तर्हि श्रूयताम्, त्वं किल एकदा कस्यचित्कुसुमकिसारुनिर्विशेषवपुषः, कुसुमस्य किंसारवः केशराः तैः निर्विशेषवपुषः समानशरीरस्य कुसुमकेशरकोमलदेहस्येति भावः । पुराङ्गनेति—नगरस्त्रीजननयनकमलमोदे अमृतरोचिषः सुधाकरतुल्यस्य कस्यचिन्नरस्य । प्रासादेति—प्रासादस्य हर्म्यस्य परिसरे पर्यन्तभुवि विहारिणी त्वम् एकदा । वीक्षणेति—नयनमार्गानुयायिनी सती कौमुदीव ज्योत्स्नेव । हृदयेति—हृदयम् एव चन्द्रकान्तमणिः तस्य आनन्द एव निःस्यन्दः जलनिर्गमः तस्य संपादिनी अभूः त्वम् अभवः । तत्प्रभृति तद्दिनमारभ्य, ननु तस्य मदनसुन्दरस्य यूनः तरुणस्य । प्रत्यवसितेति—प्रत्यवसितः विनष्टः वसन्तश्रीसमागमसमयो यस्य तथाभूतस्य पुष्पंधयस्येव भ्रमरस्येव रसालमञ्जर्यामिव आम्रपुष्पपङ्क्तौ इव भवत्यां महान्ति खलु मन्दमकरन्दास्वादने स्वैरं मकरन्दभक्षणे दोहदानि अभिलाषाः सन्ति । नितान्तं नितरां चिन्ताचक्रपरिक्रान्तं चिन्ता मानसी व्यथा तस्याः चक्रेण परिक्रान्तं व्याकुलं स्वान्तं तस्य मानसम् । प्रसभमिति—प्रसभं नितरां तव गुणस्मरणपरिणत्याः आधारं तस्य मनोऽस्ति । अनवरतमिति—सततं रामणीयकं तव देहसौन्दर्यम्, तस्य अनुकीर्तनं पुनः पुनः स्मरणं तस्य संकेतो यत्र तथाभूतं तस्य मनः । प्रविकसदिति—प्रविकसत् विकासं प्राप्नुवत् कुसुमतुल्यविलासयोग्यवल्लरीसदृशवल्लभाजने संनिहितेऽपि समीपस्थितेऽपि तस्मिन् तस्य महानुद्वेगः, अतीव खिन्नता विद्यते । पिशाचेति—पिशाचेन देवविशेषेण छलितस्येव पीडितस्य नरस्येव अस्थाने स्वायोग्ये वस्तुनि अनुबन्धः स्नेहः। संजातेति—संजातः उत्पन्न उन्मादः चित्तविभ्रमः यस्य तथाभूतस्य नरस्येव विचित्रः नानाविध उपलम्भः विभ्रमः तेन क्रियाप्रारम्भो यस्य । पुनः कथंभूतः । स्कन्धेति—स्कन्धे निजस्कन्धे निजभुजशिरसि गदेन गृहीतस्य नरस्येव प्रतिदिनं लब्धकृशावस्थः । स्मरेति—स्मरस्य कामस्य आराधनायां प्रणीतं विहितं प्रणिधानम् ऐकाग्र्यं येन तथाभूतस्य नरस्येव इन्द्रियेषु संनता अवसादः कार्श्यम् अभवत् । प्राणेषु च अद्यश्वीनकथा असुषु जीविते वा अद्यश्वीनकथा अद्य श्वो वा भवति अद्यश्वीनं मरणं तस्य कथा । अपि च—अनवरतेति—अनवरतं सततं जलेन आर्द्राणि क्लिन्नानि यानि आन्दोलनानि व्यजनानि तेषां स्पन्दाः चञ्चलताः तैः मन्दैः अतिसरसा अतिस्निग्धा या मृणाल्यः कमलिन्यः तासां कन्दलैः अङ्कुरैः नालैः कथंभूतैः चन्दनार्द्रैः चन्दनेन आर्द्रैः क्लिन्नैः एतैः सर्वैः करणभूतैः हे प्रियसखि, अमृतेति—अमृतरुचिः चन्द्रः तस्य मरीचयः कराः तैः प्रौढिता प्रगल्भता यस्यां तथाभूतायां निशायाम् ते सुहृदः मित्रस्य वल्लभस्येत्यर्थः किंचित् आत्मप्रबोधः अल्पस्वानुभूतिर्विद्यते । स्मरव्यथया तव वल्लभोऽतीव पीडितः इति भावः ॥४२९॥

[पृष्ठ १९९-२००] भट्टिनी—आर्ये, किमित्यद्यापि गोपायते, केनाहं दृष्टा, कः स्मरपीडितः तस्य नामादिकं कथं न कथयसीत्यर्थः । मा निह्नुष्व सर्वं स्फुटं कथयेति भावः । धात्री—(कर्णजाहमनुसृत्य) एवमेवम् । सचिवपुत्रः कडारपिङ्गः स्मरपीडित इति भावः । भट्टिनी—को दोषः । धात्री—कदा । कदा तेन आगन्तव्यम् इति प्रश्नो धात्र्या कृतः । भट्टिनी—यदा तुभ्यं रोचते । तदा तेनागन्तव्यम् इतश्च अनन्तरायतया निर्बाधतया तया पद्मया पुष्यभार्यया अनुमता सा धात्री । तनयानुमताहितमतिपाटवः तनयस्य अनुमतं प्रियं यत्कार्यं तत्र आहितं स्थापितं मतिपाटवं बुद्धिचातुर्यं येन स सचिवोऽपि उग्रसेनोऽपि । नृपतीति—नृपतेः धर्षणाह्वस्य निवासे गृहे उचितप्रचारेषु उचितः योग्यः प्रचारः प्रवर्तनं येषां तेषु वासरेषु दिनेषु यातेषु कस्मिंश्चिद्दिने गुणव्यावर्णनप्रसंगे आगतम् एतस्य महीपतेः नृपस्य पुरतः श्लोकम् इमम् उपन्यास्थत् अपठदित्यर्थः । राज्यमिति—यस्य वेश्मनि गृहे किंजल्पः पक्षिविशेषः विद्यते तस्य राज्यं विवर्धते । सिद्धात् मन्त्राराधनाल्लब्धाच्चिन्तामणेर्यथा किंजल्पपक्षिप्राप्तेः शत्रवश्च क्षयं यान्ति ॥ ४३० ॥ राजा—अमात्य, क्व तस्य प्रादुर्भूतिः, कीदृशी च तस्याकृतिः । अमात्यः—देव, भगवतः पार्वतीपतेः पूज्यस्य गौरीवल्लभस्य श्वशुरस्य पार्वतीपितुः, कथंभूतस्य श्वशुरस्य । मन्दाकिनीति—मन्दाकिन्याः गङ्गायाः स्पन्दः प्रवाहः तस्य निदानं कारणं कन्दरनीहारो गुहाहिमं यस्य । पुनः कथंभूतस्य । रमणेति—रमणः पतिः सहचरो सहयायी यासां ताः खेचर्यः खगाङ्गनाः तासां सुरतस्य संभोगस्य परिमलः विमर्दोत्थजनमनोहरगन्धः, तेन मत्ता लम्पटा

ये मत्तालयः मत्तभृङ्गाः तेषां मण्डली समूहः तेन विलिख्यमाना रच्यमाना मरकतमणिमेखला मरकतानां मणीनां हरिन्मणीनां मेखला रशना यस्य। पुनः कथंभूतस्य। चूर्णोत्पलेति—चूर्णोत्पलाः कर्णिकाराः तेषां षण्डः समूहः तेन मण्डितं भूषितं शिखण्डम् अग्रं यस्य रत्नशिखण्डनाम्नः शिखरस्य अभ्यासे समीपे निःशेषाः सकला ये शकुन्ताः पक्षिणः तेषां संभवम् उत्पत्तिम् आवहति धारयतीति तथाभूता गुहा समस्ति। यस्यां जटायु-वैनतेय-वैशम्पायनप्रभृतयः शकुन्तयः पक्षिणः प्रादुरासन् अजायन्त। तस्यामेव तस्य किञ्जलकपक्षिणः उत्पत्ति-र्जन्म। तां च गुहाम् अहं पुष्यश्च अनेकशः असकृत् नन्दाभगवतीयात्रानुसारित्वात् गौरीभगवत्याः यात्रामनु-सृत्येत्यर्थः, साधु जानीवः। प्रकृतिश्चास्य अनेकवर्णा मनुष्यसवर्णा नरसमाना च। भूपालः—(संजात-कुतूहलः) अमात्य, कथं तद्दर्शनोत्कण्ठा ममाकुण्ठा स्यात्। तस्य किंजल्पपक्षिणो दर्शनस्य उत्कण्ठा मम अकुण्ठा सा, उत्कण्ठा कथं मम सफला स्यादिति भावः। अमात्यः—देव, मयि पुष्ये च गते सति। राजा—अमात्य, भवान् अतीव प्रवयाः वृद्धः। तत्पुष्यः प्रयातु। अमात्य—देव, तर्हि दीयताम् अस्मै सरत्नालंकार-प्रवेकम्, पारितोषिकम्। रत्नालंकाराश्च ते प्रवेकाश्च उत्तमाः रत्नालंकारप्रवेकाः तैः सहितं सरत्नालंकार-प्रवेकम् पारितोषकं परितोषजनकं द्रव्यम् अस्मै पुष्याय दीयताम्। अगणेयं पाथेयं च विपुलं पाथेयं पथि व्ययितव्यद्रव्यं शम्बलमिति भावः। राजा—बाढम्। अत्र मम संमतिरस्ति इति भावः। स्वामिचिन्ताचार-चक्षुष्यः पुष्यः स्वामिनो वर्षणनृपस्य चिन्ता यथा अभिप्रायोऽस्ति तथा आचारेण प्रवर्तनेन चक्षुष्यः नेत्रानन्द-जनकः पुष्यः तथा राज्ञादिष्टः गेहम् आगत्य 'आदेशं न विकल्पयेत्' नृपतिना आदेशः ईदृश एव कथं कृतः अन्यादृशः कथं न कृतः इति विकल्पः न कर्तव्यः इति मतानुसारी प्रयाणसामग्रीं कुर्वाणः तया सतीव्रतपवित्रित-सद्मया पद्मया सतीव्रतेन पवित्रितं सद्म गृहं यया तथाभूतया पद्मया पृष्टः—भट्ट, किमकाण्डे किम् अनवसरे प्रयाणाडम्बरः देशान्तरगमनारम्भः। पुष्यः—प्रस्तुतमाचष्टे प्रतिपन्नं कथयति। भट्टिनी—भट्ट, सर्वमेतत्स-विधस्य कूटकपटचेष्टितम्। कूटम् अनृतमयं कपटचेष्टितम् अनृतमयमायाव्यवहारः। भट्टः—भट्टिनि, किं न खलु एतच्चेष्टितस्यायतनम्। एतत्कूटकपटव्यवहारस्य किमास्पदम्। भट्टिनी—प्रकान्तम् अभाषिष्ट। पूर्ववृत्तं सकलम् अभाषत। भट्टः—किमत्र कार्यम्।

[पृष्ठ २०१] भट्टिनी—कार्यमेतदेव। दिवा सप्रकाशं सर्वजनसमक्षम् एतत्पुरात्प्रस्थाय निशि निभृतं च प्रत्यावृत्य गूढं पुनरागम्य अत्रैव महावकाशे निजवासनिवेशे विपुलदेशे निजगृहापवरके सुखेन वस्त-व्यम्। उत्तरत्राहं जानामि। तदनन्तरं कार्यम् अहं पारयिष्ये। भट्टः—तथास्तु। ततोऽन्यदा तया पर-निकृतिपात्र्या धात्र्या अन्यप्रतारणपात्रभूतया धात्र्या उपमात्रा स दुराचाराभिषङ्गः असदाचारासक्तः कडार-पिङ्गः सुप्तजनवेलायाम् आनीतः। "समभ्यसतु तावत् इहैव इयं धात्री, अयं च कडारपिङ्गः महीमूलं पाताल-तलं नरकं यियासुः जिगमिषुः पातालवासदुःखं समभ्यसतु आवर्तयतु।" इत्यनुध्याय इति चिन्तयित्वा तया पद्मया महावर्तस्य विपुलविस्तारस्य गर्तस्य कूपवत् गम्भीरभूमिरन्ध्रस्य उपरि कल्पितायां स्थापितायाम् अवानी-यायां रज्ज्वादिनिवेशरहितायां खट्वायां मञ्चके क्रमेण उपवेशितवपुषौ स्थापितदेहौ तौ द्वावपि दुरातङ्कबन्धे महाव्यथायुक्ते श्वभ्रमध्ये गर्ते विनिपेततुः अपतताम्। अनुबभूवतुश्च अन्वभवतां च निखिलपरिवारजन-भुक्तावशिष्टभक्तादिभोजनौ कुम्भीपाकवत् उपक्रमः यस्य तथाभूतं षट्समाशाखान् समायाः षट्शाखाः षट्-विभागाः तावत्कालं दुःखक्रमम्। समायाः वर्षस्य शाखाविभागाः मासाः षट् च ताः समाशाखाः षट्समाशाखाः षण्मासानिति यावत्। षण्मासावधि दुःखक्रमम् अनुबुभुजतुः। पुनरेकदा "स्वाम्यादेशविशेषविदुष्यः पुष्यः नृपाज्ञाविशेषे चतुरः पुष्यभट्टः तथाविधपक्षिप्रसवसमर्थपक्षिणीसहितं किंजल्पजातीयविहगजननसमर्थया विहग्या संयुक्तं कृतो विहितः पञ्जरे परिकल्पो बन्धः यस्य तं किंजल्पम् आदाय गृहीत्वा आगच्छन्, त्रिचतुरेषु वासरेषु दिवसेषु अस्यां पुरि प्रविशति।" इति प्रसिद्धिप्रवर्तिनी इति वार्तां घोषयन्ती। विविधवर्णविडम्बितकायेन नीलपीतादिवर्णैर्विविधैर्विडम्बितौ चित्रितौ कायौ यस्य तद्द्वयेन, पुनः कथंभूतेन तद्द्वयेन। चटकेति—चटकः कलविंकः, चकोरः जीवंजीवः यो ज्योत्स्नया मोदते। चाषः किकीदिविर्नाम पक्षी, चातकः सारङ्गाख्यः पक्षी एते आदौ येषां ते चटकादयः तेषां छदाः पक्षाः तैः छादिता आवृताः प्रतीकस्य शरीरस्य निकाया अवयवाः यस्य तथाभूतेन तद्द्वयेन पञ्जर एव आलयः गृहं यस्य तद्द्वयेन सहचिरप्रवासोचितवेषजोष्यं पुष्यं

रुचिरेण सुन्दरेण प्रयाणयोग्यवेषेण जोष्यं सेवनीयं तं पुष्यं पुरः अग्रे वने विनिवेश्य स्थापयित्वा। भट्टेति—भट्टात् पुष्यभट्टात् हेतोः उद्भूतः जातः आरम्भः यस्य तथाभूतेन संभाषणेन सनाथो युक्तः यः सखीजनः तेन संकल्पा भूषिता। धृतेति—धृतः प्रोषितभर्तृकायाः आकल्पो वेषो यया सा, (प्रकृष्ट दूरं गतः प्रोषितः प्रवासं गतो भर्ता यस्याः सा प्रोषितभर्तृका) अभिमुखम् अयासीत् अगच्छत्। अपरेद्युः अन्यस्मिन्दिने स निखिलगुणा एव द्रविणं धनं तेन विशेष्यः इतरजनेभ्यः असमानः पुष्यः पृथिवीपतिभवनं धर्षणनृपप्रासादम् अनुगम्य 'देव, अयं स किंजल्पः पक्षी, इय च तत्प्रसवित्री माता पतत्रिणी च पक्षिणी च, इत्याचरत् इत्यवदत्।

[पृष्ठ २०२-२०३] राजा—(चिरं निर्वर्ण्य निर्णीय च स्वरेण) पुरोहित, नैष खलु किंजल्पः पक्षी, किं तु कडारपिङ्गोऽयम्। एषापि विहङ्गी पक्षिणी न भवति किं तु तडिल्लतेयं कुट्टिनी पुरुषेण सह परस्त्रीयोगस्य कर्त्री। पुष्यः—देव, एतत्परिज्ञाने प्रगल्भमतिप्रसवः सचिवः। देव एतस्य किंजल्पपक्षिविषयकपरिज्ञाने प्रगल्भः प्रौढः मतिप्रसवः बुद्ध्युत्पादः यस्य तथाभूतः सचिवः। राज्ञा सचिवस्तथा पृष्टः क्ष्मातलं पातालं प्रविविक्षुरिव प्रवेष्टुमिच्छन्निव क्षोणीतलं भूतलम् अवालोकत ऐक्षत। राजा—पुष्य, समास्ताम्। अयं भवान् ऐतिह्यनिकरं प्राग्वृत्तजातं कथयितुम् अर्हति। प्राग्वृत्तं सकलं कथयेति राजा पुष्यम् अपृच्छत्। पुष्यः—स्वामिन्, कुलपालिकात्र प्रगल्भते। कुलं पालयति इति कुलपालिका कुलवती मे धर्मपत्नी ऐतिह्यनिकरं कथयितुं प्रगल्भते समर्था भवति। भूपतिः भट्टिनीम् आहूय 'अम्ब, कोऽयं व्यतिकरः किं प्रकरणमिदम्' इत्यपृच्छत्। भट्टिनी तदुदन्तं तत्प्रकरणस्य पूर्ववृत्तान्तम् आख्यत् अवर्णयत्। काश्यपीश्वरः कश्यपस्येयं काश्यपी पृथ्वी तस्या ईश्वरः अधिपतिः धर्षणः शैलूष इव नटवत् हर्षामर्षोत्कर्षस्थामवस्थामनुभवन् आनन्दकोपोत्कटाम् अवस्थां दशाम् अनुभवन् सकलनिशान्तस्थितस्त्रीजनप्रणम्यमाणचरणकमलां तां पद्मां तैस्तैः साध्वीगणानन्ददैः स्तुतिवचनैः संमानसंनिधानैः समादरसूचकैः भूषणदानैश्च उपचर्य पूजयित्वा, वेदविद्द्विजोह्यमानकर्णीरथारूढां स्त्रीणां वाहनार्थं वस्त्रादिना आच्छादितस्य रथविशेषस्य कर्णीरथ इति नाम। वेदविद्भिः वेदार्थं जानद्भिः द्विजैः विप्रैः स्कन्धे धृत्वा नीयमानकर्णीरथम् आरूढां पद्मां वेश्म गृहं प्रवेश्य, पुनः 'अरे निहीन नितरां हीन नीच, किमिह नगरे न सन्ति सकललोकसाधारणभोगाः अखिलजनसामान्यैर्भुज्यमानाः सुभगाः सुन्दराः सीमन्तिन्यः नार्यः किमिति न सन्ति येनैवम् आचरः दुराचरणं कृतवान्। कथं च दुराचार, एवमाचरन् न अत्र विलायं विलीनोऽसि। दुर्व्यवहार, एवम् आचरणं कुर्वंस्त्वं लवणवत् जले कथं न विलीनोऽसि। तत् इदानीमेव यदि भवन्तं तृणाङ्कुरमिव तृणेह्यि हन्मि, तदा तव हुंकृतम् अभिमानः अपकृतं स्यात् नष्टं भवेत्।' इति निर्भरम् अतिशयेन निर्भर्त्स्य तर्जयित्वा दुर्नयनगरभुजंगं दुराचारपुरजारं कडारपिङ्गं कुट्टिनीमनोरथातिथिं कुट्टिन्याः परस्त्रियं पुरुषेण योजयन्त्याः विद्युल्लतायाः मनोऽभिलाषस्य अतिथिम् अभ्यागतं सतृणं तृणेन सहितम् उग्रसेनमन्त्रिणं च निखिलजनसमक्षम् आक्षारणापूर्वकं परस्त्रीनिमित्तं दूषणं दत्वा प्रावासयत् देशान्तरं प्राहिणोत्। दुष्प्रवृत्तानङ्गमातङ्गः दुष्प्रवृत्तेन दुराचारेण अनङ्गत्वात् कामाकुलत्वात् मातङ्गः चाण्डालसदृशः, कडारपिङ्गः तथा प्रजाप्रत्यक्षं पौरसमक्षम् आक्षारितः परस्त्रीनिमित्तं दत्तदूषणः सुचिरं दीर्घकालम् एतदेनःफलम् अनुभूय एतस्य परस्त्रीपापस्य फलं भुक्त्वा दशमीस्थः मरणावस्था दशमीत्युच्यते तस्यां तिष्ठतीति दशमीस्थः। मरणं प्राप्तः सन् श्वभ्रप्रभवभाजनं श्वभ्रे नरके प्रभवः उत्पत्तिः तस्य भाजनं पात्रं जनम् अभजत्। नरके समुत्पन्न इति भावः। भवति चात्र श्लोकः—मन्मथेति—मन्मथः कामः तेन उन्माथितं पीडितं स्वान्तं मनः यस्य, परस्त्रिया सह रतिः संभोगः तस्मिन् जाता धीः मतिर्यस्य स कडारपिङ्गः संकल्पात् परस्त्रीसंभोगमनोऽभिलाषात् रसातले नरके निष्पात पतितः अजायतेति भावः ॥ ४३१ ॥

इत्युपासकाध्ययनेऽब्रह्मफलसाधारणो नाम एकत्रिंशत्तमः कल्पः ॥३१॥

३२. परिग्रहाग्रहफलफुल्लनो नाम द्वात्रिंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ २०३-२०४] **ममेदमिति**—बाह्याभ्यन्तरवस्तुषु गोमहिषमणिमुक्तादिषु बाह्यवस्तुषु रागादिषु च अभ्यन्तरवस्तुषु मम इदम् इति संकल्पः संरक्षणार्जनसंस्कारादिरूपः परिग्रहः मतः तत्र चेतसः मनसः निकुञ्चनं सङ्कोचनं कुर्यात् तेषु मनोऽभिलाषं कर्षयेदित्यर्थः ॥४३२॥ बाह्यपरिग्रहान् व्याचष्टे—क्षेत्रं सस्योत्पत्तिस्थानम्, धान्यं शालिव्रीह्यादिकम्, धनं हिरण्यरूप्यादि, वास्तु गृहं, कुप्यं क्षौम-कार्पास-कौशेय-चन्दनादि। शयनं शय्या, आसनं पीठमञ्चादिकम्, द्विपदाः दासीदासम्, पशवः गोमहिषादयः, भाण्डं भाजनानि। इति बाह्या दश परिग्रहाः ॥४३३॥ अभ्यन्तरपरिग्रहाः—**समिथ्यात्वा इति**—मिथ्यात्वेन अतत्त्वश्रद्धानेन सहिताः त्रयो वेदाः स्त्रीवेदः पुरुषेण सह रमणाभिलाषः नार्यामुत्पद्यते। पुरुषवेदः नार्या सह रमणाभिलाषः पुरुषे। नपुंसकवेदः उभाभ्यां रमणाभिलाषः। हास्यादयः षट् हास्यं, रतिः, अरतिः, शोकः, भयम्, जुगुप्सा। चत्वारश्च कषायाः क्रोध-मान-माया-लोभाः। इति अन्तःपरिग्रहाः चतुर्दश। अन्तर्ग्रन्था अपि कथ्यन्ते। अन्तः आत्मनि यैः संसारः ग्रथ्यते बध्यते ते ग्रन्थाः राग-द्वेष-लोभ-मोहादयः परिणामविशेषाः ते चात्मन्येव संभवन्ति ॥४३४॥ बाह्यान्तरङ्गपरिग्रहवर्णनम्—**चेतनेति**—बाह्येषु स्वस्माद् भिन्नेषु चेतनेषु गो-महिष-पुत्र-कलत्रादिषु आसक्तिः एकः बाह्यश्चेतनपरिग्रहः मणिमुक्तायगृहादिषु अचेतनेषु आसक्तिः द्वितीयः अचेतनः बाह्यः परिग्रहः इति बाह्यचेतनाचेतनपदार्थासक्तेः बाह्यपरिग्रहद्वैविध्यम्। परं भवहेत्वाशयाश्रयः संसारकारणा ये मिथ्यात्वाविरत्यादयः आशयाः चैतन्यरूपाः परिणामाः ते आश्रयः आधारः यस्य स अन्तःपरिग्रहः एक एव। उपाधिभेदाद् द्विविधत्वम् अन्तःपरिग्रहस्य निगदन्त्याचार्याः शिष्यावबोधार्थम् ॥४३५॥ **धनायेति**—धनाया धनाभिलाषा तया आविद्धबुद्धीनां व्याकुलमतीनां नराणां मनोरथाः अधनाः धनरहिता भवन्ति। हि यस्मात्कारणात् अनर्थक्रियारम्भा धीः तदर्थिषु कामधुक् न भवति। अर्थः प्रयोजनं यस्याः सिध्यति सा क्रिया अर्थक्रिया न अर्थक्रिया अनर्थक्रिया अनर्थक्रियाया आरम्भो यस्यां सा धीः मतिः तदर्थिषु अर्थार्थिषु धनार्थिषु कामधुक् न भवति कामान् इष्टाभिलषितान् न दुग्धे। इच्छया मनोरथैर्वा धनानि न लभ्यन्ते। धनप्राप्तिकारणम् अन्तरायकर्मणां क्षयोपशमोऽभाणि इति मत्वा आर्तध्यानं न कर्तव्यम् ॥४३६॥ **सहेति**—सह युगपत् समकालीना संभूतिः आत्मना सह जन्म यस्य स एष देहोऽपि यत्र शाश्वतः नित्यः न, तत्र द्रव्यदारकदारेषु द्रव्यं धनम्, दारकः सुतः दारा पत्नी, एतेषु महात्मनां निःस्पृहाणां का आस्था कः प्रयत्नः ॥४३७॥ **स इति**—यः धर्माय दानपूजनादिकार्याय धनागमं धनप्राप्तिं न विनयेत नोपयुङ्क्ते, तथा भोगाय यः धनागमं नोपयुङ्क्ते तस्य स विफल एवाजागलस्तनवत् ॥४३८॥ **प्राप्ते इति**—ये धने प्राप्ते लब्धे न माद्यन्ति न गर्विणो भवन्ति। ये प्राप्तिस्पृहयालवः न भवन्ति। धनप्राप्त्यै न स्पृहयन्ति च त एव महात्मानः लोकद्वयाश्रितां इहपरलोकयुगलाश्रितानां लक्ष्मीणां परमेश्वरा भवन्ति। उपर्युक्ता एव महात्मानः इहलोके चक्रवर्तिश्रियं लभन्ते परलोके स्वर्गादौ इन्द्रविभूतिं च प्राप्नुवन्ति ॥४३९॥ **चित्तस्येति**। हे चित्त हे मनः, वित्तस्य धनस्य चिन्तायाम् अभिलाषायाम् एनसः पापात् परम् अन्यत् फलं लाभो न। हि यतः उचितमेवैतत् अस्थाने अविषये क्लिश्यमानस्य प्रयतमानस्य नरस्य चित्तस्य वा क्लेशाद् दुःखात्परम् अन्यत् फलं न भवति ॥४४०॥ निःसंगस्य सुखं भवतीति निश्चिनोति—**अन्तरिति**—अन्तःसंगे अन्तरङ्गे। परिग्रहे रागादौ। बहिर्गते परिग्रहे मणिमुक्तादिके। यस्य मानसं निःसंगम् अनासक्तं भवति। स अगण्यपुण्यसंपन्नः असंख्यसुकृतपूर्णः नरः सर्वत्र सुखम् अश्नुते लभते ॥४४१॥

[पृष्ठ २०५] **बाह्येति**—बाह्ये मणिमुक्तादिषु पुत्रकलत्रादिके च। संगे परिग्रहे। रते आसक्ते। पुंसि पुरुषे। चित्तविशुद्धता मनोनैर्मल्यं कुतः कथं स्यात्। बहिः सतुषे धान्ये बाह्ये सत्वचि सस्ये अन्तःविशुद्धता अन्तर्निर्मलता दुर्लभा भवति ॥४४२॥ **सत्पात्रेति**—यः पुरुषः सत्पात्रे रत्नत्रयवति मुनौ श्रावके च विनियोगेन धनार्पणेन अर्थसंग्रहतत्परः धनार्जने तत्परः प्रवणो भवति स लुब्धेषु महालुब्धः यतः लुब्धः यावज्जीवं धनं न त्यजति परं मृतः स्वेन सह अमुत्र परस्मिल्लोके धनं नेतुमसमर्थः। परं सत्पात्रे धनं विनियुञ्जानः परलोकेऽपि धनं नयति अतः स एव लुब्धेषु महालुब्धः ज्ञेयः ॥४४३॥ परिग्रहप्रमाणाणुव्रतहानिः प्रदर्श्यते—**कृतेति**—कृतं प्रमाणं परिमाणं यस्य तस्मात् धनात्। लोभेन अधिकसंग्रहः अधिकधनसंग्रहः यस्य भवति स गृहमेधिनां पञ्च-

माणुव्रतत्रयाणि पञ्चमाणुव्रतहानिं करोति ॥४४४॥ अस्मिन् द्वन्द्वद्वयेऽपि उभयपरिग्रहेऽपि यस्य देहिनः शरीरिणः। मनः निःस्पृहं वर्तते। स पुरुषः स्वर्गापवर्गलक्ष्मीणां पक्षे क्षणात् दक्षते चतुरो भवति। निःस्पृहचित्तस्य नरस्य स्वर्गापवर्गलक्ष्मीणां प्राप्तिर्भवति ॥४४५॥ अत्यर्थम्-अतिशयेन अर्थकांक्षायां धनाभिलाषायां नृणाम् अघौघसंचितं पापसमूहसंभृतम्। चेतः संसारावर्तवर्तगं भवस्य आवर्तः गर्तः तत्र वर्त्तं वर्तनं गच्छतीति संसारावर्तवर्तगम्। भवगर्तभ्रमणवत् भवति जायते ॥४४६॥

[पृष्ठ २०५-२०७] श्रूयतामत्र परिग्रहाग्रहस्योपाख्यानम्—पाञ्चालदेशेषु त्रिदशेति—त्रिदशानां देवानां निवेशः निवासः स्वर्गः तद्वत् अनुकूले सुखजनके उपशल्ये समीपे। काम्पिल्ये तन्नामके नगरे रत्नप्रभो नाम नृपतिः। कथंभूतः सः। निर्जेति—स्वधीप्रभावधिक्कृतदेवगुरुप्रज्ञः। अस्य मणिकुण्डला नाम महादेवी कथंभूता सा। आत्मीयेति—आत्मनः इमौ आत्मीयौ तौ च तौ कपोलौ गण्डौ तयोः कान्तिर्द्युतिः तया विजितं पराभूतम् अमृतमरीचेः सुधाकरस्य चन्द्रस्य मण्डलं ययेति। अस्य नृपस्य सागरदत्तो नाम श्रेष्ठी। कथंभूतः सः। कुलेति—कुलं वंशः तस्य क्रमः परम्परा तस्मात् आगतं प्राप्तम् आत्मोपार्जितं च स्वेन संपादितं च अमितं विपुलं वित्तं यस्य सः। सागरदत्तो नाम श्रेष्ठी। गृहस्य श्रीरिव रमा यथा धनश्रीर्नामास्य भार्या। सूनुः पुत्रः अनयोः धनश्रीसागरदत्तयोः सुदत्तो नाम। कथंभूतः सः। न्यायादनपेतो न्याय्यः स चासौ अर्थः न्याय्यार्थः स्वामिमित्रविश्वसितद्रोहवञ्चनादिकविरहितः अर्थः न्याय्यार्थः तस्योपार्जने एकं चित्तं तत्परं मनो यस्य सः सुदत्तो नाम सूनुः पुत्रः। स सागरदत्तः कथंभूतः। महालोभेति—महालोभ एव विभावसुरग्निः तेन ज्वलत् दहत् चित्तस्य मनसः भित्तम् अंशो यस्य सः सागरदत्तः। पुरुषेति—अनेकपूर्वपुरुषक्रमेणागतायाः सुवर्णकोटेः, स्वयं संपादितार्धकोटेः स्वामी भवन्नपि शालीयादिभक्तभोजने कलमाद्यन्नभुक्तौ द्वयोः तुषयोः त्वचोः अपनीतिर्हानिर्भवति। द्वावनाघ्राणाकृतिश्च द्वौ तुषौ अनाघ्राणाकृती च अग्निजलसंयोगेनापि अपक्वावस्थावेव तिष्ठतः। शाकानां पाकविधाने अग्निना पक्वत्वकरणे संभारादिकृतिश्च तल्लवनक्रियायां तन्मूलानां शाकनाडिकानां कठिनावयवानां च अपनयनं क्रियते, प्रसभं यथेच्छम् अभ्यवहृतिश्च भक्षणं च भवति। घार्तपूराः घार्तिकाख्याः भक्ष्यविशेषाः, पूरिमा पोलिका, वेष्टिमावेष्टनाकारा ('जिलेबी' इति भाषायाम्) एतेषां भक्ष्याणाम् उपक्षेपे ग्रहणे भक्षणे वा महती महान् स्नेहापहृतिः घृततैलादिविनाशः स्यात् इन्धनानां काष्ठानां विरतिः हानिर्भवेत्। दुग्धदधिघोलरसाद्युपयोगे भक्षणे कृते विक्रय कर्तुं न शक्यते 'यत्तु सस्नेहमजलं मथितं घोलमुच्यते' न च तक्रं कडङ्गरायेति भक्ष्यविशेषाय तक्रस्यापि उपयोगो न भवेत्। इति मन्यमानः विमर्शं कुर्वन् स्वयमेव प्रतिदिवसवृद्धिग्रहणाय प्रतिदिनम् अधमर्णात् कुसीदग्रहणाय छ्वजलोकपाटके छ्वजलोकास्तैलिकाः तेषां पाटके गृहपङ्क्तौ विहरमाणः गच्छन् प्रतिपितृप्रियन्त्रमुपसृत्य तिलंतुदयन्त्राणां समीपं स्थित्वा आः सुरभिः सुगन्धिः खलु एष खलः पिण्याकं संजातः इति सस्मेरं स्मितं कृत्वा व्याहरन् ब्रुवाणः, गृहीतपिण्डखण्डः स्वीकृतपिण्याकशकलः, प्रत्यवसानसमये भोजनवेलायां तद्गन्धम् आजिघ्रन् सन् सर्वजनत्यक्तम्, अतीतकालमर्यादं जीर्णमित्यर्थः अतिक्रान्तसमर्घम् अतीव सुलभं दरिद्रेणापि प्राप्यम्, अकण्डितमेव च स्थालीबिलीयं स्थालीनिहितं तदौदनादिकं शीघ्रं पक्वं भवति तत् केवलम् अवन्तिसोमेन सह काञ्जिकया सह अयं सागरदत्तः आहरति भक्षयति। अत एव अस्य महामोहसंबद्धस्य पिण्याकगन्ध इति नाम जगति पप्रथे, प्रसिद्धं बभूव। 'मुखामोदमात्रेण च प्रयोजनम्। तदलं ताम्बूलार्थम् अर्थव्ययेन, धनत्यागेन'। इति विचिन्त्य विष्णुतरुत्वचः वृक्षविशेषस्य या त्वक् तस्याः कालवल्लीदलोत्तरास्वादरुचः पिप्पलछल्ली बावचीपत्राणां च पश्चाद्भोजनेन रुक् रुचिर्यासां विष्णुतरुत्वचः ताः कवलयति भक्षयति। अर्धघ्राणोदरः परिवारः ऊनभोजनः भृत्यवर्गः कदाचिदपि देहे हृदये वा न मनागपि विकुरुते आलस्ययुक्तो न भवति। इति मत्वा न कमप्यूर्धपूरं पूरयति। कुक्षिपूरणमात्रम् अन्नं कस्यापि न ददाति। प्रतिचारकांश्च स्वभृत्यांश्च एवं शिक्षयति उपदिशति—'न तैलार्थं लवणार्थं वित्तं व्ययितव्यम्' किं तु कार्षापणं माषं चादाय कार्षापणं कर्षिकाख्यं पणाख्यं वा नाणकम् आदाय तथा माषं चादाय गृहीत्वा येन तैलादिकं मीयते तद्भाण्डं चादाय आपणं विपणिं उपढौक्य गत्वा तदुभयं गृहीत्वा पुनरिदं साधु न भवति इति समर्पयन्नापणिकाय तत्र मापे भाण्डे किंचिल्लग्नम् आयाति

तेन शारीरो विधिर्विधातव्यः तेन तैलेन अङ्गस्य म्रक्षणं कृत्वा स्नानं विधातव्यम् । परिजनार्भकान् भृत्यबालान् स्वकीयांश्च निजज्ञातिबालांश्च उपजपति (उपजापयति) भेदयति । न भवद्भिः अङ्गाभ्यङ्गार्थं भवनम् उपद्रोतव्यम् । अङ्गेषु अभ्यङ्गस्नानाय भवनं गृहं न उपद्रोतव्यम् न उद्वेजितव्यम् किं तु प्रातिवेशिकशिशुसंदोहैः सहातिसंबाधं योद्धव्यम् । आसन्नगृहिणां बालकसमूहैः सह अतिसंबाधं मल्लयुद्धं विधेयम् । अस्माद्धेतोः भवताम् अनुपायसंनिधिः स्नानविधिः । उपायमन्तरा प्रयत्नमन्तरेण अभ्यङ्गस्नानकार्यं स्यात् । क्षपायां च रात्रौ प्रतिवेशवेश्मप्रदीपप्रभाप्रज्वलितेन आसन्नगृहे प्रदीपकान्त्या प्रकाशितेन वलीकान्तावलम्बितेन काचमुकुरेण नीध्रान्ताश्रितेन काचदर्पणेन गृहाङ्गणे प्रदीपकार्यं कर्तव्यम् । तथा निकाय्यमध्ये गृहस्य मध्ये मध्येगृहं शणसरण्ड-प्रोतैः विषमरुचिदीप्तैः उरुबूकबीजैः शणाग्रसंलग्नैः प्रोतैः अग्निप्रज्वलितैः एरण्डबीजैः प्रदीपकार्यं करोति । प्रदोपप्रकाशं विदधाति । सकलजनसाधारणाश्च नवीनसंगा एव युगाः सर्वजनसामान्यानि नवीनसंगाः नूतनान्येव निर्मितानि वस्त्राणि सपरिच्छदः स्वपरिवारयुक्तः परिदधाति धारयति । मनाक् ईषत् मलीमसरागाश्च मलिनो रागो रंगो येषां तान् विक्रीणीते । ततोऽस्य वसनधावनार्थं वस्त्रप्रक्षालनाय न कपर्दकोपक्षयः न धनव्ययः । पर्वाणि च पर्वदिनानि च उत्सवदिवसान् पुराणानि जीर्णानि पल्लवानि पर्णानि कचवरं कच्चरं तेषाम् अपनयनकरणं त्यागः यत्र तथाभूतेन उत्करेण नखादिना आकर्षणेन आतपतप्तसंघाटस्नेहद्रवेण आतपेन रविकिरणतापेन तप्ता ये निबिडाः संघाटाः गुडांशास्तेषां स्नेहद्रवेण स्निग्धपाकेन गुडगोणीक्षालनकषायेण च गुडोपेतगोणीनां क्षालनेन धावनेन संजातकषायरसेन च निवर्तयति यापयति । प्रत्यामन्त्रणेन भोजनार्थं लोकानाम् आह्वानेन द्रविणव्ययात् धनत्यागात् परागारभोजनावलोकनेन परगृहे यद्भोजनं भुज्यते तस्य आलोकनेन प्रेक्षणेन भोजनकार्यं निवर्तयति । आश्रितजनमनोविनाशभयाच्च आमन्त्रितोऽपि भोजनार्थम् आहूतोऽपि परगृहे भोजनाय न गच्छति यदि तत्र गच्छामि भोजनाय तर्हि आश्रितजनानां मनः विकृतं भवेत् ते धनस्य चौर्यं कुर्युः अतः न कस्यापि निकेतने गृहे प्साति भक्षयति । कथंभूते पिण्याकगन्धे ।

[पृष्ठ २०७-२१०] एवमतीव तर्षोत्कर्षरसहार्ये तर्षस्तृष्णा तस्य उत्कर्षः प्रवृद्धिः तस्य रसः प्रेम तेन हार्ये तदधीने इत्यर्थः । पुनः कथंभूते । **सकलेति**—सकलानां कदर्याणा कृपणानाम् आचार्ये महाकृपणे इति-भावः । तथाभूते तस्मिञ्जीवत्यपि मृतकल्पमनसि मृतेन सदृशं मृतकल्पं तन्मनः यस्य सः मृतकल्पमनाः तस्मिन् वसति सति । एकदा (रत्नप्रभो नृपः चैत्यालयनिर्माणाय सुवर्णेष्टकाः स्तूपताम् आनयत्) रत्नप्रभो नृपः **राजसिन्धुरेति**—राजानः एव सिन्धुराः हस्तिनः तेषां प्रधावस्य अभिद्रवस्य आक्रमणस्य संदर्शनाय अवलोकनार्थं प्रासादस्य संपादनाय रचनार्थं । **श्रवणेति**—श्रवणौ कर्णौ तौ आश्रयीभूतौ वृत्तस्य यस्य तथाभूतस्य ब्रह्मदत्तस्य महीपतेः कालेन स्थण्डिलतया उन्नतभूमिरूपतया लुप्तो विनष्टः अवकाशः यस्मिंस्तथा-भूते भवनप्रदेशे प्रासाददेशे भूशोधनं विधाय यत्ने कृते सति । **तदास्थानेति**—तस्य आस्थानमण्डपस्य सभागृहस्य आभोगः विस्तारः तस्य बन्धं जुषन्ति इति बन्धजुषः सभागृहविस्तारबन्धभागिन्यः इति भावः । पुनः कथंभूताः । **प्रकामेति**—प्रकामम् अतिशयेन ऊषरदोषः क्षारमृत्तिकादोषः तेन कलुषवपुषः कृष्णीभूता इति भावः । पुनः कथंभूताः । **संपूर्णेति**—सकलविस्तारभृतः प्रथिमगुणविशिष्टाः पृथुत्वगुणशालिन्यः, सुवर्णेष्टकाः सुवर्णेन हेम्ना रचिता इष्टकाः समालोक्य बहिर्निकामं बाह्यावस्थायां नितरां कलङ्केन कृष्णादित्वेन मलिनिमादर्श-नात् इतरमृत्तिकेष्टकाभिः अविशेषतां तासाम् आकलयन् जानानः एताः खलु चैत्यालयनिर्माणाय जिनगृह-निर्माणाय योग्याः इति मनसा एकत्र स्तूपताम् उन्नतराश्याकारताम् आनयत् । [अत्रान्तरे पिण्याकगन्धः काच-वाहान् भक्ष्यादिभिः प्रलोभ्य तासां सुवर्णेष्टकानां संग्रहमकरोत्] अत्रान्तरे अस्मिन्प्रसंगे **समस्तेति**—सकलानां मितंपचानां कृपणानां पुरोगमसंबन्धः अग्रणीत्वयुक्तः पिण्याकगन्धः सरभसं वेगेन पततां गच्छताम् इष्टकाभारं वहतां वैवधिकनिवहानां विवधैः उभयतो बद्धशिक्यैः स्कन्धवाह्यकाष्ठैः भारं वहन्तो नरा वैवधिका उच्यन्ते तेषां समूहानां सायंसमये मार्गविषये मार्गप्रदेशे पतिताम् एकाम् इष्टकाम् अवाप्य लब्ध्वा चरणधावनप्रदेशे तां स न्यधात् अस्थापयत् । तत्र च प्रतिधर्म्म प्रतिदिनम् अङ्घ्रिसंघर्षात् पादमर्दनात् अशेषकालुष्यमोषे सकलमलिनताया अपगमे भर्मनिर्मितत्वम् अवेत्य भर्मणा सुवर्णेन रचितत्वं तस्या ज्ञात्वा, तैस्तैः प्रलोभनवस्तुभिः मोदकादिभिः काचवहानां

भारग्राहकानां विहितोपचारः कृतादरः ताः सुवर्णेष्टकाः संगृह्णन् स्वीकुर्वन् श्रुतः आकर्णितः स्वस्त्रीयस्य भगिनी-पुत्रस्य अपायोदन्तः मृत्युवार्ता येन तथाभूतः पिण्याकगन्धः **फायमानेति**—फायमानः वर्धमानः यः मनोमन्युः मनःशोकः तेन कृतो अन्तो नाशः यस्य सः (स्वसुतं सुवर्णेष्टकाग्रहणं कुर्वित्यादिश्य भगिनीग्रामं गतवान् ।) पुत्र, सकलकलानिपुणचित्तसुदत्त तव पितृष्वसुः पुत्रशोकशान्त्यै मया अवश्यं गन्तव्यम् अपस्नातव्यं च मृतोद्देशेन स्नानं च कर्तव्यम् । ततस्त्वयाप्येताः सुवर्णेष्टकाः परिस्कन्दलोकप्रलोभेन परि आसमन्तात् स्कन्देन भारवाहिनां लोकानां प्रलोभेन दत्त्वा साधु संग्रहीतव्याः । इत्युपह्वरे एकान्ते व्याहृत्य उक्त्वा **सकलेति**—सकलं च तज्जगत् सकलजगत् तस्य व्यवहारः प्रवृत्तिः तस्य अवतारः उत्पत्तिः तस्मै त्रिवेद्यां वेदत्रयसदृश्यां काकन्द्यां नगर्यां तोकस्य पुत्रस्य शोकात् अश्रूणि नेत्रजलानि भूयिष्ठानि यस्याः सा तथाभूतायाः कनिष्ठाया लघिष्ठायाः स्वसुः दर्शनार्थमगच्छत् । असद्व्यवहारव्यावृत्तः अन्याय्यव्यवहारात् निवृत्तः सुदत्तः तातोपदेशं पितुरादेशम् अनिःश्रेयसं अश्रेयस्करम् अवस्यन् जानन्, यतः राजपरिगृहीतं राजस्वामिकं तृणमपि काञ्चनीभवति सुवर्णं जायते संपद्यते च तद्धेतुर्भवति पूर्वपुरुषार्जितस्यापि धनस्यापहरणाय प्राणविनाशाय च इति जातमतिः उद्भूतविवेकः न एकामपि इष्टकां समग्रहीत् समगृह्णात् । महालोभलोलतान्धः पिण्याकगन्धः तस्याः काकन्द्याः पुरः पुर्याः अपस्नात्वा मृतकोद्देशेन स्नानं विधायागतः सुतमपृच्छत् । वत्स, कियतीः खलु त्वम् इष्टकाततीः इष्टकानां ततीः समूहान् पर्यग्रहीः अगृह्णाः । स्तेययोगविनिवृत्तः स्तेयं चौर्यं तस्य योगः संबन्धः तस्माद्विनिवृत्तः विरक्तः सुदत्तः—तात, नैकामपि इष्टकामहम् अगृह्णाम् । [श्रुत्वैतत्पुत्रवाक्यं पिण्याकगन्धः स्वपादौ शिलापुत्रकेण जर्जरितावकरोत्] **प्रादुर्भवदिति**—प्रकटीभवद्दीर्घनरकगतिपापबन्धः पिण्याकगन्धः समर्थे कुटुम्बपालनक्षमे सदाचारपालनेन कृतार्थे जीवितसाफल्यं कुर्वाणे, पुण्यकार्यं दानपूजादिकं तद्भजतीति पुण्यभाक् तस्मिन् तुजि पुत्रे परम् अन्यत् उत्तरं वचनम् अपश्यन् 'यदि चेत् इमौ क्रमौ चरणौ परिक्रमणक्षमौ परिक्रमणं गमनं तत्र क्षमौ समर्थौ मम न अभविष्यतां तदा कथंकारं किमर्थम् अहं मन्मनोरथवन्ध्यां' मन्मनोरथानां कारागारसदृश्यां काकन्द्याम् अगमिष्यम् । अतः एतौ एव पादौ अत्र श्रीविरामावहौ लक्ष्मीविनाशजनकौ द्रोहौ द्वेषरूपौ इति विचिन्त्य उद्वर्त्तनं विलेपनम् वर्तयन्त्या मर्दयन्त्या स्ववासिन्याः स्वपत्न्याः करादाक्षिप्तशरीरेण बलाद्गृहीतेन शिलापुत्रकेण पेषणपाषाणेन तौ जर्जरितौ अकरोत् । [इष्टकासु सुवर्णत्वं निर्वर्ण्य राजा पिण्याकगन्धस्य सर्वस्वमपाहरत्, स च मृत्वा नरके जन्मालभत] एतच्च वैदेहकव्यञ्जनपरिजनात् वैश्यवेषधारिभृत्यजनात् रत्नप्रभो राजा अश्रृणोत् । कथंभूतः । **प्राचीनेति**—प्राचीनबर्हीः इन्द्रः तस्य निभः तदुपमः तत्सदृशो वा **क्षितीति**—क्षितिः पृथ्वी एव रमणी स्त्री सा एव करिणी हस्तिनी तस्याः इभः गजः रत्नप्रभः श्रुत्वा वासीवक्त्रेण कुठारिकामुखेन शिल्पिभिः तक्षिभिः **विधापितेति**—कारितेष्टकाछेदः नृपः सुवर्णत्वं निश्चित्य **विहितेति**—कृतधनादिसकलवस्त्वपहारम् सनिकारं सधिक्कारं **नगरेति**—नागरिकजनेन उच्चार्यमाणदुरपवादानां घोष्यमाणावर्णानां प्रबन्धो विस्तारो यस्य तं पिण्याकगन्धं निरवासयत् स्वदेशात् निरघाटयत् । 'इन्द्रियम् अस्थानं हि गुणदोषयोर्महीपतयः' राजानः गुणदोषयोः अस्थानम् इन्द्रियम्' अस्थानेन यस्य नियतं स्थानं नास्ति तादृशेन इन्द्रियेण मनसा इन्द्रियेण गुणदोषयोर्विचारः क्रियते यथा तथा राजा जनानां गुणदोषौ अस्थानम् इन्द्रियं मनः भूत्वा विचारयति इति नीतिवाक्यम् अनुस्मृत्य मूलधनप्रदानेन राजा सुदत्तस्य मूलधनं दत्त्वा समाश्वासयत् तथा अन्वयागतनिवासनिवेदनेन च वंशपरम्परागतनिवासो भवतोऽत्रैव भवत्विति निवेदनं कृत्वा राजा सुदत्तं साधु समाश्वासयत् । स तथा निर्वासितः निर्घाटितः संजातनरकनिषेकनिबन्धः संजातः नरकस्य गतेः आस्रवस्य निश्चयेन बन्धो यस्य । **कृतेति**—कृतः प्रकामम् अतिशयेन लोभेन संबन्धो येन सः, **चिरायेति**—चिराय दीर्घकालावधिकाः उपार्जिता लब्धाः दुरन्ताः दुःखदोऽन्तो येषां तेषां दुष्कर्मणां स्कन्धाः येन स पिण्याकगन्धः प्रेत्य मृत्वा पातालं श्वभ्रं नरकम् अगात् । भवति चात्र श्लोकः–षष्ठ्याः क्षितेः तमःप्रभायाः पृथिव्याः दुःखमल्लके दुःखानां पात्रभूते अस्मिन्लल्लके नाम्नि इन्द्रकबिले धनायाविद्धचेतसा धनायया धनाभिलाषया आविद्धं भ्रान्तं चेतः मनो यस्य तेन पिण्याकगन्धेन पेते अपत्यत ॥४४७॥

इत्युपासकाध्ययने परिग्रहाग्रहफलफुल्लनो नाम द्वात्रिंशत्तमः कल्पः ॥३२॥

३३. गुणव्रतत्रयसूत्रणो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ २१०] **दिगिति**—सद्भिः सज्जनैः गणधरदेवादिभिः सागारयतिषु अगारेण सहिताः सागाराः ते च ते यतयश्च सागारयतयः, गृहे स्थित्वा अहिंसादिषु एकदेशेन यतनत्वात् श्रावकाः सागारयतयः प्रोच्यन्ते। तेषु दिशां विरतिः, देशानां विरतिः, अनर्थदण्डानां च विरतिः इति त्रितयाश्रयं दिग्देशानर्थदण्डानां त्रितयस्य आश्रयम् आधारभूतं गुणव्रतत्रयं स्मृतम् दिग्भ्यो विरतिः दिग्व्रतम्, देशेभ्यो विरतिः देशव्रतम्, अनर्थदण्डेभ्यो विरतिः अनर्थदण्डव्रतम् ॥४४८॥ दिग्व्रतदेशव्रते व्याचष्टे—सर्वासु दिक्षु पूर्वादिषु दशसु दिक्षु, एतस्यां कस्यांचिद्दिशि मम इयत्येव इयद्योजनक्रोशादिपरिमाणा गतिर्गमनम् इति मर्यादां कृत्वा ततो बाह्ये गमनं नैवेति दिग्व्रतम् । तथा च निखिलेषु सर्वेषु अधःप्रोर्ध्वदेशेषु निम्नोन्नतेषु देशेषु गुहादिषु पर्वतशिखरेषु च मम इयत्प्रमाणा गतिरिति देशव्रतम् ॥४४९॥ **दिग्देशेति**—एवं पूर्वोक्तप्रमाणेन दिशां देशानां च नियमात् अवधेः ततो बाह्येषु वस्तुषु भोगोपभोगादिषु वस्तुषु हिंसानिवृत्तेः लोभनिवृत्तेः, भोगादिनिवृत्तेश्च चित्तयन्त्रणा मनोनिग्रहः भवति ॥४५०॥

[पृष्ठ २११-२१२] **रक्षन्निति**—इदं गुणव्रतत्रयं प्रयत्नेन अहिंसाद्यणुव्रतपालनपूर्वकं रक्षन् गृही गृहस्थः यत्र यत्र भूतले स्वर्गादौ वा उपजायते उत्पद्यते तत्र तत्र आज्ञैश्वर्यं लभेत प्राप्नुयात् ॥४५१॥ **आशेति**—गृहीतस्य देवगुरुसमक्षं स्वीकृतस्य आशाप्रमाणस्य आशानां पूर्वादीनां दशानां दिशां प्रमाणस्य इयत्तायाः व्यतिक्रमात् उल्लङ्घनात् देशव्रती अणुव्रती गृहस्थः प्रायश्चित्तसमाश्रयः प्रायश्चित्तस्य विषयः प्रजायेत भवेत् । यदा लोभादिना गृहीतदिग्व्रतस्य गृहीतदेशगुणव्रतस्य गृहिणः तन्मर्यादाया उल्लंघनं स्यात् तदा प्रमादपरिहानये तद्व्रतनैर्मल्याय प्रायश्चित्तं तेन समाचर्यम् । तथा कृते सति दोषपरिहारो भवेत् व्रतोत्कर्षश्च जायेत ॥४५२॥ **शिखण्डीति**—शिखण्डी मयूरः, कुक्कुटस्ताम्रचूडः, श्येनः शशादनः, बिडालो मार्जारः, व्यालः सर्पः, बभ्रुः नकुलः, विषं गरलम्, कण्टकानि शस्त्रम्, अग्निः, कशा प्रतोदः, पाशको जालं रज्जुः ॥४५३॥ **पापाख्यानेति**—पापाख्यानं पापोपदेशः हिंसाकृष्यादिसंश्रयः, अशुभध्यानम् आर्तरौद्रविकल्पम्, हिंसा हिंसादानं विषास्त्रादिहिंसाकारणानां दानम्, क्रीडा जलक्रीडादिकम् । वृथाक्रियाः पृथ्वीखननम्, वातव्याघातः, अग्निर्विध्यापनम्, जलसेचनादिकम् । वनस्पतीनां छेदादिकम्, एते सर्वे अनर्थदण्डास्त्याज्याः । परोपतापः परेषाम् उपतापः पीडनम्, पैशुन्यं परोक्षं निन्दाकरणम्, शोकः अनुग्राहकसंबन्धविच्छेदे वैक्लव्यविशेषः शोकः, आक्रन्दः परितापजाताश्रुपातप्रचुरविलापादिभिर्व्यक्तक्रन्दनमाक्रन्दनम् । अन्यैः एतेषां करणम् एते अनर्थदण्डहेतवो भवन्ति ॥४५४॥ **वधेति**—वधः दण्डकशावेत्रादिभिः अभिघातः प्राणिनाम् । बन्धनम्—रज्ज्वादिभिर्बन्धनं येनाभिमतगतिविरोधः । संरोधः—रोधनम् एते अन्येऽपि च ईदृशाः अनर्थदण्डाख्याः भवन्ति, सांपरायः संसारः तस्य प्रवर्धकत्वात् ॥४५५॥ **पोषणमिति**—क्रूरसत्त्वानां जीवघ्नजीवानां मार्जारादीनाम् पोषणम् । हिंसोपकरणक्रियाम् हिंसायाः उपकरणानां विषशस्त्रादीनां क्रिया करणम् । देशव्रती गुणव्रतपालकः श्रावकः कथंभूतः, **स्वकीयेति** स्वकीयाश्च ते आचाराः अहिंसाद्युपेताः श्रावकाचाराः तैः चार्वी सुन्दरा तया युक्ता धीर्बुद्धिर्यस्य ॥४५६॥ अनर्थदण्डत्यागस्य फलम्—अनर्थदण्डनिर्मोक्षात् स्वस्य स्वकीयजनाना वा शरीरवाङ्मनःप्रयोजनाद्विना अन्यः अर्थः अनर्थः तद्विषयकाः अशुभमनोवाक्कायाः परपीडाकरत्वाद्दण्डा इव दण्डाः तेषां निर्मोक्षात् त्यागात् । देशतो यतिः श्रावकः सर्वभूतेषु सुहृत्तां मित्रत्वं तेषां भूतानां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषम् । स्वामित्वं च प्रपद्यते लभते ॥४५७॥ अनर्थदण्डत्यागनाशाय काः क्रियाः आह—**वञ्चनेति**—वञ्चना परप्रतारणम्, आरम्भो जीवपीडाहेतुव्यापारः । हिंसा च एतेषाम् उपदेशं कृत्वा एतेषु वञ्चनादिषु अन्येषां प्रवर्तनम् । भाराधिक्यं प्रमाणातिरिक्तभारारोपणम् । अधिकक्लेशः तिरश्चां येन क्लेशः स्यात्तत्कार्यकरणं रज्ज्वादिना बन्धनम् अन्नाद्यदानम् आदिकम् एताः क्रियाः तृतीयगुणहानये भवन्ति ॥४५८॥

इत्युपासकाध्ययने गुणव्रतत्रयसूत्रणो नाम त्रयस्त्रिंशत्तमः कल्पः[१] ॥३३॥

---

१. अत्र यशस्तिलकचम्पूकाव्यस्य सप्तम आश्वासः समाप्यते; यथा—"इति सकलतार्किकलोकचूडामणेः

३४. स्नानविधिर्नाम चतुस्त्रिंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ २१२-२१३] गुणव्रतवर्णनानन्तरं शिक्षाव्रतानि वर्ण्यन्ते प्रथमं तेषामभिधानानि कीर्त्यन्ते—**आद्याविति**—आदौ सामायिकं कर्म, द्वितीया प्रोषधोपासनक्रिया, सेव्यार्थनियमस्तृतीयं शिक्षाव्रतम्, दानं चतुर्थं शिक्षाव्रतम् । शिक्षायै अभ्यासाय व्रतानि शिक्षाव्रतानि, प्रतिदिवसाभ्यसनीयत्वात् । गुणव्रतं हि प्रायो यावज्जीविकमाहुः । अथवा शिक्षा विद्योपादानम्, शिक्षाप्रधानं व्रतं शिक्षाव्रतम् । सामायिकादेर्विशिष्टश्रुतज्ञान-परिणतत्वेनैव निर्वाह्यत्वात् ॥४५९॥ सामायिकमाह—**आप्तसेवेति**—आप्तसेवोपदेशः समयः स्यात् तत्र समयार्थिनां आप्तसेवोपदेशाभिलाषिणां श्रावकाणां नियुक्तं यत्कर्म तत्सामायिकम् ऊचिरे । यः सर्वज्ञः सर्व-लोकेशः सर्वदोषविवर्जितः सर्वसत्त्वहितश्च तम् आप्तमाहुः इति आप्तस्य लक्षणं पूर्वमुक्तम् । तस्याप्तस्य सेवा पूजा तत्र नियुक्तं यत्कर्म जिनस्नपनार्चास्तुतिजपाः तत्सामायिकमूचिरे उक्तवन्तः ॥४६०॥ आप्ताभावेऽपि तदाकारपूजा पुण्योत्पादिकेति दर्शयति । **आप्तेति**—आप्तस्य अर्हत्परमेष्ठिनः असन्निधानेऽपि अविद्यमानेऽपि, तदाकृतिपूजनं पुण्याय पुण्यप्राप्तये भवति । दृष्टान्तमाह—ताक्ष्यमुद्रा गरुडमुद्रा यस्यां गरुडस्य सांनिध्ये अविद्य-मानेऽपि विषसामर्थ्यस्य मूर्च्छामृत्यादेः सूदनं विनाशनं किं न कुर्यात् अपि तु कुर्यादेव । अर्हदाकृतिं शान्ताम् आत्मध्यानमुद्राप्रदर्शिनीं दृष्ट्वा भक्तिरुत्पद्यते ततश्च पुण्यं प्राप्यते पापलोपश्च भवति ॥४६१॥ देवतार्चने शुद्धिद्वयस्यावश्यकता—**अन्तःशुद्धिमिति**—अन्तःशुद्धिं विधाय अशुभसंकल्पान्मुक्त्वेत्यर्थः, बहिःशुद्धिं विधाय, विधिवत् शौच-स्नान-दन्तधावनादिक्रिया. बहिःशुद्धिं च विधाय देवतार्चनं विदध्यात् कुर्यात् । आद्या अन्तःशुद्धिः दौश्चित्यनिर्मोक्षात् पापसंकल्पत्यागात् । अन्या बहिःशुद्धिः स्नानाद् भवति । स्नानभेदान् अग्रे वक्ष्यति ॥४६२॥ स्नानं किमर्थं करणीयमित्यनुयोगस्य उत्तरमाह—**संभोगायेति**—अन्नादिभक्षणं संभोगः तदर्थः स्नानं कर्तव्यम् । विशुद्ध्यर्थं शरीरनिर्मलत्वाय परिणामविशुद्ध्यर्थं च स्नानं मतम् । यत्र यस्मिन् स्नाने । अमुत्र परलोके स्वर्गादौ उचितो विधिः दानव्रतपूजाभिषेकादिकं क्रियते तत्स्नानं धर्माय स्मृतम् । गृहस्थयत्योः स्नानकालनिर्णयः ॥४६३॥ **नित्यमिति**—गृहस्थस्य देवार्चनपरिग्रहे देवपूजास्वीकारे नित्यं स्नानम्, अकृतस्नानो गृही देवपूजां न कुर्यात् बहिःशुद्धेरभावात् । सा च अन्तःशुद्धेरपि निमित्तम् । यतेस्तु दुर्जनस्पर्शात्स्नानम्, दुर्जनाः कापालिकात्रेयीचाण्डा-लशबरादयः तेषां स्पर्शात् यतेः स्नानं भवति । एषां स्पर्शाभावे तस्य स्नानं विगर्हितं निन्द्यं भवति ॥४६४॥ कुत्र कथं स्नानं कर्तव्यमिति कथयति—**वातातपादीति**—भूरितोये विपुलजले वातातपादिसंस्पृष्टे प्रवहता वायुना सर्वतः स्पृष्टे । आतपेन सूर्यकिरणैः सर्वतः स्पृष्टे । अपनीतशैत्ये जलाशये तडागादौ । अवगाह्य अन्तःप्रविश्य स्नानम् आचरेत् । उपर्युक्तविशिष्टजलाशयाभावे अन्यस्य कूपादेर्जलं गालितं भजेत् जलं गालयित्वा दृढेन निर्मलेन वाससा तेन स्नानमाचरेत् । अगालितकूपजलेन स्नानं न कुर्यात् कृतेऽपि तेन स्नाने बहिःशुद्धिर्न भवति । परं वातातपादिसंस्पृष्टं जलाशयजलं गालितजलवच्छुद्धं मतम् अतस्तेन स्नानं बहिःशुद्धिविधायकं ज्ञातव्यम् ॥४६५॥ स्नानस्य पञ्चविधत्वम्—

[पृष्ठ २१४-२१५] पादजानु इति—पादौ चरणौ, जानुनी ऊरुपर्वणी, कटिः श्रोणिः, ग्रीवा कण्ठः, शिरो मस्तकम्, एषां पञ्चानां पर्यन्तस्य संश्रयः अवलम्बनं यत्र तत् स्नानं पञ्चविधं पञ्चप्रकारं तद्यथादोषम् । दोषमनुसृत्य । शरीरिणां नराणां ज्ञेयं ज्ञातव्यम् ॥४६६॥ स्नानाधिकारिणो विशिनष्टि—**ब्रह्मचर्योपपन्नस्येति**—ब्रह्मचर्येण स्त्रीसंभोगवर्जनेन उपपन्नस्य युक्तस्य ब्रह्मचारिणः । पुनः कथंभूतस्य । निवृत्तारम्भकर्मणः सेवोद्योगकृष्यादिकर्मविरतस्य । यद्वा तद्वा स्नानं भवेत् पादस्नानं कटिस्नानं त्र्येकेन केनापि स्नानेन आचरितेन स ब्रह्मचारी देवार्चनाधिकारी भवेत् । अन्यस्य स्त्र्यारम्भसेवासंक्लिष्टस्य गृहिणः अन्त्यं तद्द्वयं स्नानं मतं ग्रीवास्नानं शिरःस्नानं च ताभ्यां स शुद्धः देवपूजां कुर्यात् ॥४६७॥ आरम्भादि-

---

श्रीमन्नेमिदेवभगवतः शिष्येण सद्योऽनवद्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रवर्तिशिखण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेव-सूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये सच्चरित्रचिन्तामणिर्नाम सप्तम आश्वासः ।"

संक्लिष्टस्य बहिःशुद्धेरत्यावश्यकता—**सर्वेति**—सर्वे च ते आरम्भाः सेवाकृषिवाणिज्यादयः तेषां विजृम्भणं विजृम्भः प्रवृद्धिर्यस्य, पुनः कथंभूतस्य । ब्रह्मजिह्मस्य जहाति त्यजति इति जिह्मः ब्रह्मचर्येण त्यक्तस्य स्वस्त्रिया कृतमैथुनस्येति भावः । एतादृशो देहिनः द्विजश्रावकस्य बहिःशुद्धिम् अविधाय अकृत्वा आप्तोपास्त्यधिकारिता न । देवापूजाधिकारो नास्ति ॥४६८॥ **अद्भिरिति**—अद्भिः जलैः शुद्धिं निराकुर्वन् स्नानम् अकुर्वन् इत्यर्थः, मन्त्रमात्रपरायणः मन्त्रोच्चारणेष्वेव तत्परः स ब्रह्मचारी भुक्त्वा भोजनं कुर्वाणः तद्दोषपरिहाराय मन्त्रम् उच्चार्य शुद्धिभाग्भवति, हृत्वा मलमूत्रं कृत्वा मन्त्रैः शुद्धयति । विहृत्य च विहारं कृत्वा स्वाध्यायाद्यर्थं गुर्वादिसमीपं गतवतस्तस्य मार्गे पादपतनादिषु जीवघाते सति पञ्चगुरुमन्त्रैरीर्यापथशुद्धिं कुर्वतः शुद्धिर्भवति न तस्य जलशुद्धे-रावश्यकता ॥४६९॥ बहिःशुद्धिकराणि वस्तूनि—**मृत्स्नयेति**—प्रशस्ता शुचिस्थाने स्थिता शुभगन्धरसवर्णो-पेता मृत्तिका मृत्स्नोच्यते तया । इष्टकया दग्धमृत्खण्डेन । भस्मना, गोमयेन गोविष्ठा । तावच्छौचं शुद्धिं कुर्यात् यावन्निर्मलता हस्तादेः स्यात् । इयं विशुद्धिर्ब्रह्मचारिणा मुनिनापि विधेया । या स्नानशुद्धिः सा कदा विधेयेति उक्तमेव ॥४७०॥ विहृत्य आगतस्य, वस्तूनां च शुद्धिः—**बहिरिति**—बाह्यप्रदेशे विहृत्य गत्वा पुनः संप्राप्त आगतः अनाचम्य आचमनम् अकृत्वा गृहं न प्रविशेत् । आचम्य जलप्राशनं त्रिवारं कृत्वा गृहप्रवेशः कार्यः । तथा स्थानान्तरात् अन्यत् स्थानं स्थानान्तरम् अन्यग्रामगृहादेः आगतं सर्वं वस्तु धान्यफलादिकं प्रोक्षितं जलेन प्रसिच्य आचरेत् सेवेत ॥४७१॥ कथंभूतः सन्देवार्चनविधिं कुर्यात्—**आप्लुत इति**—आ समन्तात् प्लुतः जलमवगाह्य स्नातः । संप्लुतः सम्यक् प्लुतः संस्नातः । स्वान्तशुचिवासो विभूषितः मनसा शुचिवाससा च शुद्धवस्त्रयुगलेन च विभूषितः शोभितः । मौनेन संयमेन इन्द्रियप्राणिसंयमयुगलेन च संपन्नः परिपूर्णः गृही देवार्च-नाविधिं कुर्यात् ॥४७२॥ **दन्तधावनेति**—दन्तानां धावन दन्तधावनं दन्तप्रक्षालनं तेन शुद्धम् आस्यं मुखं यस्य सः । मुखवासोचितानन: वदनवाससा छन्नमुखः । असंजातान्यसंसर्गः न संजातः अन्यजनानाम् अस्नातजनानां संसर्गः स्पर्शः यस्य सः । गृही देवान् उपाचरेत् पूजयेत् ॥४७३॥ **होमेति**—भोजनात्प्राक् होमः भूतबलिश्च एतौ द्वौ विधी पूर्वैः प्राचीनसूरिभिः भक्तविशुद्धये अन्नविशुद्धये उक्तौ । भुक्तेः भोजनस्य आदौ प्रारम्भे सलिलम् आचमनम्, सर्पिः घृतम्, ऊधस्यम् ऊधसि भवम् ऊधस्यं गोस्तनोद्भवं दुग्धमिति । एतेषां सेवनं रसायनम् । ज्वरादिव्याधिविनाशकम् । होमेन देवानां तर्पणं भवति । अन्नदानेन भूतानां प्राणिनां तर्पणं स्यात् ॥४७४॥ **एतद्विधिरिति**—एष विधिः होमभूतबल्यादिविधिः न धर्माय न पुण्याय । न च तदक्रिया तस्य अक्रिया अकरणम् अधर्माय अपुण्याय कथम् । दर्भपुष्पादिवत् दर्भपुष्पाक्षतश्रोत्रवन्दनादिविधानं यथा कृतं न धर्माय । अकृतं वा अधर्माय न भवति । दर्भाः लोकव्यवहारे पूजायां च पूताः मन्यन्ते । आसनादौ, अग्निज्वालनेन भूमि-शुद्धौ च तदुपयोगकरणकथनात् । पुष्पाक्षतानामपि पाक्षिकादिभक्तानां भक्तिपरिणामाङ्गत्वात् धर्महेतुत्वमपि विज्ञेयम् । ब्रह्मचारिक्षुल्लकादीनां तदभावेऽपि भावपूजनं भवेदतो नाधर्मायापि ॥४७५॥ **द्वौ इति**—हि यस्मात् गृहस्थानां द्वौ धर्मौ लौकिकः लोके भवः लौकिकः इहलोकसंबन्धी धर्मः । परस्मिन् लोके भवः पारलौकिकः । आद्यः लौकिको धर्मः लोकाश्रयः अस्ति । होमो भूतबलिः, दर्भपुष्पाक्षतादिकं च लौकिको धर्मः । परः पार-लौकिकः आगमाश्रयः आगमाधारः जिनागमप्रोक्तः ॥४७६॥

[पृष्ठ-२१६] जातयः इति—सर्वा जातयः अनादयः ब्राह्मणक्षत्रियादयः । विदेहक्षेत्रापेक्षया एता जातयः अनादयः । तत्र मुक्तियोग्यानां जातीनाम् अच्छेद एव । भरतैरावतक्षेत्रापेक्षया चतुर्थकाले मुक्तियोग्यानां जातीनां संभवत्वात् सादित्वं तासाम् । अतः तत्क्रियाश्चापि तथाविधा अनादयः । श्रुतिः वेदः शास्त्रान्तरं वा अन्यद्वा शास्त्रं स्मृत्यादिकं प्रमाणं भवतु अत्र नः अस्माकं का क्षतिर्हानिः ॥ लोकाश्रयो धर्मः यः श्रुतौ स्मृतौ वोक्तः सः स आत्मप्रतिपन्नव्रतानुष्ठानानुपघातेन प्रमाण्यताम् ॥ ४७७ ॥ जैनागमविधिम् आत्महिताय प्रमाणयेत्— **स्वजात्यैवेति**—विशुद्धकुलजातौ स्वजात्यैव स्वस्य जात्यैव जन्मना एव विशुद्धानां पवित्राणां वर्णानां ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशां तत्क्रियाविनियोगाय गर्भान्वय-दीक्षान्वय-कर्त्रन्वयक्रियाणां विनियोगाय आरोपणाय जैनागमविधिः जिनागमप्रोक्तः आचारः परं प्रमाणं मन्तव्यः । यथा स्वजात्यैव स्वजन्मनैव निर्मलस्य कान्तिजुषो रत्नस्य मणेः तत्क्रियाविनियोगः शाणघर्षणादिकं रत्नशास्त्रप्रोक्तं परं प्रमाणं मन्यते जनैः तद्वत् ॥ ४७८ ॥

श्रुतिस्मृत्योरप्रामाण्यं कथमिति चेदाह—यदिति—यत् यस्मात्। तत्र श्रुतिस्मृत्योः, भवभ्रान्तिनिर्मुक्तिहेतुधीः दुर्लभा। भवे संसारे भ्रान्तिः भ्रमणं तस्याः निर्मुक्तिः पृथग्भवनं तस्याः हेतुधीः उपायज्ञानं कारणज्ञानं दुर्लभं नितराम् अप्राप्यम्। संसारमुक्त्युपायज्ञानं श्रुतिस्मृत्योर्नास्त्येवातस्ते न प्रमाणे। संसारव्यवहारे तयोः प्रामाण्यमस्तु इति चेन्न, यतः संसारव्यवहारे स्वतः सिद्धे सति तत्र आगमः वृथा। बाह्यशुद्धयादयो ये आचाराः ते यावन्तः सम्यक्त्वव्रतानुपघातहेतवस्तावन्तः प्रमाणं तेष्वेव श्रुतिस्मृत्योः प्रामाण्यं जैनैर्मन्यते ॥ ४७९ ॥ तथा च—सर्व एवेति—यत्र यस्मिन् लौकिके विधौ होमभूतबल्यतिथिसत्कारादौ सम्यक्त्वहानिः सम्यग्दर्शनस्य विनाशो न स्यात् यत्र च व्रतदूषणम् अहिंसादिव्रतेषु दूषणम् उपघातः न स्यात्। सः सर्व एव लौकिको विधिः जैनानां प्रमाणम्। श्रुतिस्मृत्योः प्राणिवधो यज्ञेऽवधत्वेन प्रतिपादितः। तदाचरणम् अहिंसाव्रतोपघाताय भवेत् अतः स लौकिको विधिर्न प्रमाणं सम्यक्त्वव्रतविघातकत्वात्। ये च प्राणिवधयज्ञसमा अन्येऽपि लौकिका विधयः सम्यक्त्वव्रतविघातकृतः सन्ति ते सर्वेऽपि वर्ज्या एव ॥४८०॥

इत्युपासकाध्ययने स्नानविधिर्नाम चतुस्त्रिंशत्तमः कल्पः ॥ ३४ ॥

३५. समयसारविधिर्नाम पञ्चत्रिंशत्तमः कल्पः

[पृष्ठ २१७-२१८] द्वये देवसेवाधिकृताः संकल्पिताप्तपूजापरिग्रहाः कृतप्रतिमापरिग्रहाश्च। देवेति दीव्यते स्तूयते इन्द्रादिभिरिति देवः परमात्मा तस्य सेवा पूजाभिषेकस्तुतिवन्दनाः तासु अधिकृताः अधिकारिणः। द्वये श्रावकाः सन्ति। संकल्पिताप्तेति—दलफलोत्पलादिषु अयं जिनः इति संकल्पितः आप्तः तस्य पूजापरिग्रहः येषां ते प्रथमे श्रावकाः। कृतप्रतिमापरिग्रहाः अपरे श्रावकाः। इति श्रावकभेदौ द्वौ। स संकल्पोऽपि दलं पत्रं फलं पूगीफलादिकम्, उत्पलं कमलम्, आदिशब्देन कमलबीजादिकम्, तेषु यथा आप्तसंकल्पः क्रियते तथा समयान्तरं वैदिकसमयादिकं तत्प्रतिमासु हरिहरादिषु न विधेयः। यतः—शुद्धे इति—यथा कन्याजने शुद्धत्वात् इमां कन्याम् अहं तुभ्यं ददामि धर्मे चार्थे च कामे च नातिचर इति संकल्पेन कन्याप्रदानं क्रियते। तत्र च कन्यायां त्वमस्य भार्या भवेति संकल्पः देवाग्निसाक्षिकः क्रियते। स च कन्याजने एव कर्तुम् उचितः पूर्वं तादृक्संकल्पस्याकृतत्वात्। परपरिग्रहे परकीयभार्यायां संकल्पः कर्तुं नोचितो यथा, तथा आकारान्तरसंक्रान्ते हरिहरादिप्रतिमारूपे अयं जिन इति संकल्पकरणं नोचितमिति भावः ॥४८१॥ तत्र प्रथमं प्रतिसमयसमाचारं संकल्पिताप्तसमाचारविधिम् अभिधास्यामः कथयिष्यामः। तथाहि—अर्हन्नतनुरिति—अर्हन् जिनेश्वरः, अतनुः सिद्धः, मध्ये भूर्जफलकसिचयादीनां मध्यभागे स्थाप्यौ। तयोर्दक्षिणतः सव्यभागे गणधर आचार्यः, पश्चात् वामभागे श्रुतगीः उपाध्यायपरमेष्ठी श्रुतं द्वादशाङ्गात्मकं श्रुतज्ञानं गिरि वाण्यां यस्य सः। तदनु तदनन्तरं साधुः परमेष्ठी। पुरोऽपि च दृगवगमवृत्तानि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि स्थाप्यानि। एतेऽर्हदादयः भूर्जे भूर्जपत्रे, फलके दारुपट्टके, सिचये वस्त्रे, शिलातले समतलपाषाणे, सैकते सिकताभिर्निर्मिते स्थण्डिले, क्षितौ भूमितले, व्योम्नि आकाशे, हृदये चेति समयसमाचारवेदिभिः नित्यं स्थाप्याः। संकल्पसमाचारस्य ज्ञातृभिः सदा स्थाप्याः ॥४८२-४८३॥ एवं स्थापनाकरणानन्तरं पञ्चपरमेष्ठिनां रत्नत्रयस्य चाष्टप्रकारेण पूजनवर्णनं क्रमशः क्रियते। प्रथमं तावत् अर्हत्परमेष्ठिपूजनं विधियते तद्यथा—रत्नत्रयेति—रत्नत्रयेण पुरस्कारः अग्रतःकरणं पूजनं येषां ते रत्नत्रयपुरस्काराः रत्नत्रयेण पूजनीयाः पञ्चापि परमेष्ठिनः परमे इन्द्रादीनां वन्द्ये पदे तिष्ठन्तीति परमेष्ठिनः। अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधवः। कथंभूताः भुवनेन्दवः त्रिजगच्चन्द्राः, भव्यरत्नाकरानन्दं भव्याः रत्नाकरा इव समुद्रा इव तेषाम् आनन्दम् आह्लादं कुर्वन्तु जनयन्तु ॥४८४॥ ॐ निखिलेति—निखिलेति, परानपेक्षेति अनेकानि विशेषणानि अर्हत्परमेष्ठिनो विशेष्यस्य, अतः तानि क्रमशो विव्रियन्ते। रत्नत्रयपुरःसरस्य भगवतोऽर्हत्परमेष्ठिनः अष्टतयीमिष्टिम् अष्टविधां पूजां जल-गन्धाक्षत-पुष्प-नैवेद्य-दीप-धूप-फलैः अष्टप्रकारैर्द्रव्यैः पूजां करोमि इति स्वाहा। कथंभूतस्य पूजां करोमि निखिलेति—निखिलाश्च ते भुवनपतयः सकलजगत्स्वामिनः अधोलोकस्य धरणेन्द्रः प्रभुः मध्यलोकस्य नरलोकस्य चक्रवर्ती। ऊर्ध्वलोकस्य सौधर्मेन्द्रादयोऽधिपतयः। तैः विहिता कृता

निरतिशया नितराम् अतिशयो माहात्म्यं यासु ताः सपर्याः पूजाः तासां परंपराः पञ्चकल्याणपूजा यस्य स तस्येति भावः । **परानपेक्षेति**—पराणि इन्द्रियाणि, आलोकः ज्ञानाद्यावरणक्षयोपशमश्च पराणि तेषाम् अनपेक्षश्चासौ पर्यायश्च पूर्णपरमात्मावस्था तस्याः प्रवृत्तं जातं सकलवस्तुसमूहवीक्षणाय लोचनमिव नेत्रमिव यत् केवलज्ञानं तदेव साम्राज्यं तस्य लाञ्छनरूपाणि अभिज्ञानरूपाणि यानि पञ्चमहाकल्याणानि गर्भ-जन्म-दीक्षा-केवल-निर्वाणान्तानि । अष्टमहाप्रातिहार्याणि च अशोकतरुपुष्पवृष्टि-दिव्यध्वनि-चामर-रत्नासन-भामण्डल-दुन्दुभि-छत्रत्रयाणि जन्मजातदशातिशयाः । देवकृताश्चतुर्दशातिशयाः । केवलज्ञानसंजाता दशातिशयाश्च एतैश्चतुस्त्रिंशदतिशयैर्विराजितस्य एतेऽतिशयास्तीर्थंकृतो विमुच्य अन्यत्र चक्रवर्त्यादिष्वपि नोपलभ्यन्ते । पुनः कथंभूतस्य अर्हतः । **षोडशार्धेति**—षोडशस्य अर्धम् अष्टौ लक्षणानां सहस्रं लक्षणसहस्रं षोडशार्धेन सहितं लक्षणसहस्रं तेन अङ्कितम् उपलक्षितं दिव्यदेहस्य माहात्म्यं प्रभावो यस्य तस्य । अर्हन्तो हि विषाग्निशस्त्रादिभिरप्रतिहतशरीराः धातुवैषम्यादिविरहितदेहा अत एव तेषां दिव्यदेहत्वम् । **द्वादशेति**—शिक्षकवादिविक्रियर्द्धिमुन्यादयो द्वादशगणाः तेषां प्रमुखाः श्रेष्ठाः गणधरदेवा महामुनयः तेषां मनःप्रणिधानं चित्तैकाग्र्यं तेन संनिधीयमानम् आरोप्यमाणं परमेश्वर इति, परमसर्वज्ञ इति नाम्नां सहस्रं यस्य । पुनः कथंभूतस्य—**विरहितेति**—अरिर्मोहनीयं कर्म । रजसी ज्ञानदर्शनावरणे । रहः अन्तरायं कर्म । एभ्यो जाता ये मोहाज्ञानादयः कुहकभावाः मिथ्याभावाः ते विरहिताः नष्टाः अरिरजोरहःकुहकभावा यस्य तस्य । पुनः कथंभूतस्य **समवसरणेति**—समवसरणं केवलज्ञानिजिनवैभवम् उद्द्योतयन्ती इन्द्रनिर्मिता रत्नसभा समवसरणम्, तदेव सरः तत्र अवतीर्णम् उद्भूतम् आगतं जगत्त्रयमेव पुण्डरीकखण्डः कमलवृन्दं तस्य (विकासने) मार्तण्डमण्डलस्येव सूर्यस्येव । पुनः कथंभूतस्य **दुष्पारेति**—दुष्प्राप्यं पारं परतीरं यस्य स आजवंजवीभावः संसारभावः स एव जलनिधिः तत्र निमज्जन्तो ब्रुडन्तो ये जन्तवः तेषां जातं समूहः तस्य हस्तावलम्ब इव परमागमः यस्य तस्य । पुनः कथंभूतस्य **भक्तिभरेति**—भक्तेर्गुणानुरागस्य भरो भारः तेन विनता नम्राः विष्टपत्रयीं पालयन्तीति विष्टपत्रयीपालाः ये इन्द्रधरणेन्द्रचक्रवर्तिनः तेषां मौलयः किरीटानि तेषां मणयः रत्नानि तेषां प्रभा कान्तिः तस्या आभोगो विस्तारः स एव नभः तत्र विजृम्भमाणाः चरणयोः पादयोः नखाः एव नक्षत्राणि तेषां निकुरुम्बं समूहो यस्य । पुनः कथंभूतस्य **सरस्वतीति**—सरस्वत्याः शारदायाः सकाशात् वरस्य वाञ्छितफलस्य प्रसादः दानानुग्रहः तत्करणे चिन्तामणेः चिन्तारत्नस्येव । पुनः कथंभूतस्य । **लक्ष्मीति**—लक्ष्मीरेव श्रीरेव लता तस्या निकेतो गृहम् आश्रयरूपस्तस्य कल्पवृक्षस्येव, पुनः कथंभूतस्य । **कीर्तीति**—कीर्तिरेव पोतिका अल्पा पोता पोतिका वत्सिका तस्याः प्रवर्धने कामधेनोरिव । **अवीचीति**—अवीचिर्नरकविशेषः तस्य परिचयः संगतिः तस्य खलीकारकरणम् अपकारकरणं विनाशकरणं तस्मिन् अभिधानमात्रमन्त्रस्य 'णमो अरिहन्ताणं इति मन्त्रस्य प्रभावो यस्येति । **सौभाग्येति**—सौभाग्यस्य शुभभाग्यवत्तायाः सौरभस्य सुगन्धस्य संपादने लाभे पारिजातपुष्पगुच्छसदृशस्य । पुनः कथंभूतस्य । **सौरूप्येति**—सौरूप्यस्य सातिशयं सौन्दर्यं तस्य उत्पत्तिः येषु ते च ते मणयश्च तेषां या मकरिका तस्या घटने रचनायां विकटाकारस्य विस्तृताकृतियुतस्य रत्नत्रयेण अग्रणित्वं प्राप्तस्य भगवतोऽर्हतो जिनस्य परमेष्ठिनः अष्टतयीम् अष्टविधाम् इष्टिं पूजां करोमीति स्वाहा ॥२५॥ अपि च—**नरोरगेति**—नराः मनुष्याः, उरगा नागासुराः सुराः अमराः एते एव अम्भोजानि कमलानि तेषां विकासने विरोचनस्य सूर्यस्य रुचेः इव श्रीः यस्य तम्, जिनाधीशम् अर्चनगोचरं पूजनविषयं करोमि । किमर्थम् आरोग्याय जातिजरामरणरोगाभावाय ॥४८५॥

[पृष्ठ २१९] अधुना सिद्धपरमेष्ठिनः पूजनं क्रियते—ॐ **सहचरेति**—आत्मना सह चरतीति सहचरम् आत्मना सहैव विद्यमानम् । समीचीनं निर्दोषं सत्यं परमार्थभूतम् । चार्वीत्रयं सुन्दरत्रयं यत् आत्मना सहैव जातम्, यत्सत्यं यत् सुन्दरं च एतादृशं सम्यग्दर्शनम्, सम्यग्ज्ञानम् सम्यक्चारित्रं च चार्वीत्रयं तस्य विचारः मनसा चिन्तनं तस्य गोचरो विषयः यद् उचितं हिताहितं तस्य प्रविभागो यस्य । अत एव परनिरपेक्षतया स्वयंभुवः स्वयं परोपदेशानपेक्षतया भवति रत्नत्रयरूपेण परिणतो भवतीति स्वयंभूः तस्मात्, सलिलात् मुक्ताफलमिव मौक्तिकं यथा । उपलादिव च पाषाणाद्यथा काञ्चनम् । अस्मादेवात्मनः पूर्वं संसारिणः कारणविशेषोपसर्पणात् सर्वसंगत्यागाजस्रश्रुतभावनेन्द्रियमनःसंयमनशुद्धात्मध्यानविशेषात् आविर्भूतम् उत्पन्नम्,

परमात्मानम् उपेयुषः प्राप्तवतः सिद्धपरमेष्ठिनः इष्टिं करोमीति संबन्धः। कथंभूतं परमात्मानम्। अखिलेति—सकलमलानाम् आत्मगुणानां ज्ञानदर्शनादिकानाम् आच्छादकतया विरूपपरिणतिकारकत्वाद्वा ज्ञानावरणाद्यष्टकर्माणि मलत्वेन व्यवह्रियन्ते। तेषां विलयात् निरवशेषक्षयात् लब्धात्मस्वभावं प्राप्तनिजशुद्धज्ञानादिगुणम्। असहायं क्षयोपशमाद्यनपेक्षम्। अक्रमम् इन्द्रियाद्यनुत्पन्नत्वात् क्रमरहितम्। युगपत्सकलवस्तुगोचरम्, अवधीरितेति—अवधीरितं तिरस्कृतम् अन्यसंनिधिव्यवधानं येन, तिरस्कृतं पञ्चेन्द्रियविषयसांनिध्यस्य व्यवधानं येन। पञ्चेन्द्रियविषयेभ्योऽनुत्पन्नम्। साक्षादात्मन एव जायमानत्वात् व्यवधानरहितम्। अनवधिम् अवधिरन्तः ततोऽपसृतत्वात् अनवधिम्, निःसीमानम् अयत्नसाध्यम्, केवलं यत्नेन न साध्यम्। अवसितातिशयसीमानम् समाप्ततरतमादिमर्यादम्। आत्मस्वरूपैकनिबन्धनम् आत्मस्वरूपमेव एकं केवलं निबन्धनं कारणं यस्य। अन्यवस्तुनः सकाशादनुपजायमानमित्यर्थः। अन्तःप्रकाशं सूर्यप्रकाशवद्बहिरनुपलभ्यमानम् अन्तरेव विद्यमानमपि सकलजगदवलोकमानम्, चैतन्यमधिष्ठितम्, अनन्तदर्शनगुणस्य वैशद्येन निर्मलत्वेन साक्षादवलोकितसकलपदार्थस्वरूपसर्वस्वम् दृष्टसकलद्रव्यपर्यायलक्षणम्। अनवसानसुखस्रोतसम्—अवसानमन्तः न अवसानम् अन्तो यस्य तत् सुखं तस्य स्रोतः प्रवाहधारा तेन युक्तम्। अपर्यन्तवीर्यम् अनन्तशक्तिकम्, अचाक्षुष-सूक्ष्मावभासम् चक्षुर्म्यामनुपलभ्यमानम् अतः सूक्ष्मतया अवभासयुक्तम्, असदृशाभिनिवेशावगाहम्, असदृशम्, अनुपमम् अभि सर्वतः निवेशः प्रवेशः यत्र तथाभूतोऽवगाहगुणो यस्य। चरमदेहतः किंचिदूनः आत्मप्रदेशानाम् अवगाहः प्रवेशो यस्य तथाभूतम्। अगुरुलघुव्यपदेशम्, न गुरुर्भारयुक्तः न लघुश्च तादृग्गुणविशिष्टम्। अपगतेति—अपगता नष्टा बाधा पीडा यथा स्यात्तथा, परेषां सिद्धानाम् अनन्तानाम् आकाराणां संक्रमः प्रवेशो यत्र तथाभूतम्। अतिविशुद्धस्वभावतया अत्यन्तनिर्मलप्रकृतितया, निवृत्ताशेषशारीरद्वारतया च विनष्टसकलदैहिकद्वारतया च ईषन्मुक्तपूर्वदशान्तरम्। रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्शरहितम्। अशेषभुवम् सकलस्वप्रदेशान् व्याप्नुवन्तम्। आशिरः शेखरायमाणपदविश्वंभरम् आमस्तकं मुकुटायमानपदं स्थानं यत्र तथाभूतं विश्वं जगत्। बिभर्तीति तथाभूतम्। उपशान्तेति—उपशान्तः नष्टः सकलसंसारदोषाणां रागादीनां प्रसरः प्रचारः यत्र तं परमात्मानम्। सकलकर्मविलयादत्यन्तशुद्धात्मानम् उपेयुषः प्राप्तवतः। गुरुणापि तीर्थकरपरमदेवेनापि नमः सिद्धेभ्य इति वचनात् प्रतिपन्नगुरुभावस्य स्वीकृतगुरुत्वस्य रत्नत्रयपुरःसरस्य भगवतः सिद्धपरमेष्ठिनः अष्टतयीम् इष्टिं करोमि इति स्वाहा। अपि च प्रत्नेति—प्रत्नानि पुरातनानि यानि कर्माणि पूर्वानेकजन्मबद्धानि तैः विनिर्मुक्तान् रहितान्, नूत्नेति नूत्नानि नवानि अस्मिन्भवे बद्धानि यानि कर्माणि तैः विवर्जितान् रहितान्, रत्नत्रयेण महीयसः श्रेष्टान् पूर्णरत्नत्रयलाभात् अर्हतोऽपि श्रेष्ठावस्थां बिभ्राणान् सिद्धान् मुक्तान् यत्नतः प्रमादं मुक्त्वा भक्तिभारेण संस्तुवे ऐहिकफलानभिलाषया स्व-स्वरूपप्राप्तिहेतोः स्तवीमि ॥४८६॥

[पृष्ठ २२०] अधुनाचार्यपरमेष्ठिनः पूजां करोमि—ॐ पूज्यतमस्य उपाध्यायसाधुपरमेष्ठिनोऽपेक्षया, उदितोदितेति—उदितोदिताः प्रकर्षेण अभ्युदयं प्राप्ता या कुलशीलगुरुपरंपरा प्रकर्षेण अभ्युदिते कुलशीले यस्याः तथाभूता या गुरुपरंपरा गुरुपर्वक्रमः तस्याः उपात्तः गृहीतः ज्ञातः समस्तस्य सकलस्य ऐतिह्यरहस्यस्य आगमगूढतत्त्वस्य सारो येन तस्य। पुनः कथंभूतस्य। अध्ययनेति—अध्ययनं स्वयं शास्त्राभ्यासकरणम्। अध्यापनं शास्त्रपाठनम् विनियोगः अनेन छात्रेणेदं कर्तव्यमनेनेदमित्याज्ञाकरणम्। विनयेन नियमानां पालनं व्रतानां तपसां वा पालनम्। उपनयनादिक्रियाकाण्डे च तेषु निष्णातचित्तस्यात्यन्तप्रगल्भमतेः। पुनः कथंभूतस्य। चातुर्वर्ण्येति—चतुःप्रकारमुनिसमूहः चातुर्वर्ण्यसंघः ऋषिमुनियत्यनगारलक्षणः। ऋष्यार्यिका श्रावकश्राविकासमूहो वा तस्य प्रवर्धना तस्य माहात्म्यवर्धनं तस्य धुरम् अग्रं धरति वहतीति तस्य। पुनः कथंभूतस्य। द्विविधात्मेति—द्विविधः द्विप्रकारः स चासौ आत्मधर्मश्च व्यवहारात्मधर्मः, निश्चयात्मधर्मश्च अथवा द्विविधा आत्मानः मुनयः श्रावकाश्च तयोर्धर्मविबोधने, विधूतेति—विधूनस्त्यक्तः ऐहिकफलापेक्षासंबन्धो येन तस्य। पुनः कथंभूतस्य। सकलवर्णेति—सकलाश्च ते वर्णाश्च ब्राह्मणादयः शूद्रान्ताश्चतुर्वर्णाः आश्रमाश्च आ शास्त्रोक्तकालात् श्राम्यन्ति यथास्वं तपस्यन्ति इत्याश्रमाः ब्रह्मचारी गृहस्थः वानप्रस्थः भिक्षुकश्चेति। समयाः चत्वारः जैनजैमिनिशाक्यशांकरागमाः, एषां समाचाराः आचाराः विचाराः सम्य-

ग्ज्ञानानि तेषाम् उचितानि तदनुकूलानि यानि वचनानि तेषां प्रपञ्चा एव मरीचयः किरणाः तैः विदलितं निरस्तं सकलजनताकमलिन्याः मिथ्यात्वमोहान्धकारपटलं येन तथाभूतस्य । पुनः कथंभूतस्य । ज्ञानेति—ज्ञानस्य तपसश्च प्रभावेण प्रकाशितं जिनशासनं येन तस्य पुनः कथंभूतस्य । शिष्यसंपदा शिष्याणां विभवेन अशेषमिव सकलमिव भुवनं जगत् उद्धर्तुम् उद्यतस्य संनद्धस्य, भगवतो रत्नत्रयपुरःसरस्य आचार्यपरमेष्ठिनः अष्टतयीम् इष्टिं करोमीति स्वाहा । अपि च—विचार्येति—सर्वम् ऐतिह्यम् आगमं विचार्य मनसि चिन्तयित्वा आचार्यकम् आचार्यपदम् उपेयुषः प्राप्तवतः आचार्यवर्यान् हृदयाम्बुजे संचार्य अर्चामि पूजये ॥४८७॥

[पृष्ठ २२०-२२४] अथोपाध्यायपूजां वर्णयति—ॐ श्रीमदिति—श्रीमतः समवसरणानन्तचतुष्टयेत्युभयलक्ष्मीमतः भगवतः अर्हतः । वदनारविन्दात् मुखकमलात् । विनिर्गतद्वादशाङ्गानि आचाराङ्गादीनि. उत्पादादिचतुर्दशपूर्वाणि, सामायिकादिचतुर्दशप्रकीर्णकानि, एभिः विस्तीर्णो यः श्रुतपारावारः श्रुतज्ञानसमुद्रः तस्य पारंगमस्य । पुनः कथंभूतस्य । अपारेति—अपारश्चासौ संपरायः संसारः स एव अरण्यं तस्मात् विनिर्गमः बहिर्निर्गमनं तदर्थं यः अनुपसर्गः बाधारहितः मार्गः तस्मिन् निरतास्तत्पराः ये विनेयजनाः शिष्यजनाः तेषां शरण्यस्य शरणे साधोः । पुनः कथंभूतस्य । दुरन्तैकान्तेति—दुरन्तः दुष्फलः स चासौ एकान्तवादः सर्वथा नित्यादिधर्माभिनिवेशः सा एव मदमषी मदकृष्णजलं तेन मलिना ये परवादिकरिणः परवादिगजाः तेषां कण्ठीरवोत्कण्ठेति—कण्ठ्यां रवो गर्जना यस्य सः कण्ठीरवः सिंहः तस्य उत्कण्ठः उत् ऊर्ध्वं कण्ठात् निर्गतः स चासौ कण्ठीरवः गर्जना तद्वत् भासमानाः याः प्रमाणनय-निक्षेपानुयोगानां वाचः तासां व्यतिकरः समूहो यस्य तथाभूतस्य । श्रवणेति—श्रवणम् आकर्णनम् । ग्रहणं शास्त्रार्थोपादानम् । अवगाहनं ज्ञानेन विषयस्य आलोडनम् । अवधारणा अविस्मरणम्, प्रयोगः विज्ञातमर्थम् अवलम्ब्य अन्यस्मिन्नर्थे व्याप्त्या तथाविधत्वसाधनं प्रयोगः । वाग्मित्वं प्रशस्ता वागस्यास्तीति वाग्मी तस्य भावः प्रशस्तवचनवक्तृत्वम् । कवित्वं—सरसतया विषयवर्णनशक्तिः । गमकशक्तिः गमयति बोधयति विषयान् लक्षणैर्यः स गमकः तस्य शक्तिः ताभिः विस्मापिताः आश्चर्यं प्रापिताः विततनरनिलिम्पाम्बरचरचक्रवर्तिनः विततः प्रसृताः ये नराः निलिम्पा देवाः । अम्बरचराः आकाशगामिनः विद्याधराः । तेषां चक्रवर्तिनः स्वामिनः नृपादयः तेषां सीमन्ताः केशवर्त्मानि तेभ्यः प्रतिपर्यस्ताः गलिताः या उत्तंसस्रजः शिरोमालाः शेखराणीत्यर्थः तासां सौरभं सौगन्ध्यं तेन अधिवासितः संस्कारितः पादपीठस्य उपकण्ठः समीपप्रदेशः यस्य । पुनः कथंभूतस्य तस्य । व्रतेति—व्रतानाम् अहिंसादीनां महाव्रतानां विधानं समाचरणं तस्मिन् अनवद्यं हृदयं मनो यस्य तस्य भगवतः रत्नत्रयपुरस्सरस्य उपाध्यायपरमेष्ठिनोऽष्टतयीमिष्टिं करोमीति स्वाहा । अपि च—अपास्तेति—अपास्ताः प्रतिविहिताः एकान्तवादिनाम् इन्द्राः प्रभवः यैः तान् पराजितैकान्तविबुधपतीन् । अपारागमपारगान् अपारश्चासौ आगमः तस्य पारं परतीरं गच्छन्तीति तान् उपाध्यायपरमेष्ठिनः श्रुतज्ञानलाभाय उपायभूताय अहं उपासे भजे ॥४८८॥ अधुना साधुपरमेष्ठिपूजनम् । ॐ विदितेति—विदितं ज्ञातं वेदितव्यं जीवादितत्त्वसप्तकं येन स तस्य । पुनः कथंभूतस्य । बाह्येति—बाह्यम् अनशनादिकमाचरणम्, अभ्यन्तरं च प्रायश्चित्तादिकम् इति बाह्याभ्यन्तराचरणे । करणत्रयं मनोवचःकायानां त्रयं करणत्रयम् अथवा अधःकरणम् अपूर्वकरणम् अनिवृत्तिकरणं च परिणामविशेषाणां संज्ञाश्चेमाः, एभिः परिणामैः जीवः सम्यग्दर्शनम्, अणुव्रतानि, महाव्रतानि च लभते । एतत्त्रयविशुद्धिरेव त्रिपथगापगाप्रवाहः गङ्गानदीप्रवाहः । तेन निर्मूलितः विनाशितः मनोजकुजकुटुम्बाडम्बरो येन मनोजः मदनः स एव कुजः वृक्षः कुः पृथ्वी तस्या जायत इति कुजः तस्य कुटुम्बं रागद्वेष-मद-मात्सर्यादयः तस्य आडम्बरो दर्पः स निर्मूलितो येन तस्य तथाभूतस्य । पुनः कथंभूतस्य । अमराम्बरचरेति—अमरा देवाः, अम्बरचराः नभोगामिनः विद्याधराः तेषां नितम्बिन्यः रमण्यः तासां कदम्बः समूहः स एव नदः तस्मात् प्रादुर्भूतः मदनमद एव मकरन्दः मरन्दरसः तस्य दुर्दिनविनोदः एव अरविन्दं तस्य चन्द्रायमाणस्य मुकुलीकरणे चन्द्रवत् आचरणं कुर्वतः । पुनः कथंभूतस्य । उदितोदितेति—उत्तरोत्तरं प्रकर्षं प्राप्तानि यानि व्रतानि तेषां व्रातः समूहः तेन अपहसितः तिरस्कृतः अवाच्यकामनया निन्द्याभिलाषया पुत्रीसमागमाभिवाञ्छया चारित्रच्युतश्चासौ विरिञ्चः ब्रह्मा तपःप्रारम्भैः विरोचनश्चन्द्रः वैखानसा विश्वामित्रादि-

यतयः तेषां रसोऽनुरागो येन सः तस्य । पुनः कथंभूतस्य । वनदेवताभिः विलुप्यमानचरणपरागस्य, कथंभूतैः तपःप्रारम्भैः । अनेकश इति—अनेकशः बहुवारं त्रैलोक्यक्षोभकारिभिः, ध्यानधैर्येति—ध्यानेन आत्मस्वरूपचिन्तनेन, धैर्येण मनसोऽक्षोभेण च अवधूता विनाशिताः विष्वक् सर्वतः प्रत्यूहव्यूहाः विघ्नसमूहा यैः पुनः कथंभूतैः । अनन्येति—अन्यजनासंभविभिः, मनोविषयातिक्रामिभिः, आश्चर्यप्रभावास्पदैः, अनवधारितम् अनुद्दिष्टं विधानं भोजनं येषु तैः, तैः तैः मूलोत्तरगुणेषु ग्रामणीभिः पुरोगमैः तपःप्रारम्भैः । पुनः कथंभूतस्य । सकलेति—सकलं च तत् ऐहिकसुखसाम्राज्यं च तस्य वरप्रदाने अवहिताः दत्तावधानाः आयाताः आगताः तथापि अवधीरिताः अवज्ञाताः तत्कारणात् विस्मिताः उपनताः नम्रीभूताः या वनदेवताः तासाम् अलकाः केशा एव अलयो भृङ्गाः तेषां कुलेन समूहेन विलुप्यमानः ह्रियमाणः चरणकमलयोः परागो यस्य तस्य । पुनः कथंभूतस्य । निर्वाणपदनिष्ठितात्मनः मुक्तिमार्गे निष्ठितः निश्चयेन स्थितः आत्मा यस्य तथाभूतस्य रत्नत्रयपुरःसरस्य भगवतः सर्वसाधुपरमेष्ठिनः अहतयोमिष्टिं करोमि इति स्वाहा । अपि च—बोधेति—बोध एव आपगा नदी तस्याः प्रवाहेण, विध्यातो विध्वस्तः अनङ्गवह्निः यैस्ते । विध्येति—विधिना आगमकथितप्रकारेण पूजनेन आराध्याः पूज्याः अङ्घ्रयश्चरणा येषां ते साधवः साध्यबोधाय साधयितुं योग्यं साध्यं मुक्तिपदं रत्नत्रयं साध्यो बोध्यः आत्मा यस्य तत् साध्यबोध्यं केवलज्ञानं तस्मै वा तस्य बोधाय ज्ञानाय भवन्तु ॥ ४८९ ॥ अधुना सम्यग्दर्शनरत्नस्य पूजा । ॐ जिनेति—जिनः दुर्जयकर्मठकर्मारातीन् जयतीति जिनः, अर्हन्, जिनागमः जिनेन अर्हता प्रोक्तः आगमः द्वादशाङ्गानि आचारादीनि, जिनधर्मः तेन जिनेन प्रणीतो धर्मः क्षमादिलक्षणो दशविधः, जिनोक्तजीवादितत्त्वावधारणं च एभिः विजृम्भितः प्रवृद्धः निरतिशयः निश्चयेन अतिशयो वैशिष्ट्यं यस्मिन् तथाभूतोऽभिनिवेशः परमार्थानाम् आप्तागमतपोभृतां दृढश्रद्धानं तदेव अधिष्ठानम् आधारः यासु तथाभूतासु चेतःप्रासादपरंपरासु । पुनः कथंभूतासु । प्रकाशितेति—प्रादुर्भूता या शङ्का जिनैः अनेकान्तात्मकं सर्वं प्रतिपादितं तद्यथार्थम् उत अन्यन्नित्यम् अनित्यं वा सर्वम् इति परमार्थम् एवंरूपा धीः शङ्का । सम्यग्दर्शनमाहात्म्यात् तपोमाहात्म्याच्च मम देवपदं नृपतिपदं वा लभताम् इति स्पृहा आकांक्षा प्राकाम्यमुच्यते । अवह्लादनम्—विचिकित्सा स्नानादिरहितस्य मुनेः शरीरं वीक्ष्य जुगुप्साकरणम् । कुमतार्तिः कुधर्मे तदाचरणवति पुरुषे प्रशंसादिकरणं मूढत्वम् । एते खलु विकाराः शल्यरूपाः तेषाम् उद्धारः अपनयनं यासु तासु चेतःप्रासादपरंपरासु । पुनः कथंभूतासु । प्रशमेति—प्रशमादिचतुष्टयस्य लक्षणानि प्रागुक्तानि एते प्रशमादय एव सुकृतिचेतःप्रासादपरंपरायाः स्तम्भाः तैरियं प्रासादपरंपरा संधृता भवति । पुनः कथंभूतासु । स्थितिकरणेति—धर्माद् भ्रश्यतो धर्मे स्थापनं स्थितीकरणम् । उपगूहनम्—धार्मिकजनदोषझम्पनम् । वात्सल्यम्—निर्मायेन मनसा धार्मिकजनस्य यथायोग्यम् आदरकरणम् । प्रभावना—दानतपोजिनपूजाविद्याविनयैर्जिनधर्ममाहात्म्यसंवर्धनम् । स्थितिकरणोपगूहनवात्सल्यप्रभावनाभिः आचरिताः उत्सवसपर्याः महपूजाः यासु तासु । पुनः कथंभूतासु—अनेकेति—अनेके ये त्रिदशविशेषाः देवविशेषाः इन्द्रसामानिकादयः तेषां निर्मापिताः भूमिकाः यासु ताः । तथाभूतासु सुकृतिचेतःप्रासादपरंपरासु सुकृतीनां पुण्यवतां मनःसौधपंक्तिषु, कृतक्रीडाविहारमपि कृतः क्रीडायै विहारो येन तथाभूतमपि यत् सम्यग्दर्शनं निसर्गात् स्वभावतः महामुनीनां मन एव पयोधिः समुद्रः तेन सह परिचितं परिचयविशिष्टं भवति । अशेषेति—अशेषाः सकलाः ये भरतैरावतविदेहाः त्रीणि क्षेत्राणि वर्षधराश्च हिमवदादयः तेषां चक्रवर्ती स्वामी मेरुपर्वतः तस्य चूडामणिस्वरूपः तत्कालजन्मा तीर्थकरः तस्य कुलदैवतमेतत्-सम्यग्दर्शनम् । अमरेति—अमरेश्वरा इन्द्राः तेषां या मतिर्ज्ञानं सा एव देवता तस्याः अवतंसः कर्णभूषणरूपम् एतत्सद्दर्शनं कल्पवल्लीपल्लवम् इव । अम्बरेति—अम्बरचरा विद्याधराः ते च ते लोका जनाः तेषां सम्यग्दर्शनमेतत् हृदयस्य एकम् अद्वितीयं मण्डनम् । अपवर्गेति—अपवर्गपुरं मुक्तिनगरं तत्र प्रवेशं कृत्वा यत् अगण्यपण्यस्य आत्मसात्करणं स्वीकरणं तदर्थं दीयमानं तस्य सत्यंकारमिवैतत्सम्यग्दर्शनम् । अवश्यं मयैतत्क्रेतव्यम् इति सत्याकरणसदृशम् । अनुल्लङ्घ्येति—उल्लङ्घयितुम् अशक्यम् अवश्यभोग्यमिति भावः, एतादृग् यत् दुरघं दुष्टम् अघं पापं तदेव घनघटा मेघसमूहः तस्य दुर्दिनानीव ये प्राणिनस्तेषु, ज्योतिरिति—

ज्योतिर्लोकादीनां ज्योतिषव्यन्तरभवनवास्यादीनां या गतयः अवस्थाः ता एव गर्ताः श्वभ्राणि रन्ध्राणि तेषु पाते पतने यत् तमस्काण्डं मिथ्यात्वतिमिरं तस्य भेदनमेतत्सम्यग्दर्शनम् । आमनन्ति मनीषिणः मनीषा बुद्धिरस्ति येषां ते मनीषिणः धीमन्त इति भावः । तस्य संसारपादपोच्छेदे संसारवृक्षभेदने आद्यकारणस्य सकलमंगलविधायिनः पञ्चपरमेष्ठिनाम् अग्रणीकृतस्य भगवतः पूज्यस्य सम्यग्दर्शनरत्नस्य अष्टतयीमिष्टिं करोमीति स्वाहा । अपि च—**मुक्तीति**—लक्ष्मीर्लतेव तस्याः सम्यग्दर्शनमेतत् मूलमिव वर्तते । मुक्तिश्रीवल्लरीवनम् प्रमाणनयात्मिका युक्तिश्रीः तस्या वल्लरीणां लतानां वनमिवेदम् । **भुक्तीति**—भोगानां स्रक्कामिन्यादीनां दाने समर्थो यश्चिन्तामणिः तं प्रददाति सम्यग्दर्शनमिदम् । एतत् सम्यक्त्वम् अहं भक्तितोऽर्हामि पूजयामि ॥४९०॥ अथ सम्यग्ज्ञानपूजा—**ॐ यन्निखिलेति**—यत् सम्यग्ज्ञानं सकलजगतः तृतीयं नेत्रम् । यत् स्वहिताहितविमर्शज्जातो यो याथात्म्यावबोधः यथार्थपरिचयः तेन सप्राप्तसत्यस्वरूपम् । **अधिगमेति**—गुरूपदेशाज्जातं सम्यक्त्वरत्नमधिगममुच्यते तस्योत्पत्तिस्थानमेतत् । अखिलास्वपि दशासु निगोदावस्थामारभ्य मुक्त्यवस्थापर्यन्तं सर्वास्वपि दशासु, क्षेत्रज्ञ आत्मा तस्य स्वभावाः सुखाद्यनन्तगुणाः त एव साम्राज्यं तस्यैतत् सम्यग्ज्ञानं परमम् अभिज्ञानलक्षणम् । अपि च यस्मिन्सम्यग्ज्ञाने इदानीमपि अस्मिन्कलिकालेऽपि नदीष्णातचेतोभिः कुशलमनोभिः **सम्यगिति**—समीचीनतया उपाहितः प्रणिधानयुतः स चासौ उपयोगः अर्थग्रहणव्यापारः तेन संमार्जनं निर्मलीकरणं यस्मिन् तथाभूते द्युमणिमणिदर्पण इव द्युमणिः सूर्यः स चासौ मणिः सूर्यकान्तरत्नं तस्य दर्पणे आदर्शे साक्षाद्भवन्ति प्रत्यक्षतां प्रतिपद्यन्ते ते ते भावैकसंप्रत्ययाः भावोऽभिप्रायः एव एकः मुख्यः संप्रत्ययः परिज्ञानकारणं येषाम् स्वभावक्षेत्रसमयविप्रकर्षिणोऽपि भावाः स्वभावविप्रकर्षिणः परमाण्वादयः । क्षेत्रविप्रकर्षिणः देशान्तरिता इति ते च मेर्वादयः । समयविप्रकर्षिणः कालान्तरिताः रामरावणादयः भावाः पदार्थाः । तस्य सम्यग्ज्ञानस्य, कथंभूतस्य पञ्चतयीमवस्थाम् अवगाहमानस्य, तस्य तादृशीम् अवस्थां विवृणोति—**आत्मलाभेति**—तस्य सम्यग्ज्ञानस्य आत्मलाभ-निबन्धस्य स्वोत्पत्तिविषयस्य उभयहेतुविहितविचित्रपरिणतिभिः बाह्याभ्यन्तरकारणाभ्यां कृतनानापरिणतिभिः कृतनानादर्शैः मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलैः पञ्चतयीं पञ्चविधाम् अवस्थां दशामवस्थाम् अवगाहमानस्याप्रविशतः सकलमंगलानां विधातुः पञ्चपरमेष्ठि-पुरःसरस्य भगवतः सम्यग्ज्ञानरत्नस्याष्टतयीमिष्टिं करोमि स्वाहा ॥३२॥ अपि च—**नेत्रमिति**—हिताहितयोः सुखदुःखयोः तत्कारणयोश्च आलोके दर्शने सम्यग्ज्ञानं नेत्रं लोचनम् अस्ति । तथा तत् धीसौधसाधने धीः बुद्धिः सा एव सौधः प्रासादः तस्य साधने रचनायां सूत्रम् यथा सूत्रेण शिल्पी प्रासादादिकं सप्रमाणं निर्मिनोति तथा सम्यग्ज्ञानेन बुद्धिसौधनिर्माणं सप्रमाणं भवति । लक्ष्म्याः समागमे क्षेत्रम् एतत्सम्यग्ज्ञानं पूजाविधेः पात्रं कुर्वे ॥४९१॥ अधुना सम्यक्चारित्रं पूज्यते । **ॐ यत्सकलेति**—यच्चारित्ररत्नं सर्वलोकालोकदर्शनप्रतिबन्धकस्य अन्धकारस्य मोहस्य विध्वंसकमस्ति । **अनवद्येति**—अनवद्या निर्दोषा चासौ विद्या सैव मन्दाकिनी गङ्गानदी तस्या धरमिव हिमाचलमिव । **अशेषसत्त्वोत्सवेति**—सकलप्राण्युत्सवप्रमोदचन्द्रोदयम्, **अखिलेति**—सकलव्रतगुप्तिसमितिगण एव लताः वल्लयः तासां य आरामः उद्यानं तस्य विकसने पुष्पाकरसमयं वसन्तकालः । **अनल्पेति**—अनल्पफलानि स्वर्गादिसौख्यानि, तेषां प्रदाने कल्पवृक्षोत्पत्तिभूमिम् । **अस्मयेति**—न स्मयो गर्वो यस्मिन् स चासौ उपशमः चारित्रमोहस्य अनुदयः, क्षयोपशमश्च, सौमनस्यं मनसः कापट्यरहिता वृत्तिः, धैर्यं च एवं गुणाः प्रधाना येषां तैः अनुष्ठीयमानम् आचर्यमाणम् चारित्रं सद्धीमन्तः सती चासौ धीर्बुद्धिः सा अस्ति येषां ते सद्धीमन्तः समीचीनबुद्धयः गणधरादयः परमपदप्राप्तेः परमं सर्वोत्कृष्टं पदं स्थानं मुक्तिमन्दिरं तस्य प्राप्तेः लाभस्य प्रथमं सोपानमिव उपानम् उपरिगमनं तेन सह विद्यमानम् आरोहणम् इव । तस्य पञ्चतयात्मनः सामायिकच्छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यातेति पञ्चप्रकारस्य सकलमंगलविधायिनः पञ्चपरमेष्ठिपुरःसरस्य भगवतः सम्यक्चारित्ररत्नस्य अष्टतयीमिष्टिं करोमीति स्वाहा ।

[पृष्ठ २२५] अपि च—**धर्मेति**—धर्मः उत्तमक्षमादिदशलक्षणात्मकस्तस्य योगी तदाचरणं कुर्वाणः साधुः एव नरेन्द्रः राजा तस्य । **कर्मेति**—कर्माण्येव वैरिणः शत्रवः तेषां जयार्जनं जयप्राप्तौ तत्पराङ्मुखीकरणसाधनम् । सर्वसत्त्वानां सर्वजीवानां शर्मकृत् सौख्यकारकम् वृत्तं चारित्रं धर्मधीः धर्मे धीर्बुद्धिर्यस्य सोऽहं वृत्त

चारित्रम् आश्रये अवलम्बे ।।४९२।। जिनेति—जिनोऽर्हन्, सिद्धः मुक्तः, सूरिः आचार्यः, देशकः उपाध्यायः, साधुः साधुपरमेष्ठी, श्रद्धानं सम्यक्त्वम्, बोधो ज्ञानम्, वृत्तं चारित्रं तेषाम् अष्टतयीम् अष्टप्रकाराम् इष्टिं पूजां कृत्वा ततः युक्त्या स्तवं विदधामि स्तुतिं करोमि ।।४९३।। (प्रथमं तावत् सम्यग्दर्शनं स्तूयते ।) तत्त्वेष्विति—तत्त्वेषु जीवादिसप्तपदार्थेषु प्रणयं रुचिं जिनैः परस्य मनसः तत्त्वतत्परस्य मनसः चित्तस्य श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् उक्तम् । [1]एतत् निसर्गाधिगमाभ्यां द्विभेदम्, उपशम-क्षयोपशम-क्षयभेदात्त्रिभेदम्, आज्ञामार्ग-उपदेश-सूत्र-बीज-संक्षेप-विस्तार-अर्थ-अवगाढ-परमावगाढेति भेदात् दशविधम् । चतुर्भिः गुणैः प्रशम-संवेगा-नुकम्पा-आस्तिक्यैः व्यक्तं प्रकटीभूतम्, निःशङ्कादिभिरष्टाङ्गम् । भुवनत्रयार्चितं त्रैलोक्यपूजितम् इदं त्रिभिः मूढैः देव-लोक-पाखण्डिभिः अपोढं रहितम् । हे देव जिनेन्द्र, संसृतिः संसारः सा एव लता वल्ली तस्याः उल्लासः विकासः, तस्य अवसानम् अन्तः स एव उत्सवः आनन्दः यस्य तत् सम्यग्दर्शनम् अहं चित्ते दधामि धारयामि ।।४९४।। ते कुर्वन्त्विति—हे देव जिनेन्द्र, एषा रुचिः सम्यग्दर्शनं येषु जीवेषु न विद्यते ते जीवाः प्रायः बहुशः जन्मच्छिदः संसारच्छेदकाः न भवन्ति । कथंभूता रुचिः । तवेति—तव भवतः वचःश्रद्धा यथार्थजीवादिवस्तुप्रतिपादके वचने श्रद्धारूपा, पुनः कथंभूता अवधानोद्धुरा अवधानं प्रणिधानं तेन उद्धुरा उत्कटा जिनप्रोक्तमेव तत्त्वं सत्यं नान्येषाम् इति दृढाभिनिवेशयुक्ता । पुनः कथंभूता । दुष्कर्मेति—दुष्कर्मणां ज्ञानावृत्यादीनाम् अशुभकर्मणां ये अङ्कुराः प्ररोहाः तेषां कुञ्जः समूहः तस्य वज्रदहनः वज्राग्निरिव तस्य द्योतः कान्तिः तेन अवदाता शुद्धा निर्मला । येषु इयं श्रद्धा न विद्यते ते दुर्धरधियः दुःखेन ध्रियते इति दुर्धरा धीर्येषां ते दुर्धरधियः अतीव चञ्चलबुद्धयः ते नरा तपांसि कुर्वन्तु । ज्ञानानि संचिन्वताम् ज्ञानोपचयं कुर्वन्तु । वा अथवा वित्तं धनं वितरन्तु ददतु । तदपि तथापि प्रायः जन्मच्छिदः न भवन्तीति विज्ञेयम् ।।४९५।।

[पृष्ठ २२६] संसारेति—हे नाथ स्वामिन्, यः कृती पुण्यवान्, हृदि मनसि सम्यक्त्वरत्नं सम्यग्दर्शनमणिं धत्ते धारयति, तस्य नरस्य स्वर्गापवर्गश्रियः स्वर्गमुक्तिरमाः सुलभाः सुप्रापाः भवन्ति । कथंभूतं सम्यक्त्वरत्नम् । संसारेति—संसार एव अम्बुधिः समुद्रः तस्य उल्लंघने सेतुबन्धं सेतुरचनातुल्यम् । पुनः कथंभूतम् । असमेति—समं युगपत् न समम् असमं क्रमेण प्रारम्भः उत्पत्तिर्यस्य तच्च तल्लक्ष्मीवनं रमाक्रीडा-रामः, तस्य प्रोल्लासने विकासने अमृतवारिवाहम् पीयूषमेघसदृशम् । पुनः कथंभूतम् । अखिलत्रैलोक्यचिन्ता-मणिम् । सकलत्रैलोक्ये चिन्तामणिं चिन्तितवस्तुदानरत्नसमम् । पुनः कथंभूतम् । कल्याणेति—कल्याणानि गर्भावतारादिनिर्वाणान्ताः पञ्चमहोत्सवाः तान्येवाम्बुजखण्डानि कमलवृन्दानि तेषां संभवसरः उत्पत्ति-सरोवरम् ।।४९६ ।। [इति दर्शनभक्तिः] [ज्ञानभक्तिः] अत्यल्पेति—इयम् अक्षजा मतिः इन्द्रिया-निन्द्रियजा बुद्धिः अत्यल्पायतिः अत्यल्पा अतिस्तोकः आयतिः भविष्यत्कालो यस्याः सा मतिज्ञानं जातमपि कालान्तरस्थायि न भवति । विस्मृतिशीलं हि तत् । अवधिः बोधः अवध्याख्यं ज्ञानं रूपिद्रव्यविषयम् । सावधिः द्रव्यक्षेत्रकालभावमर्यादायुतम् । साश्चर्यः विस्मयोत्पादकं मनःपर्ययः तन्नामकं ज्ञानं परमनसि स्थितं अर्थं प्रत्यक्ष-तया जानाति अत एव साश्चर्यं तत् परं स्वल्पः सः क्वचिदेव योगिनि कस्मिश्चिदेव सप्तविधान्यतमर्द्धिधारके मुनिवर्ये विद्यते । अद्यास्मिन् पञ्चमकाले पुनः दुष्प्रापं लब्धुं नितराम् अशक्यम् । इदं केवलं ज्योतिः केवलज्ञानं प्रकाशस्वरूपं कथागोचरं प्राचीनमहापुरुषकथाविषयमेव । तु परम् । निखिलार्थगे सुलभे श्रुते सकलजीवादि-पदार्थविषये सुप्रापे श्रुतज्ञाने माहात्म्यं प्रभावं किं वर्णयामः । श्रुतज्ञानस्य माहात्म्यं नास्माभिर्वर्णयितुं शक्यते इति भावः ।।४९७।। यद्देवैरिति—यत्स्याद्वादसरोरुहं तच्छ्रुतज्ञानकमलं मम मनोहंसस्य मन एव हंसः सितच्छ-दस्तस्य मुदे भूयात् । आनन्दं जनयत्विति भावः । कथंभूतं तत् यद्देवैः शिरसा धृतम् । गणधरैः कर्णावतंसीकृतं चतुर्ज्ञानधारिभिस्तीर्थकरमुख्यशिष्यैः कर्णभूषणीकृतम् । योगिभिः चेतसि मनसि स्थापितम् । पुनः नृपवरैः माण्डलिकमहामाण्डलिकादिभिर्नृपेश्वरैः आघ्रातः सारो यस्य, स्याद्वादसरोरुहस्य नासिकया गन्धो घ्रातः । विद्याधराधीश्वरैः नभश्चरभूपैः हस्ते, दृष्टिपथे मुखे च निहितम् स्थापितम् ।।४९८।। मिथ्यातम इति—

---

१. ब० क० पुस्तकयोः तत्तद्द्वित्रिदश इति पाठः ।

जिनागमाय जिनप्रोक्तायै स्याद्वादवाण्यै नित्यं प्रणमामि सदा नमस्करोमि। कथंभूतोऽहम्। तत्त्वेति—तस्य जिनागमस्य तत्त्वं स्वरूपं तस्य भावने चिन्तने मनः यस्य। कथंभूताय अहं प्रणमामि—मिथ्येति—मिथ्यातमः अतत्त्वश्रद्धानम् एव तमः तिमिरं तस्य पटलं समूहः तस्य भेदनकारणाय विनाशहेतवे। पुनः कथंभूताय स्वर्गेति—स्वर्गमोक्षनगरपथप्रदर्शकाय। पुनः कथंभूताय त्रैलोक्यमङ्गलकराय जगत्त्रयहितंकराय ॥४९९॥ [इति ज्ञानभक्तिः]

[पृष्ठ २२७] [चारित्रभक्तिः] ज्ञानमिति—यदन्तरेण चारित्रभक्ति विना ज्ञानं दुर्भगस्य कुरूपनरस्य देहमण्डनम् इव शरीरालंकरणमिव, स्वस्य खेदावहं स्यात्। अयं सम्यक्त्वरत्नाङ्कुरः चारित्रं विना तत्फलश्रियं स्वफलशोभां साधु उत्तमतया न धत्ते धारयति। देव प्रभो, जिन, तास्ताः तपोभूमयः तपसां भूमयः स्थानानि कायवाङ्मनांसि यदन्तरेण कामं नितरां विफलाः स्वर्गमोक्षफलरहिताः भवन्ति। अतः तस्मै संयमदमध्यानादिधाम्ने प्राणीन्द्रियसंयमौ द्वौ, दमः इन्द्रियनिग्रहः, ध्यानम् एकाग्रचिन्तानिरोधः आदौ येषां तेषां गुप्तिसमित्यादीनां धाम्ने गृहाय त्वच्चरित्राय तव भगवतः चरिताय चारित्रगुणाय नमः अस्तु ॥५००॥ यश्चिन्तामणिरिति—अहं विविधं पञ्चविधं तच्चारित्रं सामायिकच्छेदोपस्थापन-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसाम्पराय-यथाख्यातचारित्रभेदम्। नमामि। कथंभूतं तत्- यदिति—यच्चारित्रम् ईप्सितेषु इष्टेषु अभिलषितदाने चिन्तामणिः सौरूप्यस्य सौन्दर्यस्य, सौभाग्यस्य शुभदैवस्य च वसतिर्गृहम्। श्रीति—श्रियाः रमायाः पाणिग्रहकौतुकं विवाहोत्सवः, कुलेति—कुलं वंशः बलं सामर्थ्यम् आरोग्यं रोगविहीनता एषाम् आगमे संगमः मिलनस्थानम्। यदिति—यत् पञ्चात्मकं पञ्चभेदं चारित्रं पूर्वैः प्राचीनैः समाधिनिधिभिः प्राप्तानां सम्यग्दर्शनादीनां पर्यन्तप्रापणं समाधिः ध्यानं वा धर्म्यं शुक्लं च समाधिः। स एव निधिः येषां तैः साधुभिः मोक्षाय चरितं सेवितम् ॥५०१॥ हस्ते इति—यस्य मुनेः जैनैः जिनप्रोक्तैः सामायिकादिचरितैः मनः पवित्रं तस्य हस्ते स्वर्गसुखानि आगच्छन्ति। अतर्कितभवाः अतर्कितो अकस्मात् भवः उत्पत्तिर्यासां ताः अकस्मात्प्राप्ताः अविचारगोचराश्चक्रवर्तिनः संपदः तं यान्ति। देवाः पादतले लुठन्ति, द्यौः स्वर्गः सर्वतः दशभ्यो दिग्भ्यः कामितम् इष्टं फलति यच्छति। पुनः इमाः कल्याणोत्सवसंपदः गर्भादिकल्याणेषु इन्द्रादिभिः कृते उत्सवे रत्नादिवृष्टिः दिव्यभोगोपभोगवस्तुप्राप्तिः तस्य अवतारालये स्वर्गादवतरणं यस्मिन्नालये भविष्यति तत्र प्रागेव जन्मनः पूर्वमेव, अवतरन्ति आगच्छन्ति ॥५०२॥ [इति चारित्रभक्तिः] [अथार्हद्भक्तिः] बोधो इति—हे जिनेन्द्र, ते तव अवधिर्बोधः अवध्याख्यम् इन्द्रियमनोऽनपेक्षं तृतीयं ज्ञानम्। अशेषनिरूपितार्थं अशेषाः सकलाः निरूपिताः परोक्षतया ज्ञाताः अर्थाः जीवादयः पदार्था येन तत् तथाभूतम् श्रुतज्ञानम्। ते तव मतिः मतिज्ञानं सहजा त्वया सहैव जाता कथंभूता। अन्तर्बहिःकरणजा—अन्तःकरणं मनः तस्मात् जाता अन्तःकरणजा, बहिःकरणानि बाह्येन्द्रियाणि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि पञ्च तेभ्यो जाता मतिः। इत्थम् एवं स्वतः स्वस्मादेव सकलपदार्थविमर्शनमतेः भवतः परतः परस्माद् गुर्वादेः का व्यपेक्षा अभिलाषा स्यात्। न कापि इति। सहजज्ञानत्रितयवत्त्वात् तीर्थकरस्य ज्ञानसंपादने गुर्वपेक्षा नास्तीति भावः ॥५०३॥

[पृष्ठ २२८] ध्यानावलोकेति—देव हे विभो, शुक्लध्यानप्रकाशेन विगलद् विध्वस्यत् तिमिरप्रतानम् अज्ञानपटलं यस्य तस्मिन्। ताम् अनुपमां केवलमयीम् अनन्तज्ञानादिचतुष्टयरूपां श्रियं लक्ष्मीम् आदधाने बिभ्रति त्वयि। मुहुः पुनः पुनः। महाय उत्सवाय पूजनाय व्यापारमन्थरं त्रिभुवनम्। एकपुरमिव आसीत् अभवत्। भगवतः केवलज्ञाने जाते सति तदास्थाने नरसुरपशवः धर्मश्रवणार्थं संततमागच्छन्तीति भावः ॥५०४॥ छत्रमिति—अहं छत्रं प्रभोः मस्तके दधामि धारयामि। किमु चामरम् उत्क्षिपामि चालये। अथ जिनस्य पदे हेमाम्बुजानि सुवर्णकमलानि अर्पयामि। इत्थम् एवंप्रकारेण। अमरपतिः सौधर्मेन्द्रः स्वयमेव यस्मिन् जिने सेवापरः आराधनादक्षः। तत्र अहं परं किमु वच्मि भगवतो महिमा गणिनामपि वाचाम् अगोचर इति भावः ॥५०५॥ त्वमिति—हे ईश नाथ, त्वं सर्वदोषरहितः क्षुत्पिपासाद्यष्टादशदोषदूरः। ते वचः सुनयम् अपेक्षया वस्तुधर्मप्रतिपादनपरम्। ते सकलो विधिः उपदेशादिकः। सत्त्वानुकम्पनपरः प्राणिदयामाश्रित्य प्रवर्तते। तथापि लोकः त्वदीयसकलविधिं दृष्ट्वापि न भोक्ष्यति। [न तुष्यति] ननु अस्य लोकस्य कर्म एव

कारणम् न तु भवान् । यथा रवौ उदिते कौशिकस्य घूकस्य स दोषः न तु रवेः । घूको रविं न प्रेक्षते तथा जनः न तुष्यति नासौ दोषो जिनदेवस्य । लोकस्य मिथ्यात्वोदय एव तत्रापराध्यति ।।५०६।। पुष्पमिति—देव अर्हन्, त्वदीयेति तव इमौ त्वदीयौ तौ च तौ चरणौ पादौ तयोः अर्चनस्य पूजनस्य यत्पीठं सिंहासनं तस्य संगात् संपर्कात् जगत्त्रयस्य त्रैलोक्यस्य । चूडामणीव भवति । तत्पुष्पं वन्द्यं भवति अतः जनः तत् मस्तके बिभर्ति । अतः अन्यशिरसि अपरेषां हरिहरादीनां मस्तके स्थितमपि अस्पृश्यं भवति । अतः ते तव । को नाम साम्यम् अनुशास्तु प्रतिपादयतु । कैः । रवीश्वराद्यैः सूर्यरुद्राद्यैः समतां प्रतिपादयतु । न कदापि सूर्यहरिहरादिभिः त्रैलोक्य-वन्द्यस्य भगवतो जिनेश्वरस्य साम्यमस्तीति ज्ञेयम् ।।५०७।। मिथ्येति–पुरा एतज्जगत् मिथ्या मिथ्यात्वम् अतत्त्वार्थ-श्रद्धानोपदेशः तदेव महान्धतमसं महागाढतिमिरं तेन आवृतम् अत एव अप्रबोधं ज्ञानरहितम् । भवगर्तपाति संसार-रन्ध्रे पातो यस्य तथाभूत् । परं तत्तस्मात्कारणात् हे देव, त्वमेव, भवानेव, दृष्टिहृदयाब्जविकासकान्तैः दृष्टी नेत्रे, हृदयं मनः तान्येव अब्जानि कमलानि तेषां विकासे कान्तैः मनोहरैः । स्याद्वादेति—स्याद्वादरश्मिभिः स्वरूप-चतुष्टयं पररूपचतुष्टयंचापेक्ष्य जातैः सप्तभङ्गरज्जुभिः उद्धृतवान् भवगर्तपातात् उपरि निष्कासितवान् ।।५०८।। पादाम्बुजद्वयमिति—देव विभो यस्य नरस्य स्वच्छे मनसि निर्मले हृदये । तव इदं पादाम्बुजद्वयं चरण-कमलयुगलं समास्ते विद्यते । श्रीः लक्ष्मीः स्वयं तं भजति सेवते । स्वर्गमोक्षोत्पादिका मातेव इयं सरस्वती तं नियतं निश्चयेन वृणीते स्वीकरोति ।। ५०९ ।। [इत्यर्हद्भक्तिः]

[पृष्ठ २२९] [सिद्धभक्तिः] सम्यग्ज्ञानत्रयेणेति—कथंभूताः सिद्धाः मतिश्रुतावधीनां त्रयेण प्रवि-दितः ज्ञातः सकलज्ञेयजीवादितत्त्वविस्तारो यैः ते । पुनः कथंभूताः । अथ अनन्तरम् । ध्यानवातैः सकलं कर्मरजः ज्ञानावरणादिघातिकर्मचतुष्करजः प्रोद्धूय निरस्य । प्राप्तकैवल्यरूपाः लब्धशुद्धात्मरूपाः संप्राप्तकेवलज्ञानरूपा वा । पुनः कथंभूताः सिद्धाः । अथ सत्त्वोपकारं प्राण्युपकृतिं कृत्वा ये त्रिभुवनपतिभिः धरणेन्द्रचक्रवर्तिस्वःपतिभिः दत्तयात्रोत्सवाः उद्घोषितनिर्वाणकल्याणाः । ते लोकत्रयस्य शिखरे अग्रे सिद्धपुरीनिवासिनः सिद्धाः वः युष्माकं सिद्धये मुक्त्यै सन्तु भवन्तु ।।५१०।। दानज्ञानेति—आहारौषधावासशास्त्रभेदाच्चतुर्विधानि दानानि । ज्ञानम् आध्यात्मिकम् । चारित्रं सामायिकादिकम् । प्राणेन्द्रियसंयमौ द्वौ । तथा द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकौ नयौ एषां प्रारम्भः गर्भे यस्य तथाभूतं मनः कृत्वा । एषु विषयेषु मनः संस्थाप्य । तथा च अन्तरिन्द्रियं मनः बहिरिन्द्रियाणि च स्पर्शादीनि पञ्च । तथा पञ्चमरुतः प्राणापानसमानोदानव्यानाः तान् संयम्य वशीकृत्य पश्चात् तत् ध्यानं प्रविधाय । कथंभूतं ध्यानम् । वीतेति—वीतं नष्टं विकल्पानां रागद्वेषादीनां जालं यस्मात् । पुनः कथंभूतम् । भ्रस्यत्तमःसन्तति, भ्रस्यन्ती तमसाम् अज्ञानानां संततिर्यस्मात्तत् । अखिलं ध्यानं शुक्लाह्वयं चतुर्विधं प्रविधाय विचिन्त्य । ये च मुमुचुः ये मुनयः द्रव्यभावकर्मभ्यां मुक्ता बभूवुः । तेभ्योऽपि अञ्जलिः प्रसृतिर्बद्धः तान् सिद्धपरमेष्ठिनोऽपि वयं वन्दामहे ।।५११।। इत्थमिति—इत्थम् एवम् । अत्र अस्मिन्लोके । ये मुनयः, कथंभूताः । धृतेति—धृता ध्याने अवधानर्द्धिः प्रणिधानवैपुल्यं यैस्ते । कुत्र । समुद्रेति—समुद्रः । कन्दरः पर्वतदरी । सरः सरोवरम् । स्रोतस्विनी नदी । भूः भूमिः । नभ आकाशम् । द्वीपः जलवेष्टितभूमिः । अद्रिः पर्वतः । द्रुमः वृक्षमूलम् । काननं वनं तानि आदौ येषां तेषु । धृतध्यानस्थिराः त्रिषु कालेषु भूतभविष्यद्भवत्सु कालेषु मुक्तिसंगमे मुक्तिसंगसुखसेविनः भव्येषु रत्नाकराः मुनयः रत्नत्रयमङ्गलानि ददतां समर्पयन्तु ।।५१२।। [इति सिद्धभक्तिः] [चैत्यभक्तिः] भौमेति—भौमाः भवनवासिनो देवाः । व्यन्तराः विविधदेशान्तराणि येषां निवासास्ते व्यन्तरदेवाः । मर्त्या मनुष्याः सार्धद्वीपद्वितयवर्तिनः, भास्करसुराः चन्द्रसूर्यादयः पञ्चविधा ज्योतिष्काः । सुराः स्वर्गवासिनो देवाश्च । एषां श्रेणीविमानाश्रिताः पंक्तिबद्धविमानेषु आवासेषु श्रिताः स्थिताः पुनः कथंभूताः आकृतीः । स्वर्ज्योतिरिति—स्वः स्वर्गः ज्योतिः ज्योतिर्मण्डलस्थानम् कुलपर्वतान्तरधरा हिमवदादयः कुल-पर्वताः अन्तरधरा व्यन्तराणां निवासभूमिः । रन्ध्रप्रबन्धः भवनवासाः पंक्तिबद्धाः । एषु स्थितिः यासां ताः । पुनः कथंभूताः । जिनेन्द्रेति—जिनेन्द्रा अर्हन्तः । सिद्धाः मुक्ताः । गणभृतः आचार्याः । स्वाध्यायिनः उपाध्यायाः । साधवः साधुपरमेष्ठिनश्च एषाम् आकृतीः प्रतिमाः अहं वन्दे । पुनः कथंभूताः । तत्पुरेति—तेषां भौमादिदेवानां

पुराणि नगराणि तेषां पालाः रक्षकाः असुरेन्द्रादयः तेषां मौलयः किरीटानि तेषु विलसन्ति यानि रत्नानि तानि एव प्रदीपास्तैः अर्चिताः पूजिताः आकृतीः साम्राज्याय मुक्तिसाम्राज्याय वन्दे ॥५१३॥ [इति चैत्यभक्तिः] ।

[पृष्ठ २३०] [पञ्चगुरुभक्तिः] समवसरणेति—अहं तान् पञ्चपरमेष्ठिनः स्तुवे इति क्रियासंबन्धः । अहं समवसरणवासान् अर्हतः स्तुवे । समवसरणे वासो येषां तान् । मुक्तिलक्ष्मीविलासान् मुक्तिरमया विलासं क्रीडां कुर्वाणान् सिद्धान् स्तुवे । सकलसमयनाथान् सकलाश्च ते समयाः आगमाः तेषां नाथान् स्वपरागमवेदिनः आचार्यान् स्तुवे । वाक्यविद्याः व्याकरणादिशास्त्राणि तैः सनाथाः सहिताः तेषां ज्ञातारः इति भावः । तानुपाध्यायान् । भवनिगलेति—संसारशृङ्खलानां विनाशस्त्रोटनं तस्य उद्योगाय क्षमो यो योगः आतापनादिः तेन प्रकाशन्ते इति प्रकाशास्तान् साधुपरमेष्ठिनः । अहं क्रियावान् सामायिकादिक्रियाः कुर्वाणोऽहं संस्तुवे । कथंभूतान्पञ्चपरमेष्ठिनः स्तुवे। निरुपमेति—निरुपमाः निर्गता उपमा येभ्यस्ते निरुपमाः ते च ते गुणाश्च निरुपमगुणाः तेषां भावो अस्तित्वं येषां तान् स्तुवे । अर्हतां षट्चत्वारिंशद्गुणाः । सिद्धानां सम्यक्त्वादयोऽष्टौ । सूरीणां षट्त्रिंशद्गुणाः । उपाध्यायानां पञ्चविंशतिर्गुणा । साधूनाम् अष्टाविंशतिगुणास्तेषां गुणानाम् । [इति पञ्चगुरुभक्तिः] ॥५१४ ॥ [शान्तिभक्तिः] भवेति—जिनः शान्तिः शान्तिकरः स्तात् भवतु । कथंभूतः सः । भवेति—संसारासुखाग्निशान्तिः संसारदुःखाग्न्युपशामकः । धर्मामृतेति—धर्म एव अमृतमिति तस्य वर्षः वृष्टिः तस्मात् जनिता उत्पादिता शान्तिर्येन सः । पुनः कथंभूतः । शिवेति—मुक्तिसुखागमनाय शान्तिरूपः जिनः शान्तिकरः स्तात् । [इति शान्तिभक्तिः] ॥५१५॥ [आचार्यभक्तिः] मनोमात्रेति-मनोमात्रस्य उचितं मनोमात्रोचितं तस्मै मनोमात्रोचिताय मनसैव कर्तुं योग्याय पुण्याय । यः न चेष्टते न प्रवर्तते । हताशस्य दीनस्य तस्य मनोरथाः मनोऽभिलाषाः कथं कृतार्थाः कृतकार्याः सफलाः स्युर्भवेयुः ॥५१६॥

[पृष्ठ २३१] येषां तृष्णेति—येषां आचार्याणां चित्तवृत्तिप्रचारः मनोवृत्तिप्रसरः तत्त्वलोकावलोकात् जीवादिसप्ततत्त्वमयो यो लोको जगत् तस्य अवलोकात् वीक्षणात् तृष्णातिमिरभिदुरः तृष्णा विषयाभिलाषा एव तिमिरं तमः तस्य भिदुरः भेदकः अस्ति । प्रशमजलधेः क्रोधादिकषायाणां प्रशमः अनुद्भवः एव जलधिः समुद्रः, तस्य पारे अवारे च तीरे उभयोस्तीरयोः चित्तवृत्तिप्रचारः खेलति । संगवार्धेः परिग्रहसमुद्रस्य परस्मिन् च तटे खेलति । बाह्येति—बाह्येषु कनककामिन्यादिषु पुद्गलादिषु च अनात्मीयेषु व्याप्तिप्रसरविधुरः प्रवृत्तिप्रसररहितः वर्तते तेषाम् । आचार्याणाम् अर्चाविधिषु पूजाकर्मसु वारिपूरः जलप्रवाहः अर्पितः वः युष्माकं श्रिये लक्ष्मीप्राप्तिहेतवे भवतात् भवतु ॥५१७॥ दूरारूढे इति—अस्मिन् अन्तरात्माम्बरे अन्तरात्मा चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः चित्तं च विकल्पः । दोषाश्च रागादयः । आत्मा च शुद्धं चेतना वद् द्रव्यम् । तेषु विगता विनष्टा भ्रान्तिर्यस्य । चित्तं चित्तत्वेन बुध्यते, दोषांश्च दोषत्वेन, आत्मानमात्मत्वेनेत्यर्थः स अन्तरात्मा स एव अम्बरम् आकाशम्, तस्मिन्, प्रणिधितरणौ एकाग्रतायुक्तं मन एव तरणिः सूर्यः तस्मिन् । दूरारूढे मध्यभागम् आरूढे सति । येषां हृदयकमलं मोदेन स्वात्मानुभूतिसौख्येन निष्पन्दवृत्ति निश्चलवृत्ति स्थिरं भवति । तत्त्वेति—तत्त्वं शुद्धात्मस्वरूपं तस्य अवलोकः अनुभवनं तस्य अवगमः ज्ञप्तिः तस्मात् गलिता नष्टा ध्वान्तबन्धस्थितिः मिथ्याज्ञानबन्धावस्था येषाम् । तेषां सूरीणां पादयोः चन्दनेन अहम् इष्टिं पूजाम् उपनये निर्वर्तये । आत्मस्वरूपानुभवेन येषाम् अज्ञानबन्धस्त्रुट्यति तेषां पादौ आचार्याणामहं चन्दनेन चर्चयामीत्यर्थः ॥५१८॥ येषामन्तरिति—येषाम् आचार्याणां क्षेत्राधीशे आत्मनि अन्तरिति—अन्तः चित्ते तदमृतरसास्वादमन्दप्रचारे सति स्वात्मानुभूत्यमृतरसस्यास्वादश्चर्वणं तेन मन्दः जडः प्रचारः आत्मानुभवं विहाय अन्यत्र अनात्मीयेषु पदार्थेषु गमनं तस्मिन् । अन्यत्र मनःप्रचारः आत्मानुभूतिपीयूषस्वादनिमग्नत्वात् येषां न भवतीति भावः । येषां योगीश्वराणाम् आतापनादियोगधारिणाम् मुनीनाम् ईश्वरा अधिपतयस्तेषां सूरीणाम् । विगतेति—विनष्टः निखिलः सकलः आरम्भः प्रक्रमः यस्य स चासौ संभोगः इन्द्रियविषयानुभवः । ग्रामोक्षाणां ग्रामीणानां बलीवर्दानाम् उदुषित इव शृंगाभ्यां घर्षित इव भाति । तेषां निर्ममाणां कलमसदकैः शाल्यक्षतैः तण्डुलैः पूजनं कुर्मः ॥५१९॥ देहारामे इति—देह एव आरामः उपवनम् तस्मिन्नपि उपरतधियः विरक्तमतयः । कस्मात्

उपरतभियः सर्वसंकल्पशान्तेः सर्वेषां संकल्पानां शान्तेः विनाशात् । अहमेषां स्वामी मम च इमे स्वम् इति संकल्पव्यपगमात् । ब्रह्मधामामृताप्तेः येषां ऊर्मिस्मयविरहिता ब्रह्मण आत्मनः धाम स्थानं यत् अमृतं स्वात्मानुभूतिः तस्य आप्तेर्लाभात् ऊर्मिस्मयविरहिता शोकमोहौ जरामृत्यू क्षुत्पिपासे इति षडूर्मयः । स्मयाश्च ज्ञानपूजाकुलजातिबलर्द्धितपोवपुषां मानित्वं स्मयाः अष्टविधाः । षडूर्मिभिः अष्टविधस्मयैश्च विरहिताः रहितत्वम् लब्धम् । येषां च आत्मात्मीयानुगमविगमात् शुद्धबोधाः वृत्तयः संकल्पविकल्पानाम् अनुगमस्य उत्पत्तेर्विगमात् येषां वृत्तयः मनोविमर्शाः शुद्धबोधाः शुद्धात्मस्वरूपज्ञानयुक्ताः सन्ति । तेषां चरणकमलानि पुष्पैः शिवाय मोक्षाय अर्चयेयं पूजयेयम् ॥५२०॥

[पृष्ठ २३२] येषामङ्गे इति—येषां सूरीणाम् अङ्गे मलयजरसैः चन्दनगन्धैः संगमः । लेपनं कर्दमैः मृदा लेपनं वा समानः हर्षाय विषादाय वा क्रमशो न भवति । स्त्रीबिब्बोकैः स्त्रीणां शृङ्गारभावजा क्रिया बिब्बोकः अभिमतवस्तुप्राप्तौ अपि गर्वादनादरः । सापराधस्य संयमनं ताडनं च बिब्बोकः । एताभिः स्त्रीणां शृङ्गारक्रियाभिः अनुषङ्गः संबन्धः समानः प्रतिभाति । पितृवनेति—पितॄणां वनमिव श्मशानं तत्र चिताभस्मभिः चीयते श्मशानाग्निरस्याम् इति चिता तस्या भस्मभिः भसितैः वा अनुषङ्गः लिप्तिः समानः न प्रीत्यप्रीत्यै भवति । मित्रे शत्रावपि च विषये अनुषङ्गः संबन्धः निस्तरङ्गः तरङ्गः मनोवृत्तिः हर्षविषादात्मिका निर्गतौ तरङ्गौ हर्षविषादौ यस्मादसौ निस्तरङ्गः मित्रे दृष्टे न हर्षः स्यात् अरौ दृष्टे न खिन्नता । तेषां सूरीणां पूजाव्यतिकरविधौ पूजोत्सवविधौ एष हविर्नैवेद्यं वः युष्माकं भूत्यै वैभवदानाय अस्तु भवतु ॥५२१॥ योगाभोगाचरणचतुरे इति—येषां सूरीणां स्वान्ते मनसि । कथंभूते । योगेति—योगानाम् आतापनाभ्रावकाशवर्षायोगानाम् आभोगो विस्तारः तस्य आचरणं प्रवर्तनं तत्र चतुरे कुशले । पुनः कथंभूते । दीर्णेति—दीर्णः विनष्टः कन्दर्पस्य मन्मथस्य दर्पः मदो येन तस्मिन् । पुनः कथंभूते ध्वान्तेति-ध्वान्तम् अज्ञानं तस्य उद्धरणं निरसनं तत्र सविधे तत्परे । पुनः कथंभूते ज्योतिरिति—ज्योतिषः स्वानुभूतिज्ञानस्य उन्मेषः उद्भूतिः तं भजतीति ज्योतिरुन्मेषभाक् तस्मिन् स्वान्ते स्वानुभूतिज्ञानसंपन्ने सतीति भावः । क्षेत्रनाथः क्षेत्रं देहः तस्य नाथः स्वामी आचार्याणाम् आत्मा । अन्तः निजस्वरूपे उच्चैः अत्यन्तम्, अमृतभृत इव सुधापूर्ण इव संमोदेत ह्लादेत । तेषु क्रमपरिचयात् चरणपूजनात् प्रदीपः वः श्रिये लक्ष्म्यै संपदे स्यात् भवेत् ॥५२२॥ येषां ध्येयेति—येषां सूरीणां बोधाम्भोधिः सम्यग्ज्ञानसागरः कथंभूतानां सूरीणाम् । ध्येयाशयेति—ध्येयो ज्ञानदर्शनलक्षणो निजात्मा तस्मिन् ध्येये आशयः विमर्शं कुर्वन्मनः स एव कुवलयं कुमुदं तस्य आनन्दे प्रमोदे चन्द्रोदयतुल्यानां । येषां सूरीणां ज्ञानाब्धिः प्रमदसलिलैः आनन्दनीरैः आत्मावकाशे निजस्वरूपे नैव माति ॥ बहिः नानाविधलब्धिः बहिरुत्पूरो भवति । एतां अखिलेति—सकलजगद्विभवरमां समवसरणादिरूपां प्राप्यापि येषां चेतः मनः निःस्पृहम् अस्ति, तेषाम् अपचितौ पूजायां धूपः वो युष्माकं श्रेयसे मुक्तये अस्तु ॥५२३॥ चित्ते चित्ते इति—चित्ते मनसि चित्ते आत्मनि विशति सति प्रवेशं कुर्वति सति । करणेषु स्पर्शनादिषु इन्द्रियेषु स्वान् विषयांस्त्यक्त्वा अन्तरात्मन्येव स्थितेषु । स्रोतस्यूते स्रोतोभिः स्पर्शनादिविषयैः स्यूते अनुषक्ते पुंसि । बहिः बाह्ये अखिलतः सर्वशः व्याप्तिशून्ये बाह्यपदार्थविमर्शशून्ये सति । येषां ज्योतिः ज्ञानं किमपि अनिर्वचनीयरूपेण परमानन्दसन्दर्भगर्भं परमश्चासौ आनन्दश्च परमानन्दः विषयजादानन्दात् आत्मानन्दः स्वानुभूतिरूपः अपूर्वसुखजनकत्वात् परमानन्द उच्यते तस्य सन्दर्भः ज्ञानेन सह एकलोलीभावः स गर्भे यस्य तथाभूतं ज्ञानज्योतिः जन्मच्छेदि जन्महन्तृ जन्मनः भवस्य हन्तृ प्रभवति समर्थं जायते । तेषु आचार्येषु फलैः सपर्यां पूजां कुर्मः ॥५२४॥

वाग्देवतावर इति—हे सूरिवर, तत् ततः चरणार्चनेन तव पादपूजनेन अयं पुष्पाञ्जलिः इयं कुसुमानां प्रसृतिः । उपासकानाम् आचार्यभक्तानां वाग्देवतायाः सरस्वत्याः वरः इव वाञ्छिताभिलाष इव । पुनः कथंभूतः आगामिन्यां तत्फलप्राप्तौ पुण्यपुञ्ज इव सुकृतसमूह इव । पुनः कथंभूतः । लक्ष्मीति—लक्ष्म्याः कटाक्षा एव मधुपा भृङ्गाः तेषां आगमने एकहेतुः मुख्यं कारणम् । भवतु अस्तु ॥५२५॥ (इत्याचार्यभक्तिः)

इत्युपासकाध्ययने समयसमाचारविधिर्नाम पञ्चत्रिंशत्तमः कल्पः ॥३५॥

३६. स्नपनार्चनविधिर्नाम षट्त्रिंशः कल्पः

[पृष्ठ २३३-२३५] जिनप्रतिमास्नपनम् । इदानीम् अधुना । ये कृतप्रतिमापरिग्रहाः कृतजिनबिम्ब-पूजाप्रतिज्ञाः तान्प्रति तानुद्दिश्य । स्नपनम् अभिषेकः । अर्चनं पूजनं जलादिद्रव्यैः । स्तवः प्रतिमार्पितार्हदादीनां गुणानां स्तुतिः । जपः अर्हदादीनां मन्त्रस्य जपो वाचिको मानसिको वा जप्यः । ध्यानम् एकाग्रेण मनसार्ह-दादीनां गुणानां चिन्तनम् । श्रुतदेवताराधनविधिः श्रुतदेवतायाः जलाद्यैः गुणानुरागपूर्वकं पूजनम् । एतान् षड्विधीन् प्रोदाहरिष्यामः कीर्तयिष्यामः । तथाहि—श्रीकेतनमिति—अहं जिनाभिषेकाश्रयं जिनाभिषेकस्य आश्रयं गृहम् आश्रयामि तत्र प्रवेशं करोमि । कथंभूतं तम् आश्रयामि । श्रीकेतनं श्रियो देवतायाः केतनं गृहमिव । पुनः कथंभूतम् । वागिति—वाग्वनिता वाग्देवता श्रुतदेवता तस्या निवासम् आश्रयम् । उपासकानां देवपूजादिषट्कर्माणि कुर्वतां श्रावकाणां पुण्यार्जनक्षेत्रं सस्यप्राप्तिस्थानमिव पुण्यप्राप्तिस्थानम् । पुनः कथं-भूतम् । स्वर्गेति—स्वर्गमोक्षप्राप्तेर्मुख्यं निदानम् ॥५२६॥ [इति जिनमन्दिरप्रवेशः] भावामृतेनेति—भावो जिनगुणानुरागस्तदेव अमृतं जलं तेन मनसि प्रतिलब्धशुद्धिः संप्राप्तशौचः अहम् । पुण्यामृतेन च मन्त्र-पूतेन जलेन । तनौ शरीरे । नितरां पवित्रो भूत्वा सकलीकरणम् अङ्गन्यासं च कृत्वेत्यर्थः । श्रीमण्डपे यत्र जिनो भगवान् विराजते तत्स्थानं श्रीमण्डपः । तत्र विविधवस्तुविभूषितायाम् अष्टमङ्गलद्रव्यालंकृतायां वेद्यां पीठे । जिनस्य सवनम् अभिषेकम् । विधिवत् जिनस्नानशास्त्रोक्तप्रकारेण तनोमि करोमि ॥५२७॥ उदङ्मुखमिति—पूजकः स्वयम् उदङ्मुखम् उत्तरां दिशं प्रति मुखं कृत्वा तिष्ठेत् । जिनं प्राङ्मुखं स्थापयेत् पूर्वदिङ्मुखं जिनं कृत्वा तं स्थापयेत् । तथा पूजाक्षणे पूजनसमये पूजकः नित्यं यमी अणुव्रतधारकः वाचंयमक्रियः वाचंयमो पूजामन्त्रादपरस्य भाषणम् अकुर्वाणः पूजनक्रियां कुर्वाणः भवेत् ॥५२८॥ षड्विधं देवसेवनम् । प्रस्तावनेति—प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, संनिधापनम् । पूजा, पूजाफलं च इति देवसेवनं षड्विधम् ज्ञेयम् ॥५२९॥ १. प्रस्तावनाधिकारः प्रथमः, स वर्ण्यते—यः श्रीजन्मेति—यः श्रीजिनः श्रीजन्मपयोनिधिः श्रियो लक्ष्म्या जन्मने पयोनिधिः समुद्रः, यं योगिनः मनसि ध्यायन्ति । येनेदं भुवनं सनाथम्, स्वामिना सहितम् । यस्मै अमरा नमस्कुर्वते । यस्माज्जिनात् श्रुतिः द्वादशाङ्गरूपा प्रादुरभूत् जज्ञे । यस्य प्रसादात् जनाः सुकृतिनो भवन्ति । यस्मिन् जिने न एव भवाश्रयो भवः संसृतिः आश्रयो भाजनं यस्य तथाभूतः व्यतिकरः संबन्धः न, तस्य स्नापनाम् आरभे ॥५३०॥ वीतोपलेपवपुषः इति—वीतः विनष्टः मलस्य उपलेपः उपदेहः वपुषो शरीराद्यस्य तस्य जिनस्य नित्यनिर्मलस्य मलानुषङ्गः मलस्य संबन्धः कुतः कस्मात् कारणाद् भवेत् । त्रैलोक्यस्य पूज्यौ चरणौ यस्य तस्य जिनस्य अर्घ्यः कृतः न तेन अर्घ्येण जिनस्य किमपि प्रयोजनं सिद्धमिति । हे जिन, मोक्षामृते धृतधियः मोक्षपीयूषे विहितवाञ्छस्य तव नैव कामः अभिलाषः । ततः इदं स्नानं कम् उपकारं तव किं प्रयोजनं करोतु साधयतु ॥५३१॥ तथापीति—तथापि स्वस्य पुण्यार्थं पुण्य-प्राप्त्यर्थं तव अभिषवं स्नानं प्रस्तुवे प्रारभे । को नाम कः पुमान् फलार्थी फलान्यभिलषन्, तरूपकारार्थं तरोः वृक्षस्य उपकारार्थम् उपकारकरणाय विहितोद्यमः कृतयत्नो भवेत् । यथा अभिषेकेण जिनेश्वरे काप्युपकृतिर्न भवेत् यतः स स्वभावनिर्मलः । अतः स्वपुण्योपचयार्थम् एव उपासकेन तस्य स्नानं विधेयम् । यथा फलार्थी जनः वृक्षं जलदानेन सेवतेन वृक्षोपकाराय तथा स्वपुण्याय जिनाभिषेकक्रियां श्रावकः करोति ॥५३२॥ इति प्रस्तावना] २. पुराकर्म । रत्नाम्बुभिरिति—रत्नजलैः तथा कृशानां कृशानुभिः अग्निभिः भूमौ स्नानभूमौ जिनाभिषेकस्थाने आत्तशुद्धौ सत्या पवित्रायां जातायाम् । भुजङ्गमपतीन् नागेन्द्रान् अमृतैः दुग्धैः उपास्य प्रीणयित्वा । प्रजापतिनिकेतनदिङ्मुखानि प्रजापतिनिकेतनं ब्रह्मस्थानं तत्प्रमुखानि दिङ्मुखानि पूर्वादिदशदिशः । दूर्वा स्वनामख्याततृणविशेषः । अक्षताः अखण्डतण्डुलानि । प्रसवाः पुष्पाणि, दर्भाश्च कुशाः तैः विदर्भितानि युक्तानि कुर्मः ॥५३३॥ पाथःपूर्णानिति—अहं पूजकः कोणेषु चतुरः कुम्भान् विदधे । कथंभूतान् पाथः-पूर्णान् जलैर्भृतान् । सुपल्लवैः आम्राशोकादिकिसलयैः प्रसूनैः पुष्पैः अर्च्यान् पूज्यान् । पुनः कथंभूतान् प्रवालमुक्तोल्बणान् विद्रुममुक्ताहारशोभितान् चतुरः दुग्धाब्धीनिव चतुःसंख्यान् क्षीरसमुद्रानिव । वेद्याश्चतुः कोणेषु विदधे स्थापयामि ॥५३४॥ [अत्र जिनाभिषेकप्रस्तावनापुराकर्ममन्त्रा लिख्यन्ते । ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं

भूः स्वाहा। इति जिनाभिषेकप्रस्तावनापुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्।] पुराकर्ममन्त्राः—ॐ ह्रीं नमः सर्वज्ञाय सर्वलोकनाथाय धर्मतीर्थंकराय श्रीशान्तिनाथाय परमपवित्रेभ्यः शुद्धेभ्यः, नमो भूमिशुद्धिं करोमि स्वाहा। इत्यनेन भूमिशोधनम्। ॐ ह्रीं अग्निं प्रज्वालयामि निर्मलाय स्वाहा, ॐ ह्रीं वह्निकुमाराय स्वाहा, ॐ ह्रीं ज्ञानोद्योताय नमः स्वाहा। इति अग्निज्वालनम्। ॐ ह्रीं श्रीं क्ष्मीं भूः नागेभ्यः स्वाहा। इति नागतर्पणम्। ॐ ह्रीं क्रों दर्पमथनाय नमः स्वाहा। इति ब्रह्मादिदशदिग्बलिः। ॐ ह्रीं स्वस्तये कलशस्थापनं करोमि स्वाहा। ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रैं ह्रौं नेत्राय संवौषट् कलशार्चनं करोमि स्वाहा। [इति पुराकर्म।]
३. अथ स्थापना। यस्य स्थानमिति—यस्य प्रभोः स्थानं निवासः। त्रिभुवनेति—त्रिभुवनस्य जगत्त्रयस्य शिरः सर्वार्थसिद्धिविमानं तस्योपरि शेखरमिव मुकुटमिव सिद्धशिला वसुधा तस्या अग्रे उपरि निसर्गात् स्वभावात् यस्य प्रभोः स्थानं निवासः विद्यते। तस्य प्रभोर्जिनराजस्य अमर्त्यक्षितिभृति अमर्त्यानां देवानां क्षितिभृति क्षितिं पृथ्वीं बिभर्तीति क्षितिभृत् पर्वतः तस्मिन् देवपर्वते मेरौ स्नानपीठी स्नानासनं भवेत् इत्यस्मिन् विषये अद्भुतं न। हे जिन, ते सवनसमये अभिषेककाले लोकानन्दामृतजलनिधेः लोकानां भव्यानाम् आनन्दक्षीरसमुद्ररूपस्य तव। एतद्वारि क्षीरसमुद्रजलम्। सुधात्वम् अमृतावस्थां धत्ते तत्र कः चित्रीयते आश्चर्ययुक्तो भवति। न कोऽपि ॥५३५॥ तीर्थोदकैरिति—मणिसुवर्णघटोपनीतैः रत्नहेमकलशैः आनीतैः। तीर्थोदकैः तीर्थजलैः। पवित्रवपुषि पूतशरीरे। जलैः प्रक्षालिते इति भावः। पुनः कथंभूते प्रविकल्पितार्घे प्रविकल्पितः दत्तः अर्घो यस्मै तस्मिन् पीठस्यापि अर्घो देयः इति भावः। पुनः कथंभूते पीठे लक्ष्मीति—लक्ष्म्याः श्रुतस्य च आगमनं येन भवेत् तथाभूतश्रीकारह्रीकारबीजाक्षरयुते विदर्भगर्भे अग्रसहिता दर्भा विदर्भास्ते गर्भे यस्य तथाभूते पीठे। भुवनाधिपतिं त्रिलोकेशं जिनेन्द्रं संस्थापयामि ॥५३६॥ [इति स्थापना]
स्थापनाया मन्त्राः—ॐ ह्रीं अर्हं क्ष्मं ठठ श्रीपीठं स्थापयामि स्वाहा। ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः नमोऽर्हते भगवते श्रीमते पवित्रजलेन श्रीपीठप्रक्षालनं करोमि स्वाहा। ॐ ह्रीं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राय स्वाहा। इति श्रीपीठमभ्यर्चयेत्। ॐ ह्रीं श्रीलेखनं करोमि स्वाहा। ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं श्रीवर्णे प्रतिमास्थापनं करोमि स्वाहा। ४. संनिधापनम् सोऽयमिति—येयम् अर्चा जिनप्रतिमा सोऽयं जिनः समवसरणस्थः। ननु एतत् पीठं सुरगिरिः मेरुः। एतानि सलिलानि कुम्भभृतानि साक्षात् दुग्धजलधेः क्षीरसमुद्रस्य नीराणि। हे जिन, तव सवप्रतिकर्मयोगात् तवाभिषेककार्यसंबन्धात् अहम् इन्द्रः सौधर्मेन्द्रः। ततः इयं महोत्सवश्रीः कथं न पूर्णा अभिषेकमहोत्सवस्य लक्ष्मीः शोभा कथं न पूर्णा भवेत् ॥५३७॥ [इति संनिधापनम्]
[संनिधापनमन्त्रः—श्रीमण्डपादिषु शक्रमण्डपादिभावस्थापनार्थं जात्यकुङ्कुमालुलितदर्भदूर्वापुष्पाक्षतं क्षिपेत्]
अथातः ५. पूजाविधानम्। यागेऽस्मिन् अस्मिन् जिनयज्ञे, यूयं सर्वे आगत्य विघ्नशान्तिं कुरुध्वम्। इत्यनेन पद्येन लोकपालाह्वानम्। नाकनाथ नाकः स्वर्गः तस्य नाथः पतिः स्वर्गेन्द्र इति भावः। नाकनाथ इति संबोधनैकवचनम्। अग्रेऽपि तदेकवचनान्येव। यथा ज्वलन अग्ने। पितृपते यम। नैगमेय हे नैरृत। प्रचेतः वरुण। वायो। रैद धनपते, कुबेर। ईश शंकर। शेष हे नागनायक, उडुप उडूनि नक्षत्राणि पातीति उडुपः चन्द्रः तत्संबोधनं हे उडुप चन्द्र। तथा ग्रहाग्राः सोम-मङ्गल-बुध-गुरु-शुक्र-शनैश्चर-रवि-राहु-केतवः ग्रहाः अग्रे येषां ते सर्वे उपर्युक्ता लोकपालाः। यूयमेत्य आगम्य। भूः स्वः स्वधाद्यैः मन्त्रैः सह अधिगतबलयः प्राप्तोपहाराः सन्तः। स्वासु पूर्वादिषु दिक्षु उपविष्टाः भवत। क्षेमदक्षाः रक्षणचतुराः भवन्तः क्षेपीयः शीघ्रं जिनसवोत्साहिनां जिनयज्ञे उत्साहशालिनाम् उपासकानां विघ्नशान्तिम् अन्तरायोपशमं कुरुत ॥५३८॥
दिक्पालमन्त्रः—ॐ ह्रीं क्रों प्रशस्तवर्णसर्वलक्षणसंपूर्णस्वायुधवाहनचिह्नसपरिवारा इन्द्राऽग्नि-यम-नैरृत-वरुण-वायु-कुबेरेशान-धरणेन्द्र-सोमनामानः दशलोकपाला आगच्छत आगच्छत संवौषट्। स्वस्थाने तिष्ठत तिष्ठत ठः ठः। ममात्र संनिहिता भवत भवत वषट्। इदमर्घ्यं पाद्यं गृह्णीध्वं ॐ भूर्भुवः स्वः स्वाहा स्वधा। इति इन्द्रादिदशलोकपालपरिवारदेवतार्चनम्।] [इति लोकपालाह्वानम्]

[पृष्ठ २३६] नीराजनावतरणम् देवेऽस्मिन्निति—अस्मिन्देवे जिनेश्वरे विहितार्चने कृतपूजने स्तुतिपाठमङ्गलशब्दैः प्रारब्धगानस्वने आतोद्यैः वाद्यैः सह निनदति ध्वनिं कुर्वति। प्राङ्गणे जिनमन्दिरस्याजिरे

रङ्गवल्यादिभिः भव्यानां मनांसि आनन्दयति सति। जिनपतेः अर्हं नीराजनावतरणक्रियां प्रस्तुवे प्रारभे। कैः मृत्स्नादिभिः मृत्सा प्रशस्ता मृत्तिका तया गोमयस्य पिण्डैः भूम्यपतितैः प्रशस्तैः गोमयलड्डुकैः भूतिपिण्डैः गोमयोद्भूतैः अग्निप्लुष्टैः भस्मभिः हरिता दूर्वा दर्भाः कुशाः प्रसूनानि पुष्पाणि अक्षता अखण्डतण्डुलाः एभिः तथा सचन्दनैः अम्भोभिः चन्दनगन्धसहितैः जिनपतेः अर्हतः नीराजनां प्रस्तुवे अवतरणं कुर्वे नीरस्य शान्त्युदकस्य अजनं क्षेपणम् अत्रेति नीराजना ताम्। नीराजनामन्त्रः—ॐ ह्रीं क्रों समस्तनीराजनद्रव्यैः नीराजनं करोमि। दुरितमस्माकमपहरतु भगवान् स्वाहा। इति मृत्स्नागोमयादिपवित्रद्रव्यैः नीराजनम्। इति नीराजनावतरणम् ॥५३९॥ जलाभिषेकः पुण्यद्रुम इति—अयं चिरं पुण्यद्रुमः पुण्यवृक्षः नवपल्लवाश्रिया प्रतिभाति चेतःसरः मनःसरोवरं प्रमद एव मन्दम् अचञ्चलं सरोजं कमलं गर्भे यस्य तत्। मम वागापगा मम वचनसरित् दुस्तरतीरमार्गा दुःखेन तरीतुं योग्यः तीरस्य मार्गो यस्याः सा। जिनपतेः त्रिजगत्प्रमोदैः त्रिलोकहर्षकारकैः स्नानामृतैः भातीति संबन्धः। अयं मम पुण्यद्रुमः, मम चेतःसरः, मम वागापगा च जिनपतेः स्नानामृतैः भातीति। इति जलाभिषेकः ॥५४०॥ जलाभिषेकमन्त्रः—ॐ ह्रीं स्वस्तये कलशोद्धरणं करोमि स्वाहा। ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं वं मं हं सं तं पं वं वं मं मं हं हं सं सं तं तं पं पं झं झं झ्वीं क्ष्वीं क्ष्वीं क्ष्वीं हं सः। त्रैलोक्यस्वामिनो जलाभिषेकं करोमि नमोऽर्हते स्वाहा। रसाभिषेकः द्राक्षेति—द्राक्षा गोस्तनीफलानि खर्जूराणि स्वादुमस्तकपित्तजित्फलानि, चोचानि नालिकेरफलानि, इक्षुः रसालः प्रसिद्धः प्राचीनामलकानि जीर्णधात्रीफलानि तेभ्य उद्भवो येषां तैः राजादनानि क्षीरभृत्फलानि आम्राणि चूतफलानि पूगानि क्रमुकफलानि एभ्य उत्थैर्जातैः रसैः जिनं स्नापयामि जिनाभिषेकं करोमि ॥५४१॥ ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं वं मं हं सं तं पं वं वं मं मं हं हं सं सं तं तं पं पं झं झं झ्वी झ्वीं क्ष्वीं क्ष्वीं हं सः त्रैलोक्यस्वामिनो रसाभिषेकं करोमि नमोऽर्हते स्वाहा। इति रसाभिषेकः। घृताभिषेकः आयुरिति—जिनेश्वरस्य हैयंगवीनसवनेन ह्यस्तनदिनगोदोहसंजातैः घृतैः सवनेन अभिषेकेण प्रजासु परमं दीर्घम् आयुः भवतात् भवतु। धर्मविबोधसुरभिः धर्मज्ञानेन सुरभिः सुगन्धयुक्ता प्रजा भवतात्। विनेयजनता तत्त्वार्थोपदेशश्रवणग्रहणाभ्यां विनीयन्ते पात्रीक्रियन्ते इति विनेयाः विनेयाश्च ते जनाश्च विनेयजनाः तेषां समूहः विनेयजनता। कामं नितरां पुष्टिं वितनोतु धारयतु ॥५४२॥ घृताभिषेकमन्त्रः—ॐ ह्रीं श्रीं····त्रैलोक्यस्वामिनो घृताभिषेकं करोमि नमोऽर्हते स्वाहा। दुग्धाभिषेकः येषामिति—ते नराः भव्यजनाः धारोष्णपयःप्रवाहधवलं धाराभिः स्तननिर्गताभिः उष्णं च तत् पयः दुग्धं तस्य प्रवाहवत् धवलं शुक्लम्। जैनं वपुः जिनस्य वपुः शरीरम्। ध्यायन्तु स्मरन्तु चिन्तयन्तु। येषां नृणां नराणां काम एव भुजङ्गः सर्पः तस्य निर्विषविधौ निर्विषीकरणे। बुद्धिप्रबन्धः बुद्धेः प्रबन्धः सातत्यम्। येषां जन्मजरामृतीनां व्युपरमाय विनाशनाय ध्यानस्य प्रपञ्चः विस्तारस्तस्याग्रहः विद्यते ते ते नराः जैनं वपुश्चिन्तयन्तु येषाम् आत्मविशुद्धेति—आत्मनः जीवस्य विशुद्धबोधः निर्मलं ज्ञानं तस्य विभवः संपत् तस्य आलोके दर्शने सतृष्णम् उत्सुकं मनो विद्यते ते जैनं वपुः उक्तस्वरूपं चिन्तयन्तु ॥५४३॥ दुग्धाभिषेकमन्त्रः—ॐ ह्रीं श्रीं···· त्रैलोक्यस्वामिनो दुग्धाभिषेकं करोमि नमोऽर्हते स्वाहा।

[पृष्ठ २३७-२३९] दध्यभिषेकः जन्मस्नेहच्छिदिति—स्नेहहेतुः निसर्गात् प्रकृत्यैव दधि स्नेहस्योत्पादने कारणं सत्, जैनस्नानानुभवनविधौ जिनप्रभोः स्नानस्य अनुभवः माहात्म्यं तस्य विधौ तत् दधि जन्मस्नेहच्छिदपि जगतः त्रैलोक्यस्य जन्मनः स्नेहं रागभावं छिनत्तीति ज्ञेयम्। स्तब्धेति—स्तब्धतया सान्द्रतया लब्धात्मवृत्ति प्राप्तजन्म दधि पुण्योपाये पुण्यप्राप्त्युपाये मृदुगुणमपि कोमलस्वभावमपि प्राप्तजाड्यस्वभावं लब्धमान्द्यप्रकृतिकं चेतो जाड्यं हरदपि मनसा अज्ञानतां निवारयदपि तद्दधि वः मङ्गलं पुण्यं तनोतु विस्तारयतु ॥५४४॥ दधिमन्त्रः—ॐ ह्रीं श्रीं····त्रैलोक्यस्वामिनो····दधिस्नपनं करोमि नमोऽर्हते स्वाहा।] सर्वौषध्यभिषेकः-एलेति—त्रिपुटा ('वेलदोडा' इति भाषायाम्) लवङ्गं देवकुसुमम् इत्यपरनाम। कङ्कोलं सुगन्धिद्रव्यविशेषः कोशफलमित्यपरनाम। मलयं चन्दनम्। अगुरुः कालागुरुः। एभिः मिश्रितैः पिष्टैश्चूर्णैः कल्कैः सुगन्धिकर्दमैः कषायैश्च वटपिप्पलोदुम्बरादीनां त्वचां कषायैः क्वाथजलैः। जिनदेहं जिनशरीरम्। उपास्महे पूजयामः ॥५४५॥ अस्य मन्त्रः—ॐ ह्रीं श्रीं····त्रैलोक्यस्वामिनः कल्कचूर्णोद्वर्तनं करोमि

नमोऽर्हते स्वाहा। नीराजना नन्द्यावर्तेति—नन्द्यावर्त इति आकारविशेषः सुवर्णादिपात्रे चन्दनगन्धेन वृत्ताकाररूपरेखाविशेषः स्वस्तिकं तु प्रसिद्धाकृतिकम्। फलानि आम्रादीनि। प्रसूनानि पुष्पाणि। अक्षतास्तण्डुलाः। अम्बु जलम्। कुशपूलानि दर्भजूटानि। एभिः वर्धमानैश्च शरावैः। देवं जिनेश्वरम् अवतारयामि ॥५४६॥ [नीराजनमन्त्रः—ॐ ह्रीं क्रों समस्तनीराजनाद्रव्यैः नीराजनं करोमि दुरितमस्माकम् अपहरतु अपहरतु भगवान् स्वाहा।] ॐ भक्तिभरेति—अस्य गद्यस्य 'मद्भाविलक्ष्मी'ति श्लोकेन संबन्धः। जिनं चतुर्भिः कुम्भैः स्नपयामीति चतुःकोणकलशाभिषेकः अनेन गद्येन श्लोकेन च प्रतिपादितः। अधुना गद्यं विव्रियते—ॐ भक्तिभरेति—भक्तिभरेण विनता नम्राः ये उरगाणां नागानाम् नराणां सुराणाम् असुराणाम् ईश्वरा अधिपतयः शेषभूपतिदेवेन्द्राः सुरेन्द्राः तेषां शिरांसि तेषां किरीटानि तेषां कोटयः तेषु कल्पवृक्षकिसलयायमानं पादयोर्युगलं यस्य। पुनः कथंभूतं जिनम् अमृताशनेति—अमृताशनाः देवाः तेषां अङ्गनाः देव्यः। तासां करैः विकीर्यमाणानि क्षिप्यमाणानि यानि मन्दारादिकल्पवृक्षाणां प्रसूनानि। तेभ्यः स्पन्दमानस्य गलतः मकरन्दस्य पुष्परसस्य स्वादात्पानात् उन्मदा मत्ताः मिलन्तः ये मत्तालयः समदभ्रमराः तेषां कुलस्य प्रलापः झंकारः तेन उत्तालिता उत्साहिता ये निलिम्पा देवाः तेषां लप्तिः जिनगुणगणालापः तत्र व्यापारी गलो यत्र तथाभूतं जिनम्। पुनरपि कथं भूतम्। अम्बरचरेति—अम्बरे नभसि चरन्ति इति अम्बरचरा विद्याधरास्तेषां कुमाराः सूनवः तैः हेलया लीलया आस्फालितानि ताडितानि वेणुवल्लक्यादिभेरीभम्भाप्रभृतीनि यानि अनवधिघनसुषिरततावनद्धानि वाद्यानि तेषां नादेन निवेदितः निरूपितः निखिलविष्टपाधिपानां सकलजगन्नायकानाम् उपासनावसरः पूजनसमयो यस्य तम्। पुनः कथंभूतम्। अनेकामरेति—अनेके च ते अमरविकिराः देवपक्षिणः तेषां त्रोटयश्चञ्चवः ताभिः कीर्णा इतस्ततो विक्षिप्तानि किशलयानि यस्य स अशोकश्चासौ अनोकहः वृक्षः तस्य उल्लसन्तः विकसन्तश्च ये प्रसवाः पुष्पाणि तेषां परागो रजः तेन पुनरुक्तः सकलदिक्पालहृदयरागस्य प्रसरो यस्मिन्विषये तम्। पुनः कथंभूतम्। अखिलेति—अखिलं च तद्भुवनैश्वर्यं सकलजगद्विभवः तस्य लाञ्छनं चिह्नं यत् आतपत्रत्रयं छत्रत्रयं तस्य शिखण्डे अग्रे मण्डनमणयः भूषणरत्नानि तेषां मयूखाः किरणाः तेषां रेखाभिः लिख्यमानं स्पृश्यमानं यन्मुखं तेन मुखराः भाषमाणाः याः खेचर्यः नभोगनार्यः तासां भालतलस्य ललाटपट्टतलस्य तिलकपत्रकं यत्र तथाभूतं जिनम्। पुनः कथंभूतम्। अनवरतेति—अनवरतं सततं यक्षैः विक्षिप्यमाणा वीज्यमाना उभयपक्षयोः पार्श्वद्वययोः चामरपरम्परा चामराणां पङ्क्तिः तस्याः अंशुजालानि करसमूहाः तैः धवलितानि विनेयजनानां तत्त्वार्थश्रद्धानश्रवणग्रहणवतां भव्यजनानां मनःप्रासादचरित्राणि यत्र तथाभूतम्। पुनः कथंभूतं जिनम्। अशेषेति—सकलप्रकटितवस्त्वतिशायिदेहकान्तिमण्डलपरिहृतसभागृहस्थितसम्यमतितमःसमूहम्। पुनः कथं भूतम् जिनम्। अनवधीति—अवधिर्मर्यादा सा येषां नास्ति तेषां वस्तूनां निःसीमपदार्थानाम् आत्मसात्कारं कुर्वाणा निजाधीनतां जनयन्ती सारा उत्तमा विस्फारिता वृद्धिं प्राप्ता या सरस्वती तन्नामधारिणी सरिदिव शारदादेवी तस्याः तरङ्गा वीचयः तेषां सङ्गः संबन्धः तेन संतर्पिताः संतोषं नीताः समस्तसत्त्वाः सकलप्राणिनः एव सरोजानि कमलानि तेषाम् आकरः समूहो यत्र तम्। पुनः कथंभूतं जिनम्। इभारातीति—इभा हस्तिनः तेषाम् अरातयो रिपवः सिंहाः तेषु परिवृढाः श्रेष्ठाः ये सिंहयूथस्वामिनः तैः उपवाह्यमानं धार्यमाणं यत् आसनं पीठं तस्य अवसाने लग्नानि खचितानि यानि रत्नानि मणयः तेषां कराः रश्मयः तेषां प्रसरेण पल्लवितं किसलयितं यद्वियदेव आकाशमेव पादपस्तरुः तस्य आभागो विस्तारो यत्र। पुनः कथंभूतं जिनम्। अनन्येति—अनन्यसामान्यम् अन्येन प्रासादादिना सामान्यं सदृशम् अन्यसामान्यं न अन्यसामान्यम् अनन्यसामान्यम् अनुपमं च तत्समवसरणं च सैव सभा रत्नमयी देवनिर्मिता सभा तस्याम् आसीना उपविष्टा ये मनुजा नराः दिविजाः अमराः भुजङ्गा नागासुराः तेषाम् इन्द्राः स्वामिनः तेषां वृन्दं तेन वन्द्यमानं पादारविन्दयोः चरणकमलयोर्युग्मं यस्य तं जिनम्। मद्भावीति—मम भाविलक्ष्मीः भविष्यति काले प्राप्स्यमाना या लक्ष्मीः संपद् सैव लतिका तस्या यद्वनम् आरामस्तस्य। प्रवर्धनेति—प्रवर्धनाय वृद्धयै आवर्जिता नम्रीभूता वारिपूरा जलप्रवाहा येषां तैः चतुर्भिः कुम्भैः जिनं भगवन्तं वीतरागं स्नपयामि अभिषेचयामि। कथंभूतैः कुम्भैः

नभःसदोधेनुपयोधराभैः नभसि सीदन्ति इति नभःसदसः देवाः तेषां धेनुः कामधेनुरित्यर्थः तस्याः पयोधराभैः पयसां धराः पयोधराः स्तनाः तेषामिव आभा शोभा येषां ते पयोधराभाः तैः ॥५४७॥ इति चतुःकोणकलशाभिषेकः। मन्त्रः—ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा नमोऽर्हते भगवते मङ्गललोकोत्तमशरणाय कोणकलशाभिषेकं करोमि नमोऽर्हते स्वाहा। गन्धोदकाभिषेकः लक्ष्मीकल्पलते इति—त्रैलोक्यप्रमदावहैः लोकत्रयं प्रति प्रमदं आह्लादम् आवहन्ति आनयन्ति इति त्रैलोक्यप्रमदावहाः तैः लोकत्रयाह्लादकैः गन्धोदकैः। जिनपतेः स्नापनात् अभिषेचनात् लक्ष्मीकल्पलते त्वं जनानन्दैः लोकाह्लादरूपैः परम् उत्तमं यथा स्यात्तथा पल्लवैः किसलयैः समुल्लस भूषिता भव। तथा हे धर्माराम, श्रीजिनोक्तः उत्तमक्षमादिरूपः धर्म एव आरामः कृत्रिमम् उपवनं तस्य संबोधनैकवचनं हे धर्माराम, फलैः प्रकामसुभगस्त्वं भव्यसेव्यो भव प्रकामं नितरां सुभगः सुन्दरः त्वं भव्यसेव्यो भव्यजनैराराध्यः भव। हे बोधाधीश हे ज्ञानपते, आत्मन् त्वं संप्रति अधुना मुहुः पुनः दुष्कर्माणि मोहादीनि ततो जातः धर्मक्लमः संतापक्लान्तिः तं विमुञ्च परित्यज। यतः लोकत्रयानन्ददायको जिनपतेः गन्धोदकैरभिषेको जातः ॥५४८॥ [गन्धोदकाभिषेकमन्त्रः—ॐ नमोऽर्हते भगवते प्रक्षीणाशेषदोषकल्मषाय दिव्यतेजोमूर्तये नमः श्रीशान्तिनाथाय शान्तिकराय सर्वविघ्नप्रणाशनाय सर्वरोगापमृत्युविनाशनाय सर्वपरकृतक्षुद्रोपद्रवविनाशनाय सर्वक्षामडामरविनाशनाय, ॐ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः अ सि आ उ सा नमः मम सर्वशान्तिं कुरु मम सर्वपुष्टिं कुरु स्वाहा स्वधा।] आत्मपवित्रीकरणम्। शुद्धैरिति—विशुद्धबोधस्य निर्मलकेवलज्ञानिनः जिनेशस्य शुद्धैः निर्मलैः उत्तरोदकैः तडागाद्यानीतैः गन्धोदकाभिषेकानन्तरं केवलजलैः उत्तरोत्तरसंपदे उत्तम-उत्तमतर-उत्तमतमसंपत्त्याप्तये अवभृथस्नानम् अभिषेकावसानस्नानं करोमि ॥५४९॥ [तन्मन्त्रः—ॐ नमोऽर्हत्परमेष्ठिभ्यः मम सर्वशान्तिर्भवतु स्वाहा। स्वमस्तके गन्धोदकप्रक्षेपणम्।] अधुना जिनपूजने जिनस्याह्वानविधानं क्रियते तद्यथा—अमृतेति—अस्य पद्यस्याभिप्रायो यथार्थतया न ज्ञायते परम् अस्मिन् पद्ये अर्हत्परमेष्ठिनं कमले संस्थाप्य विधिनाहं तं पूजये इत्युपासकः कथयति। अहं त्रिभुवनवरदं त्रैलोक्यस्थितभव्येभ्योऽभीष्टफलदं जिनं विधिना आगमोक्तपूजाप्रकारेण पूजयेयं यजेय। कथं पूजयेयं कमले संस्थाप्य। कथंभूते कमले कलादले कला एव दलं यस्य तस्मिन्। पुनः कथंभूते निजाङ्कबीजे निजस्य चन्द्रस्य अङ्कः लक्ष्म तदेव बीजं यस्य तस्मिन्। पुनः कथंभूते अमृतकृतकर्णिके अमृतेन प्रकारेण कृता कर्णिका कमलकोषो यस्य तस्मिन्। अमृतेन प्रकारेण कर्णिका क्रियते तन्मध्ये स्वकीयं नाम निक्षिप्यते, कलादले षोडशदलेषु अकारादयः स्वरा लिख्यन्ते ॥५५०॥ [मन्त्रः—ॐ ह्रीं स्यात्पृभिरभीप्सितफलदेभ्यः स्वाहा। इति पुष्पाञ्जलिः।] जलपूजनम् पुण्योपार्जनशरणमिति—अहं पुरुदेवं तोयेन पूजयामि इति संबन्धः। कथंभूतं पुरुदेवम्। पुण्योपार्जनशरणं पुण्यप्राप्तेः शरणं गृहम्। पुराणपुरुषं पुराणश्चिरंतनः पुरुषः आत्मा यस्य तम्। स्तवेति—स्तवस्य गुणस्तुतेः उचितम् आचरणं महाव्रतादिकं यस्य तम्। पुनः कथंभूतम्। पुरुहूतविहितसेवम्—पुरुहूतेन इन्द्रेण विहिता कृता सेवा यस्य तं पुरुदेवं पुरुर्महान्, इन्द्रादीनामाराध्यः देवः पुरुदेवस्तम् जिनराजं पूजयामि तोयेन जलेन ॥५५१॥ [मन्त्रः—ॐ ह्रीं अर्हन् नमः परमेष्ठिभ्यः स्वाहा। जलम्। चन्दनपूजनम्। मन्देति—मन्दः प्रचुरः मदो गर्वः, मदनः कामः एतौ दमयति इति दमनस्तम्। पुनः कथंभूतं जिनम्। मन्दरेति—मन्दरः सुमेरुः स चासौ गिरिश्च तस्य शिखरे शृङ्गे मज्जनावसरे स्नानसमये, पुनः कथंभूतं जिनम्। उमेति—उमा लक्ष्मीः अभ्युदयनिःश्रेयसरूपा सा कीर्तिश्च एव लतिका वल्ली तस्याः कन्दम् उत्पत्त्याधारम्, जिनं चन्दनचर्चाचितं कुर्वे ॥५५२॥ [मन्त्रः—ॐ ह्रीं अर्हन् नमः परात्मकेभ्यः स्वाहा गन्धम्।] तण्डुलपूजा। अवमेति—अवमानि निन्द्यकार्याणि दोषा वा तान्येव तरवः वृक्षास्तेषां गहनं वनं तस्य दहनम् अग्निम् जिनम्। पुनः कथंभूतम्। निकामेति—निकामम् अत्यर्थं सुखं तस्य संभवे उत्पत्तौ अमृतस्थानम् मोक्षस्थानमिव, पुनः कथंभूतम्। आगमदीपालोकम् आगम एव दीपः तस्य आलोकमिव प्रकाशमिव जिनं कलमभवैः शाल्युत्पन्नैः तण्डुलैः यजामि ॥५५३॥ [मन्त्रः—ॐ ह्रीं अर्हन् नमोऽनादिनिधनेभ्यः स्वाहा। अक्षतान्] पुष्पपूजा। स्मरेति—कुसुमशरैः जिननाथम् अर्चयामि। कथंभूतं जिनम्। स्मररसेन शृङ्गाररसेन विमुक्ता रहिता सूक्तिः वचनम् उपदेशः यस्य सः तम्। विज्ञानेति—विज्ञानं केवलज्ञानम् एव समुद्रः तेन मुद्रितं व्याप्तम् अशेषं वस्तु

बन्धम् येन तं जिनम् । श्रीति—श्रीरेव मानसं तन्नामकं सरोवरम् तत्र कलहंसं मधुरशब्दं कुर्वाणः हंस इव जिनं कुसुमसरैः पुष्पहारैः अर्चयामि ॥५५४॥ [मन्त्रः—ॐ ह्रीं अर्हन् सर्वनृसुरासुरपूजितेभ्यः स्वाहा पुष्पाणि ।]

[पृष्ठ २४०] नैवेद्यपूजा अर्हन्तमिति—हविषा नैवेद्येन अर्हन्तम् आराधयामि । कथंभूतम् अर्हन्तम् । अमितनीतिम् अमिता अनन्ताः नीतयः नयाः यस्य तम् अनन्तनयस्वरूपप्रतिपादकम् । निरञ्जनम् अञ्जनम् ज्ञानावरणादि कर्म तस्मात् निष्क्रान्तो निरञ्जनः तम् । पुनः कथंभूतम् । आधिदावाग्नेः 'आधिर्ना मानसी व्यथा' इत्यमरः । आधय एव दावाग्निर्वनाग्निस्तस्य मिहिरं प्रशमनकरणे मेघम् । पुनः कथंभूतम् । मुक्तिस्त्रीरमितमान-समनङ्गम् मुक्तिस्त्रिया रमितं स्वस्मिन् अनुरक्तं कृतं मानसं यस्य तम् ॥५५५॥ मन्त्रः—ॐ ह्रीं अर्हन् नमोऽनन्तज्ञानेभ्यः स्वाहा नैवेद्यम् । दीपपूजा भक्त्येति—जिनं दीपैः उपचरामि । कथंभूतम् । भक्त्या गुणानुरागपरिणामेन । आनता ईषत् नम्रीभूता ये अमरा देवास्तेषाम् आशयाः मनांसि तान्येव कमलवनानि तेषां यत् अरालं तिमिरम् उत्कटम् अज्ञानम् अविकासित्वं वा तद्विनाशे मार्तण्डं रविसदृशम् । पुनः कथंभूतम् । सकलसुखानाम् अनन्तसौख्यानाम् आरामः उपवनभूतः स चासौ कामदः ईप्सितानां दायकः । अकामं न काम इच्छा यस्य तम् ॥५५६॥ मन्त्रः—[ॐ ह्रीं नमोऽनन्तदर्शनेभ्यः स्वाहा दीपम् ।] धूपपूजा अनुपमेति—धूपैर्जिनं यजामहे । कथंभूतम् । अनुपमेति—अनुपमम् अप्रतिमं केवलज्ञानं वपुश्च शरीरं यस्य तम् । सकलेति—सकलाश्च ताः कलाः मतिज्ञानादयो अंशाः तेषां विलयः नाशः । क्षायोपशमिकज्ञानभेदाः केवलज्ञाने समुत्पन्ने सति नावतिष्ठन्ते । संक्षीणसकलज्ञानावरणे भगवति अर्हति कथं क्षायोपशमिकानां ज्ञानानां संभवः । न हि परिप्राप्तसर्वशुद्धौ पदे प्रदेशाशुद्धिरस्ति । अतः सकलकलाविलयरूपं केवलज्ञानं तस्मिन्वर्तते यदात्मरूपं य आत्मस्वभावस्तत्र तिष्ठतीति सकलकलाविलयवर्तिरूपस्थम् । पुनः कथंभूतम् । योगावगम्यनिलयम् । योगेन आत्मध्यानेन अवगम्यो निलयः निवासः मोक्षो यस्य तम् । पुनः कथंभूतम् । निखिलगं सकलवस्तुषु ज्ञानेन गच्छति इति निखिलगः तम् । विश्वतत्त्वानां ज्ञातारम् इति भावः ॥५५७॥ मन्त्रः—[ॐ ह्रीं अर्हम् नमोऽनन्तवीर्येभ्यः स्वाहा, धूपम् ।] फलपूजा स्वर्गापवर्गेति—फलैर्जिनपतिमुपासे । कथंभूतम् जिनम् । स्वर्गेति—स्वर्गः सुरलोकः अपवर्गो मोक्षः तयोः संगतिं प्राप्तिं विधायिनं कुर्वन्तम् । पुनः कथंभूतम् । व्यस्तेति—व्यस्ता विनाशिता जातिर्जन्म मृतिर्मरणम्, दोषाश्च क्षुत्पिपासादयो येन तम् । पुनः कथंभूतम् । व्योमेति—व्योमचराः विद्याधराः अमराः चतुर्णिकायदेवाः तेषां पतयः विद्याधरचक्रवर्तिनो देवेन्द्राश्च तैः स्मृतं चिन्तितं जिनं फलैः उपासे पूजये ॥५५८॥ [मन्त्रः—ॐ ह्रीं अर्हन् नमोऽनन्तसौख्येभ्यः फलानि ।] अर्घम् अम्भश्चन्दनेति—अम्भः जलम् । चन्दनं तन्दुलोद्गमहविर्दीपैः उद्गमाः पुष्पाणि हविर्नैवेद्यम् एभिर्द्रव्यैः । तथा सधूपैः फलैः धूपेन सहितैः फलैः अष्टद्रव्यैः । अर्चित्वा पूजयित्वा । कं जिनपतिम् । कदा स्नानोत्सवानन्तरम् कथंभूतं जिनम् त्रिजगद्गुरुम् त्रैलोक्यनाथम् । जिनं पूजयित्वा स्तौमि स्तुवे । प्रजपामि तं प्रभुम्, चेतसि दधे । तदनन्तरं श्रुताराधनं श्रुतस्य जिनवाण्याः आराधनं पूजनम् कुर्वे । त्रैलोक्यप्रभवं तन्महं तत्पूजनम्, कालत्रये श्रद्दधे ॥५५९॥ [मन्त्रः—ॐ ह्रीं अर्हन्नमः परममङ्गलेभ्यः स्वाहा अर्घ्यम् ।] अष्टमङ्गलैः पूजनम् यज्ञैरिति—अष्टविधपूजनैः मुदा आनन्देन देवं निरुपास्य पूजयित्वा । पुनः पुष्पाञ्जलिसमूहेन पूरितपादासनं जिनानाम् इनं स्वामिनम् श्वेतातपत्रचमरीरुहदर्पणाद्यैः छत्रत्रयचामरादर्शाद्यैः आराधयामि ॥५६०॥ पुष्पाञ्जलिः । [मन्त्रः—ॐ ह्रीं अर्हन्नमो ध्यातृभिरभीप्सितफलदेभ्यः स्वाहा । पुष्पाञ्जलिः । इति पूजा ।]

[पृष्ठ २४१] ६. पूजाफलम् । भक्तिरिति—जिनचरणयोः जिनपदयोः नित्यं भक्तिः सदा भक्तिरुपासना । सर्वसत्त्वेषु चतसृषु नरकादिगतिषु सीदन्तीति दुःखमनुभवन्तीति सत्त्वाः प्राणिनः । सर्वे च ते सत्त्वाश्च सर्वसत्त्वाः सकलजीवाः । तेषु मैत्री तेषु दुःखानुत्पत्तौ अभिलाषः । सर्वत्र भूयादित्यनेन संबन्धः । सर्वातिथ्ये सर्वेषाम् आतिथ्ये गृहागते सकलाभ्यागतजने मम विभवधीः मम धनविनियोगो भवेदिति धीरभि-प्रायो भूयात् । अध्यात्मतत्त्वे अध्यात्मशास्त्रनिगदितात्मस्वरूपे । मम बुद्धिर्भूयात् वर्तताम् । सद्विद्येषु सती प्रशस्ता लोके धर्मोपदेशिनी विद्या येषां ते सद्विद्यास्तेषु प्रणयपरता प्रीतितत्परता । परार्थे परोपकारे चित्तवृत्तिः मनोऽभिप्रायः । हे भगवन्, यावत्कालं त्वदीयं तव संबन्धि, धाम तेजः भवति तावत्कालं मम एतत् पद्यकथितं

गुणवृन्दं भवतु ॥५६१॥ प्रातर्विधिरिति—हे देव, मम प्रातर्विधिः प्रभातकालीनं कार्यम् । तव पादाम्बुज-पूजनेन चरणकमलयोः पूजया यायात् व्यतीतो भवतु । अयं मध्याह्नसंनिधिः इयं मध्यदिनवेला मुनिमाननेन मुनेः यतेः माननेन पूजया आहारदानेन । मम सायन्तनोऽपि समयः कालः देव, त्वदाचरणकीर्तनकामितेन तव आचरणं व्रततपोध्यानादिरूपं चारित्रं तस्य कीर्तनं प्रशंसा तस्य कामितेन इच्छया । जिनेन्द्रसमं मम व्रततपोध्यानादिकं कदा स्यादिति आशंसनेन यायात् गच्छेत् ॥५६२॥ धर्मेष्विति—धर्मेषु उत्तमक्षमादि-दशधर्माचरणेषु । धर्मनिरतात्मसु धर्मे रत्नत्रये निरतः आत्मा येषां ते धर्मनिरतात्मानः श्रावकाः श्राविकाः मुनयः आर्यिकाश्चेति चत्वारः संघास्तेषु । धर्महेतौ धर्माचरणसाधने जिनचैत्यालयादौ । नृपः अनुकूलः अस्तु । कथंभूतः सः ? धर्मादवाप्तमहिमा धर्माचरणाल्लब्धप्रभावः । तथा जिनेन्द्रेति—जिनपतिपदपूजनपुण्यात् धन्याः सुकृतवत्यः प्रजाश्च चतुर्वर्णवत्यः नित्यं परमां श्रियम् उत्तमां श्रियं लक्ष्मीं आप्नुवन्तु लभन्ताम् । इति पूजाफलम् ॥५६३॥ आलस्यात्—वपुषः आलस्यात् मान्द्यात् । कर्मणि अनुत्साहत्वात् । हृषीकहरणैः हृषीकाणां नेत्रादीन्द्रियाणां हरणैः अन्योपयोगपरत्वात् । आत्मनः स्वस्य व्याक्षेपतो वा अन्यकार्यव्याकुलतया वा । मनसः चापल्यात् । मतेर्बुद्धेर्जडतया वस्तुस्वरूपानाकलनतया । वाक्सौष्ठवे मान्द्येन, वचनस्य सौष्ठवं स्पष्टाक्षरवक्तृत्वं तस्मिन् मान्द्येन लुप्तवर्णपदत्वेन । हे देव, तव संस्तवेषु पूजादिकार्येषु एष प्रमादः अनवधानता समभूत् । स मे मिथ्या विफलः स्तात् भवतु । ननु निश्चये यतः देवताः प्रणयिनां प्रार्थनां कुर्वतां भक्त्या तुष्यन्ति प्रसन्ना भवन्ति ॥५६४॥ देवपूजामिति—यो गृहस्थः देवपूजाम् अर्हदादिपञ्चगुरुपूजनम् अनिर्माय अकृत्वा, मुनीन् उत्तमपात्रभूतान् यतीन् अनुपचर्य तदीयाम् आहारदानसेवां अविधाय च भुञ्जीत भोजनं कुर्वीत स परं तमः अत्युत्कटं दुःखं भुञ्जीत ॥५६५॥

इत्युपासकाध्ययने स्नपनार्चनविधिर्नाम षट्त्रिंशः कल्पः ॥३६॥

३७. स्तवनविधिर्नाम सप्तत्रिंशत्तमः कल्पः ।

[पृष्ठ २४२] नमदिति—स जिनो देवः जीयात् सर्वोत्कर्षेण वर्तिषीष्ट । यस्य अङ्घ्रियुगलं पद-द्वन्द्वम् अरुणायते लोहितायते । कुत्रेति चेदुच्यते-नमदिति—नमन्तः नमस्कुर्वन्तः येऽमराः तेषां मौलिमण्डले मुकुटसमूहे विलग्नानि खचितानि यानि रत्नानि मणयः तेषां अंशवः कराः तेषां निकरः समूहः तेन युक्तेऽस्मिन् गगने नभसि ॥५६६॥ सुरपतियुवतिश्रवसामिति—सुराणां पतयः सुरपतयः सौधर्मेन्द्रादय इन्द्राः तासां युवतयः शच्यादयो देव्यः तासां श्रवसां कर्णानाम् । अमरेति—अमरतरुः कल्पवृक्षः तस्य स्मेराः विकासमाप्ताः याः मञ्जर्यः मञ्जु मनोज्ञतां रान्तीति मञ्जर्यः अभिनवनिर्गताः आयताः सुकुमाराः सुकुमाः मञ्जर्यः तासां संस्पर्शेन रुचिरं मनोज्ञं यस्य चरणयोः पादयोः नखानां किरणजालम् । स जिनो जगति भूतले जयतात् सर्वोत्कर्षम् अवाप्नोतु ॥५६७॥ 'नमदिति' 'सुरपतीति' पद्यद्वयं वर्णच्छन्दोविशेषाख्यम् । दिविजेति—दिवि जायन्ते इति दिविजाः देवाः तेषां कुञ्जरः गजः ऐरावणः तस्य मौलौ मस्तके यानि मन्दाराणि मन्दार-तरुपुष्पाणि तेभ्यो निर्गतस्य मकरन्दस्य स्यन्दः प्रस्रवणं तेन युक्ताः ये करविसराः शुण्डासमूहाः तस्य आसारेण धारासंपातेन धूसरे पदाम्बुजे पदकमले यस्य सः तत्संबोधनैकवचनं पदाम्बुज । वैदग्ध्यपरमपद वैदग्ध्यस्य विदग्धो विद्वान् तस्य भावो वैदग्ध्यं वैदुष्यं तस्य परमपद उत्तमाधार केवलज्ञानाधार । प्राप्तो वादे जयो येन तत्संबोधनं प्राप्तवादजय । विजितमनसिज विजितः पराजितः मनसिजः मनसि जायते इति मनसिजः मन्मथः येन तत्संबोधनम् । मात्राच्छन्दः । चतुष्पदी—यस्त्वामिति—हे जिन, अमितगुणं त्वां मिताः मातुं शक्या गुणा यस्य स मितगुणः न मितगुणोऽमितगुणः अनन्तगुणः त्वम् । त्वाम् अनन्तगुणं कश्चित्सावधिबोधः समर्यादज्ञानः । विपश्चित् बुधः विशेषं पश्यति चेतसि चिन्तयतीति विपश्चित् । यदि स्तौति त्वां नूनं तर्के, असौ विपश्चित् हस्तेन अचिरकालं शीघ्रं काञ्चनशैलं सुवर्णपर्वतं मेरुं तुलयति कियत्परिमाणोऽस्तीति ज्ञातु-

मिच्छति । हे भगवन्, तव गुणानां स्तवं कर्तुं वाञ्छन् जनः तत्पारं न कदापि प्राप्नोतीति ज्ञेयम् ॥५६८॥ **स्तोत्रे इति**—यत्र स्तोत्रे अनवधिबोधाः न अवधिर्बोधे ज्ञाने येषां ते अनवधिबोधाः अमितज्ञानिनः । चिन्तां स्तोत्रं भगवतो विधास्यामः इति संकल्पं मुमुचुः त्यक्तवन्तः । पुनः कथंभूताः । सकलैतिह्येति—ऐतिह्यं नाम आप्तोपदेशः श्रुतज्ञानं वा, स एव अम्बुधिः समुद्रः तस्य विधिः स्वाध्यायः तस्मिन् दक्षाश्चतुराः । महामुनिपक्ष्याः महामुनयो गणधरदेवादयः तत् पक्षम् अवलम्बमानाः तत्सदृशाः । चिन्तां तत्यजुस्तत्र तस्मिन् प्रभुस्तोत्रे मादृग्वेधाः मत्सदृशः विद्वान् कथं चिन्तां न त्यजेत् ॥५६९॥ **तदपीति**—तदपि च तथापि च यद्यपि अहं गणधरादिसदृशमतिर्नास्मि । मयि तथा स्तवनशक्तिर्नास्ति । तथापि हे जिन, त्वयि विषये अहं किमपि वदेयं वच्मि । यत् यतः इयं भक्तिः मां कामम् अतिशयेन स्वस्थं तूष्णीं न कुरुते । त्वयि विषये मद्भक्तिर्हे देव, किमपि स्तवनं कुरु इति मां प्रेरयत्येवेति भावः । अतोऽहं त्वां स्तोतुमुद्यतोऽस्मीति ॥५७०॥ **सुरपतिविरचितेति**—हे जिन, कः तव गुणं प्रवितनुता स्तुतिपथं नयतु न कोऽपि । सुरपतिर्देवेन्द्रः तेन विरचितो विहितः संस्तवः स्तुतिः यस्य तत्संबोधनं हे सुरपतिविरचितसंस्तव **दलितेति**—दलितो विनाशितः अखिलो भवः संसारो येन तत्संबोधनम्, **परमेति**—परमम् अत्युत्तमं धाम वीर्यम् अनन्तशक्तिः तेन लब्धः उदयः प्रातिहार्यादिवैभवं येन । **अघेति**—अघं पापं तस्य हरणे नाशने चरणं चारित्रं यस्य तत्संबोधनम् । हे हतनतभय हतं नतानां भक्तानां भयं येन तत्संबोधनम् हे हतनतभय ! ॥५७१॥

[पृष्ठ २४३-२४४] **जयेति**—जयेति सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व । कथंभूतस्त्वम् । निखिलेति निखिलाः सकलाः निलिम्पाः देवाः तेषाम् आलापः गुणस्तुतिः तत्र कल्पः योग्यः । जगतीति जगत्या विश्वेन विश्वेन, स्तुता चासौ कीर्तिश्च सैव कलत्रं भार्या सा तल्पे शय्यायां यस्य । जय सर्वोत्कर्षेण तथाभूतस्त्वं वर्तस्व । परमेति—परमश्चासौ धर्मश्च तदेव हर्म्यं प्रासादः तत्र अवतारः जन्म यस्य । लोकेति—लोकानां त्रितयं लोकत्रितयं जगत्त्रयं तस्योद्धरणे कुगतेरुद्धरणे सारो रत्नत्रयबलं यस्य सः । अत्र कल्प, तल्प, अवतार, सारेति शब्दानां संबोधनैकवचनानि ज्ञेयानि ॥५७२॥ **जयेति**—लक्ष्मीति लक्ष्म्याः प्रातिहार्यलक्ष्म्याः समवसरणरमायाश्च करौ हस्तौ तावेव कमले ताभ्याम् अर्चितं पूजितम् अङ्गं शरीरं यस्य तत्संबोधनम् । **सारस्वतेति**—सरस्वत्या अयं सारस्वतः स चासौ रसः तेन नटने नर्तने आद्यरङ्गः प्रथमा नर्तनभूमिः तत्संबोधनम् । केवलबोधे जाते सति द्वादशाङ्गश्रुतदेव्या जिनवदनं आद्यरङ्गभूमिर्जातमिति भावः । हे जिन जय सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व । कथंभूतं जिनसंबोधनम् । बोधेति-बोधस्य केवलज्ञानस्य मध्ये सिद्धाः ज्ञाताः अखिलार्थाः सकलजीवादिवस्तुनिवहाः यस्य तत्संबोधनम् । **मुक्तिश्रीति**—मोक्षलक्ष्मीरमण्या रत्या संभोगेन कृतार्थः कृतकृत्यः तत्संबोधनम् हे जिन त्वं जय ॥५७३॥ **नमदिति**—नमन्तश्च ते अमराश्च नमदमराः नम्रीभूताः सुराः तेषां मौलयः किरीटानि तान्येव मन्दरस्य मेरोः तटान्ताः तत्र राजन्तः शोभमानाः पदयोः ये नखा त एव नक्षत्रकान्तः चन्द्रो यस्य तत्संबोधनं हे राजत्पदनखनक्षत्रकान्त । विबुधेति—विबुधानां देवानां स्त्रियः तासां नेत्राण्येव अम्बुजानि कमलानि तानि विबोधयतीति विकासयतीति विबोधः तत्संबोधनम् । मकरेति—मकरः ध्वजे यस्य मकरध्वजः कामः तस्य धनुः कोदण्डं तस्य उद्धवस्य उत्सवस्य निरोधः प्रतिबन्धः तत्संबोधनम् । हे जिन त्वं जय सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व । कामविनाशक जिन त्वं सदा जयेति ॥५७४॥ **बोधत्रयेति**—बोधानां मतिश्रुतावधीनां त्रयं बोधत्रयं तेन विदितं ज्ञातं विधेयतन्त्रं कार्यपद्धतिर्येन तत्संबोधनम् । तव परत्र अन्यस्मिन् पुरुषे का नाम अपेक्षा । अन्यस्मात्पुरुषात् कार्यस्वरूपज्ञानस्य नापेक्षा भवत्यस्तीति भावः । अत्र निदर्शनम्—असुभृज्जनस्य प्राणिसमूहस्य प्रबोधं व्यपगतनिद्रावस्थां दधतः तन्वतः, अरुणस्य सूर्यसूतस्य कोऽपि गुरुः अस्ति किम् । नैव विद्यते स्वयं प्रकाशशील एव सः ॥५७५॥ **निजबीजेति**—महति महापुरुषे निजबीजबलात् निजं बीजं कारणं तस्य बलात् प्रभावात् सामर्थ्यात् मलिनापि धीः दोषवत्यपि मतिः हे अभव हे संसाररहित । परमां शुद्धिं भजति आश्रयते । अत्र निदर्शनम्—युक्तेः अग्न्यादिकारणसामग्र्याः कनकाश्मा सुवर्णपाषाणः हेम सुवर्णं संपद्यते । किं कोऽपि तत्र सुवर्णे विवदेत नाम, नेदं सुवर्णम् इति विप्रतिपत्तिं कुर्यात् किं कोऽपि । यस्मिन्नासन्नभव्यात्मनि मलिनापि धी रत्नत्रयकारणानि संप्राप्य निर्मला भवति विधिज्ञत्वं प्राप्नोति ॥५७६॥ **परिमाणमिवेति**—यथा परिमाणं परमाणोः

वर्धमानम् अतिशयेन वियति आकाशे गुरुतां महत्तमताम् उपैति प्राप्नोति । तथा मतिः अतिशयेन वर्धमाना नरि कस्मिश्चिदात्मनि उच्चैर्गुरुताम् उपैति प्राप्नोति । तत् तस्मात्कारणात् द्विजस्य सर्वज्ञं निषेधतो मीमांसकस्य विश्ववेदिनिन्दा सर्वज्ञनिन्दा हे देव, कस्य चित्ते विश्राम्यति तिष्ठति । स्थानं न लभते इति भावः । दोषावरणयोर्निःशेषनाशात् कश्चिदात्मा सर्वज्ञो भवत्येव ॥५७७॥ **कपिलो यदि इति**—यदि कपिलः साङ्ख्यदर्शनस्य प्रणेता अचिति अचेतने प्रधाने वित्तिं ज्ञानम् इच्छति तर्हि सः सुरगुरुगोर्गुम्फेष्वेव पतति सुराणां देवानां गुरुः उपाध्यायः बृहस्पतिः तस्य गोः दर्शनं चार्वाकदर्शनं तस्य गुम्फेषु रचनासु एव कपिलः पतति इति मन्यामहे वयम् । स च बृहस्पतिः जीवच्छरीरमेवात्मा नातो भिन्नः कश्चिदात्मा नाम, स च आत्मा गर्भादिमरणपर्यन्तमेव, गर्भात्पूर्वं मरणाच्चोत्तरं नास्ति भवान्तरम् । इति मन्यते । कपिलोऽपि—प्रकृतौ अचेतनायां सर्वज्ञत्वं मन्यमानः बृहस्पतिमनुसरति । हे विदित हे सर्वज्ञ अर्हन्, चैतन्यं केवलं स्वरूपमात्रपरिच्छेदि बाह्यग्राह्यरहितं घटपटादिग्राह्याणाम् अग्राहकं तर्हि तत् कस्य उपयोगि स्यात् ? वद, अतः हे अर्हन् भवानेव यथार्थदर्शी । आत्मा एव दोषावरणहानेः सर्वज्ञो जायते इति वदति तदेव सत्यम् ॥५७८॥ **भूपवनेति**—भूः पृथ्वी, पवनो वायुः, वनं जलम्, अनलोऽग्निः इति तत्त्वान्येव तत्त्वकानि तेषु तत्त्वकेषु । धिषणः बृहस्पतिः विभागं निगृणाति प्रतिपादयति । एतत्तत्त्वचतुष्टयम् इति वदति । परन्तु तद्विपरीतधर्मधाम्नि एभ्यः विपरीतस्वभावास्पदे विदि आत्मनि विभागं न ब्रवीति । ज्ञानं भूतचतुष्टयाद्भिन्नं नेति मन्यते तत्तु तेभ्य उत्पद्यते इति मन्यते । तज्ज्ञानं तस्य भूतचतुष्टयस्य कर्म कार्यं मनुते परं तत् आत्मनो धर्मः न भूपवनादीनां इति ज्ञेयम् ॥५७९॥

[पृष्ठ २४५-२४६] **विज्ञानप्रमुखाः इति**—विज्ञानं प्रमुखं येषु ते विज्ञानप्रमुखाः सुखादयः गुणाः । विमुचि विशेषेण मुञ्चति इति विमुच् तस्मिन् विमुचि मुक्तात्मनि न सन्ति । इति यस्य वाचि व्याख्याने किल नयः वर्तते । मुक्तौ बुद्धिसुखदुःखादीनां नवानां गुणानाम् अत्यन्तोच्छेदान्मोक्षः इति वैशेषिको वदति । तस्य मते मुक्तौ गुणाः न तिष्ठन्ति इति तत्र मुक्त्यवस्थायां पुमानपि आत्मापि नैवेति मन्यताम् । दाहात् औष्ण्यात् दहनोऽग्निः अपरत्र अन्यत्र कः तिष्ठति ॥५८०॥ **धरणीधरेति**—धरणीधरः पर्वतः, धरणिः पृथ्वी, प्रभृतयः तरुतन्वादयः तान् गिरिशः शंकर ईश्वरः सृजति । ननु नृपगृहादि घटगृहादिकं गिरिशः करोति इति वक्तव्यम् । यदि सकलमेव कर्म गिरिशः करोति तर्हि तक्षादीनां किं प्रयोजनम् । चित्रम् आश्चर्यं वर्तते । यत् यतः तद्वचांसि लोकेषु महायशांसि महाकीर्तिमन्ति सन्ति ॥५८१॥ **पुरुषत्रयमिति**—हरिहरब्रह्माणः पुरुषत्रयम् । अबलासक्तमूर्ति अबलासु लक्ष्मीपार्वतीसावित्र्यादिषु नारीषु आसक्ता मूर्तिः शरीरं यस्य तत् । अत एतत्त्रय आगमस्य कर्तृ न संभवति । त्रैलोक्यस्यापि न तत्र कर्तृत्वं संभवेत् । अपरः शरीररहितः अनादिमुक्तः ईश्वरः सृष्टिकर्ता वेदकर्ता वा स्यात् इति च नैव संभवति । यतः स गतकायकीर्तिः गतकायः नष्टशरीरः इति यस्य कीर्तिः जगति पप्रथे । एवं सति, हे नाथ जिन, अत्र जगति अस्मिन् । द्विजसूत्रं ब्राह्मणानां वेदादिकं कथं हिताहितविषयम् आभाति शोभते । वेदस्य ईश्वरकृतत्व न संभवति । ततश्च स हिताहिते न कुर्यात् ॥५८२॥ **सोऽहमिति**—हे बौद्ध, यः अहं बालवयसि बाल्यावस्थायाम् अभूवं प्राग् आसम् स एव अहम् इति निश्चिन्वन् निश्चयं कुर्वन् क्षणिकमतं जहासि । 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' इत्यनुमानेन निजं स्वरूपं तव आत्मनः स्वरूपं क्षणिकं नैव सिद्ध्येत् । सर्वथा क्षणिके आत्मनि सन्तानोऽपि अत्र न स्यात् । 'अपरामृष्टभेदाः कार्यकारणक्षणाः संतानः' इत्यपि सन्तानलक्षणं नैव सिद्ध्यति । एकत्वाभावे नित्यत्वाभावे च पूर्वक्षणः कारणम् उत्तरक्षणः कार्यम् इति न भवेत् । ततः कार्यकारणभावाभावात् सन्तानसिद्धिः न । अस्थिरे वासनापि न । यदि अन्वयः पूर्वापरसंबन्धः तेनापि प्रयोजनसिद्धिर्न । अन्वये सति सर्वथा क्षणिकत्वं हीयते । क्षणिकमतप्रतिपादकेन सुगतेन तेन अन्वयभावः नापि न प्राप्तः ॥५८३॥ **चित्तमिति**—चित्तं ज्ञानम् । कथंभूतं तत् । अक्षजम् इन्द्रियोत्पन्नम् । तत् विचारकं न पूर्वापरालोचनक्षमं न । अखिलं सविकल्पं ज्ञानम् । सांशपतितं- सांशा घटादयः स्थिरस्थूलपदार्थाः सामान्यरूपाः तत्र पतितम् तद्ग्राहकम् अस्ति । तेन क्षणिकाः विशरारवः परमाणवः न गृह्यन्ते । तत्सविकल्पं ज्ञानं कल्पनापोढम् अभ्रान्तं नास्ति । उदितानि शब्दाः निर्विकल्पज्ञानं क्षणिकं वस्तु च न स्पृशन्ति । अतः शाक्याः बौद्धाः तानि वचनानि आत्महितानि जीवहितकराणि कथम्

चक्षन्ति ब्रुवन्ति ॥५८४॥ अद्वैतम् इति—कोऽपि ब्रह्माद्वैतवादी अद्वैतं तत्त्वं वदति। सोऽपि सुधियां सुष्ठु धीः बुद्धिः येषां ते सुधियः तेषां सुधियां विदुषाम्। धियं बुद्धिम्। न आतनुते न विस्तारयति। अद्वैतिनो मतं सुधीभ्यो न रोचते इति भावः। यतः यस्मात्। हे शिवशर्मसदन मुक्तिसुखानां गृहीभूत जिनेश्वर। अत्र अद्वैतमते पक्षस्य, हेतोः, दृष्टान्तस्य, वचनस्य संस्था स्थितिः कुतो भवेत्? द्वैते एव पक्षहेतुदृष्टान्तानां संभवः। नास्ति तत्संभवोऽद्वैते ॥५८५॥ हेताविति—हेतौ सति कारणहेतौ कार्यहेतौ विद्यमाने अनेकधर्मसिद्धिः भवति। कार्याणि दृष्ट्वा कारणान्यनुमीयन्ते। समर्थकारणे सति कार्यम् अवश्यं भवति। जिनेश्वर एवम् अनेकधर्मप्रवृद्धिः जीवादिसप्ततत्त्वानां सिद्धिम् आख्याति कथयति। विशिष्टधर्मलक्षणसद्भावात् पृथक्-पृथक् तत्त्वसिद्धिः भवति। यथा ज्ञानधर्मः जीवतत्त्वं निश्चिनोति। स्पर्शादयो धर्माः पुद्गलतत्त्वम्। अन्यत् पुनः कथंचित् नित्यम् कथंचित् अनित्यम्, कथंचित् भिन्नम् कथंचित् अभिन्नम्। अखिलमतव्यतीतं नित्याद्येकान्तमतभिन्नम्। हे उरुनयनिकेत उरवो महान्तः ते च ते नयाश्च नैगमादयः। तेषां निकेत गृहभूत हे जिन तव मतम् उद्भाति प्रकर्षेण शोभते ॥५८६॥

[पृष्ठ २४७–२४९] मनुजत्वमिति—मनुजत्वं पूर्वम् आदौ यस्य एतादृशः। नयनायकस्य सकलनैगमादिनयानाम् अधीशस्य सकलनयचक्रस्य ज्ञातुः। गुणोत्तमस्य गुणानां केवलज्ञानदर्शनशक्तिसुखानाम् अनन्तानां प्राप्तेरुत्तमस्य श्रेष्ठत्वं प्राप्तस्य। भवतीति भवन् तस्य भवतः सतः, भवतः पूज्यस्य। ये द्वेषकलुषधिषणाः वैरमलिनमतयः भवन्ति ते भवन्तं रहन्ति त्यजन्ति। ते जडजं मौक्तिकमपि रहन्ति। जलजं मौक्तिकं मत्वा रहन्ति त्यजन्ति। यथा कश्चित् मूर्खः जलान्मौक्तिकं जातं वीक्ष्य जलवत्तत्त्यजति तथा भवान् आदौ मनुष्य आसीत् तदनन्तरं घातिकर्मक्षयं कृत्वा नयनायको जातः परं द्वेषिणः मनुष्योऽयमिति मत्वा अवमत्य भवतः अवमाननं कुर्वन्ति। अहो मूढत्वं तेषाम् ॥५८७॥ नाप्तेषु इति—यः एकम् ईश्वरं एव आप्तं मन्यते स आप्तेषु बहुत्वं न सहेत। पर्यायविभूतिष्वपि न महेत। पर्याया ईश्वरस्य वराहाद्यवतारास्तेषां विभूतिषु वैभवेषु स न महेत पूजयेत? अपि तु न पूजयेत्। यतः स एकम् ईश्वरं विना अन्यान् तदवतारानपि आप्तरूपान् अमन्यमानः कथं पूजयेत्। नूनं द्रुहिणादिषु तथाविधेषु दैवतेषु तस्य कं स्फुटति। तथाविधेषु ईश्वरावतारेषु दैवतेषु देवंमन्येषु तस्य एकमेवाप्तं मन्यमानस्य नुः कं मस्तकं कथं स्फुटति कथं नमति नैव नमेत् ॥५८८॥ दीक्षास्विति—हे इन हे प्रभो, सकलगुणैः व्रततपःसमित्यादिगुणैः रत्नत्रयरूपैः अहीन न हीनः न अपूर्णः तत्संबोधनं हे अहीन, दीक्षासु महाव्रतदीक्षासु, अणुव्रतदीक्षासु च। तपसि अनशनादिके द्वादशविधे, वचसि च पूर्वापरविरोधानवकाशे यत् यस्मात् इह ऐक्यम् एकरूपता अविरोधता वर्तते। तस्मात् बुधोचितपादसेव बुधैरुचिता कर्तुं योग्या पादयोः सेवा यस्य स तत्संबोधनम्, बुधोचितपादसेव। त्वमेव जगतां नाथोऽसि इति ब्रवीमि। अन्येषां हरिहरादीनां दीक्षातपोवचःसु ऐक्यं नैवातस्ते त्रैलोक्यस्वामित्वानर्हा एव ॥५८९॥ देवेति—हे देव दीव्यति क्रीडति परमानन्दपदे इति देवः परमाराध्यः तत्संबोधनं हे देव। तथापि कोऽपि नरः त्वयि विमुखचित्तः पराङ्मुखमनाः भवति तर्हि स एव निन्द्यो भवति। विदलितेति—विदलिताः विनाशिताः मदनस्य विशिखा बाणा येन सः तत्संबोधनम्, हे जिन, घूके दिवापि विदृशि नेत्ररहिते यथा निन्द्यः तथा त्वयि विमुखचित्तो नरः निन्द्य एव। परं यः विदृशोनः(?) अन्धानां स्वामी तं न कोऽपि उपालभते दूषणं ददाति। दिवा दिने घूके विदृशि अन्धेऽपि इनं सूर्यं स उपलभते परं अन्यः कोऽपि सूर्यं न निन्दति ॥५९०॥ निष्किंचन इति—निष्किंचनोऽपि न किंचन धनधान्यादिपरिग्रहो यस्य। निर्गतः किंचनात् असौ निष्किंचनः निष्परिग्रहोऽपि त्वं जिन जगते त्रिलोकाय कामितानि अभिलषितानि निकामं यथेष्टं न दिशसि न ददासि। भक्तानाम् अभिलषितानि त्वं निष्परिग्रहोऽपि पूरयस्येव। अत्र चित्रं विस्मयो नैव। अथवा इह खात् आकाशात् शून्यस्वरूपादपि वृष्टिः किमु नो समस्ति नो चकास्ति न शोभते अपितु शोभते एव। पद्धतिकाछन्दः ॥५९१॥ इति—एवं तदमृतनाथ तत्तस्मात् अमृतनाथ अमृतस्य मोक्षस्य नाथ स्वामिन्। स्मरशरमाथ, स्मरस्य कामस्य शरान् उन्मादमोहनसन्तापनादीन् बाणान् मथ्नाति पीडयतीति स्मरशरमाथः तत्संबोधनं हे स्मरशरमाथ। त्रिभुवनपतिमतिकेतन त्रिभुवनस्य पतयः स्वामिनः धरणेन्द्रादयः तेषां मतेः मान्यतायाः निकेतनं गृहम् तत्संबो-

धनम्, भगवान् खलु धरणेन्द्रादिभिः कृतायाः पूजायाः स्थानमित्यर्थः। हे जिन कर्मारातिविजयिन्, प्रशमनिवेश रागादिदोषनिबर्हणं प्रशमः तस्य निवेश गृहीभूत। जगदीश जगन्नाथ। मम त्वत्पदनुतिहृदयं दिश। तव पदयोः नुतिः स्तुतिः तस्यां हृदयं मनः दिश देहि। मम मनः त्वत्पदभक्तिपरं कुर्वित्यर्थः। घत्ता ॥५९२॥ **अमरतरुणीति**—हे जिन त्वम् अमरतरुणीति—अमरतरुण्यः देवयुवतयः, तासां नेत्राणाम् आनन्दे प्रमोददाने महोत्सवचन्द्रमाः महोत्सवदिनस्य पूर्णिमायाः चन्द्रमाः असि। हे जिन त्वं **स्मरेति**—स्मरस्य मद एव गर्व एव ध्वान्तं तिमिरं मदमयध्वान्तं तस्य ध्वंसे विनाशे परमः उत्तमः अर्यमा सूर्यः मतोऽसि। त्वं कर्मारातौ ज्ञानावरणादिकर्मशत्रुगणे अदयहृदयः क्रूरमनाः असि। नते भक्त्या नम्रे जने कृपात्मवान् दयास्वभावः इति त्वं विसदृशव्यापारः शत्रौ मित्रे भक्ते च विषमप्रवृत्तिः तथापि भवान् महान् पूज्यः। भगवाञ्जिनः रागद्वेषाभ्यां सताम् असतां च अनुग्रहनिग्रहयोर्न विधाता स तु परमोदासीनः परन्तु सदसन्तः जिने रागेण द्वेषेण च प्रवर्तन्तेऽतस्तद्रागद्वेषयोर्जिनो गतेर्धर्मास्तिकायवत् कारणं मन्यते ॥५९३॥ **अनन्तेति**—जिनेश्वर, त्वयि अनन्तगुणसंनिधौ अनन्तानां गुणानां सम्यक् अक्षये निधौ निधाने सति। मयि च नियतबोधसंपन्निधौ नियतः परिमितः स चासौ बोधो ज्ञानं स एव संपन्निधिः यस्य तथाभूते मयि अल्पज्ञे सतीत्यर्थः। पुनः कथंभूते भवति। श्रुताब्धीति श्रुताब्धिः द्वादशाङ्गज्ञानसमुद्रः तस्य बुधाः ज्ञातारः गणधरदेवादयः तैः संस्तुगते स्तुति विषयतां नीते। मयि च कथंभूते परिमितोक्तेति—परिमितं सावधिकं यत् उक्तवृत्तम् अल्पज्ञताख्यं प्रोक्तं वृत्तम् उदन्तः तस्मिन् स्थिते मयि। हे जिनेश्वर, स्फुटं प्रकटं त्वयि ईदृशे महाज्ञानसमुद्रे। मयि च तादृशे पल्वलकल्पे, सति। तदिदं वस्तुद्वयं भवान् अहं च, सदृशनिश्चयं समानमिति निर्णयपात्रं कथं भवतु ॥५९४॥ **तदलमिति**—हे अतुल अनुपम, त्वादृगिति त्वया सदृशाः त्वादृशाः तेषां वाणी त्वादृग्वाणी तस्याः पन्थाः त्वादृग्वाणीपथः तेन स्तवनं तस्य उचितः तस्मिन्, त्वयि जिने। जडस्य मन्दस्य मादृशः। गुणानां गणः समूहः तस्य अपात्रैः अविषयभूतैः स्तोत्रैः अलं पर्याप्तम्। गणधरदेवादयः तव गुणानां स्तोत्राणि विधातुं क्षमा भवन्ति यतस्ते तव गुणानां गणनाभिज्ञाः। नाहं मन्दः। प्रणतिविषये अस्मिन् व्यापारे कर्मणि सुलभे सति कथमयम् अवाक् स्तुतिं कर्तुम् असमर्थो जनः त्वद्गुणस्तुतौ प्रवर्तेत। हे स्वामिन् आस्तां स स्तुतिमार्गः नाहं तेन गन्तुं क्षमः अतः ते नमोऽस्तु अस्तु ॥५९५॥ **जगन्नेत्रमिति**—हे जिन त्वां जगतां नेत्रभूतम्। **निखिलेति**—सकलविषयज्ञानज्योतिषा पात्रं भाजनम्। पुनः कथंभूतम्। **सकलेति**—सकलाश्च ते नयाश्च सकलनयाः नैगमादिनयाः तेषां नीतिः पद्धतिः तया स्मृता गुणा यस्य तं महान्तं पूज्यं त्वाम्। पुनः कथंभूतम्। **विनतेति**—विनताः भक्ताः तेषां हृदयानन्दविषये महोदारं महान्तं वदान्यं दानशीलं सारम् उत्तमं त्वाम् अहं याचे। हे भगवन् अर्थिविमुखः याचकविमुखश्चेत्त्वं न भवसि ॥५९६॥ **मनुजेति**—इह अस्मिन् लोके। **मनुजेति**—मनुजा नराः। दिविजा दिवि स्वर्गे जायन्ते इति देवाः। तेषां लक्ष्मीः रमा तस्या लोचनयोः नेत्रयोः आलोकः प्रकाशः तस्य लीला शोभा येषां तथाभूताः प्राणिनः। त्वत्प्रसादात् तव कृपां प्राप्य। चिरं बहुना कालेन। चरितार्थाः कृतकृत्याः जाताः। **स्वामीति**—स्वामिनः प्रभोः सेवायाम् आराधनायाम् उत्सुकत्वात् हर्षनिर्भरत्वात्। इदानीम् अधुना। छात्रमित्रे छात्राणां शिष्याणां मित्रे सुहृदि मयि त्वं हृदयम्। सह वसतिसनाथं सह वसत्या निवासेन सनाथं मनः विधेहि कुरुष्वेत्यर्थः (परिपूरितवाञ्छं कुरु इत्यर्थः) ॥५९७॥

इत्युपासकाध्ययने स्तवनविधिर्नाम सप्तत्रिंशत्तमः कल्पः ॥३७॥

३८. जपविधिर्नामाष्टत्रिंशत्तमः कल्पः।

[पृष्ठ २४९-२५२] **सर्वेति**—केचित् आचार्याः सर्वाक्षरैः जपं निगिरन्ति प्रतिपादयन्ति। केचित् सूरयः नामाक्षरैर्जपम्, केचित् मुख्याक्षरादिषु एकवर्णन्यासात् एकवर्णमवलम्ब्य जपं निगिरन्ति। परमहं तु

सिद्धक्रमैरेव, यथा मन्त्राणां क्रमः प्राचाम् आचार्याणां मते सिद्धः तथैव तमाश्रित्य जपः कार्यः इति निगिरामि। यथागमे जपविषये क्रमः श्रूयते तथा स जपो जप्यः ॥५९८॥ पातालेति—पातालेषु भावनेषु। मर्त्येषु मनुजेषु। खेचरेषु विद्याधरेषु सुरेषु देवेषु सिद्धक्रमस्य मन्त्रस्य संसिद्धेः सिद्धिर्भवतीति हेतोः अधिगमात् प्रामाण्यात् अधिकप्रतिपत्तेः आदरात् समवाये जनसमुदाये, देवयात्रायाम् देवप्रतिष्ठादौ। सिद्धक्रमस्य मन्त्रस्यैव प्रामाण्यं श्रूयते ॥५९९॥ जपकरणविधिः—पुष्पैरिति—पर्यङ्कस्थः पद्मासनेन स्थितः निष्कम्पितम् अचलितम् अक्षवलयम् अक्षाणाम् इन्द्रियाणां वलयं येन सर्वाणि इन्द्रियाणि संयम्य जपं कुर्यादिति भावः। कैः जपो विधेय इत्याह—पुष्पैः कुसुमैः, पर्वभिः अङ्गुलिग्रन्थिभिः, अम्बुजबीजैः कमलबीजैः, स्वर्णमणिभिः, अर्ककान्तरत्नैर्वा सूर्यकान्तमणिभिर्वा जपः कार्यः। अथवा निष्कम्पितम् अचलितम् अक्षवलयम् जपमाला यस्य सः जपी जपं कुर्यात्। कमलबीजमालया, स्वर्णमणिमालया, सूर्यकान्तमणिमालया वा जपो विधीयेत जपिना ॥६००॥ अङ्गुष्ठे इति—मोक्षार्थी इदम् अक्षवलयं जपमालाख्यम्, अङ्गुष्ठे तथा तर्जन्याम् अङ्गुष्ठसमीपाङ्गुल्यां बहिः बाह्ये नयतु संचारयतु। पुनः ऐहिकापेक्षी धनधान्याद्यपेक्षां कुर्वाणः इतरासु अङ्गुलीषु मध्यमानामिका-ऽङ्गुलीषु अन्तः बहिश्च तां नयतु संचारयतु। (जाप्ये कृते सति बहिर्वस्तु उच्चाटनीयं जाप्यः प्रापयतु इति-टिप्पण्याम्) ॥६०१॥ वचसेति—वचसा वाण्या, मनसा वा चित्तेन वा समाहितस्वान्तैः ध्येये निश्चलीकृत-मनोभिः, जाप्यः कार्यः जपो विधातव्यः, आद्ये जाप्ये वाण्या कृते जाप्ये शतगुणं पुण्यम्, द्वितीये मनसा कृते जाप्ये वचनमनुस्त्वा विधेये जाप्ये सहस्रगुणितं पुण्यं जायते। वचःकृते जाप्ये मनसः स्थिरत्वात् शतगुणं पुण्यं मनोविहितजाप्ये ततोऽपि मनसः स्थिरतरत्वात् सहस्रगुणं पुण्यं लभ्यते ॥६०२॥ नियमितेति—नियमितः स्वस्वविषयादाकृष्य आत्मनि नियन्त्रितः करणग्राम इन्द्रियगणो येन। स्थानेति जिनालयादिकं स्थानम्। पद्मासनादिकम् आसनम्। मानसस्य चित्तस्य प्रचारः नाभिनेत्रललाटादिषु संचारणं मनःप्रचारः इत्यादिजप साधनानि जानन्। पुनः कथंभूतः। पवनेति—कुम्भकरेचकादिवायुधारणरेचनाद्युपायज्ञः पुमान् सम्यक्सिद्धः भवेत् अशेषज्ञश्च स्यात् ॥६०३॥ इममेवेति—पञ्चत्रिंशत्प्रकारवर्णस्थं पञ्चाधिकत्रिंशदक्षरोपेतम् इममेव मन्त्रं 'णमो-अरिहंताणं' इत्यादिरूपं प्रसिद्धम्। मुनयः परमपदावाप्तये मुक्तिपदलाभाय। विधिवत् नियमितकरणग्राम इति श्लोकोक्तविधिमनुसृत्य जपन्ति ॥६०४॥ मन्त्राणामिति—अखिलानां मन्त्राणाम् अयं एकः पञ्चनमस्कार-मन्त्रः सिद्धः सन् कार्यकृद्भवेत् इष्टं कार्यं कुर्यात्। परे तु सर्वे मन्त्राः अस्य णमो अरिहंताणं एतावन्मात्रस्य एकदेशकार्यं न कुर्युः। सर्वेषु मन्त्रेषु अयमेव मन्त्रः श्रेष्ठः ॥६०५॥ कुर्यादिति—अङ्गुष्ठमारभ्य कनिष्ठिका-पर्यन्तं करयोः वामदक्षिणकरयोः प्रकारयुगलेन (?) विधिपूर्वकाङ्गुलिरेषा करन्यासं कुर्यात्। न्यासं कृत्वा पञ्चनमस्कारमन्त्रम् उभयकरयोरङ्गुलीषु लिखित्वा। तदनु हृदाननमस्तककवचास्त्रविधिः मनोमुखशिरःसु कवचविधिम् अस्त्रविधिं च कुर्यात्। कवचस्य विधिः कं देहं वञ्चति विपक्षास्त्राणि वञ्चयित्वा रक्षति इति कवचः तस्य विधिः मन्त्रोच्चारेण सकलीकरणविधानं विधातव्यः। एतत्सर्वं जपात्पूर्वं विधातव्यमित्यर्थः ॥६०६॥ संपूर्णेति—संपूर्णमति स्पष्टं। सनादं बिन्दुसहितं ॐकारं पञ्चपरमेष्ठिवाचकम्, आनन्दसुन्दरम् आनन्देन आत्मानुभवसुखेन सुन्दरं रमणीयम्। जपतः अस्य मुनेरुपासकस्य वा सर्वेषां समीहितानाम् अभिल-षितानाम् अभ्युदयनिःश्रेयसां सिद्धिः प्राप्तिः निःसंशयं संजायेत भवेत् ॥६०७॥ मन्त्र इति—परत्र मन्त्रे अन्यस्मिन्मन्त्रे ऋषिमण्डलादिमन्त्रे। फलोपलम्भे अभिलषितप्राप्तौ सत्यामपि। अयमेव पञ्चपरमेष्ठिमन्त्रः सेव्य आराध्यः। यद्यपि अग्रे शाखादिषु। विटपी वृक्षः। फलति प्रादुर्भूतफलो भवति। तथापि तस्य वृक्षस्य मूलं जलेन सिच्यते। तदसिञ्चने न फलोपलब्धिस्तथा अस्मिन्मन्त्रे सेव्यमाने इतरेभ्य एतन्मूलकेभ्यो मन्त्रेभ्यः फललाभो भवेत् ॥६०८॥ अत्रामुत्रेति—गुरुपञ्चकवाचकान्मन्त्रात् पञ्चपरमेष्ठिमन्त्रात्। आरोपमन्त्रः अत्र अस्मिन् लोके। परत्र च स्वर्गादौ च। नियतं निश्चयेन कामितफलसिद्धये अभीष्टफललाभाय। नाभूत् नाभवत्। नास्ति न भवति। न भविष्यति च ॥६०९॥ अभिलषितेति—अस्मिन् मन्त्रे इष्टपदार्थदाने सुरगोसदृशे सति कामधेनुसदृशे सति तथा अस्मिन्मन्त्रे दुरितं पापं तदेव द्रुमः तरुः तस्य पावकेऽग्निसदृशे सति। दृष्टादृष्टफले दृष्टं लब्धम् ऐहलौकिकं धनादिकम् अदृष्टं पारलौकिकं स्वर्गादिफलं यस्य तथाभूते सति परत्रमन्त्रे

अन्यमन्त्रे जनः कथं सज्जतु कथमासक्तो भवतु ॥६१०॥ इत्थमिति—मनसि स्वचित्ते बाह्यं मनः बहिः पुद्गलादौ प्रवर्तमानं मनः बाह्यम् उच्यते तत् अबाह्यवृत्ति अन्तरुन्मुखं कृत्वा आत्मस्वरूपरतं विधाय। हृषीकनगरम् इन्द्रियपुरम्। महता वायुना नियम्य नियन्त्र्य। सम्यग्जपं प्रयत्नात् विदधतः कुर्वतः सुधियः विबुधः अस्य कृतिनः पुण्यवतः किम् असाध्यं अस्ति न किमप्यसाध्यम् ॥६११॥

इत्युपासकाध्ययने जपविधिर्नामाष्टत्रिंशत्तमः कल्पः ॥३८॥

३९. ध्यानविधिर्नामैकोनचत्वारिंशः कल्पः।

[पृष्ठ २५२-२५७] आदिध्यासुरिति—परं ज्योतिः आदिध्यासुः परम् उत्तमं ज्योतिः निरावरणज्ञानं यस्य तम् अर्हन्तम् आदिध्यासुः ध्यानविषयं कर्तुम् इच्छन्। शाश्वतं तद्धाम ईप्सुः शाश्वतम् अविनश्वरं तद्धाम तस्य अर्हतः धाम स्थानं मुक्तिपुरम् ईप्सुः वाञ्छन् समाहितः सम्यक् प्रणिधानं गतः उपासकः। इमं ध्यानविधिं यत्नादभ्यस्यतु ॥६१२॥ तत्त्वेति—तत्त्वस्य अर्हदादिपरमेष्ठिस्वरूपस्य जीवादितत्त्वस्य वा या चिन्ता ध्यानं सा एव अमृताम्भोधिः सुधासमुद्रः तस्मिन् दृढमग्नतया दृढं निःसंदेहं मग्नतया बुडितत्वात्। मनः बहिर्व्याप्तौ बाह्ये योषित्कनकादिवस्तुनि जडं कृत्वा ततस्तदाकृष्येत्यर्थः। द्वयमासनं पद्मासनम् अर्धपल्यङ्कासनं च आचरेत्। तदासनेन स्थित्वा ध्यानं क्रियतामित्यर्थः ॥६१३॥ सूक्ष्मेति—सूक्ष्मः उच्छ्वासनिःश्वासः तस्य यमः प्रवेशः आयामो निर्गमः। सन्नेति—सन्नः नष्टः सर्वाङ्गानां सञ्चरः चलनं यस्य सः स्थिरीभूतसर्वाङ्गः। ग्रावोत्कीर्णः इव ग्रावणि पाषाणे उत्कीर्ण इव उट्टङ्कित इव आसीत उपविशेत्। किं कुर्वन् ध्यानेति—ध्यानानन्दसुधां लिहन् आत्मस्वरूपैकाग्रतयोत्पन्नात्मानुभवसुखपीयूषमास्वदमानः ॥६१४॥ यदेन्द्रियाणीति—यदा यस्मिन् समये पञ्चापि इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि पञ्चभावेन्द्रियाणि। आत्मस्थानि आत्मन्येव तिष्ठन्ति स्पर्शरसादिविषयान् विमुच्य आत्मनि ज्ञानदर्शनलक्षणे स्थिरीभवन्ति। तदा तस्मिन्काले। अन्तश्चित्ते ज्योतिः निरावरणं ज्ञानं स्फुरति उद्गच्छति तथा चित्ते स्वस्वरूपे एव निमज्जति। बाह्ये वस्तुनि ज्योती रागद्वेषमोहाकुलं न भवतीति भावः ॥६१५॥ ध्यानध्यातृध्येयतत्फलान्याह—चित्तस्येति—चित्तस्य मनसः एकाग्रता एकस्मिन् अग्रे वस्तुनि गुणे पर्याये वा स्थिरीकरणं ध्यानमुच्यते। आत्मा ध्याता कथ्यते, ध्याने कृते सति ततो यत् फलं लभ्यते तेन स ध्याता ध्यानफलस्वामी ध्यातेत्युच्यते। ध्येयम् आगमज्योतिः आत्मा आगमज्ञानसंपन्नः जीवः ध्येयम्। देहयातना तद्विधिः कायक्लेशः। एवं ध्यानादीनां चतुर्णां स्वरूपमुक्तम् ॥६१६॥ तैरश्चमिति—तिरश्चामिदं तैरश्चं पशुभिः कृतम्। अमरैर्देवैः कृतम्। मार्त्यं मर्त्यैर्मनुजैः कृतम्। नाभसं नभसो जातम् वज्रादिकृतमित्यर्थः, भौमं भूमेर्जातम् भूकम्पादिकम्। अङ्गजम् अङ्गात् जायते इति अङ्गजं रोगादिकम्। एतत्सर्वम् अन्तरायं सहेत। एतेभ्यो जातानाम् अन्तरायाणां सहनं कुर्यात्। कथंभूतः ध्याता द्वयातिगः द्वयं रागद्वेषौ अतिगच्छति इति द्वयातिगः रागद्वेषरहितः सन्। रागद्वेषयोरुद्भूत्या आर्तध्यानं रौद्रध्यानं चोद्भवेत्। अतः तौ विमुच्य उपसर्गांश्च सोढ्वा, धर्म्यं ध्यानं ध्यायेत् ॥६१७॥ नाक्षमित्वमिति – अक्षमित्वं क्षमारहितत्वम् अविघ्नाय विघ्ननाशाय न भवति। क्लीबत्वं कातरत्वं भयं अमृत्यवे मरणरहितत्वाय न भवति। तस्मात् ततः अक्लिश्यमानात्मा संक्लेशपरिणामरहितः परं ब्रह्मैव शुद्धमात्मस्वरूपमेव चिन्तयेत् विमृशेत् ॥६१८॥ यत्रेति – यत्र यस्मिन् स्थाने ग्रामनगरादौ। इन्द्रियग्रामः इन्द्रियशब्देन अत्र स्पर्शादिविषयाः गृह्यन्ते विषयेषु विषयिणामुपचारात्। तेषां ग्रामः समूहः, इन्द्रियग्रामः, यत्र इन्द्रियविषयाः स्पर्शादयः सन्ति तत्र ध्याता न तिष्ठेत्। यत्र इन्द्रियाणां व्यासंगः आसक्तिः संभवेत् तत्र ध्याता न तिष्ठेत्। विशेषेण आसंगः आसक्तिः व्यासंगः विषयलोलता। तेन व्यासंगेन यत्र ध्येयचिन्तने विप्लवं विघ्नं ध्याता नाश्नुवीत न प्राप्नुयात् तमुद्देशं तत्स्थानं ध्याता अध्यात्मसिद्धये स्वस्वरूपलाभाय भजेत् आश्रयेत् ॥६१९॥ देहस्य रक्षा कर्तव्या, किमर्थम्। फल्गुजन्मेति – फल्गुजन्मा फल्गु व्यर्थं विफलं जन्म

यस्य तथाभूतः अपि अयं देहः। यत् यस्मात्कारणात् अलाबुफलायते तुम्बीफलसदृशो भवति। कस्मिन्, विषये संसारसागरोत्तारे भवसमुद्रतरणे। तस्मात् ततः प्रयत्नात् रक्ष्यः। अलाबुफलं कटुत्वाद्भक्षणानर्हम् अतस्तस्य फल्गुजन्म तथापि तेन नरः नदीसमुद्रादिकं तरति तथा अयं नरदेहः पश्वादिदेहवत् नोपयुज्यते अतोऽफलस्तथापि अनेनैव संसारसागरस्तरीतुं शक्यते न पशुदेहेन देवदेहेन वा। अतः नृदेहोऽयं प्रयत्नेन रक्षणीयः ॥६२०॥ **नरे इति**—यथा अधीरे धैर्यरहिते पुरुषे वर्म तनुत्रं कवचो वृथा विफलम्। असस्ये क्षेत्रे सस्यं धान्यं तद्यत्र न तत्क्षेत्रम् असस्यं धान्यरहितम्। तत्र वृतिः आसमन्तात् कण्टकादिभिः परिवरणं व्यर्था। तथा ध्यानशून्यस्य तद्विधिः वृथा अनैकाग्र्यवतः नरस्य आसनादिकम्, विविक्तस्थानं च वृथा स्यात् ॥६२१॥ **बहिरन्तरिति**—यथा वातैः अस्पन्दो निश्चलो दीपः आलोकनेन बहिःप्रकाशेन उल्लासी शोभमानो भवति। तथा अन्तस्तमोवातैः अन्तः आत्मनि स्थितानि यानि तमांसि अज्ञानानि तान्येव वाताः वायवस्तैः अस्पन्दं निश्चलं मनश्चित्तं यत् यस्मात् तत्त्वावलोकनोल्लासि जीवादिसप्ततत्त्वदर्शनेन उल्लासि शोभमानं भवति। तदा तत् ध्यानं सबीजं कारणं बीजं तेन सहितं भवति। सालम्बनं तद्ध्यानं भवति इति ज्ञेयम् ॥६२२॥ **निर्विचारेति**—चेतःस्रोतःप्रवृत्तिषु चेतसः मनसः स्रोतांसि प्रवाहाः तेषां प्रवृत्तयः व्यापाराः तासु। कथंभूतासु निर्विचारावतारासु। विचारः एकस्माद्ध्येयात् अन्यस्मिन् ध्येये मनसः प्रवृत्तिः विचारः तस्य अवतार आगमनं तद् यत्र न ताः निर्विचारावताराः। स्वस्मिन् विषये एव मनःप्रवृत्तिषु स्थिरासु जातासु आत्मनि एव स्फुरन् आत्मा ज्ञानदर्शनवति स्वरूपे एव विजृम्भमाणः जीवः। अबीजकं ध्यानं भवेत्। एकत्ववितर्कावीचाराख्यं ध्यानं भवेत्। इति भावः ॥६२३॥ **चित्ते इति**—अनन्तप्रभावे न अन्तः विनाशः यस्य स अनन्तः स प्रभावः सामर्थ्यं यस्य तत् अनन्तप्रभावं तस्मिन् चित्ते मनसि। पुनः कथंभूते प्रकृतया स्वभावेन रसवत् पारदवत् चले चञ्चले सति। तत् मनः तेजसि आत्मनि ज्ञाने च स्थिरे जाते सति। जगत्त्रये किं न सिद्धं भवेत् आत्मनि ज्ञाने च मनसि स्थिरे भूते सर्वा अभ्युदयनिःश्रेयससंपदो लभ्यन्ते यथा पारदे तेजसि अग्नौ निश्चलीभूय सिद्धे सति सुवर्णादिसिद्धिर्भवति ॥६२४॥ **निर्मनस्के**—मनोहंसे निर्मनस्के निर्विचारे सति। पुंहंसे आत्महंसे सर्वतः स्थिरे सति। संकल्पविकल्पमुक्ते सति। बोधहंसः ज्ञानहंसः अखिलालोक्यसरोहंसः अखिलानि सर्वाणि तानि आलोक्यानि विलोकितुं ज्ञातुं योग्यानि जीवादिवस्तूनि तान्येव सरः सरोवरं तत्रत्यः हंसः जायते भवति। चित्ते रागद्वेषविहीने सति आत्मा आत्मन्येव स्थिरो भवति ततश्च स ज्ञानावृत्त्यादिघातिकर्मक्षयात् अखिलज्ञो भवति ॥६२५॥ **यद्यप्यस्मिन् इति**—यद्यपि अस्मिन्मनःक्षेत्रे अस्मिन् चित्तस्थाने। तां तां क्रियां जीवादिध्येयेषु मनस एकाग्रीकरणरूपां तां तां प्रवृत्तिं समादधत् सम्यक् कुर्वाणः। किंचिद्भावं किंचिज्जीवादितत्त्वानां स्वरूपं वेदयते विशेषतया जानाति, स्वात्मानुभवसुखं चानुभवति। तथापि अत्र न विभ्रमेत् न मुह्येत्। मया आत्मानुभवो लब्धः इति विमर्शेन न हृष्येत्। हेयम् उपादेयं च वस्तु यथावत्पश्येत् इत्यर्थः, अन्यथा रागादिभिः अभिभूतः स्यात् ॥६२६॥ **विपक्षे इति**—क्लेशराशीनां दुःखसमूहानां विपक्षे शत्रुभूते अस्मिन् स्वात्मानुभवे अयं विभ्रमः मोहो हर्षो वा यस्मान्न एष विधिर्भवेत्। तस्मात् परं ब्रह्म परमात्मस्वरूपम् आश्रितः ध्याता अस्मिन् विधौ न विस्मयेत नाश्चर्यं गच्छेत् न दर्पं गच्छेत्। दर्पं गते सति आत्मानुभवात् च्युतिर्भवेत् ॥६२७॥ **प्रभावेति**—प्रभावः अनुभावः। ऐश्वर्यं विभवः। विज्ञानं, देवतासंगमादयः देवतायाः संगमः प्रसन्नताभावः, आदौ येषां ते सर्वे व्यापाराः एतानि सर्वाणि कार्याणि। योगोन्मेषात् ध्यानस्योदयात् ध्यानस्य प्रभावात् भवन्तोऽपि अमी तत्त्वविदां जीवादिस्वरूपज्ञानिनां मुदे आनन्दाय न भवन्ति ॥६२८॥

[पृष्ठ २५८-२६१] **भूमाविति**—यथा रत्नानां जन्म उत्पत्तिः भूमौ भवति इति सत्यं एतावता यत्र कुत्रापि भूमौ रत्नजन्म न भवतीति ज्ञातव्यम्। तथा आत्मजं आत्मनो जायते इति आत्मजं ध्यानं नाचेतनेभ्यः पुद्गलादिभ्यस्तज्जन्म इति सत्यं तथापि आत्मजं ध्यानं सिद्धमपि सर्वत्राङ्गिनि सर्वजीवराशौ तद्भवेदिति न ग्राह्यम् ॥६२९॥ **तस्येति**—तस्य ध्यानस्य परमम् उत्कृष्टं कालं समयं मुनयः अन्तर्मुहूर्तं वदन्ति तावत्कालं मनः अपरिस्पन्दमानं निश्चलम् तत्परं ध्येये स्थिरं भवति। ततः परं मनः दुर्धरं भवति ॥६३०॥ **तत्कालमपि इति**—सः अन्तर्मुहूर्तावधिकः कालो यस्य तद्ध्यानम् आत्मनि एकाग्रम् आत्मविषये स्फुरत् जृम्भमाणं उच्चैः महान्तं

कर्मोच्चयं ज्ञानावरणादिकर्माष्टकम् भिन्द्यात् । आत्मनः सकाशात् पृथक् कुर्यात् । यथा वज्रम् अशनिः शैलं क्षणात् भिन्द्यात् स्फोटयेत् ॥६३१॥ कल्पैरिति—कल्पैरपि कल्पप्रमाणैरपि युगान्तरैरपि चुलुकैः माषमज्जन-जलमापैः अम्बुधिः उच्चुलुम्पितुं लोप्तुं न शक्यः असंख्यकल्पकालान् यावत् चुलुकैः समुद्ररिक्तीकरणाय प्रयतमानोऽपि जनः तत्कार्यकरणे समर्थो न भवेत् । परं कल्पान्तभूः वातः युगान्तजो वायुः तं समुद्रं पुनः शोषम् आनयेत् । तथा यदा आत्मध्यानमात्मनि स्फुरति तदा अनन्ताः कर्मस्कन्धाः अन्तर्मुहूर्तेनैव तेन विध्व-स्यन्ते ॥६३२॥ रूपे मरुतीति—रूपे कामतत्त्वादौ महति परकायप्रवेशादौ चित्ते विशन् प्रवेशं कुर्वन् कामितं वाञ्छितं लभेत यथा तथा अयम् आत्मा आत्मना स्वेनैव आत्मनि स्वस्वरूपे नितरां रतो भवन् कामितम् अभिलषितं शिवम् अनन्तसुखं लभेत प्राप्नुयात् ।६३३॥ ध्यानहेतवः—वैराग्यमिति—वैराग्यं संसाराद् भीतिः संवेगः तस्मिन् जाते सति धनादीनां क्रोधादीनां च त्यागरूपा परिणतिरुत्पद्यते सैव वैराग्यं भण्यते । ज्ञानसम्पत्तिः अध्यात्मज्ञानप्राप्तिः । असंगः अनासक्तिरूपः परिणामः असंगः । स्थिरचित्तता मनसः एकस्मिन्विषये निश्चलता । ऊर्मिस्मयसहत्वं च । क्षुत्पिपासे, जरामृत्यू शोकमोहौ षडूर्मयः । एताः षड्विधाः पीडाः । स्मयो गर्वः सोऽष्टविधः ज्ञानपूजाकुलजातिबलर्द्धितपोवपुषाम् अष्टानां गर्वः । एतेषां सहनम् एते योगस्य ध्यानस्य प्राप्तये पञ्च हेतवः कारणानि सन्ति ॥६३४॥ ध्यानान्तरायाः—आधीति—आधिर्मानसी व्यथा । व्याधिः शरीरे रोगपीडा । विपर्यासः वस्तुनो विपरीतज्ञानम् । प्रमादः असावधानता । आलस्यं कार्ये मन्दत्वम् । विभ्रमः इदं वस्तु इदं वेति वस्त्वनिश्चयः । अलाभः विविक्तदेशकलाद्यप्राप्तिः । संगिता धनादिषु लुब्धता । अस्थैर्यं चित्तस्यानैकाग्र्यम् । एते नव तस्य ध्यानस्य अन्तरायकाः विघ्नाः ज्ञेयाः ॥६३५॥ यः कण्टकैरिति—यः कण्टकैः अङ्गं देहं तुदति पीडयति । यश्च नरः लिम्पति अङ्गं चन्दनैः । तयोः कार्ययोः रोषे तोषेऽपि अविपक्वात्मा अनासक्तप्रकृतिः । ध्याता लोष्ठवत् मृत्पिण्डवत् अरागद्वेषो भवेत् ॥६३६॥ ज्योतिर्बिन्दुरिति—ॐकारस्याकारेण बिन्दुकलादीनामाकारेण च निर्बीजीकरणं कर्म करोति । तदवसाने मरणस्य जयो भवति इति मिथ्यादृष्टयः कथयन्ति तदसत्यम् । बिन्दुः अर्धचन्द्रकला, नादः अनुस्वारः उपरि एका षड्नादः(?) नादः कथ्यते । कुण्डकुण्डली, तदाकारेण वाजीकरणम् । विषेश्वरो(?) मुद्रा-त्रिकोणचतुःकोणादिबहुप्रकारस्तेन बहुवचनम् । प्रेयाणि(?) निर्बीजीकरणादिकम् ज्योतिर्बिन्दु-कलादीनामाकारेण शुक्रनिःकाशनं नाभिप्रमुखेषु स्थानेषु कार्यम् । ब्रह्मग्रन्थिः—निखिलान्त्रजालमलं ब्रह्मग्रन्थि-रुच्यते । तत्रापि निर्बीजीकरणं भवति । नेत्रनाभिप्रमुखमार्गेण शुक्रनिःकाशनं कर्म मृत्युञ्जयं भवति साधनाभ्यासेन यदा मरणवेला वर्तते तदा निर्बीजीकरणं क्रियते तेन कर्मणा मृत्यौ वञ्चिते सति पश्चात्कदापि मरणं न स्यादित्यर्थः । अग्नि—नासिकायाम् अग्नितत्त्वं वर्तते । रवौ—दक्षिणनाड्याम्, चन्द्रे वामनाड्याम् । लूतातन्तौ लिङ्गविषये हृदये छिद्रं विनापि तदा काले मेदसदृशग्रन्थिः स्यात् । ज्योतिरादिशब्दानाम् अभिप्रायः टिप्पण्यां वर्तते सा टिप्पणी एवात्रालिखिता । एतेषां त्रयाणां श्लोकानाम् अर्थः सम्यक्तया नावगतोऽस्माभिः ॥६३७–६३९॥ कर्माणीति—यदि चेत् एवंविधैर्नयैः प्राणायामादिभिः उपायैः कर्माणि साध्यानि जेतुं शक्यानि भवे-युस्तर्हि तपोऽनशनादिकम् । जपः वाण्या मनसा वा मन्त्रपरिवर्तनम् । आप्तेष्टिः पञ्चपरमेष्ठिपूजनम् । दानं स्वपरानुग्रहार्थं स्वस्य धनादेर्दानम् । अध्ययनं स्वाध्यायः एतानि यानि आवश्यकापरिहार्याणि कार्याणि तैः पर्याप्तं भवेत् । एभिः उपायैः अनशनादिकर्माणि व्यर्थानि स्युः ॥६४०॥ योऽविचारितेति—यः पुमान् अविचा-रितरम्येषु अविमर्शितसुन्दरेषु । क्षणं स्तोककालं देहार्तिहारिषु देहदुःखविनाशं कुर्वत्सु । इन्द्रियार्थेषु इन्द्रिय-प्रयोजनसाधकेषु । प्राणायामादिषु वश्यात्मा आयत्तः सोऽपि किल योगी उच्यते । किलेत्यरुचौ । योगीति नैव मान्यः ॥६४१॥ यस्येति—यस्य पुंसः इन्द्रियार्थतृष्णापि मनः जर्जरीकुरुते चित्तं पीडयति । स नरः तन्नि-रोधभुवः तस्या इन्द्रियविषयाभिलाषायाः निरोधात् भवति जायते प्राप्यते तथाभूतस्य धाम्नः स्थानस्य मुक्तेः कथम् ईप्सति अभिलषति । यावत्कालं विषयतृष्णया मनः पीड्यते तावत्कालं मुक्त्यभिलाषो वृथैव ॥६४२॥ आत्मज्ञ इति—आत्मस्वरूपस्य ज्ञाता यातनायोगकर्मभिः अनशनकायक्लेशादितपांसि, परिषहसहनं च यातना, योगः निजात्मरूपे एकाग्रता । एभिः कर्मभिः कालेन संचितं दोषम् अनेकभवार्जितं रागद्वेषमोहादिकं क्षपयन् शुक्लध्यानेन निरस्यन् योगी कल्पतां वीतरागतां निजात्मशुद्धत्वं याति । यथा रोगी यातनायोगकर्मभिः

लङ्घनस्वेदनवमनादिभिरौषधसेवनेन च कालेन संचितं कफादिकं निरस्य कल्पतां नीरोगतां एति याति तथेति भावः ॥६४३॥ लाभेऽलाभे इति—यः मुनिः लाभे अलाभे । वने वासे ग्रामनगरादौ च । मित्रे अमित्रे शत्रौ च । प्रिये अप्रिये मनोज्ञे अमनोज्ञे च । सुखे दुःखे च समानात्मा भवति उपेक्षायुतः रागद्वेषरहितो जायते । तस्य सदा ध्यानधीः आत्मानुभवलाभाय ध्यानधीः एकाग्रबुद्धिर्भवति ॥६४४॥ कीदृगाचरणं ध्यानलाभहेतुर्भवतीत्याह—परे ब्रह्मणीति—परे उत्तमे ब्रह्मणि आत्मनि परमात्मनि परमात्मस्वरूपप्रतिपादकागमे अनूचानः विचक्षणः । धृतिः संतोषः । मैत्री परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषः, दया अनुग्रहार्द्रीकृतचेतसः परपीडामात्मस्थामिव कुर्वतो यो मनःपरिणामः सा दया । धृत्या मैत्र्या दयया च अन्वितः धृतिमैत्रीदयान्वितः, सः मुनिः सूनृताद्वाक्यादन्यत्र सत्यप्रियवाक्याद्विना अन्यत् असत्यम् गर्हितम्, सावद्यम्, सदपह्नवादिकं भाषणं न ब्रूयात् । अर्थात् नित्यं वाचंयमी मौनवान् भवेत् ॥६४५॥

[पृष्ठ २६२-२६८] संयोगे इति—इष्टलाभे, विप्रलम्भे इष्टवियोगे । निदाने भाविविषयभोगकाङ्क्षायाम्, परिदेवने स्वपरानुग्रहाभिलाषविषये अनुकम्पाप्रचुरे रोदने, हिंसायां प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणे । अनृते प्रमत्तयोगादसदभिधाने । स्तेये प्रमत्तयोगाददत्तादाने । भोगरक्षासु इन्द्रियविषयाः भोगाः तेषां रक्षासु तत्परे । जन्तोः प्राणिनः अनन्तसंसारभ्रमेणोरथवर्त्मनी अनन्तभवेषु भ्रमणे पापरूपरथमार्गभूते द्वे ध्याने भूमिर्ययोस्ते एणोरथवर्त्मनी पापरथसंचारमार्गस्वरूपे दुरन्तफलदायिनी दुष्टोऽन्तो येषां तानि फलानि दत्तः इति दुरन्तफलदायिनी नरकतिर्यग्गतिदुःखफलदायके आर्तरौद्रे ध्याने त्यजेत् मुञ्चेत् ॥ ६४६-६४७ ॥ बोध्यागमेति—बोध्यो ज्ञातुं योग्यो मुमुक्षुभिर्य आगमः स बोध्यागमः । तस्य कपाटे तस्य स्वरूपप्रच्छादकत्वात् कपाटसदृशे । तथा ते दुर्ध्याने परे मुक्तिमार्गार्गले परे दृढे मुक्तिपथरोधके । श्वभ्रलोकस्य नरकलोकस्य सोपाने निश्रेणीसदृशे । तत्त्वेक्षावृतिपक्ष्मणी जीवादिद्रव्याणां यथागमे याथात्म्यं प्रोक्तं तस्य तथा भवनं तत्त्वं तस्य ईक्षा पुनःपुनर्विमर्शः तस्याः आवृतिराच्छादनं तस्मिन् पक्ष्मणी नेत्रच्छदसदृशे ॥ ६४८ ॥ लेशतोऽपीति—यावत् यावत्कालम् एते आर्तरौद्रध्याने लेशतोऽपि स्तोकमपि मनः चित्तं समधितिष्ठतः आश्रयतः तावत् एष जन्मतरुः जननवृक्षः उच्चैः समधिरोहति अतितुङ्गो वर्धते ॥ ६४९ ॥ ज्वलन्निति—ज्वलन् प्रकाशयुतो भवन् प्रदीपः अञ्जनं कज्जलम् आधत्ते धारयति उत्पादयति । परं रविर्ज्वलन् अञ्जनं न आधत्ते । तथा आशयविशेषेण ध्यानं फलम् आरभते शुभाशुभशुद्धपरिणामविशेषतया ध्यानं शुभाशुभशुद्धफलं जनयति । अशुभपरिणामविशेषेण आर्तरौद्रद्वयं नरकतिर्यग्गतिफलं ददाति । शुभपरिणामविशेषेण धर्म्यध्यानं देवगतौ सुखं ददाति । शुक्लध्यानं शुद्धोपयोगपरिणामैः मुक्तिसुखं ददाति ॥ ६५० ॥ प्रमाणनयनिक्षेपैरिति—प्रमाणं प्रकर्षेण संशयादिदोषरहितं वस्तुतत्त्वं येन मीयते तत्प्रमाणम् । नयः प्रगृह्य प्रमाणतः परिणतिविशेषादर्थावधारणं नयः । निक्षेपः – नामादिभिः वस्तुनिरूपणं निक्षेपः । अनुयोगः सदादिप्रश्नैः जीवादिस्वरूपनिश्चयोऽनुयोगः । अनुयोगसहितैः प्रमाणनयनिक्षेपैः विशुद्धधीः विशुद्धबुद्धिर्मुनिः धर्मध्यानपरायणः सन् तत्त्वेषु जीवादिषु मतिं तनोति विस्तारयति ॥६५१॥ अरहस्ये इति—यथा सती, काञ्चनकर्मणो पतिव्रता स्त्री, सुवर्णालंकारश्च अरहस्ये गोपनीये न भवतः निर्दोषत्वात् । तथा सुधियः परमागमम् अरहस्यं निर्दोषम् इच्छन्ति ॥६५२॥ यः स्खलतीति—यः अल्पबोधानां मादृशां विचारेष्वपि स्खलति यः आगमः अल्पज्ञानानां मादृशां कार्यकारणविमर्शसमये स्खलति वस्तुतत्त्वनिर्णयं दातुं क्षमो न भवति । असत्यत्वात् । स आगमः संसारसमुद्रे मज्जज्जन्त्वालम्बः बुडत्प्राण्युत्तारकः कथं स्यात् । सर्वज्ञप्रणीतमागमं प्रमाणीकृत्य "इत्थमेवेदं नान्यथावादिनो जिनाः" इति गहनपदार्थश्रद्धानमर्थावधारणम् आज्ञाविचयाख्यं धर्म्मज्ञानं ज्ञातव्यम् ॥६५३॥ अपायविचयं धर्म्यध्यानमाचष्टे—अहो मिथ्यातम इति—युक्तिद्योते स्फुरति अपि अनेकान्तरूपं पदार्थनिवहं प्रमाणनयप्रकाशे प्रदर्शयत्यपि । मिथ्यातमः अतत्त्वश्रद्धानं विपरीतादिमिथ्यात्वसमूहः पुंसां भव्यजनानां चेतांसि मनांसि अन्धयति हिताहितविवेकशून्यं करोति । कुत्र ? रत्नत्रयपरिग्रहे सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राख्यमोक्षमार्गस्वीकारे । अहो आश्चर्यम् ॥ ६५४ ॥ आशास्महे इति—तत् तस्मात् कारणात्, एतेषां भव्यजनानाम् आशास्महे एतेऽपि रत्नत्रयपरिग्रहवन्तो भवन्त्विति इच्छामः । अस्तकल्मषाः निराकृतमिथ्यात्वपापाः एते अद्य कथं दुःख-

निबर्हणं चतुर्गतिदुःखनाशनं तत्त्वं यथार्थमनेकान्तवस्तुस्वरूपं प्रपश्यन्ति। यथा ते तत्त्वरूपं प्रपश्यन्ति तथा तेषाम् आशास्महे ।। इति अपायधर्म्यध्यानम् ।।६५५।। लोकविचयधर्म्यध्यानमाह—**अकृत्रिम इति**—अयं लोकः अकृत्रिमः नहि केनापि देवेन रचितः। विचित्रात्मा नानाविधस्वरूपः। मध्ये च त्रसराजिमान् त्रसनाली-सहितः त्रसजीवसमूहशोभितः। मरुत्त्रयीवृतः घनवातेन, अम्बुवातेन, तनुवातेन च सर्वतो वेष्टितः। प्रान्ते *अस्य लोकस्य प्रान्ते अग्रे तद्धामनिष्ठितः तेषां मुक्तानां धाम आस्पदं निवासः तेन निष्ठितः समाप्ति गतः।* मुक्तानां निवासो लोकस्यान्ते विद्यते इति भावः। तत ऊर्ध्वं सर्वत्र अलोकाकाश एवेति पुनः पुनः लोकस्य विचारणं लोकविचयधर्म्यध्यानमित्यर्थः ।।६५६।। विपाकविचयधर्मध्यानमाह—**रेणुवदिति**—तत्र तस्मि-ल्लोके। तिर्यक् मध्यलोके। ऊर्ध्वम् उपरि स्वर्गादौ। अधः पाताले च। एते जन्तवः त्रसस्थावरप्राणिनः। रेणुवत् धूलिर्यथा वायुप्रेरिता सती तिर्यक् इतस्ततः ऊर्ध्वम्, अधः यत्र कुत्रापि भ्रमति। तथा निजान्येव कर्माणि यानि शुभाशुभानि तान्येव अनिलः वायुस्तेन ईरिता नोदिताः। अनारतम् ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्षु स्थानेषु भ्रमन्ति तिर्यगादि-देहान् धृत्वा। एवं पुनः स्मरणम् एकाग्रचेतसा लोकविचयध्यानम् ।।६५७।। **इतीति**—इति एवं प्रकारेण। धर्म्यं चतुर्विधं धर्म्यध्यानं चिन्तयतः एकाग्रेण मनसा। पुनः कथंभूतस्य। यतेति – यतानि दान्तानि वशीकृतानि इन्द्रियाणि चेतो मनश्च येन तस्य मुनेः। तमांसि पापानि। द्रवं विनाशम् आयान्ति गच्छन्ति। कस्मादिव। द्वादशेति—द्वादशात्मा सूर्यः मेषवृषादिराशीन् क्रमशः गच्छत्यतः स द्वादशात्मा कथ्यते। *यथा सूर्यस्योदयाद्* ध्वान्तं पलायते तथा इन्द्रियाणि मनश्च वशीकृत्य धर्म्यध्यानं चिन्तयतो मुनेः तमांसि अज्ञानानि विनाशं यान्ति ।।६५८।। **भेदमिति**—विवर्जिताभेदम् अभेदं परित्यज्य भेदं ध्यायन्। भेदवर्जितम् अभेदं च ध्यायन् ध्याता सूक्ष्मक्रियाशुद्धो कायवाङ्मनसां व्यापारान् सूक्ष्मीकरोति। ततश्च पूर्वापेक्षया क्रियाशुद्धो भूत्वा निष्क्रियो भवति। योगत्रयरहितः ध्याता ततो निष्क्रियं ध्यानं प्रतिपद्यते स्वीकरोति ।।६५९–६६०।।

कीदृगात्मा मोक्ष इत्युच्यते—**प्रक्षीणोभयेति**—मनीषिणः स्याद्वादिनो विद्वांसः मोक्षम् आहुः। कथं-भूतं मोक्षम्। प्रक्षीणेति—प्रक्षीणे प्रणष्टे बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कर्मणी द्रव्यभावाख्ये यस्य सः तम्। पुनः कथंभूतम्। जन्मदोषैर्विवर्जितम् जन्म चतुर्गतिभ्रमणम्, दोषाश्च आवरणानि क्षुत्पिपासादयश्च तैर्वि-वर्जितम्। पुनः कथंभूतं मोक्षम्। लब्धेति – लब्धाः प्राप्ताः गुणाः अनन्तज्ञानादयोऽनन्ता गुणा यस्य तथाभूतम् आत्मानं मोक्षम् आहुः ब्रुवन्ति। नष्टाष्टकर्माणम् प्राप्तानन्तगुणम् द्रव्यभावकर्मरहितम् नष्टचतुर्गतिभ्रमणम् दोषरहितम् आत्मानम् विद्वांसः मोक्षं कथयन्ति इति भावः ।।६६१।। ध्यातुर्ध्येयमाचष्टे—**मार्गसूत्रमिति**—मार्गो मोक्षमार्गः तस्य सूत्रं 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' तत् ध्याता ध्यायेत् चिन्तयेत्। कथंभूतो ध्याता *आगम एव चक्षुरस्ति यस्य स आगमचक्षुष्मान् स्याद्वादागमलोचनः।* पुनः कथंभूतः। **प्रसंख्येति**—प्रसंख्यानम् एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानं तत्र परायणः प्रणिधानपरः। किं किं ध्यायेत्। अनुप्रेक्षाः शरीरादीनां स्वभावानु-चिन्तनम्। सप्ततत्त्वं जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षाश्चेति सप्ततत्त्वानि तेषां समाहारम्। जिनेश्वरं प्रक्षीणसकलघातिकर्माणं तीर्थकरदेवम् च। ध्यायेत् चिन्तयेत् ।।६६२।। **जाने इति**—यथा ऐतिह्यं तत्त्वम्। इति इह भवम् ऐतिह्यम् आप्तोपदेशः जिनागमः। तत्त्वं जीवादिकं यथा जाने वेद्मि तथा तदनन्यधीः तस्मिन् *अनन्या धीः यस्य सः आगमे एव मतिं कृत्वेत्यर्थः। अहं श्रद्दधे अन्यस्मिन् मिथ्यागमे न कदाचनापि मम मतिः* प्रवर्तेत। अहं सर्वम् आरम्भं मुञ्चे प्राणिपीडाहेतुव्यापार आरम्भः तं त्यजामि। तथा आत्मनि ज्ञानदर्शन-लक्षणे निजात्मनि आत्मानं स्वम् आदधे स्थापयामि स्थिरीकुर्वे। न बाह्ये वस्तुनि ।।६६३।। **आत्मायमिति**—अयम् आत्मा बोधिसंपत्तेः रत्नत्रयनिधेः सकाशात्। यदा आत्मना स्वेनैव करणेन श्रुतज्ञानेन। आत्मनि निजे स्वरूपे निश्चलो भवति तदा आत्मानं ज्ञानदर्शनलक्षणं शुद्धम् बाह्यसंयोगरहितं सूते जनयति। तदा परमात्मना परमः *आत्मा परमात्मा सकलमोहक्षयात् केवलज्ञानलाभाच्च नितरां शुद्धत्वं प्राप्तः आत्मा परमात्मा तस्य* स्वरूपेण स आत्मानं लभते। यथा वर्तिः दीपं प्राप्य दीपो जायते तथा श्रुतज्ञानेन जीवतत्त्वे एकाग्रीभूय चिरन्तनाभ्यासेन आत्मानं जीवो लभते ।।६६४।। स्वस्वरूपचिन्तने आत्मैव ध्यातृध्यानध्येयध्यानफलरूपो भवतीति दर्शयति—**ध्यातेति**—आत्मैव ध्याता भवति। यथा युक्तिपरिग्रहः प्रमाणनयात्मिका युक्तिः,

तस्याः परिग्रहः युक्तिपरिग्रहः यथार्थत्वेन सम्यक्तया प्रमाणनयानाम् आश्रयं कृत्वा निजस्वरूपम् आत्मा चिन्तयति तदा स ध्यातोच्यते। रत्नत्रयं ध्येयं भवति। आत्मैव आत्मानं चिन्तयति निजेनैव स्वरूपेण निजं रूपं चिन्तयति। अतो ध्यानमप्यात्मैव। रत्नत्रयं तस्य चिन्तनात्प्राप्यतेऽतस्तदेव आत्मनोऽनन्यं फलम्। अत्र रत्नत्रयम् आत्मनः सकाशात् अभिन्नम्। अतः रत्नत्रयवान् आत्मा रत्नत्रयमेवोक्तः ॥६६५॥ **सुखामृतेति**— आत्मनः निजस्वरूपे एव रतिः सुखामृतम् उच्यते। तस्योत्पत्तेः आत्मा कारणम्। अतः सुधोत्पत्तिर्यथा सुधासूतेश्चन्द्राज्जायते तथा सुखामृतोत्पत्तेः कारणं आत्मैव न स्त्रीस्रक्चन्दनादिवस्तूनि। अयमात्मैव निजानन्दरवेः उदयाचलः। परम् अहं ब्रह्मापि अत्र अस्मिन् संसारे तमःपाशवशीकृतः तमोऽज्ञानं तत् पाश इव पाशः। यथा पाशेन कण्ठो निरुध्यते तथाज्ञानपाशेनायमात्मा निरुद्धत्वादचेतन इव स्वस्वरूपज्ञानमूढो भवति ॥६६६॥ **यदेति**—यदा काललब्धिमासाद्य पञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तिकत्वपर्यायं प्राप्य सर्वविशुद्धया सम्यक्त्वं चारित्रं च लभते ममात्मा तदा तद्ध्यानोदयगोचरं मे चेतश्चकास्ति। तस्य निजस्वरूपस्य ध्यानं चिन्तनं तस्य उदयः उत्पत्तिः सः गोचरो विषयो यस्य तथाभूतं चेतः चकास्ति प्रकाशते। तदा आदित्यः सूर्यः अन्धकारं निरस्य अतमाः ध्वान्तरहितः जगतां चक्षुर्भवति। लोकं निजतेजसा प्रकाशयति। तथा अहमपि अतमाः तमः मिथ्याज्ञानं तेन रहितो भूत्वा आदित्यवत् प्रकाशमयो ज्ञानमयो भूत्वा जगतां त्रिलोकानां चक्षुः स्याम् यथार्थवस्तुस्वरूपदर्शको भवेयम् ॥६६७॥ इन्द्रियजसुखस्वरूपं दर्शयति निदर्शनेन—**आदाविति**—सर्वम् इन्द्रियसुखं पञ्चेन्द्रियविषयसुखम्। आदौ प्रारम्भे। मधुवन्मकरन्दवत् प्रतिभाति। परं प्रान्ते अवसाने तदेव अमधु कटुकम् अप्रियं जायते। यथा हेमन्ते शीततौ प्रातःस्नायिषु प्रभातकाले स्नानं कुर्वत्सु अङ्गिषु नरेषु तोयम् उष्णमिवाभाति। परं सूर्योदयानन्तरं तदेव नीरं तथा नानुभूयते ॥६६८॥ सर्वेऽपि यमेन कवलीक्रियन्ते जीवाः। **यो दुरामयेति**—यः दुरामयदुर्दर्शे यः यमः दुष्टेन रोगेण पीड्यमानत्वात् दुर्दर्शः दुष्टः कुरूपः दर्शः दर्शनं यस्य, रोगेण कुरूपाकारः जुगुप्स्याकारः यो नरः तस्मिन्। यः बद्धग्रासः तं नरं यः ग्रासीकरोति। तस्य यमस्य। स्वभावसुभगे प्रकृतिसुन्दरे नरे। स्पृहा अभिलाषा। केन निवार्यते। न केनापि ॥६६९॥

[पृष्ठ २६९-२७०] **जन्मेति**—जन्म जननम् यौवनं तारुण्यम्, संयोगसुखानि इष्टजनसहवाससुखानि। यदि देहिनां प्राणिनाम्। निर्विपक्षाणि निर्गतो विपक्षः शत्रुर्येभ्यस्तानि यदि भवेयुः। तदा को नाम सुधीर्मतिमान्नरः संसारमुत्सृजेत् भवं त्यजेत्। गृहीत्वा दीक्षां को नाम जनः तपःक्लेशं सहेत। जन्मनः शत्रुर्मरणम्। यौवनस्य शत्रुर्जरा। संयोगसुखस्य शत्रुः इष्टवियोगदुःखम् ॥६७०॥ **अनुयाचेतेति** – आयूंषि न अनुयाचेत आयुर्वृद्धये न स्पृहयेत्। नापि मृत्युम् उपाहरेत् मृत्युर्मे भूयादिति नाभिलषेत्। कालावधिं कालस्य मर्यादाम् अविस्मरन् चिन्तयन् भृतः भृत्य इव द्रव्यक्रीतो दास इव आसीत्। यथा भृत्यः स्वामिनं यावत्कालं तेन न मुच्यते तावत्कालं तं सेवते तथा आयुःसमाप्तिर्यावन्न भवेत्तावत्कालं स्वस्थेन चेतसा आसीत ॥६७१॥ **महाभाग इति** – अहम् अद्य महाभागः महाभाग्यवान्। अस्मि भवामि। यत् यस्मात्कारणात् तत्त्वरुचितेजसा जीवादिसप्ततत्त्वानां रुचिः जिनदेवेन यत्सप्ततत्त्वानां स्वरूपं प्रत्यपादि तत्र न दोषकणिकापीति विमर्शात्संजातहर्षेण नखच्छोटिकादानं तदेव तेजः तेन। अहं सुविशुद्धान्तरात्मा अतीव निर्मलान्तरात्मा जातः। मम प्राक्तनं बहिरात्मस्वरूपं यदन्धकारसदृशमासीत्तन्नष्टम्। अधुनाहं तमःपारे प्रतिष्ठित आसे। सम्प्रत्यहं मिथ्याश्रद्धानतमः उल्लङ्घ्य स्वस्वरूपे श्रद्धानरूपे स्थिरो जातः स्वैरं वर्ते ॥६७२॥ जैनागमसुधाया दुर्लभत्वमाह – **तन्नास्तीति** – लोके जगति। अहं यत् सुखं दुःखं च नाप्तवान् न लब्धवान् तन्नास्ति। चतुर्गतिभवानि सर्वाणि सुखानि दुःखानि च मया अनन्तवारं भुक्तानि। परं मया स्वप्नेऽपि जैनागमसुधारसः न प्राप्तः। जागरितावस्थायां जिनप्रोक्तस्य आगमपीयूषस्य आस्वादः दूर एव आसीत् ॥६७३॥ जैनागमसुधाबिन्दुमप्यालिहतो जनस्य संसारज्वलनशान्तिर्भवतीति वदति – **सम्यगिति** – एतत्सुधाम्भोधेः एष चासौ सुधाम्भोधिः एतत्सुधाम्भोधिः तस्य एतस्य जिनागमपीयूषसागरस्य। बिन्दुमपि मुहुः पुनः पुनः आलिहन् आस्वादयन् जन्तुः। जातु कदाचिदपि। जन्म एव ज्वलनोऽग्निः तस्य भाजनं पात्रं न जायेत। तस्य जीवस्य संसाराङ्गारस्पर्शः कदाचनापि न भवेत् ॥६७४॥ अधुना अर्हतः स्वरूपं पञ्चदशभिः श्लोकैर्ग्यावर्णयति सूरिः। तत्स्वरूप-

ज्ञानेन तद्ध्यानं कर्तुं सुशकं भवेत् यतः – **देवं देवसभासीनमिति** – ध्यायेदिति पञ्चदशतमपद्यस्थित-क्रियया संबन्धः। कथंभूतम् अर्हन्तं ध्यायेत्। देवमिति – दीव्यते स्तूयते इन्द्रादिभिरिति देवः तम्। पुनः कथंभूतं देवसभासीनम् – देवैर्निर्मितायां समवसरणसंसदि समासीनं रत्नजटिततुङ्गसिंहासने पद्मोपरि उपविष्टम्। पुनः कथंभूतम् पञ्चकल्याणनायकम् – पञ्चानां गर्भजन्मतपःकेवलनिर्वाणलक्षणानां कल्याणानां मङ्गलानां देवैरवतीर्य विहितानाम् उत्सवानां नायकम् अधीशम्। पुनः कथंभूतम् चतुस्त्रिंशद्गुणोपेतम् – अर्हतः शरीरे जन्मसमये दशातिशयाः संजायन्ते। केवलज्ञाने जाते दशातिशया भवन्ति। देवकृताश्च चतुर्दशातिशयाः संभवन्ति अतोऽर्हन् भवति चतुस्त्रिंशद्गुणोपेतः तम्। पुनः कथंभूतम्। प्रातिहार्योपशोभितम् – अशोकवृक्षाद्यष्टप्राति-हार्याणि तैरुपशोभितमलंकृतम् ॥६७५॥ **निरञ्जनम्** – अञ्जनं कज्जलं तद्यथा वस्त्रादिकं मलिनं करोति तथा घातिकर्माञ्जनमात्मनो ज्ञानादिगुणान्मलिनीकरोति अतः तन्निर्गतं यस्मात्सोऽर्हन्निरञ्जनः तम्। पुनः कथंभूतम् परमम् उत्तमम्, सर्वलोकेषु श्रेष्ठम्। रमयाश्रितम् – अनन्तज्ञानादिचतुष्टयरूपया लक्ष्म्यावलम्बितम्। पुनः कथंभूतम् अच्युतम् न च्यवते स्म स्वस्वरूपात् अच्युतः परमात्मनिष्ठः तम्। च्युतदोषौघं च्युतो गलितः दोषाणाम् ओघः समूहो यस्मात् यस्य वा तं क्षुत्पिपासाद्यष्टादशदोषरहितम्। अभवम् न भवः जन्ममरणादि-लक्षणः यस्य तम्। भवभृद्गुरुम् भवं संसारं बिभ्रति इति भवभृतः तेषां गुरुः तम् – संसारिणां भव्यानां मोक्ष-मार्गोपदेशकत्वात् भवभृद्गुरुस्तम्। पुनः कथंभूतम्। सर्वसंस्तुत्यम् सर्वैः नरैर्दानवैर्देवैः पशुभिश्च स्तोतुं योग्यं सर्वसंस्तुत्यम्। पुनः कथंभूतम्। अस्तुत्यम् न स्तुत्यो यस्य कोऽपि, अर्हतः सर्वश्रेष्ठत्वात् गुणैर्ज्येष्ठत्वात् च। पुनः कथंभूतं सर्वेश्वरम्, अनीश्वरम् सर्वेषां त्रिभुवनपतीनाम् इन्द्रधरणेन्द्रचक्रवर्तिनाम् ईश्वरः स्वामी तम्। अनीश्वरम् न ईश्वरो यस्मात् अन्यः स अनीश्वरः अर्हतः कोऽपि प्रभुर्न वर्तते स सर्वेषामेव प्रभुः। सर्वाराध्यम् सर्वैः इन्द्रादिभिः गुणप्राप्त्यर्थमाराध्यं पूज्यम्। अनाराध्यम् नान्य आराध्यो यस्य सः तम् स्वयमेव निजात्मानम् आराध्यार्हन् स्वयंभूर्जातः इति भावः। पुनः कथंभूतम् सर्वाश्रयम् सर्वेषां भव्यानाम् आश्रयभूतमवलम्बभूतम्। अनाश्रयम् निरालम्बम्। सर्वेभ्यो गुरुत्वात् अनाश्रयम् ॥६७६–६७७॥ **प्रभवमिति** – सर्वविद्यानां प्रभवम् सकलद्वादशाङ्गानां भावरूपाणाम् उत्पत्तिस्थानम्। सर्वलोक-पितामहम्। सर्वेषां त्रिभुवनवर्तिनां लोकानां जीवानां पितामहः। गणधरदेवादयः सर्वलोकानां पितरः तेषामपि जिनेश्वरः पिता अतः अस्मदादीनां भक्तानां स पितामहः तम्। पुनः कथंभूतम्। सर्वेति – सर्वेषां सत्त्वानां प्राणिनां यत् हितकरं रत्नत्रयं तदर्थम् आरम्भः उपदेशो यस्य सः तम्। पुनः कथंभूतम्। गतसर्वं गतेन ज्ञानेन व्याप्तवान् सर्वाणि वस्तूनि यः स गतसर्वः सर्वज्ञः इति भावः। पुनः कथंभूतम्। असर्वगम् सर्वगो व्यापकः सर्वाणि वस्तूनि गच्छतीति सर्वगः न सर्वगः असर्वगः अव्यापकः देहमात्रपरिमाणः। स्वदेहे एव सर्वेषां जनानां सुखदुःखानुभवोऽत आत्मा स्वदेहपरिमाणः। नैयायिकवैशेषिकाणां मते आत्मनो व्यापकत्वं प्रतिपादितं परं तत्तथा न। व्यापकत्वे आत्मनस्तच्छरीरेणापि व्यापकेन भाव्यम्। "स्वाङ्गे एव स्वसंवित्त्या स्वात्मा ज्ञानसुखादिमान्। यतः संवेद्यते सर्वैः स्वदेहप्रमितिस्तथा" इत्यनेन प्रमाणेन तस्य स्वदेहपरिमाणत्वं सिद्धं भवेत् ॥६७८॥ **नम्रामरेति**—नम्राश्च ते अमराश्च देवास्तेषां किरीटानि मुकुटाः तेभ्यो निर्गता ये अंशवः किरणास्तेषां परिवेषा मण्डलानि तैर्युक्ते नभस्तले आकाशतले। भवदिति—भवतः पूज्यस्य पादयोर्द्वयं युगलं तस्य द्योतिनः कान्तिमन्तो ये नखाः त एव नक्षत्रमण्डलम्। कथंभूतं तत् स्तूयमानं स्तुतिविषयीक्रियमाणम्। कैः अनूचानैः श्रुतज्ञाननिपुणैः। पुनः कथंभूतैः ब्रह्मोद्यैः ब्रह्म मुक्तिः उद्यं वचनविषयं येषां ते ब्रह्मोद्यास्तैः मुक्तिपदं वर्णयद्भिः। ब्रह्मकामिभिः ब्रह्म शुद्धात्मरूपं तस्मिन्कामो वाञ्छा येषां ते ब्रह्मकामिनः तैः। पुनः किंभूतैः। अध्यात्मेति—आत्मनि अधिकृतश्चासौ आगमः अध्यात्मागमः जीवस्वरूपप्रतिपादकं शास्त्रम् तस्मिन् वेधोभिः ब्रह्मभिः तच्छास्त्रनैपुण्यवद्भिः महर्द्धिभिः बुद्धिविक्रियादिलब्धिमद्भिः योगिमुख्यैः ध्यानिवर्यमुनिभिः स्तूयमानम् अर्हन्तं ध्यायेदिति संबन्धो ज्ञेयः ॥६७९–६८०॥ **नीरूपमिति**—कथंभूतमर्हन्तं ध्यायेदित्याह – नीरूपं निर्गतो रूपात् इति नीरूपः तम् शुक्लादिवर्णरहितम् तथापि रूपिताशेषम् रूपितं ज्ञातम् अवलोकितं सकलवस्तुकदम्बकं येन स रूपिताशेषस्तम्। अशब्दं शब्दरहितं शब्दस्तु पुद्गलपर्यायः स अर्हति न विद्यते। तथापि शब्दनिष्ठितं

शब्देन आगमेन निष्ठितः निर्णीतः तं शब्दनिष्ठितम् । पुनः कथंभूतम् । अस्पर्शं योगसंस्पर्शम् । स्पर्शैः अष्टविधैः शीतोष्णादिभिः रहितम् । योगः धर्म्यशुक्लध्याने तयोः सं सम्यक् स्पर्शो यस्य सः तम् । अरसं रसरहितं पुनः सरसागमम् । सरसः सकलषड्द्रव्याणां रसः स्वभावः तेन सहितः तद्द्रव्यस्वरूपज्ञापकः आगमो यस्य सः तम् । अथवा सरसो भव्यजनमनोमोदकः आगमो यस्य सः तम् ॥६८१॥ गुणैरिति—अनन्तज्ञानादिभिः गुणैः सुरभितः सुगन्धितः आत्मा यस्य सः तं गुणैः सुरभितात्मानम् । दोषदुर्गन्धकणिकयापि रहितम् अर्हन्तं ध्यायेदिति भावः । अगन्धगुणसंगमम् गन्धगुणस्य संगमेन रहितम् । गन्धो गुणः पुद्गले वर्तते सोऽर्हति नास्तीति भावः । व्यतीतेति—व्यतीतः विशेषेण अतीतः अपगतः इन्द्रियाणां संबन्धो यस्मात् । भगवान् केवलज्ञानी यदा जातस्ततः प्रभृति तस्य मतिज्ञानावरणक्षयोपशमजातैः स्पर्शनादीन्द्रियैः संबन्धो नष्टः । भावेन्द्रियसंबन्धापगमो जातो भगवतः । नामकर्मोदयोत्पन्नैर्द्रव्येन्द्रियसंबन्धस्तस्य अघातिकर्मणां सत्त्वाद्विद्यते । पुनः कथंभूतं तं ध्यायेत् इन्द्रियार्थावभासकम् इन्द्रियाणां पञ्चेन्द्रियाणाम् अर्थाः विषयभूता ज्ञेयपदार्थाः तान् अवभासयति जानातीति अवभासकः तम् ॥६८२॥ अर्हतः अष्टमूर्तिमत्त्वं व्याख्याति—भुवमिति—आनन्दाः अनन्तसुखानि एव सस्यानि धान्यानि तेषां भुवं भूमिरूपम् । पुनः कथंभूतम् । तृष्णा आशा एव अनलार्चिषः अग्निज्वालाः तद्विध्यापने अम्भः पानीयरूपमर्हन्तम् दोषरेणूनां क्षुत्पिपासादयो दोषा एव रेणवः धूलयः तेषाम् उड्डायने पवनरूपम् । एनोऽवनीरुहाम् अग्निम्—एनांसि पापानि तान्येव अवनीरुहाः वृक्षास्तेषां दहने अग्निरूपम् । यजमानं सदर्थानां सन्तः अनेकान्ताः कथंचिन्नित्यानित्यादयो ये जीवादिपदार्थाः तेषां यजमानं भव्येभ्यो दातारम् । व्योम अलेपाद्धि सम्पदाम् हि यतः सम्पदां समवसरणादिविभूतीनां प्राप्तावपि अलेपात् अनुरक्त्यभावात् व्योमरूपम् आकाशरूपम् अर्हन्तं ध्यायेत् । भानुमिति—भव्यारविन्दानां भव्यकमलानाम् विकासपटुत्वात् आनन्ददायकत्वात् भानुं रविरूपम् । चन्द्रमिति—मोक्षामृतश्रियाम् मोक्ष एवामृतं सुधा तस्य श्रियः कान्तयः तासां चन्द्ररूपम् इत्यर्हतोऽष्टमूर्तिरूपं प्रतिपादितम् ॥६८३-६८४॥

[पृष्ठ २७१-२७२] अतावकगुणमिति—सर्वं सकलं वस्तुजातं अतावकगुणम् तव इमे तावकास्त्वदीयास्ते च गुणास्तावकगुणाः ते यस्मिन् न सन्ति तथाभूतं सर्वं विद्यते वस्तुजातम् । सर्वज्ञत्वादिगुणा भवत्येव सन्ति अतो भवद्व्यतिरिक्ताः सर्वे हरिहरादयोऽतावकगुणाः इति भावः । त्वं तु सर्वगुणभाजनः सकलघातिकर्मविलयात्त्वं भवान् सकलानन्तबोधादिगुणानां पात्रभूतः । त्वं सृष्टिः उत्पत्तिरूपः केषां सर्वकामानाम् सर्वासाम् इच्छानां त्वं पूरकः । त्वं भव्यमनोरथपूरणसमर्थः । तथापि कामसृष्टिनिमीलनः कामस्य स्मरस्य अशुभमनोवाक्कायव्यापाररूपस्य निमीलनः विध्वंसकः ॥६८५॥ खसुप्तदीपनिर्वाणे इति—अप्राकृते अलौकिके खसुप्तदीपनिर्वाणे-खनिर्वाणं नैयायिकानाम् । बुद्धिसुखादीनां नवानाम् आत्मगुणानाम् अत्यन्तमुच्छेदात् जीवो मुक्तो भवति इति मतम् । सुप्तनिर्वाणं सांख्यानाम् । यतस्ते मुक्तौ जीवस्य प्राकृतिकज्ञाननाशं मन्यन्ते । दीपनिर्वाणं बौद्धानाम् यतस्ते आत्मा दीप इव तैलक्षयात् सर्वथा विनाशं यातीति मन्यन्ते । हे जिन, त्वयि अप्राकृते अलौकिके त्वयि । जिने आकाशवत् रागद्वेषमोहाभावात् शून्यत्वम् । योगनिद्रायां सुप्तत्वम् । दीपवत्केवलज्ञानेन द्योतकत्वं विद्यते । अतः नैयायिकसांख्यबौद्धरूपं जगत्त्रयं प्राकृतं रत्नत्रयस्वरूपहीनं वर्तते स्फुटम् ॥६८६॥ त्रयीमार्गमिति—त्रयी सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां त्रयमेव त्रयीत्युच्यते । तस्यास्त्रय्याः भवान् प्रापकत्वात् त्रयीमार्गः तं त्रयीमार्गम् । त्रयीरूपं सम्यग्दर्शनादित्रयी एव भवतः स्वरूपं ततोऽनन्यत्वात् अग्नेरुष्णतावत् । त्रयीमुक्तम्, मिथ्यादर्शनम्, मिथ्याज्ञानम्, मिथ्याचारित्रम् एतेषां त्रयी तस्या मुक्तं रहितम् । त्रयीपतिं लोकत्रयीस्वामिनम् रत्नत्रयपतिं वा । त्रयीव्याप्तम्—त्रय्यां लोकत्रितये व्याप्तम् । केन व्याप्तम् ज्ञानेन । त्रयीतत्त्वम् रत्नत्रयं त्रयीत्युच्यते । तदेव तत्त्वं स्वरूपं यस्य तथाभूतं त्रयीतत्त्वम् । त्रयीति—त्रयी लोकत्रयम् तत्र चूडामणिवत् स्थितम् जिनं ध्यायेत् ॥६८७॥ जगतामिति—जगतां त्रिलोकानां कौमुदीचन्द्रम् ज्योत्स्नोत्पादकं चन्द्रमिव । कामेति त्रिलोकानां या अभिलाषाः तत्पूरणाय कल्पावनीरुहम् कल्पयति कामान् सम्पादयति इति कल्पः स चासौ अवनीरुहश्च वृक्षः तम् । गुणेति—गुणाः ज्ञानादयः त एव चिन्तामणयः चिन्तितफलदायका मणयः तेषां क्षेत्रम् उत्पत्तिस्थानम् । अर्हन्तं ध्यायेत् । पुनः कथंभूतम् । कल्याणेति—

कल्याणानाम् आगमनं तस्य आकरम् उत्पत्तिस्थानम् ॥६८८॥ प्रणिधानेति—प्रणिधानानि चित्तस्य एकाग्रता करणानि तान्येव प्रदीपाः तेषु साक्षादिव प्रत्यक्षमिव चकासतं प्रकाशमानम्। जगत्त्रयार्चार्हं लोकत्रयपूजनयोग्यम्। सर्वतोमुखम्—विश्वतश्चतुर्दिक्षु मुखं वक्त्रं यस्येति विश्वतोमुखः केवलज्ञानवन्तं स्वामिनं सर्वेऽपि जीवा निजनिजसम्मुखं भगवन्तं पश्यन्तीति भावस्तस्य तादृशनिर्मलत्वात्। अथवा विश्वतोमुखं खलु जलमुच्यते तत्स्वभावत्वात्, अमितजन्मपातकप्रक्षालकत्वात्। विषयसुखतृष्णानिवारकत्वात्, प्रसन्नभावत्वाच्च भगवानपि विश्वतोमुख उच्यते। अथवा विश्वं संसारं तस्यति नाशयति निराकरोति मुखं यस्येति विश्वतोमुखः। भगवन्मुखदर्शनेन जीवः पुनः संभवे न संभवेत्। अथवा विश्वतः सर्वाङ्गेषु मुखं यस्येति विश्वतोमुखः तम्। पुनः कथंभूतम् अर्हन्तम् इन्द्रादिकृतामनन्यसंभाविनीम् अर्हणामर्हति योग्यो भवतीति अर्हन्। अथवा अकारशब्देन अरिर्लभ्यते स एव मोहनीयः। रकारेण रजो रहस्यं च लभ्यते किं तत् रजः ज्ञानावरणं दर्शनावरणं च द्वयमेतत् रज उच्यते। रहस्यशब्देन अन्तरायकर्मोच्यते, एतच्चतुष्टयं च घातिकर्मचतुष्टयं कथ्यते। तद्धत्वा अर्हणामर्हतीति अर्हन् तम् अर्हन्तं ध्यायेत् चिन्तयेन्मनसेति ॥६८९॥ आहुरिति—तस्मात् भगवतो जिनेश्वरात् परं ब्रह्म परमात्मपदं करे अयत्नाप्यं विना प्रयत्नं लभ्यमित्याहुर्गणधरदेवादयः। तस्मादेव अर्हतः ऐन्द्रं पदम् इन्द्रसंबन्धि सकलदेवाधिपत्यं करे अयत्नलभ्यमाहुः। तथा तस्मात् एव भगवत इमा इहलोकसंबन्धिन्यः चक्राङ्काः सुदर्शनचक्रचिह्नाः सकलचक्रिपतिपालिताः क्षितिपश्रियः भूमिपतिलक्ष्म्यः अयत्नलभ्याः सन्ति ॥६९०॥ यं यमिति—अस्मयमत्सराः स्मयश्च मत्सरश्च स्मयमत्सरौ गर्वान्यशुभद्वेषौ तौ येषां न ते अस्मयमत्सराः अगर्वा अन्यशुभस्निग्धाश्च भव्याः अध्यात्ममार्गेषु यं यं भावम् अभिप्रायं तत्पदाय अन्तः मनसि दधति बिभ्रति, अर्हत्पदप्राप्तये स स भावस्तत्रैव लीयते तस्मिन्नेव पदे लीनो जायते। स स भावः प्रकर्षं प्राप्य अर्हत्पदप्राप्तिकारणं भवति। एतदेव सोदाहरणं विवृणोति ॥६९१॥ अनुपायेति—पुंस्तरूणां पुमांसः भव्याः त एव तरवो वृक्षास्तेषां मनोदलं मनश्चित्तमेव दलं पत्रं तत् अनुपायानिलोद्भ्रान्तम् अनुपायाः मोक्षप्राप्तेरमार्गाः मिथ्यादर्शनादयस्त एव अनिलास्तैरुद्भ्रान्तम्। परं यदा ते अनिलाः शाम्यन्ति, तदा चिरादपि दीर्घात्कालादपि भूमावेव लीयमानं भज्येत। यथा तरोर्दलं वा तेनोपरि नीयते परं तस्योपशमे तत्पुनरध आगत्य भूमिमाश्रयति तथा भव्यमनोदलं पुनः अर्हत्स्वरूपां भूमिमाश्रयति। ज्योतिरेकमिति—इदं परमात्मज्योतिः। एकम् अद्वितीयम्। इदं पुद्गलधर्माधर्माकाशकालेषु नोपलभ्यते। परम् अस्य परमात्मनः वेधः। करीषेति—करीषं शुष्कगोमयम्। अश्मा पाषाणः समित् शुष्कतृणकाष्ठादिः तैः समः तुल्यः अयं परमात्मा स्वस्मिन्नेवोपलभ्यः। परं तत्प्राप्तेः परमात्मनः प्राप्तेः तथा अग्निप्राप्तेश्च उपायज्ञानाभावात् दिङ्मूढाः पथिका इव जीवाः भवकानने संसारारण्ये। भ्रमन्ति विचरन्ति। गोमयेऽग्निः शीघ्रं प्रकटो न स्यात् तथा स्त्रीषु परमात्मा पारम्पर्येण प्रकटो भवति। पाषाणे अग्निः शीघ्रं प्रकटो भवति तथा पुंसि आत्मा तस्मिन्नेव भवे प्रकटो भवेत् परमात्मदशां प्राप्तुम् अर्हो भवेत्। नपुंसके च स्त्रीवत् ॥६९२-६९३॥ परापरेति—पराः श्रेष्ठा गणधरादयः। अपरा गृहस्थाः तेषु परं श्रेष्ठम्। एवम् उपर्युक्तप्रकारेण चिन्तयतो मनसि स्मरतो यतेः। ते ते भावाः लोकोत्तरश्रियः जगदुत्कृष्टसम्पद्भिः युक्ताः। अतीन्द्रियाः अतिक्रान्तेन्द्रियविषयाः भवन्ति। परात्मनः स्मरणात् सामान्यजनदुर्लभाः अवधिज्ञानाद्यतिशयविशेषा लभ्यन्ते। पराः अनगारकेवलिनः तेभ्यः परा उत्कृष्टाः गणधराः तेभ्यः परो जिनः इति। जिनेश्वरात् न कोऽपि श्रेष्ठः ॥६९४॥ व्योमेति—यथा व्योमाकाशं स्वयम् अमूर्तमपि छायानरेति—छाया प्रतिबिम्बं तेन युक्तो नरः तस्य उत्सङ्गं संबद्धं भवति। तथा अयम् आत्मा योगयोगात् ध्यानयोगात् प्रत्यक्षं वीक्षणम् अनुभवो यस्य तथा भवति। किल कश्चिन्निमित्ती मनुष्यः स्वशरीरच्छायालोकनं करोति। छायालोकनाभ्यासवशात् वियति छायां विनापि स तां वीक्षते एवं ध्यानाभ्यासात् आत्मा ध्यात्रा दृश्यते ॥६९५॥

[पृष्ठ २७३-२८०] न ते गुणेति—यत् यस्मात्कारणात् योगस्य ध्यानस्य द्योतनेन प्रकाशेन। अस्ततमश्च ये निरस्ता ज्ञानसमुच्चये येन स्युः प्रकटत्वं न प्राप्नुयुस्ते गुणाः नैव। यत् न जायते तज्ज्ञानं नैव या नोद्भवति सा दृष्टिर्नास्ति। यन्नोत्पद्यते तत्सुखमपि न। अस्यैदम्पर्यमेतत्—आत्मनि निरस्तकर्मणि सर्वे

गुणा: । सकलं ज्ञानम् । सकलं दर्शनम् । सकलं सुखं च उत्पद्यन्ते ॥६९६॥ **देवम् इति**—जगत्त्रयीनेत्रं सकललोकलोचनम्, देवं जिनेशम्, तथा व्यन्तराश्च देवता: शासनदेवतादय: पूजाविधानेषु पूजाभिषेकादौ समं समानमानार्हं पश्यन् वीक्षमाण: अध: दूरं व्रजेत् अधोलोके दूरं नरकं गच्छेत् उत्पद्येत । व्यन्तरदेवताभि: तुल्यत्वम् अर्हतोऽस्तीति संकल्पेन महानविनयो भवति जिनेन्द्रस्य तत: पापलेपादधोगतिप्राप्ति: स्यादेव ॥६९७॥ **ता इति**—ता: शासनयक्षयक्षिण्य: गोमुखचक्रेश्वर्यादय:, क्षेत्रपाला: दिक्पालादयो देवता: । परमागमे शासनाधिरक्षार्थं जिनमतरक्षणाय कल्पिता: सूरिभि: मन्यन्ते स्म । अतो यज्ञांशदानेन पूजाशेषद्रव्यवितरणेन सुदृष्टिभि: सम्यग्दर्शनधारिभिर्भव्यै: माननीया: पूजनीया: । तथा संकल्पेन पूजिता: भव्यानां सम्यक्त्वहानये ता न भवन्ति । ता: जिनसदृशा: न माननीया: किन्तु जिनाधीना ज्ञातव्या: ॥६९८॥ **तच्छासनेति**—तस्य जिनेश्वरस्य शासने मते एका दृढा अद्वितीया भक्तिर्येषां तादृशां सुदृशां सम्यग्दर्शनवतां सुव्रतात्मनाम् अणुव्रतिनां ता: सपुरन्दरा: सौधर्मेन्द्रसहिता: स्वयमेव सन्तुष्टा भूत्वा प्रसीदन्ति प्रसन्ना भवन्ति ॥६९९॥ **तद्धर्मेति**—तद्धर्मे जिनप्रोक्ते धर्मे बद्धकक्षाणां दृढतरबुद्धीनाम् । रत्नत्रयधारणात् महीयसां श्रेष्ठतामापन्नानाम् । मनोरथै: मनोऽभिलषितै: । उभे द्यावाभूमी द्यौ: आकाशं भूमि: भूतलम् नभोभूतले । कामदुघे स्याताम् । इष्टदानसमर्थे कामधेनू भवेताम् ॥७००॥ वरोपलिप्सया चेतसो रिक्तत्वमाह—**कुर्यादिति**—जन: तपोऽनशनादिकं कुर्यात् विदधीत । मन्त्रान् जपेत्, देवता वा नमस्येत् नमस्कुर्यात् । यदि तच्चेत: तस्य मन: सस्पृहं वरोपलिप्सयाकुलं स्यात् स: सम्यग्दृष्टि: व्रतिको वा अमुत्र, परस्मिन् स्वर्गादौ इह च अस्मिल्लोके रिक्त: फलशून्यो भवेत् ॥७०१॥ ॐकारजप: करणीय इति निवेदयति—**ध्यायेत् इति**—गुरुपञ्चकवाचकम् अर्हत्सिद्धादिपरमेष्ठिनां पञ्चानां वाचकं प्रतिपादकम् । वाङ्मयं पञ्चनमस्कारमन्त्रं ध्यायेत् चिन्तयेत् एकाग्रीभूतमानस: । एतद्धि वाङ्मयं सर्वविद्यानां सकलविद्यानाम् । अधिष्ठानम् आधारभूतम् । अविनश्वरम् अविनाशि ज्योति: । अपूर्वम् चन्द्रसूर्यादिषु नोपलब्धं कदापि सकलपदार्थप्रकाशकम् ॥७०२॥ **ध्यायन्निति**—इदं पञ्चपरमेष्ठिवाचकम् ॐ इत्यक्षरम् । अस्मिन्देहे मन्दरमुद्रया मस्तकोपरि हस्तद्वयेन शिखराकार: कुड्मल: क्रियते स एव मन्दरो गिरि: । इति विन्यस्य स्थापयित्वा । ध्यायेत् चिन्तयेत् । सर्वनामादिवर्णार्हम् सर्वाणि यानि नामानि पञ्चपरमेष्ठिनाम् । तेषु आदिवर्णस्य अर्हं योग्यम् । वर्णाद्यन्तं सबीजकम् बीजाक्षरोपेतम् । पञ्चपदप्रथमाक्षरेण योग्यम् अर्हन् शब्दस्य 'अर्ह' इति गृह्यते । अशरीर 'अर' इति । सूरि 'अर्य' इति । अध्यापक 'अ' इति । मुनि 'म' इति । पश्चात् 'रूपे रूपं प्रविष्टम्' इति वचनात् अकाररकाराश्च लुप्यन्ते । तदनन्तरम् 'अर्ह' इत्यत्र उच्चारणार्थ: अकार: क्षिप्यते । 'मोऽनुस्वारं व्यञ्जने' अर्हम् इति तत्त्वं निष्पन्नम् ॥७०३॥ **तप:श्रुतेति**—तपसा श्रुतेन ज्ञानेन विहीनोऽपि । तद्ध्यानेति—तद्ध्यानेन आविद्धं व्याप्तं मानसं यस्य स: पुरुष: । तत्त्वेति—तत्त्वे 'ॐ अर्हम्' इत्यादिमन्त्रस्वरूपे तत्त्वे रुचि: श्रद्धानं तत्र दीप्रा धी: बुद्धि: यस्य स जन: । जातु कदाचनापि । तमसाम् अज्ञानानाम् । स्रष्टा उत्पादक: न भवति । स: अज्ञो न भवति । उपर्युक्तमन्त्रचिन्तनेन स ज्ञानी स्यात् ॥७०४॥ अस्यैव मन्त्रस्य समाधिमरणे चिन्तनं कार्यम्—**अधीत्येति**—सर्वशास्त्राणि आत्महितस्य कर्तृणि अधीत्य पठित्वा । परम् उत्तमं तप: विधाय कृत्वा च । अन्ते मृतिसमये, अनन्यचेतस: अन्यस्मिन् अन्नादौ, शरीरे च मन: अकृत्वा । पञ्चपरमेष्ठिचरणेषु मन: स्थिरीकृत्य इमम् मन्त्रं स्मरन्ति ॥७०५॥ **मन्त्रोऽयमिति**—अयं मन्त्र: स्मृतिधाराभि: पञ्चपरमेष्ठिगुणस्मरणजलधाराभि: । यस्य मुनेराराधकस्य गृहिणो वा चित्तम् अभिवर्षति अभिषिञ्चति । तस्य सर्वे **क्षुद्रेति**—क्षुद्राश्च ते उपद्रवा: उपसर्गा: त एव पांसव: रजांसि प्रशाम्यन्ति नश्यन्ति । क्षुद्रदेवतिर्यग्भि: कृता: पीडा: अनेन मन्त्रेण नश्यन्तीत्यर्थ: ॥७०६॥ **अपवित्र इति**—जन्तु: अपवित्र: अपूताङ्ग: अशुचि: । पवित्रो वा स्नानादिभि: शुचिर्वा । सुस्थित: नीरोग: । दु:स्थितोऽपि वा सरोगोऽपि वा । या कापि भवत्ववस्था एतत्स्मृते: अस्य मन्त्रस्य स्मरणात् । सर्वसम्पदां सकलवैभवानाम् आस्पदं स्थानं भवति ॥७०७॥ **उक्तम् इति**—लोकोत्तरं ध्यानमुक्तम् । लौकिकं किञ्चित्स्तोकम् उच्यते । प्रकीर्णकप्रपञ्चेन इतस्तत: प्रतिपादितानां विषयाणाम् एकत्र प्रतिपादनं प्रकीर्णकम् । तस्य प्रपञ्चो विस्तरस्तेन । पुन: कथंभूतं तत् दृष्टादृष्टफलाश्रयम्—दृष्टफलम् आरोग्यम् धनादिलाभश्च । अदृष्टं फलं स्वर्गादिकम् तयो:

आश्रयं आधारं ध्यानम् उच्यते ॥७०८॥ **पञ्चमूर्तिमयमिति**—पञ्चमूर्तयः अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधव-श्चेति तैर्निर्वृत्तं पञ्चमूर्तिमयम्। बीजं ॐ इत्यादि बीजाक्षरम् नासिकाग्रे निधाय विचिन्तयन् जपन्। चेतः मनःसंगमे भ्रूमध्ये निधाय स्थापयित्वा दिव्यं ज्ञानम् अवाप्नुयात् लभेत ॥७०९॥ **यत्र यत्रेति**—यस्मिन् यस्मिन् हृषीके इन्द्रिये स्पर्शनादौ। अचलं मनः निदधीत। तत्र-तत्र अयं बाह्यग्राह्याश्रयं बाह्यैरिन्द्रियैर्ग्राह्यो यः आश्रयः आधारस्तज्जन्यं सुखं लभेत प्राप्नुयात्। इन्द्रियग्राह्या ये पदार्थाः तेभ्यः सुखं लभेताराधकः ॥७१०॥ **स्थूलं सूक्ष्ममिति**—स्थूलं सूक्ष्मं चेति ध्यानस्य भेदौ द्वौ। एकं स्थूलं तत्त्वाश्रयं द्वितीयं सूक्ष्मं बीजसमाश्रयं बीजाधारम्। आद्येन स्थूलेन कामम् अभिलषितं स्वर्गादिपदम्। द्वितीयेन परं पदं मुक्तिं लभते ॥७११॥ **पद्ममिति**—पूर्वम् आदौ। पद्मं कमलम् उत्थापयेत् नाभौ स्वभावेन स्थितं कमलं चालयेत्। पश्चात् नालाकारेण नाडीं नालिकां संचालयेत्। नाड्या कृत्वा मरुतः हृदयं प्रापयेत्। पश्चात् मरुच्चतुष्टयं पृथ्वी-अप्-तेजो-वायुमण्डलानि नासिकामध्ये सूक्ष्माणि स्थितानि सन्ति। तानि चेतसि आत्मविषये। प्रचारयतु योजयतु ॥ इति टिप्पणे ॥७१२॥ **दीपहस्त इति**—यथा दीपहस्तः करधृतदीपः कश्चिन्नरः किंचिद्वस्तु आलोक्य तं पदार्थम् आलोकनानन्तरं त्यजति। तथा ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य पश्चात्तज्ज्ञानमुत्सृजेत्। ज्ञानेन प्रथमं यः पदार्थो ज्ञातस्तं समुत्सृज्य अन्यं ज्ञेयम् आश्रयेत् ततस्तमपि पदार्थम् परित्यजेत् ॥७१३॥ **सर्वपापास्रवे इति**—सर्वेति सकलपापानाम् आस्रवे आगमने क्षीणे सति, ध्याने भावना भवति। ध्यानं कर्तव्यमिति विमर्शो मनसि स्फुरति। परं येषां बुद्धिः पापेन उपहता वर्तते तेषां मनसि ध्यानवार्तापि दुर्लभा भवति। यदा चारित्र-मोहनीयकर्मणां क्षयोपशमः संपद्यते तदा आत्मध्याने मनो लीनं भवति परं कषायाणाम् उत्कटता येषां हृदि जागर्ति तेषां ध्याने मनागपि मनो न लीयते ॥७१४॥ **दधिभावगतमिति**—क्षीरं दुग्धम् उत्तरपर्यायं दधिभावं प्राप्तं पुनः तन्निजावस्थां न याति। तथा तत्त्वज्ञानविशुद्धात्मा तत्त्वं जीवादिकं तस्य ज्ञानेन विशुद्धो निर्मल आत्मा यस्य स आराधकः ध्याता पुनः पापैर्न लिप्यते, तस्य ध्यातुः पापे बुद्धिर्न प्रवर्तते इति भावः ॥७१५॥ **मन्दं मन्दमिति**—ध्याता वायुं मन्दं मन्दं शनैः शनैः क्षिपेत् मुञ्चेत्। तथा मन्दं मन्दं विनि-क्षिपेत् आकर्षेत्। क्वचिद्वायुर्न धार्यते न रुध्यते। न च शीघ्रं प्रमुच्यते। शनैः शनैः वायुर्मोक्तव्यः। वायोश्चिरं निरोधाद्देहस्य मनसश्च स्वास्थ्यं विनश्येत्। शीघ्रं तद्विमुक्तेश्च चेतश्चाञ्चल्यं प्रजायेत ॥७१६॥ **रूपमिति**—योगिनः ध्यातुः गतिः स्वरूपं प्रभावो वा विचित्रा विस्मयोत्पादिका वर्तते। यतः ते विदूरतः स्थितं रूपं स्पर्शं रसं गन्धं शब्दं चैव आसन्नमिव समीपस्थमिव गृह्णन्ति जानन्तीत्यर्थः। निर्मले मनसि विमले दर्पण इव भावाः स्वस्वरूपं निदधतीति ज्ञेयम्। **दग्धे बीजे इति**—यथा बीजे अङ्कुरोत्पत्तिकारणे। अत्यन्तं दग्धे सति ततः अङ्कुरः न प्रादुर्भवति नोत्पद्यते। तथा कर्मबीजे मोहकर्मणि ज्ञानावृत्यादिकर्मकदम्बके प्ररोहण-कारणे दग्धे सति भवाङ्कुरः जन्माङ्कुरः न रोहति न जायते ॥७१७-७१८॥ **नाभाविति**—नाभौ तुन्दीकूपे। चेतसि हृदये। नासाग्रे नासिकाग्रे। दृष्टौ नेत्रे। भाले ललाटे। मूर्धनि शिरसि। च कायसरोवरे। ध्याता मनोहंसं विहारयेत् विचारयेत्। मन एव हंसः मनोहंसः तम्। एवं ध्यात्रा विहिते सति यत्र कुत्रापि मनसः एकाग्रता स्यात् ॥७१९॥ **यायादिति**—नरः व्योम्नि आकाशे। यायात् गच्छेत्। जले तिष्ठेत्। अनलाचिषि अग्निज्वालायां निषीदेत् उपविशेत्। मनोमरुत्प्रयोगेण मनसः स्थिरीकरणेन, मरुत्प्रयोगेण च प्राणायामेन च। शस्त्रैरपि न बाध्यते। शस्त्रप्रहारेण अवयवा न छिद्यन्ते। एवं जनमनोविस्मापकं सामर्थ्यं ध्यातरि प्राणायामध्यानात् उद्भवति ॥७२०॥ **जीव इति**—जीवः संसारी। शिवः मुक्तः। शिवः मुक्तः, जीवः संसारी अत्र कश्चन भेदः अस्ति किम् नास्ति। य एव जीवः संसारी स एव शिवः जीवत्वेन उभयोरपि अभेदात्। परम् एकः जीवः पाशबद्धः कर्माष्टकपीडितः वर्तते। अपरः पुनः शिवः पाशमुक्तोऽस्ति ॥७२१॥ आत्मनो ध्यानं कथं क्रियते। **साकारमिति**—सर्वं वस्तुजातं साकारम् आकारेण सहितं नश्वरं विनाश-शीलम्। अनाकारं यद्वस्तु तन्न द्रष्टुं शक्यम्। अतः पक्षद्वयविनिर्मुक्तं साकारतायुक्तं निराकारं च यस्य स्वरूपं न विद्यते स जीवः योगिभिः कथं ध्यायते उच्यतामिति प्रश्ने सूरिराह—**अत्यन्तमिति**—देहोऽत्यन्तं मलिनः सप्तधातुभूतत्वात्। परम् आत्मा तथा न। कीदृशस्तर्हि सः, पुमानात्मा अत्यन्तनिर्मलः सप्तधातूपेतत्वं

देहस्य स्वरूपं न तदात्मनः। स तु नितान्तं निर्मलः। एवम् आत्मानं देहाच्छरीरात्पृथक् कृत्वा विभिन्नं कृत्वा तस्मान्नित्यम् अविनाशिनं तं विचिन्तयेत् ध्यायेत् ॥७२२-७२३॥ तोयमध्ये इति—यथा तोयमध्ये जलमध्ये। तैलं पृथक् तिष्ठति। नीरक्षीरवत् अन्योन्यप्रदेशप्रवेशस्तयोर्न भवति। तथा अस्मिन् शरीरमध्ये पुमाञ्जीवः पृथक्तया आस्ते विद्यते ॥७२४॥

[पृष्ठ २८१-२८४] दध्नः सर्पिरिवेति—यथा उपायेन मन्थनदण्डेन मथित्वा दध्नः सर्पिर्घृतं पृथक् क्रियते तथा तत्त्वज्ञैः जीवस्वरूपाभिज्ञैः चिरम् अनादिकालेन संसर्गवानपि नीरक्षीरमिव देहेन, आत्मा शरीरतः देहात् पृथक् क्रियते। केन ध्यानोपायेन ॥७२५॥ पुष्पामोदाविति—यथा पुष्पात् आमोदः गन्धः भिन्नः। यथा तरोश्छाया भिन्ना। तद्वत् देहदेहस्थौ ज्ञातव्यौ। देहजीवौ प्रतिपत्तव्यौ। देहः पुष्पसदृशः साकारः जीवस्तद्गन्धतुल्यः निराकारः। देहः तरुवत् जीवस्तच्छायेव। यद्वा तौ लपनबिम्बवत् देहः लपनवत् मुखवत्। आत्मा आदर्शगतमुखबिम्बवत्। यद्वत्सकलनिष्कले सकलः अर्हन् निष्कलः सिद्धः तत्र सकलनिष्कले ॥ ७२६ ॥ एकस्तम्भमिति—इदं शरीरं योगिनां गृहम् गेहमिव। यथा गृहं स्तम्भैः सहितं वर्तते तथा इदं योगिशरीरम्। एकस्तम्भम् एकः स्तम्भः यत्र तथाभूतम्। एकस्तम्भं जीवे चेतना लक्षणं तदेव लक्षणं स्तम्भभूतम्। गृहे द्वाराणि विद्यन्तेऽत्र नवद्वाराणि सन्ति, शरीरे नवछिद्राणि सन्ति। द्वे नेत्रे नासिकारन्ध्रद्वयम्। कर्णरन्ध्रयुगम्। मुखरन्ध्रम्। शिश्नरन्ध्रम्। गुदरन्ध्रमिति नवरन्ध्रं शरीरम्। एतानि रन्ध्राण्येव शरीरस्य द्वाराणि। पञ्चपञ्चजनाश्रितम् – यथा गृहं पञ्चजना मनुष्यास्तैराश्रितम्। तथा योगिनां शरीरगृहमपि पञ्च इन्द्रियाण्येव पञ्चजनाः मनुष्याः तैराश्रितम्। यथा गृहम् अनेककक्षं बहुप्रकोष्ठकं विद्यते। तथा योगिनां शरीरमिदम् अनेककक्षं नाभिकमलादिनानावयवोपेतम् ॥७२७॥ ध्यानामृतान्नेति—योगिनां चित्तं योगबान्धवे योगो ध्यानं स एव तस्य बान्धवः आप्तजनस्तत्र तथाभूते शरीरे रमते संतुष्यति। कथंभूतस्य योगिनः। ध्यानेति-ध्यानमेव अमृतान्नं पीयूषान्नं तेन तृप्तस्य सौहित्यं प्राप्तस्य। पुनः कथम्भूतस्य। क्षान्तीति—क्षान्तिः क्षमा सैव योषित् जाया तस्यां रतस्य स्नेहं कृतवतः ॥७२८॥ रज्जुभिरिति—यथा रज्जुभिः प्रग्रहैः। कृष्यमाणः चोद्यमानः। हयोऽश्वः पारिप्लवश्चञ्चलः। स्याद्भवति। तथा इन्द्रियैः स्पर्शनादिभिः। कृष्टः प्रेरितः। आत्मा क्षणम् एकक्षणकालमपि ध्याने न लीयते लीनो निश्चलो न भवति। यो दुष्टाश्वः स्यात्स प्रेरितस्तिष्ठति खंचितश्चलति तथेन्द्रियैः खंचितः आत्मा चलति न तिष्ठति। अतः आत्मानं शनैः शनैः वशं करोतु ॥७२९॥ रक्षामिति—सकलीकरणविधिना स्वाङ्गरक्षणं विधाय। तथा संहरणम् औदारिकशरीरभस्मनः हरणं कृत्वा। वैक्रियिकशरीरं चोत्पाद्य। गोमुद्रामृतवर्षणम् सुरभिमुद्रयामृतवर्षणं च कृत्वा। स्वयम् आप्तरूपधरः आप्तोऽर्हन् तस्य रूपधरः परमौदारिकदेहस्थोऽहमिति भावयित्वा आप्तम् अर्हन्तं चिन्तयेत् सकलीकरणे पूर्वं यथा शरीररक्षा क्रियते। पश्चात् अग्नितत्त्वे दहनलक्षणं संहरणम्। चन्द्राद्वरुणमण्डलात् अमृतवर्षेण सृष्टि कृत्वा। स्वयम् आप्तरूपधरः आप्तम् अर्हन्तं चिन्तयेत् इति भावः। (टिप्पणे) ॥७३०॥ धूमवत् इति—धूमवत् पापं निर्वमेत् अघं परिक्षपयेत्। केन गुरुबीजेन। (ह्रूं) कारेण। तेन कारणेन तद्वर्णेन अमृतवर्णेन पकारेण। मुहुः मुहुः वारंवारम् ॥७३१॥ पद्मवीरसुखासनवर्णनम्—संन्यस्ताभ्यामिति—संन्यस्ताभ्यां संस्थिताभ्याम् अधोङ्घ्रिभ्याम् अधश्चरणाभ्याम्, पद्मासनं भवति। ऊर्वोरुपरि सक्थ्नोरुपरि युक्तितः अङ्घ्रिभ्यां स्थापिताभ्यां वीरासनं भवति। तथा समगुल्फाभ्यां समघुटिकाभ्यां सुखासनं भवति। टिप्पण्यामिदम् सक्थ्नोरधः पादौ तदा पद्मासनम्, सक्थ्नोरुपरि तदा वीरासनं घूण्टी उपरि घूण्टी तदा पद्मासनम् ॥७३२॥ तत्र सुखासनस्येदं लक्षणम्—गुल्फोत्तानेति—गुल्फयोः घुटिकयोः उपरि उत्तानौ ऊर्ध्वतलौ यौ करौ हस्तौ तयोः अङ्गुष्ठे रेखाः रोम्णाम् आलिः पंक्तिः नासिका नासा च समदृष्टिः समाः कुर्युः विदध्युः। नातिस्तब्धो न अतिशयेन स्तब्धः स्थिरः। न वामनः नातिनम्रः ॥७३३॥ तालेति—तालस्य वितस्तेः त्रिभागस्त्र्यंशः तृतीयभागश्चतुरङ्गुलः तावत् मध्ये अन्तरम् अङ्घ्र्योश्चरणयोर्यस्य स तालत्रिभागमध्याङ्घ्रिः। पुनः कथंभूतः योगी। स्थिरेति – स्थिरे निश्चले शीर्षशिरोधरे मूर्धग्रीवे यस्य सः। पुनः कथंभूतः समनिष्पन्देति—पार्ष्ण्यग्रौ गुल्फयोः अधःप्रदेशाग्रौ। जानुनी ऊरुपर्वणी भ्रुवौ हस्तौ करौ लोचने नयने समानि निस्पन्दानि च निश्चलानि च पार्ष्ण्यग्रजानुभ्रूहस्तलोचनानि यस्य सः। एतादृशो

योगी ध्यानयोग्यः ॥७३४॥ ध्यानजं विधिमाह–नखेति–न नखकुन्तिः न नखानां कुन्तनं दन्तैः कार्यम्। न कण्डूतिः हस्तेन अङ्गखर्जनं नैव विधेयम् । न ओष्ठभक्तिः ओष्ठयोरनावृतता न विधेया । ओष्ठौ पिधाय ध्यानं विधेयम् । न कम्पतिः शरीरकम्पनं न कार्यम्। न पर्वगणितिः पर्वणां कराङ्गुलीनां ग्रन्थीनां गणितिः गणना न कार्या। नोक्तिः न भाषणं वक्तव्यम् । आन्दोलितिः स्मितिः शरीरस्य आन्दोलन स्मितं हास्यं च न विधेयम् ॥७३५॥ न कुर्यादिति–दूरं दृक्पातः दूरं दृगग्रामवलोकनं न कुर्यात् । नैव केकरवीक्षणं तिर्यगवलोकनं नेत्राभ्यां नैव विधेयम् । न स्पन्दमिति–पक्ष्ममालानां स्पन्दं पक्ष्मपुटानां स्पन्दं चलनं नैव कुर्यात् । नासाग्रदर्शनः नासाया अग्रे दर्शने लोचने यस्य सः ॥७३६॥ विक्षेपाक्षेपेति–विक्षेपो मनसश्चञ्चलता । आक्षेपः अपवादः । संमोहो जडता मौढ्यं वा । दुरीहा दुरभिप्रायः । एभिः रहिते हृदि मनसि लब्धतत्त्वे च लब्धजीवादिस्वरूपज्ञाने सति । अयं अशेषः सकलः ध्यानजो विधिः ध्यानपरिकरः करस्थो निजायत्तो भवेत् ॥७३७॥

इत्युपासकाध्ययने ध्यानविधिर्नाम एकोनचत्वारिंशः कल्पः ॥३९॥

४०. श्रुताराधनविधिर्नाम चत्वारिंशत्तमः कल्पः।

[पृष्ठ २८५-२८७] यस्याः पदद्वयमिति—यस्याः जिनमुखोद्भवायाः सरस्वत्याः पदद्वयं चरणयुगलं स्याद्यन्तं त्याद्यन्तं च । अलङ्कृतियुग्मयोग्यम् नूपुरयुगलोचितं शब्दालङ्कारार्थालङ्कारौ अलङ्कृतियुग्मं तस्य योग्यं तेन भूषितमिति । पुनः कथंभूतं तत् । लोकत्रयेति–लोकत्रयमेव अम्बुजसरः कमलसरोवरं तत्र प्रविहारि प्रकर्षेण विहरणशीलम् । हारि मनोहरं च । तां देवीं शारदा सलिलेन जलेन सेवे पूजयामि । कथंभूतां देवीम् । कवीति – कवयः एव सुतरवः कल्पवृक्षाः तेषां मण्डनाय शोभायै कल्पवल्लीं कल्पलताम् । पुनः कथंभूताम् । वागिति—वाचां विलासः वाग्विलासः तस्य वसतिः गृहभूताम् । इति तोयेन सरस्वती पूजयेत् ॥ ७३८ ॥ यामन्तरेणेति—यां जिनशारदाम् अन्तरेण विना सकलार्थसमर्थनोऽपि सकलाश्च ते अर्थाः जीवादयः धर्मार्थकाममोक्षाः वा तेषां समर्थनोऽपि प्रतिपादकोऽपि । बोधः अधिगमः ज्ञातम् । अवकेशितरुवत् अफलवृक्षवत् वन्ध्यपादपवत् । फलार्थिसेव्यः धर्मार्थादिपुरुषार्थचतुष्टयं प्राप्तुकामैः न सेव्यः आश्रयणीयो न भवति । परं यया सरस्वतीदेव्या अनुगतः युक्तः स बोधोऽल्पवेद्यपि स्तोकपदार्थबोधकोऽपि सुरद्रुरिव कल्पतरुरिव त्रिलोक्या लोकत्रयजनैः सेव्यः भजनीयो भवति तां वाग्देवतां गन्धैः प्रयजेय अहं पूजयेयम् । इति गन्धम् ॥७३९॥ येति—या वाग्देवी स्वल्पा वस्तुरचना जीवादितत्त्वकथनं यस्याः सा तथाभूतापि अल्पार्थापि अल्पशब्दसहितापि मितप्रवृत्तिः मिता अल्पा प्रवृत्तिः यस्याः सा परं संस्कारतः तद्विपरीतलक्ष्मीः तस्यां वाग्देव्यां संस्कारे अभ्यासरूपे अतिशयाधाने कृते सति पूर्वोक्ताद्विपरीता लक्ष्मीः शोभा यस्याः सा अर्थात् या अस्वल्परचना भवति अमितप्रवृत्तिश्च भवति । या सुधानुबन्धात् सुधायाः अमृतस्य अनुबन्धात् संबन्धात् स्वर्वल्लरीवनलतेव स्वर्गस्थितानां वल्लरीणा यद्वनं तत्रत्या लतेव प्रतिभाति । सा लता यथा सुधां सूते तथा या वाग्देवी मुक्तिसुधां सूते अतस्ताम् अहं सदकैः तण्डुलैः श्रयामि भजामि । इत्यक्षतम् ॥७४०॥ यद्बीजमल्पमपि—यस्याः बीजं यद्बीजं यस्याः उत्पत्तिकारणम् अल्पमपि जीवे बाल्याद्यवस्थायाम् अल्पं विद्यते परं तत् सज्जनधीधरायां साधुजनमतिभूम्यां लब्धप्रवृद्धि लब्धं प्राप्तं प्रवृद्धि यत् तत् किं कारणं तस्य प्रवृद्धेः । विविधेति—विविधाः तर्क-साहित्य-व्याकरणादयः ये अनवधयः अमर्यादाः प्रबन्धाः ग्रन्थरचनाविशेषाः तैः लब्धप्रवृद्धि प्राप्तसमृद्धिकं सत् अपूर्वरसवृत्तिभिः अपूर्वो अदृष्टपूर्वो अननुभूतपूर्वो वा यः रसः शान्तरसः तस्य वृत्तयो विशेषाः तैर्यद्बीजं रोहति वर्धते । ताम् आश्चर्यगोचरविधिम् आश्चर्यस्य गोचरो विषयो विधिः कार्यं यस्याः तां वाचां देवीं प्रसवैः पुष्पैर्भजे सेवे पूजये । इति पुष्पम् ॥७४१॥ येति—या वाग्देवी । अस्पष्टताधिकविधिः । अस्पष्टता अविशदता तया अधिको विधिः कार्यं यस्याः सा । श्रुतज्ञानम् अस्पष्टं तदेव कार्यं यस्याः तथाभूता । अथवा शब्दरूपत्वात् नेत्राणामगम्या । तथापि मनः आत्मा स्पष्टं प्रसूते । प्रकटीकरोति ।

परतन्त्रनीतिः परतन्त्रनयरूपा श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमाधीना। अष्टस्थानापेक्षया परतन्त्रनीतिः पराधीना तथापि मनः स्वाधीनं प्रसूते प्रकटीकरोति। प्रायः कलापरिगता कलाभिः वस्त्वंशज्ञानैः परिगता व्याप्ता। मनः प्रसूते मनः चित्तं जनयति। कलापरिगतापि मूर्तिसहितापि। मनः आत्मा उपशान्तकलं शरीररहितं सूते। 'श्रुतमनिन्द्रियस्येति' मनसः श्रुतज्ञानं विषयः इति निर्देशात्। यदा च स्पष्टं तत् श्रुतज्ञानमस्पष्टं शुक्लध्यानेन घातिकर्मविनाशात् केवलज्ञानरूपं बिभर्ति तदा तत् स्पष्टं स्वतन्त्रम् उपशान्तकलं च भवति। सकलवस्तुपरिच्छेदकत्वात्। क्षायोपशमिकभावविनाशनात्। अंशात्मकलाविकलत्वात्। उचितमेव, नृणां वस्तुगतिः चित्रा नराणां नानाविधं वस्तुविषयं ज्ञानं भवति। अतः तां वाग्देवीम् अन्नविधैः चरुप्रकारैः यजे पूजये ॥७४२॥ एकं पदमिति—बहुपदापि बहूनि पदानि यस्याः सा बहुपदा तथाभूतापि तुष्टा सती एकं पदं ददासि। श्रुतपदसंख्यागमे एवं प्रतिपादिता—'कोटीशतं द्वादश चैव कोटयो, लक्षाण्यशीतिस्त्र्यधिकानि चैव। पञ्चाशदष्टौ च सहस्रसङ्ख्यमेतच्छ्रुतं, पञ्चपदं नमामि।' एवं बहुपदेषु सत्स्वपि एकं पदं ददासीति विरोधः, तत्परिहारस्त्वेवम्। एकं मुख्यं पदं स्थानं सिद्धालयं त्वं ददासि। वर्णात्मिकापि अकारादिहकार-पर्यन्तवर्णस्वरूपा अपि त्वम् आराधकजनं वर्णभाजं वर्णधारिणं न करोषि इति विरुद्धमेतत्परिह्रियते—स्वयं वर्णभागपि सती आराधकं वर्णादिगुणधारिणं ब्राह्मणत्वादिवर्णयुक्तं मूर्तिमन्तं च न करोति अर्थात् वाग्देव्याराधकाः तत्प्रसादात् संसारिदशां मुक्त्वा सिद्धपदं लभन्ते इति भावः। तथापि भवतीं अहं सेवे यजे। यतः अर्थी जनो दोषं न पश्यति कार्यापेक्षी नरः। तत् तस्मात् तव एष दीपः समस्तु। इति दीपम् ॥७४३॥ चक्षुःपरमिति—करणेति-करणानि इन्द्रियाणि तान्येव कन्दरं दरी तस्माद् दूरितार्थे तिरोहितार्थे जीवादि-पदार्थसार्थे। हे देवि, त्वं परम् उत्तमं चक्षुः नेत्रमसि। अतीन्द्रियपदार्थावलोकनक्षमत्वात्। मोहेति—मोहान्ध-कारापनयने देवि, त्वं परमः उत्कृष्टः प्रकाशः असि मेघादिना कदाचनापि अतिरोहितप्रकाशा त्वमसि। तद्धामेति—तत् अनिर्वचनीयं स्वरूपं धाम स्थानं सिद्धालयः तत्प्रतिगामी गमनशीलः यः पन्था मार्गस्तस्य वीक्षणे रत्नदीपः त्वमसि। तत् तस्मात् हे देवि, इह जनेन आराधकनरेण त्वं धूपैः सेव्यसे आराध्यसे। इति धूपम् ॥७४४॥ चिन्तामणीति—चिन्तामणिश्चिन्तारत्नम्, त्रिदिवधेनुः स्वर्गसुरभिः, कामधेनुरिति भावः। सुरद्रुमाद्याः कल्पपादपादयः पुंसां पुरुषाणां मनोरथेति—चित्ताभिलाषाः तेषां यः मार्गः तस्मिन् प्रथितः प्रसिद्धः प्रभावः माहात्म्यं येषां ते भावाः हे देवि, तव सम्यक्सेवाविधेः समीचीनाराधनाविधानात्, नियतं नियमेन भवन्ति भवताना जायन्ते। तत् तस्मात् इदं फलं नारिकेलादि समर्पितं ते मुदेऽस्तु आनन्दाय जायताम्। इति फलम् ॥७४५॥ कलधौतेति—कलधौतेन सुवर्णेन रचितानि यानि कमलानि, मौक्तिकानि शौक्तिकानि मुक्ताफला-नीति भावः, दुकूलं सूक्ष्मवस्त्रम्। मणिजालं रत्नसमूहः, चामराणि चमरीजानि प्रायः आदौ येषां तैः अनर्घ्य-वस्तुनिवहैः तथा सकलमङ्गलभावैः दर्पणदधिदूर्वादिभिर्मङ्गलैर्भावैः पदार्थैः अहं देवीं सरस्वतीम् आराधयामि सेवे ॥७४६॥ स्याद्वादेति—स्याद्वादः कथंचिद्वादः स एव भूधरः पर्वतः तस्माद्भूव उत्पत्तिर्यस्याः सा। मुनिभिः माननीया यतिजनवन्द्या। अनन्येति—न अन्यः शरणं रक्षको येषां ते अनन्यशरणाः तैः। त्वमेव रक्षिका येषां तैः देवैः समुपासनीया आराध्या। पुनः कथंभूता। स्वान्तेति—स्वान्ते मनसि आश्रिताः संचिताः ये अखिलाः कलङ्काः ज्ञानावरणादिकर्मदोषाः तेषां हरतीति हरः तथाभूतः प्रवाहः यस्याः सा। मनःस्थित-सकलकर्मकलङ्कहरणक्षमज्ञानजलौघो यस्याः सा। वागापगा जिनवाणीनदी। मम बोध एव गजः करी तस्य अवगाहः प्रवेशो यस्यां तथाभूता भवतु ॥७४७॥ जिनाभिषेकादिभ्यः का अवस्था लभते भाक्तिक इति प्रश्ने प्राह—मूर्धेति—जिनानां तीर्थकृताम् अभिषवात् स्नानात् भक्तो मूर्धाभिषिक्तो भवति प्रधाननृपो जायते। जिनानाम् अर्चनात् पूजनात् अर्च्यः नृसुरपूज्यो भवति। संस्तवनात् जिनगुणस्तुतेः स्तवार्हः स्तुतियोग्यो भवति। जपात् जपी नामस्मरणयोग्यो भवति। ध्यानविधेः एकाग्रचित्तेन जिनगुणध्यानकरणात् अबाध्यः अन्यैर्बाधां नाप्नोति। श्रुतसेवनात् च श्रुतस्य जिनमुखोद्भूतवाण्याः आराधनात् श्रुताश्रितश्रीः श्रुतलब्ध-लक्ष्मीको भवति ॥७४८॥ दृष्ट इति—हे जिन, दृष्टः त्वम् अनन्याश्रयैः भावैः नितरां सेवितः असि। अन्यजनाश्रयणादुद्भूताः ये अनुरागादयो भावाः ते अन्याश्रया भावा उच्यन्ते ते तु भवजनकाः। तथाभूत-

भावेभ्यो विलक्षणाः पुण्यजनका ये भवद्गोचरानन्तज्ञानादिगुणाः ते आश्रयोऽवलम्बो येषां तैर्भावैः । हे जिन, त्वं मया दृष्टः नितरां सेवितः आराधितः असि । तथापि त्वं स्निग्धः अनुरक्तो मयि न । यस्त्वं भक्ते विरक्तोऽपि अभक्ते द्वेषिणि समविधिः समस्वभावः असि । हे ईश, पुनः एतत् मच्चेतः मम मनः भवति त्वयि प्रेमप्रकृष्टं प्रेम्णा आकृष्टं संलग्नम् । ततः अपरं किं भाषे अन्यत् किं ब्रुवे वच्मि । यामि गच्छामि गृहम् । भवतस्तव पुनर्दर्शनं भूयात् भवतु ॥७४६॥

इत्युपासकाध्ययने श्रुताराधनविधिर्नाम चत्वारिंशत्तमः कल्पः ॥४०॥

४१. प्रोषधोपवासविधिर्नामैकचत्वारिंशत्तमः कल्पः ।

[पृष्ठ २८८-२९०] पर्वाणि—मासे चत्वारि पर्वाणि शुक्लकृष्णाष्टम्यौ द्वे शुक्लकृष्णे चतुर्दश्यौ द्वे इति चत्वारि पर्वाणि पर्वदिनानि प्रोषधशब्दाभिधेयानि आहुर्ब्रुवन्ति स्म । पूर्यन्ते धर्मकर्माणि अत्रेति पर्वाणि । पूजाक्रियाव्रताधिक्यात् अन्वर्थनामधेयानि । अत्र धर्मकर्मपूजाभिषेकव्रतादिकं बृंहयेत् वर्धयेत् ॥७५०॥ **रसत्यागेति**—रसानां क्षीरदधीक्षुतैलघृतानां त्यागः रसत्यागः । एकभक्तं दिने एकदा भोजनम् एकभक्तम् । एकस्थानम्—एकस्मिन्नेव स्थाने सकृद्भोजनम् । उपवसनक्रिया चतुर्णाम् आहाराणां त्यागः उपवसनम् । एताः क्रियाः यथाशक्ति आत्मनः बलं वीर्यं चानतिक्रम्य विधेयाः स्युः कर्तव्या भवेयुः । पर्वसन्धौ सप्तम्यां नवम्यां च त्रयोदश्यां पौर्णिमायाम्, अमावस्यायां च । पर्वणि अष्टम्यां चतुर्दश्यां च ॥७५१॥ **नैरन्तर्येति**—तस्य रसत्यागस्य, एकभक्तस्य, एकस्थानस्य, उपवसनस्य च नैरन्तर्यं निरन्तरस्य भावः नैरन्तर्यम् । एताः क्रियाः केऽपि सततं कुर्वन्ति केचन रसत्यागादीनां सान्तर्यं कुर्वन्ति । केचन यस्मिन् तिथौ यद्व्रतम् उक्तं तत्र एताः रसत्यागादिकाः क्रियाः कुर्वन्ति । तीर्थे तीर्थंकराणां गर्भजन्मतपःकेवलमोक्षदिनेषु एताः क्रियाः करणीयाः । रोहिण्यादिनक्षत्रेषु च । अयं चित्रः बहुविधः उपवासविधिः श्रुतसमाश्रयः आगमाधारः चिन्त्यः स्मरणीयः ॥७५२॥ प्रोषधोपवासवतः आचारविशेषमाह—**स्नानेति**—स्नानम्, गन्धः, अङ्गसंस्कारः शरीरस्य सौन्दर्यापादनम् । भूषा अलङ्कारधारणम् । योषा स्त्रीसेवा । एषु अविषक्तधीः अविषक्ता अननुरागवती धीः बुद्धिर्यस्य सः, एषां परिहारं कुर्वाणः इति । निवृत्तेति—सर्वाश्च ताः सह अवद्येन पापेन युक्ताः क्रियाः सर्वसावद्यक्रियाः । निवृत्तः सर्वसावद्यक्रियाभ्यो यः स निवृत्तसर्वसावद्यक्रियः परित्यक्तसकलपापाचारः । संयमयोः इन्द्रियप्राणिसंयमयोः तत्परः । एतादृशो गृहस्थः उपोषितः गृहीतोपवासः नित्यं धर्मध्यानपरायणो भवेत् कुत्र ध्याननिरतो भवेत् । देवागारे जिनमन्दिरे गिरौ पर्वते गृहे स्वावासे वा । गहनेऽपि वनेऽपि वा ॥७५३-७५४॥ उपोषितस्य तस्य बह्वारम्भनिषेधमाह—**पुंस इति**—कृतोपवासस्य कृतचतुर्विधाहारत्यागस्य । पुनः कथंभूतस्य । **बह्वीति**—बहुश्चासौ आरम्भश्च प्राणिपीडाहेतुव्यापारः तत्र रतो व्यापृत आत्मा यस्य सः तस्य कायक्लेशः शरीरकष्टम् गजस्य स्नानेन जलावगाहनेन समा क्रिया यस्य सः तस्य यथा गजः जले निमज्य तटमागच्छति तत्रत्यानि रजांसि स्वमस्तके शुण्डया निक्षिपति, तद्वत् आरम्भरतस्य नरस्य उपवासकरणं शरीरक्लेशाय भवेत् ॥७५५॥ प्रोषधविघ्नविधायिकाः क्रिया आह—**अनवेक्ष्येति**—भूमिर्जीवाकुलास्ति न वेति सम्यगनवलोक्य तत्रार्हदादिपूजोपकरणपुस्तकादेः आत्मपरिधानाद्यर्थस्य स्थापनं ग्रहणं वा । अप्रतिलेखनम् – मृदुना उपकरणेन प्रमार्जनं प्रतिलेखनम् । न प्रतिलेखनं अप्रतिलेखनम् । दुष्कर्मारम्भः पापकार्यारम्भः । दुर्मनस्कारः अशुभमनोविमर्शः । आवश्यकेति – आवश्यकानां सामायिकादीनां विरतिस्त्यागः । क्षुत्पीडितत्वादावश्यकेषु अनुत्साहः प्रोषधव्रते वा । एते चतुर्थम् उपवासं विनिघ्नन्ति विनाशयन्ति ॥७५६॥ कायक्लेशादात्मविशुद्धिमाह—**विशुद्ध्येदिति**—अयम् अन्तरात्मा कायक्लेशविधिं विना उपवासादिकं विना न विशुद्ध्येत् न निर्मलो भवेत् । निदर्शनमाह—काञ्चनेति—काञ्चनाश्मा सुवर्णपाषाणः तस्य विशुद्धये किट्टमलाद्यपनयाय अग्नेरन्यत्किमस्ति उपायान्तरमस्ति नैव । अग्निरेव सुवर्णमलनिर्गमनोपायोऽस्ति । तथा कायक्लेशादिभिस्तपोभिः कर्ममलनिर्गमनाज्जीव-

सुवर्णं शुद्धं जायते ॥७५७॥ हस्ते इति—सुकृतिजन्मनः सुष्ठु कृतिः सत्कार्यं पुण्यं तेन युतं जन्म यस्य स सुकृतिजन्मा तस्य पुण्यवतो। यस्य नरस्य चित्तं चारित्रैः पवित्रं पूतम्। तस्य हस्ते दुःखमेव द्रुमो वृक्षः तस्य दावानलः वनाग्निरिव चिन्तामणिः विद्यते इति ज्ञातव्यम् ॥७५८।

इत्युपासकाध्ययने प्रोषधोपवासविधिर्नामैकचत्वारिंशत्तमः कल्पः ॥४१॥

४२. भोगपरिभोगपरिमाणविधिर्नाम द्विचत्वारिंशत्तमः कल्पः।

[पृष्ठ २६१-२६२] भोगपरिभोगयोर्लक्षणमाह—**यः सकृदिति**—यः भोजनादिकः भोजनपुष्पगन्धादिकः भावः पदार्थः। सकृत् सेव्यते भुज्यते स भोगः। पौनःपुन्येन वारम्वारं सेवनात् भूषादि अलङ्कारस्त्रीवस्त्रादिकं परिभोगः स्याद्भवेत्॥७५९॥ परिमाणं तयोः भोगपरिभोगयोः इयन्तं कालं दिवसपक्षमासादिकालं यावत् अथवा इयत्संख्योपेतयोः परिमाणं कुर्याच्छ्रावकः, किमर्थम्। चित्तेति–चित्तस्य मनसः व्याप्तिरधिकाधिकसंग्रहाशा तस्या निवृत्तये व्यपोहाय। प्राप्ते भोगोपभोगवस्तुनिवहे लब्धे योग्ये च सेवितुमर्हे च सर्वस्मिन् इच्छया इच्छापरिमाणं कृत्वा नियमं भजेत् आश्रयेत्। अद्याहं एतावन्तौ एव भोगपरिभोगौ भुञ्जे। इति नियमम् अवलम्बेत ॥७६०॥ यमनियमयोर्लक्षणमाह—त्याज्ये वस्तुनि इच्छाकृशीकरणाय यमश्च नियमश्च स्मृते निगदिते भवतः। यमो यावज्जीवम् आमरणं ज्ञेयः ज्ञातव्यः। सावधिः एकद्वित्र्यादिसंख्यापरिच्छिन्नदिवसमासादिसमयः नियमः स्मृतः ॥७६१॥ आजन्मत्याज्यान्याह—**पलाण्डुवति**—पलाण्डुः सुकन्दकः, केतकी केतकनामधेया वनस्पतिः निम्बसुमनांसि प्रसिद्धानि निम्बकुसुमानि। सूरणः तन्नामा कन्दविशेषः अर्शोघ्न इत्यपरं तस्य नाम। आदिशब्देन अर्जुनारणिशिग्रुपुष्पमधूकबिल्वफलादिकं त्याज्यम्। तथा बहुघातविषयं गुडुचीमूलकलशुनार्द्रशृङ्गबेरादिकं त्याज्यम्। एतानि वस्तूनि तद्रूपधारिबहुप्राणिसमाश्रयाणि विद्यन्ते। अतः आजन्म एषां त्यागः कार्यः ॥७६२॥ भोगोपभोगपरिमाणव्रतनाशकानां त्यागः करणीय इत्युपदिशति—**दुष्पक्वस्येति**—दुष्पक्वस्य सान्तस्तण्डुलभावेन अतिक्लेदनेन वा दुष्टपक्वस्य मन्दपक्वस्य वा अन्नस्य प्राशः भक्षणं तत्क्षतिकारणं भोगपरिभोगपरिमाणव्रतनाशकारणम्। निषिद्धस्य पूर्वश्लोकोक्तपलाण्ड्वादीनाम् आहारस्य प्राशः भक्षणं व्रतविनाशकम्। जन्तुसंबन्धमिश्रयोः जन्तुना संबन्धस्य सचित्तस्य सचेतनबीजादिसहितस्य। संबद्धस्य पक्वफलादेर्भक्षणम्। तेन सचित्तेन सम्मिश्रं पृथक्कर्तुमशक्यम् आर्द्रकदाडिमबीजमिश्रं तिलमिश्रं च यद्यवधानादिकं तस्य प्राशो भक्षणम् एतद्व्रतनाशकम्। अवीक्षितस्य अनालोकितफलादेर्भक्षणम् एतद्व्रतविनाशकरम्॥७६३॥ एतद्व्रतस्य निरतीचारस्य पालनात्सातिशयफलमाह—**इत्थमिति**—इत्थम् उक्तप्रकारेण नियतवृत्तिः भोगपरिभोगप्रमाणं कुर्वाणः। अनिच्छोऽपि अभिलाषम् अकुर्वन्नपि। नरः नरेषु देवेषु च श्रियः चक्रवर्त्यादिविभवस्य आश्रय आवासो भवेत्। स च मुक्तिश्रियः समीपे आगमनं यस्य तथाभूतो भवेत् ॥७६४॥

इत्युपासकाध्ययने भोगपरिभोगपरिमाणविधिर्नाम द्विचत्वारिंशत्तमः कल्पः ॥४२॥

४३. दानविधिर्नाम त्रिचत्वारिंशत्तमः कल्पः।

[पृष्ठ २९३-२९७] अधुना दानविधिविस्तरेण वर्ण्यते—**यथाविधीति**—प्रतिग्रहादिनवविधिमनतिक्रम्य, यथादेशं जाङ्गलानूपादिदेशमनुसृत्य। यथाद्रव्यं शुद्धान्नजलादिकमनुसृत्य। यथागमम् आगमोक्तदानस्वरूपमनतिक्रम्य। यथापात्रं पात्राण्यनतिक्रम्य। यथाकालं शीतोष्णादिककालमनतिक्रम्य। गृहाश्रमैः गृहस्थश्रावकैः दानं देयम् ॥ ७६५ ॥ दानलक्षणमाह—**आत्मन इति**—आत्मनः श्रेयसे दातुः स्वस्य हिताय। अन्येषां रत्नत्रयसमृद्धये अन्येषां सत्पात्राणां रत्नत्रयस्य वृद्धिर्भवत्विति हेतोः। इत्थं स्वपरानुग्रहाय स्वान्योप-

काराय यस्मात् तद्दानमिष्यते ।।७६६।। दातृपात्रेति—तत् दानम्, दातृविशेषात्, पात्रविशेषात्, विधिविशेषात्, द्रव्यविशेषात् विशिष्यते। यथा घनाघनोद्गीर्णं तोयं मेघैर्वृष्टं जलम्। भूमिसमाश्रयं भूम्याधारं प्राप्य विशिष्यते तथा दानमपि दातृपात्रविध्यादिविशेषेण विशिष्टफलदं भवेत् ।।७६७।। दात्रादीनां लक्षणान्याह—दातेति—अनुरागसंपन्नः दाता पात्रगुणानुरक्तो दाता भवति। पात्रं रत्नत्रयगुणविशेषसंबन्धात्, सत्कारो नवधा विधिरुच्यते। द्रव्यम् अन्नादि। तत्तु स्वाध्यायतपःसाधकं भवेत् ।।७६८।। वित्तव्ययस्य प्रकारान् ब्रूते—कश्चिद्दाता परलोकधिया अनेन वित्तव्ययेन अन्नादित्यागेन मे परलोकः स्वर्गादिर्लभ्येत इति मन्यते। कश्चिद्दाता ऐहिककीर्तिलोकादरादिप्राप्तिर्मे भूयादिति वाञ्छया वित्तव्ययं करोति। कश्चिच्च औचित्यमनसा वित्तव्ययं करोति। दानप्रियवचनाभ्याम् अन्यस्य सन्तोषोत्पादनम् औचित्यं तेन युक्तेन मनसा अभिप्रायेण वित्तव्ययं करोति। इति सतां सज्जनानां दातॄणां वित्तव्ययः धनवितरणं त्रिधा त्रिप्रकारं भवति ।।७६९।। परलोकैहिकौचित्येष्वस्तीति—येषां धीः बुद्धिः परलोके ऐहिके औचित्ये च समा नास्ति। कदाचित् प्रवर्तते कदाचिन्नेति वैषम्यं येषां धियां वर्तते तेषां धर्मः, ऐहिकं सुखादिकं यशश्चेति एतत्त्रयं कुतः स्यात्। एतत्त्रयं तैर्दातृभिर्न लभ्यते, तेषां वित्तव्ययो विफल एव भवेत् ।।७७०।। दानचातुर्विध्यमाह—अभयेति—मनीषिभिः विद्वद्भिः। चतुर्विधं चतुःप्रकारं दानं प्रोक्तम्। अभयेति—अभयदानम्, आहारदानम्, औषधदानम्, श्रुतदानम्—ज्ञानदानमिति। एतत् चतुर्विधं दानं भक्तिशक्तिसमाश्रयं भक्त्याधारम्, शक्त्याधारं च। यदि धनं समीपे न स्यात् तर्हि एतद्दानं दातुकामोऽपि न दातुं शक्नोति। शक्तिरस्ति तथापि भक्त्यभावे न दातुमिच्छति। यस्य समीपे एतद्द्वयं वर्तते स चतुर्विधमेतद्दानं पात्रेभ्यो ददातु ।। ७७१ ।। चतुर्विधदानानां फलचातुर्विध्यं वदति—सौरूप्यमभयादिति—अभयात् भीतस्य नरस्य अभयदानात् दाता सौरूप्यं सौन्दर्यं प्राप्नोति। आहारदानात् भोगवान् भवति दाता। औषधदानात् आरोग्यं दातुर्भवति। श्रुतात् शास्त्रदानात् दाता श्रुतकेवली स्यात् ।।७७२।। अभयदानं प्रथमं देयमिति वर्णयति—अभयम् इति—सुधीः शुभमतिः श्रावकः। सर्वसत्त्वानां प्राणिनां आदौ प्रथमं सदा अभयं दद्यात्। तद्धीने अभये अदत्ते सर्वः परलोकोचितः विधिः देवपूजादिकं षट्कर्माचरणं वृथा भवेत्। जीवितरक्षणम् अभयात् भवति तच्चेत् न रक्ष्यते परलोकोचिताः क्रियाः को विदध्यात् ।।७७३।। अभयदानं सर्वेषाम् उत्तममिति निगदति—दानमिति—अन्यदाहारादिकं दानं भवेन्मा वा भवतु न वेति। नरश्चेद्यदि अभयप्रदः अभयदानं यदि स ददाति तेन ।।७७४।। तेनेति—यः अभयदानवान्—यः नरः अभयं दत्वा प्राणिनो निर्भयान् करोति, तेन सर्वं श्रुतम् अधीतं सकलं द्वादशाङ्गज्ञानं पठितम्। तेन परं तपः तप्तम् उत्तमं तपः सेवितम्। तेन कृत्स्नं दानं कृतम् आहारौषधशास्त्रदानानि दत्तानीति मन्ये ।।७७५।। दातुर्लक्षणमाह—नवेति—नव च ते उपचाराश्च नवविधयः पात्रस्य नवादरप्रकाराः तैः संपन्नः युक्तः। सप्तभिर्गुणैः समेतः सहितः दाता चतुर्विधैः अन्नं पानं खाद्यं लेह्यमिति आहारचातुर्विध्यं तत्र ओदनादिकमन्नम्। जलादिकं पेयम्। अपूपपूरिकामोदकादिकं खाद्यम्। दाडिमादिफलानि क्षैरेय्यादिकं लेह्यमिति। तैः शुद्धैः अस्पृश्यजनादूषितैः स्वयं स्नानादिशुद्धेन दात्रा विहितैः अन्नैः आहारैः साधूनां स्थितिं कल्पयेत् भोजनविधिं कल्पयेत् कुर्यात् ।।७७६।। नवोपचारानाह—प्रतिग्रहेति—गृहसंश्रितेन गृहनिरतेन श्रावकेण मुनीनां नवोपचाराः यथायोग्य-भक्त्युपचाराः कार्याः विधेयाः। तान् प्रतिग्रहेत्याह—प्रतिग्रहः स्वगृहद्वारे यतिं दृष्ट्वा प्रसादं कुरुतेत्यभ्यर्थ्य नमोऽस्तु तिष्ठत इति त्रिर्भणित्वा स्वीकरणम्। उच्चासनम्—स्वगृहान्तः स्वीकृतयतिं नीत्वा निरवद्यानुपहतस्थाने उच्चासने निवेशनम्। पादपूजा पादयोः क्षालनम्, पूजा च गन्धाक्षतादिभिः। प्रणामः पूजितसंयतस्य पञ्चाङ्गप्रणामकरणम्। वाक्कायमनःप्रसादाः वाण्याः शरीरस्य मनसश्च प्रसन्नता। तत्र परुषकर्कशादिवचोवर्जनं वाक्शुद्धिः, सर्वत्र संवृताचारतया प्रवर्तनं कायशुद्धिः। आर्तरौद्रवर्जनं मनःशुद्धिः। विधाविशुद्धिः चतुर्दशमलरहितस्य आहारस्य यतन याशोधितस्य हस्तपुटेऽर्पणम् ।।७७७।। दातुर्गुणानाह—श्रद्धेति—श्रद्धेत्यादि सप्तगुणा यत्र यस्मिन् दातरि सन्ति तं दातारं सूरयः प्रशंसन्ति। के ते सप्तगुणाः। आह—श्रद्धा, तुष्टिः, भक्तिः, विज्ञानम्, अलुब्धता, क्षमा, शक्तिः। श्रद्धा—पात्रगुणानुरागः। विज्ञानम्—द्रव्यक्षेत्रकालादिवेदित्वम्। अलुब्धता—सांसारिकफलानपेक्षा। क्षमा—दुर्निवार-

कालुष्यकारणोत्पत्तावपि कोपाभावः। शक्तिः—स्वल्पवित्तस्य स्वाढ्याश्चर्यकारिदानप्रवृत्त्यङ्गम् ॥७७८॥ तत्र विज्ञानस्येदं लक्षणम्—त्रिवर्णमिति—मुनिभ्यः तदन्नं न देयम्। कीदृशं तद् यच्च भुक्तं भक्षितं गदावहं रोगोत्पादकम्। पुनः कथंभूतम् अन्नं न देयम्। विवर्णं कान्तिरहितम्। विरसं स्वादरहितम्। विद्धं कीटाद्युपद्रुतम्। असात्म्यम्—यस्य प्रकृतेः पानाहारादयः विरुद्धा अपि सुखित्वाय कल्प्यन्ते तत्सात्म्यम्। प्रकृतिविरुद्धाहारपानादयः भक्षिताः सन्तः सुखित्वाय नावकल्प्यन्ते तदसात्म्यमित्युक्तम्। प्रसृतम् अतिजीर्णं एतादृक् सदोषमन्नं मुनिभ्यो न देयम् ॥७७९॥ उच्छिष्टमिति—भुक्त्वावशिष्टम्। नीचलोकार्हम्—नीचाश्चाण्डालादयस्तद्योग्यम्। अन्योद्दिष्टम् देवतायाचकपाखण्डाद्युद्दिष्टम्। विगर्हितं निन्द्यम्। दुर्जनस्पृष्टम् दुर्जनैः चाण्डालादिभिः स्पृष्टं स्पर्शितम्। देवतायक्षाद्यर्थं कल्पितं निर्मितम् ॥७८०॥ ग्रामान्तरादिति—अन्यस्माद् ग्रामात् आनीतम्। मन्त्रानीतम्—पठितसिद्धमन्त्रेण आनीतम्। उपायनम् उपहारीकृतम् अन्नम्। आपणक्रीतम् कान्दविकादिकृतम् अन्नं यत्तस्मात् क्रीत्वानीतम्। विरुद्धं पात्रप्रकृतिविरुद्धम्। अयथर्तुकम् यस्मिन् ऋतौ यदनुकूलम् अन्नं तद्यथर्तुकम्। तथा यन्न तत् अयथर्तुकम्। ऋत्वननुकूलम् ॥७८१॥ दधिसर्पिषयोरिति—यद्दध्ना सर्पिषा च रन्धितं तदन्नं भक्ष्यप्रायं पर्युषितं मतम्। यत् गन्धवर्णरसभ्रष्टं अन्यत् सर्वं विनिन्दितम् अन्नं न देयम् ॥७८२॥ मुनीनां वैयावृत्यं विदध्यादिति वर्णयति—बालग्लानेति—बालो मुनिः वयसा लघुः। ग्लानः रोगपीडितः। तपःक्षीणः तपसा अनशनादिना क्षीणः कृशः। वृद्धः जरया ग्रस्तः। व्याधिसमन्वितः रोगेण बहुकालं कदर्थितः। एतान् मुनीन् नित्यमुपचरेत् आहारौषधादिना सेवेत। यथा ते तपःक्षमाः स्युः तपः अनशनादिकं कर्तुं समर्थाः स्युः ॥७८३॥ भोजनक्षणे परिहार्यान् दोषान् व्याचष्टे—शाठ्यमिति—शाठ्यं कपटं वक्रताम्। गर्वं कुलमदादिकम्, अवज्ञानम् अवमाननम्, निरादरताम्, पारिप्लवं चञ्चलताम्। असंयमम् अजितेन्द्रियताम्। वाक्पारुष्यम्—वाचः भाषणस्य पारुष्यं कठोरताम् तव मस्तकं कृणोमि इत्यादिरूपं वचनम्। एतान् दोषान् भोजनक्षणे मुन्याहारवेलायां वर्जयेत् दाता ॥७८४॥

[पृष्ठ २९८-३००] कुत्र मुनिर्न भुञ्जीतेति निगदति—अभक्तानामिति—अभक्तानां ये जैनमुनिभक्ताः न सन्ति, ये च कदर्याः कृपणाः तथा ये अव्रताः व्रतरहिताः सन्ति तेषां सद्मसु गेहेषु न भुञ्जीत न भोजनं कुर्वीत। कः साधुः मुनिः। तथा दैन्यकारुण्यकारिणां ये जनाः निजं दैन्यं दर्शयन्ति अथवाऽयं मुनिर्दीनोऽस्य भोजनं दीयताम् इति ये वदन्ति तेषां सद्मनि न भुञ्जीत। ये च मुनिविषये कारुण्यं दर्शयन्ति तेषां गृहेऽपि मुनिः नाहारं गृह्णीयात् ॥७८५॥ किमर्थं दैन्यकारिणां गृहे न भुञ्जीरन् मुनयः इति वर्णयति—नाहरन्तीति—महासत्त्वाः धैर्यशालिनः मुनयः। चित्तेनापि केनापि अनुकम्पिताः 'इमे मुनयः दयापात्रं येषामुपरि दयां विधाय आहारो देय इति' इति मनसाऽपि संकल्पितास्तस्य गृहे ते नाहरन्ति न भुञ्जते। किं तु तेऽदैन्यकारुण्यसंकल्पोचितवृत्तयः अहम् अदीनः जिनवत् इति संकल्पेन प्रवर्तन्ते। अहं प्राणिषु करुणाक्रान्तचेताः कथमिमे सर्वज्ञप्रतिपादितमोक्षमार्गे प्रवर्तेरन् इति संकल्पार्हस्वभावाः सन्ति ॥ ७८६ ॥ कुत्र प्रतिहस्तं दिशेदिति व्याचष्टे—धर्मेष्विति—धर्मेषु स्वाध्यायादिषट्कर्मसु। स्वामिसेवायां प्रभोः सेवायाम्। सुतोत्पत्तौ च पुत्रजननकार्ये च। कः सुधीर्बुद्धिमान् प्रतिहस्तम् अन्यपुरुषं समादिशेत् युञ्ज्यात्। एतानि कार्याणि सुधीः स्वयमेव कुर्यात् अन्यत्र कार्यदैवाभ्यां कार्यं प्रेषणम्, दैवं यत्किमपि इष्टम् अनिष्टं वा दैवं करोति तत्र स्वहस्तात् किमपि न कर्तुं शक्नोति अतस्तत्र स्वहस्तनियमो नास्ति ॥७८७॥ आत्मेति—आत्मनः स्वस्य वित्तपरित्यागेन धनव्ययेन परैः अन्यैर्धर्मविधापने धर्मसंपादने। अन्यैर्नरैः दानपूजाभिषेकादिधर्मकार्यकरणे निःसंशयं सः स्वस्य वित्तत्यागः विफलो भवति तस्य फलं वित्तत्यागवता न लभ्यते। परभोगाय तत्फलम् अवाप्नोति सः ॥७८८॥ स्वयं धर्मविधायिनः फलं निर्दिशति—भोज्यम् इति—यः स्वयं धर्मं करोति तस्य धर्मकृतेः धर्मकार्यात् भोज्यम् इन्द्रियविषयः लभ्यते। तस्य भोजनशक्तिः इन्द्रियविषयभोगसामर्थ्यं लभ्यते। वरस्त्रियः वराया रूपादिगुणैः उत्तमायाः स्त्रियो युवत्याः रतिशक्तिः संभोगसामर्थ्यम्। विभवः ऐश्वर्यम् दानशक्तिश्च दानसामर्थ्यं च लभ्यते ॥७८९॥ केषु मुनिभिराहारग्रहणं वर्ज्यते—शिल्पिकारुकेत्यादि—शिल्पिनः मालाकारकुम्भकारचित्रकारादयः। कारुकवाचः निर्णेजकादयः। शम्फली परनारीं पुंसा योजयित्री कुट्टनीत्यर्थः। पतितादयः मद्यमांससेवनात् जातिच्युतः पतितः।

आदिशब्देन अन्येऽपि तत्सदृशा ये जनाः अस्पृश्यादयश्च । तेषु मुनिः देहस्थितिं न कुर्वीत आहारं नैव गृह्णीयात् तथा लिङ्गिलिङ्गोपजीविषु आर्यिका मुनयो वा ये लिङ्गेन उपजीविकां कुर्वन्ति यतीनाम् उपकरण-पादरक्ष-पिच्छयोगपट्टादिकरणजीविनां गृहे आहारो न कर्तव्यः । एतेषु सर्वेषु मुनिना देहस्थितिर्न क्रियेत । कृतायां प्रायश्चित्तविधिं चरेन्मुनिः ॥७९०॥ दीक्षायोग्यत्वाहारोचितत्वे वर्णयति—दीक्षायोग्या इति—त्रयो वर्णाः ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्याः एते त्रयो वर्णा दीक्षायोग्याः अर्हद्रूपधारणे अर्हा बोद्धव्याः । चत्वारश्च वर्णाः सच्छूद्रेण सहिताः ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्याः विधोचिताः आहारोचिताः । विधाशब्देन आहारो गृह्यते सर्वेऽपि जन्तवः मनोवाक्कायधर्माय मनसा, वाचा, कायेन च धर्माय धर्माचरणाय मताः त्रिभिः करणैः धर्माचरणं कर्तुं योग्याः । यस्य यद् धर्माचरणम् आहारदानादिकं निर्दिष्टं तेन तत्कार्यम् । यस्य तत् न प्रोक्तं तेन तत् न कार्यम् । स्वस्वयोग्यतानुसारेण कृतो धर्मः पुण्याय कल्पते । अन्यथा आगमाज्ञाविलोपः पापहेतुः स्यादिति ॥७९१॥ को धर्मः किं च तस्य कारणम् । पुष्पादिरिति—पुष्प-फल-नैवेद्यादिकानां देवगुरुशास्त्रेभ्योऽर्पणं, पात्रेभ्योऽशनम् आहारदानं वा न स्वयं धर्म एव हि, यथा क्षित्यादिः भूमिजलवातादिकं न स्वयं धान्यं किं तु धान्यस्य कारणम् । तथा पुष्पादिः अशनादिः धर्मस्य कारणं यो मनसि भावः शुभः शुद्धश्च स धर्मसंज्ञां धत्ते । अन्यत् तस्य कारणं ज्ञेयम् । पुष्पान्नादिवस्तुभावस्य परिणामनिर्मलतायाः कारणं स्यात् । अतः भावधर्मं प्रति कारणत्वात् तस्यापि परम्परया धर्मत्वमनने न हानिः ॥७९२॥ युक्तमिति—नृणां नराणां साधु मायादिरहितं मनः सकृदेव एकदैव श्रद्धया युक्तं सत् परां शुद्धिम् अतीव निर्मलताम् अवाप्नोति लभते । यथा रसैः पारदैर्विद्धम् अन्तःप्रविष्टपारदं लोहं परां शुद्धिं निर्मलतां धृत्वा सुवर्णतां प्राप्नोति ॥७९३॥ देहिनां प्राणिनां सदपि अकुटिलमपि मनः तपोदानार्चनाहीनम् अनशनादितपोभिः चतुर्विधाहाराभयौषधशास्त्रदानैः जिनपूजया च हीनं रहितं सत् तप आदिकर्मभ्यः संजातस्य पुण्यस्य प्राप्तये न स्यात् । कुशूलस्थितबीजवत् यथा कुशूले धान्यागारे स्थितं बीजं तत्फलप्राप्तये धान्यरूपफलोत्पादनाय हेतुर्न भवति अतः अकुटिलोऽपि मानवो धर्मरतो भवेच्चेत् धर्मफलं लभेत नान्यथा ॥ ७९४ ॥ आवेशिकेति—आवेशिकः अतिथिः आगन्तुकः । आश्रितः अनन्यस्वामिकः । ज्ञातिर्निजवंशजः । दीनः दुःखितो दरिद्रश्च तेषु यथाक्रमं क्रमम् अनतिक्रम्य यथौचित्यं दानप्रियवचनाभ्यां सन्तोषानतिक्रमेण । यथाकालं कालमनतिक्रम्य । यज्ञपञ्चकमाचरेत् । ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं नृयज्ञं पितृयज्ञं चेति पञ्चयज्ञान् क्रमशः कुर्यात् ॥ ७९५ ॥ पञ्चमकालेऽपि जैनमुनयः विहरन्तीति निगदति—काले इति—अस्मिन्कलौ काले दुःषमाख्ये पञ्चमकाले । चले चित्ते मनसि चञ्चले सति । देहे शरीरे च अन्नादिकीटके अन्नम् अत्तीति भक्षयतीति अन्नादी स चासौ कीटकः तस्मिन् सति । एतच्चित्रम् आश्चर्यं विद्यते यत् अद्यापि जिनरूपधारिणः नराः विद्यन्ते । अयं पञ्चमकालः शुभो नास्ति यतः सर्वे जनाः स्वैराचारपरायणाः पापरता दृश्यन्ते । चित्तमपि चलं धर्माचरणादपेतुमिच्छति । देहोऽपि अन्नाभिलाषरतः तथापि अत्र भारते केचन जना जिनेन्द्रमुद्रां धृत्वा स्वपरहिताय यतन्ते ॥७९६॥ यथेति—यथा लेपादिनिर्मितं काष्ठपाषाणमण्यादिविरचितं जिनेन्द्राणां रूपं जिनप्रतिबिम्बं पूज्यम् । तथा पूर्वमुनिच्छायाः पूर्वे ये मुनयः पूर्वमुनयस्तेषां छाया यत्र तत्सदृशा इत्यर्थः । अष्टाविंशतिमूलगुणधारिणः संयताः संप्रति अस्मिन्काले पूज्याः मान्याः । परं यदि स्वाचारात् भ्रष्टाः गृहस्थवत् असत्यं ब्रुवन्ति, मान्यान् मुनीनपि न मानयन्ति अहमपि न तेभ्यो हीनः इति ये मन्यन्ते । न ते नमस्कारयोग्याः, ये च तान्नमस्यन्ति ते तत्पापम् अनुमन्यमाना ज्ञातव्याः । उक्तं च कुन्दकुन्दाचार्यैः षट्प्राभृते—"तेसिं पि णत्थि बोही पावं अणुमोअमाणाणं—तेषामपि नास्ति बोधिः पापम् अनुमन्यमानानाम् इति । पूर्वमुनिच्छाया इत्यत्र छाया शब्दः अल्पत्वद्योतकः तच्च अल्पत्वं मुनिचारित्रापेक्षया पूर्वे मुनयः तपस्विनः परीषहोपसर्गान् सहमाना आसन् नाधुना ते तथा हीनसंहननधारित्वात् । परंतु हीनसंहननेऽपि मूलगुणानां पालनं भवत्येव अतः मूलगुणलोपाकारिणः मुनयः पूर्वमुनिच्छाया ज्ञातव्याः ॥७९७॥ पात्रप्रकारानाह—तदुत्तमम् इति—यत्र नरे रत्नत्रयं भवेत् विद्येत तत् उत्तमं पात्रं भवेत् । देशव्रती अणुव्रती दर्शनप्रतिमाद्येकादशप्रतिमासु यां कामपि प्रतिमाम् सेवमानः श्रावकः मध्यं पात्रं भवेत् । अन्यच्च जघन्यं पात्रं स्यात् । कः यः असंयतः सुदृक् असंयतः उभयसंयमविहीनः केवलं सम्यग्दर्शनं पालयन् ॥७९८॥

[पृष्ठ ३०१-३०४] यत्रेति—यत्र रत्नत्रयं नास्ति सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रं च रत्नत्रयम् तत् यस्मिन् नरे न विद्यते स अपात्रम् इति बुधा विद्वांसः विदुः जानन्ति। तत्र उप्तम् दत्तम् आहारादिकं चतुर्विधं दानम् ऊपरायां क्षारमृत्तिकावत्यां क्षिताविव भूम्याम् उप्तं बीजमिव सर्वं वृथा विफलं स्यात् ॥७९९॥ पात्रे दत्तमिति—गृहमेधिनां गृहिणां गृहे मेधा बुद्धिर्येषां ते गृहासक्ताः श्रावकाः। तेषाम् अन्नं पात्रे दत्तं पुण्याय भवेत्। यथा मेघानां शुक्तावेव पतितं जलं मुक्ताफलं मौक्तिकं भवेत् जायेत ॥८००॥ मिथ्यात्वेति—मिथ्यात्वेन अतत्त्वश्रद्धानेन कुदेवागमलिङ्गिनां श्रद्धानेन वा ग्रस्तानि चित्तानि मनांसि येषां तेषु नरेषु। कथंभूतेषु चारित्राभासभागिषु चारित्रस्य आभासं भजन्ते इति चारित्राभासभागिनः तेषु यच्चारित्रमिव सम्यग्दर्शनयुक्तं चारित्रम् इव भासते परं तत्तथा नास्ति तत् चारित्राभासम् तद्युक्तेषु दानम् आहारादिकदानम् अहिषु सर्पेषु पयःपानमिव दुग्धपानमिव दोषायैव भवेत्। ततः संसार एव वर्धेत ॥ ८०१ ॥ कारुण्यादिति—कारुण्यात् करुणाया दयाया भावः कारुण्यम्। तस्मात् मनसि अनुकम्पाया उद्भवात्। अथवा औचित्यात् प्रियवाक्सहितं दानम् औचित्यं तस्मात्। तेषां चारित्राभासभागिनां मिथ्यादृशां किंचित् स्वल्पं अन्नादिकं दिशन्नपि वितरन्नपि उद्धृतम् अन्नम् एव दिशेत्, तदीयपात्रे अन्नं निक्षिपेत् अन्यत्र गत्वा भुज्यतामिति कथयेत्। गृहे भुक्तिं न कारयेत् मदीये गृहे भुङ्क्ष्वेति कथयित्वा गृहे एव तं न भोजयेत् ॥८०२॥ उद्धृतान्नदाने हेतुमाह—सत्कारादाविति—येषां सत्कारादिषु क्रियमाणेषु, आदरेण स्वीकरणम्। उच्चासनदानम्। पादप्रक्षालनम्। गन्धादिना पूजनम्, इत्यादि सत्कारक्रियाकरणे दर्शनं सच्छ्रद्धानं दूषितं मलिनं भवेत्। तदेव निदर्शनेन दृढयति—यथा विषभाजनसंगमात् विषपात्रसहवासात् विशुद्धं निर्दोषमपि अम्बु जलं दूषितं पानकारिणो नरस्य प्राणहरणं कुर्यात् ॥८०३॥ एषां सहवासादिकमपि परिहरेदिति कथयति—शाक्येति—शाक्याः बौद्धाः, नास्तिकाश्चार्वाकाः आत्मा नास्ति, परलोको नास्तीति वादिनः। यागज्ञाः मीमांसका अश्वमेधादियज्ञविधायिनः। जटिलाः जटाधारिणः पारिव्राजकाः, आजीवकाः....आदौ येषां ते तैः मिथ्यामतप्रवर्तिभिः लोकैः सहावासम् एकस्मिन् स्थाने निवसनम्। सहालापं तैः सह भाषणम्, तत्सेवां च विवर्जयेत् त्यजेत् ॥८०४॥ अज्ञातेति—अज्ञातं तत्त्वानां जीवादीनां चेतः हृदयं स्वरूपं यैस्ते अज्ञाततत्त्वचेतसः। अथवा अज्ञातम् अनवबुद्धं तत्त्वं जीवादीनां स्वरूपं येन तत् अज्ञाततत्त्वं तत् चेतः मनः येषां ते अज्ञाततत्त्वचेतसः तैः शाक्यादिभिः,'पुनः कथंभूतैः दुराग्रहमलीमसैः दुरभिनिवेशान्मलिनमनोभिः शाक्यादिभिः गोष्ठ्यां भाषणव्यवहारे कृते तत्त्वविमर्शे कृते दण्डादण्डि, दण्डैर्दण्डैरिदं अन्योन्यं युद्धं प्रवर्तते इति, अन्योन्यं कचान् गृहीत्वेदं युद्धं प्रवर्तत इति कचाकचि। दुराग्रहवशंगतचेतस्त्वात् ते कलहोद्यता भवेयुरिति ॥८०५॥ दर्शनम्लानिकारणान्याह—भयलोभेत्यादि—भयं भीतिः, राजादिजनिता, लोभः वर्तमानकाले अर्थप्राप्तिः। उपरोधः मित्रानुरागः आदिशब्देन आशया भाविनोऽर्थस्य प्राप्त्याकाङ्क्षया। कुलिङ्गिषु शाक्यनास्तिकयागज्ञजटिलादिषु कुगुरुषु निषेवणैः प्रणामविनयादिभिः नीचैः आचरणे हीने आचारे जाते सति दर्शनम् अवश्यं म्लायेत् मलिनं भवेत् उज्ज्वलं न स्यात् ॥८०६॥ बुद्धिपौरुषेत्यादि—बुद्धिः कर्मणि कौशलम्। पौरुषं प्रयत्न उद्यमश्च। नृषु नरेषु कर्मकुशलेषु प्रयत्नवत्सु सत्स्वपि, दैवायत्तविभूतिषु सम्पदः दैवाधीनाः संभवन्ति। तत्प्राप्त्यर्थं कुत्सितसेवायां यदि नरा उद्यताश्चेत् तत्र दैन्यं दीनता एव दारिद्र्यमेव अतिरिच्यते अधिकं कारणं प्रधानं कारणं ज्ञातव्यम्। नरः कश्चित् सम्यग्दृष्टिः कुत्सितजनस्य दारिद्र्याभिभूतत्वात्सेवां करोति चेत् तेनैवं विमर्शः कर्तव्यः अहं सम्यग्दृष्टिः यद्यपि कर्मकुशलः पौरुषयुक्तश्च तथापि विभूतयो दैवायत्ताः। अतः मयास्य सेवा क्रियते तथापि मम सदाचारं नाहं त्यजामि, नाहं कुलिङ्गिनो निषेवे। मिथ्यादृष्टिनश्च नाहं प्रशंसामि। एवं विवेकेन प्रवृत्तिं कुर्वाणः सम्यक्त्वं न मलिनयेत् ॥८०७॥ समयीत्यादि—मनीषिणः विद्वांसः तत्पात्रं पुनः पञ्चधा पञ्चप्रकारम्। आमनन्ति आगममनुसृत्य वदन्ति। किं समयी श्रावकः साधुश्च जिनसमयश्रितः, सूरिः आचार्यः समयदीपकः वादित्वादिना मार्गप्रभावकः ॥८०८॥ समयिकमाह—गृहस्थो वेत्यादि—जैनं समयं जिनप्रतिपादितं समयं मतम् आश्रितः गृहस्थो वा गृहनिरतः गृहविरतो वा। यथाकालं कालम् आहारकालम् अनतिक्रम्य अनुप्राप्तः गृहमागतश्चेत् पूजनीयः सुदृष्टिभिः

सम्यग्दर्शनधारिभिः ॥८०९॥ साधकमाह—**ज्योतिर्मन्त्रेत्यादि**—ज्योतिः ग्रहनक्षत्रादिकं तद्गत्यादिकं च, तज्जानातीति ज्योतिर्ज्ञः। मन्त्रज्ञः मन्त्रं तत्स्वरूपम् इष्टानिष्टं तत्फलम्, तदाराधनादिकं जानातीति मन्त्रज्ञः। निमित्तम् अष्टधा अन्तरिक्ष-भौम-अङ्ग-स्वर-व्यञ्जन-लक्षण-छिन्न-स्वप्नाः। तद् जानातीति निमित्तज्ञः, यः ज्योतिःषु, मन्त्रेषु, निमित्तेषु च कुशलः। यः कार्यकर्मसु प्रतिष्ठाषोडशसंस्कारविधानव्रतोद्यापनादिषु कर्मसु सुप्रज्ञः सुबुद्धिः सम्यक्तया परोक्षार्थाः ग्रहगतयः, तदिष्टानिष्टफलानि च तेषु समर्था धीर्यस्य सः समयिभिः गृहस्थैः मुनिभिश्च मान्यः आदरणीयः। अथवा कार्यकर्मसु सुप्रज्ञः वैद्यः स च व्याधिं परोक्षार्थं जानाति अतः सोऽपि समयिभिः मान्यः ॥८१०॥ साधकमाह—**दीक्षायात्रेति**—दीक्षा द्विविधा अणुव्रतदीक्षा महाव्रतदीक्षा च यात्रा ग्रामान्तरगमनं तीर्थयात्राकरणं वा। प्रतिष्ठा जिनयज्ञविधानम्। आद्यशब्देन व्रतोद्यापनं विवाहादिसंस्काराश्च। एताः क्रियाः तद्विरहे ज्योतिर्मन्त्रनिमित्तज्ञाद्यभावे कुतः भवेयुः। तदर्थम् एतत्कार्यविधानाय परपृच्छायां वैदिकादि-ज्योतिर्विद्वैद्यादि-विद्वज्जनपृच्छायां निजसमयोन्नतिः कथं स्यात् ॥८११॥ नैष्ठिकमाह—**मूलोत्तरगुणेति**—मूलगुणाः अहिंसादयः अष्टाविंशतिः। उत्तरगुणाः चतुरशीतिलक्षाः। एतैर्गुणैः श्लाघ्यानि यानि तपांसि अनशनादीनि द्वादश तैः निष्ठिता दृढा स्थितिः मुनिधर्मे अवस्थानं यस्य सः, साधुः मुनिः सम्यक्तया मनोवाक्कायैः पूज्यः मान्यः स्यात्। कैः पुण्योपार्जनपण्डितैः पुण्यसंचये निपुणैः श्रावकैः ॥८१२॥ गणाधिपमाह—**ज्ञानकाण्डे इति**—न्याय-धर्म-व्याकरण-साहित्यादिकशास्त्राणि ज्ञानकाण्डम्। क्रियाकाण्डे अणुव्रतमहाव्रताद्याचाराः क्रियाकाण्डम्, एतत् काण्डद्वये चातुर्वर्ण्यपुरःसरः मुन्यृषियत्यनगाराणां पुरःसरः अग्रणीः सूरिः संसाराब्धितरण्डकः भववार्धिपोतः। देव इव अर्हन्निव आराध्यः पूज्यः ॥८१३॥ समयद्योतकम् आह—**लोकवित्त्वादि**—लोकवित्त्वं लोकव्यवहारवेदित्वम्, कवित्वं बुधजनमनोहरणकुशलकाव्यरचनाचातुर्यम् आद्यं येषु तैः वादवाग्मित्वकौशलैः, विजिगीषुकथानैपुण्यं वादः। वाग्मित्वं वक्तृत्वं तयोः कौशलैः चातुर्यैः मार्गप्रभावनोद्युक्ताः रत्नत्रयमार्गप्रभावने उद्द्योतने उद्युक्ताः तत्पराः सन्तः साधवः गृहस्थाश्च विशेषतः दानसम्मानादिना पूज्याः मान्याः ॥८१४॥ कीदृशं ज्ञानं तपश्च पूज्यं स्यादित्याह—**मान्यमित्यादि**—तपोहीनं लोकविस्मयकारकतपोरहितं ज्ञानं दीक्षायात्राप्रतिष्ठाद्युपयोगि मान्यं भवेत् तादृक् ज्ञानम् अनशनादितपोनिमित्तं भवेत्। ज्ञानहीनं तपः नैष्ठिकस्थम् अर्हितं पूज्यं स्यात्। ज्ञानातिशयहेतुत्वात्। द्वयं ज्ञानतपोयुगलं गणाधिपस्थम्। यत्र स देवः स्यात् अर्हन्निव स्यात्। द्विहीनः गणपूरणः गणं संख्यां पूरयति इति गणपूरणः भवेत् ॥८१५॥ मुन्यादीनां विनयक्रियामाह—**अर्हद्रूपे इति**—अर्हतः रूपं यस्य सः अर्हद्रूपः तस्मिन् जिनमुद्राधारके नग्नमुनौ नमोऽस्तु स्यात्। नमोऽस्तु इति त्रिरुक्त्वा मुनिं पञ्चाङ्गैर्नमेत्। विरतिः आर्यिका तस्यां विनयक्रिया वन्दे इति। च अन्योऽन्यं क्षुल्लके च अहं यथायोग्यप्रतिपत्त्या इच्छाकारवचः इच्छामीत्यादिप्रसिद्धविनयकर्म सदा स्यात्। श्रावकाः अन्योन्यं दृष्ट्वा इच्छामीत्युक्त्वा विनयक्रियां कुर्युः ॥८१६॥

[पृष्ठ ३०५-३०८] **अनुवीचीत्यादि**—पूज्यादिसंनिधौ पूज्या मान्या ये आचार्यादयः ते आदौ येषां ते पूज्यादयः आर्यिकाक्षुल्लकादयः। तेषां संनिधौ समीपे अनुवीचिवचः विचार्य भणनम्, निरवद्यवचनं सदा भाष्यम् अनिशं वाच्यम्। गुरुसंनिधौ यथेष्टं हसनालापान् असत्यभाषणं, नर्महास्यम्, अभ्याख्यानं मिथ्याविवादः वर्जयेत् त्यजेत् ॥८१७॥ **भुक्तिमात्रेत्यादि**—भुक्तिः आहार एव भुक्तिमात्रं तस्य प्रदानं वितरणं तस्मिन् तपस्विनां का परीक्षा को विमर्शः करणीयः अयम् आगमोक्तमाचारं यतीनाम् आचरति न वेति विमर्शो न करणीयः। ते सन्तः सन्मुनयो भवन्तु असन्मुनयो वा यतः गृही गृहस्थः दानेन शुद्धचति पुण्यं लभते ॥८१८॥ **सर्वेति**—सर्वे च ते आरम्भाः सर्वारम्भाः अनेकानि कार्याणि तत्र च गृहस्थानां बहुधा बहुभिः प्रकारैः लज्जाभयपक्षपातादिभिः धनव्ययः भवति। ततोऽत्यर्थम् अतिशयेन विचारणा परीक्षा न कर्तव्या ॥८१९॥ यथा **यथेति**—यथा यथा मुनयः तपांसि, ज्ञानम्, महाव्रतानि, समितयः आदिभिर्गुणैः विशिष्यन्ते विशिष्टा जायन्ते भवन्ति। तथा तथा ते गृहमेधिभिः गृहस्थैः पूज्या मान्या भवन्ति ॥८२०॥ **दैवादिति**—धन्यैः पुण्यवद्भिः गृहस्थैः दैवाल्लब्धं प्राप्तं धनं समयाश्रिते समयो जिनधर्मः तम् आश्रिते मुन्यादौ

अन्ने वस्तव्यं दातव्यम् । यथागमम् आगममनुसृत्य एकः मुनिः लभ्यः प्राप्येत न वा लभ्यः न प्राप्येत ॥८२१॥ अयं जिनधर्मः कीदृक्पुरुषैः सेव्यते इति प्रश्ने उत्तरमाह—उच्चावचेति—अयं जिनेशिनां समयः धर्मः उच्चावचजनप्रायः उदक् च अवाक् च उच्चावचः अनेकप्रकारः स च जनः तेन प्रायः भृतः अस्ति । यथा आलयः गृहम् एकस्तम्भे न तिष्ठेत् तथा एकस्मिन् पुरुषे अयं जिनेशिनां समयः न तिष्ठेत् ॥८२२॥ जिनेशिनां समये कतिविधा मुनयो भवन्तीति व्याचष्टे—ते नामेति—नामन्यासेन, स्थापनान्यासेन, द्रव्यन्यासेन, भावन्यासेन च मुनयः चतुर्विधाः भवन्ति । ते सर्वेऽपि दानादरक्रियासु योग्या भवन्ति ॥८२३॥ उत्तरोत्तरेति—उत्तरोत्तरभावेन नामादिन्यस्तेषु मुनिषु उत्तरोत्तरन्यासेन न्यस्ते मुनौ विधिः दानमानादिक्रियया आदरो विशिष्यते । नाममुनेः स्थापनामुनिः श्रेयान् । ततः द्रव्यमुनिः श्रेयस्तरः । ततोऽपि भावमुनिः श्रेयोऽधिकः । यथा पुण्यार्जने पुण्यसंचये गृहस्थानां जिनप्रतिकृतिषु जिनबिम्बेषु नामादिन्यासेन उत्तरोत्तरभावेन आदरविधिः विशिष्यते । यथा नामजिनतः स्थापनाजिनः पूज्यः । स्थापनाजिनात् द्रव्यजिनः भावजिनः अधिकं पूज्यस्ततोऽपि भावजिनो विशेषेण पूज्यः ॥८२४॥ नामनिक्षेपमाह—अतद्गुणेष्विति—न विद्यन्ते शब्दप्रवृत्तिनिमित्तानि जगत्प्रसिद्धानि जातिगुणक्रियाद्रव्यलक्षणगुणविशेषणानि येषु तेषु भावेषु व्यवहारप्रसिद्ध्ये नरेच्छावशवर्तनात् पुरुषाभिप्रायमवलम्ब्य यत्संज्ञाकर्म नामविधानम्, तन्नाम ज्ञातव्यम् ॥८२५॥ स्थापनानिक्षेपमाह—साकारे इति—यत्प्रतिनिधिभूतं वस्तु सादृश्यमावहति तत्साकारम् । ततोऽन्यथाप्रतिनिधिभूतत्वेन कल्प्यते तन्निराकारम् । एतादृशे काष्ठादौ काष्ठपुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु सोऽयमित्यभिप्रायेण न्यस्यमाना स्थापना निगद्यते अभिधीयते ॥८२६॥ द्रव्यनिक्षेपं ब्रवीति—आगामीति—आगामिनि भाविकाले गुणलाभमपेक्ष्य योऽर्थो यद्वस्तु प्रकल्प्यते सः द्रव्यन्यासस्य द्रव्यनिक्षेपस्य गोचरः विषयः । भावनिक्षेपं वदति—तत्कालेति—तत्कालपर्यायाक्रान्तं वर्तमानदशास्थितं वस्तु भावो भाष्यते ॥८२७॥ राजसं दानमाह—यदात्मेति—यत् दानम् आत्मवर्णनप्रायम् स्वस्तुतिबहुलम् । क्षणिकाहार्यविभ्रमम् क्षणपर्यन्तं संजातविलासम् । कदाचित् ददाति, प्रतिदिनं न ददाति । अतः क्षणिकविभ्रमम् । आपातमनोहरम् । परप्रत्ययसंभूतम् अन्योपदेशसंभूतम् । अन्येन जनेन दापितं वा । स्वचित्ते दानस्य विश्वासो नास्ति । परं कस्यचिद्दानस्य फलं दृष्ट्वा अनेन ईदृशं प्राप्तं फलमिति ज्ञात्वा पश्चात् ददाति । आहार्यम्–यदा कश्चित्प्रवर्तयेत् तदा दानं ददाति । तद् दानं राजसं मतं कथितम् ॥८२८॥ तामसदानमाह—पात्रापात्रेत्यादि—पात्रं च अपात्रं च उभयमपि समं समानरूपम् अवेक्ष्यं वीक्ष्यते यत्र तत् । असत्कारं पात्रस्य सत्कारो यत्र न क्रियते तथाभूतम् । असंस्तुतम् – लज्जादिना दत्तम् । दासभृत्यकृतोद्योगं क्रीतजनेन, वैतनिकभृत्येन वा कृतः उद्योगः पाचनादिकार्यं वा यत्र तद्दानं तामसम् ऊचिरे बभाषिरे ॥८२९॥ सात्त्विकं दानमाह—आतिथेयमिति—यत्र स्वयम् आतिथेयम् अतिथेः पात्रस्य स्वागतीकरणम् । यत्र पात्रनिरीक्षणम् आगतस्य अतिथेः पात्रापात्रत्वं विमृश्य तद्योग्यतामनुसृत्य प्रवर्तनम् । यत्र दाने श्रद्धादयो गुणाः सन्ति तद्दानं सात्त्विकं विदुः जानन्ति ॥८३०॥ दानानाम् उत्तमादिकत्वमाह—उत्तममिति—सात्त्विकं दानम् उत्तमम् । मध्यमं राजसं भवेत् । सर्वेषां दानानां निर्धारणे षष्ठी । सर्वेषु दानभेदेषु सर्वेषु पुनः जघन्यं तामसं ज्ञेयम् । सर्वेषामेव दानानाम् इति सात्त्विकराजसयोरपि योजनीयम् ॥८३१॥ दानफलम् इहापि लभ्यत इत्याह—यद्दत्तम् इति—यत् दानम् अभयादिकं दत्तं तत् अमुत्र अमुष्मिल्लोके परलोके स्यात् फलवद् भवेत् इति वचः भाषणम् असत्यपरं स्यात् । यतः तोयतृणाशनाः जलतृणभक्षिण्यः गावो धेनवः । किं पयः न प्रयच्छन्ति न ददति अपि तु ददत्येव । गावः यस्मिन् दिने जलयवसं भक्षयन्ति तद्दिन एव दुग्धं ददति । तथा दानफलं दात्रा अस्मिन्नेव लोके फलं मनःप्रसादरूपं लभ्यते । अथवा यत् अस्माभिः रूक्षं स्निग्धं वा अन्नं कदन्नं वा दत्तं तदेवान्यजन्मनि अस्माभिः प्राप्यते इति मिथ्यावचः । यतः गौः तोयं तृणं चाश्नाति परं मधुरं पयो ददाति । अत्र यद्दीयते तदेव लभ्यते इति वचो मिथ्या ॥८३२॥ मुनिभ्य इति—मुनिभ्यः शाकपिण्डोऽपि शाकस्य पत्रशाकस्य पिण्डः पुञ्जः ग्रासः पत्रशाकोऽपि । काले आहारवेलायाम् भक्त्या प्रकल्पितः दत्तः अगण्यपुण्यार्थं भवेत् । यतः भक्तिः चिन्तामणिः चिन्तामणिरिव ॥८३३॥ मौनविधिः किमर्थमित्याह—अभिमानस्येति—अभिमानस्य अयाचक-

व्रतस्य रक्षणार्थम् । आगमस्य विनयार्थम् जिनेश्वराः भोजनादिविधानेषु मौनम् ऊचुः उक्तवन्तः ॥८३४॥ **लौल्यत्यागादिति**—लौल्यं जिह्वालम्पटता तस्य त्यागात् इच्छाया निरोधात् । तपोवृद्धिः भवति । अभिमानस्य च रक्षणम् अयाचकव्रतस्य पालनं स्यात् । ततश्च तस्माद्व्रतरक्षणात् लौल्यत्यागाच्च जगत्त्रयविषये मनःसिद्धिः स्याद् भवेत् । यया सर्वज्ञता स्यात् ॥८३५॥

[पृष्ठ ३०९-३१३] **श्रुतस्येति**—मौनेन श्रुतस्य प्रश्रयो विनयो भवेत् । ततश्च श्रेयःसमृद्धेः समाश्रयः स्यात् । मुक्तिसम्पदः आश्रयः भवेत् । ततः मौनात् मनुजलोकस्य सरस्वती प्रसीदति त्रिजगदनुग्रहसमर्थो दिव्यध्वनिप्रसादो भवति ॥८३६॥ संयमिनां व्याध्यादिप्रतीकारः करणीयः इति कथयति—**शारीरेति**—शारीरा व्याधयः दोषधातुमलविकृतिजनिताः । मानसा व्याधयः दौर्मनस्यदुःस्वप्नसाध्वसादिसम्पादिताः । आगन्तुव्याधयः शीतवाताभिघातादिकृताः । एतैः व्याधिभिः सम्बाधसंभवे पीडासंभवे । केषां संयमिनां तपस्विनाम् । गृहाश्रितैः गृहनिरतश्रावकैः । साधु सम्यक्तया । शारीरमानसागन्तुकानां रोगाणां प्रतीकारः विनिवृत्त्युपायः । कार्यः करणीयः ॥८३७॥ व्याधिपीडितमुन्युपेक्षायां सर्वं श्रुतं नश्येदिति निवेदयति—**मुनीनामिति**—उपासकैः देवशास्त्रगुरूणाम् उपासनां कुर्वद्भिः श्रावकैः । व्याधियुक्तानां रोगपीडितानां ज्ञानवतां मुनीनाम् उपेक्षायाम् औदासीन्यकरणे । असमाधिः रत्नत्रयविराधना तेषां मुनीनां भवेत् । स्वस्य औषधादिसाहाय्यम् अविहरतः अधर्मकर्मता च प्रकटीभवेत् । अतः जैनागमस्य व्याख्यानं विदधानेषु विद्वत्सु । तदागमस्य पठनं कुर्वत्सु छात्रमुन्यादिषु । सदा सौमनस्यं शुभं हर्षादिकम् । आचार्यं करणीयम् । कैः उपायैः इत्याह आवासेति—आवासः वसतिका । पुस्तकं शास्त्रम् । आहारः मुन्युपयोगि प्रकृत्यनुकूलम् अन्नदानम् । सौकर्यादिविधानकैः अन्यश्रुतसाधनानां सौलभ्यकारणैः । **श्रुतस्कन्धेति**—श्रुतस्कन्धधरात्यये श्रुतस्कन्धस्य अङ्गपूर्वज्ञानस्य धरणे समर्थानां मुनीनाम् अत्यये विनाशे । निर्मूलतः सर्वम् अङ्गपूर्वप्रकीर्णोक्तम्—अङ्गेषु एकादशसु पूर्वेषु चतुर्दशसु च यदुक्तं श्रुतज्ञानं तन्नश्येत् । तथा सूक्तम्—सुष्ठु उक्तं निर्दोषं प्रतिपादितं केवलिभाषितं जिनेश्वरप्रोक्तं सर्वं नश्येत् । अतः गृहाश्रितैः संयमिना व्याधेः प्रतीकारः कार्यः । **प्रश्रयोत्साहतेति**—प्रश्रयो विनयः । उत्साहः उद्यमः । सततप्रयत्ने साहाय्यदानम् । आनन्दवर्धनम् । स्वाध्यायोचितवस्तुभिः श्रुतवृद्धान् मुनीन् जनयन् श्रावकः श्रुतपारगः सकलश्रुतधारकः जायते । ८३८-८४१ ॥ श्रुताच्छ्रुताभावाच्च किं स्यादिति निवेदयति—श्रुतात् श्रुतरक्षणात् तत्त्वज्ञानं जीवादितत्त्वबोधः जायते । श्रुतात् श्रुतपालनात् समयवर्धनं स्वमतप्रभावना भवति । श्रेयोऽर्थिनां मुक्त्यभिलाषिणां श्रुताभावे एतत्सर्वं जीवादितत्त्वज्ञानं स्वमतप्रभावना च विनश्यति सर्वं तमस्यते अन्धकारकल्पं भवति ॥८४२॥ **अस्त्रधारणवदिति**—यथा अस्त्रधारणं सुलभं तथा नराः बाह्ये क्लेशे सुलभाः । परं तथा शौण्डीराः पराक्रमिणो वीराः दुर्लभाः तथा यथागमज्ञानवन्तो नराः यथार्थज्ञानसंपन्नाः दुर्लभाः ॥८४३॥ **ज्ञानभावनयेति**—ज्ञानभावनयोर्हीने ज्ञानाभ्यासाय सततं प्रयत्नम् अकुर्वति कायक्लेशिनि शरीरक्लेशान् सहमाने नरो केवलं वाहीकवत् भारं वहन्नर इव किंचिद्भारो हीयते, अन्यः वर्धते । तथा कायक्लेशं कुर्वाणे नरि नूतनं कर्मागच्छति-पुरातनं किंचिद् गलति ॥८४४॥ मोहशमनाय ज्ञानमेव कारणम्—**सृणिवदिति**—सृणिवत् अंकुशो यथा दन्तिनः करिणः वशाय दमनाय हेतुर्भवति तथा आशयदन्तिनः मोहकरिणो दमनाय ज्ञानम् अंकुशवत् भवति । तदृते ज्ञानादृते । बहिः कायक्लेशाख्यं तपः क्लेश एव पीडैव परम् अतिशयेन भवेत् ॥८४५॥ ज्ञानभावना श्रेष्ठेति—**बहिरिति**—ज्ञानं भावयतः आत्मनि आगमाश्रयेण ज्ञानं चिन्तयतः नरस्य संनिधौ बहिः अनशनादितपः स्वयम् अभ्येति तं प्राप्नोति । यत् यतः अत्र ज्ञानभावनायां क्षेत्रज्ञे आत्मनि निमग्ने एकाग्रचिन्तापरिणते जाते सति । कुतः अपराः क्रियाः रागवर्धकाः स्युः वीतरागविज्ञानरूपायां परिणतौ जातायां जीवे कर्मागमनं न भवति । संवरः च जायते ॥८४६॥ **यदज्ञानीति**—अज्ञानी आत्मज्ञानशून्यः केवलं बाह्यं कायक्लेशं कुर्वाणो जीवः । बहुभिः युगैः कर्म क्षपयेत् विनाशयेन्न वा । परं योगसंपन्नः एकाग्रचित्तः ज्ञानी । ध्रुवं निश्चयेन । क्षणतः मुहूर्तादेव । कर्म क्षपयेत् दहेत् । मिथ्याज्ञानी कर्मक्षयं न करोति, सम्यग्ज्ञानी क्षणात्कर्मराशिं भस्मभावं नयति ॥८४७॥ **ज्ञानीति**—अखिले बहिर्व्रते अनशनादौ । क्लेष्टुः क्लेशं सहमानात् यतेः । ज्ञानी मुनिः पटुः

कर्मक्षपणचतुरो भीयते। ज्ञानलवे ज्ञातुः यतेः युगैरपि बहुभिः यस्मात् न पटुत्वं कर्मक्षपणकुशलत्वं न भवति। संपूर्णे चारित्रे सति पटुः परिपूर्णज्ञानी भवेत्। न तु ज्ञानलवमात्रेण केवली स्यादिति भावः ॥८४८॥ शब्दैतिह्यैरिति—यस्य शब्दैतिह्यैः शब्दागमैः व्याकरणैः यस्य गीः वाणी शुद्धा न। यस्य च धीः बुद्धिर्नयैः नैगमादिनयैः शुद्धा कुशला न। सः परप्रत्ययात् अन्यस्मात् कुत्सितगुर्वादेः प्रत्ययात् ज्ञानात् क्लिश्यन् क्लेशं प्राप्नुवन् पुमान् अन्धसमः अन्धतुल्यः भवेत् ॥८४९॥ शब्दाद्यागमानां द्वैविध्यम् आह—स्वरूपमिति—स्वरूपम्। रचना। शुद्धिः। भूषा। अर्थः। समासतः संक्षेपात्। आगमस्य शास्त्रस्य। प्रत्येकम् एतद्द्वैविध्यं भेदद्वयं प्रतिपद्यते स्वीकरोति। तद्यथा—शब्दागमः, न्यायागमः, धर्मागमः इति त्रय आगमाः सन्ति। तेषां प्रत्येकं स्वरूपादेः द्वैविध्यं भवति। तद्यथा—स्वरूपं द्विविधम् अक्षरम् अनक्षरं च। अस्फुटार्थसूचनार्थम् यथा तडत्तडित्। पटपटायति। रचना द्विविधा गद्यं पद्यं च। प्रत्येकमागमः गद्यरूपेण पद्यरूपेण वा स्वाभिप्रायं निवेदयति। शुद्धिर्द्विविधा—प्रमादप्रयोगविरहः प्रमादात् अनवधानात् यः अशुद्धः प्रयोगः अशुद्धा वाक्यरचना तस्याः विरहः अभावः। अर्थव्यञ्जनविकलतापरिहारश्च। अर्थः शब्देन प्रतिपाद्याशयः। व्यञ्जनम् शब्दः तयोः विकलतायाः परिहारः त्यागः। भूषा द्विविधा वागलंकारः शब्दालंकारः अर्थालंकारश्च उपमारूपकादयः। अर्थो द्विविधः चेतनः अचेतनश्च। चेतनोऽर्थः देवमानवादिः। अचेतनः पृथिव्यादिः जातिः व्यक्तिश्चेति वा ॥८५०॥ दानविधेः अतिचारानाह—सार्धमिति—सचित्तनिक्षिप्तम्—सचित्ते पद्मपत्रादौ अन्नस्य निक्षिप्तम् अन्ननिक्षेपः। सचित्तवृतं सचित्तेन कमलपत्रादिना वृतमन्नस्योपरि आवरणम्। अन्योपदेशः परस्य दातुरेतद्गुडखण्डादिकमस्तीति पात्रस्य निवेदनम्। मात्सर्यम् अन्यदातृगुणासहिष्णुत्वं मात्सर्यम्। कालातिक्रमणक्रिया साधूनाम् उचितस्य भिक्षासमयस्य लङ्घनम्। एते पञ्चातिचाराः दानहानये दानव्रतस्य विनाशाय भवन्ति ॥८५१॥ यतिभक्त्यादिकरणाद्दात्रा किं किं लभ्यते इत्याह—नतेरित्यादि—यतेर्नतेः मुनिनमस्कारात् गोत्रम् उच्चं कुलं दाता अवाप्नोति। दानात् आहारादिदानात् श्रियः संपदः अवाप्नोति। उपास्तेः यतिपूजनात् सर्वसेव्यतां सकलजनमान्यतां लभते। भक्तेः यतिगुणानुरागात् कीर्तिमवाप्नोति, यशो लभते। कः दाता कथंभूतः स्वयं यतीन् भजन् स्वयं मुनीन् आश्रयन् उपासमानः ॥८५२॥

इत्युपासकाध्ययने दानविधिर्नाम त्रिचत्वारिंशत्तमः कल्पः ॥४३॥

४४. यतिनामनिर्वचनश्चतुश्चत्वारिंशत्तमः कल्पः।

[पृष्ठ ३१४–३१७] गृहिणामेकादशपदान्याह—मूलव्रतमिति—मूलव्रतं मद्यमांसमधुभिः सह पञ्चोदुम्बरत्यागो मूलव्रतम्। पञ्चाणुव्रतानि, गुणव्रतत्रयम् शिक्षाव्रतचतुष्टयम् एतेषां द्वादशानां पालनम् व्रतपदं द्वितीयम्। अर्चा आप्तसेवा समयो वा तस्याः करणं तृतीयं पदम् सामायिकाख्यम्। पर्वकर्म प्रोषधोपवासः चतुर्थं पदम्। अकृषिक्रिया क्षेत्रे सस्यादिवापनम्, हलेन भूमिकर्षणम् एतत्कार्यम् अस्मिन्पञ्चमे पदे निषिद्धम् अतः अकृषिक्रियाख्यं पदमेतत्पञ्चमम्। दिवा दिने स्वस्त्रीसंभोगत्यागः षष्ठं पदम्। नवविधं ब्रह्म-मनसा वचसा कायेन संभोगत्यागः स्वयम्, अन्येन त्याजनम्, त्यजतो अनुमोदनम्। एतत्सप्तमं पदम्। श्रावकस्य सचित्तस्य आमस्य मूलफलशाकशाखादेस्त्यागः अष्टमं श्रावकपदम्। परिग्रहपरित्यागः बाह्यदशविधपरिग्रहाणां क्षेत्रवास्त्वादीनां त्यागो वर्जनं नवमं श्रावकपदम्। भुक्तिमात्रानुमान्यता–भुक्तिराहारः अन्नपानखाद्यलेह्यानां चतुर्णाम् आहाराणाम् अनुमान्यता अनुमतिदानम्, दात्रा पुत्रादिना श्रावकेण क आहारोऽद्य ग्राह्य इति पृष्टे अमुक आहारो ममेष्ट इति कथनम्। भुक्तिमात्रानुमान्यता दशमं पदम्[1]। तद्धानौ च तस्या अनुमतेर्हानिस्त्यागः एकादशपदम्[2]।

१. भुक्त्यनुमतिं मुक्त्वा अन्यत्र आरम्भे, परिग्रहे, ऐहिकेषु विवाहादिकर्मसु अनुमतेरपि त्यागः ज्ञातव्यः।

२. दात्रा पुत्रादिना श्रावकेण कः आहारोऽद्य भवेद्भवत इष्टः इति पृष्टेऽपि तद्विषये अनुमतेरपि अदानम् एकादशं पदम्।

८५३-८५४। अवधीत्यादि—अवधिव्रतम् आरोहेत् पूर्वपूर्वव्रतस्थितः। पूर्वस्मिन् पूर्वस्मिन् व्रते मूलव्रतादौ स्थितः। अवधिव्रतं कालमर्यादां कृत्वा उत्तरव्रतं गृह्णीयात्। यद्यद्व्रतं नवीनं गृह्यते तस्य तस्य मर्यादां कृत्वा तत्पालयेत्पूर्वव्रतैः सह। सर्वत्रापि एकादशसु पदेषु ज्ञानदर्शनभावनाः समाः प्रोक्ताः। यदि एषां पदानां श्रद्धानं ज्ञानं च न स्यात् तर्हि उत्तरोत्तरपदधारणं नोचितं भवेत्। सर्वेषु एकादशपदेषु क्रमेण रत्नत्रयभावनाः सदृशाः सन्त्येव ॥ ८५५ ॥ षडत्रेति—अत्र आदिषट्पदधारिणः श्रावकाः गृहिणः, ज्ञेयाः, सप्तमाष्टमनवमपदधारिणो ब्रह्मचारिनामानो ज्ञेयाः। दशमैकादशपदधारकौ द्वौ भिक्षुकौ इति निर्दिष्टौ। ततः सर्वतः व्रतधारिणः महाव्रतिनो यतिनामधेया ज्ञातव्याः ॥ ८५६ ॥ तत्तदिति—महाव्रतादिषु यस्य गुणस्य प्राधान्यं येषु विद्यते तत्तद्गुणमाश्रित्य यतयो मुनयोऽनेकधा बहुविधाः स्मृताः प्रोक्ताः। तेषां यतीनां निरुक्ति निश्चयेन उक्तिः कथनं निरुक्तिस्तां वदतो वर्णयतः मत् मत्सकाशात् निबोधत शृणुध्वम् ॥८५७॥ जित्वेति—यः सर्वाणि इन्द्रियाणि स्पर्शनरसनादीनि जित्वा स्वविषयेभ्यः परावृत्य स्वायत्तानि करोति तथा आत्मना स्वयम् आत्मानं स्वं वेत्ति जानाति स गृहस्थो भवतु वानप्रस्थो वा भवतु। वानप्रस्थः – अपरिगृहीतजिनरूपो वस्त्रखण्डधारी निरतिशयतपस्युद्यतो भवति। स जितेन्द्रियनामधेयो भवति। इति जितेन्द्रियपदनिरुक्तिः ॥८५८॥ क्षपणश्रमणयोर्निरुक्तिमाह—मानेति—मानो गर्वः, माया कपटम्, मदः उन्मत्तता, आमर्षः क्रोधः एषां क्षपणात् क्षयकरणात् यतिः क्षपणः स्मृत उक्तः ॥ यो नेति—यः यतिः श्रान्तेः न श्रान्तः श्रान्तेः ईर्यासमित्या भ्रमणात् न श्रान्तः न क्लान्तः तं बुधा विद्वांसः श्रमणं विदुः जानन्ति ॥८५९॥ आशाम्बरनग्नयोर्निरुक्तमाह—य इत्यादि—यः 'हताशः' हताः प्रशान्ताः आशा अभिलाषा यस्य स 'हताशः' तम् आशाम्बरम् आशादिश एव अम्बरं वस्त्रं यस्य स आशाम्बरः तम् आशाम्बरम् ऊचिरे बभाषिरे। यः सर्वसंगपरित्यक्तः सकलबाह्याभ्यन्तरपरिग्रहमुक्तः स नग्नः परिकीर्तितः कथितः ॥८६०॥ ऋषिमुन्योर्निरुक्तिमाह—रेषणादिति—क्लेशराशीनां संसारे सम्प्राप्तचतुर्गतिदुःखसमूहानां रेषणादुत्पाटनात् विनाशनात् संवरणात् मनीषिणः विद्वांसः ऋषिम् आहुः ब्रुवन्ति। आत्मविद्यानां कर्मक्षयं कृत्वा सकलविमलकेवलज्ञानं लभ्यते तत्केवलज्ञानम् आत्मविद्या तथा च तपश्चरणसामर्थ्यात् या कोष्ठबीजबुद्ध्यादयो लभ्यन्ते ता अपि आत्मविद्याः प्रोच्यन्ते। आत्मविद्यानां मान्यत्वात् तत्प्राप्तेः पूजां प्राप्तत्वात् महद्भिः मुनिः कीर्त्यते वर्ण्यते ॥८६१॥ यत्यनगारयोर्निरुक्तिमाह—य इति—यः मुनिः पापपाशनाशाय पापान्येव पाशाः जालानि तेषां नाशाय यतते प्रयत्नं करोति स यतिर्भवति। यः मुनिर्देहगेहेऽपि देह एव गेहं शरीरमेव गृहं तत्र यः अनीहः इच्छारहितः स अनगारः सतां सज्जनानां पूज्यः ॥८६२॥ शुचिशब्दस्य निरुक्तिमाह—आत्मेति—आत्माशुद्धिकरैः आत्मनः अशुद्धिं कुर्वन्ति इति आत्माशुद्धिकरा ये कर्मदुर्जनाः कर्माण्येव दुर्जनाः चाण्डाला अस्पृश्याः तैः यस्य न संगः न स्पर्शः स पुमान् पुरुषः शुचिः पवित्र आख्यातः प्रोक्तः, न अम्बुसम्प्लुतमस्तकः अम्बुना जलेन संप्लुतं सं समन्ततः प्लुतं धौतं मस्तकं यस्य स पुमान् न शुचिराख्यातः ॥८६३॥ निर्ममशब्दस्य निरुक्तिमाह—धर्मकर्मेति—यः धर्मकर्मफले धर्मो रत्नत्रयात्मकः तस्य कर्माणि आचरणानि गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्ररूपाणि। तेभ्यो लब्धे फले स्वर्गादिसुखलक्षणे। अनीहः निःस्पृहः। अधर्मकर्मणः निवृत्तः पापकर्मणो हिंसादेर्निवृत्तः दूरीभूतः। तम् इह अस्मिँल्लोके केवलात्मपरिच्छदं केवल एकः आत्मा एव परिच्छदः परिवारो यस्य तं निर्ममं निर्नष्टा ममेति बुद्धिर्यस्य स निर्ममः तम् उशन्ति ब्रुवन्ति ॥८६४॥ मुमुक्षुमाह—यः इति— यः यतिः कर्मद्वितयातीतः द्रव्यकर्माणि ज्ञानावरणादीनि अष्टौ। भावकर्माणि च अज्ञानरागद्वेषमोहादयो भावाः। कर्मणोर्द्वितयं कर्मद्वितयं तस्मात् अतीतः रहितः तं 'मुमुक्षुं' प्रचक्षते ब्रुवते। परं लोहस्य हेम्नो 'वा' पाशैर्यो बद्धः स अबद्ध एव। एते लोहादिपाशाः न वस्तुनो बन्धनानि तैर्नात्मा बध्यते यतः ॥८६५॥ समधीत्वं प्रतिपादयति—निर्मम इत्यादि—निर्गतो ममभावो यस्य स निर्ममः निर्मूर्च्छः। निरहंकारः अहमस्य स्वामी इति मनःसंकल्पोऽहंकारः स निर्गतो यस्मात् स निरहंकारः निर्गर्वः। निर्माणमदमत्सरः निर्गतः नष्टः मानो मदो मत्सरश्च यस्मात् स निर्माणमदमत्सरः। क्षीणाभिमानेन्द्रियगर्वपरगुणासहनभावः। निन्दायां तथ्यस्य अतथ्यस्य वा दोषस्योद्भावनं प्रति इच्छा निन्दा तस्याम्। संस्तवे चैव गुणप्रशंसायां चैव शंसितव्रतः शंसितानि व्रतानि यस्य सः। निर्दोषव्रतपालनो यः स

समधीः समा रागद्वेषपरिहीणा बुद्धिर्यस्य सः मुनिः गृहस्थो वा समधीरुच्यते ॥८६६॥ वाचंयमत्वलक्षणमाह—**योऽवगम्येति**—तत्त्वैकभावनः तत्त्वेषु एका मुख्या भावना चिन्तनं यस्य स तत्त्वैकभावनः । यः मुनिः अनाद्यन्ततत्त्वं न आदिः उत्पत्तिर्जन्म अन्तो विनाशः यस्य तत्तत्त्वं जीवाजीवादिवस्तुस्वरूपम् अवगम्य ज्ञात्वा, वाचंयमः वाचो वाक्यात् यच्छति विरमतीति वाचंयमः मौनव्रती विज्ञेयः, न पशुवन्नरः मौनी विज्ञेयः ॥८६७॥ अनूचानत्वं ब्रूते—**श्रुते इत्यादि**—श्रुते आगमे । व्रते अहिंसादिमहाव्रते । प्रसंख्यानं ध्यानं तस्मिन् । संयमे प्राणिसंरक्षणात्मके इन्द्रियजयरूपे । नियमे परिमितकालावधिरूपे भोगोपभोगत्यागे । यमे आजन्मभोगोपभोगत्यागे यस्य उच्चैश्चेतः उन्नतं चेतः मनो भवति स अनूचानः श्रुतज्ञानविचक्षणः विनीतो वा प्रकीर्तितः ॥८६८॥ अनाश्वन्मुनेः स्वरूपमाह—**य इत्यादि**—यः यतिः अक्षस्तेनेषु इन्द्रियचौरेषु अविश्वस्तः विश्वासं न च गच्छति । शाश्वते पथि नित्ये रत्नत्रयमार्गे च स्थितः वर्तते स्म । समस्तसत्त्वविश्वास्यः सकलप्राणिविश्वासार्हः स मुनिरिह अनाश्वान् गीर्यते उच्यते ॥८६९॥

[पृष्ठ ३१८-३२१] योगिनमाह—**तत्त्वे इत्यादि**—तत्त्वे जीवादिपदार्थे पुमान् यस्य आत्मा युक्तो वर्तते । मनः पुंसि यस्य मनः बाह्यान् धनादिपदार्थान् विमुच्य पुंसि ज्ञानदर्शनलक्षण आत्मन्येव युक्तं वर्तते । मनसि एव युक्तं यस्य अक्षकदम्बकं इन्द्रियगणो वर्तते । तदपि स्पर्शादिविषयेषु न प्रवर्तते । स मुनिः योगी भवति । परेच्छादुरीहितः योगी न भवति । परेषु स्त्रीपुत्रधनादिषु या इच्छा मनःसंकल्पः तस्यां दुरीहितः दुष्प्रवृत्तः यः स योगी न स्यात् ॥८७०॥ यतेः पञ्चाग्निसाधकत्वं ब्रवीति—**कामः क्रोध इत्यादि**—यस्य कामः संकल्परमणीयः प्रीतिसंभोगशोभी रुचिरोऽभिलाषः कामः । क्रोधः अमर्षः असहनता । मदो गर्वः । माया कपटम् । लोभः वर्तमानकाले अर्थप्राप्तिगृद्धिः । इत्यग्निपञ्चकम् येन साधितं वशीकृतं सः कृती कृतकृत्यः मुनिः पञ्चाग्निसाधकः स्यात् ॥८७१॥ मुनेर्ब्रह्मचारित्वमाह—**ज्ञानं ब्रह्मेति**—आत्मस्वरूपपरिज्ञायकं ज्ञानं ब्रह्मेत्युच्यते आत्मज्ञानेन परपदार्थे आसक्तिरहितावहा । स्वात्मन्येव रतिर्हितकारिणीति प्रतिपाद्यते । तस्माज्ज्ञानं ब्रह्मेति निर्वचनं योग्यम् । दया ब्रह्म दया प्राण्यनुकम्पनं सर्वे जीवाः सुखमभिलषन्ति न कोऽपि दुःखम् । अतः आत्मना सदृशाः सर्वे प्राणिनः इति ज्ञात्वा दया विधेया । दयेयं ब्रह्मज्ञानकारणत्वाद् ब्रह्मेति परिगीयते । कामविनिग्रहः कामाकुलितो मनुष्यः रामाभिलाषी भवति । निजात्मनि शुद्धे तस्य रतिर्न भवति अतः आत्मस्वरूपरतिच्युतः सोऽजितेन्द्रियो भवति तस्य ब्रह्मप्राप्तिः कुतः । कामविनिग्रहे कृते निजात्मनि ब्रह्मणि रतिर्जायते अतः कामविनिग्रहस्य ब्रह्मेत्यभिधानम् । अत्र ज्ञानब्रह्मणि, दयाब्रह्मणि कामविनिग्रहाख्ये ब्रह्मणि च सम्यग्वसन्नरः ब्रह्मचारी आत्मा भवेत् ॥८७२॥ मुनेर्गृहस्थत्वं कथयति—**क्षान्तियोषितीत्यादि**—यः मुनिः क्षान्तियोषिति क्षमास्त्रियां सक्तः रतिं करोति । यः सम्यग्ज्ञानम् एव अतिथिः स प्रियो यस्य यथा गृहस्थः ज्ञानादिसिद्धयर्थम् आहाराय यत्नेन श्रावकगृहम् । अतन्तं गच्छन्तम् अतिथिं पूजयति तथा सम्यग्ज्ञानरूपम् अतिथिम् आराधयति स मुनिः नूनं गृहस्थो भवेत् । गृहस्थः दैवतं साधयति आराधयति तथायं मुनिर्मन एव दैवतं तत्साधयति । मनो वशीकृत्य तत् आत्मनि एकाग्रं करोति तत आत्मानुभूत्याख्यं सुखं लभते ॥८७३॥ मुनेर्वानप्रस्थत्वं व्यनक्ति—**ग्राम्यमिति**—ग्राम्यम् अर्थं ग्राम इन्द्रियगणः तस्य विषयः स्पर्शरसादिः ग्राम्योऽर्थ उच्यते । तं स्पर्शादिविषयं स्त्रीस्रक्चन्दनादिकं परित्यज्य मुक्त्वा । अन्तः यः अर्थः रागद्वेषादिः तमपि परित्यज्य यः संयमी यतिः प्रवर्तते स वानप्रस्थः विज्ञेयः । न वनस्थः कुटुम्बवान् वने तिष्ठन् पोष्यवर्गसहितः वानप्रस्थो नोच्यते । वानप्रस्थोऽयं गृहस्थभेदेऽपि शब्दो वर्तते । वानप्रस्थो गृही तृतीयाश्रमी उच्यते तस्यापि स्वरूपं जैनागमे एवं प्रतिपादितम्—"वानप्रस्था अपरिगृहीतजिनरूपा वस्त्रखण्डधारिणः निरतिशयतपस्युद्यता भवन्ति ।" वैदिकधर्मे वानप्रस्थो दाराभिः सह वने तिष्ठति इत्युक्तं तथा वानप्रस्थस्य गृहिणः स्वरूपं जैनागमे नास्ति । ग्राम्यमर्थमिति श्लोके मुनेर्वानप्रस्थेति नामापि कथं भवेदिति विशदीकृतम् । परं मुनिर्वानप्रस्थाभिधो गृही नेत्यत्र ज्ञेयम् ॥८७४॥ मुनेः शिखाछेदित्वं कथयति—**संसारेत्यादि**—संसार एवाग्निः । चतुर्गतिभ्रमणं संसारः स एवाग्निः तस्य शिखाः मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायाख्याः । तासां छेदो विनाशः कर्तनं वा येन ज्ञानासिना । आत्मज्ञानमेव असिः खड्गः तेन कृतः तं मुनिं

'शिखाछेदिनं' प्राहुः न तु मुण्डितमस्तकम् मुण्डितं मस्तकं येन सः मुण्डितमस्तकः तं न ब्रुवन्ति। केवलं केशलोचं करोति परम् अनाचारेण प्रवर्तते स मुण्डितमस्तकोऽपि न मुनिः। मिथ्यात्वाविरतिप्रमाद-कषायान् यश्छिनत्ति स एवान्वर्थो मुनिः शिखाच्छेदीत्युच्यते ॥८७५॥ मुनिं हंसमाह—**कर्मेत्यादि**—क्षीरनीरसमानयोः यथा क्षीरनीरयोः संयोगे इदं क्षीरम् इदं दुग्धम् इति विवेक्तुं नान्यो जनः समर्थः हंसं विना। स तु नीरमिश्रितं क्षीरं नीरं मुक्त्वैव पिबति। यदा स हंसः नीरमिश्रिते क्षीरे निजां चञ्चुं प्रवेशयति तदा क्षीरं पीत्वा नीरमेवावशेषयति। तथैव मुनिरपि क्षीरनीरसमानयोः कर्मात्मनोः विवेक्ता भवति। आत्मनः सकाशात् कर्माणि पृथक् करोति अत एव स परमहंसो भवति। स परमहंसः अग्निवत्सर्वभक्षकः नास्ति। जैनसाधुः श्रावकगृहे अभक्ष्यवर्ज्यम् आहारं करोति आहारदोषांस्त्यक्त्वा। अग्निस्तु सर्वं शुद्धमशुद्धं वा भक्षयति। न तस्य विवेकोऽस्ति ॥८७६॥ मुनेस्तपस्वित्वं व्यनक्ति—**ज्ञानैरिति**—यस्य ज्ञानैर्मनः नित्यं प्रदीप्तं किट्टकालिकादिदोषरहितं सुवर्णमिव तेजस्वि-निर्मलमभवत्। यस्य वपुः वृत्तैः त्रयोदशविधैः गुप्तिसमितिमहाव्रतरूपैश्चारित्रैः नित्यं प्रदीप्तम् अभवत्। नियमैः नानाविधैः सेव्यपदार्थत्यागैः इन्द्रियाणि यस्य नित्यं दीप्तानि स तपस्वीत्युच्यते न वेषवान्, केवलं नग्नः पिच्छिकाकमण्डलुसहितः तपस्वी नोच्यते। ॥८७७॥ मुनेरतिथित्वं व्यनक्ति—**पञ्चेन्द्रियेत्यादि**—याः पञ्चेन्द्रियाणां स्पर्शादिविषयेषु प्रवृत्तयः ता एव पञ्च तिथयः नन्दा, भद्रा, रिक्तादयः, ताः संसारे भवे अश्रेयोहेतुत्वात् अकल्याणकारणत्वात् ताभिर्मुक्तो अतिथिर्भवेत् ॥८७८॥ मुनेर्दीक्षितत्वं प्रतिपादयति—**अद्रोह इति**—सर्वसत्त्वेषु सकलजीवेषु अद्रोहः अद्वेषः स एव यस्य यज्ञः इज्यते हविरत्र इति यज्ञः स यस्य दिने दिने वर्तते स पुमान् यतिः दीक्षितात्मा ज्ञेयः। न तु अजादियमाशयः दीक्षितो ज्ञेयः अजाश्वादिषु यमाशयः यमवत् आशयो मारणाभिप्रायो यस्य स पुरुषः दीक्षितो न ज्ञेयः। दीक्षा संजाता अस्येति दीक्षितः। स व्रती न सोमपानवति अध्वरे यजमानः सन्दीक्षित उच्यते ॥८७९॥ श्रोत्रियत्वं मुनेः कथयति—दुष्कर्माणि दुष्टानि हिंसासत्यचौर्यादिपापकार्याणि तान्येव दुर्जनाः चाण्डालशबरनाहलादयः तान् न स्पृशतीति दुष्कर्मदुर्जनास्पर्शी। पुनः कथंभूतः। सर्वेति—सर्वेषां सत्त्वानां प्राणिनां हिते कुशले आशयोऽभिप्रायो यस्य स पुमान् श्रोत्रियः वेदाध्ययनब्राह्मणः। न तु यः बाह्यशौचवान् बाह्यं स्नानेन शौचं मन्वानः न स श्रोत्रियः ॥८८०॥ मुनेर्होतृत्वं निर्दिशति—**अध्यात्मेति**—अध्यात्माग्नौ आत्मनि अधिकृत्य वर्तते इति अध्यात्मं स एवाग्निः तत्र दयारूपैर्हविप्रक्षेपणप्रतिपादनपरैर्मन्त्रैः सम्यक्कर्म-समिच्चयं सम्यक्तया सावधानो भूत्वा कर्माणि ज्ञानाद्यावरणानि एव समिधः होमे समर्पणीयानि पलाशादि-काष्ठतुल्यानि तेषां चयं समूहं यः जुहोति अध्यात्माग्नौ प्रक्षिपति, स होता स्यात् होमकर्ता भवेत्। परं यः बाह्याग्निसमेधकः बाह्याग्नौ पलाशादिकाष्ठानि निक्षिप्य तस्य प्रवर्धकः भवति स अत्र होता न स्यात्। यः यतिः स्वानुभूत्यग्नौ दयामन्त्रानुच्चार्य कर्मसमिच्चयं प्रक्षिपति प्राणिसमूहं होमे न प्रक्षिपति। प्राणिसमूहं होमे क्षिपन्न सदयः किं तु निर्दय एव। अत्र स्वानुभूतिरूपे होमे कर्मणां ज्ञानाद्यावरणानां प्रक्षेपणात् आत्मा होता भवति इति ज्ञेयम् ॥८८१॥ मुनेर्यष्टृत्वं वक्ति—**भावपुष्पैरिति**—भक्तिकुसुमैः देवं यजेत् जिनं पूजयेत्, वा शुद्धचिदानन्दस्वरूपं निजात्मानं पूजयेत्। व्रतपुष्पैर्वपुर्गृहम्—व्रतान्येव पुष्पाणि तैः वपुरेव गृहं यजेत् पूजयेत्। क्षमापुष्पैः मनोवह्निं चित्तानलं पूजयेत्। स यष्टा यजनं कुर्वाणः, सतां सज्जनानां मान्यः पूज्यो भवेत् ॥८८२॥ मुनिम् अध्वर्युमाचष्टे—**षोडशानामिति**—षोडशसंख्यानां भावनर्त्विजाम् दर्शनविशुद्धि-विनयसम्पन्नतादिषोडशभावनानां तीर्थंकरत्वप्राप्तिकारणानां पुरोहितानां यः उदारात्मा दातृसदृशः महानात्मा मुनिः, प्रभुः स्वामी स शिवेति—शिवशर्म मोक्षसुखं तदेव अध्वरो यज्ञः तस्य उद्धुरः श्रेष्ठः अध्वर्युः यज्ञ-सम्पादको बोद्धव्यः ज्ञातव्यः ॥८८३॥ वेदस्य स्वरूपमाह—**विवेकमिति**—यः शरीरशरीरिणोः शरीरं देहः शरीरी शरीरे निवसन्नात्मा। तयोः उभयोः विवेकं पार्थक्यं भिन्नलक्षणत्वम् उच्चैः नितरां निवेदयेत् कथयेत्। सः वेदः विदुषां प्रीत्यै रुचये स्यात्। वेदः अखिलक्षयकारणं सकलप्राणिविनाशहेतुः स प्रीति-हेतुर्न भवति ॥८८४॥ का नाम त्रयीति प्रश्ने तदुत्तरमाह—**जातिरिति**—जातिर्जन्म, जरा वृद्धत्वम् मृतिः मरणम् एतत्त्रयी पुंसां संसृतिकारणं भवहेतुः भवति। एषा त्रयी यतस्त्रय्याः यस्याः त्रय्याः सम्यग्दर्शनज्ञान-

चारित्ररूपायास्त्रय्याः क्षीयते सा त्रयी बुद्धिमतां मता प्रशस्या। रत्नत्रयम् एव त्रयीनामधेयं तदेव जन्मजरामृतित्रयीं विनाशयेत् न ऋक्सामयजुषां त्रयी संसारक्षयकारणम् ॥८८५॥ मुनेर्ब्राह्मणत्वमाह—अहिंस इति—अहिंसः न हिनस्तीति अहिंसः प्राणिघातदूरो दयालुः। सद्व्रतः सन्ति व्रतानि यस्य सः सन्ति सम्यग्दर्शनवन्ति, अथ च सन्ति निरतिचाराणि व्रतानि यस्य सः। ज्ञानी सम्यग्ज्ञानी चतुर्णां प्रथमाद्यनुयोगानां ज्ञाता। निरीहः निस्पृहः। निष्परिग्रहः निर्ममत्वरतः। स सत्यं ब्राह्मणः स्यात् भवेत् न तु जातिमदान्धलः अहं जात्या श्रेष्ठः इति गर्वेण मदोद्धुरः ब्राह्मणो न भवेत् ॥८८६॥ का जातिरिति प्रश्ने उत्तरमाह—सेति—यस्याः सद्धर्मसंभवः यस्या जातेः सकाशात् परलोकाय पर उत्तमः लोकः स्वर्गादिः तस्मै परलोकाय उत्तमस्वर्गादिलाभाय सद्धर्मसंभवः समीचीनरत्नत्रयधर्मस्य संभवः उत्पत्तिः स्यात् सा जातिः उत्तमेत्यर्थः। शुद्धा भूः यदि बीजवर्जिता स्यात् तर्हि सा न हि सस्याय जायेत धान्योत्पत्त्यै न भवेत्। केचन जना उत्तमजातौ जन्म लब्ध्वापि धर्मविहीना एव कालं यापयन्ति, केचन च हीनजातौ समुत्पन्ना अपि तज्जात्युचितं धर्मं पालयित्वा स्वहितं साध्नुवन्ति अतः धर्मपरिपालनं भवेत् सा जातिः उत्तमा ज्ञेया। हीनजातौ जनित्वापि तज्जातियोग्यं धर्मं पालयन् यो नरो म्रियते सोऽन्यभवे उच्चां जातिं सद्धर्मवतीं लभते ॥८८७॥ के शैवबौद्धादयः इति प्रश्ने उत्तरं दीयते—स शैव इति—यः शिवज्ञात्मा शिवं मुक्त्युपायं सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि जानाति तथाभूत आत्मा शैवः। यः अन्तरात्मभुत् सः बौद्धः अन्तरात्मानं बुध्यतीति अन्तरात्मभुत्। किमन्तरात्मनः स्वरूपम्। उच्यते चित्तदोषात्मविभ्रान्तिरन्तरात्मा चित्तं च विकल्पः दोषाश्च रागादयः आत्मा च शुद्धं चेतनाद्रव्यम्, तेषु विगता विनष्टा भ्रान्तिर्यस्य स चित्तं चित्तत्वेन बुध्यते। दोषांश्च दोषत्वेन। आत्मानम् आत्मत्वेनेत्यर्थः। एतादृशं निजस्वरूपं यः बुध्यते जानाति स बौद्धः भवति। कस्तर्हि सांख्यः यः प्रसंख्यावान् स सांख्यः, प्रकर्षेण संशयविपर्ययानध्यवसायरहितं यथा स्यात्तथा द्रव्यगुणपर्यायान् संख्याति वर्णयति इति प्रसंख्यावान् सांख्यो भवेत्। स द्विजः यो न जन्मवान् यः पुनः जन्मवान् न भवति स द्विजः। यः कुलीनाया मातुरुत्पद्य कृतोपनयो गुरुणा तत्त्वज्ञानं लम्भितः प्राप्तः द्वितीयजन्मा—लब्धसंस्कारजन्मा दीक्षित्वा कर्मक्षयं करोति तृतीयं जन्म न लभते स द्विज इत्युच्यते ॥८८८॥ दानायोग्यत्वमाह—ज्ञानहीनेति—ज्ञानेन सम्यग्ज्ञानेन हीनः ज्ञानहीनः। दुराचारः दुष्टः आगमविरुद्धाः आचाराः कार्याणि यस्य सः, स्वच्छन्दं प्रवृत्तः। निर्दयः दयारहितः। लोलुपाशयः पञ्चेन्द्रियविषयेषु लम्पटः। तथा अक्षेति—अक्षाणि इन्द्रियाणि तानि अनुमता अनुमृता क्रियाः गमनभोजनादिक्रिया यस्य एतादृशो यः मुनिः स्यात् स दानयोग्यः कथं स्यात्। स मुनिर्दानानर्हः इति विज्ञेयः ॥८८९॥ भिक्षाचातुर्विध्यमाह—अनुमान्या, समुद्देश्या, त्रिशुद्धा तथा भ्रामरी इति भिक्षा चतुर्विधा चतुःप्रकारा ज्ञेया। कयोरियं चतुर्विधा भिक्षेत्याह—यतिद्वयसमाश्रया देशयतिविषयिणी महाव्रतिविषयिणी च अनुमान्या भिक्षा दशप्रतिमापर्यन्ता। समुद्देश्या आमन्त्रणपूर्विका षट्प्रतिमापर्यन्ता। एकादशप्रतिमाधारकस्य भिक्षा 'त्रिशुद्धे'ति नाम लभते। मुनिभिक्षाया नाम भ्रामरीति ज्ञेयम्। दातृजनबाधया विना कुशलो मुनिर्भ्रमरवदाहरतीति तस्य भिक्षा भ्रामरीति नामाश्नुते ॥८९०॥

इत्युपासकाध्ययने यतिनामनिर्वचनश्चतुश्चत्वारिंशः कल्पः ॥४४॥

४५. सल्लेखनाविधिर्नाम पञ्चचत्वारिंशः कल्पः।

[पृष्ठ ३२२-३२५]—अन्त्यविधिं—सल्लेखनाविधिमाह—तरुदलेति—कदा सल्लेखना विधेयेति प्रश्ने व्याचष्टे—परिपक्वं तरुदलमिव जीर्णावस्थां प्राप्तं शिथिलवृन्तं वृक्षपर्णमिव। स्नेहविहीनं स्नेहेन तैलेन विहीनं रहितं दीपमिव। स्वयमेव विनाशोन्मुखं पतनावस्थां प्रति अनुसरन्तं देहं शरीरम् अवबुध्य ज्ञात्वा। अन्त्यं विधिं सल्लेखनाख्यं करोतु ॥८९१॥ गहनेति—शरीरस्य देहस्य विसर्जनं त्यागः गहनं कठिनं नहि। किंतु

इह वृत्तं चारित्रं चारित्रपालनं गहनं कठिनं वर्तते । तत् तस्मात्कारणात् स्यास्नु चिरकालं स्थातुं योग्यं शरीरमिदं न विनाश्यं नाशयितुं न योग्यम् । यदा तु शरीरम् धर्मसाधनायालं समर्थं न भवति तदा सल्लेखनां विधाय देह-त्याग उचितः । अन्यथा सल्लेखनाकरणम् आत्मघातसमं स्यात् । यदा तु तच्छरीरं नश्वरम् पतनाभिमुखं भवति तदा न शोच्यम् । धैर्येण धर्मरक्षणार्थं सल्लेखना विधेया । अतः उक्तं चरितं गहनं न शरीरहानमिति ॥८९२॥ **प्रतिदिवसमिति**—दिवसं दिवसं प्रति प्रतिदिवसम्, अनुदिनम् । प्रत्यहम् । वपुः विजहद्बलं बलं सामर्थ्यं विजहाति त्यजति यत् तत् शरीरं विजहद्बलम् । विनश्यत्सामर्थ्यम् इति भावः । उज्झद्भुक्तिं उज्झति त्यजति भुक्तिं भोजनं यत् तच्छरीरम् अगृह्णदाहारम् । त्यजत्प्रतीकारं परिहरद्रक्षणोपायम् । एतदवस्थं वपुः शरीरं नृणां मनुजानां श्रावकाणां मुनीनां वा, चरमचरित्रोदयं चरमम् अन्त्यं चरित्रोदयं सल्लेखनोत्पत्तिरूपं समयं कालं निगदति कथयति । एतदवस्थं यदा शरीरं भवति तदा सल्लेखना कार्येति व्यक्तीकृतं सूरिणा ॥८९३॥ पापकृतेः सविधेव पापकार्यस्य संनिकटेव, पापकार्यस्य समीपमागतेव, जरा वृद्धावस्था । कीदृशी सा जनिताखिलेति—जनितः उत्पादितः अखिलस्य सर्वस्य कायस्य देहस्य कम्पनातङ्कः वेपथुरोगो यया सा जरा यदि यमदूतीव यमस्य वार्ताहरेव समागता आगता तर्हि जीवितेषु प्राणेषु कः तर्षः का तृष्णा कोऽभिलाषः । तदा गृहस्थेन मुनिना निरभिलाषेण भाव्यम् ॥८९४॥ **कर्णान्तेति**—यदि चेत् जरया वृद्धावस्थया कर्णान्ते श्रवणयुगस्य समीपे केशपाशस्य ग्रहणस्य विधिः बोधितोऽपि प्रकटीकृतोऽपि ज्ञापितोऽपि मानवः स्वस्य हितैषी न भवति निजहितेच्छां न कुरुते तर्हि मृत्युः तं किं न ग्रसते । न भक्षयति किम् अपि तु भक्षयत्येव ॥८९५॥ **उपवासादिभिरिति**—उपवासैः आहारकर्शनेन, स्निग्धपानपरिहापनेन, खरपानेन, तस्यापि हाप-नेन इत्यादिभिः अन्नहापनप्रकारैः अङ्गे कृतसल्लेखनकर्मा शरीरे कृतं सल्लेखनकर्म येन सः सम्यक् शान्तेन मनसा लेखनम् उपवासादिभिः शरीरकर्शनं कायसल्लेखना, तत् सल्लेखनकर्म येन कृतं स कृतसल्लेखनकर्मा । कषायदोषे च क्रोधादिककषायदोषे च कृतसल्लेखनकर्मा सम्यक्कृशीकृतकषायकर्मा गणमध्ये चतुःसंघमध्ये प्रायाय यतेत । अनशनाय उपवासाय यतेत प्रयत्नं कुर्यात् आमरणं सावधिकं वा उपवासं कुर्यादिति ॥८९६॥ **यमनियमेति**—यमः आमरणं भोगोपभोगादित्यागः । नियमः परिमितकालं तयोस्त्यागः । स्वाध्यायः वाचना-पृच्छनादिपञ्चविधः । तपांसि अनशनादिकं बाह्यं षड्विधं तपः । प्रायश्चित्तादिकं षड्विधम् आभ्यन्तरं तपः । देवार्चनाविधिः देवस्य जिनप्रभोः पूजाभिषेकादिकम् । दानं त्रिविधपात्रेभ्य आहारादिदानम् । एतत्सर्वं निष्फलं भवेत् । कदा चेत् अवसाने मनः मलिनं स्यात् । मृतिसमये चित्तम् आर्तरौद्रादिध्यानेन मलिनं कलुषितं स्यात् ॥८९७॥ **द्वादशेति**—नृपः द्वादशवर्षाणि यावत् शस्त्राभ्यासं कृत्वा यदि रणेषु समरेषु स मुह्येत् प्रमाद्येत्। तर्हि तस्यास्त्रविधेः तस्य अस्त्रशिक्षणस्य किं स्यात् किं फलं भवेत् । तत्सर्वं विफलं भवेत् । तथा यतेः पुराचरितं यमनियमस्वाध्यायादिकं सर्वं प्रागाचरितम् आचरणं विफलं भवेत् । अतोऽवसाने परिणामेषु नैर्मल्येन भाव्यम् ॥८९८॥ **स्नेहं विहायेति**—बन्धुषु ज्ञातिबान्धवेषु स्नेहं विहाय त्यक्त्वा । मोहं विभवेषु संपत्सु त्यक्त्वा अहिते कलुषतां द्वेषं विहाय त्यक्त्वा । गणिनि निर्यापकाचार्ये निखिलं सकलं दुरीहितं दुश्चेष्टितं निवेद्य कथ-यित्वा । तदनु तदनन्तरम् उचितं विधिं निर्यापकाचार्येण कथितम् उचितं योग्यं विधिं सल्लेखनाचारविशेषं भजतु आश्रयतु ॥८९९॥ सल्लेखनाचारविशेषं निगदति—**अशनमिति**—क्रमेण अशनम् अन्नं हेयं वर्जनीयम्। तदनन्तरं स्निग्धं पानं दुग्धादिकं विवर्ध्य तदपि हेयम् । ततः खरं पानं काञ्जिकादिकं शुद्धपानीयरूपं वा विवर्ध्य तदपि हेयम्। तदनु सर्वनिवृत्तिं सकलत्यागं चतुर्विधाहारत्यागम् उपवासम् अपि कुर्यात्, कथंभूतः सन् गुरुपञ्चकस्मृतौ निरतः अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधूनां पञ्चपरमेष्ठिनां नामस्मरणे निरतः तत्परः सन् ॥९००॥ **कदलीघातवदिति**—यथा परश्वादिना कदलीतरुरेकप्रहारेणैवोन्मूल्यते तथा दुर्निवाररोगशस्त्रप्रहारादिना सकृदेव अक्रमेण आयुषि जीविते विरतिम् उपयाति विनाशोन्मुखतां गच्छति सति, केषां कृतिनां पुण्यवताम् । तत्र अकस्मात् आयुर्विरमणकाले एष सल्लेखनाविधिर्नास्ति 'आहारं त्यक्त्वा स्निग्धं विवर्धयेत्, तदपि त्यक्त्वा खरपानं पूरयेत्' इत्यादिरूपः क्रमेणान्नादित्यागविधिर्नास्ति । तदेव ग्रन्थकृदेवमाह—यत् दैवे प्रयत्नासाध्ये क्रमविधिः सल्लेखनाविषयोक्तः नास्ति । न भवति कदलीघातमरणे अहं चतुर्विधाहारं

त्यजामीति संगरेण समाधिमरणं करोति ॥९०१॥ सूराविति—सूरौ निर्यापकाचार्ये । प्रवचनकुशले आराधना-शास्त्रनिपुणे व्याख्यानकुशले च। साधुजने परिचारकमुनिगणे यत्नकर्मणि वैयावृत्यकरणदक्षे निरलसे च सति। चित्ते च सल्लेखनाराधकस्य मनसि समाधिरते रत्नत्रये धर्मध्याने चतुराराधनरते च स्थिते सति। यतः किमिहासाध्यम् इह लोके असाध्यं दुष्करं किमस्ति ॥९०२॥ सल्लेखनातिचारान् वक्ति—जीवितेति—जीविताशंसा, जीविताभिलाषा प्रत्याख्यातचतुर्विधाहारस्यापि मे जीवितमेव श्रेयः यत एवं विधा मदुद्देशेनेयं विभूतिर्वर्तते इत्याकाङ्क्षेति यावत्। मरणाशंसा रोगोपद्रवाकुलतया प्राप्तजीवनसंक्लेशस्य मरणं प्रति चित्तप्रणिधानम्। अथवा यदा न कश्चित्तं प्रतिपन्नानशनं प्रति सपर्यया आद्रियते। न च कश्चिच्छ्लाघते, तदा तस्य यदि शीघ्रं म्रियेय तदा भद्रकं भवेत् इत्येवं विविधपरिणामोत्पत्तिर्वा। सुहृदनुरागः बाल्ये सहपांसुक्रीडनादि, व्यसने सहायत्वम्, उत्सवे संभ्रमः इत्येवमादेश्च मित्रसुकृतस्यानुस्मरणम्, बाल्याद्यवस्थासहक्रीडितमित्रानुस्मरणं वा। सुखानुबन्धविधिः एवं मया भुक्तम्, एवं मया शयितम्, एवं मया क्रीडितमित्येवमादिप्रीतिविशेषं प्रति स्मृतिसमन्वाहारः। एते सनिदानाः अस्मात्तपसो दुश्चरात् जन्मान्तरे इन्द्रश्चक्रवर्ती धरणेन्द्रो वा स्यामहमित्येवमाद्यनागताभ्युदयाकांक्षा। एते पञ्च सल्लेखनाहानये स्युः सल्लेखनायाः हीनत्वाय भवेयुः ॥९०३॥ सल्लेखनाराधनायाः फलमाह—आराध्येति—इत्थं रत्नत्रयम् आराध्य भावयित्वा। गणिने निर्यापकाचार्याय। समर्पितात्मा समर्पितः दत्तः आत्मा येन सः तदधीनो भूत्वा तदाज्ञामनुसृत्य प्रवर्तमानः। अर्थी सल्लेखनाकामः यथावत् समाधिभावेन विधिमनुसृत्य धर्मध्यानपरिणत्या कृतात्मकार्यः कृतम् आत्मकार्य सल्लेखनाख्यं येन सः कृती पुण्यवान् धन्यः जगन्मान्यपदप्रभुः स्यात्। जगतां मान्यं पूज्यं यत्पदं स्थानं तीर्थकरत्वं तस्य प्रभुः स्यात् भवेत् ॥९०४॥

इत्युपासकाध्ययने सल्लेखनाविधिर्नाम पञ्चचत्वारिंशः कल्पः ॥४५॥

४६. प्रकीर्णकविधिर्नाम षट्चत्वारिंशत्तमः कल्पः।

[पृष्ठ ३२५-३२८] विप्रकीर्णेति—विशेषेण प्रकीर्णानाम् इतस्ततः विस्तृतानां वाक्यानाम् अथवा अवशिष्टानाम् अनुक्तानाम् अर्थवाक्यानां प्रयोजनभूतवाक्यानाम् उक्तिः प्रतिपादनं प्रकीर्णकम् उक्तम्। कैः प्रकीर्णकं उक्तम् इति प्रश्ने आह—उक्तेति—उक्ताः कथिताः अनुक्ताः अकथिताः उपदिष्टानुपदिष्टा इति। ये अमृतस्यन्दबिन्दवः अमृतवत् आनन्दजनकत्वात् उक्तानुक्तार्थवाक्यानि अमृतमेव तस्य गलतां बिन्दूनां आस्वादे कोविदैः प्रकीर्णकस्य लक्षणम् उक्तम् ॥९०५॥ कीदृग्गुणो नरः धर्मकथापरो भवतीत्याह—अदुर्जनत्वमिति—दुर्दुष्टो जनः दुर्जनः तस्य भावः दुर्जनत्वं कृतघ्नत्वम् न दुर्जनत्वम् अदुर्जनत्वं कृतोपकारस्मरणाख्यो गुणः अदुर्जनत्वम्। विनयः गुणिजनेषु आदरः। विवेकः हिताहितविमर्शशक्तिः। परीक्षणं पूर्वापरालोचनम्। तत्त्वविनिश्चयश्च जीवादितत्त्वानां यथागमं स्वरूपनिर्णयः। एते पञ्चगुणाः यस्य भवन्ति स आत्मवान् विकारावशः पुरुषः धर्मकथापरः धर्मोपदेशने तत्परो भवेत् ॥९०६॥ के दोषास्तत्त्वावबोधे प्रतिबन्धकाः आह—असूयकत्वमिति—गुणेषु मत्सरोऽसूयकत्वम्। शठता पुरः प्रियं भाषणं पश्चात् विप्रियोत्पादनम्। अविचारः अविवेकः, दुराग्रहः दुष्टाभिप्रायः, सूक्तविमानना सूक्तस्य सतां भाषितस्य विमानना अवहेलना अवज्ञा, अमी पञ्चदोषाः तत्त्वावबोधप्रतिबन्धनाय भवन्ति। यथार्थवस्तुस्वरूपज्ञानबाधाहेतवे भवन्ति ॥९०७॥ संशयितमूढयोः प्रवृत्तेः असाफल्यं दर्शयति। पुंस इति—यथा संशयिताशयस्य चलितप्रतिपत्तिमतः पुंसो नरस्य काचित् प्रवृत्तिः किमपि कार्य सफलं न भवेत्। तथा धर्मस्वरूपेऽपि विमूढबुद्धेः विमूढा बुद्धिर्यस्य सः विमूढबुद्धिः तस्य धर्मस्वरूपानभिज्ञस्य जडमतेरित्यर्थः तथाभूतस्य पुरुषस्य काचित् प्रवृत्तिः सफला न भवेत् विपरीतकार्यकरणात् ॥९०८॥ अष्टमदानाह—जातिपूजेति—जातिः मातृकुलम्। पूजा लोकादरः। कुलं पितृवंशः। ज्ञानं शास्त्रावबोधः। रूपं सौन्दर्यम्। संपत् ऐश्वर्यम्। तपः व्रताद्याचरणम्, बलं शरीरपराक्रमः। एतस्मिन्वस्तुनि अहंयुतोद्रेकम् अभिमानस्य उत्कटतां मदं गर्वं वदन्ति। के अस्मयमानसाः गर्वरहितचेतसः

॥९०९॥ सगर्वो नरो धर्मघातकः—य इति—यः नरः मदात् गर्वात् जात्याद्यभिमानवशो भूत्वेति भावः, समयस्थानां जिनधर्मे स्थितानां तत्पराणां नृणां अवह्लादेन अवज्ञया मोदते तुष्यति। स पुरुषः नूनं सत्यं धर्महा जिनधर्मघातकः भवति। यस्मात् धर्मः धार्मिकैः विना न भवति। धार्मिकाणाम् अवमाननात् धर्मो नष्टो भवति ॥९१०॥ श्रावकाणां षट्कर्माणि—देवसेवेति—देवस्य जिनेन्द्रस्य सेवा स्नपनं पूजनं स्तोत्रं जपो ध्यानं श्रुतस्तवः इति षड्विधा भवति। गुरूपास्तिः गुरोः निर्ग्रन्थाचार्यस्य उपास्तिः पूजा। स्वाध्यायः श्रुतस्य धर्मशास्त्रस्य पठनम् ज्ञानभावनालस्यत्यागः स्वाध्यायः स च वाचनादिभेदात्पञ्चधा। संयमः व्रतधारणम् तपः अनशनादिकं दानं त्रिविधपात्रेषु आहारौषधशास्त्राभयवितरणम्। इति गृहस्थानां श्रावकाणां षट्कर्माणि दिने दिने प्रतिदिवसम् आचरणीयानि कार्याणि ॥९११॥ श्रावकाणां षट्क्रिया आह—स्नपनम्—जिनेन्द्रस्य आह्वानस्थापनसंनिधीकरणपूर्वकं पञ्चामृतैर्यथागमम् अभिषेचनम्। पूजनं जलाद्यष्टद्रव्यैः जिनेश्वरस्य यजनम्। स्तोत्रं भगवतो गुणाना गद्यपद्याभ्यां पठनम्। जपः मनसा वाचा वा जिननामावर्तनम्। ध्यानं जिनगुणेषु कस्मिंश्चिद्गुणे मनसः एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्। श्रुतस्तवः जिनमुखोद्भूतायाः श्रुतदेवताया गुणवर्णनं श्रुतस्तवः। इति षोढा क्रियाः देवसेवासु गेहिनां गृहिणाम् उदिता उक्ताः ॥९१२॥ कः श्रेयःप्राप्तिकरो गणः इत्याह—आचार्योपासनमिति—धर्माराधने प्रयोक्तॄणां गुरूणाम् उपासनम् आदरः पूजनम्। श्रद्धा आप्तागमतपोभृतां परमार्थानां रुचिः। शास्त्रार्थस्य विवेचनम् जिनागमप्रोक्तानां जीवादितत्त्वानां बालावबोधिन्या सरलया भाषया अविरोधेन स्वरूपप्रतिपादनम्। तत्क्रियाणा देवसेवादीनां षण्णां क्रियाणाम् अनुष्ठानम् आचरणम्। श्रेयःप्राप्तिकरः मुक्तिप्राप्तिकरः गणः ज्ञातव्यः ॥९१३॥ गुरुसंनिधौ कथंभूतः श्रावकोऽधीते इत्याह—शुचिरिति—स्नानशुद्धः। विनयसम्पन्नः प्रश्रयतत्परः। तनुचापलवर्जितः शरीरचञ्चलत्वेन रहितः गुरुसंनिधौ हस्तपादं न प्रसारयेत्, करेण करताडनम्, गात्रभञ्जनम् इत्यादिकं चाञ्चल्यं परिहरेत्। अष्टदोषविनिर्मुक्तम् अष्टभिर्दोषैः रहितं यथा स्यात्तथा अधीतम् अध्ययनं कर्तव्यम्। अध्ययनस्य केऽष्टविधा दोषा उच्यन्ते ज्ञानाचारस्वरूपवर्णनसमये तस्य अष्टौ भेदाः प्रतिपादिता आगमे। तेषां सम्यक् पालन भवति न यदा तदा तावन्तो दोषा जायन्ते। तेषां नामानि—१ अकालपठनम्, २ अविनयः, ३ अवग्रहविशेषं विना पठनम्, ४ अबहुमानः, ५ निह्नवनम् ६ व्यञ्जनाशुद्धिः, ७ अर्थाशुद्धिः ७ उभयाशुद्धिश्च ॥९१४॥ स्वाध्यायस्वरूपमाह—अनुयोगेति—अनुयोगाश्चत्वारो वक्ष्यमाणाः। गुणस्थानानि चतुर्दश। मार्गणाश्चतुर्दश। स्थानानि जीवसमासाश्चतुर्दश। कर्मसु एतेषु विषयेषु पाठः स्वाध्यायः उच्यते। तथा अध्यात्मतत्त्वविद्यायाः अध्यात्मविद्या निश्चयनयेन जीवस्य यत् शुद्धावस्थावर्णनम् तस्याः, तत्त्वविद्यायाः जीवादिसप्ततत्त्वानां च यज्ज्ञानं सा तत्त्वविद्या अनयोर्विद्ययोः पाठः हितरूपम् अध्ययनं स स्वाध्याय उच्यते ॥९१५॥ प्रथमानुयोगस्वरूपमाह—गृह्णाति—धर्मधीः धर्मे क्षमादिदशलक्षणे धीः यस्य सः। गृह्णो यतः यस्मात् स्वसिद्धान्तं जिनधर्मसिद्धान्तं साधु सम्यक् बुध्येत जानीयात् सः अनुयोगः प्रथमाभिख्यः प्रथमानुयोगः। (प्रश्नोत्तरम् अनुयोगं वदन्ति) कथंभूतः प्रथमानुयोगः पुराणचरिताश्रयः पुराणं पुराभवम् अष्टाभिधेयं त्रिषष्टिशलाकापुरुषकथाशास्त्रम्। लोकदेशपुरराज्यतीर्थदानैः सह तपोद्वयस्य प्रतिपादकत्वात् अष्टाभिधेयम्। चरितम् एकपुरुषाश्रिता कथा। पुराणचरितानाम् आश्रयः आधारभूतः ॥९१६॥ करणानुयोगमाह—अधोमध्योर्ध्वलोकेष्विति—अधोलोके रत्नप्रभादयः सप्त पृथिव्यः सन्ति। मध्यलोकः असंख्यातद्वीपसमुद्राश्रयः। ऊर्ध्वलोकः स्वर्गलोकः सिद्धलोकोपेतः। एषु त्रिषु लोकेषु चतुर्गतिविचारणं चतसृणां गतीनां नारकतिर्यग्नरदेवाभिधानानां विचारणं सविस्तरप्रतिपादनम्, करणं शास्त्रम् इत्याहुः करणानुयोगमाहुरित्यर्थः। अनुयोगः परीक्षणं प्रश्नोत्तरपरीक्षणम् ॥९१७॥ चरणानुयोगस्वरूपमाह—ममेदमिति—मम इदम् अनुष्ठानम् अणुव्रतात्मकं महाव्रतात्मकं वा आचरणम्। तस्य अयं रक्षणक्रमः अतिचारादिभ्योऽवनं भावनाभिश्च संवर्धनम् इत्थम् एवंविधम् आत्मा स्वरूपं यस्य स चरित्रार्थः अनुयोगः चरित्रम् अर्थः प्रयोजनं यस्य स चरणानुयोगः। चरणाश्रितो चारित्राधारोऽवबोद्धव्यः ॥९१८॥ द्रव्यानुयोगमाह—जीवाजीवेति—द्रव्यानुयोगतः द्रव्यानुयोगशास्त्रात् किं फलं लभ्यते श्रावकेणेति आह—जीवाजीवपरिज्ञानं जीवस्य अजीवस्य च धर्माधर्माकाशकालपुद्गलानां च परिज्ञानं बोधो भवति। धर्माधर्मविबोधनं पुण्यापुण्ययोः ज्ञानम्। बन्धमोक्षज्ञता आत्मकर्मणोरन्योन्यसंश्लेषलक्षणो बन्धः। बन्ध-

हेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः इति बन्धमोक्षयोः ज्ञातृत्वं फलं जायते ॥९१९॥

[पृष्ठ ३२६–३३२] जीवस्थानादिकानां बोध्यत्वमाह—**जीवस्थानेति**—जीवस्थानमिति जीवसमासानामियं संज्ञा ज्ञेया। तानि च चतुर्दश यथा एकेन्द्रियसूक्ष्मपर्याप्तः। एकेन्द्रियसूक्ष्म अपर्याप्तः। एकेन्द्रियबादरपर्याप्तः। एकेन्द्रियबादरापर्याप्तः। इति चत्वार एकेन्द्रियजीवेषु समासाः अत्र चतुर्षु एते जीवाः सम्यगासते। द्वीन्द्रियेषु द्वौ जीवसमासौ—द्वीन्द्रियबादरपर्याप्तः। द्वीन्द्रियबादरापर्याप्तः। त्रीन्द्रियबादरपर्याप्तः त्रीन्द्रियबादरापर्याप्तः। इति त्रीन्द्रियजीवानां द्वौ। चतुरिन्द्रियबादरपर्याप्तः। चतुरिन्द्रियबादरापर्याप्तः। इति चतुरिन्द्रियात्मनां द्वौ। पञ्चेन्द्रियाणां चत्वारो जीवसमासा एवम् – पञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तः। पञ्चेन्द्रियसंज्ञ्यपर्याप्तः। पञ्चेन्द्रियासंज्ञिपर्याप्तः। पञ्चेन्द्रियासंज्ञ्यपर्याप्तः, एवं जीवसमासाश्चतुर्दश। गुणस्थानानि च चतुर्दश–तानि यथा—मिथ्यात्वम्, सासादनम्, मिश्रम्, अविरतसम्यग्दृष्टिः, संयतासंयतम्, प्रमत्तविरतम्, अप्रमत्तविरतम्, अपूर्वकरणम्, अनिवृत्तिकरणम्, सूक्ष्मसाम्परायम्, उपशान्तमोहम्, क्षीणमोहम्, सयोगकेवलि, अयोगकेवल्याख्यमिति। मार्गणाश्चतुर्दश, ता यथा—गतिः, इन्द्रियाणि, कायः, योगाः, वेदाः, कषायाः, ज्ञानानि, संयमाः, दर्शनानि, लेश्याः, भव्यः, सम्यक्त्वम्, संज्ञिनः, आहारः इति। जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानानि गच्छतीति जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानगः विधिः प्रत्येकं चतुर्दश प्रकारः ज्ञातव्यः। यथागमम् आगमानतिक्रमेण ॥९२०॥ चतसृषु गतिषु गुणस्थानान्याह—**आदिम इति**—आदिगुणस्थानं मिथ्यात्वमारभ्येति। तिर्यक्षु पशुषु पञ्च। मिथ्यात्वं, सासादनं, मिश्रम्, अविरतसम्यग्दृष्ट्याख्यं, संयतासंयतं चेति। श्वभ्रनाकिनोः नारकदेवयोः आद्यानि चत्वारि ज्ञेयानि। नृषु चैव चतुर्दश मनुष्येषु चतुर्दश मिथ्यात्वमारभ्य अयोगकेवलिपर्यन्तानि भवन्तीति मन्यन्ते ॥९२१॥ ततो वर्णयति–पद्याभ्याम्—**अनिगूहितेति**—अनिगूहितम् अनिह्नुतं वीर्यम् आत्मसामर्थ्यं येन स तस्य अनिगूहितवीर्यस्य पुरुषस्य यतेः श्रावकादेश्च कायक्लेशः तपः स्मृतं प्रोक्तम्। तच्च मार्गो रत्नत्रयं तस्य अविरोधेन विरोधमकृत्वा रत्नत्रयमनुसृत्येति भावः। गुणाय आत्मिकगुणोत्कर्षाय, जिनैर्गदितम्। अथवा—**अन्तरिति**—तत्तपः अन्तर्बहिर्मलप्लोषात् अन्तर्मलो रागादयः बहिर्मलः रसरक्तादयः। उभयोर्मलयोः प्लोषात् दाहात् आत्मनः शुद्धिकारणं जीवस्य। नैर्मल्यहेतुर्यत् शारीरं मानसं कर्म अनशनादिकरणं शारीरं कर्म। प्रायश्चित्तादिकरणं मानसं कर्म। तथाभूतं द्विविधं कर्म तपोधनाः तपः प्राहुः तपांसि एव धनं येषां ते तपस्विनः महातपस्विनः इत्यर्थः ॥९२२–९२३॥ संयममाह—**कषायेति**—कषायाणां क्रोधमानमायालोभानां विजयः स्ववशीकरणम्। इन्द्रियाणां विजयो विनिग्रहः, इन्द्रियविषयेभ्यो इन्द्रियाणां मनसश्च व्यावर्तनं कृत्वा चैतन्यात्मनि प्रवर्तनं विजयः। दण्डानां च विजयः दण्डा इव दण्डाः अशुभमनोवाक्कायाः परपीडाकरत्वात्, तेषां विजयः अशुभमनोवाक्कायप्रवृत्तिभ्य आत्मनो निवारणम्। व्रतपालनम् पञ्चानाम् हिंसासत्यचौर्यमैथुनपरिग्रहेभ्यो विरतिः, तत्तद्व्रतभावनानां च व्रतस्थैर्यार्थं पालनम् एतत्सर्वमाचरणं संयमः संयमाख्यं षट्कर्मसु पञ्चमं कर्म। अयं संयमः संयतैः मुनिभिः श्रेयः श्रयितुमिच्छतां प्रोक्तः मोक्षमाश्रयितुम् इच्छतां प्रोक्तः कथितः ॥९२४॥ अधुना कषायस्य निरुक्तिपूर्वकं वर्णनं क्रियते—**कषन्तीति**—कषन्ति सन्तापयन्ति दुर्गतिसंगसंपादनेनात्मानमिति कषायाः क्रोधादयः। कषायेभ्यः दुर्गतयः प्राप्यन्ते। तत्र च आमरणं जीवानां संतापो भवति। अथवा यथा विशुद्धस्य वस्तुनः नैयग्रोधादयः कषायाः कालुष्यकारिणः तथा निर्मलस्यात्मनो मलिनत्वहेतुत्वात्कषाया इव कषायाः। न्यग्रोधस्य वटस्य कषायो रसः नैयग्रोधः स आदौ येषां ते रसाः नैयग्रोधादय उच्यन्ते। वटप्लक्षोदुम्बरादीनां कषायाः वस्त्रे लग्नाः तस्य निर्मलता विलोपयन्ति। तथा निर्मलस्यात्मनः कषाया रागादीञ्जनयन्तो मालिन्यमुत्पादयन्ति। क्रोधलक्षणम्—स्वपरापराधाभ्याम् आत्मेतरयोः अपायोपायानुष्ठानम् अशुभपरिणामजननं वा क्रोधः। स्वस्य अपराधेन अपरस्य वा अपराधेन स्वस्य इतरस्य वा अपायस्य विनाशस्य उपायानुष्ठानम् उपायविधानम् अशुभपरिणामोत्पादनं वा क्रोधः। विद्याविज्ञानैश्वर्यादिपूजाव्यतिक्रमहेतुरहंकारो युक्तिदर्शनेऽपि दुराग्रहापरित्यागो वा मानः। विद्या मन्त्रादिज्ञानम्। विज्ञानं शिल्पादिज्ञानम्। ऐश्वर्यं विपुला धनधान्यादिका संपत्। आदिशब्देन कुलजातितपःशरीरसौन्दर्यबलानां ग्रहणम्। विद्याविज्ञानादिभिः पूज्यानां ज्ञानवयस्तपोभिर्वृद्धानां श्रेष्ठानां पूजायाः व्यतिक्रमे हेतुः कारणं या चित्तसमुन्नतिः अहंकारः। अथवा युक्तेः

परिज्ञानेऽपि दुराग्रहस्यापरित्यागः अपरिहरणं वा मानः। मनोवाक्कायक्रियाणाम् अयाथातथ्यात् परवञ्चनाभिप्रायेण प्रवृत्तिः माया। मनसः वाचः कायस्य चित्तस्य भाषणस्य शरीरस्य च याः क्रियाः कार्याणि तासाम् अयाथातथ्यात् यथार्थरूपत्वाभावात्, असरलरूपत्वात् परेषां लोकानां वञ्चनाभिप्रायेण प्रतारणेच्छया प्रवृत्तिः प्रवर्तनं माया कपटमित्यर्थः। अथवा ख्यातिः प्रशंसा, पूजा लोकादरः, लाभः धनधान्यादिप्राप्तिः एतेषाम् अभिवेशेन अभिप्रायेण या परप्रतारणप्रवृत्तिः सा मायेति। चेतनाचेतनेषु वस्तुषु स्त्रीदासीदासाश्वगज-गो-महिषादिषु चेतनपरिग्रहेषु, अचेतनेषु गृहवस्त्रमौक्तिकादिषु चित्तस्थः महान् ममेदं भावः ममत्वपरिणामः लोभः। अथवा तदभिवृद्धयाशयो महानसन्तोषः क्षोभो वा लोभः। तेषां चेतनाचेतनवस्तूनाम् अभिवृद्धयाशयः अभि समन्तात् वृद्धिः प्रवर्धनं तस्याः आशयः अभिप्रायः लोभः, अथवा महान् असन्तोषः अतीव मनसि तीव्रा गृद्धिः लोभः क्षोभो वा मनसि परिग्रहवृद्धिश्चिन्तनं लोभः। कषायाणां गुणघातित्वमाह—**सम्यक्त्वेति**—ये अनन्तानुबन्धिनः अनन्तसंसारकारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्तं तदनुबन्धिनोऽनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाः ते कषायकाः कुत्सिताः कषायाः कषायकाः। सम्यक्त्वम् आप्तागमपदार्थानां श्रद्धानं घ्नन्ति। अप्रत्याख्यानरूपाश्च कषायकाः यदुदयाद्देशविरतिं संयमासंयमाख्याम् अल्पामपि कर्तुं न शक्नोति अर्थात् ये कषाया देशप्रत्याख्यानं देशव्रतानि घ्नन्ति ते अप्रत्याख्यानरूपाः क्रोधमानमायालोभा विज्ञेयाः। प्रत्याख्यानस्वभावाः स्युः संयमस्य विनाशकाः। प्रत्याख्यानं कृत्स्नां संयमाख्यां विरतिं यदुदयेन जीवो न कर्तुं शक्नोति ते कषायाः प्रत्याख्यानस्वभावाः ते संयमस्य विनाशकाः स्युः भवेयुः। यथाख्याते चारित्रे संज्वलनाः क्षितिं कुर्युः स एकीभावे वर्तते संयमेन सहावस्थानात् एकीभूय ज्वलन्ति संयमो वा ज्वलत्येषु सत्स्वपि संज्वलनाः क्रोधमानमायालोभाः यथाख्याते चारित्रे क्षतिं विघातं कुर्युः विदध्युः ॥९२५-९२६॥ अनन्तानुबन्ध्यादयः क्रोधाश्चतुर्गतीर्जीवान् प्रापयन्तीत्याह—**पाषाणेति**—पाषाणलेखा, भूलेखा, रजोलेखा, वारिलेखा च तद्वत् ये क्रोधास्ते पाषाणलेखाप्रख्याः, भूलेखाप्रख्याः, रजोलेखाप्रख्याः; वारिलेखाप्रख्याः, शिला-पृथ्वीधूली-जलरेखातुल्यत्वात् क्रोधश्चतुर्विधः। एते चत्वारो भेदाः अनन्तानुबन्ध्यादिषु चतुर्षु प्रत्येकं संभवन्ति। सर्वोत्कृष्टहीनहीनतरहीनतमोदयरूपाभिरनन्तानुबन्ध्यादिशक्तिभिः। एतत्क्रोधचतुष्टयं यथाक्रमं श्वभ्रतिर्यङ्नृनाकिनाम् गत्यै भवति। पाषाणरेखातुल्यः अनन्तानुबन्ध्यादिक्रोधः श्वभ्रगत्यै नारकगत्यै भवति। भूलेखाप्रख्यः अनन्तानुबन्ध्यादिक्रोधः तिर्यग्गतिप्राप्त्यै भवति। रजोरेखाप्रख्यः अनन्तानुबन्ध्यादिक्रोधः नरगतिप्राप्त्यै भवति। जलरेखासदृशः अनन्तानुबन्ध्यादिक्रोधः नाकिनां देवानां गत्यै भवेत् ॥९२७॥

[पृष्ठ ३३३-३३६] चतुर्विधो मानश्चतुर्विधगतिप्रापकोऽस्तीति कथयति—**शिलास्तम्भेति**—शिलास्तम्भवृत्तिः चतुर्विधो मानः अधोगतिसंगतिकारणं भवति नरकगतिसमागमहेतुर्जायते। अस्थिवृत्तिः हीनोदयरूपः मानः पशुगतिसंगतिहेतुर्जायते। सार्द्रध्मवृत्ति जलमध्यकाष्ठसम अनन्तानुबन्ध्यादिमानः नरगतिसंगतिकारणं भवति। वेत्रवृत्तिर्मानः अनन्तानुबन्ध्यादिः स्वर्गगतिसंगतिकारणं भवति ॥९२८॥ मायाचातुर्विध्यमपि चतुर्गतिप्रापकं भवति इति भाषते। **वेणुमूलैरिति**—वंशमूलैः समाः अनन्तानुबन्ध्यादयो मायाः नरकगत्यै भवन्ति। अजाश्रृङ्गैः उरभ्रकविषाणैः समाः मायाः पशुगत्यै भवन्ति। गोमूत्रसमाः मायाः नरगतिकारणं भवन्ति। चामरैः समाः मायाः देवगतिप्रापिका भवन्ति ॥९२९॥ लोभचतुष्टयं चतुर्गतिलम्भकं जायते इति वदति—**क्रिमिनीलीति**—क्रिमिरागतुल्यः लोभः श्वभ्रगतिसंसारनिदानं भवति। नीलीरागसदृशः लोभः तिर्यग्गतिसंसारकारणं जायते। वपुर्लेपो देहमलः तत्तुल्यो लोभः नरगतिसंसारदायको भवति। हरिद्रारागसदृशो लोभः देवसंसारकारणं भवति ॥९३०॥ किं च क्रोधान्धस्य समाध्याद्यभावं निगदति—यथा अपथ्यसेविनः रोगानुकूलाम्लतैलादिभक्षिणः रोगिणः नरस्य औषधक्रिया अगदसेवनं रिक्ता विफला भवति तथा क्रोधनस्य कोपप्रकृतेर्नरस्य समाधिश्रुतसंयमाः ध्यानशास्त्राभ्यासव्रतपालनानि विफला भवेयुः ॥९३१॥ **मानेति**—मानः मदः एव दावाग्निः वनानलः तेन दग्धेषु। मदोपरकषायिषु इन्द्रियाणाम् उन्माथा वृत्तिर्मदः स ऊषरं क्षारत्वं तेन कषायिणः तुवररसोपेताः तेषु, नृद्रुमेषु नरवृक्षेषु सच्छायोचिताङ्कुरा सती प्रशस्ता या छाया कान्तिः तस्या उचिता योग्या ये अङ्कुराः अभिनवोद्भेदाः ते न प्ररोहन्ति। नोत्पद्यन्ते यथा क्षारभूमौ उप्तं बीजं नश्यति। कदाचित् ततोऽङ्कुरे जातेऽपि तस्य कान्तिर्म्लाना भवति तथा ये नरा

मदेन मानेन चाश्माता वर्तन्ते तेषां सच्छाया धर्मस्य प्रभावना न जायते ॥९३२॥ मायया हानिं दर्शयति— यावदिति—यावत् यावत्कालम् आत्माम्बुषु जीवजलेषु मायानिशालेशोऽपि माया कपटं सैव निशा रात्रिः तस्या लेशोऽपि अल्पांशोऽपि कृतास्पदः विहितवसतिर्वर्तते । तावत् तावत्कालं चित्ताम्बुजाकरः मनःकमलसमूहः प्रबोधश्रियं विकाशलक्ष्मीं न धत्ते न धारयति ॥९३३॥ लोभाद् गुणहानिं निगदति—लोभेति—धन्याः पुण्यवन्तो गुणाः लोभकीकसचिह्नानि लोभ एव वर्तमानकाले अर्थप्राप्तिगृद्धिः एव कीकसम् अस्थि तदेव चिह्नम् अभिज्ञानं येषां तानि चेतःस्रोतांसि मनोजलप्रवाहाः तानि दूरतः त्यजन्ति परिहरन्ति । कामिव चाण्डालसरसीमिव चाण्डालानां मातङ्गानां सरसीमिव तडागमिव ॥९३४॥ क्रोधादिशल्यानां त्यजनविधिमाह—तस्मात् इति—तस्मात् ततः । अस्मिन्मनोनिकेते अस्मिश्चित्तगेहे । इदं शल्यचतुष्टयम् । आत्मज्ञः स्वस्वरूपज्ञः मुनिर्गृहस्थश्च । क्षेमाय कल्याणाय । शमकीलकैः क्रोधादिचतुष्टयाभावकीलकैः शङ्कुभिः उद्धर्तुं यतेत निष्कासयितुं यत्नं कुर्यात् । क्षमाकीलकेन क्रोधशल्यम् । मार्दवशङ्कुना मानशल्यम् । आर्जवशङ्कुना मायाशल्यम् । शौचकीलकेन लोभशल्यं निष्कासयेत् ॥ ९३५॥ बुधैर्विषयेभ्यो मनसा सहेन्द्रियाणि व्यावर्त्यानीत्युपदिशति—षट्स्विति— षट् इन्द्रियाणि स्पर्शन-रसन-घ्राण-नयन-श्रोत्र-मनांसि तानि स्वभावादेव षट्सु अर्थेषु, विषयेषु स्पर्शेषु अष्टसु । मधुराम्लादिषु पञ्चसु रसेषु । द्वयोर्गन्धयोः । पञ्चविधेषु रक्तपीतादिवर्णेषु । सप्तसु स्वरेषु । मनस्तु एतेषु सर्वविषयेषु आसक्तिं जनयत्यतः सर्वेऽपि स्पर्शादयो विषया मनसो भवन्ति इति । तत्स्वरूपेति—तेषां विषयाणां स्वरूपाणां परिज्ञानात् बोधात् सर्वदा प्रत्यावर्तेत मुनिर्गृहस्थश्च व्यावर्तेत ॥९३६॥ विषयेभ्यो नात्मनः कुशलमिति निवेदयति—आपाते इति—तत्काले भुक्तिसमये सुन्दरारम्भैः सुन्दरो मनोहर आरम्भः आदिर्येषां ते तथाभूतैः । विपाके फलकाले विरसक्रियैः विरसा अमनोज्ञा दुःखदा क्रिया येषां तैः तथाभूतैः अन्ते दुर्गतिदानशीलैः विषैर्वा गरलैरिव विषयैः ग्रस्ते व्याकुले आत्मनि कुतः कुशलं भद्रं स्यात् ॥९३७॥ व्रतविशुद्ध्यै व्रतिकः किं त्यजेत्, आह—दुश्चिन्तनमिति—व्रतो व्रतानि अहिंसादीनि सन्ति अस्येति व्रती । व्रतविशुद्ध्यर्थं व्रतानां विशुद्ध्यर्थम् उत्कर्षप्रापणार्थं । मनोवाक्कायसंश्रयं मनः चित्तं, वाक् भाषणं, कायः शरीरम् एषां संश्रयः अवलम्बनं यस्य तथाभूतं । दुश्चिन्तनं हिंसाद्यध्यवसायः तत् मनःसंश्रयं नाचरेत् त्यजेदित्यर्थः । दुरालापं वाक्संश्रयम् असत्यनिन्दाकलहादिदोषयुक्तं दुर्भाषणं नाचरेत् । दुर्व्यापारं च कायसंश्रयं देहाधारं परस्त्रीसंभोगादिकं नाचरेत् ॥९३८॥ किं नाम व्रतपालनमित्याह—अभङ्गेति—अभङ्गः व्रतस्य अविकलं प्रतिपालनम् । अतिचारः व्रतस्य देशभङ्गात् कियतोंऽशस्य रक्षणाच्च अतिचारो भवति । न अतिचारोऽनतिचारः व्रतस्य बाह्याभ्यन्तराभ्याम् अङ्गाभ्यां रक्षणम् अनतिचारः । यथा अहिंसाव्रतसंरक्षणे कोपं न करोति, प्राणिवधबन्धनं न करोति, दयाहीनश्च न भवति । गृहीतेषु व्रतेषु भङ्गम् अकृत्वा, अतिचारपरिहारं च कृत्वा शश्वत् आजन्म तेषु व्रतेषु रक्षणं पालनं क्रियते तत् व्रतपालनं भवेत् ॥९३९॥ यमनियमेषु यत्नकर्तव्यतामुपदिशति—वैराग्येति—यमेषु इति यमेषु अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः । यच्छति नियच्छति इन्द्रियग्राममनेनेति यमः । नियमेषु बाह्याभ्यन्तरशौचतपःस्वाध्यायप्रणिधानानि नियमाः । एतेषु नित्यं यत्नः कर्तव्यः । एतेषां पालनं सदा कर्तव्यमिति भावः । नित्यं वैराग्यभावना कर्तव्या । ये विषयाः दृष्टाः ये च श्रुताः ये चानुभूतास्तेभ्यो निवृत्ततृष्णस्य व्रतिनः मनसो वशीकरणं तस्यैव संज्ञा नाम वैराग्यमिति । तस्य नित्यं भावना अभ्यासः करणीयः । नित्यं तत्त्वविचिन्तनं कर्तव्यम् । किं नाम तत्त्वविचिन्तनम् । प्रत्यक्षेण इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षेण, अनुमानेन, आगमेन च जिनकथितेन ये अनुभूताः ज्ञाताः जीवादिपदार्थसार्थाः ते विषया यस्याः एतादृशी या असंप्रमोषस्वभावा दृढधारणासंस्कारजाता स्मृतिः स्मरणं तत्त्वानुचिन्तनं तस्मिन्नित्यं यत्नः कर्तव्यः । एतैः कारणैर्व्रतपालनं निर्दोषं भवति ॥९४०॥

इत्युपासकाध्ययने प्रकीर्णकविधिर्नाम षट्चत्वारिंशत्तमः कल्पः ॥४६॥

[पृष्ठ ३३६] इत्येष इति—हे क्षितिपतीश्वर, क्षित्याः पृथ्व्याः पतयः स्वामिनः क्षितिपतयः भूपाः तेषाम् ईश्वरः राजराजः तत्संबोधनं हे क्षितिपतीश्वर, इति पूर्वोक्तप्रकारेण गृहिणां धर्मः प्रोक्तः (सुदत्तसूरिणा) हे क्षितिपतीश्वर, मूलोत्तरगुणाश्रयः मूलगुणाः अष्टाविंशतिः आचेलक्यादयः । उत्तरगुणाश्च चतुरशीतिलक्षणास्ते आश्रयः

आधारो यस्य स यतीनां धर्मः श्रुतात् आचाराङ्गाज्ज्ञेयः ज्ञातव्यः ॥९४१॥ इत्थमिति—एवं पूर्वोक्तरीत्या । तदर्भकयुगाचरणप्रचारं तौ च तौ अर्भकौ बालकौ च तदर्भकौ । तयोर्युगं युगलं तस्य आचरणस्य देशयत्याचारस्य क्षुल्लकक्षुल्लिकाचारस्य प्रचारो यत्र । एतादृशं मुनेः सुदत्ताचार्यात् द्वितयधर्मकथावतारं द्वितययोर्धर्मयोः कथाया अवतारो यत्र तं श्रुत्वा, सा देवता चण्डमारीनामा । स नृपतिः मारिदत्तः । स च पौरलोकः मारिदत्तनृपतिप्रजाजनः । भवभाववृत्तेः भवो देवभवो मनुष्यभवश्च, भावः तत्तद्गतियोग्यभावाः परिणामाः तेषां वृत्तिः प्रवृत्तिः तस्या उचितं योग्यं धर्मं जग्राह ग्रहणं चकार ॥९४२॥ मुनिकुमारयुगलमिति—अभयरुचिनामा क्षुल्लकः अभयमति-नाम्नी क्षुल्लिकेति मुनिकुमारयुगलं प्रोक्तम् । तत्क्रमेण व्यतिक्रान्तबालकालं यापितकुमारकालं सत् चारित्रम् आचर्य प्रतिपाल्य, कथंभूतं तत् । सुधेति—सुधाशना देवाः तेषां वेश्म स्वर्गः स अधिरुह्यते येन तत् चारित्रं सुधाशनवेश्माधिरोहणम् । पुनः कथंभूतम् यतिविरतीत्यादि यतिर्मुनिः विरतिरार्या तयोर्वेषौ नग्नता, एकशाटक-धारित्वं च । भाषितं भाषासमितिपालनम् । एतयोरनल्पा बहवो ये विकल्पा भेदाः स एव प्रासादः सौधः तदुपरि कलशारोपणमिव चारित्रम् अतिचिरं दीर्घकालम् आचर्य प्रतिपाल्य । ऐशानस्वर्गम् अवापदिति निवेदयति ग्रन्थकारः । तद्यथा—अभयरुचिरिति—स मुनिकुमारोऽभयरुचिः सानुजः अनुजा लघुभगिनी अभयमतिः तया सहितः । तत्र देवीवनरहसि देव्या वनं देवीवनं तन्नामकम् अरण्यं तस्य रहः विजनप्रदेशस्तत्र । प्रायम् उपवासं कृत्वा । ऐशानकल्पं द्वितीयस्वर्गम् अवापत् प्राप्तः । मारदत्तोऽपि भूपः राजा धृतेति—धृतं पालितं यतिपति-वृत्तं मुनीन्द्रचरणं येन स तथाभूतः सन् तथैव अभयरुचिरिव स्वर्गलक्ष्मीविलासं सुरलोकरमासुखम् अभजत् प्राप्तः ॥९४३॥ रत्नद्वयेनेति—रत्नयोर्द्वयं सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानयुगलमिति भावः तेन समलंकृतेति समलंकृता विभूषिता चित्तवृत्तिः मनोव्यापारो यस्याः । सा चण्डमारीति देवताऽपि गणिनो महं सुदत्ताचार्यस्य पूजाम् आरचय्य प्रविधाय । द्वीपान्तरेति—अन्ये द्वीपाः द्वीपान्तराणि धातकीपुष्करार्धनन्दीश्वरादयः । द्युनगाश्च दिवो नाकस्य स्वर्गस्य नगाः पर्वताः पञ्चमेरवश्च तेषां जात समूहः तस्य यानि जिनेन्द्रसद्मानि जिनालयाः तान् वन्दते इति वन्दारुर्वन्दनशीला तस्या भावः वन्दनशीलता तया अनुमतः मान्यः युक्तः यः कामः अभिलाषः तत्र परायणा तत्परा अभूत् अभवत् ॥९४४॥ ध्यानेति—सिद्धगिरौ तन्नामके पर्वते रेवानद्यास्तीरे पश्चिमभागे सिद्धवरकूट-पर्वते स मुनिः मुनिभिर्यतिभिः सह वर्तते इति समुनिः सुदत्ताह्वयः सुदत्ताभिधानः सूरिः सम्यक् देवत्वाद्यभिलाप-रहितं निर्दोषं ध्यानं विधाय लान्तवनाम्नि सप्तमे कल्पे स्वर्गे सर्वेति—सर्वेषाम् अमराणाम् ग्रामणीः अग्रणीः सुरो देवः अजायत । ये च अन्ये यशोमतिप्रभृतयः यशोमतिनृपादयः तेऽपि प्रक्लृप्तव्रताः समाचरितचरिताः । सुकृतिभिः पुण्यवद्भिर्जनैः सुरैश्च संकीर्त्यमानश्रियः वर्ण्यमानविभवाः त्रिदशेश्वराः सुरपतयः संजाताः समभवन् ॥९४५॥ कृतग्रन्थनिर्वाहः सोमदेवसूरिरन्त्यमङ्गलमाह—जयत्विति—जिनोक्तिसुधारसः जिनवचनामृतरसः यः जगदानन्दस्यन्दो जगतः आनन्दस्य स्यन्दः स्रवणं यत्र अस्ति तथाभूतः जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । तदनु तदनन्तरं सतां सज्जनानां कामारामः अभिलाषोद्यानं फलसंगमैः स्वर्गादिफललाभैः जयतात् उत्कर्षं समृद्धिं प्राप्नुयात् । ततश्च तदनन्तरं कवितादेवी सरस्वती, कविताशक्तिर्वा शश्वत् सततं जयतात् । यदाश्रयात् यस्याः कवितादेव्याः साहाय्यमवलम्ब्य मम इयं कृतिमतिः कृतिकरणसमर्था मतिः बुद्धिः कृती कविः तस्य मतिर्बुद्धिः वा जगत्त्रयभूषणां सूक्ति सूते त्रिलोकालङ्कारां सूक्तिं सुभाषितं सूते जनयति ॥९४६॥ अभिधानेति—अभिधा-नानां शब्दानां निधाने अक्षयनिधिभूते । यशोधरमहाराजचरिते कथंभूते यशस्तिलकनामनि यशस्तिलकाख्ये । सतां मतिः सत्पुरुषाणां मतिः बुद्धिः स्तात् सततं प्रवर्तताम् । एतद्यशोधरमहाराजचरितं सन्तः निजकर्णातिथि सन्ततम् कुर्वन्त्विति भावः ॥९४७॥ एतच्चरितस्य पठनं कुर्वतः यशः प्रसरतु कवितारहस्यमुद्रां च लभतामिति कविराशास्ते—एतामिति—अनुपूर्वशः आचार्यपरम्पराम् अनुसृत्य एताम् अष्टसहस्रीम् अष्टसहस्रीति अपरनाम-धेयां कृतिं विमृशन् कृती धन्यः कविकवितारहस्यमुद्रां कविता एव स्त्री तस्याः रहस्यं भोगः तस्य मुद्राम् अनुज्ञां तथा च कवितायाः गूढतत्त्वस्य मुद्रां प्रत्ययम् अवाप्नुयात् । आसमुद्रं च यशः लभेत ॥९४८॥ ग्रन्थसमाप्तौ निजगुरुपरम्परां कथयति कविः—श्रीमानिति—सदैव सततं श्रीमान् आगमचातुर्यशोभा एव श्रीः सा यस्यास्ति स श्रीमान् संघतिलकः देवसंघस्य भूषणम् यशःपूर्वकः देवः अस्ति । यशोदेवाभिधः सूरिः देवसंघस्य भूषणं अस्तीति भावः । तस्य यशोदेवसूरेः सद्गुणनिधिः सन्तश्च ते गुणाः तेषां निधिः निधानभूतः श्रीनेमिदेवाह्वयः

श्रीनेमिदेवाभिधः शिष्यः बभूव । तस्य नेमिदेवस्य शिष्यः सोमदेवः अभूत् । कथंभूतस्य नेमिदेवस्य आश्चर्यतपःस्थितेः आश्चर्यकारिणी तपःस्थितिस्तपोमर्यादा यस्य । पुनः कथंभूतस्य महावादिनां त्रिनवतेर्जेतुः महान्तो वादिनः अन्यदर्शनमहापण्डिताः । तेषां त्रिनवतेः जेतुः सोमदेव इति यः शिष्यः इह गङ्गधारायाम् अभूत् । तस्य एष यशस्तिलकचम्पूर्नाम काव्यक्रमः अस्ति ।।९४९।। अस्य यशस्तिलकस्य काव्यस्य पुस्तकलेखनं रच्छुकेन लेखकेन कृतमिति स्वयं लेखक एव निवेदयति—**विद्याविनोदेति**—विद्याया विनोदः लीला स एव वनं तेन वासितं सुगन्धीकृतं हृत् हृदयमेव शुको यस्य तेन रच्छुकेन तन्नामवता रच्छुकेन यशोधरस्य यशोधरचरितस्य पुस्तं पुस्तकम् कथंभूतम् विलसल्लिपि विलसन्ती शोभमाना सुन्दरा लिपिः अक्षरविन्यासो यस्मिन् तत् । कथंभूतस्य यशोधरस्य श्रीसोमदेवरचितस्य, पुनः कथंभूतस्य । **सल्लोकमान्येति**—सन्तश्च ते लोकाश्च सज्जनाः तेषां मान्यः । आदृता या गुणरत्नानां मही तस्या धरस्य पर्वतस्य ।।९५०।। अपि च । रच्छुकलेखकस्य प्रशंसापरोऽयं श्लोकः **यस्येति**—यस्य रच्छुकस्य अक्षरावलिः अक्षरपङ्क्तिः अधीरविलोचनाभिः चञ्चलनयनाभिः रामाभिः मदनशासनलेखनेषु आकाङ्क्ष्यते अभिलष्यते । विवेकिषु जनेषु तस्मै रच्छकाय कः नाम सज्जनः लेखकशिखामणिनामधेयं लेखकचूडारत्नेति पदं न यच्छति अपि तु यच्छत्येव । अयं रच्छको लेखकः कविसमकालमेवाभवदिति विज्ञायते श्लोकेनानेन ।।९५१।। **शकनृपेति**—शकनृपः सातवाहनस्तस्य यः कालः उत्पत्तिसमयः, तस्य अतीतानि यानि संवत्सराणा वर्षाणां शतानि, कति । अष्टौ तेषु गतेषु पुनः कथंभूतेषु एकाशीत्यधिकेषु गतेषु यातेषु (अङ्कतः ८८१) इदं काव्यं निर्मापितमिति । कस्मिन् संवत्सरे मासे तिथाविति कथयति, सिद्धार्थसंवत्सरान्तर्गतचैत्रमासमदनत्रयोदश्याम् । गङ्गधरायां नगर्याम् इदं काव्यं विनिर्मापितम् । कथंभूतायां श्रीमद्वागराजप्रवर्धमानवसुधारायां श्रीमतो राज्यलक्ष्मीवतो वागराजस्य नृपस्य प्रवर्धमाना वसुधारा धनधारा यस्याम् । अयं वागराजः कस्य पुत्र इति कथ्यते । कृष्णराजस्य सामन्तचूडामणेः अरिकेसरिणः प्रथमपुत्रः आसीत् । कृष्णराजेन पाण्ड्य-सिंहल-चोलचेरमप्रभृतयो महीपतयः जिताः, मेल्याट्यां च तस्य राज्यप्रभावः प्रवर्धमान आसीत् । अयं अरिकेसरी चालुक्यवंशजन्माभूत् । संप्राप्तपञ्चमहाशब्दानां महासामन्तानाम् अधिपतिरभवत् ।

इति सकलतार्किकलोकचूडामणेः श्रीमन्नेमिदेवभगवतः शिष्येण सद्योऽनवद्यगद्यपद्यविद्याधरचक्रवर्ति-
शिखण्डमण्डनीभवच्चरणकमलेन श्रीसोमदेवसूरिणा विरचिते यशोधरमहाराजचरिते
यशस्तिलकापरनाम्नि महाकाव्ये धर्मामृतवर्षमहोत्सवो
नाम अष्टमः आश्वासः ।।८।।

वर्णः पदमिति—वर्णः ककाराद्यक्षरम्, पदं शब्दः, वाक्यविधिः सुप्तिङन्तचयो वाक्यं तस्य विधिः विधानं रचना, समासः समसनं समासः पदयोः पदानां वा एकपदीकरणं समासः । लिङ्गं स्त्रीपुंनपुंसकं लिङ्गम् । क्रिया क्रियापदम् । कारकं कर्मकरणादि । अन्यतन्त्रम् अन्यशास्त्राणां विषयाः प्रसंगेन समागताः । छन्दः वृत्तानि । रसः शृङ्गारादयः, अलंक्रिया उपमानरूपकादयः । अर्थः काव्यकथाविषयः । नायकचरित्रम् । लोकस्थितिः लोकानाम् आचारः इति अत्र चतुर्दश विषयाः स्युः ।।९५२।। **अब्दे इति**—अस्य श्लोकस्य विमर्शे कृते सति कविना यः काव्यरचनाकालः शकनृपकालातीतादिवाक्ये दर्शितः तेन सह विरोधः प्रतिभाति अतः अयं श्लोकः कवेर्नास्ति इति मे मतिः । तथा चापरोऽत्र विमर्शः काव्ये पूर्णतां नीते पुनः वर्णः पदं वाक्यमिति श्लोकलेखनम् अब्दे इति श्लोकलेखनं च सयुक्तिकं न प्रतिभाति । अतः अन्येन केनापि एतच्छ्लोकयुग्मं रचितं स्यादिति मनसि विकल्प उत्पद्यते । तथा च सटिप्पणपुस्तकेषु अब्दे इतिश्लोकोऽपि न वर्तते । अतोऽस्य श्लोकस्याभिप्रायो न व्यक्तीकृतः इति ज्ञेयम् । श्रुतसागराचार्यैरकृतटीकस्य अस्य यशस्तिलकाख्यकाव्यांशस्य यथामति टीका विहिता । अत्र टीकायां व्याकरणाद्यनभिज्ञतया मत्तो बहवो दोषाः जाता इति मन्ये तान् संशोध्य पाठकास्तं काव्यांशं पठन्तु इति निवेद्यते ।।

जिनदासेन पार्श्वनाथतनूजेन फडकुलेत्युपाह्वयेन ।

उपासकाध्ययनस्थश्लोकानुक्रमः

२. उद्धृतपद्यानामकाराद्यनुक्रमणी

३. विशिष्ट शब्दसूची

आ

इ

४. व्यक्तिनामसूची

५. भौगोलिकनामसूची परिचयसहिता

अंग (पृष्ठ ५३) – वर्तमान बिहारप्रदेशके भागलपुर, मुंगेर आदि जिले।

अमरावती पृ० ७२, ८६ –

अयोध्या (पृ० ५६, १७८, १७९, १८८) – उपासकाध्ययनके आठवें कल्पमें अयोध्याको कोशल देशके मध्यमें बतलाया है (कोशलदेशमध्यायाममयोध्यायां पुरि)। श्रुतसागरसूरिकी टोकामें कोशलको विनीतापुर तथा अयोध्याको विनीता बतलाया है। वर्तमानमें उत्तरप्रदेशके फैजाबाद जिलेके निकट अयोध्या नामकी नगरी है।

अवन्ती मण्डल (पृ० १४२, १५५) – इस देशकी राजधानी उज्जयिनी नगरी थी।

अहिच्छत्र (पृ० ८४) – सोमदेवने इसे पंचालदेशमें बतलाया है तथा उसे पार्श्वनाथ भगवान्‌के यशसे प्रकाशित लिखा है। अहिच्छत्रमें ही भगवान् पार्श्वनाथ पर कमठने घोर उपसर्ग किया था और उन्हें केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई थी। वर्तमानमें उत्तरप्रदेशके बरेली जिलेमें रामनगर नामक गाँव ही पुराना अहिच्छत्र नगर था।

इन्द्रकच्छदेश (पृ० ५९) उपासकाध्ययनके नौवें कल्पके अनुसार रोरुकपुर नगर, जिसे मायापुरी भी कहते थे, इन्द्रकच्छदेशमें था। रोरुकपुर बौद्धग्रन्थोंका रोरुक जान पड़ता है जो सौवीर देशकी राजधानी था और कच्छकी खाड़ीमें व्यापारका प्रमुख केन्द्र था।

उज्जयिनी (पृ० ९५) – वर्तमान मध्यप्रदेशमें भोपाल और इन्दौरके मध्यमें स्थित नगरी।

उत्तर मथुरा (पृ० ६२, ६३) – दक्षिण मथुरा या मदुरासे भेद दिखलानेके लिए ही उत्तरप्रदेशमें स्थित मथुराको उत्तरमथुरा कहा है। उपासकाध्ययनके १७-१८वें कल्पोंमें सोमदेवने मथुराके प्रसिद्ध जैन स्तूपकी स्थापनाकी कथा दी है और लिखा है कि आज भी इस स्तूपको देव-निर्मित कहा जाता है। सन् १८८९-९०में मथुराके बाहर गोवर्धन रोडके पासमें स्थित कंकाली टीलेसे उक्त प्राचीन जैन स्तूपके अवशेष प्राप्त हुए थे। चौदहवीं शताब्दीके जिनप्रभ सूरिरचित तीर्थकल्पमें भी उक्त जैन स्तूपका वर्णन है। किन्तु सोमदेवने उसकी स्थापनाकी जो कथा दी है वह तीर्थकल्पसे बिलकुल भिन्न है। जिनप्रभ सूरिसे सोमदेव लगभग चार शताब्दी पूर्व हुए हैं और इसलिए उन्होंने सम्भवतया स्तूपके स्थापनाकी प्राचीनतम कथा दी है। ईसाकी दूसरी शताब्दीमें भी उस स्तूपको देवनिर्मित कहा जाता था; क्योंकि कंकाली टीलेसे प्राप्त तीर्थंकर अरनाथकी एक खड्गासन मूर्तिके नीचे अंकित शिलालेखमें भी 'स्तूपे देव-निर्मिते' अंकित है। इस शिलालेखपर अंकित ७९ संवत् कुशान वंशी राजा वासुदेवके कालका सूचक है अतः ७९ + ७८ = १५७ ई०में भी यह स्तूप इतना प्राचीन माना जाता था कि उसे देवनिर्मित कहा जाता था। सोमदेवके अनुसार इसकी स्थापना वज्रकुमारने की थी। सोमदेवके उल्लेखसे ऐसा प्रतीत होता है कि सोमदेवके समयमें यह स्तूप वर्तमान था। कंकाली टीलेसे प्राप्त पार्श्वनाथकी एक प्रतिमापर संवत् १०३६ (९८० ई०) अंकित है। अतः उस प्रतिमाकी स्थापना सोमदेवके समयमें हुई थी।

एकचक्रपुर पृ० १३०

एकानसीपुर (पृ० १४२) – सोमदेवने इसे अवन्तिमण्डलमें बतलाया है। टीका–टिप्पणकारने इसका अर्थ उज्जयिनी नगरी किया है।

करहाटदेश (पृ० ४४) – महाराष्ट्र प्रदेशके सतारा जिलेमें कोइना और कृष्णा नदीके संगमपर स्थित है। सोमदेवने करहाटको एक सौभाग्यशाली देश बतलाया है और उसमें स्थित एक विशाल गोशालाका सुन्दर वर्णन किया है।

काकन्दीपुरी (पृ० १४०,२०८,२०९) – सोमदेवने काकन्दीको एक बहुत बड़ा व्यापारी केन्द्र बतलाया है और उसे नौवें तीर्थंकर पुष्पदन्तके जन्मकल्याणकसे पवित्र बतलाया है। वर्तमानमें गोरखपुर (उ० प्र०) से ३९ मीलपर एन० ई० रेल्वेके नोनखार स्टेशनसे तीन मील जो खुखुन्दू गांव है उसे पुष्पदन्तका जन्म-स्थान माना जाता है।

काम्पिल्य (पृ० २०५) – इसे पंचालदेशमें बतलाया है। गंगा और यमुनाके बीचके प्रदेशको पंचालदेश कहते थे। वर्तमानमें उत्तरप्रदेशके फर्रुखाबाद जिलेमें काम्पिल्य नामक गाँव है।

कालीदासकानन (पृ० ८४) – सोमदेवने अहिच्छत्रमें जलवाहिनी नदीके तटके निकट कालीदास नामक वनका उल्लेख किया है।

काशीदेश (पृ० १९४) – वाराणसी नगरीके आसपासका प्रदेश

किन्नरगीतनगर पृ० ५५

कुरुजांगल (पृ० ३९,९८,१७७) – यह कुरु देशका एक भाग था। उसीमें हस्तिनापुर नामका नगर था।

कुशाग्रपुर (पृ० ४६,५०) – चीनी यात्री युवानच्वांगके अनुसार कुशाग्रपुर मगधका केन्द्र तथा पुरानी राजधानी थी। वहाँ एक प्रकारकी सुगन्धित घास होती थी उसीके कारण उसका नाम कुशाग्रपुर पड़ा था। सोमदेवने भी कुशाग्रपुरको मगध देशमें बतलाया है। हेमचन्द्राचार्यके त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरितमें सुरक्षित परम्पराके अनुसार प्रसेनजित कुशाग्रपुरका राजा था। कुशाग्रपुरमें लगातार आग लगनेके कारण प्रसेनजितने यह आज्ञा दी थी कि जिसके घरमें आग पायी जायेगी वह नगरसे निकाल दिया जायेगा। एक दिन राजमहलमें आग पायी जानेसे प्रसेनजितने कुशाग्रपुरको त्याग दिया।

कैलास (पर्वत) पृ० ५२।

कोसलदेश (पृ० ५६) इसकी राजधानी अयोध्या थी।

कौशाम्बीदेश (पृ० १५८,१६४) – अलाहाबादसे लगभग तीस मी० यमुनाके तटपर कोसम नामक गांव है उसे ही प्राचीन कौशाम्बी माना जाता है। कौशाम्बी वत्सदेशकी राजधानी थी। श्रुतसागर सूरिने अपनी टीकामें लिखा है कि वत्सदेशमें कौशाम्बी नगरी गोपाचल (ग्वालियर) से ४४ गव्यूतिपर है। यदि गव्यूतिसे दो कोस या चार मील लिया जाता है तो कौशाम्बी ग्वालियरसे १७६ मीलके लगभग होती है। दीघ निकायके महासुदस्सन सुत्तंतमें कौशाम्बीको महानगरोंमें गिनाया है।

गिरिकूटपत्तन – पृ० १८१

गौणमण्डल (पृ० ७२) – पूर्वदेशमें बतलाया है। यह बंगालमें था।

चम्पापुरी (पृ० ५३) – अंग देशकी प्राचीन राजधानी, बिहार प्रदेशमें भागलपुरके पास है।

जनपद (पृ० ३९) – जनपद देशकी राजधानी भूमितिलकपुर थी। सम्भवतया जनपद देश कुरुदेशके निकट था, क्योंकि कथामें बतलाया है कि दो मित्र भूमितिलकपुरसे हस्तिनागपुर आते हैं।

जम्बूद्वीप – पृ० ३९।

जलवाहिनी नदी (पृ० ८४) – यह अहिच्छत्रके निकट बहती थी। इसीके तटपर कालीदास नामक महावन था।

डहाला (पृ० १८१) – डहलामण्डलमें स्वस्तिपुरी नामक नगरी थी।

ताम्रलिप्ति (पृ० ७२) – इसे पूर्वदेशमें गौणमण्डलमें बतलाया है। बंगालके मिदनापुर जिलेमें आधुनिक तमलुक नामक स्थान प्राचीन ताम्रलिप्ति था।

दक्षिणमथुरा (पृ० ६२,७०) – दक्षिणकी मदुरा नगरीको दक्षिण मथुरा कहते थे। मथुराका ही अपभ्रंश मदुरा प्रतीत होता है।

दण्डकारण्य (पृ० ४४) – सोमदेवने दण्डकारण्यको करहाट देशके पश्चिमी भागमें बतलाया है। और करहाट देश महाराष्ट्र प्रदेशके सतारा जिलेमें कृष्णा और कोइना नदियोंके संगमपर था।

नन्दीश्वरद्वीप पृ० ४३।

नाभिगिरि (पृ० ८५) – मगधदेशके सोपारपुर नगरके पास यह पर्वत बतलाया है।

पञ्चशैलपुर (पृ० ७६,८०) मगधदेशको राजगृही नगरीका अपरनाम था। पाँच पर्वतोंसे घिरा होनेके कारण उसे पञ्चशैलपुर कहते थे। आज भी उसे पंचपहाड़ी कहते हैं।

पञ्चालदेश – गंगा और यमुनाके बीचका प्रदेश पंचाल था। मोटे तौरपर उत्तरप्रदेशके बरेली, बदायूँ, फर्रुखाबाद और इनसे सम्बद्ध जिले पंचाल देश कहलाते थे।

पद्मावतीपुर (पृ० १६४) – टिप्पणके अनुसार उज्जयिनीका अपर नाम।

पद्मिनीखेट (पृ० १६८) – एक नगरका नाम था।

पाटलीपुत्र (पृ० ६४,७२) – सोमदेवने इसे सुराष्ट्रदेशमें बतलाया है।

पाण्ड्यमण्डल (पृ० ६२) – दक्षिणके तमिल प्रदेशका भाग। इसकी राजधानी मदुरा थी।

पोदनपुर (पृ० १७७) – यह अश्मक देशकी राजधानी थी। पुराने हैदराबाद राज्यके निजामाबाद जिलेमें गोदावरीकी सहायक नदीपर स्थित आधुनिक बोधन ही प्राचीन पोदनपुर था। सोमदेवने पोदनपुरको रम्यक देशमें बतलाया है।

प्रयागदेश (पृ० १६७) – वर्तमान इलाहाबादके पासका प्रदेश सम्भवतया प्रयाग देश कहा जाता था। जैसे वाराणसीके पासके प्रदेशको काशी देश कहते थे।

फेनमालिनी (पृ० ८८) – एक नदी।

बलवाहनपुर पृ० ८६।

भावपुर पृ० ८७।

भीमवन (पृ० ५७) – शखपुरके निकट भीमवन नामक महावन था।

भूमितिलकपुर (पृ० ३९) – सोमदेवने इसे जनपददेशमें बतलाया है।

मगधदेश (पृ० ४६,४७,७६,८५,१७८) – इसकी राजधानी राजगृही थी जो वर्तमानमें बिहार प्रदेशमें है।

मथुरा (पृ० ८९,९१) – देखो उत्तर मथुरा।

मलयाचल पृ० ५५

मिथिलापुरी (पृ० ४७,१००) – सोमदेवने मिथिलापुरीको मगधदेशमें बतलाया है। वर्तमानमें बिहार प्रदेशमें दरभंगाके पास मिथिला नामक नगरी है।

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪṬHA

MŪRTIDEVĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ

General Editors :

Dr. H. L. JAIN, Jabalpur : Dr. A. N. UPADHYE, Kolhapur.

The Bhāratīya Jñānapīṭha, is an Academy of Letters for the advancement of Indological Learning. In pursuance of one of its objects to bring out the forgotten, rare unpublished works of knowledge, the following works are critically or authentically edited by learned scholars who have, in most of the cases, equipped them with learned Introductions etc. and published by the Jñānapīṭha.

Mahābandha or the **Mahādhavalā** :

This is the 6th Khaṇḍa of the great Siddhānta work *Ṣaṭkhaṇḍāgama* of Bhūtabali : The subject matter of this work is of a highly technical nature which could be interesting only to those adepts in Jaina Philosophy who desire to probe into the minutest details of the Karma Siddhānta. The entire work is published in 7 volumes. The Prākrit Text which is based on a single Ms. is edited along with the Hindī Translation. Vol. I is edited by Pt. S. C. DIWAKAR and Vols. 2 to 7 by Pt. PHOOLACHANDRA. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākrit Grantha Nos. 1, 4 to 9. Super Royal Vol. I : pp. 20 + 80 + 350 ; Vol. II : pp. 4+40+440 ; Vol. III : pp. 10+496 ; Vol. IV : pp. 16+428 ; Vol. V : pp. 4+460 ; Vol. VI : pp. 22+370 ; Vol. VII : pp. 8+320. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1947 to 1958. Price Rs. 11/- for each vol.

Karalakkhaṇa :

This is a small Prākrit Grantha dealing with palmistry just in 61 gāthās. The Text is edited along with a Sanskrit Chāyā and Hindī Translation by Prof. P. K. MODI. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākrit Grantha No. 2. Third edition, Crown pp. 48 Bhāratīya Jnānapīṭha Kashi, 1964. Price 75 nP.

Madanaparājaya :

An allegorical Sanskrit Campū by Nāgadeva (of the Saṁvat 14th century or so) depicting the subjugation of Cupid. Edited critically by Pt. RAJKUMAR JAIN with a Hindī Introduction, Translation etc., Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 1. Second edition. Super Royal pp. 14 + 58 + 144. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1964. Price Rs. 8/-.

Kannaḍa Prāntīya Tāḍapatrīya Grantha-sūcī :

A descriptive catalogue of Palmleaf Mss. in the Jaina Bhaṇḍāras of Moodbidri, Karkal, Aliyoor etc. Edited with a Hindī Introduction etc. by Pt. K. BHUJABALI SHASTRI. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 2. Super Royal pp. 32 + 324. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1948. Price Rs. 13/-.

Tattvārtha-vṛtti :

This is a critical edition of the exhaustive Sanskrit commentary of Śrutasāgara (*c.* 16th century Vikrama Saṁvat) on the Tattvārthasūtra of Umāsvāti which is a systematic exposition in Sūtras of the fundamentals of Jainism. The Sanskrit commentary is based on earlier commentaries and is quite elaborate and thorough. Edited by Pts. MAHENDRAKUMAR and UDAYACHANDRA JAIN. Prof. MAHENDRAKUMAR has added a learned Hindī Introduction on the exposition of the important topics of Jainism. The edition contains a Hindī Translation and important Appendices of referential value. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 4. Super Royal pp. 108 + 548. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1949, Price Rs. 16/-.

Ratna-Mañjūṣā with Bhāṣya :

An anonymous treatise on Sanskrit prosody. Edited with a critical Introduction and Notes by Prof. H. D. VELANKAR. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 5. Super Royal pp. 8 + 4 + 72. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1949. Price Rs. 2/-.

Nyāyaviniścaya-vivaraṇa :

The Nyāyaviniścaya of Akalaṅka (about 8th century A. D.) with an elaborate Sanskrit commentary of Vādirāja (*c.* 11th century A. D.) is a repository of traditional knowledge of Indian Nyāya in general and of Jaina Nyāya in particular. Edited with Appendices etc. by Pt. MAHENDRAKUMAR JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 3 and 12. Super Royal Vol. I : pp. 68 + 546 ; Vol. II : pp. 66 + 468. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1949 and 1954, Price Rs. 15/- each.

Kevalajñāna-praśna-cūḍāmaṇi :

A treatise on astrology etc. Edited with Hindī Translation, Introduction, Appendices, Comparative Notes etc. by Pt. NEMICHANDRA JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 7. Super Royal pp. 16+128. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1950. Price Rs. 4/-.

Nāmamālā :

This is an authentic edition of the Nāmamālā, a concise Sanskrit Lexicon of Dhanaṁjaya (c. 8th century A. D.) with an unpublished Sanskrit commentary of Amarakīrti (c. 15th century A.D). The Editor has added almost a critical Sanskrit commentary in the form of his learned and intelligent foot-notes. Edited by Pt. SHAMBHUNATH TRIPATHI, with a Foreword by Dr. P. L. VAIDYA and a Hindī Prastāvanā by Pt. MAHENDRAKUMAR. The Appendix gives Anekārtha nighaṇṭu and Ekākṣarī-kośa. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 6. Super Royal pp. 16+140. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1950. Price Rs. 3.50 nP.

Samayasāra :

An authoritative work of Kundakunda on Jaina spiritualism. Prākrit Text, Sanskrit Chāyā. Edited with an Introduction, Translation and Commentary in English by Prof. A. CHAKRAVARTI. The Introduction is a masterly dissertation and brings out the essential features of the Indian and Western thought on the all-important topic of the Self. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, English Grantha No. 1. Super Royal pp. 10+162+244. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1950. Price Rs. 8/-.

Jātakaṭṭhakathā :

This is the first Devanāgarī edition of the Pāli Jātaka Tales which are a store-house of information on the cultural and social aspects of ancient India. Edited by Bhikshu DHARMARAKSHITA. Jñānapīṭha Mūrtidevī Pāli Granthamālā No. 1, Vol. 1. Super Royal pp. 16+384. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1951. Price Rs. 9/-.

Kural or **Thirukkuraḷ :**

An ancient Tamil Poem of Thevar. It preaches the principles of Truth and Non-violence. The Tamil Text and the commentary of Kavirājapaṇḍita. Edited by Prof. A. CHAKRAVARTI with a learned Introduction in English. Bhāratīya Jñānapīṭha Tamil Series No. 1. Demy pp. 8+36+440. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1951. Price Rs. 5/-.

Mahāpurāṇa :

It is an important Sanskrit work of Jinasena-Guṇabhadra, full of encyclopaedic information about the 63 great personalities of Jainism and about Jain lore in general and composed in a literary style. Jinasena (837 A. D.) is an outstanding scholar, poet and teacher; and he occupies a unique place in Sanskrit Literature. This work was completed by his pupil Guṇabhadra. Critically edited with Hindī Translation, Introduction, Verse Index etc. by Pt. PANNALAL JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 8, 9 and 14. Super Royal Vol. I: Second edition, pp. 8+68+746 Varanasi 1963; Vol. II: pp. 8+556; Vol. III: pp. 8+16+640; Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1951 to 1954. Price Rs. 10/- each.

Vasunandi Śrāvakācāra :

A Prākrit Text of Vasunandi (c. Saṁvat first half of 12th century) in 546 gāthās dealing with the duties of a householder, critically edited along with a Hindī Translation by Pt. HIRALAL JAIN. The Introduction deals with a number of important topics about the author and the pattern and the sources of the contents of this Śrāvakācāra. There is a table of contents. There are some Appendices giving important explanations, extracts about Pratiṣṭhāvidhāna, Sallekhanā and Vratas. There are 2 Indices giving the Prākrit roots and words with their Sanskrit equivalents and an Index of the gāthās as well. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākrit Grantha No. 3. Super Royal pp. 230. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1952. Price Rs. 5/-.

Tattvārthavārttikam or **Rājavārttikam :**

This is an important commentary composed by the great logician Akalaṅka on the Tattvārthasūtra of Umāsvāti. The text of the commentary is critically edited giving variant readings from different Mss. by Prof. MAHENDRAKUMAR JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 10 and 20. Super Royal Vol. I: pp. 16+430; Vol. II: pp. 18+436. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1953 and 1957. Price Rs. 12/- for each Vol.

Jinasahasranāma :

It has the Svopajña commentary of Paṇḍita Āśādhara (V. S. 13th century). In this edition brought out by Pt. HIRALAL a number of texts of the type of Jinasahasranāma composed by Āśādhara, Jinasena, Sakalakīrti and Hemacandra are given. Āśādhara's text is accompanied by Hindī Translation. Śrutasāgara's commentary of the same is also given here. There is a Hindī Introduction giving information about Āśādhara etc. There are some useful Indices. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 11. Super Royal pp. 288. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1954. Price Rs. 4/-.

Purāṇasāra-Saṁgraha :

This is a Purāṇa in Sanskrit by Dāmanandi giving in a nutshell the lives of Tīrthaṁkaras and other great persons. The Sanskrit text is edited with a Hindī Translation and a short Introduction by G.C. JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 15 and 16. Crown Part I : pp. 20+198 ; Part II : pp. 16+206. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1954, 1955. Price Rs. 2/- each.

Sarvārtha-Siddhi :

The Sarvārtha-Siddhi of Pūjyapāda is a lucid commentary on the Tattvārthasūtra of Umāsvāti called here by the name Gṛdhrapiccha. It is edited here by Pt. PHOOLACHANDRA with a Hindī Translation, Introduction, a table of contents and three Appendices giving the Sūtras, quotations in the commentary and a list of technical terms. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 13. Double Crown pp. 116+506. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1955. Price Rs. 12/-.

Jainendra Mahāvṛtti :

This is an exhaustive commentary of Abhayanandi on the *Jainendra Vyākaraṇa*, a Sanskrit Grammar of Devanandi alias Pūjyapāda of circa 5th-6th century A. D. Edited by Pts. S. N. TRIPATHI and M. CHATURVEDI. There are a Bhūmikā by Dr. V. S. AGRAWALA, *Devanandikā Jainendra Vyākaraṇa* by PREMI and *Khilapāṭha* by MIMĀNSAKA and some useful Indices at the end. Jñānapītha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 17. Super Royal pp. 56+506. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1956. Price Rs. 15/-.

Vratatithi Nirṇaya :

The Sanskrit Text of Sinhanandi edited with a Hindī Translation and detailed exposition and also an exhaustive Introduction dealing with various Vratas and rituals by Pt. NEMICHANDRA SHASTRI. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 19. Crown pp. 80+200. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1956. Price Rs. 3/-.

Pauma-cariü :

An Apabhraṁśa work of the great poet Svayambhū (677 A. D.). It deals with the story of Rāma. The Apabhraṁśa text up to 56th Sandhi with Hindi Translation and Introduction of Dr. DEVENDRAKUMAR JAIN, is published in 3 Volumes. Jñānapītha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Apabhraṁśa Grantha Nos. 1, 2 & 3. Crown size, Vol. I : pp. 28+333 ; Vol. II : pp. 12+377 ; Vol. III : pp. 6+253. Bhāratīya Jñānapītha Kashi, 1957, 1958. Price Rs. 3/- for each Vol.

Jīvaṁdhara-Campū :

This is an elaborate prose Romance by Haricandra written in Kāvya style dealing with the story of Jīvaṁdhara and his romantic adventures. It has both the features of a folk-tale and a religious romance and is intended to serve also as a medium of preaching the doctrines of Jainism. The Sanskrit Text is edited by Pt. PANNALAL JAIN along with his Sanskrit Commentary, Hindī Translation and Prastāvanā. There is a Foreword by Prof. K. K. HANDIQUI and a detailed English Introduction covering important aspects of Jīvaṁdhara tale by Drs. A. N. UPADHYE and H. L. JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 18. Super Royal pp. 4+24 +20+344. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1958. Price Rs. 8/-.

Padma-purāṇa :

This is an elaborate Purāṇa composed by Raviṣeṇa (V. S. 734) in stylistic Sanskrit dealing with the Rāma tale. It is edited by Pt. PANNALAL JAIN with Hindī Translation, Table of contents, Index of verses and Introduction in Hindī dealing with the author and some aspects of this Purāṇa. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 21, 24, 26. Super Royal Vol. I : pp. 44+548 ; Vol. II : pp. 16+460 ; Vol. III : pp. 16+472. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashī, 1958-59. Price Rs. 10/- each.

Siddhi-viniścaya :

This work of Akalaṅkadeva with Svopajñavṛtti along with the commentary of Anantavīrya is edited by Dr. MAHENDRAKUMAR JAIN. This is a new find and has great importance in the history of Indian Nyāya literature. It is a feat of editorial ingenuity and scholarship. The edition is equipped with exhaustive, learned Introductions both in English and in Hindi, and they shed abundant light on doctrinal and chronological problems connected with this work and its author. There are some 12 useful Indices. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha Nos. 22, 23. Super Royal Vol. I : pp. 16+174+370 ; Vol. II : pp. 8+808. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1959. Price Rs. 18/- and Rs. 12/-.

Bhadrabāhu-Saṁhitā :

A Sanskrit text by Bhadrabāhu dealing with astrology, omens, portents etc. Edited with a Hindī Translation and occasional Vivecana by Pt. NEMICHANDRA SHASTRI. There is an exhaustive Introduction in Hindī dealing with Jain Jyotiṣa and the contents, authorship and age of the present work. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 25. Super Royal pp. 72+416. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1959. Price Rs. 8/-.

Pañcasaṁgraha :

This is a collective name of 5 Treatises in Prākrit dealing with the Karma doctrine the topics of discussion being quite alike with those in the Gōmmaṭasāra etc. The Text is edited with a Sanskrit commentary, Prākrit Vṛtti by Pt. HIRALAL who has added a Hindī Translation as well. A Sanskrit Text of the same name by one Śrīpāla is included in this volume. There are a Hindī Introduction discussing some aspects of this work, a Table of contents and some useful Indices. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākrit Grantha No. 10. Super Royal pp. 64+804. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1960. Price Rs. 15/-.

Mayaṇa-parājaya-cariu :

This Apabhraṁśa Text of Harideva is critically edited along with a Hindī Translation by Prof. Dr. HIRALAL JAIN. It is an allegorical poem dealing with the defeat of the god of love by Jina. This edition is equipped with a learned Introduction both in English and Hindī. The Appendices give important passages from Vedic, Pāli and Sanskrit Texts. There are a few explanatory Notes, and there is an Index of difficult words. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Apabhraṁśa Grantha No. 5. Super Royal pp. 88+90. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1962. Price Rs. 8/-.

Harivaṁśa Purāṇa :

This is an elaborate Purāṇa by Jinasena (Śaka 705) in stylistic Sanskrit dealing with the Harivaṁśa in which are included the cycle of legends about Kṛṣṇa and Pāṇḍavas. The text is edited along with the Hindī Translation and Introduction giving information about the author and this work, a detailed Table of contents and Appendices giving the verse Index and an Index of significant words by Pt. PANNALAL JAIN. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 27. Super Royal pp., 12+16+812+160. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1962. Price Rs. 16/-.

Karmaprakṛti :

A Prākrit text by Nemicandra dealing with Karma doctrine, its contents being allied with those of Gommaṭasāra. Edited by Pt. HIRALAL JAIN with the Sanskrit commentary of Sumatikīrti and Hindī Ṭīkā of Paṇḍita Hemarāja, as well as translation into Hindī with Viśeṣārtha. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Prākrit Grantha No. 11. Super Royal pp. 32+160. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1964. Price Rs. 6/-.

Upāsakādhyayana :

It is a portion of the Yaśastilaka-campū of Somadeva Sūri. It deals with the duties of a householder. Edited with Hindi Translation, Introduction and Appendices etc. by Pt. KAILASHCHANDRA SHASTRI Jñānapītha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 28. Super Royal pp. 116 + 539, Bhāratīya Jñānapītha, Kashi, 1964. Price Rs. 12/-.

Bhojacaritra :

A Sanskrit work presenting the traditional biography of the Paramāra Bhoja by Rājavallabha (15th century A. D.). Critically edited by Dr. B. Ch. CHHABRA, Jt. Director General of Archæology in India and S. SANKARANARAYANA with a Historical Introduction and Explanatory Notes in English and Indices of Proper names. Jñānapīṭha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 29. Super Royal pp. 24 + 192. Bhāratīya Jñānapīṭha Kashi, 1964. Price Rs. 8/-.

Satyaśāsana-parīkṣā

A Sanskrit text on Jain logic by Ācārya Vidyānandi, critically edited for the first time by GOKULCHANDRA JAIN. It is a critique of selected issues upheld by a number of philosophical schools of Indian Philosophy. There is an English compendium of the text, by Dr. NATHMAL TATIA. Jñānapītha Mūrtidevī Jain Granthamālā, Sanskrit Grantha No. 30. Super Royal pp. 56 + 34 + 62. Bhāratīya Jñānapītha, Kashi, 1964. Price Rs 5/-.

Karakaṇḍa-cariu

An Apabhraṁśa text dealing with the life story of king Karakaṇḍa, famous as 'Pratyeka Buddha' in Jaina & Buddhist literature. Critically edited with Hindi & English Translations, Introductions, Explanatory Notes and Appendices etc. by Dr. HIRALAL JAIN. Jñānapītha Mūrtidevī Jaina Granthamālā, Apabhraṁśa Grantha No. 4. Super Royal pp. 64 + 278. Bhāratīya Jñānapītha Kashi, 1964. Price Rs. 10/-.

For Copies Please write to –

BHARATIYA JNANPITH,
3620/21 Netaji Subhas Marg, Dariyaganj,
Delhi (India).

or

BHARATIYA JNANPITH,
Durgakund road, Varanasi (India).